''अतिचार एवं प्रायश्चित्त : स्वरूप एवं विश्लेषण – जैन संविधान के सन्दर्भ में''

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ के **'प्राकृत एवं संस्कृत विभाग'**
के अन्तर्गत **पी-एच. डी.** की उपाधि के लिए प्रस्तुत **शोध-प्रबन्ध** का

शोध-प्रबन्ध

शोधकर्त्री

श्रीमती स्वर्णलता जैन

Reg. No. JVBU/2007-03/170/Date : 18.12.2007

शोध-निर्देशक

डॉ. जिनेन्द्र जैन

एसोसिएट प्रोफेसर,
प्राकृत एवं संस्कृत विभाग

प्राकृत एवं संस्कृत विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूँ–341 306 (राज.)

2011

डॉ. जिनेन्द्र जैन
Ph. D.
एसोसिएट प्रोफेसर

प्राकृत एवं संस्कृत विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूँ - 341 306, जिला - नागौर,
(राज.)

दिनाँक : .....

प्रमाण–पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती स्वर्णलता जैन द्वारा **''अतिचार एवं प्रायश्चित्त : स्वरूप एवं विश्लेषण – जैन संविधान के सन्दर्भ में''** विषयक शोध-प्रबन्ध मेरे निर्देशन में पूर्ण किया गया है। विश्वविद्यालय की मानक शोध-प्रविधि के आधार पर लिखा गया यह शोध कार्य पूर्णतः मौलिक एवं अप्रकाशित है। इसे अन्यत्र किसी विश्वविद्यालय में प्रस्तुत नहीं किया गया है। मैं इस शोध-प्रबन्ध को जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ के 'प्राकृत एवं संस्कृत विभाग' के अन्तर्गत पी-एच. डी. की उपाधि के लिए परीक्षणार्थ संस्तुत एवं अग्रेषित करता हूँ।

(शोध-निर्देशक)

प्राक्कथन

संविधान, जीवन जीने का आधार-स्तम्भ है। संविधान का सम्बन्ध मात्र जैनधर्म से ही नहीं, वरन् हिन्दूधर्म, बौद्धधर्म, मुस्लिमधर्म आदि सभी धर्मों से है। सभी धर्मों के अनुयायियों की अपनी पृथक्-पृथक् जीवन-शैली है, पृथक्-पृथक् आचार-संहिता है। जैसे, सभी का रहन-सहन, खान-पान, बोल-चाल, रीति-रिवाज, शादी-विवाह, आदर-सत्कार, पूजा-पाठ आदि अलग-अलग हैं; अतः सभी का संविधान भी अलग अलग है। यदि व्यक्ति, अपने को किसी संविधान से सम्बद्ध नहीं मानेगा तो उसका आचार-विचार भ्रष्ट हो जाएगा।

जैन संविधान से तात्पर्य जैनधर्म के अनुयायियों के द्वारा अपनाई जाने वाली आगमोक्त जीवनशैली है। यह किसी पुस्तक विशेष का नाम नहीं है, इसका मूलभूत स्रोत जिनागम है। जिनागम को मुख्यतः चार भागों में विभक्त किया गया है – 1. प्रथमानुयोग 2. करणानुयोग 3. चरणानुयोग 4. द्रव्यानुयोग। यद्यपि चारों अनुयोगों के अपने-अपने संविधान है, नियम हैं, कानून हैं; तथापि इस शोध में मुख्यतया चरणानुयोग को आधार बनाया गया है। इसमें श्रावक और श्रमण की आचार-संहिता का वर्णन किया गया है। आचार-संहिता का उद्देश्य इन्द्रिय-विजय पूर्वक संयम अंगीकार करके आध्यात्मिक उन्नति करते हुए मुक्ति को प्राप्त करना है। जहाँ श्रमणाचार, मुक्ति-प्राप्ति का सीधा माध्यम है, वहीं श्रावकाचार, उसका परम्परा माध्यम है।

श्रमणों के प्रमुख दो कर्तव्य – झाणज्झयणं अर्थात् ध्यान और अध्ययन हैं, मुनियों के अन्य कर्तव्यों में 28 मूलगुण, 36 उत्तर गुण आदि आते हैं; इसी के अन्तर्गत मुनियों के षट् आवश्यकों की चर्चा भी आ जाती है। इसी प्रकार श्रावकों के भी प्रमुख दो कर्तव्य – दाणं पूया मुक्खं अर्थात् दान और पूजा हैं। विशेष चार कर्तव्यों में दान, पूजा, शील और उपवास बताये गये हैं। तथा श्रावकों के षट् आवश्यक कर्तव्यों में देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान को लिया गया है।

श्रमण, जहाँ सम्पूर्णतः पापों से विरक्त होते हैं, वहीं श्रावक, एकदेश पापों से विरक्त होता है। जिस प्रकार गुलाब के फूल तक पहुँचने के लिए सबसे पहले उसकी डाल में लगे काँटों को जानना जरूरी है; उसी प्रकार व्रतों के एकदेश अथवा सम्पूर्ण पालन करने के लिए व्रतों के गुण और पापों के दोषों का परिज्ञान आवश्यक है। कहा भी है – 'बिन जानन तैं दोष गुणनि कौं, कैसे तजिये गहिये।'

इस शोधकार्य में श्रमणाचार और श्रावकाचार के साथ-साथ, उनके व्रती जीवन में लगने वाले दोषस्वरूप अतिचार एवं उनके निराकरणार्थ होने वाले प्रायश्चित्तों का विशेषतः वर्णन किया गया है। जैनधर्म के अनुसार श्रमण, आचार में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद, विचारों में अनेकान्त और जीवन में अपरिग्रह का पालन करते हुए अन्तर में अपने चैतन्य महाप्रभु के आनन्द-सरोवर में स्नान करते हुए तृप्त नहीं होते, क्षण- क्षण में सिद्धों से बातें करते हैं। उन महामहिम श्रमणों की आचार-संहिता पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों के रूप में प्रगट होती हैं। उन्हीं श्रमणों का अनुसरण करते हुए श्रावक भी अपने जीवन में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को अंगीकार करता है। इन्हीं का परिपालन करते हुए अपनी श्रेणी को बढ़ाने का प्रयास करता हुआ वह श्रावक, ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करता है। जिससे श्रावकों को भी उस चैतन्य महाप्रभु के दर्शन के अलावा अन्तर में एकदेश स्थिरता की भी प्राप्ति होती है।

उक्त दोनों साधकों के जीवन में व्रतों का निरतिचार परिपालन करने की भावना होती है। लेकिन कदाचित् कथंचित् किंचित् उनके जीवन में भी मन-वचन-काय या कृत-कारित-अनुमोदना से प्रमादवश, कषायवश, अज्ञानवश या कुसंगतिवश किसी कर्म का उदय आ जाने पर कोई दोष या अतिचार लग जाता है तो उसे वह साधक आत्म-निन्दा और आत्म-गर्हापूर्वक उन दोषों को दूर करने का अभिलाषी होकर, स्वयं अपने गुरु के सान्निध्य में प्रायश्चित्त अंगीकार करता है।

गृहस्थ श्रावक के स्थूल कायचेष्टाजनित प्रमादवश लगने वाले अतिचार तो देव के सान्निध्य में शास्त्र के मार्गदर्शनानुसार तथा सूक्ष्म अभिप्रायजनित कषायवश लगने वाले अतिचार गुरु के सान्निध्य में उनके

निर्देशानुसार दूर किये जाते हैं। इसी प्रकार मुनिराजों के अतिचार भी दूर किये जाते हैं, तथापि साधुओं को साधु-संघ में रहने के कारण गुरुवर्यों/आचार्यों का सान्निध्य सुलभ होने के कारण साधुओं के अधिकांश अतिचार आचार्यों/गुरुओं के माध्यम से ही दिये गये प्रायश्चित्तानुसार दूर किये जाते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'मुनिराजों को गुरु सुलभ हैं और गृहस्थों को देव।'

ध्यान रहे यहाँ अतिचारों को बताने का उद्देश्य, शिथिलाचार को बढ़ावा देना नहीं है, वरन् दोषों के प्रकार बताना है, ताकि श्रमण या श्रावक दोषों की पहिचान करके उनसे दूर रह सकें। इसी प्रकार प्रायश्चित्त का विधान उन्हें डराने के लिए नहीं है, वरन् उनके माध्यम से दोषों को दूर करके, निःशल्य होकर, पुनः आत्म-साधना के लिए प्रेरित करना है।

इस विषय की जीवन में आवश्यकता को जान कर, शोध-क्षेत्र में इस अनुछुए विषय पर शोधकार्य करने का मैंने साहस किया है। आशा ही नहीं, वरन् मुझे पूर्ण विश्वास है कि सुयोग्य पाठक इस विषय के माध्यम से अपना ज्ञानवर्द्धन करते हुए अपने जीवन में आपतित दोषों से मुक्त होने का प्रयास करेंगे। जैसा कि ग्रन्थकारों एवं विद्वज्जनों ने निर्दिष्ट किया है कि इन विषयों को सामान्यजनों के सामने प्रस्तुत करने में अत्यन्त सावधानी रखने की आवश्यकता है; अतः पाठकों से भी विवेक रखने का आग्रहपूर्ण निवेदन है।

निशीथसूत्र के प्राक्कथन में इन सूत्रों की गोपनीयता के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है –

''कोई भी ज्ञान या आगम, एकान्त गोपनीय नहीं होता है, किन्तु उसकी भी अपनी कोई सीमा होती है। मूल आगमों में कहीं भी किसी भी सूत्र को गोपनीय नहीं कहा गया है। केवल इतना अवश्य कहा गया है कि योग्यता प्राप्त शिष्य को क्रम से ही सूत्र एवं उनके अर्थ/परमार्थ का अध्ययन कराना चाहिए। अयोग्य या क्रम-अप्राप्त को किसी भी शास्त्र का अध्ययन नहीं करना चाहिए क्योंकि उसे अध्ययन कराने पर अध्यापन कराने वाले को निशीथसूत्र उद्देशक 19 के अनुसार प्रायश्चित्त आता है। साथ ही योग्यता प्राप्त और विनीत शिष्यों को यथाक्रम से अध्ययन नहीं कराने पर भी उन्हें सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

कालान्तर में आगमलेखन युग एवं फिर व्याख्यालेखन युग और अब प्रकाशनयुग आया है। आगमों का लेखन और प्रकाशन समय-समय पर हुआ और हो रहा है। देश-विदेश में भी इनकी लिखित और प्रकाशित प्रतियों का प्रचार हुआ है; अतः गोपनीयता के सम्बन्ध में प्रचलित कथन अब केवल कथन मात्र रह गया है।

योग्य साधु-साध्वियों के लिए अन्य आगम तो क्या, छेदसूत्र भी गोपनीय नहीं हैं; अपितु यह कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि छेदसूत्रों का अध्ययन किये बिना या उनके अर्थ/परमार्थ को समझे बिना साधक की साधना अधूरी है, पंगु है, परवश है तथा इनके सूक्ष्मतम अध्ययन के बिना संघ-व्यवस्था तो परिपूर्ण अन्धकारमय ही होती है।''[1]

श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार प्रायश्चित्त के निरूपक छेदसूत्रों की संख्या छह है – 1. दशाश्रुतस्कन्ध 2. व्यवहार 3. वृहत्कल्प 4. निशीथ 5. महानिशीथ 6. जीतकल्प। इनमें से मौलिक रचनाओं में महानिशीथ और जीतकल्प को छोड़ कर शेष चार हैं। निशीथभाष्य में निशीथ का अर्थ अप्रकाश्य किया गया है।[2] अप्रकाश्य का अर्थ है कि निशीथसूत्र हर किसी को नहीं पढ़ाये जाते। पाठक की अपेक्षा पुरुषों को तीन प्रकार का माना गया है – अपरिणामक, परिणामक और अतिपरिणामक। अपरिणामक का अर्थ है जिसकी बुद्धि अपरिपक्व है। परिणामक का अर्थ है जिसकी बुद्धि परिपक्व है तथा अतिपरिणामक का अर्थ है जिसकी बुद्धि कुतर्कपूर्ण है। अतः अपरिणामक और अतिपरिणामक, ये दोनों निशीथ पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं। जो पाठक, आजीवन निशीथ के रहस्यों को धारण कर सकता है, वही प्रबुद्ध परिणामक पाठक निशीथ को पढ़ने का अधिकारी माना गया है।[3] यहाँ प्रयुक्त 'रहस्य' शब्द स्वयं उसकी गोपनीयता को प्रगट करता है। निशीथ का अध्ययन, वही साधु कर सकता है, जो तीन वर्ष का दीक्षित हो और गाम्भीर्य आदि गुणों से युक्त हो।[4]

यह विषय आगम में भी किसी एक ग्रन्थ में वर्णित नहीं है, वरन् सम्पूर्ण जिनागम में यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरा पड़ा है; अतः हमने उसे इस शोध-ग्रन्थ **'अतिचार और प्रायश्चित्त – स्वरूप एवं विश्लेषण : जैन संविधान के सन्दर्भ में'** के माध्यम से एक माला में पिरोने का कार्य किया है। प्रस्तुत विषय जिन सात अध्यायों में वर्णित हुआ है, वे इस प्रकार हैं –

प्रथम अध्याय – **जैन संविधान : स्वरूप एवं आवश्यकता**

द्वितीय अध्याय – **श्रावकाचार : जैन संविधान के परिप्रेक्ष्य में**

तीसरा अधिकार – **श्रमणाचार का जैन संवैधानिक आधार**

चतुर्थ अध्याय – **अतिचार : स्वरूप एवं विश्लेषण**

पंचम अध्याय – **प्रायश्चित्त : स्वरूप एवं मीमांसा**

षष्ठ अध्याय – **प्रायश्चित्त की व्यवहारिकता : जैन संविधान के सन्दर्भ में**

सप्तम अध्याय – **सामाजिक एवं राष्ट्रीय महत्त्व के परिप्रेक्ष्य में प्रायश्चित्त की महत्ता एवं उपयोगिता**

परिशिष्ट – क. **अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, पुस्तक एवं लेख,**

ख. **साधु–सन्तों एवं विद्वानों से साक्षात्कार,**

ग. **पुस्तकालयों एवं मन्दिरों में ग्रन्थ–भण्डारों का अवलोकन**

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची – क. **मूल ग्रन्थ,**

ख. **आधुनिक समालोचनात्मक ग्रन्थसूची,**

ग. **कोश ग्रन्थ,**

घ. **पत्र-पत्रिकाएं,**

च. **वेवसाइट एवं इन्टरनेट कनेक्शन की सूची**

इस तरह यह शोध प्रबन्ध, मानव संस्कृतिरूपी पृथ्वी, जैन संविधान की नींव एवं श्रमण व श्रावक के आचरणरूपी महल पर शोभायमान हो रहा है। यह निश्चित ही जन-जन का आभूषण बन कर, जीवनोपयोगी होने के साथ-साथ समाजोपयोगी ही नहीं, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व को भी लाभदायक सिद्ध होगा।

इस शोध-प्रबन्ध में यह बात उभर कर आई है कि आगम में एक ओर तो अणुव्रतों और महाव्रतों के अखण्डित पालन का उपदेश दिया है। वहीं दूसरी ओर व्रतों के अतिचार भी बताये गये हैं। तात्पर्य यह है कि कोई व्रतों के अखण्डित पालन के आग्रह में व्रतों को अंगीकार ही न करे तो उसका ऐसा सोचना भी गलत है और कोई व्रतों को ग्रहण करने के पहले ही अतिचारसहित व्रतों के पालन करने का विचार करे तो वह भी गलत है। अतिचार, बुद्धिपूर्वक नहीं लगाये जाते, बल्कि व्रतों का निरतिचार पालन करते हुए भी लग जाते हैं। केवल उन्हीं दोषों को अतिचार कहा जाता है, जो अचानक लग जाते हैं, वरना वे अतिचार भी नहीं है, उन्हें तो व्रत ही नहीं माना जा सकता है।

व्रतों के अतिचार बताने का उद्देश्य यह है कि हम उनसे बच सकें। जैसे, अग्नि के द्वारा जलने से बचना हो तो अग्नि का सर्वांगीण ज्ञान करना आवश्यक है कि अग्नि, अनेक प्रकार की होती है – भट्टी की अग्नि, कोयले की अग्नि, कण्डे की अग्नि, लकड़ी की लपटें वाली अग्नि, ज्वालामुखी के गर्म लावे वाली अग्नि आदि। इसका तात्पर्य यह है कि उक्त अग्नियों से सम्पर्क करोगे तो जलोगे अवश्य; अतः उनसे बचते हुए शीतलता का आनन्द लेना चाहिए।

लोक में यह मान्यता बन गई है कि व्रतों के अतिचार होते हैं, इससे ऐसी धारणा करना उचित नहीं है कि अतिचार करना अनिवार्य है और वह व्रत का ही अंग है। जैसे, अहिंसाणुव्रत के अतिचार के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि प्राणघात के अतिरिक्त अन्य पीड़ा आदि देकर भी हिंसा करने के अनेक प्रकार हो सकते हैं, जिनसे बचते रहने का प्रयत्न व्रतियों को करते रहना चाहिए। विशेषतः परिजनों एवं पशुओं के साथ पाँच प्रकार की क्रूरता – बाँधना, मारना, अंग-छेद, शक्ति से अधिक बोझा लादना, अन्न-पान न देना आदि को अतिचार (अतिक्रमण) कह कर उसका निषेध किया है। इन अतिचारों से बचने के अतिरिक्त अहिंसा व्रत आदि के भाव को दृढ़ करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओं का वर्णन भी किया गया है।

जिस प्रकार अग्नि से बचने के अनेक उपाय करने के बाद भी यदि कोई व्यक्ति जल जाता है तो जैसे उसका शीघ्रता से उपचार करना आवश्यक है; उसी प्रकार अतिचारों के दोष से बचने के अनेक उपाय करने

के बाद भी यदि कोई अतिचार लग ही जाता है तो उस दोष की तीव्रता-मन्दता के अनुसार उसे दूर करने के लिए उपचारस्वरूप तुरन्त प्रायश्चित्त को धारण करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ –

1. जैसे, रोटी की भाप से जलने पर आटा लगाना उपचार है, उसी प्रकार अतिक्रम दोष लगने पर कायोत्सर्ग करना उपचार है, उससे तत्सम्बन्धी दोष दूर हो जाता है।

2. जैसे, कण्डे की अग्नि से जलने पर पानी में हाथ डालना उपचार है, उसी प्रकार व्यतिक्रम दोष होने पर स्वयं प्रायश्चित्त अंगीकार करना उपचार है, उससे तत्सम्बन्धी दोष दूर हो जाता है।

3. जैसे, कोयले की अग्नि से जलने पर मरहम लगाना उपचार है, उसी प्रकार अतिचार दोष लगने पर गुरु की साक्षी में उनकी आज्ञानुसार तप आदि प्रायश्चित्त अंगीकार करना उपचार है, उससे तत्सम्बन्धी दोष दूर हो जाता है।

4. जैसे, धधकती हुई अग्नि से जलने पर अस्पताल जाकर उपचार कराना आवश्यक है, उसी प्रकार अनाचार हो जाने पर गुरु के माध्यम से तप आदि प्रायश्चित्त स्वीकार करने के साथ-साथ पुनर्दीक्षा आदि स्वीकार करना उपचार है, उससे ही तत्सम्बन्धी दोष दूर हो सकता है।

5. जैसे, ज्वालामुखी के गर्म लावे की चपेट में आ जाने पर कोई उपचार ही सम्भव नहीं है, वहाँ तो मरण ही होता है; उसी प्रकार आभोग अर्थात् पापों में निरंकुश प्रवृत्ति हो जाने पर कोई उपचारस्वरूप प्रायश्चित्त ही सम्भव नहीं है, उसके कारण तो यह जीव, अनन्त भव धारण करके अनन्त संसार में भटकता है और चतुर्गति के दुःखों को सहता रहता है।

इस प्रकार इस शोधकार्य में अनेक प्रकार से अतिचारों और प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है। साथ ही राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रायश्चित्त विधि की क्या उपयोगिता हो सकती है; इसके द्वारा हम समाज, देश, राष्ट्र, और सम्पूर्ण विश्व के जीवन-स्तर में कैसे मनोवैज्ञानिक सुधार कर सकते हैं ? – इसका प्रयास किया गया है।

मेरा विश्वास है कि आगामी वर्षों में इस विषय पर अन्य अनेक दृष्टिकोणों से और भी शोधकार्य होंगे। जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व, जैनधर्म के अहिंसा, अनेकान्त-स्याद्वाद, अपरिग्रह आदि सिद्धान्तों एवं समाज, देश, कानून आदि विषयों में जैनदर्शन की शोध-खोजपरक शैली से अवश्य लाभान्वित होगा।

मैंने भी इस विषय को इसलिए चुना क्योंकि मैं बचपन से ही साधना के मार्ग में जाना चाहती थी, परन्तु मुझे जिनागम में वर्णित साधना-मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं एवं गुण-दोषों का ज्ञान नहीं था। यही कारण है कि मुझे गृहस्थ मार्ग का अनुसरण करना पड़ा, इसलिए जब मैं गृहस्थी के कार्यों से थोड़ी निवृत्त हुई तो मैंने इस कार्य को करने का संकल्प किया। इस पुनीत कार्य हेतु मैंने मंगलायतन प्रवास के दौरान, सात वर्षों तक घर-कुटुम्ब से दूर रहने के कारण और बच्चों के स्कूल चले जाने के बाद मिलने वाले निवृत्ति के समय का सदुपयोग किया।

वैसे तो जब मैंने एम. ए. किया था, उसके तुरन्त बाद ही मेरा पीएच.डी. करने का भाव था, परन्तु उस समय परिवार में अनुकूलता नहीं होने के कारण यह कार्य न हो सका। शादी के पन्द्रह साल बाद भी एक बार पुनः पीएच.डी करने का मन बनाया, इस सन्दर्भ में मैं अपनी सहेला सौ. सुनीता जैन के साथ नागपुर विश्वविद्यालय की प्रो. डॉ. कुसुमलता पटौरिया से भी मिली, उन्होंने पहले संस्कृत में डिप्लोमा करने की सलाह दी, लेकिन फिर कोई प्रतिकूलता बाधा बन गई तो भावना फिर से अधूरी रह गई।

इसके पूर्व जब मेरे पति का शोधकार्य चल रहा था, उन्हें शोधकार्य करते हुए देखते समय मेरी भी भावना पुनः बनी कि मुझे भी शोधकार्य करना है; उनका विषय जिनागम की द्रव्यानुयोग विधा के अन्तर्गत 'जैनदर्शन में पदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप' था तो मैंने यह निश्चित किया कि मुझे चरणानुयोग विधा से सम्बन्धित विषय का चुनाव करना है क्योंकि प्रवचनसार शास्त्र की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने चरणानुयोगसूचक चूलिका का प्रारम्भ करते हुए कहा है कि **चरणानुसारि द्रव्यं** और **द्रव्यानुसारि चरणं** अर्थात् चरणानुयोग के अनुसार द्रव्यानुयोग और द्रव्यानुयोग के अनुसार चरणानुयोग होता है।

उसी अन्तराल में मुझे मंगलायतन के जिनवाणी संग्रहालय में एक छोटी-सी लघुकाय पुस्तिका 'जैन कानून' पढ़ने को मिली, उसे पढ़ कर मेरी अभिलाषा हुई कि मुझे तो इस विषय पर ही शोध करना है। तत्पश्चात् जब हमने यहाँ लाडनूं आकर शोध-प्रविधि के अन्तर्गत होने वाली परीक्षा दी और उसके लिए होने वाले साक्षात्कार में भाग लिया तो मुझे उपस्थित माननीया कुलपति महोदया समणी प्रो. मंगलप्रज्ञाजी एवं अन्य विद्वानों ने यह सलाह दी कि आपकी स्नातकोत्तर डिग्री 'समाजशास्त्र' पर आधारित होने के कारण आपका विषय 'कानून' नहीं बन सकेगा; अतः उन विद्वानों एवं अपने शोध-निर्देशक डॉ. जिनेन्द्र जैन के साथ बहुत ऊहापोह करने के उपरान्त यह विषय दृष्टिपटल पर केन्द्रित हुआ और मैंने इस विषय पर शोधकार्य करने का मन बना लिया।

मुझे याद है कि जब मेरा साक्षात्कार हुआ था तो जहाँ अन्य प्रतिस्पर्द्धियों के साथ दस-पन्द्रह मिनिट में चर्चा-वार्ता हो रही थी, वहीं कुलपति महोदया और पूरी विद्वानों की टीम ने मुझसे सवा घण्टे तक चर्चा की और उन्होंने मुझसे कहा कि इस उम्र में भी आपकी समर्पण की भावना देख कर हमें आपसे शोधकार्य तो करवाना ही है। बस, विषय के बारे में अभी अन्तिम निर्णय नहीं हुआ है। मुझे आज लगता है कि उन्होंने जो मुझे उस समय सुझाव दिया था, वह मेरे लिए वरदान सिद्ध हुआ।

जब मैंने अपने शोधकार्य की संक्षिप्त रूपरेखा बना कर विश्वविद्यालय को भेजी थी, उसके जवाब में प्राप्त विशेषज्ञ विद्वान की टिप्पणी ने भी मेरा उत्साह वृद्धिंगत किया, जिसमें उन्होंने लिखा था –

''जैन आचार शास्त्र में अतिचार और प्रायश्चित्त, अति महत्त्व के विषय हैं, किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व है कि इन्हें कोई शोध छात्र, पीएच.डी. की उपाधि हेतु अपने शोध प्रबन्ध का विषय बनाये।

प्रस्तुत रूपरेखा बड़ी ही सूझ-बूझ के साथ काफी श्रमपूर्वक विशाल दृष्टिकोण से तैयार की गई है। जैन आचार शास्त्र तक सीमित इन विषयों का राष्ट्रीय एवं सामाजिक दृष्टियों से व्यापक अध्ययन और इनकी उपयोगिता को इसमें जाँचा गया है और वर्तमान सन्दर्भ में इनकी प्रासंगिकता के रूप में इन्हें प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से यह एक बहुत ही अच्छा शोध का विषय है।

किन्तु एक प्रश्न है कि 'जैन संविधान' नाम का कोई न तो ग्रन्थ है और न अन्य कुछ। अतः इस सन्दर्भ में अध्ययन की अपेक्षा 'जैन आचार का राष्ट्रीय महत्त्व : अतिचार और प्रायश्चित्त के विशेष सन्दर्भ में' जैसे कोई अच्छे शीर्षक के अनुसार इसी रूपरेखा पर ही शोध कार्य उपयुक्त होगा। फिर भी यदि इसके शोधकर्ता इसी शोध शीर्षक से शोधकार्य की स्वीकृति प्रदान की जा सकती है। यद्यपि यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है तथा रूपरेखा में कोई कमी नहीं है, मात्र इसके शीर्षक पर यदि शोधकर्ता चाहे, तो विचार कर सकते हैं। इस प्रकार इस रूपरेखा को अति महत्त्वपूर्ण मानते हुए मैं इस विषय पर अपनी पूर्वोक्त सम्मति-पूर्वक पीएच. डी. हेतु शोधकार्य करने की पूर्णतः संस्तुति प्रेषित कर रहा हूँ।''

उक्त सन्दर्भ में मैंने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि 'जैन संविधान' से तात्पर्य जैनधर्म के अनुयायियों के द्वारा अपनाई जाने वाली आगमोक्त जीवनशैली है। यह किसी पुस्तक विशेष का नाम नहीं है, बल्कि इसका मूलभूत स्रोत सम्पूर्ण जिनागम है; अतः सम्पूर्ण जिनागम ही यहाँ 'जैन संविधान' पद के द्वारा अभिप्रेत है। जिनागम मुख्यतः चार भागों में विभक्त किया गया है – 1. प्रथमानुयोग 2. करणानुयोग 3. चरणानुयोग 4. द्रव्यानुयोग। यद्यपि चारों अनुयोगों के अपने-अपने संविधान है, नियम हैं, कानून हैं; तथापि इस शोध में मुख्यतया चरणानुयोग को आधार बनाया गया है।

जिनागम में जहाँ ज्ञानविहीन आचरण को मिथ्या माना गया है, उसी प्रकार आचरणविहीन ज्ञान को भी मिथ्या की श्रेणी में रखा है। अन्ध-पंगु के दृष्टान्त से भी इसे समझाया गया है। कहा भी है – **ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।** ज्ञान और क्रिया में से किसी एक को स्वीकार करने की विचारणा को मिथ्या कहा है। आगमसाहित्य के माध्यम से ही डॉ. सागरमल जैन ने चरणानुयोग की प्रस्तावना[5] में साधक की दृष्टि से ज्ञान और चारित्र की चतुर्भंगी को प्रस्तुत करते हुए लिखा है –

1. कुछ साधक व्यक्ति, ज्ञान-सम्पन्न हैं, लेकिन चारित्र-सम्पन्न नहीं हैं।
2. कुछ साधक व्यक्ति, चारित्र-सम्पन्न हैं, लेकिन ज्ञान-सम्पन्न नहीं हैं।

3. कुछ साधक व्यक्ति, न ज्ञान-सम्पन्न हैं, और न चारित्र-सम्पन्न हैं।
4. कुछ साधक व्यक्ति, ज्ञान-सम्पन्न भी हैं, और चारित्र-सम्पन्न भी हैं।

लेकिन सच्चा साधक, उसे ही माना गया है, जो ज्ञान-सम्पन्न भी है और चारित्र-सम्पन्न भी है। जैसे, मात्र चन्दन के भार को ढ़ोने वाला चन्दन से लाभान्वित नहीं होता, मात्र भारवाहक ही बना रहता है, उसी प्रकार आचरण से हीन ज्ञानी, ज्ञान के भार का वाहक मात्र है, इससे उसे कोई लाभ नहीं हैं।

जिनागम का अध्ययन ही ध्यान है क्योंकि कहा भी है – **'अज्झयणमेव झाणं**।' उसी के द्वारा पंचेन्द्रियों और कषायों का निग्रह होता है। कलिकाल पंचमकाल में तो जिनागम ही मानो सर्वस्व है क्योंकि इस काल में जिनागम के अभ्यास से ही सम्यग्ज्ञानादि की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार बीज से अंकुर उत्पन्न होते हैं; उसी प्रकार मोहरूपी बीज से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। लेकिन सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि से वे मोह के बीज भस्मीभूत हो जाते हैं, रत्नत्रय धारण करने की योग्यता प्रगट होती है, जिससे संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति आती है।

इस शोधकार्य को पूर्ण करने में मेरे जीवन के अमूल्य चार-पाँच वर्षों की श्रम-साधना न्यौछावर हुई है। यद्यपि शोधकार्य करने के पीछे डिग्री हासिल करना मेरा उद्देश्य नहीं था, मुझे तो अन्तर्मन से इस विषय की गहराई में जाना उद्दिष्ट था, मेरा उद्देश्य तो जिनागम के निरन्तर सान्निध्य में रहने का था; उसमें यह शोधकार्य एक सफलतम साधन बना है। इस प्रकार मैं अपने उद्देश्य में पूर्णरूप से सफल रही हूँ। मेरा मानना है कि इस दिशा में अभी और भी कार्य किया जा सकता है, ताकि जैन संविधान को विश्वपटल पर प्रतिष्ठित किया जा सके।

निवेदन है कि यह शोध प्रबन्ध, सुविधा की दृष्टि से दो भागों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

इति शुभं भवतु।

विनम्र

(श्रीमती स्वर्णलता जैन)

शोधार्थी

प्राकृत एवं संस्कृत विभाग

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूँ – 341 306 (राज.)

दिनाँक :

स्थान :

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. **निशीथसूत्र,** प्राक्कथन, पृष्ठ 16-17, लेखक, श्री त्रिलोक मुनि, सम्पादक, युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, प्रकाशक, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज. 1991
2. **जं होंति अप्पयासं, तं तु णिसीहं ति लोग संसिद्धं। – निशीथभाष्य,** 64
3. **निशीथभाष्य,** 6702–6703
4. **निशीथचूर्णि,** 6165
5. **चरणानुयोग**, द्वितीय खण्ड, प्रस्तावना, प्रो. सागरमल जैन, पृष्ठ 16-17 के आधार पर

आभार प्रदर्शन

मैं सर्व प्रथम उन वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के अनन्त उपकारों का स्मरण करना चाहती हूँ कि जिन्होंने इस वीतराग-मार्ग का प्रतिपादन करके मुझे इस योग्य बनाया। यह शोधकार्य, मुझे अनन्त केवलज्ञानी भगवन्तों और मुनि भगवन्तों के साक्षात् सान्निध्य जैसा अवसर था, जिसे मैंने अपनी सम्पूर्ण कर्तव्य-निष्ठा के साथ निर्वाह करने का प्रयास किया। यह कार्य मेरे लिए असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। यह कार्य अब पूर्ण होने जा रहा है, मानो मुझे समुद्र-मन्थन के उपरान्त अमृत मिलने वाला है। साथ ही इस शोधकार्य में यदि मुझे अनन्त ज्ञानी धर्मात्माओं का प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग नहीं मिला होता तो यह कार्य अवश्य ही पूर्ण नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिनकी अन्तःप्रेरणा मुझे प्रतिसमय प्राप्त होती रही, जिससे मेरे मन में निरन्तर उत्साह जागृत होता रहा, उनका स्मरण करना भी मैं अपना पुनीत कर्तव्य मानती हूँ। जिस प्रकार 45 वर्ष की उम्र में उन्होंने धर्म परिवर्तन किया था और 45 वर्ष तक वीतरागधर्म की प्रभावना की थी; उसी प्रकार 45 वर्ष की उम्र में मैंने यह शोधकार्य प्रारम्भ किया और आज लगभग 49 वर्ष की उम्र में यह कार्य पूर्णता को प्राप्त हो रहा है।

इस कार्य को करते हुए मैंने अपने पति के साथ अनेक वर्तमान मुनियों/आचार्यों में आचार्य विद्यासागरजी, आचार्य विद्यानन्दिजी, मुनि समयसागरजी, मुनि योगसागरजी, मुनि समाधिसागरजी आदि; आर्यिकाओं में आर्यिका दृढ़मतिजी, आर्यिका ऋजुमतिजी, समणी चन्दनाश्रीजी राजगृही आदि; ब्रह्मचारियों में बाल ब्र. केशरीचन्दजी 'धवल' छिन्दवाड़ा, बाल ब्र. रवीन्द्रकुमारजी अमायन, बाल ब्र. राकेशजी सिद्धायतन सागर, बाल ब्र. सुमतप्रकाशजी खनियाधाना, बाल ब्र. हेमन्तभाई सोनगढ़, बाल ब्र. हेमचन्दजी 'हेम' देवलाली, बाल ब्र. अभिनन्दनकुमारजी आदि; ब्रह्मचारिणियाँ में बाल ब्र. ममता जैन टीकमगढ़, बाल ब्र. नीलम जैन, बाल ब्र. आरती जैन छिन्दवाड़ा, बाल ब्र. बासन्तीबेन देवलाली तथा विद्वानों में पण्डित शैलेषकुमारजी सोनागिर, प्रो. सुदीपकुमार जैन दिल्ली, प्रो. वीरसागर जैन दिल्ली, पण्डित रतनलाल बैनाड़ा आगरा, प्रोफेसर फूलचन्द जैन 'प्रेमी' वाराणसी, पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री, पण्डित वीरेन्द्रकुमारजी आगरा, पण्डित देवेन्द्रकुमारजी मंगलायतन, संजयकुमार जैन शास्त्री जेवर/मंगलायतन, डॉ. अनेकान्त जैन दिल्ली, डॉ. योगेशकुमार जैन अलीगंज, श्री पवन जैन अलीगढ़, पण्डित अशोककुमारजी लुहाड़िया, पण्डित सुधीरकुमारजी शास्त्री, पण्डित जगदीशजी जैन आदि के साथ 'अतिचार और प्रायश्चित्त' – इस विषय पर अनेक बार चर्चायें की है। उन सभी से मुझे आवश्यक मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। मैं इन सभी का बहुत बहुत विशेष आभार व्यक्त करती हूँ।

हमारे शोध-निर्देशक श्रीमान् डॉ. जिनेन्द्र जैन, एसोसिएट प्रोफेसर, प्राकृत एवं संस्कृत, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ के सहयोग का तो मैं बखान ही नहीं कर सकती; उनकी सतत प्रेरणा, सहयोग और मार्गदर्शन मिलता रहा है; उसी के कारण मेरा यह शोध-प्रबन्ध एक स्तरीय रचना बन पाई है। साथ ही जैन विश्वभारती की भूतपूर्व कुलपति माननीया डॉ. मंगलप्रज्ञा समणी के अनमोल सुझावों, माननीय प्रोफेसर डॉ. दामोदर शास्त्री एवं डॉ, योगेश जैन के बहुमूल्य दिग्दर्शन को भी मैं आदरपूर्वक स्मरण करना चाहती हूँ।

इस शोधकार्य के पूर्ण होने की बेला में मैं प्राकृत एवं संस्कृत के अध्यक्ष प्रोफेसर जगतराम भट्टाचार्य का आभार प्रगट करती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर शीघ्र कार्य पूर्ण करने की प्रेरणा दी। मैं आभार व्यक्त करती हूँ – प्रो. उदयचन्दजी जैन उदयपुर, प्रो. प्रेमसुमनजी जैन उदयपुर, प्रो. वृषभप्रसादजी जैन लखनऊ, प्रो. फूलचन्दजी जैन 'प्रेमी' वाराणसी एवं अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के डीन प्रो. एस. पी. शर्मा जी का; जिन्होंने प्रारम्भिक दिनों में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में आयोजित सेमिनार में 'संस्कृत साहित्य में जैन स्तोत्र साहित्य का योगदान' विषय पर शोधपत्र पत्र पढ़ने पर मुझे शोधकार्य करने हेतु मार्गदर्शन एवं प्रेरणा दी, जिससे मुझे शोधकार्य के प्रति उत्साह बना और वह आज पूर्णता की ओर है।

मैं जितने दिनों भी लाडनूं रही, उनके घर ही रही और आदरणीय भाभीजी एवं बच्चों का भी आत्मीय सहयोग मिला, उनको मैं कैसे विस्मृत कर सकती हूँ। मैं हमारे पारिवारिक सहयोगी विद्वान डॉ. अरविन्द कुमारजी जैन सुजानगढ़, शोधार्थी विद्वान् श्री रामनरेश जैन लाडनूं का भी आभार व्यक्त करना चाहती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर सहयोग एवं प्रेरणा दी।

मैंने अपने जीवन में आचार्यश्री विद्यासागरजी के सान्निध्य में सम्पन्न महाशास्त्र धवला की वाचनाओं आदि के अवसर पर समागत आदरणीय विद्वद्वर्य पण्डित श्री फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी, श्री जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री कटनी, डॉ. श्री पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, श्री कैलाशचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी, श्री मुन्नालालजी रांधेलीय सागर, पण्डित मन्नूलालजी जैन सागर, पण्डित कोमलचन्दजी सागर आदि विद्वानों का; तथा पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के सान्निध्य एवं पुण्यप्रताप में सम्पन्न आध्यात्मिक शिविरों आदि में समागत मुमुक्षु विद्वान् वयोवृद्ध पण्डित श्री कैलाशचन्दजी बुलन्दशहर/अलीगढ़, श्री लालचन्दभाई मोदी राजकोट, बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, बाल ब्र. यशपालजी बाहुबली/ जयपुर, ब्र. चन्द्रसेनजी भोपाल, पण्डित उत्तमचन्दजी सिवनी/छिन्दवाड़ा, आदि विद्वानों का तथा बाल ब्र. विदुषी श्री सुशीलाश्री सोनगढ़, ब्र. विदुषी श्री हीराबाईजी सोनगढ़/इन्दौर, बाल ब्र. विदुषी श्री कल्पनाबेन सागर/जयपुर, बाल ब्र. विदुषी श्री विमलाबेन जबलपुर/जयपुर, विदुषी श्रीमती चिन्ताबाई मोदी नागपुर, विदुषी चन्दनबाईजी आदि से ही मुझे तात्त्विक और धार्मिक क्षेत्र में बहुत कुछ सीखने और करने की प्रेरणा मिली है।

लोक में ऐसा कहा जाता है कि पिता के घर बेटी, पति के घर पत्नि, और बेटे के घर माँ के रूप में स्त्री पली-पढ़ी-बूढ़ी होती है, तभी उसका जीवन पूर्ण एवं सुरक्षित बनता है; उसी प्रकार मुझे मेरे पूज्य पिता श्री कृष्णचन्द्र जैन एवं लाल दुकान परिवार, सागर के माध्यम से बचपन से ही जिनवाणी माँ एवं अपनी मातुश्री श्यामबाई की गोद में आध्यात्मिक भजनों की लोरियाँ सुनने के संस्कार मिले हैं, जिसका मुझे अत्यन्त गर्व है। मेरे पिता का व्यवसाय औषधी बेचने का है, परन्तु उन्होंने कभी कीटनाशक औषधि नहीं बेची – ऐसे संस्कारों में पढ़-लिख कर मुझे 'सादा जीवन : उच्च विचार' के अनमोल संस्कार मिले हैं।

साथ ही मुझे मेरे ससुराल पक्ष में मेरे ससुर श्री कोमलचन्दजी, सासुजी श्रीमती शान्तिदेवीजी और सम्पूर्ण परिवार से भी कम संस्कार नहीं मिले हैं। नागपुर तथा सागर की स्थानीय जैन समाज के भी सभी सदस्यों की हार्दिक शुभकामनाये तो हमेशा मिलती रही हैं; उनमें से मैं श्री सुदीपकुमारजी, श्री अशोक-कुमारजी, पण्डित विपिनकुमारजी, श्री आदित्य जैन, श्री अरविन्द जैन, श्री अनिल जैन आदि का विशेष उल्लेख करना चाहती हूँ, जिन्होंने बाकायदा पुस्तकें आदि जुटाने में समय समय पर मुझे मदद की है। मैं ऐसा समझती हूँ कि मेरे लिए तो क्या मायका और क्या ससुराल दोनों ही एक जैसे सहयोगी रहे हैं।

मुझे मेरी बहिन श्रीमती लता जैन एवं सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक विद्वान् जीजाजी श्री अभयकुमारजी से भी कम संस्कार नहीं मिले हैं, उनके जयपुर में श्री टोडरमल स्मारक भवन में स्थित तत्कालीन घर में महिनों रह कर मैंने श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय की गतिविधियों, प्रवचनों एवं कक्षाओं का लाभ लिया है।

मेरे इस कार्य में मुझे मेरे पति डॉ. राकेश जैन शास्त्री, जो तीक्ष्ण प्रज्ञा के धनी हैं, उनका मार्गदर्शन एवं सहयोग सदैव मिलता रहा है। उनके स्वयं पीएच.डी. करने, प्रकाशन के क्षेत्र में सुदीर्घ 30 वर्ष के अनुभव एवं अनेक ग्रन्थों के सुप्रसिद्ध लेखक/सम्पादक होने के कारण भी मुझे बहुत मदद मिली है; उन्होंने मेरे इस शोध-प्रबन्ध की एक-एक पंक्ति को अच्छी तरह देखा/पढ़ा/सुधारा है। इस कारण मैं कह सकती हूँ कि यह एक उत्कृष्ट आगम-सम्मत कृति है।

सन् 2006–2007 में मैं मंगलायतन पत्रिका के माध्यम से छहढाला वर्ष का कार्यभार सम्भाल रही थी, उस समय प्रति दो माह में एक एक ढाल पर आधारित प्रश्नपत्र बना कर पत्रिका में छपाया जाता था, उसे मैं स्वयं तैयार करती थी और उसकी जो उत्तर कापियाँ सैकड़ों की संख्या में आती थीं, उन्हें मैं जाँचा करती थी।

जब मेरे पति की पीएच.डी. पूर्ण हो जाने के बाद मैंने अपना पीएच.डी. करने का विचार व्यक्त किया तो उन्होंने कहा कि देखो! तुम जो अभी लेखन आदि का कार्य कर रही हो, वही बहुत है; परन्तु मेरे स्त्री-हठ के सामने उन्होंने स्वीकृति प्रदान कर दी।

जब हम पढ़ाई का कार्य माता-पिता के सान्निध्य में करते हैं तो वह जितना सहज होता है, अपने बच्चों के सामने पढ़ाई करना, उतना ही कठिन हो जाता है। जिस ममता के अधिकारी बच्चे होते हैं, वे उससे वंचित रह जाते हैं। अतः मैं इस शोधकार्य की पूर्णता में अपने दोनों बच्चों – चि. संयम और कु. दीक्षा का भी आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने मुझे सारी अनुकूलताएँ प्रदान कीं।

अन्त में मैं उन सभी परिचित–अपरिचित महानुभावों के प्रति भी अपनी हार्दिक संवेदना व्यक्त करना चाहती हूँ, जिनकी ज्ञात-अज्ञात सहभागिता और सहयोगिता मेरे इस शोधकार्य से संलग्न रही।

इति शुभं भूयात्।

विनम्र

(श्रीमती स्वर्णलता जैन)
शोधार्थी
प्राकृत एवं संस्कृत विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूँ – 341 306 (राज.)

दिनाँक :
स्थान :

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय – **जैन संविधान : स्वरूप एवं आवश्यकता**

- **जैन संविधान की आवश्यकता** 1
  - 'जैन लॉ' पुस्तक के सम्बन्ध में संक्षिप्त जानकारी
  - अन्तर्राष्ट्रीय धर्मों में जैनधर्म का स्थान
  - जैनों को धर्म पर आधारित अल्पसंख्यक का दर्जा
  - वर्तमान जैन लॉ का आधारभूत आगम-साहित्य
  - बैरिस्टर चम्पतरायजी की पुस्तक 'जैन कानून' की प्रस्तावना के निष्कर्ष
- **भारतीय संविधान विषयक जैन समाज की भूमिका** 11
  - राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय चिह्न, राष्ट्रीय गान और राष्ट्रीय संविधान में विद्यमान जैनतत्त्व
  - भारतीय संविधान में जैनधर्म के तत्त्व
  - कुछ शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या उपासना में उपस्थित होने के बारे में स्वतन्त्रता
  - धार्मिक संस्थाओं को प्राप्त धन पर करों में छूट का प्रावधान
  - राष्ट्रीय स्मारकों का संरक्षण
  - भारतीय संविधान में जीवमात्र के प्रति दया की भावना : भारतीय नागरिकों का मूल कर्तव्य
  - भारतीय संविधान में पशु-संरक्षण
  - स्वतन्त्र जैन संविधान की आवश्यकता
  - भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में जैनों का योगदान
- **भारतीय समाज और जैन संस्कृति : परस्पर विकास एवं संरक्षण** 18
  - जैन साधना पक्ष की अन्य दर्शनों के साथ तुलना
  - जैन संस्कृति पर अन्य परम्पराओं के प्रभाव
  - अन्य परम्पराओं पर जैन संस्कृति का प्रभाव
  - जैन संस्कृति में धार्मिक सहिष्णुता
  - जैनधर्म में जातिप्रथा का निषेध
  - जैनधर्म की प्राचीनता के प्रमाण
  - जैन संस्कृति की प्राचीनता : सुविख्यात इतिहासज्ञ एवं प्रतिनिधि विद्वानों के विचार
  - जैनधर्म का वैश्विक स्तर पर प्रभाव
  - जैन संस्कृति का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- **महात्मा गांधी और जैनधर्म** 37
- **जैनधर्म का दैनिक जीवन में प्रयोग** 39
  - जैन श्रावकों का दैनिक संविधान
  - जैनधर्म की सर्वोदयवादिता
  - 'जैन' शब्द की व्युत्पत्ति

- **जैनधर्म की मौलिकता** 45
    - वैदिक धर्म से जैनधर्म की विशेषता
    - दण्डनीति का स्वरूप
    - जैन समाज की दण्ड-व्यवस्था
    - जैन समाज की दण्ड-नीति
    - दण्डनीति का माहात्म्य
    - जैन समाज की वर्णव्यवस्था
    - जैनधर्म में आश्रमव्यवस्था
    - जैन समाज का प्रारम्भ
    - विवाह-सम्बन्धी जैन समाज का संविधान
    - पूजन-पाठ-सम्बन्धी जैन समाज का संविधान
    - जैनियों का मूर्तिपूजन विधान
- **प्रस्तुत विषय पर शोधकार्य की आवश्यक्ता** 61

❖ **प्रथम अध्याय की सन्दर्भ ग्रन्थ सूची** 62

द्वितीय अध्याय – **श्रावकाचार : जैन संविधान के परिप्रेक्ष्य में**

- **श्रावकाचार की भूमिका से पूर्व सम्यक्त्व का महत्त्व** 65
    - सम्यग्दृष्टि के लिए निषिद्ध जन्मस्थान
    - सम्यग्दृष्टि के लिए मोक्ष प्राप्ति के पूर्व उपयुक्त जन्मस्थान
    - सम्यग्दर्शन का स्वरूप एवं लक्षण
    - सम्यग्दर्शन के भेद प्रभेद
    - सम्यग्दृष्टि की पहचान
- **श्रावकाचार मीमांसा** 70
    - श्रावक के भेद
    - **पाक्षिक श्रावक**
    - अष्ट मूलगुणों के सम्बन्ध में प्राप्त आगम-सम्मत विभिन्न मत
    - सप्त व्यसन-त्याग
    - माँसादि-भक्षण के सम्बन्ध में अन्यमत मीमांसा
    - देवदर्शन के बिना भोजनादि करने वालों की निन्दा
    - वर्तमान में जैन श्रावकाचार पालन
    - पाक्षिक श्रावक की क्रियाएँ
    - पाक्षिक श्रावक की दिनचर्या
    - **श्रावक सम्बन्धी सौर-सूतक-पातक विवेचन** 88
        - सौर-सूतक के अन्य उदाहरण
        - वर्तमान की मान्यता
        - सूतक-सम्बन्धी विशेषताएँ
        - पातक का वर्णन
        - **सूतक-पातक के सन्दर्भ में विभिन्न ग्रन्थों के निर्देश**
            - सूतक-पातक-विषयक जुगुप्सा, हेय अर्थात् छोड़ने योग्य

- भोजन-शुद्धि में सूतक-पातक के विवेक का निर्देश
- सूतक-पातक किसको व कहाँ नहीं लगता
- सूतक-पातक शुद्धि-काल-प्रमाण
- व्यवहारगत सूतक-पातक शुद्धि का काल-प्रमाण
- रजस्वला स्त्री का स्पर्श करना योग्य नहीं
- रजस्वला स्त्री की शुद्धि का काल-प्रमाण

▪ श्रावकों में सूतक/पातक विधान की आवश्यकता
▪ सूतक के भेद-प्रभेद
▪ सौतिक सूतक के नियम
▪ स्त्रियों को मासिक धर्म सम्बन्धी सूतक का नियम
- ऋतुकाल में रखने योग्य सावधानियाँ और उसके दुष्परिणाम
- उक्त दोषों को नहीं मानने वालों का निराकरण
- आर्यिका, क्षुल्लिका आदि व्रती स्त्रियों के लिए नियम
- रजस्वला सम्बन्धी आचार-विचार को नहीं मानने का फल

▪ प्रसूति सम्बन्धी सूतक के नियम

- **नैष्ठिक श्रावक** 98
- **व्रत का सामान्य स्वरूप एवं उसका महत्त्व**
- **पाँच व्रतों की पाँच पाँच भावनाएँ**
  - पाँच व्रतों की भावनाओं के अलावा अन्य भावनाएँ
- **नैष्ठिक श्रावक का आचरण**
  - पंच परमेष्ठी भगवन्तों की त्रिकाल पूजा का विधान
- **पाँच पापों का सामान्य स्वरूप**
  - आत्मा के ज्ञानादिक ही उसका वास्तविक परिग्रह
- **पाँच व्रतों का सामान्य स्वरूप**
  - व्रतियों का सामान्य स्वरूप
  - व्रतियों के भेद
- **पाँच अणुव्रत** 108
  - अहिंसाणुव्रत
  - सत्याणुव्रत
  - अचौर्याणुव्रत
  - ब्रह्मचर्याणुव्रत
    - ब्रह्मचर्य व्रत की नौ बाड़
    - ब्रह्मचर्य व्रत सम्बन्धी अठारह हजार शील के भेद
  - परिग्रहपरिमाणव्रत
  - छठा अणुव्रत : रात्रिभोजनत्यागव्रत
- **तीन गुणव्रत** 114
  - परिग्रहपरिमाणव्रत और दिग्व्रत में अन्तर
- **चार शिक्षाव्रत** 116
  - यम और नियम में अन्तर
  - प्रतिदिन ग्रहण करने योग्य 17 नियम
  - सम्पूर्ण जीवन भर के लिए त्याज्य अभक्ष्य पदार्थ

- दान के योग्य वस्तुएँ, प्रवृत्ति एवं विधि
- दान देने का अधिकारी कौन ?
- दातार के पाँच भूषण
- दातार के सात गुण
- दान का फल

- **नैष्ठिक श्रावक के आध्यात्मिक विकास की सीढ़ियाँ : ग्यारह प्रतिमाएँ** 125
  - प्रतिमाधारी नैष्ठिक श्रावक की सामान्य विशेषताएँ
  - **दर्शनप्रतिमा** 127
    - दर्शनप्रतिमा के धारक की कुछ विशेषताएँ
    - अविरत सम्यक्त्व और दर्शनप्रतिमा में अन्तर
  - **व्रतप्रतिमा** 128
    - व्रतप्रतिमा के धारक की कुछ विशेषताएँ
    - दर्शनप्रतिमा और व्रतप्रतिमा में अन्तर
  - **सामायिकप्रतिमा** 128
    - सामायिकप्रतिमा के धारक की कुछ विशेषताएँ
    - सामायिकव्रत और सामायिकप्रतिमा में अन्तर
  - **प्रोषधोपवास-प्रतिमा** 130
    - प्रोषधोपवास के तीन भेद
    - उत्तम प्रोषधोपवास की विशेषताएँ
    - मध्यम प्रोषधोपवास की विशेषताएँ
    - जघन्य प्रोषधोपवास की विशेषताएँ
    - प्रोषधोपवासव्रत और प्रोषधोपवासप्रतिमा में अन्तर
    - उपवास और अनशन में अन्तर
    - सामायिक और प्रोषधोपवास में परस्पर सम्बन्ध
  - **सचित्तत्यागप्रतिमा** 132
    - सचित्तत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ
  - **रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा** या **दिवामैथुनत्यागप्रतिमा** 134
    - रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा या दिवामैथुनत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ
    - रात्रिभोजनत्याग को तीन स्तर
- पाक्षिक श्रावक के कुलाचाररूप जघन्य स्तर पर
- दूसरी व्रतप्रतिमा मध्यम स्तर पर
- छठवीं प्रतिमा के उत्कृष्ट स्तर पर
  - **ब्रह्मचर्यप्रतिमा** 135
    - ब्रह्मचर्यप्रतिमा की विशेषताएँ
    - ब्रह्मचर्य को वृद्धिंगत करने वाली अन्य क्रियाएँ
    - ब्रह्मचर्य को वृद्धिंगत करने वाली क्रियाएँ
    - ब्रह्मचारियों के भेद – उपनय ब्रह्मचारी, अदीक्षा ब्रह्मचारी, अवलम्ब ब्रह्मचारी, गूढ़ ब्रह्मचारी, नैष्ठिक ब्रह्मचारी
  - **आरम्भत्यागप्रतिमा** 138
    - आरम्भ शब्द का तात्पर्य
    - आरम्भत्यागप्रतिमा में आरम्भत्याग का स्तर
    - आरम्भत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ

- **परिग्रहत्यागप्रतिमा** 140
  - परिग्रहत्याग की आवश्यकता एवं प्रेरणा
  - परिग्रहत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ
  - परिग्रहत्याग में अन्तरंग परिग्रह के त्याग की मुख्यता
- **अनुमतित्यागप्रतिमा** 143
  - अनुमति शब्द का तात्पर्य
  - मूलाचार के अनुसार अनुमति-दोष के भेद – 1. प्रतिसेवा अनुमति दोष, 2. प्रतिश्रवण अनुमति दोष, 3. संवास अनुमति दोष
  - अनुमतित्यागप्रतिमा की विशेषताएँ
- **उद्दिष्टत्यागप्रतिमा** 145
  - सामान्य उद्दिष्टत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ
  - उद्दिष्ट शब्द से तात्पर्य
  - उद्दिष्टत्यागप्रतिमाधारी श्रावक के भेद – क्षुल्लक और ऐलक
  - क्षुल्लक-ऐलक शब्दों के प्रयोग एवं क्षुल्लकों के दो भेदों सम्बन्धी इतिहास
  - क्षुल्लक पद की विशेषताएँ
  - क्षुल्लक के आहार सम्बन्धी विचारणा – 1. एकगृहभोजी या एकभिक्षानियम, 2. अनेकगृह-भोजी या अनेकभिक्षानियम
  - ऐलक पद की विशेषताएँ
- **ग्यारह प्रतिमाओं में स्त्रियों का स्थान** 150
  - आर्यिका की विशेषताएँ
  - आर्यिकाओं के विशेष नियम
  - मुनिराज को नमस्कार करने पर मुनिराज द्वारा भूमिकानुसार आशीर्वाद का विधान
  - आर्यिकाओं के सम्बन्ध में विशेष कथन
  - क्षुल्लिका की विशेषताएँ

- **साधक श्रावक** 154
  - समाधिमरण की विधियाँ (विस्तृत विधि : तृतीय अध्याय : श्रमणाचार के अन्तर्गत)
  - श्रावकों की मुख्यता से समाधिमरण विधि
  - समर्थ श्रावकों की समाधिमरण विधि
  - असमर्थ श्रावकों की समाधिमरण विधि

❖ **द्वितीय अध्याय की सन्दर्भ-सूची** 158

तृतीय अध्याय – **श्रमणाचार का जैन संवैधानिक आधार**

- **श्रमणाचार का महत्त्व** 166
  - मुनिदशा लेने का क्रम
  - श्रमण दीक्षा देने वाले आचार्य की पात्रता
  - श्रमण-दीक्षा के योग्य पात्र
  - साधु-दीक्षा की विधि
  - चातुर्मास स्थापन
- **साधुचर्या का विशेष स्वरूप** 170
  - मुनिराज को छठवें गुणस्थान में प्रमाद के साथ सकलचारित्रपना कैसे ?

- ○ **मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण** **174**
  - ▪ **पंच महाव्रत** – अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत
  - ▪ **पाँच समिति** – ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग या प्रतिष्ठापना समिति
  - ▪ **पाँच इन्द्रिय-निरोध** – स्पर्शनेन्द्रिय-निरोध, रसनेन्द्रिय-निरोध, घ्राणेन्द्रिय-निरोध, चक्षुरिन्द्रिय-निरोध और कर्णेन्द्रिय-निरोध
  - ▪ **षट् आवश्यक** – सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग
  - ▪ **शेष सात मूलगुण** – केशलोंच, नग्नत्व, अस्नान, भूमिशयन या क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थिति-भोजन और एकभक्त मूलगुण
- ○ **अट्ठाईस मूलगुणों के अलावा साधुचर्या के विशेष नियम** **181**
- ○ **श्वेताम्बर मान्यतानुसार मुनियों के सत्ताईस मूलगुण** **182**
- ○ **मुनिराज के उत्तरगुण** **183**
  - ▪ **मूलगुण और उत्तरगुण में सम्बन्ध**
  - ▪ **उत्तरगुण के भेद-प्रभेद**
    - • **बारह तप** **183**
    - • तप के दो भेद – बाह्य और अभ्यन्तर।
    - • बाह्य तप के छह भेद – 1. अनशन, 2. अवमौदर्य, 3. वृत्तिपरिसंख्यान, 4. रस-परित्याग, 5. विविक्त शय्यासन और 6. कायक्लेश।
    - • अभ्यन्तर तप के छह भेद – 7. प्रायश्चित्त, 8. विनय, 9. वैयावृत्य, 10. स्वाध्याय, 11. व्युत्सर्ग और 12. ध्यान
    - • बारह तपों का सार
    - • **बारह अनुप्रेक्षा** **190**
    - • **अनुप्रेक्षा के बारह भेद** – अनित्या, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्व अनुप्रेक्षा
    - • **दशलक्षण धर्म** **196**
    - • उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य
    - • **बाईस परीषहजय** **199**
    - • **परीषहों के बाईस भेद** – क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन।
    - • **परीषह और कायक्लेश में अन्तर**
    - • **परीषहों के कारणभूत कर्म**
    - • **एक जीव में एक साथ कितने परीषह**
    - • **गुणस्थान आरोहण के क्रम में कौन-कौनसे परीषह सम्भव**
    - • **पंचाचार** –दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार **207**
    - • **शीलगुण** **209**
    - • **मूलाचार में शील के अठारह हजार भेद**
    - • **शील के चौरासी लाख भेद**

- • **उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री से आचरण की सुस्थिति** – 1. उत्सर्ग आचरण, 2. अपवाद आचरण, 3. अपवाद-सापेक्ष उत्सर्ग आचरण और 4. उत्सर्गसापेक्ष अपवाद आचरण
- • **उत्सर्ग और अपवाद की अमैत्री से आचरण की दुर्दशा** – 1. उत्सर्ग आचरण का एकान्त और 2. अपवाद आचरण का एकान्त

- **श्रामण्य अर्थात् मोक्षमार्ग की एकाग्रता : पदार्थों का निश्चय : आगम का अध्ययन**
- **मुनिराजों का तेरह प्रकार का चारित्र** – पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ एवं तीन गुप्तियाँ
- **प्राणी-संयम के सत्रह या चौदह भेद**
- **पाँच प्रकार के विशेष संयमों की व्याख्या** – अजीवकाय संयम, प्रतिलेख संयम, दुःप्रतिलेख संयम, उपेक्षा संयम, अपहरण संयम
- **इन्द्रिय-संयम के अट्ठाईस भेद**
- **मुनिराज का पाँच प्रकार का चारित्र** – सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात चारित्र

- **साधु का युक्ताहार-विहारी जीवन** 216
- **मुनिराज की आहार-चर्या**
  - मुनिराज की भिक्षावृत्ति
  - नवधाभक्ति
  - आहार की दश विशेषताएँ
- **साधुओं की अनियत विहार-चर्या**
  - जल में विहार करने सम्बन्धी नियम
  - **विहार के भेद**
    - एकल विहार करने का अधिकारी कौन ?
    - संघस्थ साधु होने का महत्त्व
    - विहार योग्य प्रासुक क्षेत्र तथा मार्ग

- **मुनिराज की व्यवहार-चर्या अथवा समाचारी** 226
  - **समाचार के भेद** – औघिक और पदविभागिक समाचार
  - **औघिक समाचार के दश भेद** – 1. इच्छाकार, 2. मिथ्याकार, 3. तथाकार, 4. आसिका, 5. निषेधिका, 6. आपृच्छा, 7. प्रतिपृच्छा, 8. छन्दन, 9. निमन्त्रणा, 10. उपसंपत्
  - मुनि अवस्था में पारस्परिक व्यवहार
  - मुनिराजों का वैयावृत्य सम्बन्धी व्यवहार
  - मुनिराज का वन्दना व्यवहार
  - मुनिराज का आचार्य के प्रति पारस्परिक व्यवहार
  - मुनिराज एवं गृहस्थों का पारस्परिक व्यवहार
  - आचार्य के पास मुनि कैसे बैठें ?
  - आर्यिकाओं के साथ आचार्य एवं संघस्थ अन्य मुनियों का परस्पर आगमसम्मत व्यवहार
  - मुनिराज का वचन व्यवहार
  - **मुनिराज का प्रायश्चित्त-व्यवहार**
    - मुनिराज की भूमिका में निषिद्ध व्यवहार
    - निषिद्ध व्यवहार के कुछ आगम उद्धरण

- **मुनिराजों के भेद-प्रभेद** 236
  - **मुनिसंघ के नायक : आचार्य परमेष्ठी**
    - आचार्य परमेष्ठी के विशेष 36 गुण
    - नवनियुक्त आचार्य की पदारोहण-विधि
    - नव-नियुक्त आचार्य को शिक्षा
    - एलाचार्य
    - निर्यापकाचार्य

- **मुनिसंघ अध्यापक : उपाध्याय परमेष्ठी**
- **संघ-संचालन के अन्य प्रमुख अंग : प्रवर्तक, स्थविर और गणधर**
- **चातुर्वण्य संघ – ऋषि, मुनि, यति और अनगार**
- **लोक में प्रसिद्ध साधु के अन्य अनेक नाम –** श्रमण, संयत, साधु, वीतराग, विरत, भदन्त, दान्त, क्षान्त, प्रव्रजित, पाखण्डी, चरक, तापस, भिक्षु, योगी, परिव्राजक, क्षपणक, निश्चेल, अकच्छ, मुक्त, तीर्ण, त्राता
- **वैयावृत्य पर आधारित मुनिराज की संज्ञाएँ –** आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ
- **निक्षेपों की अपेक्षा श्रमण के चार भेद –** नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव
- **कल्प की अपेक्षा दो भेद** – जिनकल्प और स्थविरकल्प
- **स्थितिकल्प की अपेक्षा श्रमणों के दश भेद –** आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यागृहपिण्डत्याग, राजपिण्डत्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास, एवं पर्युषणा
- **विशिष्ट पुण्यप्रकृति की अपेक्षा साधुओं में भेद**
- **श्रेणी की अपेक्षा साधुओं के दो भेद** – उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी
- **ज्ञान की अपेक्षा साधुओं के भेद –** मति-श्रुतज्ञान के धारक, मति-श्रुत-अवधिज्ञान के धारक, मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्ययज्ञान के धारक
- **उपयोग की अपेक्षा साधुओं के दो भेद** – शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी
  - शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी श्रमण में अन्तर
- **निश्चय-व्यवहार की अपेक्षा साधु के भेद –** निश्चयसाधु और व्यवहारसाधु
- **लिंग की अपेक्षा मुनियों के भेद –** भावलिंग और द्रव्यलिंग
- **भावलिंगी साधु की पहचान**
- **द्रव्यलिंगी की पहचान**
- **शिथिलाचारी श्रमण के पाँच भेद** – पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द, कुशील, अवसन्न, संसक्त
- **द्रव्यलिंगी मुनि की पाँच भावनाएँ** – कन्दर्प, किल्विषिक, आभियोग्य, आसुरी सम्मोह
- **दोषी संयमियों के अन्य भेद** – काथिक श्रमण, प्राश्निक श्रमण, मामक श्रमण, सम्प्रसारक श्रमण, नित्यक श्रमण, श्रेणिबाह्य लिंगधारक, नट श्रमण, पाप श्रमण
- **पापश्रमणों की आगमोक्त संज्ञाओं का सूचक चार्ट**
- श्रमणाभासों की वन्दना, संगति आदि करने का निषेध
- अज्ञानी द्रव्यलिंगी का परीषहजय
- द्रव्यलिंगी के निषेध का कारण
- मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि, सम्यग्दृष्टि गृहस्थ से भी हीन
- भावलिंग की प्रधानता दर्शाने वाले आगम-उद्धरण
- द्रव्यलिंग की गौणता दर्शाने वाले आगम-उद्धरण
- द्रव्यलिंग और भावलिंग का पारस्परिक सम्बन्ध
- अढ़ाई द्वीप में छठे गुणस्थान के ऊपर भावलिंगी मुनियों की संख्या एवं उनके गुणस्थान
- **मुनियों के पाँच भेद एवं उनके गुण-दोष –** पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक
- **कुशील मुनि के दो भेद** – प्रतिसेवना-कुशील और कषाय-कुशील

○ **मुनिराजों की सल्लेखना-विधि** 260

- **परमात्माराधक साधुओं के छह काल –** दीक्षा, शिक्षा, गणपोषक, आत्म-संस्कार, सल्लेखना, उत्तमार्थ काल
- **सल्लेखना की महिमा**

❖ **तृतीय अध्याय की सन्दर्भ-सूची** 263

चतुर्थ अध्याय – **अतिचार : स्वरूप एवं विश्लेषण**

- **जैन आगमिक परम्परा में अतिचार निरूपण** 272
  - दोषों की निरूपणा : व्रतों के सन्दर्भ में
  - मुनिराजों की भूमिका में भी अतिचारों की सम्भावना
  - श्रावकों की भूमिका में होने वाले संयतासंयमभाव की अवस्था
  - अतिचारों का वर्णन करने का प्रयोजन
- **अतिचार के हेतु**
- **अतिचार सामान्य के भेद**
  - अतिचार के चौबीस भेद
- **सम्यग्दर्शन के अतिचार** 282
  - सम्यग्दर्शन के प्रमुख पाँच अतिचार
  - सम्यक्त्व-नाश के पाँच कारण
  - सम्यग्दर्शन के आठ अतिचार क्यों नहीं?
  - अन्यदृष्टि-प्रशंसा और अन्यदृष्टि-संस्तव में अन्तर
  - सम्यक्त्व के अतिचार किनको ? – मात्र श्रावकों को या महाव्रती मुनिराजों को भी
  - क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व में देशघाति सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय से ही अतिचार
  - **चल दोष**
  - **मल दोष : सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोषों का संक्षिप्त वर्णन**
  - **अगाढ़ दोष**
  - **विस्तार से सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोषों का वर्णन** 292
    - **आठ मल दोष**
      - **शंका दोष**
      - **शंका दोष के भेद** – अज्ञानमूलक और दौर्बल्यमूलक
      - **अज्ञानमूलक शंका दोष**
      - अज्ञानमूलक शंका दोष के निराकरण की प्रेरणा
      - अज्ञानमूलक शंका दोष से होने वाले दुष्परिणाम
      - **दौर्बल्यमूलक शंका दोष**
      - **सात भय** – इहलोकभय, परलोकभय, मरणभय, वेदनाभय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय और अकस्मात्भय
      - सात भयों का निराकरण
      - सात भयों का आध्यात्मिक दृष्टि से निराकरण
      - **कांक्षा दोष**
      - सांसारिक सुख का स्वरूप
      - कांक्षा दोष को दूर करने का उपदेश
      - कैसा है इन्द्रियजनित सुख?
      - सम्यग्दृष्टि अव्रती गृहस्थ को भी निःकांक्षित सम्यक्त्व होना सम्भव
      - **विचिकित्सा दोष**
      - मिथ्यात्व, असंयम, आदि में जुगुप्सा करना अतिचार नहीं
      - देह-सम्बन्धी वासना से अतीत मुनिराज
      - महापुरुषों को मुनिराज की बाह्य मलिनता देख कर भी ग्लानि नहीं

- सम्यक्त्व के उक्त आठ दोषों के सम्बन्ध में कुछ ज्वलन्त प्रश्न
- अपने शरीर के प्रति विचिकित्साभाव रखने से लाभ
- विचिकित्सा दोष को दूर करने का उपदेश
- **मूढ़दृष्टि दोष**
- अन्यदृष्टि-प्रशंसा
- अन्यदृष्टि-संस्तव
- मूढदृष्टि दोष को दूर करने का उपदेश
- **अनुपगूहन दोष**
- अनुपगूहन दोष को दूर करने का उपदेश
- **अस्थितिकरण दोष**
- अस्थितिकरण दोष को दूर करने का उपदेश
- **अवात्सल्य दोष**
- अवात्सल्य दोष को दूर करने का उपदेश
- **अप्रभावना दोष**
- अप्रभावना दोष को दूर करने का उपदेश

- **सम्यक्त्व के उक्त आठ दोषों के सम्बन्ध में कुछ ज्वलन्त प्रश्न** 312
- **षट् अनायतन दोष**
  - **अनायतन-सेवन-निषेध**
  - **कुगुरु का निरूपण और उनके श्रद्धानादि का निषेध**
  - विभिन्न अपेक्षाओं से कुगुरुपने की मान्यताएँ और उनका निषेध
  - कुगुरु-सेवन के निषेध में शास्त्रों की साक्षियाँ
  - कुगुरुओं के शिथिलाचार की पोषक युक्तियाँ और उनका निराकरण
  - **कुदेव का निरूपण और उनके श्रद्धानादि का निषेध**
  - विभिन्न अपेक्षाओं से कुदेवपने की मान्यताएँ और उनका निषेध
  - कुदेवों की मान्यता के सम्बन्ध में शंका समाधान
  - **कुधर्म का निरूपण और उनके श्रद्धानादि का निषेध**
  - विभिन्न अपेक्षाओं से कुधर्मपने की मान्यताएँ और उनका निषेध
  - कुधर्म-सेवन से मिथ्यात्वभाव कैसे ?
- जिनधर्म की आम्नाय
- सच्चे देव-गुरु-धर्म की उत्कृष्टता
- **आठ मद** – ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद, बलमद, ऋद्धिमद, तपमद, शरीरमद
  - इन्द्रियज्ञान की हीनता
- अष्ट मदों का स्वरूप
- अष्ट मदों को त्याग करने की प्रेरणा
- इन्द्रियज्ञान की हीनता
- मनुष्यों के द्वारा ज्ञान का दुरुपयोग
- मद करने का दुष्फल
- धन के सम्बन्ध में ज्ञानियों के विचार
- **तीन मूढता** – लोकमूढता, देवमूढता, पाषण्डिमूढता
  - **लोकमूढता**
  - स्नान-सम्बन्धी मूढ़ता
  - स्नान-सम्बन्धी सावधानियाँ

- आठ प्रकार की शुद्धि
- लोकमूढ़ जिनधर्मी
- **देवमूढता**
- देवमूढ़ जिनधर्मी
- देवमूढता के अनेकरूप
- **पाखण्डिमूढ़ता या गुरुमूढ़ता**

○ **श्री जिन-मन्दिर में नहीं करने योग्य 84 आसादन दोष**

- **श्रावकों के अतिचार** 349

○ अतिचारों की पंचरूपता

○ अतिचार आदि पाँच प्रकार के दोषों का वर्गीकरण

○ प्रमुख ग्रन्थों में वर्णित अतिचारों का तुलनात्मक अध्ययन

○ **श्रावक के पाँच अणुव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार** 352

○ **अहिंसाणुव्रत के अतिचार** – बन्ध, वध, छेद, अतिभार-आरोपण, अन्न-पान-निरोध

- अहिंसाणुव्रत के बन्ध आदि अतिचार मानने में हेतु

○ **सत्याणुव्रत के अतिचार** – मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार, साकारमन्त्रभेद

○ **अचौर्याणुव्रत के अतिचार** – स्तेन-प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध-राज्यातिक्रम, हीनाधिक-मानोन्मान, प्रतिरूपक-व्यवहार

○ **ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार** – परविवाहकरण, परिगृहीता-इत्वरिकागमन, अपरिगृहीता-इत्वरिकागमन, अनंग क्रीड़ा, कामतीव्राभिनिवेश

○ **परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार** – क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास, कुप्य

○ **श्रावक के तीन गुणव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार** 367

○ **दिग्व्रत के अतिचार** – ऊर्ध्व-व्यतिक्रम, अधो-व्यतिक्रम, तिर्यग्-व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि, स्मृत्यन्तराधान

○ **देशव्रत के अतिचार** – आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, पुद्गलक्षेप

- आनयन आदि को अतिचार मानने का कारण

○ **अनर्थदण्डव्रत के अतिचार** – कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, उपभोग-परिभोगाऽऽनर्थक्य

- कन्दर्प और कौतकुच्य में अन्तर
- अनर्थदण्डव्रत से प्राप्त निष्कर्ष

○ **श्रावक के चार शिक्षाव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार** 374

○ **सामायिकव्रत के अतिचार** – काययोगदुष्प्रणिधान, वचनयोगदुष्प्रणिधान, मनोयोगदुष्प्रणिधान, अनादर, स्मृत्यनुपस्थान

- दुष्प्रणिधान से तात्पर्य
- स्मृत्यनुपस्थान एवं मनोदुष्प्रणिधान में अन्तर

○ **प्रोषधोपवासव्रत के अतिचार** – अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-आदान, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-संस्तरोपक्रमण, अनादर, स्मृत्यनुपस्थान

- अप्रत्यवेक्षण और अप्रमार्जन का अर्थ

○ **भोगोपभोग-परिमाणव्रत या उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत के अतिचार** – सचित्ताहार, सचित्त-सम्बन्धाहार, सचित्त-सम्मिश्राहार, अभिषव, दुःपक्वाहार

- भोगोपभोगपरिमाणव्रत और उपभोग-परिभोगानर्थक्य नामक अतिचार में अन्तर
- सचित्त-सम्बन्ध और सचित्त-सम्मिश्र में अन्तर
- भोगोपभोग-परिमाणव्रत के अन्य प्रकार से पाँच अतिचार

- **अन्य भोगोपभोग की वस्तुओं के दोष** – अफीम, हुक्का, जर्दा या तमाखू, भांग, नीच-संगति, इत्र, रात्रि में बनाये भोजन, रात्रिभोजन, द्विदल, अनछना जल
- अभक्ष्य भक्षण नहीं करने के निष्कर्ष
- मर्यादित द्रव्य-क्षेत्र-काल के बाहर त्याज्य अभक्ष्य पदार्थ

○ **अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार** – सचित्तनिक्षेप, सचित्ताऽपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य, कालाऽतिक्रम
- दातार के पाँच दोष

○ **सल्लेखना व्रत के अतिचार**

○ जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध, निदान

• **श्रावक चर्या से सम्बन्धित अन्य अतिचार** **385**
- पूजन के अतिचार
- अभिषेक के अतिचार
- मौन व्रत के अतिचार
- रात्रिभोजन त्याग व्रत या अनस्तमित व्रत के अतिचार
- जलगालन या पानी छानने के अतिचार
- **व्यसनत्याग के अतिचार**
- जुआ व्यसन त्याग के अतिचार या दोष
- मांसभक्षण व्यसन त्याग के अतिचार या दोष
- मद्यपान व्यसन त्याग के अतिचार या दोष
- वेश्यासेवन त्याग के अतिचार या दोष
- शिकार या आखेट व्यसन त्याग के अतिचार या दोष
- चोरी व्यसन त्याग के अतिचार
- परस्त्रीसेवन व्यसन त्याग के अतिचार या दोष
- मधु त्याग के अतिचार

सम्यग्ज्ञान के अतिचार
- श्रुत के अतिचार
- ज्ञान के चौदह अतिचार
- अतिचारों की सामान्य आलोचना-विधि
- सूत्र के बत्तीस दोष

○ **पात्रदान के पाँच अतिचार**

○ **बाह्य तप के अतिचार**
- अनशन तप के अतिचार
- अवमौदर्य तप के अतिचार
- वृत्तिपरिसंख्यान तप के अतिचार
- रसपरित्याग तप के अतिचार
- विविक्त शय्यासन अथवा अभ्रावकाश तप के अतिचार
- कायक्लेश तप के अतिचार

○ **अन्तरंग तपों में कतिपय तपों के अतिचार**
- प्रायश्चित्त तप के अतिचार
- कायोत्सर्ग के अतिचार

○ **वन्दना के अतिचार**

- **साधु अवस्था में सम्भवित दोषों का वर्णन** 394
    - दीक्षा के अयोग्य व्यक्ति
    - साधु अवस्था का प्रमाद या प्रमत्त गुणस्थान
    - सर्वथा त्याज्य सदोष आहार
    - **आहार-सम्बन्धी दोष एवं उनके भेद**
    - अधःकर्म का स्वरूप
    - आठ प्रकार के आहार-सम्बन्धी सामान्य दोष एवं उनके भेद
    - उद्गम दोष से आशय और उसके सोलह भेदों का स्वरूप
    - उत्पादन दोष से आशय एवं उसके सोलह भेदों का स्वरूप
    - एषणा दोष से आशय एवं उसके दस भेदों का स्वरूप
    - संयोजना दोष/प्रमाण दोष/अंगार दोष/धूम दोष/कारण दोष
    - चौदह मल दोष
    - बत्तीस अन्तराय
    - भावदीपिकाकार के अनुसार चौंसठ अन्तराय
- **सामान्य साधुओं को एकल विहार का निषेध**
- **आलोचना प्रायश्चित्त के आकम्पित आदि दश दोष**
- **आलोचना प्रायश्चित्त के त्यागने योग्य दर्प आदि बीस दोष**
- **पाँच समिति के अतिचार**
    - ईर्या समिति के अतिचार
    - भाषा समिति के अतिचार
    - एषणा समिति के अतिचार
    - आदान-निक्षेपण समिति के अतिचार
    - प्रतिष्ठापना समिति के अतिचार
- **तीन गुप्तियों के अतिचार**
    - मनोगुप्ति के अतिचार
    - वचनगुप्ति के अतिचार
    - कायगुप्ति के अतिचार
- **श्वेताम्बर ग्रन्थ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की प्रथम दशा में वर्णित बीस असमाधिस्थान** 412
- **श्वेताम्बर ग्रन्थ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की द्वितीय दशा में वर्णित इक्कीस शबल दोष**
- **श्वेताम्बर ग्रन्थ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की तृतीय दशा में वर्णित तेतीस आशातनाएँ**

❖ **चतुर्थ अध्याय की सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची** 417

पंचम अध्याय – **प्रायश्चित्त : स्वरूप एवं मीमांसा**

- **प्रायश्चित्त का उद्देश्य** 423
- प्रायश्चित्त का व्युत्पत्तिपरक या निरुक्तिपरक अर्थ
- प्रायश्चित्त के आठ पर्यायवाची नाम
- **प्रायश्चित्त का स्वरूप** 426
    - निश्चय प्रायश्चित्त का स्वरूप
    - व्यवहार प्रायश्चित्त का स्वरूप
- **श्वेताम्बर साहित्य में प्रायश्चित्त निरूपण**

- **बौद्ध-दृष्टि में प्रायश्चित्त विधान**
- **वैदिक-दृष्टि में प्रायश्चित्त विधान**
- जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं का तुलनात्मक विवेचन
- **मुनिराजों के अतिचार एवं प्रायश्चित्त का वर्णन करने में आचार्यों का संकोच** 436
    - श्वेताम्बर ग्रन्थों में छेद सूत्र के माध्यम से साधुओं के अतिचार एवं प्रायश्चित्त
    - छेद सूत्र की चिन्तनपूर्ण पृष्ठभूमि : जयन्त मुनि के अनुसार
    - छेद सूत्रों की विशेषता और उसके रहस्यमय भाव
    - छेद सूत्रों का वर्ण्य विषय
    - तीन प्रकार के कल्प या नियम
- **आचार्यों, विद्वानों आदि से विचार-विमर्श करने हेतु प्रश्नावली** 442
    - 'प्रायश्चित्त' के सम्बन्ध में आचार्य श्री विद्यासागरजी के साथ वार्तालाप
    - 'प्रायश्चित्त' के सम्बन्ध में विद्वान् श्री शैलेषजी के साथ सिद्धक्षेत्र सोनागिर में वार्तालाप
    - ब्र. राकेशजी, सिद्धायतन, सागर के साथ हुई चर्चा के आधारभूत बिन्दु
- **प्रायश्चित्त के दश या नौ भेद** 450
    - प्रायश्चित्त के दश या नौ भेदों के सम्बन्ध में मतभेद
- **आलोचना प्रायश्चित्त** 451
    - आलोचना के पर्यायवाची
    - व्यवहार आलोचना का स्वरूप
    - निश्चय आलोचना का स्वरूप
    - आलोचनाकल्प के अन्तर्गत कर्मचेतना के त्याग के उनचास भंग
    - **आलोचना प्रायश्चित्त केदो भेद** – सामान्य एवं विशेष आलोचना
    - **आलोचना के तीन भेद** – विहार, उपसम्पदा एवं अपराध आलोचना
    - **आलोचना के सात भेद** – दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक एवं उत्तमार्थ
- **प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त** 455
    - प्रतिक्रमण का महत्त्व
    - प्रतिक्रमण की निरुक्ति
    - व्यवहार प्रतिक्रमण का स्वरूप
    - निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप
    - निश्चय-व्यवहार प्रतिक्रमण का समन्वय
    - प्रतिक्रमण क्रिया के कर्ता, कर्म, करण, और अधिकरण कारक
    - **दैवसिक आदि प्रतिक्रमण के सात भेद** – दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ
    - **नाम आदि प्रतिक्रमण के छह भेद** – नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव
    - **प्रतिक्रमण के चार भेद** – नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव
    - **प्रतिक्रमण के तीन भेद** – मन, वचन और काय
    - प्रतिक्रामक-प्रतिक्रमण-प्रतिक्रमितव्य **की अपेक्षा तीन भेद**
    - **प्रतिक्रमण के दो भेद** – द्रव्य और भाव
    - प्रतिक्रमण के भेदों का परस्पर में अन्तर्भाव
    - द्रव्य अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान और भाव अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान
    - प्रतिक्रमण आदि विषकुम्भ या अमृतकुम्भ

- प्रतिक्रमण के अन्तर्गत कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना
- प्रतिक्रमणकल्प के अन्तर्गत कर्मचेतना के त्याग के उनचास भंग
- **गुरु एवं लघु प्रतिक्रमण**
- **गुरु प्रतिक्रमण के सात भेद** – व्रतारोपण, पाक्षिक, कार्तिकान्त चातुर्मासिक, फाल्गुनान्त चातुर्मासिक, आषाढ़ान्त वार्षिक, सर्वातिचार-सम्बन्धी और उत्तमार्थ
- **लघु प्रतिक्रमण के सात भेद** – केशलोंच, रात्रि, दिन, भोजन, निषिद्धिकागमन, मार्ग और दोष
- **श्वेताम्बर परम्परा में प्रतिक्रमण के भेद**
- **स्थानांग सूत्र में छह प्रतिक्रमण** – उच्चार, प्रश्रवण, इत्वर, यावत्कथिक, यत्किंचन मिथ्या और स्वाप्नान्तिक
- **आवश्यक सूत्र में प्रतिक्रमण के सात भेद** – दैवसिक, रात्रिक, इत्वर, यावत्कथिक, पाक्षिक, चातर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ
- सामायिक और प्रतिक्रमण में अन्तर
- प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में अन्तर

- **प्रत्याख्यान शब्द की विशेषता** 470
  - प्रत्याख्यान के पर्यायवाची
  - निश्चय प्रत्याख्यान का स्वरूप
  - व्यवहार प्रत्याख्यान का स्वरूप
  - **प्रत्याख्यान के भेद**
  - **सार्थक प्रत्याख्यान के 10 भेद** – अनागत, अतिक्रान्त, कोटीसहित, निखण्डित, साकार, अनाकार, परिमाणगत, अपरिशेष, अध्वगत और सहेतुक प्रत्याख्यान
  - **प्रत्याख्यान के चार प्रकार** – विनय, अनुभाषा, अनुपालन, और परिणाम
  - **प्रत्याख्यान के छह प्रकार** – नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव
  - **प्रत्याख्यान के तीन भेद** – मन, वचन और काय
  - आध्यात्मिक दृष्टि से ज्ञान अथवा निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान
  - सम्यक्त्व रहित प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान नहीं

- **तदुभय प्रायश्चित्त** 473
  - आलोचना सहित प्रतिक्रमण और आलोचना रहित प्रतिक्रमण का समन्वय
- **विवेक प्रायश्चित्त** 473
- **व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त** 474
  - कायोत्सर्ग का काल
  - **द्रव्य-भाव की अपेक्षा कायोत्सर्ग के चार भेद** – उत्थितोत्थित, उत्थित-निविष्ट, उपविष्टोत्थित और उपविष्ट-निविष्ट
  - **आगम साहित्य में कायोत्सर्ग के दो भेद** – द्रव्य और भाव
  - कायोत्सर्ग का फल
- **तप प्रायश्चित्त** 476
- **छेद प्रायश्चित्त** 476
- **मूल या उपस्थापना प्रायश्चित्त** 477
- **परिहार या पारांचित प्रायश्चित्त** 478
  - **परिहार प्रायश्चित्त के भेद** – गण-प्रतिबद्ध और गण-अप्रतिबद्ध
- **श्रद्धान प्रायश्चित्त** 479

- **प्रायश्चित्त के अन्य भेद** 480
  - पंच कल्याण, गुरुमास, भिन्नमास, लघुमास, आदि
  - पंच कल्याण प्रायश्चित्त के विशेष पर्यायवाची नाम
  - **पंच कल्याण में समाविष्ट भेद** – पाँच आचाम्ल भोजन या काँजी मिश्रित भात, पाँच नीरस आहार, पाँच एक स्थान, पाँच पुरुमण्डल या काँजी भोजन तथा पाँच क्षमण-उपवास
  - गुरुमास प्रायश्चित्त
  - भिन्नमास प्रायश्चित्त
  - लघुमास प्रायश्चित्त
  - चातुर्मासिक प्रायश्चित्त
  - कितने कायोत्सर्ग करने पर कितने उपवास आदि करने का फल
  - एक उपवास का फल प्राप्त करने की विधि
  - उपवास के हीन होने के कारण
  - **प्रायश्चित्त के प्रकरण में विद्वानों द्वारा जानने योग्य छह बिन्दु** – दोष, काल, क्षेत्र, छेद, भुक्ति या भक्ति, दोषी अथवा **प्रायश्चित्त के छह अधिकार** – प्रतिसेवा, काल, क्षेत्र, आहार, पुरुष, और प्रायश्चित्त
  - व्यवहारभाष्य के अनुसार प्रायश्चित्तार्ह और प्रायश्चित्तवाहक कौन ?
  - प्रायश्चित्त समुच्चय के अनुसार निमित्त-सेवा के सोलह और अनिमित्त-सेवा के आठ भेद
  - लघु-गुरु प्रायश्चित्त का विवेक एवं द्रव्य-क्षेत्रादि की सावधानियाँ
  - प्रायश्चित्त के लिए पंच कल्याणों के प्रत्येक या संयोगी भंगों का विवरण
  - श्वेताम्बर प्ररूपणा में प्रायश्चित्त व्यवहार के भेद प्रभेद
- **मूलगुणों और उत्तरगुणों के दोषों में प्रायश्चित्त-विधान** 490
  - प्रायश्चित्त-ग्रहण की उपयोगिता
  - प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में अन्तिम निवेदन

❖ **पंचम अध्याय की सन्दर्भ- सूची** 492

षष्ठ अध्याय – **प्रायश्चित्त की व्यावहारिकता : जैन संविधान के सन्दर्भ में**

- **जैन संविधान अथवा जैन दर्शन की व्यावहारिकता** 496
  - लोकहितकरता, प्रयोगधर्मिता, विश्वसनीयता, और वैज्ञानिकता
  - लोकविरुद्ध कार्य करने का निषेध
  - प्रायश्चित्त तप : दोषों से विशुद्धि की उत्तम प्रक्रिया
  - 'श्रावक प्रतिक्रमण सार' के महत्त्वपूर्ण बिन्दु
- **प्रायश्चित्त की महिमा** 500
- प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर
- प्रायश्चित्त के योग्य काल
- प्रायश्चित्त का फल
- **प्रायश्चित्त का प्रयोजन**
- प्रायश्चित्त करने से लाभ
- **प्रायश्चित्त का उद्देश्य**
- एक सार्थक प्रश्न : प्रायश्चित्त, तप है या तप, प्रायश्चित्त
- प्रायश्चित्त, अभ्यन्तर तप क्यों ?

- प्रायश्चित्त को अन्तरंग तप में प्रथम स्थान क्यों ?
- प्रायश्चित्त से छेदोपस्थापना चारित्र का सम्बन्ध
- द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि से प्रायश्चित्त का सम्बन्ध
- प्रायश्चित्त के योग्य कौन ?
- प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाले शिष्य की पात्रता
- प्रायश्चित्त नहीं लेने से हानि
- प्रायश्चित्त देने वाले गुरु का लक्षण
- प्रायश्चित्त देने वाले गुरुओं की दुर्लभता
- गृहस्थों को प्रायश्चित्त के योग्य सामान्य दण्डों के निर्देश
- **प्रायश्चित्त की विधि** 507
    - अपवाद-मार्ग के अन्तर्गत प्रायश्चित्त शास्त्र का निरूपण
    - अपवाद और अतिचार में अन्तर
- **प्रायश्चित्त देने योग्य आचार्य की योग्यताएँ** 509
    - आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, प्रकुर्वी, अपायोपायविदर्शी, अवपीड़क, अपरिस्रावी और निर्यापक
    - प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता आचार्य के गुण
    - प्रायश्चित्त शास्त्र के अज्ञाता आचार्य के दोष
    - प्रायश्चित्तदान में अनेकान्त
- **आलोचना प्रायश्चित्त का व्यवहार पक्ष** 513
    - **आलोचना प्रायश्चित्त का महत्त्व एवं सावधानी**
    - आलोचक की भावना
    - आलोचना करने योग्य आलोच्य कर्म या आलोचनीय विषय
    - **आलोचना की शुद्धि**
    - आलोचना का हेतु
    - **आलोचना प्रायश्चित्त से लाभ**
    - अतिचार लगने पर आलोचना करने में शीघ्रता आवश्यक
    - आलोचनासहित-शल्यरहित और आलोचनारहित-शल्यसहित मरण में गुण-दोष
    - क्षपक श्रमण के द्वारा करने योग्य आलोचना प्रायश्चित्त में कायोत्सर्ग की विधि
    - **आलोचना में भावशुद्धि के साथ, क्षेत्र-शुद्धि और काल-शुद्धि का महत्त्व**
        - आलोचना के अयोग्य क्षेत्र
        - आलोचना के योग्य क्षेत्र
    - **आलोचना सुनने वाले आचार्य के गुण**
        - आलोचना सुनने वाले आचार्य के बैठने की दिशा व एकान्तता का विधान
    - **आलोचना प्रायश्चित्त की विधि**
        - प्रायश्चित्त के ज्ञाता आचार्य के द्वारा विचारणीय सावधानियाँ
    - **क्षपक साधु के सामने आलोचना-वार्ता का भी निषेध**
- **दोषों के अनुसार प्रायश्चित्तों का निर्धारण करने हेतु अनेक उदाहरण** 522
- **सम्यक्त्व में दोष सम्बन्धी प्रायश्चित्त** 522
    - आठ प्रकार के मदों से उन्मत्त होने के प्रायश्चित्त
    - सम्यग्दर्शन आदि से भ्रष्ट लोगों की संगति करने का प्रायश्चित्त
    - सिद्धान्त का उपदेश न करने वालों का प्रायश्चित्त

- **पाँच महाव्रतों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** 523
  - **अहिंसाव्रत के दोषों के प्रायश्चित्त** 523
    - इन्द्रियों एवं प्राणों की संख्या के अनुसार जीवों का घात करने के प्रायश्चित्त
    - संज्ञी पंचेन्द्रियों के घात का प्रायश्चित्त
    - कायोत्सर्ग से दूर होने वाले दोष
    - धूलि से पानी और पानी से धूलि में जाने का प्रायश्चित्त
    - कीचड़ से जल में जाने का प्रायश्चित्त
    - गीली घास एवं अनन्तकाय के घात का प्रायश्चित्त
    - हरी घास, अनन्तकाय, एवं त्रस जीवों के छिन्न-भिन्न करने का प्रायश्चित्त
    - त्रसजीव के घात का प्रायश्चित्त
    - कमण्डलु, भेषज आदि भाजनों में जीवों के घात का प्रायश्चित्त
    - संस्तर पर पंचेन्द्रिय जीव के घात का प्रायश्चित्त
    - आवासद्वार पर पंचेन्द्रिय जीव के घात का प्रायश्चित्त
    - अपने सामने बिच्छू, सर्प, आदि का घात होने पर प्रायश्चित्त
    - रोगादि के निमित्त से अग्नि को बुझाने आदि का प्रायश्चित्त
    - हर्र, वचा, बिजौरा, बेलफल, आदि ग्रहण करने का प्रायश्चित्त
  - **सत्यव्रत के दोषों के प्रायश्चित्त** 526
    - अशिष्टवचन बोलने आदि का प्रायश्चित्त
    - साधर्मियों का अपमान करने का प्रायश्चित्त
    - अहंकारवश चौपड़ आदि खेलने का प्रायश्चित्त
    - पहेलियाँ आदि कार्यों में लग जाने का प्रायश्चित्त
    - धातुवाद आदि क्रियाओं को करने का प्रायश्चित्त
    - धातुवाद आदि के कथन करने का प्रायश्चित्त
    - अन्य क्रीड़ाओं को करने का प्रायश्चित्त
    - प्राणियों को मारते हुए देखने का प्रायश्चित्त
    - जू, खटमल, आदि को पकड़ने का प्रायश्चित्त
    - अन्य साधर्मियों को शय्या, वसतिका, आदि देने का प्रायश्चित्त
    - पार्श्वस्थ आदि मुनियों से अध्ययन करने का प्रायश्चित्त
    - पार्श्वस्थ आचार्य को वन्दन करने का प्रायश्चित्त
  - **अचौर्यव्रत के दोषों के प्रायश्चित्त** 529
    - आहार छोड़ने पर प्रायश्चित्त
    - अस्थान और असमय में सोने सम्बन्धी प्रायश्चित्त
    - स्वकार्यवश मर्यादा के बाहर जाने का प्रायश्चित्त
    - संघपालन के उद्देश्य से राजादि से स्नेह रखना, प्रायश्चित्त योग्य कार्य नहीं
    - दीक्षा के उद्देश्य से आचार्य द्वारा अभ्युत्थान आदि अयोग्य कार्य नहीं
    - निषद्या-सेवन, मिथ्याकार, इच्छाकार, निमन्त्रण, आदि नहीं करने का प्रायश्चित्त
    - किस काल में कैसा प्रायश्चित्त ?
    - आहार-ग्रहण की अपेक्षा प्रायश्चित्त-विधान
    - गर्व करने का प्रायश्चित्त
    - कोमलाचार पालने वाले मुनि को प्रायश्चित्त-विधि
  - **ब्रह्मचर्यव्रत से सम्बन्धी प्रायश्चित्त** 531
    - मैथुनसेवा का प्रायश्चित्त
    - कामसेवन की मन्द-तीव्र अभिलाषा होने के प्रायश्चित्त

- बलवर्धक औषधिसेवन करने के प्रायश्चित्त
- हंसी हंसने के प्रायश्चित्त
- रास्ते को लांघने के प्रायश्चित्त
- कामोत्तेजक अंगुली चटकाने आदि क्रियाओं के प्रायश्चित्त
- कषाय उत्पन्न होने के प्रायश्चित्त
- विकथाओं को करने के प्रायश्चित्त
- सचित्त-अचित्त वस्तुओं को सूँघने के प्रायश्चित्त
- छह रसों की लोलुपता करने के प्रायश्चित्त
- संयमीजनों के द्वारा अयोग्य क्रियाओं को करने के प्रायश्चित्त
- सोने से सम्बन्धित प्रायश्चित्त
- **अपरिग्रहव्रत सम्बन्धी प्रायश्चित्त** **533**
  - आवश्यक पीछी-कमण्डलु आदि से सम्बन्धी प्रायश्चित्त
  - जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट चीजों को खरीदने का प्रायश्चित्त
  - तृणपंचक, वस्त्रपंचक आदि के सेवन करने का प्रायश्चित्त
  - अप्रतिलेख्य या अशोधित वस्तुओं के सेवन का प्रायश्चित्त
  - संस्तर सम्बन्धी प्रायश्चित्त
  - उपधि या संयमोपकरण को भूल जाने का प्रायश्चित्त

- **रात्रिभोजनत्यागव्रत के प्रायश्चित्त** **534**
  - औषधि ग्रहण के प्रायश्चित्त
- **पाँच समितियों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** **535**
  - **ईर्या समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त**
  - हरित अंकुर, पानी, कीचड़, आदि पर चलने का प्रायश्चित्त
  - **भाषा समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त**
  - **एषणा समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त**
  - **आदाननिक्षेपण समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त**
  - **प्रतिष्ठापना समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त**
  - पाँच समितियों से सम्बन्धित अन्य प्रायश्चित्त
- **पंचेन्द्रिय-विजय से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** **537**
- **मुनियों के षट्-आवश्यकों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** **538**
- **मुनियों के सात शेष गुणों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** **538**
  - केशलोंच से सम्बन्धित प्रायश्चित्त
  - नग्नता से सम्बन्धित प्रायश्चित्त
  - अस्नानता आदि सात मूलगुणों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त
- मूलगुणों के पालन में संक्लेश परिणाम करने का प्रायश्चित्त

- **उत्तरगुणों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** **539**
  - अप्रासुक भूमि पर या भूमि को मनोहर देख कर योग धारण करने का प्रायश्चित्त
  - वसतिका आदि बनवाने का उपदेश देने से सम्बन्धित प्रायश्चित्त
  - पूजा आदि करने के उपदेश देने से सम्बन्धित प्रायश्चित्त
- अपने द्वारा कमण्डलु आदि उपकरण टूटने आदि का प्रायश्चित्त
- मिथ्यादृष्टि लोगों से कलह करने का प्रायश्चित्त
- मुनियों के बीच हाथों से कलह करने का प्रायश्चित्त

- नाचने, गाने और निद्रा से जगाने का प्रायश्चित्त
- संघापराध प्रगट करने का प्रायश्चित्त
- स्वाध्याय के लिए औद्देशिक दोष सेवन करने का प्रायश्चित्त
- दुःशील, क्रोधी, मिथ्यात्वी, आदि के साथ विहार करने पर प्रायश्चित्त
- अर्हन्तादि के अवर्णवाद का प्रायश्चित्त
- शिला, भूमि, पेट, जंघा आदि पर सूत्र लिखने का प्रायश्चित्त
- धर्मच्युत मिथ्यादृष्टि लोगों के घरों में आहार करने का प्रायश्चित्त
- ज्ञानोपकरण और औषधनिषेध का प्रायश्चित्त
- चाण्डाल-स्पर्श का प्रायश्चित्त
- शूद्र-दीक्षा देने वाले को प्रायश्चित्त
- **दीक्षाच्छेद के योग्य प्रायश्चित्त कब ?** 542
- **आर्यिकाओं के प्रायश्चित्त** 542
- आर्यिकाओं के रजस्वला होने पर रखने योग्य सावधानियाँ
- **प्रायश्चित्त चूलिका में उल्लिखित अन्य प्रायश्चित्त**
- **मुनियों के प्रायश्चित्त से श्रावक के प्रायश्चित्त की तुलना**
- **दोषों के अनुसार प्रायश्चित्त का विधान** 544
    - प्रायश्चित्त-विधि अपनाने का फल
    - समर्थ सम्पत्ति-सम्पन्न श्रावकों को निर्देश
    - असमर्थ सम्पत्ति-विपन्न श्रावकों को निर्देश
    - श्रावकों को विविध प्रकार के तप करने की प्रेरणा
    - गणधर मन्त्र एवं णमोकार मन्त्र से दोष निवृत्ति
    - त्रिकाल सामायिक एवं पात्रदान से दोष निवृत्ति
    - श्रेष्ठ श्रावक कौन ?
- **श्रावकों के लिए वर्णित प्रायश्चित्त** 546
    - पूजा आदि कार्यों के काल का उल्लंघन हो जाने का प्रायश्चित्त
    - एक या दो दिनों तक अनुष्ठान की हानि होने का प्रायश्चित्त
    - **तीन दिन तक अनुष्ठान की हानि होने का प्रायश्चित्त**
    - **चार दिन तक अनुष्ठान की हानि होने का प्रायश्चित्त**
    - **पांच दिन या एक सप्ताह आदि दिनों तक अनुष्ठान की हानि होने का प्रायश्चित्त**
    - अर्हन्त प्रतिमा का अंग-भंग होने का प्रायश्चित्त
    - स्वप्न में अथवा प्रमाद से व्रत का समूल नाश होने का प्रायश्चित्त
    - दो इन्द्रिय जीव का घात हो जाने का प्रायश्चित्त
    - तीन इन्द्रिय एवं चार इन्द्रिय जीव का घात हो जाने का प्रायश्चित्त
    - संज्ञी–असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव का घात हो जाने का प्रायश्चित्त
    - लोकनिन्द्य मृतक कलेवर, हड्डी, मल, मूत्र आदि देखने एवं लोकनिन्द्य वचन सुनने के प्रायश्चित्त
    - रजस्वला स्त्री के द्वारा परोसे अन्न का प्रायश्चित्त
    - पूजा करते समय जिन प्रतिमा एवं अष्ट द्रव्यों की कोई सामग्री के गिरने का प्रायश्चित्त
    - जप करते समय किसी प्रकार का विघ्न आने पर प्रायश्चित्त
- **सल्लेखना आदि से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** 553
- **श्रावकाचार के अन्तर्गत आलोचना-विधि** 553
    - अनेक प्रकार के जीवों सम्बन्धी आरम्भ की आलोचना-विधि

- भोजन, उपकरण, और वसति-सम्बन्धी दोषों की आलोचना-विधि
- अस्नान आदि व्रतों के विरुद्ध स्नान आदि क्रियाओं के दोषों की आलोचना-विधि
- सरल या वक्र आलोचना जानने की विधि
- द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा असंयम अर्थात् प्रतिसेवना के चार प्रकार

• **प्रायश्चित्त की पात्रता** 555
- गुरु के समीप आलोचना करने के गुण
- शिष्य द्वारा आलोचना करने पर गुरु का कर्तव्य

• **वर्तमान युग के लिए आलोचना-सार** 556
- मुनि/भट्टारक/प्रतिष्ठाचार्य/पण्डित/पुजारी/प्रवचनकार/श्रोता/ब्रह्मचारी/ज्योतिषी/भक्त/साहूकार/महाजन/कर्जदार/व्यापारी/पूंजीपति/तस्कर-व्यवसायी/सट्टेबाज/शोषक/मुनीम/कर्मचारी/दहेजलोभी वरविक्रेता पिता/दलाल/वैज्ञानिक/साहित्यकार/कवि/लेखक/चित्रकार/शिल्पी/पत्रकार/समालोचक/बुद्धिजीवी/श्रमजीवी/कोषाध्यक्ष/अध्यक्ष/निर्वाचित सदस्य/मतदाता/राजनेता/पंच/समाज/चाटुकार/ठेकेदार/इंजीनियर/ओवरसीयर/शासनाधिकारी/ न्यायाधीश /वकील/वैद्य डॉक्टर/शिक्षक/स्नातक/युवापीढ़ी/मुंशी क्लर्क या बाबू/पुलिस/सैनिक/मन्त्री/ यात्री/ विषयलम्पटी/व्यसनी/कृषक/भिक्षुक/दम्पति आदि मनुष्यों की **व्यक्तिगत अपनी आलोचना** के उदाहरण

• **प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त की व्यवहारिकता** 561
- प्रतिक्रमण का फल
- द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- प्रतिक्रमण के प्रयोग की विधि
- अतिचार-विशुद्धि हेतु प्रतिक्रमण की विधि
- गृहस्थों में प्रतिक्रमण की विधि : लघु प्रतिक्रमणक्र

• **वर्तमान सन्दर्भों में प्रायश्चित्त की समसामयिकता** 566

❖ **षष्ठ अध्याय की सन्दर्भ-सूची** 567

सप्तम अध्याय : **सामाजिक एवं राष्ट्रीय महत्त्व के परिप्रेक्ष्य में : प्रायश्चित्त की महत्ता एवं उपयोगिता**

• **जैनधर्म में विश्वधर्म बनने की क्षमता** 571
- राष्ट्रिय परिप्रेक्ष्य में जैन संविधान की उपयोगिता
- राष्ट्रीय संविधान के निर्माण में जैन समाज का योगदान
- पर्यावरण की सुरक्षा हेतु जैनधर्म की उपयोगिता
- जैनधर्म में जाति, वर्ण एवं वर्ग जैसी संकीर्णताओं को कोई स्थान नहीं
- जैनधर्म के सर्वोदयी एवं समन्वयी सिद्धान्त
- जैन संस्कारों का प्रभाव

• **अतिचार के अनुसार प्रायश्चित्त-विधान** 581
- प्रायश्चित्त का अतिचारों की शुद्धि से सीधा सम्बन्ध
- दोषों के अनुसार प्रायश्चित्त के भेदों का संक्षिप्त वर्णन
- सामाजिक दृष्टि से प्रायश्चित्त का प्रयोजन व माहात्म्य
- सामाजिक दृष्टि से प्रायश्चित्त देने का अधिकार

- **जैन दण्डनीति का राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रयोग** 584
- **विवाह के सम्बन्ध में जैनधर्म का दृष्टिकोण** 587
    - वधू के लिए वर के सप्त वचन
    - वर के लिए वधू के सप्त वचन
- **दैनिक जीवन में श्रावकाचार पालन सम्बन्धी सुझाव** 587
    - प्रातःकालीन दिनचर्या
    - जिनदर्शन हेतु गमन आदि क्रियाओं में विवेक
    - **भोजन सम्बन्धी विवेक**
        - रसोईघर में कार्य करने/भोजन बनाने सम्बन्धी विवेक
        - रसोईघर में बर्तन माँजने सम्बन्धी विवेक
        - नमक सम्बन्धी विवेक
        - सब्जियों एवं फलों को खरीदने सम्बन्धी विवेक
        - धान्य/मसाले सम्बन्धी विवेक
        - भोजन करने के सम्बन्ध में विवेक
    - **आजीविका सम्बन्धी विवेक**
        - आजीविका करते हुए गमनागमन सम्बन्धी विवेक
    - **दिनचर्या में विवेक**
        - सायंकालीन दिनचर्या में विवेक
        - रात्रिकालीन चर्या में विवेक
    - **अन्य गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों में विवेक**
        - वस्त्र आदि खरीदने/पहनने का विवेक
        - यात्रा पर निकलने के पूर्व रखा जाने योग्य विवेक
        - यात्रा से घर लौटने पर रखा जाने योग्य विवेक
        - वस्त्र धोने, बाल कटवाने आदि के सम्बन्ध में विवेक
        - स्त्री के मासिक धर्म के दौरान रखा जाने योग्य विवेक
        - जैनियों में सामान्य रहन-सहन का विवेक
    - **उपसंहार** 595

❖ **सप्तम अध्याय की सन्दर्भ-सूची** 596

परिशिष्ट :

क. साधु–सन्तों एवं विद्वानों से चर्चा-वार्ताओं की सूची 597

- आचार्यों, विद्वानों आदि से विचार-विमर्श हेतु प्रश्नावली
- सितम्बर, 2008 में रामटेक चातुर्मास के अवसर पर 'प्रायश्चित्त' के सम्बन्ध में आचार्य श्री विद्यासागरजी के साथ वार्तालाप
- अगस्त, 2008 एवं नवम्बर, 2008 में दो दौर की चर्चा के द्वारा 'प्रायश्चित्त' के सम्बन्ध में विद्वान् श्री शैलेषजी के साथ सिद्धक्षेत्र सोनागिर में वार्तालाप
- ब्र. राकेशजी, सिद्धायतन, सागर के साथ हुई चर्चा के आधारभूत बिन्दु

- उक्त मनीषी आचार्यों, विद्वानों एवं अन्य मनीषियों के साथ हुई चर्चा के निष्कर्ष
- जैन, सुरेश जैन भिण्ड, नवम्बर, 2008 में आध्यात्मिक शिक्षण शिविर, सोनागिर के अवसर पर हुई चर्चा : जैन संस्कारों का प्रभाव

ख. पुस्तकालयों एवं मन्दिरों में ग्रन्थ–भण्डारों का अवलोकन 608

- सितम्बर, 2008 में जैन विश्वभारती, लाडनूं के पुस्तकालय में पुस्तकों का अवलोकन एवं दों ग्रन्थों को इश्यू कराया।
- अक्टूबर, 2008 में दीपावली के अवसर पर देवलाली में स्थानकवासी भवन में श्वेताम्बर ग्रन्थों का अवलोकन एवं उनकी फोटोप्रति प्राप्त की।
- नागपुर में अहिंसा भवन, इतवारी में ग्रन्थों का अवलोकन एवं तीन ग्रन्थों को इश्यू कराया।
- दिल्ली स्थित श्री कुन्दकुन्द भारती के समृद्ध पुस्तकालय का जनवरी, 2009 में अवलोकन।
- तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़ स्थित पुस्तकालय
- पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़ का निजी पुस्तकालय

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची 609

- क. मूलग्रन्थ
- ख. आधुनिक समालोचनात्मक ग्रन्थ सूची
- ग. अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, पुस्तक एवं लेख
- च. पत्र-पत्रिकाएं
- छ. वेवसाइट एवं इन्टरनेट कनेक्शन की सूची

''अतिचार एवं प्रायश्चित्त : स्वरूप एवं विश्लेषण – जैन संविधान के सन्दर्भ में''

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ के **'प्राकृत एवं संस्कृत विभाग'**
के अन्तर्गत **पी-एच. डी.** की उपाधि के लिए प्रस्तुत **शोध-प्रबन्ध** का

सार-संक्षेप

शोधकर्त्री

श्रीमती स्वर्णलता जैन

Reg. No. JVBU/2007-03/170/Date : 18.12.2007

शोध-निर्देशक

डॉ. जिनेन्द्र जैन

एसोसिएट प्रोफेसर,
प्राकृत एवं संस्कृत विभाग

प्राकृत एवं संस्कृत विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूँ–341 306 (राज.)

2011

डॉ. जिनेन्द्र जैन
Ph. D.
एसोसिएट प्रोफेसर

प्राकृत एवं संस्कृत विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूँ - 341 306, जिला - नागौर,
(राज.)

दिनाँक : .....

प्रमाण–पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती स्वर्णलता जैन द्वारा **''अतिचार एवं प्रायश्चित्त : स्वरूप एवं विश्लेषण – जैन संविधान के सन्दर्भ में''** विषयक शोध-प्रबन्ध मेरे निर्देशन में पूर्ण किया गया है। विश्वविद्यालय की मानक शोध-प्रविधि के आधार पर लिखा गया यह शोध कार्य पूर्णतः मौलिक एवं अप्रकाशित है। इसे अन्यत्र किसी विश्वविद्यालय में प्रस्तुत नहीं किया गया है। मैं इस शोध-प्रबन्ध को जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ के 'प्राकृत एवं संस्कृत विभाग' के अन्तर्गत पी-एच. डी. की उपाधि के लिए परीक्षणार्थ संस्तुत एवं अग्रेषित करता हूँ।

(शोध-निर्देशक)

प्राक्कथन

संविधान, जीवन जीने का आधार-स्तम्भ है। संविधान का सम्बन्ध मात्र जैनधर्म से ही नहीं, वरन् हिन्दूधर्म, बौद्धधर्म, मुस्लिमधर्म आदि सभी धर्मों से है। सभी धर्मों के अनुयायियों की अपनी पृथक्-पृथक् जीवन-शैली है, पृथक्-पृथक् आचार-संहिता है। जैसे, सभी का रहन-सहन, खान-पान, बोल-चाल, रीति-रिवाज, शादी-विवाह, आदर-सत्कार, पूजा-पाठ आदि अलग-अलग हैं; अतः सभी का संविधान भी अलग अलग है। यदि व्यक्ति, अपने को किसी संविधान से सम्बद्ध नहीं मानेगा तो उसका आचार-विचार भ्रष्ट हो जाएगा।

जैन संविधान से तात्पर्य जैनधर्म के अनुयायियों के द्वारा अपनाई जाने वाली आगमोक्त जीवनशैली है। यह किसी पुस्तक विशेष का नाम नहीं है, इसका मूलभूत स्रोत जिनागम है। जिनागम को मुख्यतः चार भागों में विभक्त किया गया है – 1. प्रथमानुयोग 2. करणानुयोग 3. चरणानुयोग 4. द्रव्यानुयोग। यद्यपि चारों अनुयोगों के अपने-अपने संविधान है, नियम हैं, कानून हैं; तथापि इस शोध में मुख्यतया चरणानुयोग को आधार बनाया गया है। इसमें श्रावक और श्रमण की आचार-संहिता का वर्णन किया गया है। आचार-संहिता का उद्देश्य इन्द्रिय-विजय पूर्वक संयम अंगीकार करके आध्यात्मिक उन्नति करते हुए मुक्ति को प्राप्त करना है। जहाँ श्रमणाचार, मुक्ति-प्राप्ति का सीधा माध्यम है, वहीं श्रावकाचार, उसका परम्परा माध्यम है।

श्रमणों के प्रमुख दो कर्तव्य – झाणज्झयणं अर्थात् ध्यान और अध्ययन हैं, मुनियों के अन्य कर्तव्यों में 28 मूलगुण, 36 उत्तर गुण आदि आते हैं; इसी के अन्तर्गत मुनियों के षट् आवश्यकों की चर्चा भी आ जाती है। इसी प्रकार श्रावकों के भी प्रमुख दो कर्तव्य – दाणं पूया मुक्खं अर्थात् दान और पूजा हैं। विशेष चार कर्तव्यों में दान, पूजा, शील और उपवास बताये गये हैं। तथा श्रावकों के षट् आवश्यक कर्तव्यों में देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान को लिया गया है।

श्रमण, जहाँ सम्पूर्णतः पापों से विरक्त होते हैं, वहीं श्रावक, एकदेश पापों से विरक्त होता है। जिस प्रकार गुलाब के फूल तक पहुँचने के लिए सबसे पहले उसकी डाल में लगे काँटों को जानना जरूरी है; उसी प्रकार व्रतों के एकदेश अथवा सम्पूर्ण पालन करने के लिए व्रतों के गुण और पापों के दोषों का परिज्ञान आवश्यक है। कहा भी है – 'बिन जानन तैं दोष गुणनि कौं, कैसे तजिये गहिये।'

इस शोधकार्य में श्रमणाचार और श्रावकाचार के साथ-साथ, उनके व्रती जीवन में लगने वाले दोषस्वरूप अतिचार एवं उनके निराकरणार्थ होने वाले प्रायश्चित्तों का विशेषतः वर्णन किया गया है। जैनधर्म के अनुसार श्रमण, आचार में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद, विचारों में अनेकान्त और जीवन में अपरिग्रह का पालन करते हुए अन्तर में अपने चैतन्य महाप्रभु के आनन्द-सरोवर में स्नान करते हुए तृप्त नहीं होते, क्षण- क्षण में सिद्धों से बातें करते हैं। उन महामहिम श्रमणों की आचार-संहिता पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों के रूप में प्रगट होती हैं। उन्हीं श्रमणों का अनुसरण करते हुए श्रावक भी अपने जीवन में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को अंगीकार करता है। इन्हीं का परिपालन करते हुए अपनी श्रेणी को बढ़ाने का प्रयास करता हुआ वह श्रावक, ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करता है। जिससे श्रावकों को भी उस चैतन्य महाप्रभु के दर्शन के अलावा अन्तर में एकदेश स्थिरता की भी प्राप्ति होती है।

उक्त दोनों साधकों के जीवन में व्रतों का निरतिचार परिपालन करने की भावना होती है। लेकिन कदाचित् कथंचित् किंचित् उनके जीवन में भी मन-वचन-काय या कृत-कारित-अनुमोदना से प्रमादवश, कषायवश, अज्ञानवश या कुसंगतिवश किसी कर्म का उदय आ जाने पर कोई दोष या अतिचार लग जाता है तो उसे वह साधक आत्म-निन्दा और आत्म-गर्हापूर्वक उन दोषों को दूर करने का अभिलाषी होकर, स्वयं अपने गुरु के सान्निध्य में प्रायश्चित्त अंगीकार करता है।

गृहस्थ श्रावक के स्थूल कायचेष्टाजनित प्रमादवश लगने वाले अतिचार तो देव के सान्निध्य में शास्त्र के मार्गदर्शनानुसार तथा सूक्ष्म अभिप्रायजनित कषायवश लगने वाले अतिचार गुरु के सान्निध्य में उनके

निर्देशानुसार दूर किये जाते हैं। इसी प्रकार मुनिराजों के अतिचार भी दूर किये जाते हैं, तथापि साधुओं को साधु-संघ में रहने के कारण गुरुवर्यों/आचार्यों का सान्निध्य सुलभ होने के कारण साधुओं के अधिकांश अतिचार आचार्यों/गुरुओं के माध्यम से ही दिये गये प्रायश्चित्तानुसार दूर किये जाते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'मुनिराजों को गुरु सुलभ हैं और गृहस्थों को देव।'

ध्यान रहे यहाँ अतिचारों को बताने का उद्देश्य, शिथिलाचार को बढ़ावा देना नहीं है, वरन् दोषों के प्रकार बताना है, ताकि श्रमण या श्रावक दोषों की पहिचान करके उनसे दूर रह सकें। इसी प्रकार प्रायश्चित्त का विधान उन्हें डराने के लिए नहीं है, वरन् उनके माध्यम से दोषों को दूर करके, निःशल्य होकर, पुनः आत्म-साधना के लिए प्रेरित करना है।

इस विषय की जीवन में आवश्यकता को जान कर, शोध-क्षेत्र में इस अनुछुए विषय पर शोधकार्य करने का मैंने साहस किया है। आशा ही नहीं, वरन् मुझे पूर्ण विश्वास है कि सुयोग्य पाठक इस विषय के माध्यम से अपना ज्ञानवर्द्धन करते हुए अपने जीवन में आपतित दोषों से मुक्त होने का प्रयास करेंगे। जैसा कि ग्रन्थकारों एवं विद्वज्जनों ने निर्दिष्ट किया है कि इन विषयों को सामान्यजनों के सामने प्रस्तुत करने में अत्यन्त सावधानी रखने की आवश्यकता है; अतः पाठकों से भी विवेक रखने का आग्रहपूर्ण निवेदन है।

निशीथसूत्र के प्राक्कथन में इन सूत्रों की गोपनीयता के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है –

''कोई भी ज्ञान या आगम, एकान्त गोपनीय नहीं होता है, किन्तु उसकी भी अपनी कोई सीमा होती है। मूल आगमों में कहीं भी किसी भी सूत्र को गोपनीय नहीं कहा गया है। केवल इतना अवश्य कहा गया है कि योग्यता प्राप्त शिष्य को क्रम से ही सूत्र एवं उनके अर्थ/परमार्थ का अध्ययन कराना चाहिए। अयोग्य या क्रम-अप्राप्त को किसी भी शास्त्र का अध्ययन नहीं करना चाहिए क्योंकि उसे अध्ययन कराने पर अध्यापन कराने वाले को निशीथसूत्र उद्देशक 19 के अनुसार प्रायश्चित्त आता है। साथ ही योग्यता प्राप्त और विनीत शिष्यों को यथाक्रम से अध्ययन नहीं कराने पर भी उन्हें सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

कालान्तर में आगमलेखन युग एवं फिर व्याख्यालेखन युग और अब प्रकाशनयुग आया है। आगमों का लेखन और प्रकाशन समय-समय पर हुआ और हो रहा है। देश-विदेश में भी इनकी लिखित और प्रकाशित प्रतियों का प्रचार हुआ है; अतः गोपनीयता के सम्बन्ध में प्रचलित कथन अब केवल कथन मात्र रह गया है।

योग्य साधु-साध्वियों के लिए अन्य आगम तो क्या, छेदसूत्र भी गोपनीय नहीं हैं; अपितु यह कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि छेदसूत्रों का अध्ययन किये बिना या उनके अर्थ/परमार्थ को समझे बिना साधक की साधना अधूरी है, पंगु है, परवश है तथा इनके सूक्ष्मतम अध्ययन के बिना संघ-व्यवस्था तो परिपूर्ण अन्धकारमय ही होती है।''[1]

श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार प्रायश्चित्त के निरूपक छेदसूत्रों की संख्या छह है – 1. दशाश्रुतस्कन्ध 2. व्यवहार 3. वृहत्कल्प 4. निशीथ 5. महानिशीथ 6. जीतकल्प। इनमें से मौलिक रचनाओं में महानिशीथ और जीतकल्प को छोड़ कर शेष चार हैं। निशीथभाष्य में निशीथ का अर्थ अप्रकाश्य किया गया है।[2] अप्रकाश्य का अर्थ है कि निशीथसूत्र हर किसी को नहीं पढ़ाये जाते। पाठक की अपेक्षा पुरुषों को तीन प्रकार का माना गया है – अपरिणामक, परिणामक और अतिपरिणामक। अपरिणामक का अर्थ है जिसकी बुद्धि अपरिपक्व है। परिणामक का अर्थ है जिसकी बुद्धि परिपक्व है तथा अतिपरिणामक का अर्थ है जिसकी बुद्धि कुतर्कपूर्ण है। अतः अपरिणामक और अतिपरिणामक, ये दोनों निशीथ पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं। जो पाठक, आजीवन निशीथ के रहस्यों को धारण कर सकता है, वही प्रबुद्ध परिणामक पाठक निशीथ को पढ़ने का अधिकारी माना गया है।[3] यहाँ प्रयुक्त 'रहस्य' शब्द स्वयं उसकी गोपनीयता को प्रगट करता है। निशीथ का अध्ययन, वही साधु कर सकता है, जो तीन वर्ष का दीक्षित हो और गाम्भीर्य आदि गुणों से युक्त हो।[4]

यह विषय आगम में भी किसी एक ग्रन्थ में वर्णित नहीं है, वरन् सम्पूर्ण जिनागम में यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरा पड़ा है; अतः हमने उसे इस शोध-ग्रन्थ **'अतिचार और प्रायश्चित्त – स्वरूप एवं विश्लेषण : जैन संविधान के सन्दर्भ में'** के माध्यम से एक माला में पिरोने का कार्य किया है। प्रस्तुत विषय जिन सात अध्यायों में वर्णित हुआ है, वे इस प्रकार हैं –

प्रथम अध्याय – **जैन संविधान : स्वरूप एवं आवश्यकता**

द्वितीय अध्याय – **श्रावकाचार : जैन संविधान के परिप्रेक्ष्य में**

तीसरा अधिकार – **श्रमणाचार का जैन संवैधानिक आधार**

चतुर्थ अध्याय – **अतिचार : स्वरूप एवं विश्लेषण**

पंचम अध्याय – **प्रायश्चित्त : स्वरूप एवं मीमांसा**

षष्ठ अध्याय – **प्रायश्चित्त की व्यवहारिकता : जैन संविधान के सन्दर्भ में**

सप्तम अध्याय – **सामाजिक एवं राष्ट्रीय महत्त्व के परिप्रेक्ष्य में प्रायश्चित्त की महत्ता एवं उपयोगिता**

परिशिष्ट – क. **अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, पुस्तक एवं लेख,**

ख. **साधु–सन्तों एवं विद्वानों से साक्षात्कार,**

ग. **पुस्तकालयों एवं मन्दिरों में ग्रन्थ–भण्डारों का अवलोकन**

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची – क. **मूल ग्रन्थ,**

ख. **आधुनिक समालोचनात्मक ग्रन्थसूची,**

ग. **कोश ग्रन्थ,**

घ. **पत्र-पत्रिकाएं,**

च. **वेवसाइट एवं इन्टरनेट कनेक्शन की सूची**

इस तरह यह शोध प्रबन्ध, मानव संस्कृतिरूपी पृथ्वी, जैन संविधान की नींव एवं श्रमण व श्रावक के आचरणरूपी महल पर शोभायमान हो रहा है। यह निश्चित ही जन-जन का आभूषण बन कर, जीवनोपयोगी होने के साथ-साथ समाजोपयोगी ही नहीं, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व को भी लाभदायक सिद्ध होगा।

इस शोध-प्रबन्ध में यह बात उभर कर आई है कि आगम में एक ओर तो अणुव्रतों और महाव्रतों के अखण्डित पालन का उपदेश दिया है। वहीं दूसरी ओर व्रतों के अतिचार भी बताये गये हैं। तात्पर्य यह है कि कोई व्रतों के अखण्डित पालन के आग्रह में व्रतों को अंगीकार ही न करे तो उसका ऐसा सोचना भी गलत है और कोई व्रतों को ग्रहण करने के पहले ही अतिचारसहित व्रतों के पालन करने का विचार करे तो वह भी गलत है। अतिचार, बुद्धिपूर्वक नहीं लगाये जाते, बल्कि व्रतों का निरतिचार पालन करते हुए भी लग जाते हैं। केवल उन्हीं दोषों को अतिचार कहा जाता है, जो अचानक लग जाते हैं, वरना वे अतिचार भी नहीं है, उन्हें तो व्रत ही नहीं माना जा सकता है।

व्रतों के अतिचार बताने का उद्देश्य यह है कि हम उनसे बच सकें। जैसे, अग्नि के द्वारा जलने से बचना हो तो अग्नि का सर्वांगीण ज्ञान करना आवश्यक है कि अग्नि, अनेक प्रकार की होती है – भट्टी की अग्नि, कोयले की अग्नि, कण्डे की अग्नि, लकड़ी की लपटें वाली अग्नि, ज्वालामुखी के गर्म लावे वाली अग्नि आदि। इसका तात्पर्य यह है कि उक्त अग्नियों से सम्पर्क करोगे तो जलोगे अवश्य; अतः उनसे बचते हुए शीतलता का आनन्द लेना चाहिए।

लोक में यह मान्यता बन गई है कि व्रतों के अतिचार होते हैं, इससे ऐसी धारणा करना उचित नहीं है कि अतिचार करना अनिवार्य है और वह व्रत का ही अंग है। जैसे, अहिंसाणुव्रत के अतिचार के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि प्राणघात के अतिरिक्त अन्य पीड़ा आदि देकर भी हिंसा करने के अनेक प्रकार हो सकते हैं, जिनसे बचते रहने का प्रयत्न व्रतियों को करते रहना चाहिए। विशेषतः परिजनों एवं पशुओं के साथ पाँच प्रकार की क्रूरता – बाँधना, मारना, अंग-छेद, शक्ति से अधिक बोझा लादना, अन्न-पान न देना आदि को अतिचार (अतिक्रमण) कह कर उसका निषेध किया है। इन अतिचारों से बचने के अतिरिक्त अहिंसा व्रत आदि के भाव को दृढ़ करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओं का वर्णन भी किया गया है।

जिस प्रकार अग्नि से बचने के अनेक उपाय करने के बाद भी यदि कोई व्यक्ति जल जाता है तो जैसे उसका शीघ्रता से उपचार करना आवश्यक है; उसी प्रकार अतिचारों के दोष से बचने के अनेक उपाय करने

के बाद भी यदि कोई अतिचार लग ही जाता है तो उस दोष की तीव्रता-मन्दता के अनुसार उसे दूर करने के लिए उपचारस्वरूप तुरन्त प्रायश्चित्त को धारण करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ –

1. जैसे, रोटी की भाप से जलने पर आटा लगाना उपचार है, उसी प्रकार अतिक्रम दोष लगने पर कायोत्सर्ग करना उपचार है, उससे तत्सम्बन्धी दोष दूर हो जाता है।

2. जैसे, कण्डे की अग्नि से जलने पर पानी में हाथ डालना उपचार है, उसी प्रकार व्यतिक्रम दोष होने पर स्वयं प्रायश्चित्त अंगीकार करना उपचार है, उससे तत्सम्बन्धी दोष दूर हो जाता है।

3. जैसे, कोयले की अग्नि से जलने पर मरहम लगाना उपचार है, उसी प्रकार अतिचार दोष लगने पर गुरु की साक्षी में उनकी आज्ञानुसार तप आदि प्रायश्चित्त अंगीकार करना उपचार है, उससे तत्सम्बन्धी दोष दूर हो जाता है।

4. जैसे, धधकती हुई अग्नि से जलने पर अस्पताल जाकर उपचार कराना आवश्यक है, उसी प्रकार अनाचार हो जाने पर गुरु के माध्यम से तप आदि प्रायश्चित्त स्वीकार करने के साथ-साथ पुनर्दीक्षा आदि स्वीकार करना उपचार है, उससे ही तत्सम्बन्धी दोष दूर हो सकता है।

5. जैसे, ज्वालामुखी के गर्म लावे की चपेट में आ जाने पर कोई उपचार ही सम्भव नहीं है, वहाँ तो मरण ही होता है; उसी प्रकार आभोग अर्थात् पापों में निरंकुश प्रवृत्ति हो जाने पर कोई उपचारस्वरूप प्रायश्चित्त ही सम्भव नहीं है, उसके कारण तो यह जीव, अनन्त भव धारण करके अनन्त संसार में भटकता है और चतुर्गति के दुःखों को सहता रहता है।

इस प्रकार इस शोधकार्य में अनेक प्रकार से अतिचारों और प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है। साथ ही राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रायश्चित्त विधि की क्या उपयोगिता हो सकती है; इसके द्वारा हम समाज, देश, राष्ट्र, और सम्पूर्ण विश्व के जीवन-स्तर में कैसे मनोवैज्ञानिक सुधार कर सकते हैं ? – इसका प्रयास किया गया है।

मेरा विश्वास है कि आगामी वर्षों में इस विषय पर अन्य अनेक दृष्टिकोणों से और भी शोधकार्य होंगे। जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व, जैनधर्म के अहिंसा, अनेकान्त-स्याद्वाद, अपरिग्रह आदि सिद्धान्तों एवं समाज, देश, कानून आदि विषयों में जैनदर्शन की शोध-खोजपरक शैली से अवश्य लाभान्वित होगा।

मैंने भी इस विषय को इसलिए चुना क्योंकि मैं बचपन से ही साधना के मार्ग में जाना चाहती थी, परन्तु मुझे जिनागम में वर्णित साधना-मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं एवं गुण-दोषों का ज्ञान नहीं था। यही कारण है कि मुझे गृहस्थ मार्ग का अनुसरण करना पड़ा, इसलिए जब मैं गृहस्थी के कार्यों से थोड़ी निवृत्त हुई तो मैंने इस कार्य को करने का संकल्प किया। इस पुनीत कार्य हेतु मैंने मंगलायतन प्रवास के दौरान, सात वर्षों तक घर-कुटुम्ब से दूर रहने के कारण और बच्चों के स्कूल चले जाने के बाद मिलने वाले निवृत्ति के समय का सदुपयोग किया।

वैसे तो जब मैंने एम. ए. किया था, उसके तुरन्त बाद ही मेरा पीएच.डी. करने का भाव था, परन्तु उस समय परिवार में अनुकूलता नहीं होने के कारण यह कार्य न हो सका। शादी के पन्द्रह साल बाद भी एक बार पुनः पीएच.डी करने का मन बनाया, इस सन्दर्भ में मैं अपनी सहेला सौ. सुनीता जैन के साथ नागपुर विश्वविद्यालय की प्रो. डॉ. कुसुमलता पटौरिया से भी मिली, उन्होंने पहले संस्कृत में डिप्लोमा करने की सलाह दी, लेकिन फिर कोई प्रतिकूलता बाधा बन गई तो भावना फिर से अधूरी रह गई।

इसके पूर्व जब मेरे पति का शोधकार्य चल रहा था, उन्हें शोधकार्य करते हुए देखते समय मेरी भी भावना पुनः बनी कि मुझे भी शोधकार्य करना है; उनका विषय जिनागम की द्रव्यानुयोग विधा के अन्तर्गत 'जैनदर्शन में पदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप' था तो मैंने यह निश्चित किया कि मुझे चरणानुयोग विधा से सम्बन्धित विषय का चुनाव करना है क्योंकि प्रवचनसार शास्त्र की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने चरणानुयोगसूचक चूलिका का प्रारम्भ करते हुए कहा है कि **चरणानुसारि द्रव्यं** और **द्रव्यानुसारि चरणं** अर्थात् चरणानुयोग के अनुसार द्रव्यानुयोग और द्रव्यानुयोग के अनुसार चरणानुयोग होता है।

उसी अन्तराल में मुझे मंगलायतन के जिनवाणी संग्रहालय में एक छोटी-सी लघुकाय पुस्तिका 'जैन कानून' पढ़ने को मिली, उसे पढ़ कर मेरी अभिलाषा हुई कि मुझे तो इस विषय पर ही शोध करना है। तत्पश्चात् जब हमने यहाँ लाडनूं आकर शोध-प्रविधि के अन्तर्गत होने वाली परीक्षा दी और उसके लिए होने वाले साक्षात्कार में भाग लिया तो मुझे उपस्थित माननीया कुलपति महोदया समणी प्रो. मंगलप्रज्ञाजी एवं अन्य विद्वानों ने यह सलाह दी कि आपकी स्नातकोत्तर डिग्री 'समाजशास्त्र' पर आधारित होने के कारण आपका विषय 'कानून' नहीं बन सकेगा; अतः उन विद्वानों एवं अपने शोध-निर्देशक डॉ. जिनेन्द्र जैन के साथ बहुत ऊहापोह करने के उपरान्त यह विषय दृष्टिपटल पर केन्द्रित हुआ और मैंने इस विषय पर शोधकार्य करने का मन बना लिया।

मुझे याद है कि जब मेरा साक्षात्कार हुआ था तो जहाँ अन्य प्रतिस्पर्द्धियों के साथ दस-पन्द्रह मिनिट में चर्चा-वार्ता हो रही थी, वहीं कुलपति महोदया और पूरी विद्वानों की टीम ने मुझसे सवा घण्टे तक चर्चा की और उन्होंने मुझसे कहा कि इस उम्र में भी आपकी समर्पण की भावना देख कर हमें आपसे शोधकार्य तो करवाना ही है। बस, विषय के बारे में अभी अन्तिम निर्णय नहीं हुआ है। मुझे आज लगता है कि उन्होंने जो मुझे उस समय सुझाव दिया था, वह मेरे लिए वरदान सिद्ध हुआ।

जब मैंने अपने शोधकार्य की संक्षिप्त रूपरेखा बना कर विश्वविद्यालय को भेजी थी, उसके जवाब में प्राप्त विशेषज्ञ विद्वान की टिप्पणी ने भी मेरा उत्साह वृद्धिंगत किया, जिसमें उन्होंने लिखा था –

''जैन आचार शास्त्र में अतिचार और प्रायश्चित्त, अति महत्त्व के विषय हैं, किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व है कि इन्हें कोई शोध छात्र, पीएच.डी. की उपाधि हेतु अपने शोध प्रबन्ध का विषय बनाये।

प्रस्तुत रूपरेखा बड़ी ही सूझ-बूझ के साथ काफी श्रमपूर्वक विशाल दृष्टिकोण से तैयार की गई है। जैन आचार शास्त्र तक सीमित इन विषयों का राष्ट्रीय एवं सामाजिक दृष्टियों से व्यापक अध्ययन और इनकी उपयोगिता को इसमें जाँचा गया है और वर्तमान सन्दर्भ में इनकी प्रासंगिकता के रूप में इन्हें प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से यह एक बहुत ही अच्छा शोध का विषय है।

किन्तु एक प्रश्न है कि 'जैन संविधान' नाम का कोई न तो ग्रन्थ है और न अन्य कुछ। अतः इस सन्दर्भ में अध्ययन की अपेक्षा 'जैन आचार का राष्ट्रीय महत्त्व : अतिचार और प्रायश्चित्त के विशेष सन्दर्भ में' जैसे कोई अच्छे शीर्षक के अनुसार इसी रूपरेखा पर ही शोध कार्य उपयुक्त होगा। फिर भी यदि इसके शोधकर्ता इसी शोध शीर्षक से शोधकार्य की स्वीकृति प्रदान की जा सकती है। यद्यपि यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है तथा रूपरेखा में कोई कमी नहीं है, मात्र इसके शीर्षक पर यदि शोधकर्ता चाहे, तो विचार कर सकते हैं। इस प्रकार इस रूपरेखा को अति महत्त्वपूर्ण मानते हुए मैं इस विषय पर अपनी पूर्वोक्त सम्मति-पूर्वक पीएच. डी. हेतु शोधकार्य करने की पूर्णतः संस्तुति प्रेषित कर रहा हूँ।''

उक्त सन्दर्भ में मैंने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि 'जैन संविधान' से तात्पर्य जैनधर्म के अनुयायियों के द्वारा अपनाई जाने वाली आगमोक्त जीवनशैली है। यह किसी पुस्तक विशेष का नाम नहीं है, बल्कि इसका मूलभूत स्रोत सम्पूर्ण जिनागम है; अतः सम्पूर्ण जिनागम ही यहाँ 'जैन संविधान' पद के द्वारा अभिप्रेत है। जिनागम मुख्यतः चार भागों में विभक्त किया गया है – 1. प्रथमानुयोग 2. करणानुयोग 3. चरणानुयोग 4. द्रव्यानुयोग। यद्यपि चारों अनुयोगों के अपने-अपने संविधान है, नियम हैं, कानून हैं; तथापि इस शोध में मुख्यतया चरणानुयोग को आधार बनाया गया है।

जिनागम में जहाँ ज्ञानविहीन आचरण को मिथ्या माना गया है, उसी प्रकार आचरणविहीन ज्ञान को भी मिथ्या की श्रेणी में रखा है। अन्ध-पंगु के दृष्टान्त से भी इसे समझाया गया है। कहा भी है – **ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।** ज्ञान और क्रिया में से किसी एक को स्वीकार करने की विचारणा को मिथ्या कहा है। आगमसाहित्य के माध्यम से ही डॉ. सागरमल जैन ने चरणानुयोग की प्रस्तावना[5] में साधक की दृष्टि से ज्ञान और चारित्र की चतुर्भंगी को प्रस्तुत करते हुए लिखा है –

1. कुछ साधक व्यक्ति, ज्ञान-सम्पन्न हैं, लेकिन चारित्र-सम्पन्न नहीं हैं।
2. कुछ साधक व्यक्ति, चारित्र-सम्पन्न हैं, लेकिन ज्ञान-सम्पन्न नहीं हैं।

3. कुछ साधक व्यक्ति, न ज्ञान-सम्पन्न हैं, और न चारित्र-सम्पन्न हैं।
4. कुछ साधक व्यक्ति, ज्ञान-सम्पन्न भी हैं, और चारित्र-सम्पन्न भी हैं।

लेकिन सच्चा साधक, उसे ही माना गया है, जो ज्ञान-सम्पन्न भी है और चारित्र-सम्पन्न भी है। जैसे, मात्र चन्दन के भार को ढ़ोने वाला चन्दन से लाभान्वित नहीं होता, मात्र भारवाहक ही बना रहता है, उसी प्रकार आचरण से हीन ज्ञानी, ज्ञान के भार का वाहक मात्र है, इससे उसे कोई लाभ नहीं हैं।

जिनागम का अध्ययन ही ध्यान है क्योंकि कहा भी है – **'अज्झयणमेव झाणं**।' उसी के द्वारा पंचेन्द्रियों और कषायों का निग्रह होता है। कलिकाल पंचमकाल में तो जिनागम ही मानो सर्वस्व है क्योंकि इस काल में जिनागम के अभ्यास से ही सम्यग्ज्ञानादि की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार बीज से अंकुर उत्पन्न होते हैं; उसी प्रकार मोहरूपी बीज से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। लेकिन सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि से वे मोह के बीज भस्मीभूत हो जाते हैं, रत्नत्रय धारण करने की योग्यता प्रगट होती है, जिससे संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति आती है।

इस शोधकार्य को पूर्ण करने में मेरे जीवन के अमूल्य चार-पाँच वर्षों की श्रम-साधना न्यौछावर हुई है। यद्यपि शोधकार्य करने के पीछे डिग्री हासिल करना मेरा उद्देश्य नहीं था, मुझे तो अन्तर्मन से इस विषय की गहराई में जाना उद्दिष्ट था, मेरा उद्देश्य तो जिनागम के निरन्तर सान्निध्य में रहने का था; उसमें यह शोधकार्य एक सफलतम साधन बना है। इस प्रकार मैं अपने उद्देश्य में पूर्णरूप से सफल रही हूँ। मेरा मानना है कि इस दिशा में अभी और भी कार्य किया जा सकता है, ताकि जैन संविधान को विश्वपटल पर प्रतिष्ठित किया जा सके।

निवेदन है कि यह शोध प्रबन्ध, सुविधा की दृष्टि से दो भागों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

इति शुभं भवतु।

विनम्र

(श्रीमती स्वर्णलता जैन)

शोधार्थी

प्राकृत एवं संस्कृत विभाग

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूँ – 341 306 (राज.)

दिनाँक :

स्थान :

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. **निशीथसूत्र,** प्राक्कथन, पृष्ठ 16-17, लेखक, श्री त्रिलोक मुनि, सम्पादक, युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, प्रकाशक, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज. 1991
2. **जं होंति अप्पयासं, तं तु णिसीहं ति लोग संसिद्धं। – निशीथभाष्य,** 64
3. **निशीथभाष्य,** 6702–6703
4. **निशीथचूर्णि,** 6165
5. **चरणानुयोग**, द्वितीय खण्ड, प्रस्तावना, प्रो. सागरमल जैन, पृष्ठ 16-17 के आधार पर

आभार प्रदर्शन

मैं सर्व प्रथम उन वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के अनन्त उपकारों का स्मरण करना चाहती हूँ कि जिन्होंने इस वीतराग-मार्ग का प्रतिपादन करके मुझे इस योग्य बनाया। यह शोधकार्य, मुझे अनन्त केवलज्ञानी भगवन्तों और मुनि भगवन्तों के साक्षात् सान्निध्य जैसा अवसर था, जिसे मैंने अपनी सम्पूर्ण कर्तव्य-निष्ठा के साथ निर्वाह करने का प्रयास किया। यह कार्य मेरे लिए असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। यह कार्य अब पूर्ण होने जा रहा है, मानो मुझे समुद्र-मन्थन के उपरान्त अमृत मिलने वाला है। साथ ही इस शोधकार्य में यदि मुझे अनन्त ज्ञानी धर्मात्माओं का प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग नहीं मिला होता तो यह कार्य अवश्य ही पूर्ण नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिनकी अन्तःप्रेरणा मुझे प्रतिसमय प्राप्त होती रही, जिससे मेरे मन में निरन्तर उत्साह जागृत होता रहा, उनका स्मरण करना भी मैं अपना पुनीत कर्तव्य मानती हूँ। जिस प्रकार 45 वर्ष की उम्र में उन्होंने धर्म परिवर्तन किया था और 45 वर्ष तक वीतरागधर्म की प्रभावना की थी; उसी प्रकार 45 वर्ष की उम्र में मैंने यह शोधकार्य प्रारम्भ किया और आज लगभग 49 वर्ष की उम्र में यह कार्य पूर्णता को प्राप्त हो रहा है।

इस कार्य को करते हुए मैंने अपने पति के साथ अनेक वर्तमान मुनियों/आचार्यों में आचार्य विद्यासागरजी, आचार्य विद्यानन्दिजी, मुनि समयसागरजी, मुनि योगसागरजी, मुनि समाधिसागरजी आदि; आर्यिकाओं में आर्यिका दृढ़मतिजी, आर्यिका ऋजुमतिजी, समणी चन्दनाश्रीजी राजगृही आदि; ब्रह्मचारियों में बाल ब्र. केशरीचन्दजी 'धवल' छिन्दवाड़ा, बाल ब्र. रवीन्द्रकुमारजी अमायन, बाल ब्र. राकेशजी सिद्धायतन सागर, बाल ब्र. सुमतप्रकाशजी खनियाधाना, बाल ब्र. हेमन्तभाई सोनगढ़, बाल ब्र. हेमचन्दजी 'हेम' देवलाली, बाल ब्र. अभिनन्दनकुमारजी आदि; ब्रह्मचारिणियाँ में बाल ब्र. ममता जैन टीकमगढ़, बाल ब्र. नीलम जैन, बाल ब्र. आरती जैन छिन्दवाड़ा, बाल ब्र. बासन्तीबेन देवलाली तथा विद्वानों में पण्डित शैलेषकुमारजी सोनागिर, प्रो. सुदीपकुमार जैन दिल्ली, प्रो. वीरसागर जैन दिल्ली, पण्डित रतनलाल बैनाड़ा आगरा, प्रोफेसर फूलचन्द जैन 'प्रेमी' वाराणसी, पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री, पण्डित वीरेन्द्रकुमारजी आगरा, पण्डित देवेन्द्रकुमारजी मंगलायतन, संजयकुमार जैन शास्त्री जेवर/मंगलायतन, डॉ. अनेकान्त जैन दिल्ली, डॉ. योगेशकुमार जैन अलीगंज, श्री पवन जैन अलीगढ़, पण्डित अशोककुमारजी लुहाड़िया, पण्डित सुधीरकुमारजी शास्त्री, पण्डित जगदीशजी जैन आदि के साथ 'अतिचार और प्रायश्चित्त' – इस विषय पर अनेक बार चर्चायें की है। उन सभी से मुझे आवश्यक मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। मैं इन सभी का बहुत बहुत विशेष आभार व्यक्त करती हूँ।

हमारे शोध-निर्देशक श्रीमान् डॉ. जिनेन्द्र जैन, एसोसिएट प्रोफेसर, प्राकृत एवं संस्कृत, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ के सहयोग का तो मैं बखान ही नहीं कर सकती; उनकी सतत प्रेरणा, सहयोग और मार्गदर्शन मिलता रहा है; उसी के कारण मेरा यह शोध-प्रबन्ध एक स्तरीय रचना बन पाई है। साथ ही जैन विश्वभारती की भूतपूर्व कुलपति माननीया डॉ. मंगलप्रज्ञा समणी के अनमोल सुझावों, माननीय प्रोफेसर डॉ. दामोदर शास्त्री एवं डॉ, योगेश जैन के बहुमूल्य दिग्दर्शन को भी मैं आदरपूर्वक स्मरण करना चाहती हूँ।

इस शोधकार्य के पूर्ण होने की बेला में मैं प्राकृत एवं संस्कृत के अध्यक्ष प्रोफेसर जगतराम भट्टाचार्य का आभार प्रगट करती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर शीघ्र कार्य पूर्ण करने की प्रेरणा दी। मैं आभार व्यक्त करती हूँ – प्रो. उदयचन्दजी जैन उदयपुर, प्रो. प्रेमसुमनजी जैन उदयपुर, प्रो. वृषभप्रसादजी जैन लखनऊ, प्रो. फूलचन्दजी जैन 'प्रेमी' वाराणसी एवं अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के डीन प्रो. एस. पी. शर्मा जी का; जिन्होंने प्रारम्भिक दिनों में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में आयोजित सेमिनार में 'संस्कृत साहित्य में जैन स्तोत्र साहित्य का योगदान' विषय पर शोधपत्र पत्र पढ़ने पर मुझे शोधकार्य करने हेतु मार्गदर्शन एवं प्रेरणा दी, जिससे मुझे शोधकार्य के प्रति उत्साह बना और वह आज पूर्णता की ओर है।

मैं जितने दिनों भी लाडनूं रही, उतने दिनों तक मेरे शोध-निर्देशक के घर ही रही; वहां मुझे आदरणीया भाभीजी मीनाजी एवं तीनों बच्चों का भी आत्मीय सहयोग मिला, उनको मैं कैसे विस्मृत कर सकती हूँ। मैं हमारे पारिवारिक सहयोगी विद्वान डॉ. अरविन्द कुमारजी जैन सुजानगढ़, शोधार्थी विद्वान् श्री रामनरेश जैन लाडनूं का भी आभार व्यक्त करना चाहती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर सहयोग एवं प्रेरणा दी।

मैंने अपने जीवन में आचार्यश्री विद्यासागरजी के सान्निध्य में सम्पन्न महाशास्त्र धवला की वाचनाओं आदि के अवसर पर समागत आदरणीय विद्वद्वर्य पण्डित श्री फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी, श्री जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री कटनी, डॉ. श्री पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, श्री कैलाशचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी, श्री मुन्नालालजी रांधेलीय सागर, पण्डित मन्नूलालजी जैन सागर, पण्डित कोमलचन्दजी सागर आदि विद्वानों का; तथा पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के सान्निध्य एवं पुण्यप्रताप में सम्पन्न आध्यात्मिक शिविरों आदि में समागत मुमुक्षु विद्वान् वयोवृद्ध पण्डित श्री कैलाशचन्दजी बुलन्दशहर/अलीगढ़, श्री लालचन्दभाई मोदी राजकोट, बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, बाल ब्र. यशपालजी बाहुबली/ जयपुर, ब्र. चन्द्रसेनजी भोपाल, पण्डित उत्तमचन्दजी सिवनी/छिन्दवाड़ा, आदि विद्वानों का तथा बाल ब्र. विदुषी श्री सुशीलाश्री सोनगढ़, ब्र. विदुषी श्री हीराबाईजी सोनगढ़/इन्दौर, बाल ब्र. विदुषी श्री कल्पनाबेन सागर/जयपुर, बाल ब्र. विदुषी श्री विमलाबेन जबलपुर/जयपुर, विदुषी श्रीमती चिन्ताबाई मोदी नागपुर, विदुषी चन्दनबाईजी आदि से ही मुझे तात्त्विक और धार्मिक क्षेत्र में बहुत कुछ सीखने और करने की प्रेरणा मिली है।

लोक में ऐसा कहा जाता है कि पिता के घर बेटी, पति के घर पत्नि, और बेटे के घर माँ के रूप में स्त्री पली-पढ़ी-बूढ़ी होती है, तभी उसका जीवन पूर्ण एवं सुरक्षित बनता है; उसी प्रकार मुझे मेरे पूज्य पिता श्री कृष्णचन्द्र जैन एवं लाल दुकान परिवार, सागर के माध्यम से बचपन से ही जिनवाणी माँ एवं अपनी मातुश्री श्यामबाई की गोद में आध्यात्मिक भजनों की लोरियाँ सुनने के संस्कार मिले हैं, जिसका मुझे अत्यन्त गर्व है। मेरे पिता का व्यवसाय औषधी बेचने का है, परन्तु उन्होंने कभी कीटनाशक औषधि नहीं बेची – ऐसे संस्कारों में पढ़-लिख कर मुझे 'सादा जीवन : उच्च विचार' के अनमोल संस्कार मिले हैं।

साथ ही मुझे मेरे ससुराल पक्ष में मेरे ससुर श्री कोमलचन्दजी, सासुजी श्रीमती शान्तिदेवीजी और सम्पूर्ण परिवार से भी कम संस्कार नहीं मिले हैं। नागपुर तथा सागर की स्थानीय जैन समाज के भी सभी सदस्यों की हार्दिक शुभकामनाये तो हमेशा मिलती रही हैं; उनमें से मैं श्री सुदीपकुमारजी, श्री अशोक-कुमारजी, पण्डित विपिनकुमारजी, श्री आदित्य जैन, श्री अरविन्द जैन, श्री अनिल जैन आदि का विशेष उल्लेख करना चाहती हूँ, जिन्होंने बाकायदा पुस्तकें आदि जुटाने में समय समय पर मुझे मदद की है। मैं ऐसा समझती हूँ कि मेरे लिए तो क्या मायका और क्या ससुराल दोनों ही एक जैसे सहयोगी रहे हैं।

मुझे मेरी बहिन श्रीमती लता जैन एवं सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक विद्वान् जीजाजी श्री अभयकुमारजी से भी कम संस्कार नहीं मिले हैं, उनके जयपुर में श्री टोडरमल स्मारक भवन में स्थित तत्कालीन घर में महिनों रह कर मैंने श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय की गतिविधियों, प्रवचनों एवं कक्षाओं का लाभ लिया है।

मेरे इस कार्य में मुझे मेरे पति डॉ. राकेश जैन शास्त्री, जो तीक्ष्ण प्रज्ञा के धनी हैं, उनका मार्गदर्शन एवं सहयोग सदैव मिलता रहा है। उनके स्वयं पीएच.डी. करने, प्रकाशन के क्षेत्र में सुदीर्घ 30 वर्ष के अनुभव एवं अनेक ग्रन्थों के सुप्रसिद्ध लेखक/सम्पादक होने के कारण भी मुझे बहुत मदद मिली है; उन्होंने मेरे इस शोध-प्रबन्ध की एक-एक पंक्ति को अच्छी तरह देखा/पढ़ा/सुधारा है। इस कारण मैं कह सकती हूँ कि यह एक उत्कृष्ट आगम-सम्मत कृति है।

सन् 2006–2007 में मैं मंगलायतन पत्रिका के माध्यम से छहढाला वर्ष का कार्यभार सम्भाल रही थी, उस समय प्रति दो माह में एक एक ढाल पर आधारित प्रश्नपत्र बना कर पत्रिका में छपाया जाता था, उसे मैं स्वयं तैयार करती थी और उसकी जो उत्तर कापियाँ सैकड़ों की संख्या में आती थीं, उन्हें मैं जाँचा करती थी।

जब मेरे पति की पीएच.डी. पूर्ण हो जाने के बाद मैंने अपना पीएच.डी. करने का विचार व्यक्त किया तो उन्होंने कहा कि देखो! तुम जो अभी लेखन आदि का कार्य कर रही हो, वही बहुत है; परन्तु मेरे स्त्री-हठ के सामने उन्होंने स्वीकृति प्रदान कर दी।

जब हम पढ़ाई का कार्य माता-पिता के सान्निध्य में करते हैं तो वह जितना सहज होता है, अपने बच्चों के सामने पढ़ाई करना, उतना ही कठिन हो जाता है। जिस ममता के अधिकारी बच्चे होते हैं, वे उससे वंचित रह जाते हैं। अतः मैं इस शोधकार्य की पूर्णता में अपने दोनों बच्चों – चि. संयम और कु. दीक्षा का भी आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने मुझे सारी अनुकूलताएँ प्रदान कीं।

अन्त में मैं उन सभी परिचित–अपरिचित महानुभावों के प्रति भी अपनी हार्दिक संवेदना व्यक्त करना चाहती हूँ, जिनकी ज्ञात-अज्ञात सहभागिता और सहयोगिता मेरे इस शोधकार्य से संलग्न रही।

इति शुभं भूयात्।

विनम्र

(श्रीमती स्वर्णलता जैन)
शोधार्थी
प्राकृत एवं संस्कृत विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूँ – 341 306 (राज.)

दिनाँक :
स्थान :

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय – **जैन संविधान : स्वरूप एवं आवश्यकता**

- **जैन संविधान की आवश्यकता** 1
  - 'जैन लॉ' पुस्तक के सम्बन्ध में संक्षिप्त जानकारी
  - अन्तर्राष्ट्रीय धर्मों में जैनधर्म का स्थान
  - जैनों को धर्म पर आधारित अल्पसंख्यक का दर्जा
  - वर्तमान जैन लॉ का आधारभूत आगम-साहित्य
  - बैरिस्टर चम्पतरायजी की पुस्तक 'जैन कानून' की प्रस्तावना के निष्कर्ष
- **भारतीय संविधान विषयक जैन समाज की भूमिका** 11
  - राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय चिह्न, राष्ट्रीय गान और राष्ट्रीय संविधान में विद्यमान जैनतत्त्व
  - भारतीय संविधान में जैनधर्म के तत्त्व
  - कुछ शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या उपासना में उपस्थित होने के बारे में स्वतन्त्रता
  - धार्मिक संस्थाओं को प्राप्त धन पर करों में छूट का प्रावधान
  - राष्ट्रीय स्मारकों का संरक्षण
  - भारतीय संविधान में जीवमात्र के प्रति दया की भावना : भारतीय नागरिकों का मूल कर्तव्य
  - भारतीय संविधान में पशु-संरक्षण
  - स्वतन्त्र जैन संविधान की आवश्यकता
  - भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में जैनों का योगदान
- **भारतीय समाज और जैन संस्कृति : परस्पर विकास एवं संरक्षण** 18
  - जैन साधना पक्ष की अन्य दर्शनों के साथ तुलना
  - जैन संस्कृति पर अन्य परम्पराओं के प्रभाव
  - अन्य परम्पराओं पर जैन संस्कृति का प्रभाव
  - जैन संस्कृति में धार्मिक सहिष्णुता
  - जैनधर्म में जातिप्रथा का निषेध
  - जैनधर्म की प्राचीनता के प्रमाण
  - जैन संस्कृति की प्राचीनता : सुविख्यात इतिहासज्ञ एवं प्रतिनिधि विद्वानों के विचार
  - जैनधर्म का वैश्विक स्तर पर प्रभाव
  - जैन संस्कृति का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- **महात्मा गांधी और जैनधर्म** 37
- **जैनधर्म का दैनिक जीवन में प्रयोग** 39
  - जैन श्रावकों का दैनिक संविधान
  - जैनधर्म की सर्वोदयवादिता
  - 'जैन' शब्द की व्युत्पत्ति

- **जैनधर्म की मौलिकता** 45
    - वैदिक धर्म से जैनधर्म की विशेषता
    - दण्डनीति का स्वरूप
    - जैन समाज की दण्ड-व्यवस्था
    - जैन समाज की दण्ड-नीति
    - दण्डनीति का माहात्म्य
    - जैन समाज की वर्णव्यवस्था
    - जैनधर्म में आश्रमव्यवस्था
    - जैन समाज का प्रारम्भ
    - विवाह-सम्बन्धी जैन समाज का संविधान
    - पूजन-पाठ-सम्बन्धी जैन समाज का संविधान
    - जैनियों का मूर्तिपूजन विधान
- **प्रस्तुत विषय पर शोधकार्य की आवश्यक्ता** 61

❖ **प्रथम अध्याय की सन्दर्भ ग्रन्थ सूची** 62

द्वितीय अध्याय – **श्रावकाचार : जैन संविधान के परिप्रेक्ष्य में**

- **श्रावकाचार की भूमिका से पूर्व सम्यक्त्व का महत्त्व** 65
    - सम्यग्दृष्टि के लिए निषिद्ध जन्मस्थान
    - सम्यग्दृष्टि के लिए मोक्ष प्राप्ति के पूर्व उपयुक्त जन्मस्थान
    - सम्यग्दर्शन का स्वरूप एवं लक्षण
    - सम्यग्दर्शन के भेद प्रभेद
    - सम्यग्दृष्टि की पहचान
- **श्रावकाचार मीमांसा** 70
    - श्रावक के भेद
    - **पाक्षिक श्रावक**
    - अष्ट मूलगुणों के सम्बन्ध में प्राप्त आगम-सम्मत विभिन्न मत
    - सप्त व्यसन-त्याग
    - माँसादि-भक्षण के सम्बन्ध में अन्यमत मीमांसा
    - देवदर्शन के बिना भोजनादि करने वालों की निन्दा
    - वर्तमान में जैन श्रावकाचार पालन
    - पाक्षिक श्रावक की क्रियाएँ
    - पाक्षिक श्रावक की दिनचर्या
    - **श्रावक सम्बन्धी सौर-सूतक-पातक विवेचन** 88
        - सौर-सूतक के अन्य उदाहरण
        - वर्तमान की मान्यता
        - सूतक-सम्बन्धी विशेषताएँ
        - पातक का वर्णन
        - **सूतक-पातक के सन्दर्भ में विभिन्न ग्रन्थों के निर्देश**
            - सूतक-पातक-विषयक जुगुप्सा, हेय अर्थात् छोड़ने योग्य

- भोजन-शुद्धि में सूतक-पातक के विवेक का निर्देश
- सूतक-पातक किसको व कहाँ नहीं लगता
- सूतक-पातक शुद्धि-काल-प्रमाण
- व्यवहारगत सूतक-पातक शुद्धि का काल-प्रमाण
- रजस्वला स्त्री का स्पर्श करना योग्य नहीं
- रजस्वला स्त्री की शुद्धि का काल-प्रमाण

▪ श्रावकों में सूतक/पातक विधान की आवश्यकता
▪ सूतक के भेद-प्रभेद
▪ सौतिक सूतक के नियम
▪ स्त्रियों को मासिक धर्म सम्बन्धी सूतक का नियम
- ऋतुकाल में रखने योग्य सावधानियाँ और उसके दुष्परिणाम
- उक्त दोषों को नहीं मानने वालों का निराकरण
- आर्यिका, क्षुल्लिका आदि व्रती स्त्रियों के लिए नियम
- रजस्वला सम्बन्धी आचार-विचार को नहीं मानने का फल

▪ प्रसूति सम्बन्धी सूतक के नियम

- **नैष्ठिक श्रावक** 98
- **व्रत का सामान्य स्वरूप एवं उसका महत्त्व**
- **पाँच व्रतों की पाँच पाँच भावनाएँ**
  - पाँच व्रतों की भावनाओं के अलावा अन्य भावनाएँ
- **नैष्ठिक श्रावक का आचरण**
  - पंच परमेष्ठी भगवन्तों की त्रिकाल पूजा का विधान
- **पाँच पापों का सामान्य स्वरूप**
  - आत्मा के ज्ञानादिक ही उसका वास्तविक परिग्रह
- **पाँच व्रतों का सामान्य स्वरूप**
  - व्रतियों का सामान्य स्वरूप
  - व्रतियों के भेद
- **पाँच अणुव्रत** 108
  - अहिंसाणुव्रत
  - सत्याणुव्रत
  - अचौर्याणुव्रत
  - ब्रह्मचर्याणुव्रत
    - ब्रह्मचर्य व्रत की नौ बाड़
    - ब्रह्मचर्य व्रत सम्बन्धी अठारह हजार शील के भेद
  - परिग्रहपरिमाणव्रत
  - छठा अणुव्रत : रात्रिभोजनत्यागव्रत
- **तीन गुणव्रत** 114
  - परिग्रहपरिमाणव्रत और दिग्व्रत में अन्तर
- **चार शिक्षाव्रत** 116
  - यम और नियम में अन्तर
  - प्रतिदिन ग्रहण करने योग्य 17 नियम
  - सम्पूर्ण जीवन भर के लिए त्याज्य अभक्ष्य पदार्थ

- दान के योग्य वस्तुएँ, प्रवृत्ति एवं विधि
- दान देने का अधिकारी कौन ?
- दातार के पाँच भूषण
- दातार के सात गुण
- दान का फल

- **नैष्ठिक श्रावक के आध्यात्मिक विकास की सीढ़ियाँ : ग्यारह प्रतिमाएँ** 125
  - प्रतिमाधारी नैष्ठिक श्रावक की सामान्य विशेषताएँ
  - **दर्शनप्रतिमा** 127
    - दर्शनप्रतिमा के धारक की कुछ विशेषताएँ
    - अविरत सम्यक्त्व और दर्शनप्रतिमा में अन्तर
  - **व्रतप्रतिमा** 128
    - व्रतप्रतिमा के धारक की कुछ विशेषताएँ
    - दर्शनप्रतिमा और व्रतप्रतिमा में अन्तर
  - **सामायिकप्रतिमा** 128
    - सामायिकप्रतिमा के धारक की कुछ विशेषताएँ
    - सामायिकव्रत और सामायिकप्रतिमा में अन्तर
  - **प्रोषधोपवास-प्रतिमा** 130
    - प्रोषधोपवास के तीन भेद
    - उत्तम प्रोषधोपवास की विशेषताएँ
    - मध्यम प्रोषधोपवास की विशेषताएँ
    - जघन्य प्रोषधोपवास की विशेषताएँ
    - प्रोषधोपवासव्रत और प्रोषधोपवासप्रतिमा में अन्तर
    - उपवास और अनशन में अन्तर
    - सामायिक और प्रोषधोपवास में परस्पर सम्बन्ध
  - **सचित्तत्यागप्रतिमा** 132
    - सचित्तत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ
  - **रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा** या **दिवामैथुनत्यागप्रतिमा** 134
    - रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा या दिवामैथुनत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ
    - रात्रिभोजनत्याग को तीन स्तर
- पाक्षिक श्रावक के कुलाचाररूप जघन्य स्तर पर
- दूसरी व्रतप्रतिमा मध्यम स्तर पर
- छठवीं प्रतिमा के उत्कृष्ट स्तर पर
  - **ब्रह्मचर्यप्रतिमा** 135
    - ब्रह्मचर्यप्रतिमा की विशेषताएँ
    - ब्रह्मचर्य को वृद्धिंगत करने वाली अन्य क्रियाएँ
    - ब्रह्मचर्य को वृद्धिंगत करने वाली क्रियाएँ
    - ब्रह्मचारियों के भेद – उपनय ब्रह्मचारी, अदीक्षा ब्रह्मचारी, अवलम्ब ब्रह्मचारी, गूढ़ ब्रह्मचारी, नैष्ठिक ब्रह्मचारी
  - **आरम्भत्यागप्रतिमा** 138
    - आरम्भ शब्द का तात्पर्य
    - आरम्भत्यागप्रतिमा में आरम्भत्याग का स्तर
    - आरम्भत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ

- **परिग्रहत्यागप्रतिमा** 140
  - परिग्रहत्याग की आवश्यकता एवं प्रेरणा
  - परिग्रहत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ
  - परिग्रहत्याग में अन्तरंग परिग्रह के त्याग की मुख्यता
- **अनुमतित्यागप्रतिमा** 143
  - अनुमति शब्द का तात्पर्य
  - मूलाचार के अनुसार अनुमति-दोष के भेद – 1. प्रतिसेवा अनुमति दोष, 2. प्रतिश्रवण अनुमति दोष, 3. संवास अनुमति दोष
  - अनुमतित्यागप्रतिमा की विशेषताएँ
- **उद्दिष्टत्यागप्रतिमा** 145
  - सामान्य उद्दिष्टत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ
  - उद्दिष्ट शब्द से तात्पर्य
  - उद्दिष्टत्यागप्रतिमाधारी श्रावक के भेद – क्षुल्लक और ऐलक
  - क्षुल्लक-ऐलक शब्दों के प्रयोग एवं क्षुल्लकों के दो भेदों सम्बन्धी इतिहास
  - क्षुल्लक पद की विशेषताएँ
  - क्षुल्लक के आहार सम्बन्धी विचारणा – 1. एकगृहभोजी या एकभिक्षानियम, 2. अनेकगृह-भोजी या अनेकभिक्षानियम
  - ऐलक पद की विशेषताएँ
- **ग्यारह प्रतिमाओं में स्त्रियों का स्थान** 150
  - आर्यिका की विशेषताएँ
  - आर्यिकाओं के विशेष नियम
  - मुनिराज को नमस्कार करने पर मुनिराज द्वारा भूमिकानुसार आशीर्वाद का विधान
  - आर्यिकाओं के सम्बन्ध में विशेष कथन
  - क्षुल्लिका की विशेषताएँ

- **साधक श्रावक** 154
  - समाधिमरण की विधियाँ (विस्तृत विधि : तृतीय अध्याय : श्रमणाचार के अन्तर्गत)
  - श्रावकों की मुख्यता से समाधिमरण विधि
  - समर्थ श्रावकों की समाधिमरण विधि
  - असमर्थ श्रावकों की समाधिमरण विधि

❖ **द्वितीय अध्याय की सन्दर्भ-सूची** 158

तृतीय अध्याय – **श्रमणाचार का जैन संवैधानिक आधार**

- **श्रमणाचार का महत्त्व** 166
  - मुनिदशा लेने का क्रम
  - श्रमण दीक्षा देने वाले आचार्य की पात्रता
  - श्रमण-दीक्षा के योग्य पात्र
  - साधु-दीक्षा की विधि
  - चातुर्मास स्थापन
- **साधुचर्या का विशेष स्वरूप** 170
  - मुनिराज को छठवें गुणस्थान में प्रमाद के साथ सकलचारित्रपना कैसे ?

- **मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण** 174
  - **पंच महाव्रत** – अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत
  - **पाँच समिति** – ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग या प्रतिष्ठापना समिति
  - **पाँच इन्द्रिय-निरोध** – स्पर्शनेन्द्रिय-निरोध, रसनेन्द्रिय-निरोध, घ्राणेन्द्रिय-निरोध, चक्षुरिन्द्रिय-निरोध और कर्णेन्द्रिय-निरोध
  - **षट् आवश्यक** – सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग
  - **शेष सात मूलगुण** – केशलोंच, नग्नत्व, अस्नान, भूमिशयन या क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थिति-भोजन और एकभक्त मूलगुण
- **अट्ठाईस मूलगुणों के अलावा साधुचर्या के विशेष नियम** 181
- **श्वेताम्बर मान्यतानुसार मुनियों के सत्ताईस मूलगुण** 182
- **मुनिराज के उत्तरगुण** 183
  - **मूलगुण और उत्तरगुण में सम्बन्ध**
  - **उत्तरगुण के भेद-प्रभेद**
    - **बारह तप** 183
    - तप के दो भेद – बाह्य और अभ्यन्तर।
    - बाह्य तप के छह भेद – 1. अनशन, 2. अवमौदर्य, 3. वृत्तिपरिसंख्यान, 4. रस-परित्याग, 5. विविक्त शय्यासन और 6. कायक्लेश।
    - अभ्यन्तर तप के छह भेद – 7. प्रायश्चित्त, 8. विनय, 9. वैयावृत्य, 10. स्वाध्याय, 11. व्युत्सर्ग और 12. ध्यान
    - बारह तपों का सार
    - **बारह अनुप्रेक्षा** 190
    - **अनुप्रेक्षा के बारह भेद** – अनित्या, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्व अनुप्रेक्षा
    - **दशलक्षण धर्म** 196
    - उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य
    - **बाईस परीषहजय** 199
    - **परीषहों के बाईस भेद** – क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन।
    - **परीषह और कायक्लेश में अन्तर**
    - **परीषहों के कारणभूत कर्म**
    - **एक जीव में एक साथ कितने परीषह**
    - **गुणस्थान आरोहण के क्रम में कौन-कौनसे परीषह सम्भव**
    - **पंचाचार** –दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार 207
    - **शीलगुण** 209
    - **मूलाचार में शील के अठारह हजार भेद**
    - **शील के चौरासी लाख भेद**
- **उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री से आचरण की सुस्थिति** – 1. उत्सर्ग आचरण, 2. अपवाद आचरण, 3. अपवाद-सापेक्ष उत्सर्ग आचरण और 4. उत्सर्गसापेक्ष अपवाद आचरण
- **उत्सर्ग और अपवाद की अमैत्री से आचरण की दुर्दशा** – 1. उत्सर्ग आचरण का एकान्त और 2. अपवाद आचरण का एकान्त

- **श्रामण्य अर्थात् मोक्षमार्ग की एकाग्रता : पदार्थों का निश्चय : आगम का अध्ययन**
- **मुनिराजों का तेरह प्रकार का चारित्र** – पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ एवं तीन गुप्तियाँ
- **प्राणी-संयम के सत्रह या चौदह भेद**
- **पाँच प्रकार के विशेष संयमों की व्याख्या** – अजीवकाय संयम, प्रतिलेख संयम, दुःप्रतिलेख संयम, उपेक्षा संयम, अपहरण संयम
- **इन्द्रिय-संयम के अट्ठाईस भेद**
- **मुनिराज का पाँच प्रकार का चारित्र** – सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात चारित्र

- **साधु का युक्ताहार-विहारी जीवन** **216**
- **मुनिराज की आहार-चर्या**
    - मुनिराज की भिक्षावृत्ति
    - नवधाभक्ति
    - आहार की दश विशेषताएँ
- **साधुओं की अनियत विहार-चर्या**
    - जल में विहार करने सम्बन्धी नियम
    - **विहार के भेद**
        - एकल विहार करने का अधिकारी कौन ?
        - संघस्थ साधु होने का महत्त्व
        - विहार योग्य प्रासुक क्षेत्र तथा मार्ग

- **मुनिराज की व्यवहार-चर्या अथवा समाचारी** **226**
    - **समाचार के भेद** – औघिक और पदविभागिक समाचार
    - **औघिक समाचार के दश भेद** – 1. इच्छाकार, 2. मिथ्याकार, 3. तथाकार, 4. आसिका, 5. निषेधिका, 6. आपृच्छा, 7. प्रतिपृच्छा, 8. छन्दन, 9. निमन्त्रणा, 10. उपसंपत्
    - मुनि अवस्था में पारस्परिक व्यवहार
    - मुनिराजों का वैयावृत्य सम्बन्धी व्यवहार
    - मुनिराज का वन्दना व्यवहार
    - मुनिराज का आचार्य के प्रति पारस्परिक व्यवहार
    - मुनिराज एवं गृहस्थों का पारस्परिक व्यवहार
    - आचार्य के पास मुनि कैसे बैठें ?
    - आर्यिकाओं के साथ आचार्य एवं संघस्थ अन्य मुनियों का परस्पर आगमसम्मत व्यवहार
    - मुनिराज का वचन व्यवहार
    - **मुनिराज का प्रायश्चित्त-व्यवहार**
        - मुनिराज की भूमिका में निषिद्ध व्यवहार
        - निषिद्ध व्यवहार के कुछ आगम उद्धरण

- **मुनिराजों के भेद-प्रभेद** **236**
    - **मुनिसंघ के नायक : आचार्य परमेष्ठी**
        - आचार्य परमेष्ठी के विशेष 36 गुण
        - नवनियुक्त आचार्य की पदारोहण-विधि
        - नव-नियुक्त आचार्य को शिक्षा
        - एलाचार्य
        - निर्यापकाचार्य

- **मुनिसंघ अध्यापक : उपाध्याय परमेष्ठी**
- **संघ-संचालन के अन्य प्रमुख अंग : प्रवर्तक, स्थविर और गणधर**
- **चातुर्वण्य संघ – ऋषि, मुनि, यति और अनगार**
- **लोक में प्रसिद्ध साधु के अन्य अनेक नाम –** श्रमण, संयत, साधु, वीतराग, विरत, भदन्त, दान्त, क्षान्त, प्रव्रजित, पाखण्डी, चरक, तापस, भिक्षु, योगी, परिव्राजक, क्षपणक, निश्चेल, अकच्छ, मुक्त, तीर्ण, त्राता
- **वैयावृत्य पर आधारित मुनिराज की संज्ञाएँ –** आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ
- **निक्षेपों की अपेक्षा श्रमण के चार भेद –** नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव
- **कल्प की अपेक्षा दो भेद** – जिनकल्प और स्थविरकल्प
- **स्थितिकल्प की अपेक्षा श्रमणों के दश भेद –** आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यागृहपिण्डत्याग, राजपिण्डत्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास, एवं पर्युषणा
- **विशिष्ट पुण्यप्रकृति की अपेक्षा साधुओं में भेद**
- **श्रेणी की अपेक्षा साधुओं के दो भेद** – उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी
- **ज्ञान की अपेक्षा साधुओं के भेद –** मति-श्रुतज्ञान के धारक, मति-श्रुत-अवधिज्ञान के धारक, मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्ययज्ञान के धारक
- **उपयोग की अपेक्षा साधुओं के दो भेद** – शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी
  - शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी श्रमण में अन्तर
- **निश्चय-व्यवहार की अपेक्षा साधु के भेद –** निश्चयसाधु और व्यवहारसाधु
- **लिंग की अपेक्षा मुनियों के भेद –** भावलिंग और द्रव्यलिंग
- **भावलिंगी साधु की पहचान**
- **द्रव्यलिंगी की पहचान**
- **शिथिलाचारी श्रमण के पाँच भेद** – पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द, कुशील, अवसन्न, संसक्त
- **द्रव्यलिंगी मुनि की पाँच भावनाएँ** – कन्दर्प, किल्विषिक, आभियोग्य, आसुरी सम्मोह
- **दोषी संयमियों के अन्य भेद** – काथिक श्रमण, प्राश्निक श्रमण, मामक श्रमण, सम्प्रसारक श्रमण, नित्यक श्रमण, श्रेणिबाह्य लिंगधारक, नट श्रमण, पाप श्रमण
- **पापश्रमणों की आगमोक्त संज्ञाओं का सूचक चार्ट**
- श्रमणाभासों की वन्दना, संगति आदि करने का निषेध
- अज्ञानी द्रव्यलिंगी का परीषहजय
- द्रव्यलिंगी के निषेध का कारण
- मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि, सम्यग्दृष्टि गृहस्थ से भी हीन
- भावलिंग की प्रधानता दर्शाने वाले आगम-उद्धरण
- द्रव्यलिंग की गौणता दर्शाने वाले आगम-उद्धरण
- द्रव्यलिंग और भावलिंग का पारस्परिक सम्बन्ध
- अढ़ाई द्वीप में छठे गुणस्थान के ऊपर भावलिंगी मुनियों की संख्या एवं उनके गुणस्थान
- **मुनियों के पाँच भेद एवं उनके गुण-दोष –** पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक
- **कुशील मुनि के दो भेद** – प्रतिसेवना-कुशील और कषाय-कुशील

○ **मुनिराजों की सल्लेखना-विधि** 260

- **परमात्माराधक साधुओं के छह काल –** दीक्षा, शिक्षा, गणपोषक, आत्म-संस्कार, सल्लेखना, उत्तमार्थ काल
- **सल्लेखना की महिमा**

❖ **तृतीय अध्याय की सन्दर्भ-सूची** 263

चतुर्थ अध्याय – **अतिचार : स्वरूप एवं विश्लेषण**

- **जैन आगमिक परम्परा में अतिचार निरूपण** 272
  - दोषों की निरूपणा : व्रतों के सन्दर्भ में
  - मुनिराजों की भूमिका में भी अतिचारों की सम्भावना
  - श्रावकों की भूमिका में होने वाले संयतासंयमभाव की अवस्था
  - अतिचारों का वर्णन करने का प्रयोजन
- **अतिचार के हेतु**
- **अतिचार सामान्य के भेद**
  - अतिचार के चौबीस भेद
- **सम्यग्दर्शन के अतिचार** 282
  - सम्यग्दर्शन के प्रमुख पाँच अतिचार
  - सम्यक्त्व-नाश के पाँच कारण
  - सम्यग्दर्शन के आठ अतिचार क्यों नहीं?
  - अन्यदृष्टि-प्रशंसा और अन्यदृष्टि-संस्तव में अन्तर
  - सम्यक्त्व के अतिचार किनको ? – मात्र श्रावकों को या महाव्रती मुनिराजों को भी
  - क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व में देशघाति सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय से ही अतिचार
  - **चल दोष**
  - **मल दोष : सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोषों का संक्षिप्त वर्णन**
  - **अगाढ़ दोष**
  - **विस्तार से सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोषों का वर्णन** 292
    - **आठ मल दोष**
      - **शंका दोष**
      - **शंका दोष के भेद** – अज्ञानमूलक और दौर्बल्यमूलक
      - **अज्ञानमूलक शंका दोष**
      - अज्ञानमूलक शंका दोष के निराकरण की प्रेरणा
      - अज्ञानमूलक शंका दोष से होने वाले दुष्परिणाम
      - **दौर्बल्यमूलक शंका दोष**
      - **सात भय** – इहलोकभय, परलोकभय, मरणभय, वेदनाभय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय और अकस्मात्भय
      - सात भयों का निराकरण
      - सात भयों का आध्यात्मिक दृष्टि से निराकरण
      - **कांक्षा दोष**
      - सांसारिक सुख का स्वरूप
      - कांक्षा दोष को दूर करने का उपदेश
      - कैसा है इन्द्रियजनित सुख?
      - सम्यग्दृष्टि अव्रती गृहस्थ को भी निःकांक्षित सम्यक्त्व होना सम्भव
      - **विचिकित्सा दोष**
      - मिथ्यात्व, असंयम, आदि में जुगुप्सा करना अतिचार नहीं
      - देह-सम्बन्धी वासना से अतीत मुनिराज
      - महापुरुषों को मुनिराज की बाह्य मलिनता देख कर भी ग्लानि नहीं

- सम्यक्त्व के उक्त आठ दोषों के सम्बन्ध में कुछ ज्वलन्त प्रश्न
- अपने शरीर के प्रति विचिकित्साभाव रखने से लाभ
- विचिकित्सा दोष को दूर करने का उपदेश
- **मूढ़दृष्टि दोष**
- अन्यदृष्टि-प्रशंसा
- अन्यदृष्टि-संस्तव
- मूढदृष्टि दोष को दूर करने का उपदेश
- **अनुपगूहन दोष**
- अनुपगूहन दोष को दूर करने का उपदेश
- **अस्थितिकरण दोष**
- अस्थितिकरण दोष को दूर करने का उपदेश
- **अवात्सल्य दोष**
- अवात्सल्य दोष को दूर करने का उपदेश
- **अप्रभावना दोष**
- अप्रभावना दोष को दूर करने का उपदेश

▪ **सम्यक्त्व के उक्त आठ दोषों के सम्बन्ध में कुछ ज्वलन्त प्रश्न** **312**

▪ **षट् अनायतन दोष**
- **अनायतन-सेवन-निषेध**
- **कुगुरु का निरूपण और उनके श्रद्धानादि का निषेध**
- विभिन्न अपेक्षाओं से कुगुरुपने की मान्यताएँ और उनका निषेध
- कुगुरु-सेवन के निषेध में शास्त्रों की साक्षियाँ
- कुगुरुओं के शिथिलाचार की पोषक युक्तियाँ और उनका निराकरण
- **कुदेव का निरूपण और उनके श्रद्धानादि का निषेध**
- विभिन्न अपेक्षाओं से कुदेवपने की मान्यताएँ और उनका निषेध
- कुदेवों की मान्यता के सम्बन्ध में शंका समाधान
- **कुधर्म का निरूपण और उनके श्रद्धानादि का निषेध**
- विभिन्न अपेक्षाओं से कुधर्मपने की मान्यताएँ और उनका निषेध
- कुधर्म-सेवन से मिथ्यात्वभाव कैसे ?

▪ जिनधर्म की आम्नाय

▪ सच्चे देव-गुरु-धर्म की उत्कृष्टता

▪ **आठ मद** – ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद, बलमद, ऋद्धिमद, तपमद, शरीरमद
- इन्द्रियज्ञान की हीनता

▪ अष्ट मदों का स्वरूप

▪ अष्ट मदों को त्याग करने की प्रेरणा

▪ इन्द्रियज्ञान की हीनता

▪ मनुष्यों के द्वारा ज्ञान का दुरुपयोग

▪ मद करने का दुष्फल

▪ धन के सम्बन्ध में ज्ञानियों के विचार

▪ **तीन मूढता** – लोकमूढता, देवमूढता, पाषण्डिमूढता
- **लोकमूढता**
- स्नान-सम्बन्धी मूढ़ता
- स्नान-सम्बन्धी सावधानियाँ

- आठ प्रकार की शुद्धि
- लोकमूढ़ जिनधर्मी
- **देवमूढता**
- देवमूढ़ जिनधर्मी
- देवमूढता के अनेकरूप
- **पाखण्डिमूढ़ता या गुरुमूढ़ता**

○ **श्री जिन-मन्दिर में नहीं करने योग्य 84 आसादन दोष**

- **श्रावकों के अतिचार** 349

○ अतिचारों की पंचरूपता

○ अतिचार आदि पाँच प्रकार के दोषों का वर्गीकरण

○ प्रमुख ग्रन्थों में वर्णित अतिचारों का तुलनात्मक अध्ययन

○ **श्रावक के पाँच अणुव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार** 352

○ **अहिंसाणुव्रत के अतिचार** – बन्ध, वध, छेद, अतिभार-आरोपण, अन्न-पान-निरोध

- अहिंसाणुव्रत के बन्ध आदि अतिचार मानने में हेतु

○ **सत्याणुव्रत के अतिचार** – मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार, साकारमन्त्रभेद

○ **अचौर्याणुव्रत के अतिचार** – स्तेन-प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध-राज्यातिक्रम, हीनाधिक-मानोन्मान, प्रतिरूपक-व्यवहार

○ **ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार** – परविवाहकरण, परिगृहीता-इत्वरिकागमन, अपरिगृहीता-इत्वरिकागमन, अनंग क्रीड़ा, कामतीव्राभिनिवेश

○ **परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार** – क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास, कुप्य

○ **श्रावक के तीन गुणव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार** 367

○ **दिग्व्रत के अतिचार** – ऊर्ध्व-व्यतिक्रम, अधो-व्यतिक्रम, तिर्यग्-व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि, स्मृत्यन्तराधान

○ **देशव्रत के अतिचार** – आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, पुद्गलक्षेप

- आनयन आदि को अतिचार मानने का कारण

○ **अनर्थदण्डव्रत के अतिचार** – कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, उपभोग-परिभोगाऽऽनर्थक्य

- कन्दर्प और कौतकुच्य में अन्तर
- अनर्थदण्डव्रत से प्राप्त निष्कर्ष

○ **श्रावक के चार शिक्षाव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार** 374

○ **सामायिकव्रत के अतिचार** – काययोगदुष्प्रणिधान, वचनयोगदुष्प्रणिधान, मनोयोगदुष्प्रणिधान, अनादर, स्मृत्यनुपस्थान

- दुष्प्रणिधान से तात्पर्य
- स्मृत्यनुपस्थान एवं मनोदुष्प्रणिधान में अन्तर

○ **प्रोषधोपवासव्रत के अतिचार** – अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-आदान, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-संस्तरोपक्रमण, अनादर, स्मृत्यनुपस्थान

- अप्रत्यवेक्षण और अप्रमार्जन का अर्थ

○ **भोगोपभोग-परिमाणव्रत या उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत के अतिचार** – सचित्ताहार, सचित्त-सम्बन्धाहार, सचित्त-सम्मिश्राहार, अभिषव, दुःपक्वाहार

- भोगोपभोगपरिमाणव्रत और उपभोग-परिभोगानर्थक्य नामक अतिचार में अन्तर
- सचित्त-सम्बन्ध और सचित्त-सम्मिश्र में अन्तर
- भोगोपभोग-परिमाणव्रत के अन्य प्रकार से पाँच अतिचार

- **अन्य भोगोपभोग की वस्तुओं के दोष** – अफीम, हुक्का, जर्दा या तमाखू, भांग, नीच-संगति, इत्र, रात्रि में बनाये भोजन, रात्रिभोजन, द्विदल, अनछना जल
- अभक्ष्य भक्षण नहीं करने के निष्कर्ष
- मर्यादित द्रव्य-क्षेत्र-काल के बाहर त्याज्य अभक्ष्य पदार्थ

○ **अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार** – सचित्तनिक्षेप, सचित्ताऽपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य, कालाऽतिक्रम
- दातार के पाँच दोष

○ **सल्लेखना व्रत के अतिचार**

○ जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध, निदान

• **श्रावक चर्या से सम्बन्धित अन्य अतिचार** **385**
- पूजन के अतिचार
- अभिषेक के अतिचार
- मौन व्रत के अतिचार
- रात्रिभोजन त्याग व्रत या अनस्तमित व्रत के अतिचार
- जलगालन या पानी छानने के अतिचार
- **व्यसनत्याग के अतिचार**
- जुआ व्यसन त्याग के अतिचार या दोष
- मांसभक्षण व्यसन त्याग के अतिचार या दोष
- मद्यपान व्यसन त्याग के अतिचार या दोष
- वेश्यासेवन त्याग के अतिचार या दोष
- शिकार या आखेट व्यसन त्याग के अतिचार या दोष
- चोरी व्यसन त्याग के अतिचार
- परस्त्रीसेवन व्यसन त्याग के अतिचार या दोष
- मधु त्याग के अतिचार

सम्यग्ज्ञान के अतिचार
- श्रुत के अतिचार
- ज्ञान के चौदह अतिचार
- अतिचारों की सामान्य आलोचना-विधि
- सूत्र के बत्तीस दोष

○ **पात्रदान के पाँच अतिचार**

○ **बाह्य तप के अतिचार**
- अनशन तप के अतिचार
- अवमौदर्य तप के अतिचार
- वृत्तिपरिसंख्यान तप के अतिचार
- रसपरित्याग तप के अतिचार
- विविक्त शय्यासन अथवा अभ्रावकाश तप के अतिचार
- कायक्लेश तप के अतिचार

○ **अन्तरंग तपों में कतिपय तपों के अतिचार**
- प्रायश्चित्त तप के अतिचार
- कायोत्सर्ग के अतिचार

○ **वन्दना के अतिचार**

- **साधु अवस्था में सम्भवित दोषों का वर्णन** 394
    - दीक्षा के अयोग्य व्यक्ति
    - साधु अवस्था का प्रमाद या प्रमत्त गुणस्थान
    - सर्वथा त्याज्य सदोष आहार
    - **आहार-सम्बन्धी दोष एवं उनके भेद**
    - अधःकर्म का स्वरूप
    - आठ प्रकार के आहार-सम्बन्धी सामान्य दोष एवं उनके भेद
    - उद्गम दोष से आशय और उसके सोलह भेदों का स्वरूप
    - उत्पादन दोष से आशय एवं उसके सोलह भेदों का स्वरूप
    - एषणा दोष से आशय एवं उसके दस भेदों का स्वरूप
    - संयोजना दोष/प्रमाण दोष/अंगार दोष/धूम दोष/कारण दोष
    - चौदह मल दोष
    - बत्तीस अन्तराय
    - भावदीपिकाकार के अनुसार चौंसठ अन्तराय
- **सामान्य साधुओं को एकल विहार का निषेध**
- **आलोचना प्रायश्चित्त के आकम्पित आदि दश दोष**
- **आलोचना प्रायश्चित्त के त्यागने योग्य दर्प आदि बीस दोष**
- **पाँच समिति के अतिचार**
    - ईर्या समिति के अतिचार
    - भाषा समिति के अतिचार
    - एषणा समिति के अतिचार
    - आदान-निक्षेपण समिति के अतिचार
    - प्रतिष्ठापना समिति के अतिचार
- **तीन गुप्तियों के अतिचार**
    - मनोगुप्ति के अतिचार
    - वचनगुप्ति के अतिचार
    - कायगुप्ति के अतिचार
- **श्वेताम्बर ग्रन्थ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की प्रथम दशा में वर्णित बीस असमाधिस्थान** 412
- **श्वेताम्बर ग्रन्थ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की द्वितीय दशा में वर्णित इक्कीस शबल दोष**
- **श्वेताम्बर ग्रन्थ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की तृतीय दशा में वर्णित तेतीस आशातनाएँ**

❖ **चतुर्थ अध्याय की सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची** 417

पंचम अध्याय – **प्रायश्चित्त : स्वरूप एवं मीमांसा**

- **प्रायश्चित्त का उद्देश्य** 423
- प्रायश्चित्त का व्युत्पत्तिपरक या निरुक्तिपरक अर्थ
- प्रायश्चित्त के आठ पर्यायवाची नाम
- **प्रायश्चित्त का स्वरूप** 426
    - निश्चय प्रायश्चित्त का स्वरूप
    - व्यवहार प्रायश्चित्त का स्वरूप
- **श्वेताम्बर साहित्य में प्रायश्चित्त निरूपण**

- **बौद्ध-दृष्टि में प्रायश्चित्त विधान**
- **वैदिक-दृष्टि में प्रायश्चित्त विधान**
- जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं का तुलनात्मक विवेचन
- **मुनिराजों के अतिचार एवं प्रायश्चित्त का वर्णन करने में आचार्यों का संकोच** 436
    - श्वेताम्बर ग्रन्थों में छेद सूत्र के माध्यम से साधुओं के अतिचार एवं प्रायश्चित्त
    - छेद सूत्र की चिन्तनपूर्ण पृष्ठभूमि : जयन्त मुनि के अनुसार
    - छेद सूत्रों की विशेषता और उसके रहस्यमय भाव
    - छेद सूत्रों का वर्ण्य विषय
    - तीन प्रकार के कल्प या नियम
- **आचार्यों, विद्वानों आदि से विचार-विमर्श करने हेतु प्रश्नावली** 442
    - 'प्रायश्चित्त' के सम्बन्ध में आचार्य श्री विद्यासागरजी के साथ वार्तालाप
    - 'प्रायश्चित्त' के सम्बन्ध में विद्वान् श्री शैलेषजी के साथ सिद्धक्षेत्र सोनागिर में वार्तालाप
    - ब्र. राकेशजी, सिद्धायतन, सागर के साथ हुई चर्चा के आधारभूत बिन्दु
- **प्रायश्चित्त के दश या नौ भेद** 450
    - प्रायश्चित्त के दश या नौ भेदों के सम्बन्ध में मतभेद
- **आलोचना प्रायश्चित्त** 451
    - आलोचना के पर्यायवाची
    - व्यवहार आलोचना का स्वरूप
    - निश्चय आलोचना का स्वरूप
    - आलोचनाकल्प के अन्तर्गत कर्मचेतना के त्याग के उनचास भंग
    - **आलोचना प्रायश्चित्त केदो भेद** – सामान्य एवं विशेष आलोचना
    - **आलोचना के तीन भेद** – विहार, उपसम्पदा एवं अपराध आलोचना
    - **आलोचना के सात भेद** – दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक एवं उत्तमार्थ
- **प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त** 455
    - प्रतिक्रमण का महत्त्व
    - प्रतिक्रमण की निरुक्ति
    - व्यवहार प्रतिक्रमण का स्वरूप
    - निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप
    - निश्चय-व्यवहार प्रतिक्रमण का समन्वय
    - प्रतिक्रमण क्रिया के कर्ता, कर्म, करण, और अधिकरण कारक
    - **दैवसिक आदि प्रतिक्रमण के सात भेद** – दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ
    - **नाम आदि प्रतिक्रमण के छह भेद** – नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव
    - **प्रतिक्रमण के चार भेद** – नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव
    - **प्रतिक्रमण के तीन भेद** – मन, वचन और काय
    - प्रतिक्रामक-प्रतिक्रमण-प्रतिक्रमितव्य **की अपेक्षा तीन भेद**
    - **प्रतिक्रमण के दो भेद** – द्रव्य और भाव
    - प्रतिक्रमण के भेदों का परस्पर में अन्तर्भाव
    - द्रव्य अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान और भाव अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान
    - प्रतिक्रमण आदि विषकुम्भ या अमृतकुम्भ

- प्रतिक्रमण के अन्तर्गत कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना
- प्रतिक्रमणकल्प के अन्तर्गत कर्मचेतना के त्याग के उनचास भंग
- **गुरु एवं लघु प्रतिक्रमण**
- **गुरु प्रतिक्रमण के सात भेद** – व्रतारोपण, पाक्षिक, कार्तिकान्त चातुर्मासिक, फाल्गुनान्त चातुर्मासिक, आषाढ़ान्त वार्षिक, सर्वातिचार-सम्बन्धी और उत्तमार्थ
- **लघु प्रतिक्रमण के सात भेद** – केशलोंच, रात्रि, दिन, भोजन, निषिद्धिकागमन, मार्ग और दोष
- **श्वेताम्बर परम्परा में प्रतिक्रमण के भेद**
- **स्थानांग सूत्र में छह प्रतिक्रमण** – उच्चार, प्रश्रवण, इत्वर, यावत्कथिक, यत्किंचन मिथ्या और स्वाप्नान्तिक
- **आवश्यक सूत्र में प्रतिक्रमण के सात भेद** – दैवसिक, रात्रिक, इत्वर, यावत्कथिक, पाक्षिक, चातर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ
- सामायिक और प्रतिक्रमण में अन्तर
- प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में अन्तर

- **प्रत्याख्यान शब्द की विशेषता** 470
  - प्रत्याख्यान के पर्यायवाची
  - निश्चय प्रत्याख्यान का स्वरूप
  - व्यवहार प्रत्याख्यान का स्वरूप
  - **प्रत्याख्यान के भेद**
  - **सार्थक प्रत्याख्यान के 10 भेद** – अनागत, अतिक्रान्त, कोटीसहित, निखण्डित, साकार, अनाकार, परिमाणगत, अपरिशेष, अध्वगत और सहेतुक प्रत्याख्यान
  - **प्रत्याख्यान के चार प्रकार** – विनय, अनुभाषा, अनुपालन, और परिणाम
  - **प्रत्याख्यान के छह प्रकार** – नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव
  - **प्रत्याख्यान के तीन भेद** – मन, वचन और काय
  - आध्यात्मिक दृष्टि से ज्ञान अथवा निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान
  - सम्यक्त्व रहित प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान नहीं

- **तदुभय प्रायश्चित्त** 473
  - आलोचना सहित प्रतिक्रमण और आलोचना रहित प्रतिक्रमण का समन्वय
- **विवेक प्रायश्चित्त** 473
- **व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त** 474
  - कायोत्सर्ग का काल
  - **द्रव्य-भाव की अपेक्षा कायोत्सर्ग के चार भेद** – उत्थितोत्थित, उत्थित-निविष्ट, उपविष्टोत्थित और उपविष्ट-निविष्ट
  - **आगम साहित्य में कायोत्सर्ग के दो भेद** – द्रव्य और भाव
  - कायोत्सर्ग का फल
- **तप प्रायश्चित्त** 476
- **छेद प्रायश्चित्त** 476
- **मूल या उपस्थापना प्रायश्चित्त** 477
- **परिहार या पारांचित प्रायश्चित्त** 478
  - **परिहार प्रायश्चित्त के भेद** – गण-प्रतिबद्ध और गण-अप्रतिबद्ध
- **श्रद्धान प्रायश्चित्त** 479

- **प्रायश्चित्त के अन्य भेद** 480
  - पंच कल्याण, गुरुमास, भिन्नमास, लघुमास, आदि
  - पंच कल्याण प्रायश्चित्त के विशेष पर्यायवाची नाम
  - **पंच कल्याण में समाविष्ट भेद** – पाँच आचाम्ल भोजन या काँजी मिश्रित भात, पाँच नीरस आहार, पाँच एक स्थान, पाँच पुरुमण्डल या काँजी भोजन तथा पाँच क्षमण-उपवास
  - गुरुमास प्रायश्चित्त
  - भिन्नमास प्रायश्चित्त
  - लघुमास प्रायश्चित्त
  - चातुर्मासिक प्रायश्चित्त
  - कितने कायोत्सर्ग करने पर कितने उपवास आदि करने का फल
  - एक उपवास का फल प्राप्त करने की विधि
  - उपवास के हीन होने के कारण
  - **प्रायश्चित्त के प्रकरण में विद्वानों द्वारा जानने योग्य छह बिन्दु** – दोष, काल, क्षेत्र, छेद, भुक्ति या भक्ति, दोषी अथवा **प्रायश्चित्त के छह अधिकार** – प्रतिसेवा, काल, क्षेत्र, आहार, पुरुष, और प्रायश्चित्त
  - व्यवहारभाष्य के अनुसार प्रायश्चित्तार्ह और प्रायश्चित्तवाहक कौन ?
  - प्रायश्चित्त समुच्चय के अनुसार निमित्त-सेवा के सोलह और अनिमित्त-सेवा के आठ भेद
  - लघु-गुरु प्रायश्चित्त का विवेक एवं द्रव्य-क्षेत्रादि की सावधानियाँ
  - प्रायश्चित्त के लिए पंच कल्याणों के प्रत्येक या संयोगी भंगों का विवरण
  - श्वेताम्बर प्ररूपणा में प्रायश्चित्त व्यवहार के भेद प्रभेद
- **मूलगुणों और उत्तरगुणों के दोषों में प्रायश्चित्त-विधान** 490
  - प्रायश्चित्त-ग्रहण की उपयोगिता
  - प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में अन्तिम निवेदन

❖ **पंचम अध्याय की सन्दर्भ- सूची** 492

षष्ठ अध्याय – **प्रायश्चित्त की व्यावहारिकता : जैन संविधान के सन्दर्भ में**

- **जैन संविधान अथवा जैन दर्शन की व्यावहारिकता** 496
  - लोकहितकरता, प्रयोगधर्मिता, विश्वसनीयता, और वैज्ञानिकता
  - लोकविरुद्ध कार्य करने का निषेध
  - प्रायश्चित्त तप : दोषों से विशुद्धि की उत्तम प्रक्रिया
  - 'श्रावक प्रतिक्रमण सार' के महत्त्वपूर्ण बिन्दु
- **प्रायश्चित्त की महिमा** 500
- प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर
- प्रायश्चित्त के योग्य काल
- प्रायश्चित्त का फल
- **प्रायश्चित्त का प्रयोजन**
- प्रायश्चित्त करने से लाभ
- **प्रायश्चित्त का उद्देश्य**
- एक सार्थक प्रश्न : प्रायश्चित्त, तप है या तप, प्रायश्चित्त
- प्रायश्चित्त, अभ्यन्तर तप क्यों ?

- प्रायश्चित्त को अन्तरंग तप में प्रथम स्थान क्यों ?
- प्रायश्चित्त से छेदोपस्थापना चारित्र का सम्बन्ध
- द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि से प्रायश्चित्त का सम्बन्ध
- प्रायश्चित्त के योग्य कौन ?
- प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाले शिष्य की पात्रता
- प्रायश्चित्त नहीं लेने से हानि
- प्रायश्चित्त देने वाले गुरु का लक्षण
- प्रायश्चित्त देने वाले गुरुओं की दुर्लभता
- गृहस्थों को प्रायश्चित्त के योग्य सामान्य दण्डों के निर्देश
- **प्रायश्चित्त की विधि** 507
    - अपवाद-मार्ग के अन्तर्गत प्रायश्चित्त शास्त्र का निरूपण
    - अपवाद और अतिचार में अन्तर
- **प्रायश्चित्त देने योग्य आचार्य की योग्यताएँ** 509
    - आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, प्रकुर्वी, अपायोपायविदर्शी, अवपीड़क, अपरिस्रावी और निर्यापक
    - प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता आचार्य के गुण
    - प्रायश्चित्त शास्त्र के अज्ञाता आचार्य के दोष
    - प्रायश्चित्तदान में अनेकान्त
- **आलोचना प्रायश्चित्त का व्यवहार पक्ष** 513
    - **आलोचना प्रायश्चित्त का महत्त्व एवं सावधानी**
    - आलोचक की भावना
    - आलोचना करने योग्य आलोच्य कर्म या आलोचनीय विषय
    - **आलोचना की शुद्धि**
    - आलोचना का हेतु
    - **आलोचना प्रायश्चित्त से लाभ**
    - अतिचार लगने पर आलोचना करने में शीघ्रता आवश्यक
    - आलोचनासहित-शल्यरहित और आलोचनारहित-शल्यसहित मरण में गुण-दोष
    - क्षपक श्रमण के द्वारा करने योग्य आलोचना प्रायश्चित्त में कायोत्सर्ग की विधि
    - **आलोचना में भावशुद्धि के साथ, क्षेत्र-शुद्धि और काल-शुद्धि का महत्त्व**
        - आलोचना के अयोग्य क्षेत्र
        - आलोचना के योग्य क्षेत्र
    - **आलोचना सुनने वाले आचार्य के गुण**
        - आलोचना सुनने वाले आचार्य के बैठने की दिशा व एकान्तता का विधान
    - **आलोचना प्रायश्चित्त की विधि**
        - प्रायश्चित्त के ज्ञाता आचार्य के द्वारा विचारणीय सावधानियाँ
    - **क्षपक साधु के सामने आलोचना-वार्ता का भी निषेध**
- **दोषों के अनुसार प्रायश्चित्तों का निर्धारण करने हेतु अनेक उदाहरण** 522
- **सम्यक्त्व में दोष सम्बन्धी प्रायश्चित्त** 522
    - आठ प्रकार के मदों से उन्मत्त होने के प्रायश्चित्त
    - सम्यग्दर्शन आदि से भ्रष्ट लोगों की संगति करने का प्रायश्चित्त
    - सिद्धान्त का उपदेश न करने वालों का प्रायश्चित्त

- **पाँच महाव्रतों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** 523
  - **अहिंसाव्रत के दोषों के प्रायश्चित्त** 523
    - इन्द्रियों एवं प्राणों की संख्या के अनुसार जीवों का घात करने के प्रायश्चित्त
    - संज्ञी पंचेन्द्रियों के घात का प्रायश्चित्त
    - कायोत्सर्ग से दूर होने वाले दोष
    - धूलि से पानी और पानी से धूलि में जाने का प्रायश्चित्त
    - कीचड़ से जल में जाने का प्रायश्चित्त
    - गीली घास एवं अनन्तकाय के घात का प्रायश्चित्त
    - हरी घास, अनन्तकाय, एवं त्रस जीवों के छिन्न-भिन्न करने का प्रायश्चित्त
    - त्रसजीव के घात का प्रायश्चित्त
    - कमण्डलु, भेषज आदि भाजनों में जीवों के घात का प्रायश्चित्त
    - संस्तर पर पंचेन्द्रिय जीव के घात का प्रायश्चित्त
    - आवासद्वार पर पंचेन्द्रिय जीव के घात का प्रायश्चित्त
    - अपने सामने बिच्छू, सर्प, आदि का घात होने पर प्रायश्चित्त
    - रोगादि के निमित्त से अग्नि को बुझाने आदि का प्रायश्चित्त
    - हर्र, वचा, बिजौरा, बेलफल, आदि ग्रहण करने का प्रायश्चित्त
  - **सत्यव्रत के दोषों के प्रायश्चित्त** 526
    - अशिष्टवचन बोलने आदि का प्रायश्चित्त
    - साधर्मियों का अपमान करने का प्रायश्चित्त
    - अहंकारवश चौपड़ आदि खेलने का प्रायश्चित्त
    - पहेलियाँ आदि कार्यों में लग जाने का प्रायश्चित्त
    - धातुवाद आदि क्रियाओं को करने का प्रायश्चित्त
    - धातुवाद आदि के कथन करने का प्रायश्चित्त
    - अन्य क्रीड़ाओं को करने का प्रायश्चित्त
    - प्राणियों को मारते हुए देखने का प्रायश्चित्त
    - जू, खटमल, आदि को पकड़ने का प्रायश्चित्त
    - अन्य साधर्मियों को शय्या, वसतिका, आदि देने का प्रायश्चित्त
    - पार्श्वस्थ आदि मुनियों से अध्ययन करने का प्रायश्चित्त
    - पार्श्वस्थ आचार्य को वन्दन करने का प्रायश्चित्त
  - **अचौर्यव्रत के दोषों के प्रायश्चित्त** 529
    - आहार छोड़ने पर प्रायश्चित्त
    - अस्थान और असमय में सोने सम्बन्धी प्रायश्चित्त
    - स्वकार्यवश मर्यादा के बाहर जाने का प्रायश्चित्त
    - संघपालन के उद्देश्य से राजादि से स्नेह रखना, प्रायश्चित्त योग्य कार्य नहीं
    - दीक्षा के उद्देश्य से आचार्य द्वारा अभ्युत्थान आदि अयोग्य कार्य नहीं
    - निषद्या-सेवन, मिथ्याकार, इच्छाकार, निमन्त्रण, आदि नहीं करने का प्रायश्चित्त
    - किस काल में कैसा प्रायश्चित्त ?
    - आहार-ग्रहण की अपेक्षा प्रायश्चित्त-विधान
    - गर्व करने का प्रायश्चित्त
    - कोमलाचार पालने वाले मुनि को प्रायश्चित्त-विधि
  - **ब्रह्मचर्यव्रत से सम्बन्धी प्रायश्चित्त** 531
    - मैथुनसेवा का प्रायश्चित्त
    - कामसेवन की मन्द-तीव्र अभिलाषा होने के प्रायश्चित्त

- बलवर्धक औषधिसेवन करने के प्रायश्चित्त
- हंसी हंसने के प्रायश्चित्त
- रास्ते को लांघने के प्रायश्चित्त
- कामोत्तेजक अंगुली चटकाने आदि क्रियाओं के प्रायश्चित्त
- कषाय उत्पन्न होने के प्रायश्चित्त
- विकथाओं को करने के प्रायश्चित्त
- सचित्त-अचित्त वस्तुओं को सूँघने के प्रायश्चित्त
- छह रसों की लोलुपता करने के प्रायश्चित्त
- संयमीजनों के द्वारा अयोग्य क्रियाओं को करने के प्रायश्चित्त
- सोने से सम्बन्धित प्रायश्चित्त
- **अपरिग्रहव्रत सम्बन्धी प्रायश्चित्त** **533**
  - आवश्यक पीछी-कमण्डलु आदि से सम्बन्धी प्रायश्चित्त
  - जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट चीजों को खरीदने का प्रायश्चित्त
  - तृणपंचक, वस्त्रपंचक आदि के सेवन करने का प्रायश्चित्त
  - अप्रतिलेख्य या अशोधित वस्तुओं के सेवन का प्रायश्चित्त
  - संस्तर सम्बन्धी प्रायश्चित्त
  - उपधि या संयमोपकरण को भूल जाने का प्रायश्चित्त

- **रात्रिभोजनत्यागव्रत के प्रायश्चित्त** **534**
  - औषधि ग्रहण के प्रायश्चित्त
- **पाँच समितियों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** **535**
  - **ईर्या समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त**
  - हरित अंकुर, पानी, कीचड़, आदि पर चलने का प्रायश्चित्त
  - **भाषा समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त**
  - **एषणा समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त**
  - **आदाननिक्षेपण समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त**
  - **प्रतिष्ठापना समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त**
  - पाँच समितियों से सम्बन्धित अन्य प्रायश्चित्त
- **पंचेन्द्रिय-विजय से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** **537**
- **मुनियों के षट्-आवश्यकों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** **538**
- **मुनियों के सात शेष गुणों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** **538**
  - केशलोंच से सम्बन्धित प्रायश्चित्त
  - नग्नता से सम्बन्धित प्रायश्चित्त
  - अस्नानता आदि सात मूलगुणों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त
- मूलगुणों के पालन में संक्लेश परिणाम करने का प्रायश्चित्त

- **उत्तरगुणों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** **539**
  - अप्रासुक भूमि पर या भूमि को मनोहर देख कर योग धारण करने का प्रायश्चित्त
  - वसतिका आदि बनवाने का उपदेश देने से सम्बन्धित प्रायश्चित्त
  - पूजा आदि करने के उपदेश देने से सम्बन्धित प्रायश्चित्त
- अपने द्वारा कमण्डलु आदि उपकरण टूटने आदि का प्रायश्चित्त
- मिथ्यादृष्टि लोगों से कलह करने का प्रायश्चित्त
- मुनियों के बीच हाथों से कलह करने का प्रायश्चित्त

- नाचने, गाने और निद्रा से जगाने का प्रायश्चित्त
- संघापराध प्रगट करने का प्रायश्चित्त
- स्वाध्याय के लिए औद्देशिक दोष सेवन करने का प्रायश्चित्त
- दुःशील, क्रोधी, मिथ्यात्वी, आदि के साथ विहार करने पर प्रायश्चित्त
- अर्हन्तादि के अवर्णवाद का प्रायश्चित्त
- शिला, भूमि, पेट, जंघा आदि पर सूत्र लिखने का प्रायश्चित्त
- धर्मच्युत मिथ्यादृष्टि लोगों के घरों में आहार करने का प्रायश्चित्त
- ज्ञानोपकरण और औषधनिषेध का प्रायश्चित्त
- चाण्डाल-स्पर्श का प्रायश्चित्त
- शूद्र-दीक्षा देने वाले को प्रायश्चित्त
- **दीक्षाच्छेद के योग्य प्रायश्चित्त कब ?** 542
- **आर्यिकाओं के प्रायश्चित्त** 542
- आर्यिकाओं के रजस्वला होने पर रखने योग्य सावधानियाँ
- **प्रायश्चित्त चूलिका में उल्लिखित अन्य प्रायश्चित्त**
- **मुनियों के प्रायश्चित्त से श्रावक के प्रायश्चित्त की तुलना**
- **दोषों के अनुसार प्रायश्चित्त का विधान** 544
    - प्रायश्चित्त-विधि अपनाने का फल
    - समर्थ सम्पत्ति-सम्पन्न श्रावकों को निर्देश
    - असमर्थ सम्पत्ति-विपन्न श्रावकों को निर्देश
    - श्रावकों को विविध प्रकार के तप करने की प्रेरणा
    - गणधर मन्त्र एवं णमोकार मन्त्र से दोष निवृत्ति
    - त्रिकाल सामायिक एवं पात्रदान से दोष निवृत्ति
    - श्रेष्ठ श्रावक कौन ?
- **श्रावकों के लिए वर्णित प्रायश्चित्त** 546
    - पूजा आदि कार्यों के काल का उल्लंघन हो जाने का प्रायश्चित्त
    - एक या दो दिनों तक अनुष्ठान की हानि होने का प्रायश्चित्त
    - **तीन दिन तक अनुष्ठान की हानि होने का प्रायश्चित्त**
    - **चार दिन तक अनुष्ठान की हानि होने का प्रायश्चित्त**
    - **पांच दिन या एक सप्ताह आदि दिनों तक अनुष्ठान की हानि होने का प्रायश्चित्त**
    - अर्हन्त प्रतिमा का अंग-भंग होने का प्रायश्चित्त
    - स्वप्न में अथवा प्रमाद से व्रत का समूल नाश होने का प्रायश्चित्त
    - दो इन्द्रिय जीव का घात हो जाने का प्रायश्चित्त
    - तीन इन्द्रिय एवं चार इन्द्रिय जीव का घात हो जाने का प्रायश्चित्त
    - संज्ञी–असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव का घात हो जाने का प्रायश्चित्त
    - लोकनिन्द्य मृतक कलेवर, हड्डी, मल, मूत्र आदि देखने एवं लोकनिन्द्य वचन सुनने के प्रायश्चित्त
    - रजस्वला स्त्री के द्वारा परोसे अन्न का प्रायश्चित्त
    - पूजा करते समय जिन प्रतिमा एवं अष्ट द्रव्यों की कोई सामग्री के गिरने का प्रायश्चित्त
    - जप करते समय किसी प्रकार का विघ्न आने पर प्रायश्चित्त
- **सल्लेखना आदि से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** 553
- **श्रावकाचार के अन्तर्गत आलोचना-विधि** 553
    - अनेक प्रकार के जीवों सम्बन्धी आरम्भ की आलोचना-विधि

- भोजन, उपकरण, और वसति-सम्बन्धी दोषों की आलोचना-विधि
- अस्नान आदि व्रतों के विरुद्ध स्नान आदि क्रियाओं के दोषों की आलोचना-विधि
- सरल या वक्र आलोचना जानने की विधि
- द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा असंयम अर्थात् प्रतिसेवना के चार प्रकार

• **प्रायश्चित्त की पात्रता** 555
- गुरु के समीप आलोचना करने के गुण
- शिष्य द्वारा आलोचना करने पर गुरु का कर्तव्य

• **वर्तमान युग के लिए आलोचना-सार** 556
- मुनि/भट्टारक/प्रतिष्ठाचार्य/पण्डित/पुजारी/प्रवचनकार/श्रोता/ब्रह्मचारी/ज्योतिषी/भक्त/साहूकार/महाजन/कर्जदार/व्यापारी/पूंजीपति/तस्कर-व्यवसायी/सट्टेबाज/शोषक/मुनीम/कर्मचारी/दहेजलोभी वरविक्रेता पिता/दलाल/वैज्ञानिक/साहित्यकार/कवि/लेखक/चित्रकार/शिल्पी/पत्रकार/समालोचक/बुद्धिजीवी/श्रमजीवी/कोषाध्यक्ष/अध्यक्ष/निर्वाचित सदस्य/मतदाता/राजनेता/पंच/समाज/चाटुकार/ठेकेदार/इंजीनियर/ओवरसीयर/शासनाधिकारी/ न्यायाधीश /वकील/वैद्य डॉक्टर/शिक्षक/स्नातक/युवापीढ़ी/मुंशी क्लर्क या बाबू/पुलिस/सैनिक/मन्त्री/ यात्री/ विषयलम्पटी/व्यसनी/कृषक/भिक्षुक/दम्पति आदि मनुष्यों की **व्यक्तिगत अपनी आलोचना** के उदाहरण

• **प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त की व्यवहारिकता** 561
- प्रतिक्रमण का फल
- द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- प्रतिक्रमण के प्रयोग की विधि
- अतिचार-विशुद्धि हेतु प्रतिक्रमण की विधि
- गृहस्थों में प्रतिक्रमण की विधि : लघु प्रतिक्रमणक्र

• **वर्तमान सन्दर्भों में प्रायश्चित्त की समसामयिकता** 566

❖ **षष्ठ अध्याय की सन्दर्भ-सूची** 567

सप्तम अध्याय : **सामाजिक एवं राष्ट्रीय महत्त्व के परिप्रेक्ष्य में : प्रायश्चित्त की महत्ता एवं उपयोगिता**

• **जैनधर्म में विश्वधर्म बनने की क्षमता** 571
- राष्ट्रिय परिप्रेक्ष्य में जैन संविधान की उपयोगिता
- राष्ट्रीय संविधान के निर्माण में जैन समाज का योगदान
- पर्यावरण की सुरक्षा हेतु जैनधर्म की उपयोगिता
- जैनधर्म में जाति, वर्ण एवं वर्ग जैसी संकीर्णताओं को कोई स्थान नहीं
- जैनधर्म के सर्वोदयी एवं समन्वयी सिद्धान्त
- जैन संस्कारों का प्रभाव

• **अतिचार के अनुसार प्रायश्चित्त-विधान** 581
- प्रायश्चित्त का अतिचारों की शुद्धि से सीधा सम्बन्ध
- दोषों के अनुसार प्रायश्चित्त के भेदों का संक्षिप्त वर्णन
- सामाजिक दृष्टि से प्रायश्चित्त का प्रयोजन व माहात्म्य
- सामाजिक दृष्टि से प्रायश्चित्त देने का अधिकार

- **जैन दण्डनीति का राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रयोग** 584
- **विवाह के सम्बन्ध में जैनधर्म का दृष्टिकोण** 587
    - वधू के लिए वर के सप्त वचन
    - वर के लिए वधू के सप्त वचन
- **दैनिक जीवन में श्रावकाचार पालन सम्बन्धी सुझाव** 587
    - प्रातःकालीन दिनचर्या
    - जिनदर्शन हेतु गमन आदि क्रियाओं में विवेक
    - **भोजन सम्बन्धी विवेक**
        - रसोईघर में कार्य करने/भोजन बनाने सम्बन्धी विवेक
        - रसोईघर में बर्तन माँजने सम्बन्धी विवेक
        - नमक सम्बन्धी विवेक
        - सब्जियों एवं फलों को खरीदने सम्बन्धी विवेक
        - धान्य/मसाले सम्बन्धी विवेक
        - भोजन करने के सम्बन्ध में विवेक
    - **आजीविका सम्बन्धी विवेक**
        - आजीविका करते हुए गमनागमन सम्बन्धी विवेक
    - **दिनचर्या में विवेक**
        - सायंकालीन दिनचर्या में विवेक
        - रात्रिकालीन चर्या में विवेक
    - **अन्य गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों में विवेक**
        - वस्त्र आदि खरीदने/पहनने का विवेक
        - यात्रा पर निकलने के पूर्व रखा जाने योग्य विवेक
        - यात्रा से घर लौटने पर रखा जाने योग्य विवेक
        - वस्त्र धोने, बाल कटवाने आदि के सम्बन्ध में विवेक
        - स्त्री के मासिक धर्म के दौरान रखा जाने योग्य विवेक
        - जैनियों में सामान्य रहन-सहन का विवेक
    - **उपसंहार** 595

❖ **सप्तम अध्याय की सन्दर्भ-सूची** 596

परिशिष्ट :

क. साधु–सन्तों एवं विद्वानों से चर्चा-वार्ताओं की सूची 597

- आचार्यों, विद्वानों आदि से विचार-विमर्श हेतु प्रश्नावली
- सितम्बर, 2008 में रामटेक चातुर्मास के अवसर पर 'प्रायश्चित्त' के सम्बन्ध में आचार्य श्री विद्यासागरजी के साथ वार्तालाप
- अगस्त, 2008 एवं नवम्बर, 2008 में दो दौर की चर्चा के द्वारा 'प्रायश्चित्त' के सम्बन्ध में विद्वान् श्री शैलेषजी के साथ सिद्धक्षेत्र सोनागिर में वार्तालाप
- ब्र. राकेशजी, सिद्धायतन, सागर के साथ हुई चर्चा के आधारभूत बिन्दु

- उक्त मनीषी आचार्यों, विद्वानों एवं अन्य मनीषियों के साथ हुई चर्चा के निष्कर्ष
- जैन, सुरेश जैन भिण्ड, नवम्बर, 2008 में आध्यात्मिक शिक्षण शिविर, सोनागिर के अवसर पर हुई चर्चा : जैन संस्कारों का प्रभाव

ख. पुस्तकालयों एवं मन्दिरों में ग्रन्थ–भण्डारों का अवलोकन 608

- सितम्बर, 2008 में जैन विश्वभारती, लाडनूं के पुस्तकालय में पुस्तकों का अवलोकन एवं दों ग्रन्थों को इश्यू कराया।
- अक्टूबर, 2008 में दीपावली के अवसर पर देवलाली में स्थानकवासी भवन में श्वेताम्बर ग्रन्थों का अवलोकन एवं उनकी फोटोप्रति प्राप्त की।
- नागपुर में अहिंसा भवन, इतवारी में ग्रन्थों का अवलोकन एवं तीन ग्रन्थों को इश्यू कराया।
- दिल्ली स्थित श्री कुन्दकुन्द भारती के समृद्ध पुस्तकालय का जनवरी, 2009 में अवलोकन।
- तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़ स्थित पुस्तकालय
- पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़ का निजी पुस्तकालय

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची 609

- क. **मूलग्रन्थ**
- ख. **आधुनिक समालोचनात्मक ग्रन्थ सूची**
- ग. **अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, पुस्तक एवं लेख**
- च. **पत्र-पत्रिकाएं**
- छ. **वेवसाइट एवं इन्टरनेट कनेक्शन की सूची**

''अतिचार एवं प्रायश्चित्त : स्वरूप एवं विश्लेषण – जैन संविधान के सन्दर्भ में''

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ के **'प्राकृत एवं संस्कृत विभाग'**
के अन्तर्गत **पी-एच. डी.** की उपाधि के लिए प्रस्तुत **शोध-प्रबन्ध** का

सार-संक्षेप

'जैन संविधान' प्रकृति-प्रदत्त रंग-बिरंगे पुष्पों के ऐसे सदाबहार उद्यान के समान है, जिसने अपनी वैचारिक सौरभ और माधुर्य से प्राणीमात्र के जीवन को आह्लादपूर्ण, ऊर्जावान् एवं सुसंस्कृत बनाए रखने के लिए बहुआयामी प्रयत्न किये हैं। जैन संविधान, आत्म-सौन्दर्य को समृद्ध करने, आत्मानुशासन और सन्तोष को विकसित करने की एक अनुपम कला है।

संविधान को 'संहिता' शब्द से भी अभिहित किया गया है। संहिता और संविधान को एक दूसरे का पर्यायवाची कहा जा सकता है। यही कारण है कि जैनधर्म में संहिता ग्रन्थों की रचना की गई है। संहिता, दो शब्दों से मिल कर बना है – सं और हिता। जो सं अर्थात् सम्यक् प्रकार से, समाजोपयोगी नियमों, व्यवस्थाओं आदि को अवधारण करके रखती है, उसको संहिता या संविधान कहते हैं। अथवा तथा जो जिन अर्थात् भगव. ान अरहन्तदेव से सम्बन्ध रखने वाली अरहन्तदेव के द्वारा कही हुई हो, उसे जिनसंहिता या जिनेन्द्र भगवान का संविधान कहते हैं। इसी कारण 'हित' शब्द के लोकप्रयुक्त अर्थ 'कल्याण' से भी इसे जोड़ कर अर्थ किया जाता है। वही पूजासार के पहले अधिकार में लिखा है –

संगतं हितमेतस्या, भव्यानामिति संहिता।
जिनसम्बन्धिनी सेयं, नाम्ना स्याज्जिनसंहिता।।

आज समाज ही क्या ? प्रत्येक व्यक्ति, परिवार, आदि सभी अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए स्वतन्त्र रह कर मनमानी करना चाहते हैं, उसका प्रतिफल समाज को भुगतना पड़ता है। हर परिवार में धर्म, जमीन-जायदाद, पारिवारिक रीति-नीति, शिक्षा, व्यापार को लेकर लड़ाई-झगड़े चलते रहते हैं, जिसके कारण व्यक्ति के मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं धार्मिक मूल्यों में कमी आ रही है।

संविधान का जन्म ही अपराधों की देन है अर्थात् आपराधिक प्रवृत्तियों को शमन करने के उद्देश्य से ही सांविधानिक प्रक्रिया का जन्म होता है। प्राणी, अभिप्राय की मलिनता, निहित स्वार्थ, इन्द्रियों की आसक्ति एवं प्रमाद के कारण जब न्यायोचित कार्य नहीं करता; तब उसे उचित मार्ग पर लाने के लिए किये गये प्रयत्न का नाम ही **कानून या संविधान** है, जिसे दण्ड-व्यवस्था भी कहा जा सकता है। गृहस्थ-जीवन में अपराध की सजा का विधान, प्राचीन काल में राजाओं के द्वारा होता था तथा वर्तमान में ग्राम-पंचायत या न्यायालय या अदालतों के द्वारा दिया जाता है।

जैन समाज में जो अपराध होते हैं, उनके शमन के लिए दण्ड-संहिता का वर्णन जिनागम में मिलता है, उसको प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। आज भौतिकता के युग में इन विषयों पर विशेष ध्यान नहीं दिया

जा रहा है। नैतिकता एवं सदाचार के लोप हो जाने के कारण समाज में अनाचारी प्रवृत्तियाँ पनप रही हैं, उसका कारण **जैन संविधान की अनभिज्ञता** है।

'जिन' अर्थात् पंचेन्द्रिय एवं मन पर तथा संसार के कारणभूत राग-द्वेष-मोह पर विजय प्राप्त करने वाला। 'जैन' शब्द 'जिन' से निष्पन्न है। जो इन्द्रियों को जीते और जिन का अनुयायी हो, उसे **जैन** कहते हैं लेकिन आज जैनी, अपने धर्म के संविधान को भूलते जा रहे हैं, इसलिए उसका उद्घाटन करने की आवश्यकता प्रतीत हो रही है।

इस शोधकार्य के माध्यम से यह प्रयास किया जाएगा कि जैन समाज की उन्नति मात्र समाज की उन्नति ही नहीं, वरन् देश एवं राष्ट्र की उन्नति की नींव है। गांधीजी ने जैनधर्म के एक अहिंसा के सिद्धान्त को अपनाया, जिससे देश आजाद हो गया, इसी प्रकार वर्तमान में राष्ट्रीय स्तर पर भ्रष्टाचार के घिनौने दौर में श्री अन्ना हजारे ने भी अहिंसा के मार्ग चल कर, सरकार को 'जन लोकपाल बिल' को संसद में प्रस्तुत करने के लिए मजबूर कर दिया तो क्या हमारा कर्तव्य नहीं बनता कि हम जैनी लोग जैनधर्म के उन महा सिद्धान्तों की ताकत को पहचान कर, उनका प्रत्येक व्यक्ति, घर, कुटुम्ब, देश एवं विदेशों में भी प्रचारित करें।

मनुष्य, एक सामाजिक प्राणी है, उसकी उन्नति का कारण समाज की कानून-व्यवस्था बनती है क्योंकि जिस समाज का कानून जितना सशक्त होगा, उस समाज का व्यक्ति उतना ही अनुशासित होगा और अनुशासित जीवन – व्यक्ति, परिवार, समाज, देश और राष्ट्र की उन्नति में कारण होगा।

'जैन संविधान' या 'जैन कानून' या 'जैन लॉ' – इस विषय पर चर्चा करने के पूर्व वर्तमान में प्रचलित भारतीय संविधान पर दृष्टिपात करना अनुचित नहीं होगा।

''प्रत्येक स्वतन्त्र देश का एक संविधान होता है। यह देश का सर्वोच्च कानून और देश के लोगों की अभिलाषा का प्रतीक होता है। भारत में कानून के विकास का इतिहास देखने पर ज्ञात होता है कि भारतीय कानून का निर्माण अचानक एक दिन में ही नहीं हुआ, बल्कि यह एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है, जिसका मूल भारत के ब्रिटिश शासन में अन्तर्निहित है।

इस शोधकार्य में जैनों के आगम-ग्रन्थों में वर्णित व्रती गृहस्थ श्रावकों एवं गृहविरत मुनियों के आचरण से सम्बन्धित नियमों व उपनियमों को **'जैन संविधान'** के नाम से उल्लिखित किया गया है। प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन ने अहिंसा एवं पर्यावरण संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षय-स्रोत, नामक अपनी कृति में पृष्ठ 32–33 पर जैनधर्म की लौकिक एवं पारलौकिक आचरण सम्बन्धी नियमावली को संविधान नाम से अभिहित किया है।

इस शोध-प्रबन्ध को सात अध्यायों में विभाजित किया गया है –

1. प्रथम अध्याय : **'जैन संविधान : स्वरूप एवं आवश्यकता'** – इसमें सर्व प्रथम **जैन संविधान की आवश्यकता** पर प्रकाश डाला गया है। इसके अन्तर्गत भारतीय संविधान के निर्माण के समय सं. विधान निर्माताओं के निवेदन के बाद भी जैन समाज के द्वारा जो शास्त्रों को नहीं देने की नीति अपनाई गई, उसकी आलोचना की गई है। उस समय जैन समाज के प्रतिनिधि विद्वान् श्रीमान बैरिस्टर चम्पतरायजी ने जिनागम में वर्णित श्रावकाचारों एवं अनेक संहिता शास्त्रों के माध्यम से **जैन संविधान** अर्थात् **जैन कानून या जैन लॉ** के नाम से जो दस्तावेज सौंपा था, उसकी विस्तृत चर्चा की गई है। इसके अन्तर्गत विधवा, पति की सम्पत्ति की अधिकारी, महिलाओं को पैतृक सम्पत्ति का अधिकार, दत्तक पुत्र, सम्पत्ति का बँटवारा, वारिस, असहाय, नाबालिग, विधवा की सुरक्षा, रीति-रिवाज, विवाह, वर-वधु के लक्षण, सगाई, गोत्र आदि सम्बन्धी नियमों का विस्तृत तरीके से उल्लेख किया गया है।

इसके बाद एक प्रकरण **अन्तर्राष्ट्रीय धर्मों में जैनधर्म का स्थान** लिया गया है। जिसमें जैनधर्म की ऐतिहासिक विरासत को ध्यान में रखते हुए विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय धर्मों के संगठन (IRO) ने दिनांक 5 मार्च 2006 के दिन जैनधर्म को विश्व के दसवें धर्म के रूप में मान्यता प्रदान की है। इतना ही नहीं, एक

अन्तर्राष्ट्रीय सर्वे के अनुसार पिछले 10,000 वर्षों के इतिहास में जो महापुरुष हुए हैं, उनमें भगवान महावीर का स्थान दूसरे क्रमांक पर है। इसी प्रकार अनेक ऐतिहासिक जानकारियाँ इस प्रकरण में दी गई हैं।

जैनों की इस पृथक् विचारधारा को दृष्टिगत रखते हुए उसे **धार्मिक आधार पर राष्ट्रीय स्तर पर अल्पसंख्यक का दर्जा** प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जबकि भारत की विभिन्न प्रदेशों की सरकारों द्वारा उसे अल्पसंख्यक का दर्जा दिया जा चुका है। भारत के राजनैतिक, प्रशासनिक, आर्थिक एवं चारित्रिक विकास में जैन समाज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। भारतीय संविधान के विभिन्न पहलुओं पर जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रभाव रहा है। राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय चिह्न, राष्ट्रीय गान और राष्ट्रीय संविधान में जैनतत्त्व विद्यमान हैं। स्वतन्त्र जैन संविधान की आवश्यकता एवं उसका राष्ट्रिय-अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है, इसका प्र. तिपादन इसी शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। भारतीय समाज और जैन संस्कृति का परस्पर बहुत गहन सम्बन्ध रहा है। वे एक-दूसरे का विकास एवं संरक्षण भी करते हैं। जैनधर्म, किसी जाति, वर्ग अथवा वर्ण-विशेष का नहीं, बल्कि सभी प्रकार की संकीर्णताओं से ऊपर उठ कर, राष्ट्र के विकास में उसका अथक् एवं अकथ योगदान रहा है। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में भी जैनों का योगदान रहा है। इतना ही नहीं, इतिहासकारों के हिसाब से प्राचीन काल में जैनधर्म का वैश्विक स्तर पर भी प्रभाव था।

यदि हम जैन संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करें तो जैनधर्म की प्राचीनता के अनेक प्रमाण मिलते हैं। इस सम्बन्ध में सुविख्यात इतिहासज्ञ एवं प्रतिनिधि विद्वानों के विचार उपलब्ध होते हैं। जैनधर्म की प्रारम्भ से ही ऐसी महिमा रही है कि उसने अपने सर्वोदयी एवं समन्वयी सिद्धान्तों से सभी को आकर्षित किया है। महात्मा गांधी के जीवन पर भी जैनधर्म का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नहीं, महात्मा गांधी की माताजी स्वयं जन्मजात जैन थीं। महात्मा गांधी, जैनधर्म के अहिंसा, सत्य और संयम के प्रबल पुजारी थे। यदि हम इस जैन संविधान का दैनिक जीवन में प्रयोग करें तो सम्भव है कि सम्पूर्ण विश्व का शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक स्वास्थ्य भी उन्नत एवं श्रेष्ठ होगा। जैनधर्म के श्रावकाचार संविधान के अन्तर्गत प्रत्येक जैन श्रावक की अपनी दैनिक दिनचर्या निश्चित है। जैनधर्म एक सर्वोदयवादी धर्म है। सामान्यतया जैनधर्म को वैदिकधर्म या हिन्दूधर्म की एक शाखा के रूप में जाना जाता है, लेकिन यहाँ उसे यह सिद्ध किया गया है कि जैनधर्म की मौलिकता वैदिक धर्म से भिन्न है। यद्यपि सभी धर्मावलम्बी हिन्दु कहे जा सकते हैं क्योंकि सभी हिन्दुस्थान में रहते हैं, तथापि धर्म, विचारधारा एवं सिद्धान्तों की दृष्टि से सभी धर्म भिन्न-भिन्न ही हैं।

अपराधी को उसके अपराध के अनुकूल दण्ड देना, यह जैनधर्म की दण्डनीति है। दण्ड अर्थात् पाप, अपराध या दोष। जैन आगम में सात प्रकार की दण्ड-नीति बताई गई है। जैन समाज की वर्ण-व्यवस्था साधारणतः आजीविका पर आधारित है। वेद या स्मृति साहित्य में वर्णित आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत चार प्रकार के आश्रम बतलाये हैं – 1. ब्रह्मचारी 2. गृहस्थ 3. वानप्रस्थ 4. भिक्षुक। व्यवहारिकरूप से इन्हीं को जैनाचार्यों एवं विद्वानों ने लौकिक जैन संहिता में समाहित किया है। जबकि प्रवचनसार के मंगलाचरण में आध्याात्मिक आश्रमों की प्रधानता स्वीकार करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द एवं टीकाकारों ने पंच परमेष्ठियों के विशुद्ध ज्ञान–दर्शनप्रधान आश्रम को स्वीकार किया है क्योंकि वही आत्मा के परम कल्याण का कारक है। जैन संविधान के अनुसार सृष्टि का कभी प्रारम्भ नहीं हुआ है। वह तो अनादिनिधन है, मात्र युग परिवर्तन की विचारधारा जैनधर्म ने स्वीकार की है।

विवाह-सम्बन्धी जैन समाज का स्वतन्त्र संविधान है। जैनधर्मानुसार विवाह केवल शारीरिक सुख या दैहिक रति के लिए नहीं किया जाता, बल्कि उसके माध्यम से चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रत का परिपालन किया जाता है। इस शीर्षक के अन्तर्गत विवाह का उद्देश्य, विवाह का प्रयोजन, विवाह से तात्पर्य, विवाह-सम्बन्धी सावधानियाँ : विवाह के पहले और विवाह के बाद, पति-पत्नी के परस्पर-व्यवहार, विवाह की विधि, वाग्दान, सगाई या टीका, वरण-विधि, प्रदान-विधि या कन्यादान-विधि, पाणि-पीडन, पाणि-ग्रहण या हथलेवा, ग्रन्थि-

बन्धन-विधि (गठजोड़ा), सात फेरों का उद्देश्य, सप्तपदी, सप्त वचन या सप्त फेरे, वर के सप्त वचन, वधू के सप्त वचन, वरमाला, इत्यादि अनेक विषयों पर विचार किया गया है।

पूजन-पाठ-सम्बन्धी जैन समाज का अपना संविधान है। इसके अन्तर्गत पूजन के पाँच अंग माने हैं – 1. आह्वानन 2. स्थापन 3. सन्निधिकरण 4. पूजन 5. विसर्जन। हम यह कह सकते हैं कि मूर्तिपूजन-विधान का आद्य जनक जैनधर्म ही है।

2. द्वितीय अध्याय : **श्रावकाचार : जैन संविधान के परिप्रेक्ष्य में –** इसमें सर्व प्रथम **श्रावकाचार का स्वरूप** व्याख्यायित किया गया है। जो स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि परिग्रह सहित घर में निवास करते हैं, जिन-वचनों के श्रद्धानी हैं, न्यायमार्ग का उल्लंघन नहीं करते हैं, पापों से भयभीत हैं; वे गृहस्थ **श्रावक** हैं। तत्पश्चात् **श्रावक के तीन भेदों –** पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक को अनेक प्रकार से समझाया गया है।

जो सम्यग्दृष्टि होता हुआ सर्व प्रथम मद्य, माँस, मधु और पंच उदुम्बर फलों का त्याग करता है तथा अपनी शक्ति और सामर्थ्य को नहीं छिपाते हुए पाँच पाप का स्थूल त्याग करने का अभ्यास करता है, वह **पाक्षिक श्रावक** है। इसके अन्तर्गत अष्ट मूलगुणों के सम्बन्ध में प्राप्त आगम-सम्मत विभिन्न मत की समीक्षा की गई है। व्यसन-त्याग के अन्तर्गत सप्त व्यसनों की विस्तृत आगमिक एवं आध्यात्मिक मीमांसा अनेक श्रावकाचारों, भूधर शतक, नाटक समयसार आदि के आधार पर की गई है। विशेषरूप से माँसादि-भक्षण के सम्बन्ध में अन्यमत मीमांसा की गई है, जिसमें चर्चासागर के आधार पर मुस्लिम, हिन्दू, आदि धर्मों एवं वेद, पुराण, मनुस्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थों के आधार पर माँस-भक्षण का निषेध किया गया है। इसी प्रकार पाक्षिक श्रावक के श्रावकाचार के अन्तर्गत देवदर्शन के बिना भोजनादि करने वालों की निन्दा की गई है। साथ ही वर्तमान में जैन श्रावकाचार के पालन में ध्यान रखने योग्य बिन्दुओं की ओर भी ध्यान आकर्षित कराया गया है। पाक्षिक श्रावक की क्रियाओं को बताते हुए उनके न्यायपूर्वक धनोपार्जन, गुणपूजा, प्रशस्त वचन, उचित लज्जा, विवेक, कृतज्ञता, जितेन्द्रियता, दयालुता, पापभीति आदि चौदह नैतिक गुणों को सागार धर्मामृत आदि के आधार पर बताया गया है। साथ ही पाक्षिक श्रावक की दिनचर्या बताई है।

नैष्ठिक श्रावक के स्वरूप में श्रावक के द्वादश व्रतों और एकादश प्रतिमाओं का निरतिचार पालन करने को चर्या अथवा निष्ठा कहा है तथा इस चर्या का निष्ठापूर्वक आचरण करने वाला गृहस्थ, नैष्ठिक श्रावक कहलाता है। इसके अन्तर्गत श्रावक के पाँच अणुव्रतों, पाँच व्रतों की पाँच पाँच भावनाएँ और नैष्ठिक श्रावक का आचरण, पंच परमेष्ठी भगवन्तों की त्रिकाल पूजा का विधान, पाँच पापों का सामान्य स्वरूप तथा परिग्रह पाप के अन्तर्गत आत्मा के ज्ञानादिक ही उसके वास्तविक परिग्रह हैं – ऐसा बताया है।

इसके बाद पाँच व्रतों का सामान्य स्वरूप, व्रतियों का सामान्य स्वरूप, व्रतियों के भेद, पाँच अणुव्रतों का स्वरूप, वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अचौर्यव्रत का विशेष महत्त्व, ब्रह्मचर्य व्रत की नौ बाड़, ब्रह्मचर्य व्रत सम्बन्धी अठारह हजार शील के भेद, छठे अणुव्रत के रूप में रात्रिभोजनत्यागव्रत आदि का निर्देश किया है।

तत्पश्चात् तीन गुणव्रतों के स्वरूप के अन्तर्गत परिग्रहपरिमाणव्रत और दिग्व्रत में अन्तर , दिग्व्रत और देशव्रत के अलग अलग प्रयोजन तथा चार शिक्षाव्रतों के स्वरूप के अन्तर्गत यम और नियम में अन्तर, प्रतिदिन ग्रहण करने योग्य 17 नियम, सम्पूर्ण जीवन भर के लिए त्याज्य अभक्ष्य पदार्थ, पाँच प्रकार के अभक्ष्य, भांग खाने के दोष, अतिथिसंविभागव्रत में दान के योग्य प्रवृत्तियाँ, वस्तुएँ एवं उनकी क्रियाओं के सात प्रकार – 1. जिन-पूजा, 2. प्रतिष्ठा, 3. तीर्थयात्रा, 4. पात्रदत्ति, 5. समदत्ति, 6. दयादत्ति, 7. सर्वदत्ति बताये हैं। वहीं दान देने का अधिकारी कौन?, दातार के पाँच भूषण, दातार के सात गुण, दान का फल, इत्यादि का वर्णन किया है।

श्रावक, अपने आचार के विकास हेतु मूलभूत व्रतों का पालन करता हुआ सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के साथ चारित्र में प्रवृत्त होता है। उसके इस चारित्रिक विकास या आध्यात्मिक उन्नति के कुछ सोपान हैं, जो

शास्त्रीय भाषा में प्रतिमा या अभिग्रह-विशेष कहे जाते हैं। वस्तुतः ये प्रतिमाएँ श्रमण-जीवन की उपलब्धि के द्वार हैं। अतः इस अध्याय में **नैष्ठिक श्रावक के आध्यात्मिक विकास की सीढ़ियों के रूप में ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन,** नाटक समयसार, द्वादशानुप्रेक्षा (बारसाणुवेक्खा), श्रावकधर्मसंग्रह, श्रावक-धर्म-संहिता, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, तत्त्वज्ञान पाठमाला, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि ग्रन्थों के आधार पर किया गया है।

साथ ही प्रत्येक प्रतिमाधारी नैष्ठिक श्रावक की सामान्य विशेषताएँ, अविरत सम्यक्त्व और दर्शनप्रतिमा में अन्तर, दर्शनप्रतिमा और व्रतप्रतिमा में अन्तर, सामायिकव्रत और सामायिकप्रतिमा में अन्तर, उत्तम-मध्यम-जघन्य प्रोषधोपवास की विशेषताएँ, प्रोषधोपवासव्रत और प्रोषधोपवासप्रतिमा में अन्तर, उपवास और अनशन में अन्तर, सामायिक और प्रोषधोपवास में परस्पर सम्बन्ध, रात्रिभोजनत्याग को तीन स्तर, ब्रह्मचर्य को वृद्धिंगत करने वाली क्रियाएँ, ब्रह्मचारियों के भेद, आरम्भ शब्द का तात्पर्य, आरम्भत्यागप्रतिमा में आरम्भत्याग का स्तर, परिग्रहत्याग की आवश्यकता एवं प्रेरणा, परिग्रहत्याग में अन्तरंग परिग्रह के त्याग की मुख्यता, अनुमति शब्द का तात्पर्य, मूलाचार के अनुसार अनुमति-दोष के तीन भेद, उद्दिष्ट शब्द से तात्पर्य, उद्दिष्टत्यागप्रतिमाधारी श्रावक के भेद, क्षुल्लक-ऐलक शब्दों के प्रयोग एवं क्षुल्लकों के दो भेदों सम्बन्धी इतिहास, क्षुल्लक के आहार सम्बन्धी विचारणा, ग्यारह प्रतिमाओं में स्त्रियों का स्थान, आर्यिका की विशेषताएँ, आर्यिकाओं के साथ आचार्य एवं संघस्थ अन्य मुनियों का परस्पर व्यवहार, आर्यिकाओं के सम्बन्ध में विशेष कथन, क्षुल्लिका की विशेषताएँ, इत्यादि विषयों का विस्तृत विवेचन इस अध्याय में किया गया है।

साधक श्रावक के वर्णन मे कहा है कि जीवन के अन्त में आहारादि का सर्वथा त्याग कर सल्लेखना द्वारा आत्मसाधना करना, साधन है। इस प्रकार के साधन को अपनाते हुए ध्यानशुद्धिपूर्वक आत्मशोधन करने वाला साधक श्रावक कहलाता हैं। साधक श्रावक का स्वरूप बताने के उपरान्त यहाँ समाधिमरण की विधियाँ, श्रावकों की मुख्यता से समाधिमरण विधि, समर्थ श्रावकों की समाधिमरण विधि, असमर्थ श्रावकों की समाधिमरण विधि, आदि का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

3. तीसरा अधिकार : **श्रमणाचार का जैन संवैधानिक आधार –** इसमें **श्रमणों का स्वरूप** बताते हुए कहा है कि जो समस्त आरम्भादि बाह्य व्यापार से विमुक्त, चतुर्विध आराधना में सदा अनुरक्त, निग्र. ंन्थ और निर्मोह होते हैं, वे साधु होते हैं। जिस जिन-मुद्रा में रात-दिन पठन-पाठन आदि के द्वारा ज्ञान का प्रचार-प्रसार होता है, वह मुनि-मुद्रा है परन्तु जो मुनि, तत्त्वज्ञान से रहित हैं, उनका निर्ग्रन्थ मुनि बनना भी निष्फल है। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने लिखा है कि पहले तत्त्वज्ञान होता है, पश्चात् उदासीन परिणाम होते हैं, परीषहादिक सहने की शक्ति होती है, तब वह स्वयमेव मुनि होना चाहता है और तब श्रीगुरु मुनिधर्म अंगीकार कराते हैं।

इस शोध प्रबन्ध में मुनिराजों के विवेचन में दिगम्बर परम्परा के साधुओं की आचार-संहिता को मुख्यरूप से आधार बनाया गया है। साथ ही यथासम्भव श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य परम्परा के सन्दर्भों को आधार बना कर उनकी भी चर्चा की गई है।

मुनिदशा लेने के क्रम में पहले ब्रह्मचारी होना, क्षुल्लक होना आदि का वर्णन करने के पश्चात् श्रमण दीक्षा देने वाले आचार्य की पात्रता, श्रमण-दीक्षा के योग्य पात्र का वर्णन, साधु-दीक्षा की विधि, साधुचर्या का स्वरूप, मुनिराज को छठवें गुणस्थान में प्रमाद के साथ सकलचारित्रपना कैसे ? मुनि, जिन मूलगुणों को धारण कर श्रमण धर्म में दीक्षित होता है, उनकी संख्या दिगम्बर मान्यतानुसार मूलाचार आदि ग्रन्थों में 28 और श्वेत. ाम्बर मान्यतानुसार समवायांग आदि में 27 मानी गई है। **मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण** – पंच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय-निरोध, षट् आवश्यक एवं शेष सात मूलगुणों में केशलोंच, नग्नत्व (अचेलकपना), अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, स्थिति-भोजन, एकभक्त, इनका विस्तृत वर्णन, जैसे, नग्नत्व मूलगुण के अनेक लाभ, नग्न के दश प्रकार, आदि, साधु का युक्ताहारविहारी जीवन, ज्ञानपीठ पूजांजली की प्रस्तावना के आधार पर

साधुचर्या के विशेष नियम, इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा के 27 मुलगुणों में किसी एक मूलगुण को छोड़ कर चर्चा नहीं की गई है, बल्कि उसकी प्ररूपणा ही अलग प्रकार से की गई है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा मूल अन्तर आचेलक्य और स्थितिभोजन को लेकर है।

जिस प्रकार मुनिराजों के मूलगुण बताये गये, उसी प्रकार **मुनिराज के उत्तरगुण, मूलगुण और उत्तरगुण में सम्बन्ध** इत्यादि विषयों की संक्षिप्त चर्चा यहाँ की गई है। मुनिराज के मूलगुणों के अतिरिक्त पालन करने के योग्य नियम-उपनियम तथा बारह तप, बारह अनुप्रेक्षा, दशलक्षण धर्म, बाईस परीषहजय, शील आदि अनेक गुणों को उत्तरगुण कहते हैं। इन सबका यत्किंचित् विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। बारह तपों के अन्तर्गत स्वाध्याय तप में अनुप्रेक्षा स्वाध्याय में बारह अनुप्रेक्षाओं का समावेश किया जा सकता है और बारह अनुप्रेक्षाओं में धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा के अन्तर्गत दश धर्मों का समावेश किया जा सकता है; अतः मूलतः उत्तरगुणों में बारह तप और बाईस परीषहजय, इन चौंतीस भेदों की संख्या अपने आप में पर्याप्त है।

बाईस परीषहों के व्याख्यान के उपरान्त परीषह और कायक्लेश में अन्तर, परीषहों के कारणभूत कर्म, एक जीव में एक साथ कितने परीषह, गुणस्थान आरोहण के क्रम में कौन-कौनसे परीषह सम्भव हैं, इन सबका वर्णन किया है। कहीं कहीं पर उत्तर गुणों के साथ पंचाचारों का भी वर्णन किया गया है; उनमें दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का निश्चय-व्यवहार नयाश्रित विश्लेषण किया है। मुनिराज के शीलगुणों के अन्तर्गत शील के अठारह हजार एवं चौरासी लाख भेदों का भी विवरण वर्णित है।

मुनियों के आचरण सम्बन्धी दो मार्गों का वर्णन आगम में वर्णित हैं – उत्सर्ग और अपवाद; अतः उससे सम्बन्धित **उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री से आचरण की सुस्थिति** के रूप में उत्सर्ग आचरण, अपवाद आचरण, अपवादसापेक्ष उत्सर्ग आचरण और उत्सर्गसापेक्ष अपवाद आचरण बताया गया है। इसी प्रकार उत्सर्ग और अपवाद की अमैत्री से आचरण की दुर्दशा के अन्तर्गत उत्सर्ग आचरण का एकान्त, अपवाद आचरण का एकान्त का वर्णन प्रवचनसार के आधार पर किया है।

श्रामण्य अर्थात् मोक्षमार्ग की एकाग्रता को ही जानना चाहिए और वह पदार्थों का निश्चय करने से होती है तथा पदार्थों का निश्चय, आगम का अध्ययन करने से होता है। मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के साथ मुनिराजों के तेरह प्रकार का चारित्र होता है, तथा अहिंसा महाव्रत के अन्तर्गत विशेषतः प्राणी संयम के सत्रह भेदों एवं इन्द्रिय संयम के अट्ठाईस भेदों का कथन यहाँ किया है। अन्य प्रकार से मुनिराजों का सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात – पाँच प्रकार का चारित्र कहा है। साथ ही अजीवकाय संयम, प्रतिलेख संयम, दुःप्रतिलेख संयम, उपेक्षा संयम, अपहरण संयम – इन पाँच प्रकार के विशेष संयमों की व्याख्या भी यहाँ की गई है।

मुनिराजों के युक्ताहारविहारी जीवन को जिनवाणी में मुनिराजों की आहार-विहार-चर्या के अन्तर्गत भिक्षाचरण, दिन में आहार, रसरहित आहार, मद्यमांसमधुरहित आहार को स्थापित किया गया है। मुनिराज की भिक्षावृत्ति के पाँच प्रयोजन माने गये हैं। मुनिराजों की आहारचर्या में नवधाभक्ति को विशेष स्थान दिया गया है, इनसे श्रावक की मुनिराज के प्रति समर्पित भावनाओं का मूल्यांकन होता है। साथ ही जिनागम में उनके आहार की दश प्रकार की विशेषताओं का भी उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार साधुओं की अनियत विहार-चर्या में जल में विहार करने सम्बन्धी नियम, विहार के भेद, एकल विहार करने का अधिकारी कौन ?, संघस्थ साधु होने का महत्त्व, विहार योग्य प्रासुक क्षेत्र तथा मार्ग इत्यादि बिन्दुओं से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

मुनिराज की व्यवहारचर्या अथवा समाचारी के अन्तर्गत समाचार के भेद तथा मुनिराज के समस्त दश प्रकार के व्यवहार का निरूपण – 1. मुनि अवस्था में पारस्परिक व्यवहार, 2. मुनिराजों का वैयावृत्य सम्बन्धी व्यवहार, 3. मुनिराज का वन्दना व्यवहार, 4. मुनिराज का आचार्य के प्रति पारस्परिक व्यवहार, 5. मुनिराज एवं गृहस्थों का पारस्परिक व्यवहार, 6. आचार्य के पास मुनि कैसे बैठें ? 7. आर्यिकाओं के साथ आचार्य एवं संघस्थ

अन्य मुनियों का परस्पर आगमसम्मत व्यवहार, 8. मुनिराज का वचन व्यवहार, 9. मुनिराज का प्रायश्चित्त-व्यवहार, 10. मुनिराज की भूमिका में निषिद्ध व्यवहार, के माध्यम से किया गया है।

जो मुनि होकर भी यथार्थ मुनिधर्म की साधना नहीं कर पा रहे हैं, – ऐसे अज्ञानी मुनियों के परीषहजय, मुनियों की पहचान करने के लिए मुनियों के लिंग अर्थात् चिह्न, द्रव्यलिंग के निषेध का कारण, मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि, सम्यग्दृष्टि गृहस्थ से भी हीन इत्यादि बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि भावलिंगी मुनियों के जीवन में भी कदाचित् अतिचार आदि लग जाते हैं, उस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए मु. नियों के पाँच भेद – पुलाक मुनि, बकुश मुनि, कुशील मुनि, निर्ग्रन्थ मुनि, स्नातक मुनि एवं उनके गुण-दोषों पर विचार, अढ़ाई द्वीप में मुनियों की संख्या, इत्यादि वर्णन किया है।

इसके बाद **मुनिराजों के भेद-प्रभेद का निरूपण** अनेक प्रकार से किया गया है। आचार्य-उपाध्याय-साधु; प्रवर्तक-स्थविर-गणधर; ऋषि-मुनि-यति-अनगार; आदि अनेक प्रकार के भेदों के साथ नवनियुक्त आचार्य का पदारोहण, नव-नियुक्त आचार्य को शिक्षा, एलाचार्य, निर्यापकाचार्य, आदि की चर्चा करने के साथ वैयावृत्य पर आधारित मुनिराजों के भेद – आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ; निक्षेपों की अपेक्षा श्रमण के चार भेद – नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव; श्रमणों के कल्प की अपेक्षा दो भेद – जिनकल्प और स्थविरकल्प; स्थितिकल्प की अपेक्षा श्रमणों के दश भेद – आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यागृहपिण्डत्याग, राजपिण्डत्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास, एवं पर्युषणा; श्रेणी की अपेक्षा साधुओं के दो भेद – उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी; ज्ञान की अपेक्षा साधुओं के भेद – मति-श्रुतज्ञान के धारक, मति-श्रुत-अवधिज्ञान के धारक, मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्ययज्ञान के धारक; उपयोग की अपेक्षा साधुओं के दो भेद – शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी; शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी श्रमण में अन्तर; निश्चय-व्यवहार की अपेक्षा साधु के भेद – निश्चयसाधु और व्यवहारसाधु; तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित मुनियों के पाँच भेद एवं उनके गुण-दोष – पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक; कुशील मुनि के दो भेद – प्रतिसेवना-कुशगील और कषाय-कुशील, लिंग की अपेक्षा मुनियों के भेद – भावलिंग और द्रव्यलिंग, भावलिंगी साधु की पहचान, द्रव्यलिंगी की पहचान; शिथिलाचारी श्रमण के पाँच भेद – पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द, कुशील, अवसन्न, संसक्त; द्रव्यलिंगी मुनि की पाँच भावनाएँ – कन्दर्प, किल्विषिक, आभियोग्य, आसुरी सम्मोह; दोषी संयमियों के अन्य भेद – काथिक श्रमण, प्राश्निक श्रमण, मामक श्रमण, सम्प्रसारक श्रमण, नित्यक श्रमण, श्रेणिबाह्य लिंगधारक, नट श्रमण, पाप श्रमण; इत्यादि को विस्तार से समझाया गया है।

इसके बाद पापश्रमणों की आगमोक्त संज्ञाओं का सूचक चार्ट प्रदर्शित किया गया है। साथ ही श्रमणाभासों की वन्दना, संगति आदि करने का निषेध, अज्ञानी द्रव्यलिंगी का परीषहजय, द्रव्यलिंगी के निषेध का कारण, मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि, सम्यग्दृष्टि गृहस्थ से भी हीन, भावलिंग की प्रधानता दर्शाने वाले आगम-उद्धरण, द्रव्यलिंग की गौणता दर्शाने वाले आगम-उद्धरण, द्रव्यलिंग और भावलिंग का पारस्परिक सम्बन्ध, अढ़ाई द्वीप में छठे गुणस्थान के ऊपर भावलिंगी मुनियों की संख्या एवं उनके गुणस्थान इत्यादि विषयों का समावेश किया गया है। अन्त में मुनिराजों की सल्लेखना-विधि के अन्तर्गत परमात्माराधक साधुओं के छह काल – दीक्षा, शिक्षा, गणपोषक, आत्म-संस्कार, सल्लेखना, उत्तमार्थ काल तथा सल्लेखना की महिमा को बताया गया है।

4. चतुर्थ अध्याय : **अतिचार : स्वरूप एवं विश्लेषण –** इस अध्याय में **जैन आगमिक परम्परा में अतिचार निरूपण** के माध्यम से अतिचार की अनेक प्रकार से व्याख्या करते हुए बताया है कि व्रत धारण करने के पश्चात् उसमें दृढ़ता की कमी से परिस्थितिवश दूषण लगने या उसे अंशरूप में भंग करने को अतिचार कहते हैं। अतिचारों की मन्दता-तीव्रता के आधार पर ही उन्हें अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोग की श्रेणियों में विभाजित किया गया है। कुछ अतिचारों को अनाचारसम अतिचार की श्रेणी में भी रखा गया है। भारतीय दण्ड संहिता की धारा 109 का उल्लेख करते हुए यह भी बताया गया है कि यदि कोई

व्यक्ति, किसी अन्य व्यक्ति को अपराध के लिए दुष्प्रेरित करता है तो उसे भी वही दण्ड मिलता है, जो उसे अपराध करने पर मिलता है। अतिचार के लिए पाप, अस्थिरता, क्षति, दुबर्लता, भंग, मलिनता, दोष, ह्रास, अनि. र्मलता, कलंक, बट्टा, भूल, अपराध, आलस, असावधानी, अशुद्धता आदि अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग होता है।

मुनिराजों की भूमिका में भी अतिचार सम्भावित हैं। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में अतिचारों की विवेचना में केवल श्रावक को आधार बनाया गया है; इस कारण अनेक विद्वानों का ऐसा मत बन गया कि साधु के मह. ाव्रतों में अतिचार नहीं लगते, केवल श्रावक के अणुव्रतादि में ही अतिचार लगते हैं; परन्तु यह धारणा उचित प्रतीत नहीं होती क्योंकि मुनियों के आचार के निरूपक शास्त्रों में साधुओं के अतिचारों एवं दोषों की विवेचना अत्यन्त सुस्पष्टरूप से की गई है। मुनिराजों को भी अतिचार इसलिए लगते हैं क्योंकि उनके भी अभी छठवें-सातवें गुणस्थान में क्षयोपशम चारित्र की अवस्था में मात्र तीन कषाय-चौकडी का ही अभाव हुआ है, संज्वलन कषाय के सद्भाव में उनकी भूमिका के योग्य दोष भी उनको लग सकते हैं। हाँ, मुनिराजों में उनसे निचली भूमिका के योग्य दोष नहीं लगते।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि मुनिराजों के अतिचार एवं प्रायश्चित्त का वर्णन करने में आचार्यों को संकोच रहा है क्योंकि अनिष्णात देशव्रती श्रावकों को आगम में अनेक स्थानों पर प्रायश्चित्त शास्त्रों को पढ़ने का निषेध किया है।

इसी प्रकार अतिचारों का वर्णन करने का प्रयोजन, अतिचार के हेतु, अतिचार सामान्य के भेद, अतिचार के चौबीस भेद, इत्यादि शीर्षकों के माध्यम से अतिचार की सामान्य चर्चा की गई है। तत्पश्चात् **सम्यग्दर्शन के अतिचार** के अन्तर्गत सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार, सम्यक्त्व-नाश के पाँच कारण, सम्यग्दर्शन के आठ अतिचार क्यों नहीं ?, अन्यदृष्टि-प्रशंसा और अन्यदृष्टि-संस्तव में अन्तर, अन्यदृष्टि-प्रशंसा-संस्तव के अन्तर्गत पाँच दोषों का अन्तर्भाव, सम्यक्त्व के अतिचार किनको ? – मात्र श्रावकों को या महाव्रती मुनिराजों को भी ?, क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व में देशघाति सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय से ही अतिचार के अन्तर्गत चल-मल-अगाढ़ दोष का वर्णन किया गया है। ध्यान रहे कि चौथे-पाँचवें गुणस्थान से लेकर छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती तक नग्न दिगम्बर भावलिंगी सन्तों को भी तत्सम्बन्धी अतिचार लग सकते हैं।

पुनः सम्यग्दर्शन के चल-मल-अगाढ़ दोषों में मलदोष के पच्चीस भेदों का वर्णन किया गया है, जिसमें विस्तार से **1. शंका दोष** के अन्तर्गत श्वेताम्बर ग्रन्थ दशवैकालिक सूत्र की प्रथम चूलिका 'रतिवाक्या' के अनुसार शंका दोष का विवरण, शंका दोष के भेद – अज्ञानमूलक और दौर्बल्यमूलक, अज्ञानमूलक शंका दोष के निराकरण की प्रेरणा, अज्ञानमूलक शंका दोष से होने वाले दुष्परिणाम, जिसको शंका होती है, उसको सात भय भी होते हैं, अतः सात भयों का स्वरूप, सात भयों का आध्यात्मिक दृष्टि से निराकरण, शंका दोष को दूर करने का उपदेश बताया गया है। इसी प्रकार **2. कांक्षा दोष** के अन्तर्गत सांसारिक सुख का स्वरूप, कांक्षा दोष को दूर करने का उपदेश, कैसा है इन्द्रियजनित सुख ?, सम्यग्दृष्टि अव्रती गृहस्थ को भी निःकांक्षित सम्यक्त्व होना सम्भव, **3. विचिकित्सा दोष** के अन्तर्गत देह-सम्बन्धी वासना से अतीत मुनिराज, महापुरुषों को मुनिराज की बाह्य मलिनता देख कर भी ग्लानि नहीं, अपने शरीर के प्रति विचिकित्साभाव रखने से लाभ, विचिकित्सा दोष को दूर करने का उपदेश, **4. मूढ़दृष्टि दोष** के अन्तर्गत अन्यदृष्टि-प्रशंसा, अन्यदृष्टि-संस्तव, मूढदृष्टि दोष को दूर करने का उपदेश, **5. अनुपगूहन दोष** के अन्तर्गत अनुपगूहन दोष को दूर करने का उपदेश, **6. अस्थितिकरण दोष** के अन्तर्गत अस्थितिकरण दोष को दूर करने का उपदेश, **7. अवात्सल्य दोष** के अन्तर्गत अवात्सल्य दोष को दूर करने का उपदेश, **8. अप्रभावना दोष** के अन्तर्गत अप्रभावना दोष को दूर करने का उपदेश आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

तत्पश्चात् न्यायाचार्य पण्डित माणिकचन्द्र कौन्देय के द्वारा सम्यक्त्व के उक्त आठ दोषों के सम्बन्ध में कुछ ज्वलन्त प्रश्न खड़े किये हैं। जिनका सम्बन्ध वर्तमान की आधुनिक समस्याओं से है।

इसके बाद **षट् अनायतन दोष** के अन्तर्गत अनायतन-सेवन-निषेध, **कुगुरु** का निरूपण और उनके श्रद्धानादि का निषेध, कुल की अपेक्षा गुरुपने की मान्यता का खण्डन, पट्ट की अपेक्षा गुरुपने की मान्यता का खण्डन, स्त्री-त्याग की अपेक्षा गुरुपने की मान्यता का खण्डन, भेष-धारण करने की अपेक्षा गुरुपने की मान्यता का खण्डन, कुगुरु-सेवन के निषेध में शास्त्रों की साक्षियाँ, कुगुरुओं के शिथिलाचार की पोषक युक्तियाँ और उनका निराकरण, **कुदेव** का निरूपण और उनके श्रद्धानादि का निषेध, विभिन्न अपेक्षाओं से कुदेवपने की मान्यताएँ और उनका निषेध, व्यन्तरादि और उनकी शक्ति का स्वरूप, व्यन्तरादि को पूजने का निषेध, क्षेत्रपाल, पद्मावती, आदि को पूजने का निषेध, गाय आदि तिर्यंच और वृक्ष आदि स्थावरों को पूजने का निषेध, रोड़ा, शीतला, आदि को पूजने का निषेध, कुदेवों की मान्यता के सम्बन्ध में शंकां-समाधान, **कुधर्म** का निरूपण और उनके श्रद्धानादि का निषेध, विभिन्न अपेक्षाओं से कुधर्मपने की मान्यताएँ और उनका निषेध, तीर्थों में अन्यत्र स्नानादि कार्य का निषेध, संक्रान्ति, ग्रहण आदि पर दानादि कार्य करके धर्म मानने का निषेध, मिथ्या व्रतादिक से धर्म मानने का निषेध, मिथ्या भक्ति आदि करने से धर्म मानने का निषेध, अपघात करने में धर्म मानने का निषेध, कालदोष से जैनधर्म में भी कुधर्म की प्रवृत्ति, कुधर्म-सेवन से मिथ्यात्वभाव कैसे ?, जिनधर्म की आम्नाय, सच्चे देव-गुरु-धर्म की उत्कृष्टता इत्यादि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

इसके पश्चात् **आठ मद,** अष्ट मदों के नाम, अष्ट मदों का स्वरूप, अष्ट मदों को त्याग करने की प्रेरणा के अन्तर्गत ज्ञानमद का त्याग करने की प्रेरणा, इन्द्रियज्ञान की हीनता, मनुष्यों के द्वारा ज्ञान का दुरुपयोग, पूजामद या प्रभुतामद का त्याग करने की प्रेरणा, कुलमद का त्याग करने की प्रेरणा, जातिमद का त्याग करने की प्रेरणा, बलमद का त्याग करने की प्रेरणा, ऋद्धिमद, लक्ष्मीमद या धनमद का त्याग करने की प्रेरणा, तपमद का त्याग करने की प्रेरणा, सौन्दर्यमद या रूपमद का त्याग करने की प्रेरणा, मद करने का दुष्फल, धन के सम्बन्ध में ज्ञानियों के विचार, इत्यादि का विचार किया गया है।

तत्पश्चात् **तीन मूढता** के अन्तर्गत लोकमूढता, स्नान-सम्बन्धी मूढ़ता, स्नान-सम्बन्धी सावधानियाँ, आठ प्रकार की शौच-शुद्धियाँ, लोकमूढ़ जिनधर्मी; देवमूढता, देवमूढ़ जिनधर्मी, देवमूढता के अनेकरूप, पाखण्डिमूढ़ता या गुरुमूढ़ता का वर्णन किया गया है। इसी प्रकरण में जिन-मन्दिर में नहीं करने योग्य 84 आसादन दोषों का भी विशेष निरूपण किया गया है।

इस प्रकरण के बाद **श्रावकों के अतिचारों** के अन्तर्गत अतिचारों की पंचरूपता एवं कुल 70 अतिचारों को चार्ट के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। प्रमुख ग्रन्थों में वर्णित श्रावक के अतिचारों का तुलनात्मक अध्ययन, श्रावक के पाँच अणुव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार, अहिंसाणुव्रत के अतिचार, अहिंसाणुव्रत के बन्ध आदि अतिचार मानने में हेतु, सत्याणुव्रत के अतिचार, अचौर्याणुव्रत के अतिचार, अचौर्यव्रत और **नैतिकता के पन्द्रह बिन्दु,** ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार, इस प्रकरण के विशेष निष्कर्ष, परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार का वर्णन किया गया है।

तत्पश्चात् श्रावक के तीन गुणव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार, दिग्व्रत के अतिचार, परिग्रहपरिमाणव्रत और दिग्व्रत एवं उनके अतिचारों में अन्तर, देशव्रत के अतिचार, आनयन आदि को अतिचार मानने का कारण, दिग्व्रत और देशव्रत के अतिचारों में अन्तर, अनर्थदण्डव्रत के अतिचार, कन्दर्प और कौतकुच्य में अन्तर, अनर्थदण्डव्रत से प्राप्त निष्कर्ष, का निरूपण किया गया है।

गुणव्रतों के वर्णन के बाद श्रावक के चार शिक्षाव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार, सामायिकव्रत के अतिचार, दुष्प्रणिधान से तात्पर्य, स्मृत्यनुपस्थान एवं मनोदुष्प्रणिधान में अन्तर, प्रोषधोपवासव्रत के अतिचार, अप्रत्यवेक्षण और अप्रमार्जन का अर्थ, भोगोपभोग-परिमाणव्रत या उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत के अतिचार, सचित्त-सम्बन्ध और सचित्त-सम्मिश्र में अन्तर, भोगोपभोगपरिमाणव्रत और उपभोग-परिभोगानर्थक्य नामक अतिचार में अन्तर, भोगोपभोग-परिमाणव्रत के अन्य प्रकार से पाँच अतिचार, अन्य अफीम, हुक्का, जर्दा या तमाखू, भांग, नीच संगति, इत्र, रात्रि में बनाया भोजन, रात्रिभोजन, द्विदल, अनछना जल, चमड़े के बर्तन, आदि भोगोपभोग की

वस्तुओं के दोष, मर्यादित द्रव्य-क्षेत्र-काल के बाहर त्याज्य अभक्ष्य पदार्थ, खाद्य पदार्थों की अवधि, वर्षाऋतु के कारण होने वाले दोष, बासी भोजन के दोष, हॉटेल के भोजन का दोष, बाजार की बनी मिठाइयों आदि के दोष, जूठे भोजन के दोष, अंग्रेजी दवाओं के दोष, अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार, दातार के पाँच दोष, आदि बताये गये हैं।

श्रावक को भी मरण के समय समाधिमरण के प्रतीकस्वरूप सल्लेखना ग्रहण करना चाहिए, अतः उस सल्लेखना व्रत के अतिचार भी यहाँ बताये गये है।

तदुपरान्त श्रावकों से सम्बन्धित **अन्य अतिचारों को श्रावक चर्या से सम्बन्धित अतिचार,** पूजन के अतिचार, अभिषेक के अतिचार, मौन व्रत के अतिचार, रात्रिभोजन त्याग व्रत या अनस्तमित व्रत के अतिचार, जलगालन या पानी छानने के अतिचार, व्यसनत्याग एवं मधु त्याग के अतिचार, सम्यग्ज्ञान के अतिचार, श्रुत के अतिचार, ज्ञान के चौदह अतिचार, सूत्र के बत्तीस दोष, पात्रदान के पाँच अतिचार, बाह्य एवं अन्तरंग तपों के अतिचार, कायोत्सर्ग के अतिचार, वन्दना के अतिचार वर्णित हैं।

इसी प्रकार साधु अवस्था में सम्भावित दोषों/अतिचारों का वर्णन किया गया है। साथ ही दीक्षा के अयोग्य व्यक्ति, सर्वथा त्याज्य सदोष आहार, **आहार-सम्बन्धी दोष एवं उनके भेद,** अधःकर्म का स्वरूप, आठ प्रकार के आहार-सम्बन्धी सामान्य दोष एवं उनके भेद – 1. उद्गम दोष से आशय और उसके सोलह भेदों का स्वरूप, 2. उत्पादन दोष से आशय एवं उसके सोलह भेदों का स्वरूप, 3. एषणा दोष से आशय एवं उसके दस भेदों का स्वरूप, 4. संयोजना दोष, 5. प्रमाण दोष, 6. अंगार दोष, 7. धूम दोष, 8. कारण दोष, चौदह मल दोष, बत्तीस अन्तराय, भावदीपिकाकार के अनुसार चौंसठ अन्तराय, सामान्य साधुओं को एकल विहार का निषेध इत्यादि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

तदनन्तर आलोचना प्रायश्चित्त के दश दोष – 1. आकम्पित दोष, 2. अनुमापित या अनुमानित दोष, 3. यद्दृष्ट दोष, 4. बादर दोष, 5. सूक्ष्म दोष, 6. छन्न या प्रछन्न दोष, 7. शब्दाकुलित दोष, 8. बहुजन दोष, 9. अव्यक्त दोष, 10. तत्सेवित दोष बताये गये हैं। इसी प्रकार आलोचना प्रायश्चित्त के त्यागने योग्य दर्प आदि बीस दोष, पाँच समिति के अतिचार, तीन गुप्तियों के अतिचार, श्वेताम्बर ग्रन्थ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की प्रथम दशा में वर्णित बीस असमाधिस्थान, श्वेताम्बर ग्रन्थ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की द्वितीय दशा में वर्णित इक्कीस शबल दोष, श्वेताम्बर ग्रन्थ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की तृतीय दशा में वर्णित तेतीस आशातनाएँ आदि का वर्णन किया गया है।

5. पंचम अध्याय : **प्रायश्चित्त : स्वरूप एवं मीमांसा –** इस अध्याय की भूमिका लिखने के उपरान्त प्रायश्चित्त का व्युत्पत्तिपरक या निरुक्तिपरक अर्थ बताया गया है। प्रायः + चित्त – इन दो शब्दों से मिल कर प्रायश्चित्त शब्द बना है। प्रायः का अर्थ, अपराध और चित्त का तात्पर्य, शोधन-संशोधन-प्रमार्जन है। यहाँ अनेक प्रकार से प्रायश्चित्त शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ अनेक आगम-उद्धरणों के माध्यम से किया गया है। प्रायश्चित्त के लिए परिशोध, पापनिष्कृति, क्षतिपूर्ति, प्रायश्चित्त, विशुद्धि, मलहरण, पापनाशन, छेदन इत्यादि पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसके बाद प्रायश्चित्त का उद्देश्य, प्रायश्चित्त का व्युत्पत्तिपरक या निरुक्तिपरक अर्थ, प्रायश्चित्त के आठ पर्यायवाची नाम, प्रायश्चित्त का स्वरूप, निश्चय-व्यवहार प्रायश्चित्त का स्वरूप, श्वेताम्बर साहित्य (निशीथ सूत्र) में प्रायश्चित्त निरूपण, बौद्ध-दृष्टि में प्रायश्चित्त विधान, जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं का तुलनात्मक विवेचन, इत्यादि विषयों को समाहित किया है।

जनसामान्य, श्रावकों, सामान्य पाठकों एवं सामान्य मुनिराजों के लिए भी मुनिराजों के अतिचार एवं प्रायश्चित्त का वर्णन करने में आचार्यों का संकोच रहा है क्योंकि उससे उनके दिग्भ्रमित होने की सम्भावना रहती है; अतः अतिचार एवं प्रायश्चित्त शास्त्र को विशेष जानने का अधिकार मात्र मुनिसंघों के आचार्यों को ही होता है तथा जो मुनिसंघ के नायक होने के अधिकारी योग्य मुनि हैं, उनको भी आचार्य स्वयं इन शास्त्रों का

अध्ययन कराते हैं, जिससे वे मुनिसंघ का योग्य रीति से परिपालन कर सकें। लेकिन साथ ही अनेक स्थानों पर उन्होंने यह भाव भी व्यक्त किया है कि निष्णात श्रद्धावान् ही उन्हें पढ़ने/सुनने योग्य हैं। प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में श्वेताम्बर प्ररूपणा में छेदसूत्रों की रचना हुई हैं। यहाँ उनका अनेक शीर्षकों के माध्यम से वर्णन किया गया है; जैसे, श्वेताम्बर ग्रन्थों में छेद सूत्र के माध्यम से साधुओं के अतिचार एवं प्रायश्चित्त, छेद सूत्र की चिन्तनपूर्ण पृष्ठभूमि, छेद सूत्रों की विशेषता और उसके रहस्यमय भाव, छेद सूत्रों का वर्ण्य विषय, तीन प्रकार के कल्प या नियम, इत्यादि।

मुनिराजों के अतिचार आदि लगने या न लगने को तथा अन्य प्रायश्चित्त आदि से सम्बन्धित अनेक विषयों को आधार बना कर, हमने एक प्रश्नावली तैयार की थी, जिसके आधार पर मैं अपने पति डॉ. राकेश जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य के साथ अनेक मुनिराजों, आर्यिकाओं; जैसे, आचार्य विद्यासागरजी, आचार्य विद्यानन्दजी, मुनि समाधिसागरजी, आर्यिका दृढ़मती, आर्यिका ऋजुमति आदि तथा मनीषी विद्वानों से चर्चा करने भी गई, इन विद्वानों में बाल ब्र. पण्डित रवीन्द्रकुमारजी अमायन, बाल ब्र. केशरीचन्द 'धवल' छिन्दवाड़ा, बाल ब्र. यशपालजी जयपुर, बाल ब्र. हेमचन्दजी देवलाली, बाल ब्र. सुमतप्रकाशजी खनियाधाना, बाल ब्र. राकेशजी, सिद्धायतन, सागर, बाल ब्र. हेमन्तभाई गांधी सोनगढ़, बाल ब्र. अभिनन्दनकुमार जैन देवलाली, बाल ब्रह्मचारिणी ममता जैन टीकमगढ़, बाल ब्रह्मचारिणी आरती जैन छिन्दवाड़ा, बाल ब्रह्मचारिणी बासन्तीबेन देवलाली, समणी चन्दनाश्रीजी राजगृही, प्रो. सुदीपकुमार जैन दिल्ली, प्रो. वीरसागर जैन दिल्ली, पण्डित रतनलाल बैनाड़ा आगरा, प्रोफेसर फूलचन्द जैन 'प्रेमी' वाराणसी, पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री, पण्डित वीर. न्द्रकुमारजी आगरा, पण्डित देवेन्द्रकुमारजी मंगलायतन, संजयकुमार जैन शास्त्री जेवर, डॉ. अनेकान्त जैन दिल्ली, डॉ. योगेशकुमार जैन अलीगंज, श्री पवन जैन अलीगढ़ आदि प्रमुख हैं। इनमें से अधिकांश के साथ अतिशय सौहार्द्र के वातावरण में चर्चा हुई। अनेकों ने अपने अभिमत, अनुशंसा आदि भी दिये। आचार्य श्री विद्यासागरजी के साथ हमारा जो वार्तालाप हुआ है, उसके प्रमुख बिन्दुओं को भी हमने इसमें उल्लिखित किया है। विद्वान् श्री शैलेषजी के साथ सिद्धक्षेत्र सोनागिर में विस्तृत वार्तालाप तथा ब्र. राकेशजी, सिद्धायतन, सागर के साथ हुई चर्चा के आधारभूत बिन्दु भी प्रस्तुत किये हैं।

इसके बाद प्रायश्चित्त के दश भेद – 1. आलोचना, 2. प्रतिक्रमण, 3. तदुभय, 4. विवेक, 5. व्युत्सर्ग, 6. तप, 7. छेद, 8. मूल, 9. परिहार और 10. श्रद्धान बताये गये हैं। इसके बाद प्रायश्चित्त के भेदों के सम्बन्ध में दश या नौ का मतभेद बता कर, उनका वर्णन किया गया है –

1. आलोचना प्रायश्चित्त के अन्तर्गत आलोचना के पर्यायवाची, निश्चय-व्यवहार आलोचना का स्वरूप, आलोचनाकल्प के अन्तर्गत कर्मचेतना के त्याग के उनचास भंग, आलोचना प्रायश्चित्त के तीन, सात, आदि भेद, साथ ही आलोचना करके भी प्रायश्चित्त नहीं लेने वाले एवं बिना आलोचना के ही प्रायश्चित्तस्वरूप महा तप करने वाले साधकों को सम्बोधन किया गया है।

2. प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त के अन्तर्गत उसका महत्त्व, निरुक्ति, स्वरूप, निश्चय-व्यवहार प्रतिक्रमण, स्वरूप एवं समन्वय, प्रतिक्रमण क्रिया के कर्ता, कर्म, करण, और अधिकरण कारक, दैवसिक आदि सात भेद, नाम आदि छह भेद, चार भेद, मन-वचन-काय की अपेक्षा तीन भेद, प्रतिक्रामक-प्रतिक्रमण-प्रतिक्रमितव्य की अपेक्षा तीन भेद, द्रव्य-भाव की अपेक्षा दो भेद, भेदों का परस्पर में अन्तर्भाव, द्रव्य अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान और भाव अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि विषकुम्भ या अमृतकुम्भ, गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के इस विषय सम्बन्धी अनेक रहस्य, प्रतिक्रमण के अन्तर्गत कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना, प्रतिक्रमणकल्प के अन्तर्गत कर्मचेतना के त्याग के उनचास भंग, गुरु एवं लघु प्रतिक्रमण, गुरु के सात भेद, लघु के सात भेद, श्वेताम्बर परम्परा में प्रतिक्रमण के भेद, सामायिक और प्रतिक्रमण में अन्तर, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में अन्तर, प्रत्याख्यान की विशेषता, उसके पर्यायवाची, स्वरूप, व्यवहार स्वरूप, सार्थक प्रत्याख्यान के 10 भेद, प्रत्याख्यान

के चार प्रकार, छह प्रकार, तीन भेद, ज्ञान ही प्रत्याख्यान, एक आध्यात्मिक दृष्टि, सम्यक्त्वरहित प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान नहीं आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

3. तदुभय प्रायश्चित्त के अन्तर्गत उसका महत्त्व, आलोचना सहित प्रतिक्रमण और आलोचना रहित प्रतिक्रमण का समन्वय, इन विषयों का समावेश किया गया है। इसी प्रकार **4. विवेक प्रायश्चित्त, 5. व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त,** कायोत्सर्ग का काल, द्रव्य-भाव की अपेक्षा कायोत्सर्ग के चार भेद, आगम साहित्य में कायोत्सर्ग के दो भेद, कायोत्सर्ग का फल, **6. तप प्रायश्चित्त, 7. छेद प्रायश्चित्त, 8. मूल** या **उपस्थापना प्रायश्चित्त, 9. परिहार** या **पारांचित प्रायश्चित्त,** परिहार प्रायश्चित्त के भेद, **10. श्रद्धान प्रायश्चित्त** इत्यादि विषयों का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

उक्त दश भेदों के अलावा **प्रायश्चित्त के अन्य भेदों** में पंच कल्याण, गुरुमास, भिन्नमास, लघुमास, चातुर्मास आदि भेद बताये गये हैं। **पंच कल्याण** में पंच आचाम्ल, पंच निर्विकृति, पंच गुरुमण्डल, पंच एकस्थान, और पंच उपवास, इनका समावेश होता है। इसके बाद अन्य विषयों का स्पष्टीकरण किया है। जैसे, कितने कायोत्सर्ग करने पर कितने उपवास आदि करने का फल, एक उपवास का फल प्राप्त करने की विधि, उपवास के हीन होने के कारण, प्रायश्चित्त के प्रकरण में विशेषतः दोष, काल, क्षेत्र, छेद, भुक्ति तथा दोषी पुरुष, इन छह बिन्दुओं के आधार पर प्रायश्चित्त के भी छह प्रतिसेवा आदि अधिकार, लघु-गुरु प्रायश्चित्त का विवेक एवं द्रव्य-क्षेत्रादि की सावधानियाँ, मूलगुणों और उत्तरगुणों के दोषों में प्रायश्चित्त-विधान इत्यादि का निरूपण किया गया है।

तत्पश्चात् पाँच व्रतों से सम्बन्धित प्रायश्चित्तों का निरूपण किया गया है, जिनमें **अहिंसाव्रत के दोषों के प्रायश्चित्त** के अन्तर्गत इन्द्रियों एवं प्राणों की संख्या के अनुसार जीवों का घात करने के प्रायश्चित्त, संज्ञी पंचेन्द्रियों के घात का प्रायश्चित्त, सिद्धान्तसार संग्रह के अनुसार कायोत्सर्ग से दूर होने वाले दोष, धूलि से पानी में और पानी से धूलि में जाने का प्रायश्चित्त, कीचड़ से जल में जाने का प्रायश्चित्त, गीली घास एवं अनन्तकाय के घात का प्रायश्चित्त, इत्यादि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

सत्यव्रत के दोषों के प्रायश्चित्त के अन्तर्गत अशिष्टवचन बोलने आदि का प्रायश्चित्त, साधर्मियों का अपमान करने का प्रायश्चित्त, कषाय करने का प्रायश्चित्त, अहंकारवश चौपड़ आदि खेलने का प्रायश्चित्त, पहे. लियाँ आदि कार्यों में लग जाने का प्रायश्चित्त, धातुवाद आदि क्रियाओं को करने का प्रायश्चित्त, धातुवाद आदि के कथन करने का प्रायश्चित्त, अन्य क्रीड़ाओं को करने का प्रायश्चित्त, प्राणियों को मारते हुए देखने का प्रायश्चित्त, पार्श्वस्थ आदि मुनियों से अध्ययन करने का प्रायश्चित्त, पार्श्वस्थ आचार्य को वन्दन करने का प्रायश्चित्त, इत्यादि का वर्णन है।

अचौर्यव्रत के दोषों के प्रायश्चित्त, के अन्तर्गत आहार छोड़ने पर प्रायश्चित्त, अस्थान और असमय में सोने सम्बन्धी प्रायश्चित्त, स्वकार्यवश मर्यादा के बाहर जाने का प्रायश्चित्त, संघपालन के उद्देश्य से राजादि से स्नेह रखना, प्रायश्चित्त योग्य कार्य नहीं, दीक्षा के उद्देश्य से आचार्य द्वारा अभ्युत्थान आदि कार्य अयोग्य नहीं, निषद्या-सेवन, मिथ्याकार, इच्छाकार, निमन्त्रण, आदि नहीं करने का प्रायश्चित्त, किस काल में कैसा प्रायश्चित्त ?, आहार-ग्रहण की अपेक्षा प्रायश्चित्त-विधान, गर्व करने का प्रायश्चित्त, कोमलाचार पालने वाले मुनि को प्रायश्चित्त-विधि, इत्यादि का वर्णन है।

ब्रह्मचर्यव्रत से सम्बन्धी प्रायश्चित्त के अन्तर्गत कामसेवन की मन्द-तीव्र अभिलाषा होने के प्रायश्चित्त, बलवर्धक औषधिसेवन करने के प्रायश्चित्त, हंसी हंसने के प्रायश्चित्त, कामोत्तेजक अंगुली चटकाने आदि क्रियाओं के प्रायश्चित्त आठ प्रकार के मदों से उन्मत्त होने के प्रायश्चित्त, विकथाओं को करने के प्रायश्चित्त, छह रसों की लोलुपता करने के प्रायश्चित्त, संयमीजनों के द्वारा अयोग्य क्रियाओं को करने के प्रायश्चित्त, सोने से सम्ब. न्धित प्रायश्चित्त, इत्यादि का वर्णन है।

अपरिग्रहव्रत सम्बन्धी प्रायश्चित्त के अन्तर्गत आवश्यक पीछी-कमण्डलु आदि से सम्बन्धी प्रायश्चित्त, जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट चीजों को खरीदने का प्रायश्चित्त, तृणपंचक, वस्त्रपंचक आदि के सेवन करने का प्रायश्चित्त, अप्रतिलेख्य या अशोधित वस्तुओं के सेवन का प्रायश्चित्त, संस्तर सम्बन्धी प्रायश्चित्त, उपधि या संयमोपकरण को भूल जाने का प्रायश्चित्त, आदि वर्णन है।

साथ ही **छठे रात्रिभोजनत्यागव्रत के प्रायश्चित्त** के अन्तर्गत औषधि ग्रहण के प्रायश्चित्त, इत्यादि का वर्णन है।

तत्पश्चात् **पाँच समितियों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त** के अन्तर्गत ईर्या समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, हरित अंकुर, पानी, कीचड़, आदि पर चलने का प्रायश्चित्त, भाषा समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, एषणा समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, आदाननिक्षेपण समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, प्रतिष्ठापना समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, पाँच समितियों से सम्बन्धित अन्य प्रायश्चित्त इत्यादि का विवेचन किया गया है।

तत्पश्चात् **पंचेन्द्रिय-विजय से सम्बन्धित प्रायश्चित्त,** मुनियों के षट्-आवश्यकों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त के उपरान्त मुनियों के सात शेष गुणों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त के अन्तर्गत केशलोंच से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, नग्नता से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, अस्नानता आदि शेष मूलगुणों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, मूलगुणों के पालन में संक्लेश परिणाम करने का प्रायश्चित्त, उत्तरगुणों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त का वर्णन है।

उसके बाद अप्रासुक भूमि पर या भूमि को मनोहर देख कर योग धारण करने का प्रायश्चित्त, वसतिका आदि बनवाने का उपदेश देने से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, पूजा आदि करने के उपदेश देने से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, सल्लेखना आदि से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, सम्यग्दर्शन आदि से भ्रष्ट लोगों की संगति करने का प्रायश्चित्त, सिद्धान्त का उपदेश न करने वालों का प्रायश्चित्त, अपने द्वारा कमण्डलु आदि उपकरण टूटने आदि का प्रायश्चित्त, इसी प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में पात्र आदि के टूटने का प्रायश्चित्त, संघापराध प्रगट करने का प्रायश्चित्त, स्वाध्याय के लिए औद्देशिक दोष सेवन करने का प्रायश्चित्त, दुःशील, क्रोधी, मिथ्यात्वी, आदि के साथ विहार करने पर प्रायश्चित्त, अर्हन्तादि के अवर्णवाद का प्रायश्चित्त, शिला, भूमि, पेट, जंघा आदि पर सूत्र लिखने का प्रायश्चित्त, धर्मच्युत मिथ्यादृष्टि लोगों के घरों में आहार करने का प्रायश्चित्त, ज्ञानोपकरण और औषधि के निषेध का प्रायश्चित्त, चाण्डाल-स्पर्श का प्रायश्चित्त, शूद्र-दीक्षा देने वाले का प्रायश्चित्त, इत्यादि विषयों का वर्णन है।

अन्त में **आर्यिकाओं के प्रायश्चित्त** सिद्धान्तसारसंग्रह और प्रायश्चित्त विधान के अनुसार बताया गया है। इसके बाद आर्यिकाओं के रजस्वला होने सम्बन्धी चर्या का निरूपण किया गया है। पश्चात् मुनियों के प्रायश्चित्त से श्रावक के प्रायश्चित्त की तुलना, दोषों के अनुसार प्रायश्चित्त का विधान, प्रायश्चित्त-ग्रहण की उपयोगिता, प्रायश्चित्त करने वाले की महिमा बताते हुए अधिकार की समाप्ति हुई है।

6. षष्ठ अध्याय : **प्रायश्चित्त की व्यावहारिकता : जैन संविधान के सन्दर्भ में –** इस अध्याय की भूमिका में यह स्पष्ट किया गया है कि जैन संविधान अथवा जैनदर्शन की व्यावहारिकता को व्याख्यायित करते हुए चार बिन्दुओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है, वे चार बिन्दु हैं – 1.लोकहित-करता (Human Welfare) 2. प्रयोगधर्मिता (Practicability) 3. विश्वसनीयता (Faithful) 4. वैज्ञानिकता (Scientific). जैनाचार्यों ने कभी भी किसी से अपनी शक्ति से अधिक या जबरदस्ती कोई व्रत-तप-त्याग ग्रहण करने को नहीं कहा, अपितु उन्होंने तो बार बार ऐसा कहा है कि सोच-समझ कर, व्रत धारण करो, अपनी शक्ति और परिस्थिति का भलीभाँति विचार करो। जैनाचार्यों के अनुसार व्रतों में अल्पता तो चल सकती है, पर शिथिलता नहीं। यहाँ यह विचारणीय है कि क्या शिथिलता को इजाजत देना ही व्यावहारिकता होगी? नहीं, शिथिलता तो मनुष्य के घोर पतन का कारण बनती है। जैनाचार्यों ने लोकविरुद्ध कार्य करने का अत्यन्त निषेध

किया है। जैनाचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि हमें सम्पूर्ण लोकाचरण/लोकव्यवहार/ लोकरीति, प्रमाण है; शर्त केवल इतनी सी है कि उससे हमारे सम्यक्त्व और व्रत की हानि न हो रही हो।

यह प्रायश्चित्त तप, दोषों की विशुद्धि की उत्तम प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत प्रायश्चित्त की व्यावहारिकता से सम्बन्धित अनेक विषयों को अनेक शीर्षकों के माध्यम से व्यक्त किया गया है; जैसे, 'श्रावक प्रतिक्रमण सार' के महत्त्वपूर्ण बिन्दु, प्रायश्चित्त की महिमा, प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर, प्रायश्चित्त के योग्य काल, प्रायश्चित्त का फल, प्रायश्चित्त का प्रयोजन, प्रायश्चित्त करने से लाभ, प्रायश्चित्त का उद्देश्य, 'सामान्य जैनाचार विचार' के अनुसार प्रायश्चित्त का उद्देश्य, एक सार्थक प्रश्न : प्रायश्चित्त तप है या तप प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त, अभ्यन्तर तप क्यों?, प्रायश्चित्त को अन्तरंग तप में प्रथम स्थान क्यों ?, प्रायश्चित्त से छेदोपस्थापना चारित्र का सम्बन्ध, द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि से प्रायश्चित्त का सम्बन्ध, प्रायश्चित्त के योग्य कौन?, प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाले शिष्य की पात्रता, प्रायश्चित्त नहीं लेने से हानि, प्रायश्चित्त देने वाले गुरु का लक्षण, उनकी दुर्लभता, गृहस्थों को प्रायश्चित्त के योग्य सामान्य दण्डों के निर्देश, प्रायश्चित्त की विधि, अपवाद-मार्ग के अन्तर्गत प्रायश्चित्त शास्त्र का निरूपण, अपवाद और अतिचार में अन्तर।

प्रायश्चित्त की व्यवहारिकता में एक महत्त्वपूर्ण विषय को समाविष्ट किया गया है, वह है – सौर-सूतक-पातक विवेचन। इसके अन्तर्गत सौर-सूतक में अन्तर, उसके उदाहरण, वर्तमान की मान्यता, सूतक-सम्बन्धी विशेषताएँ, सूतक-पातक के सन्दर्भ में विभिन्न ग्रन्थों के विभिन्न निर्देश – सूतक-पातक-विषयक जुगुप्सा, हेय अर्थात् छोड़ने योग्य, भोजन-शुद्धि में सूतक-पातक के विवेक का निर्देश, सूतक-पातक किसको व कहाँ नहीं लगता, सूतक-पातक शुद्धि-काल-प्रमाण, व्यवहारगत सूतक-पातक शुद्धि का काल-प्रमाण, रजस्वला स्त्री का स्पर्श करना योग्य नहीं, रजस्वला स्त्री की शुद्धि का काल-प्रमाण, श्रावकों में सूतक/पातक विधान की आवश्यकता, सूतक के भेद-प्रभेद, सौतिक सूतक के नियम, स्त्रियों को मासिक धर्म सम्बन्धी सूतक का नियम, प्रायश्चित्त-विधान की टिप्पणी, ऋतुकाल में रखने योग्य सावधानियाँ और उसके दुष्परिणाम, इन दोषों को नहीं मानने वालों का निराकरण, आर्यिका, क्षुल्लिका आदि व्रती स्त्रियों के लिए नियम, रजस्वला सम्बन्धी आचार-विचार को नहीं मानने का फल, प्रसूति सम्बन्धी सूतक के नियम आदि विषयों का व्याख्यान किया है।

श्रावकों की दिनचर्या के अन्तर्गत प्रायश्चित्त-विधि अपनाने का फल, समर्थ एवं असमर्थ सम्पत्ति-सम्पन्न श्रावकों को निर्देश, श्रावकों को विविध प्रकार के तप करने की प्रेरणा, जप करते समय किसी प्रकार का विघ्न आने पर प्रायश्चित्त, गणधर मन्त्र एवं णमोकार मन्त्र से दोष निवृत्ति, त्रिकाल सामायिक एवं पात्रदान से दोष निवृत्ति, श्रेष्ठ श्रावक कौन?, आदि का विवरण है।

श्रावकों के लिए वर्णित प्रायश्चित्तों में दैनिक क्रियाओं में होने वाली हानियों पर किये जाने योग्य प्रायश्चित्तों, अर्हन्त प्रतिमा का अंग-भंग होने का प्रायश्चित्त, स्वप्न में अथवा प्रमाद से व्रत का समूल नाश होने का प्रायश्चित्त, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय एवं चार इन्द्रिय, संज्ञी–असंज्ञी पंचेन्द्रिय, आदि जीव का घात हो जाने का प्रायश्चित्त, लोकनिन्द्य मृतक कलेवर, हड्डी, मल, मूत्र आदि को देखने एवं लोकनिन्द्य वचनों को सुनने का प्रायश्चित्त, रजस्वला स्त्री के द्वारा परोसे अन्न का प्रायश्चित्त, पूजा करते समय जिन प्रतिमा एवं अष्ट द्रव्यों की कोई सामग्री के गिरने का प्रायश्चित्त, आदि का वर्णन किया गया है।

आलोचना प्रायश्चित्त के अन्तर्गत उसका महत्त्व एवं सावधानी, आलोचक की भावना, आलोचना करने योग्य आलोच्य कर्म या आलोचनीय विषय, आलोचना की शुद्धि, आलोचना का हेतु, आलोचना प्रायश्चित्त से लाभ, अतिचार लगने पर आलोचना करने में शीघ्रता आवश्यक, आलोचनासहित-शल्यरहित और आलो. चनारहित-शल्यसहित मरण में गुण-दोष, क्षपक श्रमण के द्वारा करने योग्य आलोचना प्रायश्चित्त में कायोत्सर्ग की विधि, आलोचना में भावशुद्धि के साथ, क्षेत्र-शुद्धि और काल-शुद्धि का महत्त्व, आलोचना के अयोग्य क्षेत्र, आलोचना के योग्य क्षेत्र, प्रायश्चित्त देने योग्य आचार्य की योग्यताएँ – आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्,

प्रकुर्वी, अपायोपायविदर्शी, अवपीड़क, अपरिस्रावी और निर्यापक; इन गुणों का वर्णन, आलोचना सुनने वाले आचार्य के गुण, उनके बैठने की दिशा एवं एकान्तता का विधान, आलोचना प्रायश्चित्त की विधि का वर्णन है।

इसके बाद आलोचना विधियों के अन्तर्गत अनेक प्रकार के जीवों सम्बन्धी आरम्भ की आलोचना-विधि, भोजन, उपकरण, और वसति-सम्बन्धी दोषों की आलोचना-विधि, अस्नान आदि व्रतों के विरुद्ध स्नान आदि क्रियाओं के दोषों की आलोचना-विधि, अतिचारों की सामान्य आलोचना-विधि सरल या वक्र आलोचना जानने की विधि, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा असंयम अर्थात् प्रतिसेवना के चार प्रकार, प्रायश्चित्त की पात्रता, गुरु के समीप आलोचना करने के गुण, शिष्य द्वारा आलोचना करने पर गुरु का कर्तव्य, प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता आचार्य के गुण, प्रायश्चित्त के अज्ञाता आचार्य के दोष, प्रायश्चित्त के ज्ञाता आचार्य के द्वारा विचारणीय सावधानियाँ, क्षपक साधु के सामने आलोचना-वार्ता का भी निषेध, वर्तमान युग के लिए आलोचना-सार, व्यक्तिगत अपनी आलोचना कैसे करना चाहिए – इसके अनेक उदाहरण, दिये गये हैं।

इसके बाद प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त के अन्तर्गत प्रतिक्रमण का फल, द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्रतिक्रमण के प्रयोग की विधि, अतिचार-विशुद्धि हेतु प्रतिक्रमण की विधि, गृहस्थों में प्रतिक्रमण की विधि : लघु प्रतिक्रमणक्र, दीक्षाच्छेद के कारण, वर्तमान सन्दर्भों में प्रायश्चित्त की समसामयिकता, का वर्णन करने के उपरान्त इस अध्याय का समापन हो जाता है।

7. सप्तम अध्याय : **सामाजिक एवं राष्ट्रीय महत्त्व के परिप्रेक्ष्य में : प्रायश्चित्त की महत्ता एवं उपयोगिता –** इस अध्याय में सर्व प्रथम जैनधर्म में विश्वधर्म बनने की क्षमता को रेखांकित किया गया है।

जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों की सामाजिक एवं व्यावहारिक व्याख्या को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है – आत्मानुशासन – स्वयं पर स्वयं का शासन। अनेकान्तवाद – सबके साथ समन्वय की कला। अहिंसावाद – किसी का मन व्यर्थ में मत दुखाओ। अपरिग्रहवाद – अति लोभ खतरे की घण्टी। स्याद्वाद – पहले तौलो, फिर बोलो।

राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में जैन संविधान की उपयोगिता, राष्ट्रीय संविधान के निर्माण में जैन समाज का योगदान, पर्यावरण की सुरक्षा हेतु जैनधर्म की उपयोगिता, जैनधर्म में जाति, वर्ण एवं वर्ग जैसी संकीर्णताओं को कोई स्थान नहीं, जैनधर्म के सर्वोदयी एवं समन्वयी सिद्धान्त, जैन संस्कारों का प्रभाव, अतिचार के अनुसार प्रायश्चित्त-विधान के अन्तर्गत प्रायश्चित्त का अतिचारों की शुद्धि से सीधा सम्बन्ध, दोषों के अनुसार प्रायश्चित्त के भेदों का संक्षिप्त वर्णन, सामाजिक दृष्टि से प्रायश्चित्त का प्रयोजन व माहात्म्य, सामाजिक दृष्टि से प्रायश्चित्त देने का अधिकार, जैन दण्डनीति का राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रयोग, विवाह के सम्बन्ध में जैनधर्म का दृष्टिकोण के अन्तर्गत वधू के लिए वर के सप्त वचन, वर के लिए वधू के सप्त वचन, दैनिक जीवन में श्रावकाचार पालन सम्बन्धी सुझाव के अन्तर्गत प्रातःकालीन दिनचर्या, जिनदर्शन हेतु गमन आदि क्रियाओं में विवेक, भोजन सम्बन्धी विवेक, आजीविका सम्बन्धी विवेक, सायंकालीन दिनचर्या में विवेक, रात्रिकालीन चर्या में विवेक, अन्य गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों में विवेक, यात्रा पर निकलने के पूर्व रखा जाने योग्य विवेक, स्त्री के मासिक धर्म के दौरान रखा जाने योग्य विवेक, जैनियों में सामान्य रहन-सहन का विवेक, इत्यादि विषयों को समाविष्ट किया गया है।

जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है, वह ज्ञानविज्ञान की सभी कसौटियों पर खरा उतरा है, इसलिए इटली के मनीषी चिन्तक डॉ. एल.पी. टेसिटरी ने अपनी शोध भाषणमाला में कहा है –

The more scientific knowledge advances the more Jain-Teachings will proved. Jainism is of a very high order, its important teachings are based upon Science.

Outlines of Jainism, page 90

अर्थात् जितना जितना विज्ञान प्रगति करेगा, उतना उतना ही जैनधर्म के सिद्धान्त सिद्ध होंगे। जैनधर्म का स्थान बहुत ऊँचा है क्योंकि इसके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त विज्ञान पर ही आधारित हैं।

जैन संविधान, सर्व धर्म समन्वय, सर्वोदय एवं विश्वमैत्री का पर्यायवाची नाम है। लोकहितसाधक सन्देशों का प्रसार ही उसका प्रधान लक्ष्य है। वह वर्ण की संकीर्ण सीमाओं से परे है, उसके सिद्धान्त किसी पन्थ की या सम्प्रदाय विशेष, राष्ट्रविशेष या केवल मानवसमाज की सीमा से संकुचित या आवेष्टित नहीं है, बल्कि वह तो प्राणी मात्र की सुरक्षा एवं विकास तथा समस्त विश्व के बहु आयामी कल्याण के लिए युगानुकारी सन्देश वाहक रहा है।

इस प्रकार उक्त सात अध्यायों में निबद्ध शोध-प्रबन्ध का सार-संक्षेप प्रस्तुत किया गया है।

परिशिष्ट

अन्त में परिशिष्ट के रूप में **साधु–सन्तों एवं विद्वानों से चर्चा-वार्ता, पुस्तकालयों एवं मन्दिरों में ग्रन्थ–भण्डारों का अवलोकन,** को लिया गया है। वे इस प्रकार हैं –

क. साधु–सन्तों एवं विद्वानों से चर्चा-वार्ताओं की सूची

- आचार्यों, विद्वानों आदि से विचार-विमर्श हेतु प्रश्नावली
- सितम्बर, 2008 में रामटेक चातुर्मास के अवसर पर 'प्रायश्चित्त' के सम्बन्ध में आचार्य श्री विद्यासागरजी के साथ वार्तालाप
- अगस्त, 2008 एवं नवम्बर, 2008 में दो दौर की चर्चा के द्वारा 'प्रायश्चित्त' के सम्बन्ध में विद्वान् श्री शैलेषजी के साथ सिद्धक्षेत्र सोनागिर में वार्तालाप
- ब्र. राकेशजी, सिद्धायतन, सागर के साथ हुई चर्चा के आधारभूत बिन्दु
- उक्त मनीषी आचार्यों, विद्वानों एवं अन्य मनीषियों के साथ हुई चर्चा के निष्कर्ष
- जैन, सुरेश जैन भिण्ड, नवम्बर, 2008 में आध्यात्मिक शिक्षण शिविर, सोनागिर के अवसर पर हुई चर्चा : जैन संस्कारों का प्रभाव

ख. पुस्तकालयों एवं मन्दिरों में ग्रन्थ–भण्डारों का अवलोकन

- सितम्बर, 2008 में जैन विश्वभारती, लाडनूं के पुस्तकालय में पुस्तकों का अवलोकन एवं दों ग्रन्थों को इश्यू कराया।
- अक्टूबर, 2008 में दीपावली के अवसर पर देवलाली में स्थानकवासी भवन में श्वेताम्बर ग्रन्थों का अवलोकन एवं उनकी फोटोप्रति प्राप्त की।
- नागपुर में अहिंसा भवन, इतवारी में ग्रन्थों का अवलोकन एवं तीन ग्रन्थों को इश्यू कराया।
- दिल्ली स्थित श्री कुन्दकुन्द भारती के समृद्ध पुस्तकालय का जनवरी, 2009 में अवलोकन।
- तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़ स्थित पुस्तकालय
- पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़ का निजी पुस्तकालय

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

क. मूलग्रन्थ

- **अंगपण्णत्ति,** आचार्य शुभचन्द्र, हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन, आर्यिका सुपार्श्वमती, प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् (1991)
- **अनगार धर्मामृत,** पण्डित आशाधर, सम्पादक एवं प्रस्तावना, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1977)
- **अमितगति-श्रावकाचार,** आचार्य अमितगति, श्रावकाचार-संग्रह, भाग 1, सम्पादक-अनुवादक, सिद्धान्ताचार्य पं. हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2001)
- **अमितगति-श्रावकाचार,** आचार्य अमितगति, वचनिकाकार, पण्डित भागचन्द, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, गुज. (1958)
- **अर्थप्रकाशिका** (मोक्षशास्त्र की भाषावचनिका), पण्डित सदासुखदास कासलीवाल, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, गुज. (1940)
- **अष्टपाहुड**, आचार्य कुन्दकुन्द, भाषा वचनिका, पण्डित जयचन्द छाबड़ा, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) (1995)
- **आचार दिनकर,** वर्धमान सूरि, निर्णयसागर मुद्रणालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण, (1922)
- **आचारसार,** आचार्य वीरनन्दि, प्रकाशक, दिगम्बर जैन समाज, अजमेर (वी.नि.सं.2506)
- **आचारांगचूर्णि**, जिनदासगणि, ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रत्नपुर, मालवा (वि.सं.1998)
- **आचारांगसूत्र**, प्रस्तावना, देवेन्द्र मुनि शास्त्री, प्रकाशक, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज. (1980)
- **आत्मानुशासन,** आचार्य गुणभद्र, संस्कृत टीकाकार, आचार्य प्रभाचन्द्र, सम्पादक, डॉ. आ. ने. उपाध्ये, डॉ. हीरालाल जैन, पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्
- **आत्मानुशासन,** आचार्य गुणभद्र, भाषा टीकाकार, आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल, अनुवाद, पण्डित अभयकुमार जैन शास्त्री, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (1999)
- **आदिपुराण**, अनुवाद एवं सम्पादन, डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2004)
- **आवश्यक सूत्र**, सम्पादक, नेमीचन्द बांठिया, पारसमल चण्डालिया, प्रकाशक, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, शाखा, नेहरु गेट बाहर, व्यावर, 305901 (राज.)
- **उत्तराध्ययन सूत्र,** प्रधान सम्पादक, युवाचार्य मधुकर मुनि, प्रकाशक, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज. (1984)
- **उत्तराध्ययन सूत्र,** सम्पादक, साध्वी चन्दना, प्रकाशक, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, उ.प्र.
- **उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला,** श्री नेमिचन्द भण्डारी, भाषावचनिकाकार, कविवर पण्डित भागचन्द छाजेड़, सम्पादक, मन्नूलाल जैन, प्रकाशक, श्री मध्यक्षेत्रीय दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल संघ, सागर (1984)
- **उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला,** श्री नेमिचन्द भण्डारी, भाषावचनिका, पण्डित भागचन्दजी छाजेड़, सम्पादिकाद्वय, बाल ब्र. कुन्दलता एवं आभा जैन, प्रकाशिका, स्वाध्याय प्रेमी सभा, दरियागंज, दिल्ली, (2010)
- **उपासकाध्ययन एवं टीका,** आचार्य सोमदेवसूरि, सम्पादन-अनुवाद, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली (1964)
- **उपासकदशांग सूत्र,** सम्पादक, नेमीचन्द बांठिया, पारसमल चण्डालिया, प्रकाशक, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति संरक्षक संघ, जोधपुर, शाखा, नेहरु गेट बाहर, व्यावर (राज.)
- **कषायपाहुड़** (जयधवला) (भाग 1–16), आचार्य गुणधर, चूर्णिसूत्र, आचार्य यतिवृषभ, जयधवला, आचार्य वीरसेन, सम्पादकगण, पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा, उ.प्र. (1944)

- **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, स्वामी कार्तिकेय, भाषाटीकाकार, पण्डित जयचन्द छाबड़ा, हिन्दी रूपान्तरकार – पण्डित महेन्द्रकुमार पाटनी, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (वीर नि. 2505)
- **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, स्वामी कार्तिकेय, संस्कृत टीका – आचार्य शुभचन्द्र, अनुवाद – पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, सम्पादक – ए. एन. उपाध्याय, प्रकाशक – श्री परमश्रुत प्रभावक ट्रस्ट, अगास (1980)
- **कुरलकाव्य** (थिरुक्कुरल), एलाचार्य, पद्यानुवाद एवं टीकाकार, पण्डित गोविन्दराय जैन शास्त्री महरौनी, प्राक्कथन, प्रतिष्ठाचार्य विमलकुमार जैन सौंरया, प्रकाशक, वीतराग वाणी ट्रस्ट, टीकमगढ़, उ.प्र. (2001)
- **क्रियाकलापः** (संग्रहीत ग्रन्थ), सम्पादक एवं प्रकाशक, पण्डित पन्नालाल सोनी शास्त्री, झालरापाटन सिटी (वि. सं. 1992)
- **क्रियाकोष,** कवि किशनसिंह, गद्यानुवादक, पण्डित पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रकाशक, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (1985)
- **क्रियाकोष, श्रावकाचार-संग्रह, भाग 5,** पण्डित दौलतराम, सम्पादक-अनुवादक, सिद्धान्ताचार्य पं. हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (1998)
- **गच्छाचार प्रकीर्णक,** प्रकाशक, आगम संस्थान ग्रन्थमाला, आगम-अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
- **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका, केशव वर्णी, सम्पादक, आ. ने उपाध्ये एवं सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2000)
- **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, बालबोधिनी टीका, पण्डित खूबचन्द जैन, प्रकाशक, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (1985)
- **चर्चासंग्रह,** चुने हुए प्रश्नोत्तर, ब्र. रायमल्ल, संकलन, वैद्य गम्भीरचन्द्र जैन, सम्पादक, डॉ. योगेशचन्द्र जैन, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, उदयपुर एवं श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मण्डल, कानपुर (1990)
- **चारित्रसार,** आचार्य चामुण्डराय, पृष्ठ 194, सम्पादक, पण्डित सतीशचन्द्र पाटनी, शास्त्री एवं डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन समाज, सीकर, राजस्थान, वीर नि. 2501
- **चारित्रसार**, मुनि चामुण्डराय, प्रकाशक, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई (वि.सं.1974)
- **छहढाला,** कविवर दौलतराम, टीकाकार, पण्डित रामजीभाई दोशी, सम्पादन, पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशक, तीर्थधाम मंगलायतन, श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (2006)
- **छेद शास्त्र** (गुजराती), अनुवादिका, साध्वी डोलरबाई, सम्पादन का अनुभव, डॉ. साध्वी आरती एवं साध्वी सुबोधिका, प्रस्तावना, श्री जयन्त मुनि छेद सूत्र की चिन्तनपूर्ण पृष्ठभूमि, श्री जनक मुनि, छेद सूत्र की विशेषता और उनके रहस्यमय भाव, इत्यादि, प्रकाशक, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, शाखा, नेहरु गेट बाहर, व्यावर, 305901 (राज.)
- **छेद सूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, वृहत्कल्प सूत्र एवं व्यवहार सूत्र)** गोंडल गच्छ, सम्पादिका, भावयोगिनी बा. ब्र. लीलमबाई, प्रकाशक, श्रीगुरु प्राण फाउन्डेशन, राजकोट (2005)
- **जिनेन्द्र अर्चना,** सम्पादक, अखिल बंसल, प्रकाशक, विमल जैन ग्रन्थमाला, प्रकाशन, दिल्ली एवं पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए–4, बापूनगर, जयपुर (2008)
- **जैन शतक,** भूधरदास, अनुवादक, प्रो. वीरसागर जैन, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, राज.
- **जैन सिद्धान्त प्रवेशिका,** गुरुवर्य पण्डित गोपालदास वरैया, सम्पादक, राकेश जैन शास्त्री, अलीगढ़, प्रकाशक, तीर्थधाम मंग. लायतन, अलीगढ़ (2004)
- **ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र**, सम्पादक, नेमीचन्द बांठिया एवं पारसमल चण्डालिया, अनुवादक, प्रो. डॉ. छगनलाल शास्त्री एवं महेन्द्रकुमार रांकावत, प्रकाशक, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, शाखा, नेहरु गेट बाहर, व्यावर, 305901 (राज.)
- **ज्ञानानन्द श्रावकाचार**, ब्र. पण्डित राजमल, जयपुर, सम्पादक, डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, भाषारूपान्तरण, पण्डित कस्तूरचन्द जैन, विदिशा, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, जैन मन्दिर, चौक बाजार, भोपाल, (2005)
- **ज्ञानार्णव,** आचार्य शुभचन्द्र, अनुवादक, पं. बालचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (1997),
- **तत्त्वार्थसूत्र**, आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी, प्रकाशक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत

- **तत्त्वार्थसूत्र,** वाचक उमास्वाति, विवेचनसहित, विवेचक, पण्डित सुखलाल संघवी, प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी – 5, (1976)
- **तत्त्वार्थवार्तिक** (भाग 1-2), आचार्य अकलंकदेव, सम्पादक, डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1990)
- **तत्त्वार्थवार्तिक** (भाग 1-2), आचार्य अकलंकदेव, हिन्दी अनुवादिका, आर्यिका सुपार्श्वमती, प्रकाशक, दुलीचन्द बाकलीवाल, यूनिवर्सल एजेन्सीज्, देरगांव, आसाम
- **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार** (भाग 1–7), भाषा-टीकाकार, न्यायाचार्य माणिकचन्द्र कौन्देय, प्रकाशक, आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थ. ामाला, सोलापुर, प्रथम संस्करण (1949–56)
- **तत्त्वार्थवृत्ति,** आचार्य श्रुतसागर, अनुवादक, आर्यिका सुपार्श्वमती, सम्पादक, जैन, महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, प्रकाशक, गुलाबचन्द पाटनी, 15 बी, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता–70, (वि.सं.2049)
- **तत्त्वार्थसार**, आचार्य अमृतचन्द्र, अमृतचन्द्राचार्य ग्रन्थमाला, वाराणसी (1970)
- **तिलोयपण्णत्ति,** जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर, प्रथम संस्करण (वि.सं.1999)
- **त्रिलोकसार,** आचार्य नेमिचन्द्र, व्याख्याकार, माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव, हिन्दी टीकाकर्त्री, आर्यिका विशुद्धमति, सम्पादक, पण्डित रतनचन्द्र मुख्तार, प्रकाशक, श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, श्री महावीरजी (1975)
- **दर्शनपाहुड-अष्टपाहुड़**, आचार्य कुन्दकुन्द, भाषा वचनिका, पण्डित जयचन्द छाबड़ा, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) (1995)
- **दशवैकालिक सूत्र,** स्थविर शय्यंभव, सम्पादक, युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, अनुवादक, महासती पुष्पवती, प्रकाशक, श्री आगमप्रकाशन समिति, व्यावर, राज. (1985)
- **दशवैकालिक सूत्र,** सम्पादक, नेमीचन्द बांठिया एवं पारसमल चण्डालिया, प्रकाशक, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, शाखा, नेहरु गेट बाहर, व्यावर, 305901 (राज.)
- **दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र,** सम्पादक, नेमीचन्द बांठिया एवं पारसमल चण्डालिया, प्रकाशक, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, शाखा, नेहरु गेट बाहर, व्यावर, 305901 (राज.)
- **दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र,** प्रकाशक, अखिल भारतीय स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सौराष्ट्र (ई. संवत् 1960)
- **द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र,** 336, माइल्ल धवल, सम्पादक, पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली 1998
- **धवला (पुस्तक 6 व 13),** आचार्य वीरसेन, मूलग्रन्थ षट्खण्डागम, आचार्य भूतबलि–पुष्पदन्त, सम्पादक, हीरालाल जैन, सहसम्पादकद्वय, पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री एवं पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र, अमरावती एवं श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
- **नाटक समयसार,** पण्डित बनारसीदास, प्रकाशक, श्री वीतराग सत्साहित्य प्रकाशक ट्रस्ट, भावनगर (1980)
- **नियमसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, टीकाकार, मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़
- **निशीथसूत्र,** सम्पादिका, साध्वी आरती एवं साध्वी सुबोधिका, प्रकाशक, श्रीगुरु प्राण फाउन्डेशन, राजकोट (2006)
- **निशीथसूत्र,** सम्पादक, नेमीचन्द बांठिया एवं पारसमल चण्डालिया, प्रकाशक, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, शाखा, नेहरु गेट बाहर, व्यावर, 305901 (राज.)
- **निशीथसूत्र,** प्रधान सम्पादक – श्री मधुकर मुनि, अनुवादक-विवेचक-सम्पादक – मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल', एवं गीतार्थ श्री त्रिलाक मुनि, प्रकाशक – श्री आगमप्रकाशन समिति, व्यावर, राज. (1991)
- **निशीथसूत्र,** सम्पादक, युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, प्रकाशक, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज. 1991
- **नीतिवाक्यामृत,** आचार्य सोमदेवसूरि, अनुवादक, पण्डित सुन्दरलाल शास्त्री, प्रकाशक, आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (1996)
- **पद्मनन्दि पंचविंशतिका**, आचार्य पद्मनन्दि, हिन्दी टीकाकार, पण्डित गजाधरलाल न्यायतीर्थ, प्रकाशक, श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मण्डल ट्रस्ट, नागपुर (1996)

- **पद्मनन्दि पंचविंशतिः** (अज्ञातकर्तृक संस्कृत टीका सहित), आचार्य पद्मनन्दि, हिन्दी अनुवादक – पण्डित बालचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (1962)
- **परमात्मप्रकाश,** मुनिराज योगीन्द्रदेव, प्रकाशक, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास (2000)
- **पाक्षिक श्रावक प्रतिक्रमण पाठ,** संकलन एवं सम्पादन, ब्र. विनोद शास्त्री, पृष्ठ 2-3, प्रकाशक, ज्ञानकुटी, सिद्धनगर, नागपुर रोड, जबलपुर
- **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,** आचार्य अमृतचन्द्र, टीकाकार, पण्डित मुन्नालाल रांधेलीय (वर्णी), प्रकाशक, स्वाधीन ग्रन्थमाला, सन्तोष भवन, कटरा बाजार, सागर, म.प्र. (1969)
- **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय टीका,** पण्डित मक्खनलाल शास्त्री 'तिलक', प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्
- **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषा टीका,** पण्डित टोडरमल, अनुवादक, वैद्य गम्भीरचन्द्र जैन, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, (वी.नि.2499)
- **प्रवचनसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, तत्त्वप्रदीपिका टीका, आचार्य अमृतचन्द्र, तात्पर्यवृत्ति टीका, आचार्य जयसेन, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़ (2008)
- **प्रवचनसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसरोजभास्कर टीका, आचार्य प्रभाचन्द्र, हिन्दी अनुवाद, मुनि प्रणम्यसागर, प्रकाशक, धर्मोदय साहित्य प्रकाशन, सागर (2008)
- **प्रवचनसार–सप्तदंशांगी टीका,** क्षुल्लक मनोहर वर्णी, सहजानन्द महाराज, प्रकाशक, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला, रणजीतपुरी, सदर, मेरठ, (1979)
- **प्रवचनसार–ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका,** डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट, ए–4, बापूनगर, जयपुर–15 (2008)
- **प्रश्नोत्तरोपासकाचार (प्रश्नोत्तर-श्रावकाचार),** आचार्य श्री सकलकीर्ति, **श्रावकाचार-संग्रह, भाग 1,** सम्पादक-अनुवादक, सिद्धान्ताचार्य पं. हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2001)
- **प्रायश्चित्त विधान,** आचार्य आदिसागर अंकलीकर, संस्कृतानुवाद, आचार्य महावीरकीर्ति, हिन्दी टीकाकर्ती, आर्यिका विजयमती, सम्पादक, विष्णुकुमार चौधरी, टिप्पणी, आचार्य सन्मतिसागर, प्रकाशक, आचार्य आदिसागर अंकलीकर विद्यालय, इटावा, उ.प्र.
- **प्रायश्चित्त समुच्चय** चूलिका सहित, गुरुदास, अनुवादक, पण्डित पन्नालाल सोनी, प्रकाशक, श्री भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता (वीर नि. 2453)
- **प्रायश्चित्त चूलिका**, गुरुदास, अनुवादक, पण्डित पन्नालाल सोनी, प्रकाशक, श्री भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता (वीर नि. 2453)
- **बारसाणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा),** आचार्य कुन्दकुन्द, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली
- **बोधपाहुड-अष्टपाहुड़**, आचार्य कुन्दकुन्द, भाषा वचनिका, पण्डित जयचन्द छाबड़ा, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़, सौराष्ट्र (1995)
- **भगवती आराधना**, भाग 1-2, आचार्य शिवार्य, टीका, विजयोदया, टीकाकार, अपराजित सूरि, सम्पादक एवं अनुवादक, पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (1978)
- **भगवती आराधना** (अपरनाम **मूलाराधना**), आचार्य शिवार्य, टीका, विजयोदया, टीकाकार, अपराजित सूरि, सम्पादक एवं अन. ुवादक, पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2004)
- **भगवती आराधना** (अपरनाम **मूलाराधना**), आचार्य शिवकोटि, भाषाटीकाकार, पण्डित सदासुखदास कासलीवाल, प्रकाशक, प्रकाशचन्द शीलचन्द जैन, 1266, चाँदनी चौक, देहली (1992)
- **भावदीपिका,** पण्डित दीपचन्द शाह कासलीवाल, प्रकाशक, अश्विन शाह, दर्शन प्रकाशन, मलाड, मुम्बई (2004)
- **भावना द्वात्रिंशतिका** (अपरनाम **सामायिक पाठ**), आचार्य अमितगति, वृहद् जिनवाणी संग्रह, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (1982)
- **भावसंग्रह,** आचार्य देवसेन, हिन्दी टीकाकार, पण्डित लालाराम शास्त्री, प्रकाशक, आर्यिका सुमतिमती दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, अकलूज, सोलापुर (1987)

- **मनुस्मृति शुद्ध,** ऋषि दयानन्द भाष्ययुक्त, प्रकाशक, सत्य प्रकाशन, मथुरा (सं, 2037)
- **महापुराण**, आचार्य जिनसेन, प्रकाशक, श्री शान्तिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था, फलटण (1982)
- **महापुराण** (भाग 1-5)**,** महाकवि पुष्पदन्त, अनुवादक, डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2001)
- **मुनिधर्मप्रदीप,** आचार्य कुन्थुसागर, टीकाकार, पण्डित लालाराम शास्त्री, आद्य वक्तव्य, वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, प्रकाशक, आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर महा. (1941)
- **मूलाचार**, श्री वट्टकेराचार्य, आचारवृत्ति, भाग 1–2, आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती, टीकानुवाद, आर्यिका ज्ञानमती, सम्पादक, सिद्धान्ताचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1992)
- **मूलाचार,** आचार्य कुन्दकुन्द, (मान्य), अनुवादक, पण्डित जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले, आचार्य शान्तिसागर जैन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण, 2484
- **मूलाचार प्रदीप,** भट्टारक सकलकीर्ति, इन्टरनेट कनेक्शन, JAINA E-Library Project.
- **मूलाराधना (**अपरनाम **भगवती आराधना),** आचार्य शिवकोटि, **प्रकाशक,** स्वामी देवेन्द्रकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बलात्कारगण ग्रन्थ प्रकाशन मण्डल, कारंजा (1935), JAINA E-Library Project.
- **मोक्षमार्गप्रकाशक,** पण्डित टोडरमल, सम्पादक, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (2002)
- **मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र टीका),** आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी, टीकाकार, रामजी माणेकचन्द दोशी, प्रकाशक, सी. वी. भण्डारी चैरिटेबल ट्रस्ट, बैंगलोर (1998)
- **यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य,** आचार्य सोमदेव, प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, (1971) JAINA E-Library Project - Pravin K. Shah
- **योगसार प्राभृत**, आचार्य अमितगति, सम्पादक, जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2003)
- **योगसार प्राभृत**, आचार्य अमितगति, सम्पादक, ब्र. यशपाल जैन, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (2003)
- **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**, आचार्य समन्तभद्र, भाषाटीका, पण्डित सदासुखदास, प्रकाशक, श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, अजमेर (2003)
- **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** आचार्य समन्तभद्र, (प्रश्नोत्तरी टीका), सम्पादक, आचार्य भरतसागर, अनुवादिका, आर्यिका स्याद्वादमती, प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, (2003)
- **रयणसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1976)
- **रयणसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, सम्पादक – पण्डित बलभद्र जैन, प्रकाशक – दिगम्बर जैन सभा, ग्रीनपार्क, नई दिल्ली (1999)
- **लाटी संहिता** (श्रावकाचार)**,** पण्डित राजमल, हिन्दी टीकाकार, पण्डित लालाराम शास्त्री, प्रस्तावना, ब्र. हेमचन्द जैन, प्रकाशक, विनयदक्ष प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई (2002)
- **वरांगचरित्र,** आचार्य जटासिंहनन्दि, सम्पादक, डॉ. आ. ने. उपाध्ये, अनुवादक, प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला, प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् (1996)
- **वसुनन्दि-श्रावकाचार, श्रावकाचार-संग्रह, भाग 1,** सम्पादक-अनुवादक, सिद्धान्ताचार्य पं. हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2001)
- **विशेषावश्यक भाष्य,** भाग 1-2 (गुजराती प्रकाशन)**,** आचार्य श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, **वृत्तिकार**, आचार्य हेमचन्द्र, **भाषान्तर,** चुनीलाल शाह, **सम्पादक**, श्री वज्रसेनविजय गणी, **प्रकाशक**, भद्रंकर प्रकाशन, महालक्ष्मी सोसायटी, शाहीबाग, अहमदाबाद–4.
- **वृहद्द्रव्यसंग्रह,** आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, टीकाकार, ब्रह्मदेव सूरि, श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर
- **वृहज्जिनवाणी संग्रह,** संकलन, पण्डित अभिनन्दनकुमार शास्त्री एवं पण्डित राकेशकुमार जैन शास्त्री, सम्पादक, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक, अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, बापूनगर, जयपुर (1987)
- **व्यवहारसूत्र एवं वृहत्कल्पसूत्र,** भाष्य, घासीलाल व्रती, नियोजक, पं. मुनि कन्हैयालाल, प्रकाशक, अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, (1969) द्वारा, सरस्वतीबहन मणीलाल शाह, नवरंगपुरा, अहमदाबाद
- **शास्त्रसारसमुच्चय,** आचार्य माघनन्दि, कानड़ी टीका के हिन्दी अनुवादक – आचार्य देशभूषण, प्रकाशक – सौ. श्रीमती जैन, धर्मपत्नि श्री राजेन्द्रकुमार जैन, 11. कीलिंग रोड, नई दिल्ली (1957)

- **श्रावकधर्मप्रदीप,** आचार्य कुन्थुसागर, टीकाकार, पण्डित जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री, कटनी, प्रास्ताविक, सिद्धान्ताचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी, (1980)
- **श्रावकधर्मसंग्रह,** दरयावसिंह सोधिया, सम्पादक, परमानन्द जैन शास्त्री, प्रकाशक, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर (वि. 2006, वीर निर्वाण 2476)
- **श्रावक-धर्म-संहिता,** दरयावसिंह सोधिया, पृष्ठ 115-123, प्रकाशक, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली (1975)
- **श्रावक प्रज्ञप्ति,** हरिभद्र सूरि/वाचक उमास्वाति, सम्पादन–अनुवाद – पण्डित बालचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1981)
- **श्रावकप्रतिक्रमणसार,** आचार्य कुन्थुसागर, शिष्य, आचार्य शान्तिसागर, भाषाटीका, पण्डित लालाराम शास्त्री, प्रकाशिका, श्रीमती फूलवतीदेवी, धर्मपत्नि, साहू मेहरचन्द जैन रईस, किरतपुर, बिजनौर, द्वितीय संस्करण (1950)
- **श्रावकाचार संग्रह**, तृतीय भाग, लाटीसंहिता आदि 19 श्रावकाचारों का संग्रह, सम्पादक – सिद्धान्ताचार्य पण्डित हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ (जीवराज जैन ग्रन्थमाला) सोलापुर (1978)
- **श्रावकाचार संग्रह**, चतुर्थ भाग, सम्पादक – सिद्धान्ताचार्य पण्डित हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ (जीवराज जैन ग्रन्थमाला) सोलापुर (1998)
- **श्रावकाचार संग्रह**, पंचम भाग, दो हिन्दी श्रावकाचार एवं दो क्रियाकोशों का संग्रह, सम्पादक – सिद्धान्ताचार्य पण्डित हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ (जीवराज जैन ग्रन्थमाला) सोलापुर (1978)
- **षट्खण्डागम,** आचार्य भूतबलि–पुष्पदन्त, **धवला टीका**, आचार्य वीरसेन, सम्पादक, हीरालाल जैन, सहसम्पादकद्वय, पं. फूल. चन्द्र सिद्धान्तशास्त्री एवं पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र, अमरावती एवं श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
- **सज्जन-चित्त-वल्लभ,** महाकवि मल्लिषेण, प्रकाशक, अनेकान्त श्रुत प्रकाशिनी संस्था, प्राप्तिस्थान, भरतकुमार इन्दरचन्द पापड़ीवाल, शिवनेरी कॉलोनी, औरंगाबाद
- **सज्जन-चित्त-वल्लभ,** महाकवि मल्लिषेण, टीका एवं सम्पादन, डॉ. योगेशचन्द्र जैन, प्रकाशक, श्री जैन स्वाध्याय समिति, मुरार, ग्वालियर, (1986)
- **समयसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, **आत्मख्याति टीका**, आचार्य अमृतचन्द्र, गुजराती अनुवादक, पं. हिम्मतलाल जेठालाल शाह, हिन्दी अनुवादक, पं. परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (2005)
- **समयसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, **ज्ञायकभावप्रबोधिनी हिन्दी टीका**, डा. हुकमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (2007)
- **समयसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, टीकाद्वय एवं भाषाटीका सहित, प्रकाशक, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली (1997)
- **समयसार वचनिका,** पण्डित जयचन्द छाबड़ा, अनुवादक, जैन, धनकुमार, सम्पादक, जैन, राकेश शास्त्री, एवं जैन संजय श प्रकाशक, तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़ (उ.प्र.) (2008)
- **सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका,** पण्डित टोडरमल, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 1990
- **सर्वार्थसिद्धि**, आचार्य पूज्यपाद, सम्पादक, सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली (1991)
- **सागार धर्मामृत**, पण्डित आशाधर, 'ज्ञानदीपिका' संस्कृत पंजिका टीका, सम्पादक, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, (1978)
- **सिद्धान्तसारसंग्रह**, आचार्य नरेन्द्रसेन, सम्पादक, जिनदास शास्त्री, प्रकाशक, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर (2003)
- **सूत्रपाहुड-अष्टपाहुड़**, आचार्य कुन्दकुन्द, भाषा वचनिका, पण्डित जयचन्द छाबड़ा, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) (1995)
- **हरिवंशपुराण,** आचार्य जिनसेन, सम्पादन-अनुवाद, डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2003)

ख. आधुनिक समालोचनात्मक ग्रन्थ सूची

- आचार्य धर्मभूषण, **जैनदर्शन गणित**, प्रकाशक, अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, मेरठ (2003)
- आचार्य विद्यानन्द मुनि, **जैन शासन ध्वज,** प्रकाशक, श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली (2007)
- आचार्य विद्यानन्द मुनि, **जैनधर्म, अहिंसा एवं महात्मा गांधी,** प्रकाशक, श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली (2007)
- आचार्य सूर्यसागर, **संयमप्रकाश** (पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध), प्राप्ति स्थान, श्री दिगम्बर जैन पंचायत, त्रीनगर, दिल्ली (1995)
- आर्यिका ज्ञानमति, **दिगम्बर मुनि,** दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर (वी.नि.सं.2507)
- आर्यिका विज्ञानमती, **तत्त्वार्थमंजूषा (भाग 1–2),** प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन समाज, पाण्डिचेरी (2008)
- आर्यिका विज्ञानमती, **संस्कार मंजूषा (भाग 1–4),** सम्पादक, डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, प्रकाशक, धर्मोदय साहिन्य प्रकाशन, सागर (2007)
- आर्यिका विशालमती एवं विज्ञानमती, **शील मंजूषा,** सम्पादक, ब्र. प्रदीप शास्त्री, प्रकाशक, श्री दिगम्बर साहित्या प्रकाशन समिति, बरेला, जबलपुर, (1996)
- क्षुल्लक मनोहर वर्णी, सहजानन्द, **समस्थानसूत्र सप्तम स्कन्ध,** सम्पादक, महावीरप्रसाद जैन, सदर मेरठ, प्रकाशक, श्री सहजानन्द ग्रन्थमाला, 201, पुलिस स्ट्रीट, सदर, मेरठ (1958)
- गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, **प्रवचन रत्नाकर,** भाग 8, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (2002)
- गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, **श्रावक धर्म प्रकाश,** संकलन, ब्र. हरिभाई, अनुवाद, सोनचरण जैन एवं प्रेमचन्द जैन, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (1999)
- जैन, अजितकुमार, **दैनिक जैनधर्म चर्या**, दो शब्द, हीरालाल जैन, कौशल, व्यवस्थापक, स्वाध्याय शाला, श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, सब्जीमण्डी, देहली, (1960)
- जैन, अनेकान्त, **अहिंसादर्शन**, अप्रकाशित पुस्तक, व्याख्याता, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
- जैन, अरविन्दकुमार 'ज्ञायक', **सदाचरण नियमावली,** प्रकाशक, ब्र. श्री आत्मानन्द ग्रन्थमाला, बानपुर, ललितपुर (2011)
- जैन, कपूरचन्द, **भारत संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ,** प्रेरणा, उपाध्याय मुनि, ज्ञानसागर प्रकाशक, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफफरनगर, (2003)
- जैन, कपूरचन्द एवं जैन, डॉ. ज्योति जैन, **जैन विरासत/जैन हैरीटेज़,** प्रकाशक भारतीय जैन मिलन, क्षेत्र संख्या 07, द्वारा, वीर अजितप्रसाद जैन, छोटेलाल मेहरचन्द जैन, गुड़ बाजार, रेवाड़ी, हरियाणा (2010)
- जैन, कमलकुमार शास्त्री 'कुमुद', **अपनी आलोचना**, प्रकाशक, प्रिन्टिंग हाउस, इतवारी, नागपुर
- जैन, चम्पतराय, **'जैन लॉ' या 'जैन कानून',** प्रकाशक, श्री राजकुमार सेठी, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, डीमापुर, नाग. ालैण्ड (1984)
- जैन, जगदीशचन्द्र, **जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज**, प्रकाशक, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1 (1965)
- जैन, देवेन्द्रकुमार, **वीतरागता : एक समीचीन दृष्टि,** भूमिका, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, आमुख, पण्डित नाथूलाल शास्त्री, प्राक्कथन, पण्डित जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, ज्ञानोदय ग्रन्थ प्रकाशन, नीमच. म.प्र. (1979)
- जैन, नरेन्द्रकुमार, **श्रावकाचार संहिता,** प्रकाशक, श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्, बुरहानपुर, म.प्र. (2008)
- जैन, नाथूलाल, **प्रतिष्ठा प्रदीप** (भक्तिपाठ आदि प्रतिष्ठा सम्बन्धी विधि–विधान), आशीर्वाद, आचार्य विद्यानन्द, प्रकाशक, वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, गोम्मटगिरि, इन्दौर एवं श्रमण संस्कृति विद्यावर्द्धन ट्रस्ट, इन्दौर (1990)
- जैन नेमिचन्द्र, **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 1–4),** प्रकाशक, आचार्य शान्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) (1992)
- जैन, फूलचन्द, **ज्ञानपीठ पूजांजलि,** प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1980)
- जैन, फूलचन्द, **तत्त्वार्थसूत्र,** प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी,
- जैन, फूलचन्द, **वर्ण, जाति, और धर्म,** प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1980)
- जैन फूलचन्द 'प्रेमी', **मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन,** प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, (1987)

- जैन बलभद्र एवं डॉ. जयकुमार उपाध्ये, **विवाह,** प्राक्कथन, डॉ. प्रेमसुमन जैन, प्रकाशक, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली 1995
- जैन, मुन्नी, **हिन्दी गद्य के विकास में जैन मनीषी पण्डित सदासुखदास का योगदान,** प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी एवं श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र चैत्यालय टेम्पल ट्रस्ट, अजमेर, (2002)
- जैन, मोहनलाल शास्त्री, **सरल जैन विवाह विधि,** मुद्रक, शुभचिन्तक प्रेस, जबलपुर (1952)
- जैन, योगेशचन्द्र, **जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा,** भूमिका, पण्डित फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, मुक्ति प्रकाशन, अलीगंज, एटा, (1990)
- जैन, राजाराम, **अहिंसा एवं पर्यावरण संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षय स्रोत : जैनधर्म तथा लोकनायक वर्धमान महावीर,** प्रकाशक, श्री मोहनलाल चन्द्रवती जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, नई दिल्ली 110062 (2007)
- जैन, रेखा, **मूलाचार में प्रतिपादित दिगम्बर जैन साध्वाचार,** निर्देशक, जैन, भागचन्द 'भागेन्दु', स्याद्वाद ज्ञानपीठ, अन्तर्राष्ट्रीय स्याद्वाद जैन क्लब, श्री नेमिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, मास्टर ब्लॉक, शकरपुर, दिल्ली–92 (शोधकार्य, 1994)
- जैन, संजय, **जैनधर्म की प्राचीनता,** आशीर्वचन, उपाध्याय ज्ञानसागर, प्रकाशक, श्रुत संवर्द्धन संस्थान, मेरठ, उ.प्र. (2008)
- जैन, सनतकुमार विनोदकुमार, **जैन विवाह विधि,** प्रकाशक, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद्, सागर, म.प्र.
- जैन, हीरालाल, **भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान,** प्रकाशक, अनन्त मराल शास्त्री, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल (1962)
- दिनकर, रामधारीसिंह, **संस्कृति के चार अध्याय,** प्रस्तावना, जवाहरलाल नेहरू, प्रकाशक, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद (2010)
- दिवाकर, सुमेरचन्द, **जैन शासन** (संशोधित परिवर्द्धित संस्करण), प्रकाशक, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, उ.प्र. (2007)
- पण्डित चम्पालाल, **चर्चासागर,** प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् JAINA E-Library Project - Pravin K. Shah
- पाण्डे, बिशम्भरनाथ, **भारत और मानव संस्कृति (खण्ड 1–2)** प्रकाशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली (1996)
- पाण्डे राजमल, **ज्ञानानन्द श्रावकाचार,** सम्पादक, डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन शास्त्री, भाषारूपान्तरण, पण्डित कपूरचन्द जैन, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, भोपाल (2005)
- पापड़ीवाल, लाडलीप्रसाद, **श्रमणाचार,** प्रकाशक, ताराचन्द जैन अजमेरा, दिल्ली (1989)
- प्रेमी, विशम्भर सहाय, **हिमालय में भारतीय संस्कृति**
- ब्र. श्री बालचन्दजी, **लघु प्रतिक्रमण पाठ**, खुरई
- ब्र. सुरेन्द्र शास्त्री एवं ब्र. प्रदीप शास्त्री, **श्रावक प्रतिक्रमण,** प्रकाशक, श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल, पिसनहारी, मढ़िया, जबलपुर (2000)
- ब्र. विनोदसागर शास्त्री, **पाक्षिक श्रावक प्रतिक्रमण पाठ,** प्रकाशक, ज्ञानकुटी, सिद्धनगर, नागपुर रोड, जबलपुर
- ब्र. सीतलप्रसाद, **गृहस्थधर्म : गर्भ से मरण पर्यन्त की कियाएँ** (जिनेन्द्र मत दर्पण, भाग 3) प्रकाशक, अज्ञात, द्वितीय आवृत्ति (1922)
- ब्र. सुमतप्रकाशजी; **आचार निर्देशिका संग्रह**; मूल प्रेरक, बाल ब्र. रवीन्द्रकुमारजी; प्रकाशक, श्री मुलतान दिगम्बर जैन समाज, आदर्शनगर, जयपुर एवं अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, जयपुर
- ब्र. हेमचन्द्र, **सामान्य जैनाचार विचार,** प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महिला मण्डल, कहाननगर, देवलाली
- भारिल्ल, डॉ. हुकमचन्द, **धर्म के दशलक्षण,** प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (राज.) (2003)
- भारिल्ल, डॉ. हुकमचन्द, **प्रवचनसार का सार,** प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (राज.) (2005)
- भारिल्ल, रतनचन्द, **सामान्य श्रावकाचार,** प्रकाशक, अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, जयपुर, राज. (2000)
- भूधरदास, **वैराग्य भावना,** जिनेन्द्र अर्चना,
- मल्ल, जयदयाल, **श्रावक वनिता बोधिनी** (गृहस्थ जैन स्त्रियों के कर्तव्य-कर्म), श्री जीवकोरबाई महिला ग्रन्थ भण्डार, बम्बई (1941)

- महर्षि, दीपककुमार, **सभी के लिए कानून,** प्रकाशक, प्रतिभा प्रतिष्ठान, 1661, दखनीराय स्ट्रीट, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–2 (2007)
- मुनि, प्रमाणसागर, **जैन तत्त्वविद्या** (शास्त्रसारसमुच्चय का हिन्दी विवेचन), आमुख, प्रो. रतनचन्द्र जैन भोपाल, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2001)
- मुनि, भूतबलीसागर, **सम्यक् श्रामण्य भावना,** (सम्यक्त्वपूर्वक श्रमण संस्कृति की भावना), प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन सभा, सेक्टर 16, फरीदाबाद एवं जैन महिला जागृति मंच, फरीदाबाद (2005)
- शर्मा एम. एल., **नीतिवाक्यामृत में राजनीति,** प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली
- साध्वी मोक्षरत्नाश्री, वर्धमान सूरि कृत 'आचारदिनकर' में प्रतिपादित **जैन संस्कार एवं विधि विधान** : एक तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन, शोध प्रबन्ध, सम्पादक, डॉ. सागरमल जैन, प्रकाशक, प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर, (2007)
- सेठी, मोहनलाल, **वर्तमान में जैन श्रावकाचार पालन,** प्राप्तिस्थान, डी–154, मोतीमार्ग, बापूनगर, जयपुर–302015, पंचम सवंर्द्धित संस्करण

ग. अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, पुस्तक एवं लेख

- जैन, अनेकान्त, **अहिंसादर्शन,** व्याख्याता, लालबहादुर शास्त्रि संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
- जैन, वीरसागर, **सूत्र के बत्तीस दोषों का संक्षिप्त विवेचन,** प्रोफेसर, लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
- जैन, राकेशकुमार, **ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप,** व्याख्याता, मंगलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़

घ. कोश ग्रन्थ

- **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** (भाग 1–5), जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1998)
- **संस्कृत-हिन्दी कोश,** वामन शिवराम आप्टे, प्रकाशक, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (2001)
- **आगमशब्दकोश,** युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशक, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, (1980)

च. पत्र-पत्रिकाएं

- मंगलायतन मासिक, धन्य मुनिदशा विशेषांक
- मंगलायतन मासिक, अक्टूबर 2006
- जिनवाणि मासिक पत्रिका, **डॉ. धर्मचन्द जैन,** अचौर्यव्रत और नैतिकता, दिसम्बर 2007
- लूडर्स जनरल आव दी रायल ऐशियाटिक सोसायटी, जनवरी, 1912
- जिनभाषित मासिक, नवम्बर 2010

छ. वेवसाइट एवं इन्टरनेट कनेक्शन की सूची

idjo.org@international digambar jain organisation

5 DVD Set of Jain granth - edited by acharya suvidhisagar

http://www. Jaingranth.com

http://www. Jainology.com

Jainism Swetambar

http://www. Jsgc.org/

JAINA E-Library Project - Pravin K. Shah,

प्रथम अध्याय

जैन संविधान : स्वरूप एवं आवश्यकता

जैन संविधान की आवश्यकता

आज हमारे पारिवारिक, सामाजिक एवं दिन-प्रतिदिन के जीवन में 'संविधान' की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो गई है क्योंकि जैन संविधान, गृहस्थ श्रावक एवं गृहविरत श्रमणों की मर्यादाओं को सुनिश्चित करता है। यदि हमारे विचार, हमारी बुद्धि एवं हमारी जीवन-शैली अमर्यादित होंगे तो उनसे हमारी लौकिक एवं पारलौकिक नैतिकताओं का पतन होगा तथा मुख्यरूप से हमारी आत्मा का पतन होगा; अतः 'संविधान' एक ऐसा विषय है, जिसके सम्बन्ध में प्रत्येक नागरिक को विभिन्न प्रकार की आवश्यक जानकारियाँ होनी ही चाहिए।

यदि हमें किसी भी धर्म, जाति, परिवार, समाज, प्रदेश, राष्ट्र, आदि के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी लेना है अथवा सही-गलत या गुण-दोषों का निर्णय करना है तो हमें उस धर्म, जाति, परिवार, समाज, प्रदेश या राष्ट्र के संविधान का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है; उसके बिना न्याय-प्रक्रिया का संचालन असम्भव है।

भौतिकता के युग में समाज अपने संविधान को भूलता जा रहा है, उसे संविधान से परिचित कराने की आवश्यकता है। मनुष्य, अपनी सुविधा के अनुसार कार्य करता है, दूसरों के हित का विचार नहीं करता क्योंकि वह समाज की निषेधाज्ञाओं से परिचित नहीं हैं, इसके कारण स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है, उसको अपराधों का वास्तविक एहसास करा कर, अपराधों की निवृत्ति अर्थात् आचार-शुद्धि कराना ही प्रायश्चित्त-विधान का उद्देश्य है। प्रायश्चित्त का प्रयोग, जीवों के भावों एवं अपराध के अनुसार किया जाता है, जिसमें कुछ पाप आत्मग्लानि से और कुछ पाप उपवासादि से दूर होते हैं। जिनागम में सामायिक, आलोचना, प्रतिक्रमण आदि से मन शान्त होता है और सन्तोषमय जीवनयापन कर आत्मसाधना के बल से इहलोक एवं परलोक में शान्ति और सुख का अनुभव करता है, तब अपराध से निवृत्ति होती है।

इस प्रकार श्रावकाचार एवं श्रमणाचार में प्रमादसहित शिथिलाचार अपराध है और अपराध की निवृत्ति के लिए आचार्य के समक्ष निवेदन करते हैं, तब आचार्य, अपराध के अनुसार उचित प्रायश्चित्त-विधि से शुद्ध करते हैं।

संविधान, श्रावक एवं श्रमण की मर्यादाओं को निश्चित करता है क्योंकि अमर्यादित जीवनशैली बुद्धि, विचार, नैतिकता एवं मुख्यरूप से आत्मा का पतन करती है। यहाँ 'जैन संविधान' से तात्पर्य जिनागम के आलोक में जीवनोपयोगी आधारभूत नियमों का संग्रह है।

जिनागम में वर्णित संविधान को प्रकाश में लाने की आज महती आवश्यकता प्रतीत हो रही है क्योंकि इस विषय पर वर्तमानकाल में शोधकार्य नहीं हुआ है, जबकि समाज को आज सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत करने की आवश्यकता महसूस की जा रही है। आज जैन संविधान मात्र शास्त्रों की शोभा बन कर रह गया है, जबकि उसे जन-जन की वस्तु बनना चाहिए। जैनाचार्यों ने सामान्य गृहस्थ, व्रती श्रावक एवं मुनियों सम्बन्धी संविधान का प्रतिपादन किया है।

संविधान को 'संहिता' शब्द से भी अभिहित किया गया है। संहिता और संविधान को एक दूसरे का पर्यायवाची कहा जा सकता है। यही कारण है कि जैनधर्म में संहिता ग्रन्थों की रचना की गई है। संहिता, दो शब्दों से मिल कर बना है – सं और हिता। जो सं अर्थात् सम्यक् प्रकार से, समाजोपयोगी नियमों, व्यवस्थाओं आदि को अवधारण करके रखती है, उसको संहिता या संविधान कहते हैं। अथवा तथा जो जिन अर्थात् भगवान अरहन्तदेव से सम्बन्ध रखने वाली अरहन्तदेव के द्वारा कही हुई हो, उसे जिनसंहिता या जिनेन्द्र भगवान का संविधान कहते हैं। इसी कारण 'हित' शब्द के लोकप्रयुक्त अर्थ 'कल्याण' से भी इसे जोड़ कर अर्थ किया जाता है। वही पूजासार के पहले अधिकार में लिखा है –

संगतं हितमेतस्या, भव्यानामिति संहिता।
जिनसम्बन्धिनी सेयं, नाम्ना स्याज्जिनसंहिता।।[1]

जिनसंहिता को जानने की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए श्रीमद् एकसन्धिकृत जिनसंहिता के तीसरे अधिकार में तो यहाँ तक कहा है कि '**नाजानन् जिनसंहिताम्**' अर्थात् जो जिनसंहिता को नहीं जानता, वह जिनपूजा करने के योग्य भी नहीं है।

आज समाज ही क्या ? प्रत्येक व्यक्ति, परिवार, आदि सभी अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए स्वतन्त्र रह कर मनमानी करना चाहते हैं, उसका प्रतिफल समाज को भुगतना पड़ता है। हर परिवार में धर्म, जमीन-जायदाद, पारिवारिक रीति-नीति, शिक्षा, व्यापार को लेकर लड़ाई-झगड़े चलते रहते हैं, जिसके कारण व्यक्ति के मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं धार्मिक मूल्यों में कमी आ रही है।

संविधान का जन्म ही अपराधों की देन है अर्थात् आपराधिक प्रवृत्तियों को शमन करने के उद्देश्य से ही सांविधानिक प्रक्रिया का जन्म होता है। प्राणी, अभिप्राय की मलिनता, निहित स्वार्थ, इन्द्रियों की आसक्ति एवं प्रमाद के कारण जब न्यायोचित कार्य नहीं करता; तब उसे उचित मार्ग पर लाने के लिए किये गये प्रयत्न का नाम ही कानून या संविधान है, जिसे दण्ड-व्यवस्था भी कहा जा सकता है। गृहस्थ-जीवन में अपराध की सजा का विधान, प्राचीन काल में राजाओं के द्वारा होता था तथा वर्तमान में ग्राम-पंचायत या न्यायालय या अदालतों के द्वारा दिया जाता है।

जैन समाज में जो अपराध होते हैं, उनके शमन के लिए दण्ड-संहिता का वर्णन जिनागम में मिलता है, उसको प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। आज भौतिकता के युग में इन विषयों पर विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा है। नैतिकता एवं सदाचार के लोप हो जाने के कारण समाज में अनाचारी वृत्तियाँ पनप रही हैं, उसका कारण जैन संविधान की अनभिज्ञता है।

जो इन्द्रियों को जीते और जिन का अनुयायी हो, उसे **जैन** कहते हैं लेकिन आज जैनी, अपने धर्म के संविधान को भूलते जा रहे हैं, इसलिए उसका उद्घाटन करने की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। अतः इस शोधकार्य के माध्यम से यह प्रयास किया जाएगा कि जैन समाज की उन्नति मात्र समाज की उन्नति ही नहीं, वरन् देश एवं राष्ट्र की उन्नति की नींव है। गांधीजी ने जैनधर्म के एक अहिंसा के सिद्धान्त को अपनाया, जिससे देश आजाद हो गया तो क्या हमारा कर्तव्य नहीं बनता कि हम उन सिद्धान्तों को प्रत्येक व्यक्ति, घर, कुटुम्ब, देश एवं विदेशों में प्रचारित करें।

मनुष्य, एक सामाजिक प्राणी है, उसकी उन्नति का कारण समाज की कानून-व्यवस्था बनती है क्योंकि जिस समाज का कानून जितना सशक्त होगा, उस समाज का व्यक्ति उतना ही अनुशासित होगा और अनुशासित जीवन – व्यक्ति, परिवार, समाज, देश और राष्ट्र की उन्नति में कारण होगा। आज लोग **'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'** की उक्ति को चरितार्थ करने वाले समाज के निष्पक्ष जैन कानून से भारतीय समाज के लोग परिचित नहीं हैं, उसका एकमात्र कारण यह है कि जब संविधान निर्माता देश के संविधान का निर्माण कर रहे थे, तब जैनियों ने अपने शास्त्रों को उन्हें देने से मना किया, इसके पहले भी जब जब आवश्यकता पड़ी, हमारी समाज ने उन्हें सरकारी न्यायालयों में देने का विरोध किया।

यद्यपि एक दृष्टि से उनका यह विरोध करना उचित था क्योंकि न्यायालयों में किसी भी धर्म के ग्रन्थों का विशेष रीति से सम्मान नहीं होता था। कभी-कभी न्यायाधीश और अन्य कर्मचारीगण शास्त्रों के पृष्ठों को पलटने में मुँह का थूक लगाते थे, जिससे प्रत्येक धार्मिक हृदय को दुःख होता था, परन्तु इस दुःख का यह उपाय नहीं था कि शास्त्र पेश ही नहीं किये गये क्योंकि प्रत्येक कार्य का निर्णय द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के परिवर्तन को ध्यान में रख कर ही लिया जाना चाहिए, जो कि उस समय नहीं लिया गया।

जैनियों के द्वारा शास्त्रों को न्यायालयों तथा संविधान-निर्माताओं को नहीं देने का यह परिणाम हुआ कि उन्होंने यह मान लिया है कि जैनियों का स्वयं का कोई नीति-शास्त्र ही नहीं है; अतः एक प्रकार से न्यायालयों और नीति-निर्माताओं का इसमें कोई अपराध नहीं है क्योंकि उन्होंने अनेक अवसरों पर इस बात की कोशिश की कि जैनियों के झगड़े उनके संविधान, उनकी रीति-नीति-रिवाजों के अनुसार निपटाये जाएँ, परन्तु रूढ़िवादी विचारधारा के सामने प्रगतिशील विचारधारा को नतमस्तक होना पड़ा, जिसका दुष्परिणाम जैन समाज के साथ साथ देश को भी भुगतना पड़ रहा है क्योंकि उसमें उपलब्ध अनेक जनकल्याणकारी नीतियों से देश वंचित रह गया। यदि उन्हें भारत के संविधान में कर लिया गया होता तो देश के संचालन में बहुत सार्थक प्रयास सम्भव होता।

इधर जैनियों की महासभा ने बारम्बार यह प्रस्ताव पास किया कि शास्त्रों को प्रेस में छापना धर्मविरुद्ध है। इसका परिणाम यह हुआ कि अभी तक लोगों को यह पता नहीं है कि जैनधर्म वास्तव में है क्या? और इसका प्रारम्भ कब हुआ है? तथा इसकी शिक्षाएँ क्या हैं? कौन-कौन से नीति-नियम जैनियों को मान्य हैं तथा उनकी कानूनी व्यवस्था क्या है?

'जैन संविधान' या 'जैन कानून' या 'जैन लॉ' – इस विषय पर चर्चा करने के पूर्व वर्तमान में प्रचलित भारतीय संविधान पर दृष्टिपात करना अनुचित नहीं होगा। प्रत्येक स्वतन्त्र देश का एक संविधान होता है। यह देश का सर्वोच्च कानून और देश के लोगों की अभिलाषा का प्रतीक होता है।

भारत में कानून के विकास का इतिहास देखने पर ज्ञात होता है कि भारतीय कानून का निर्माण अचानक एक दिन में नहीं हुआ, बल्कि यह एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है, जिसका मूल भारत के ब्रिटिश शासन में अन्तर्निहित है। भारत में आधुनिक कानून व्यवस्था की शुरुआत, सन् 1600 में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के साथ हुई और सन् 1950 में स्वतन्त्र भारतीय गणतन्त्र की स्थापना के साथ इसकी पूर्णता हुई। भारत का संविधान कठोर एवं लचीला है अर्थात् संविधान के कुछ प्रावधानों में तो संशोधन किया ही नहीं जा सकता, जबकि कुछ प्रावधानों को संसद के विशेष बहुमत से संशोधित किया जा सकता है और कुछ को साधारण बहुमत से।

भारत में मुख्यरूप से बड़े कानून इस प्रकार हैं, जो सभी नागरिकों पर समान रूप से प्रभावी हैं –

1. भारतीय संविधान
2. भारतीय दण्ड संहिता
3. दण्ड प्रक्रिया संहिता
4. सिविल प्रक्रिया संहिता
5. साक्ष्य अधिनियम
6. आयकर अधिनियम

इसी प्रकार भारत में कुछ धर्म विशेष पर आधारित कानून भी हैं, जो उस धर्म से सम्बन्धित लोगों पर ही लागू होते हैं। भारत सरकार ने इन कानूनों का निर्माण धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियाँ और परम्पराएँ जीवित रहें और लोगों को अजनबीपन महसूस न हो – ये पारिवारिक कानून हैं तथा परिवार सम्बन्धी मामलों पर ही लागू होते हैं –

1. हिन्दू कानून 2. मुस्लिम कानून 3. ईसाई कानून''[2]

इस व्यवस्था में जैनों को हिन्दुओं के अन्तर्गत शामिल किया गया है और उनके पारिवारिक एवं सामाजिक विवादों को 'हिन्दू कानून' के माध्यम से सुलझाया जाता है लेकिन इससे जैन समाज, अपनी अस्मिता को खोती जा रही है और जैन आगमों में उल्लिखित स्वतन्त्र जैन कानून से वंचित हो रही है। उसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि जैन समाज के पास जो संविधान सम्बन्धी अमूल्य धरोहर सुरक्षित है, जिसका लाभ सम्पूर्ण राष्ट्र को मिलना चाहिए, वह उससे लाभान्वित नहीं हो पा रहा है। जैसे, आज संविधान में इन तथ्यों को शामिल करने की आवश्यकता प्रतीत हो रही है कि बच्चों का अपने माता-पिता एवं वृद्धजनों के प्रति क्या दायित्व है ? क्योंकि युवा होने के बाद वे बालक, भौतिकता की चकाचौंध में अपने वृद्ध माता-पिता को भूलते जा रहे हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक विषय हैं, जिनका समावेश हो जाने से हमारे देश का संविधान, सम्पूर्ण विश्व के लिए मिसाल बन सकता है; अतः स्वतन्त्र जैन कानून की स्थापना करना आत्यन्तिक रूप से प्रार्थनीय है।

इस शोधकार्य में जैनों के आगम-ग्रन्थों में वर्णित व्रती गृहस्थ श्रावकों एवं गृहविरत मुनियों के आचरण से सम्बन्धित नियमों व उपनियमों को 'जैन संविधान' के नाम से उल्लिखित किया गया है।

प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन ने जैनधर्म की लौकिक एवं पारलौकिक आचरण सम्बन्धी नियमावली को संविधान नाम से अभिहित किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'अहिंसा एवं पर्यावरण संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षय-स्रोत' में पृष्ठ 32-33 पर 'श्रावकाचार संविधान' शब्द का प्रयोग किया है। वे लिखते हैं कि श्रावकाचार संविधान के अनुसार प्रत्येक जैन श्रावक अथवा सद्गृहस्थ (House Holder) को नियमितरूप से निम्नलिखित दैनिक नियमों का पालन आवश्यक बतलाया गया है –

1. प्रतिदिन देव-दर्शन 2. शास्त्र-स्वाध्याय 3. गुरु अर्थात् मुनि-आचार्य का सान्निध्य प्राप्त कर उनकी वैयावृत्ति (सेवा) करना तथा उनके हितकारी प्रवचन सुनना।

'जैन लॉ' पुस्तक के सम्बन्ध में संक्षिप्त जानकारी[3]

भारत के संविधान निर्माण के समय जब भारत की सभी जातियों के प्रतिनिधियों से उनकी सामाजिक रीति-नीतियों की जानकारी माँगी गई थी तो उस समय जैन समाज के प्रतिनिधि विद्वान् श्रीमान बैरिस्टर चम्पतरायजी ने जिनागम मे वर्णित श्रावकाचारों के माध्यम से जैन संविधान अर्थात् जैन कानून या जैन लॉ के नाम से जो दस्तावेज सौंपा था, उसे वर्तमान में श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली के माध्यम से प्रकाशित भी किया गया है; उसमें तो मात्र लौकिक दृष्टि को आधार बनाया गया है, लेकिन यहाँ उसे और भी विस्तारित करते हुए सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि को भी आधार बना कर वर्णन किया गया है।

इस शोधकार्य के माध्यम से यह प्रमाणित करने का प्रयत्न भी किया जा रहा है कि जैनों के पारिवारिक मतभेदों को दूर करने के लिए न्यायालयों द्वारा हिन्दू लॉ का प्रयोग किया जाता है, जबकि जैनों का अपना स्वतन्त्र जैन लॉ, 'भद्रबाहु संहिता' में वर्णित है। संक्षेप में जैन लॉ के अनुसार –

1. विधवा, पति की सम्पत्ति की अधिकारी होती है। वह गृह-स्वामिनी की तरह, जीवन-निर्वाह करे, चल-अचल जायदाद को सुरक्षित रखे और यथायोग्य दान देवे।
2. महिलाओं को पैतृक सम्पत्ति का अधिकार है।
3. विवाह दो प्रकार के मान्य हैं – धर्मविवाह और अधर्मविवाह।
4. यद्यपि विवाह, बराबरी वाले समूह में ही होता है, तथापि उच्च वर्ण के पुरुष, नीच वर्ण की कन्या के साथ विवाह कर सकता है लेकिन नीच वर्ण की कन्या की सन्तान, उच्च वर्ण के पिता की सम्पत्ति नहीं पा सकती है।
5. गृह-कार्य करने का दायित्व, मुख्यतः पुत्रवधु का ही होता है, सास का नहीं।
6. जिस धन का कोई स्वामी निश्चित न हो, उसे तीन वर्ष तक सुरक्षित रखें, उसके बाद राजा स्वयं उसका ग्रहण करे।
7. यदि पति लापता हो जाए या बावला हो जाए तो उसके सब धन की स्वामिनी उसकी पत्नि होगी।
8. यद्यपि सीधे तौर पर विधवा-विवाह का समर्थन नहीं किया गया है, परन्तु कन्या की उम्र आदि लक्षणों को देख कर उसको मान्यता दी जा सकती है।
9. इसी प्रकार जैन लॉ के अन्तर्गत दत्तक पुत्र, सम्पत्ति का बँटवारा, रीति-रिवाज, विवाह, वारिस, असहाय, नाबालिग, विधवा की सुरक्षा, वर-वधु के लक्षण, सगाई, गोत्र आदि सम्बन्धी नियमों का विस्तृत तरीके से उल्लेख किया गया है।

इतना ही नहीं, भारत के संविधान निर्माण में भी जैनों का अवर्णनीय योगदान है; उसमें श्री रतनलाल मालवीय सागर, श्री अजितप्रसाद जैन सहारनपुर, श्री भवानी अर्जुन खीमजी खामगाँव, श्री कुसुमकान्त जैन थांदला, श्री बलवन्त सिंह मेहता उदयपुर आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा व सदस्यों के रूप में 24 जनवरी 1950 को संविधान सभा के अन्तिम दिन संविधान पर हस्ताक्षर किये।

अन्तर्राष्ट्रीय धर्मों में जैनधर्म का स्थान[4]

जैनधर्म की ऐतिहासिक विरासत को ध्यान में रखते हुए विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय धर्मों के संगठन (IRO) ने दिनांक 5 मार्च 2006 के दिन जैनधर्म को विश्व के दसवें धर्म के रूप में मान्यता प्रदान की है। इतना ही नहीं, अभी कुछ दिनों पूर्व मुझे श्रीमान् सन्दीप जैनी, नागपुर ने मुझे एक एसएमएस भेजा है, जिसमें बताया गया है कि पिछले 10000 वर्षों के इतिहास में जो महापुरुष हुए हैं, उनमें से भगवान महावीर का स्थान दूसरे क्रमांक पर है।

अमेरिकी संसद ने भी दिनांक 27 अक्टूबर 2007 को विधेयक क्रमांक 747 के द्वारा यह पास किया कि अमेरिका व विश्व में दीवाली के त्योहार को जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के निर्वाण के उपलक्ष्य में मनाया जाता है।

इसी प्रकार अमेरिका के शिकागो शहर में सितम्बर 1893 को 'प्रथम विश्व धर्म संसद' का आयोजन हुआ था, जिसमें श्री वीरचन्द्र गांधी, जामनगर ने जैनधर्म का प्रतिनिधित्व किया था। उनका व्याख्यान, 'नीलीज् हिस्ट्री ऑफ रिलीजन्स्' के पृष्ठ 733–736 में प्रकाशित है।

जैन, एक विशुद्ध आध्यात्मिक धर्म है। इस शाश्वत आत्मधर्म का सम्बन्ध, किसी जाति-विशेष से कभी नहीं रहा। पुराणों के अनुसार सभी जाति के मनुष्यों ने इस जैनधर्म का पालन करके आत्मकल्याण के साथ-साथ विश्व-शान्ति के लक्ष्य को प्राप्त किया है। जैनधर्म की प्रवृत्ति अनादि काल से चली आ रही है। जाति-पाति का अन्याय दूर करने व अजैनों को भी तपस्या का अधिकार देने का काम जैनधर्म ने किया है। जैन तीर्थंकरों व जैन सन्तों के माध्यम से तथा उनमें भी जैनधर्म को स्वीकार करने वाले अधिकांश जन्म से अजैन थे। जैन तीर्थंकरों की वंश-परम्परा निम्न प्रकार से प्राप्त होती है –

कुरुवंश	–	श्री शान्तिनाथ एवं श्री कुन्थुनाथ
यादववंश	–	श्री नेमिनाथ एवं श्री मुनिसुव्रतनाथ
उग्रवंश	–	श्री पार्श्वनाथ एवं श्री महावीरस्वामी
इक्ष्वाकुवंश	–	शेष 18 तीर्थंकर

जैन बनने का अर्थ धर्म-परिवर्तन न होकर हम जैसे भी हैं, उसी स्थान में रह कर जैन जीवन शैली अपनाने एवं उसके सिद्धान्तों को स्वीकार करने से है। जैनधर्म, विशुद्ध जीवन शैली, आध्यात्मिक शान्ति, आत्मकल्याण और मुक्ति के मार्ग को बताने वाला धर्म है। जो भी व्यक्ति, चाहे वह किसी भी जाति या सम्प्रदाय का क्यों न हो – इस जीवन शैली को अपना कर जैन बन सकता है।

जैनधर्म के अनुसार सभी आत्माएँ समान हैं, कोई छोटी-बड़ी नहीं हैं। प्रत्येक आत्मा, अपने स्वपुरुषार्थ द्वारा भक्त से भगवान और पतित से पावन परमात्मा बन सकती है।

जैनों को धर्म पर आधारित अल्पसंख्यक का दर्जा

जैनों की इस पृथक् विचारधारा को दृष्टिगत रखते हुए उसे धार्मिक आधार पर राष्ट्रीय स्तर पर अल्पसंख्यक का दर्जा प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है जबकि भारत की विभिन्न प्रदेशों की सरकारों द्वारा उसे अल्पसंख्यक का दर्जा दिया जा चुका है –

- 17.09.1994 को कर्नाटक सरकार द्वारा
- 09.05.2001 को मध्यप्रदेश सरकार द्वारा
- 04.12.2002 को छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा
- 09.03.2003 को उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा
- 09.09.2003 को राजस्थान सरकार द्वारा
- 07.10.2003 को उत्तरांचल सरकार द्वारा
- 07.05.2004 को महाराष्ट्र सरकार द्वारा
- 07.09.2007 को पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा
- 04.06.2008 को दिल्ली सरकार द्वारा[5]

वर्तमान जैन लॉ का आधारभूत आगम-साहित्य

1. **भद्रबाहु संहिता** – इसके रचयिता का नाम अवगत नहीं है, साथ ही इसके काल का का भी पता नहीं है, फिर भी यह कई शताब्दियों पुराना ग्रन्थ है। बैरिस्टर चम्पतरायजी के अनुसार इस ग्रन्थ का संवत् 1657–1665 होना चाहिए। यह विषय उपासकाध्ययनांग के अन्तर्गत आता है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह किसी प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर रचा गया है। सम्भवतया इसका सम्बन्ध आचार्य भद्रबाहु, जिनके शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य हैं, उनसे है – यही कारण है कि इसका नाम भद्रबाहु संहिता दिया गया है।
2. **अर्हन्नीति** – यह श्वेताम्बरी ग्रन्थ है। इसके सम्पादक का नाम और समय इसमें नहीं दिया गया है किन्तु यह कुछ अधिक प्राचीन नहीं है।
3. **वर्धमान-नीति** – इसका सम्पादन श्री अमितगति आचार्य ने लगभग संवत् 1068 में किया है। यह राजा भुज का समय है। यह बहुत छोटी रचना है। इसके और भद्रबाहु संहिता के कुछ श्लोक समान हैं। जैसे – श्लोक क्रमांक 30–34, भद्रबाहु संहिता के श्लोक क्रमांक 55–59 तक समान हैं।

4. **इन्द्रनन्दि जिन संहिता** – इसके रचयिता वसुनन्दि इन्द्रनन्दि स्वामी हैं। यह भी उपासकाध्ययनांग पर आधारित है।
5. **त्रिवर्णाचार** – इसके रचयिता भट्टारक सोमसेन स्वामी हैं, जो मूलसंघ की शाखा पुष्करगच्छ के पट्टाधीश थे। इसका रचनाकाल संवत् 1667 है।
6. **आदिपुराण** – यह ग्रन्थ भगवज्जिनसेनाचार्य द्वारा रचित है, जो ईसवी नौवीं शताब्दी में हुए हैं।

बैरिस्टर चम्पतरायजी की पुस्तक 'जैन कानून' की प्रस्तावना के निष्कर्ष

जैन-लॉ अर्थात् जैन कानून पुस्तक के लेखक स्व. बैरिस्टर चम्पतरायजी, एटलॉ विद्यावारिधि, पुस्तक की आद्य प्रस्तावना में लिखते हैं –

1. जैन-लॉ एक स्वतन्त्र न्याय-शास्त्र (Jurisprudence) है। इसके आदि रचयिता महाराजा भरत चक्रवर्ती हैं, जो प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथस्वामी (राजा ऋषभदेव) के बड़े पुत्र थे।
2. वर्तमान में जितने ग्रन्थों का पता चलता है, उनमें मुख्यतः नीति-शास्त्र का ही वर्णन मिलता है, किसी में भी सम्पूर्ण कानून का वर्णन नहीं मिलता है तो भी यह सब कानून-निर्माण के लिए यथेष्ट हो सकता है। चाहे उसका भाव समझने में प्रथम कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़े।
3. जब अंग्रेजों ने जैनियों से न्याय-कार्य के उद्देश्य से शास्त्र माँगे तो जैनियों ने अपने शास्त्रों को छिपाया व सरकारी न्यायालयों में पेश करने का विरोध किया परन्तु जैनियों के शास्त्रों को न्यायालयों में नहीं देने का परिणाम यह हुआ कि न्यायालयों ने यह निर्णय कर लिया कि जैनियों का कोई नीति-शास्त्र ही नहीं है।
4. जैन लॉ इस समय न्यायालय में अमान्य है, परन्तु वर्तमान न्यायालयों की न्याय-नीति यही रही है कि यदि जैन लॉ पर्याप्त विश्वस्तरूप से प्रमाणित हो सके तो वह कार्यरूप में परिणत होना चाहिए।

   जैन लॉ के उपस्थित न होने के कारण प्रायः न्यायालयों के न्याय में भूल हुई है। कहीं-कहीं रिवाज के रूप में जैन लॉ के नियमों को भी माना है, अन्यथा हिन्दू लॉ का ही अनुकरण कराया है।

   यह जैनियों का कर्तव्य है कि तन-मन-धन से चेष्टा करके अपने ही जैन लॉ का अनुकरण करें और सरकार व न्यायालयों में उसे प्रचलित करावें; इसमें बड़े भारी प्रयास की आवश्यकता है। अनायास ही यह प्रथा नहीं टूट सकेगी कि जैनी, हिन्दू डिससेन्टर हैं और हिन्दू लॉ के पाबन्द हैं, जब तक वह कोई विशेष रिवाज साबित न कर दें।

   .....यदि सर्व जैन जाति अर्थात् दिगम्बरी, श्वेताम्बरी और स्थानकवासी तीनों सम्प्रदाय मिल कर इस बात की चेष्टा करेंगे कि जैन लॉ प्रचलित हो जाए तो कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता कि क्यों ऐसा न हो, यद्यपि प्रत्यक्षतया यह विषय आसानी से सिद्ध न होगा।

   यदि हम निम्नलिखित उपायों का अवलम्बन करें तो अनुमानतः शीघ्र सफल हो सकते हैं –

   - प्रत्येक सम्प्रदाय को अपनी अपनी समाजों में प्रथमतः इस जैन लॉ के पक्ष में प्रस्ताव पास कराने चाहिए।
   - फिर एक स्थान पर प्रत्येक समाज के नेताओं की एक सभा करके उन प्रस्तावों पर स्वीकृति प्रदान करनी चाहिए।
   - जो सज्जन किसी कारण से जैन लॉ के नियमों को अपनी इच्छाओं के विरुद्ध पावें, वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति वसीयत के द्वारा कर सकते हैं। इस भाँति धर्म और जाति की स्वतन्त्रता भी बनी रहेगी और उनकी मानसिक इच्छा की पूर्ति भी हो जाएगी।
   - मुकदमेबाजी की सूरत में.....यदि किसी स्थान पर कोई रीति यथार्थ में जैन लॉ के लिखित नियमों के विरुद्ध है तो स्पष्ट शब्दों में यह कहना चाहिए कि जैन लॉ तो यही है, जो पुस्तक में लिखा हुआ है, किन्तु रिवाज इसके विरुद्ध है और उसको प्रमाणित भी करना चाहिए।
   - इस पुस्तक (जैन कानून) में वर्तमान दिगम्बरी या श्वेताम्बरी, सभी जैन सम्प्रदाय के शास्त्रों का संग्रह किया गया है। यह हर्ष की बात है कि उनमें परस्पर मतभेद नहीं है; इसलिए यह व्यवस्था या

कानून, सब ही सम्प्रदायों वालों को मान्य हो सकती है और किसी को इसमें विरोध नहीं होना चाहिए।

5. यद्यपि सन् 1873 ई. में कुछ जैन नीति-शास्त्रों के नाम न्यायालयों में प्रकट हो गये थे और इससे भी पूर्व सन् 1833 ई. में भी जैन नीति-शास्त्रों का उल्लेख आया है, परन्तु न्यायालयों का इसमें कुछ अपराध नहीं हो सकता है क्योंकि न्यायालयों ने तो प्रत्येक अवसर पर इस बात की कोशिश की कि जैनियों की नीति या कम से कम उनके रिवाजों की जाँच की जाए, ताकि उन्हीं के अनुसार उनके झगड़ों का निर्णय किया जावे।
6. जैनियों के समान हिन्दुओं को भी ऐसा ही भय अपने धर्मशास्त्रों की मान-हानि का था, परन्तु उन्होंने बुद्धिमानी से काम लिया। जैनियों की भाँति उन्होंने अपने धर्म शास्त्रों को नहीं छिपाया और उनके छपने व छपाने में बाधक नहीं हुए परन्तु जैनियों की महासभा ने बारम्बार यही प्रस्ताव पास किया कि छापा धर्मविरुद्ध है। इसका परिणाम यह हुआ कि अब तक लोगों को यह प्रकट नहीं हुआ कि जैनधर्म वास्तव में क्या है? कब से प्रारम्भ हुआ? इसकी शिक्षा क्या हैं ? कौन-कौनसे नीति और नियम जैनियों को मान्य हैं? तथा उनकी कानूनी पुस्तकें क्या क्या हैं?
7. रायबहादुर बाबू जुगमन्धरलाल जैनी, बैरिस्टर-एट-लॉ, भूतपूर्व चीफ जस्टिस हाई कोर्ट इन्दौर ने प्रथम बार इस कठिनाई का अनुभव करके जैन लॉ नामक एक पुस्तक सन् 1908 ई. में तैयार की थी, जिसको स्वर्गीय कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन, आरा निवासी सन् 1916 ई. में प्रकाशित कराया था, परन्तु यह भी सुयोग्य सम्पादक को अधिक अवकाश न मिलने एवं जैन समाज के प्रमाद के कारण अपूर्ण ही रही और विद्वान् रचयिता ने विद्यमान नीति-पुस्तकों में से कुछ के संग्रह करने और उनमें से एक का अनुवाद किया है, इसके बाद उन्होंने वर्धमान-नीति एवं इन्द्रनन्दि जिन- संहिता का भी अनुवाद कर दिया है। इन पुस्तकों का सहयोग जैन कानून लिखते हुए भी किया गया है।
8. सन् 1921 में जब डॉ. गौड़ का हिन्दू कोड प्रकाशित हुआ और उसमें जैनियों को धर्म-विमुख हिन्दू लिखा तो उस समय जैनियों ने उसका कुछ विरोध भी किया था, तब उस समय जैन लॉ कमेटी का गठन किया गया था, जिसमें उस समय के अंग्रजी भाषा के जानकार वकीलों, शास्त्रज्ञों, पण्डितों और अनुभवी विद्वानों की एक समिति बनाई गई थी, परन्तु यह समिति भी अनेक कारणों से अपना उद्देश्य पूरा नहीं कर सकी थी।
9. इसी प्रकार सन् 1867 आदि में भी जैनियों के फैसले हिन्दू लॉ के आधार पर हुए या कतिपय फैसले जैन रीति-रिवाजों के परिप्रेक्ष्य में भी हुए, परन्तु पूर्णतः जैन लॉ के अनुसार नहीं।
10. सरकार तथा न्यायालयों का भी यही कर्तव्य है कि वह जैनियों के मुकदमे जैन-लॉ या जैन रीति-रिवाजों के अनुसार ही जैनियों के मुकदमों का निर्णय करें। यह कोड इसी अभिलाषा से तैयार किया गया है कि जैन लॉ फिर स्वतन्त्रता पूर्वक एक बार फिर प्रकाश में आकर कार्यरूप में परिणत हो सके तथा जैनी अपने ही कानून के पाबन्द रह कर अपने धर्म का समुचित पालन कर सकें।

    प्रश्न – हिन्दू-लॉ की पाबन्दी में जैनियों का क्या बिगड़ता है ?

    उत्तर – इस प्रकार तो हम यह भी पूछ सकते हैं कि यदि मुसलमानों और ईसाइयों के मुकदमे भी हिन्दू-नीति के अनुसार फैसले कर दिये जावें तो क्या हानि है; परन्तु स्वतन्त्रता के इच्छुकों को स्वयं ही विदित है कि प्रत्येक रीति क्रम एक ऐसे दृष्टिकोण पर निर्भर होता है कि जिसमें किसी दूसरी रीति क्रम के प्रवेश कर देने से सामाजिक विचार और आचार की स्वतन्त्रता का नाश हो जाता है और व्यर्थ हानि अथवा गड़बड़ी के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता।
11. यदि जैनी, अपने कानून की पाबन्दी नहीं कर पायेंगे तो किस प्रकार की हानियाँ होंगी? इसे बताने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा –

    जैनियों में पुत्र का अधिकार माता के आधीन रखा गया है, जिसकी उपस्थिति में वह विरसा (दाय) नहीं पाता है। स्त्री अपने पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी होती है। वह स्वतन्त्र होती है कि उसे चाहे जिसको दे डाले। उसको कोई रोक नहीं सकता, सिवाय इसके कि उसके छोटे बच्चों के पालन-पोषण का ध्यान अवश्य रखना होता है। इस उत्तम नियम का यह प्रभाव है कि पुत्र को

सदाचार, शील और आज्ञापालन में आदर्श बनना पड़ता है, ताकि माता का उस पर प्रेम बना रहे। माता की उपस्थिति में पुत्र को स्वतन्त्र स्वामित्व देने का यह परिणाम होता है कि माता की आज्ञा निष्फल हो जाती है। जैनियों में दोषियों की संख्या का कम होना, जैसी कि अन्य जातियों की अपेक्षा वर्तमान में है – यह जैन कानून बनाने वालों की बुद्धिमत्ता का ज्वलन्त उदाहरण है।

12. इतना कह देना भी यथेष्ट न होगा कि रिवाजों के रूप में ही जैन नीति के उद्देश्यों का पूर्णतया पालन हो सकता है और इसलिए अब तक जैसा होता रहा है, वैसा होते रहने दो क्योंकि प्रत्येक कानून का जानने वाला जानता है कि किसी विशेष रिवाज को प्रमाणित करना कितना कठिन कार्य है। सैकड़ों साक्षी और उदाहरणों द्वारा इसके प्रमाणित करने की आवश्यकता होती है, जो साधारण मुकदमे वालों की शक्ति एवं छोटे मुकदमों की हैसियत से बाहर हैं और फिर भी अन्याय का पूरा भय रहता है, जैसा कि अनेक अवसरों पर हो चुका है।

    समाज भी भयभीत दशा में रहता है कि नहीं मालूम, मौखिक साक्षियों द्वारा प्रमाणित होने वाले रिवाज विशेष पर न्यायालय में क्या निर्णय हो जाए क्योंकि यदि यह कहीं फैसला, उलटा-पलटा हो गया तो अशान्ति और भी बढ़ जाती है, क्योंकि यह निर्णय, वास्तविक जाति-रिवाज के प्रतिकूल हुआ। किसी साधारण मुकदमे में अन्याय हो जाना, यद्यपि दोषयुक्त है, किन्तु उससे अधिक हानि की सम्भावना नहीं है क्योंकि उसका प्रभाव केवल विपक्षियों पर ही पड़ता है, परन्तु सामाजिक रिवाजों के सम्बन्ध में ऐसा होने से उसका प्रभाव सर्व समाज पर पड़ता है। इसी प्रकार की और भी हानियाँ हैं, जो उसी समय दूर हो सकेंगी, जब जैन लॉ स्वतन्त्रता को प्राप्त हो जाएगा।

13. कुछ व्यक्तियों का विचार है कि जैनधर्म, हिन्दूधर्म की शाखा है और जैन नीति भी वही है, जो हिन्दुओं की नीति है। यह लोग, जैनियों को धर्म-विमुख हिन्दू (Hindu dissenters) मानते हैं, परन्तु वास्तविकता सर्वथा इससे विपरीत है क्योंकि जैनधर्म, ईश्वर को जगत् का कर्ता नहीं मानता; वह जगत् को अनादिनिधन मानता है, वह सदा से है और सदाकाल रहेगा, उसे अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा (ईश्वर) बनने की शक्ति है, भूतकाल में ऐसी अनन्त आत्माएँ हो चुकी हैं, जिन्होंने अपनी शक्ति का विकास करके परमात्मा बन चुकी हैं; इसी प्रकार भविष्य में भी ऐसी अनन्त आत्माएँ होंगी, जो अपनी सामर्थ्य को विकसित करके परमात्मा बनेंगी – यह क्रम सदाकाल चलता रहेगा।

    जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव की कर्ता है और पर की अकर्ता है। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा भी अपने स्वभाव का कर्ता है और अपने से भिन्न परपदार्थ का अकर्ता है। कहा भी है – **'वत्थुसहावो धम्मो'** अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है, उसके अनुसार परिणमन करना ही उसका कार्य है। कोई वस्तु अपने स्वभाव के विरुद्ध परिणमन नहीं कर सकती। यदि कोई आत्मा, अपने स्वभाव से विरुद्ध परिणमन करने की चेष्टा करता है तो भी वह अपने स्वभाव से विरुद्ध परिणमन नहीं कर सकता। हाँ ! इस दुष्कृत्य के फलस्वरूप उसे चतुर्गति-भ्रमणरूप सजा अवश्य भोगनी पड़ती है।

    यह सत्य है कि हिन्दू-लॉ और जैन-लॉ में कुछ बातों में समानता हो सकती है तो भी यदि आर्यों का कोई स्वतन्त्र कानून हो सकता है तो जैन-लॉ ही हो सकता है। कारण कि हिन्दूधर्म, जैनधर्म का स्रोत किसी प्रकार से नहीं हो सकता, वरन् इसके विरुद्ध जैनधर्म, हिन्दूधर्म का सम्भवतः मूल स्रोत हो सकता है क्योंकि हिन्दूधर्म और जैनधर्म में ठीक वही सम्बन्ध पाया जाता है, जो विज्ञान और काव्य-रचना में हुआ करता है। एक वैज्ञानिक है और दूसरा अलंकारयुक्त; इसमें पहिला कौन हो सकता है और पिछला कौन ? – इसका उत्तर टॉमस कारलाइल के कथनानुसार यों दिया जा सकता है कि विज्ञान (science) का सद्भाव काव्य-रचना (allegory) से पूर्व होता है अर्थात् पहिले विज्ञान होता है और फिर पीछे काव्य-रचना।

14. अब यदि हिन्दू मत को अलंकारयुक्त न मान कर जैन मत से उसकी तुलना करें तो बहुत अन्तर मिलते हैं। समानता थोड़ी-सी बातों में है, वह भी केवल उन बातों में, जो लौकिक-व्यवहार से सम्बन्ध रखती हैं। यहाँ तक कि यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो वास्तव में उनमें भी उद्देश्य की अपेक्षा भिन्नता है क्योंकि –

- जैनी, जगत् को अनादि मानते हैं, जबकि हिन्दू ईश्वरकृत।

- जैन मत में पूजा किसी अनादिनिधन स्वयंसिद्ध परमात्मा की नहीं होती है, वरन् उन महान् पुरुषों की होती है, जिन्होंने अपनी उद्देश्य-सिद्धि प्राप्त कर ली है और स्वयं परमात्मा बन गये हैं। जबकि हिन्दू मत में जगत्-स्वामी जगत्-जनक एक ईश्वर की पूजा होती है।
- पूजा का भाव भी हिन्दू मत में वही नहीं है, जो जैन मत में है। जैन मत की पूजा, आदर्श पूजा (Idealatory) है।
- जैन मत में देवताओं को भोग लगाना आदि क्रियाएँ नहीं होती हैं, न देवता से कोई प्रार्थना की जाती है कि हमें यह वस्तु प्रदान करो। वहाँ तो केवल उन जैसा बनने की भावना से उनकी भक्ति की जाती है। जबकि हिन्दू मत में देवताओं को प्रसन्न करने से अर्थ-सिद्धि मानी गई है।
- शास्त्रों के सम्बन्ध में तो जैनधर्म और हिन्दूधर्म में जमीन-आसमान का अन्तर है। हिन्दुओं का एक भी शास्त्र, जैनियों को मान्य नहीं है और न हिन्दू ही जैनियों के शास्त्रों को प्रमाण मानते हैं क्योंकि जैनधर्म, वीतरागता का मार्ग है जबकि हिन्दू धर्म में स्पष्टरूप से रागी-द्वेषी देवताओं को पूज्य माना गया है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे से स्पष्टतया पृथक् पृथक् हैं।
- जिन क्रियाओं में हिन्दू और जैनियों की समानता पाई जाती है, वह केवल सामाजिक क्रिया है। धार्मिक दृष्टि से उनका भाव भी एक-दूसरे से विपरीत है। साधारण सभ्यता-सम्बन्धी समानता विविध जातियों में हुआ ही करती है। जैसे, परस्पर विवाह आदि का होना इत्यादि। राजाओं आदि के प्रभाव से अथवा आपत्तिकाल में भी धर्म और प्राणरक्षा के निमित्त से कुछ परस्पर प्रभाव देखे जाते हैं, परन्तु उन्हें यहाँ समावेश करना उचित नहीं माना जा सकता है।
- पूर्व काल में भारतवर्ष में हिन्दुओं ने जैनियों पर बहुत से अत्याचार किये। जैन श्रावकों और साधुओं को घोर दुःख पहुँचाए और उनका प्राणघात तक किया। ऐसी दशा में जैनियों ने अपने रक्षार्थ ब्राह्मणीय लोभ को अपनी रक्षा का साधन बनाया। अनेक सामाजिक विषयों में ब्राह्मणों को पूजा पाठ के निमित्त बुलाना प्रारम्भ किया। यह रिवाज़ अभी भी कहीं कहीं प्रचलित है और अब भी अनेक विवाहादिक संस्कारों में ब्राह्मणों से काम लेते हैं, परन्तु धर्म सम्बन्धी विषय नितान्त पृथक् है।
- अनभिज्ञ और अर्धविज्ञ पुरुषों ने आरम्भ में जैनधर्म को बौद्धधर्म की शाखा समझ लिया था, किन्तु अब इस भ्रम में कदाचित् ही कोई पड़ता हो। अब इसको हिन्दुमत की शाखा सिद्ध करने को कुछ बुद्धिमान उतारू हुए हैं, सो यह भ्रम जब उच्च कोटि के विद्वान इस ओर ध्यान देंगे तो शीघ्र दूर हो जाएगा।
- नीति के सम्बन्ध में भी जैनियों और हिन्दुओं में बड़े बड़े अन्तर हैं। जैनियों में दत्तक पारलौकिक सुख प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं लिया जाता। पुत्र के होने या न होने से कोई मनुष्य पुण्य पाप का भागी नहीं होता है। बहुत से तीर्थंकर पुत्रवान् न होकर भी परमपूज्य पद को प्राप्त हुए हैं। इसके विपरीत बहुत से मनुष्य पुत्रवान् होते हुए भी नरकगामी होते हैं। न तो यह जैनधर्म का उपदेश है, न हो सकता है कि कोई अपनी क्रियाओं या दानादि से किसी मृतक जीव को लाभ पहुँचा सकता है।
- पिण्डदान का शब्द जहाँ कहीं जैन नीति शास्त्रों में मिलता है, उसका वही अर्थ नहीं है, जो हिन्दुओं के शास्त्रों में पाया जाता है कि जैनियों ने यह शब्द अत्याचार के समय मे ब्राह्मण जाति के प्रसन्नतार्थ अपनी कुछ कानूनी पुस्तकों में बढ़ा लिया है।
- जैन लॉ में पिण्डदान का अर्थ शब्दार्थ में लगाना होगा। जैसे, सपिण्ड का अर्थ शारीरिक अथवा शरीर सम्बन्धी है, उसी प्रकार पिण्डदान का अर्थ पिण्ड का प्रदान करना, अथवा वीर्यदान करना, भावार्थ पुत्रोत्पत्ति करना है, जिसके द्वारा पिण्ड अर्थात् शरीर की उत्पत्ति होती है। जैनसिद्धान्त के अनुसार पिण्डदान का इसके अतिरिक्त और कोई ठीक अर्थ नहीं हो सकता है। यह ध्यान देने योग्य है कि अर्हन्नीति में इसका उल्लेख आता है, जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय का एक मात्र नीति सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त पिण्डदान का अन्यत्र कहीं भी उल्लेख नहीं आता है।
- स्त्रियों के अधिकारों के विषय में भी जैन लॉ में बहुत बड़ा अन्तर है। जैन लॉ के अनुसार स्त्रियाँ, दायभाग की पूर्णतया अधिकारिणी होती हैं। हिन्दू लॉ में उनको केवल जीवन पर्यन्त का अधिकार मिलता है। सम्पत्ति का पूर्णतया अर्द्धांगिनी के रूप में जैन लॉ में ही पाई जाती है। पुत्र भी उसके

समक्ष कोई अधिकार नहीं रखता है। जैन लॉ में लड़की केवल बाबा (पितामह) की सम्पत्ति में अधिकारी है। पिता की निजी स्थावर सम्पत्ति में उसको केवल गुजारे का अधिकार प्राप्त है और पिता, अपने जंगम द्रव्य का पूर्ण अधिकारी है, उसे वह चाहे जिस प्रकार व्यय करे।

- हिन्दू लॉ में जहाँ अविभाजित परिवार की प्रशंसा की गई है। जैन लॉ में उसका निषेध न करते हुए पृथक्ता का आग्रह है, ताकि धर्म की वृद्धि हो।
- जैन लॉ में अविभाजित सम्पत्ति भी सामुदायिक द्रव्य (Joint tinancy) के रूप में है, न कि अविभक्त सम्पत्ति (Joint estate) के रूप में। इसमें भेद यह है कि हिन्दू लॉ के अनुसार ज्वाइन्ट इस्टेट में यदि कोई सहभागी मर जाए तो उसके उत्तराधिकारी दायाद नहीं होते, अवशिष्ट भागियों की ही जायदाद रहती है और हिस्सों का तखमीना, बटवारे के समय तक नहीं हो सकता है। लेकिन जैन लॉ के अनुसार ज्वाइन्ट टेनेन्सी में एक सहभागी के मर जाने पर उसके दायाद उसके भाग के अधिकारी हो जाते हैं। इसलिए हिन्दू लॉ में खानदान मुश्तरिका मिताक्षरी की दशा में मृत भ्राता की विधवा की कोई हैसियत नहीं होती है और वह केवल भोजन-वस्त्र पा सकती है।
- अस्तु, हिन्दू लॉ में स्त्री का कोई अधिकार नहीं है। पति मरा और वह भिखारणी हो गई। पुत्र चाहे अच्छा निकले चाहे बुरा, माता को हर समय उसके समक्ष कौड़ी कौड़ी के लिए हाथ पसारना और गिड़गिड़ाना पड़ता है। बहुतेरे नये नवाब भोग-विलास और विषयसुख में घर का धन नष्ट कर देते हैं। वेश्याएँ, उनकी धन सम्पत्ति द्वारा आनन्द करती हैं और उसे पानी की तरह बहाती हैं। माता और पत्नी घर में दो पैसे की भाजी को अकिंचन बैठी रहती हैं। यदि भाई भतीजों के हाथ धन लगा तो वे काहे को मृतक की विधवा की चिन्ता करेंगे और यदि करेंगे भी तो टुकड़ों पर बसर करायेंगे।
- यदि कोई पुत्र धर्मभ्रष्ट एवं दुष्ट वा ढ़ीठ है और किसी तरह से न माने तो जैन नीति के अनुसार उसको घर से निकाल देने की आज्ञा है, परन्तु हिन्दू लॉ के अनुसार ऐसा नहीं हो सकता।
- जैन लॉ के अनुसार पुत्र की उपस्थिति में भी विधवा का मृत पति की सम्पत्ति को स्वामिनी की हैसियत से पाना, वास्तव में अत्यन्त लाभदायक है। इससे पुत्र को व्यापार करने का साहस होता है और वह आलस्य और जड़ता से बचता है। इसके अलावा उसे सदाचारी और आज्ञाकारी बनना पड़ता है। यही कारण है कि जैनियों में सदाचारी व्यक्तियों की संख्या अन्य जातियों की अपेक्षा अधिकतर पाई जाती है।
- हिन्दू लॉ में यदि पुत्र नहीं है और सम्पत्ति विभाज्य है तो विधवा के पश्चात् उसकी पुत्री और उसके बाद नाती पाता ही पाता है, पति के कुटुम्ब के लोग नहीं पाते क्योंकि वह उस सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी नहीं होती, वरन् यावज्जीवन अधिकारिनी होती है। यदि वह इच्छा भी करे तो भी नाती को अनधिकृत करके पति के भाई भतीजों को नहीं दे सकती। इसके विरुद्ध जैन लॉ में विधवा सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी होती है। पुत्री या नाती का कोई अधिकार नहीं होता। अतः यदि उसके पति के भाई भतीजे उसको प्रसन्न रखें और उसका आदर और विनय करें तो वह उनको सारा धन दे सकती है।
- इस कारण जैन लॉ की विशिष्टता सूर्यवत् कान्तियुक्त है। यह भी ज्ञात रहे कि यदि कहीं ऐसा प्रकरण उपस्थित हो कि पुरुष को अपनी स्त्री पर विश्वास नहीं है तो उसका भी प्रबन्ध जैन लॉ में मिलता है। ऐसे अवसर पर वसीयत के द्वारा कार्य करना चाहिए और स्वेच्छानुकूल अपने धन का प्रबन्ध कर देना चाहिए। यदि कोई स्त्री दुराचारिणी है तो वह अधिकारिणी नहीं हो सकती है। यह स्पष्टतया जैन लॉ में दिया हुआ है।
- इसी प्रकार के अन्य भेदात्मक विषय हैं, जो हिन्दू लॉ और जैन लॉ के अवलोकन से स्वयं ज्ञात हो जाते हैं; इसलिए यह कहना कि जैनधर्म, हिन्दूधर्म की शाखा है और जैन लॉ, हिन्दू लॉ समान हैं, नितान्त मिथ्या है।

भूतपूर्व प्रधानमन्त्री, पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने 'हिन्दुस्तान की कहानी' में स्पष्ट तौर पर जैनधर्म को वैदिकधर्म या हिन्दूधर्म से पृथक् घोषित किया है और इससे विरुद्ध विचारधारा को सरासर गलतफहमी फैलाने वाली बात माना है। वे कहते हैं –

''बौद्धधर्म और जैनधर्म, यकीनी तौर पर हिन्दूधर्म नहीं हैं और न वैदिकधर्म ही हैं। फिर भी उनकी उत्पत्ति हिन्दुस्तान में ही हुई और ये हिन्दुस्तानी जिन्दगी, तहज़ीब और फ़िलसफे के अंग हैं। हिन्दुस्तान में बौद्ध और जैनी, हिन्दुस्तानी विचारधारा और संस्कृति की सौ फीसदी उपज हैं, फिर भी इनमें से कोई भी मत के खयाल से हिन्दु नहीं हैं। इसलिए हिन्दुस्तानी संस्कृति को हिन्दू संस्कृति कहना, एक सरासर गलतफ़हमी फैलाने वाली बात है।''[6]

जैन संविधान से तात्पर्य जैनधर्म के द्वारा मान्य तीर्थंकरों, गणधरों, आचार्यों, एवं ज्ञानी मनीषियों की परम्परा से प्राप्त अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, प्रादेशिक, सामाजिक, एवं वैयक्तिक स्तर पर आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक, धार्मिक एवं नैतिकता सम्बन्धी नियमों, विधियों, आज्ञाओं, रीतियों एवं व्यवस्था का सूचक विधान है।

जैन संविधान का प्रमुख स्रोत जिनागम है। जिनागम को चार अनुयोगों में विभक्त किया है – प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, एवं द्रव्यानुयोग। इन चार अनुयोगों के नियम, कानून एवं सिद्धान्त अलग-अलग हैं। यहाँ प्रमुखतः चरणानुयोग को आधार बनाया गया है; जिसमें गृहस्थ एवं मुनियों के आचरण सम्बन्धी व्रत-नियमों का वर्णन किया गया है। इस अनुयोग का उद्देश्य किसी भी प्रकार से जीवों को पाप से छुड़ा कर, धर्ममार्ग में लगाना है। गृहस्थ एवं मुनिराज, वीतरागता की वृद्धि के लिए व्रतों को अंगीकार करते हैं; उनके निरतिचार पालन करने की प्रतिज्ञा करते हैं और शुद्धोपयोग की वृद्धि करते हुए मोक्ष प्राप्त करते हैं। परन्तु कभी कभी किसी किसी साधक के व्रतों के पालन करने में प्रमाद या अज्ञानवश असावधानीपूर्वक कुछ अतिचार लग जाते हैं। अतिचार से तात्पर्य – अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार, आभोग, दोष, अपराध, भूल, त्रुटि आदि है। इन अतिचारों का निराकरण प्रायश्चित्त के माध्यम से होता है। प्रायश्चित्त अर्थात् पश्चात्ताप, सुधार, ग्लानि, आत्मनिन्दा, आत्मगर्हा, आत्मशुद्धि, दोष-निवारण, तप, साधना, दण्ड, सजा आदि है।

भारतीय संविधान विषयक जैन समाज की भूमिका[7]

जैन सिद्धान्तों, जैन जीवन पद्धतियों, जैन परम्पराओं और जैन समाज ने सदैव भारतीय इतिहास, संस्कृति, संविधान, विधि और विधान को आधारभूत योगदान एवं नए आयाम प्रदान किये हैं। भारत के राजनैतिक, प्रशासनिक, आर्थिक एवं चारित्रिक विकास में जैन समाज की महत्त्वपूर्ण भूमिका की प्रत्येक स्तर पर बौद्धिक मूल्यांकन कर अत्यधिक सराहना की गई है। जैन समाज अपने लौकिक, सामाजिक और व्यवहार में अहिंसा और अनेकान्त के सिद्धान्तों का सफलतापूर्वक उपयोग करते हुए राष्ट्र के चतुर्मुखी विकास में अग्रणी रहा है।

भारतीय संविधान के विभिन्न पहलुओं पर जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रभाव रहा है, राष्ट्रीय प्रतीकों में जैनत्व के प्रतिबिम्बों का सहजता के साथ प्रयोग किया गया है तथा नागरिक के मूल अधिकारों एवं कर्तव्यों में सन्निहित जैन जीवन पद्धतियों के मूलभूत तत्त्वों का समावेश किया गया है।

'भारत : संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ' – इस शीर्षक से एक पुस्तक डॉ. श्री कपूरचन्द जैन, खतौली ने लिखी है; इसमें आशीर्वचन प्रदान करते हुए उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी मुनिमहाराज लिखते हैं –

भारत की प्रगति एवं भारतीय संस्कृति में जैनधर्म व जैनधर्मावलम्बियों का योगदान सकारात्मकरूप से रहा है। स्वतन्त्रता संग्राम से लेकर संविधान की रचना तक जैन समुदाय ने अग्रणी भूमिका निभाई है। भारत की प्रशासन व्यवस्था में भी जैन पीछे नहीं रहे हैं।.....भारत के संविधान में न केवल जैन विषयक अवधारणाओं का समावेश है, अपितु इसमें जैन समुदाय ने महत्त्वपूर्ण योगदान भी किया है। यह इस बात का द्योतक है कि जैन समाज हर जगह क्रियाशील रहा है तथा अपने अहिंसात्मक, सात्त्विक एवं बन्धुत्वभाव से प्रेरित कार्यप्रणाली के माध्यम से देश की सेवा दीर्घकाल से करता आ रहा है।

राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय चिह्न, राष्ट्रीय गान और राष्ट्रीय संविधान में विद्यमान जैनतत्त्व[8]

''किसी भी देश के राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय चिह्न, राष्ट्रीय गान और राष्ट्रीय संविधान में उस देश की आत्मा का वास होता है; इनसे उस देश का निर्माण होता है।

- हमारे राष्ट्रीय ध्वज के बीच में एक चक्र बना हुआ है, उसमें 24 तीलियाँ बनी हुई हैं, जो 24 तीर्थंकरों की प्रतीक हैं।
- हमारे राष्ट्रीय चिह्न में सिंह की प्रतिकृति है, जो भगवान महावीर का सूचक है। इसके नीचे 'सत्यमेव जयते' लिखा हुआ है, जो जैनधर्म के पाँच व्रतों में दूसरे क्रमांक पर है और दश धर्मों में चौथे या पाँचवें

क्रमांक पर है। यह चिह्न भी सम्राट् अशोक के शासन का प्रतीक भी है। आपको यह जान कर आश्चर्य होगा कि सम्राट् अशोक, अपने आरम्भिक काल में जैन थे। उसके पिता, पितामह आदि भी जैन थे। बाद में वह बौद्ध हो गया था। उसके उत्तराधिकारियों ने जैनधर्म की समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। उसने अपने अधिकांश शिलालेखों में प्राकृतभाषा का प्रयोग किया है, **जो विशेषरूप से जैनों की भाषा है।** अहिंसा और महावीर के शासन वाले संस्कारों पले अशोक के हृदय में जैन तीर्थंकरों और जैनधर्म के प्रति बहुसम्मान था। अहिंसा के संस्कारों के कारण ही कलिंग के युद्ध में भीषण रक्तपात को देख कर उसका हृदय तिलमिला गया था और उसने भविष्य में युद्ध ने करने की घोषणा की थी। सम्भवतया उसने जब अपना कीर्तिस्तम्भ बनाया तो अनायास ही उसे भगवान महावीर के प्रतीक सिंह की स्मृति हो आई हो और इसी कारण उसने चौबीस तीर्थंकरों के प्रतीक चौबीस आरों वाले चक्र को उसमें बनवाया।

- हमारे राष्ट्र-गान 'जन-गण-मन अधिनायक जय हे.....' में पाँच पद हैं। इसके दूसरे पद की दूसरी पंक्ति में 'जैन' शब्द भी आता है –

  अहरह तव आह्वान प्रचारित, सुनि तव उदार वाणी,
  हिन्दू बौद्ध सिख **जैन** पारसिक मुसलमान खिस्तानी,
  पूरब-पश्चिम आसे तब सिंहासन पाशे;
  प्रेमहार हय गाथा।
  जन गण ऐक्य विधायक, जय हे भारतभाग्यविधाता,
  जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय, जय हे।।[9]

- हमारा देश लोकतन्त्रात्मक है। संविधान किसी भी राष्ट्र की रीढ़ होता है। संविधान का अर्थ है – शासन का स्वरूप। हमारे देश में शासन के तीन अंग हैं। पहला अंग है – व्यवस्थापिका, जो कानून का निर्माण करती है। दूसरा अंग है – कार्यपालिका, जो कानून को लागू करती है। तीसरा अंग है – न्यायपालिका, जो कानून का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देती है। हमारे देश का संविधान संसार में सबसे अधिक लोकप्रिय और सबसे बड़ा है।
- हमारे देश के संविधान की मूल तीन प्रतियाँ हैं – एक हस्तलिखित अंग्रेजी में, एक छपी अंग्रेजी में तथा एक हस्तलिखित हिन्दी में है। अंग्रेजी की पूरी प्रति चित्रों से सुसज्जित की गई है। चित्रों के माध्यम से क्रमशः पूरा इतिहास दर्शाया गया है।
- प्रथम पृष्ठ पर मोहनजोदड़ो से प्राप्त उस सील को दर्शाया गया है, जिस पर एक बैल अंकित है, जो हमारे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का चिह्न है।
- इसी प्रकार पृष्ठ 63 पर भगवान महावीर का चित्र अंकित है। इस चित्र के साथ लिखा है –

  Jainism is another stream of Spiritual renaissance, which seeks to refine and sublimate man's conduct and emphasises Ahimsa, non-violence, as the means to achieve it. The became a potent weapon in the hands of Mahatma Gandhi in his political struggle against the British Empire.

  अर्थात् जैनधर्म, आध्यात्मिक क्रान्ति की वह धारा है, जो मनुष्य के आचरण/व्यवहार को परिष्कृत/उदात्त करने की दिशा मे सक्रिय है। यह धारा अहिंसा पर जोर देती है और इस उदात्त चारित्र की प्राप्ति का साधन मानती है। ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध राजनैतिक संघर्ष में अहिंसा, महात्मा गांधी के हाथों में एक शक्तिशाली हथियार सिद्ध हुआ।
- पृष्ठ 154 पर महात्मा गाँधी को तिलक करती एक महिला प्रदर्शित है, जो सम्भवतः गाँधीजी की दाण्डी यात्रा के समय का है। ध्यातव्य है कि गाँधीजी की दाण्डी यात्रा के समय महिलाओं का नेतृत्व श्रीमती सरलादेवी साराभाई (जैन) ने किया था।
- संविधान निर्माण में विभिन्न प्रान्तों से चुने हुए जैनधर्मावलम्बियों ने भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। अनेक जैनों का परिचय उपलब्ध नहीं है, फिर भी प्रामाणिक जानकारी के अनुसार कुछ के नाम हैं–
  1. श्री रतनलाल मालवीय (मलैया), जन्मस्थान – सागर (म.प्र.)
  2. श्री अजितप्रसाद जैन, जन्मस्थान – मेरठ (उ.प्र.)

3. श्री भवानी अर्जुन खीमजी, जन्मस्थान – खामगाँव (महा.)
4. श्री कुसुमकान्त जैन, जन्मस्थान – थांदला, जि. झाबुआ (म.प्र.)
5. श्री बलवन्तसिंह मेहता, जन्मस्थान – उदयपुर (राज.)

भारतीय संविधान में जैनधर्म के तत्त्व[10]

हमारे भारतीय संविधान में जैनधर्म और दर्शन में सन्निहित भावनाओं का समावेश यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है –

- सुप्रसिद्ध संविधान विशेषज्ञ डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी ने भगवान महावीर के 2600वें जन्मजयन्ती वर्ष के समापन के अवसर पर 25 अप्रैल 2002 को ठीक ही कहा था कि **'भगवान महावीर ने विश्व को मनुष्यता का संविधान दिया है।'**
- हमारा संविधान **'जियो और जीने दो'** का पावन सन्देश प्रदान करता है। इस उक्ति के प्रथम अंश **'जियो'** का सन्देश प्रदान करने वाली **धारा 21** में **'प्राण और दैहिक स्वतन्त्रता पूर्वक जीने का अधिकार'** प्रदान करती है। इसी प्रकार **'जीने दो'** का सन्देश प्रदान करने वाली **धारा 51 (छ) एवं (झ) 'प्राणी मात्र के प्रति दयाभाव और हिंसा से दूर रहने का विधान'** करती है।
- इसी प्रकार हमारे संविधान की उद्देशिका में भारत को लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बताते हुए कहा है –

  ''हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न समाजवादी पन्थ-निरपेक्ष लोक-तन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक (दृष्टि से) न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़-संकल्पित होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को एतत् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।''

  यहाँ भारत को पन्थनिरपेक्ष कहा गया है। साथ ही विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता भी इसी उद्देशिका में दी गई है। जैनधर्म में भी पन्थवाद और साम्प्रदायिकता की भावना का निराकरण, मानसिक अहिंसा के सिद्धान्त **'अनेकान्त और स्याद्वाद'** के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है क्योंकि वहाँ जैनधर्म को **'वत्थुसहावो धम्मो** अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है।''
- अनुच्छेद 15 द्वारा धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद करने का प्रतिषेध किया गया है।
- अनुच्छेद 16 द्वारा लोकनियोजन के विषय में अवसर की समानता का प्रावधान किया गया है।
- अनुच्छेद 25 हमें अन्तःकरण की स्वतन्त्रता और धर्म के अबाधरूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इस अनुच्छेद के स्पष्टीकरण 2 के अन्तर्गत बौद्ध और जैनों को हिन्दुओं में समाविष्ट किया गया है परन्तु गतवर्ष 2002 में गठित 'संविधान समीक्षा आयोग' ने यह संस्तुति की है कि इस स्पष्टीकरण को हटा देना चाहिए।

* * *

इसी प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत का संविधान घोषित होने से एक दिन पूर्व दिनांक 25 जनवरी 1950 को इसी अनुच्छेद के स्पष्टीकरण 2 के सम्बन्ध में उत्पन्न आशंका के निराकरणार्थ, जैनों का एक प्रतिनिधि-मण्डल तत्कालीन प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू एवं अन्य प्रमुख नेताओं से मिला था और उन्हें अपनी ओर से एक ज्ञापन सौंपा था। उसमें स्पष्ट तौर पर यह कहा गया था कि जैन, हिन्दू नहीं हैं। इस ज्ञापन पर तुरन्त कार्यवाही करते हुए प्रधानमन्त्री सचिवालय से 31 जनवरी 1950 को एक लिखित स्पष्टीकरण जारी किया गया था, तथापि जैनधर्मावलम्बियों को स्वतन्त्र दर्जा आज तक प्राप्त नहीं हो सका है। उस प्रपत्र का मूल पाठ[11] निम्न प्रकार है –

* * *

संख्या 33/94/50

प्रधानमन्त्री सचिवालय, नई दिल्ली

31 जनवरी, 1950

प्रिय महोदय,

25 जनवरी को प्रधानमन्त्री से मिले जैनों के एक प्रतिनिधिमण्डल के सम्बन्ध में यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जैनों को अपने धर्म समुदाय के भविष्य के बारे में आशंका करने को कोई कारण नहीं है। आपके प्रतिनिधि मण्डल ने धारा 25 की ओर ध्यान दिलाया है कि जो संविधान की व्याख्या मात्र करती है। यह व्याख्या धारा की मात्र एक व्यवस्था को लागू कर नियम को सीमित कर देती है।

इस तरह आप देखेंगे कि इसमें केवल जैनों का ही नहीं, बल्कि बौद्ध और सिक्खों का भी उल्लेख है। स्पष्ट है कि बौद्ध, हिन्दूधर्मी नहीं हैं, इसलिए यह सोचने का कोई कारण नहीं है कि जैनों को हिन्दू माना गया है।

यह सत्य है कि जैन, कुछ मामलों में हिन्दुओं के काफी करीब हैं और दोनों में काफी कुछ रीति-रिवाज समान हैं; लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे एक भिन्न धार्मिक समुदाय हैं और उनकी इस स्वीकृत स्थिति को संविधान किसी भी तरह से प्रभावित नहीं करता।

भवदीय

(हस्ताक्षर)

ए. वी. पाई

प्रधानमन्त्री के प्रमुख निजी सचिव

* * *

- हमारी जैन संस्कृति, जितनी प्राचीन है, उतनी ही समृद्ध भी है। हमने लोकहित की अनेक संस्थाएँ बनाईं हैं। हमारा संविधान, हमें ऐसी संस्थाओं की स्थापना और संचालन का अधिकार प्रदान करता है। अनुच्छेद 26 में स्पष्ट उल्लेख है कि लोकव्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य को ध्यान में रख कर, कोई भी धार्मिक सम्प्रदाय या उसका अनुभाग, ऐसी संस्थाओं का संचालन कर सकता है।
- एक और महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद का हम यहाँ उल्लेख करना प्रासंगिक है कि हमारे जैन समाज ने अनेक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की है। अरबों रुपये का व्यय इन शिक्षण संस्थाओं पर होता है किन्तु इनमें धार्मिक पढ़ाई या तो होती नहीं या अल्प होती है। जब पदाधिकारियों से इस सन्दर्भ में चर्चा की जाती है तो उनका एक ही जवाब होता है कि संविधान हमें ऐसा करने की अनुमति नहीं देता। जबकि संविधान कुछ शर्तों के साथ ऐसी अनुमति देता है। प्रथमतः यदि संस्था, सरकार से अनुदान नहीं ले रही है तो वह ऐसी शिक्षा देने के लिए स्वतन्त्र है। आज तमाम हिन्दू, सिख, जैन, मुस्लिम, क्रिश्चियन संस्थाएँ ऐसी शिक्षा दे रही हैं। राज्य से सहायता प्राप्त संस्थाओं को धार्मिक उपासना और धार्मिक स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में अनुच्छेद 28 इस प्रकार है –

कुछ शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के बारे में स्वतन्त्रता[12]

- राज्य-निधि से पूर्णतः पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी।
- खण्ड (1) की कोई बात ऐसी शिक्षा संस्था को लागू नहीं होगी; जिसका प्रशासन, राज्य करता है; किन्तु जो किसी ऐसे विन्यास या न्यास के आधीन स्थापित हुई है, जिसके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है।
- राज्य से मान्यता प्राप्त या राज्य-निधि से सहायता पाने वाली शिक्षा संस्था में उपस्थित होने वाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा ऐसी संस्था में या उससे संलग्न स्थान में की जाने वाली धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिए तब तक बाध्य नहीं किया जाएगा, जब तक कि उस व्यक्ति ने या यदि वह अवयस्क है, जो उसके संरक्षक ने इसके लिए अपनी सहमति नहीं दे दी है।

  इसका अर्थ यह हुआ –

1. राज्य किसी विशेष धार्मिक शिक्षा के लिए संस्था की स्थापना कर उसका पोषण कर सकता है।
2. यदि व्यक्ति की पूर्वानुमति है तो धार्मिक उपासना में व्यक्ति को आने के लिए बाध्य किया जा सकता है।
3. राज्य-निधि से सहायता प्राप्त शिक्षा संस्था में धार्मिक शिक्षा दी जा सकती है।

धार्मिक संस्थाओं को प्राप्त धन पर करों में छूट का प्रावधान[13]

- जैन समाज दान देने में अग्रणी समाज रहा है। समाज अनेक धर्मायतनों का संचालन करता है। मन्दिरों और धर्मायतनों और धार्मिक कार्यों/सिद्धान्तों की अभिवृद्धि के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना भी इस समाज ने की है। संविधान के अनुच्छेद 27 के अनुसार ऐसी संस्थाओं को प्राप्त धन पर कर नहीं लगाया जा सकता।
- पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में 8 नवम्बर 1948 को सम्बोधित करते हुए कहा था – ''जिस संविधान का देशवासियों के जीवन, उनके लक्ष्यों और आकांक्षाओं से कोई सरोकार नहीं होता, वह खोखला रह जाता है, उससे देशवासियों की अवनति होती है। लोगों के मन-मस्तिष्क को ऊँचे लक्ष्यों की ओर केन्द्रित करना, संविधान का लक्ष्य होना चाहिए।

राष्ट्रीय स्मारकों का संरक्षण[14]

- जैन संस्कृति ने अपने देवालयों के माध्यम से अहिंसा और विश्व-शान्ति का उपदेश दिया है। आरम्भ से ही राष्ट्रीय और धार्मिक महत्त्व के कलात्मक मन्दिरों, स्मारकों, जिनबिम्बों का निर्माण जैन समाज करता रहा है। राष्ट्रीय महत्त्व के अनेक स्मारकों को शासन ने अपने हाथ में ले लिया है, किन्तु उनकी व्यवस्था और दशा कैसी है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। इस विषय में अनुच्छेद 49 कहता है कि ऐसे स्मारकों, स्थानों या वस्तुओं का, लुंठन, विरूपण, विनाश, अपसारण, व्ययन या निर्यात से संरक्षण करना एवं उनकी यथास्थिति बनाए रखना, सरकार की बाध्यता है। हमें चाहिए कि हम इसका पूरा लाभ उठाएँ।

भारतीय संविधान में जीवमात्र के प्रति दया की भावना : भारतीय नागरिकों का मूल कर्तव्य[15]

- इस अनुच्छेद 51(क), 51(छ), 47, 48, 48(क), की अनेक उपधाराओं में अहिंसा और जैनत्व की भावना समाहित की गई है। इस धारा को भारतीय नागरिकों के मूल कर्तव्य के अन्तर्गत समाहित किया गया है। यह अनुच्छेद जहाँ राष्ट्र पर मर मिटने की प्रेरणा देता है, वहीं पर्यावरण संरक्षण के दृष्टि से प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखने का भी विधान करता है। अहिंसा का मात्र धार्मिक दृष्टि से ही महत्त्व नहीं है, बल्कि यह हमारा परम कर्तव्य है। इस अनुच्छेद का मूल पाठ निम्न प्रकार है –

अनुच्छेद 51 (क)

मूल कर्तव्य

भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

1. संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे।
2. स्वतन्त्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजाए रखे और उसका पालन करे।
3. भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करें और उसे अक्षुण्ण रखे।
4. देश की रक्षा करे और आह्वान किये जाने पर राष्ट्र की सेवा करे।
5. भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे; जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो – ऐसी प्रथाओं का त्याग करे, जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं।
6. हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे।
7. **प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे।**

8. वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे।
9. सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे।
10. व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू ले।

भारतीय संविधान में पशु-संरक्षण[16]

भारतीय संस्कृति में गाय को माता का स्थान दिया गया है। प्राचीन भारत में गौधन से ही समृद्धि आंकी जाती थी। जीवों के प्रति दया और करुणा हमारी संस्कृति के प्रमुख अंग रहे हैं। आज मूक प्राणियों का वध न केवल मांसाहार के लिए किया जा रहा है, अपितु फैशन-परस्ती और विदेशी मुद्रा कमाने के लिए भी मूक प्राणियों की हत्या की जा रही है। वैज्ञानिकों के अनुसार भूकम्प का एक कारण पशुवध भी है। सरकार को भी विदेशी मुद्रा का लालच कत्लखाने के लिए उकसाता है। लगभग हर पार्टी वादा करती है कि उनके नेतृत्व मे चलने वाली सरकार के राज मे गौवध बन्द हो जाएगा, लेकिन होता कुछ नहीं। पशुवध के कारण हमारी प्रकृति का सन्तुलन बिगड़ गया है। गौवंश से हमें न केवल घी, दूध, दही आदि मिलता है, अपितु हमारी कृषि का मूलाधार भी यही है। उसके गोबर और मूत्र तक उपयोगी हैं। सम्राट् अकबर ने भी गौवध पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

जुलाई, 2002 के अन्तिम सप्ताह में आई 'गो पशु आयोग' की रिपोर्ट में आयोग ने भारत सरकार से सिफारिश की है कि संविधान में संशोधन कर गोरक्षा को मौलिक अधिकारों की सूची में शामिल किया जाए। इस बात के लिए भी संविधान में संशोधन हो कि संसद एक केन्द्रीय कानून बनाए, जिससे गो-वध पर कानूनी रोक लगाई जा सके। आयोग ने गाय को राष्ट्रीय प्राणी घोषित करने की सिफारिश करते हुए यह भी कहा है कि गोवध को संवैधानिक अपराध घोषित किया जाए।

हमारे संविधान में प्राणिमात्र के प्रति करुणा के साथ साथ गौवंश के वध का प्रतिषेध सरकार की जिम्मेदारी है; परन्तु जो परिस्थिति है, उससे पाठक भलीभाँति परिचित हैं। जैनाचार्य, करुणा और दया की प्रतिमूर्ति होते हैं। पिछले कुछ वर्षों से उन्होंने गौवंश के संरक्षण का बीडा उठाया है, विशेषतः मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, छत्तीसगढ़ और राजस्थान में हजारों की संख्या में गौशालायें जैनाचार्यों की प्रेरणा और उपदेश से संचालित हैं। मांसाहार का निर्यात रोकने के लिए भी जैन समाज ने अहिंसक आन्दोलन चलाकर जन जागरण किया है। आज प्रत्येक भारतीय विषेशतः अहिंसक समाज का कर्तव्य है कि सरकार को गोवध पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए बाध्य करें तथा इससे सम्बन्धित भारतीय संविधान के अनुच्छेद 51 छ व झ की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करे। इस विषय में अन्य अनुच्छेद निम्न हैं –

अनुच्छेद 48

कृषि और पशु पालन का संगठन[17]

राज्य कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठित करने का प्रयास करेगा और विशिष्टतया गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक पशुओं की नस्लों के परिरक्षण और सुधार के लिए और सुधार के लिए उनके वध का प्रतिषेध करने के लिए कदम उठायेगा।

अनुच्छेद 48 क

पर्यावरण का संरक्षण तथा संवर्धन और वन तथा वन्य जीवों की रक्षा[18]

राज्य देश के पार्यावरण के संरक्षण और संवर्धन का और वन तथा वन्य जीवों की रक्षा करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 47

पोषाहार और जीवन स्तर को ऊँचा करने और लोक-स्वास्थ्य का सुधार करने हेतु राज्य का कर्तव्य[19]

राज्य अपने लोगों के पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊँचा उठाने और लोक स्वास्थ्य के सुधार को अपने प्राथमिक कर्तव्यों में मानेगा और राज्य विशिष्टतया मादक पेयों और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक औषधियों के औषधीय प्रयोजनों से भिन्न, उपयोग का प्रतिषेध करने का प्रयास करेगा।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार संविधान में परिवर्तन अनिवार्य

पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा को सम्बोधित करते हुए परिवर्तन के इस अकाट्य नियम को स्वीकार करते हुए कहा था – ''संविधान, यदि अपरिवर्तनशील और गतिहीन है तो चाहे वह कितना ही अच्छा और पूर्ण क्यों न हो, उपयोगी नहीं रह सकता, वह पुराना पड़ जाता है और धीरे धीरे अनुपयोगी हो जाता है। जीवन्त संविधान को तो अनिवार्यतः विकासशील होना चाहिए; उसमें अनुकूलशीलता, लचीलापन और परिवर्तनशीलता के गुण होने चाहिए।''

स्वतन्त्र जैन संविधान की आवश्यकता एवं उसका राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व

आज भौतिकता की चकाचौंध में नैतिकता, सदाचार, एवं सुसंस्कारों के लोप होने के कारण समाज में अनाचार वृत्तियाँ पनप रही हैं, उसका कारण अपने वैभवशाली संविधान के सम्बन्ध में अनभिज्ञता है।

मैं इस शोधकार्य के माध्यम से उस सार्थक प्रयास को पुनः जागृत करने का प्रयत्न करना चाहती हूँ ताकि उस दिशा में कुछ कदम आगे बढ़ाये जा सकें। इस दिशा में एक सार्थक प्रयास जागरूक विचारक स्व. बैरिस्टर चम्पतरायजी ने 'जैन कानून' के नाम से पुस्तक लिख कर किया था, लेकिन वह भी हिन्दी/अंग्रेजी दो भाषाओं में पुस्तक प्रकाशन तक ही सीमित होकर रह गया। उसके माध्यम से जनजागृति की दिशा में जो ठोस कदम उठाए जाने की आवश्यकता थी, वह कुछ भी सम्भव नहीं हो पाया। यदि इस विषय पर कुछ शोधकार्य ही किये गये होते तो भी कुछ चेतना जागृत हो सकती।

मैं इस दिशा में जैन समाज के गणमान्य नेताओं, विद्वानों, वकीलों, मनीषियों एवं विचारकों के साथ जैन युवा पीढ़ी से आह्वान करना चाहती हूँ कि वे इसे एक आन्दोलन के रूप में लें और इसे संसद के गलियारों तक पहुँचाएँ।

वर्तमान में जिनागम में जितने भी नीतिपरक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें से कोई ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जिसमें जैनधर्म के अनुसार सम्पूर्ण लौकिक संवैधानिक व्यवस्था का वर्णन मिलता हो, अतः इस दिशा में कार्य करने की महती आवश्यकता महसूस हो रही है कि कोई मनीषी विद्वान् जिनागम के आलोक में जैनधर्मानुसार लौकिक जगत् का संविधान क्या हो ? – इसका विस्तृत आलेख तैयार करे और उसका अच्छी तरह माहौल बनाए, ताकि उस पर राजनीतिक स्तर पर संसद में चर्चा की जा सके। इसके माध्यम से हम यदि यह सिद्ध कर सके कि वर्तमान भारतीय संविधान उतना योग्य नहीं है, यह तो एक दृष्टि से ब्रिटिश संविधान की नकल मात्र है, इसमें अभी संशोधन और परिवर्तन की अत्यन्त आवश्यकता है।

यहाँ हमारा प्रश्न है कि हजारों वर्षों से हमारा देश, तीर्थंकरों अर्हन्तों बुद्धों सिद्धहस्त साधकों एवं मनीषियों का देश माना जाता रहा है तो क्या उनके विचारों को आधार बना कर हम अपने देश का संविधान नहीं बना सकते ? जिसके माध्यम से देश का संचालन किया जा सके। हाँ, इस संविधान का सर्वजनोपयोगी और व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने वाला अवश्य होना चाहिए क्योंकि हमारा देश विभिन्न विचित्रताओं से भरा हुआ देश है। लेकिन मेरा विश्वास है कि जैनधर्म में ही वह ताकत है, जो ऐसा भारतीय संविधान बना सकता है, और देश का निर्बाध शासन कर सकता है।

जैनदर्शन एवं जैनधर्म के पास अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अनेकान्त, स्याद्वाद, आदि ऐसे मनोहर सिद्धान्त हैं, जिससे वह समस्त लोकोपयोगी कार्यों को याथातथ्य रूप में प्रस्तुत कर सकता है। हमें मानव जगत् के साथ साथ पर्यावरण की दृष्टि को भी साथ में रखना होगा, हमें यह मान कर चलना चाहिए कि यह सम्पूर्ण जगत् केवल मानवों के लिए निर्मित नहीं है। इस पर जितना मानवों का अधिकार है, उतना ही पशु-पक्षियों एवं वनस्पति जगत् का भी अधिकार है। हमें पर्यावरण के समस्त आयामों को बराबर का उचित स्थान देना होगा, वरना यह पृथ्वी न हमारे रहने लायक रहेगी और न किसी के रहने लायक रहेगी। सभी के हित में ही हमारा हित है – इस सिद्धान्त को हमें कभी नहीं भूलना चाहिए। यही कारण है कि जैनधर्म प्राणीमात्र और जीवमात्र के कल्याण की बात करता है; इसी में पर्यावरण की भी सुरक्षा निहित है।

भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में जैनों का योगदान[20]

अंग्रेजों से भारत के प्रथम स्वाधीनता संघर्ष में अमर शहीद लाला हुकमचन्द जैन, कानूनगो, हांसी एवं फकीरचन्द जैन, हांसी को अंग्रजों के द्वारा 9 जनवरी 1858 को खुले आम फांसी पर लटका देने से लेकर अक्टूबर 1946 तक लिखित सूचनानुसार 20 जैनों ने अपने प्राण त्याग दिये तथा 627 जैनों ने स्वतन्त्रता

संग्राम में भाग लिया। उक्त शहीदों एवं स्वतन्त्रता सैनानियों का तो सम्पूर्ण विवरण उपलब्ध है, इनके अलावा अन्यों को विवरण उपलब्ध न होने के कारण उन्हें निर्दिष्ट संख्या में शामिल नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त आज़ाद हिन्द फौज में भी जैनों ने प्रत्यक्ष रूप से शामिल होकर व धनादि से सहयोग किया है। शिक्षित समाज होने के कारण जैनों द्वारा निकाले जा रहे अखबारों एवं पत्रिकाओं ने भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

भारतीय समाज और जैन संस्कृति : परस्पर विकास एवं संरक्षण

भारतीय समाज और जैन संस्कृति का परस्पर बहुत गहन सम्बन्ध रहा है। वे एक दूसरे का विकास एवं संरक्षण भी करते हैं। इस सम्बन्ध में **डॉ. राजाराम जैन**[21] लिखते हैं –

''जैनधर्म, प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय धर्म रहा है, जो इसी से सिद्ध है कि वह भारत के किसी एक कोण-विशेष में ही सिमटा नहीं रहा। उसकी व्यापकता इस तथ्य से जानी जा सकती है कि उसके आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ अयोध्या में, और उन्होंने कठोर तपस्या कर निर्वाण प्राप्त किया अष्टापद (हिमालय) के सर्वोच्च दुर्गम कैलाश पर्वत के उच्च शिखर से; यथा – **अट्ठावयम्मि उसहे.....**।[22]

इसी प्रकार बाईसवें तीर्थंकर का नेमिनाथ का जन्म हुआ शूरसेन देश (आधुनिक मथुरा तथा उसके आसपास का प्रदेश) में और उन्होंने तपस्या कर मोक्षप्राप्ति की ऊर्जयन्त गिरिशिखर (गिरनार पर्वत) पर बैठ कर। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ काशी (वाराणसी) में और कठोर तपस्या कर निर्वाण पद प्राप्त किया – झारखण्ड स्थित सम्मेदशिखर से। चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ने जन्म लिया – विदेह स्थित कुण्डग्राम (वैशाली, उत्तर बिहार) में और उनका परिनिर्वाण हुआ – दक्षिण बिहार स्थित पावापुरी में।

इसी प्रकार अवशिष्ट अन्य तीर्थंकरों का जन्म भी भारत भूमि के अन्य अन्य जनपदों में हुआ, किन्तु उनका परिनिर्वाण भी उक्त सम्मेदशिखर (वर्तमान झारखण्ड प्रदेश) से हुआ।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि तीर्थंकरों के उपदेश जहाँ उत्तर भारत में हुए, जबकि तदाधारित शाश्वत कोटि का साहित्य समकालीन लोकप्रिय विविध भाषाओं – संस्कृत, प्राकृत, कन्नड, अपभ्रंश आदि में विविध शैलियों में प्रचुर मात्रा में लिखा गया दक्षिण भारत में।.....

इसी प्रकार परवर्ती कालों के प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी आदि में लिखित विविध विधाओं वाले जैन साहित्य के प्रणयन, उनके प्रतिलिपि-कार्य एवं संरक्षण में ब्राह्मणों तथा कायस्थों आदि के योगदान को जैन इतिहास कभी भी विस्मृत नहीं कर सकता।''

इसी प्रकार जैनधर्म और अन्य भारतीय धर्मों के परस्पर सम्बन्धों पर दृष्टिपात करते हुए **श्री बिशम्भरनाथ पाण्डे,** 'भारत और मानव संस्कृति' (प्रथम भाग) के **'जैन संस्कृति का मर्म'** नामक अध्याय में लिखते हैं –

''प्रश्न यह है कि जैन संस्कृति का मर्म क्या है ? इसका संक्षिप्त जवाब तो यही है कि निवर्तक धर्म, जैन संस्कृति की आत्मा है। जो धर्म, निवृत्ति कराने वाला अर्थात् पुर्नजन्म के चक्र का नाश कराने वाला हो या उस निवृत्ति के साधनरूप से जिस धर्म का आविर्भाव, विकास और प्रचार हुआ हो वह निवर्तक धर्म कहलाता हैं.....।

इस समय जितने भी धर्म, दुनिया में जीवित और प्रचलित हैं या जिनका थोड़ा बहुत इतिहास मिलता है, उन सबके आन्तरिक स्वरूप का अगर वर्गीकरण किया जाए तो वह मुख्यतया तीन भागों में विभाजित होते हैं – पहला वह है, जिसमें मौजूदा जन्म का विधान है। दूसरा वह है, जो मौजूदा जन्म के अलावा जन्मान्तर का भी विधान करता है। तीसरा वह है, जो जन्म-जन्मान्तर के उपरान्त उसके विनाश का या उच्छेद का विचार करता है।

1. आज की तरह बहुत पुराने समय में भी ऐसे विचारक लोग थे, जो वर्तमान जीवन में प्राप्त होने वाले सुख के उस पार किसी अन्य सुख की कल्पना से न तो प्रेरित होते थे और न उसके साधनों की खोज में समय बिताना ठीक समझते थे। उनका ध्येय वर्तमान जीवन का सुखभोग ही था और वे इसी ध्येय की पूर्ति के लिए सब साधन जुटाते थे। वे समझते थे कि हम जो कुछ हैं, वह इसी जन्म तक है और मृत्यु के बाद पुनर्जन्म नहीं होता। बहुत हुआ तो हमारे पुनर्जन्म का अर्थ हमारी सन्तति का चालू रहना है।..... .ऐसा विचार करने वाले वर्ग को हमारे प्राचीनतम शास्त्रों में अनात्मवादी या नास्तिक कहा गया है। यही

वर्ग आगे जाकर 'चार्वाक' कहलाने लगा।.....इस वर्ग को एकमात्र काम-पुरुषार्थी या बहुत हुआ तो काम और अर्थ उभय -पुरुषार्थी कह सकते हैं। इसका सिद्धान्त है – 'ईट, ड्रिंक एण्ड बी मेरी'।

2. यह वर्ग आत्मवादी और पुनर्जन्मवादी तो है ही पर उसकी कल्पना जन्म-जन्मान्तर में अधिकाधिक सुख (लौकिक सुख) पाने की तथा प्राप्त सुख को अधिक से अधिक समय तक स्थिर रखने की होने से उसके धर्मानुष्ठानों को प्रवर्तक धर्म कहा गया है।.....प्रवर्तक धर्म के अनुसार काम, अर्थ और धर्म – ये तीन पुरुषार्थ हैं; उनमें मोक्ष नामक चौथे पुरुषार्थ की कल्पना नहीं है। प्राचीन ईरानी आर्य, जो अवेस्ता को धर्म ग्रन्थ मानते थे, वे सब उक्त प्रवर्तक के अनुयायी हैं।

3. निवर्तक धर्म, उक्त प्रवर्तक धर्म का विरोधी है। जो विचारक, इस लोक के उपरान्त लोकान्तर और जन्मान्तर मानने के साथ-साथ, उस जन्म चक्र को धारण करने वाली आत्मा को, प्रवर्तक धर्मवादियों की तरह तो मानते ही थे, पर साथ ही वे जन्मान्तर में प्राप्य उच्च, उच्च्तर और चिरस्थायी सुख से सन्तुष्ट न थे । उनकी दृष्टि यह थी कि इस जन्म या जन्मान्तर में कितना ही ऊँचा सुख क्यों न मिले, यह कितने ही दीर्घकाल तक क्यों न स्थिर रहे, पर अगर वह सुख कभी न कभी नाश होने वाला है तो फिर वह उच्च और चिरस्थायी सुख भी अन्त में निकृष्ट सुख की कोटि का होने से उपादेय हो नहीं सकता। वे लोग ऐसे किसी सुख की खोज में थे, जो एक बार प्राप्त होने के बाद कभी नष्ट न हो। इस सुख की खोज ने उन्हें मोक्ष पुरुषार्थ मानने के लिए बाध्य किया। वे मानने लगे कि आत्मा की एक ऐसी भी स्थिति सम्भव है, जिसे पाने के बाद फिर कभी जन्म-जन्मान्तर या देह धारण करना नहीं पड़ता । वे आत्मा की उस स्थिति को मोक्ष या जन्म-निवृति कहते थे।

प्रवर्तक धर्मानुयायी जिन उच्च और उच्चतर धार्मिक अनुष्ठानों से इस लोक तथा परलोक के उत्कृष्ट सुखों के लिए प्रयत्न करते थे, उन धार्मिक अनुष्ठानों को निवर्तक धर्मानुयायी अपने साध्य मोक्ष या निवृत्ति के लिए न केवल अपपर्याप्त ही समझते, बल्कि वे उन्हें मोक्ष पाने में बाधक समझ कर, उन सब धार्मिक अनुष्ठानों को आत्यन्तिक हेय बतलाते थे। उद्देश्य और दृष्टि मे ंपूर्व और पश्चिम के जितना अन्तर होने से प्रवर्तक धर्मानुयायियों के लिए जो उपादेय है, वही निवर्तक धर्मानुयायियों के लिए हेय बन गया। यद्यपि मोक्ष के लिए प्रवर्तक धर्म, बाधक माना गया पर साथ ही मोक्षवादियों को अपने साध्य मोक्ष-पुरुषार्थ के उपाय रूप से किसी सुनिश्चित मार्ग की खोज करना भी अनिवार्य रूप से करना था। इस खोज की सूझ ने उन्हें एक ऐसा मार्ग, एक ऐसा उपाय सुझाया, जो किसी बाहरी साधन पर निर्भर न था। वह एकमात्र, साधक की अपनी विचार-शुद्धि और व्यवहार-शुद्धि पर अवलम्बित था। यही विचार और व्यवहार की आत्यन्तिक शुद्धि का मार्ग, निवर्तकधर्म, निर्वाण या मोक्ष के मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

निवर्तक धर्म, व्यक्तिगामी होता है। वह आत्मसाक्षात्कार की उत्कट वृत्ति में से उत्पन्न होने के कारण जिज्ञासु मे ंआत्मतत्त्व है या नहीं ? है तो वह कैसा है ? उसका अन्य के साथ कैसा सम्बन्ध है ? उसका साक्षात्कार सम्भव है तो किन-किन उपायों से सम्भव है ? – इत्यादि प्रश्नों की ओर प्रेरित करता है – ये प्रश्न ऐसे हैं कि जो एकान्त चिन्तन, तप और असंगतापूर्ण जीवन के सिवाय सुलझ नहीं सकते। निवर्तक धर्म के अनुसार व्यक्ति के लिए कर्तव्य एक ही है और वह यह कि जिस तरह हो, आत्म-साक्षात्कार करे और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे।

इस देश में जब प्रवर्तक धार्मनुयायी वैदिक आर्य पहले-पहल प्रभावशाली हुए, तब भी कहीं न कहीं इस देश में निवर्तक धर्म, एक या दूसरे रूप में प्रचलित था। शुरु में इन दो धर्म-संस्थाओं के विचारों में पर्याप्त संघर्ष रहा; पर निवर्तक धर्म के इने-गिने सच्चे अनुगामियों की तपस्या, ध्यान-प्रणाली और असंग-चर्या का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे धीरे बढ़ रहा था, उसने प्रवर्तक धर्म के कुछ अनुगामियों को भी अपनी ओर खींचा और निवर्तक धर्म की संस्थाओं का अनेक रूप में विकास शुरु हुआ।.....इस तरह प्रवर्तक धर्म का जीवन में समन्वय स्थिर हुआ, उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और जनजीवन में आज भी देखते हैं। जो तत्त्वज्ञ ऋषि, प्रवर्तक धर्म के अनुयायी ब्राह्मणों के वंशज होकर भी निवर्तक धर्म को पूरे तौर से अपना चुके थे, उन्होंने चिन्तन और जीवन में निवर्तक धर्म का महत्त्व व्यक्त किया।.....समन्वय की ऐसी प्रक्रिया इस देश में शताब्दियों तक चली।

महावीर और बुद्ध के पहले भी ऐसे अनेक निवर्तक धर्म के पुरस्कर्ता हुए हैं। फिर भी महावीर और बुद्ध के समय में तो इस देश में निवर्तक धर्म की पोषक ऐसी अनेक संस्थाएँ थीं।.....

शताब्दियाँ ही नहीं, बल्कि सहस्राब्दि पहले से लेकर जो धीरे धीरे निवर्तक धर्म क अंग प्रत्यंग रूप से अनेक मन्तव्यों और आचारों का महावीर और बुद्ध तक के समय में विकास हो चुका था, वे संक्षेप में निम्न प्रकार हैं –

- आत्मशुद्धि ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है, न कि ऐहिक या पारलौकिक किसी भी पद का महत्त्व।
- इस उद्देश्य की पूर्ति में बाधक आध्यात्मिक मोह या अविद्या और तज्जन्य तृष्णा का मूलोच्छेद।
- आध्यात्मिक ज्ञान और उसके द्वारा सारे जीवन व्यवहार को पूर्ण निस्तृष्ण बनाना।
- किसी भी आध्यात्मिक अनुभव वाले मनुष्य के द्वारा किसी भी भाषा में कहे गये आध्यात्मिक वर्णन वाले वचनों को प्रमाण रूप से मानना, न कि ईश्वरीय या अपौरुषेय रूप से स्वीकृत किसी खास भाषा में रचित ग्रन्थों को।
- योग्यता और गुरुपद की कसौटी – एक मात्र जीवन की आध्यात्मिक शुद्धि, न कि जन्म-सिद्ध वर्ण-विशेष। इस दृष्टि से स्त्री और शूद्र तक को भी धर्माधिकार उतना ही है, जितना एक ब्राह्मण या क्षत्रिय को।
- मद्य-माँस आदि का धार्मिक और सामाजिक जीवन में निषेध।

कमोवेश उक्त लक्षणों को धारण करने वाली अनेक संस्थाओं और सम्प्रदायों में एक ऐसा पुराना निवर्तक धर्मी सम्प्रदाय था, जो महावीर के पहले बहुत शताब्दियों से अपने खास ढ़ंग से विकास करता जा रहा था। उसी सम्प्रदाय में पहले नाभिनन्दन ऋषभदेव, यदुनन्दन नेमिनाथ और काशीराजपुत्र पार्श्वनाथ हो चुके थे या वे उसे सम्प्रदाय में मान्य पुरुष बन चुके थे। उस सम्प्रदाय के समय-समय पर अनेक नाम प्रसिद्ध रहे। यति, भिक्षु, मुनि, अनगार, श्रमण आदि जैसे नाम तो उस सम्प्रदाय के लिए व्यवहृत होते थे, पर जब दीर्घ तपस्वी महावीर उस सम्प्रदाय के मुखिया बने, तब सम्भवतः वह सम्प्रदाय 'निर्ग्रन्थ' नाम से विशेष प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि निवर्तक धर्मानुयायी पन्थों में ऊँची आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँचे हुए व्यक्ति के लिए 'जिन' शब्द साधारण रूप से प्रयुक्त होता था। फिर भी महावीर के समय में और उनके कुछ समय बाद तक भी महावीर का अनुयायी साधु वर्ग या गृहस्थ वर्ग 'जैन' (जिनानुयायी) नाम से व्यवहृत नहीं होता था। आज 'जैन' शब्द से महावीर पोषित सम्प्रदाय के त्यागी एवं गृहस्थ, सभी अनुयायियों को बोध होता है, इसके लिए पहले 'णिग्गन्थी' और 'समणोवासग' जैसे शब्द व्यवहृत होते थे।

इस निर्ग्रन्थ या जैन सम्प्रदाय में ऊपर सूचित निवृत्ति धर्म के सब लक्षण बहुधा थे ही, पर इसमें ऋषभ आदि पूर्वकालीन त्यागी महापुरुषों के द्वारा तथा अन्त में ज्ञातपुत्र महावीर के द्वारा विचार और आचारगत ऐसी छोटी-बड़ी अनेक विशेषताएँ आई थीं, वे स्थिर हो गई थीं कि जिनसे ज्ञातपुत्र महावीर पोषित यह सम्प्रदाय, दूसरे निवृत्तिगामी सम्प्रदायों से स्पष्टतः जुदारूप धरण किये हुए था। यहाँ तक कि यह जैन सम्प्रदाय बौद्ध सम्प्रदाय से भी खास फर्क रखता था। महावीर और बुद्ध न केवल समकालीन थे, बल्कि वे बहुधा एक ही प्रदेश में विचरने वाले तथा समान और समकक्ष अनुयायियों को एक ही भाषा में उपदेश देते थे। दोनों के मुख्य उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं था। फिर भी महावीर-पोषित और बुद्ध-संचालित सम्प्रदायों में शुरू से ही विशेष अन्तर रहा, जो निम्न तथ्यों से उजागर होता है –

1. बौद्ध सम्प्रदाय, बुद्ध को ही आदर्श रूप से पूजता है तथा बुद्ध के ही उपदेशों का आदर करता है। जबकि जैन सम्प्रदाय, महावीर आदि को इष्टदेव मान कर उन्हीं के वचनों को मान्य रखता है।
2. बौद्ध चित्तशुद्धि के लिए ध्यान और मानसिक संयम पर जितना जोर देते हैं, उतना जोर बाह्य तप और देहदमन पर नहीं। जबकि जैन, ध्यान और मानसिक संयम के अलावा देहदमन पर भी जोर देते रहे हैं।
3. बुद्ध का जीवन, लोकों में हिलने-मिलने वाला तथा उनके उपदेश, अधिक सीधे-सादे व लोक-सेवागामी हैं, जबकि महावीर का जीवन तथा उपदेश वैसे नहीं हैं।
4. बौद्ध अनगार की बाह्य चर्या नियन्त्रित नहीं रही, जबकि जैन अनगारों की चर्या नियन्त्रित रही।
5. बौद्ध सम्प्रदाय, भारत के समुद्र और पर्वतों की सीमा को लांघ कर, उस पुराने समय में भी अनेक भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी सभ्य-असभ्य जातियों में दूर-दूर तक फैला और करोड़ों अभारतीयों ने भी बौद्ध आचार-विचार को अपने-अपने ढ़ंग से अपनी-अपनी भाषा में उतारा व अपनाया, जबकि जैन सम्प्रदाय के विषय में ऐसा नहीं हुआ क्योंकि उसके गुरु आवागमन करते हुए वाहनों का प्रयोग नहीं करते थेः अतः उनका भारत के बाहर जाना सुलभ नहीं हो सका एवं प्रचार-प्रसार की दृष्टि से भी उसकी मर्यादाएँ सीमित रहीं।

यद्यपि जैन सम्प्रदाय ने भारत के बाहर उस (बौद्धों के) अनुपात में प्रभाव नहीं जमाया, फिर भी वह भारत के दूरवर्ती सब भागों में धीरे-धीरे न केवल फैल ही गया, बल्कि उसने अपनी कुछ खास विशेषताओं की छाप प्रायः भारत के सभी भागों पर थोड़ी बहुत अवश्य डाली। जैसे-जैसे जैन सम्प्रदाय पूर्व से उत्तर और पश्चिम तथा दक्षिण की ओर फैलता गया; वैसे-वैसे उसे प्रवर्तक-धर्मी तथा निवृत्ति-पन्थी (अन्य) सम्प्रदायों के साथ भी थोड़े-बहुत संघर्ष में भी आना पड़ा। इस संघर्ष में कभी तो जैन आचार-विचारों का असर दूसरे सम्प्रदायों पर पड़ा और कभी दूसरे सम्प्रदायों के आचार-विचारो का असर जैन सम्प्रदाय पर भी पड़ा। यह क्रिया, किसी एक ही समय में या एक ही प्रदेश में किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा सम्पन्न नहीं हुई। बल्कि दृश्य-अदृश्य रूप में हजारों वर्ष तक चलती रही और आज भी चालू है। पर अन्त में जैन सम्प्रदाय और दूसरे भारतीय-अभारतीय सभी धर्म सम्प्रदायों का एक स्थायी सहिष्णुतापूर्ण समन्वय हो गया, जैसा कि एक कुटुम्ब के भाईयों में होता रहता है। इस पीढ़ियों के समन्वय के कारण साधारण लोग यह जान ही नहीं सकते कि उसके धार्मिक आचार-विचार की कौन सी बात मौलिक है और कौन सी दूसरों के संसर्ग का परिणाम है।

जैन साधना पक्ष की अन्य दर्शनों के साथ तुलना

जैन साधना पक्ष को कठोरता मान कर ही तथागत बुद्ध ने मध्यम मार्ग अपनाया, जबकि वैदिकों में साधनापक्ष बहुत ही कमजोररूप में स्वीकार किया गया है। इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए श्री देवेन्द्र मुनि ने आचारांग सूत्र की प्रस्तावना में लिखा है –

1. तथागत बुद्ध साधना के उषाकाल में उग्रतम साधना करते रहे, पर उन्हें उससे आनन्द की उपलब्धि नहीं हुई; जिसके कारण उन्होंने उग्र साधना का परित्याग कर ध्यान का आलम्बन लिया। उनका यह अभिमत बन गया कि उग्र साधना, ध्यान साधना में बाधक है।
2. लेकिन प्रभु महावीर की साधना का जो शब्दचित्र आचारांग में प्राप्त होता है, वह (बाह्य दृष्टि से) बहुत ही कठोर माना गया है। प्रभु महावीर चार चार माह तक एक ही स्थान पर अवस्थित होकर साधना करते थे, उन्होंने छह माह तक तक भी अन्न और जल का ग्रहण नहीं किया, तथापि उनकी वह उग्र साधना ध्यान में बाधक नहीं, अपितु साधक थी। प्रभु महावीर निरन्तर ध्यान साधना में लगे रहते थे, उन्होंने उपने श्रमण संघ की जो आचार संहिता बनाई, वह भी अत्यन्त उग्र साधना से युक्त है।
3. श्रमण के अशन, वशन, पात्र, निवास स्थान के सम्बन्ध में यह नियम है कि श्रमण के निमित्त यदि कोई वस्तु बनाई गई हो या पुरातन पदार्थ में नवीन संस्कार किया गया हो तो वह भी भिक्षु के लिए अग्राह्य है क्योंकि वह उद्दिष्ट आहार का त्यागी होता है। यदि उसे कुछ अनुद्दिष्ट मिल जाए और वह उसके लिए उपयोगी हो तो ही वह उसे ग्रहण कर सकता है।
4. जैन श्रमण, अन्य बौद्ध और वैदिक परम्परा के भिक्षु ओं की तरह किसी के घर पर भोजन का निमन्त्रण भी ग्रहण नहीं करता है। बौद्ध साहित्य में बौद्ध श्रमणों के लिए स्थान स्थान पर आवास हेतु विहारों के निर्माण का वर्णन है और वैदिक परम्परा के तापसों के लिए भी आश्रमों की व्यवस्था बताई गई है, किन्तु जैन श्रमणों के लिए किसी भी प्रकार से निवास स्थान का निर्माण करना, निषिद्ध माना गया है। यदि उनका निर्माण भी उसके निमित्त किया गया हो तो उसमें श्रमण अवस्थित नहीं हो सकता है।
5. बौद्ध भिक्षुओं के लिए वस्त्र ग्रहण करना अनिवार्य था। श्रमणों के निमित्त क्रय करके जो गृहस्थ वस्त्र देता था, उसे तथागत बुद्ध सहर्ष स्वीकार करते थे। बुद्ध ने श्रमणों के निमित्त निर्मित/क्रीत वस्त्रों को ग्रहण करना उचित माना था, पर (दिगम्बर मान्यता के अनुसार वस्त्र ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है और श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार भी) जैन श्रमणों के लिए वस्त्र ग्रहण करना उत्सर्ग मार्ग नहीं है और उसके निमित्त निर्मित/क्रीत वस्त्रों को भी वह ग्रहण नहीं कर सकता है और न वह बहुमूल्य या उत्कृष्ट वस्त्रों को ग्रहण करता है। उसके पास होने पर भी ग्रीष्म ऋतु आदि में वस्त्र धारण करना आवश्यक नहीं होता है तो वह उसे धारण नहीं करता है और आवश्यक होने पर लज्जा निवारणार्थ अनासक्त भाव से वस्त्र का उपयोग करता है।
6. श्रमण, भिक्षा से अपना जीवनयापन करता है। भोजन के निमित्त होने वाली सभी प्रकार की हिंसा से मुक्त होता है क्योंकि भगवान महावीर के युग में स्थूल जीवों की हिंसा से तो जन-मानस परिचित था, पर

त्यागी और संन्यासी कहलाने वाले व्यक्तियों का भी सूक्ष्म जीवों की हिंसा का परिज्ञान नहीं था। वे नित्य नई मिट्टी खोद कर लाने और उससे आश्रमों का लेपन करते थे। अनेक बार स्नान करने में धर्म का अनुभव करते थे। यहाँ तक कि तथागत बुद्ध भी पानी में जीव नहीं मानते थे। वैदिक परम्परा में तो चौंसठ बार तक मिट्टी का स्नान करने का वर्णन मिलता है। पंचाग्नि तप तपने में साधना की उत्कृष्टता मानी जाती है, विविध प्रकार से वायुकाय के जीवों की विराधना की जाती है और कन्द-मूल-फल-फूल के आहार को निर्दोष आहार माना जाता है। वैदिक परम्परा के ऋषिगण, गृह का परित्याग कर पत्नी के साथ जंगल में रहते थे। वे गृहत्याग तो करते थे, पर पत्नी त्याग नहीं। जबकि भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा कि श्रमण को स्त्री-संग का पूर्ण त्याग करना चाहिए क्योंकि स्त्री-संग के कारण नाना प्रकार के प्रपंच करने पड़ते हैं, जिसमें केवल बन्धन ही बन्धन होता है; अतः सन्तों को गृह-त्याग ही नहीं, सर्व परिग्रह एवं विषय-भोग का परित्यागी होना चाहिए।

7. अहिंसा महाव्रत के पूर्णरूप से पालन करने से अन्य सभी महाव्रतों का पालन सहज सम्भव हो जाता है। अतः श्रमण, किसी भी प्रकार की हिंसा न स्वयं करे और न हिंसा करने वालों का अनुमोदन ही करे – मन, वचन और काया से। अहिंसा महाव्रत की सुरक्षा के लिए रात्रि-भोजन का त्याग अनिवार्य है। श्रमण को भिक्षा में जो भी वस्तु उपलब्ध होती है, वह उसे समभावपूर्वक ग्रहण करता है।
8. परिषहों को ग्रहण करते समय उसके मन में किंचित् मात्र भी असमाधि नहीं होती है। उसके मन में आनन्द की उर्मियाँ तरंगित होती रहती थीं। शारीरिक कष्ट का असर उसके मन पर नहीं होता क्योंकि ध्यानाग्नि से वह कषायों को जला देता था। भगवान महावीर का मुख्य लक्ष्य, शरीर-शुद्धि नहीं, आत्म-शुद्धि है। अतः जिसके जीवन में अहिंसा की निर्मल धारा प्रवाहित हो रही है, उसे ही आर्य कहा गया है और जिसके जीवन में हिंसा की प्रधानता है, वह अनार्य है।[22अ]

जैन संस्कृति पर अन्य परम्पराओं के प्रभाव[23]

1. इन्द्र, वरुण आदि देव-देवियों की स्तुति-उपासना के स्थान पर जैनों का आदर्श है निष्कलंक मनुष्य (वीतरागी अरहन्त भगवान एवं वीतरागी साधु) की उपासना; परन्तु जैन आचार-विचार में बहिष्कृत देव-देवियों का पुनः गौणरूप से ही, स्तुति-प्रार्थना द्वारा प्रवेश हो गया, जिसका जैन संस्कृति के साथ कोई मेल नहीं है।
2. जैन परम्परा ने उपासना में प्रतीकरूप में मनष्य-मूर्ति को स्थान तो दिया, जो कि उसके उद्देश्य के साथ संगत है, पर साथ ही उसके आस-पास श्रंगार व आडम्बर का इतना संभार आ गया कि निवृत्ति के लक्ष्य के साथ बिलकुल असंगत है।
3. स्त्री और शूद्र को आध्यात्मिक समानता के नाते ऊँचा उठाने का तथा समाज में समान स्थान दिलाने का जो जैन संस्कृति का उद्देश्य रहा, वह यहाँ तक लुप्त हो गया कि न केवल उसने शूद्रों को अपनाने की क्रिया ही बन्द कर दी, बल्कि उसने ब्राह्मण-धर्मीय जाति-पांति की दीवारें भी खड़ी कीं। यहाँ तक कि जहाँ ब्राह्मण-परम्परा का प्राधान्य रहा, वहाँ तो उसने अपने घेरे में से शूद्र कहलाने वाले लोगों को अजैन कह कर, बाहर कर दिया और शुरु में जैन संस्कृति, जिस जाति-भेद का विरोध करने में गौरव समझती थी, उसने दक्षिण जैसे देशों में नये जाति-भेद की सृष्टि कर दी तथा स्त्रियों को पूर्ण आध्यात्मिक योग्यता के लिए असमर्थ करार दिया, जो कि स्पष्टतः कट्टर मनु-परम्परा का ही असर है।
4. मन्त्र-ज्योतिष आदि विद्याएँ, जिनका जैन संस्कृति के ध्येय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वे भी जैन संस्कृति में आईं। इतना ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक जीवन स्वीकार करने वाले अनगारों तक ने उन विद्याओं को अपनाया।
5. जिन यज्ञोपवीत आदि संस्कारों का मूल मे ंजैन संस्कृति के साथ कोई सम्बन्ध न था, वे ही दक्षिण भारत में मध्यकाल में जैन संस्कृति का एक अंग बन गये और इसके लिए ब्राह्मण परम्परा की तरह जैन परम्परा में भी एक पुरोहित वर्ग कायम हो गया। यज्ञ-यागादि की ठीक नकल करने वाले क्रियाकाण्ड प्रतिष्ठा आदि विधियों में आ गये।
6. ये तथा ऐसी दूसरी अनेक छोटी-मोटी बातें इसलिए घटीं कि जैन संस्कृति को उन साधारण अनुयायियों की रक्षा करनी थी, जो कि दूसरे विरोधी सम्प्रदायों में से आकर उसमें शरीक होते थे या दूसरे सम्प्रदायों के आचार-विचारों से अपने को बचा न सकते थे।

अन्य परम्पराओं पर जैन संस्कृति का प्रभाव[24]

1. यों तो सिद्धान्ततः सर्वभूतदया को सभी मानते हैं, पर प्राणिरक्षा के ऊपर जितना बल जैन परम्परा ने दिया, जितनी लगन से उसने इस विषय में काम किया, उसका नतीजा सारे ऐतिहासिक युग में यह रहा है कि जहाँ-जहाँ और जब-जब जैन लोगों का एक या दूसरे क्षेत्र में प्रभाव रहा, वहाँ सर्वत्र आम जनता पर जीवदया, प्राणिरक्षा का प्रबल संस्कार पड़ा है।
2. यहाँ तक कि भारत के अनेक भागों में अपने को अजैन कहने वाले तथा जैन विरोधी समझने वाले साधारण लोग भी जीव मात्र की हिंसा से नफरत करने लगे हैं।
3. अहिंसा के इस सामान्य संस्कार के कारण ही अनेक वैष्णव आदि, जैनेतर परम्पराओं के आचार-विचार से प्रभावित होकर, पुरानी वैदिक परम्परा से बिल्कुल जुदा हो गए हैं।
4. तपस्या के बारे में भी ऐसा ही हुआ है। त्यागी हो या गृहस्थ, सभी जैन तपस्या के ऊपर अधिकाधिक झुकते रहे हैं।
5. इसका फल पड़ौसी समाजों पर इतना अधिक पड़ा है कि उन्होंने भी एक या दूसरे रूप से अनेक विधि-सात्विक तपस्याएँ अपना ली हैं।
6. सामान्य रूप से साधारण जनता भी जैनों की तपस्या की ओर आदरशील रही है।
7. अनेक बार मुगल सम्राटों तथा दूसरे समर्थ अधिकारियों ने तपस्या से आकृष्ट होकर जैन सम्प्रदाय का बहुमान ही नहीं किया है, बल्कि उसे अनेक सुविधाएँ भी दी हैं।
8. मद्य-माँस आदि सप्त व्यसनों को रोकने तथा उन्हें घटाने के लिए जैन वर्ग ने इतना अधिक प्रयत्न किया है कि वह व्यसन-सेवी, अनेक जातियों में सुसंस्कार डालने में समर्थ हुआ है।
9. यद्यपि बौद्ध आदि दूसरे सम्प्रदाय, पूरे बल से इस सुसंस्कार के लिए प्रयत्न करते रहे, पर जैनों का प्रयत्न इस दिशा में आज तक जारी है और जहाँ जैनों का प्रभाव ठीक-ठीक है, वहाँ इस स्वैर-विहार के स्वतन्त्र युग में भी माँस-भक्षी जैनेतर लोग, खुल्लम-खुल्ला माँस-मद्य का उपयोग करने में आज भी सकुचाते हैं।
10. श्री लोकमान्य तिलक ने ठीक ही कहा था कि गुजरात आदि प्रान्तों में जो प्राणि-रक्षा और निर्मांस (निरामिस या शाकाहारी) भोजन का आग्रह है, वह जैन परम्परा का ही प्रभाव है।
11. जैन विचार सरणि का एक मौलिक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वस्तु का विचार अधिकाधिक पहलुओं और अधिकाधिक दृष्टिकोणों से करना और विवादास्पद विषय में बिलकुल अपने विरोधी पक्ष के अभिप्राय को भी उतनी ही सहानुभूति से समझने का प्रयत्न करना, जितनी कि सहानुभूति अपने पक्ष की ओर हो और अन्त में समन्वय पर ही जीवन-व्यवहार का फैसला करना।.....जैन विचारकों ने इस सिद्धान्त पर इतना अधिक जोर दिया है कि जिससे कट्टर से कट्टर विरोधी सम्प्रदायों को भी उनसे कुछ प्रेरणाएँ मिलती ही रही हैं। रामानुज का विशिष्टाद्वैत एवं उपनिषदों की भूमिका पर अनेकान्तवाद का ही तो प्रभाव है।
12. जैन संस्कृति के मर्म को समझने के लिए हमें थोड़े से उन आदर्शों का परिचय करना होगा, जो पहले से आज तक जैन परम्परा में एक से मान्य हैं और पूजे जाते हैं। सबसे पुराना आदर्श जैन परम्परा का ऋषभदेव और उनके परिवार का है। ऋषभदेव ने अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग उन जवाबदेहियों को बुद्धिपूर्वक अदा करने में बिताया, जो प्रजा-पालन की जिम्मेदारी के साथ उन पर आ पड़ी थीं। (उन्होंने जनसामान्य को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और कला का उपदेश दिया, एवं सुशासन करने का सन्देश दिया।)
13. जब उनको महसूस हुआ कि अब बड़ा पुत्र भरत, प्रजा-शासन की सब जवाबदेहियों को निबाह लेगा तो वे (वैराग्यवन्त होकर) उसे राज्य-भार सौंप कर, गहरे आध्यात्मिक प्रश्नों की छान-बीन के लिए उत्कृष्ट तपस्या करने घर से (जंगल की ओर) निकल पड़े।
14. ऋषभ के भरत और बाहुबली नामक पुत्रों में राज्य के निमित्त भयानक युद्ध शुरु हुआ परन्तु अन्त में द्वन्द्व-युद्ध का फैसला हुआ। (जो आज भी कार्यकारी है)
15. जब बाहुबली, विजय की ओर अग्रसर थे, तब उन्होंने उस क्षण को यह सोच कर कि – ''राज्य के निमित्त लड़ाई में विजय पाने और फिर बैर-प्रतिबैर तथा कुटुम्ब-कलह के बीज बोने की अपेक्षा सच्ची

विजय अहंकार और तृष्णाजय में है'' – ऐसा सोच कर उसे आत्म-विजय में बदल दिया। उन बाहुबली ने अपने बाहुबल को क्रोध और अभिमान पर ही चलाया और अबैर से बैर के प्रतिकार का जीवन्त-दृष्टान्त स्थापित किया। फल यह हुआ कि अन्त में भरत का भी लोभ तथा गर्व खत्म हुआ।

16. एक समय था, जबकि केवल क्षत्रियों में ही नहीं, वरन् सभी वर्गों में माँस खाने की प्रथा थी। नितप्रति के भोजन, सामाजिक उत्सव, धार्मिक अनुष्ठान के अवसरों पर पशु-पक्षियों का वध, ऐसे ही प्रचलित और प्रतिष्ठित था, जैसा आज नारियलों और फलों का चढ़ना/चढ़ाना। उस युग में यदुनन्दन नेमिकुमार (जैन संस्कृति के बाईसवें तीर्थंकर) ने एक दृढ़ कदम उठाया। उन्होंने निर्दोष पशु-पक्षियों की आर्त मूकवाणी से सहसा पिघल कर निश्चय किया कि वे ऐसी शादी न करेंगे। उसी गम्भीर निश्चय के साथ उन्होंने सबकी सुनी-अनसुनी करके बारात लौटा कर, द्वारका से सीधे गिरनार पर्वत पर जाकर तपस्या की। कुमारवय में राजपुत्री का त्याग और ध्यान-तपस्या का मार्ग अपना कर, उन्होंने उस चिर-प्रचलित पशु-पक्षी वध की प्रथा पर इतना गम्भीर प्रहार किया कि जिससे गुजरात भर में और गुजरात के प्रभाव वाले दूसरे प्रान्तों में भी वह प्रथा नाम शेष रह गई है और जगह-जगह मूक प्राणियों हेतु पांजरापोलों (गौशालाओं) की लोकप्रिय संस्थाओं में परिवर्तित हो गई।
17. पार्श्वनाथ (जैन संस्कृति के तेईसवें तीर्थंकर) का जीवन-आदर्श कुछ और ही रहा है। उन्होंने एक बार दुर्वासा जैसे सहज क्रोधी तापस और उसके अनुयायियों की नाराजगी का खतरा उठा कर भी जलती हुई गीली लकड़ी में एक जलते सांप को से बचाने का प्रयत्न किया। फल यह हुआ कि आज भी जैन प्रभाव वाले क्षेत्रों में कोई जहरीले साँप तक को नहीं मारता।
18. दीर्घ तपस्वी महावीर (जैन संस्कृति के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर) ने भी एक बार अपनी अहिंसा-वृत्ति की पूरी साधना का ऐसा ही परिचय दिया। जब जंगल में वे ध्यानस्थ खड़े थे तो एक प्रचण्ड विषधर ने उन्हें डस लिया। उस समय वे ने केवल ध्यान में अचल रहे, बल्कि उन्होंने मैत्री-भावना का उस विषधर पर प्रयोग किया, जिससे वह **'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'** – इस योगसूत्र का जीवित उदाहरण बन गया। अनेक प्रसंगों पर यज्ञ-यागादि धार्मिक कार्यों में होने वाली हिंसा को रोकने का तो वे आजन्म प्रयत्न करते रहे।
19. ऐसे ही आदर्शों से जैन संस्कृति उत्प्राणित होती आई है और अनेक कठिनाइयों के बीच भी उसने अपने आदर्शों के मर्म को किसी न किसी तरह संभालने का प्रयत्न किया है, जो भारत के धार्मिक, सामाजिक, और राजकीय इतिहास मे जीवित है। तथा जब कभी सुयोग मिला, तभी उसके त्यागियों (गृहत्यागी साधु-साध्वियों एवं तपस्वियों) तथा राजा, मन्त्री, व्यापारी आदि गृहस्थों ने जैन संस्कृति के अहिंसा, तप और संयम के आदर्शों को अपने ढ़ंग से प्रचारित किया।
20. .....जैन संस्कृति में तत्त्वज्ञान और आचार के जो मूल नियम हैं और वह जिन आदर्शों को आज तक पूजती/मानती आई है, उनके आधार पर वह प्रवृत्तिनिवृत्ति का ऐसा मंगलमय योग साध सकती है, जो सबके लिए क्षेमकर हो।''

जैन संस्कृति में धार्मिक सहिष्णुता[25]

धर्म ही मानव की विशेषता है। मनुष्य जब अपने स्वार्थ और अपनी वासना पूर्ति के लिए तत्पर होता है; तब वह लोभ, मोह, अहंकार, क्रोध आदि दुर्वृत्तियों के अधीन हो जाता है, अपने विवेक को भूल जाता है, उसकी ऐसी प्रवृत्ति से समाज को हानि उठानी पड़ती है। ऐसी आवेगमय परिस्थिति में आया मानव दुर्गति-गामी है, ऐसे मानव को समाज में जो स्थिर रख सके, ऐसी शक्ति और संकल्प-बल का ही नाम 'धर्म' है।

इससे प्राप्त मार्ग को ठीक आचार में लाने वाला जीवनव्यवहार में परिणत करने वाला कोई भी मानव परमशान्ति को पा सकता है और ऐसे मानवों से समाज को सच्ची शान्ति मिलती है।.....जैन तत्त्वज्ञान और आचार के उपदेशों के रूप में जो कुछ आज हमारे सामने ग्रन्थबद्ध मौजूद है, वह तो तीर्थंकर महावीर के उपदेश का ही फल है। इसमें बहुत कुछ पूर्व तीर्थंकरों का ही उपदेश समझना चाहिए, शब्द चाहे भले ही महावीर के हों।

आचारांग सूत्र में ही यह कहा गया है कि बहुत से लोग संसार में ऐसे हैं, जिनको यह पता ही नहीं है कि मैं कहाँ से आया हूँ, और कहाँ जाऊँगा ? मेरी आत्मा पुनर्जन्म धारण करती है या नहीं ? मैं कौन हूँ

और मेरा क्या होना है ? इन बातों को जो स्वयं जान लेता है या दूसरे ज्ञानी पुरुषों से सुन कर समझ लेते हैं; वे ही आत्मवादी हैं, वे ही क्रियावादी हैं, वे ही लोकवादी हैं, और वे ही कर्मवादी हैं – इस एक ही वाक्य में महावीर ने अपना सन्देश सुना दिया है, यदि यह कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

बुद्ध ने इसी बात को अपने ढ़ंग से कहा था। उनका कहना था कि हम कौन हैं और क्या होंगे? इन बातों को जानने की फिक्र न करके सिर्फ इतना ही जानें कि अभी हम दुःखी हैं और इस दुःख से मुक्त होना चाहते हैं। तो वह कौनसा मार्ग है, जिस पर चलने से हम दुःख-मुक्त हो सकते हैं ?

लेकिन महावीर ने निर्वाण की प्राप्ति के लिए प्रथम भूमिका आत्मज्ञान को माना क्योंकि आत्मा ही नहीं तो फिर दुःख से मुक्त कौन होगा ? उन्होंने कहा – 'एक आत्मा को जानो उस एक आत्मा को जानने से ही सब कुछ जाना जा सकता है।' उन्होंने आत्मज्ञान को या जीवन विज्ञान को इतना आगे बढ़ाया कि उनको सर्वत्र पृथ्वी, पानी, पवन, अग्नि आदि में जीव ही नजर आए। तब उन्होंने अपनी युक्ति को आगे बढ़ाया कि हमारी प्रवृत्ति ऐसी होनी चाहिए, जिससे दूसरे जीवों को पीड़ा न पहुँचे क्योंकि हमारी तरह वे भी तो सुख चाहते हैं। हम अपनी ओर से सबको सुखी करने का प्रयत्न कदाचित् न कर सकें, किन्तु अपनी प्रवृत्ति को हम इतना संकुचित तो अवश्य कर सकते हैं कि जिससे हम उन सबकी पीड़ा में निमित्त न बनें।

जैसे, गीता में सब प्रवृत्ति करने की बात कही गई है, लेकिन साथ ही उससे आसक्ति छोड़ने की भी सीख दी है। महावीर ने भी प्रवृत्ति को संकुचित करने का महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया है और जो अपरिहार्य प्रवृत्ति हो, उसे भी अप्रमत्त होकर करने की सीख दी। जिस प्रकार अनासक्ति से बन्धन नहीं होता, उसी प्रकार अप्रमाद से भी बन्धन नहीं होता। इस तरह मनुष्य जब अपनी प्रवृत्ति को संकुचित करके दूसरे को पीड़ा न देने की सोचता है तो उसको सबका मित्र बनना पड़ता है। अन्त में वह कल्याण-मित्र किसी से स्वार्थ सम्बन्ध नहीं रखता। वह किसी का नहीं होता और न कोई उसका। उसके मन में शत्रु-मित्र सभी बराबर हो जाते हें। त बवह अपने कुटुम्ब में क्यों फँसा रहेगा ? वह सब कुछ छोड़ कर अपने आत्म निरीक्षण के लिए अरण्य का आश्रय लेता है। वहाँ उग्र तपस्या करके अपने आप को सुवर्ण की भांति शुद्ध करके कृतकृत्य हो जाता है, यही निर्वाण है।

बुद्ध ने अपना निर्वाण मार्ग, आत्मविज्ञान जीवन के ऊपर स्थिर नहीं किया। उनका कहना था कि आत्मविज्ञान से कोई लाभ नहीं। हाँ, इतना तो साफ है कि जब मनुष्य अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को 'मैं हूँ' इस प्रकार समझ लेता है, तब इस 'मैं' से ममत्व की सृष्टि होती है। वह समझ लेता है कि यह मेरा है, यह मेरा नहीं है, यह मुझे अच्छा लगता है, यह मुझे पसन्द नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक चीज को वह अपने 'अहं' की दृष्टि से परीक्षा करता है और राग-द्वेष बढ़ाता है और बुरी तरह संसार के चक्र में फँस जाता है। अतः इस चक्र से निकलने का उत्तम उपाय है कि इस 'मैं' को, इस अहंकार को, वैराग्य भावना के बल से हटाया जाए – ऐसा करके वह जब 'मैं' से मुक्त हो जाता है, तब वह कल्याणमित्र बनता है। न कोई उसका है और न वह किसी का। फिर वह क्यों इस संसार में फँसा रहेगा ? – उसे तो घर छोड़ना ही उचित है और अपनी उसी प्रज्ञा को प्रकर्ष ध्यान द्वारा प्राप्त करके कृतकृत्य होना ही उसके लिए निर्वाण है।

इस तरह हम देखते हैं कि महावीर ने जब आत्मविज्ञान के विस्तार से निर्वाण का मार्ग बताया, तब बुद्व ने आत्मविज्ञान के संकोच से निर्वाण माना।

इसी आध्यात्मिक दृष्टि से ही बुद्व और महावीर दोनों महापुरुषों ने अपने समय में प्रसिद्ध ब्राह्मण, यति, भिक्षु, जटी, मुण्डी, यज्ञ, जाति, भाषा, तीर्थस्नान आदि शब्दों के जो अर्थ जनता में प्रचलित थे, उनको बदल दिया। पुराने शब्दों का उपयोग करके ही उनका आध्यात्मिक दृष्टि से नया अर्थ किया। परिणाम यह होता है कि एक चाण्डाल जाति का जैन भिक्षु, ब्राह्मणों के यज्ञ में भिक्षार्थ जाकर, उनको यज्ञ का आध्यात्मिक अर्थ समझाने में सफल होता है। जब ब्राह्मणों ने कहा कि ब्राह्मण ही दान का सुपात्र है, तब तुरन्त ही वह चाण्डाल-श्रमण उत्तर देता है कि आपकी बात ठीक है ? लेकिन क्या जो क्रोधी हैं, परिग्रही हैं, झूठे हैं, चोर हैं, अब्रह्मचारी हैं; वे ब्राह्मण हैं या जो इन कुकृत्यों से विरत हैं; वे ब्राह्मण हैं ? क्या जिन्होंने तोते की तरह वेद को रट लिया, वे ब्राह्मण हैं या जिन्होंने शास्त्र की सारभूत बातें अपने जीवन में उतारी हैं, वे ब्राह्मण हैं ? तब वे ब्राह्मण लज्जित होकर उस चाण्डाल की शरण लेते हैं और बरबस कह उठते हैं कि संसार में आखिर तपस्या ही की महिमा है, जाति की कोई महिमा नहीं। संसार से कोई अच्छी बात लुप्त तो होती ही नहीं। भारत में वही पुराना सन्देश महात्मा गांधी ने दोहराया।

अहिंसा के पीछे महावीर की आत्मौपम्य दृष्टि रही है। आज से ढाई हजार साल पहले उन्होंने जो अहिंसा का उपदेश दिया, वह आज भी नया है। धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का प्रश्न, आज लोगों को इतना नहीं सताता; जितना साम्राज्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद आदि। सभी कहते हैं कि हमारा ध्येय लोगों को सुखी करना है, किन्तु उसका तरीका वे आज के परस्पर संहार के सिवाय और कोई नहीं बता पा रहे हैं। ऐसे समय में जगत् को महावीर के शब्दों में यही कहना पड़ता है कि दूसरों का दमन करने की अपेक्षा पहले स्वयं अपना दमन करो। स्वयं अपने दमन से, अपने आप जितेन्द्रिय बन जाने से सबका दमन स्वयमेव हो जाता है और फलस्वरूप वह सुख ही सुख पाता है। जिसने अपना दमन किया है, उसका दमन कोई भी व्यक्ति मार-पीट करके या उसका वध करके नहीं कर सकता। इसीलिए श्रेय इसी में है कि सर्वप्रथम अपने आपको संयमी और तपस्वी बना कर इन्द्रियजयी बनाया जाए।

जब इन्द्र ने प्रव्रज्या के लिए उद्यत नेमिराज से कहा कि तुम अपने शत्रु को पराजित करके फिर सुख से संयम धारण करो; तब उस राजर्षि ने शत्रु-दमन का जो तरीका बताया, वह आज के लोगों को एक नया उत्साह और एक नई दृष्टि देने वाला है। उन्होंने कहा – संग्राम में जाकर हजारों और लाखों योद्धाओं को जीतना आसान है, लेकिन अपने आपको जीतना बड़ा कठिन है, आत्मजय ही 'परमजय' है। इस परमजय को छोड़ कर मैं उस तुच्छ जय के पीछे क्यों पड़ूँ ? आध्यात्मिक युद्ध यानी अपने साथ अपना युद्ध, वही मेरे सामने उपस्थित है तो इस बाह्य युद्ध में मैं क्यों फँसूँ ? युद्ध का उद्देश्य, यदि सुख ही है और यदि वह सुख, मुझे स्वयं अपने ऊपर जय करने पर मिल सकता है तो मैं क्यों नाहक सबको मारता फिरूँ ? ज्यों-ज्यों में दूसरों पर क्रोध करूँगा, दूसरों की हत्या करता फिरूँगा, मेरा बैर बढ़ता ही जाएगा और अन्त में वह बैर, मेरा ही सर्वनाश कर देगा। तब अच्छा तो यही है कि मैं क्रोध और बैर को ही नष्ट करने का प्रयत्न क्यों न करूँ ? उनको नष्ट करने में किसी और को तो कष्ट देने का और नष्ट करने का सवाल ही नहीं उठता और मैं सुखी हो जाता हूँ। आज की इस दुनिया को जो दूसरों की हत्या में रत है, उसे जैन संस्कृति का यह सन्देश समायानुकूल है।

लोगों में जब तक कष्ट सहन करने की ताकत नहीं आती, तब तक प्रतिहिंसा की ज्वाला भड़कती रहती है। जैन श्रमणों के लिए अनेक प्रकार के कष्ट, समभावपूर्वक सहन करने की विधि महावीर ने बताई है।.....उन्होंने कहा – जब तुम्हें कोई गाली दे, पीड़ा दे और अन्त में हत्या करने की भी चेष्टा करे; तब भी यह समझो कि वह तो अज्ञानी है। मैं भी यदि उसकी तरह क्रोधावेश में आकर उसका वध करने लगूँ तो उसमें और मुझमें क्या फर्क रह जाएगा ? अरे, मुझे मार कर भी मेरा वह क्या बिगाड़ सकता है ? आत्मा के साथ जो यह शरीर का बन्धन लगा है, उसी बन्धन को ही तो वह काट रहा है। मेरी आत्मा तो नष्ट होगी ही नहीं; फिर मुझे किसका डर ? – मृत्युंजय का यह महा मन्त्र आज की भयभीत दुनिया को फिर से सिखाने की जरूरत है और वही कार्य महात्मा गांधी ने किया।

आज की दुनिया में हम युद्धजन्य और अन्य नाना प्रकार के जो कष्ट देख रहे हैं, वे सब तृष्णामूलक हैं, इस बात से कौन इंकार कर सकता है ? अतः महावीर ने और उनके पूर्ववर्ती सन्तों ने इसी तृष्णा-जय का, लोभ-विजय का और नम्र रहने का उपदेश दिया था। लेकिन दुनिया, सम्पत्ति के पीछे पागल रही है और आज भी है। उसने महावीर का यह सन्देश नहीं अपनाया और इसीलिए वह युद्धमुक्त नहीं हुई, और न कष्टमुक्त ही हुई। इसलिए महावीर का यह सन्देश यहाँ दोहराया जाए तो अनुचित नहीं होगा। उनका कहना था कि ज्यों-ज्यों लाभ होता है, तृष्णा बढ़ती ही जाती है। वह आकाश के समान अनन्त है। एक आदमी को दुनिया भर की सम्पत्ति दी जाए, तब भी वह सन्तुष्ट नहीं होगा। और यदि इस तरह सभी तृष्णाशील हो जाएँ तो सिवाय युद्ध के और क्या नतीजा हो सकता है ? अतएव मनुष्य जाति का श्रेय इसी में है कि वह अपरिग्रहव्रत को अंगीकार करे। जो अकिंचन है, जिसका किसी वस्तु पर मोह नहीं है, वह किसलिए दूसरों से युद्ध करेगा ? इसी व्रत को अंगीकार करके मिथिला का नमिराजर्षि जलती हुई मिथिला को देख कर भी कह सका था कि मेरा तो कुछ भी जलता नहीं । जिसके पास कुछ भी नहीं, वही सुख की नींद ले सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में हमें अपरिग्रह महाव्रत का महत्त्व समझना होगा।

जैनधर्म में जातिप्रथा का निषेध

जैनधर्म, किसी जाति, वर्ग अथवा वर्णविशेष का नहीं, बल्कि सभी प्रकार की संकीर्णताओं से ऊपर उठ कर उसके विकास में सभी का अथक् योगदान रहा है। उसके सभी तीर्थंकर जहाँ क्षत्रिय वर्ण के थे, वहीं,

उन सभी के गणधर (पट्ट शिष्य) ब्राह्मण जाति के थे। देश विदेशों में, उसके प्रचार प्रसार में जहाँ ऋग्वेदकालीन पणियों (बनियों/वैश्यो) अथवा चारुदत्त, श्रीपाल, जिनेन्द्रदत्त, भविष्यदत्त एवं अचल जैसे महा सार्थवाहों ने श्रद्धापूर्वक सभी प्रकार के योगदान किए, वहीं, कलापूर्ण जैन मन्दिरों, मूर्तियों, मानस्तम्भों, तोरणद्वारों, कलापूर्ण तीर्थभूमियों एवं भवनों के निर्माण में अन्य सभी वर्णों के सक्रिय योगदानों को भुलाया नहीं जा सकता।

जैनधर्म में जाति, वर्ण एवं वर्ग जैसी संकीर्णताओं का प्रारम्भ से ही कोई स्थान नहीं रहा। उसकी उदारता जगजाहिर है। कर्नाटक महाराष्ट्र एवं तमिलनाडु में अभी भी जैन-ब्राह्मण जैन-क्षत्रिय जैन-कुम्भकार जैन-कृषक आदि जातियाँ बहुलता से पाई जाती हैं।

ब्राह्मण धर्म का मूलाधार जातिप्रथा है। इस धर्म का साहित्य और ऐतिहासिक तथ्य इसके साक्षी हैं। जबकि जैनधर्म का जातिप्रथा के साथ थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं है। मूल जैन साहित्य इसका साक्षी है, किन्तु मध्यकाल में जातिधर्म का व्यापक प्रचार होने के कारण यह भी उससे अछूता न रह सका। इस काल मे और इसके बाद जो जैन साहित्य लिखा गया, उसमें इसकी स्पष्ट छाया दृष्टि-गोचर होती है। उत्तरकालीन सोमदेवसूरि, जिनसेन कितने ही आचार्य, जो जैनधर्म के सर्वमान्य आधारस्तम्भ रहे, उन्हें भी किसी न किसी रूप में इसे प्रश्रय देना पड़ा। वर्तमान में जैनधर्म के अनुयायियों में जो जातिप्रथा का प्रचार और उसके प्रति आग्रह दिखाई देता है, यह उसी का फल है।

शंका – जैनधर्म में जातिप्रथा को स्थान क्यों नहीं है ?

समाधान – इसका उत्तर देते हुए आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में कहा है – मनुष्यों में गाय और अश्व के समान कुछ भी जातिकृत भेद नहीं है। आकृतिभेद होता तो जातिकृत भेद मानना ठीक होता; परन्तु आकृतिभेद तो नहीं है, इसलिए पृथक् पृथक् जाति की कल्पना करना व्यर्थ है।[26]

आचार्य रविषेण ने अपने पद्मपुराण में जातिवाद का निषेध करते हुए यहाँ तक लिखा है कि कोई जाति गर्हित नहीं है। वास्तव में गुण कल्याण के कारण हैं क्योंकि भगवान् जिनेन्द्र ने व्रतों में स्थित चाण्डाल को भी ब्राह्मण माना है।[27]

अमितगति श्रावकाचार के कर्ता इससे भी जोरदार शब्दों में जातिवाद का निषेध करते हुए कहते हैं कि – वास्तव में यह उच्च और नीचपने का विकल्प ही सुख और दुःख का करने वाला है। कोई उच्च और नीच जाति है और वह सुख और दुःख देती है – यह कदाचित् भी नहीं है।[28]

इस सम्बन्ध में निम्न मन्तव्यों पर ध्यान देना आवश्यक है –

1. धर्म के दो भेद हैं – लौकिक और पारलौकिक। पारलौकिक धर्म में लौकिक धर्म को स्वीकार नहीं किया गया है।
2. जातिप्रथा के साथ साथ कुल और गोत्र के भी विषय में भी जानना चाहिए।
3. आचार्य वीरसेन ने तो इक्ष्वाकु आदि कुलों को भी काल्पनिक बतलाया है।
4. कर्मशास्त्र में जिसे गोत्र कहा गया है, वह लौकिक गोत्र से भिन्न है क्योंकि गोत्रकर्म जीवविपाकी कर्म है। उसका उदय विग्रहगति में ही हो जाता है; अतः उसका लौकिक गोत्र से सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। यह भी कहा है कि नीच गोत्र के साथ कोई भी मुनि नहीं होता; लेकिन जब कोई ऐसा व्यक्ति मुनिपद अंगीकार करता है तो उसका नीचगोत्र बदल कर उच्च गोत्र हो जाता है।
5. आगम में यह भी कहा है कि क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति नीच गोत्री श्रावक को हो सकती है। यदि यह सम्भव है तो ध्यान देने की बात है कि क्षायिक सम्यक्त्व, केवली और श्रुतकेवली के पादमूल में ही होती है। यहाँ यदि एकान्त से यह मान लिया जाए कि शूद्र नियम से नीचगोत्री ही होते हैं और शेष तीन वर्ण वाले मनुष्य उच्चगोत्री ही होते हैं तो उक्त क्षायिक सम्यक्त्व सम्बन्धी नियम से शूद्र का केवली और श्रुतकेवली के पादमूल उपस्थित होना सिद्ध होता है। जब ऐसा व्यक्ति केवली और श्रुतकेवली के पादमूल अर्थात् समवसरण आदि में पहुँच सकता है तो उसका जिनमन्दिर में जाना निषिद्ध है – यह कैसे माना जा सकता है ?
6. यदि म्लेच्छ और शूद्र को पर्यायवाची मान लिया जाए तो भी इस समस्या का समाधान सम्भव नहीं है क्योंकि नीच-गोत्री म्लेच्छों को धर्म-पालन करने की पूरी स्वतन्त्रता दी गई है तो फिर शूद्रों को क्यों नहीं ?

7. अतएव यही मानना उचित है कि अन्य वर्ण वालों के समान शूद्र भी पूरे धर्म को धारण करने के अधिकारी हैं। वे जिन-मन्दिर में जाकर उसी प्रकार जिनदेव का दर्शन-पूजन कर सकते हैं, जिस प्रकार अन्य वर्ण के मनुष्य।
8. जैनधर्म में मगरमच्छ आदि हिंसा कर्म करने वाले तिर्यंचों को भी काललब्धि आने पर विशुद्धता के साथ सम्यग्दर्शन और पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकधर्म का अधिकारी माना गया है तो यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या शूद्रों को उन तिर्यंचों से भी अधिक हीन माना जाए ?
9. स्वामी समन्तभद्र कहते हैं कि यदि चाण्डाल भी सम्यग्दर्शन से युक्त है तो वह देवतुल्य पूज्य माना गया है।
10. पण्डितप्रवर आशाधरजी ने कृषि और वाणिज्य आदि से आजीविका करने वालों के समान सेवा और शिल्प से आजीविका करने वाले को भी नित्यमह और आष्टाह्निक-मह आदि पूजन करने का अधिकारी माना है।
11. इस प्रकार जातिप्रथा के विरोध में जब स्पष्टरूप से आगम उपलब्ध है तो उसका कदाग्रह रखना किसी भी प्रकार उचित नहीं है।
12. पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, बाबू लक्ष्मीचन्दजी, मान्यवर साहू शान्तिप्रसादजी एवं उनका धर्मपत्नि सौ. रमारानी की स्पष्ट मान्यता थी कि जैनधर्म ऊँच-नीच के भेद को स्वीकार नहीं करता। जो धर्म मनुष्य मनुष्य में भेद करता है, वह धर्म ही नहीं हो सकता।
13. बौद्ध और श्वेताम्बर परम्परा के साहित्य में भी जातिविरोधी विपुल सामग्री उपलब्ध होती है। इसी प्रकार वैदिक परम्परा में भी कुछ ऐसी सामग्री उपलब्ध होती है, जो जातिवाद पर तीव्र प्रहार करती है।''[29]

जैनधर्म की प्राचीनता के प्रमाण[30]

अनेक शिलालेखों एवं प्राचीन जैन मूर्तियों के माध्यम से भी यह सिद्ध होता है कि देवमूर्तियों के निर्माण का प्रारम्भ जैनों ने किया। जैसे, –

1. सुप्रसिद्ध इतिहासकार फ्युहरर द्वारा कंकाली टीला, मथुरा का सन् 1888–1891 ई. के बीच कराये गये पुरातात्त्विक उत्खनन से प्राप्त शिलालेख में ऋषभदेव की पूजा की बात कही गई है, जो कि ईसा से लगभग 2000 वर्ष पूर्व (आज लगभग 2010 वर्ष पूर्व) का है।
2. सन् 1949 में साइप्रस में खुदाई के दौरान प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की कांस्य निर्मित ई. पू. 1250 की मूर्ति प्राप्त हुई थी।
3. अजमेर के पास बडली ग्राम में एक जैन शिलालेख वीर निर्वाण सम्वत् 84 (अर्थात् ई.सं. से 443 वर्ष पूर्व) का प्राप्त हुआ है, जिसे महामहोपाध्याय रा. ब. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने स्वीकार किया है। इससे ज्ञात होता है कि आज से लगभग 2450 वर्ष पूर्व राजपूताना में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार था।
4. प्राचीन जैन शिलालेखों में प्राकृत संस्कृत कन्नड़ और तमिल – इन चार भाषाओं का उपयोग हुआ है। अतिप्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण शिलालेख, खण्डगिरि – उदयगिरि (उड़ीसा) की हाथी गुफा से प्राप्त हुआ है, जो जैन सम्राट् खारवेल ने उत्कीर्ण कराया था। यह लगभग 180 वर्ष ई.पू. का है। इसकी लिपि ब्राह्मी और भाषा प्राकृत है। इसमें कलिंग-जिन की मूर्ति का उल्लेख मिलता है। डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार यह कलिंग-जिन, ऋषभ-जिन की मूर्ति थी। विशेष विचारणीय बात यह है कि खारवेल से भी लगभग 300 वर्ष पूर्व से (अर्थात् ईसा पूर्व पाँचवीं के आसपास) जैनधर्म, कलिंग का राष्ट्रीय धर्म था तथा वहाँ सर्वत्र ऋषभमूर्ति की आराधना एवं पूजाअर्चना की जाती थी और जिसे 'कलिंगजिन' के नाम से पुकारा जाता था। इस शिलालेख के अनुसार सम्राट् खारवेल से लगभग 300 वर्ष मगध सम्राट् नन्द, उसी मूर्ति को कलिंग से छीन कर मगध ले गये थे, जो तब तक सुरक्षित बनी रही, किन्तु अपने राज्याभिषेक के 12वें वर्ष में (अर्थात् ईसा पूर्व 168 वर्ष के लगभग) सम्राट् खारवेल, उस मूर्ति को मगध से जीत कर वापिस ले आये थे और उस समय उन्होंने उस मूर्ति की विशेष समारोहपूर्वक पुनर्प्रतिष्ठा कराई थी।[31]

5. भारत की प्राचीनतम मूर्तियों में जैन तीर्थंकर प्रतिमा, जो लोहानीपुर पटना से प्राप्त हुई है, जिसे मौर्यकाल '320–185 ई.पू.' की माना गया है। हड़प्पा में जो खण्डित जिन-प्रतिमा मिली है, उससे लोहानीपुर की इस जिन-प्रतिमा में एक अद्भुत सादृश्य परिलक्षित होता है।
6. मथुरा से मिले प्राचीन अभिलेखों में तीन अभिलेखों का आशय है –

   – ऋषभदेव प्रसन्न हों। – अर्हंतों की अर्चना हो। – अर्हंत वर्धमान की अर्चना।[32]
7. रामनगर 'अहिच्छत्र–बरेली' से ई.पू. से शताब्दियों पहले की निर्मित तीर्थंकर प्रतिमाएँ मिली हैं।[33]
8. मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त एक खड्गासन जैन मूर्ति पर लिखा है कि 'यह अर (अरनाथ) तीर्थंकर की प्रतिमा संवत् 78 में देवों के द्वारा निर्मापित इस स्तूप की सीमा के भीतर स्थापित की गई।'
9. मथुरा शिल्प में जैन तीर्थंकरों की कतिपय गुप्तकालीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।
10. पटना संग्रहालय में सुरक्षित चौसा संग्रह के गुप्तकालीन दो मूर्तियों में कन्धों तक लटकती लम्बी अलकों के लक्षण से युक्त आदिनाथ की पद्मासन प्रतिमाएँ हैं। प्रारम्भिक कला में आदिनाथ प्रतिमा की पहचान का विशेष प्रचलित आधार, ऐसी अलकों का प्रदर्शन भी है।
11. गोम्मटेश्वर भगवान बाहुबली की 57 फुट ऊँची विश्वप्रसिद्ध मूर्ति श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) में स्थित है। इसी विशाल मूर्ति की एक झांकी, सन् 2005 को 26 जनवरी के दिन गणतन्त्र दिवस परेड में महामहिम राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम एवं उपराष्ट्रपति श्री भैरोंसिंह शेखावत के सामने प्रस्तुत की गई थी। श्री कुन्दकुन्द भारती से प्रकाशित 'जैन शासन ध्वज' नामक पुस्तक के पृष्ठ 30 पर तत्कालीन माननीय राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम का सलामी देता हुआ चित्र भी प्रकाशित है।

जैन संस्कृति की प्राचीनता : सुविख्यात इतिहासज्ञ एवं प्रतिनिधि विद्वानों के विचार[34]

जैनधर्म की प्रारम्भ से ही ऐसी महिमा रही है कि उसने अपने सर्वोदयी एवं समन्वयी सिद्धान्तों से सभी को आकर्षित किया है। पाश्चात्य चिन्तक मनीषियों में डॉ. हर्मन याकोबी, डॉ. हर्टेल, अल्फ्रेड हड्सन, होर्नले, आर्नेस्ट लॉयमान, डॉ. शुब्रिंग, डॉ. आल्सडोर्फ, डॉ. बर्नार्ड शॉ, एवं प्राच्य विद्याविदों तथा इतिहासज्ञों में डॉ. आर. जी. भाण्डारकर, डॉ. एस. राधाकृष्णन्, डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण, महामना मदन मोहन मालवीय, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. के. पी. जायसवाल, डॉ. ए. बी. ध्रुव, डॉ. ए. एस. आल्टेकर, डॉ. सैयद हुसैन, देशरत्न डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, पण्डित जवाहरलाल नेहरु, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, बिशम्भरनाथ पाण्डे, डॉ. राधा विनोद पाल, सम्पूर्णानन्द, आदि ने उसकी प्रशंसा कर उसे प्राचीन मौलिक सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन धर्म बतलाते हुए उसकी प्रशंसा की है।

आचार्य श्री विनोबा भावे – जैन विचार निःसंशय प्राचीन काल से हैं।[35]

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक – लिपियों से हमें पता चलता है कि जैनधर्म अनन्तकाल से है।

मेजर जनरल फरलांग – ई. पू. 1500 से लेकर 800 वर्ष पर्यन्त तक एक प्राचीन, अन्यन्त संगठित धर्म प्रचलित था, वह जैनधर्म था।[36]

डॉ. जैकोबी – इंडो–आर्यन–इतिहास के अत्यन्त आरम्भ काल में जैनधर्म का उद्भव हुआ था।[37]

डॉ. हेनरिच जिम्मर – जैनधर्म आर्यों से पूर्ववर्ती धर्म है। जैनधर्म द्रविड़कालीन है, जिसका सिन्धु की खुदाई से उपलब्ध सामग्री से ज्ञान होता है।[38]

वाचस्पति गैरोला – श्रमण संस्कृति का प्रवर्तक जैनधर्म प्रागैतिहासिक धर्म है।[39]

विंसेन्ट स्मिथ – इस बात के स्पष्ट व अकाट्य प्रमाण हैं कि जैनधर्म प्राचीन है और वह प्रारम्भ में भी वर्तमान स्वरूप था।

डॉ. ए. पी. करमरकर – ऋषभदेव अत्यन्त प्राचीन महापुरुष थे।

डॉ. सेन – जैनधर्म, प्रायः आर्यकाल का धर्म है।[40]

रेवरेण्ड एब्बे जे. ए. डुबोई – निस्सन्देह जैनधर्म ही पृथ्वी का एक सच्चा धर्म है, और यही मनुष्य का आदि धर्म है।

डॉ. ए. गिरनाट – जैनधर्म मौलिक, स्वतन्त्र व सुव्यवस्थित है।

श्री विशम्भर सहाय प्रेमी – भारतीय सभ्यता के निर्माण में आदिकाल से ही जैनियों का हाथ था। मोहनजोहड़ो की मुद्राओं मे जैनत्व के बोधक चिह्नों का मिलना, इस बात का प्रमाण है कि ललित कला में जैन किसी से कम नहीं थे।[41]

श्री नीलकण्ठदास, उड़ीसा – जैनधर्म मूलतः अध्यात्म धर्म है।.....प्रागवैदिक-कालीन द्राविड़ों का यही धर्म था। जगन्नाथ की परम्परा मूलतः पूर्णरूप से जैनधर्म की है। 'नाथ' शब्द पूर्ण रूप से जैनधर्म का निदर्शन है। चौबीस जैन तीर्थंकरों में से बावीस जैन तीर्थंकरों के नाम के साथ 'नाथ' शब्द जुड़ा है।

रेवरेण्ड जे. स्टीवेन्सन, अध्यक्ष, रॉयल एशियाटिक सोसायटी – ग्रीक लोगों ने पश्चिमी भारत में जिन 'जिमनोसोफिस्ट' का वर्णन किया है, वे जैन लोग थे। सम्राट् सिकन्दर ने दिगम्बर जैनों के समुदाय को तक्षशिला में देखा था, उनमें से कालोनस या कल्याण नामक दिगम्बर जैन महात्मा, फारस तक उनके साथ गये थे।

डॉ. वासुदेवशरण, भू क्यूरेटर, मथुरा म्यूजियम – ईसा से दो सदी पूर्व जैन स्तूप का सद्भाव था। भारतीयों के दो सम्प्रदाय है – ''एक 'सरमनाई', दूसरा 'ब्राह्मनाई'। 'सरमनाई' वे दार्शनिक हैं, वे घरों में नहीं रहते, वे जल हाथों से मुँह तक ले जाकर पीते हैं, वे न तो विवाह करते हैं, और न सन्तानोत्पादन। वे कहते हैं – Jainism is one of the oldest religion in India अर्थात् जैनधर्म, भारत का एक बहुत पुराना धर्म है।

श्री प्रकाश, राज भवन, मद्रास – The Jain Religion, however, can legitimately be traced to a different source;.....It is regarded as a more ancient faith than the one that is known as Hinduism.[42]

(अर्थात् जैनधर्म, वैधानिक रूप से अलग ही स्रोत से उत्पन्न हुआ।.....यह उससे भी प्राचीन धर्म है, जो हिन्दूधर्म के नाम से जाना जाता है।)

सर्वोदय सिद्धान्त के प्रचारक **आचार्य विनोबा भावे** के अनुसार जैनधर्म का साधक वही है, जो चिन्तन में अनाक्रामक, आचरण में सहिष्णु एवं प्रचार-प्रसार में संयमित हो। इसी प्रकार उत्तरप्रदेश के पूर्व मुख्यमन्त्री, डॉ. सम्पूर्णानन्दजी ने भी जैनधर्म के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट करते हुए लिखा है –

''यद्यपि जैनधर्मावलम्बियों की संख्या बहुत थोड़ी है, फिर भी इनकी परम्पराओं ने भारतीय तत्त्ववेत्ताओं के मन पर गहरी छाप लगाई है और न केवल आस्तिक विचारों को अपने सिद्धान्तों में संशोधन/परिवर्तन करने के लिए ही बाध्य किया है, प्रत्युत ये दर्शन, हमारी सार्वजनीन विचारधारा के अभिन्न अंग बन गये हैं; किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि केवल कुछ भारतीय पण्डित ही इन दर्शनों का अनुशीलन करते हैं। साधारणतया संस्कृत के पण्डित लोग, इनका ज्ञान केवल वेदान्तिक ग्रन्थकारों द्वारा की गई इनकी आलोचनाओं से ही प्राप्त करते हैं और इस बात का तनिक भी विचार नहीं करते कि ये आलोचनाएँ किस हद तक ठीक हैं या तथ्यों पर आधारित हैं।''[43]

जैनधर्म का वैश्विक स्तर पर प्रभाव

बिशम्भरनाथ पाण्डे[44] लिखते हैं – जैन श्रमणों, बौद्ध भिक्षुओं और भारतीय महात्माओं के प्रभाव से दूसरी सदी ई. पू. में यहूदियों के अन्दर 'ऐस्सेनी' (श्रमण/समण/समणी/श्रावक) नामक एक नए सम्प्रदाय की स्थापना हुई। यहूदी लेखक यूसुफ और फाइलो तथा और कई यूनानी इतिहास लेखकों ने विस्तार के साथ इन लोगों का वर्णन किया है।.....

1. वे आजन्म अविवाहित (बाल ब्रह्मचारी) रहते थे और बड़ा सरल, संयमी तथा तपस्या का जीवन (श्रावक के षट् आवश्यक में संयम और तप का दो आवश्यकों के रूप में समावेश) व्यतीत करते थे।....
2. प्रतिदिन कई घण्टे हर व्यक्ति को अपने हाथ से कुछ न कुछ श्रम (श्रमण संस्कृति होने से) करना पड़ता था।
3. उनका सबसे मुख्य सिद्धान्त था 'अहिंसा' (जैनधर्म का भी प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा)। इसलिए हर तरह की पशुबलि, माँस-भक्षण या मदिरापान (जैनधर्म में सप्त व्यसन में शिकार करना, माँस-भक्षण करना और शराब पीना तीनों का समावेश) के वे विरुद्ध थे।
4. उनका भोजन केवल मात्र रोटी या साग (शाकाहारी जीवन) होता था।.....
5. वे केवल सफेद वस्त्र पहनते थे।

6. बालों में तेल लगाना (साधु के जीवन में निषिद्ध क्रिया) पाप समझते थे।
7. किसी के पास बदन के कपड़ों के अतिरिक्त कपड़ों का दूसरा जोड़ा न होता था (उत्कृष्ट श्रावक ऐलक, क्षुल्लक और आर्यिका का नियम)।.....
8. निस्सन्देह पवित्र जीवन (पाँच पापों से रहित), दीन दुःखियों की सेवा (परोपकारी जीवन), शारीरिक श्रम (तपस्याप्रधान जीवन) और योग (ध्यान) द्वारा चित्त को स्थिर करना – ये चार बातें ऐस्सेनियों (श्रावकों) के अनुसार आत्मा की उन्नति के चार मुख्य साधन (प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य) थे।
9. आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से हर ऐस्सेनी (श्रावक) को कई उत्तरोत्तर श्रेणियों (श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ उत्तरोत्तर उत्कृष्ट श्रेणियाँ) से गुजरना पड़ता था।
10. ईसा के जन्म के समय इनकी संख्या खूब बढ़ी हुई थी.....फाइलो के समय में इनकी कुल संख्या चार हजार बताई जाती है।
11. इतिहास लेखक फाइलो लिखता है कि यहूदियों मे ठीक इसी तरह के तपस्वी ऐस्सेनी थे।
12. प्रसिद्ध यूनानी इतिहास लेखक 'स्ट्रेबो' ने इन ऐस्सेनियों को 'दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का संघ' कहकर वर्णन किया है। उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि अफलातून (प्लेटो, सुकरात का शिष्य) जैसे दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता उनके दर्शन करने और उनसे उपदेश लेने के लिए आते थे।
13. अफरीका की किसी किसी ऐस्सेनी बस्ती में ये लोग एक एक सप्ताह एकान्त सेवन (विविक्त शय्यासन) करते थे और एक प्रकार की समाधि (निर्विकल्प ध्यान) में पड़े रहते थे।.....
14. इनमें से कई विशेष नामों या मन्त्रों का जाप भी करते थे।
15. समय समय पर उनमें अनेक दार्शनिक विषयों पर चर्चा होती थी।
16. भजन गाए जाते थे और कहीं कहीं ईश्वर स्तुति के साथ एक प्रकार का नृत्य भी होता था।

श्री विशम्भरनाथ पाण्डे ने सिद्ध किया है कि ईसा से पहले ही अनेक भारतीय सन्त भारत से पश्चिम एशिया, अफरीका और यूनान के जंगलों में जा जाकर कुटिया बना कर रहते थे। इन्हें यूनानी इतिहासकार 'जिन्मो सोफिस्ट' या 'हाइलोबियो' नाम से अत्यन्त आदर के साथ सम्बोधित करते हैं। जिन्मो सोफिस्ट का अर्थ है – 'नंगे फिलास्फर' या 'दिगम्बर तत्त्ववेत्ता' और हाइलोबियो का अर्थ 'वानप्रस्थ' होता है। निश्चित ही नग्न दिगम्बर रहने वाले तत्त्ववेत्ता नग्न दिगम्बर मुनि ही हो सकते हैं। लेखक के शब्दों में कहा जाए तो –

''ये लोग अधिकतर दिगम्बर ही रहते थे। इनके अनुसार जितना कम से कम खाकर शरीर चल सकता है, उससे अधिक खाना या जितना कम से कम कपड़े में काम चल सकता है , उससे अधिक कपड़ा उपयोग करना, आत्मोन्नति में बाधक है। इनमें से कुछ 'शमन' कहलाते थे और कुछ 'ब्राह्मण'। इन दिगम्बर महात्माओं का जो कुछ वर्णन यूनानी लेखकों ने किया है, उससे प्रगट है कि इनमें से अनेकों का सम्बन्ध जैनधर्म से भी था। किन्तु इतिहास में एक और बात बिलकुल स्पष्ट है – वह यह है कि जैन, बौद्ध और सनातन, तीनों धर्म के विद्वान उन दिनों एक साथ दूर दूर के देशों में जाते थे; तीनों हर जगह मिल कर प्रेम के साथ रहते थे और उनमें से अनेकों का रहन सहन और उनके उपदेश तीनों धर्मों के सामान्य सिद्धान्तों और बहुमूल्य रत्नों का एक सुन्दर समन्वय होते थे।

यूनानी इतिहास से पता चलता है कि ईसा से कम से कम चार सौ वर्ष पूर्व ये दिगम्बर भारतीय तत्त्ववेत्ता पश्चिमी एशिया में पहुँच चुके थे।

पोप के पुस्तकालय के लतीनी आलेख से, जिसका हाल में अनुवाद हुआ है, उससे पता चलता है कि ईसा की जन्म की शताब्दी तक इन दिगम्बर भारतीय दार्शनिकों की एक बहुत बड़ी संख्या इथियोपिया (अफरीका) के वनों में रहती थी और अनेक यूनानी विद्वान् वहीं जाकर उनके दर्शन करते थे और उनसे शिक्षा लेते थे। यूनान के दर्शन और अध्यात्म पर इन दिगम्बर महात्माओं का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि चौथी सदी ई.पू. में प्रसिद्ध यूनानी विद्वान पिरो ने भारत आकर उनके ग्रन्थों और सिद्धान्तों का यानि भारतीय अध्यात्म और भारतीय दर्शन का विशेष अध्ययन किया और फिर यूनान लौट कर एलिस नगर में एक नई यूनानी दर्शन-पद्धति की स्थापना की थी। इस नई पद्धति का मुख्य सिद्धान्त था कि इन्द्रियों द्वारा वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है, वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति केवल अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ही सम्भव है और

उसके लिए मनुष्य को सरल से सरल जीवन व्यतीत करके आत्मसंयम और योग द्वारा अपने अन्तर में धँसना चाहिए। भारत से लौटने के बाद पिरो दिगम्बर रहता था। उसका जीवन इतना सरल और संयमी था कि सूनान के लोग उसे बड़ी भक्ति की दृष्टि से देखते थे। वह योगाभ्यास करता था और निर्विकल्प समाधि में विश्वास रखता था।''[45]

जैन संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि[46]

जैनधर्म, किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा प्रवर्तित नहीं है। यही कारण है कि उसे अनादिनिधन माना गया है। जबकि कोई उसे महावीर द्वारा प्रवर्तित कहते हैं तो कोई उसे ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित कहते हैं। कोई कोई इतिहारकार उसे महावीर या पार्श्वनाथ या नेमिनाथ तक ही स्वीकार करते हैं, जबकि श्री बिशम्भरनाथ पाण्डे[46], जैन संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में बहुत विस्तार के साथ तर्कसंगत व्याख्या करते हुए लिखते हैं –

1. बुद्ध, अपने प्रवर्तित धर्म के आदि उपदेष्टा थे किन्तु महावीर अपने धर्म के चौबीसवें या अन्तिम तीर्थंकर थे।
2. ई. पू. 599 में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन, बिहार प्रान्त के पटना से 27 मील दूर बसार तीर्थ में श्री महावीर का जन्म हुआ था, परन्तु वर्तमान में (श्वेताम्बर आम्नाय) उनका जन्मोत्सव भाद्र के शुक्ल पक्ष में मनाया जाता है। तथा ई. पू. 527 में बिहार प्रान्त में स्थित पावापुरी में श्री महावीर का निर्वाण हुआ, जिसे पावापुरी तीर्थस्थान माना जाता है। यह पावापुरी दक्षिण बिहार में राजगृह के समीप है। जबकि सम्भवतः बुद्ध का काल ई. पू. 588 से 508 तक माना जाता हैं। (इस प्रकार महावीर, बुद्ध से उम्र में 11 वर्ष बड़े होकर भी समकालीन थे, बुद्ध की उम्र महावीर से 8 वर्ष अधिक थी, और महावीर का निर्वाण बुद्ध के सामने ही उनके निर्वाण से 15 वर्ष पूर्व हो चुका था।)
3. जहाँ चौबीसवें तीर्थंकर महावीर हुए तो उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। जैनों में ओसवाल जैन मुख्यतः पार्श्वनाथ को मानते हैं। पार्श्वनाथ, महावीर से 250 वर्ष पूर्व हो गये हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार पार्श्वनाथ के शिष्य केशी के साथ महावीर के शिष्य गौतम का मिलन हुआ था किन्तु यह सत्य नहीं है क्योंकि पार्श्वनाथ के शिष्य केशी उस परम्परा मे बहुत बाद पैदा हुए थे।
4. बुद्ध ने पूर्व के आचार्यों के उपदेशों से अपनी श्रद्धा को खोकर स्वाधीन मतवाद की प्रतिष्ठा की, किन्तु महावीर अपने पूर्व के सब महापुरुषों की परिपूर्णता के प्रतिनिधि थे।
5. बुद्ध के समय से विदित होता है कि उस समय निर्ग्रन्थ मत प्रचलित था। नातपुत्त (ज्ञातपुत्त) उसके उपदेष्टा थे। तत्कालीन निर्ग्रन्थों के विषय में जो बातें मिलती हैं, उससे स्पष्ट होता है कि वे जैनों से मिलती-जुलती या सम्बद्ध हैं।
6. अध्यापक सिल्वन लेवी बताते हैं – बौद्धधर्म जिस तरह अकुण्ठित भाव से भारत के बाहर और अन्दर प्रसारित हो सका, उस तरह जैनधर्म नहीं। दोनों धर्मों का उत्पत्ति स्थान एक होते हुए भी परिणाम यह निकला कि बौद्धधर्म प्रतिष्ठित हुआ पूर्व भारत में और जैनधर्म पश्चिम भारत में।
7. जैनधर्म का आदि और पवित्र स्थान मगध और पश्चिम बंगाल है। सम्भव है कि बंगाल में एक समय बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म का विशेष प्रचार था, परन्तु जैनधर्म के लुप्त हो जाने के बाद बौद्धधर्म ने उसका स्थान ग्रहण किया। प्रमाणस्वरूप इन दिनों बंगाल के पश्चिमी हिस्से में स्थित 'सराक' (श्रावक) जाति जैन श्रावकों की पूर्व स्मृति कराती है। अब भी बहुत से जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेष, जैन मूर्तियाँ, शिलालेख (खारवेल) आदि जैन स्मृति चिह्न बंगाल के भिन्न भिन्न भागों में पाये जाते हैं। बंगाल के कुछ हिस्से में विराट् जैन मूर्ति भैरव के नाम से पूजी जाती है।.....इन सब मूर्तियों पर अब भी जैन लेख मिल जाते हैं। इस प्रकार की एक लेख-मूर्ति स्वर्गीय राखालदास बैनर्जी पंचकोट के महाराजा के यहाँ से ले आये थे।
8. परीक्षा करने पर बंगाल के धर्मों में, आचार में और व्रतों में जैनधर्म का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैनों के अनेक शब्द बंगाल में प्रचलित हैं। पार्श्वनाथ, हेमचन्द्र आदि नाम आजकल भी पाये जाते हैं। जैनों के उत्तरीय वस्त्र को 'पछेड़ी' कहते हैं, जिसको बंगाली में 'पाधुड़ी' कहा जाता है। यह शब्द जैन साधुओं की 'पीछी' से भी साम्य रखता है। इसी प्रकार अन्य शब्द भी मिल जाते हैं। प्राचीन बंगाली

लिपि के बहुत से शब्द विशेष तौर से युक्ताक्षर देवनागरी के साथ नहीं मिलते जुलते परन्तु वे प्राचीन जैन लिपि (ब्राह्मी लिपि) के सदृश हैं।

9. बंगाल में जैनधर्म क्यों विलुप्त हुआ – यह एक विचारणीय यक्ष प्रश्न है। क्या यहां के आहार-विहार के साथ उनका सामंजस्य नहीं हुआ या और कोई कारण था, उसे देखना चाहिए।

10. जैनियों के ग्रन्थ भण्डार भारत के प्राचीन इतिहास के लिए अमूल्य उपकरण से भरपूर हैं। यदि वे सभी के लिए उपलब्ध हो जाएँ तो भारतीय इतिहास की बहुत सी समस्याएँ हल हो सकती हैं और साथ साथ जैनधर्म का माहात्म्य भी प्रत्यक्ष होगा।

11. सीरिया के सुविख्यात सूफियों में स्थान प्राप्त अन्ध कवि, ज्ञानी और साधक 'अबुल अला' (जन्म ई. सं. 973 या 974) का परिचय जब जैन-बौद्धों से हुआ तो उनके विचार एकदम बदल गये। कहते हैं कि 'अबुल अला' के काव्य के प्रभाव को उमर खैयाम जैसे महाकवि भी नहीं रोक सके थे। फिर उन्हें स्वर्गादि की चाहना भी नहीं रही। वे जैन-बौद्धों की तरह सोचने लगे कि मुक्ति ही हमारी दुःखमय सत्ता का अवसान है, अतः सिर्फ निर्वाण या मुक्ति ही प्रार्थनीय है। स्वदेश लौटने के बाद वे भारतीय तपस्वी के सदृश गुफा में रह कर अति कृच्छ तपश्चरण किया। उसके बाद का उनका कार्य अहिंसा से भरपूर था। मद, मत्स्य, माँस, अण्डे और दूध का भी उन्होंने त्याग किया। उनके वाक्यों की तीव्रता क्रमशः तपश्चर्या की कृच्छता में परिणत हुई और जीवन शान्त और मैत्रीपूर्ण बना।....**वे स्वयं मुनि-जीवन जैसा सरल जीवन व्यतीत करते थे।**

सब छोटे-बड़े जीव जन्तुओं या कीड़े-मकोड़ों के प्रति वे असीम करुणा-परायण थे। उनकी कविता से यही ध्वनि निकलती है कि वृथा पशुहिंसा में क्यों जीवन कलंकित करते हो ? बेचारे वनवासी पशुओं का क्यों निष्ठुर भाव से शिकार करते हो ? दरअसल आगे जाकर तुम नहीं रहोगे, न व्याध (मारने वाला) रहेगा और न वध्य (मरने वाला)।

अबुल अला के इस अहिंसावाद में मूल में भारतीय धर्म का भी विशद प्रभाव पड़ा है।.....क्या यह विशेष भाव से जैनधर्म का प्रभाव नहीं है ?

अबुल अला की कविताओं का अमीर रीहाणी कृत अंग्रेजी अनुवाद 'लुझुमिआत' के नाम से अभी भी प्राप्त है।

12. इसी प्रकार सुप्रसिद्ध मार्मिक कवि जलालुद्दीन रूमी के काव्यों में भी जन्म जन्मान्तरवाद का आश्चर्यपूर्ण उल्लेख मिलता है। जैसे – '.....पत्थर (पृथ्वीकाय) मर के हुआ वृक्ष (वनस्पतिकाय) वृक्ष मरके हुआ कृमि (विकलत्रय), कीड़ा मरके हुआ मानव (मनुष्यगति), अब मैं दिव्य देह धारण कर अमर (देवगति) होकर रहूँगा। उसके पश्चात् उसको भी छोड़ कर अनुपम गति (मोक्ष) प्राप्त करूँगा।

13. पन्द्रहवीं शताब्दी में एक और इतिहास पुरुष का जन्म हुआ, उसका नाम था 'लोकाशाह'। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परिवार में जन्म लेने के बावजूद उन्होंने कबीर, नानक के अनुसार मूर्तिपूजा के विरुद्ध कार्य किया। जर्मन विद्वान् शुब्रिंग ने उनका जन्म ई. सं 1452 माना है जबकि श्री बिशम्भरनाथ पाण्डे ने उनका जन्म ई. सं. 1429 के पहले का माना है। यद्यपि वे गृहस्थ थे, फिर भी अनेक मुनि लोग भी उनके शिष्य हुए, लोग उन्हें दयाधर्म मुनि पुकारने लगे, और उनके धर्म को दयाधर्म कहने लगे। कुछ लोग उनके गच्छ को लोकागच्छ भी कहते हैं। वे मूर्तिपूजा से जुड़े आडम्बर के खिलाफ थे। उनके माध्यम से स्थानकवासी संघ की स्थापना हुई।

इसी प्रकार सोलहवीं शताब्दी में दिगम्बर सम्प्रदाय तारणपन्थ से प्रभावित हुआ, तारण स्वामी को इसका प्रवर्तक माना जाता है। उन्होंने भी मूर्तिपूजा, अनाचार और मिथ्याचार के विरुद्ध भयंकर संघर्ष किया और चौदह ग्रन्थों की रचना की। उनकी भाषा न तो विशुद्ध प्राकृत थी, न संस्कृत थी और न अपभ्रंश; वह इन सबका मिश्रण थी, अतः विद्वानों ने उसे तारणभाषा का नाम दिया है। उन ग्रन्थों पर ब्र. शीतलप्रसादजी ने हिन्दी भाषा में नौ ग्रन्थों की विस्तृत टीकाएँ लिखी हैं।

14. सम्प्रति राजा का उल्लेख जैन ग्रन्थों में बहुत सम्मान के साथ किया जाता है। यह सम्प्रति, मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के पुत्र सम्राट् अशोक का पौत्र और उनके अन्धपुत्र कुणाल का पुत्र था। अवन्तिका का राजा सम्प्रति जैन श्रमण संघ का महान संरक्षक था।

15. जैन संस्कृति की विशेषता है कि केवल मनुष्य को ही नहीं, जीवमात्र को अभय बनाना। जैन संस्कृति कहती है कि दूसरों को विवेकपूर्ण जीवन बिताने के लिए प्रोत्साहित करो, उन्हें सहयोग दो (परस्परोपग्रहो जीवानाम्)। जैन संस्कृति गृहस्थ को इन्द्रिय-वासना से मुक्त होने की शिक्षा देती है। जैनधर्म का पालन करने वाले व्यक्ति को सात व्यसनों का पहले त्याग करना चाहिए, तब कहीं वह श्रावक बन सकता है। धर्म पर श्रद्धा लाते ही उसे वासनाओं को जीतने का प्रयत्न प्रारम्भ कर देना चाहिए।

जैन संस्कृति में श्रद्धालु व्यक्ति के लिए निःशंकित और निःकांक्षित गुणों (सम्यक्त्व के आठ गुणों) को धारण करना परमावश्यक बताया गया है। एक श्रद्धालु – सम्यग्दृष्टि जैनी को इहलोक–परलोक, हानि, लाभ, मरण आदि किसी भी तरह का कोई भी भय नहीं होता। वह शंकारहित निःशंक होता है और ममता-मोह से परे अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण रखने वाला होता है। यह एक सच्चे जैनी का रूप है और उसकी अहिंसक वीरता का द्योतक।

जैन संस्कृति में अहिंसा की मर्यादा, अहिंसक वीरों की क्षमता और शक्ति दो धाराओं में बँटी हुई मिलती है। जो साधु हैं, दुनिया से मोह-ममता नहीं रखते, समता और क्षमा गुण ही जिनकी सम्पत्ति है, वे अहिंसा महाव्रत पालते हैं, आततायी के उपसर्ग को भी समता भाव से सहते हैं, शरीर भले ही मिट जावे, परन्तु वे आततायी का बुरा नहीं चाहते। ये जीव मात्र का भला चाहते हैं, किसी भी जीव की मनसा-वाचा-कर्मणा हिंसा नहीं करते। यह अहिंसा की पूर्णता की पुनीत धारा है।

इसके साथ ही अहिंसा की दूसरी धारा भी जैन संस्कृति में बहती है। जैन तीर्थंकर आध्यात्मिक विज्ञानी थे, वे जानते थे कि सभी मनुष्य, मोह-ममता के त्यागी और वासना-विजयी नहीं हो सकते, अतः संघ की स्थिरता के लिए उनकी चरित्र-मर्यादा भी निर्दिष्ट की जानी चाहिए। ऐसे मोही गृहस्थों के लिए अहिंसाव्रत का विधान 'अणु' (आंशिक) रूप में (अहिंसाणुव्रत) किया गया। वे संकल्प करके – जान-बूझ कर किसी को न मारें। क्रोध-मान-माया-लोभ के वश होकर किसी की हत्या न करें, किसी पर आक्रमण न करें। हाँ, धार्मिक/सात्विक जीवन बिताने के लिए, अपना और पराये का भला करने के लिए वे उद्योग करें और अपने घर-बार की रक्षा करें – ऐसा करने में जो हिंसा हो, वह उनके लिए अनिवार्य है; उसका निवारण करना, उनकी शक्ति के बाहर है। पर ऐसे अवसरों पर भी वह अहिंसा को ही आगे रख कर चलेगा अर्थात् जितनी अधिक मात्रा में वह अहिंसा का पालन कर सकेगा, पालेगा।

यहाँ प्रश्न यह है कि वह अपने किस कृत्य में वह हिंसा माने और किस में नहीं ? – इसका उत्तर जैन संस्कृति में हिंसा के दो रूपों के माध्यम से दिया गया है – भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। द्रव्यहिंसा, भावहिंसा के आधीन है। जब हिंसा के भाव होंगे, तब ही मनुष्य के कार्यों में हिंसा का पाप माना जा सकेगा और जहाँ भावों में हिंसा नहीं, वहाँ अहिंसा ही है, फिर कार्य का परिणाम कुछ भी हो।

इस सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों में अनेक दृष्टान्त मिलते हैं, जिनके उल्लेख 'भारत और मानव संस्कृति' में निम्न रूप से किये गये हैं –

- महावीर से मगध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार ने जाना कि कालसौकरिक कसाई महाहिंसक है। वह हिंसा छोड़ ही नहीं सकता। पर सम्राट् का दिल न माना, उन्होंने उसे बहुत ललचाया, पर फिर भी वह न माना। आखिर अपनी प्रभुशक्ति का उन्होंने प्रयोग किया और उसे अन्धे कुएँ में डलवा दिया और ऐसा मान लिया कि कालसौकरिक ने हिंसा नहीं की परन्तु जब वे भगवान के समक्ष पहुँचे तो वे यह सुन कर आश्चर्य में पड़ गये कि कालसौकरिक ने यद्यपि सजीव भैंसों को नहीं मारा, किन्तु उसने अपने भावों में भैंसों के मानस-चित्र बना कर, उनकी आकृतियाँ बनाईं और उनकी हत्या की। सम्राट् यह सुन कर चुप थे, उन्होंने जब कुएँ में कालसौकरिक को दिखवाया तो उसे हिंसानन्दी पाया। कालसौकरिक ने उस कुएँ की दीवारों पर तमाम भैंसों की तस्वीरें बना कर उन्हें कत्ल करने का भाव किया था। यद्यपि उसने प्रत्यक्षरूपेण एक जीव भी नहीं मारा था, कुछ भी द्रव्यहिंसा नहीं की थी, परन्तु फिर भी वह महा हिंसक था ? क्योंकि उसने भरपूर भावहिंसा की थी।
- दूसरी तरफ उस कृषक को देखिए जो मीलों जमीन जोत कर, कीड़ों-मकोड़ों और पृथ्वीकायिक जीवों की हत्या करके द्रव्यहिंसा तो बहुत करता है, परन्तु फिर भी वह उस मछियारे से कम पापबन्ध करता

है, जो बराबर बंसी डाले हुए पानी के किनारे मछली पकड़ने की हिंसक भावना लिए बैठा रहता है और एक भी मछली पकड़ नहीं पाता क्योंकि कृषक के भाव अन्न उपजा कर, अपना और अपने आश्रितों का भला करने का है, उसके भाव, हिंसा के नहीं हैं, परन्तु मछुआरे के भाव, हिंसा से ओतप्रोत हैं; इसीलिए वह अधिक पाप का संचय करता है। जैन संस्कृति में हिंसा/अहिंसा का माप भाव है।

- इसलिए गृहस्थ जैनी, धर्म देश और प्रियजनों की रक्षा करने के लिए हर समय तैयार रहता है। पूर्व भारत में इसी अहिंसा मर्यादा का पालन करने वाले एक नहीं, सहस्रों जैन राजा-महाराजा, सैनिक और सेनापति हो चुके हैं। जैसे – 1. सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानियों को खदेड़ भगाया था और अन्त में जैन मुनि होकर समाधि (कर्नाटक में श्रवणबेलगोला की चन्द्रगिरि पर्वत पर) धारण की थी। 2. कलिंग सम्राट् खारवेल ने धर्ममर्यादा की स्थिरता के लिए दिग्विजय की थी और उनके आतंक से यूनानी शाह दमत्रय मथुरा छोड़ कर भाग गया। 3. सेनापति चामुण्डराय ने लगभग 80 युद्ध अपने सम्राट् की रक्षा के लिए लड़े थे, परन्तु उन्होंने ही 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र' नामक धर्मग्रन्थ रचा। उनकी ऐतिहासिकता का प्रमाण, उनके द्वारा निर्मित श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) की 57 फुट ऊँची श्री गोम्मटेश्वर बाहुबली की प्रतिमा दे रही है।
- यह तो थोड़े से उदाहरण हैं, किन्तु इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा पड़ा है।
- एक बात और भी द्रष्टव्य है। जैन संस्कृति, हिंसक संग्रामों को हमेशा बचाती आई है। पाशविक शक्तियों का प्रयोग अन्ततोगत्वा ही उसमें किया गया है। भरत और बाहुबलि का हिंसक युद्ध इसी तरह टला था। उन्होंने अहिंसक युद्ध; जैसे, जलयुद्ध, मल्लयुद्ध और दृष्टियुद्ध लड़े और जय पराजय का निर्णय किया।
- अन्तिम सारांश यही है कि जैन संस्कृति, प्रत्येक परिस्थिति में यथाशक्ति अहिंसक रहने का ही उपदेश देती है।
- जब यह गृहस्थ अपनी वासनाओं को जीत लेगा, उन पर अधिकार जमाने की क्षमता हासिल कर लेगा, तब वह पापों और दोषों से बचने के लिए अहिंसा आदि व्रतों (श्रावक के अणुव्रत) को धारण करेगा। उसका नैतिक चरित्र दृढ़ होगा और हृदय दया से परिपूर्ण होगा। पश्चात् वही नागरिक अर्थात् श्रावक आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ, गृहस्थ के ग्यारह दर्जों (प्रतिमाओं) को पालता हुआ, जब कषाय और काम-वासना को पूर्णतः जीतने के लिए कटिबद्ध होता है, तब वह साधु होता है और दिगम्बर (नग्न) वेश में ज्ञान-ध्यान में लीन रह कर लोकोपकार में अपनी सारी शक्ति लगा देता है। साधु होने के पहले वह गृहस्थ के सातवें दर्जे से पूर्ण ब्रह्मचर्य का अभ्यास प्रारम्भ करता है और ग्यारहवें दर्जे (उद्दिष्टत्याग प्रतिमा) में पहुँच कर अपने तन पर सिर्फ एक लंगोटी (ऐलकपद) रखता है। उसका ध्येय साधुपद धारण करके स्वयं बन्धन-मुक्त होना और लोक को बन्धन-मुक्त करना होता है।
- जैन संस्कृति की यह भी विशेषता है कि वह पुरुष के साथ स्त्री को भी लेकर चलती है, वह भी उक्त प्रकार से अपनी उन्नति कर सकती है।

16. जैन संस्कृति का यह विश्वास है कि जैनधर्म शाश्वत है। उसके तत्त्वों का कभी नाश नहीं होता। अहिंसा और मैत्री, मनुष्य के लिए प्रकृति सुलभ हैं, वे मिटें कैसे? और जैनधर्म की आधारशिला अहिंसा ही है। विश्वबन्धुत्व की भावना के बिना अहिंसा की सम्भावना नहीं की जा सकती। जैनधर्म जीव मात्र को एक समान गिनता है। मनुष्य जाति एक है, उसमें कोई मौलिक भेद नहीं है। आजीविका की सुविधा और जीवन-निर्वाह के लिए वर्णादि भेद काल्पनिक हैं। इसलिए जैन संस्कृति मनुष्य मात्र के प्रति समदृष्टि रखना सिखाती है। इस सम-दृष्टि में ही लोक-कल्याण की पुनीत भावना अन्तर्हित है।
17. यद्यपि ऋतु-परिवर्तन की तरह धर्म की भी उन्नति (उत्सर्पिणी) और अवनति (अवसर्पिणी) होती है।
18. जैनधर्म में संसारी और संन्यासी – ये दो विभाग तो हैं, परन्तु साम्प्रदायिक दृष्टि से मौलिक विभाग श्वेताम्बर और दिगम्बर हैं –

- श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनों अपने अपने मत को प्राचीन मानते हैं; इन्हें स्थविरकल्प और जिनकल्प भी कहा गया है। प्रथम समुदाय वस्त्र का उपयोग करता था, इसी से केशी सवस्त्र रहता था और तीर्थिकों

(तीर्थंकरों) के आदि गुरु तो नग्न ही रहते थे, इसी कारण अति प्राचीन काल से ही नग्न (दिगम्बर) रह कर साधना करने की प्रथा चली आती है।

- श्वेताम्बर और दिगम्बर के विभागों के विषय में स्थानकवासियों में दो मत प्रचलित हैं –
  - प्रथम मतानुसार सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में बड़ा अकाल पड़ा। उस समय जैन साधुओं की संख्या 24,000 थी। सभी को भिक्षा नहीं मिल सकती थी, इस कारण 12,000 निष्ठावान दृढ़वर्ती साधु गुरु भद्रबाहु के साथ दक्षिण भारत को चले गये और दूसरे 12,000 साधु स्थूलभद्र के साथ उत्तर भारत में रहे। **स्थूलभद्र के अधिपत्य में रहने वाले दल ने नग्न-परीषह से पीड़ित होकर वस्त्रादि का व्यवहार करना शुरु किया। दुष्काल के बाद जब भद्रबाहु इस देश में वापस आये, तब यह समुदाय वस्त्र आदि का त्याग करने में असमर्थ रहा।** (यद्यपि उस समय भद्रबाहु ने उन्हें यह मौका दिया था कि वे प्रायश्चित्त लेकर पुनः नग्न दिगम्बर मुनिधर्म में दृढ़ हो जाएँ, उनमें से कुछ तैयार हुए, परन्तु अधिकांश तैयार नहीं हुए; इससे दिगम्बर-श्वेताम्बर में मतभेद बढ़ते गये और अन्ततोगत्वा उनमें विच्छेद हुआ।)
  - दूसरे मत के अनुसार दुष्काल के कारण भद्रबाहु जब दक्षिण भारत में गये तो उनकी अनुपस्थिति में स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में एक विराट् सम्मेलन का आयोजन किया। इसमें प्राचीन उपदेश के बारह अंगों को एक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया। ग्यारह अंगों का एकीकरण सुचारुरूप से हो गया और सबसे पिछला अंग स्थूलभद्र ने पूर्ण किया। भद्रबाहु के वापस आने पर जब उन्हें पता चला कि उनकी अनुपस्थिति में ही सम्मेलन हो चुका है तो वे अत्यन्त विरक्त हुए और उन्होंने घोषणा की कि 'ये द्वादश अंग अप्रमाण्य हैं' (क्योंकि इनमें सवस्त्र साधु एवं सवस्त्र मुक्ति व स्त्रीमुक्ति को स्वीकार किया गया था)। इस प्रकार उनमें पृथक्त्व होते हुए भी कुछ काल तक ये दोनों दल एकत्र रहे, परन्तु आगे चल कर उनका एकत्र रहना असम्भव हो गया।
- स्थानकवासी सूचित करते हैं कि यह विच्छेद ई. सं. 83 में हुआ जबकि श्वेताम्बर तपगच्छ के अनुसार ई. सं. 142 में।
- श्वेताम्बरों में एक बात प्रचलित है कि साधु शिवमूर्ति, गृहस्थावस्था में एक राजा के यहाँ काम करते थे। शिवमूर्ति ने जब संन्यास का मार्ग ग्रहण किया, तब उस राजा ने शिवमूर्ति को एक अन्यन्त मूल्यवान कम्बल भेंट दिया। तब शिवमूर्ति के गुरु ने कहा कि संन्यासी के लिए ऐसा बहुमूल्य विलास-द्रव्य पास में रखना अनुचित है, फिर भी शिवममूर्ति ने उसका त्याग नहीं किया। इस पर गुरु ने एक दिन उसे चीर-फाड़ कर रख दिया। जब शिवमूर्ति को यह बात मालूम हुई, तब उन्हें ज्ञान हुआ और वे अत्यन्त दुःखित हुए और महावीर के समान तुरन्त सब वस्त्रों को त्याग दिया। यहीं से दिगम्बरों का उद्भव हुआ। इससे स्पष्ट है कि नग्नता के उदाहरण जैनधर्म के आदिकाल में भी दिखाई देते हैं।
- संन्यासी के लिए दिगम्बर होना आवश्यक है, पर नारी के लिए संन्यास लेना उचित नहीं है। शिवमूर्ति की बहन जब संन्यास के लिए तत्पर हुई तो उन्होंने पूछा कि 'मैं किस तरह वस्त्र का त्याग करूँ ?' तो शिवमूर्ति ने उन्हें समझाया कि 'इस मार्ग के पुण्य से दूसरे जन्म में पुरुष का जन्म लेकर संन्यास ग्रहण करना।' इसी कारण दिगम्बरों में स्त्रियों के लिए संन्यास नहीं है। उन्नीसवें तीर्थंकर मल्ली को श्वेताम्बर स्त्री मानते हैं, किन्तु दिगम्बर कहते हैं कि वह पुरुष थे क्योंकि स्त्री होते हुए किसी के लिए तीर्थंकर होना असम्भव सी बात है।
- श्वेताम्बरों के मतानुसार महावीर विवाहित थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा लेकर और कन्या प्रियदर्शना को घर पर छोड़ कर तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने संन्यास लिया। संसार का त्याग करने के बाद महावीर की दौहितृ प्रशवती या शेषवती का जन्म हुआ। दिगम्बरों के मतानुसार महावीर, बाल संन्यासी थे। कुछ विद्वानों का मत है कि 28 वर्ष की अवस्था में उन्होंने संसार त्याग किया।
- श्वेताम्बर मत के अनुसार महावीर के दामाद जमाली से ही 'निह्नव' अर्थात् मतभेदों की शुरुआत हुई। उनके अनुसार आठवाँ निह्नव ही दिगम्बर मत है। इस मत का उद्भव ई. सं. 83 में हुआ। वे कहते हैं कि छठे स्थविर भद्रबाहु के समय में अर्धफालक सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। इसमें से ई. सं. 80 में दिगम्बरों का उद्भव हुआ, जो **मूलसंघ** कहलाया। वह नन्दि, सेन, सिंह और देव – इस तरह चार विभागों में विभक्त हुआ।

- श्वेताम्बर साधु, कौपीन और उत्तरीय – इन दो वस्त्रों को व्यवहार में लाते हैं। कौपीन को वे 'चोलपट्ट' और उत्तरीय को 'पछेड़ी' कहते हैं। इसके अतिरिक्त वे कम्बल और कन्था का उपयोग भी करते हैं। स्थानकवासी साधु मुख पर एक प्रकार का वस्त्राच्छादन बाँधते हैं, जिसे वे मुखपट्टी या 'भोमती' कहते हैं। धूल और जन्तु या कीड़े दूर करने के लिए वे अपने पास एक तरह की बुहारी रखते हैं, जिसे रजोहरण या ओछा कहते हैं। तदुपरान्त वे काष्ठ-पात्र आदि से लेकर चौदह तरह की भिन्न भिन्न वस्तुएँ रख सकते हैं। जबकि दिगम्बर साधु, वस्त्र तक नहीं रखते; इसलिए वे 'वनवासी' कहे जाते हैं, वे जीव-जन्तु को दूर करने के लिए मोरपंख (पीछी) रखते हैं। श्वेताम्बर साधु की तरह रहने के लिए उपाश्रय या घर नहीं रखते।
- श्वेताम्बर श्रमिक गृहस्थ अपने घर में गृह-मन्दिर भी रख सकते हैं, पर दिगम्बर नहीं।
- दोनों सम्प्रदायों की प्रतिमा में भी पार्थक्य है। श्वेताम्बरों की प्रतिमा में वस्त्र, अलंकार, मणि-माणिक्य आदि रहते हैं, पर दिगम्बरों में इस तरह की बात नहीं है। श्वेताम्बर प्रतिमा की आँखें भी स्फटिक निर्मित होती है, किन्तु दिगम्बर प्रतिमा की आँखों से विलास वैभव का आभास दृष्टिगोचर नहीं होता तथा प्रतिमा की दृष्टि पृथ्वी की ओर होती है।
- दोनों सम्प्रदायों में इनके अतिरिक्त पूजन के उपचार और उपकरण में भी भिन्नता है।
- जैन कल्पसूत्र (श्वेताम्बर मान्यता) में महावीर के परवर्ती आचार्यों की स्थविरावली का अनुसन्धान इस प्रकार मिलता है कि महावीर के शिष्य सुधर्म से लेकर शाण्डिल्य तक तैंतीस स्थविर हुए हैं। जबकि दिगम्बर मत के अनुसार भी अनेक स्थविर हैं। उनके प्रथम और छठे स्थविरों के नाम श्वेताम्बरों के साथ मिलते हैं, शेष भिन्न हैं।
- छठे स्थविर भद्रबाहु से लेकर चौदहवें स्थविर वज्रसेन तक के स्थविरों के शिष्यों के नाम, गण, कुल और शाखा जैन शास्त्रों में वर्णित हैं। जर्मन विद्वान् बुल्हर की 'एपिग्राफिका इण्डिका 1812' में मथुरा से प्राप्त शिलालेख प्रकाशित हुआ है। इसमें लिखित सब नामों के साथ जैन शास्त्रों में वर्णित नाम मेल खाते हैं।
- गुजरात के श्वेताम्बरों में स्थानकवासी मूर्तिपूजा को अस्वीकार करते हैं जबकि देरावासी उसे मानते हैं।
- देरावासी के प्रधानतः चार गच्छ हैं –
    - **तपागच्छ** – इनका भिक्षापात्र लाल होता है।
    - **खरतरगच्छ –** इनका भिक्षापात्र काला होता है।
    - **अंचलगच्छ**
    - **जयचन्दनगच्छ''**

महात्मा गांधी और जैनधर्म[48]

महात्मा गांधी, अहिंसा, सत्य और संयम के प्रबल पुजारी थे। इसी कारण उन्हें 'महात्मा गांधी' नाम से सम्बोधित किया जाता है। इतना ही नहीं, उनकी विचारधारा, आज एक दर्शन (गांधीदर्शन), एक वाद, (गांधीवाद) एक क्रान्ति (अहिंसक क्रान्ति) बन गई है। उनकी विचारधारा को विकसित होने में उनके माता-पिता[45] एवं गुरु का विशेष सहयोग रहा है। फ्रेंच भाषा के प्रखर शान्तिवादी चिन्तक एवं लेखक श्री रोमन रोलैण्ड ने अपनी पुस्तक 'महात्मा गांधी' में लिखा है –

''His Parants were followers of the Jain School of Hinduism, which regards 'Ahimsa', the doctrine of non-injury to any form of life, as on of its basic principles. This was the doctrine, that Gandhi was to proclaim victoriously throughout the world. Jainism believes that the principle of love, not intelligence, is the road leads to God.''

अर्थात् गांधीजी के माता-पिता, हिन्दुत्व (हिन्दुस्थान) के जैनधर्म की शिक्षाओं के अनुयायी थे, जो अहिंसा से प्रेरित हैं। अहिंसादर्शन से तात्पर्य 'किसी भी प्राणी को चोट नहीं पहुँचाना है, जो उसका मूलभूत सिद्धान्त है। इसी दर्शन को गांधीजी ने सम्पूर्ण विश्व में बड़े गर्व के साथ उसका डंका बजाते हुए फैलाया। जैनधर्म के अनुसार करुणा (व्यवहार अहिंसा) का सिद्धान्त ही, न कि बुद्धिमत्ता, वह मार्ग है, जो हमें ईश्वर के पास ले जाता है।[49]

मराठी भाषा के दैनिक समाचार पत्र 'नवाकाळ' में गांधीजी ने लिखा है –

''जीवों के प्रति दया, जैनों का मुख्य तत्त्व है; अतः मैं सब अहिंसावादी लोगों को जैन ही समझता हूँ।''[50]

एक बार जब लाला लाजपतराय, जो स्वयं जन्मजात जैन थे, उन्होंने उत्तेजनावश ऐसा लिख दिया कि अहिंसा सिद्धान्त के चरम विकास के कारण ही भारत का अधःपतन हुआ है तो गांधीजी ने इसका जवाब देते हुए लिखा –

''यद्यपि मैं लालाजी का बहुत आदर करता हूँ, फिर भी मैं उनके इस मत से सहमत नहीं हूँ कि अहिंसा सिद्धान्त के चरम विकास के कारण ही भारत का अधःपतन हुआ है। ऐसे कोई ऐतिहासिक तथ्य हमारे सामने नहीं हैं, जिनसे यह विश्वास किया जा सके कि अहिंसा की पराकाष्ठा से ही हमारे मानवीय गुणों का घात-प्रतिघात हुआ है।.....

हम तो यहाँ तक भी कह सकते हैं कि नैतिक/धार्मिक वृत्ति की अपेक्षा अनैतिक/अधार्मिक वृत्तियों के कारण ही हमारा अधःपतन हुआ है।''[51]

उनके जीवन के बारे में रोमन रोलैण्ड लिखते हैं –

''गांधीजी की आठ वर्ष की उम्र में सगाई और बारह वर्ष की उम्र में शादी हो गई थी। उन्नीस वर्ष की उम्र में अपनी वकालात की पढ़ाई पूरी करने के लिए जब वे लन्दन जाने लगे तो उनकी माता ने उन्हें जैनधर्म के तीन नियम दिलाए, जो शराब, माँस और परस्त्री के त्याग से सम्बन्धित थे।''[52]

गांधीजी ने स्वयं कहा है कि 'मुझ पर तीन पुरुषों ने गहरा प्रभाव डाला है – टॉल्स्टॉय, रस्किन और रायचन्दभाई। टॉल्स्टॉय ने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र-व्यवहार से; रस्किन ने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दि लॉस्ट' से, जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है और रायचन्दभाई ने अपने गाढ़े परिचय से। जब मुझे हिन्दूधर्म में शंका उत्पन्न हुई, उस समय उसके निवारण करने में मदद करने वाले रायचन्दभाई थे।

जो वैराग्य 'अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे?[53] – इस काव्य की कड़ियों में झलक रहा है; वह मैंने उनके दो वर्ष के गाढ़े परिचय में प्रतिक्षण उनमें देखा है।.....

व्यवहारकुशलता और धर्मपरायणता का जितना उत्तम मेल मैंने कवि (श्रीमद् रायचन्द्र जैन) में देखा, उतना किसी अन्य में नहीं देखा।.....

बहुत बार कह और लिख गया हूँ कि मैंने बहुतों के जीवन में से बहुत कुछ लिखा (सीखा) है; परन्तु सबसे अधिक किसी के जीवन में मैंने ग्रहण किया हो तो वह कवि (श्रीमद् रायचन्द जैन) के जीवन में से है। दयाधर्म भी मैंने उनके जीवन में से सीखा है। खून करने वाले से भी प्रेम करना, यह दयाधर्म, मुझे कवि ने सिखाया है।''[54]

उक्त 'अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे' – इस काव्य में गांधीजी ने निर्ग्रन्थ मुनि बनने की भावना, अभिव्यक्त होती है। कहते हैं कि गांधीजी को इस काव्य से इतना अनुराग था कि वे इसे खासतौर से स्वयं ही अपने मुख से बोल कर सबसे बुलवाया करते थे। जब चर्चिल ने उन्हें 'नंगा फकीर' कह कर सम्बोधित किया था तो गांधीजी ने इसके उत्तर में कहा था कि ''हाँ, मैं नंगा फकीर बनना चाहता हूँ, परन्तु अभी मैं अपने को इसके योग्य नहीं पाता हूँ।''

इस घटना को उल्लिखित करते हुए सुप्रसिद्ध लेखक फिशर लिखते हैं –

Gandhiji aspired to practice highest type og Ahimsa by becoming a nude Jain Monk (Muni). When Chuchill had rebuked Gandhiji by calling him a 'A Naked Fakir'. He had informed Churchill "I would love to be A Naked Fakir, but I am not one yet."[55]

महात्मा गाँधी ने महावीर की अहिंसा को अपना कर उसे भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का सबसे बड़ा अस्त्र बनाया और समस्त संसार को अहिंसा की शक्ति से परिचित कराया। वे लिखते हैं –

''पहिले मैं ऐसा मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। आज मैं विरोधियों को प्यार करता हूँ क्योंकि अब मैं अपने को विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा – इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है।''

प्रख्यात साहित्यकार तथा नोबल पुरस्कार द्वारा सम्मानित **डॉ. जार्ज बर्नार्ड शॉ**, महात्मा गाँधी से अत्यन्त प्रभावित थे। एक बार गाँधीजी के ज्येष्ठ सुपुत्र एवं वरिष्ठ पत्रकार **देवदास गाँधी** (हिन्दुस्तान टाइम्स के संस्थापक सम्पादक) बर्नार्ड शॉ का इन्टरव्यू लेने लन्दन पहुँचे; तब उसी प्रसंग में बर्नार्ड शॉ के साथ उनके वार्तालाप के समाचार समाचार-पत्रों में इस प्रकार प्रकाशित हुए थे –

He expressed the views that Jain Teachings were appealing to him very much and he wished to be reborn in Jain family. Due to the influence of Jainism, he was always taking pure food free from meat diet and liquar……If there is a rebirth, then I wish to be born in a jain family.

अर्थात् उन्होंने अपना अभिप्राय प्रगट करते हुए कहा कि ''जैनधर्म की शिक्षाओं ने मुझे विशेष प्रभावित किया है और मैं चाहता हूँ कि मेरा पुनर्जन्म किसी जैन परिवार में हो।'' जैनधर्म के प्रभाव से ही वे हमेशा शुद्ध शाकाहारी आहार ही करते थे, वे माँस भक्षण एवं शराब का सेवन नहीं करते थे.....यदि पुनर्जन्म होता है तो मैं जैन परिवार में जन्म लेना चाहता हूँ।

गाँधीवादी दर्शन के प्रख्यात व्याख्याकार **काका कालेलकर** ने **'जैनधर्म को विश्वधर्म बनने की क्षमता वाला धर्म'** कहा है।

'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' – ऐसे स्वतन्त्रता का उद्घोष करने वाले लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने तो यहाँ तक कहा है –

ब्राह्मण धर्म में एक सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उसमें ब्राह्मणादि चारों वर्णों को समानाधिकार नहीं दिये गये। यज्ञ-यागादि-कर्म केवल ब्राह्मण ही कर करा सकते थे, क्षत्रिय और वैश्य नहीं, शूद्र तो उसे देख भी नहीं सकते थे। जैनधर्म ने इस त्रुटि को दूर कर मानव-समाज का बड़ा भारी उपकार किया है।

इस प्रकार जैनधर्म ने युगों युगों तक सकल भारतीय समाज के सभी वर्णों के निर्माण में और सकल भारतीय समाज ने जैन-संस्कृति के विकास, संरक्षण और उसके इतिहास निर्माण में परस्पर आशातीत योगदान दिया है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश (Ex-judge International Tribunal for Trying the Japanese War Criminals) श्री डॉ. राधा विनोद पाल World Peace अर्थात् विश्व-शान्ति के अधिकार के सम्बन्ध में लिखते हैं –

''If anybody has any right to receive and welcome the delegates to any Pacifists Conference, It is the Jain Community. The principle of Ahimsa, which alone can secure World Peace, has indeed been the special contribution to the cause of human development by the Jain Tirthankaras, and who else would have the right to talk of World Peace than the followers of the great Sages Lord Parshvanath and Lord Mahavira.

अर्थात् विश्वशान्ति संस्थापक सभा के प्रतिनिधियों का हार्दिक स्वागत करने का अधिकार केवल जैनों को ही है क्योंकि अहिंसा ही विश्वशान्ति का साम्राज्य पैदा कर सकती है और मानवीय विकास के लिए अहिंसा की ऐसी अनोखी भेंट जगत् को जैनधर्म के प्रस्थापक तीर्थंकरों ने ही दी है; इसलिए विश्वशान्ति के लिए बात करने का अधिकार प्रभु श्री पार्श्वनाथ और प्रभु श्री महावीर के अनुयायियों के अतिरिक्त और किसको है?''

जैनधर्म का दैनिक जीवन में प्रयोग[56]

समाज में सच्चरित्र-निर्माण के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। सद्गुण, व्यक्तित्व के विकास एवं उसकी पूर्णता के लिए अनिवार्य हैं। यह सत्य है कि सामाजिक अवगुणों को दूर और सद्गुणों का प्रसार करने के लिए नैतिक शिक्षा की भी आवश्यकता है तो फिर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या यह शिक्षा, स्वतः ही मनुष्य के अन्तर्मन में प्रस्फुटित हो जाती है अथवा उसे प्रेरित करने के लिए कुछ ऐसे सामाजिक विधान की आवश्यकता है, जिसके द्वारा नैतिक विकास को प्रोत्साहन दिया जाए। यह प्रश्न हमें नैतिकता एवं न्याय के क्षेत्र में प्रवेश करने पर बाध्य करता है और हमें यह जानने के लिए प्रेरित करता है कि जिस प्रकार एक नवजात शिशु को सुख-दुःख का अनुभव तथा पारितोषिक-दण्ड की व्यवस्था, अच्छी आदतों के निर्माण

सहायक होते हैं; उसी प्रकार समाज के नैतिक विकास में भी शुभकर्म की प्रशंसा और अशुभकर्म की निन्दा अपेक्षित हैं।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल से ही मनुष्य, न्याय एवं दण्ड के द्वारा नैतिकता का विकास करता आया है। इसका कारण यह है कि नैतिकता, निःसन्देह सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है। मनुष्य, जब सदाचार के कारण समाज में सम्मान को प्राप्त होता है और दुराचार के कारण अपमान का सामना करता है तो वह स्वतः ही अपने आप में सद्गुणों का विकास करता है।

यदि हम इस जैन संविधान का दैनिक जीवन में प्रयोग करें तो सम्भव है कि सम्पूर्ण विश्व का शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक स्वास्थ्य भी उन्नत एवं श्रेष्ठ होगा। धर्म के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण आज के रूढ़िवादी अन्धविश्वासी एकान्ती जिद्दी धार्मिकों के कारण बदनामी की हद तक जा चुका है। इन धार्मिकों की नासमझी के कारण आज का मानव, धर्म से ही दूर होने लगा है। उसे लगता है कि पता नहीं, यह धर्म क्या बला है ? जिसके कारण मानव-संस्कृति एवं सभ्यता का विकास अवरुद्ध हो गया है। औद्योगिक क्रान्ति के इस युग में पढ़ा-लिखा शिक्षित वर्ग यह मानने लगा है कि धर्म की तुलना में विज्ञान, मानव-सभ्यता को विकास-पथ पर अग्रसर कर सकता है।

यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो विज्ञान, एक नीति-निरपेक्ष शक्ति है क्योंकि विज्ञान, भौतिक-प्रगति तो प्रदान कर सकता है, किन्तु उसका उपयोग कैसे किया जाए ? – इसकी उपयुक्त दिशा प्रदान करने में वह सक्षम नहीं है। जैसे, विज्ञान द्वारा अग्नि का उत्पादन तो सम्भव हुआ है, परन्तु उसका उपयोग भोजन पकाने में किया जाए या घर जंगल आदि जलाने में – ऐसे प्रशस्त-अप्रशस्त का विवेक प्रदान करने में विज्ञान समर्थ नहीं है, उसके लिए तो 'सच्चा धर्म' ही सच्चा मार्गदर्शन कर सकता है। कहा भी है –

विद्या विवादाय, धनं मदाय, शक्तिः परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्, ज्ञानाय दानाय च परिरक्षणाय।।

अर्थात् दुर्जन के हाथ में पड़ जाने पर विद्या, कलह-कारिणी होती है; धन-सम्पत्ति, अहंकार का कारण बनती है; और शारीरिक शक्ति, दूसरों को पीड़ित करने के लिए होती है। सज्जन पुरुष के हाथों में आने पर वे तीनों शुभकारी फल देते हैं अर्थात् विद्या, ज्ञान का संवर्धन करती है; धन, साधन-विहीनों को दान देने का साधन बनता है; और शारीरिक- शक्ति, असमर्थों की रक्षा करने में काम आती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विज्ञान की शक्ति अपूर्व है, इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु उसके उपयोग के लिए भी विवेकपूर्ण दिशा-निर्देश 'धर्म' ही कर सकता है।

सुप्रसिद्व दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन ने धर्म की परिभाषा करते हुए कहा है –

''सत्य की जिज्ञासा, विवेकपूर्ण समभाव और इन दो तत्त्वों के आधार से घटित जीवन-व्यवहार को 'धर्म' कहते हैं।''

आचार्य अमितगति ने धर्म की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए उसे निम्न शब्दों में व्याख्यायित किया है –

''जिस प्रकार अन्न-सेवन के बिना शरीर, नेत्र-विहीन मुख, नीति-विहीन राष्ट्र, नमक-विहीन भोजन और चन्द्रमा-विहीन रात्रि सुशोभित नहीं होती, उसी प्रकार धर्म-विहीन जीवन भी सार्थक और सुशोभित नहीं होता।''[57]

जिनागम के अनुसार 'धर्म' प्रत्येक जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है, किन्तु राग-द्वेष-मोह आदि के कारण जब उसमें कलुषता आ जाती है, तब उसमें ऐसे परिवर्तन आ जाते हैं कि उनसे उसकी जीवन-धारा ही बदल जाती है; अतः उस जीवात्मा को पुनः अपने उस स्वाभाविक गुण को प्राप्त करने में 'धर्म' ही एक परम औषधि का काम करता है।

ध्यान रहे कि आचार-विचार-शुद्धि लाये बिना केवल बाह्याचार प्रदर्शन तथा आराध्यों की मूर्तियों या देवी-देवताओं की पूजा-कीर्तन कर लेना मात्र ही धर्म नहीं है। अथवा मन्दिर-मूर्ति-निर्माण, उनका प्रतिष्ठा कार्य या रथोत्सव या गजरथोत्सव आदि करा लेना मात्र भी धर्म नहीं है। साथ ही इहलौकिक शारीरिक एवं भौतिक सुख-प्राप्ति करना भी धर्म का मूल उद्देश्य नहीं है। **'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'** – यह भी धर्म-प्राप्ति का लक्ष्य नहीं माना जा सकता।

धर्म तो आध्यात्मिक उत्कर्ष का नाम है, आत्मगुणों के विकास का साधन है। वह जीवन को स्वावलम्बी बनाने हेतु स्वात्म-चिन्तन, मनन एवं स्वानुभव करने की दिशा प्रदान करने वाली एक रचनात्मक प्रक्रिया है। आचरण में अहिंसा एवं समन्वय-वृत्ति, सहज करुणा-भाव, अपरिग्रहभाव और सभी के प्रति मैत्री एवं प्रमोदभाव भी धर्म की विविध परिणतियाँ हैं।

धर्म, आत्मा में आने के लिए एक प्रवेश-द्वार के समान है। आत्मा के साथ धर्म का स्पर्श उस समय होता है, जब उसमें वीतराग-चेतना जागृत होती है। वीतराग-चेतना भी उसमें तभी जागृत होती है, जब उसमें राग-द्वेष की समाप्ति होती है; अतः इस मान्यता के अनुसार आत्मा स्वयं ही ईश्वर है। आत्मा अपने प्रशस्ताप्रशस्त कर्मों का स्वयं कर्ता है तथा उनके फलों का भोक्ता भी वह स्वयं ही है। इससे पृथक् ईश्वर नाम की कोई शक्ति नहीं। उक्त मान्यता के अनुसार तो व्यक्ति सम्यक् साधना द्वारा अपनी आत्मा की शक्ति को जागृत कर सकता है। वह राग-द्वेष विहीन होकर, संयम-तप-साधना कर आत्मा में लगे हुए विभिन्न कर्मावरणों को नष्ट कर शाश्वत मोक्ष-सुख भी प्राप्त कर सकता है। मोक्ष-प्राप्ति के बाद फिर उसे इस संसार-चक्र में लौट कर जन्म-मरण के कष्टों को नहीं भोगना पड़ता।

धर्म की उक्त व्याख्या जैनधर्म-सम्मत है। जैनधर्मानुसार, आत्मा चैतन्यस्वरूपी है, ज्ञानोपयोगमयी है, अजरअमर है, अखण्ड है, अमूर्तिक है, स्वदेहप्रमाण है, स्वपरप्रकाशक है, और अनन्त गुणपर्याय वाली है। वह न तो स्त्री है, और न ही पुरुष क्योंकि ये उपाधियाँ तो देहाश्रित एवं कर्मजन्य हैं। पाँच इन्द्रियाँ और मन से उस आत्मा को देखना सम्भव नहीं।

जैनधर्म प्रकृति-प्रदत्त रंग-बिरंगे पुष्पों के एक ऐसे सदाबहार उद्यान के समान है, जिसने अपनी वैचारिक सौरभ और माधुर्य से प्राणिमात्र के जीवन को आह्लादित, ऊर्जस्वित एवं सुसंस्कृत बनाए रखने के बहु-आयामी प्रयत्न किये हैं। जैनधर्म, आत्म-सौन्दर्य को समृद्ध करने, आत्मानुशासन और आत्म-सन्तोष को विकसित करने की एक प्राकृतिक कला है। उसका मूल उद्देश्य है –

1. मानव के अन्तर्निहित गुणों को विकसित करने के लिए सम्यक् मार्ग प्रदर्शित करना।
2. जीवन में पुष्पों के नैसर्गिक माधुर्य के समान ही सौरभ और सौहार्द की भावना को जागृत करना।
3. परिवार, समाज एवं राष्ट्र ही नहीं, अपितु समग्र प्राणिजगत् में मंगलकारी आदर्शों एवं मैत्री-भाव को बिखेरते रहना।
4. स्वस्थ समाज, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व के सर्वांगीण विकास के लिए निरन्तर मार्गदर्शन करते रहना।

जैनधर्म, सर्व-धर्म-समन्वय, सर्वोदय एवं विश्वमैत्री का पर्यायवाची नाम भी है। लोक-हित-साधक सन्देशों का प्रसार ही उसका प्रधान लक्ष्य है। वह वर्ग अथवा वर्ण की संकीर्ण सीमाओं से परे है। उसके सिद्धान्त किसी पन्थ की या सम्प्रदाय-विशेष, राष्ट्र-विशेष या केवल मानव-समाज की सीमा से संकुचित या आवेष्टित नहीं है, बल्कि वह तो प्राणिमात्र की सुरक्षा एवं विकास तथा समस्त विश्व के बहु-आयामी कल्याण के लिए युगानुकारी सन्देश-वाहक रहा है।

जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। वह ज्ञानविज्ञान मनोविज्ञान की सभी कसौटियों पर खरा उतरा है; इसलिए इटली के मनीषी चिन्तक डॉ. एल. पी. टेसिटरी ने अपनी शोध भाषण माला में कहा है –

The more scientific knowledge advances, the more Jain-Teachings will proved. Jainism is of a very high order, its important teachings are based upon Science.[58]

अर्थात् जितनी जितनी विज्ञान की प्रगति होती जाएगी, उतनी उतनी जैन शिक्षाएँ सिद्ध होती जाएँगी क्योंकि जैनधर्म में अपनाये गये मूल्यों का स्थान अत्यन्त महान है; उसकी प्रमुख शिक्षाएँ विज्ञान पर आधारित हैं।

लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष अनन्तशयनम् आयंगर ने जैनधर्म को स्पष्टतः विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म निरूपित करते हुए लिखा है –

''भारत क महान् सन्तों, जैसे, जैनधर्म के तीर्थंकर ऋषभदेव व भगवान महावीर के उपदेशों को हमें पढ़ना चाहिए। आज उन्हें अपने जीवन में उतारने का सबसे ठीक समय आ पहुँचा है क्योंकि जैनधर्म का तत्त्वज्ञान, अनेकान्त (सापेक्ष पद्धति) पर आधारित है और जैनधर्म का आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठापित। जैनधर्म कोई पारस्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अन्धश्रद्धा रख कर चलने वाला सम्प्रदाय नहीं

है। **वह मूलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है।** उसका विकास एवं प्रसार वैज्ञानिक ढ़ंग से हुआ है क्योंकि जैनधर्म का भौतिक विज्ञान और आत्मविद्या का क्रमिक अन्वेषण, आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों में समानता रखता है। जैनधर्म ने विज्ञान के उन सभी प्रमुख सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया है। जैसे कि पदार्थ-विद्या, प्राणी-शास्त्र, मनोविज्ञान, और काल, गति, स्थिति, आकाश एवं तत्त्वानुसन्धान। श्री जगदीशचन्द्र बसु ने वनस्पति में जीवन के अस्तित्व को सिद्ध कर, जैनधर्म के पवित्र धर्मशास्त्र भगवतीसूत्र के वनस्पतिकायिक जीवों के चेतनत्व को प्रमाणित किया है।''[59]

बाल ब्र. सुमतप्रकाशजी, अपने व्याख्यानों में हमेशा कहते हैं कि **विज्ञान + हिंसा = सर्वनाश एवं विज्ञान + अहिंसा = सर्वोदय**। इस सूत्र वाक्य से हम उक्त डॉ. एल. पी. टेसिटरी के वक्तव्य के मर्म को समझ सकते हैं।

जैन श्रावकों का दैनिक संविधान

जैनधर्म के श्रावकाचार संविधान के अन्तर्गत प्रत्येक जैन श्रावक को दैनिकरूप से षट् आवश्यक कर्तव्यों का पालन करना बताया गया है –

देवपूजा गुरूपास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने दिने।।[60]

अर्थात् 1. देवपूजा 2. गुरु की उपासना 3.स्वाध्याय 4. संयम 5. तप 6. दान – ये छह आवश्यक कार्य, गृहस्थ श्रावक को प्रतिदिन करने योग्य बताये गये हैं।

उक्त कर्तव्यों को संक्षेप में धवला ग्रन्थ में कहा है कि गृहस्थों के लिए दान और पूजा – ये दो कर्तव्य मुख्य हैं। गृहस्थ पाक्षिक श्रावक को अन्याय अनीति और अभक्ष्य का त्याग आवश्यक बताया गया है। यदि वह इतना भी नहीं करता तो वह जैन कहलाने का भी अधिकारी भी नहीं होता।

जैन गृहस्थ श्रावक की पहचान, उसके इन्हीं सद्गुणों के कारण सर्वत्र समाज में होती है। अनेक प्रसंगों में जैनी व्यक्ति के क्रिया-कलापों को आदर्श माना जाता है। राष्ट्र में उसकी सर्वत्र विश्वसनीयता, प्रामाणिकता, ईमानदारी, निरोगता, सुयश और सर्वांगीण सफलता के यही आधार रहे हैं। यह आदर्श परम्परा, न केवल व्यक्तिगत या पारिवारिक सुख-शान्ति, प्रगति और समृद्धि के लिए अनिवार्य हैं, अपितु स्वस्थ नैतिक समाज एवं कल्याणकारी राष्ट्र के निर्माण (Welfare State Formation) में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज' के लेखक डॉ. जगदीशचन्द्र जैन लिखते हैं –

''भारतवर्ष, आदिकाल से धर्मों का देश रहा है। प्रारम्भ काल से ही धर्म, प्राचीन भारतीय जीवन के आदर्श में एक केन्द्रीय भावना रही है।

मैगस्थनीज ने भारतीय ऋषियों को ब्राह्मण और श्रमण – इन दो भागों में बाँटा है; श्रमण, जंगलों में रहते थे और वे लोगों की परम श्रद्धा के पात्र थे।[61] जैसे, कहा जा चुका है, समण (श्रमण) और माहण (ब्राह्मण) का उल्लेख जैन-सूत्रों में बहुत आदर के साथ किया गया है।[62] वस्तुतः प्रजा के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन को गढ़ने में श्रमणों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। सामान्य जनता ही नहीं, राजे-महाराजे तक उनसे अत्यधिक प्रभावित थे। श्रमण, चातुर्मास को छोड़ कर, वर्ष में लगभग आठ महीने एक जनपद से दूसरे जनपद में विहार (जणवय-विहार) करते हुए धर्म का उपदेश देते फिरते थे। वे प्रायः सामान्यजनों द्वारा पथिकों और यात्रियों के लिए, नगर अथवा ग्राम के पास बनाये हुए चैत्यों अथवा उद्यानों में ठहरा करते थे। सामान्यजन, उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे, उद्यानों में उनके दर्शनों के लिए जाते थे, उनसे जिज्ञासा करते थे, उनके लिए अन्न-पान का प्रबन्ध करते थे तथा उन्हें रहने के लिए स्थान (वसति), आसन (पीठ), काष्ठपट्ट (फलक), शय्या और संस्तारक आदि आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करते थे।''[63]

दैनिक जीवन में जैनधर्म की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए ब्र. हेमचन्दजी 'हेम', लाटी संहिता की प्रस्तावना में लिखते हैं –

''जैनधर्म का मूल उद्देश्य जन्म-मरण, आधि-व्याधि-उपाधि आदि अनेक दुःखों से पीड़ित संसारी प्राणी को सच्चे सुख का मार्ग व उपाय दर्शा कर, पूर्ण स्वाधीन शाश्वत सुख की प्राप्ति कराना है। जिसे सर्व दुःखों या बन्धनों से मुक्ति पाना हो, उसे जिनधर्म की शरण में आना ही होगा क्योंकि अन्य कोई उपाय, रास्ता या

इलाज नहीं है। जिन अर्थात् जितेन्द्रियत्व को प्राप्त पूर्ण सुखी आत्मा – ऐसे जिन या जिनेन्द्र के अनुयायी को ही जैन कहते हैं।

मनुष्य जो कुछ सोचता है या बोलता है या करता है; वह सब उसका आचरण कहलाता है। उस आचरण का सुधार ही मनुष्य का सुधार है और उसका बिगाड़ ही मनुष्य का बिगाड़ है। मनुष्य प्रवृत्तिशील है और उसकी प्रवृत्ति तीन द्वारों – मन, वचन और काया से होती है। इनका सत्प्रयोग करना पुण्य-शुभाचरण एवं असत्प्रयोग करना, पाप-अशुभाचरण कहलाता है; किन्तु जहाँ शुभाशुभ सत्–असत् प्रयोग (चेष्टाएँ) न होकर, मात्र स्वरूपस्थ निर्विकल्प रहना होता है, वही स्वरूपाचरण धर्म है, आत्मीक सुख है, संवर-निर्जरा-मोक्ष है। पापाचरण से निवृत्त होना और पुण्याचरण में प्रवृत्त होना, व्यवहार से या उपचार से धर्म कहा जाता है।

यथार्थ मोक्षमार्ग में, साधक अवस्था में चारित्र के दो अंश प्रगट होते हैं। एक तो अशुभ से निवृत्ति एवं शुभ में प्रवृत्तिरूप तथा दूसरा शुभाशुभ दोनों से निवृत्ति एवं स्वरूप में प्रवृत्तिरूप। प्रथम अंश का नाम अशुद्धोपयोग है एवं दूसरे का नाम शुद्धोपयोग है। प्रथम से बन्ध है और द्वितीय से अबन्ध है। जब शुभाचरण एवं अशुभाचरण का परस्पर विचार करते हैं तो शुभाचरण में अशुद्धता कम तथा अशुभाचरण में अशुद्धता अधिक है। इसी कारण से शुभाचरण के व्यवहार में रहने को भला कहा जाता है परन्तु वह भी पुण्यबन्ध का कारण होने से निश्चय से अबन्धता का कारण नहीं है।''[64]

जैनधर्म की सर्वोदयवादिता

जैनधर्म एक सर्वोदयवादी धर्म है। उसकी मान्यता है कि स्वस्थ समाज एवं राष्ट्र-निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का चरित्र उन्नत हो, भावनाएँ पवित्र हों। आचार्य अमितगति ने कहा 'भावना द्वाविंशतिका' में कहा है –

सत्त्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।[65]

अर्थात् हे प्रभु! मेरा समस्त प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव, समस्त गुणियों के प्रति प्रमोदभाव, समस्त दुःखी प्राणियों के प्रति करुणाभाव और समस्त दुष्टों के प्रति माध्यस्थ्यभाव सदा होवे।

पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने लिखा है –

''भारतीय परम्परा में जैनधर्म अपनी उदारता और व्यापकता के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और स्वावलम्बन के कारण यह अन्य सब धर्मों में श्रेष्ठ धर्म गिना जाता है। इसी कारण इसके अनुयायी संख्या में अल्प होने पर भी विश्व के प्रधान धर्मों में इसकी परिगणना की जाती है।..... प्राणीमात्र की बुद्धि अन्धविश्वासों और अपने अज्ञान के कारण कुण्ठित हो रही है। जैनधर्म ने उनसे ऊपर उठ कर उसे आगे बढ़ाने में सदा सहायता की है।.....

प्रकृति का यह नियम है कि सभी प्राणी अपने जन्मक्षण से लेकर निरन्तर सुखी जीवन जीने के लिए आगे बढ़ने की चेष्टा करते रहते हैं, किन्तु जो आगे बढ़ने के समीचीन मार्ग का अनुसन्धान कर उस पर चलने लगते हैं, वे आगे बढ़ जाते हैं और शेष यों ही काल-यापन कर काल के गाल में समा जाते हैं।''[66]

जैनधर्म में धर्म शब्द का गहरा सम्बन्ध प्राणीमात्र के कल्याण की भावना के साथ है। इस सम्बन्ध में वे आगे कहते हैं –

''धरतीति धर्मः – धर्म शब्द की इस व्याख्या के अनुसार धर्म वह कर्तव्य है, जो प्राणीमात्र के ऐहिक और पारलौकिक जीवन पर नियन्त्रण स्थापित कर सबको सुपथ पर ले चलने में सहायक होता है। यहाँ 'मानवमात्र' शब्द का प्रयोग न कर जानबूझ कर प्राणी मात्र शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि धर्म का आश्रय केवल मानव को ही प्राप्त न होकर, प्राणी मात्र को मिला हुआ है। किसी एक गौ पर हिंस्र पशु का आक्रमण होने पर अन्य गौ उसकी रक्षा के लिए क्यों दौड़ पड़ती हैं? इसका कारण क्या है? यही न कि अपनी रक्षा में हेतु अन्य की रक्षा है – इसके महत्त्व को वे समझती हैं। यह समझदारी मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है किन्तु जितने जीवधारी प्राणी हैं, न्यूनाधिक मात्रा में वह सबमें पाई जाती है। यह वह विवेक है, जो प्रत्येक प्राणी को धर्म अर्थात् अपने कर्तव्य की ओर आकृष्ट करता है।.....

धर्म को हम इस प्रकार भी दो भागों में बाँट सकते हैं – व्यक्ति धर्म और सामाजिक धर्म। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति धर्म, सब प्राणियों की ऐहिक और पारलौकिक उन्नति और सुख-सुविधा का विचार करता है

और सामाजिक धर्म, मात्र मनुष्यों में भेद करके उसके अनुसार ऐहिक हित साधन तक ही सीमित रहता है। जैसे, जैनधर्म, मुख्यरूप से व्यक्तिवादी धर्म है, इसे आत्मधर्म भी कहते हैं। बौद्धधर्म भी व्यक्तिवादी धर्म माना गया है परन्तु उसमें इसके लक्षण उतने स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर नहीं होते, जिनका सम्बन्ध आत्मधर्म से है।

शेष वैदिक, ईसाई, मुस्लिम आदि धर्म मुख्यरूप से सामाजिक धर्म हैं; इनमें मनुष्य जाति को छोड़ कर अन्य जीवधारियों के हिताहित का तो विचार ही नहीं किया गया है। मनुष्यों के हित का विचार करते हुए भी इनका दृष्टिकोण उतना उदारवादी नहीं है। जैसे, वैदिक धर्म के अनुसार कोई शूद्र अपना कर्म बदल कर उच्च वर्ण के कर्तव्यों का अधिकारी नहीं बन सकता। इसमें क्षत्रिय और वैश्य वर्ण को भी ब्राह्मण वर्ण से हीन बताया गया है। ब्राह्मण सबका गुरु है – यह इस धर्म की मुख्य मान्यता है।

.....यही कारण है कि इसे ब्राह्मण धर्म भी कहते हैं। ईसाई धर्म और मुस्लिम धर्म में यद्यपि इस प्रकार का श्रेणी-विभाग दृष्टिगोचर नहीं होता और इन धर्मों में उच्च-नीच की भावना को समाज में मान्यता भी नहीं दी गई है, फिर भी इनका लक्ष्य कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर मानव समाज तक ही सीमित है। आत्मिक उन्नति इनका लक्ष्य नहीं है, इसलिए ये तीनों ही धर्म सामाजिक धर्म के अन्तर्गत आते हैं।[67] अतः कहा जा सकता है कि जैनधर्म ही प्राणीमात्र का धर्म है क्योंकि उसमें स्व और पर की दया का भाव भरा है।

भिण्ड (म.प्र.) के श्री सुरेशजी जैन ने बताया कि सिद्धवरकूट (रेशंदीगिरि, म.प्र.) में मध्यप्रदेश के अल्पसंख्यक आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री इब्राहिम कुरैशी नामक एक सरकारी अधिकारी ने विगत अगस्त 2009 को इन्दौर की एक सभा में लगभग 1000 व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए बताया –

''जैनधर्म से प्रभावित होकर उन्होंने मद्य-माँस-मधु का सेवन करना छोड़ दिया है। स्वाध्याय करना भी उन्होंने शुरु किया है। यद्यपि मुझे शुरु में कुछ भी समझ नहीं आता था, तथापि जब मैंने रात्रिभोजन करना छोड़ा तो मेरी समझ में आना भी शुरु हो गया।

मैं जैन समुदाय के बीच में जाता-आता हूँ तो इसकी आलोचना, हमारे मुस्लिम समाज में यदा-कदा होती रहती है। साथ ही उन्हें मेरे जैन समाज के साथ अधिक उठने-बैठने से भी ऐतराज होता रहता है। एक बार हमारे एक मुस्लिम भाई ने जब मुझसे कहा कि आप उनके यहाँ तो जाते-आते हो, परन्तु आप उन जैनी भाईयों को कभी अपने यहाँ नहीं लाते हो तो इसका कारण बताते हुए मैंने उनसे कहा –

हम हमेशा अपने मुस्लिम भाईयों के बारे में ही सोचते रहते हैं और कहते रहते हैं, इसी प्रकार हिन्दू भाई भी अपने हिन्दु भाईयों के बारे में ही बात करते हैं लेकिन जैनी भाई, कभी अपने जैनी भाईयों के बारे में बात नहीं करते, वे हमेशा प्राणी मात्र के कल्याण की ही बात करते हैं, जीव मात्र के प्रति दया भाव की बात करते हैं। हमारी बातें केवल हमारे हित के लिए ही होती हैं जबकि उनकी बातें सर्वजनोपयोगी और सर्वजनकल्याणकारी होती हैं; अतः हमारी बात उनके काम की नहीं है, परन्तु उनकी बात हम सब के काम की होती है। यही कारण है कि मुझे उनकी बातें अच्छी लगती हैं और इसीलिए मैं हमेशा उनके पास जाता-आता हूँ, परन्तु उन्हें अपने यहाँ नहीं लाता।''[68]

'जैन' शब्द की व्युत्पत्ति

'जैन' शब्द 'जिन' से निष्पन्न है। 'जिन' अर्थात् पंचेन्द्रिय एवं मन पर तथा संसार के कारणभूत राग-द्वेष-मोह पर विजय प्राप्त करने वाला। आगम ग्रन्थों में 'जिन' शब्द का अर्थ अतीन्द्रिय ज्ञानी एवं प्रत्यक्ष ज्ञानी के रूप में भी किया गया है। 'जिन' शब्द के पर्यायवाची नामों में वीतराग सर्वज्ञ अर्हत् केवली आदि का समावेश किया जाता है तथा जो 'जिन' का अनुयायी है, वही व्यक्ति 'जैन' कहलाता है। इस प्रकार जैन कोई विशेष जाति नहीं है, वह तो एक धर्म है, उसका अनुसरण करने वाला 'जैन' कहलाता है; वह यदि व्यक्ति होता है तो व्यक्ति जैन कहलाता है और वह यदि समाज होता है तो वह समाज जैन कहलाता है। जैन-आचार-संहिता का पालन करने वाले सद्गृहस्थ को 'श्रावक' एवं साधु को 'श्रमण' कहते हैं।

जिस प्रकार महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म 'बौद्धधर्म' कहलाया, ईसामसीह द्वारा प्रतिपादित धर्म 'ईसाईधर्म' कहलाया, शिव के उपासक 'शैव' कहलाये और विष्णु के उपासक 'वैष्णव' कहलाये; उसी प्रकार जिनेन्द्रों द्वारा उपदिष्ट धर्म 'जैनधर्म' कहलाया। लेकिन जैनधर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ अन्य बौद्ध ईसाई शैव वैष्णव आदि धर्मों में व्यक्ति पूजा को महत्त्व दिया गया, वहीं जैनधर्म में गुणों को महत्त्व दिया

गया है। जैनधर्म का सबसे बड़ा मन्त्र णमोकार महामन्त्र माना गया है, उसमें भी गुणों को ही नमस्कार किया गया है। वह मन्त्र इस प्रकार है –

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।[69]

अर्थात् अर्हन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार हो।

षट्खण्डागम के मंगलाचरण में उल्लिखित इसी मन्त्र को पंच परमागमों के रचनाकार आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में इसी मन्त्र को किंचित् अन्तर के साथ इस प्रकार अभिव्यक्त किया है –

किच्चा अरहन्ताणं, सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं, साहूणं चेव सव्वेसिं।।[70]

इस मन्त्र में यह कहा गया है कि जिनमें अर्हता, सिद्धता, आचार्यत्व, मार्गदर्शकत्व साधना में तत्परता आदि गुणों की विशेषता होती है; वही नमस्कार करने योग्य है।

इसी प्रकार जैनजगत् के सर्वमान्य ग्रन्थराज 'तत्त्वार्थसूत्र' के मंगलाचरण में भी गुणों की पूज्यता का दिग्दर्शन इस प्रकार किया गया है –

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये।।[71]

अर्थात् जो मोक्षमार्ग के नेता या परम हितोपदेशी हैं, कर्मरूपी पर्वतों के भेत्ता या परम वीतरागी हैं तथा जो विश्वतत्त्वों के ज्ञाता या पूर्ण ज्ञाता सर्वज्ञ हैं; उन्हें मैं उन जैसे गुणों की प्राप्ति के लिए वन्दना करता हूँ।

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जिस व्यक्ति में उत्कृष्ट गुणों की प्राप्ति पाई जाती है या जिसमें उन गुणों की अधिकता होती है, वही व्यक्ति पूज्य माना गया है क्योंकि व्यक्ति और उसके गुणों को सर्वथा अलग-अलग नहीं देखा जा सकता है; अतः गुणों के साथ साथ उसके धारक को भी पूज्य माना गया है।

जैनधर्म की मौलिकता

वैदिक धर्म से जैनधर्म की विशेषता

भारतीय धर्मों में वैदिक धर्मों से भिन्न जैनधर्म की अपनी पृथक् विशेषताएँ हैं, जिनका उल्लेख श्री बिशम्भरनाथ पाण्डे[72] ने भारत और मानव संस्कृति में किया है, वे लिखते हैं –

1. वैदिक धर्म के मुताबिक मुख्य धर्म यज्ञ था, उसमें पशुवध आवश्यक था। जैनधर्म का प्रधान विषय था – अहिंसा। वैदिक धर्म में यज्ञ के लिए गाय, आलम्भनीय थी, विवाह के अवसर पर भी गौघात हुआ करता था – यह हमारे विवाहों में 'गौ गौ' उच्चारण मन्त्र से जाहिर होता है। जबकि जैनधर्म में प्रधान व्रत ही गौरक्षा का था। वैदिक युग के पूर्व भारत में सम्भवतः एक ऐसी प्रथा थी, जिसमें गाय अत्यन्त पवित्र मानी जाती थी। इसके प्रमाण इस समय भी मिलते हैं। जैनों ने शायद उसी में से यह तथ्य निकाला हो। बाद में वैदिक मत में भी गाय अवध्य मानी गई। पहले भारत में अश्वमेघ यज्ञ के समान गोमेघ यज्ञ भी हुआ करता था, लेकिन सम्भवतः यह धारा अहिंसावादी धारा के प्रभाव से बन्द हो गई।
2. वेद का काम्य स्वर्ग था। मुक्तिवाद उसके बाहर की बात थी। यद्यपि वेद में भी मुक्तिवाद ने बाद में प्रवेश किया। वह मुक्तिवाद, सम्भवतः वेद के पहले से भारत में प्रचलित था। (यह जैनधर्म की अति-प्राचीनता का द्योतक है) जन्मान्तरवाद के सम्बन्ध में भी इसी तरह की बात है।
3. एक समय दक्षिण भारत भी में जैनमत प्रतिष्ठित था। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जैनमत सिर्फ वहीं तक सीमित था; बल्कि इसका तात्पर्य यह है कि अति प्राचीन भारतीयत्व का भाव, जैन-मत में आदि काल से विद्यमान है। (इससे यह संकेत भी उजागर होता है कि सम्भवतया अति प्राचीनकाल में जैनधर्म ही भारत का मूल धर्म रहा हो। द्रविड़, भारत के मूल निवासी माने जाते हैं और जैन संस्कृति भी द्रविड़ संस्कृति के अन्तर्गत आती है।)

4. वेद का प्राचीन आदर्श था – गार्हस्थ्य धर्म, संन्यास, और आचार। अतः ये वेद के पूर्व भी भारत में थे..... ...लेकिन चतुराश्रम की व्यवस्था में और इन आदर्शों में परस्पर सामंजस्य नहीं बैठता। जैन बौद्धादि धर्म के संन्यास प्रधान होने का मूल सम्भवतः यहीं पर हो।
5. रथ-यात्रा, स्नान-यात्रा आदि उत्सव भी आर्यों के पूर्व की किसी ऐसी धारा से आये हैं। दामी गजेटीयर में स्पष्ट है कि कुण्डलपुर में रथोत्सव मे प्रधान महत्त्व की बात है – जल-यात्रा।
6. जैन-बौद्धादि धर्मों के धर्मप्रवर्तक क्षत्रिय थे। इससे कुछ लोग यह साबित करना चाहते हैं कि उनका धर्म उच्चवंशीय महान पुरुषों की परम्परा है। यह कारण है कि भारत में वेदों के अलावा अन्य सत्य को स्वीकार करने का साहस क्षत्रियों (जैन तीर्थंकरों आदि) ने ही किया है।

दण्डनीति का स्वरूप

नीतिवाक्यामृत में कहा है –

''यथादोषं दण्डप्रणयनं दण्डनीतिः ।। 2।।

अर्थात् अपराधी को उसके अपराध के अनुकूल दण्ड देना, दण्डनीति है।

जिस व्यक्ति ने जैसा अपराध किया है, उसे उसके अनुकूल दण्ड देना, वही दण्डनीति है। जैसे, जुर्माना योग्य अपराधी को उसके अपराध के अनुकूल जुर्माना करना, न्यायोचित दण्डनीति है और इसके विपरीत कारावास या जेलखाने की कड़ी सजा, अन्याययुक्त अति कठोर दण्डनीति है, इत्यादि। इसी प्रकार गुरु या विद्वान अपराधियों को उनके अपराध के अनुकूल दण्ड देना चाहिए। जो राजा, उससे न्यूनाधिक कमती-बढ़ती दण्ड देता है; वह अपराधियों के पापों से लिप्त हो जाता है, अतः वह विशुद्ध नहीं होता।

'नीतिवाक्यामृत में राजनीति'– इस विषय पर शोधकार्य करते हुए डॉ. एम.एल.शर्मा लिखते हैं –

''न्यायालय द्वारा उचित परीक्षा के बिना किसी व्यक्ति को दण्ड नहीं देना चाहिए। न्याय के हित में यह आवश्यक है कि पहले अभियुक्त का अपराध सिद्ध हो, तब उसे दण्डित किया जाए। अपने क्रोध को शान्त करने अथवा बदला लेने की भावना से किसी भी व्यक्ति को दण्ड देना, राजा के लिए सर्वथा अनुचित है।.....(धर्मशास्त्रों तथा नीतिशास्त्रों के अनुसार) न्यायालय में वादों (मुकदमों) पर खुले रूप में विचार किया जाता था। कोई भी व्यक्ति वहाँ की कार्यवाही को देख-सुन सकता था। भारत में गुप्तरूप से न्याय करने की प्रणाली को दोषयुक्त समझा जाता था।''[73]

चाणक्य-नीति के अनुसार भी राजा का कर्तव्य है कि वह शत्रु और पुत्र को उनके अपराध के अनुकूल पक्षपातरहित होकर दण्ड देवे क्योंकि अपराधानुकूल न्यायोचित दण्ड ही इसलोक और परलोक की रक्षा करता है। दण्डनीति के आश्रय से उसे प्रजा के धर्म, व्यवहार और चारित्र की रक्षा करनी चाहिए।

यद्यपि न्यायालय में न्यायाधीश जज के सामने मुकदमे में वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपने-अपने पक्ष को सच्चा कहते हैं एवं वकीलों के द्वारा अपने-अपने पक्ष को सत्य सिद्ध करने में प्रयत्नशील रहते हैं परन्तु उनमें से सच्चा एक ही होता है – ऐसी अवस्था में दोनों पक्षों को ठीक-ठीक निर्णय करने वाले निम्नलिखित हेतु हो सकते हैं –

1. **दृष्ट-दोष** – जिसके अपराध को देख लिया गया हो।
2. **स्वयंवाद** – जो स्वयं अपने अपराध को स्वीकार कर लेवे।
3. सरलतापूर्वक न्यायोचित जिरह करना।
4. कारणों को उपस्थित करना।
5. शपथ या कसम दिलाना।

उक्त पाँच हेतु यथावश्यक अर्थ के साधक हैं अर्थात् अपराधी के अपराध को सिद्ध करने वाले हैं। वादी-प्रतिवादी के परस्पर विरुद्ध कथन का यदि उक्त हेतुओं से निर्णय न हो सके तो साक्षियों और खुफिया पुलिस के द्वारा इसका अनुसन्धान कर अपराधी का निश्चय करना चाहिए।

इस प्रकार प्रबल युक्तियों द्वारा अपराधियों के अपराध का निर्णय करके यथायोग्य दण्ड-विधान करने से राष्ट्र की सुरक्षा होती है; अतः अपराधानुकूल दण्ड-विधान को **दण्डनीति** कहते हैं।

वही नीतिवाक्यामृत में कहा है –

प्रजापालनाय राजा दण्डः प्रणीयते, न धनार्थम्।। 3।।

अर्थात् राजा के द्वारा प्रजा की रक्षा के लिए अपराधियों को दण्ड-विधान किया जाता है, धन-प्राप्ति के लिए नहीं।''[74]

आदिपुराण में भी कहा है कि ''अपराधियों को दण्ड देना, जनता से कर वसूल करना आदि कार्य राजाओं के आधीन रहते थे।''[75]

जैन समाज की दण्ड-व्यवस्था

यहाँ प्रश्न है कि जैन संविधान के रचयिता कौन हैं ? उसे किसने बनाया है ? क्या उसे बनाने वालों में उसे बनाने की योग्यता थी ? तो इसका समाधान यह है कि कानून बनाने वाले परमगुरु सर्वज्ञदेव हैं और वे वीतरागी अर्थात् समस्त राग-द्वेष से रहित होने के कारण सर्वथा निर्दोष हैं। यद्यपि वर्तमान में सर्वज्ञदेव तो विद्यमान नहीं हैं, लेकिन उनके द्वारा बताया हुआ विधान, आचार्यों की परम्परा से होता हुआ हम तक आया है। अब यह हमारा कर्तव्य है कि हम उसे जन-जन तक पहुँचावें, जिससे समाज को इसका भरपूर लाभ मिल सके, तथा समाज के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त कुरीतियों एवं शिथिलाचार पर अंकुश लग सके।

दण्ड अर्थात् पाप, अपराध या दोष। दण्ड कितने प्रकार का हो सकता है तो चारित्रसार ग्रन्थ में लिखा है कि मन, वचन और काय के भेद से दण्ड तीन प्रकार का है। **मानसिक दण्ड** राग, द्वेष और मोह के भेद से तीन प्रकार का माना गया है। **वाचनिक दण्ड** सात प्रकार का बताया गया है – 1. झूठ बोलना, 2. वचन से कह कर किसी के ज्ञान का घात करना, 3. चुगली करना, 4. कठोर वचन कहना, 5. अपनी प्रशंसा करना, 6. सन्ताप उत्पन्न करने वाले वचन कहना, और 7. हिंसा के वचन कहना। इसी प्रकार **कायिक दण्ड** भी सात प्रकार का होता है – 1. प्राणियों का वध करना, 2. चोरी करना, 3. मैथुन करना, 4. परिग्रह रखना, 5. आरम्भ करना, 6. ताड़न करना, और 7. उग्र वेश धारण करना।[76]

जैन समाज की दण्ड-नीति

जैन आगम में सात प्रकार की दण्ड-नीति बताई गई है –

1. **हक्कार-नीति** – पहले और दूसरे कुलकर के काल में इस नीति का प्रचलन था, अर्थात् किसी अपराधी को 'हा' (हाय हाय.....कह कर खेद प्रगट करना) – इतना कह देने मात्र से वह दण्ड पा लेता था अर्थात् वह समझ जाता था; अतः इसे 'हक्कार-नीति' कहा जाता है।
2. **मक्कार-नीति** – तीसरे और चौथे कुलकर के काल में किसी 'मा' (ऐसा मत करो) – इतना कह देने मात्र से वह दण्ड पा लेता था अर्थात् वह समझ जाता था; अतः इसे 'मक्कार-नीति' कहते हैं।
3. **धिक्कार-नीति** – पाँचवें और छठे कुलकर के काल में 'धिक्' (तुम्हें धिक्कार है) – इतना कह देने मात्र से वह दण्ड पा लेता था अर्थात् वह समझ जाता था; अंतः इसे 'धिक्कार-नीति' के नाम से जाना जाता है।
4. **परिभाषण-नीति** – ऋषभदेव के काल में इस नीति के द्वारा क्रोध प्रदर्शन करके ताड़ित किया जाता है, अतः इसे परिभाषण-नीति कहा जाता है।
5. **परिमण्डल-नीति** – ऋषभदेव के काल में ही इस नीति के द्वारा अपराधी व्यक्ति को किसी स्थान में बाँध दिया जाता है, स्थानाबद्ध किया जाता है; अतः इसे 'परिमण्डल-नीति' कहते हैं।
6. **चारक-नीति** – ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के काल में अपराधी को चारक अर्थात् जेल में डालने की नीति प्रारम्भ हुई; अतः इसे 'चारक-नीति' कहते हैं।
7. **छविच्छेद-नीति** – भरत चक्रवर्ती के ही काल में छविच्छेद अर्थात् हाथ, पैर, नाक, कान आदि का छेदन करना – इस नीति का प्रचलन हुआ; अतः इसे 'छविच्छेद-नीति' कहते हैं।

इस प्रकार कालक्रमानुसार सात नीतियों का प्रचलन हुआ।

दण्डनीति का माहात्म्य

''चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः अर्थात् जिस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र के अनुकूल औषधि सेवन से रोगी के समस्त विकृत दोष – वात, पित्त, कफ आदि का विकार एवं उससे होने वाले बुखारगलगण्डादि समस्त रोग – विशुद्ध, शान्त अर्थात् नष्ट हो जाते हैं; उसी प्रकार अपराधियों को दण्ड देने से उनके समस्त अपराध, विशुद्ध या नष्ट हो जाते हैं।

गर्ग विद्वान् ने भी कहा है कि अपराधियों को दण्ड देने से राष्ट्र विशुद्ध एवं अन्याय के प्रचार से रहित हो जाता है; लेकिन दण्ड-विधान के बिना देश में मात्स्यन्याय अर्थात् बड़ी मछली के द्वारा छोटी मछली का खा जाना (अर्थात् बलवान व्यक्ति के द्वारा निर्बलों को सताया जाना आदि अन्याय का प्रचार) की प्रवृत्ति निस्सन्देह होने लगती है। चाणक्य के अनुसार – राष्ट्र को प्रजा-कण्टकों से सुरक्षित रखना; प्रजा को धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थों का परस्पर की बाधारहित पालन कराना; उसे कर्तव्य में प्रवृत्त और अकर्तव्य से निवृत्त करना, विशाल सैनिक संगठन द्वारा अप्राप्त राज्यादि की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा, रक्षित की वृद्धि आदि दण्डनीति का प्रधान प्रयोजन है।''[77]

यहाँ निवेदन है कि प्रजातन्त्र के इस युग में अदालतों के माध्यम से न्याय-व्यवस्था का विधान है, जिसमें प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को उनके धर्म एवं समाज के अनुरूप न्याय मिलना चाहिए – ऐसा ही हमारे भारतीय संविधान की रीति-नीति है, परन्तु जैनधर्मावलम्बियों को हिन्दूधर्म के अनुसार न्याय मिलता है, जिससे जैन समाज के अन्तर्मन को ठेस पहुँचती है। यह एक विचारणीय बिन्दु है।

जैन समाज की वर्णव्यवस्था

''साधारणतः आजीविका और वर्ण – ये पर्यायवाची नाम हैं क्योंकि वर्णों की उत्पत्ति का आधार आजीविका है। जैन पुराणों में बतलाया है कि कृतयुग के प्रारम्भ में कल्पवृक्षों का अभाव होने पर प्रजा, क्षुधा से पीड़ित होकर भगवान ऋषभदेव के पास आई।.....तब उन्होंने असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प – इन छह कर्मों का उपदेश दिया; इससे तीन वर्णों की उत्पत्ति हुई –

1. जो असि-विद्या को सीख कर देश की रक्षा करके अपनी आजीविका करने लगे, वे क्षत्रिय कहलाए।
2. जो कृषिकर्म और वाणिज्यकर्म को स्वीकार कर उनके आश्रय से अपनी आजीविका करने लगे, वे वैश्य कहलाए।
3. जो विद्या और शिल्पकर्म का आश्रय कर, उनके द्वारा अपनी आजीविका करने लगे, वे शूद्र कहलाए।

   मसिकर्म, किस वर्ण का मुख्य कर्म था, इसका स्पष्ट निर्देश हमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ। यह सर्वसाधारण कर्म रहा हो – यह सम्भव है। कृषि आदि कर्मों में ऋषभनाथ जिन ने प्रजा को लगाया – इस मत का सर्वप्रथम उल्लेख स्वामी समन्तभद्र ने किया है। इसके बाद अधिकतर पुराणकारों ने इस कथन की पुष्टि की है। साथ ही यह भी उल्लेख किया कि उन्होंने ही तीन वर्णों की स्थापना की। मात्र हरिवंशपुराण, वरांगचरित्र और यशस्तिलकचम्पू इसके अपवाद हैं, परन्तु वरांगचरित्र भी कर्म से वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करता है, जन्म से नहीं। इसी प्रकार यशस्तिलकचम्पू में यह स्पष्ट कहा है कि वर्णाश्रमधर्म आगम-सम्मत नहीं है। उनके अनुसार वेद और मनुस्मृति आदि के आधार पर यह लोक में प्रसिद्ध हुआ है।''[78]

जैन प्राकृत-सूत्रों में बंभण, खत्तिय, वइस्स और सुद्द – इन चार नामों के वर्णों का उल्लेख मिलता है। जैन परम्परा के अनुसार राजा ऋषभदेव के शासन काल में राज्य के आश्रित लोगों को **क्षत्रिय** तथा जमींदार साहूकारों को गृहपति कहा जाता था। पश्चात् अग्नि उत्पन्न होने पर शिल्पकर्म करने वाले शिल्पी, **शूद्र** कहे जाने लगे और वाणिज्य करने के कारण वणिक लोग, **वैश्य** के नाम से प्रसिद्ध हुए। भरत के राज्यकाल में श्रावकधर्म उत्पन्न होने पर **ब्राह्मणवर्ण** की उत्पत्ति हुई, ये लोग अत्यन्त सरल स्वभावी और धर्मप्रेमी थे, इसलिए जब ये किसी को मारते-पीटते हुए देखते तो उनसे कहते – **मा हण** अर्थात् मत मारो, तभी से ये **मा हण** कहने वाले लोग, **माहण** अर्थात् **ब्राह्मण** कहे जाने लगे।

इस प्रकार जैनाचार्यों ने जन्म की अपेक्षा कर्म के ऊपर अधिक जोर दिया। जैन सूत्रों का कथन है कि सिर मुड़ाने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का जाप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में रहने से कोई मुनि नहीं होता, कुश-चीवर धारण करने से कोई तापस नहीं होता, बल्कि हर कोई समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि व तप से तपस्वी हो सकता है। वास्तव में मनुष्य, कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से ही शूद्र कहलाता है।

जैनधर्म में आश्रम व्यवस्था[79]

उपासकाध्ययन नाम के सातवें अंग में चार प्रकार के आश्रम बतलाये हैं – 1. ब्रह्मचारी, 2. गृहस्थ, 3. वानप्रस्थ, 4. भिक्षुक। वही प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में लिखा है –

ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुकसत्तमः।
चत्वारो ये क्रियाभेदादुक्ता वर्णवदाश्रमाः।।

1. ब्रह्मचारी आश्रम

उक्त चार प्रकार के आश्रमों में से पहले ब्रह्मचारी आश्रम के पाँच भेद हैं – 1) उपनय ब्रह्मचारी, 2) अवलम्ब ब्रह्मचारी, 3) अदीक्षित ब्रह्मचारी, 4) गूढ़ ब्रह्मचारी, 5) नैष्ठिक ब्रह्मचारी।

धर्मरसिक शास्त्र में लिखा है –

उपनयावलम्बौ चादीक्षितो गूढ़नैष्ठिकाः।
श्रावकाध्ययने प्रोक्ताः, पंचधा ब्रह्मचारिणः।।

1) **उपनय ब्रह्मचारी** – जो श्रावकाचार सूत्र का विचार करे, विद्याभ्यास करने में सदा तत्पर रहे और गृहस्थधर्म में निपुण हो, उसको उपनय ब्रह्मचारी कहते हैं। कहा है –

श्रावकाचारसूत्राणां विचाराभ्यासतत्परः।
गृहस्थधर्मशक्तश्चोपनयब्रह्मचारिकः।।

2) **अवलम्ब ब्रह्मचारी** – जो जब तक विवाह न करे, तब तक क्षुल्लक अवस्था धारण करे, सदा जैन शास्त्रों का अध्ययन करता रहे। अध्ययन समाप्त कर पीछे पाणिग्रहण करे, उसको अवलम्ब ब्रह्मचारी कहते हैं। कहा है –

स्थित्वा क्षुल्लकरूपेण, कृत्वाभ्यासं सदागमे।
कुर्याद्विवाहकं सोत्रावलम्बब्रह्मचारिकः।।

3) **अदीक्षित ब्रह्मचारी** – जो बिना दीक्षा लिये ही व्रताचरण करने में लीन हो, जैन शास्त्रों के अभ्यास करने में तत्पर हो और समस्त शास्त्रों को पढ़ कर फिर पाणिग्रहण करे अर्थात् जो 'शास्त्रों का अभ्यास हुए बिना विवाह नहीं करूँगा' – ऐसे नियम का धारक हो, उसको अदीक्षित ब्रह्मचारी कहते हैं। कहा है –

विना दीक्षां व्रताशक्तः, शास्त्राध्ययनतत्परः।
पठित्वोद्वाहं यः, कुर्यात्सोऽदीक्षाब्रह्मचारिकः।।

4) **गूढ़ ब्रह्मचारी** – जिसका बालक अवस्था से ही जैन शास्त्रों का अभ्यास करने में प्रेम हो और जो शास्त्रों को पढ़ चुकने के बाद माता-पिता के हठ से विवाह करे अर्थात् जो स्वयं विवाह न करे, किन्तु दूसरे के हठ से जिसको विवाह करना पड़े, उसको गूढ़ ब्रह्मचारी कहते हैं। कहा है –

आबाल्याच्छास्त्रसम्प्राप्तिः पित्रादीनां हठात्पुनः।
पठित्वोद्वाहं यः, कुर्यात्स गूढ़ब्रह्मचारिकः।।

5) **नैष्ठिक ब्रह्मचारी** – जो जीवनपर्यन्त समस्त स्त्री मात्र का त्याग कर देवे और एक वस्त्र मात्र परिग्रह के अलावा बाकी सबका त्याग कर देवे, उसको नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं।

2. गृहस्थ आश्रम

जो त्रिकाल वन्दना तथा पूजा आदि छह कर्मों के करने में तत्पर हो, जो विषयकषाय और हिंसादि पापों का त्यागी हो, जो स्वात्म-रस (अपने शुद्ध आत्मा के आनन्द रस का) भोगी हो, जो दयालु हो, उसको गृहस्थ आश्रम कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत – इन बारह व्रतों को पालन करने वाला हो, उसको गृहस्थ आश्रम कहते हैं। कहा है –

सन्ध्याध्ययनपूजादिकर्मसु तत्परो महान्।
त्यागी भोगी दयालुश्च, स गृहस्थः प्रकीर्तितः।।

3. वानप्रस्थ आश्रम

जो ग्यारह प्रतिमाओं को पालन करता हो, जो ध्यान और अध्ययन करने में सदा तत्पर हो, प्रारम्भ की अनन्तानुबन्धी एवं अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ – इन कषायों से रहित हो, उसको वानप्रस्थ आश्रम कहते हैं। कहा है –

प्रतिमैकादशधारी, ध्यानाध्ययनतत्परः।
प्राक्कषायविदूरस्थो, वानप्रस्थः प्रशस्यते।।

4. भिक्षुक आश्रम

जो हिंसा आदि समस्त पापों का जीवन पर्यन्त के लिए त्यागी हो, पंच महाव्रत आदि अट्ठाईस मूलगुणों को धारण करने वाला हो, धर्मध्यान में लीन हो, ध्यानी हो, मौन धारण करने वाला हो और तपस्वी हो, उसको भिक्षुक कहते हैं अर्थात् महामुनियों को भिक्षुक कहते हैं।

सर्वसंगपरित्यक्तो, धर्मध्यानपरायणः।
ध्यानी मौनी तपोनिष्ठः, संज्ञानी भिक्षुरुच्यते।।

इसी प्रकार चार आश्रमों का कथन धर्मामृत श्रावकाचार एवं स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की आचार्य शुभचन्द्र कृत संस्कृत टीका में तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होता है।''

जैनधर्म के अनुसार सृष्टि का प्रारम्भ

जैन संविधान के अनुसार प्रत्येक कल्पकाल में दो स्थितियाँ होती हैं – उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। प्रत्येक उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में छह-छह कालखण्ड होते हैं, जो उत्सर्पिणी में बढ़ते क्रम में होते हैं और अवसर्पिणी में घटते क्रम में होते हैं। उत्सर्पिणी के अनुसार छह कालखण्डों के नाम हैं – 1. सुखमा-सुखमा, 2. सुखमा, 3. सुखमा-दुखमा, 4. दुःखमा-सुखमा, 5. दुःखमा, और 6. दुःखमा-दुःखमा। इसी प्रकार अवसर्पिणी के अनुसार छह कालखण्डों के नाम हैं – 1. दुःखमा-दुःखमा, 2. दुःखमा, 3. दुःखमा-सुखमा, 4. सुखमा-दुःखमा, 5. सुखमा, 6. सुखमा-सुखमा।

वर्तमान में अवसर्पिणी का पंचम दुःखमा नामक कालखण्ड चल रहा है, इसे ही कलिकाल भी कहा जाता है। इसके पूर्व चतुर्थ काल की आदि में कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ तो ऋषभदेव प्रथम राजा हुए, इसी कारण वे आदिनाथ कहलाए। उन्होंने भारत की प्रथम राजधानी अयोध्या पर राज्य किया।

इसके भी पूर्व प्रथम-द्वितीय-तृतीय कालखण्ड में क्रमशः उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्य भोगभूमि होने से न कोई राज्य था, न राजा, न दण्ड और न दण्डनीति। उस समय एक ऐसा राज्य था, जिसमें सभी लोग अपने अपने धर्म का पालन करने हुए सदाचार और आनन्दपूर्वक जीवनयापन करते थे; इसलिए उनमें किसी प्रकार का वैमनस्य अथवा लड़ाई झगड़ा नहीं था और लड़ाई-झगड़ा न होने से दण्ड की भी आवश्यकता नहीं थी।

लेकिन तीसरे काल के अन्त में जब यतिगण, धर्म से भ्रष्ट हुए और कल्पवृक्षों का प्रभाव घटा तथा युगल-सन्तान की उत्पत्ति न होने पर सन्तान को लेकर प्रजा में वाद-विवाद होने लगा और समाज में अव्यवस्था फैलने लगी तो लोग एकत्रित होकर ऋषभदेव के पिता नाभिराय के पास पहुँचे और उनके अनुरोध पर ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया गया।

राजा ऋषभदेव ने प्रजा के हित में असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प आदि विविध कलाओं का उपदेश दिया तथा राज्य का सुचारु संचालन के लिए दण्ड-व्यवस्था का सूत्रपात किया।

विवाह-सम्बन्धी जैन समाज का संविधान

विवाह का उद्देश्य

''जैनधर्मानुसार विवाह केवल शारीरिक सुख या दैहिक रति के लिए नहीं किया जाता, बल्कि उसके माध्यम से चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रत का परिपालन किया जाता है। आर्यिकाश्री विज्ञानमतीजी के अनुसार विवाह के निम्न सात उद्देश्य हैं –

1. मन में उत्पन्न वासना को धीरे-धीरे शान्त करना।
2. व्यभिचार जैसे महापाप से बच कर स्वदारसन्तोषव्रत का पालन करना।
3. सामाजिकता को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए दुराचार से दूर रह कर वैषयिक सुख प्राप्त करना।
4. मनुष्य, एक सामाजिक प्राणी होने के नाते जीवन का अकेलापन मिटाना।
5. सुचारु ढ़ंग से भोजन-पानी आदि की व्यवस्था बनाना।
6. जीवन भर के लिए सुख-दुःख में सहयोग करने वाला स्थायी साथी प्राप्त करना।
7. अपनी कुल-परम्परा अथवा मनुष्य-जाति को आगे बढ़ाना।''[80]

विवाह का प्रयोजन

भारतीय परम्परा में त्रिवर्ग माने हैं – धर्म, अर्थ और काम। मोक्ष, त्रिवर्ग में सम्मिलित नहीं है, इसलिए उसे अपवर्ग माना है। गृहस्थ जीवन में त्रिवर्ग का विशेष महत्व है। गृहस्थी, अर्थ या धन के बिना नहीं चल सकती, अतः अर्थोपार्जन करना आवश्यक है, किन्तु अर्थोपार्जन धर्मपूर्वक करना चाहिए। वह अर्थोपार्जन करे, किन्तु वह हिंसाजन्य न हो, वह नैतिक मूल्यों, समाज की मान्य परम्पराओं और देश के सरकारी कानूनों के विरुद्ध न हो।

इसी प्रकार गृहस्थ, काम-सेवन करे, किन्तु वह धर्मपूर्वक करे। वह कामसेवन का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, इसलिए उसे स्वदारसन्तोष करना चाहिए। इसका आशय यह है कि उसे अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों के प्रति माता, बहिन और बेटी के भाव रखने चाहिए।.....

विवाह का उद्देश्य वंश-परम्परा को आगे बढ़ाना है। विवाह, अनियन्त्रित काम-सेवन का लाइसेन्स नहीं है।

विवाह क्या है ?

1. किसी योग्य लड़के-लड़की (वर-वधु) का एक दूसरे के प्रति जीवन समर्पित करना, विवाह है।
2. नीतिवाक्यामृत में आचार्य सोमदेव सूरि कहते हैं –

   युक्तितो वरणविधानमग्निदेवद्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः।[81]

   अर्थात् अग्नि, देव और द्विज की साक्षीपूर्वक पाणिग्रहण क्रिया का सम्पन्न होना, विवाह है।
3. आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिकटीका में कहा है –

   सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयात् विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते।[82]

   अर्थात् सातावेदनीयकर्म और चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से कन्या के वरण करने को विवाह कहते हैं।
4. विवाह किसके साथ होना चाहिए, इसका वर्णन करते हुए 'शान्तिनाथ-चरित' में कहा है –

   वित्तं ययोरेव समं जगत्यां, कुलं ययोरेव समं प्रतीतम्।
   मैत्री तयोरेव तयोर्विवाहस्तयोर्विवादश्च निरूपितोऽस्ति।।

   अर्थात् संसार में जिनके वैभव एवं कुल में समानता हो, उनके बीच ही विवाह और विवाद करना उचित माना गया है।
5. कन्या के पिता या उसके अभिभावक को चाहिए कि वह कुलीन, शीलवान, स्वस्थ, वयस्क, विद्वान्, धर्म. सम्पन्न, और भरे-पूरे कुटुम्ब से युक्त वर के साथ अपनी कन्या का विवाह करे।[83]
6. विवाह का अर्थ यह नहीं है कि लड़के को जीवन भर के लिए रोटी बनाना, कपड़े धोना, सफाई करना आदि काम करने वाली बिना पैसे की एक नौकरानी मिल गई है और लड़की को जीवन भर के लिए रोटी, कपड़ा, मकान, भोगउपभोग आदि की सामग्री देने वाला एक व्यक्ति मिल गया।
7. एक पाश्चात्य दार्शनिक ने कहा है कि एक सद्गुणी नारी से विवाह , जिन्दगी में तूफान में बन्दरगाह के समान है, जबकि बुरी अयोग्य नारी से विवाह, बन्दरगाह में तूफान के समान होता है।
8. एक प्रसिद्ध मुस्लिम नेता ने एक बार भारतीय और भारतीयेतर/पाश्चात्य संस्कृति की तुलना करते हुए कहा था –

   ''भारतीय संस्कृति अर्थात् जैन और हिन्दुओं में स्त्री-पुरुष का विवाह उनके शरीरों से नहीं होता, उनकी आत्माओं से होता है। शरीर तो नष्ट हो जाते हैं किन्तु उनके मत में आत्मा अमर है। इसलिए उनका प्रेम भी नहीं मरता है, वह दूसरे जन्म में भी रहता है। उनका विवाह टूटता नहीं, उनका प्रेम टूटता नहीं। इसलिए हिन्दू और जैनों में तलाक की प्रथा नहीं है, एक बार विवाह होने पर वह जीवनपर्यन्त बना रहता है।

   दूसरी ओर मुसलमानों में विवाह दो शरीरों के होते हैं, वे स्थायी नहीं होते हैं। हमारे यहाँ तलाक की प्रथा है। तीन बार तलाक कहने मात्र से सम्बन्ध-विच्छिन्न हो जाता है। इसी कारण पति-पत्नी के सम्बन्धों में स्थायियत्व नही आ पाता है।

यूरोप में 'विवाह' एक बारगेन है, समझौता है; वहाँ पहले प्रेम होता है, फिर विवाह; जबकि भारतीय संस्कृति अर्थात् हिन्दू और जैनों में पहले विवाह होता है, फिर प्रेम होता है। बारगेन पटा तो पटा, नहीं पटा तो अलग हो गए। तलाक की बन्दूक लेकर चलने वालों की पारिवारिक भावना और स्थायित्व नहीं हो सकता। परिवार में जो बच्चे हैं, उनके असली पिता कौन हैं, यही पता नहीं चलता तो फिर वे पिता अपने बच्चों के प्रति कर्तव्य क्या निभाएँगे।''[84]

विवाह-सम्बन्धी सावधानियाँ : विवाह के पहले

1. दहेज से परहेज करें/दुल्हन ही दहेज है।
2. पुत्री के साथ देने योग्य सामग्री में आवश्यक सामग्री –
   - भगवान या गुरु की तस्वीर
   - धार्मिक या प्रेरणास्पद ग्रन्थ
   - वेष्टन और चौकी
   - पूजा के बर्तन एवं सामग्री
   - जपमाला
   - अष्ट द्रव्य रखने की डिब्बी
   - पूजा के वस्त्र
   - पानी छानने का छन्ना
3. लड़का-लड़की में गुण देखें, कोरी सुन्दरता नहीं।
4. योग्य कन्या के साथ विवाह करने के अनेक लाभ हैं –
   - स्वदारसन्तोषव्रत का पालन होता है।
   - कुल-परम्परा की सुरक्षा होती है।
   - आर्थिक-सन्तुलन बना रहता है।
   - सामाजिक प्रतिष्ठा में योगदान रहता है।
   - उचित अवसर पर उसकी उचित सलाह काम आती है।
   - यदि मरण का अवसर आ जाए तो उसे सुधारने में मदद करती है।

विवाह-सम्बन्धी सावधानियाँ : विवाह के बाद

1. पत्नी के लट्टु न बनें।
2. सास-बहू के झगड़े में न पड़ें।
3. माँ और पत्नी – दोनों के साथ सम्बन्धों में विवेकसहित माधुर्य बनाये रखें अर्थात् न तो माँ के अतिभक्त बनें और न पत्नी का ही पक्ष रखें।
4. मूड/मानसिक स्थिति देख कर विशेष बात कहें।
5. पत्नी को सबके सामने नहीं डाटें/कारण की खोज करें/सभ्य समझदार बनें।
6. पत्नी को सहयोग दें/घर के कामों में डिस्टर्ब या परेशान नहीं करें/ पत्नी को मासिक, पाक्षिक या साप्ताहिक हाथ-खर्च दें।
7. लड़कों को चाहिए कि ससुराल के साथ सम्बन्धों में मर्यादा रखें/ससुराल में ज्यादा नहीं रहें।
8. पत्नी को सास-ससुर आदि की बुराई करने पर प्रोत्साहन न दें।
9. बड़ों का सम्मान करें/बुजुर्गों के अनुभव से लाभ उठावें।
10. मौका पड़ने पर दूसरों की प्रशंसा करना सीखें।
11. सुबह उठ कर एवं रात्रि सोते समय नौ बार णमोकार मन्त्र का स्मरण करें।

पति-पत्नी के परस्पर-व्यवहार[85]

1. ट्रस्ट (परस्पर विश्वास), टाइम (परस्पर साथ-साथ समय बिताएँ), टॉकिंग (किसी भी परिस्थिति में बातचीत का व्यवहार बन्द न होने दें) और टच (एक-दूसरे की भावनाओं का ध्यान रखें) – इन चार पर आधारित जीवन -व्यवहार को अपनाएँ।
2. सुख-दुःख की बात करें/दूसरे की सुनें/परस्पर सामंजस्य बनायें।
3. सुबह उठ कर परस्पर जय-जिनेन्द्र आदि बोल कर अभिवादन करें।
4. किसी भी विषय पर बराबरी करने का प्रयत्न न करें।
5. परस्पर सन्देह न करें।
6. विवाह की वर्षगाँठ पर परस्पर एक-दूसरे को बधाई/भेंट दें।
7. सोने से पहले मिल कर सत्साहित्य पढ़ें।
8. सम्भव हो तो घर में साधना/स्वाध्याय कक्ष बनावें।

यद्यपि स्थानाभाव के कारण यहाँ उक्त विषयों का विस्तार नहीं किया जा रहा है; लेकिन इन विषयों के विशेष स्पष्टीकरण हेतु आर्यिका विज्ञानमती द्वारा लिखित 'संस्कार मंजूषा' का उत्तरार्द्ध देख सकते हैं।[51]

विवाह की विधि[86]

विवाह-विधि में क्रमशः वाग्दान या सगाई, प्रदान या कन्यादान, वरण या वर द्वारा स्वीकरण, ग्रन्थि-बन्धन या गठजोड़ा, पाणिग्रहण या हथलेबा, और सप्तपदी या सप्त वचन स्वीकृतिपूर्वक भाँवर होती हैं। इन क्रियाओं के पश्चात् वर और वधू, पति-पत्नी के रूप में अपने भावी जीवन के आनन्द और शान्ति को सुनिश्चित करने के लिए सात-सात वचन या शर्तें रखते हैं और वे दोनों सबके समक्ष जीवन भर उनके पालन करने का वचन देते हैं।

श्री सरल जैन विवाह-विधि में निम्न दो छन्दों के माध्यम से विवाह-विधि को प्रदर्शित किया गया है –

वाग्दानं च प्रदानं च, वरणपाणिपीडनम्।
सप्तपदीति पंचांगो, विवाहः परिकीर्तितः।।
तावद्विवाहो नैव स्याद्यावत्सप्तपदी न चेत्।
तस्मात्सप्तपदी कार्या, विवाहे मुनिभिः स्मृता।।

अर्थात् जिसमें वाग्दान (सगाई), प्रदान (कन्यादान), वरण (कन्या का स्वीकरण), पाणिपीडन (हथलेवा) और सप्तपदी (सप्त वचन स्वीकृतिपूर्वक सात भाँवर) – ये पांच कार्य हों, वही विवाह है। जब तक सप्तपदी नहीं होती, तब तक विवाह हुआ नहीं कहा जा सकता; अतएव जब तक सप्तपदी न हो, तब तक कन्या को अधिकार है कि वह उचित न जचने पर अपना विवाह उस वर के साथ नहीं करावे।

1. वाग्दान, सगाई, या टीका

वर और कन्या के शुभ लक्षणों, जातीय शाकों और जन्मपत्रिका के मिलान के अनुसार योग देख कर, उभय पक्षों के वचनबद्ध होने को वाग्दान कहते हैं।

इस क्रिया को विवाह से कुछ दिन पूर्व पंचों तथा इष्टजनों के समक्ष वर और कन्या के कुटुम्बियों को किसी एक स्थान पर एकत्र होकर करना चाहिए।

इसके बाद की वरण, प्रदान, आदि विधियाँ विवाह के समय ही होती हैं; परन्तु परम्परानुसार विवाह के पूर्व निम्न विधियाँ सम्पन्न की जाती हैं –

1. विवाह से 5–7 दिन पूर्व कन्या पक्ष के द्वारा लग्न-पत्र (लगुन) लेखन-विधि की जाती है।
2. विवाह से 2–3 दिन पूर्व वर पक्ष के द्वारा लग्न-पत्र-वाचन-विधि की जाती है।
3. विवाह के दिन अथवा दूर अन्य ग्रामादि में वधू का घर होने पर एक दो दिन पूर्व वर के घर से बारात वधू के घर के लिए प्रस्थान करती है। वहाँ पहुँचने के बाद विवाह से पूर्व श्री जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-पूजन के बाद बारात-निकासी की जाती है।
4. वधू के घर पहुँचने के बाद द्वारचार, टीका, अगवानी, आदि विधियाँ की जाती हैं।

5. आजकल बारात पहुँचने के बाद वर-वधू का स्वागत समारोह सम्पन्न किया जाता है, इसमें वर-वधू परस्पर माल्यार्पण समर्पित करते हैं, एवं उपस्थित समुदाय उन्हें शुभकामनाएँ समर्पित करते हैं।
6. तत्पश्चात् भोजन आदि से निवृत्त होकर भाँवर के स्थान पर मण्डप-वेदी-निर्माण, स्तम्भारोपण-विधि सम्पन्न होती है।
7. पश्चात् मंगल कलश स्थापना करके तिलक और रक्षाबन्धन-विधि करें।
8. इसके बाद वर-वधू के माध्यम से गृहस्थाचार्य यन्त्राभिषेकपूर्वक नवदेवता, सिद्ध भगवान, सिद्धयन्त्र या विनायकयन्त्र की पूजन, महार्घ्य, शान्तिपाठ, विसर्जन आदि विधि सम्पन्न करें।
9. पूजन के उपरान्त वर-वधू को मुकुट-बन्ध-क्रिया कराना चाहिए।
10. मुकुट बन्ध के उपरान्त वरणविधि, प्रदानविधि आदि की क्रिया सम्पन्न कराना चाहिए।

2. वरण-विधि

इस वरण-विधि के अन्तर्गत कन्या के परिवारीजन, वर के सम्बन्धियों से अपनी कन्या, वर को प्रदान करने की इच्छा प्रगट करते हैं तथा वर के परिवारीजन भी अपनी स्वीकृति प्रदान करते हैं। साथ ही इस अवसर पर वर एवं कन्या भी स्वीकृति प्रदान करते हैं। इस समय उपस्थित नर-नारियों को वर से 'वृणीध्वम्' 'वृणीध्वम्' 'वृणीध्वम्' अर्थात् 'इस कन्या को वरण कीजिए' इस तरह तीन बार जोर जोर से कहना चाहिए। इसी वरण-विधि के उपलक्ष्य में वर्तमान में स्वागत समारोह आयोजित करके वर-वधू के परस्पर माल्यार्पण का कार्यक्रम करने की परम्परा प्रचलित है।

इस अवसर पर वर-वधू का विस्तृत परिचय भी दोनों पक्षों के उपस्थित समुदाय को बताया जाता है। साथ ही आशीर्वाद समारोह का कार्यक्रम भी सम्पन्न किया जाता है।

3. प्रदान-विधि या कन्यादान-विधि

वरण-विधि के उपरान्त कन्या के पिता या मामा के माध्यम से प्रदान-विधि या कन्यादान की विधि सम्पन्न की जाती है तथा वर के द्वारा स्वीकृति दी जाती है।

4. पाणिपीडन, पाणिग्रहण या हथलेवा

हारिद्रपंकमवलिप्य सुवासिनीभिः, दत्तं द्वयोर्जनकयोः खलु तौ गृहीत्वा।
वामं करं निजसुताभवमग्रपाणिं, लिम्पेद्वरस्य च करद्वययोजनार्थम्।।

इस श्लोक का पाठ करते हुए जैसा कि इस विधि का नाम है, इसमें कन्या के पिता के द्वारा कन्या का हाथ वर के हाथ में दिया जाता है, उसी समय सौभाग्यवती स्त्रियाँ, वर और वधू के ऊपर मंगलस्वरूप अक्षत-क्षेपण करती हैं तथा गृहस्थाचार्य के द्वारा निम्न मन्त्र पढ़ा जाता है –

''ओं नमोऽर्हते भगवते श्रीमते वर्द्धमानाय श्रीबलायुरारोग्यसन्तानाभिवर्द्धनं भवतु, कन्यामिमामस्मै कुमाराय ददामि झ्वीं क्ष्वीं हं सः स्वाहा।

इस अवसर पर कन्या का पिता, तिलकमन्त्रपूर्वक तिलक करके हथलेवा का दस्तूर देकर वर का आभार प्रदर्शित करता है। इस प्रसंग की खुशहाली में वर और वधू के परिवारजनों के द्वारा धार्मिक संस्थाओं को दान देने की परम्परा है क्योंकि जिनवाणी की आज्ञा है कि प्रत्येक गृहस्थ श्रावक को अपने कमाए हुए द्रव्य का दशवाँ हिस्सा धार्मिक कार्यों में अवश्य लगाना चाहिए।

ग्रन्थि-बन्धन-विधि (गठजोड़ा)

पाणिग्रहण विधि के उपरान्त गृहस्थाचार्य कन्या की ओढ़नी के एक कोने में किसी सुहागिन स्त्री से एक रुपया या पाँच रुपया का सिक्का लेकर और उसके साथ थोड़े से अक्षत, सुपारी आदि बाँध कर उस गाँठ को वर के दुपट्टे से बँधवा कर निम्न श्लोक पढ़ना चाहिए –

अस्मिज्जन्मन्येष बन्धो द्वयो र्वै, कामे धर्मे वा गृहस्थत्वभाजि।
योगोजातः पंचदेवाग्निसाक्षी, जायापत्योरंचलग्रन्थिबन्धात्।।

अर्थात् इस गठजोड़े के माध्यम से इस भावि दम्पति के समस्त लौकिक और धार्मिक कार्यों में आजीवन मजबूत प्रेमगाँठ बँध चुकी है, अब वह कभी खुल नहीं सकती क्योंकि ये देव, अग्नि और पंचों की साक्षीपूर्वक ग्रन्थिबन्धन से प्रतिज्ञाबद्ध हुए हैं – यह प्रेमानुबन्ध पति-पत्नी के अकाट्य एवं चिरस्थायी प्रेम का द्योतक है।

सात फेरों का उद्देश्य

सज्जाति-गार्हस्थ्य-परिव्रजत्वं, सौरेन्द्र-साम्राज्य-जिनेश्वरत्वम्।
निर्वाणकं चेति पदानि सप्त, भक्त्या यजेऽहं जिनपादपद्मम्।।

अर्थात् सज्जातित्व, सद्गृहस्थत्व, साधुत्व, इन्द्रत्व, चक्रवर्तित्व, जिनवरत्व, एवं निर्वाणत्व – इन सात कल्याणस्वरूप पदों की प्राप्ति के लिए क्रमशः सात फेरे कराये जाते हैं।

5. सप्तपदी, सप्तवचन या सप्तफेरे

उक्त गठजोड़े के बाद गृहस्थाचार्य, वर को पीछे और कन्या को आगे करके सप्त परमस्थान की प्राप्ति जनावने के लिए वेदी के चारों तरफ वर और कन्या को प्रदक्षिणा (फेरा) दिलवावे तथा प्रत्येक प्रदक्षिणा (फेरे) के अन्त में जब वर और कन्या वेदी के सन्मुख अपने अपने स्थान पर आ जावें, तब निम्न एक एक अर्घ्य चढ़वावे। प्रदक्षिणा करते समय उपस्थित समुदाय को वरवधू पर पुष्पवृष्टि करते रहना चाहिए तथा वादित्रनाद भी होते रहना चाहिए।

।। प्रत्येक फेरे के बाद पढ़े जाने योग्य अर्घ्य।।

सज्जाति-परमस्थाने, सज्जातित्वं गुणार्चितम्।
पूजयेत्सप्तपदीनं च, स्वर्गमोक्षसुखाकरम्।।

ओं ह्रीं सज्जाति-परमस्थानायाऽर्घ्यम्।। 1।।

सद्गृहस्थ-परमस्थाने, सद्गृहं जिननायकम्।
पूजयेत्सप्तपदीनं च, स्वर्गमोक्षसुखाकरम्।।

ओं ह्रीं सद्गृहस्थ-परस्थानायाऽर्घ्यम्।। 2।।

परिव्राट्-परमस्थाने, पारिव्राज्यं सुपूजितम्।
पूजयेत्सप्तपदीनं च, स्वर्गमोक्षसुखाकरम्।।

ओं ह्रीं पारिव्राज्य-परमस्थानायाऽर्घ्यम्।। 3।।

सुरेन्द्र-परमस्थाने, सुरेन्द्राद्यैक-पूजितम्।
पूजयेत्सप्तपदीनं च, स्वर्गमोक्षसुखाकरम्।।

ओं ह्रीं सुरेन्द्र-परमस्थानायाऽर्घ्यम्।। 4।।

साम्राज्यं परमं भुंक्ते, चतुःकर्मविनाशकम्।
पूजयेत्सप्तपदीनं च, स्वर्गमोक्षसुखाकरम्।।

ओं ह्रीं साम्राज्य-परमस्थानायाऽर्घ्यम्।। 5।।

आर्हन्त्यं परमस्थानं, चतुःकर्मविनाशकम्।
पूजयेत्सप्तपदीनं च, स्वर्गमोक्षसुखाकरम्।।

ओं ह्रीं सज्जातिपरस्थानायाऽर्घ्यम्।। 6।।

गृहस्थाचार्य का उपदेश/निर्देश

इस प्रकार छह भाँवरों (फेरों या प्रदक्षिणाओं) के पश्चात् गृहस्थाचार्य उन वर और कन्या को अपने अपने स्थान पर खड़ा कर कहे कि हे होनहार गृहस्थों! सुनो, तुम्हारा यह दाम्पत्य सम्बन्ध जीवन पर्यन्त के लिए हो रहा है। तुमको दो शरीर होते हुए भी एक होकर एक दूसरे के सुख और दुःख में समवेदना और सहायता करनी होगी। तुम्हारे द्वारा पवित्र जैन कुल की सन्तान-परम्परा के चलने से जैनधर्म की प्रभावना और तुम्हारी आत्मा का हित होना परम आवश्यक है।.....

यदि तुम्हें आपस में और भी कुछ कहना सुनना हो तो कह सुन सकते हो। अभी मन न मिलने पर तुम दोनों स्वतन्त्र हो, तुम चाहो तो अपना सम्बन्ध अन्य कन्या या अन्य वर के साथ कर सकते हो क्योंकि हमारे आर्ष ग्रन्थों की आज्ञा है कि **'तावद्विवाहो नैव स्याद् यावत्सप्तपदी भवेत्'**।

इसके बाद वर-कन्या की अनुमतिपूर्वक सातवाँ फेरा होता है, उसके पूर्व वर और वधू क्रमशः सात सात वचन माँगते हैं, जो निम्न प्रकार हैं –

वर के सप्त वचन

1. मेरे गुरुजन और कुटुम्बियों की यथायोग्य विनय और सेवा करनी होगी।

2. मेरी आज्ञा को भंग नहीं करना होगा।
3. कठोर और अप्रिय वचन नहीं कहना होगा।
4. घर पर मेरे हितैषी तथा सत्पात्रों के आने पर उनके आदर सत्कार और आहार आदि को देते समय कलुषित मन नहीं करना होगा।
5. मेरी आज्ञा के बिना दूसरे के घर नहीं जाना होगा।
6. जहाँ बहुत भीड़ हो – ऐसे मेला आदि में तथा जिनका आचरण और धर्म खराब है – ऐसे मद्य आदि पीने वाले तथा विधर्मियों के घर कभी नहीं जाना होगा।
7. अपनी कोई भी गुप्त बात मुझसे छिपानी नहीं होगी और मेरी गुप्त बात किसी दूसरे से नहीं कहनी होगी।

इसके बाद वर, वधू से निम्न प्रकार प्रतिज्ञा करवाता है –

वर (वधू से) – यदि तुम्हें मेरी ये सात शर्तें भली प्रकार प्रतिज्ञारूप से स्वीकार हों तो तुम मेरी वामांगिनी हो सकती हो।

वधू (वर से) – यदि आप भी मेरे सात वचनों को स्वीकार करें तो मैं भी आपके सात वचनों को स्वीकार कर सकती हूँ –

वधू के सप्त वचन

1. पर-स्त्रियों के साथ क्रीड़ा नहीं करनी होगी।
2. जुआ नहीं खेलना होगा।
3. अपनी सम्पत्ति पर मुझे समान अधिकार देना होगा।
4. न्याय और उद्योग से उपार्जित धन से मेरे भोजन, वस्त्र और आभूषण की व्यवस्था करते हुए मेरी रक्षा करनी होगी।
5. तीर्थस्थान, जिन-मन्दिर आदि धर्म-स्थानों को जाने में बाधक नहीं होते हुए धार्मिक कार्यों से मुझे वंचित नहीं करना होगा।
6. अनुचित और कठोर दण्ड मुझे नहीं देना होगा।
7. मुझे जीवनपर्यन्त नहीं त्यागना होगा।

वधू के सप्त वचनों को सुन कर वर, उसे आश्वासनस्वरूप अपनी स्वीकृति प्रदान करता है –

वर (वधू से) – मुझे ये सात वचन स्वीकार हैं; अतः तुम मेरे बाँये भाग में आ जाओ।

आवश्यक निर्देश – उक्त सप्तपदी के बाद गृहस्थाचार्य कन्या को वर के बाँयें भाग में खड़ा करा देवें। तदनन्तर गृहस्थाचार्य वर को आगे और कन्या को पीछे करके नीचे लिखा श्लोक एवं मन्त्र पढ़ते हुए सातवाँ फेरा या प्रदक्षिणा करावे।

निर्वाणं परमस्थानं, जिनभाषितमुत्तमम्।
पूजयेत्सप्तपदीनं च, स्वर्गमोक्षसुखाकरम्।।

ओं ह्रीं निर्वाणपरमस्थानायाऽर्घ्यम्।। 7।।

सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं, पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं, निर्वाणं चेति सप्तकम्।।

ओं ह्रीं श्री सप्तपरमस्थानाय पूर्णार्घ्यम्।। 8।।

वरमाला

उपर्युक्त प्रकार से अर्घ्य चढ़ाने के बाद कन्या वर को तथा वर कन्या को 'वरमाला' पहनावें। इस समय वादित्रनाद, जयध्वनि, पुष्पवर्षा और मंगलगान किया जाए। पश्चात् गृहस्थाचार्य, उन नवदम्पति को निम्न प्रकार पुनः उपदेश देवे।

गृहस्थाचार्य का उपदेश/निर्देश

हे दम्पति! अब तुम पति-पत्नि हो गये हो। अब तुम्हारा यावज्जीवन के लिए सम्बन्ध हो गया है; इसलिए तुम धर्म, अर्थ, और काम को अविरोधरूप से सेवन करते हुए मोक्षपुरुषार्थ को साधने के लिए

प्रयत्नवान् होना क्योंकि केवल धर्म, अर्थ और काम के सेवन से सत्पथ की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार का सुयोग मिलने पर तुम्हें मोक्षमार्ग पर प्रवृत्त होना चाहिए। तब वरवधू, गृहस्थाचार्य से नतमस्तक होकर उनसे अपने सफल वैवाहिक जीवन के लिए आशीर्वाद लेवें।

इसके बाद की क्रियाएँ यथायोग्य विधि के अनुसार करना चाहिए।

अष्ट मंगल द्रव्यों एवं सिद्धयन्त्र की स्थापना

1. झारी, 2. पंखा, 3. कलश, 4. ध्वजा, 5. चँवर, 6. ठौना, 7. छत्र और 8. दर्पण – ये आठ मंगल द्रव्य हैं; इनसे विवाह-मण्डप को सजाना चाहिए।
2. यदि ये आठ मंगल द्रव्य साक्षात् न हों तो एक रकाबी में उनका आकार बना कर उनकी स्थापना, वेदी के पास अवश्य कर देना चाहिए।
3. वेदी पर जिनेन्द्र भगवान के प्रतीकस्वरूप सिद्धयन्त्र की स्थापना करनी चाहिए।
4. सप्तपदी या भाँवर के पूर्व जिनेन्द्रदेव अथवा नवदेवताओं – पाँच परमेष्ठी, जिन-मन्दिर, जिन-प्रतिमा, जिनधर्म और जिनवाणी की पूजन करना चाहिए।
5. इसके पश्चात् शान्तिमन्त्रों का उच्चारण करते हुए शुद्धाम्नायानुसार शुद्ध पुष्पों से शान्तियज्ञ करना चाहिए।

विवाह-विधि का सामान

1. अष्टद्रव्य की सामग्री स्वयं तैयार करावें अथवा पुजारी आदि के माध्यम से मँगा लेवें।
2. अन्य फुटकर सामान में सुपारी 5, हल्दी-गाँठ 5, रोली 250 ग्रा., पिसी हल्दी 100 ग्रा., कृत्रिम फूलमाला बड़ी 2, यज्ञोपवीत 2, कलावा, आदि वस्तुएँ शुद्ध स्वदेशी और यथाशक्ति होना चाहिए।

पूजन-पाठ-सम्बन्धी जैन समाज का संविधान

दिगम्बर जैनधर्म का संविधान, तीनों लोक में सदा से ही सत्य का उद्घाटन करता आया है। दिगम्बर जैनधर्म में आत्मा से परमात्मा बनने की विधि बताई गई है। जब तक जीव स्वयं परमात्मा नहीं बन जाता, तब तक परमात्मा के मार्ग पर चलता हुआ साधक कहलाता है। साधक जीव, पाप से बचने के लिए एवं स्वयं परमात्मा बनने के लिए पूज्य पदों की आराधना करता है। वे पूज्य पद, जिनधर्म में नव देवता के नाम से जाने जाते हैं। अरहन्त सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, जिन-धर्म, जिन-वाणी, जिन-मन्दिर और जिन-प्रतिमा – ये नव देवता हैं। ये नव देवता ही मात्र पूजनीय होते हैं, इनके सिवाय अन्य किसी की कल्पना मात्र भी पाप है। जो जीव, वीतरागता के साधक, इन नव देवताओं को छोड़ कर अन्य की आराधना करता है, वह प्रगटरूप से गृहीत मिथ्यादृष्टि है; अनन्त संसार में परिभ्रमण करने वाला है।

जिस प्रकार अपने घर पर कोई विशिष्ट मेहमान आए तो उसकी उचित सम्मानपूर्वक आवभगत की जाती है, उसी प्रकार इन पूज्य पदों की आराधना विनयपूर्वक की जाती है। बिना विधि और विनय के पूजन का कोई महत्व नहीं होता और न ही उसका कोई फल प्राप्त होता है, अपितु अविनय के फल में जीव, खोटी गति प्राप्त करता है।

जैन पूजन-विधान दो प्रकार से किया जाता है। एक तो जैन श्रावक प्रतिदिन पंच परमेष्ठी की आराधना करता है, उसे नित्य नियम-पूजन कहते हैं, दूसरे नैमित्तिक रूप से पूजन-विधान किया जाता है, उसे नैमित्तिक विशिष्ट पूजन-विधान कहा जाता है। नित्य नियम-पूजन करने वाला प्रत्येक जैन श्रावक, घर पर प्रासुक जल से स्नान कर, नंगे पैर ईर्या-समिति पूर्वक गमन करता हुआ, महा हर्ष सहित जिन-मन्दिर में प्रवेश करता है।

देवदर्शन के पश्चात् जिनेन्द्र भगवान का विधिपूर्वक प्रक्षाल करता है।

तत्पश्चात् आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण की विधि पूर्वक प्रासुक, अचित्त, अहिंसक अष्ट द्रव्यों से जिनेन्द्र भगवन्तों की पूजा करता है। जिनेन्द्र का गुणगान ही सच में पूजन है, किन्तु बिना अवलम्बन के श्रावक का पूजन में भाव नहीं लगता है, इसलिए इन अष्ट द्रव्यों के अवलम्बन से अपना मन जिनेन्द्र के गुणानुवाद में लगता है। महाअर्घ्य, शान्तिपाठ एवं क्षमापना बोलता हुआ पूजन का विसर्जन करता है।

''पूजन के पाँच अंग या पाँच उपचार माने गये हैं – 1. आह्वानन, 2. स्थापन, 3. सन्निधिकरण, 4. पूजन और 5. विसर्जन। इनका स्वरूप बताते हुए कहा है –

1. आह्वानन – अरहन्तदेव आदि की पूजा के समय मन्त्र पढ़ कर, पुष्प अक्षत आदि निक्षेपित करके उनका आह्वान करना, पहला आह्वानन अंग या उपचार है। यथा –

मन्त्र – *ओं ह्रीं अर्हन् श्रीपरमब्रह्मन्! अत्राऽवतराऽवतर संवौषट्।* ***इति आह्वाननम्।***

2. स्थापन – आह्वानन के बाद मन्त्र पढ़ कर तथा पुष्प अक्षत आदि निक्षेपित करके उन पूज्य अरहन्तदेव आदि का स्थापन करना, दूसरा स्थापना अंग या उपचार है। यथा –

मन्त्र – *ओं ह्रीं अर्हन् श्रीपरमब्रह्मन्! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः।* ***इति स्थापनम्।***

3. सन्निधिकरण – स्थापना करने के बाद मन्त्र पढ़ कर तथा पुष्प अक्षत आदि निक्षेपित करके उन पूज्य अरहन्तदेव आदि को अपने समीप लाना, तीसरा सन्निधिकरण अंग या उपचार है।

मन्त्र – *ओं ह्रीं अर्हन् श्रीपरमब्रह्मन्! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।* ***इति सन्निधिकरणम्।***

4. पूजन – तदनन्तर जल चन्दन अक्षत पुष्प नैवेद्य दीप धूप फल अर्घ्य आदि समर्पित करते हुए मन्त्र-पाठ पूर्वक उन पूज्य अरहन्तदेव आदि का स्तुतिगान करना, चौथा पूजन नामक अंग या उपचार है। यथा –

मन्त्र – *ओं ह्रीं श्रीपरमब्रह्मणे अनन्तानन्तज्ञानशक्तये अष्टादशदोषरहिताय षट्चत्वारिंशत्-गुणविराजमानाय* ***अर्हत्परमेष्ठिने जन्म-जरा-मृत्युविनाशनाय जलं*** *निर्वपामीति स्वाहा।*

मन्त्र – *ओं ह्रीं श्रीपरमब्रह्मणे अनन्तानन्तज्ञानशक्तये अष्टादशदोषरहिताय षट्चत्वारिंशत्-गुणविराजमानाय* ***अर्हत्परमेष्ठिने भवाऽऽतापविनाशनाय चन्दनं*** *निर्वपामीति स्वाहा।*

मन्त्र – *ओं ह्रीं श्रीपरमब्रह्मणे अनन्तानन्तज्ञानशक्तये अष्टादशदोषरहिताय षट्चत्वारिंशत्-गुणविराजमानाय* ***अर्हत्परमेष्ठिने अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान्*** *निर्वपामीति स्वाहा।*

मन्त्र – *ओं ह्रीं श्रीपरमब्रह्मणे अनन्तानन्तज्ञानशक्तये अष्टादशदोषरहिताय षट्चत्वारिंशत्-गुणविराजमानाय* ***अर्हत्परमेष्ठिने कामवाणविध्वंसनाय पुष्पं*** *निर्वपामीति स्वाहा।*

मन्त्र – *ओं ह्रीं श्रीपरमब्रह्मणे अनन्तानन्तज्ञानशक्तये अष्टादशदोषरहिताय षट्चत्वारिंशत्-गुणविराजमानाय* ***अर्हत्परमेष्ठिने क्षुधारोगनिवारणाय नैवेद्यं*** *निर्वपामीति स्वाहा।*

मन्त्र – *ओं ह्रीं श्रीपरमब्रह्मणे अनन्तानन्तज्ञानशक्तये अष्टादशदोषरहिताय षट्चत्वारिंशत्-गुणविराजमानाय* ***अर्हत्परमेष्ठिने मोहान्धकारविनाशनाय दीपं*** *निर्वपामीति स्वाहा।*

मन्त्र – *ओं ह्रीं श्रीपरमब्रह्मणे अनन्तानन्तज्ञानशक्तये अष्टादशदोषरहिताय षट्चत्वारिंशत्-गुणविराजमानाय* ***अर्हत्परमेष्ठिने अष्टकर्मविध्वंसनाय धूपं*** *निर्वपामीति स्वाहा।*

मन्त्र – *ओं ह्रीं श्रीपरमब्रह्मणे अनन्तानन्तज्ञानशक्तये अष्टादशदोषरहिताय षट्चत्वारिंशत्-गुणविराजमानाय* ***अर्हत्परमेष्ठिने महामोक्षफलप्राप्तये फलं*** *निर्वपामीति स्वाहा।*

मन्त्र – *ओं ह्रीं श्रीपरमब्रह्मणे अनन्तानन्तज्ञानशक्तये अष्टादशदोषरहिताय षट्चत्वारिंशत्-गुणविराजमानाय* ***अर्हत्परमेष्ठिने अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं*** *निर्वपामीति स्वाहा।* ***इति पूजनम्।***

5. विसर्जन – यह पंचोपचारी पूजन की समापन विधि है। इसमें निम्न मन्त्रपाठपूर्वक स्तुतिगान भी किया जाता है।

मन्त्र – *ओं ह्रीं अर्हन् श्रीपरमब्रह्मन्! स्वस्थानं गच्छ गच्छ जः जः जः।* ***इति विसर्जनम्।***

इस प्रकार पंचोपचारी पूजन का स्वरूप पूजासार, प्रतिष्ठापाठ, जिनसंहिता आदि ग्रन्थों के माध्यम से जानना चाहिए। इसी प्रकार शास्त्र गुरु आदि की पूजा भी समझनी चाहिए।

इतना ही नहीं, श्री सोमदेव सूरि कृत यशस्तिलक चम्पू नामक महाकाव्य में गृहस्थ के द्वारा देवसेवा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान – इन षट्कर्म के अन्तर्गत देवसेवा में छह क्रियाओं को करने का भी उपदेश दिया गया है। वहाँ लिखा है –

देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने दिने।।
स्नपनं पूजनं स्तोत्रं, जपं ध्यानं श्रुतिश्रवम्।
क्रियाः षडुदिताः सद्भिः, देवसेवासु गेहिनाम्।। [87]

छह क्रियाओं में 1. अरहन्तदेव का स्नपन या अभिषेक करना, 2. विधिवत् पंचोपचारी विधि से अरहन्तदेव का पूजन करना, 3. अरहन्तदेव का गुणानुवाद करने वाले स्तोत्र का पाठ करना, 4. अरहन्तदेव के

वाचक मन्त्रों के द्वारा 108 बार जप करना, 5. कायोत्सर्ग धारण कर अरहन्तदेव का ध्यान करना, 6. अन्त में जिनवाणी अर्थात् अरहन्तदेव की वाणी का जिनशास्त्रों के माध्यम से पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना।

इस प्रकार पूर्वाचार्यों ने देवसेवा या देवपूजा की सम्पूर्ण विधि षट् क्रियाओं के माध्यम से करने का उपदेश दिया है।''[88]

विशिष्ट नैमित्तिक पूजन-विधानों में सर्व प्रथम स्नानादि के पश्चात् शान्ति-जाप्य की स्थापना होती है, इसमें सभी यजमान उस विधान के अनुसार ग्रन्थोक्त मन्त्रों का संकल्प निर्धारित करते हैं। शान्ति-जाप्य के बाद बड़े अनुष्ठानों में ध्वजारोहण कराया जाता है। यह ध्वजा पंचरंगी होती है – धवल, रक्त, केशरी, हरित और नील। ये पाँचों रंग क्रमशः पंच परमेष्ठी के प्रतीक हैं। ध्वजारोहण होने के बाद जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक-प्रक्षालन होता है, कोई-कोई शान्ति-धारा भी करते हैं। जिनेन्द्र भगवान को वेदी में विराजमान करके विधान के माण्डले पर सौभाग्यवती बहनें चार कोने के चार कलश और एक मंगल-कलश स्थापित करती हैं। इन कलशों में साबुत सुपारी, साबुत हल्दी, पीली सरसों, पंच रत्न, चांदी का रुपया आदि मंगल सामग्री क्षेपण की जाती है तथा कलशों पर केशर से स्वस्तिक बना कर रक्षा-सूत्र (कलावा) से वेष्ठित किया जाता है।

मंगल कलश स्थापित होने के बाद मंगलाष्टक पढ़ा जाता है, सभी यजमानों को मन्त्र द्वारा अमृत-स्नान कराया जाता है। इस अमृत-स्नान से बाह्य अशुद्धि दूर हो जाती है। पश्चात् पुरुष वर्ग अपने दाँये हाथ में तथा महिला वर्ग अपने बाँयें हाथ में तीन बाद रक्षा-सूत्र बाँधती हैं। रक्षा-सूत्र बँधने पर यजमानों को सूतक-पातक नहीं लगता। विधानाचार्य, इस समय विधान-काल तक यजमानों को सदाचार, ब्रह्मचर्यादि की प्रतिज्ञा दिलाते हैं।

इतनी प्रारम्भिक विधि होने के बाद अब मन्त्रों द्वारा अंग-न्यास की विधि होती है। इस अंग-न्यास में अपने दोनों हाथों की अँगुलियों को क्रमशः बढ़ाते हुए जिनेन्द्र के समक्ष नमस्कार किया जाता है, पश्चात् रक्षा-मन्त्रों के द्वारा शरीर के समस्त अंग, पूजन-सामग्री, पूजन-वस्त्र, पूजन-स्थल आदि का स्पर्श किया जाता है। चारों दिशाओं में मन्त्र पढ़ कर पीली सरसों अथवा पुष्प-क्षेपण कर दिग्बन्धन किया जाता है। विधानाचार्य, विशिष्ट रक्षा-मन्त्रों से यजमानों पर पीली सरसों क्षेपण करते हैं। यदि वृहद् आयोजनों की अपेक्षा इन्द्र-प्रतिष्ठा हो रही हो तो यजमानों में मन्त्र द्वारा इन्द्र-इन्द्राणीपने की स्थापना की जाती है। पूजन-विधान सम्पूर्ण होने के पश्चात् शान्ति-यज्ञ किया जाता है, इस शान्ति-यज्ञ में विश्व के समस्त पूज्य पदों को, जैसे – त्रिकाल चौबीसी आदि को पुष्प-क्षेपण किये जाते हैं। ये मन्त्र, पीठिका-मन्त्र, जाति-मन्त्र, निस्तारक-मन्त्र, ऋषि-मन्त्र, सुरेन्द्र-मन्त्र, परमराजादि-मन्त्र एवं परमेष्ठी-मन्त्र कहलाते हैं। प्रत्येक मन्त्र समूह की आहूति पूरी होने पर प्रतिष्ठाचार्य यजमानों पर समाधिमरण की मंगल-कामना करता हुआ पुष्प-क्षेपण करता है। शान्तियज्ञ होने के बाद शास्त्रोक्त मन्त्रों से अखण्ड शान्ति-धारा, विनायक-यन्त्र के उपर की जाती है। पश्चात् पुण्याह-वाचन, शान्ति-पाठ और विसर्जनपूर्वक विधान-अनुष्ठान का समापन होता है। इस अवसर पर विधानाचार्य, यजमानों को शक्ति अनुसार आजीवन या काल-मर्यादा में नियम एवं दान की प्रेरणा देते हैं।

दिगम्बर तेरहपन्थी शुद्ध-आम्नाय में अग्नि का प्रयोग नहीं किया जाता, सचित्त फल-फूल आदि का प्रयोग वर्जित होता है, पंचामृत-अभिषेक नहीं होता, भगवान की आशिका नहीं ली जाती, ठोने में भगवान की स्थापना नहीं होती, स्त्रियाँ अभिषेक नहीं करतीं, पुरुष-वर्ग ही खड़े होकर भगवान की पूजन करते हैं। पूजन करने वाला यजमान, यदि भगवान पूर्वमुखी हों तो स्वयं उत्तरमुखी होकर और यदि भगवान उत्तरमुखी हों तो स्वयं पूर्वमुखी होकर भगवान की पूजन करता है – ऐसा करने से बाद में दर्शन करने आने वालों को अन्तराय नहीं होता।

जिन-शासन में क्रियाकाण्ड का वर्णन विभिन्न ग्रन्थों में अलग-अलग मिलता है। जिनागम के अनुसार विधि-विधान को किसी अपरिवर्तनीय सिद्धान्त में नहीं बाँधा जा सकता। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार इनमें परिवर्तन हो सकता है। प्रत्येक प्रदेश में अलग-अलग परम्पराएँ हैं। क्रियाकाण्ड के पीछे हठाग्रही होना उचित नहीं। प्रत्येक अनुष्ठान के पीछे वीतरागता का प्रयोजन है; अतः वीतरागता को मुख्य लक्ष्य में रख कर, चरणानुयोग की मर्यादा में अहिंसक-रीति से ही पूजन-विधान आदि करना चाहिए। यह विधि-विधान का संक्षिप्त स्पष्टीकरण मात्र है। विशिष्ट विस्तृत विधि जानने के लिए पूजन विधान से सम्बन्धित ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।

''**यहाँ कोई कहे कि** वीतराग सर्वज्ञ की मूर्ति के नित्य अभिषेक (प्रक्षाल) पूर्वक पूजन करने की क्या आवश्यकता है?

उसका समाधान – इस विषय में जैनमत का विज्ञान बहुत विज्ञता से भरा हुआ है। मूर्ति के प्रक्षाल करने का अन्तरंग अभिप्राय तो यह है कि ऐसी पवित्र ध्यानस्थ मुद्रा के अति निकटवर्ती होने से उसकी वीतरागता पूर्णरूप से दिखाई देती है। उसके स्पर्श करने से चित्त आह्लादित होता है, मानो साक्षात् अर्हन्तदेव का ही स्पर्शन किया और चरणोदक लगाने से मस्तक तथा सम्पूर्ण शरीर पवित्र होकर मन में साक्षात् तीर्थंकर भगवान् के अभिषेक करने सरीखी भावना उत्पन्न होती है। पुनः प्रक्षाल करने का बाह्य कारण ये भी है कि मूर्ति पर कूड़ा कचरा जाला मैल दाग न लगने पावे क्योंकि आच्छादन होने से मूर्ति की वीतरागता बिगड़ती और स्पष्ट दर्शन में बाधा आती है।''[89]

वही कविवर श्री हरजसरायजी ने अभिषेक पाठ में भी कहा है –

पापाचरण तजि न्हवन करता, चित्त में ऐसे धरूँ।
साक्षात् श्री अरहन्त का, मानो न्हवन परसन करूँ।।

जैनियों का मूर्तिपूजन विधान

''वर्तमान में कितने ही मत ऐसे भी हैं कि जो मूर्ति-पूजन का निषेध करते हैं। वे मूर्ति-पूजन का अभिप्राय समझे बिना मूर्ति-पूजन को बुत-परस्त अर्थात् पाषाण-पूजक ठहराते हैं। उनको यह बात ज्ञात नहीं है कि मूर्ति अर्थात् स्थापना सत्य माने बिना सांसारिक एवं पारमार्थिक कोई भी कार्य नहीं चल सकते। प्रत्यक्ष ही देखो कि अक्षर जो लिखे जाते हैं, वे जिस पदार्थ के द्योतक हैं याने उनके द्वारा जो मूर्तिस्वरूप हों, उसी पदार्थ का ज्ञान उन अक्षरों के देखने से होता है और तदनुसार ही हर्ष-विषाद होता है।

जैसे, निन्दा या गाली के द्योतक अक्षरों को पढ़ कर अप्रसन्नता और प्रशंसारूप अक्षरों को पढ़ कर चित्त में प्रसन्नता होती है अथवा फोटो की तसवीर या पत्थर की स्त्री-पुरुष की सुन्दर मूर्ति देख कर मन प्रसन्न होता है और कुरूप डरावनी मूर्ति को देखने से भय और घृणा उत्पन्न होती है।

जिस प्रकार नक्शे के बिना केवल भूगोल की पुस्तक पढ़ने से यथार्थ ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार मूर्ति के बिना सांसारिक एवं पारमार्थिक कार्यों का समुचित रीति से बोध तथा उनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसके लिए इतना ही कहना बस होगा कि मूर्ति-निषेधक लोग भी फोटो तथा स्मारक मूर्तियों के द्वारा असली पदार्थ का बोध करते हैं और तदनुसार ही वर्ताव करते हैं।

अब विचारने की बात केवल इतनी ही है कि मोक्षमार्ग के प्रकरण में मूर्ति किसकी और किस आकार की होनी चाहिए? और उसकी पूजन करने का अभिप्राय क्या होना चाहिए? इत्यादि बातों को भलीभाँति जाने बिना मूर्ति-पूजन से जो लाभ होना चाहिए, वह कदापि नहीं हो सकता, इस सन्दर्भ में यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि सूक्ष्मदृष्टि से जैनियों के मूर्ति-स्थापन एवं मूर्ति-पूजन सम्बन्धी अभिप्राय ध्यान में लाये जाएँ तो कदाचित् भी कोई उन्हें बुत-परस्त नहीं कह सकता, किन्तु उन्हें पूर्ण तत्त्वज्ञानी, सत्य-खोजी और सच्चा मुमुक्षु ही कहेगा; अतएव यहाँ जैन-मत सम्बन्धी मूर्ति-पूजन का अभिप्राय संक्षिप्तरूप से कहा है।

प्रगट रहे कि मूर्ति-पूजा के विषय में जैनियों के उद्देश्य और सिद्धान्त यह है कि जिन महात्माओं ने संसार अर्थात् जन्म-मरण की परिपाटी को बढ़ाने वाले, राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले विषय-कषायों को त्याग दिया और परम वीतरागता अंगीकार की, जिन्होंने अशुभ- शुभ दोनों प्रकार के कर्मों को संसार-बन्धन के लिए बेड़ी सदृश जान त्याग दिया, जिन्होंने एकाग्र-ध्यान के बल से सर्वज्ञ पद को प्राप्त किया और शुद्धात्मरूप परमात्मा हुए। ऐसे सर्वज्ञ, परमात्मा कर्म-शत्रु विजेता वीरों की ध्यान-मुद्रा का स्मरण होता रहे। जैनी लोग, इसी अभिप्राय से उनकी तादृश (उन्हीं के समान) विरागतापूर्ण मूर्ति स्थापना करते हैं। उनका सिद्धान्त है कि ऐसी मूर्ति के दर्शन द्वारा परमात्मा के गुण-चिन्तवन करना और उनके समान सद्गुणी बनने की इच्छा करना ही आत्मोन्नति का मूल साधन है।

कुछ लोग मूर्ति-पूजन का इस प्रकार असली अभिप्राय 'आत्मिक उन्नति' के जाने बिना जैनियों को मूर्ति-पूजक कह कर उनकी निन्दा करते हैं, परन्तु अपनी तरफ नहीं देखते कि आप स्वतः सांसारिक बुत-परस्त बन रहे हैं, जो सांसारिक कार्यों (युद्धादि वा द्रव्यदान) द्वारा किंचित् प्रसिद्ध पुरुषों की मूर्ति, फोटो आदि की स्थापना कर उनकी स्तुति प्रशंसा करते हैं तथा उनकी मूर्ति पर फूल, माला आदि चढ़ाते हैं।

यह बात भी ध्यान में लाने योग्य है कि जैनी लोग, मूर्ति के दर्शन पूजन करते हुए पाषाण पीतल आदि की स्तुति नहीं करते कि ''हे पाषाण या पीतल की मूर्ति ! तू अमुक खानि से निकाली जा कर, अमुक कारीगर के द्वारा इतने मूल्य में अमुक जगह तैयार कराई जा कर, हम लोगों के द्वारा स्थापित हो कर पूज्य मानी गई है;'' किन्तु वे लोग संसार-विरक्त मोक्षगामी परमात्मा की तदाकृति मूर्ति के आश्रय से उसके

सद्गुणों की स्तुति तथा पूजन करते और उसी के समान मोक्ष प्राप्त करने की भावना करते हैं। वे उन मोक्षमार्गी सच्चे वीरों की मूर्ति के दर्शन करके यह शिक्षा लेते हैं कि यह मुद्रा, ध्यान करने की है; जब हम संसार, शरीर, भोगों से सर्वथा विरक्त होकर इस नग्न दिगम्बर मूर्ति सरीखे ध्यानारूढ़ होंगे, तभी अपने आत्मस्वरूप में लीन होकर शान्ति-रस का आस्वादन कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। पुनः उनके मन में वीतराग मूर्ति के देखने से इस प्रकार शुद्धात्मस्वरूप के ध्यान की भावना उत्पन्न होती है कि मेरे आत्मा में जब तक राग-द्वेषरूप मल लगा हुआ है, तब तक ही संसार में भ्रमण करता नाना प्रकार दुःखी होता हुआ जन्म-मरण कर रहा हूँ, जिस समय राग-द्वेष विकार मुझसे दूर हो जाएगा, उस समय मैं अपने स्वरूप में ऐसा निश्चल लीन हो जाऊँगा, जैसी कि ये पाषाण की वीतराग मूर्ति ध्यानस्थ है।

प्रगट रहे कि जैन-मत में मूर्ति चाहे पद्मासन हो, चाहे खड्गासन, किन्तु स्त्री-वस्त्र-शस्त्र-आभूषण आदि परिग्रहरहित, नासाग्र-दृष्टि, पूर्ण वैराग्य-सूचक, नग्न दिगम्बर, ध्यानारूढ़ होती है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए ऐसी शान्त अवस्था-धारण बहुधा सभी मतावलम्बी स्वीकार करते हैं।.....

.....गृहस्थों को गृह-सम्बन्धी जंजालों के कारण अनेक संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं, जिससे एकाएक आत्म-ध्यान में उनका चित्त एकाग्र नहीं हो सकता, इसलिए उन्हें सांसारिक अशुभ आलम्बनों के त्यागने और पारमार्थिक शुभ आलम्बनों में लगने की बड़ी भारी आवश्यकता है। अतएव गृहस्थ को जिन-पूजा से बढ़ कर दूसरा कोई प्रबल धार्मिक षट्कर्मों के आरम्भ में ही देव-पूजन करने का उपदेश है। पूजन करने से पूजन के द्रव्य एकत्र करने, धोने, चढ़ाने, पाठ मन्त्रादि बोलने, पूज्य परमेष्ठी के गुणों के चिन्तवन करने में जितने समय तक चित्त लगा रहता है, उतने काल तक परिणाम पुण्यरूप रहते, सांसारिक विषय-कषाय की ओर चित्त नहीं लगने पाता, जिससे महान पुण्यबन्ध और पाप की हानि होती है तथा उतने काल तक संयम (इन्द्रियों का जीतना) और तप (इच्छा का निरोध) होता है, जिससे आत्मिक शक्तियाँ सबल ओर निर्मल होती है।

जैनमत में अष्ट द्रव्य (जल, सुगन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप व फल) से पूजन करने की आज्ञा है; इनको परमात्मा या गुरु के सन्मुख चढ़ाने का अभिप्राय, पूजकों के सांसारिक तापों के दूर करने की इच्छा है। इसी हेतु से ये अष्ट द्रव्य पृथक् पृथक् मन्त्रों द्वारा परमात्मा के सन्मुख क्षेपण किये जाते हैं और भावना की जाती है कि 'इन जल, सुगन्ध, अक्षतादि द्रव्यों को हमने अनादिकाल से सेवन किया, परन्तु हमारे तृषा, क्षुधा आदि सांसारिक ताप दूर नहीं हुए। अतएव हे प्रभु! ये द्रव्य आपके सन्मुख क्षेपण करके चाहते हैं कि आप की तरह हम भी क्षुधा, तृषा, मोह, अज्ञानादि दोषों से रहित होकर आप सरीखी निर्दोष और उत्कृष्ट दशा को प्राप्त होवें।''[90]

प्रस्तुत विषय पर शोधकार्य की आवश्यक्ता

उक्त मीमांसा के कारण ही यहाँ श्रावकाचार एवं श्रमणाचार के सामान्य स्वरूप के साथ 'अपराध एवं प्रायश्चित्त' के विस्तृत स्वरूप पर समीक्षात्मक शोधकार्य करना उचित प्रतीत हुआ है क्योंकि इस विषय पर वर्तमान में कोई शोधकार्य नहीं हुआ है। इससे हमें जैन संविधान के आधार पर जैन समाज के पृथक् संविधान की आवश्यकता अवश्य भासित होगी – यही इस शोधकार्य का प्रमुख अभीष्ट विषय है।

इस प्रकार **'अतिचार एवं प्रायश्चित्त – स्वरूप एवं विश्लेषण : जैन संविधान के सन्दर्भ में'** – इस शोध-प्रबन्ध के 'प्रथम अध्याय : **जैन संविधान एवं आवश्यक्ता'** का विवरण पूर्ण होता है।

इति शुभं भवतु।

सन्दर्भ-सूची

प्रथम अध्याय : जैन संविधान : स्वरूप एवं आवश्यकता

001. **जिनसंहिता,** तीसरा अधिकार, छन्द 5; द्वारा – पण्डित चम्पालाल; **चर्चासागर,** चर्चा 173, पृष्ठ 316

002. महर्षि, दीपककुमार; **सभी के लिए कानून,** पृष्ठ 15, 17, 31 के आधार पर

003. स्व. बैरिस्टर चम्पतराय, ने **'जैन लॉ' या 'जैन कानून'** – इस विषय पर, भारतीय संविधान के निर्माण के प्रसंग में एक लघु पुस्तिका का निर्माण किया था, उसे विस्तृतरूप से समझने का विचार ही इस शोधकार्य का प्रमुख उद्देश्य रहा है। मूल अंग्रेजी पुस्तक 'जैन लॉ' की प्रस्तावना एवं उसके हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना, पृष्ठ 5–18 के आधार पर यहाँ उसका संक्षिप्त विवेचन किया है।

004. जैन संजय, (अध्यक्ष, विश्व जैन संगठन), **जैनधर्म की प्राचीनता,** पृष्ठ 24–29, प्रकाशक, श्रुत संवर्द्धन संस्थान, मेरठ, (2008)

005. जैन संजय, (अध्यक्ष, विश्व जैन संगठन), **जैनधर्म की प्राचीनता,** पृष्ठ 24–29, प्रकाशक, श्रुत संवर्द्धन संस्थान, मेरठ, (2008)

006. नेहरू जवाहरलाल, **हिन्दुस्तान की कहानी,** पृष्ठ 97–98

007. जैन, कपूरचन्द; **भारत : संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ**, पृष्ठ 13 एवं 15, आमुख, सुरेश जैन, आई.ए.एस.; एवं जैन संजय, **जैनधर्म की प्राचीनता,** पृष्ठ 22, के आधार पर

008. जैन, कपूरचन्द; **भारत : संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ,** पृष्ठ 23–52 एवं जैन संजय, **जैनधर्म की प्राचीनता,** पृष्ठ 24, के आधार पर

009. आचार्य विद्यानन्द मुनि, **जैनधर्म, अहिंसा एवं महात्मा गांधी,** पृष्ठ 26, प्रकाशक, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली (2007)

010. जैन, कपूरचन्द; **भारत : संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ,** पृष्ठ 37–43 के आधार पर

011. **वही,** पृष्ठ 42–43 12. **वही,** पृष्ठ 44 13. **वही,** पृष्ठ 45 14. **वही,** पृष्ठ 46

015. **वही,** पृष्ठ 47 16. **वही,** पृष्ठ 49 17. **वही,** पृष्ठ 50 18. **वही,** पृष्ठ 50

019. **वही,** पृष्ठ 50 20. **वही,** पृष्ठ 48

021. जैन, राजाराम; **अहिंसा एवं पर्यावरण संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षय स्रोत : जैनधर्म तथा लोकनायक वर्धमान महावीर,** पृष्ठ 28–29, प्रकाशक – श्री मोहनलाल चन्द्रवती जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, नई दिल्ली,

022. **निर्वाणकाण्ड,** गाथा 1, **वृहद् जिनवाणी संग्रह,** पृष्ठ 273–275, प्रकाशक, अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, जयपुर (1987)

022अ. देवेन्द्र मुनि शास्त्री, **आचारांग सूत्र,** प्रस्तावना, पृष्ठ 25, प्रकाशक, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज. (1980)

023. पाण्डे, बिशम्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति,** खण्ड 1, पृष्ठ 88–99 के आधार पर

024. **वही,** पृष्ठ 88–99 के आधार पर 025. **वही;** पृष्ठ 120–125 के आधार पर

026. **उत्तर पुराण,** आचार्य गुणभद्र, 74/492; एवं जैन, फूलचन्द, **वर्ण जाति और धर्म,** पृष्ठ 348

027. **पद्म पुराण,** आचार्य रविषेण, 11/203; एवं जैन, फूलचन्द, **वर्ण जाति और धर्म,** पृष्ठ 346

028. **अमितगति श्रावकाचार,** 7/38; एवं जैन, फूलचन्द; **वर्ण, जाति, और धर्म,** पृष्ठ 152 एवं 358

029. जैन, फूलचन्द; **वर्ण, जाति, और धर्म,** पृष्ठ 17–20 के आधार पर एवं और देखें, वही, पृष्ठ 155–182 तक

030. जैन संजय, **जैनधर्म की प्राचीनता,** पृष्ठ 19–23 के आधार पर

031. **Jain Shirines in India,** पृष्ठ 16 एवं 24 एवं जैन संजय, **जैनधर्म की प्राचीनता,** पृष्ठ 19 के आधार पर

032. **Epigraphica India,** Page 386

033. **लूडर्स जनरल आव दी रायल ऐशियाटिक सोसायटी,** जनवरी, 1912

034. जैन, संजय; **जैनधर्म की प्राचीनता,** पृष्ठ 19-21 के आधार पर 035. **वेद मन्त्र,** 112.33.101 के अनुसार

036. Major General Ferlong, **Short Studies,** Page 243-244

037. Dr. Jacobi, **Outlines of Jainism, Introduction,** Page XXX- XXXIII

038. Dr. Jacobi, **Outlines of Jainism, Introduction,** Page XXX- XXXIII

039. वाचस्पति गैरोला, **भारतीय दर्शन,** पृष्ठ 93

040. Dr. Sen, **Indo-Asian Culture,** p.1,738

041. प्रेमी, विशम्भर सहाय, **हिमालय में भारतीय संस्कृति,** पृष्ठ 47

042. Sri Prakash, **Jainism in Bihar,** Raj Bhavan, Madras, August 1, 1956

043. डॉ. सम्पूर्णानन्द, भूतपूर्व मुख्यमन्त्री, उत्तरप्रदेश, टिप्पणी, **सिद्धिविनिश्चय टीका,** प्रथम भाग, पृष्ठ 2, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

044. पाण्डे, बिशम्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति**, खण्ड 2; यहूदी सम्प्रदाय और भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 128–131 के आधार पर

045. पाण्डे, बिशम्भरनाथ; **भारत और मानव संस्कृति,** भाग 2; पृष्ठ 128

046. **वही,** भाग 1; पृष्ठ 100-119 के आधार पर

047. आचार्य विद्यानन्द मुनि; **जैनधर्म, अहिंसा, एवं महात्मा गांधी,** पृष्ठ 1–3 **एवं जैन शासन ध्वज,** पृष्ठ 39, प्रकाशक, श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली, (2007) एवं 'हरिजन' पत्रिका, 21.07.46

048. ''जब माँ, देव-प्रतिमा के सामने बैठती तो मोहनिया (मोहनदास उर्फ महात्मा गांधी) भी आँखें मूँद, हाथ जोड़, पालथी मार कर, वहीं बैठा रहता'' – मनोरमा जफा, **शान्तिदूत गांधी,** पृष्ठ 1, प्रकाशक, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, (1997)

049. रोमेन रोलैण्ड, **महात्मा गांधी,** पृष्ठ 2 एवं आचार्य विद्यानन्द मुनि; **जैनधर्म, अहिंसा, एवं महात्मा गांधी,** पृष्ठ 2–3

050. महात्मा गांधी, **दैनिक नवाकाळ,** 27.11.1932

051. महात्मा गांधी, **यथार्थ प्रकाश,** पृष्ठ 56

052. रोमेन रोलैण्ड, **महात्मा गांधी,** पृष्ठ 2; मोहनदास करमचन्द गांधी, **आत्मकथा,** पृष्ठ 17, 29, 34 व 37 एवं आचार्य विद्यानन्द मुनि; **जैनधर्म, अहिंसा, एवं महात्मा गांधी,** पृष्ठ 4

053. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, भूमिका, पृष्ठ 15, प्रकाशक, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास

054. आश्रम (गांधी आश्रम) भजनावली, पृष्ठ 186, प्रकाशक, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, (2006)

055. L. Fisher, The Life of M. K. Gandhi, Page 473

056. जैन, राजाराम; **अहिंसा एवं पर्यावरण संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षय स्रोत : जैनधर्म तथा लोकनायक वर्धमान महावीर,** पृष्ठ 21-34, प्रकाशक – श्री मोहनलाल चन्द्रवती जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, नई दिल्ली, के आधार पर

057. **अमितगति-श्रावकाचार,** आचार्य अमितगति; श्रावकाचार-संग्रह, भाग 1, 1/16; सम्पादक-अनुवादक – सिद्धान्ताचार्य पं. हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ; प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2001)

058. Megusthunis, **Outlines of Jainism,** Page 90

059. आयंगर अनन्तशयनम्, भूतपूर्व अध्यक्ष, लोकसभा, प्रस्तावना, **जैनधर्म** (लेखक – मुनि सुशील)

060. **पद्मनन्दि पंचविंशतिका**; आचार्य पद्मनन्दि; उपासक संस्कार, श्लोक 7, हिन्दी टीकाकार – पण्डित गजाधरलाल न्यायतीर्थ; प्रकाशक – श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मण्डल ट्रस्ट, नागपुर (1996)

061. देखिए, **परमत्थिनी नामक उदान की अट्ठकथा**, पृष्ठ 338 एवं **अंगुत्तरनिकाय** 4, पृष्ठ 35

062. **आचारांगचूर्णि,** 2, पृष्ठ 93

063. जैन, जगदीशचन्द्र, **जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज,** पाँचवाँ खण्ड (धार्मिक व्यवस्था), पहला अध्याय (श्रमण सम्प्रदाय), पृष्ठ 379-380 प्रकाशक – चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी – 1 (ई. संवत् 1965)

064. **लाटी संहिता** (श्रावकाचार), पण्डित राजमल, प्रस्तावना, पृष्ठ 8, हिन्दी टीकाकार, पण्डित लालाराम शास्त्री, प्रस्तावना, ब्र. हेमचन्द जैन, प्रकाशक, विनयदक्ष प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई (2002)

065. **भावना द्वात्रिंशतिका** (अपरनाम **सामायिक पाठ**), आचार्य अमितगति, श्लोक 1, वृहद् जिनवाणी संग्रह, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (1982)

066. जैन, फूलचन्द, **वर्ण, जाति, और धर्म,** पृष्ठ 17

067. वही, पृष्ठ 18–20 के आधार पर

068. जैन, सुरेश, भिण्ड से व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर

069. **षट्खण्डागम,** आचार्य भूतबलि एवं आचार्य पुष्पदन्त, **धवला टीका**, आचार्य वीरसेन, सम्पादक, हीरालाल जैन, सहसम्पादक-द्वय, पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री एवं पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र, अमरावती एवं श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर मंगलाचरण

070. **प्रवचनसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, मंगलाचरण, गाथा 4, आत्मख्याति टीका, आचार्य अमृतचन्द्र, गुजराती अनुवादक, पण्डित हिम्मतलाल जेठालाल शाह, हिन्दी अनुवादक, पं. परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (2005)

071. **तत्त्वार्थसूत्र,** आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी, मंगलाचरण, प्रकाशक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत

072. पाण्डे बिशम्भरनाथ, **भारत और मानव संस्कृति,** भाग 1; पृष्ठ 104–105 के आधार पर

073. शर्मा एम. एल., **नीतिवाक्यामृत में राजनीति,** पृष्ठ 173–174, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली

074. **नीतिवाक्यामृत,** आचार्य सोमदेवसूरि, दण्डनीति समुद्देश, 149–152 के आधार पर, अनुवादक, पण्डित सुन्दरलाल शास्त्री, प्रकाशक, आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (1996)

075. **आदिपुराण**, 16/168/36, अनुवाद एवं सम्पादन, डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2004)

076. **चारित्रसार,** आचार्य चामुण्डराय, पृष्ठ 99, प्रकाशक, महावीरजी, वी.नि.सं. 2488

077. **नीतिवाक्यामृत,** आचार्य सोमदेवसूरि, दण्डनीति समुद्देश, 149–152 के आधार पर, अनुवादक, पण्डित सुन्दरलाल शास्त्री, प्रकाशक, आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (1996)

078. जैन, फूलचन्द, **वर्ण, जाति, और धर्म,** 174-175

079. पण्डित चम्पालाल, **चर्चासागर,** चर्चा 41, पृष्ठ 43-44

080. आर्यिका विज्ञानमती, **संस्कार मंजूषा,** उत्तरार्द्ध, पृष्ठ 116 के आधार पर, सम्पादक, डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, प्रकाशक, धर्मोदय साहिन्य प्रकाशन, सागर (2007)

081. **नीतिवाक्यामृत,** आचार्य सोमदेवसूरि, 3, अनुवादक, पण्डित सुन्दरलाल शास्त्री, प्रकाशक, आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (1996)

082. **तत्त्वार्थवार्तिक** भाग 2, 7/28/1, आचार्य अकलंकदेव, सम्पादक, डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1990)

083. जैन, बलभद्र, **विवाह;** जैन, प्रेमसुमन, प्राक्कथन : नारी का सम्मान, विवाह, पृष्ठ 2

084. जैन, बलभद्र, **विवाह;** भारतीय संस्कृति और विवाह, पृष्ठ 10

085. आर्यिका विज्ञानमती, **संस्कार मंजूषा,** उत्तरार्द्ध, पृष्ठ 116–176 के आधार पर, सम्पादक, डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, प्रकाशक, धर्मोदय साहिन्य प्रकाशन, सागर (2007)

086. वाग्दान, लग्न-पत्र-लेखन-विधि, लग्न-पत्र-वाचन-विधि, बारात-निकासी, द्वार-चार, टीका, तोरण-विधि, भाँवर (सप्त फेरे) आदि की विस्तृत विधि जानने के लिए जबलपुर से प्रकाशित **श्री सरल जैन विवाह विधि,** पृष्ठ 12–52 देखें।

087. **यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य,** आचार्य सोमदेव, उत्तर खण्ड, अष्टम आश्वास, श्लोक 454-455, पृष्ठ 471, प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, (1971) इन्टरनेट कनेक्शन, JAINA E-Library Project.

088. **चर्चासागर,** चर्चा 36-37, पृष्ठ 38-40 के आधार पर

089. **श्रावकधर्मसंग्रह,** सोधिया, दरयावसिंह, पृष्ठ 175, सम्पादक, परमानन्द जैन शास्त्री, प्रकाशक, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर (वि. 2006, वीर निर्वाण 2476)

090. **वही**, पृष्ठ 172–180 के आधार पर

द्वितीय अध्याय

श्रावकाचार : जैन संविधान के परिप्रेक्ष्य में

विश्व का प्रत्येक संसारी प्राणी सुख चाहता है और दुःख से डरता है, परन्तु वह कार्य ऐसे करता है जिससे सुख प्राप्त होना तो दूर, सुख से दूर और चला जाता है। प्रत्येक प्राणी, पाँच इन्द्रिय के विषयों की चाह से दुःखी है और वह चाह, दाह को उत्पन्न करती है, इसी चाह को सीमित करने का नाम व्रत है क्योंकि असंयमित जीवन को बिना ब्रेक की गाड़ी कहा है। जब तक इन भोगों की इच्छाओं पर ब्रेक नहीं लगेगा, तब तक जीवन में अहिंसा व्रत का प्रारम्भ भी नहीं होगा; अतः सुखी होने के लिए अपनी और पर की दया का पालन अवश्य करना चाहिए। इन्द्रिय और विषय-कषाय के निग्रह से जीवन जीने की कला का उद्घाटन होता है। जिस प्रकार चन्दन के बाग की महक, खुशबु और शान्तिदायक होती है; उसी प्रकार व्रतरूपी उद्यान से स्वयं का जीवन, सुख और शान्तिमय तो होता ही है, उसकी महक से परिवार, कुटुम्ब, समाज, देश और समस्त विश्व भी लाभान्वित होता है।

''यद्यपि मोक्ष-प्राप्ति का साक्षात् मार्ग मुनिधर्म ही है किन्तु जो व्यक्ति, मुनिधर्म को स्वीकार करने में असमर्थ होते हुए भी उसे जीवन-व्रत बनाने में अनुराग रखते हैं, वे गृहस्थ-धर्म के अधिकारी माने गये हैं। मुनि-धर्म उत्सर्ग मार्ग है और गृहस्थ-धर्म अपवाद मार्ग है। तात्पर्य यह है कि गृहस्थ-धर्म से भी आंशिक आत्म-शुद्धि और स्वावलम्बन की शिक्षा मिलती है; इसलिए यह भी मोक्ष का मार्ग माना गया है।

जो मुनि-धर्म या गृहस्थ-धर्म को स्वीकार करता है, उसको पाँच परमेष्ठी और जिनदेव द्वारा प्रतिपादित शास्त्र में अवश्य श्रद्धा होती है। वह अन्य किसी को मोक्ष-प्राप्ति में साधक नहीं मानता, इसलिए आत्म-शुद्धि की दृष्टि से इनके सिवा अन्य किसी की वन्दना और स्तुति आदि नहीं करता तथा उन स्थानों को आयतन भी नहीं मानता, जहाँ न तो मोक्षमार्ग की शिक्षा मिलती है और न मोक्षमार्ग के उपयुक्त साधन ही उपलब्ध होते हैं।

यद्यपि लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए दूसरे का आदर-सत्कार करना अन्य बात है। वह जानता है कि शरीर मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिए शरीर, उसकी सुन्दरता और उसके बल का अहंकार नहीं करता। धन, ऐश्वर्य, कुल और जाति – ये या तो माता-पिता के निमित्त से प्राप्त होते हैं या प्रयत्न से प्राप्त होते हैं; अतः ये आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकते, इसलिए वह इनका अहंकार नहीं करता। ज्ञान और तप – ये समीचीन भी होते हैं और असमीचीन भी होते हैं। जिसे आत्मदृष्टि प्राप्त होती है, उसके ये कभी असमीचीन हो ही नहीं सकते, इसलिए वह इन्हें मोक्षमार्ग का प्रयोजक जान कर, इनका भी अहंकार नहीं करता। धर्म तो आत्मा का निज स्वरूप है – यह वह जानता है, इसलिए अपनी खोयी हुई निधि को प्राप्त करने के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहता है।''[1]

जैनदर्शन के अनुसार विचार करें तो श्रावकाचार निरूपण के भी पूर्व चूंकि श्रावक को सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करना अनिवार्य है, अतः संक्षेप में सम्यग्दर्शन के महत्त्व और स्वरूप का विचार करते हैं –

श्रावकाचार की भूमिका से पूर्व सम्यक्त्व का महत्त्व

सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल कहा गया है।[2] सर्वत्र मोक्षमार्ग, रत्नत्रय, धर्म, षोडश कारण भावना, आराधना श्रावकाचार, साध्वाचार, ग्यारह प्रतिमा, आदि में सम्यग्दर्शन को ही प्रधानरूप से माना गया है। जहाँ मोक्षमार्ग या रत्नत्रय में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन को रत्न माना है, उत्तमक्षमा आदि दश धर्मों में उत्तम शब्द ही सम्यग्दर्शन का प्रतीक है, षोडश कारण भावना में पहली भावना दर्शनविशुद्धि है, चतर्विध आराधनाओं मे प्रथम दर्शनाराधना है, श्रावकाचार में श्रावक का पहला गुण श्रद्धावान माना है, साध्वाचारों में पंचाचारों के अन्तर्गत दर्शनाचार है, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में पहली दर्शनप्रतिमा को माना गया है।

सम्यग्दर्शन की महिमा बताते हुए मूलाचार प्रदीप में कहा है कि ''सम्यग्दर्शन का सर्वोत्कृष्ट महत्त्व समझ कर, सुख चाहने वाले पुरुषों को अपने समस्त प्रयत्नों के साथ तीनों लोकों में स्तुति करने योग्य

सम्यग्दर्शन की विशुद्धता को धारण करना चाहिए। यह सम्यग्दर्शन, समस्त गुणों का निधान है, मोक्ष की प्रथम सीढ़ी है, पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुठार के समान है, पुण्य बढ़ाने के लिए तीर्थ है, सब में प्रधान है, कुगतिरूपी घर को बन्द करने के लिए कपाट के समान है, धर्म का मूल है, और सुख का समुद्र है; इसलिए पुण्यवान् पुरुषों को परम यत्न से इस सम्यग्दर्शन को शुद्धतापूर्वक धारण करना चाहिए। यह सम्यग्दर्शन तीनों लोकों में पूज्य है, अनन्त सुख देने वाला है, स्वर्ग मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है, समस्त अनर्थों को दूर करने वाला है, मोक्षरूप परम पुरुषार्थ को देने वाला है, पापरूप शत्रु को नाश करने वाला है, सद्धर्मरूपी अमृत का समुद्र है, और समस्त उपमाओं से रहित है।''[3]

सम्यग्दर्शन की महिमा बताते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं – **न हि सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि**[4] अर्थात् तीन काल और तीन लोक में भव्यजीवों को सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई भी कल्याण करने वाला नहीं है। जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, वही वास्तव में शुद्ध है क्योंकि दर्शन-शुद्ध को ही निर्वाण प्राप्त होता है; जो दर्शन से रहित हैं, वे इष्टलाभ प्राप्त नहीं करते हैं।[5] यह सम्यग्दर्शन, सर्व दुःखों का नाश करने वाला है, अतः इसमें प्रमादी मत बनो।[6] क्योंकि सम्यक्त्व का आचरण करने वाले धीर पुरुष, संख्यात व असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा करते हैं।[7]

जिस प्रकार ताराओं में चन्द्र और पशुओं में सिंह प्रधान है; उसी प्रकार मुनि व श्रावक दोनों प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व प्रधान है।[8] सम्यग्दर्शन के बिना नियम से सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र नहीं होते हैं। रत्नत्रय में एक यह सम्यक्त्व गुण ही प्रशंसनीय है।[9] अधिक कहने से क्या लाभ है ? – जो प्रधान पुरुष, अतीत काल में सिद्ध हुए हैं, या आगे सिद्ध होंगे, वह सब सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो।[10]

जिस प्रकार भाग्यशाली मनुष्य, कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न और रसायन को प्राप्त कर मनोवांछित उत्तम सुख को प्राप्त होते हैं; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से भव्य जीवों को सर्व प्रकार के सर्वोत्कृष्ट सुख व समस्त प्रकार के भोगोपभोग प्राप्त होते हैं। सम्यग्दर्शन को यह जीव, जब प्राप्त हो जाता है, तब परम सुखी हो जाता है और जब तक उसे प्राप्त नहीं करता, तब तक दुःखी बना रहता है।[11]

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन सहित चाण्डाल को भी भस्म से ढ़की चिंगारी के समान प्रभावशाली मान कर, उसे भी गणधरादि देवों के द्वारा देव कहा गया है।[12] आचारसार में अन्य गुणों से हीन सम्यग्दृष्टि को भी सर्वमान्य माना है तथा उपमा दी है कि क्या बिना शान पर चढ़ा रत्न बिल्कुल भी शोभा को प्राप्त नहीं होता।[13] जो सम्यग्दृष्टि है – ऐसा गृहस्थ भी मोक्षमार्ग में स्थित है तथा यदि अनगार मुनि भी यदि मोह अर्थात् मिथ्यात्व से सहित है तो वह भी मोक्षमार्गी नहीं है। कहा भी है – **गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो, नैव मोहवान् अनगारो, गृही श्रेयान् निर्मोहो, मोहिनो मुनेः।** [14]

कार्तिकेयस्वामी कहते हैं कि सम्यग्दर्शन सब रत्नों में महारत्न है, सब योगों में उत्तम योग है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है, अधिक क्या कहें ? सम्यक्त्व सब सिद्धियों का देने वाला है। सम्यक्त्व गुण के कारण जीव इन्द्रों से तथा चक्रवर्तियों आदि से वन्दनीय होता है और व्रत रहित होता हुआ भी नाना प्रकार के उत्तम स्वर्गसुखों को पाता है।[15]

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी तो कहते हैं कि वे ही धन्य हैं, वे ही कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर और पण्डित हैं, तथा मनुष्य भी वे ही हैं; जिन्होंने स्वप्न में भी मुक्ति प्राप्त कराने वाले सम्यक्त्व को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया।[16]

सम्यग्दृष्टि के लिए निषिद्ध जन्मस्थान[17]

सम्यग्दृष्टि मनुष्य, चाहे अव्रती ही क्यों न हो, फिर भी वह चतुर्गति में जन्मता हुआ भी निम्न स्थानों पर जन्म नहीं लेता, परन्तु इसमें विचारणीय तथ्य यह है कि उसने आगामी आयु का बन्ध सम्यक्त्व के पूर्व किया है या सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद आयुबन्ध किया है। सर्वप्रथम यहाँ सम्यक्त्व के बाद आयुबन्ध करने वाले का विचार करते हैं –

- ज्योतिषी देव
- भवनवासी देव
- व्यन्तर देव
- वैमानिक देवों में किल्विषिक देव
- वैमानिक देवों में प्रकीर्णक देव
- वैमानिक देवों में आभियोग्य देव
- वैमानिक देवों में वाहन बनने वाले देव
- कुभोगभूमि में कुमनुष्य या कुतिर्यंच

- नरक गति
- तिर्यंच गति
- निन्दित कुल
- स्त्री पर्याय
- नपुंसक पर्याय
- विकलांगता
- कुजन्म
- अल्पायु
- दरिद्री
- कातर
- अमानवीय
- धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थ से दूर
- रोगी
- अधिक पापी
- विशेष दुःखी
- मूर्ख
- निन्दनीय भोगोपभोग सामग्री की प्राप्ति
- स्थावर एवं विकलत्रय

यदि कोई जीव, आयुबन्ध के बाद सम्यक्त्व प्राप्त करता है तो वह चारों गतियों में जन्म ले सकता है, परन्तु मनुष्य-तिर्यंच गति में भोगभूमि में जन्म लेता है। देव पर्याय में सिर्फ वैमानिक देवों में ही जन्म लेता है। यदि नरक गति का बन्ध पहले कर लिया हो तो प्रथम नरक में सम्यग्दृष्टि जा सकता है।

सम्यग्दृष्टि के लिए मोक्ष प्राप्ति के पूर्व उपयुक्त जन्मस्थान[18]

- वैमानिक देवों के इन्द्र
- प्रतीन्द्र
- अहमिन्द्र
- ऋद्धिधारी लोकपाल
- लौकान्तिक देव
- सामानिक जाति के देव
- मनुष्यों में तीर्थंकर
- बलभद्र
- चक्रवर्ती
- कामदेव
- गणधर
- ओजस्वी
- तेजस्वी
- प्रतापी
- महा विद्याओं से सुशोभित
- महा यश से सुशोभित
- जिनेन्द्रदेव के भक्त
- चतुर्विध पुरुषार्थ के साधक

सम्यग्दर्शन का स्वरूप एवं लक्षण

सम्यग्दर्शन के अनेक लक्षण जिनागम में मिलते हैं, उनसे हम उसके निश्चय-व्यवहार स्वरूप तक पहुँच सकते हैं। कहीं उसके लक्षण या स्वरूप को निश्चयनय की अपेक्षा तो कहीं व्यवहारनय की अपेक्षा निरूपित किया गया है।

जहाँ **निश्चयनय की अपेक्षा** निज शुद्धात्मा, विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वरूप निज परमात्मा, रागादि से भिन्न निज परमात्मद्रव्य, सर्व नयपक्षों से रहित समयसार, शुद्ध जीवद्रव्य या शुद्ध जीवास्तिकाय, आदि की रुचि, श्रद्धान, प्रतीति, उपलब्धि या उपादेयता आदि को सम्यग्दर्शन कहा है।[19]

वहीं **व्यवहारनय की अपेक्षा** वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु, आप्त-आगम-तपोभृत, हिंसारहित धर्म, अठारह दोषरहित देव, निर्ग्रन्थ गुरु, जिनवाणी, तत्त्वार्थ, सात तत्त्व – नौ पदार्थ – छह द्रव्य – पंचास्तिकाय, यथावस्थित पदार्थ आदि के आठ अंगसहित, तीन मूढ़तारहित, आठ मदरहित और विपरीताभिनिवेश रहित दृढ़ श्रद्धान, प्रतीति या रुचि को सम्यग्दर्शन बताया है।[20]

आचार्यों एवं मनीषियों ने उक्त **व्यवहारनय की अपेक्षा वर्णित अनेक लक्षणों का समन्वय**[21] एवं **निश्चयनय से वर्णित अनेक लक्षणों का भी समन्वय**[22] किया गया है।

इसी प्रकार यदि हम दोनों **निश्चय-व्यवहार और शुद्ध-अशुद्धनयों का समन्वय** करना चाहें तो इसके अन्तर्गत तत्त्व और अर्थ, आप्त-आगम-पदार्थरूप तत्त्वार्थ, ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता, स्व-पर आदि का भेदविज्ञानपूर्वक श्रद्धान का अन्तर्भाव किया जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द तो समयसार में भूतार्थनय से जाने हुए नव तत्त्वों को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं।[23]

व्यवहार-निश्चयनय से व्याख्यायित सम्यग्दर्शन में सराग-वीतराग सम्यग्दर्शन का भी अन्तर्भाव हो जाता है।[24] आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने तो सम्यग्दर्शन के चार लक्षण बता कर उनका परस्पर समन्वय अत्यन्त विस्तार के साथ किया है, जो मूलतः पठनीय है।[25] उन्होंने सम्यग्दर्शन के चार लक्षण बताये हैं – 1. देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान 2. तत्त्वार्थश्रद्धान 3. स्व-पर श्रद्धान 4. आत्मश्रद्धान। उन्होंने एक लक्षण में शेष तीन लक्षणों का किस प्रकार समावेश होता है ? इसका अत्यन्त मौलिक विश्लेषण किया है और विशेषरूप से तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण को अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भव, त्रिदोष परिहार करके स्थापित किया है। इस लक्षण में निश्चय-व्यवहार, दोनों नयों का समावेश भी हो जाता है। उनके कुछ वाक्यांश ध्यान देने योग्य हैं –

- पर से भिन्न अपना श्रद्धान होता है सो आस्रवादिक के श्रद्धान से रहित होता है या सहित।[26]
- जिसके सच्चा आपापर का श्रद्धान व आत्मा का श्रद्धान हो, उसके सातों तत्त्वों का श्रद्धान होता ही होता है तथा जिसके सच्चा सात तत्त्वों का श्रद्धान हो, उसके आपापर का व आत्मा का श्रद्धान होता ही होता है – ऐसा परस्पर अविनाभाविपना है।[27]
- जिसके तत्त्वार्थश्रद्धान हो, उसके सच्चे अरहन्तादिक स्वरूप का श्रद्धान होता ही होता है।[28]
- सप्त तत्त्वों के श्रद्धान में अरहन्तादिक का श्रद्धान गर्भित है।[29]
- सच्ची दृष्टि से एक लक्षण ग्रहण करने पर चारों लक्षणों का ग्रहण होता है।[30]
- तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में जीव-अजीवादिक का व आस्रवादिक का श्रद्धान होता है।[31]
- तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में देवादिक का श्रद्धान व आपापर का श्रद्धान व आत्मश्रद्धान गर्भित होता है।[32]

सम्यग्दर्शन के भेद प्रभेद

जिनागम में सम्यग्दर्शन के अनेक प्रकार से अनेक भेद किये गये हैं – सामान्य से सम्यग्दर्शन एक ही है, उसके कोई भेद नहीं हैं।[33] दो प्रकार से भेद करने पर अनेक भेद हो जाते हैं – निसर्गज और अधिगमज, सराग और वीतराग, निश्चय और व्यवहार, इत्यादि।[34] तीन प्रकार से भेद करने पर औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक।[35] राजवार्तिक, दर्शनपाहुड़ आत्मानुशासन आदि में आज्ञा आदि कारणों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के दश भेद बताये हैं – आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़।[36] यह सम्यग्दर्शन, शब्दों की अपेक्षा संख्यात प्रकार का, उसके धारक जीवों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन असंख्यात प्रकार का, और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों व अध्यवसायों की अपेक्षा अनन्त प्रकार सम्भव है।[37]

संक्षेप में सम्यग्दर्शन के उक्त भेदों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है –

- **सामान्य सम्यग्दर्शन** – सामान्य से भेद नहीं करने पर तत्त्वार्थश्रद्धान की अपेक्षा और सम्यग्दृष्टि सामान्य की अपेक्षा सम्यग्दर्शन एक ही है, वही **सामान्य सम्यग्दर्शन** है।[38]
- **निसर्गज सम्यग्दर्शन** – जो सम्यग्दर्शन, तात्कालिक परोपदेश के बिना उत्पन्न होता है, उसे **निसर्गज सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **अधिगमज सम्यग्दर्शन** – जो सम्यग्दर्शन, केवली, श्रुतकेवली, आदि ज्ञानी महापुरुषों के उपदेश के निमित्त से उत्पन्न होता है, उसे **अधिगमज सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **सराग सम्यग्दर्शन** – जो सम्यग्दर्शन, सराग अवस्था में रहता है, उसे **सराग सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **वीतराग सम्यग्दर्शन** – जो सम्यग्दर्शन, वीतराग अवस्था में रहता है, उसे **वीतराग सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **निश्चय सम्यग्दर्शन** – जो सम्यग्दर्शन, निश्चयनय के विषयभूत आत्मा के श्रद्धानरूप है, उसे **निश्चय सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **व्यवहार सम्यग्दर्शन** – जो सम्यग्दर्शन, व्यवहारनय के विषयभूत देव-शास्त्र-गुरु, तत्त्वार्थ, स्व-पर आदि के श्रद्धानरूप होता है, उसे **व्यवहार सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **औपशमिक सम्यग्दर्शन** – जो सम्यग्दर्शन, दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषायों के उपशम के निमित्त से उत्पन्न होता है, उसे **उपशम सम्यग्दर्शन** कहते हैं।

- **क्षायिक सम्यग्दर्शन** – जो सम्यग्दर्शन, दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषायों के क्षय के निमित्त से उत्पन्न होता है, उसे **क्षायिक सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन** – जो सम्यग्दर्शन, दर्शनमोहनीय के भेदरूप मिथ्यात्व एवं सम्यक्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के क्षयोपशम एवं देशघाति सम्यक्प्रकृति के उदय के निमित्त से उत्पन्न होता है, उसे **क्षयोपशम सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **आज्ञा सम्यग्दर्शन** – जो तत्त्वार्थश्रद्धान, दर्शनमोह के अभाव में ग्रन्थश्रवण के बिना केवल वीतराग अर्हन्त भगवान की आज्ञा से उत्पन्न होता है, उसे **आज्ञा सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **मार्ग सम्यग्दर्शन** – जो तत्त्वार्थश्रद्धान, दर्शनमोह के अभाव में ग्रन्थश्रवण के बिना केवल कल्याणकारी मोक्षमार्ग के उपदेश के श्रवण से उत्पन्न होता है, उसे **मार्ग सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **उपदेश सम्यग्दर्शन** – जो तत्त्वार्थश्रद्धान, त्रेसठ शलाका पुरुषों के पुराणों के उपदेश से उत्पन्न होता है, उसे **उपदेश सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **सूत्र सम्यग्दर्शन** – जो तत्त्वार्थश्रद्धान, मुनि के चारित्रानुष्ठान के सूचक आचारसूत्र को सुन कर उत्पन्न होता है, उसे **सूत्र सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **बीज सम्यग्दर्शन** – जो तत्त्वार्थश्रद्धान, बीजपदों के माध्यम से जीवादि पदार्थों एवं गणितादि विषयों के ज्ञान से उत्पन्न होता है, उसे **बीज सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **संक्षेप सम्यग्दर्शन** – जो तत्त्वार्थश्रद्धान, जीवादि पदार्थों के संक्षिप्त कथन से उत्पन्न होता है, उसे **संक्षेप सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **विस्तार सम्यग्दर्शन** – जो तत्त्वार्थश्रद्धान, अंगपूर्व के विषयों, प्रमाण-नय आदि के विस्तार कथन से उत्पन्न होता है, उसे **विस्तार सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **अर्थ सम्यग्दर्शन** – जो तत्त्वार्थश्रद्धान, अंग-बाह्य आगमों के वचन-विस्तार को पढ़े बिना केवल अर्थग्रहण से उत्पन्न होता है, उसे **अर्थ सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **अवगाढ़ सम्यग्दर्शन** – जो तत्त्वार्थश्रद्धान, द्वादशांग एवं अंगबाह्य श्रुत का अवगाहन करके उत्पन्न होता है, उसे **अवगाढ़ सम्यग्दर्शन** कहते हैं।
- **परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन** – जो तत्त्वार्थश्रद्धान, परमावधि अथवा केवलज्ञान से प्रकाशित जीवादि पदार्थों के प्रकाश से उत्पन्न होता है, उसे **परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन** कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि की पहचान

यद्यपि कर्म-सिद्धान्त की परिभाषा के अनुसार सम्यग्दर्शन, दर्शनमोह के उपशम-क्षय-क्षयोपशम से उत्पन्न होता है तथा उन कर्म की प्रकृतियों को प्रत्यक्षज्ञान का विषय बनाना, परमावधिज्ञान अथवा केवलज्ञान के द्वारा ही सम्भव होता है, इसलिए बिना उन प्रकृतियों के उपशम-क्षय-क्षयोपशम को जाने यह कह पाना सम्भव नहीं है कि कोई जीव सम्यग्दृष्टि है या नहीं; तथापि सम्यग्दृष्टि की बाह्य पहचान हेतु आगम में कुछ लक्षण बताये हैं, जिनसे अनुमान किया जा सकता है कि कोई जीव सम्यग्दृष्टि कैसे अनुमानित होता है? जैसे, सामान्यतः यथार्थ तत्त्वार्थश्रद्धान से सम्यग्दर्शन का अनुमान किया जा सकता है, जो कि सामान्य गृहस्थ श्रावक से लेकर सिद्ध तक के जीवों को समान होता है।

इसी प्रकार सराग सम्यग्दृष्टि के कुछ बाह्य चिह्न – प्रशम, संवेग, अनुप्रेक्षा और आम्नाय बताये हैं, जिनसे सम्यग्दृष्टि को जाना जा सकता है। जबकि वीतराग सम्यग्दृष्टि को चित्त-विशुद्धि के द्वारा जाना जा सकता है। पूर्ण वीतराग सम्यग्दृष्टि को होने वाली चित्त-विशुद्धि तो मात्र स्वसंवेदनगम्य ही होती है। प्रशमादि गुण, अपनी आत्मा में तो स्वसंवेदनगम्य हैं तथा दूसरों की आत्मा में काय व वचन-व्यवहार के माध्यम से गम्य होते हैं। ध्यान रहे कि जैसे प्रशमादि गुण, सम्यग्दृष्टि में पाये जाते हैं, वैसे मिथ्यादृष्टि में सम्भव नहीं होते। य़द्यपि प्रशमादि गुण, सम्यक्त्व के ही कार्य हैं, तथापि वे सम्यग्ज्ञान के भी ज्ञापक हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ ही उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, श्रावकधर्म और मुनिधर्म दोनों का आधारभूत परिणाम है।

श्रावकाचार मीमांसा

श्रावक का स्वरूप निम्न प्रकार से व्यक्त किया गया हैं –

1. विवेकवान विरक्त-चित्त अणुव्रती गृहस्थ को **श्रावक** कहते हैं – यह पंचम गुणस्थानवर्ती होता है।[39]
2. **श्रावक** का स्वरूप बताते हुए पण्डित सदासुखदासजी[40] कहते हैं – जो स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि परिग्रह सहित घर में निवास करते हैं, जिन-वचनों के श्रद्धानी हैं, न्यायमार्ग का उल्लंघन नहीं करते हैं, पापों से भयभीत हैं; वे गृहस्थ **श्रावक** हैं।
3. सागार धर्मामृत[41] में कहा है कि जो श्रद्धापूर्वक गुरु आदि से धर्म-श्रवण करता है, वह **श्रावक** है और जो पंच परमेष्ठी की भक्ति करने वाला, दान-पूजन करने वाला भेदज्ञानरूपी अमृत को पीने का इच्छुक तथा मूलगुणों और उत्तरगुणों को पालन करने वाला है, वह व्यक्ति **श्रावक** कहलाता है।
4. डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य[42] के अनुसार **श्रावक** शब्द, श्र, व और क – इन तीन वर्णों के संयोग से बना है, इन तीन वर्णों के क्रमशः तीन अर्थ हैं – श्रद्धालु, विवेकी और क्रियावान। जिनमें इन तीन गुणों का समावेश पाया जाता है, वह **श्रावक** है।
5. व्रतधारी गृहस्थ को **श्रावक**, उपासक और सागार आदि नामों से अभिहित किया जाता है। यह श्रद्धापूर्वक अपने गुरुजनों अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनियों के प्रवचनों का श्रवण करता है, अतः यह श्राद्ध अर्थात् श्रद्धान करने वाला या **श्रावक** कहलाता है।
6. जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से इष्ट स्त्री आदि विषयों को न सेवने योग्य जानते हुए भी जो प्रत्याख्यानावरण नामक चारित्रमोह के तीव्र उदय के कारण त्यागने में असमर्थ हैं, उन्हें धर्माचार्य गृहस्थ धर्म पालने की अनुज्ञा देते हैं।[43].....विशेष यह है कि जो अनन्तानुबन्धी कषाय से परतन्त्र होते हैं, वे तो विषयों को सेवनीय ही मानते हैं, वे तो मिथ्यादृष्टि होते हैं; उनकी यहाँ बात नहीं है। जो उस (मिथ्यात्व) से छूट कर यह तो दृढ़ आस्था रखते हैं कि ये सेवनीय नहीं हैं, किन्तु उन्हें छोड़ने में असमर्थ होते हैं; अतः वे यह नियम करते हैं कि मैं एकदेश विरति को अर्थात् श्रावक के आचार को पालूँगा, तब आचार्य उन्हें उसकी अनुज्ञा देते हैं।[44]

श्रावक के तीन भेद

1. चारित्रसार[45] के अनुसार श्रावक के योग्य कार्यों के तीन भेद हैं – 1. पक्ष, 2. चर्या और 3. साधकपना।
2. श्रावक के आचार का वर्गीकरण करने में प्रमुख तीन अपेक्षाओं से विचार किया जाता है – **अ.** द्वादश व्रत, **ब.** एकादश प्रतिमाएँ, एवं **स.** पक्ष, चर्या और साधन।[46]
3. पंचाध्यायी[47] में श्रावक के तीन भेद आते हैं – 1. पाक्षिक, 2. गूढ और 3. नैष्ठिक अथवा साधक।
4. सागार धर्मामृत के अनुसार तीन भेद हैं – 1. पाक्षिक, 2. नैष्ठिक और 3. साधक।[48]

पक्ष, चर्या और साधन एवं तदनुसार पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक श्रावक का स्वरूप बताते हुए पण्डित आशाधरजी लिखते हैं –

''मैं धर्म के लिए, देवता के लिए, मन्त्रसिद्धि के लिए, औषध के लिए और आहार के लिए प्राणिघात नहीं करूँगा – ऐसी प्रतिज्ञा करके मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना से वृद्धि को प्राप्त असत्य आदि से सहित हिंसा को त्यागना पक्ष है। पक्ष संस्कार के बाद प्रतिदिन वैराग्य परिणाम बढ़ने पर कृषि आदि में लगे हुए हिंसा आदि दोषों का शास्त्रोक्त विधान के द्वारा शोधन करके और पुत्र पर अपने धन, परिवार, और धर्मायतनों का भार सौंप कर, घर छोड़ना, चर्या है। पुनः लगे हुए दोषों को प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्ध करके अन्त में आहार, शरीर चेष्टा और शरीर का परित्याग करके निर्मल ध्यान के द्वारा आत्मा की शुद्धि करना साधन है।.....

.....जो एकदेश हिंसा-विरतिरूप श्रावक धर्म का पक्ष लेता है अर्थात् उसका पालन करना स्वीकार करता है, वह पाक्षिक श्रावक है। जो उसमें निष्ठा रखता है अर्थात् निरतिचार श्रावक धर्म का निष्ठापूर्वक निर्वाह करता है, वह नैष्ठिक श्रावक है। तथा जो अपने में समाधि लगाता है अर्थात् समाधिपूर्वक मरण साधता है, वह साधक है। विशेष यह है कि पहला भेद देशसंयम की प्रारम्भिक अवस्था को बतलाता है, दूसरा भेद उसकी मध्यम अवस्था को बतलाता है और तीसरा भेद उसकी पूर्ण दशा को बतलाता है।''[49]

पाक्षिक श्रावक

जो सम्यग्दृष्टि होता हुआ सर्व प्रथम मद्य, माँस, मधु और पंच उदुम्बर फलों का त्याग करता है तथा अपनी शक्ति और सामर्थ्य को नहीं छिपाते हुए पाँच पाप का स्थूल त्याग करने का अभ्यास करता है, वह **पाक्षिक श्रावक** है क्योंकि गृहस्थपने में हिंसा का निवारण करना असम्भव होने पर भी अहिंसारूप परिणाम रखना ही पक्ष है। इस प्रकार हम कह सकते हैं –

1. जिनागम की आज्ञा का श्रद्धान करते हुए हिंसा को छोड़ने के लिए उद्यत देशसंयम की ओर उन्मुख गृहस्थ को **पाक्षिक श्रावक** कहा गया है।
2. **पाक्षिक श्रावक** को मद्य, माँस, मधु एवं पाँच उदुम्बर फलों तथा अन्य अभक्ष्य पदार्थों के साथ-साथ स्थूलरूप से पाँच पापों का त्याग भी अवश्य करना चाहिए।
3. कृष्ण, नील और कापोत – इन लेश्याओं में से किसी एक के वेग से किसी समय इन्द्रिय के विषय में उत्कण्ठित मन वाला तथा किसी मूलगुण के विषय में अतिचार लगाने वाला गृहस्थ **पाक्षिक श्रावक** कहलाता है।[50]
4. यह श्रावक अष्ट मूलगुणों का धारी और सप्त व्यसन का त्यागी होता है।

अष्ट मूलगुणों को निश्चय-व्यवहारनय की भाषा में इस प्रकार कहा है –

निश्चय से तो समस्त परपदार्थों से दृष्टि हटा कर अपनी आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और लीनता ही मुमुक्षु श्रावक के मूलगुण हैं तथा व्यवहार से मद्य-त्याग, माँस-त्याग, मधु-त्याग और पाँच उदुम्बर फलों के त्याग को अष्ट मूलगुण कहा है।

अष्ट मूलगुणों के सम्बन्ध में प्राप्त आगम-सम्मत विभिन्न मत[52]

अष्ट मूलगुणों के सम्बन्ध में आगम में अनेक मन्तव्य प्राप्त होते हैं, जिनका उल्लेख पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, सागार धर्मामृत के श्लोक 3 के विशेषार्थ में इस प्रकार करते हैं –

1. आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य उमास्वामी ने अपने श्रावकाचार के वर्णन में मूलगुणों का कोई निर्देश नहीं किया है।
2. श्वेताम्बर साहित्य में भी श्रावकाचार के मूलगुणों की कोई चर्चा नहीं है।
3. सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्रावक के आठ मूलगुण कहे हैं, वे हैं – मद्य-माँस-मधु के त्याग के साथ पाँच अणुव्रतों का पालन।[53]
4. इन्हीं अष्ट मूलगुणों में मधु के स्थान पर जुआ का त्याग कर, मद्य-माँस और द्यूत तथा स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और स्थूल परिग्रह का त्याग – ये अष्ट मूलगुण, चारित्रसार के निम्न श्लोक में उद्धृत हैं –

   हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
   द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहीणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः।।[54]
5. महापुराण में तो व्रतावतरण क्रिया में मधु-मांस के त्याग तथा पंच उदुम्बर फलों के त्याग और हिंसादि विरति को सार्वकालिक व्रत कहा है। मूलगुण का भी नाम नहीं है। न मधु के स्थान पर जुए का ही त्याग कराया है। आगे जो पाँच अणुव्रतों के स्थान पर पाँच उदुम्बर फलों के त्याग को अष्ट मूलगुणों में लिया गया, उसका प्रारम्भ महापुराण से ही हुआ प्रतीत होता है।[55]
6. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में हिंसा के त्यागी को मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों को छोड़ने का विधान है, किन्तु उन्हें मूलगुण शब्द से नहीं कहा है।
7. सबसे पहले पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में ही इन आठों में होने वाली हिंसा का स्पष्ट कथन मिलता है और इन्हें अनिष्ट, दुस्तर और पाप के घर कहा है तथा यह भी कहा है कि इन आठों का त्याग करने पर ही शुद्ध-बुद्धि जीव, जिनधर्म की देशना का पात्र होते हैं।
8. इसके बाद आचार्य सोमदेव ने अपने उपासकाचार में और आचार्य पद्मनन्दि ने पंचविंशतिका में स्पष्टरूप से इन आठों के त्याग को मूलगुण कहा है और उन्हीं का अनुसरण पण्डित आशाधरजी ने किया है।

9. आचार्य अमितगति ने जो आचार्य सोमदेव और पद्मनन्दि के मध्य में हुए हैं, उन्होंने अपने श्रावकाचार में इनके साथ रात्रि-भोजन का त्याग आवश्यक माना है, किन्तु उसे मूलगुण शब्द से नहीं कहा है।
10. देवसेन के भावसंग्रह में भी अष्ट मूलगुण का निर्देश है।[56]
11. शिवकोटि की रत्नमाला में एक विशेषता है कि उसमें मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ पाँच अणुव्रतों को अष्ट मूलगुण कहा है तथा पाँच उदुम्बरों के त्यागवाले अष्ट मूलगुणों को बालकों के कहा है।
12. पण्डित आशाधर के उत्तरकालीन विद्वान् मेधावी ने अपने श्रावकाचार में मद्यादि तीन तथा पाँच उदुम्बर फलों के सातिचार त्याग को अष्ट मूलगुण कहा है।
13. पण्डित राजमल्ल ने अपने पंचाध्यायी के उत्तरार्द्ध में आठ मूलगुणों का विशेष कथन इस प्रकार किया है कि व्रतधारी गृहस्थों के आठ मूलगुण होते हैं। कहीं-कहीं ये अव्रतियों के भी होते हैं क्योंकि ये सर्व साधारण हैं। ये आठ मूलगुण, स्वभाव से या कुलपरम्परा से चले आते हैं। इनके बिना न सम्यक्त्व होता है और न व्रत। इनके बिना जब जीव नाम से भी श्रावक नहीं हो सकता; तब पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक की तो बात ही क्या है? जिसने मद्य, मांस और मधु का और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग कर दिया है, वही नाम का जैन श्रावक है तथा त्याग न करने पर वह नाम का भी श्रावक नहीं है।

इस तरह विविध श्रावकाचारों में अष्ट मूलगुणों के सम्बन्ध में विवेचन मिलता है।

सप्त व्यसन-त्याग[57]

आगम में व्यसन की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है – **व्यस्यति प्रत्यावर्तयति पुरुषान् श्रेयसः इति व्यसनः।** अर्थात् जो मनुष्य को आत्मकल्याण से विमुख कर देवे, वह व्यसन है।[58]

गृहस्थ के करने योग्य कार्यों में इस लोक के कार्य – अपने कुल के योग्य न्यायरूप षट्कर्मों द्वारा आजीविका करना, खान-पान, आदि से शरीर को संस्कारित करना; जैसे, कपड़े व आभूषण आदि पहनना, इत्यादि और परलोक का कार्य – धर्मरूप प्रवर्तन करना। ये दो कार्य ही करने योग्य हैं। इनके सिवाय अन्य प्रवृत्तियाँ व्यसन हैं।

व्यसन, घोर महापाप का बन्ध कराने वाले हैं। इन व्यसनों में उलझना सहज है, परन्तु उनसे छूट कर सुलझना कठिन है; अतः इन व्यसनों को दूर से ही छोड़ देना चाहिए। जिसने व्यसनों का त्याग कर दिया है, उसने अपनी समस्त दुःख अकीर्ति नरकादि कुगतिगमनरूप सभी आपत्तियाँ दूर कर ली हैं।

वर्तमान सन्दर्भ में व्यसन-त्याग की उपयोगिता को व्याख्यायित करते हुए पण्डित रतनचन्द भारिल्ल लिखते हैं कि ''आजकल सभ्य कहे जाने वाले पढ़े लिखे ऑफिसर और श्रीमन्त मनोरंजन के नाम पर क्लबों में जाने, वहाँ के नवयुवक माँस-मदिरा सेवन करने, और रमी आदि जुआ खेलने में अपनी शान समझते हैं। इन व्यसनों की भयंकर बीमारी का यहीं से श्रीगणेश होता है, शुरुआत होती है; अतः इस वातावरण से भी बचे रहने में ही हमारा हित है।''[59]

सप्त व्यसन-त्याग से सम्बन्धित अतिचारों का वर्णन करते हुए इनसे सम्बन्धित अन्य विषयों (उपव्यसनों)[60] का भी सागार धर्मामृत आदि ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन किया गया है।[61]

व्यसन के सात प्रकार माने गये हैं – 1. जुआ खेलना, 2. माँस-भक्षण करना, 3. मद्य-पान करना, 4. वेश्या-सेवन करना, 5. शिकार खेलना, 6. चोरी करना, 7. परस्त्री-सेवन करना।[62] कहा भी है –

जूआ-खेलन, मांस, मद, वेश्या-विसन, शिकार।
चोरी, पर-रमनी-रमन, सातौं पाप निवार।।[63]

सप्त व्यसनों के सेवन में जो उदाहरण आगम में प्राप्त होते हैं, उनका उल्लेख उमास्वामी श्रावकाचार में इस प्रकार किया गया है –

''जो मनुष्य, आधे क्षण के लिए भी अपने चित्त में द्यूत को स्थान देता है, अर्थात् जुआ खेलने का भाव करता है, वह दुष्ट हृदय पुरुष, **युधिष्ठिर के समान** आपत्ति को प्राप्त होता है। माँस खाने से बक राजा नष्ट हुआ। मदिरा पान करने से यादव नष्ट हुए। वेश्यासेवन से चारुदत्त और शिकार खेलने से ब्रह्मदत्त

चक्रवर्ती नष्ट हुआ। चोरी करने से शिवभूति और परस्त्री से रावण मारा गया। ये सब एक एक व्यसन के सेवन से नष्ट हुए, फिर जो पुरुष, सभी व्यसन करेंगे, उनकी क्या दुर्दशा न होगी?''[64]

इस सन्दर्भ में ध्यानाकर्षित करते हुए आचार्य पद्मनन्दि यह भी कहते हैं कि **'न परमियन्ति भवन्ति व्यसनान्यपराण्यपि प्रभूतानि'**[65] अर्थात् व्यसनों की संख्या केवल इतनी ही नहीं है, अपितु इनके अलावा भी बहुत हैं क्योंकि क्षुद्रबुद्धि पुरुष, समीचीन मार्ग को छोड़ कर, अनेक कुत्सित मार्गों में प्रवृत्त हुआ करते हैं।

1. जुआ व्यसन-त्याग

- अनर्थदण्डों में महा अनर्थ करने वाला जुआ है। जुआ समस्त व्यसनों में प्रधान है, समस्त पापों का संकेत स्थान है, महान आपदा का कारण है, समस्त अनीतियों में महा अनीति है, जुआरी के परिणाम ही महादुष्ट होते हैं, वह अपना सब घर-सम्पत्ति हार कर भी दूसरे का धन जीतना चाहता है। जुआरी के परिणामों में लोभ कषाय की तीव्रता होने से महाहिंसा होती है।
- जुआरी के परिणाम अत्यन्त निर्दयी होते हैं। यदि जुआ में धन हार जाता है तो चोरी करता है, धन के लिए लोगों को मार डालता है। जुआरियों में आपस में बहुत झगड़ा होता है, मारपीट होती है, मायाचारी तो रहती ही है। जिनसे बहुत प्रेम होता है, उनसे भी बहुत कपट करके अनेक प्रकार से छल करके धन लेना ही चाहता है। जुआरी अपनी स्त्री को भी जुआ में दाँव पर लगा देता है, पुत्र-पुत्री को भी दाँव पर लगा देता है, हारने के बाद उन्हें जुआरियों को दे देता है।
- जुआरी, दरिद्री व्यसनी को भी अपनी पुत्री ब्याह देता है, जुआ में अपने रहने का मकान भी बेच देता है या दाँव पर लगा देता है। लाखों के धन का धनी एक क्षण भर में अपना समस्त धन हार कर दरिद्री हो जाता है तथा महान आर्तध्यान-रौद्रध्यान से मर कर दुर्गति में भ्रमण करता है। यदि जुए में धन जीत कर लाता हैदल तो अभिमान पैदा हो जाता है, उसका धन कुमार्ग में ही खर्च होता है। महा रौद्रध्यान के प्रभाव से मर कर महा कुयोनि पाकर संसार में भटकता रहता है।
- जुआरी, मद्यपान भंगपान आदि भी करता है, वेश्याओं में आसक्त हो जाता है। उसका धन सुमार्ग में नहीं लगता है, उससे न्यायरूप कोई आजीविका नहीं की जा सकती है। जुआरी का कोई विश्वास नहीं करता है, उसे कोई उधार नहीं देता है। जुआरी कभी सत्यवचन नहीं बोलता है, जुआरी के शुभभाव नहीं होते हैं। अपने पूर्वोपार्जित कर्म के द्वारा दिये गये न्याय के धन में कभी सन्तोष नहीं करता है। एकान्त में किसी को भी अकेला पाकर उसे मार कर, धन छीन कर ले जाता है; अपना कोई खास निकट का रिश्तेदार या भाई हो, उसे भी एकान्त में मार कर जेवर आदि ले जाता है।
- जुआरी का विश्वास तो कोई मूर्ख भी नहीं करता है। वह दूसरे के धन की अति तीव्र तृष्णा के वश होकर कुदेवों की बोली भी बोलता है, मिथ्या धर्म का सेवन भी करता है; सन्तोष, शील, निराकुलता को जलांजलि दे देता है। अतिलोभ के परिणाम से बुद्धि विपरीत हो जाती है। उसमें परमार्थ का ज्ञान नहीं होता है। धर्म का विश्वास उसे स्वप्न में भी नहीं होता है।
- समस्त पापों का मूल कारण जुआ है – ऐसा जान कर उसका दूर से ही त्याग कर दो। जुआरी की बुद्धि करोड़ों उपाय करने पर भी विपरीतता नहीं छोड़ती है। वह परलोक में दुर्गति ही पाता है। जुआरी तो तीव्र लोभ से अपने आत्मा का ही घात करता है।
- कितने ही अज्ञानी जुआ में धन की हार-जीत तो नहीं करते हैं, परन्तु मनुष्य जन्म को व्यर्थ ही व्यतीत करने की इच्छा से धन से तो जुआ नहीं खेलते; खेल के लिए चौपड़, शतरंज, गंजफा इत्यादि अनेक मूर्खता के कार्य करते हैं। इन खेलों में हार-जीत में भी राग-द्वेष की बड़ी तीव्रता होती है, हर्ष-विषाद बहुत होता है, कपट बहुत करते हैं, पिता-पुत्र भी आपस में विसंवाद, कलह करने लग जाते हैं। यह एक ऐसी अविद्या है कि जो इस खेल में आसक्त हो जाता है, उसका इस लोक सम्बन्धी नौकरी, व्यापार, लिखना-पढ़ना, आदि सभी कार्य बिगड़ जाने पर भी वह इसे छोड़ नहीं सकता है। जो जुआ खेलता है, वह कोई धन्धा-व्यापार नहीं कर सकता है, इससे दरिद्रता निकट आती जाती है।
- जुआ वगैरह के त्याग करने वाले श्रावक को मनोविनोद के लिए भी परस्पर में स्पर्धा से दौड़ना आदि भी दोष है क्योंकि हारने पर क्रोध उत्पन्न होता है और जीतने पर प्रसन्नता होती है अर्थात् मन के बहलाव के लिए भी ऐसा करना बुरा है।

- कितने ही दूसरों को खेलता देख कर रास्ते में ही खड़ा हो जाते हैं, बैठने को जगह न हो तो भी आप खड़े-खड़े ही देखता रहता है। यह एक ऐसा व्यसन है कि खाना-पीना, लेना-देना सब छोड़ कर खड़े रह कर देखता रहता है। बहुत क्या कहें ? – अपना सब कार्य बिगड़ जाए तथा माता-पिता आदि का मरण हो जाए तो भी इस खेल में से उठा नहीं जाता है – ऐसे तीव्र परिणामों से नरक-तिर्यंच का बन्ध ही होता है; जिसमें कुछ भी धन नहीं आता है, किन्तु विसंवाद ही होता है – ऐसे जुआ आदि में आसक्त होने से धन की हार-जीत होने वाले जुआ से भी अधिक पाप का बन्ध होता है।
- जिसमें धन की हार-जीत होती है, उसमें तो थोड़ी ही देर खेलता है, किन्तु इन बिना धन की हार-जीत वाले खेलों में तो इसका परिणाम हमेशा ही फँसा रहता है। जो इस खेल के व्यसन में लग जाता है, उसे धर्म का नाम भी अच्छा नहीं लगता है, उसकी बुद्धि विपरीत होकर पापक्रिया में, अन्याय में, असत्य में, विकथा में ही लगती है।
- देखो! यह मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, नीरोग शरीर, उत्तम धर्म – ये अनन्त काल में भी नहीं पाये थे, सो अब इन सबका संयोग एक साथ यहाँ तुम्हें मिल गया है, इसकी एक घड़ी भी करोड़ों के धन में नहीं मिलती है। ऐसा अवसर – सिद्धान्तों का स्वाध्याय, जीवादि द्रव्यों की चर्चा, अनित्यादि बारह भावनाओं, सोलह कारण भावनाओं, पंच परमेष्ठी की वन्दना, जाप, स्मरण आदि करके जीवन सफल करने को मिला है; और तू इसे चौपड़, गंजफा, शतरंज, ताश आदि महान अविद्या में फँस कर समस्त धर्म से, धर्म के मार्ग से परांगमुख होकर महापाप कमा कर मर जाने में ही व्यतीत कर रहा है; इसके फल में तू नरक-तिर्यंच आदि में जाकर उत्पन्न होगा।
- होड़ (रेस) या खेल आदि में सट्टा लगाने का धन्धा चल पड़ा है, उसे भी जुआ ही समझना। आजकल शेयर बाजार के माध्यम से भी प्रकारान्तर से यही काम किया जा रहा है। ये व्यापार भी तीव्र तृष्णा से युक्त पुरुषों के सन्तोष को बिगाड़ने वाले हैं।

महाकवि भूधरदासजी ने अपने जैन शतक में लिखा है –

सकल पाप-संकेत, आपदा-हेत कुलच्छन।
कलह-खेत दारिद्र देत, दीसत निज अच्छन।।
गुन-समेत जस सेत, केत रवि रोकत जैसै।
औगुन-निकर-निकेत, लेत लखि बुधजन ऐसै।।
जूआ समान इह लोक में, आन अनीति न पेखिये।
इस विसनराय के खेल कौ, कौतुक हू नहिं देखिये।।51।।

अर्थात् जूआ नामक प्रथम व्यसन प्रत्यक्ष ही अपनी आँखों से अनेक दोषों से युक्त दिखाई देता है। वह सम्पूर्ण पापों को आमन्त्रित करने वाला है, आपत्तियों का कारण है, खोटा लक्षण है, कलह का स्थान है, दरिद्रता देने वाला है, अनेक अच्छाईयाँ करके प्राप्त किये हुए उज्ज्वल यश को भी उसी प्रकार ढ़क देने वाला है, जिस प्रकार केतु सूर्य को ढ़क देता है। ज्ञानी पुरुष, इसे अनेक अवगुणों के घर के रूप में देखते हैं, इस दुनिया में जुआ के समान अन्य कोई अनीति नहीं दिखाई देती; अतः इस व्यसनराज के खेल को कौतूहल मात्र के लिए भी नहीं देखना चाहिए।

नाटक समयसार में जुआ नामक व्यसन की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए लिखा है –

अशुभ में हार शुभ में जीत, यही है द्यूतकर्म।[66]

अर्थात् शुभ या पुण्य के उदय में हर्षित होना और अशुभ या पाप के उदय में खेदखिन्न होना, कर्म के विशिष्ट उदय में अपने को हार जीत वाला मानना, भाव या निश्चय जुआ व्यसन है क्योंकि वास्तव में कर्म के उदय का फल मात्र संयोग मिलाना है; आत्मा को सुखी-दुःखी करना नहीं है। यह आत्मा, स्वयं अपनी विपरीत मान्यता के कारण संयोगों को अनुकूल-प्रतिकूल मान कर सुख-दुःख की कल्पना करता है।

2. माँस-भक्षण व्यसन-त्याग

- दो इन्द्रिय आदि जीवों का घात करने से माँस उत्पन्न होता है, जिसका आकार देखने से ही बहुत घृणा उत्पन्न होती है।

- माँस का स्पर्श, उसकी दुर्गन्ध, उसका नाम ही परिणामों में महाग्लानि उत्पन्न कर देता है।
- जो धर्मरहित होकर नरकादि में जाने वाले होते हैं, महा निर्दय परिणामी होते हैं, वे ही माँस-भक्षण करते हैं।
- स्वयमेव मरे हुए बैल, भैंसा, बकरा, हिरण आदि के माँस में अनन्त तो बादर निगोदिया जीव और असंख्यात त्रस जीवों की उत्पत्ति और उनका घात होता रहता है। तथा कच्चे माँस में, अग्नि से पकाये माँस में, अग्नि से पकते हुए माँस में भी अनन्त जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार कच्चा माँस, पका हुआ माँस, पकता हुआ माँस, सूखा माँस भी जो खाते हैं; वे तथा माँस की डली का जो स्पर्श भी करते हैं; वे निरन्तर एकत्र हुए बहुत से जीवों का घात करते हैं।[67] इसी तरह चाण्डालों, कसाईयों, म्लेच्छों, कुत्तों आदि की जूठन भी माँस ही होती है।
- माँसभक्षियों के दया, आचार, आदि नहीं होता है; वे जाति, कुल, दया, क्षमा, आदि समस्त गुणों से रहित होते हैं।
- कुछ माँस भक्षण प्रेमियों के तर्क को लक्ष करके सागार धर्मामृत में लिखा है कि ''यद्यपि अन्न भी प्राणी (एकेन्द्रिय प्राणी) का अंग है और माँस भी प्राणी (दो से पंचेन्द्रिय प्राणी) का अंग है; इस तरह दोनों में ही समानता होने पर भी धार्मिकों को अन्न ही खाने योग्य है, माँस नहीं। जैसे, माता भी स्त्री है और पत्नि भी स्त्री है, इस तरह स्त्रीपने में दोनों ही समान हैं, फिर भी मनुष्य पत्नि को ही भोगते हैं, माता को नहीं। इसी प्रकार जैसे, गाय का दूध शुद्ध है किन्तु गाय का माँस शुद्ध नहीं है; जैसे, विषवृक्ष का पत्ता, आयुवर्द्धक है किन्तु उसकी जड़, मृत्यु की कारण है।''[68]
- दुर्गतिगामी, महापापी, महानिर्दयी लोगों ने माँसभक्षण को उन्हीं के बनाये शास्त्रों में धर्म कहा है। वे माँस से देवता तथा पितरों को तृप्त होना कहते हैं, देवताओं को माँसभक्षी कहते हैं। इसी प्रकार श्राद्ध आदि करते समय ब्राह्मणों को माँसपिण्ड का भक्षण कराने से देवों या पितरों का तृप्त होना कहते हैं। यह सब मिथ्यादर्शन का प्रभाव है।
- पण्डित आशाधरजी तो आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ''माँस, स्वभाव से ही अपवित्र है और कारण से भी अपवित्र है – ऐसे अपवित्र माँस को जाति और कुल के आचार से हीन नीच लोग खाये तो उतना आश्चर्य नहीं होता, लेकिन अपने को विशुद्ध आचारवान् मानने वाले कुत्ते की लार के समान उस माँस को कैसे खाते हैं, यही आश्चर्य है।[69]
- यद्यपि जैनियों के कुल में यह व्यसन तो होता ही नहीं है, तथापि इसके कुछ अतिचार, अनाचार के समान हैं। जैसे, घुने हुए अन्न का बनाया समस्त भोजन, चमड़े में रखा हुआ समस्त जल घी तेल रस हींग आदि, जिसका स्वाद बिगड़ गया है – ऐसा समस्त भोजन तथा रात्रिभोजन आदि सभी अभक्ष्यों में माँस का दोष जान कर उन्हें छोड़ देना चाहिए।[70]
- यह महाव्यसन है, एक बार लगने के बाद इसका छूटना महाकठिन है।[71]

महाकवि भूधरदासजी ने अपने जैन शतक में लिखा है –

जंगम जिय कौ नास होय तब मांस कहावै।
सपरस आकृति नाम गन्ध उर घिन उपजावै।।
गुनसमेत जस सेत केत रवि रोकत जैसै।
नाम लेत तज देत असन उत्तम-कुल-करमी।।
यह निपट निन्द्य अपवित्र अति, कृमि-कुल-रास-निवास नित।
आमिष अभच्छ यातैं सदा, बरजौ दोष दयाल चित!।। 52।।

अर्थात् माँस की प्राप्ति त्रस जीवों का घात होने पर ही होती है। माँस का स्पर्श, आकार, नाम और गन्ध – सभी हृदय में ग्लानि उत्पन्न करते हैं। माँस का भक्षण नरक जाने की योग्यता वाले निर्दयी, नीच और अधर्मी पुरुष करते हैं; उत्तम कुल और उत्तम कर्म वाले तो इसका नाम लेते ही अपना भोजन तक छोड़ देते हैं। माँस अत्यन्त निन्दनीय है, अत्यन्त अपवित्र है, और उसमें सदैव अनन्त जीवसमूह पाये जाते हैं। अतः माँस, सदैव अभक्ष्य बतलाया है। हे दयालु चित्त वाले! तुम इस माँस-भक्षणरूप दोष का त्याग करो।

माँस-सेवन का आध्यात्मिक भाव ग्रहण करते हुए पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं –

देह की मगनताई, यहै मांस भखिवौ।[72]

अर्थात् शरीर में मग्न रहना, शरीर की पुष्टि से अपने को पुष्ट मानना, अपना हित मानना, शरीर की दुर्बलता से स्वयं को दुर्बल मानना, स्वयं का अहित मानना, इत्यादि अनेक प्रकार से शरीररूप ही स्वयं को मानना, भाव माँस-भक्षण व्यसन है।

3. मद्य-पान व्यसन-त्याग

- मदिरा में असीम–अपरिमाण त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है। यदि मद्य की एक बूँद में पैदा होने वाले जन्तु बाहर निकल कर फैलें तो समस्त संसार उनसे भर जाए। ऐसे मद्य की एक एक बूँद भी अत्यन्त दुर्गन्धित होती है।[73]
- उत्तम कुल के पुरुष, यदि भोजन करते हुए मदिरा की धारा को दूर से ही देख लें तो उसी समय भोजन का त्याग कर देते हैं तथा मदिरा से छू जाने पर वस्त्र सहित स्नान करते हैं।
- मदिरा से उन्मत्त होने वाला माता अथवा पुत्री को स्त्री के समान तथा स्त्री को माता या पुत्री के समान देखता है, आचरण करता है।
- भय, ग्लानि, काम, क्रोध, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक आदि सभी दोष; जो हिंसा के कारण होने से हिंसा ही हैं; वे सभी मद्य पीने वाले के होते हैं।
- अतः धर्म का अर्थी मद्यपान का दूर से ही त्याग कर देता है।
- भांग तमाखू जर्दा बीड़ी अफीम हुक्का आदि समस्त ही पराधीन करने वाले एवं ज्ञान को नष्ट करने वाले होने के कारण तथा परमार्थरूप बुद्धि को भी नष्ट करने वाले होने से मदिरा के समान ही हैं; इसलिए इन्हें त्याग ही देना चाहिए।
- आचार्य अमृतचन्द्र, हरिभद्र सूरि, आचार्य अमितगति एवं पण्डित आशाधर ने मद्य-माँस के साथ मधु एवं मक्खन को भी महाविकृति माना है, इनमें उसी रंग के असंख्यात जीव उत्पन्न हो जाते हैं। जो इनका सेवन करते हैं, उनमें संयम का अंश भी नहीं है। पाँच उदुम्बर फलों की भी यही श्रेणी है। अतः उनका भी त्याग अवश्य करना चाहिए।[74]

महाकवि भूधरदासजी ने अपने जैन शतक में लिखा है –

कृमि-रास कुवास सराय दहैं, शुचिता सब छीवत जात सही।
जिहिं पान कियैं सुधि जात हियैं, जननीजन जानत नारि यही।।
मदिरा सम आन निषिद्ध कहा, यह जान भले कुल मैं न गही।
धिक है उनकौ वह जीभ जलौ, जिन मूढ़न के मत लीन कही।। 53।।

अर्थात् मदिरा जीवसमूहों का ढ़ेर है, वह दुर्गन्धयुक्त वस्तुओं को सड़ा कर और जला कर तैयार की जाती है। निश्चय ही उसके स्पर्श करने मात्र से व्यक्ति की सारी पवित्रता नष्ट हो जाती है और उसे पी लेने पर तो सारी सुध-बुध ही हृदय से जाती रहती है, मदिरा पीने वाला माता आदि को भी पत्नि समझने लगता है। इस दुनिया में मदिरा के समान त्याज्य वस्तु अन्य कोई नहीं है. इसलिए मदिरा उत्तम कुलों में ग्रहण नहीं की जा सकती; तथापि जो मूर्ख मदिरा की प्रशंसा करते हैं; उन्हें धिक्कार है, उनकी जीभ जल जावे।

आध्यात्मिक दृष्टि से मदिरा-पान की तुलना अनादिकालीन दर्शनमोह या मिथ्यात्व के साथ करते हुए पण्डित दौलतरामजी छहढ़ाला में लिखते हैं – **मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।** इसी मिथ्यात्व-मद के कारण यह जीव, अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूल कर, चतुर्गति में भ्रमण कर रहा है।[75]

पण्डित बनारसीदास तो कहते हैं –

मोह की गहल सों अजान, यहै सुरापान।[76]

अर्थात् मोह के वश होकर आत्मस्वरूप के विषय में अज्ञानी रहना, अपने आत्मा को नहीं जानना, नहीं पहिचानना, भाव या निश्चय मदिरापान व्यसन है।

4. वेश्या-सेवन व्यसन-त्याग

- जो वेश्यासेवन करता है, उसका सभी आचार, भोजन, पानी आदि नष्ट हो जाता है। वेश्या को चाण्डाल भील म्लेच्छ आदि सभी सेवन करते हैं। जो वेश्या मांस मद्य का खान-पान नित्य ही करती है, धन ही से

जिसे प्रीति है – ऐसी वेश्या के मुख की लार जो पीता है; उसकी जाति कुल आचार आदि सभी नष्ट हो जाता है; अतः वेश्या का सेवन त्याग देना ही उत्तम है।[77]

- जिसने वेश्या का संगम किया, उसके चोरी जुआ मद्यपान आदि सभी व्यसन होते हैं। उसके धन की हानि होती है, धर्म से परांगमुखता हो जाती है, बुद्धि विपरीत हो जाती है, मायाचार झूठ छल में तत्परता हो जाती है, निन्द्यकार्य करने की ग्लानि नहीं रहती है, लज्जा नष्ट हो जाती है।
- वेश्या का हाव-भाव विलास विभ्रम आदि देखने से, याद करने से, अतिरागी हो जाने से सभी कुल-मर्यादा का भंग हो जाता है। वेश्या में आसक्त हुआ पुरुष कफ में पड़ी हुई मक्खी के समान अपने को छुड़ा नहीं पाता है। वेश्यासेवन महान अनीति का कार्य है।

महाकवि भूधरदासजी ने अपने जैन शतक में लिखा है –

धन-कारन पापनि प्रीति करै, नहिं तोरत नेह जथा तिनकौ।
लव चाखत नीचन के मुँह की, शुचिता सब जाय छियैं जिनकौ।।
मद-माँस बजारनि खाय सदा, अँधले विसनी न करैं घिनकौं।
गनिका सँग जे शठ लीन भये, धिक है धिक है धिक है तिनकौं।। 54।।

अर्थात् पापिनी वेश्या धन के लिए प्रेम करती है। यदि व्यक्ति के पास धन नहिं बचे तो सारा प्रेम ऐसे तोड़ फेंकती है, जैसे तिनका फेंक देते हैं। वेश्या, अधम व्यक्तियों के होठों का चुम्बन करती है अथवा उनके मुँह से निःसृत लार आदि अपवित्र वस्तुओं का स्वाद लेती है। ऐसी वेश्या के छूने से सम्पूर्ण शुचिता समाप्त हो जाती है। वेश्या, सदा बाजारों में माँस मदिरा खाती फिरती है। वेश्या व्यसन से घृणा वे नहीं करते, जो व्यसनों में अँधे हो रहे हैं। जो मूर्ख, वेश्यासेवन में लीन हैं, उन्हें बारम्बार धिक्कार है।

अध्यात्म के क्षेत्र में सप्त व्यसनों को आत्मा के विकारी परिणामों में ही घटाया जाता है, अतः पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं –

कुमति की रीति, गणिका को रस चखिबौ।

अर्थात् खोटी बुद्धि में रमने का भाव अथवा अपने आत्मस्वभाव को छोड़ कर, बुद्धि को विषय-कषायों में रमाना, भाव या निश्चय वेश्यागमन व्यसन है। वेश्यारूपी नारी तो मात्र धन, स्वास्थ्य, इज्जत आदि का ही विनाश करती है, परन्तु यह मिथ्याबुद्धि या कुबुद्धि तो आत्मा की प्रतिष्ठा का अपहरण कर, उसे अनन्तकाल के लिए निगोद के दुःखों में धकेल देती है।[78]

5. शिकार या आखेट व्यसन-त्याग

- एकमात्र दुःखदायक शरीर ही जिसका धन है, जिसका कोई भाई आदि सम्बन्धी नहीं है, वन में रहती है, जो स्वभाव से ही डरपोक है, दाँतों में तिनका लिये हैं, किसी के प्रति अपराध भी नहीं करती – ऐसी दीन मृगी को भी जो केवल माँसभोजन के लोभी तथा शिकार-प्रेमी बिना कारण मार देते हैं; ऐसे शिकारियों के द्वारा इसलोक एवं परलोक में कौनसा पाप-फल नहीं भोगना पड़ता है? अर्थात् उन्हें इस लोक में रोग, शोक आदि दुःखों को भोगना पड़ता है तथा परलोक में भी उन्हें नरक आदि में जाना पड़ता है।[79]
- आश्चर्य है कि जो पुरुष, शरीर में जरा-सी चींटी के काटने पर व्याकुल होकर आँख में पानी ले आते हैं; वे ही दुःखों को जानते हुए भी शिकार के आनन्द में चूर होकर निरपराध मृग को कैसे शस्त्र उठा कर मार सकते हैं?[80]
- अन्य जीवों की दया नहीं करके उनकी आजीविका को बिगाड़ देना, धन लुटवा देना, बहुत दण्ड करा देना; ये सभी भी प्रकारान्तर से शिकार ही है।
- दूसरे की बेइज्जती करा देना, निवास स्थान छुड़ा देना आदि सभी शिकार करने से भी अधिक–अधिक पाप हैं; अतः उनका त्याग कर ही देना चाहिए।

महाकवि भूधरदासजी ने अपने जैन शतक में लिखा है –

कानन मैं बसै ऐसौ आन न गरीब जीव,
प्रानन सौं प्यारौ प्रान पूँजी जिस यहै है।

कायर सुभाव धरै काहू सौं न द्रोह करै,
सब ही सौं डरै दाँत लियैं तृन रहै हैं।।
काहू सौं न दोष पुनि काहू पै न पोष चहै,
काहू के परोष परदोष नाहिं कहै है।
नेकु स्वाद सारिवे कौं ऐसे मृग मारिवे कौं,
हा हा रे कठोर! तेरौ कैसे कर वहै है।।55।।

अर्थात् जो जंगल में रहता है, सबसे गरीब है, अपने प्राण ही जिसकी प्राणों से प्यारी पूँजी है, जो स्वभाव से ही कायर है, सभी से डरता रहता है, किसी से द्रोह नहीं करता है, बेचारा अपने दाँतों में तिनका लिये रहता है, किसी पर नाराज नहीं होता, किसी से अपने पालन-पोषण की अपेक्षा नहीं रखता, परोक्ष में किसी के दोष नहीं कहता फिरता अर्थात् पीठ-पीछे पर-निन्दा करने का दुर्गुण भी जिसमें नहीं है – ऐसे मृग को अपने जरा से स्वाद के लिए मारने हेतु रे रे कठोर हृदय ! तेरा हाथ कैसे उठता है ?

अध्यात्म की दृष्टि से शिकार खेलना, मात्र जंगली पशुओं के साथ ही नहीं होता, बल्कि निर्दयतापूर्वक किसी भी प्राणी का दिल दुखाना भी शिकार खेलने के समान है, इसके द्वारा भी उसके और अपने भावप्राणों को घात होता है – इसका वर्णन करते हुए पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

निर्दय ह्वै प्राणघात करवौ, यहै शिकार।

अर्थात् तीव्र राग के वशीभूत होकर शिकार आदि खेलने के परिणामों से अपने चैतन्य प्राणों का घात करना, आत्मशान्ति नष्ट करना, खेदखिन्न होना, भावरूप या निश्चय शिकार खेलना नामक व्यसन है। 'आत्मघाती महापापी' – इस उक्ति के अनुसार भी जो अपने प्राणों का घात करने वाला महापापी होता है।[81]

6. चोरी व्यसन-त्याग

- चोरी करना भी महाव्यसन है।
- चोर स्वयं भी निरन्तर भयभीत रहता है तथा चोर से दूसरे जीवों को भी बहुत भय रहता है। अरे, माता को भी अपने चोर पुत्र से भय रहता है।
- चोर इस लोक में अपनी सम्पूर्ण प्रतिष्ठा बिगाड़ कर महाकलंकित हो जाता है। वह राजा से बहुत दण्ड प्राप्त करता है, हाथ का काट देना, नाक का छेदा जाना आदि दण्ड को प्राप्त होता है।
- चोर के भाव सन्तोषरूप कभी नहीं होते हैं। चोर को योग्य-अयोग्य कार्य करने का विचार ही नहीं रह जाता है; इसी कारण वह धर्मध्यान स्वाध्याय धर्मकथा से परांगमुख ही रहता है।
- जो जैन शास्त्रों को सुनता पढ़ता हुआ भी दूसरों के धन पर अपनी नियत चलाता है, वह ठग है क्योंकि जिसने जगत् को ठगने के लिए शास्त्ररूप ग्रहण कर लिया है, उसको किंचित् भी धर्म की श्रद्धा नहीं है – ऐसा समझना चाहिए। जिसको जिनधर्म की महिमा की श्रद्धा होती है, उसको यद्यपि चारित्रमोह के उदय से त्याग व्रत संयम आदि नहीं होते हैं, तो भी अन्यायपूर्वक धन प्राप्त करने में उसकी वांछा नहीं होती है।
- चोरी से दोनों लोकों का नष्ट होना जान कर, किसी के बिना दिये धन में वांछा नहीं करना चाहिए।
- जो दुष्ट मनुष्य, नाना प्रकार के छल, कपट, दगाबाजी से दूसरे मनुष्यों को धन आदि के लिए ठगते हैं, उनको दूसरे पापीजनों से पहिले ही नरक जाना पड़ता है क्योंकि 'धनं वै प्राणाः' इस नीति के अनुसार मनुष्यों के धन ही प्राण हैं। यदि किसी रीति से उनका धन नष्ट हो जावे तो उनको इतना प्रबल दुःख होता है कि जितना उनको मरते समय भी नहीं होता; इसलिए प्राणियों को चाहिए कि वे प्राणस्वरूप दूसरे के धन को कदापि हरण न करें तथा न हरण करने का प्रयत्न ही करें।[82]

महाकवि भूधरदासजी ने चोरी व्यसन के सम्बन्ध में अपने जैन शतक में लिखा है –

चिंता तजै न चोर रहत चौंकायत सारै।
पीटै धनी विलोक लोक निर्दइ मिलि मारै।।

प्रजापाल करि कोप तोप सौं रोप उड़ावै।
मरै महादुख पेखि, अंत नीची गति पावै।।
अति विपति-मूल चोरी विसन, प्रगट त्रास आवै नजर।
परवित अदत्त अंगार गिन, नीति-निपुन परसैं न कर।। 56।।

अर्थात् चोर कभी भी और कहीं भी निश्चिंत नहीं होता, हमेशा और हर जगह चौकन्न रहता है। देख लेने पर स्वामी (चोरी की गई वस्तु का मालिक) उसकी पिटाई करता है। अन्य अनेक व्यक्ति भी मिल कर उसे निर्दयतापूर्वक बहुत मारते हैं। राजा भी क्रोध करके उसे तोप के सामने खड़ा करके उड़ा देता है। चोर इस भव में भी बहुत दुःख भोग कर मरता है और परभव में भी उसे अधोगति प्राप्ति होती है। चोरी नामक व्यसन अनेक विपत्तियों की जड़ है। उसमें प्रत्यक्ष ही बहुत दुःख दिखाई देता है। समझदार व्यक्ति तो दूसरे के अदत्त धन को अंगारे के समान समझ कर, कभी अपने हाथ से छूत भी नहीं।

भाव चोरी या निश्चय चोरी क्या है? – इसकी व्याख्या करते हुए पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं –

प्यार सौं पराई सोंज, गहिबे की चाह चोरी।

अर्थात् लोभ के वशीभूत होकर, परवस्तुओं के प्रति भागीदारी की चाह करना, उसे अपना बनाने का प्रयास करना, उसे अपने स्वामित्व में लेने का प्रयत्न करना, भाव या निश्चय चोरी व्यसन है। इस व्यसन में उलझी हुई बुद्धि कभी भी सफल नहीं हो पाती है क्योंकि कोई एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु के स्वामित्व में आ जाए, अन्य की हो जाए – ऐसा अनादि-अनन्त अकृत्रिम वस्तु-व्यवस्था कदापि सम्भव नहीं है।[83]

7. परस्त्री-सेवन व्यसन-त्याग

- जो मनुष्य, परस्त्री के सेवी हैं, उनको निरन्तर अनेक प्रकार की चिन्ताएँ लगी रहती हैं। उस स्त्री से मैं कैसे मिलूँ? कैसे उसको प्रसन्न करूँ; इस प्रकार उनको निरन्तर आकुलता बनी रहती है। कोई हमें सम्भोग करते देख न लेवे, कोई हमें मार न देवे; इस प्रकार का उनको सदा भय भी लगा रहता है। पर-स्त्री-सेवन करने वाले मनुष्य की किसी के साथ प्रीति भी नहीं होती, सबके साथ द्वेष ही रहता है, पर-स्त्री सेवन करने वाले मनुष्य की बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है; क्योंकि उसको माता, बहिन, पुत्री आदि का कुछ भी विवेक नहीं रहता।.....जिस समय वे पर-स्त्री-सेवी मनुष्य परभव में नरक जाते हैं, तब वहाँ उनको परस्त्री के समान लोहे की पुतली से आलिंगन करना पड़ता है, तब उनको और भी अधिक दुःख होता है। इसलिए उत्तम पुरुषों को चाहिए कि वे किसी भी परस्त्री के साथ सम्बन्ध न बनावें।[84]
- परस्त्री की वांछा नाम का व्यसन, समस्त अनर्थों में प्रधान है। परस्त्री लम्पट को इसलोक तथा परलोक में घोर पाप का बन्ध विपत्ति बदनामी बेइज्जती मरण रोग अपवाद धनहानि राजदण्ड बैर दुर्गति-गमन मारन ताड़न बन्दीगृह-बन्धन आदि महा दोष होते हैं; जिन्हें वचनों के द्वारा कहने में कोई समर्थ नहीं है।

महाकवि भूधरदासजी ने अपने जैन शतक में लिखा है –

कुगति-वहन गुन-गहन-दहन दावानल-सी है।
सुजस-चंद्र घन-घटा देह-कृश-करन खई है।।
धन-सर-सोखन धूप धरम-दिन-साँझ समानी।
विपति-भुजंग-निवास बांबई वेद बखानी।।
इहि विधि अनेक औगुन भरी, प्रानहरन फाँसी प्रबल।
मन करहु मित्र ! यह जान जिय, पर-वनिता सौं प्रीति पल।। 57।।

अर्थात् परनारीसेवन खोटी गति में ले जाने के लिए वाहन है, गुणसमूह को जलाने के लिए जंगल की सी भयानक आग है, उज्ज्वल यशरूपी चन्द्रमा को ढ़कने के लिए बादलों की घटा है, शरीर को कमजोर करने के लिए क्षयरोग (टी.बी.) है, धनरूपी सरोवर को सुखाने के लिए धूप है, धर्मरूपी दिन को अस्त करने के लिए सन्ध्या है और विपत्तिरूपी सर्पों के निवास के लिए बाँबी है। शास्त्रों में परनारी सेवन को इस प्रकार के अन्य भी अनेक दुर्गुणों से भरा हुआ कहा है। वह प्राणों को हरने के लिए प्रबल फाँसी है। ऐसा हृदय में जान कर, हे मित्र ! तुम कभी पल भर भी परस्त्री से प्रेम मत करो।

परनारी-सेवन व्यसन की तुलना दूसरे की बुद्धि को परखने से करके पण्डित बनारसीदासजी ने आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत ऊँचे मानदण्ड स्थापित किये हैं; वे कहते हैं –

परनारी संग पर-बुद्धि कौ परखिवौ।

अर्थात् वस्तु के स्वरूप को समझने का प्रयास न कर, मात्र दूसरों की बुद्धि को परखने में ही अपने ज्ञान का सदुपयोग मानना, भाव या निश्चय परस्त्री-रमण व्यसन है। वास्तव में स्वयं को अपने ही ज्ञान का लाभ मिलता है, अन्य का ज्ञान अपने लिए किंचित् भी कार्यकारी नहीं होता। इतना अवश्य है कि यदि कोई किसी विषय का विशेष ज्ञाता है तो उससे उस विषय को समझ सकते हैं; परन्तु समझने का भाव नहीं रखते हुए मात्र अन्य की बुद्धि की परीक्षा ही करते रहना, परस्त्री-सेवन के समान पापबन्ध का कारण है।[85]

माँसादि-भक्षण के सम्बन्ध में अन्यमत मीमांसा[86]

एकेन्द्रिय जीवों का कलेवर तो फल, फूल, पत्ते, आदि वनस्पतिरूप है तथा दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पाँच इन्द्रिय जीवों का शरीर माँसरूप है। एकेन्द्रिय जीवों का कन्द, मूल, पत्र, फल, पुष्परूप शरीर, जल से उत्पन्न होता है तथा पंचेन्द्रिय मनुष्य या पशु, पक्षी, जलचर आदि जीव, पिता के वीर्य और माता के रुधिर से उत्पन्न होते हैं। इस सम्बन्ध में –

1. इस समय के मुसलमान आदि यवन लोग, शूद्र जाति के मूत्र की बूँद में तो बड़ा दोष मानते हैं, परन्तु उसी मूत्र की बूँद से बने हुए माँस को खा जाते हैं। उसमें कोई दोष नहीं मानते सो यह उनकी बड़ी भारी भूल है।
2. कितने ही उत्तम जाति के लोग वा उत्तम कुल के लोग वेद को मानते हैं, उसमें लिखे हुए वाक्यों की पुष्टि करते हुए यज्ञकर्म करने, उसमें जीवों को होम करने तथा देवताओं के लिए बलिदान देकर जीवों के मारने और उसकी प्रसादी समझ कर उन जीवों के माँस-भक्षण करने का विधान करते हैं तथा इस प्रकार माँस का भक्षण करते हैं। यदि कोई उनके इस काम की निन्दा करता है तो वेदों के वाक्य बतलाते हैं।
3. यदि कोई वेदों को नहीं मानता तो उसको चाण्डाल कहते हैं। उनके यहाँ लिखा है कि 'वेदबाह्यास्तु चाण्डालाः'; इस प्रकार वे लोग अपना माँस-भक्षण पुष्ट करते हैं।
4. वे लोग यह भी कहते हैं कि 'पहले बड़े-बड़े लोग माँस-भक्षण करते थे। श्री रामचन्द्रजी भी शिकार खेलते थे क्योंकि स्वर्ण-मृग को मारने के लिए वे दौड़े ही थे। बड़े-बड़े राजाओं ने जीवों का वध कर उनका माँस खाया है। हमारे क्षत्रिय वंश का यही धर्म है।' – इस प्रकार कह कर वे लोग अपने शरीर और इन्द्रियों की पुष्टि करते हैं, परन्तु उनका यह सब कहना व्यर्थ है।
5. यदि उनके वेद और पुराणों में होम आदि के द्वारा जीवों का वध करना लिखा है और उनके माँस-भक्षण का विधान बतलाया है तो फिर उन शास्त्रों को शस्त्र कहना ही उचित है। जिन शास्त्रों को वेद कहते हैं सो यह वेद नहीं किन्तु बेंत है। जिस प्रकार बेंत की मार से मनुष्य आदि जीवों का चमड़ा उतर जाता है; उसी प्रकार जिसके ऋचारूपी बेंत के उच्चाररूपी प्रहार से पशु आदि जीवों का वध होता हो, पशुओं का चमड़ा उतार कर होमते हों, वह वेद नहीं है किन्तु बहुत बड़ा बेंत है। इस प्रकार यह वेद शास्त्र नहीं हैं, किन्तु शस्त्र हैं। ऐसे वेद को मानना महा पाप है, महा हिंसा का कारण है।
6. इसके सिवाय एक बात यह भी है कि जीवों की हिंसा करना तथा माँस-भक्षण करना, इस लोक में महापाप माना जाता है। यह बात सब शास्त्रों में लिखी है।
7. हिंसा और माँस-भक्षण का फल महादुःखरूप है और नरकादि अनेक दुर्गतियों का कारण है। शास्त्रों में ऐसे लोगों की अनेक कथाएँ लिखी हैं।
8. इन सब शास्त्रों को जानते हुए भी लोलुपी लोग सबका लोप कर फिर भी माँस-भक्षणादि की पुष्टि करते हैं और कहते हैं कि वेद में लिखा है – 'यज्ञार्थेः पशवः सृष्टाः' अर्थात् इस संसार में पशुओं की रचना यज्ञ के लिए ही हुई है। वे लोग उन यज्ञों के भी कितने ही भेद बतलाते हैं; जिसमें बकरा होमा जाए, वह अजामेध यज्ञ है, जिसमें गाय होमी जाए, वह गोमेध यज्ञ है, जिसमें घोड़ा होमा जाए, वह अश्वमेध यज्ञ है, जिसमें मनुष्य होमे जाएँ, वह नरमेध यज्ञ है। इस प्रकार वे लोग यज्ञों के अनेक भेद बतलाते हैं, उन यज्ञों

में अनेक जीवों को होमते हैं और उनका अलग अलग फल बतलाते हैं सो सब महापाप का मूल है क्योंकि इन्हीं के शास्त्रों में जीवों के होम करने में, उनका वध करने में और माँस-भक्षण करने में महापाप लिखा है तथा ऐसे ऐसे समस्त कार्यों के करने का त्याग करना बतलाया है।

9. उनके शास्त्रों में महापापों का निषेध कहाँ कहाँ लिखा है सो प्रसंग पाकर थोड़ासा लिखते हैं –

- महाभारत में लिखा है – मद्य का पीना, माँस-भक्षण करना, रात्रि में अन्न-पान-लेह्य-स्वाद्य रूप चारों प्रकार के आहार का भक्षण करना, कन्द-मूल खाना, महापाप है। जो कोई पुरुष इनका सेवन करता है, उसकी तीर्थयात्रा, जप, तप, आदि सब व्यर्थ होता है। उनके यहाँ सब अड़सठ तीर्थ माने हैं सो जो पुरुष मांस, मद्य, रात्रिभोजन, कन्दमूल आदि का सेवन करते हैं, उनकी तीर्थों की यात्रा व्यर्थ होती है तथा चान्द्रायण व्रत तथा और भी सारे व्रत तप पंचाग्नि आदि अनेक प्रकार के कष्ट देने वाले तप सब व्यर्थ हो जाते हैं। सो ही भारत (महाभारत) में कहा है –

  मद्य-मांसाऽशनं रात्रौ, भोजनं कन्दभक्षणम्।
  ये कुर्वन्ति वृथा तेषां, तीर्थयात्रा जपस्तपः।।[87]

- उसी में आगे लिखा है कि मद्य, माँस-भक्षण करने वाले या रात्रिभोजन करने वालों के एकादशी व्रत का उपवास करना, नारायण के मन्दिर में जागरण करना, पुष्कर की यात्रा करना और चान्द्रायण तप आदि करना आदि सब व्यर्थ हो जाता है। जब तक वह मद्य, माँसादि का त्याग नहीं करता; तब तक उसको जप, तप, व्रत, उपवास आदि का कोई फल नहीं मिलता। मद्य-माँसादि का त्याग करने से ही इनका फल मिल सकता है, सो ही भारत (महाभारत) में लिखा है –

  वृथा एकादशी प्रोक्ता, वृथा जागरणं हरेः।
  तथा च पुष्करीयात्रा, वृथा चान्द्रायणं तपः।।[88]

- इसी प्रकार मनुस्मृति में लिखा है कि जो कोई जीवों की हिंसा करता है; उसके न तो ध्यान हो सकता है, न स्नान से शुद्धि हो सकती है, न वह दान दे सकता है। तथा न वह शुभ क्रियाएँ कर सकता है। हिंसा करने वाले के इन सब बातों का अभाव हो जाता है। यदि वह इन क्रियाओं को कर भी डाले तो भी जीवघात करने से उसका सब किया हुआ निष्फल हो जाता है, सो ही मनुस्मृति में लिखा है –

  न च ध्यानं, न च स्नानं, न दानं, न च सत्क्रियाः।
  सर्वे ते निष्फलं यान्ति, जीवहिंसा करोति यः।।[89]

- भारत (महाभारत) में लिखा है कि जो प्राणी बकरा, हिरण, सांभर, गीदड़, सूअर आदि पशुओं का घात करता है; वह उस पाप के फल से उस पशु के शरीर में जितने रोम हैं, उतने ही हजार वर्ष तक अग्नि में पकाया जाता है। यथा –

  यावन्ति पशुरोमाणि, पशुगात्रेषु भो नरः।
  तावद्वर्षसहस्राणि, पच्यन्ते पशुघातकाः।।[90]

- भारत (महाभारत) में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि विष्ठा के कीड़े को और स्वर्ग में रहने वाले इन्द्र को दोनों को जीवित रहने की आकांक्षा एक-सी है। दोनों के जीवित रहने की इच्छा में कोई कमी नहीं है। इन्द्र महासुखी है सो उसे तो जीवित रहने की इच्छा सदा लगी ही रहती है, परन्तु विष्ठा का कीड़ा भी मरना नहीं चाहता, दुःखी होने पर भी वहीं रहना चाहता है। इससे सिद्ध होता है कि उसको भी जीवित रहने की इच्छा लगी हुई है। इसी प्रकार मरने का भय दोनों को एक-सा है। दोनों ही मरने से डरते हैं, मरने से सभी को समान दुःख होता है। इसलिए जिस प्रकार अपने प्राण मुझे प्यारे लगते हैं, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी अपने अपने प्राण प्रिय लगते हैं। यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को घोर और भयंकर ऐसा प्राणियों का वध कभी नहीं करना चाहिए। उपदेश बुद्धिमानों को ही दिया जाता है। मूर्ख और अज्ञानी पुरुष तो किसी की मानता ही नहीं हैं, अतः उसे कहना ही व्यर्थ है, वही भारत में कहा है–

  अमेध्यमध्ये कीटस्य, सुरेन्द्रस्य सुरालये।
  समाना जीविताकांक्षा, समं मृत्युभयं द्वयोः।।

यथा ममप्रियाः प्राणास्तथा चान्यस्य देहिनः।
इति मत्वा न कर्तव्यो, घोरप्राणिवधा बुधैः।।[91]

- इसी प्रकार मार्कण्डेय पुराण में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन! इस पृथिवी में भी मैं हूँ, समस्त अग्नि, वायु, वनस्पति आदि में भी मैं हूँ और तीनों लोकों के समस्त प्राणियों में भी मैं हूँ। मैं सर्वगत या सब जगह सब पदार्थों में सब जीवों में रहने वाला हूँ; इसलिए सब जीवों में मुझे समझ कर जो जीवों की हिंसा नहीं करते, उनकी रक्षा मैं करता हूँ। जो जीवों की हिंसा करते हैं, उनका क्षय होता है – ऐसा मार्कण्डेय पुराण में लिखा है। यथा –

पृथिव्यामप्यहं पार्थ! सर्वाग्नौ च जलेप्यहम्।
वनस्पतिगतोप्यहं, सर्वभूतगतोप्यहम्।।
यो मां सर्वगतं ज्ञात्वा, न हिंसेति कदाचनः।
तस्याहं न प्रणस्यामि, स मे न प्रणस्यति।।[92]

- इसी प्रकार शिवधर्म में कहा है कि माँस में, मद्य में, शहद में और मक्खन में उसी वर्ण के असंख्यात जीव हर समय उत्पन्न होते रहते हैं। यथा –

मद्ये मांसे मधुनि न, नवनीते वहि र्न ते।
उत्पद्यन्ते असंख्यातास्तद्वर्णास्तत्र जन्तवः।।[93]

इसी प्रकार और भी अनेक प्रमाणों एवं तर्क-युक्तियों से मांसभक्षण सहित अन्य प्रकार की हिंसा को निषिद्ध बताया गया है।

देवदर्शन के बिना भोजनादि करने वालों की निन्दा[89]

प्रश्न – श्रावकों को सदा प्रातःकाल उठ कर सबसे पहले क्या करना चाहिए ?

समाधान – श्रावकों को प्रातःकाल उठ कर शौच आदि क्रियाओं से निवृत्त होकर प्रथम ही अरहन्त देव और निर्ग्रन्थ गुरु का दर्शन करना चाहिए। फिर भक्तिपूर्वक वन्दना या उपासना कर धर्मशास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए, पीछे गृहस्थ सम्बन्धी अन्य कार्य करना चाहिए। धर्म अर्थ काम और मोक्ष – इन चार पुरुषार्थों में सबसे पहले यही धर्म कहा गया है.....यही बात पद्मनन्दि पंचविंशतिका के छठे अधिकार (श्लोक 16-17) में लिखी है –

प्रातरुत्थाय कर्तव्यं, देवतागुरुदर्शनम्।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या, धर्मश्रुतिरुपासकैः।।
पश्चादन्यानि कार्याणि, कर्तव्यानि यतो बुधैः।
धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः।।[90]

प्रश्न – जो लोग, देवदर्शन किये बिना ही भोजनादि कर लेते हैं, उनके लिए शास्त्रों में क्या कहा है? तथा उन्हें कैसा समझना चाहिए ?

समाधान – जिस गाँव या शहर में भगवान अरहन्तदेव का जिनालय हो और वहाँ पर रहने वाला श्रावक, यदि बिना भगवान के दर्शन किये भोजन करे तो उसको जैनशास्त्रों में मिथ्यादृष्टि बतलाया है। उसको जैनधर्म का श्रद्धान करने वाला कभी नहीं कहना चाहिए। जैनशास्त्रों में उसे धर्मभ्रष्ट बतलाया है। लिखा भी है –

चेयाले जिहठाणे, सावय अद्दिट्ठ भोयणं कुणई।
सो सुठु मिच्छाइट्ठी, भट्ठो जिससासणे समये।।

वर्तमान में जैन श्रावकाचार पालन[91]

जैन श्रावकाचार का पालन हम करते हों अथवा नहीं, लेकिन जैनाचार के सम्बन्ध में हमें कुछ बातों का विचार अवश्य करना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य विचारणीय हैं –

- इस मनुष्य भव में आकर यदि हमने खाने-पीने, हरितकाय, कपड़े-मकान, सोना-चाँदी आदि धनादि सामग्री का परिमाण नहीं किया तो हमें सम्पूर्ण वस्तुओं के अत्यागरूप उनके भक्षण आदि का पाप निरन्तर चालू

रहता है, जबकि ऐसी हजारों-लाखों चीजें हैं, जो हमारे जीवन भर में एक बार भी उपयोग में नहीं आएँगी; अतः हमें विचार करके शक्ति के अनुसार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देख कर, भूत-भविष्य-वर्तमान के परिणामों की सम्भावनाओं को सोच कर, इन वस्तुओं के गुणदोषों का विचार करके जितना सम्भव हो, उतना त्याग अवश्य करना चाहिए। बिना सोचे-समझे या किसी के कहने में आकर या देखादेखी या भावावेश में आकर त्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि त्याग, अपने भावों में सुधार करने के लिए है, न कि प्रदर्शन या दूसरों को दिखाने के लिए। साथ ही त्याग, सर्वप्रथम काय से करना चाहिए, मन-वचन-काय तीनों से करने पर मन-वचन सम्बन्धी दोषों की सम्भावना हो सकती है; इसलिए अत्यन्त सावधानीपूर्वक अभ्यस्त होने के बाद सम्यक्त्वसहित मन-वचन-काय से त्याग करना उचित है। इसी प्रकार कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करने में भी क्रम से त्याग उचित है – पहले कृत का त्याग करें, पश्चात् कारित का और अन्त में अनुमोदना से त्याग करने का क्रम है।

- रात्रिभोजन, अनछने पानी, तीन मकार (मद्य-माँस-मधु) और पंच उदुम्बर फल (बड़ पीपल ऊमर कठूमर अंजीर आदि एवं इन्हीं की जाति के अन्य फल) का त्याग तो आजीवन का कर ही देना चाहिए।
- हरितकाय वनस्पतियाँ, जाति की अपेक्षा 10 लाख मानी गई हैं, उनमें निम्नानुसार विचार करके फल-सब्जी आदि रख कर, शेष सभी का काया से त्याग, आजीवन के लिए कर देना चाहिए, सभी हरितकाय वनस्पतियों के खाने सम्बन्धी अविरमणरूप पाप से बचा जा सके –

1. कुगुरु, कुदेव एवं कुशास्त्रों को पढ़ने, सुनने, विनय आदि करने से मिथ्यात्व पुष्ट होता है; अतः श्रावक को इनका त्याग तो सर्व प्रथम करना चाहिए।.....साथ ही अन्याय, अनीति और अभक्ष्य का भी त्याग अवश्य करना चाहिए। इनके बिना तो मनुष्य भव में सम्यक्त्व की पात्रता भी नहीं आती।[92]
2. जमीकन्द का त्याग तो आजीवन करना ही चाहिए। यदि न किया हो तो शीघ्रातिशीघ्र छोड़ने का अभ्यास करना चाहिए। पालक, मूली के पत्ते भी सप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं। इनके एक-एक पत्ते के एक-एक अंश में भी अनन्त-अनन्त जीव होते हैं। यद्यपि मैथी, धनिया पत्ती (बिना फूल की), मीठा नीम, तुलसी, पुदीना आदि के पूर्ण विकसित पत्ते अप्रतिष्ठित हैं अर्थात् एक-एक पत्ते पर एक-एक जीव होता है; अतः इनके जितने पत्ते हम खाते हैं, उतने जीव ही मरते हैं, अनन्त नहीं।[93]
3. यथासम्भव ब्रह्मचर्य अर्थात् काम-भोग का त्याग अवश्य करना चाहिए। विशेषरूप से अष्टमी-चतुर्दशी, तीनों अष्टाह्निका, तीनों पर्यूषण, सोलहकारण आदि पर्व तथा उपवास या एकासन आदि दिनों में ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। उम्र के हिसाब से शरीर की स्थिति को देखते हुए धीरे धीरे समयमर्यादा बढ़ाते हुए भावना-पूर्वक आजीवन काया से ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करना चाहिए। स्वस्त्री या स्वपुरुष के साथ भी दिवामैथुन का तो अवश्य त्याग करना चाहिए। बचपन से ही अनंग क्रीड़ा के प्रतीक हस्तमैथुन, स्वप्नदोष आदि का प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए। इसमें कुशील-सेवन का महान दोष आता है। अश्लील दृश्य, अखबार, फिल्मी पत्र-पत्रिकाएँ, पोस्टर, उत्तेजक चित्र आदि देखने या अपने कमरे, बाथरूम आदि स्थानों में लगाने से बुद्धिपूर्वक बचना चाहिए। इनसे कामवासना बढ़ती है, विशेष पाप का बन्ध होता है।
4. बाजारों में उपलब्ध सभी पेय पदार्थों; जैसे, कोकाकोला, पेप्सी, लिमका, सोडावाटर आदि का तथा बाजार में बनी हुई ठण्डाई, शरबत, च्यवनप्राश, गीले अवलेह आदि का आजीवन त्याग करना ही चाहिए, इनमें बहुत दोष होता है।
5. बाजार में बनी हुई सारी मिठाइयाँ, पकवान, नमकीन, चाट, चटनी आदि को खाने का आजीवन त्याग करना चाहिए। यदि इनमें से कुछ अपने सामने शुद्ध सामग्री एवं छने हुए पानी से दिन में बनाया हुआ हो तो भी उसे घर लाकर ही खाना चाहिए। भावना तो पूर्णतया त्याग करने की ही होना चाहिए।[94]
6. हॉटेल या ढ़ाबे का दूध, दही एवं मिठाइयाँ, नमकीन आदि सभी खाने की चीजों का तो आजीवन त्याग करना चाहिए।
7. दूध और दही में गुड़ मिला कर कभी भी नहीं खाना चाहिए, उसमें बहुत दोष हैं; इनका तो आजीवन त्याग ही करना चाहिए। दही और गुड़ के मिलने पर तो शराब के बराबर दोष उत्पन्न हो जाता है।[95]

8. अनछना पानी, पीने के लिए तो नहीं, बल्कि किसी भी काम में नहीं लेना चाहिए। तुरन्त के छने पानी में अजवायन या सोंफ डाल देने पर उसकी मर्यादा बढ़ जाती है, उसे आप आराम से छह घण्टे तक काम में ले सकते हैं। साधारण गरम और तेज गरम करके भी मर्यादा बढ़ा सकते हैं। पानी मोटे छन्ने से ही छानना चाहिए। पानी छानने के बाद उस छन्ने को छने पानी से धोकर उसकी जीवानी या बिलछानी को उसी पानी के स्रोत तक पहुँचाना चाहिए क्योंकि उस जीवानी या बिलछानी में उस पानी की जाति के अनेक त्रस जीवों का वास होता है, अतः उस बिलछानी को कहीं पर भी फेंक देने पर उन त्रस जीवों को घात हो जाता है।[96]
9. ऊनी वस्त्रों के निर्माण में दोष है क्योंकि ऊन स्वयं भेड़ आदि के केश होते हैं, उसमें उसी जाति के असंख्यात त्रस जीवों की उत्पत्ति निरन्तर होती रहती है; ऊनी वस्त्रों का प्रयोग सर्वथा नहीं करना चाहिए। यदि किसी कारण से उनका त्याग करना सम्भव न हो तो मन्दिर, शास्त्र-स्वाध्याय आदि धार्मिक प्रसंगों में उनका कदापि प्रयोग न करें। सूती वस्त्रों एव शाल आदि का ही प्रयोग करना चाहिए।
10. एक ही थाली में एक साथ अनेक व्यक्तियों को कभी नहीं खाना चाहिए क्योंकि लार में अनेक जीव होते हैं, जो एक-दूसरे की लार के सम्पर्क में आकर मरते हैं। इसी प्रकार एक-दूसरे के जूठे गिलास में पानी आदि भी नहीं पीना चाहिए।
11. शादी-ब्याह, सामूहिक भोज, पिकनिक, सैर-सपाटा आदि में भोजन करने का त्याग ही कर देना चाहिए क्योंकि इनमें बाजार या रात की बनी मिठाइयाँ अवश्य होती हैं। मसाले, धान्य, घी, दूध आदि की मर्यादाएँ भी नहीं पलती हैं।
12. कामोत्पादक होने से सिनेमा देखने का त्याग, मुमुक्षुओं को अवश्य कर देना चाहिए। सिनेमा हॉल में तो सिनेमा देखना ही नहीं चाहिए। टी.वी. आदि में भी सिनेमा देखने से परहेज करना चाहिए।
13. मौनपूर्वक भोजन करना चाहिए। यदि सम्भव न हो तो उसका प्रयास अवश्य करना चाहिए। साथ ही पर्व तथा उपवास-एकाशन के दिन पूरे दिन मौन रखें, चर्चा वार्ता का परहेज करें अथवा कम से कम विकथा तो करें ही नहीं।
14. अमर्यादित अचार, मुरब्बा, पापड़, मंगोड़ी आदि खाने का त्याग तो आजीवन के लिए करना चाहिए।
15. जहाँ जिन-मन्दिर की सुविधा न हो – ऐसे स्थानों पर जाने का त्याग करना चाहिए। विदेशों में भी ऐसे स्थानों पर जाने का परहेज करना चाहिए। स्वदेश में भी क्षेत्र की मर्यादा कम करते जाना चाहिए; जिससे तत्सम्बन्धी दोष स्वयमेव नहीं लगता। नियमों में धर्मकार्य या तत्त्वप्रचार हेतु छूट का प्रावधान रखा जा सकता है।
16. इत्र, सेन्ट, लोशन, क्रीम, पावडर आदि का प्रयोग शरीर को सुन्दर दिखाने के लिए लगाते हैं, उससे बहुत पाप का बन्ध होता है। एक इत्र की बूँद बनाने में असंख्यात त्रस जीवों का घात होता है; इसलिए इनका आजीवन के लिए त्याग करना चाहिए।[97]
17. रेशम वस्त्रों का प्रयोग कभी भी नहीं करना चाहिए क्योंकि एक मीटर रेशमी कपड़ा बनाने में करोड़ों जीवों की हत्या की जाती है।
18. टूथपेस्ट तथा गीले दन्तमंजन का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि इनका उपयोग करने में त्रस स्थावर जीवों की हत्या का पाप लगता है। सूखे, शुद्ध और मर्यादित पावडर का ही उपयोग करना चाहिए।
19. प्रत्येक मुमुक्षु को बाईस प्रकार के अभक्ष्य पदार्थों का भी आजीवन के लिए त्याग करना चाहिए। बाईस प्रकार के अभक्ष्य पदार्थों के नामों का सूचक छन्द इस प्रकार है –

ओला घोरबरा निशिभोजन, बहुबीजा बैंगन संथान।
बड़ पीपर ऊमर कठूमर, पाकर फल जो होय अजान।।
कन्दमूल माटी विष आमिष, मधु माखन अरु मदिरापान।
फल अतितुच्छ तुषार चलितरस, ये बाईस अभक्ष्य बखान।। 55।। [98]

अर्थात् 1. ओला या अनछने पानी की बर्फ 2. घोरबड़ा या दहीबड़ा या द्विदलदोष 3. निशि-भोजन 4. बहुबीजाफल (जिन फलों/सब्जियों में बहुत बीजों के स्थान अलग-अलग न हों) 5. बैंगन

6. संथान (अचार, मुरब्बा आदि अमर्यादित पदार्थ) 7. बड़ 8. पीपल 9. ऊमर 10. कठूमर 11. पाकर (7–11 तक के सभी उदुम्बर फल हैं, इन सबमें त्रसजीवों का घात होता है) 12. अजानफल या अनजानफल 13. कन्दमूल (जमीकन्द) 14. माटी 15. विष (जहर) 16. आमिष (माँस) 17. मधु (शहद) 18. नवनीत (मक्खन) 19. मदिरा (शराब) 20. अतितुच्छ फल (अविकसित अवस्था वाले फल) 21. तुषार (ओस का जल) 22. चलित रस (जिन पदार्थों का स्वाद बिगड़ गया हो) – इन बाईस अभक्ष्यों का वर्णन, आगम में किया गया है।

20. जिन पदार्थों (अनाज आदि) के बीच में से दो फाड़ होते हैं – ऐसे अन्न को (जैसे, मूँग, उड़द, मोठ, चना, मटर, चवला, तुअर आदि); काष्ठ की वस्तुएँ (जैसे, धना, मैथीदाना, लाल मिर्च के बीज, तोरु आदि के बीज); बादाम, चिरोंजी आदि सूखे मेवे – इनको दही, छाछ, दूध आदि के साथ मिला कर खाने से **द्विदल का दोष** आता है क्योंकि इस मिश्रण का जब मुँह की लार के साथ सम्बन्ध होता है, तब त्रसजीवों की उत्पत्ति होकर उनका घात होता है, इसलिए इनका त्याग अवश्य करना चाहिए।[99]
21. आप नियमबद्ध होकर अपनी आवश्यक्ता के अनुसार अथवा उससे भी अधिक सोना, चाँदी, रत्न, जवाहरात, जेवर, रुपया, एफ.डी.आर., एन.एस.सी., मकान, शेयर आदि की निश्चित सीमा करके; कार, स्कूटर, साइकिल आदि वाहनों की निश्चित संख्या करके; रसोईघर हेतु बर्तनों में गिलास, कटोरी, थाली, लोटा, भगोने, कुकर आदि की भी निश्चित संख्या करके; साथ ही घर में उपयोग आने वाली टेबल, कुर्सी, आदि की भी निश्चित संख्या करके; अन्य भी परिग्रहों की सीमा निर्धारित करके; इन सबकी भविष्य की आवश्यकता का विचार करके कुछ मात्रा बढ़ा कर; बाकी समस्त वस्तुओं का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार मर्यादा करके आप अनाप-शनाप परिग्रह से बच जाएँगे और आपको उन पदार्थों के सम्बन्ध में अविरतिजन्य दोष भी नहीं लगेगा।
22. प्रत्येक श्रावक को अपने पहनने/ओढ़ने सम्बन्धी कपड़ों की भी निश्चित संख्या करनी चाहिए। उनको साफ-सुथरा रखने में, धोने आदि में किसी प्रकार का आलस्य नहीं करना चाहिए। तेज डिटर्जेन्ट का प्रयोग नहीं करना चाहिए। साबुन-सोड़े के पानी से नाली में विद्यमान हजारों लाखों त्रसजीवों की हिंसा होती है, अतः साबुन का पानी बहाने से पूर्व कुछ साफ पानी बहा कर नाली के जीवों को दूर करना चाहिए, उसके बाद साबुन-सोड़े का पानी बहाना चाहिए अथवा साबुन का पानी साफ सुथरी जगह देख कर, छत आदि पर बहा कर सुखा लेना चाहिए। द्रवीभूत साबुन या डिटर्जेन्ट का उपयोग नहीं करना चाहिए। धोबी से वस्त्र नहीं धुलाना या प्रेस नहीं कराना चाहिए।
23. स्त्रियों को शृंगार हेतु लिपिस्टिक, नेलपॉलिस, पावडर, क्रीम, आई लाइनर, हेयर लोशन, सेन्ट या परफ्यूम आदि का आजीवन त्याग कर देना चाहिए क्योंकि इनमें वस्तुओं के निर्माण में महाहिंसा होती है। ये लगाना अनिवार्य भी नहीं होते हैं। इनके अधिक मात्रा में प्रयोग करने से स्वास्थ्य पर भी दुष्परिणाम होता है।[100]''

निष्कर्ष – सभी सदोष वस्तुओं का तो त्याग आजीवन पर्यन्त के लिए ही होना चाहिए। यदि कदाचित् किसी वस्तु का त्याग न हो पा रहा हो तो उसे अपनी कमजोरी स्वीकार करना चाहिए। यहाँ हमने कुछ नियमों से अवगत कराया है। इनके अलावा भी जगत् के अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में अपने स्वविवेक से निर्णय करना चाहिए। खाने-पीने आदि की चीजों में अतिगृद्धता का होना सर्वथा अनुचित है।

पाक्षिक श्रावक की क्रियाएँ[101]

पाक्षिक श्रावक की क्रियाओं के सम्बन्ध में **डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य** लिखते हैं –

''वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी देव, वीतरागी शास्त्र, निर्ग्रन्थ गुरु एवं निर्ग्रन्थ धर्म को सत्य मानना पक्ष है – ऐसे पक्ष को रखने वाला **पाक्षिक श्रावक** कहलाता है। इस श्रेणी के श्रावक की आत्मा में समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री, गुणी जीवों के प्रति प्रमोद, दीन-दुःखियों के प्रति करुणा और विपरीत वृत्ति वालों के प्रति माध्यस्थ भाव रहता है। यह न्यायपूर्वक आजीविका का उपार्जन आदि क्रियाओं का पालन करते हुए जीव-हिंसा से विरत रहने की चेष्टा करता है –

1. **न्यायपूर्वक धनोपार्जन** – गार्हस्थिक कार्यों को सम्पादित करने के लिए आजीविका अर्जित करना, आवश्यक है – यही **न्यायपूर्वक धनोपार्जन** कहलाता है; परन्तु उसे विश्वासघात, छलकपट, धूर्तता, और अन्यायपूर्वक धनार्जन करना त्याज्य है क्योंकि जिसे धर्म का पक्ष है, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति निष्ठा या श्रद्धा है – ऐसा श्रावक, धनार्जन में अन्याय और अनीति का प्रयोग नहीं करता। सन्तोष, शान्ति और नियन्त्रित इच्छाओं के आलोक में शुभ प्रवृत्तियों द्वारा आजीविकोपार्जन का प्रयास करता है। आजीविका के साधनों में हिंसा और आरम्भ का उपयोग कम से कम किया जाए – इस बात का पूरा ध्यान रखता है। तृष्णा और विषय-कषायों को सीमित और नियन्त्रित कर परिवार के भरण-पोषण के हेतु आजीविकोपार्जन करता है।
2. **गुण-पूजा** – आत्मा के मार्दव धर्म के विकास हेतु गुणी व्यक्ति और उसके ज्ञान दर्शन चैतन्यादि गुणों का बहुमान श्लाघा एवं प्रशंसा करना, **गुणपूजा** है। गुणों, गुरुओं और गुणयुक्त गुरुओं का पूजन एवं सम्मान करना, गुण-विकास का कारण है। अपने भीतर सदाचार सज्जनता उदारता दानशीलता ओर हित-मित-प्रिय वचनशीलता का प्रयोग स्व और पर का उपकारक है। जिस पाक्षिक श्रावक को धर्म के प्रति निष्ठा है, वह अपने आचरण में वैयावृत्ति एवं गुण-गुरु-पूजा को उपयोगी समझता है; अतः पाक्षिक श्रावक की पात्रता प्राप्त करने के लिए गुणपूजा आवश्यक है, इससे आत्मा के अहंकार और ममकार भी क्षीण होते हैं।
3. **प्रशस्त वचन** – निर्दोष वाणी का प्रयोग करना, **प्रशस्त वचन** है। परनिन्दा और कठोरता आदि दोषों से रहित प्रशस्त तथा उत्कृष्ट वचनों का व्यवहार, जीवन के लिए हितकर और उपयोगी है।
4. **निर्बाध त्रिवर्ग का सेवन** – धर्म, अर्थ और काम – इन तीनों पुरुषार्थों का विरोधरहित सेवन करना, **निर्बाध त्रिवर्ग सेवन** है। इन तीन पुरुषार्थों में से काम का कारण अर्थ है क्योंकि अर्थ के बिना इन्द्रिय-विषयों की सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकती है और अर्थ का कारण धर्म है क्योंकि पुण्योदय अथवा प्रामाणिकंता के बिना धन की प्राप्ति नहीं होती। प्रामाणिकता, सदाचार पर निर्भर है। इस तरह पाक्षिक श्रावक को अविरोधभाव से उक्त तीनों पुरुषार्थों का सेवन करना चाहिए।
5. **त्रिवर्ग-सेवन के लिए योग्य स्त्री, ग्राम, भवन की आवश्यकता** – त्रिवर्ग के साधन में सहायक स्त्री या भार्या है। सुयोग्य भार्या के रहने से परिवार में शान्ति सुख और सहयोग विद्यमान रहते हैं; संयम अतिथिसेवा एवं शिष्टाचार की वृद्धि होती हैं। भार्या के समान ही त्रिवर्ग में साधक भवन और ग्राम होना भी आवश्यक है।
6. **उचित लज्जा** – लज्जा, मानव-जीवन का आभूषण है। लज्जाशील व्यक्ति स्वाभिमान की रक्षा हेतु अपयश के भय से कदाचार में कभी प्रवृत्त नहीं होता है। विरुद्ध परिस्थिति के आने पर भी **लज्जाशील व्यक्ति** कुकर्म नहीं करता है। वह शिष्ट और संयमित व्यवहार का आचरण करता है।
7. **योग्य आहार-विहार** – अभक्ष्य अनुपसेव्य और चलितरस के सेवन का त्याग करना तथा स्वास्थ्यप्रद और निर्दोष भोजन ग्रहण करना **योग्य आहार** है। जिह्वा-लोलुपी और विषय-लम्पटी भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक नहीं रख सकता है। अतएव विवेक और संयमपूर्वक **आहार-विहार पर नियन्त्रण** रखना योग्य है।
8. **आर्य-समिति** – जिनके सहवास से आत्म-गुणों में विकास हो, संयम की प्रवृत्ति जागृत हो और आत्म-प्रतिष्ठा बढ़े – ऐसे सदाचारी व्यक्तियों की संगति करना, **आर्यसमिति** कहलाती है। व्यक्ति, शुभाचरण वाले पुरुषों के सम्पर्क से आचारवान् बनता है; अतः नीच और दुराचारी व्यक्तियों की संगति का त्यागना अत्यावश्यक है।
9. **विवेक** – कर्तव्य-अकर्तव्य का तर्क-वितर्क पूर्वक निर्धारण करना, **विवेक** है। विवेक द्वारा लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार के करणीय और अकरणीय कार्यों का निर्धारण किया जाता है।
10. **उपकार-स्मृति या कृतज्ञता** – कृतज्ञता, मनुष्य का एक गुण है। जो व्यक्ति, अपने ऊपर किये गये दूसरों के उपकारों का स्मरण रखता है और उपकार के बदले में प्रत्युपकार करने की भावना रखता है, वह **कृतज्ञ** कहलाता है। कृतज्ञता, जीवन-विकास के लिए आवश्यक है। इस गुण के सद्भाव से धर्म-धारण की योग्यता उत्पन्न होती है।
11. **जितेन्द्रियता** – इन्द्रियों के विषयों को नियन्त्रित करना तथा अनाचार और दुराचाररूप प्रवृत्ति को रोकना, **जितेन्द्रियता** है। जो व्यक्ति इन्द्रियों के अधीन है और विषय-सुखों को ही जिसने अपना सर्वस्व मान लिया

है, वह कषाय और विकारों से छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता है। इन्द्रिय-विषय-लोलुपी जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। वह आत्मा से विमुख हुआ विषय-सेवन को ही सुख का साधन समझता है; अतः इन्द्रियों को नियन्त्रित करना, जितेन्द्रियता है।

12. **धर्म-विधि-श्रवण** – अभ्युदय और निःश्रेयस का साधन, धर्म है। युक्ति और आगम से सिद्ध धर्म की प्रतिष्ठा अथवा उसके स्वरूप का प्रतिदिन श्रवण करना, **धर्म-विधि-श्रवण** है। अज्ञानता और तीव्र राग-द्वेष के वशीभूत हुआ व्यक्ति, धर्म का श्रवण नहीं कर पाता है। इसके लिए आत्म-परिणामों का कोमल होना आवश्यक है।
13. **दयालुता** – दुःखी प्राणियों के दुःखों को दूर करने की इच्छा दया कहलाती है। जिसके हृदय में कोमलता, करुणा और आर्द्रता है, वही **दयालु** हो सकता है। धर्म-धारण की योग्यता प्राप्त करने के लिए आत्म-परिणति का दयायुक्त होना आवश्यक है। जिस व्यक्ति की आत्मा में दया की जितनी अधिक भावना समाहित रहती है, वह व्यक्ति अपनी आत्मा को उतना ही धर्म-धारण के योग्य बनाता है।
14. **पाप-भीति** – अनिष्ट फल प्रदान करने वाले हिंसा झूठ चोरी आदि पापों से भयभीत रहना, अपने को धर्म-धारण का अधिकारी बनाना है। जो निर्भय होकर पापाचरण करता है, वह धर्म का अधिकारी नहीं हो सकता है। अतएव पाप-कार्यों से डर कर दूर रहना, **पाप-भीति** है।

इस प्रकार पाक्षिक श्रावक उक्त चौदह गुणों द्वारा अपनी आत्मा को धर्मधारण के योग्य बनाता है।''

पाक्षिक श्रावक की दिनचर्या

दैनिक कार्यों में प्रतिदिन जिनेन्द्र-पूजन आदि करने का अभिप्राय केवल वैयावृत्त्य, दान, उपवास आदि द्वारा पुण्य-बन्ध करके स्वर्ग-सुखों की प्राप्ति करना मात्र ही नहीं है, किन्तु चित्त-वृत्ति को संसार से फेर कर, वीतरागरूप करके धर्मध्यान-शुक्लध्यान में लगा कर परमात्मपने की प्राप्ति कराना है। जिस प्रकार किसी सांसारिक कार्य को समुचित रीति से करने से वह सफल होता है, उसी प्रकार सम्यक्त्वसहित आत्मानुभवपूर्वक एकाग्र-चित्त करके पंच परमेष्ठी के दर्शन-पूजन-वन्दन, स्वाध्याय, संयम, तप, दान आदि में प्रवृत्ति करने से मोक्ष के समान अलौकिक सुख की प्राप्ति हो सकती है – ऐसा जान कर प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि यथाशक्ति नित्य धार्मिक षट्कर्मों में प्रवृत्ति करें। इस प्रकार श्रावक अपना सर्वांगीण विकास निर्लिप्त भाव से स्वकर्तव्य का सम्पादन करते हुए घर में रह कर भी कर सकता है।

पाक्षिक श्रावक की दिनचर्या को निम्न प्रकार से परिभाषित कर सकते हैं –

1. सर्व प्रथम ब्रह्ममुहूर्त में उठ कर पंच नमस्कार मन्त्र का पाठ करें तथा ऐसा विचार करे कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या धर्म है ? मेरा क्या कर्तव्य है ? आदि।
2. स्नानादि के पश्चात् जिनालय में योग्य विधिपूर्वक प्रवेश करे तथा अरहन्त आदि की पूजा-वन्दना आदि करे।
3. पश्चात् जिनवाणी का स्वाध्याय करे।
4. तत्पश्चात् गृह-सम्बन्धी कार्यों को करने से पूर्व आहार-दानादि देकर मुनिव्रत की भावनापूर्वक स्वयं भोजन करे।
5. दोपहर में भी अरहन्त भगवान की आराधना आदि के साथ तत्त्वचर्चा करे।
6. सन्ध्याकाल में भाव-पूजादि (स्तवन, वन्दना, सामायिक, चिन्तवन आदि) करके शयन करें।
7. रात्रि में निद्रा उचटने पर वैराग्य भावना का चिन्तवन करे।

श्रावक को दुःख मेटने एवं सुख की प्राप्ति हेतु प्रतिदिन करने योग्य मुख्य षट्कार्य इस प्रकार हैं –

1. **देवपूजा** – देवपूजा, शुभोपयोग का साधन है। पूज्य या अर्च्य गुणों के प्रति आत्मसमर्पण की भावना ही पूजा है। पूजा करने से शुभराग की वृद्धि होती है, पर यह शुभराग अपने 'स्व' को पहचानने में उपयोगी सिद्ध होता है। पूजा के दो भेद हैं – द्रव्यपूजा और भावपूजा। अष्ट द्रव्यों से वीतराग और सर्वज्ञदेव की पूजा करना, **द्रव्यपूजा** है और बिना द्रव्य के केवल गुणों का चिन्तन और मनन करना, **भावपूजा** है। भावपूजा में आत्मा के गुण ही आधार रहते हैं, अतः पूजक को आत्मानुभूति की प्राप्ति होती है। सराग

वृत्ति होने पर भी पूजन द्वारा राग-द्वेष के विनाश की क्षमता उत्पन्न होती है। पूजा, सम्यग्दर्शन गुण को तो विशुद्ध करती ही है, पर वीतराग आदर्श को प्राप्त करने के लिए भी प्रेरित करती है। यह आत्मोत्थान की भूमिका है।

2. **गुरुभक्ति** – गुरु का अर्थ अज्ञान अन्धकार को नष्ट करने वाला है। यह निर्ग्रन्थ, तपस्वी और आरम्भ-परिग्रहरहित होता है। जीवन में संस्कारों का प्रारम्भ गुरु-चरणों की उपासना से ही सम्भव है। इसी कारण गृहस्थ के दैनिक षट्कर्मों में गुरूपास्ति को आवश्यक माना है, यतः गुरु के पास सतत निवास करने से मन-वचन-काय की विशुद्धि स्वतः होने लगती है और वाक्-संयम, इन्द्रिय-संयम और आहार-संयम भी प्राप्त होने लगते हैं। गुरु-उपासना से प्राणी को स्व-पर-प्रत्यय की उपलब्धि होती है। अतएव गृहस्थ को प्रतिदिन गुरु-उपासन एवं गुरु-भक्ति करना आवश्यक माना गया है।
3. **स्वाध्याय** – स्वाध्याय का अर्थ स्व-आत्मा का अध्ययन-चिन्तन-मनन है। प्रतिदिन ज्ञानार्जन करने से राग के त्याग की शक्ति उपलब्ध होती है। स्वाध्याय समस्त पापों का निराकरण कर रत्नत्रय की उपलब्धि में सहायक होता है। बुद्धिबल और आत्मबल का विकास स्वाध्याय द्वारा होता है। स्वाध्याय द्वारा संस्कारों में परिणाम-विशुद्धि होती है और परिणाम-विशुद्धि ही महाफलदायक है। मन को स्थिर करने की दिव्यौषधि स्वाध्याय ही है। हेय उपादेय और ज्ञेय की जानकारी का साधन स्वाध्याय है। स्वाध्याय वह पीयूष है, जिससे संसाररूपी व्याधि दूर हो जाती है। अतएव प्रत्येक श्रावक को आत्म-तन्मयता आत्म-निष्ठा प्रतिभा मेधा आदि के विकास के लिए स्वाध्याय करना आवश्यक है।
4. **संयम** – इन्द्रिय और मन का नियमन कर संयम में प्रवृत्त होना अत्यावश्यक है। कषाय और विकारों का दमन किये बिना आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती है। संयम ही ऐसी औषधि है, जो राग-द्वेषरूप परिणामों को नियन्त्रित करता है। संयम के दो भेद हैं – इन्द्रिय-संयम और प्राणि-संयम। इन दोनों संयमों में पहले इन्द्रिय-संयम का धारण करना आवश्यक है क्योंकि इन्द्रियों के वश हो जाने पर ही प्राणियों की रक्षा सम्भव होती है। इन्द्रिय-सम्बन्धी अभिलाषाओं लालसाओं और इच्छाओं का निरोध करना इन्द्रिय - संयम के अन्तर्गत है। जिसने इन्द्रिय-संयम का पालन आरम्भ कर दिकया है, वह जीवन निर्वाह के लिए कम से कम सामग्री का उपयोग करता है, जिससे शेष सामग्री समाज के अन्य सदस्यों के काम आती है, संघर्ष कम होता है और विषमता दूर होती है। यदि एक मनष्य अधिक सामग्री का उपभाग करे तो दूसरों के लिए सामग्री कम पड़ेगी, जिससे शोषण आरम्भ हो जाएगा। अतएव इन्द्रिय-संयम का अभ्यास करना आवश्यक है। प्राणि-संयम में षट् काय के जीवों की रक्षा अपेक्षित है। प्राणि-संयम के धारण करने से अहिंसा की साधना सिद्ध होती है और आत्म-विकास का आरम्भ होता है।
5. **तप** – इच्छानिरोध को **तप** कहते हैं। जो व्यक्ति अपनी महत्त्वाकांक्षाओं और इच्छाओं का नियन्त्रण करता है, वह तप का अभ्यासी है। वास्तव में अनशन ऊनोदर आदि तपों के अभ्यास से आतमा मे निर्मलता उत्पन्न होती है। अहंकार और ममकार का त्याग भी तप के द्वारा ही सम्भव है। रत्नत्रय के अभ्यासी श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन तप का अभ्यास करना चाहिए।
6. **दान** – शक्त्यनुसार प्रतिदिन दान देना चाहिए। सम्पत्ति की सार्थकता दान में ही है। दान, सुपात्र को देने से अधिक फलवान् होता है। यदि दान में अहंकार का भाव आ जाए तो दान निष्फल हो जाता है। यह श्रावक, मुनि-आर्यिका-क्षुल्लक-क्षुल्लिका-ब्रह्मचारी-व्रती आदि को दान देकर शुभभावों का अर्जन करता है।

इसके अलावा पाक्षिक श्रावक का विस्तार से स्वरूप जानने के लिए **सागार धर्मामृत, श्रावकधर्मप्रदीप,** आदि श्रावकाचार के प्ररूपक ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

श्रावक सम्बन्धी सौर-सूतक-पातक विवेचन[102]

''जन्म-सम्बन्धी अशौच को **सौर** कहते हैं। वह तीन प्रकार का है – स्राव-सम्बन्धी, पात-सम्बन्धी और जन्म-सम्बन्धी।

1. तीसरे-चौथे महिने तक के गर्भ गिर जाने को **स्राव या गर्भ-स्राव** कहते हैं। यदि गर्भस्राव-सम्बन्धी अशौच तीसरे महिने में हो तो माता को तीन दिन का तथा यदि चौथे महिने में हो तो चार दिन का सूतक मानना चाहिए। पिता और अन्य कुटुम्बीजन केवल स्नान कर लेने मात्र से ही शुद्ध हो जाते हैं; उन्हें तीन या चार दिन का अशौच-सूतक नहीं होता।

2. पाँचवें-छठे महिने तक के गर्भ गिर जाने को **पात या गर्भ-पात** कहते हैं। यदि गर्भ-पात-सम्बन्धी अशौच पाँचवें महिने का हो तो माता को पाँच दिन का तथा यदि छठे महिने का हो तो छह दिन का सूतक माना जाता है। पिता तथा अन्य कुटुम्बीजन को एक दिन का सूतक होता है।
3. सातवें से दशवें महिने तक जो **प्रसूति** होती है, उसे **जन्म** कहते हैं। जन्म के समय सूतक माता, पिता और कुटुम्बीजनों को दश दिन का होता है।
4. विशेष बात यह है कि माता को दश दिन का तो ऐसा सूतक लगता है कि जिससे दश दिन तक तो कोई उसका मुख न देख सके। इसके अलावा 35 दिन का अनधिकार सूतक उसे लगा रहता है। अनधिकार सूतक में भी उसे देव-पूजा, शास्त्र-स्वाध्याय, कुटुम्बीजनों के लिए भोजन आदि बनाने का अधिकार नहीं होता।

प्रश्न – सौर-सूतक-पातक के समय गृहस्थों को भगवान की पूजन-प्रक्षाल करने का अधिकार है या नहीं ?

उत्तर – यह बात परम्परा पर आश्रित है। जहाँ जैसी परम्परा हो, वहाँ उसका वैसा ही पालन करना चाहिए। इन परम्पराओं को तोड़ने में कोई लाभ नहीं है। फिर भी यह बात जरूर है कि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा इनमें परिवर्तन होता रहता है।

इस विषय में भरत चक्रवर्ती का उदाहरण देखिए –

राजा भरत राजसभा में बैठे थे, तभी एक सन्देशवाहक ने आकर कहा –

'महाराज! आपको पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है।'

उसी समय दूसरे सन्देशवाहक ने कहा –

'महाराज! आपकी आयुध-शाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है।'

लगभग उसी समय तीसरे सन्देशवाहक ने आकर कहा –

'महाराज! प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव को त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती अनन्तानन्त पदार्थों का जिसमें एक साथ प्रतिबिम्ब पड़ता है – ऐसा केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है।'

उक्त तीनों खबरें भरत महाराज के पास राजसभा में बैठे ही बैठे आ गईं थी; अतः उन्होंने सर्व प्रथम समवसरण में जाकर भगवान् आदिनाथ तीर्थंकर के केवलज्ञान कल्याणक की पूजन की। पश्चात् वहाँ से आकर चक्ररत्न का सत्कार किया। तत्पश्चात् पुत्र-रत्न की प्राप्ति का उत्सव किया।

यह घटना कहने का तात्पर्य यह है कि राजाओं को सूतक-पातक आदि नहीं होते हैं। यदि होते तो वे तत्काल समवसरण में जाकर भगवान की पूजन कैसे करते ? यदि उनका वहाँ जाना अनुचित होता तो दिव्यध्वनि के माध्यम से या गणधरों के द्वारा उनके इस कार्य का उसी समय निषेध हो जाता; किन्तु ऐसा नहीं हुआ।

ऐसे कथन प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में अनेक जगह आए हैं।

ऐसा भी आता है कि जिनदत्त नामक सेठ के यहाँ जब पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई, तब उन्होंने चैत्यालय में शोभा, देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव का अभिषेक तथा पूजन कराया – ऐसा कथन आदिपुराण में भी है।

सौर-सूतक के अन्य उदाहरण

अवन्ति देश में उज्जैनी नगरी में राजा वृषभांक के राज में सुरेन्द्रदत्त नामक सेठ की यशोभद्रा नामक सेठानी थी। जब इस सेठानी को पुत्रोत्पत्ति हुई, तब उस सेठानी ने जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर में विशेष पूजन-प्रभावना कराई – यह कथन सुकमाल-चरित्र के सप्तम अध्याय का है।

पद्म-पुराण, विमल-पुराण, संभव-पुराण और मुनिसुव्रत-पुराण तथा अन्य ग्रन्थों में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं। जैसे, सेठ अरहदास के यहाँ पुत्रोत्पत्ति के समय भगवान जिनेन्द्र के मन्दिरजी में पूजन कराई गई और विशेष उत्सव कराया गया।

आजकल भी देखा जाता है कि जब किसी गृहस्थ के घर में कोई पुरुष या स्त्री मर जाती है तो लोग तीसरे दिन श्रीमन्दिरजी में उठावना लेकर जाते हैं और पंचों की साक्षी में वह सद्गृहस्थ अपने घर से

कोई द्रव्य ले जाकर श्रीमन्दिरजी में चढ़ाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जन्म के सौर के समय तो भगवान की पूजा करना लिखा ही है और मरण के सूतक के समय भी द्रव्य चढ़ाना प्रत्यक्ष में है ही।

प्रश्न – तो आजकल उन्हें द्रव्य चढ़ाने से क्यों रोका जाता है ?

उत्तर – इस दिगम्बर सम्प्रदाय में भी ऐसा हुआ कि विक्रम की 13वीं शताब्दी से भट्टारक मार्ग चला; तब इनको पण्डित रखने की तथा शिष्य बनाने की आवश्यकता पड़ी तो इसके लिए तब इनको कोई ब्राह्मण मिला तो उसको इन्होंने पण्डित या भट्टारक बना लिया। पश्चात् उन ब्राह्मणों के यहाँ जो क्रियाएँ चलती थीं, उनके अनुकूल ग्रन्थ बना कर, उन्होंने ऐसा कथन कर दिया और जनता में इस बात की भावना, उपदेश दे देकर भर दीं कि सौर-सूतक में द्रव्य मत चढ़ाओ और भगवान की आरती गोमय सरसों, आदि द्रव्यों से करो तथा प्रतिमा की शुद्धि में गो-मूत्र डालो, श्राद्ध करो, तर्पण करो, आचमन करो, केशर-पुष्प चढ़ाओ, भगवान के गले में माला तथा सिर पर पुष्पों का मुकुट लगाओ। दुग्ध के कुण्ड में भगवान को रात भर रखो। भगवान को भी आमचन कराओ। क्षेत्रपाल, पद्मावती, चण्डी, मुण्डी, यक्ष, राक्षस आदि की आराधना पाक्षिक श्रावक कर सकता है – ऐसा कहा। ग्रहण, सोमवती अमावस्या, व्यतिपात में ब्राह्मणों को दान करो, इत्यादि कहाँ तक कहा जाए?

जो कुछ इन्होंने करना चाहा, वह सब कथा के रूप में जैनधर्म के कुलों में या ग्रन्थों में सब बातें भर दीं। इनको कोई रोकने वाला नहीं मिला क्योंकि वे जादू यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र आदि करते थे सो लोगों को इनका डर लगता था। इस कारण जैनियों के यहाँ भी ये सब बातें चल पड़ीं। वास्तव में यह जैनधर्म के अनुकूल नहीं है।

वर्तमान की मान्यता

अब वर्तमान की मान्यता के अनुसार सौर-सूतक का वर्णन करते हैं –

सूतकं वृद्धिहानिभ्यां, दिनानि दश द्वादश।
प्रसूतिस्थानमासैकं,स्नानमात्रं च गोत्रिणाम्।।[103]

अर्थात् सौर-सूतक, वृद्धि-हानियुक्त होता है; वह क्रमशः दश दिन तथा बारह दिन का होता है। सौर तो दश दिन का तथा मरण बारह दिन का होता है। प्रसूति स्थान की पवित्रता एक मास में होती है। गोत्रीजनों की शुद्धि एक दिन के बाद हो जाती है।

अन्य स्थानों में जो गोत्री लोगों को पाँच दिन का सूतक कहा है सो बनता ही नहीं है; अतः उसे एक दिन का ही समझना चाहिए क्योंकि गोत्र तो बड़ा होता है। इसलिए यह कथन योग्य प्रतीत नहीं होता है क्योंकि पीढ़ियों में तो दश पीढ़ी तक ही सौर-सूतक बतलाया है।

प्रसूता स्त्री डेढ़ माह के बाद जिनेन्द्र देव का पूजन, दर्शन, स्वाध्याय, पात्र-दान आदि के योग्य होती है। सौर का दोष 11वें दिन तथा मरण का 13वें दिन शुद्ध होता है। कहा भी है –

यदिगर्भविपत्तिः स्यात्, स्रवणं चाऽपि योषिताम्।
यावन्मासास्थितो गर्भस्तावद्धिनानि सूतकम्।।[104]

अर्थात् जितने माह का गर्भपात हुआ हो, उतने ही दिन का सौर मानना चाहिए। यदि गर्भ एक माह के पूर्व गिर जाए तो भी सौर एक दिन का मानना चाहिए। पूर्ण सौर दश दिन का होता है।

और भी कहा है –

अश्वी च महिषी चेटी, गौः प्रसूता गृहांगणे।
सूतकं दिनमेकं स्यात्, गृहबाह्ये न सूतकं।।
दासी दासस्तथा कन्या, जायते म्रियते यदि।
त्रिरात्रं सूतकं ज्ञेयं, गृहमन्ये तु दूषणम्।।[105]

अर्थात् घोड़ी, भैंस, दासी और गाय, जो घर के आंगन में ब्यावे तो एक दिन का सौर मानो और घर के बाहर ब्याहने में सौर नहीं होता।

जो घर में सदा रहने वाले दासी-दास, जैसे, राजा लोगों को दहेज में दासी-दास दिये जाते हैं तथा कन्या की प्रसूति या मरण हो तो तीन रात्रि का सूतक होता है, सो भी घर में हो तो मानना चाहिए अन्यथा नहीं।

और भी कहा है –

कुटुम्बिनां सूतके जाते, गते द्वादशके दिने।
जिनाभिषेकपूजाभ्यां, पात्रदानेन शुद्ध्यति।।[106]

अर्थात् कुटुम्बीजनों के सूतक की शुद्धि बारह दिन के बाद होती है; उसके बाद भगवान का अभिषेक-पूजन तथा पात्र-दान कर सकता है।

तात्पर्य यह है कि तीन पीढ़ी तक जन्म तथा मरण का सौरि-सूतक दश दिन तथा बारह दिन का होता है; अतः इन दिनों के बाद जिनबिम्ब का अभिषेक-पूजन तथा पात्र-दान कर सकता है।

और भी कहा है –

चतुर्थे दशरात्रिः स्यात्, षट्रात्रिः पुंसि पंचमे,
षष्ठे चतुरहः शुद्धिः, सप्तमे च दिनत्रयम्।
अष्टमे पुंस्यहो रात्रं, नवमे प्रहरद्वयम्,
दशमे स्नानमात्रं स्यादेतत् गोत्रस्य सूतकम्।।[107]

अर्थात् सौर-सूतक तीन पीढ़ी तक तो ऊपर कह दिया गया है। अब रहा मरण-सूतक, सो चौथी पीढ़ी में 10 दिन, पाँचवीं में 6 दिन, छठी पीढ़ी में 4 दिन, आठवीं में एक दिन-रात, नवमी में दो प्रहर और दषमी में स्नानमात्र से शुद्ध होता है।

तीन दिन के बच्चे की मृत्यु का सूतक 1 दिन, चौथे दिन से लगा कर 8 वर्ष पर्यन्त बालक की मृत्यु का सूतक 3 दिन का होता है। उसके बाद का सूतक पूरा 12 दिन का होता है।

सूतक-सम्बन्धी विशेषताएँ

प्रव्रजिते मृते बाले, देशान्तरमृते रणे।
संन्यासे मरणे चैव, दिनैकं सूतकं भवेत्।।[103]

अर्थात् अपने कुल से जिसने मुनिव्रत या उत्कृष्ट श्रावक का व्रत या गृह-त्यागी का व्रत लिया हो अथवा जिसका देशान्तर में मरण हुआ हो, युद्ध में तथा संन्यासपूर्वक जिसका मरण हुआ हो तथा तीन दिन के बालक का मरण हो गया हो तो उनका सूतक एक दिन का माना गया है।

विशेष यह है कि जो अपने घर के स्त्री या पुरुष विदेश में रहते हों तथा यदि उनका मरण हो जाए तो 12 दिन का सूतक होता है, अगर बारह दिन के पहले खबर नहीं मिले तो जितने दिन बाकि होवें, उतने दिन का सूतक मानना चाहिए। अगर 12 दिन पूर्ण हो गये हों तो एक दिन का सूतक, यदि मृतक चौथी पीढ़ी से लगा कर, दशवीं पीढ़ी तक का होवे तो स्नानमात्र से सूतक की शुद्धि होती है।

पातक का वर्णन

सतीनां सूतकं हत्या, पापं षण्मासिकं भवेत्।
अन्यासामात्महत्यानां, यथापापं प्रकाशयेत्।।[109]

अर्थात् अपघात-मरण को ही पातक कहते हैं। जैसे, सती का होना, क्रोध के वश कुए में गिरना, नदी में डूब कर मरना, छत पर से गिरना, विष खाना, फाँसी लगाना, या शरीर में तेल डाल कर आग लगाना, गर्भपात करना/कराना आदि को अपघात कहते हैं। इन कार्यों के करने वालों, उनके उपदेशकों या मददगारों को 6 माह तक जिनेन्द्रदेव का अभिषेक नहीं करना चाहिए। सभा में बैठ कर शास्त्र-वाँचन, पठन-पाठन, एवं स्वाध्याय करने का निषेध नहीं है। यही बात पूजन के सम्बन्ध में है, मन्दिर के वस्त्र पहन कर द्रव्य-पूजन नहीं करना चाहिए; लेकिन दूर से जिनेन्द्रदेव की पूजन तो सब कर सकते हैं, चाण्डाल को भी रोक-टोक नहीं है तो फिर इसको रोक-टोक कैसे हो सकती है ? शास्त्र या उपदेश-सम्बन्धी धर्मकार्यों को करने से किसी को भी इसको रोक-टोक नहीं है। शास्त्रानुकूल प्रायश्चित्त से ऐसे पापों की शुद्धि होती है।''

सूतक-पातक के सन्दर्भ में विभिन्न ग्रन्थों के निर्देश[110]

''जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में कोशकार श्री जिनेन्द्र वर्णी ने विभिन्न ग्रन्थों के सारगर्भित सन्दर्भों को दिया गया है, उन्हें यहाँ दिया जा रहा है –

- **सूतक-पातक-विषयक जुगुप्सा, हेय अर्थात् छोड़ने योग्य**

  'जुगुप्सा या गर्हा दो प्रकार की है – लौकिकी व लोकोत्तर। लोक-व्यवहार- शोधनार्थ सूतक आदि का निवारण करने के लिए जो लौकिकी जुगुप्सा की जाती है, वह छोड़ने योग्य है तथा परमार्थ या लोकोत्तर जुगुप्सा करना योग्य है।'[111]

- **भोजन-शुद्धि में सूतक-पातक के विवेक का निर्देश**
  - 'जिसका मरणाशौच अथवा जननाशौच है – ऐसे दोष से युक्त गृहस्थ के द्वारा यदि वसतिका दी गई हो तो वह दायक-दोष से दुष्ट है।'[112]
  - 'अपवित्रता अथवा मृतादिक के सूतक से संयुक्त जो कुपात्रों में दान करता है, वह जीव कुमनुष्यों में उत्पन्न होता है।'[113]
  - 'शव को श्मशान में छोड़ कर आए हुए मृतक-सूतक से युक्त पुरुषों द्वारा दत्त-व्यवहार दायक-दोष से दूषित समझना चाहिए।'[114]
  - 'साधु, दीन अर्थात् द्ररिद्री तथा सूतक वाली स्त्री के घर का विशेषरूप से आहार-ग्रहण न करे।'[115]
  - 'अणुव्रती श्रावकों को अपने भोजन की शुद्धि बनाये रखने के लिए अथवा एषणाशुद्धि के लिए यथोक्त सूतक-पातक का भी त्याग कर देना चाहिए। भावार्थ यह है कि श्रावक को भी किसी के सूतक-पातक में भोजन नहीं करना चाहिए।'[116]
  - 'मुनि को आहार के लिए सूतक वाले तथा दुःखित – ऐसे शुद्ध कुल में भी प्रवेश नहीं करना चाहिए।'[117]

- **सूतक-पातक किसको व कहाँ नहीं लगता**

  'जिस वंश वाला यजमान बिम्ब-प्रतिष्ठा करा रहा है; उसके वंश, कुल, गोत्र में उस दिन से अशौच नहीं माना जाता अर्थात् जिस दिन नान्दी अभिषेक हो गया, उस दिन से यजमान के कुल में सूतक तथा सूवा (सौर) नहीं लगता।'[118]

  'तीन दिन का बालक, युद्ध में मरण को प्राप्त व्यक्ति, अग्नि आदि के द्वारा मरण को प्राप्त जिन-दीक्षित, अनशन करके मरण को प्राप्त व्यक्ति – इनका मरण-सूतक नहीं होता।'[119]

- **सूतक-पातक शुद्धि-काल-प्रमाण**

  'प्रसूति के दो-तीन अथवा तीन-चार माह के बाद किसी शुभ दिन तुरही आदि मांगलिक बाजों के साथ साथ अपनी अनुकूलता के अनुसार बहिर्यान क्रिया करनी चाहिए। जिस दिन यह क्रिया की जाए, उसी दिन से माता अथवा धाय की गोद में बैठे हुए बालक का प्रसूति-गृह से बाहर ले जाना सम्मत है।'[120]

  प्रायश्चित्त संग्रह में लिखा है कि 'ब्राह्मण पाँच दिन में, क्षत्रिय दश दिन में, वैश्य बारह दिन में और शूद्र पन्द्रह दिनों में पातक के दोष से शुद्ध होते हैं।'[121]

- **व्यवहारगत सूतक-पातक शुद्धि का काल-प्रमाण**[122]

क्रम	विवरण	जन्म-सूतक	मरण-सूतक
1.	तीन पीढ़ी तक	10 दिन	12 दिन
2.	चार पीढ़ी तक	10 दिन	10 दिन
3.	पाँच पीढ़ी तक	6 दिन	6 दिन
4.	छह पीढ़ी तक	4 दिन	4 दिन
5.	सात पीढ़ी तक	3 दिन	3 दिन
6.	आठ पीढ़ी तक	8 प्रहर	8 प्रहर

7.	नौ पीढ़ी तक	2 प्रहर	2 प्रहर
8.	दश पीढ़ी तक	स्नानमात्र	स्नानमात्र
9.	अपने घर में पुत्री-दासी-दास	–	3 दिन
10.	अपने घर में गाय-भैंस आदि	–	1 दिन
11.	पुरुष के घर अनाचारी स्त्री	सदा	सदा
12.	एक महिने तक के बालक	–	1 दिन
13.	आठ वर्ष तक के बालक	–	3 दिन
14.	तीन महिने का गर्भपात	–	3 दिन
15.	जितने महिने का गर्भपात	–	उतने दिन
16.	गृहत्यागी एवं संन्यासी	–	1 दिन
17.	गृहस्थ परदेश में मरे तो	–	12 दिन
18.	अपघात-मृत्यु	–	3 माह
19.	प्रसूता स्त्री	–	45 दिन''

○ **रजस्वला स्त्री का स्पर्श करना योग्य नहीं**

'जो मासिक धर्म से युक्त हो, वेश्या तथा आर्यिका आदि के आहार को दायक दोष से दुष्ट समझना चाहिए।'[123]

'पुष्पवती स्त्री का संसर्ग कर जो कुपात्र में दान देता है, वह कुमानुषों में उत्पन्न होता है।'[124]

'व्रती को गृहस्थ, रजस्वला, स्त्री, सूखा चमड़ा, हड्डी, कुत्ता आदि के स्पर्श हो जाने पर भोजन छोड़ देना चाहिए।'[125]

○ **रजस्वला स्त्री की शुद्धि का काल-प्रमाण**

'चतुर्थ स्नान के द्वारा शुद्ध हुई रजस्वला पत्नी को आगे कर गर्भाधान के पूर्व अर्हन्तदेव की पूजा के द्वारा मन्त्रपूर्वक जो संस्कार किया जाता है, उसे आधान क्रिया कहते हैं।'[126]

○ **अन्य सम्बन्धित विषय**

नीचादि का अथवा रजस्वला स्त्री का स्पर्श होने पर साधु जलधारा से शुद्धि करते हैं।''

श्रावकों में सूतक/पातक विधान की आवश्यकता

''सूयगे मलिणे जाए, दव्व भाव णराणं च।
तत्तो जाएज्ज चारिते, मलिणे सयमेव हि।। 87।।
सूयगाचरणे णत्थि, दव्व सुद्धी पजायए।
तओ भावविसुद्धि च, जाए वित्ति सुणिम्मलं।। 88।।
णराणं सूभगं सव्वं, राग द्दोसगं कारणं।
जाएज्जए हि तेणं च, हरिस सोग हिंसगं।। 89।।[127]

अर्थात् इस संसार में मनुष्यों के द्रव्य और भाव, दोनों ही सूतक से मलिन हो जाते हैं तथा द्रव्य व भाव के मलिन होने से धर्म और चारित्र स्वयं मलिन हो जाता है।।

तथा सूतक/पातक मानने से द्रव्यशुद्धि होती है, द्रव्यशुद्धि होने भावशुद्धि होती है और भावशुद्धि होने से चारित्र निर्मल होता है।।

इस जगत् में मनुष्यों को सूतक, राग-द्वेष का मूल कारण है तथा राग-द्वेष से अपने आत्मा की हिंसा करने वाले हर्ष और शोक प्रगट होते हैं।।''

सूतक के भेद-प्रभेद

''अद्दवं सोद्दगं चेव, मइघायं च जाएज्ज।
असुइं च अणिछं च, सुव्वय कारगं खाए।। 90।।
हवइ जणणासोचं, आयारस्स विसुद्धए।
सावो पाओ पसूइं च, इमं तिविहं वर।। 91।।[128]

अर्थात् व्रत करने वाले श्रावकों को चार प्रकार का सूतक बताया गया है – पहला **आर्तव** अर्थात् स्त्रियों के ऋतु धर्म या मासिक धर्म से होने वाला, दूसरा **सौतिक** अर्थात् प्रसूति से होने वाला, तीसरा **मार्तव** अर्थात् मृत्यु से होने वाला और चौथा **संसर्गजन्य** अर्थात् उनके संसर्ग से होने वाला।।

अपने आचार–विचार की शुद्धि के लिए **जन्म सम्बन्धी सूतक** – स्राव, पात और प्रसूति के भेद से तीन प्रकार का होता है। गर्भाधान से चार महीने तक गर्भ गिर जाए तो उसे **स्राव** कहते हैं। पाँचवें, छठे महीने में गर्भ गिर जाए तो उसे **पात** कहते हैं। तथा सातवें महीने के बाद यदि गर्भ बाहर आता है तो उसे **प्रसूति** कहते हैं।।''

सौतिक सूतक के नियम

''पस्सेव मरणेज्जाए, णाहिच्छेय परं किल।
माऊ पिऊ सपिंडाणं, असुइ पुण्णमहए।। 92।।
दूरदेस मियं जायं, पिउं भाउं च सूयगं।
पुण्णमेव जणाणं च, दिवसेगं च सूयगं।। 93।।[129]

अर्थात् किसी के जन्म होने पर तथा नाभिच्छेदन के बाद किसी बालक के मर जाने पर माता–पिता और कुटुम्बियों को पूर्ण सूतक मानना चाहिए।।

यदि अपने माता–पिता या भाई दूर देश में मर जाएँ तो पुत्र या भाई को पूर्ण दश दिन का सूतक मानना चाहिए तथा दूर के कुटुम्बियों को एक दिन का सूतक मानना चाहिए।।''

स्त्रियों को मासिक धर्म सम्बन्धी सूतक का नियम

''दिवत्तयमसोयं च, चउत्थेहिं विसुद्धए।
पादुं हि केवलं सो वि, दाणं पूयासु पंचमे।। 94।।
चंडालिणी समा आइं, बंहदि य बीयए।
तइयं रायरूवं च, तुरियं दिव सुद्धए।। 95।।[130]

अर्थात् प्राकृतिकरूप से प्रत्येक महीने होने वाले रजो धर्म में स्त्रियों को उस रजो धर्म के होने के समय से तीन दिन तक सूतक मानना चाहिए। चौथे दिन वह स्त्री केवल पति के लिए शुद्ध मानी गयी है। तथा दान और पूजा आदि कार्यों के लिए वह पाँचवें दिन शुद्ध मानी जाती है।।

इस रजो धर्म के समय वह स्त्री, पहले दिन चाण्डालिनी के समान मानी जाती है, दूसरे दिन ब्रह्मघातिनी मानी जाती है और तीसरे दिन धोबिन के समान मानी जाती है। इस प्रकार वह तीन दिन तो अशुद्ध रहती है। तथा चौथे दिन मस्तक से स्नान कर लेने पर वह शुद्ध होती है।।''

इस सम्बन्ध में प्रायश्चित्त-विधान की टिप्पणी एवं चर्चासागर[131] में निम्न बिन्दुओं को समाविष्ट किया है –

- ''स्त्रियाँ, जो रजस्वला होती हैं, वह प्रकृतिरूप से और विकृतरूप से – ऐसे दो प्रकार से होती हैं। जो स्वभाव से ही प्रत्येक महीने योनिमार्ग से रुधिर का स्राव होता है, उसे प्रकृतिरूप कहते हैं तथा जो असमय में रजःस्राव होता है, उसे विकृतिरूप कहते हैं, वह दूषित नहीं है, उसके होने पर केवल स्नान मात्र से शुद्धि होती है। इसी प्रकार यदि पचास वर्ष के बाद रजःस्राव हो तो उसकी शुद्धि स्नान मात्र ही है।
- स्त्रियों के प्रदर आदि अनेक रोगों के कारण रजःस्राव होता है तथा जो विकाररूप होता है, वह राग की उत्कृष्टता से होता है।

- जो बारह वर्ष की अवस्था से लेकर पचास वर्ष तक प्रतिमास रजोधर्म है, वह काल रजोधर्म है। इसके बाद अकालरूप कहा जाता है; इस प्रकार इसके दो भेद हैं।
- जिस दिन स्त्री को रज का अवलोकन हो, उस दिन से लेकर तीन दिन तक अशौच होता है। यदि उस दिन आधी रात तक रजोदर्शन हो तो भी पहला दिन समझना चाहिए। रात्रि के तीन भाग करना चाहिए; उसमें से पहला और दूसरा भाग हो तो उसी दिन में समझना चाहिए और पिछला एक भाग दूसरे दिन की गिनती में लेना चाहिए – ऐसी आम्नाय है।
- यदि ऋतुकाल के बाद फिर वही स्त्री, अठारह दिन पहले ही रजस्वला हो जाए तो वह केवल स्नान मात्र से ही शुद्ध हो जाती है। यदि उसके अठारहवें दिन ही रजोधर्म हो तो उसे दो दिन का सूतक पालन करना चाहिए। यदि उसके उन्नीसवें दिन रजोधर्म होता है तो उसको तीन दिन तक अशौच पालन करना चाहिए। यदि रजस्वला होने के बाद चौथे दिन स्नान कर ले और फिर रजस्वला हो जाए तो वह अठारह दिन तक शुद्ध नहीं होती। यदि कोई स्त्री, अत्यन्त यौवनवती हो और वह रजस्वला होने के दिन से सोलह दिन के पहले ही फिर रजस्वला हो जाए तो वह स्नान से शुद्ध हो जाती है।
- यदि कोई स्त्री, अपने समय पर रजस्वला हुई हो तो उसको तीन दिन तक ब्रह्मचर्यपूर्वक रात्रि में किसी एकान्त स्थान में जहाँ मनुष्यों का संचार न हो – ऐसी जगह डाभ के आसन पर सोना चाहिए। उसको खाट, पलंग, शय्या, वस्त्र, रुई का बिछौना, ऊन का बिछौना आदि का स्पर्श न करें, देव-धर्म की बात भी न करें। संकुचित होकर प्राण धारण करना चाहिए। गोरसरहित एक बार रूखा अन्न खाना चाहिए। नेत्रों में काजल, अंजन नहीं डालें। उबटन लगाना, तेल लगाना, पुष्प माला पहनना, गन्ध लगाना आदि शृंगार के सभी साधनों का त्याग करना चाहिए। देव, गुरु, राजा और अपने कुलदेवता का रूप, दर्पण में भी नहीं देखना चाहिए। किसी वृक्ष के नीचे या पलंग पर नहीं सोना चाहिए। तथा दिन में भी नहीं सोना चाहिए। उसको अपने मन में पंच णमोकार मन्त्र का स्मरण करना चाहिए, उसका उच्चारण नहीं करना चाहिए, केवल मन में चिन्तवन करना चाहिए। अपने हाथ में वा पत्तल में भोजन करना चाहिए। किसी भी धातु के बर्तन में भोजन नहीं करना चाहिए। यदि वह तांबे, पीतल आदि के पात्र में भोजन करे तो उस पात्र को अग्नि से शुद्ध करना चाहिए। चौथे दिन गोसर्ग के बाद स्नान करना चाहिए। प्रातःकाल से लेकर छह घड़ी पर्यन्त गोसर्ग काल कहा जाता है। चौथे दिन स्नान करने के बाद वह स्त्री, अपने पति और भोजन बनाने के लिए शुद्ध समझना चाहिए। देव-पूजा, गुरु-सेवा तथा यज्ञादि कार्य के लिए वह पाँचवें दिन शुद्ध होती है।

ऋतुकाल में रखने योग्य सावधानियाँ और उसके दुष्परिणाम

- यदि कोई स्त्री, इन ऋतु के तीन दिनों में रोती है तो उसके बालक के नेत्र विकृत होते हैं या उनमें अन्धापन आ जाता है या धुँधला दिखना या काना होना या ऐचकताना होना या उसके नेत्रों से ढ़ेर सारा पानी बहना आदि होता है या उसकी आँखें लाल या मांजरी हो जाती हैं।
- यदि कोई स्त्री, ऐसे तीन दिनों में नाखून काटती है तो उसके बालक के नाखूनों में विकार – नाखून फटे–टूटे, सूखे, काले, हरे, टेढ़े और देखने में बुरे हो जाते हैं।
- यदि कोई स्त्री, इन तीन दिनों में उबटन लगाती या तेल डालती है तो उसके बालक के अठारह प्रकार के कोढ़ रोगों में से कोई सा भी कोढ़ रोग हो जाता है।
- यदि वह इन तीन दिनों में गन्ध लगावे या जल में डूब कर स्नान करे तो उसका बालक दुराचारी व्यसनी होता है।
- यदि वह स्त्री, आँखों में अंजन लगावे तो उसके बालक के नेत्र नादसहित हो जाते हैं, उससे आवाज आने लगती है।
- यदि वह स्त्री, दिन में सोती है तो उसका बालक रात–दिन सोने वाला, अथवा सदा ऊँघने वाला होता है।
- यदि वह स्त्री, इन तीन दिनों में दौड़ती है तो उसका बालक चंचल होता है, उत्पाती उपद्रवी होता है।

- यदि वह स्त्री, ऊँचे स्वर मे बोलती या सुनती है तो उसका बालक गूंगा या बहरा होता है।
- यदि स्त्री, इन तीन दिनों में हंसती है तो उसके बालक के तालू, जीभ, ओंठ काले पड़ जाते हैं।
- यदि वह स्त्री, इन तीन दिनों में अधिक बोलती है तो उसके प्रलापी बालक होता है। जो झूठा/लवार हो, उसे प्रलापी कहते हैं। अथवा **प्रलापोऽनृतभाषणं** अर्थात् झूठ बोलने का नाम प्रलाप है।
- जो स्त्री, इन तीन दिनों में परिश्रम करती है, उसके अत्यन्त रोग वाला या बावला पुत्र होता है।
- जो स्त्री, इन दिनों मे पृथ्वी खोदती है, उसके दुष्ट बालक होता है।
- जो स्त्री, फैल कर खुले आकाश में सोती है, उसके उन्मत्त बालक होता है।

  इसलिए उक्त अयोग्य कार्य नहीं करने चाहिए, विवेकपूर्वक रहना चाहिए – ऐसा पूर्वाचार्यों ने लिखा है।

उक्त दोषों को नहीं मानने वालों का निराकरण

- जो कोई अनाचारी/भ्रष्ट, इन दोषों को नहीं मानते। जैसे – कितने ही लोग उन स्त्रियों का स्पर्श हो जाने पर स्नान नहीं करते; कितने ही लोग दूसरे–तीसरे दिन ही स्नान करा कर उसके हाथ के किये हुए सब तरह के भोजन खा लेते हैं; कितने ही लोग उन्हीं दिनों में कुशील-सेवन भी करते हैं; परन्तु ऐसे महा अधर्मी, पातकी, भ्रष्ट और नीचातिनीच कहलाते हैं, ऐसे लोग स्पर्श करने योग्य भी नहीं हैं क्योंकि रजोधर्म वाली स्त्री को पहले दिन चण्डाली संज्ञा है; दूसरे दिन ब्रह्मघातिनी संज्ञा है; तीसरे दिन रजकी या धोबिन संज्ञा है और चौथे दिन ही वह शुद्ध होती है।
- जो स्त्री, परपुरुषगामिनी है, वह जीवनपर्यन्त अशुद्ध रहती है। व्यभिचारिणी स्त्री, स्नान आदि कर लेने पर भी शुद्ध नहीं होती। वह परपुरुष का त्याग कर देने मात्र से ही शुद्ध हो सकती है – ऐसा आचार–शास्त्रों में ऋषियों ने लिखा है।
- कितने ही अधर्मी लोग, इन तीन दिनों में सामायिक, प्रतिक्रमण तथा शास्त्र के स्पर्श आदि कार्यों को निषिद्ध नहीं मानते हैं – ऐसे लोग, उससे होने वाले अविनय और महापाप को नहीं मानते। यदि कोई इन कार्यों का निषेध करते हैं तो उनको यह उत्तर देते हैं कि इस शरीर में शुद्ध पदार्थ है ही क्या ? इसमें खून आदि सदा बहते रहते हैं। यदि किसी के गांठ या फोड़ा हो जाता है और वह पक कर फूट जाता है; उसी प्रकार स्त्रियों का मासिक धर्म है; अतः वे आज्ञाबाह्य, महापातकी और अनाचारी हैं।
- रजस्वला स्त्री के स्पर्श–अस्पर्श करने के सम्बन्ध में, उसकी भूमि की शुद्धि-अशुद्धि का तथा उसके साथ सम्भाषण आदि के दोषों को प्राचीन-अर्वाचीन आचार्यों ने विस्तार से बतलाया है।
- कितने ही पापी, अपनी लक्ष्मी के मद में आकर, रजस्वला स्त्रियों को भूमि पर नहीं सोने देते और उन्हें पलंग पर ही सुलाते हैं; यदि कोई उसका निषेध करते हैं तो वे अपनी रीति-नीति का अभिमान करते हुए उसे नहीं मानते हैं – ऐसे लोग बड़े अधर्मी और पातकी गिने जाते हैं।
- यदि कोई, मुनि होकर घोड़े पर चढ़े; यदि स्त्री, रजस्वला अवस्था में पलंग पर बैठे या सोवे तथा यदि गृहस्थ (सूतकादि अवस्था में) शास्त्रसभा में बैठ कर बातें करे तो ऐसे पुरुषों को देख कर ही वस्त्रसहित स्नान करना चाहिए। कहा भी है –

  अश्वारूढं यतिं दृष्ट्वा, खट्वारूढ़ां रजस्वलां।
  शास्त्रस्थाने गृहवक्तृन्, सचेलस्नानमाचरेत्।।

- यदि कोई बालक मोह से रजस्वला स्त्री के पास सोवे, बैठे या रहे तो उसकी शुद्धि सोलह बार स्नान करने से होती है। यदि कोई दूध पीने वाला बालक, दूध पीने के लिए उसका स्पर्श करे तो जल के छींटे देने मात्र से उसकी शुद्धि हो जाती है क्योंकि ऐसे छोटे बालक को स्नान करने का अधिकार नहीं है।
- प्रायश्चित्त शास्त्रों में और भी कितने ही पदार्थ बतलाये हैं; जिनसे स्पर्श का दोष नहीं माना जाता है। जैसे – मक्खी, हवा, गाय, स्वर्ण, अग्नि, महानदी, नाव, पाथोदक, और सिंहासन अस्पृश्य नहीं होते – ऐसा आचार्यों ने कहा है।

यदि कोई स्त्री, किसी रोग या शोक से अशक्त हो या बुढ़ापे से अशक्त हो और वह रजस्वला हो जाए तो उसकी शुद्धि इस प्रकार करना चाहिए कि चौथे दिन, कोई निरोग सशक्त स्त्री, उसे स्पर्श करे फिर स्नान

करे, पुनः स्पर्श करे फिर स्नान करे; इस प्रकार वह दश बार स्पर्श करे तो वह स्त्री, शुद्ध हो जाती है। अन्त में रजस्वला के वस्त्रों को बदलवा कर, दश-बारह आचमन (कुल्ला) कर तथा स्नान कर लेने से वह नीरोग स्त्री भी शुद्ध हो जाती है – यह रुग्ण रजस्वला स्त्री की शुद्धि का क्रम है।''

आर्यिका, क्षुल्लिका आदि व्रती स्त्रियों के लिए नियम[132]

''वयी खुल्लिग अज्जाओ, कुज्जेज्ज असणं व।
दि त्तय समत्थ चेव, आसत्तीए हि आचरे।।96।।
णीरसं भोयणं सुद्धं, यागट्ठाण सुदूरओ।
भुंजेज्ज खुल्लिगजाओ, आगूढ़संविओ काइगा।।97।।
एगासणं सुमोणेणं, परं तदपि णीरसं।
सुद्धि किच्चेच्च एगंते, धवल वत्थ सुद्धगं।।98।।
पसण्ण मणसा संते, सेव वार त्तपं णमे।
चउत्थ अण्हिगमेव ण्हाणं, च मज्झ वारिणा।।99।।[6]

अर्थात् आर्यिका, क्षुल्लिका आदि व्रती स्त्रियों को यदि सामर्थ्य है तो रजस्वला होने पर तीनों दिन तक उपवास करना चाहिए। यदि सामर्थ्य न हो तो अपनी शुद्धि कर भोजनशाला से दूर बैठ कर और अपने शरीर को ढ़क कर भोजन करना चाहिए।।

भोजनशाला से दूर अर्थात् अपनी छाया बनाए हुए भोजन पर नहीं पड़े; उतनी दूर बैठ कर, अपने शरीर को ढँक कर, नीरस शुद्ध भोजन करना चाहिए।।

एकान्त में शुद्धि करके, धुली हुई सफेद साड़ी पहन कर, मौनपूर्वक नीरस आहार ग्रहण करते हुए एकासन करना चाहिए अथवा एक आदि रस छोड़ कर भोजन करना चाहिए।।

उक्त दशा में तीनों दिन अत्यन्त शान्तभाव के साथ प्रसन्न मन से निकालने चाहिए और चौथे दिन दोपहर के समय शुद्ध जल से स्नान करना चाहिए।।''

रजस्वला सम्बन्धी आचार-विचार को नहीं मानने का फल[133]

''जा इत्थी हि रजस्सला, पालएज्जण धम्मगं।
सुछा साय मया वित्ता, किरिया हीण पाविणी।।100।।

अर्थात् जो स्त्री, अपनी अज्ञानता के कारण रजस्वला से सम्बन्धित आचार–विचारों को नहीं मानती, उसको शूद्रा के समान समझना चाहिए तथा वह स्त्री, धर्म–कर्म से रहित पापिनी ही समझी जाती है।।''

प्रसूति सम्बन्धी सूतक के नियम[134]

''पुत्तप्पसूयगं माउं, दसं णिरिक्खए।
सुकम्मं अहिगारं च, दिणं दिणं च विंसइं।।101।।
इत्थीपसूय माउं वि, तं दसं च णिरिक्खए।
सुकम्मं अहिगारं च, जाव विंसइ वासरं।।102।।
पक्खाहं च जिणेसं च, अहिगारं सुलक्खणं।
मासं एगं च धम्मं च, सोयं च कुणेज्ज णिच्चं।।103।।

अर्थात् यदि प्रसूता स्त्री को पुत्र उत्पन्न हुआ हो तो उस माता को दश दिन तक तो अनिरीक्षण नाम का सूतक लगता है अर्थात् दश दिन तक तो किसी को भी उसका दर्शन नहीं करना चाहिए। तदनन्तर बीस दिन तक घर के किसी भी कार्य को करने का उसको अधिकार नहीं माना जाता। इस प्रकार जिनागम के अनुसार पुत्र उत्पन्न करने वाली प्रसूता स्त्री को एक महीने का सूतक लगता है। एक महीने के बाद वह स्त्री जिनपूजा और पात्रदान के लिए शुद्ध मानी गई है।।

यदि प्रसूता स्त्री को कन्या उत्पन्न हुई हो तो उसको दश दिन तक अनिरीक्षण नाम का सूतक लगता है और बीस दिन तक के कामकाज करने के अधिकार न होने का सूतक है। इसके बाद पन्द्रह दिन

तक उसको जिनपूजा और पात्रदान देने का अधिकार नहीं रहता। इस प्रकार उस कन्या को उत्पन्न करने वाली स्त्री के लिए पैंतालीस दिन का सूतक जिनेन्द्र भगवान के मत में माना गया है।।

इसी प्रकार अन्य सूतक निम्न प्रकार जानना चाहिए –

- ''जिस गृहस्थ के घर पुत्र–पुत्री आदि का जन्म हो तो उसे दस दिन का सूतक है। यदि मरण हो तो बारह दिन का सूतक है।
- जिस घर में या जिस क्षेत्र में प्रसूति हो, उसका सूतक एक महीने का है; यह सूतक जिसके घर जन्म हो, उसको लगता है।
- जो उसके गोत्र वाले हैं, उनको पाँच दिन का सूतक लगता है।
- यदि प्रसूति में ही बालक का मरण हो जाए अथवा देशान्तर में किसी का मरण हो जाए या किसी संग्राम में मरण हो जाए अथवा समाधिमरण से प्राण छोड़े हों तो इन सबका सूतक एक दिन का है।
- घोड़ी, गाय, भैंस, आदि की प्रसूति यदि अपने घर में या आंगन में हो तो सूतक एक दिन का है। यदि इनकी प्रसूति घर के बाहर किसी क्षेत्र में या बगीचे में होती है तो उसका सूतक नहीं लगता।
- जिस गृहस्थ के यहाँ पुत्रादि का जन्म हुआ हो तो उसको बारह दिन पीछे भगवान अरहन्तदेव का अभिषेक, जिनपूजा और पात्रदान देना चाहिए; तब उसकी शुद्धि होती है, अन्यथा शुद्धि नहीं होती।
- यदि दासी, दास या कन्या की प्रसूति या मरण अपने घर हुआ हो तो उस गृहस्थ को तीन दिन का सूतक लगता है। वह प्रसूति या मरण अपने घर हुआ है, अतः दोष लगता है।
- यदि किसी गृहस्थ के स्त्रियों के गर्भपात हो जाए तो जितने दिन का वह गर्भ हो, उतने दिन का सूतक होता है।
- लौकिक में जो सती होती है, उसके बाद रहने वाले घर के स्वामी को उसकी हत्या का पाप छह महीने तक रहता है; छह महीने के बाद वह प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होता है, उसे छह महीने के पहले प्रायश्चित्त देकर शुद्ध नहीं करना चाहिए।
- यदि किसी गृहस्थ के घर अपघात करके कोई मर जाए तो उसके बाद रहने वाले घर के स्वामी को यथायोग्य प्रायश्चित्त देना चाहिए।
- भैंस का दूध, प्रसूति के दिन से पन्द्रह दिन के बाद; गाय का दूध, प्रसूति के दिन से दस दिन के बाद तथा बकरी का दूध, प्रसूति के दिन से आठ दिन के बाद शुद्ध होता है। इन सब का दूध उक्त दिनों के पहले शुद्ध नहीं होता।
- यदि गोत्री, चौथी पीढ़ी तक हो तो उसे दस दिन का, पाँचवीं पीढ़ी का हो तो छह दिन का, छठी पीढ़ी का हो तो चार दिन का, सातवीं पीढ़ी का हो तो तीन दिन का, आठवीं पीढ़ी का हो तो एक दिन–रात का, नौवीं पीढ़ी का हो तो दोपहर का और दसवीं पीढ़ी का हो तो स्नान करने मात्र का सूतक लगता है।
- मुनि को अपने गुरु आदि के मरने का सूतक, एक कायोत्सर्ग करने से शुद्ध होता है, लेकिन राजा को पाँच दिन का सूतक लगता है।''

नैष्ठिक श्रावक

श्रावक के द्वादश व्रतों और एकादश प्रतिमाओं का निरतिचार पालन करना चर्या अथवा निष्ठा है। इस चर्या का निष्ठापूर्वक आचरण करने वाला गृहस्थ **नैष्ठिक श्रावक** कहा जाता है।[135]

नैष्ठिक श्रावक का स्वरूप बताते हुए सागार धर्मामृत में लिखा है –

''देशचारित्र को घातने वाली कषाय के क्षयोपशम के उत्तरोत्तर उत्कर्ष के कारण दार्शनिक आदि ग्यारह अवस्थाओं के अधीन तथा पाक्षिक की अपेक्षा उत्तम लेश्या वाला नैष्ठिक श्रावक होता है।''[136]

इस नैष्ठिक श्रावक का विस्तार से वर्णन वहाँ तृतीय आदि अधिकारों में किया गया है। साथ ही श्रावकधर्मप्रदीप आदि ग्रन्थों में भी इस श्रावक का विस्तृत विवेचन किया गया है।

व्रत का सामान्य स्वरूप एवं उसका महत्त्व

जीवन को सुन्दर बनाने वाली और आलोक की ओर ले जाने वाली मर्यादाएँ **नियम** कहलाती हैं। जो मर्यादाएँ सार्वभौम हैं, प्राणीमात्र के लिए हितावह हैं और जिनसे 'स्व', 'पर' का कल्याण होता है, उन्हें **नियम** या **व्रत** कहा जाता है।

व्रत की परिभाषा में बताया जाता है कि सेवनीय विषयों का संकल्पपूर्वक यम या नियमरूप से त्याग करना, हिंसा आदि निन्द्य कार्यों को छोड़ना अथवा पात्रदान आदि प्रशस्त कार्यों में प्रवृत्त होना, **व्रत** है।

जिस प्रकार सतत प्रगतिशील प्रवाहित होने वाली सरिंता के प्रवाह को नियन्त्रित रहने के लिए दो तटों की आवश्यकता होती है; उसी प्रकार जीवन को नियन्त्रित व मर्यादित बनाये रखने के लिए व्रतों की आवश्यकता है। जैसे, तटों के अभाव में नदी का प्रवाह छिन्न भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार व्रत-विहीन मनुष्य की जीवन-शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है। अतएव जीवन-शक्ति को केन्द्रित करने और योग्य दिशा में ही उसका उपयोग करने के लिए व्रतों की अत्यन्त आवश्यकता है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में, आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में एवं अन्य अन्य आचार्यों एवं विद्वानों ने श्रावकाचारों एवं अन्य चरणानुयोग प्रधान ग्रन्थों में श्रावक के बारह व्रतों में पाँच अणुव्रतों एवं सात शीलव्रतों का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ किया है।

पाँच व्रतों का एकदेश पालन करने के कारण श्रावक के व्रतों को अणुव्रत संज्ञा दी जाती है। साथ ही उन व्रतों के परिरक्षण, वृद्धि एवं महाव्रतों के अभ्यास हेतु तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रतों के समूहरूप सात शीलों का उल्लेख पृथक् किया गया है।

श्रावक के **पाँच अणुव्रतों** के नाम निम्न प्रकार हैं – 1. अहिंसाणुव्रत 2. सत्याणुव्रत 3. अचौर्याणुव्रत 4. ब्रह्मचर्याणुव्रत 5. परिग्रहपरिमाणव्रत। इसी प्रकार सात शीलव्रतों को दो प्रकार से जाना जाता है – **तीन गुणव्रत** अर्थात् 6. दिग्व्रत 7. देशव्रत 8. अनर्थदण्डव्रत और **चार शिक्षाव्रत** अर्थात् 9. सामायिकव्रत 10. प्रोषधोपवासव्रत 11. भोगोपभोगपरिमाणव्रत 12. अतिथि- संविभागव्रत।

पाँच व्रतों की पाँच पाँच भावनाएँ

''स्वीकृत व्रतों का पालना बिना परिकर के सम्भव नहीं है। व्रतोन्मुख या व्रतारूढ़ हुए प्रत्येक प्राणी को व्यावहारिक जीवन की उन प्रवृत्तियों से बचना होगा, जो हिंसा आदि अव्रतों की पोषक हों और उन प्रवृत्तियों की ओर निरन्तर ध्यान देना होगा, जिनसे अहिंसा आदि व्रतों की पुष्टि होती हो। प्रस्तुत प्रकरण में ऐसी प्रवृत्तियों का ही ध्यान रखना भावना बतलाया है।.....यद्यपि प्रत्येक व्रत की पाँच पाँच भावनाएँ महाव्रत की अपेक्षा बतलाई गई हैं, तथापि इन्हीं के अनुरूप अणुव्रतों की भी भावनाएँ होती हैं। अणुव्रतों से महाव्रतों का स्थान प्रथम है, इसलिए भावनाओं के कथन में प्रमुखता से उन्हीं को स्थान दिया है।''[137]

- **तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच।।3।।**

अर्थात् उन व्रतों की स्थिरता के लिए क्रमशः पाँच-पाँच भावनाएँ भाने योग्य हैं। व्रतों को अतिचारों से बचाने हेतु, व्रतों की सुरक्षा हेतु एवं व्रतों की स्थिरता के लिए तत्त्वार्थसूत्र में प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ बताई गई हैं, जिनके सूत्र एवं संक्षिप्त स्वरूप-विवेचन[138] निम्न प्रकार है –

- **वाङ्-मनो-गुप्तीर्याऽऽदान-निक्षेपण-समित्याऽऽलोकित-पान-भोजनानि पंच।।4।।**

1. **वचन-गुप्ति** – मुख से अच्छे-बुरे किसी भी प्रकार के शब्द न बोल कर मौन धारण करना।
2. **मनो-गुप्ति** – मन को अशुभध्यान से बचा कर आत्महितकारी विचारों में लगाना अथवा मन-सम्बन्धी संकल्प-विकल्प नहीं करना।
3. **ईर्या-समिति** – किसी को क्लेश न हो, इसलिए यतनापूर्वक चार हाथ भूमि शोध कर चलना।
4. **आदान-निक्षेपण-समिति** – शास्त्र पीछी कमण्डलु आदि को देख-भाल कर अवलोकन एवं प्रमार्जन करके लेना एवं रखना।
5. **आलोकित-पान-भोजन** – खाने-पीने की वस्तुओं को सूर्यप्रकाश में भलीभाँति देखभाल कर लेना और वैसे ही देखभाल कर खाना-पीना। इस प्रकार ये पाँच, **अहिंसाव्रत की भावनाएँ** हैं।

- **क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानान्यऽनुवीचि-भाषणं च पंच।।5।।**

1. **क्रोध-प्रत्याख्यान** – क्रोध का त्याग।
2. **लोभ-प्रत्याख्यान** – लोभ का त्याग।
3. **भीरुत्व-प्रत्याख्यान** – भय का त्याग।
4. **हास्य-प्रत्याख्यान** – हास्य का त्याग।
5. **अनुवीचि-भाषण** – आगमानुसार बोलना।

इस प्रकार ये पाँच, **सत्यव्रत की भावनाएँ** हैं।

अधिकतर लोग क्रोध लोभ भय के वश होकर असत्य बोलते हैं, इसी प्रकार मजाक करते हुए भी असत्य बोलते हैं; इस कारण सत्यव्रत की भावनाओं में इन क्रोधादिक के त्याग का उपदेश दिया गया है। इसी तरह जब तक हमें आगमानुसार सत्य वस्तुस्वरूप का ज्ञान ही नहीं होगा; तब तक हम सत्य वस्तुस्वरूप का कथन भी नहीं कर सकते।

- **शून्याऽऽगार-विमोचिताऽऽवास-परोपरोधाऽकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्माऽविसंवादाः पंच।।6।।**

1. **शून्याऽगार** – पर्वत की गुफा, वृक्ष के कोटर आदि शून्य घर में रहना।
2. **विमोचिताऽवास** – किसी के द्वारा छोड़े हुए विमोचित घर में रहना।
3. **परोपरोधाऽकरण** – जिस स्थान पर स्वयं ने निवास किया हो, ध्यान लगाया हो या तत्त्वोपदेश दिया हो, वहाँ किसी कार्य के लिए दूसरे साधु आदि को मना नहीं करना।
4. **भैक्ष्यशुद्धि** – भिक्षा में शुद्धि अर्थात् भिक्षा के नियमों का उचित ध्यान रख कर भिक्षा लेना क्योंकि उसके बिना चोरी का दोष लगता है; कहा भी है कि 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन'।
5. **सधर्माऽविसंवाद** – साधर्मियों के साथ 'यह मेरा कमण्डलु है, इसे तू नहीं ले सकता' आदि विसंवाद नहीं करना क्योंकि वास्तव में साधु इन चीजों का स्वामी नहीं होता, वह तो संयम, शौच और ज्ञान के उपकरण के रूप में पीछी, कमण्डलु और शास्त्र का ग्रहण करता है। यही कारण है कि उनका स्वामी बनने से उसे चोरी का दोष लगता है, यह भावचोरी है।

इस प्रकार ये पाँच, **अचौर्यव्रत की भावनाएँ** हैं।

- **स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्मनोहरांऽगनिरीक्षण-पूर्वरताऽनुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कार-त्यागाः पंच।।7।।**

1. **स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग** – स्त्रियों की रागभरी अनुरागवर्धक कथाओं को सुनने का त्याग करना।
2. **तन्मनोहरांऽगनिरीक्षणत्याग** – स्त्रियों के मुख आँख कुच कटि आदि मनोहर अंगों को देखने का त्याग करना। साधु को एक तो स्त्रियों के सम्पर्क से अपने को बचाना चाहिए, दूसरे यदि वे दर्शनादिक के लिए आवें तो नीची दृष्टि रखना चाहिए और इच्छापूर्वक उनकी ओर नहीं देखना चाहिए।
3. **पूर्वरताऽनुस्मरणत्याग** – पूर्व में भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग करना क्योंकि गृहस्थ अवस्था में विविध प्रकार के भोग भोगे रहते हैं, उनका स्मरण करने से कामवासना बढ़ती है।
4. **वृष्येष्टरसत्याग** – उन्मादोत्पादक गरिष्ठ और प्रिय भोजन के सेवन का त्याग करना।
5. **स्वशरीरसंस्कारत्याग** – अपने शरीर के संस्कार का त्याग करना क्योंकि उससे स्व-पर के मन में आसक्ति पैदा हो सकती है।

इस प्रकार ये पाँच, **ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाएँ** है।

- **मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जनानि पंच।।8।।**

1. **मनोज्ञाऽमनोज्ञ-स्पर्शनेन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जन** – स्पर्शन इन्द्रिय के मनोज्ञ विषयों में राग एवं अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना।
2. **मनोज्ञाऽमनोज्ञ-रसना- इन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जन** – रसना इन्द्रिय के मनोज्ञ विषयों में राग एवं मनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना।
3. **मनोज्ञाऽमनोज्ञ-घ्राण-इन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जन** – घ्राण इन्द्रिय के मनोज्ञ विषयों में राग एवं अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना।

4. **मनोज्ञाऽमनोज्ञ-चक्षु-इन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जन** – चक्षु इन्द्रिय के मनोज्ञ विषयों में राग एवं अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना।
5. **मनोज्ञाऽमनोज्ञ-कर्ण-इन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जन** – कर्ण इन्द्रिय के मनोज्ञ विषयों में राग एवं अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना।

इस प्रकार ये पाँच, **अपरिग्रहव्रत की भावनाएँ** हैं।

पाँच व्रतों की भावनाओं के अलावा अन्य भावनाएँ

- **हिंसादिष्विहाऽमुत्राऽपायाऽवद्य-दर्शनम्।।9।।**

अर्थात् हिंसादि पाँच पापों के सेवन से इसलोक और परलोक में अपाय अर्थात् विनाश और अवद्य अर्थात् निन्दा ही मिलेगी – ऐसा विचार करना चाहिए।

कोई भी प्राणी हिंसादि दोषों का त्याग तभी कर सकता है, जब उनमें उसे अपना अहित दिखाई दे क्योंकि जब तक यह न हो कि हिंसा आदि दोष इहलोक और परलोक दोनों में अहितकर है और निन्द्य है; तब तक उनका त्याग नहीं किया जा सकता।

- **दुःखमेव वा।।10।।**

अर्थात् पाँच पाप सर्वथा दुःखस्वरूप ही हैं – ऐसा विचार करना चाहिए।

अहिंसा स्व-पर हितकारी है और हिंसा स्व-पर दुःखकारी है; इससे ज्ञात होता है कि हिंसा का त्याग करके अहिंसा को स्वीकार करना ही सुख का मार्ग है।

- **मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि च सत्त्व-गुणाऽधिक-क्लिश्यमानाऽविनयेषु।।11।।**

अर्थात् 1. प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव, 2. गुणीजनों के प्रति प्रमोदभाव, 3. दुःखी जीवों के प्रति करुणाभाव, 4. अविनेय या दुष्ट प्राणियों के प्रति माध्यस्थ्यभाव रखना चाहिए।

मैत्री का अर्थ है – सबको अपने समान समझने की भावना – यह सामान्य भावना है। शेष तीन भावनाएँ इसके अवान्तर भेद हैं क्योंकि यह मैत्री भावना ही कहीं पर प्रमोदरूप, कहीं पर करुणारूप और कहीं पर माध्यस्थ्यरूप से प्रस्फुटित होती है। जिससे अपना गुणोत्कर्ष होना सम्भव है, वहाँ पर वह मैत्री प्रमोदरूप हो जाती है। जिससे अन्तःकरण द्रवित हो उठता है, वहाँ पर वही मैत्री करुणा का रूप धारण कर लेती है। तथा जिससे विद्वेष की भावना जागृत होना सम्भव है, वहाँ पर वही मैत्री उस विद्वेष का प्रशमन करने के लिए माध्यस्थ्य का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार एक मैत्री भावना ही पात्रभेद से तीन प्रकार की हो जाती है।

शत्रु के प्रति माध्यस्थ्यभाव का तात्पर्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति, आपकी स्त्री, बहिन, पुत्री आदि का अपहरण करता है या धर्मायतन का ध्वंस आदि करता है तो उस समय हमारा भाव एवं प्रयत्न इनकी रक्षा का तो होना चाहिए लेकिन उस व्यक्ति की हिंसा करने का नहीं। इस प्रकार अपनों की रक्षा का भाव आपेक्षिक अहिंसा कही जाएगी परन्तु उस व्यक्ति को मारने का भाव हिंसा कहलाएगा।

- **जगत्काय-स्वभावौ वा संवेग-वैराग्याऽर्थम्।।12।।**

अर्थात् संवेग और वैराग्य उत्पन्न करने के लिए जगत् और काय के स्वभाव का चिन्तवन करना चाहिए।

व्रतों की पुष्टि हेतु संवेगभावना और वैराग्यभावना का होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इनके बिना व्रतों को प्राप्त होना और प्राप्त हुए व्रतों का पालन करना सम्भव नहीं है तथा जगत् में जीवों के चतुर्गतिभ्रमण और पंचपरावर्तन के स्वरूप को जानने से और शरीर के अस्थिर अशुचि निःसार स्वरूप के चिन्तवन से संवेग और वैराग्य की प्राप्ति होती है।

नैष्ठिक श्रावक का आचरण

श्रावकों के उत्तम आचरण का वर्णन करते हुए **प्रायश्चित्त विधान**[139] में लिखा है –

तिसंज्झमाचरे पूया, चउविंसई संथवं।
उत्तिमायारणं उत्तं, जवझाणत्थु इच्छेज्जं।।4।।

अर्थात् श्रावकों को प्रातःकाल, मध्याह्न समय और सन्ध्याकाल अर्थात् तीनों सन्ध्याओं में जिन भगवान की पूजा और चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना चाहिए। तथा इच्छानुसार यथाशक्ति यथायोग्य जप अर्थात् महामन्त्र का जप और ध्यान भी करना चाहिए – यह उत्तम आचरण कहा है।।4।।

जप और स्तुति का वर्णन करते हुए वहाँ लिखा है –

जव पंचणमुक्कारं, पखुत्ति गणस्सई।
पंचाणं सुगुरूणं च, सग्गुणुकित्तणं थवो।।5।।

अर्थात् पंच नमस्कार महामन्त्र का पुनः पुनः स्मरण करना, जप है तथा पंच परमेष्ठी गुरुओं के उत्तम सद्गुणों का कीर्तन, व्याख्यान या वर्णन करने को स्तवन कहते हैं।।

यहाँ हिन्दी टीकाकार ने साधु परमेष्ठी के अट्ठाईस मूलगुणों के अलावा **अट्ठाईस विशेष गुणों** की भी चर्चा की है, जो निम्न प्रकार है –

दह दंसणस्स भेया, भेया पंचेव हुंति णाणस्स।
तेराविह सच्चरणं, अडवीसा हुंति साहूणं।।[140]

अर्थात् आज्ञा आदि सम्यक्त्व के दश भेद, मतिज्ञान आदि सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद, तथा पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति – ऐसे तेरह प्रकार का सम्यक्चारित्र; इस तरह **साधु के अट्ठाईस विशेष गुण** अलग प्रकार से जानना चाहिए।

शंका – साधु के अट्ठाईस मूलगुण किस अपेक्षा से हैं और उक्त अट्ठाईस विशेष गुण किस अपेक्षा से हैं?

समाधान – अट्ठाईस मूलगुणों का वर्णन, एक साधु की अपेक्षा है और अट्ठाईस विशेष गुणों का वर्णन, नाना साधुओं की अपेक्षा है; इसलिए अट्ठाईस मूलगुण के बिना साधु पद सर्वथा नहीं होता है और अट्ठाईस विशेष गुण, अनेक साधुओं में यथायोग्य पाये जाते हैं।।5।।

इसके बाद तीन प्रकार की शुद्धि के वर्णन के अन्तर्गत गृहस्थ को स्नानशुद्धि की अनिवार्यता का प्रतिपादन भी किया है –

जवादित्ति तिहिजुत्तं, पूयणं परमेट्ठिणं।
सामाइगा गेव्हाणं, वट्टइ वित्तममुत्तमं।।6।।

अर्थात् स्नानादि क्रिया करने पर सामायिकादि क्रिया में मन–वचन–काय की शुद्धिपूर्वक जपादि एवं पंच परमेष्ठियों की भक्ति से पूजन करना चाहिए अर्थात् प्रथम शरीर की शुद्धि करना श्रावक का कर्तव्य है पुनः वह आर्त–रौद्र परिणामों को त्याग करके मन की शुद्धि करे तथा शुद्ध उच्चारण करते हुए महामन्त्र णमोकार का जाप तथा साम्यभावरूप सामायिक करें; तदनन्तर अरहन्त, सिद्ध, आचार्य व साधु परमेष्ठियों की यथायोग्य पूजन करें।।6।।''

अनगार धर्मामृत की पण्डित आशाधरजी द्वारा स्वरचित भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका के आधार पर सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी ने उनके ही द्वारा स्वरचित 'ज्ञानदीपिका पंजिका' के विशेषार्थ में इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला है –

''मुमुक्षु को चाहे वह मुनि हो अथवा उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य श्रावक हो; उसे आत्मिक धर्मसाधना के साथ नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं को भी करना चाहिए। ये क्रियाएँ कृतिकर्म नामक अंगबाह्य श्रुत में वर्णित हैं, वहीं से उनका वर्णन इस शास्त्र में भी किया गया है। नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ, मुनि सर्वदेश से नियमितरूप से करते हैं और श्रावक अपने पद के अनुसार करता है। मुनियों के इस शास्त्र में जो क्रियाएँ कही गयी हैं, वे सब केवल मुनियों के लिए ही कही गयी हैं – ऐसा मान कर, श्रावकों को उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि श्रावकदशा में अभ्यास करने से ही तो मुनिपद धारण करने पर, उनका योग्य पालन हो जा सकता है।

इन क्रियाओं को उत्साह से करने हेतु श्रावकों को प्रोत्साहित करते हुए ज्ञान-पंजिका में कहा है –

नित्या नैमित्तिकीश्चेत्यवितथकृतिकर्मांगबाह्यश्रुतोक्ता,
भक्त्या युंक्ते क्रिया यो, यतिरथ परमः, श्रावकोऽन्योऽथ शक्त्या।

स श्रेयः पंक्त्रिमाग्रत्रिदशनरसुखः, साधुयोगोज्झितांगो,
भव्यः प्रक्षीणकर्मा, व्रजति कतिपयैर्जन्मभिर्जन्मपारम्।।

अर्थात् जो मुनि अथवा उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य श्रावक सच्चे कृतिकर्म नामक अंग-बाह्यश्रुत में कही गई इन नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं को अपनी शक्ति के अनुसार भक्तिपूर्वक करता है; वह भव्य जीव, पुण्यकर्म के विपाक से इन्द्र और चक्रवर्ती के सुखों को भोग कर और सम्यक् समाधिपूर्वक शरीर छोड़ कर, दो-तीन या सात-आठ भवों में ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों को सर्वथा नष्ट करके संसार के पार अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है।''[141]

पंच परमेष्ठी भगवन्तों की त्रिकाल पूजा का विधान[142]

आगम में पंच परमेष्ठी भगवन्तों की त्रिकाल पूजा का विधान उपदिष्ट है –

घडीणं णव अक्कस्स, सत्तगो पंचगो सरो।
कालत्तयो तवो वित्ती, मज्झं किच्चा अणुट्ठियं।।

अर्थात् प्रतिदिन तीनों काल में – प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में नौ घड़ी अर्थात् 9 X 24 = 216 मिनिट अर्थात् तीन घण्टे छत्तीस मिनिट; मध्याह्नकाल में सात घड़ी अर्थात् दो घण्टे अड़तालीस मिनिट तथा सायंकाल में पाँच घड़ी अर्थात् दो घण्टे सामायिकादि करना, उत्तम तपोनुष्ठान है।। 7।।

इसी प्रकार मध्यम तपानुष्ठान में प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सांयकाल में क्रमशः सात, पाँच और तीन घड़ी तक सामायिकादि करना चाहिए तथा जघन्य तपोनुष्ठान में तीनों कालों में पाँच, तीन और एक घड़ी का काल जानना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक श्रावक को योग्य काल में ही कर्तव्य करना चाहिए क्योंकि यथायोग्य द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव में की हुई क्रिया ही सफल होती है अर्थात् उत्तम फल प्रदान करती है।।8।।

पाँच पापों का सामान्य स्वरूप[143]

''यों तो व्यक्ति में अगणित दोष होते हैं और उनकी गणना भी सम्भव नहीं है; परन्तु उन सभी दोषों के मूल की यदि खोज की जाए तो विदित होगा कि मूलभूत दोष पाँच ही हैं, शेष समस्त दोष, इन्हीं के अन्तर्भूत हैं। ये पाँच दोष ही व्यक्ति के जीवन में नाना प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न करते हैं और इन पाँच दोषों के कारण मानवता सन्त्रस्त रहती है। इन्हीं के प्रभाव से मानव, दानव राक्षस चोर लुटेरा अनाचारी स्वार्थी प्रपंचीं आदि बना रहता है और ये ही दोष आत्मा के उत्थान के मार्ग में गतिरोध उत्पन्न करते हैं। इन दोषों के उत्पादक राग और द्वेष हैं।''[144]

1. हिंसा पाप

राग-द्वेष के वशीभूत हो प्राणों का घात करना। हिंसा में प्रमाद अवश्य निहित रहता हैं प्राणवध द्रव्यहिंसा है तो प्रमादयोग भावहिंसा। वही तत्त्वार्थसूत्र सातवें अध्याय में कहा है –

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।।13।।

अर्थात् प्रमादसहित योगों के निमित्त से प्राणों का व्यपरोपण होना, हिंसा है।

यद्यपि प्राणों का विनाश होना हिंसा है, परन्तु वह प्रमत्तयोगपूर्वक होना चाहिए, अन्यथा वह प्राणों का वियोग हिंसा नहीं कहलाएगी क्योंकि प्रमत्तयोग के होने पर प्राणों का वियोग होता ही है – यह आवश्यक नहीं है तथा कभी कभी बिना प्रमत्तयोग के भी प्राणों का घात होता देखा जाता है; जैसे भूकम्प आदि प्राकृतिक आपदाओं के आने पर प्रमत्तयोग नहीं होता, लेकिन प्राणों का घात है, वह हिंसा नहीं कहलाती। इसी प्रकार ईर्यासमितिपूर्वक साधु के गमन करते हुए यदि अचानक कोई क्षुद्र जन्तु बलात् उनके पैरों के नीचे आकर मरण को प्राप्त हो जाए तो उससे वे साधु हिंसक नहीं कहलाते। इस प्रकार निश्चय से जब प्रमत्तयोग के कारण अपने भावप्राणों का विनाश होता है, वही वास्तविक हिंसा है। अन्य जीव की हिंसा तो उसके आयुकर्म के आधीन है, उसके नष्ट हुए बिना किसी जीव को मारने में कोई समर्थ नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है, और उनकी उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है – यही जिनागम का सार है।[145]

वस्तुतः जिनागम में हिंसा को विकार का पर्यायवाची माना गया है। हमारे जीवन में जो भी विकार विद्यमान है, उससे आत्मगुणों का ह्रास हो रहा है। यह विकार अन्तरंग और बाह्य दो प्रकार से काम करता है। क्रोधादि या रागादि परिणतिरूप होना, उसके अन्तरंग रूप हैं, जबकि गाली देना, अपमान करना, आलिंगन आदि उसके बाह्य रूप हैं। इसी के आधार पर हिंसा के दो रूप माने गये हैं – द्रव्यहिंसा और भावहिंसा।

मुख्यतया प्रत्येक की दृष्टि अपने जीवन के संशोधन की न होकर बाहर की ओर जाती है। वह इतना ही विचार करता है कि मैंने अन्य जीवों पर दया की, उन्हें नहीं मारा तो मेरे द्वारा अहिंसा का पालन हो गया, परन्तु वह अपने जीवन का रंच मात्र भी संशोधन नहीं करता, भीतर छिपे हुए अपने विकार भाव को नहीं देखता, इससे वह हिंसा को करते हुए भी अपने को अहिंसक समझ बैठता है। यही मूल में भूल है।

रागभाव भी दो प्रकार का माना गया है – प्रशस्त और अप्रशस्त। जीवन शुद्धि के निमित्तभूत पदार्थों का राग जहाँ प्रशस्त है, वहीं अन्य समस्त राग अप्रशस्त हैं। जीवन में जिसने पूर्ण स्वावलम्बन को उतारने की अर्थात् मुनिधर्म की दीक्षा ली है, उसे बुद्धिपूर्वक सब प्रकार के राग-द्वेष के त्याग करने का विधान है। यही कारण है कि मुनि को सब प्रकार की प्रवृत्ति के अन्त में प्रायश्चित्त करना पड़ता है किन्तु गृहस्थ का अधिकांश जीवन प्रवृत्ति मूलक ही होता है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि व्रती-अव्रती श्रावक भी अपनी कमजोरियों को घटाना चाहता है। जो कमजोरी उसके शेष है, उसे बुरा मान कर घटाना भी चाहता है, तथापि जब तक उसे दूर नहीं कर पाता है, तब तक उसे हिंसा ही मानता है तथा वह जितनी कमजोरी के त्याग की प्रतिज्ञा करके उसे घटाता है, उतनी उसके जीवन में अहिंसा मानी गई है।

2. झूठ या अनृत या असत्य भाषण पाप

अयथार्थ और अप्रशस्त भाषण करना। दूसरों को कष्ट पहुँचाने वाले वचनों का प्रयोग भी असत्य भाषण में गर्भित है। वही कहा है –

असदभिधानमनृतम्।।14।।

अर्थात् प्रमत्तयोग से असत्य या अप्रशस्त का भाषण करना, झूठ है।

बोलते समय अशिष्ट वचनों का प्रयोग करना भी असत् वचन है। माता पिता गुरु आदि के द्वारा बालक को सुमार्ग पर लाने के लिए या आचार्य के द्वारा शिष्य को अनुशासन का पाठ पढ़ाते समय कठोर वचन का प्रयोग करना, असत्य वचन नहीं हैं क्योंकि प्रमत्तयोग से किसी भी प्रकार का वचन क्यों न बोला गया हो, वह सब असत्य की श्रेणी में आता है और प्रमाद के बिना बोला गया सब वचन सत्य है।

3. चोरी या अदत्तादान पाप

वस्तु के स्वामी की इच्छा के बिना किसी वस्तु को ग्रहण करना या अपने अधिकार में करना, अदत्तादान है। मार्ग में पड़ी हुई या भूली हुई वस्तु को हड़प जाना भी अदत्तादान या चोरी है। नीति अनीति के विवेक को तिलांजलि देकर अनधिकृत वस्तु पर भी अधिकार करने का प्रयत्न करना, **चोरी** है। कहा है –

अदत्तादानं स्तेयम्।।15।।

अर्थात् बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना, स्तेय अर्थात् चोरी है।

साधारणतया यह नियम है कि व्यक्ति को माता-पिता से जो सम्पत्ति प्राप्त होती है, वह स्वयं जो कमाता है, तथा उसे जो भेंट आदि में मिलती है; उस सम्पूर्ण सम्पत्ति का वह मालिक होता है। इसके अलावा यदि वह दूसरे की मालिकी की वस्तु या सम्पत्ति को ग्रहण करता है तो वह स्तेय या चोरी कहलाती है।

जो वस्तुएँ सामान्यरूप से सबके उपयोग की होती हैं, जिस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता – ऐसी वस्तुओं को अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार व्यक्ति, जो ग्रहण करता है, उसमें चोरी का दोष नहीं लगता। यह चोरी का व्यवहारपरक अर्थ है। वास्तविक अर्थ यह है कि जीवन में किसी भी प्रकार की कमजोरी को छिपाना भी चोरी है। जो गृहस्थ अथवा मुनि, कमजोरियों के शिकार होकर उसे छिपाते हैं, वे प्रकारान्तर से चोरी के अपराधी हैं – ऐसा समझना चाहिए।

इसी प्रकार लौकिक दृष्टि से विचार करने पर यदि अधिक काम लेकर, कम दाम देना, शोषण या चोरी है तो पूर्ण वेतन या मेहनताना लेकर कम काम करना भी चोरी है, जो आजकल सरकारी नौकरियों आदि में अक्सर होता रहता है। गाँधीजी तो यहाँ तक कहा करते थे कि 'बिना परिश्रम के भोजन करना, चोरी है।'

4. कुशील मैथुन या अब्रह्म पाप

स्त्री और पुरुष के कामोद्वेगजनित पारस्परिक सम्बन्ध की लालसा एवं क्रिया मैथुन है और है यह अब्रह्म या कुशील। यह आत्मा के सद्गुणों का विनाश करने वाला है। वही कहा है –

मैथुनमब्रह्म।।16।।

अर्थात् मैथुन करना, अब्रह्म अर्थात् कुशील है।

स्त्री और पुरुष का जोड़ा मिथुन कहलाता है और राग परिणाम से युक्त होकर इनके द्वारा की गई स्पर्शन आदि क्रिया मैथुन है। यद्यपि यहाँ स्त्री-पुरुष का जोड़ा लिया गया है तथापि अन्य सभी सजातीय-विजातीय जोड़ों को भी इसी में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए, जो कामसेवन के लिए एकत्रित हुए हों। इसी प्रकार जड़ वस्तुओं तथा अपने हस्त आदि के माध्यम से जो कामसेवन किया जाता है, उसे भी अब्रह्म ही समझना चाहिए।

5. परिग्रह पाप

किसी भी परपदार्थ को ममत्वभाव से ग्रहण करना, परिग्रह है। ममत्व, मूर्च्छा या लोलुपता को वास्तव में परिग्रह कहा जाता है। संसार के अधिकांश दुःख इस परिग्रह के कारण ही उत्पन्न होते हैं। आत्मा अपने स्वरूप से विमुख होकर और रागद्वेष के वशीभूत होकर परिग्रह में आसक्त होती है।

परिग्रह के लक्षण बताते हुए विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न मत व्यक्त किये हैं –

1. जो इच्छा है, वही परिग्रह है।[146]
2. यह वस्तु मेरी है – ऐसा संकल्प रखना, परिग्रह है।[147]
3. यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ; इस प्रकार का ममत्व परिणाम परिग्रह है।[148]
4. लोभ कषाय के उदय से विषयों के संघ को परिग्रह कहते हैं।[149]
5. परि अर्थात् चारों तरफ से, ग्रह अर्थात् ग्रहण करना। जो ग्रहण किया जाता है, वह परिग्रह है – इस व्युत्पत्ति के अनुसार बाह्य परिग्रहों को परिग्रह कहा गया है। तथा जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह परिग्रह है – इस व्युत्पत्ति के अनुसार अन्तरंग परिग्रह को परिग्रह कहा जाता है।[150]

जबकि तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है –

मूर्च्छा परिग्रहः।।17।।

अर्थात् ममत्व परिणामरूप मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं।

मूर्च्छा का अर्थ है – किसी भी वस्तु में अपनत्व का अनुभव करना या उसे अपनी मालिकी की समझना। उनके और अधिक अर्जन, संचय और संरक्षण के लिए यह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। बाह्य धन-धान्य आदि पदार्थों की भी परिग्रह संज्ञा इसलिए है क्योंकि मूर्च्छा के बिना उनका संग्रहण नहीं हो सकता तथा इनके अभाव में भी इन पदार्थों के प्रति जो आसक्ति या मूर्च्छा है, वही परिग्रह है।

गाय, भैंस आदि चेतन और मणि-मुक्ता आदि अचेतन बाह्य उपधि तथा रागादिरूप अभ्यन्तर उपधि का संरक्षण अर्जन और संस्कार आदिरूप व्यापार ही मूर्च्छा है।

लोक में वात, पित्त और कफ आदि के प्रकोप होने पर जो बेहोशी हो जाती है, उसे मूर्च्छा कहते हैं; परन्तु यहाँ परिग्रह के प्रकरण में मूर्च्छा का आध्यात्मिक एवं दार्शनिक अर्थ अपेक्षित है। फिर भी दोनों में एक बात यह समान है कि जिस प्रकार बेहोशी होने पर व्यक्ति अपने हित अहित का कुछ भी विचार नहीं करता; उसी प्रकार मोहग्रस्त मूर्च्छा होने पर भी यह जीव अपने आत्मकल्याण के सम्बन्ध में कुछ भी विचार नहीं कर पाता। मोह का मद की संज्ञा देते हुए छहढालाकार लिखते हैं –

मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।[151]

जैनदर्शन में 'मूर्च्छा' शब्द के द्वारा मुख्यतः अभ्यन्तर परिग्रह को ही निर्दिष्ट किया गया है क्योंकि बाह्य अभ्यन्तर की तुलना में अभ्यन्तर भाव को ही प्रधान माना गया है, उसी का ग्रहण किया गया है। यह भी विचारणीय है कि बाह्य परिग्रह के न होने पर भी 'यह मेरा है' – ऐसे संकल्प वाला पुरुष, परिग्रह सहित ही होता है और कहलाता है। ध्यान रहे कि 'यह मेरा है' – ऐसा संकल्प यदि अपने ज्ञानादि भावों के प्रति किया जाए तो वह परिग्रह नहीं कहलाता है क्योंकि प्रमाद के योग से होने वाली मूर्च्छा का ही यहाँ ग्रहण किया गया है। जो परवस्तु को अपनी मानने का संकल्प करे, उसे ही पाप कहा गया है। यदि अपनी स्वभावरूप वस्तु में 'यह मेरी है' – ऐसा संकल्प किया जाए तो वह पाप नहीं है।

आत्मा के ज्ञानादिक ही उसका वास्तविक परिग्रह

ज्ञानादिक आत्मा के स्वभाव हैं, इसलिए वे त्यागने योग्य नहीं हैं; अतः उनमें परिग्रहपना भी नहीं है; लेकिन जो रागादिक, आत्मा के भाव होने पर भी आत्मा के स्वभाविक भाव नहीं हैं, औपाधिक भाव है, अतः वे हेय हैं, उनमें होने वाला संकल्प भी अभ्यन्तर परिग्रह कहलाता है।

जो अपनी आत्मा को ही अपना परिग्रह मानता है, उनकी प्रशंसा करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार में कहते हैं –

को णाम भणिज्ज बुहो, परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु, णियदं वियाणंतो।। 207।।[152]

अर्थात् ऐसा कौन ज्ञानी है जो यह कहेगा कि 'यह परद्रव्य मेरा है' क्योंकि वह तो अपनी आत्मा को ही नियम से अपना परिग्रह जानता है।

यही कारण है कि सूत्रकार ने परिग्रह का लक्षण बताते हुए मूर्च्छा पर जोर दिया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि मूर्च्छा का त्याग, बाह्य वस्तुओं के त्याग किये बिना नहीं हो सकता। इस स्थिति में पात्र और वस्त्रधारी साधु को अपरिग्रही नहीं माना जा सकता है। साधु के पास जो पीछी कमण्डलु एवं शास्त्र होते हैं, वे उनके अपने उपयोग के लिए नहीं होकर संयम शौच एवं ज्ञान के उपकरणरूप होते हैं। पीछी के बिना भूमि का शोधन और सूक्ष्म जन्तुओं का वारण नहीं किया जा सकता है और कमण्डलु के बिना मल-मूत्र के विसर्जन के बाद शुद्धि नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार शास्त्र भी ज्ञान के उपकरण हैं, मुनियों को तो ज्ञान और ध्यान की ही मुख्यता मानी गई है। अतः ये तीनों उनके परिग्रह नहीं हैं।

साधु जीवन में पीछी-कमण्डलु के समान वस्त्र-पात्र की भी छूट नहीं दी जा सकती क्योंकि जैसे पीछी-कमण्डलु के बिना साधु का जीवन-यापन सम्भव नहीं है, वैसे वस्त्र पात्र के साथ नहीं है, उनके बिना भी जीवन-यापन सम्भव है।

यद्यपि मुनिधर्म की दीक्षा लेते समय साधु तो समस्त प्रकार के परिग्रहों का सर्वथा त्याग करके एक मात्र शुद्धोपयोग की प्रतिज्ञा अंगीकार करता है; तथापि जब वह साधु अपने शुद्धोपयोगरूप परिणामों में नहीं रह पाता, तब आचार्य उस साधु के संयम, शरीर एवं ज्ञान आदि गुणों की सम्भाल के लिए उपकरणस्वरूप क्रमशः पीछी, कमण्डलु एवं शास्त्र आदि बाह्य परिग्रहों को भी हस्तावम्बन जान कर ग्रहण कराते हैं; इसी प्रकार शरीर की रक्षा के लिए यावत् जीवन पर्यन्त आहार आदि ग्रहण करने का भी विधिवत् उपदेश देते हैं।

प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि ''जिस उपधि अर्थात् परिग्रह, आहार, विहारादि के ग्रहण विसर्जन करने में, सेवन करने वाले को छेद अर्थात् संयम का विनाश नहीं होता – ऐसी उपधि के साथ योग्य काल व योग्य क्षेत्र को जान कर, इस लोक में श्रमण भले प्रकार वर्तें।

जो अल्प हो, अनिन्दित हो, असंयतजनों से अप्रार्थनीय हो तथा जो मूर्च्छा अर्थात् ममत्व आदि को उत्पन्न करने वाली न हो – ऐसी ही उपधि श्रमण ग्रहण करो।

यथाजातरूप अर्थात् जन्म से उत्पन्न नग्नस्वरूप लिंग जिनमार्ग में उपकरण कहा गया है तथा गुरु के वचन, सूत्रों का अध्ययन एवं विनय उपकरण कहे गये हैं।''[153]

इस सन्दर्भ में प्रवचनसार की चरणानुयोगसूचक चूलिका, मूलाचार, भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में विस्तार के साथ वर्णन मिलता है, जो कि मूलतः पठनीय है।

पाँच व्रतों का सामान्य स्वरूप

वास्तव में एक ही पाप हिंसा है और उसके परिहारस्वरूप एक ही व्रत अहिंसा है। जैसे, खेत में उगे धान्य की रक्षा के लिए बाड़ होती है, उसी प्रकार अहिंसा व्रत के संरक्षण के लिए सत्य आदि को व्रत के रूप में माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र के सप्तम अध्याय में कहा है –

हिंसाऽनृत-स्तेयाऽम-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।।1।।

अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरक्त होना, व्रत है।

यद्यपि यहाँ व्रत का लक्षण निवृत्तिपरक किया है, तथापि यह निवृत्ति असत्प्रवृत्तियों की बतलाई है। हिंसा असत्य चोरी मैथुन और परिग्रह – ये असत् प्रवृत्तियाँ हैं, जो प्राणिमात्र के जीवन में ज्ञात और अज्ञातभाव से घर किये हुए हैं, इसलिए इनके त्याग का उपदेश देने से व्रत में सत् प्रवृत्तियाँ का स्वीकार अपने आप फलित हो जाता है। इस प्रकार अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – ये सत् प्रवृत्तियाँ हैं। वास्तव में अस्ति और नास्ति की अपेक्षा ही इन्हें प्रवृत्ति और निवृत्ति – ये दो पर्याय नाम दिये गये हैं।

वहीं उनके भेदों का कथन करते हुए कहा गया है –

देश-सर्वतोऽणु-महती।।2।।

अर्थात् उक्त पाँच पापों के एकदेश और सर्वदेश त्याग को क्रमशः अणुव्रत और महाव्रत कहते हैं।

हिंसादि पाँच पापों के त्यागोन्मुख जीवों की प्रवृत्तियाँ एक जैसी नहीं हो सकती। जिसकी जितनी शक्ति होगी, वह उतना ही त्याग कर सकता है। यहाँ उनकी निवृत्ति या प्रवृत्ति के एकदेश और सर्वदेश – ऐसे दो विभाग कर दिये गये हैं। जहाँ पापों का एकदेश त्याग या व्रतों का एकदेश ग्रहण होता है, उसे अणुव्रत कहते हैं एवं जहाँ पापों का सर्वदेश त्याग या व्रतों का सर्वदेश ग्रहण होता है, उसे महाव्रत कहते हैं।

व्रतियों का सामान्य स्वरूप

व्रतियों का स्वरूप बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

निःशल्यो व्रती।।18।।[154]

अर्थात् जो माया, मिथ्यात्व और निदान – इन तीन शल्यों से रहित होता है, वही व्रती होता है।

जो सच्चा व्रती होता है, उसे मात्र पाँच व्रतों को स्वीकार करने से काम नहीं चल सकता है, बल्कि इसके लिए उसे शल्यों का त्याग करना भी आवश्यक है। शल्य भीतर ही भीतर पीड़ा देने वाली चीज है। शल्य का दूसरा नाम काँटा है। जैसे, किसी स्वस्थ मनुष्य के पैरों में काँटा चुभ जाने पर वह राहत का अनुभव नहीं करता है; उसी प्रकार व्रतों के स्वीकार कर लेने पर भी शल्य के रहते हुए कोई भी प्राणी वास्तविक व्रती नहीं हो पाता। व्रतों को स्वीकार कर लेना और बात है, उसे जीवन में उतार लेना और बात है। शल्य का होना, उस व्यक्ति की मानसिक अस्वस्थता का सूचक है।

व्रतों के पालन में कपट ढोंग अथवा ठगने की प्रवृत्ति का होना, माया शल्य है। व्रतों का पालन करते हुए भी सत्य पर श्रद्धा न लाना अथवा असत्य का आग्रह रखना, मिथ्यादर्शन शल्य है। तथा व्रतों के फलस्वरूप भोगों की लालसा रखना, निदान शल्य है। इन तीन शल्यों के रहते हुए कोई भी प्राणी व्रतों को अपने जीवन में नहीं उतार पाता, वे केवल उसके लिए आडम्बर मात्र बने रहते हैं; अतः व्रती होने के लिए शल्यों का परिहार करना, अत्यन्त आवश्यक है।

व्रतियों के भेद[155]

व्रतियों के गृहवासी और गृहत्यागी की अपेक्षा भेद किये गये हैं। वही तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

अगार्यनगारश्च।।19।।

अर्थात् व्रती के दो भेद होते हैं – 1. अगारी या गृहस्थ और 2. अनगारी या गृहविरत साधु।

अणुव्रतों का धारक अगारी होता है और महाव्रतों का धारक अनगार होता है। अथवा जिसने अन्तरंग परिणामों से परिग्रह का पूरी तरह से त्याग नहीं किया है, वह अगारी अर्थात् गृहस्थ है तथा जिसने अन्तरंग परिणामों से परिग्रह का पूरी तरह त्याग कर दिया है, वह अनगार अर्थात् मुनि है। ऐसा होने पर भी यदि

किसी प्रसंगवश गृहस्थ को वन में या घर के बाहर रहना पड़े अथवा भोजनादि के निमित्त से घर में आना पड़े या विमोचित घर आदि में रहना पड़े तो उससे गृहस्थ को अनगार या मुनि को अगारी नहीं माना जा सकता। तत्त्वार्थसूत्र में कहा भी है –

अणुव्रतोऽगारी।।20।।

अर्थात् गृहस्थ श्रावक अणुव्रत का धारक होता है।

इस सूत्र के माध्यम से यह नियम बताया गया है कि गृहस्थ श्रावक, अणुव्रत का धारक ही होता है, वह कभी भी महाव्रत का धारक नहीं हो सकता, अनगार या मुनि नहीं कहला सकता; उसे इस अवस्था में कभी भी मुनि के योग्य विशुद्धि नहीं हो सकती।

इसी प्रकार व्रती गृहस्थ श्रावक, अन्य किन-किन व्रतों का पालन करता है, उसे बताते हुए कहते हैं –

दिग्देशाऽनर्थदण्डविरति-सामायिक-प्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च।।21।।

अर्थात् गृहस्थ श्रावक, पाँच अणुव्रतों के साथ दिग्व्रत, देशव्रत, और अनर्थदण्डव्रत – इन तीन गुणव्रतों एवं सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत, और अतिथिसंविभागव्रत – इन चार शिक्षाव्रतों से भी सम्पन्न होता है।

जब कोई अव्रती श्रावक व्रती होकर जीवन व्यतीत करना चाहता है तो उसे बारह व्रतों को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। न्यूनाधिक प्रमाण में इन बारह व्रतों को या इनके सहकारी अन्य व्रतों को पालन करने वाला गृहस्थ व्रती श्रावक कहलाता है।

अभिप्राय पूर्वक लिये गये नियम को व्रत कहते हैं। यद्यपि व्रत का यह लक्षण श्रावक के सभी व्रतों में पाया जाता है; तथापि अहिंसा आदि पाँच को व्रत और दिग्विरति आदि सात को शील कहने का कारण यह है कि अहिंसा आदि पाँच मूलभूत व्रत हैं, इसलिए ये व्रत शब्द द्वारा कहे गये हैं और दिग्विरति आदि सात पंच व्रतों की रक्षा के लिए हैं, इसलिए ये शील शब्द द्वारा कहे गये हैं। इनका खुलासा इस प्रकार है –

पाँच अणुव्रत

इनमें पाँच पापों से पूर्णतः विरक्ति नहीं की जाती है, इसलिए इनका **अणुव्रत** नाम सार्थक है। अणुव्रतों के पाँच भेद हैं – 1. अहिंसाणुव्रत, 2. सत्याणुव्रत, 3. अर्चार्याणुव्रत, 4. ब्रह्मचर्याणुव्रत, 5. परिग्रहपरिमाणव्रत।

1. **अहिंसाणुव्रत** – हिंसा का त्याग करना, अहिंसाव्रत कहलाता है। आंशिकरूप से इस व्रत का पालन करना, **अहिंसाणुव्रत** कहलाता है।

जो गृहस्थ, सम्यग्दर्शन से सहित है, दयावान् है, हिंसा से भयभीत है, उसका सम्पूर्ण त्याग करने की भावना है, उसके सम्मुख है तो भी उससे एकेन्द्रिय जो पृथिवीकाय आदि स्थावर जीव की हिंसा का त्याग नहीं हो पा रहा है क्योंकि त्रस और स्थावर दोनों की हिंसा का त्याग तो जो गृहत्यागी मुनीश्वर हैं, उनसे ही बन सकता है; अतः अहिंसाणुव्रत के अन्तर्गत श्रावक संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है, वह त्रस जीवों (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, और पाँच इन्द्रिय जीव) की हिंसा मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से संकल्पपूर्वक नहीं करता है।

इस प्रकार उसे स्थूल हिंसा का त्यागी होने से अहिंसाणुव्रती कहते हैं।

त्रस और स्थावर सब प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग न हो सकने के कारण जीवन भर के लिए त्रसजीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग कर देना और स्थावर जीवों की हिंसा तथा आरम्भ भी यथासम्भव कम करते जाना, **अहिंसाणुव्रत** है।

यहाँ स्थूल हिंसा में संकल्पी हिंसा का ग्रहण किया जाता है। जो हिंसा, केवल हिंसा करने के लिए की जाती है, तथा जो हिंसा इरादापूर्वक की जाती है, उसे **संकल्पी हिंसा** कहते हैं। जैसे – आतंकवादियों के द्वारा की जाने वाली हिंसा।

2. **सत्याणुव्रत** – सत्य और अहिंसा का परस्पर बहुत गहरा सम्बन्ध है। एक के अभाव में दूसरे का पालन सम्भव नहीं है। ये दोनों परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। अहिंसा, यथार्थ सत्य को सौन्दर्य प्रदान करती

है और यथार्थ सत्य, अहिंसा को सुरक्षा देता है। अहिंसारहित सत्य, कुरूप है और सत्यरहित अहिंसा, क्षणस्थायी है, असुरक्षित है। इसलिए अहिंसा की आराधना के लिए सत्य की आराधना अनिवार्य है।

सत्यव्रत का पूर्णरूप से पालन तो मुनियों के द्वारा होता है और एकदेशरूप से पालन गृहस्थ श्रावक के द्वारा होता है। जो गृहस्थ, स्थूल असत्य स्वयं नहीं बोलता, न दूसरे से कहलाता है, तथा जिस वचन से अपने पर या दूसरे पर आपत्ति आ जावे – ऐसा सत्य भी नहीं बोलता है; उसे सन्त पुरुष, स्थूल असत्य का त्याग या **सत्याणुव्रत** कहते हैं। लोक-व्यवहार में जिसे स्थूल झूठ समझा जाता है, उसी का यहाँ ग्रहण किया गया है। जैसे – 1. शपथ लेकर अन्यथा कथन करना अर्थात् जान-बूझ कर झूठ बोलना। 2. पंच या जज (न्यायाधीश) के पद पर प्रतिष्ठित होकर अन्यथा कहना या कहलाना या निर्णय देना। 3. धर्मोपदेष्टा बन कर अन्यथा उपदेश देना। 4. विश्वस्त करके झूठ बोलना। 5. ऐसा झूठ बोलना, जो आपत्ति का कारण हो।

जिस प्रकार स्थूल हिंसा में संकल्पी हिंसा का ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार स्थूल झूठ में संकल्पी झूठ का ग्रहण किया जाता है। जो झूठ, सिर्फ झूठ बोलने के लिए ही बोला जाता है, जो इरादापूर्वक दूसरे को नुकसान पहुँचाने के उद्देश्य से झूठ बोला जाता है, उसे इस श्रेणी में लिया जाता है। सामान्य सद्गृहस्थ से कम से कम इतनी अपेक्षा तो रखी ही जा सकती है।

भयवश आशावश स्नेहवश या लोभवश कम से कम ऐसा असत्य नहीं बोलना, जो गृहविनाश या ग्रामविनाश का कारण हो, वह **सत्याणुव्रत** है।

3. **अचौर्याणुव्रत –** बिना दिये हुए दूसरे के द्रव्य को नहीं लेना, **अचौर्याणुव्रत** है।

चोरी भी हिंसा का ही एक रूप है। जब कोई व्यक्ति, किसी की कोई वस्तु चुरा लेता है, या ठग लेता है, तब उसे बहुत मानसिक पीड़ा होती है और भौतिक कष्ट भी होता है; अतः जब तक चोरी करने का त्याग न हो, तब तक अहिंसा का पालन भी नहीं हो सकता और सत्य का निर्वाह भी नहीं हो सकता।

चोरी के पूर्ण त्याग करने पर अचौर्य महाव्रत होता है, परन्तु गृहस्थ अवस्था में चोरी का पूर्णतः त्याग करना सम्भव नहीं है; अतः स्थूल चोरी के त्यागरूप **अचौर्याणुव्रत** होता है। जैसे – किसी पुरुष का जमीन में गड़ा हुआ धन हो; किसी भी स्थान में, महल में, मन्दिर में, गृह आदि में छिपाया हुआ धन हो; आपको अमानत सौंप गया हो; आपके मकान में या दूसरे के मकान में आप को बिना बताये–जताये ही रख गया हो, गाँव में, नगर में, रास्ते में, वन में, बाग में पटक गया हो, आप को सौंप कर भूल गया हो, पटक गया हो; आप को सौंप कर भूल गया हो; हिसाब में, लेखे में चूक गया हो; आप के स्थान में भूल से रख गया हो, पटक गया हो; अथवा लेन–देन में, गिनती में, भूला हुआ पैसा, रुपया, मुहर, आभरण, वस्तु आदि महंगी या थोड़े मोल की हो; उसे बिना दी हुई ग्रहण नहीं करना चाहिए या दूसरे की वस्तु उठा कर किसी अन्य को देना नहीं चाहिए।

डॉ. धर्मचन्द जैन ने जिनवाणी मासिक पत्रिका[156] में 'अचौर्यव्रत और नैतिकता' – इस विषय पर एक लेख लिखा है, जिसमें उन्होंने वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अचौर्यव्रत के महत्त्व को रेखांकित किया है। उसके कतिपय अंश निम्न प्रकार हैं –

1. ''अचौर्यव्रत का महत्त्व मानवीय परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। पशु-पक्षियों के लिए चोरी की कोई अवधारणा नहीं है। जहाँ उन्हें भोजन मिलता है, वे वहीं उसे ग्रहण कर लेते हैं। अतः उन्हें यह बोध नहीं होता कि कहाँ खाना चोरी के अन्तर्गत आएगा और कहाँ नहीं।
2. चोरी से दूसरे के अधिकारों का हनन होता है और अपने मूल्यों का पतन।
3. चोरी को मानव समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है; चोर की इज्जत, समाज की दृष्टि में कुछ नहीं होती।
4. चोरी को मानव समाज में तथा सरकार के स्तर पर एक दण्डनीय अपराध स्वीकार किया गया है।
5. भगवान महावीर ने चोरी को 'अदत्तादान' शब्द से परिभाषित किया है। यह शब्द की सूक्ष्म व्याख्या करता है। जिस वस्तु पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं है, उसको तो हम ग्रहण कर सकते हैं। उदाहरणार्थ – सूर्य के प्रकाश, वायु आदि अनेक वस्तुओं पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं है; अतः हम उसे सहजरूप में ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु जहाँ तक रोटी–कपड़ा–मकान की बात है; वहाँ हम उसे मूल्य चुका कर अथवा दूसरे की अनुमति लेकर ग्रहण कर सकते हैं।

6. जैन साधु-साध्वी अपने पास फूटी कौड़ी भी नहीं रखते है, अतः वे अपनी आवश्यक्ता के अनुसार गृहस्थों से भोजन आदि ग्रहण करते हैं; इन्हें ग्रहण करने में भी अनेक नियमों और उपनियमों का पालन करते हैं। नियमों के कारण वे भूख होते हुए भी एवं भोजन मिलने पर भी कदाचित् उसे नहीं ले पाते हैं। वे अपनी इच्छाओं एवं आवश्यक्ताओं को कम और नियमों को अधिक महत्त्व देते हैं। इसलिए सहज ही उनके जीवन में अदत्तादान व्रत का पालन हो जाता है। वे संयम यात्रा के लिए भिक्षावृत्ति अपनाते हैं। यदि कहीं प्रासुक जल उपलब्ध है, किन्तु कोई देने वाला न हो तो वे उसे स्वयं ग्रहण नहीं करते हैं।
7. आज वस्तु-संग्रह की कोई सीमा नहीं रह गई है। यह मानव अपने सुख के लिए दूसरे के श्रम को भूल जाता है तथा सामाजिक नीति-नियमों को ताक में रख कर वस्तु-संग्रह में लगा रहता है।
8. राज्य के नियमों में स्थानीय चुगी, वाणिज्यिक कर, वेट टैक्स, आय कर आदि सबका समावेश होता है किन्तु ऐसे कम ही व्यापारी हैं, जो पूर्णतया इन नियमों का पालन करते हैं।
9. कर चोरी को जैन समाज भी बुरा नहीं मानता। वह कहता है कि सरकारी नियम ही इतने कठोर हैं कि यदि व्यक्ति कर चोरी न करे तो कुछ भी कमा न सकेगा। दूसरी बात, यदि सब व्यक्ति कर चुकाने लगें तो बाजार में वस्तुओं के दाम अधिक ऊँचे जा सकते हैं। सरकार को कर नहीं देने वालेँ लोग, बाजार में कम कीमत पर वस्तु उपलब्ध कराते हैं। मूलतः यह राज्य विरुद्ध कार्य है, जो पूर्णतया त्याज्य है।
10. चोरी के अनेक रूप हैं; उनमें कार्य की चोरी भी एक चोरी है। जिस कार्य को करने के लिए पारिश्रमिक लिया गया है, यदि उसे हम पूर्ण नहीं करते हैं तो यह भी एक तरह की चोरी ही है।
11. चोरी का एक रूप लेखन की चोरी है। दूसरे के द्वारा लिखे हुए मौलिक लेखों एवं रचनाओं को अपने नाम से प्रकाशित करवाना भी एक चोरी है। गृहस्थों में ही नहीं, साधु-साध्वियों में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है। कोई यह कहे कि किसी लेखक को पैसा देकर हम उस कृति को अपने नाम से प्रकाशित करवाये तो इसमें क्या दोष है?, यह तो कोई अदत्तादान नहीं है। किन्तु गहराई से विचार करने पर ज्ञात होगा कि यह भी एक प्रकार का दोष ही है।
12. आजकल किसी शोध का भी पेटेन्ट होता है। उसे दूसरा कोई अपने नाम से प्रयोग नहीं कर सकता। इसी प्रकार लेखन में भी कॉपीराइट (सर्वाधिकार सुरक्षित) होता है, दूसरा उसकी नकल नहीं कर सकता। यदि करता है तो यह अपराध है।
13. बिना श्रम के वस्तु की प्राप्ति की भावना, लोभ की प्रवृत्ति, दूसरों को धोखा देने की लालसा, अपने कुत्सित संवेगों पर अनियन्त्रण आदि अनेक कारण हैं, जो चोरी की प्रवृत्ति को जन्म देते हैं।
14. प्रभु महावीर ने जो अदत्तादान का सन्देश दिया है, वह व्यक्ति को भीतर से निर्मल बनाता है तथा दूसरों के प्रति आदरभाव उत्पन्न करता है, उनके अधिकारों की रक्षा के भाव को सुरक्षित रखता है तथा संग्रह की भावना को उत्पन्न नहीं देता।
15. इस प्रकार अदत्तादान-विरमण-व्रत, व्यक्ति को बाह्य रूप से ही नहीं, बल्कि अभ्यन्तर स्तर पर भी नैतिक एवं धर्मनिष्ठ बनाता है।

महात्मा कबीर ने कहा भी है –

देख पराई चूपड़ी, मत ललचावे जीव।
रूखी-सूखी खाय के, ठण्डा पानी पीव।।"[57]

4. ब्रह्मचर्याणुव्रत – अपनी विवाहिता स्त्री या विवाहित पुरुष के सिवा शेष सब स्त्रियाँ या पुरुषों को बुरी निगाह से नहीं देखना, **ब्रह्मचर्याणुव्रत** है।

यद्यपि यौनाचार या मैथुन के सर्वथा त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं, तथापि गृहस्थ को विवाह का मार्ग खुला हुआ है। जो अपनी जाति की, कुलीन घर की एवं साक्षीपूर्वक विवाहित स्त्री में सन्तोष धारण करके, उससे अन्य समस्त स्त्री मात्र में रागभाव का त्याग करके, परस्त्री, वेश्या, दासी, कुलटा, कुंवारी इत्यादि स्त्रियों में विरागता को प्राप्त होकर, उनसे रागभावपूर्वक मिलना, वचनालाप करना, अवलोकन करना, स्पर्श करना आदि का त्याग करना, **ब्रह्मचर्याणुव्रत** कहलाता है।

इस व्रत के दूसरे नाम – 1. परस्त्रीत्यागव्रत या परपुरुषत्यागव्रत अथवा 2. स्वस्त्रीसन्तोषव्रत या स्वपुरुषसन्तोषव्रत भी है। दोनों में से एक नाम निषेधपरक है और दूसरा नाम विधिपरक है; अतः दोनों का आशय एक ही है। उन्मुक्त यौनाचार ने आज एड्स आदि कई ज्वलन्त समस्याओं को जन्म दिया है, इनसे परिवार और समाज में अशान्ति और विग्रह फैलता है।

वर्तमान में काम-सेवन की तुलना पौरुष से की जाती है। ऐसा माना जाता है कि जो जितना कामुक है या काम-पुरुषार्थ करता है, वह उतना ही बलवान या बलशाली है, किन्तु यह एक अत्यन्त भ्रान्त धारणा है। अधिक काम-वासना कमजोरी की सूचक होती है। एक शोध से ज्ञात हुआ है कि शेर जैसा शक्तिशाली जानवर, वर्ष में एक बार ही सम्भोग करता है; अन्य पशु-पक्षी भी अपने निश्चित ऋतुकाल में ही काम-सेवन करते हैं, किन्तु मात्र मनुष्य के जीवन में भोग का कोई नियम या सीमा विवेक नहीं है।

ब्रह्मचर्य व्रत की नौ बाड़

पण्डित बनारसीदास ने नाटक समयसार में निम्न छन्द के माध्यम से **नव बाड़ों का विवेचन** किया है –

तिय थल वास, प्रेम रुचि निरखन, दे परीछ भाखै मधु वैन।
पूरब भोग केलि रस चिन्तन, गुरु आहार लेत चित चैन।।
करि सुचि तन सिंगार बनावत, तिय पर जंक मध्य सुख सैन।
मनमथ कथा, उदर भरि भोजन, ये नौ वाड़ि कहै जिन बैन।।[158]

1. स्त्री के साथ निवास नहीं करना अथवा उसके समागम में नहीं रहना।
2. स्त्री के रूप तथा शृंगार को विकार भाव या रागभरी दृष्टि से नहीं देखना।
3. स्त्रियों से छिप कर भाषण नहीं करना तथा उनके मधुर वचनों को रागभावों से नहीं सुनना।
4. पहले भोगी हुई स्त्रियों या भोग-विलास का स्मरण नहीं करना।
5. काम को उद्दीपन करने वाले पदार्थ जैसे – घी, दूध, मिश्री, लड्डू, मेवा, भांग, विष, उपविष, मादक और पौष्ठिक पदार्थ; पारा आदि धातु, उपधातु, सोने, चांदी, मोती आदि की भस्म, रस, रसायन, बलवान और वीर्य बढ़ाने वाली औषधियाँ तथा अन्य प्रकार के गरिष्ठ भोजन नहीं करना।
6. स्त्रियों के शृंगार सम्बन्धी शास्त्रों को न पढ़ना, न सुनना तथा काम कथा न कहना, न सुनना।
7. स्त्रियों के आसन पर नहीं बैठना तथा उनकी शय्या पर नहीं सोना।
8. स्नानादि के द्वारा शरीर को आवश्यकता से अधिक नहीं सजाना।
9. भोजन पान आदि के द्वारा पेट को पूरा नहीं भरना।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ हैं सो ये सब ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए हैं। जिस प्रकार चावल, गेहूँ, आदि अन्नों के खेतों में उनकी रक्षा के लिए चारों ओर काँटों की बाड़ लगा देते हैं; उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ये ऊपर लिखी नौ बाड़ हैं। जिस प्रकार बिना बाड़ के खेत नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार इन नौ बाड़ों के बिना शील का भंग हो जाता है।

ब्रह्मचर्य व्रत सम्बन्धी अठारह हजार शील के भेद[159]

शील के अठारह हजार भेद कहे गये हैं; इनके भेदों का कथन भावपाहुड़ एवं मूलाचार में दो तरह से वर्णित किया है – 1. स्वद्रव्य–परद्रव्य के विभाग की अपेक्षा और 2. स्त्री के संसर्ग की अपेक्षा। यहाँ उन **अठारह हजार शील के भेदों** की कुछ अपेक्षाओं को लिखते हैं –

1. स्वद्रव्य–परद्रव्य के विभाग की अपेक्षा शील के अठारह हजार भेद[160]

अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रियाँ, पृथ्वीकाय आदि दश प्रकार के जीवों (पाँच स्थावर, बे इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, और संज्ञी पंचेन्द्रिय) के आरम्भ और उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के धर्म (उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, और ब्रह्मचर्य) – इनका परस्पर गुना करने पर 18000 (3 x 3 x 4 x 5 x 10 x 10) भेद हो जाते हैं। इन 18000 भेदों से बने हुए शीलरूपी रथ को चलाने वाले महा मुनिराज होते हैं; इसलिए ऐसे मुनिराजों को हम बारम्बार नमस्कार करते हैं।

2. स्त्री के संसर्ग की अपेक्षा शील के अठारह हजार भेद[161]

काष्ठ, पाषाण और चित्राम – ऐसे तीन प्रकार की अचेतन स्त्री (3), मन और काय – ऐसे दो योग (2), कृत, कारित और अनुमोदना – ऐसे तीन करण (3), स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण – ऐसे पाँच इन्द्रियाँ (5), द्रव्य और भाव – ऐसे दो भेद (2), क्रोध, मान, माया और लोभ – ऐसे चार कषाय (4); इन सबका परस्पर गुणा करने पर (3 x 2 x 3 x 5 x 2 x 4 = 720) अचेतन स्त्री से सम्बन्धित 720 भेद होते हैं।

तथा देवी, मनुष्यणी, तिर्यंचनी – ऐसे तीन प्रकार की चेतन स्त्री (3), मन, वचन और काय – ऐसे तीन योग (3), कृत, कारित और अनुमोदना – ऐसे तीन करण (3), स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण – ऐसे पाँच इन्द्रियाँ (5), द्रव्य और भाव – ऐसे दो भेद (2), आहार, भय, मैथुन, और परिग्रह – ऐसे चार संज्ञाएँ (4), क्रोध, मान, माया और लोभ – ऐसे चार कषाय (4), चार कषायों के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन सम्बन्धी चार भेद (4); इन सबका परस्पर गुणा करने पर (3 x 3 x 3 x 5 x 2 x 4 x 4 x 4 = 17280) चेतन स्त्री से सम्बन्धित 17280 भेद होते हैं।

इस प्रकार दोनों चेतन-अचेतन स्त्री से सम्बन्धित शील के कुल 720 + 17280 = 18000 होते हैं।

चर्चासागर[162] में शील के अठारह हजार भेद इस तरह बताये हैं –

''चेतनरूप स्त्रियों के तीन भेद हैं – 1. मनुष्यनी, 2. देवांगना, 3. तिर्यंचनी। अचेतन स्त्री का एक भेद है अर्थात् काठ, पत्थर या चित्राम की किसी स्त्री का रूप बनाना अचेतन स्त्री है। इस प्रकार स्त्रियों के **चार भेद** होते हैं। इनका त्याग मन-वचन-काय से तथा कृत-कारित-अनुमोदना से किया जाता है; अतः स्त्रियों के 4 भेदों को मन-वचन-काय की 3 संख्या से गुना करने पर **12 भेद** प्राप्त होते हैं। इन 12 भेदों का कृत-कारित-अनुमोदना की 3 संख्या से गुणा करने पर **36 भेद** प्राप्त होते हैं। इन 36 भेदों का पाँच इन्द्रियों के माध्यम से त्याग किया जाता है; इसलिए 36 का 5 से गुना करने पर **180 भेद** प्राप्त होते हैं। इन 180 भेदों का 10 प्रकार के संस्कारों से त्याग किया जाता है; इसलिए 180 को 10 से गुना कर देने पर **1800 भेद** हो जाते हैं।

(**संस्कार** के 10 प्रकार हैं – 1. स्नान करना तथा उबटन आदि लगाना। 2. शृंगार करना। 3. राग बढ़ाने वाले कार्य करना। 4. हँसी, विनोद आदि रूप क्रीड़ा करना। 5. संगीत वाद्य बजाना। 6. विषय-सेवन का संकल्प करना। 7. दर्पण में मुख देखना। 8. शरीर की शोभा बढ़ाना। 9. पहले भोगी हुई स्त्रियों का स्मरण करना। 10. मन में चिन्ता की प्रवृत्ति करना।)

इस प्रकार इन 1800 भेदों का त्याग, काम के दश प्रकार के वेगों से किया जाता है; इसलिए 1800 का 10 से गुना करने पर **18000 भेद** हो जाते हैं।

(**काम** के 10 प्रकार हैं – 1. स्त्री के मिलने की चिन्ता होना। 2. स्त्री को देखने की इच्छा होना। 3. दीर्घ श्वासोच्छ्वास लेना अर्थात् लम्बी साँस लेना। 4. उन्मत्त हो जाना। 5. अपने प्राणों में भी सन्देह करना। 6. वीर्यपात हो जाना। 7. दुःख या पीड़ा होना। 8. कामज्वर या दाह होना। 9. अन्न में अरुचि होना। 10. मूर्च्छा आना।)''

5. परिग्रहपरिमाणव्रत – बाह्य पदार्थों को एकत्रित करने की भावना और उसमें आसक्ति ही परिग्रह है। अपनी आवश्यक्ता के अनुसार पदार्थ का संचय तथा उसमें अनासक्ति का भाव रखना, **परिग्रह-परिमाण-व्रत** कहलाता है। परिग्रह अर्थात् पदार्थों में आसक्ति, हिंसा है तथा पदार्थों के प्रति ममत्व या आसक्ति का त्याग, अहिंसा है। इस व्रत का दूसरा नाम **'इच्छा-परिमाण-व्रत'** भी है।

उक्त सभी बाह्य परिगहों में अपनी शक्ति, परिस्थिति और आवश्यक्ताओं के अनुसार सीमा बाँध कर उसके बाहर अनन्त पदार्थों का मन-वचन-काय से त्याग कर देना, **परिग्रह-परिमाण-व्रत** कहलाता है।

आवश्यकता को कम करते हुए जीवन भर के लिए धन धान्य आदि बाह्य परिग्रह का परिमाण कर लेना, **परिग्रहपरिमाणव्रत** है।

परिग्रह का परिमाण करना स्वयं अणुव्रत का सूचक है, अतः इस व्रत के नाम के साथ अणुव्रत शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है।

परिग्रह दो प्रकार के होते हैं – एक, अन्तरंग परिग्रह और दूसरा, बहिरंग परिग्रह।

चेतना में उठने वाली विकार की सभी तरंगें, अन्तरंग परिग्रह हैं अर्थात् कामनाओं का ही दूसरा नाम अन्तरंग परिग्रह है। उसके चौदह भेद वर्णित हैं – 1. मिथ्यात्व, 2. क्रोध, 3. मान, 4. माया, 5. लोभ, 6. हास्य, 7. रति, 8. अरति, 9. शोक, 10. भय, 11. जुगुप्सा, 12. स्त्रीवेद, 13. पुरुषवेद, 14. नपुंसकवेद।

ये आत्मा की सहज स्वाभाविक शान्ति में व्यवधान डालते हैं; अतः इन्हें हिंसा कहते हैं।

उस अन्तरंग परिग्रह में जो निमित्तभूत बाह्य पदार्थ हैं, उन्हें बहिरंग परिग्रह के नाम से जाना जाता है। बहिरंग परिग्रह में – 1. खेत, 2. मकान, 3.सोना 4. चाँदी, 5. धन, 6. धान्य, 7. दासी, 8. दास, 9. कपड़े, 10. बर्तन अथवा 1. क्षेत्र, 2. वास्तु, 3. धन, 4. धान्य, 5. द्विपद, 6. चतुष्पद, 7. शयनासन, 8. वाहन, 9. वस्त्र, 10 बर्तन – इन दश पदार्थों का समावेश होता है।

इस प्रकार परिग्रह के कुल चौबीस भेद हो जाते हैं।

यद्यपि यह व्रत पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक को होता है और उसको अन्तरंग परिग्रहों में भी कथंचित् परिमाण हो जाता है क्योंकि उसके अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाता है; इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उसके मिथ्यात्व को छोड़ कर बाकी सभी परिग्रहों का परिमाण हो जाता है। मिथ्यात्व का तो चतुर्थ गुणस्थान में ही अभाव हो जाता है। नोकषायों में भी हम कह सकते हैं कि अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण के प्रभाव वाली हास्य आदि कषायों का अभाव होने से उनमें भी परिमाण हो जाता है। चूंकि व्यावहारिक दृष्टि से हमें बाह्य परिग्रह ही दृष्टिगोचर होता है; अतः व्यवहार में बाह्य परिग्रहों के परिमाण को आधार बना कर ही यह व्रत ग्रहण किया जाता है।

छठा अणुव्रत : रात्रिभोजनत्यागव्रत[163]

रात्रिभोजन के साथ साथ अन्य उसी के समकक्ष दोषों को गिनाते हुए अन्य वैदिक ग्रन्थों में इनका निषेध किया गया है तो जैनों की तो बात ही क्या ? अतः इनका त्याग तो प्रत्येक श्रावक को अवश्य कर ही देना चाहिए।

भारत में लिखा है –

मद्यमांसाशनं रात्रौ, भोजनं कन्दभक्षणम्।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां, तीर्थयात्रा जपस्तपः।।
वृथा एकादशी प्रोक्ता, तथा च जागरणं हरेः।
वृथा च पुस्करी यात्रा, कृतं चान्द्रायणं तपः।।[164]

अर्थात् जो मद्य, मांस, रात्रिभोजन एवं कन्दमूल का भक्षण करते हैं; उनकी तीर्थयात्रा, जप, तप, एकादशी का व्रत, हरि का नाम लेकर जागरण करना, पुश्कर की यात्रा, चान्द्रायण तप आदि सब व्यर्थ हैं।

चत्वारो नरकद्वारं, प्रथमं रात्रिभोजनम्।
परस्त्रीगमनं चैव, सन्धानानन्तकायते।।
ये रात्रौ सर्वदाहारं, वर्जयन्ति सुमेधसः।
तेषां पक्षोपवासस्य, मासमेकेन जायते।।
नोदकमपि पातव्यं, रात्रावत्र युधिष्ठिरः!।
तपस्विनो विशेषेण, गृहिणां च विवेकिनाम्।।[165]

अर्थात् नरक के चार द्वार हैं – 1. रात्रिभोजन करना, 2. परस्त्रीगमन करना, 3. आचार मुरब्बा खाना, 4. अनन्तकाय कन्दमूल आदि का भक्षण करना।

जो बुद्धिमान, रात्रि में सब तरह के आहार के त्याग कर देते हैं, उनके एक महिने में पन्द्रह उपवास हो जाते हैं तथा उन्हें पन्द्रह उपवास का फल प्राप्त हो जाता है।

श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं कि हे युधिष्ठिर! विचारशील गृहस्थों को रात्रि में जल भी नहीं पीना चाहिए तथा तपस्वियों को तो इसका विशेषरूप से त्याग कर देना चाहिए।

मार्कण्डेय पुराण में लिखा है –

अस्तं गते दिवानाथे, आपो रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं, मार्कण्डेयमहर्षिणा।।[166]

अर्थात् मार्कण्डेय ऋषि ने कहा है कि सूर्य अस्त होने पर, जल रुधिर के समान है और अन्न, मांस के समान हो जाता है; अतः इनका भक्षण कैसे योग्य माना जा सकता है।

अरण्यक ग्रन्थों में भी कहा है –

मृते स्वजनमात्रेपि, सूतकं जायते किल।
अस्तं गते दिवानाथे, भोजनं क्रियते कथम्।।
रक्ता भवन्ति तोयानि, अन्नानि पिशितानि च।
रात्रिभोजनशक्तस्य, ग्रासेन मांसभक्षणम्।।
नैवाहुतिर्न च स्नानं न श्राद्धं देवतार्चनम्।
दानं च विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः।।
उदम्बकं भवेन्मांसं, मांसं तोपमवस्त्रकम्।
चर्मवारि भेवन्मांसं, मांसं च निशिभोजनम्।।
उलूक - काक - मार्जार - गृद्ध - शंवर - शूकराः ।
अहिवृश्चिकं गोधाद्या, जायते निशिभोजनात् ।।[167]

अर्थात् जिस प्रकार कुटुम्ब में किसी कुटुम्बी के मर जाने पर सूतक हो जाता है; उसी प्रकार सूर्य अस्त होने से सूतक लग जाता है, फिर भला सूतक में भोजन किस प्रकार करना चाहिए।

रात्रि में जल तो रुधिर के समान हो जाता है, अन्न, मांस के समान हो जाता है; इसलिए रात्रि में भी भोजन की लम्पटता रखने वालों के लिए एक ग्रास मात्र भोजन करना भी मांसभक्षण के समान है।

रात्रि में आहुति देना, स्नान करना, श्राद्ध करना, देवपूजन करना, दान देना मना है तथा रात्रि में भोजन करने का त्याग विशेष रीति से बतलाया है।

उदम्बर फल (बड़, पीपल, गूलर, पाकर और अंजीर) भी मांस है; बिना छना जल भी मांस है, चमड़े के बर्तन में रखा हुआ जल, घी, दूध आदि भी मांस है तथा रात्रि में भोजन करना भी मांसभक्षण है।

रात्रि में भोजन करने से ये जीव, मर कर परलोक में उल्लू, कौआ, बिल्ली, गीध, सूअर, सर्प, बिच्छू, गोह, गोहरा, विस्मरा आदि महा नीच योनियों में उत्पन्न होता है।

तीन गुणव्रत

गुणव्रत – इन तीन व्रतों का पालन करना, पाँच अणुव्रतों के लिए गुणकारी है, इसीलिए इन्हें **गुणव्रत** कहते हैं।

1. **दिग्व्रत** – जीवन भर के लिए अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार पूर्व आदि सभी दिशाओं की मर्यादा निश्चितं करके बाहर धर्मकार्य के सिवा अन्य निमित्त से जाने-आने आदिरूप किसी प्रकार का व्यापार नहीं करना, **दिग्विरतिव्रत** है।

इस व्रत में एक बार स्वीकृत दिशाओं की मर्यादा को कालान्तर में घटाया तो जा सकता है, परन्तु बढ़ाना किसी भी हालत में सम्भव नहीं है।

दिग्व्रत, यह तीन गुणव्रतों का एक भेद है। ये पंचाणुव्रतों को गुणाकाररूप से बढ़ाने वाले होने से गुणव्रत कहलाते हैं। अहिंसा धर्म की वृद्धि के लिए दश दिशाओं के समूह में किसी प्रसिद्ध समुद्र, नदी, पर्वत, वन, देश, आदि के माध्यम से परिमाण करके, परिमाण की हुई सीमा से बाहर मरणपर्यन्त स्वयं गमन नहीं करना, किसी को नहीं बुलाना, किसी को नहीं भेजना, वस्तु नहीं माँगना, आदि **दिग्व्रत** कहलाता है। ध्यान रहे कि दिग्व्रत की मर्यादा मात्र पाप कार्यों से निवृत्ति के लिए होती है, धर्मकार्य से निवृत्ति के लिए नहीं।

परिग्रहपरिमाणव्रत और दिग्व्रत में अन्तर

1. दोनों के अधिकरण या विषय भिन्न-भिन्न हैं।
2. परिग्रहपरिमाणव्रत में क्षेत्र, वास्तु आदि दस प्रकार के बाह्य परिग्रहों का परिमाण किया जाता है; परन्तु दिग्व्रत में दिशाओं में जाने की मर्यादा की जाती है।
3. दिशाओं में क्षेत्र, वास्तु आदि के समान परिग्रहबुद्धि को आत्मसात् करके परिमाण नहीं किया जाता।

निष्कर्ष – जो अणुव्रती गृहस्थ, दश दिशाओं की मर्यादा लेकर रहते हैं, उनके मर्यादा के भीतर तो अणुव्रत ही रहते हैं, किन्तु मर्यादा के बाहर समस्त त्रस-स्थावर जीवों की अणु मात्र भी हिंसा आदि पाँचों पापों का पूर्ण त्याग होने से अणुव्रत भी महाव्रतपने की परिणति को प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि निश्चय से उनके साक्षात् महाव्रत नहीं होते क्योंकि अणुव्रती के प्रत्याख्यानावरण कषाय का मन्द उदय विद्यमान होता है। फिर भी उत्साह बढ़ाने के हेतु से उन्हें महाव्रती भी कहा जाता है। वास्तविक महाव्रत में तो नग्न दिगम्बर अवस्था में हिंसादि पाँचों पापों का मन-वचन-कायपूर्वक कृत-कारित-अनुमोदना से सहज पूर्ण त्याग होता है।

2. **देशव्रत** – दिग्व्रत में गृहीत मर्यादा के अन्तर्गत प्रयोजन के अनुसार घड़ी घण्टा दिन पक्ष आदि के हिसाब से क्षेत्र का परिमाण निश्चित करके उसके बाहर धर्मकार्य के सिवा अन्य निमित्त से जाने आने आदिरूप किसी भी प्रकार का व्यापार नहीं करना, **देशविरतिव्रत** है।

यद्यपि यह व्रत नियत समय के लिए लिया जाता है, तथापि एक बार स्वीकृत व्रत की कालमर्यादा पूरी होने के साथ ही पुनः नवीन हीनाधिक देशमर्यादा ले ली जाती है।

दिग्व्रत और देशव्रत के अलग अलग प्रयोजन

दिग्व्रत में तो समस्त दिशाओं का प्रमाण हो जाता है, फिर भी देशव्रत में जो देशों की मर्यादा की जाती है; उसका अभिप्राय यह है कि पहले जो दिशाओं की मर्यादा की थी, उसमें यदि कोई म्लेच्छ देश हो अथवा अनार्य देश हो, जहाँ पर कि अपने व्रत और सदाचरणों का भंग होता हो तो ऐसे अधार्मिक देश में लोभादिक के कारण भी कभी नहीं जाना चाहिए। देशव्रत धारण करने का यही अभिप्राय है, वही वसुनन्दि श्रावकाचार में लिखा है –

वयभंगकारणं होई, जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण।
कीरइ गमणणिवत्ती, तं जाण गुणव्वयं विदियं।।[168]

3. **अनर्थदण्डव्रत** – प्रयोजन के बिना होने वाला निरर्थक व्यापार अनर्थदण्ड कहलाता है और उसका त्याग कर देना, **अनर्थदण्डविरतिव्रत** है।

व्रती को दिग्व्रत के द्वारा गृहीत मर्यादा के भीतर भी ऐसे ही कार्य करना चाहिए, जिनसे व्यर्थ ही पाप का संचय नहीं हो; जिनसे कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है – ऐसे कार्यों से भी विरक्त होना, **अनर्थदण्डव्रत** कहलाता है।

अनर्थदण्डव्रत के **पाँच भेद** कहे गये हैं –

- पापोपदेश (तिर्यंचों को क्लेश पहुँचाने, उनका वध करने, हिंसोत्पादक खोटे व्यवसाय करने, आरम्भकार्य करने, छलकपट करने आदि पाप का उपदेश देना)।
- हिंसादान (हिंसा के उपकरणों को उधार देना, बेचना आदि)।
- अपध्यान (गलत कार्यों का विचार करना)।
- दुःश्रुति (गलत कार्यों का उपदेश सुनना)।
- प्रमादचर्या (हिंसोत्पादक प्रमादरूप आचरण करना)।

अन्य भी इसी प्रकार के स्वयं के लिए निरर्थक कार्यों को भी अनर्थदण्ड के रूप में जानना चाहिए तथा उनका त्याग भी अवश्य करना चाहिए।

चार शिक्षाव्रत

शिक्षाव्रत – इन चार व्रतों से त्यागधर्म या मुनिधर्म की शिक्षा मिलती है, इसलिए ये **शिक्षाव्रत** कहलाते हैं।

1. **सामायिकव्रत** – विवक्षित काल तक मन-वचन-काय सम्बन्धी बाह्य प्रवृत्ति से निवृत्त होकर समता परिणामों से एकत्व का अभ्यास करना, **सामायिक** है।

इस अभ्यास में णमोकार आदि पदों का पुनः पुनः नियत उच्चारण करना सहायक होने से वह भी सामायिक माना गया है, परन्तु सामायिक में शब्दोच्चारण की अपेक्षा चिन्तवन की ही मुख्यता है।

प्रश्न – सामायिक के कितने भेद हैं ?

समाधान – सामायिक के छह भेद हैं – नाम सामायिक, स्थापना सामायिक, द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक, काल सामायिक, और भाव सामायिक।

वही आचार्य श्री सकलकीर्ति ने प्रश्नोत्तरोपासकाचार में लिखा है –

- **नाम सामायिक** – जो विद्वान् लोग, शुभअशुभ विकल्पों के नामों के समूह को सुन कर, राग द्वेष मोह का त्याग कर देते हैं, उसको नाम सामायिक कहते हैं।
- **स्थापना सामायिक** – जो शुभ और अशुभ रूप, चेतन या अचेतन से उत्पन्न होते हैं, उनको देख कर जो राग द्वेष मोह का त्याग कर देते हैं, उनके स्थापना सामायिक होता है।
- **द्रव्य सामायिक** – जो लोहा, सोना आदि सब पदार्थों में समान भाव धारण करते हैं, उनके द्रव्य सामायिक होता है, यह द्रव्य सामायिक बिना समता भावों के और किसी प्रकार हो नहीं सकता।
- **क्षेत्र सामायिक** – जो शुभ, अशुभ क्षेत्र में सुख और दुःखों के समूह को पाकर भी राग द्वेष मोह का नाश कर देते हैं, वह उनका क्षेत्र सामायिक है।
- **काल सामायिक** – जो शीतकाल में वा उष्णकाल में समताभाव धारण करते हैं; सर्दी गर्मी के दुःखों को समताभाव से सहन करते हैं, उसमें दुःख नहीं मानते सो काल सामायिक है।
- **भाव सामायिक** – जो शत्रु मित्रादि में राग द्वेष को सर्वथा छोड़ देते हैं और समताभाव धारण करते हैं, उनके भाव सामायिक होता है।''[169]

2. **प्रोषधोपवासव्रत** – अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में पंचेन्द्रिय के विषयों से निवृत्त होकर चार प्रकार के आहार का त्याग करना, **प्रोषधोपवास** है।

उपवास का लक्षण बताते हुए चर्चासागर[170] में कहा है –

''उपवास धारण करने वाले भव्य जीव उपवास धारण करने के समय से लेकर आठ पहर तक, बारह पहर तक अथवा सोलह पहर तक क्रोध मान माया लोभ – इन चार कषायों का सर्वथा त्याग कर देते हैं। स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र – इन पाँच इन्द्रियों के स्पर्श रस गन्ध वर्ण शब्द – इन विषयों का सर्वथा त्याग कर देते हैं और खाद्य स्वाद्य अवलेह पान[171] – इन चार प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग कर देते हैं। इन सबके त्याग करने को उपवास कहते हैं। जो लोग क्रोधादि कषायों का त्याग किये बिना ही केवल भोजन पान आदि का त्याग कर देते हैं और उसको उपवास कहते हैं सो मिथ्या है। जैनधर्म के अनुसार वह उपवास नहीं, किन्तु लंघन कहलाता है। सो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है –

उववासं कुव्वंतो, आरंभं जो करेदि मोहादो।
सो णियदेहं सोसदि, ण झाडए कम्मलेसं पि।।[172]

अर्थात् जो उपवास करते हुए मोहवश आरम्भ करता है, वह शरीर को सुखाता है, उसके लेशमात्र भी कर्मों की निर्जरा नहीं होती।

इसकी टीका में अनेक स्थानों पर आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है –

कषाय-विषयाऽऽहार-त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः, शेषं लंघनकं विदुः।।[173]

अर्थात् जहाँ कषाय, विषय और आहार – इन तीनों का त्याग जहाँ किया जाता है, उसे उपवास कहते हैं, शेष सब लंघन कहलाते हैं।

इस सम्बन्ध में श्रावकों को विशेषरूप से सम्बोधित करते हुए प्रश्नोत्तर उपासकाचार नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि यदि कोई हीनशक्तिवाला उपवास के दिन जल पी ले तो उस उपवास के फल का आठवाँ भाग फल नष्ट हो जाता है। इस विषय को ही वहाँ लिखा है –

नीरादानेन हीयेत भागश्चैवाष्टमो नृणाम्।
उष्णेनैवोपवासस्य तस्मान्नीरं त्यजेत्सुधी।।''[174]

इस अवसर पर अपने शरीर का संस्कार करना, स्नान करना, सुगन्ध लगाना, माला पहिनना, आभूषण पहिनना, व्यापार करना या घर के दूसरे काम करना आदि समस्त व्यापारों का त्याग कर देना चाहिए और चैत्यालय, साधु-निवास या उपवासगृह आदि एकान्त स्थान में धर्मकथा करते हुए समय बिताना चाहिए।

3. **भोगोपभोग-परिमाणव्रत या उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत** – भोजन-पानी और माला आदि उपभोग हैं तथा बिछौना, चारपाई और वस्त्राभूषण आदि परिभोग हैं। आवश्यकता को कम करते हुए इनका निरन्तर परिमाण करते रहना, **उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत** है।

पाँच इन्द्रियों के प्रयोजनवान विषयों में जो रागरूप आसक्तिभाव है, उसे घटाने के लिए सीमा बाँधना, सीमित करना; वह **भोगोपभोगपरिमाणव्रत** कहलाता है।

इस व्रत में अनेक उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का तो सदा के लिए त्याग हो जाता है और अनेक उपभोग-परिभोग की वस्तुएँ बदलती रहती हैं, परन्तु होता है यह व्रत जीवन भर के लिए।

संसारी जीवों को इन्द्रियों के विषयों में बहुत राग रहता है। उस राग के कारण व्रत संयम दया क्षमा आदि समस्त गुणों से वह परांगमुख रहता है परन्तु अणुव्रतों का धारी गृहस्थ हिंसा असत्य चोरी परस्त्रीसेवन तथा अपरिमित परिग्रह से उत्पन्न अन्याय के विषयों के प्रति प्रीति का त्याग कर देने से वह व्रती हो जाता है। लेकिन अब न्याय के विषयों को भी तीव्र राग का कारण जान कर उनसे अरुचि हो जाने से राग की आसक्ति घटाने के लिए अपने प्रयोजनवान इन्द्रियों के विषयों में भी परिमाण करना, **भोगोपभोगपरिमाण** नामक शिक्षाव्रत कहलाता है।

व्रती जीवों को इन्द्रियों के विषयों में निरर्गल प्रवृत्ति को रोक कर भोगोपभोग-परिमाण करना, महान संवर का कारण है।

जो एक बार भोगा जाता है, वह **भोग** है तथा जो बार-बार भोगा जाता है, वह **उपभोग** है। **जैसे,** भोजन, कपूर-चन्दन आदि का विलेपन, पुष्पमाला, इत्र फुलेल मेला कौतुक इन्द्रजाल, गीत शब्द आदि पाँच इन्द्रिय के विषय, **भोग** हैं तथा वस्त्र आभूषण स्त्री सिंहासन पलंग बाग वादित्र चित्राम आदि पाँच इन्द्रिय के विषय, **उपभोग** हैं।

इनमें से अनेक चीजें ऐसी भी हैं, जो परिमाण करने योग्य नहीं हैं, बल्कि जीवन भर के लिए त्याग करने योग्य होती हैं। जैसे, त्रसजीवों की रक्षा करने के लिए मधु एवं मांस का तथा प्रमाद या हिताहित के अविवेक को छोड़ने के लिए मद्य का सर्वथा त्याग अवश्य कर देना चाहिए क्योंकि जो मद्य-मांस-मधु का त्यागी नहीं है, वह जिन-आज्ञा से परांगमुख है, जैनी ही नहीं है।

यम और नियम में अन्तर

जो प्रतिज्ञा, सम्पूर्ण जीवनपर्यन्त के लिए होती है, उसे **यम** कहते हैं। तथा जो प्रतिज्ञा, द्रव्य-क्षेत्र-काल की मर्यादा से ग्रहण की जाती हैं, उसे **नियम** कहते हैं।

वही रत्नकरण्ड श्रावकाचार के मूल श्लोक में कहा है –

नियमो यमश्च विहितौ, द्वेधा भोगोपभोगसंहारे।
नियमः परिमितकालो, यावज्जीवं यमो ध्रियते।।[175]

जिस भोग-उपभोग का एक मुहुर्त, दो मुहुर्त, एक पहर, एक दिन, दो दिन, पाँच दिन, पन्द्रह दिन, एक माह, दो माह, चार माह, छह माह, एक वर्ष, दो वर्ष आदि समय की मर्यादा पूर्वक त्याग करना, वह

नियम नाम का परिमाण है। जो पदार्थ अपने लिए उपयोगी हो, शुद्ध हो; उसका त्याग तो काल की मर्यादा लेकर ही नियमरूप त्याग करना चाहिए। जो पदार्थ अपने लिए प्रयोजन का नहीं हो व परिणामों को बिगाड़ने वाला हो, दोष सहित हो, उसका त्याग तो यावज्जीवन यम नाम के परिमाणपूर्वक ही करना चाहिए।

विरुद्ध भोग तो यावज्जीवन ही त्यागना चाहिए। अविरुद्ध भोगों को भी अपनी शक्ति प्रमाण देश काल देख कर दिन रात के काल की मर्यादा पूर्वक त्याग करना चाहिए। इससे कर्मों की बड़ी निर्जरा होती है।

चर्चासागर के अनुसार – ''महामुनियों के यमरूप त्याग की मुख्यता है, नियमरूप त्याग की गौणता है तथा श्रावकों के नियमरूप त्याग की मुख्यता है और यमरूप की गौणता है।''[176]

प्रतिदिन ग्रहण करने योग्य 17 नियम[177]

इस सम्बन्ध में आचार्यों ने निम्न श्लोक कहे हैं –

भोजने षट्रसे पाने, कुंकुमादिविलेपने।
पुष्पताम्बूलगीतेषु, नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके।।
स्नानभूषणवस्त्रादौ, वाहने शयनासने।
सचित्तवस्तुसंख्यादौ, प्रमाणं भज प्रत्यहं।।

इन श्लोकों के माध्यम से निम्न 17 नियम करने का उपदेश दिया गया है –

1. आज इतने बार भोजन करूँगा।
2. दूध, दही, घी, शक्कर गुड़ आदि मीठा, नमक और तैल – इन छह रसों में इतने रस ही खाऊँगा।
3. शर्बत या जलपान, इतनी बार ही करूँगा।
4. चन्दन, केशर, आदि का तिलक, तेल या कुंकुम आदि का विलेपन इतनी बार ही करूँगा।
5. इतने प्रकार के पुष्प इतनी बार ही सूँघूँगा।
6. पान सुपारी इलायची आदि स्वाद्य पदार्थ इतनी बार खाऊँगा।
7. गीत सुनूँगा या नहीं। सुनूँगा तो कितनी देर तक सुनूँगा।
8. नृत्य देखूँगा या नहीं। यदि देखूँगा तो कितनी देर तक देखूँगा।
9. आज ब्रह्मचर्य से रहूँगा या नहीं।
10. आज इतनी बार स्नान करूँगा।
11. आभूषण, इतने और अमुक अमुक ही पहनूँगा।
12. वस्त्र, इतने और अमुक अमुक ही पहनूँगा।
13. गाड़ी घोड़ा तांगा रेल मोटर सायकल, सायकल आदि अमुक अमुक सवारी का ही प्रयोग करूँगा।
14. बिस्तर पलंग आदि अमुक अमुक पर ही शयन करूँगा।
15. बेंच कुर्सी आरामकुर्सी तखत गादी आदि अमुक अमुक आसनों पर ही बैठूँगा।
16. सचित्त हरी तरकारी आदि आज इतने ही खाऊँगा।
17. अन्य अन्य वस्तुएँ इतनी ही रखूँगा।

सम्पूर्ण जीवन भर के लिए त्याज्य अभक्ष्य पदार्थ

''कितने ही पदार्थ तो यावज्जीवन ही त्यागने योग्य हैं; जिनमें प्रगट त्रसजीवों का घात होता है, अनन्त जीवों का घात होता है, अपने कुल में सेवन करने योग्य नहीं है, नशा लाने वाले हैं, तथा मद्य-मांस-मधु माखन मदिरा अचार महाविकृति रात्रिभोजन, जुआ आदि सप्त व्यसन, बिना दिया धन का ग्रहण, त्रसहिंसा, स्थूल असत्य, अन्याय का परिग्रह, बिना छना जल, अनर्थदण्ड – ये सब यावज्जीवन त्यागने योग्य हैं; इनमें नियम क्या करना ? ये तो महा अनीति हैं। इनका त्याग करने से शरीर पर कुछ क्लेश भार या दुःख नहीं आता है, अपयश भी नहीं होता है, त्याग करने से धन-खर्च भी नहीं होता है, बल नहीं चाहिए, स्वामी स्त्री पुत्र माता पिता कुटुम्ब आदि की सहायता नहीं चाहिए, किसी को कुछ बताने या किसी से कुछ पूछने की आवश्यक्ता नहीं है, अपने परिणामों के ही आधीन है।.....''

.....यदि किसी प्रबल कर्म के उदय से व्रत लेने वाले को कोई पराधीनता आ जाए, बुढ़ापा आ जाए, नेत्र से अन्धा हो जाए, कानों से बहिरा हो जाए, लम्बा रोग आ जाए, कोई जबरदस्ती व्रत भंग करने लग जाए तो ऐसी स्थिति में भी अन्तरंग में व्रत संयम नहीं छोड़ना, तथा बाहर में पंच नमस्कार मन्त्र का ध्यान करते रहने से वह शुद्ध ही है'' – ऐसा रत्नकरण्ड श्रावकाचार की हिन्दी टीका[178] में कहा है।

श्री तत्त्वार्थ राजवार्तिक[179] में भी **पाँच प्रकार के अभक्ष्य** पदार्थ कहे हैं। इन्हें जीवन भर के लिए छोड़ देना चाहिए। इनका वर्णन निम्न प्रकार है –

❖ **बहुघात या अनन्तकाय अभक्ष्य**

1. जिनके सेवन से अपना प्रयोजनरूप फल तो अल्प सिद्ध होता है, किन्तु खाने से अनन्त जीवों का घात होता है – ऐसे कन्दमूल, अदरक आदि के सेवन में अनन्त जीवों का घात होता है; अतः इन्हें अनन्तकाय अभक्ष्य कहते हैं।
2. जिनके एक शरीर में अनन्त जीव हैं, वे अनन्तकाय हैं।
3. जिसका सुख तो जिह्वा को थोड़ी देर के लिए स्वाद मात्र होता है, किन्तु जिसके एक बाल बराबर कण में भी अनन्तानन्त बादर निगोद जीवों का घात होता है; वे अनन्तकाय हैं।

❖ **त्रसकाय अभक्ष्य**

1. कितनी ही खाद्य वस्तुओं में प्रगट त्रसजीवों का घात होता है, उन खाद्य वस्तुओं को त्रसघात अभक्ष्य कहते हैं। जैसे, बेर भिण्डी आदि में प्रत्यक्ष लटें दिखाई देती हैं। बैंगन तरबूज काशीफल पेठा जामुन आडू बड़फल अंजीरफल कठूमरफल जामफल टींडू अज्ञातफल सूक्ष्मफल बीजाफल चलितरसफल पत्रशाक महुआ क्षीरफल खिन्नी निंबोरी आदि अनेक फलों में प्रत्यक्ष प्रगट दोष आगम में भी कहे हैं।
2. बहुत से केवड़ा केतकी आदि के फूल, जिनमें प्रत्यक्ष त्रस जीव भरे दिखाई देते हैं, वे सभी जिनधर्मियों के लिए त्यागने योग्य हैं।
3. जो गृहस्थ अनाजों का संग्रह करके रखते हैं, उनको नित्य ही बींधा अन्न खाने से महा पाप का बन्ध होता है।
4. यदि अन्न में बहुत घुन लग गया हो तथा उसे खाना पड़े तो नित्य ही छान-छान कर इल्ली लट घुन आदि को बर्तन में भर भर कर रास्ते में फेंक देते हैं, जो मनुष्यों एवं पशुओं के पैरों के नीचे दब कर मर जाते हैं अथवा उन्हें पशु चर जाते हैं।
5. जब अनाज में जीव होने लगते हैं तो दिन-प्रतिदिन दूना, चौगुना सौगुना.....इस प्रकार छोटे बड़े जीव बढ़ते ही चले जाते हैं। इतना ही नहीं, वे जीव सब जगह घर में, रसोई में, दीवार में, चौकी पर, खान-पान की वस्तुओं में, जमीन में, छत पर, लाखों करोड़ों जीव फैल कर विचरने लग जाते हैं। अतः लोभ के वश, प्रमाद के वश, अभिमान के वश, होकर बहुत संग्रह नहीं करना चाहिए।
6. जब मूँग मोठ उड़द आदि में तथा फल आदि में सफेद फूली प्रगट दिखाई देने लगे तो उसमें त्रसजीव हो गये हैं – ऐसा जान कर उन्हें नहीं खाना चाहिए।
7. अन्न खाण्ड आदि से बनाया हुआ मनुष्य-तिर्यंचों के आकार का खाद्य पदार्थ नहीं खाना चाहिए।
8. माँस-भक्षियों के बर्तन में भोजन नहीं खाना चाहिए।
9. अपने बर्तन माँस-भक्षियों को माँगने पर भी नहीं देना चाहिए।

❖ **अनिष्टकारक अभक्ष्य**

1. जो अपने लिए अनिष्ट हैं, वे अनिष्टकारक अभक्ष्य हैं; उनका त्याग कर देना चाहिए। यद्यपि ऐसी वस्तुओं का सेवन तो कोई भी नहीं करेगा तो भी तीव्र राग के वशीभूत होकर कभी कभी यह जीव उनका भी सेवन कर लेता है; अतः उनका त्याग करना भी व्रत कहलाता है।
2. जो वस्तु है तो शुद्ध ही, किन्तु जिसके खाने से अपने शरीर में वेदना उत्पन्न हो जाती है, पेटदर्द हो जाता है, वात-पित्त-कफ आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं; खून में विकार, पेट में विकार आदि करने वाले भोजन आदि तथा दुःख देने वाले इन्द्रियों के विषयों का सेवन भी नहीं करना चाहिए।

3. जो अतितीव्र रागी और इन्द्रियविषयों का लम्पटी होगा, वही अनिष्ट पदार्थों का सेवन करेगा।
4. जो अपनी मृत्यु तथा तीव्र वेदना के दुःख को नहीं गिन कर भी अनिष्ट वस्तु का भक्षण करता है, उसे जिह्वा की तीव्र विकलता होने से महा पाप का बन्ध होता है।
5. अनेक मनुष्य भोजन के स्वाद में राग करके अनिष्ट भोजन खा खा कर रोग बढ़ा कर आर्तध्यान करके दुर्गति में चले जाते हैंः अतः अनिष्ट का त्याग करना ही उत्तम कार्य है।

❖ **अनुपसेव्य अभक्ष्य**

1. जो सेवन करने योग्य नहीं हैं, वे अनुपसेव्य हैं; उनका त्याग कर देना ही उचित हैं।
2. कितनी ही वस्तुएँ अपने कुल को, व्यवहार को, धर्म को मलिन करने वाली हैं, वे सेवन करने योग्य नहीं हैं, वे अनुपसेव्य हैं।
3. जैसे, शंख, हाथी का दाँत, केश, मृगमद, कस्तूरी, गोलोचन, इत्यादि से स्पर्शित हुआ भोजन, जल आदि सेवन योग्य नहीं हैं।
4. ऊँटनी का दूध, गधी का दूध, गाय का मूत्र, तथा मल, कफ, लार, जूठन, आदि सेवन योग्य नहीं हैं।
5. अशुद्ध भूमि पर गिरा हुआ, चमड़े से छुआया हुआ, बिल्ली-कुत्ता आदि से तथा मांसभक्षी, मद्यपायी द्वारा स्पर्श किया हुआ या बनाया हुआ सभी भोजन तथा लोकनिन्द्य भोजन अनुपसेव्य है; जिनधर्मियों को भक्षण करने योग्य नहीं है, बुद्धि को विपरीत करने वाला है, मार्ग से भ्रष्ट करने वाला है, धर्म से भ्रष्ट करने वाला है।
6. देवी दिहाड़ी व्यन्तरों की पूजा के लिए संकल्पपूर्वक बनाया गया, चढ़ाया गया, भोजन त्यागने योग्य है।
7. रजस्वला स्त्री के हाथ के छुए बर्तन में भोजन करना योग्य नहीं है।
8. अनुपसेव्य जान कर विकाररूप वस्त्र आभूषण आदि नहीं पहनना चाहिए।
9. जो उत्तम कुल के योग्य नहीं है – ऐसे पहिनावे, वेश्या तथा विट् पुरुषों के पहिनावे, सिपाहियों व म्लेच्छ पुरुषों के पहिनावे, स्वामी योगी फकीर भाण्डों के पहिनने के वस्त्र आभूषण आदि परिणाम बिगाड़ने में निमित्त होने से उन्हें नहीं पहनना चाहिए।
10. अपने में तथा दूसरे में विकार पैदा नहीं करने वाले, अपने पद के योग्य, अपनी अवस्था के योग्य, लोक से अविरुद्ध आभरण वस्त्र भेष आदि ही धारण करना उचित है।

❖ **नशाकारक या प्रमादकारक अभक्ष्य**

1. जो प्रमाद को उत्पन्न करने वाले हैं, तीव्र मोह के कारण हैं, ज्ञान को बिगाड़ने वाले, जिह्वा इन्द्रिय व उपस्थ (कामेन्द्रिय) को विकल करने वाले हैं – ऐसे भांग तमाखू जर्दा अमल हुक्का आदि अभक्ष्यों का खाना-पीना जिनधर्मियों को त्यागने योग्य हैं। ये सभी पराधीन करने वाले हैं।
2. अफीम खाना, जर्दा खाना, हुक्का पीना, भांग पीना, छोंतरा पीना, तमाखू सूँघना – ये तो शरीर के महारोग ही हैं।
3. नशा करने से नशा करने वाले के चेहरे की आकृति बिगड़ जाती है, धर्म और आचरण बिगड़ जाता है – ऐसा नियम है।
4. ये नशा, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के भी महाघातक हैं।
5. ये अनर्थदण्डों में भी हैं, व्यसनों में भी हैं, और अभक्ष्यों में भी हैं।
6. यदि अपना मनुष्य जन्म, जिनधर्म, उत्तम कुल आदि सफल करना चाहते हो तो इन नशा करने का त्याग अवश्य करना चाहिए।

- **भांग खाने के दोष –** इस भांग या विजया के पीने से अथवा किसी अन्य प्रकार सेवन करने से मद्य पीने के समान 18 दोष उत्पन्न होते हैं, आगे उन्हीं दोषों को लिखते हैं –
    1. भांग पीने से नींद अधिक आती है।
    2. हँसी अधिक आती है।
    3. वचन की प्रवृत्ति अधिक होती है।
    4. चंचलता बढ़ जाती है।

5. मूर्च्छा हो जाती है।
6. बहुत बकने लगता है।
7. मोह बढ़ जाता है।
8. मद बढ़ जाता है।
9. प्रमाद बढ़ जाता है।
10. कलह बढ़ जाता है।
11. स्नेह बढ़ जाता है।
12. परिणामों में भ्रम हो जाता है।
13. घूमने की प्रवृत्ति हो जाती है।
14. मौन धारण कर लेता है।
15. विचार नष्ट हो जाता है।
16. व्याकुलता बढ़ जाती है।
17. अधिक विषयसेवन की इच्छा हो जाती है।
18. कामवासना बढ़ जाती है।

इस प्रकार भांग पीने से 18 दोष उत्पन्न हो जाते हैं; इसलिए कौन विचारशील है, जो इसका सेवन करेगा ? अन्य प्रकार से भांग त्याग की प्रेरणा देते हुए पण्डित सदासुखदासजी लिखते हैं कि भांग में हजारों त्रसजीव चलते दौड़ते दिखाई देते हैं। वर्षा ऋतु में भांग में अपरिमाण त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं। भंगेड़ी भी भांग को शोधता नहीं है; बस, घोंट कर पी जाता है। वे आगे लिखते हैं[180] –

1. भांग पीने से अपना बड़प्पन एवं शोभा नष्ट हो जाती है।
2. भंगेड़ी की इज्जत घट जाती है।
3. जिव्हा इन्द्रिय की लम्पटता बढ़ जाती है।
4. विकलता सताती है।
5. प्रमादी होकर ऐश करना चाहता है।
6. बहुत निद्रा लेना चाहता है।
7. बहुत घी-शक्कर का भोजन करना चाहता है।
8. पाँचों इन्द्रियों के विषय की लम्पटता को प्राप्त होता है।
9. ज्ञान कमजोर हो जाता है।
10. बहमी हो जाता है।
11. मीठे भोजन के प्रति लम्पटता इतनी अधिक हो जाती है कि वह मीठा मिलने पर अपने को कृतकृत्य-सा अनुभव करता है।
12. उसे आत्मज्ञान या धर्म का ज्ञान कभी नहीं हो पाता है।
13. बाह्य आचरण से भ्रष्ट होता है।

4. अतिथिसंविभागव्रत[181]

अपने द्वारा न्याय से कमाये गये द्रव्य में से संयम का उपकारी भोजन व दवाई आदि का भक्तिभावपूर्वक सुपात्र को देना, **अतिथिसंविभागव्रत** है।

श्रावकधर्मसंग्रह में कहा है कि ''दाता एवं पात्र दोनों के रत्नत्रय धर्म की वृद्धि के निमित्त सम्यक्त्वादि गुणों से युक्त गृहरहित साधु मुनि आदि पात्रों का प्रत्युपकार रहित अर्थात् बदले में उपकार की वांछा न करते हुए योग्य वैयावृत्ति करना, सो **अतिथिसंविभाग या सत्पात्रदान** कहलाता है।

जो सत्पुरुष पूर्णज्ञान की सिद्धि के निमित्तभूत शरीर की स्थिति के लिए बिना बुलाये ईर्यापथ शोधते हुए बिना तिथि निश्चय किये श्रावकों के गृह भोजन निमित्त आवें, सो **अतिथि** कहलाते हैं। यह वृत्ति अट्ठाईस

मूलगुणधारी मुनियों में तथा उत्कृष्ट प्रतिमाधारी ऐलक क्षुल्लकों में पाई जाती है क्योंकि इनके स्थिति एवं विहार करने की तिथि निश्चित नहीं रहती।

ऐसे उत्तम सुपात्रों को द्वारापेक्षण आदि यथायोग्य नवधा भक्ति पूर्वक अपने भोजन में विभाग कर आहार, औषधि, शास्त्र आदि दान देना चाहिए। यदि उपर्युक्त प्रकार अतिथि का संयोग न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रों एवं अन्य साधर्मियों का यथायोग्य आदरपूर्वक चार प्रकार का दान द्वारा वैयावृत्त्य करना चाहिए तथाा दुःखितों व भूखों को करुणाबुद्धिपूर्वक दान देना, यह सब **अतिथिसंविभाग** है।

धर्मसाध्य की सिद्धि के लिए आगम में चार प्रकार के दान का निरूपण किया गया है – 1. आहारदान, 2. औषधिदान, 3. शास्त्रदान, 4. अभयदान।

योग्य पात्र को आहार, औषधि, शास्त्र और अभयदान में से जिस समय जिसकी आवश्यकता हो, उसको उस समय उसी प्रकार का दान देना योग्य है। इससे दातार तथा पात्र दोनों के रत्नत्रय की प्राप्ति, वृद्धि और रक्षा होती है। इसी कारण ऐसा दान, सत्पात्रदान या सुदान कहलाता है। पात्र, दातार, द्रव्य और देने की विधि के भेद से दान के फल में विशेषता होती है।

मध्यम पात्र को उसके योग्य धन, वस्त्र आदि देते हैं। आर्यिका को सफेद साड़ी, पीछी, कमण्डलु, तथा मुनि को केवल पीछी कमण्डलु ही देते हैं। सभी पात्रों को शरीर की स्थिरता के लिए शुद्ध आहार रोग के निवारणार्थ औषधि तथा ज्ञान की वृद्धि के लिए शास्त्र देते हैं। दान में दी जाने वाली सभी वस्तुएँ यद्यपि सामान्य रीति से धर्मवृद्धि करने वाली हैं तो भी दातार को इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिए कि पात्र को दान देने वाला पदार्थ अथवा पूजा प्रतिष्ठा आदि में काम आने वाली वस्तु शुद्ध निर्जीव व निरवद्य हो। मुनि आर्यिका, श्रावक श्राविका को दी जाने वाली वस्तु, स्वाध्याय ध्यान आदि तपों की वृद्धि करने वाली हो, आलस्य, उन्माद, विकार व अभिमान को उत्पन्न करने वाली न हो। विवेकपूर्वक दान देने से ही दातार व पात्र दोनों को धर्मवृद्धि एवं परम्परा से सच्चे सुख की प्राप्ति होती है।

सागार धर्मामृत में कहा है कि नैष्ठिक श्रावक को भूमि आदि दश प्रकार के दान, भूल कर भी नहीं देना चाहिए क्योंकि इससे सम्यक्त्व का घात और हिंसा होती है। अतएव जब सम्यक्त्व का भी घात होता है तो ये दश प्रकार के दान सम्यक्त्वी को भी नहीं देना चाहिए।

दान के योग्य प्रवृत्तियाँ, वस्तुएँ एवं उनकी क्रियाएँ[182]

''दान के योग्य प्रवृत्तियाँ, वस्तुएँ एवं उनकी क्रियाएँ सात प्रकार की होती है – 1. जिन-पूजा, 2. प्रतिष्ठा, 3. तीर्थयात्रा, 4. पात्रदत्ति, 5. समदत्ति, 6. दयादत्ति, और 7. सर्वदत्ति।

1. **जिन-पूजा, उसके योग्य वस्तुएँ एवं उसकी क्रियाएँ** – अपनी शक्ति के अनुसार जल-चन्दनादि अष्ट द्रव्यों या एक, दो आदि द्रव्यों से देव-शास्त्र-गुरु, दशलक्षण, सोलहकारण आदि आत्मगुणों की पूजा करना। जिन-मन्दिर में पूजन के बर्तन, चन्दोवा, छत्र, चँवर आदि धर्मोपकरण चढ़ाना। उक्त सभी कार्य **जिन-पूजा** के अन्तर्गत आते हैं।

जिन-पूजा करने में सामान्य रीति से उसके योग्य द्रव्य होता है।

जिन-पूजा में जो द्रव्य व्यय किया जाए अथवा जो क्रियाएँ की जाएँ; वे उत्कृष्ट परिणामपूर्वक परमार्थबुद्धि से शास्त्रोक्त पद्धतिसहित विनययुक्त धर्म-प्रभावना के अभिप्राय से की जाएँ।

2. **जिन-प्रतिष्ठा, उसके योग्य वस्तुएँ एवं उसकी क्रियाएँ** – जिस ग्राम में जैनी भाइयों का समूह अच्छा हो और धर्म-साधन के निमित्त जिन-मन्दिर न हो, वहाँ जिन-मन्दिर बनवाना। भगवान के बिम्ब की प्रतिष्ठा कराके पधराना। यदि ग्राम छोटा हो, जैनी भाइयों के 10–5 ही घर हों तो चैत्यालय बनवाना तथा प्रतिष्ठित मूर्ति दूसरे स्थान से लाकर या किसी स्थान की प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठा करा लाकर, विराजमान कराना। अथवा प्राचीन मन्दिर जीर्ण हो गया हो तो उसका जीर्णोद्धार कराना क्योंकि नूतन मन्दिर बनवाने की अपेक्षा जीर्णोद्धार में परिणामों की विशेष उज्ज्वलता होने से 100 गुना अधिक पुण्य होता है – ऐसा प्रतिष्ठापाठादि ग्रन्थों में कहा है। उक्त सभी कार्य जिन-प्रतिष्ठा के अन्तर्गत आते हैं।

जिन-प्रतिष्ठा करने में सामान्य रीति से उसके योग्य द्रव्य होता है।

जिन-प्रतिष्ठा में जो द्रव्य व्यय किया जाए अथवा जो क्रियाएँ की जाएँ; वे उत्कृष्ट परिणामपूर्वक परमार्थबुद्धि से शास्त्रोक्त पद्धतिसहित विनययुक्त धर्म-प्रभावना के अभिप्राय से की जाएँ।

3. **तीर्थ-यात्रा, उसके योग्य वस्तुएँ एवं उसकी क्रियाएँ** – गृह-जंजालों की चिन्ता छोड़ सिद्धक्षेत्रों, अतिशयक्षेत्रों के दर्शन वन्दना करने जाना, शक्ति हो तो संघ निकालना, पवित्र क्षेत्रों में जाकर निर्मल परिणामों से युक्त धर्मसाधन करना तथा अन्य साधर्मी मण्डली को कराना, **तीर्थयात्रा** कहलाती है, इससे सातिशय तीव्र पुण्यबन्ध होता है।

तीर्थयात्रा करने में सामान्य रीति से उसके योग्य द्रव्य होता है।

तीर्थयात्रा में जो द्रव्य व्यय किया जाए अथवा जो क्रियाएँ की जाएँ; वे उत्कृष्ट परिणामपूर्वक परमार्थबुद्धि से शास्त्रोक्त पद्धतिसहित विनययुक्त धर्म-प्रभावना के अभिप्राय से की जाएँ।

4. **पात्रदत्ति, उसके योग्य वस्तुएँ एवं उसकी विधि** – सामान्य रीति से पात्र तीन प्रकार के होते हैं – सुपात्र, कुपात्र और अपात्र। यहाँ पात्रदत्ति में सुपात्र का ही अभिप्राय जानना चाहिए क्योंकि पात्र का लक्षण यह कहा है कि जो सम्यक्त्व और चारित्र युक्त हो और दाता – दान के प्रेरकों एवं अनुमोदकों को नौका की तरह संसार सागर से पार करे – ये लक्षण सुपात्र में ही पाये जाते हैं; अतएव सुपात्र ही दान देने योग्य हैं, उन्हें चार प्रकार के दान अवश्य देना चाहिए, यही **पात्रदत्ति** कहलाता है। वे सुपात्र, तीन प्रकार के होते हैं – 1. उत्तम सुपात्र – मुनि आर्यिका आदि, 2. मध्यम सुपात्र – व्रती श्रावक श्राविका आदि, 3. जघन्य सुपात्र – अविरत सम्यग्दृष्टि आदि (क्योंकि इनके स्वरूपाचरणचारित्र होता है)।

भावसम्यक्त्व रहित केवल बाह्य चारित्र के धारक द्रव्यलिंगी मुनि तथा द्रव्यलिंगी श्रावक या द्रव्यसम्यग्दृष्टि कुपात्र कहलाते हैं, जिसके सूक्ष्म (अप्रगट) मिथ्यात्व हो, उसे तो हम छद्मस्थ जान ही नहीं सकते, इसलिए उसमें सुपात्र के समान प्रवृत्ति होती है, परन्तु जिसके (प्रगट) द्रव्यमिथ्यात्व हो और बाह्य में जिनधर्म में कहे हुए भेष का धारी हो तो वह कुपात्र है। (यहाँ व्यवहार में व्यवहार सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व की अपेक्षा या प्रधानता जानना चाहिए।)

जो सम्यक्त्व और चारित्र दोनों से भ्रष्ट हो, ऐसे मिथ्यादृष्टि भेषी अपात्र को सर्वथा दान देना योग्य नहीं।

उत्तम पात्र (मुनि) को प्रासुक शुद्ध आहार, नवधा भक्ति से विधिपूर्वक देकर अपना धन्य भाग्य मानना चाहिए। दातार को नित्य भोजन के समय रसोई तैयार कर, सर्व आरम्भ छोड़ कर, सम्पूर्ण भोजन सामग्री को शुद्ध स्थान में रख कर, प्रासुक जल से भरा हुआ एवं ढ़का हुआ लोटा लेकर, अपने द्वार पर पात्र का इन्तजार करने के लिए णमोकार मन्त्र का पाठ करते हुए खड़े होना चाहिए, इसे **द्वारापेक्षण** कहते हैं।

दान के बिना गृहस्थ के चूल्हा चौका श्मशान के समान है क्योंकि यत्नाचार करते हुए भी उसमें नित्य छह काय के हजारों जीव जलते हैं। अतएव आहारदान देने से ही गृहस्थ का चौका सफल है।

जब मुनि अपने द्वार के सन्मुख आवें तो ''हे स्वामिन्! अत्र तिष्ठ तिष्ठ, अन्न जल शुद्ध है'' – ऐसा कहकर आदरपूर्वक अपने गृह में अतिथि को प्रवेश करावे, इसे **प्रतिग्रहण या पड़गाहना** कहते हैं।

पश्चात् पात्र को उच्च अर्थात् पाटला (चौकी) पर स्थित करे, प्रासुक जल से चरण धोवे (अंग पोंछे), अष्ट द्रव्य से पूजन करे, अष्टांग[183] नमस्कार करे, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और भोजनशुद्धि[184] का उच्चार करे।

इस प्रकार नवधाभक्ति एवं शुद्धिपूर्वक सर्व प्रकार के भोज्य पदार्थ अलग अलग कटोरी में रख कर थाली में लेकर मुनिराज के सन्मुख खड़ा होवे और ग्रास बना बना कर उनकी हस्तांजली (वृद्ध विद्वानों का वाक्य है कि अन्न के एक ग्रास के बाद हस्तांजली में प्रासुक जल का एक ग्रास देवें) मुनि उत्कृष्ट 32 ग्रास लेते हैं। जब भोजन कर चुकें और ग्रास हस्त में न लेवें, तब जल के ग्रास देवे तथा उनका मुँह-हाथ अच्छीतरह से धोवें, पोंछे। कमण्डलु को धोकर, साफ कर, प्रासुक जल भर देवें। यह बात ध्यान में रहे कि मुनिराज तथा उत्कृष्ट श्रावक के पधारने से भोजन कर लेने के समय तक घर में दलना, पीसना, रसोई आदि कोई भी आरम्भ सम्बन्धी काम तथा अन्तराय होने सरीखे काम न करें। यदि कमण्डलु, पीछी या शास्त्र की आवश्यकता देखें तो बहुत आदर एवं विनयपूर्वक देवें। यह मुनि के आहारदान की विधि है।

आर्यिकाएँ भी उत्तम पात्र हैं, वे बैठ कर मुनि की तरह कर-पात्र में आहार ग्रहण करती हैं; अतः उन्हें भी उनके योग्य आदर-भक्तिपूर्वक आहारदान कराना चाहिए। यदि पीछी, कमण्डलु, सफेद साड़ी की आवश्यकता देखें तो उन्हें प्रदान करें। यदि पात्र को कोई रोग हो तो भोजन के साथ या अलग, जैसा योग्य हो औषधि देवें।

मध्यम पात्र ऐलक, बैठ कर करपात्र में और क्षुल्लक, पात्र में लेकर भोजन करते हैं। इनको इनके योग्य तथा ब्रह्मचारी या व्रती श्रावक को उनके योग्य प्रतिग्रहण अर्थात् स्वागत करके आदर, यथायोग्य विनय एवं भक्तिपूर्वक आहारदान करावें। वस्त्र, पिछौरी, लँगोटी, कमण्डलु, पीछी, शास्त्र आदि जो उनको चाहिए, सो उनके योग्य देवें, कमण्डलु या धातुपात्र में प्रासुक जल भर देवें। इनको अष्टांग नमस्कार या पूजन करने की शास्त्राज्ञा नहीं है। पूजन की विधि तो केवल निर्ग्रन्थ मुनियों के लिए ही कही गई है।

ध्यान रहे कि श्री दरयावसिंहजी ने इस प्रकरण के बाद एक नोट लगाया है, जिसमें वे लिखते हैं कि 'दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमा वालों को तथा मुनिराज को उनके निमित्त बना हुआ, **उद्देशिक या उद्दिष्ट आहार** नहीं देना चाहिए। अपने घर में जो नियमित आहार बने, उसी में से देना चाहिए।'

5. **समदत्ति, उसके योग्य वस्तुएँ एवं उसकी विधि** – जो अपने समान साधर्मी गृहस्थ असाता कर्म के उदय से दुःखी हों, उनकी धन वस्त्र आदि से यथायोग्य सहायता करना, **समदत्ति** कहलाता है।

समदत्ति में अपने समान गृहस्थ को या जघन्य पात्र को धन, वस्त्र, ज्ञान के उपकरण एवं औषधि आदि की सहायता करके धर्म में लगाते वा स्थिर करते हैं।

समदत्ति के अन्तर्गत सामान्य आदर सत्कार एवं हर्षपूर्वक अपने बराबरी के साधर्मियों की सहायता, धनवस्त्र स्थान आदि से करना चाहिए, अपना बड़प्पन बताना, अभिमान करना और उनका निरादर करना योग्य नहीं क्योंकि धर्मपद्धति की मुख्यतापूर्वक उनकी सहायता की जाती है।

6. **दयादत्ति, उसके योग्य वस्तुएँ एवं उसकी विधि** – दुःखित व भूखे जीवों को अन्न वस्त्र आदि से सहायता करना, **दयादत्ति** कहलाता है।

दयादत्ति में दुःखितों भूखों आदि को धन वस्त्र आदि देते हैं। दुःखित व भूखे जीवों को दयापूर्वक औषधि अन्न वस्त्र आदि देना योग्य है। नकद पैसा न देना चाहिए। नकद देने से वे लोभ के वश पैसा एकत्र करते जाते हैं और उनका सदुपयोग नहीं करते, जिससे वह द्रव्य व्यर्थ जाता है अथवा वे स्वयं दुरुपयोग करते हैं जिससे उलटा पाप लगता है। हट्टे कट्टे, मिथ्यात्वी, दुर्गुणी, मस्त लोगों को दान देना दयादत्ति नहीं है; किन्तु पापदत्ति है। इनको दान देने के बदले धन को अन्धकूप में डाल देना अच्छा है। दातार को चाहिए कि बहुत विवेकपूर्वक अपने परिश्रम एवं न्याय से कमाये हुए द्रव्य का सदुपयोग करे।

7. **सर्वदत्ति, उसके योग्य वस्तुएँ एवं उसकी विधि** – अपने पुत्र भाई या गोत्री आदि को धनादि सर्वस्व सौंप परिग्रह से निर्ममत्व, उत्तम श्रावक के व्रत या मुनिव्रत अंगीकार करना चाहिए।

दान देने का अधिकारी कौन?

सम्यग्दृष्टि चारित्रवान दातार ही दान देने का पात्र है क्योंकि बिना धर्मात्मा हुए सत्पात्रदान नहीं हो सकता। अन्य के न तो सच्ची त्यागबुद्धि ही हो सकती है और न पात्र, दान, या द्रव्य आदि का बोध हो सकता है।

दातार के पाँच भूषण

1. आनन्दपूर्वक दान देना।
2. आदरपूर्वक दान देना।
3. प्रिय वचनपर्वक दान देना।
4. निर्मल भावपूर्वक दान देना।
5. दान देकर अपना धन्य भाग्य मानना।

दातार के सात गुण

1. दान के योग्य यही पात्र है – ऐसा दृढ़ परिणाम होना, सो **श्रद्धागुण** है।
2. प्रमादरहितपना होना, सो **शक्तिगुण** है।

3. पात्र के गुणों में आदर होना, सो **भक्तिगुण** है।
4. दान की पद्धति का जानना, सो **विवेक या विज्ञानगुण** है।
5. दान देने की सामर्थ्य का होना, सो **अलुब्धगुण** है।
6. सहनशीलता का होना, सो **क्षमागुण** है।
7. भले प्रकार दान देने का स्वभाव होना, **त्यागगुण** है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अनुसार दातार के सात गुण

1. फल की अपेक्षारहितपना।
2. क्षमावानपना।
3. निष्कपटीपना।
4. ईर्ष्यारहितपना।
5. खेदभावरहितपना।
6. हर्षभावपना।
7. निरभिमानीपना।

उक्त गुणों में और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के सात गुणों में यत्किंचित् ही अन्तर है। अनेक गुणों में समानता ही है।

दान का फल

निर्दोष एवं विधिपूर्वक पात्रदान करने से गृहस्थों के आरम्भ सम्बन्धी षट्कर्म जनित पापों का नाश हो जाता है, सातिशय पुण्य का बन्ध होता है। तपस्वी मुनियों को नमस्कार करने से उच्च गोत्र का बन्ध होता है, दान देने से दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है और भक्ति करने से सुन्दर रूप और स्तुति करने से कीर्ति होती है। पात्र को दिया हुआ दान उत्तम फलयुक्त वृक्ष के समान सुखदाई और मनवांछित फल को उत्पन्न करने वाला होता है। दान के फल से मिथ्यादृष्टि भोगभूमि के सुख, और सम्यग्दृष्टि स्वर्ग के सुख भोगता हुआ परम्परा से मोक्ष पाता है। दान के फल की महिमा यहाँ तक है कि तीर्थंकर भगवान का प्रथम पारणा कराने वाला तद्भव मोक्षगामी होता है।

कुपात्रदान के फल से कुभोगभूमि के सुख तधा समदत्ति और दयादत्ति से पुण्य का बन्ध होकर, स्वर्ग के सुख मिलते हैं। इसके विपरीत अपात्रों को दान देना पापबन्ध करने वाला दुखदाई है क्योंकि इससे मिथ्यात्व तथा पाप की वृद्धि होती है, जिससे दाता और पात्र दोनों को नी गति की प्राप्ति होती है।

यहाँ पर यह **प्रश्न** उत्पन्न हो सकता है कि इस कलिकाल में योग्य पात्र की प्राप्ति तो दुर्लभ हो गई है, फिर हम किसकी वैयावृत्ति करें ? किसको दान देवें ?

उसका **समाधान** यह है कि यदि उत्तम पात्र न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रों की यथायोग्य सेवा सहायता करना चाहिए; उनके श्रद्धान ज्ञान आचरण की वृद्धि का पूरा पूरा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे वे उत्तम पात्र बनने के उत्साही हों। इसके सिवाय पंच परमेष्ठी गर्भित जिनबिम्ब की पूजन करना चाहिए, यही उत्तम दान एवं उत्कृष्ट वैयावृत्ति के फल को देने वाले हैं।''[185]

वर्तमान में इस परम्परा में ह्रास परिलक्षित हो रहा है; इसलिए सदाचार को स्थिर रखने के लिए **अतिथिसंविभागव्रत** के पालन करने पर दृढ़ता से ध्यान देना आवश्यक है।

नैष्ठिक श्रावक के आध्यात्मिक विकास की सीढ़ियाँ : ग्यारह प्रतिमाएँ [186]

श्रावक, अपने आचार के विकास हेतु मूलभूत व्रतों का पालन करता हुआ सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के साथ चारित्र में प्रवृत्त होता है। उसके इस चारित्रिक विकास या आध्यात्मिक उन्नति के कुछ सोपान हैं, जो शास्त्रीय भाषा में प्रतिमा या अभिग्रह-विशेष कहे जाते हैं। वस्तुतः ये प्रतिमाएँ श्रमण-जीवन की उपलब्धि के द्वार हैं। जो इन सोपानों का आरोहण कर उत्तरोत्तर अपने आचार का विकास करता जाता है, वह श्रमण-जीवन के निकट पहुँचने का अधिकारी बन जाता है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक विशेष पुरुषार्थपूर्वक स्वरूप-स्थिरता बढ़ा कर, पंचम गुणस्थान प्राप्त करता है, उसे जो स्वरूप-स्थिरता अर्थात् वीतरागता की वृद्धि होती है और रागांश घटते हैं, उसे निश्चय प्रतिमा

कहते हैं। उसके साथ जो कषाय-मन्दतारूप भाव रहते हैं, उसे व्यवहार प्रतिमा कहते हैं। इन सबके साथ बाह्य प्रवृत्ति भी तदनुकूल होती ही हैं। पंचम गुणस्थान के योग्य अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण – इन दो कषाय चौकड़ी के अभावरूप स्वरूप-स्थिरता के अभाव में होने वाले भाव एवं बाह्य प्रवृत्ति मात्र प्रतिमा नहीं है। प्रतिमाधारी श्रावक को चतुर्थ गुणस्थानवर्ती की तुलना में संसार शरीर और भोगों के प्रति आसक्ति कम होने लगती है। साथ ही उस भूमिका के योग्य अशुभभावों को छोड़ने की प्रतिज्ञा लेने का भाव आता है और सहज ही बिना हठ के बाह्य आचरण में भी तदनुकूल परिवर्तन हो जाते हैं।

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं –

संयम अंश जग्यौ जहां, भोग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा को भयौ, प्रतिमा ताकौ नाम।।[123]

अर्थात् जहाँ आंशिक संयम प्रगट हो जाता है, भोगों के प्रति अरुचि भाव उत्पन्न हो जाता है, तथा प्रतिज्ञा धारण कर ली जाती है, उसे **प्रतिमा** कहते हैं।

उपर्युक्त साधक की अन्तरंग शुद्धि व बाह्य दशा किस किस प्रतिमा में कितनी कितनी बढ़ती जाती है, उसी को आचार्यों ने ग्यारह दर्जों में विभाजित करके समझाया है। वहाँ रहने वाली अन्तरंग शुद्ध दशा को ज्ञानधारा और साथ ही रहने वाले शुभाशुभ भावों को कर्मधारा कहा जाता है।

ध्यान रहे कि किसी मिथ्यादृष्टि जीव को स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान व रमणता नहीं हो और मात्र कषाय की मन्दता एवं तदनुकूल बाहर की क्रियाएँ हठपूर्वक हो रही हों, परन्तु यह कदापि सम्भव नहीं है कि साधक जीव को स्वरूपानन्द की अनुभूति, उस उस प्रतिमा के योग्य हो गई हो तथा उसे उस उस प्रतिमा में निषिद्ध विकल्प अन्दर में उठते रहें या निषिद्ध बाह्य क्रियाएँ होती रहें। यही निश्चय-व्यवहार की सन्धि है। यद्यपि इस दशा में शिथिलताजन्य यत्किंचित् दोष लगने की सम्भावना होती है, जिन्हें अतिचार कहा जाता है, परन्तु वह साधक उसे भी स्वरूप-स्थिरता एवं प्रायश्चित्त के बल पर दूर करता जाता है।

ग्यारह प्रतिमाओं के नामों का उल्लेख करने वाली द्वादशानुप्रेक्षा (बारसाणुवेक्खा) की निम्न गाथा द्रष्टव्य है –

दंसण-वय-सामाइय, पोसह-सच्चित्त-राइभत्ते य।
बंभाऽरंभ-परिग्गह, अणुमणमुच्छिट्ठ देसविरदे य।।69।।[188]

अर्थात् दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिकप्रतिमा, प्रोषधोपवासप्रतिमा, सचित्तत्यागप्रतिमा, दिवामैथुन-त्यागप्रतिमा, ब्रह्मचर्यप्रतिमा, आरम्भत्यागप्रतिमा, परिग्रहत्यागप्रतिमा, अनुमतित्यागप्रतिमा और उद्दिष्टत्याग-प्रतिमा – ये देशव्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ हैं।

ग्यारह प्रतिमाओं को उत्तम मध्यम और जघन्य – इन तीन विभागों में भी विभाजित किया गया है। प्रथम छह प्रतिमाओं को जघन्य, उसके बाद सातवीं से नौवीं प्रतिमा तक मध्यम और अन्तिम दो प्रतिमाओं को उत्कृष्ट माना गया है।

प्रतिमाधारी नैष्ठिक श्रावक की सामान्य विशेषताएँ

1. सामान्यतः नैष्ठिक श्रावक को प्रतिमाधारी श्रावक भी कह सकते हैं।
2. प्रतिमाओं के अनेक गुणों के आधार पर ग्यारह स्थान निश्चित किये गये हैं।
3. उक्त ग्यारह स्थानों में उत्तर उत्तर के स्थान, पूर्व पूर्व के स्थानों की क्रियाओं से सहित और विशेष विशेष शुद्धिसहित होते हैं। जैसे, जो ब्रह्मचर्यप्रतिमा को धारण करता है, उसके दर्शन व्रत आदि छह प्रतिमाओं का आचरण नियम से होता है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना चाहिए।
4. उक्त ग्यारह प्रतिमाओं के क्रम का उल्लंघन कभी नहीं होता है। जैसे, कोई तीसरी या चौथी प्रतिमा तो ले ले और दूसरी प्रतिमा का पालन न करे।
5. पाक्षिक और साधक श्रावकों से नैष्ठिक श्रावकों की श्रेणी अलग मानी गई है। पाक्षिक श्रावक तो संयम का अभ्यास करता है, जबकि साधक श्रावक सल्लेखना का धारक होता है – इन दोनों के बीच की अवस्था नैष्ठिक श्रावकों की होती है।
6. उक्त समस्त प्रतिमाएँ मुनिधर्म का अभ्यास कराने वाली हैं और मुनिधर्म का प्राप्त करने में अत्यन्त साधक हैं।

7. जहाँ प्रारम्भिक छह प्रतिमाधारी जघन्य श्रावकों को 'गृहस्थ' संज्ञा से सम्बोधित करते हैं; सातवीं से नौवीं प्रतिमा के धारक मध्यम श्रावकों को 'वर्णी' संज्ञा से सम्बोधित करते हैं, वहीं अन्तिम दो प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकों को 'भिक्षु' संज्ञा से सम्बोधित करते हैं।[189]

अब, प्रत्येक प्रतिमा का संक्षेप में वर्णन करते हैं –

1. दर्शनप्रतिमा

देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति द्वारा जिसने अपने श्रद्धान को दृढ़ कर लिया है और जो संसार विषय और भोगों से विरक्त हो चला है; वह निर्दोष अष्ट मूलगुणों का पालन करता हुआ दर्शनप्रतिमा का धारी श्रावक कहलाता है।

पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

आठ मूलगुण संग्रहै, कुव्यसन क्रिया न कोई।
दर्शनगुण निर्मल करै, दर्शनप्रतिमा सोई।।59।।[190]

दर्शनप्रतिमा के धारक की कुछ विशेषताएँ

1. दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक सम्यग्दर्शन से सहित अवश्य होता है।
2. दार्शनिक श्रावक, मद्य माँस और मधु का न तो स्वयं सेवन करता है और न इन वस्तुओं का व्यापार करता है, न दूसरों से कराता है और न उसकी सम्मति देता है।
3. मद्य-माँस के सेवन करने वाले व्यक्तियों से अपना सम्पर्क भी नहीं रखता है।
4. पंच उदम्बर फलों सहित सप्त व्यसन का त्यागी होता है।
5. न्यायानुकूल ही आजीविका करने वाला होता है।
6. चर्म-पात्र में रखे हुए घृत, तैल या जल का भी उपभोग नहीं करता है।
7. रात्रि-भोजन का त्याग करने के साथ जल छान कर पीता है और सप्त व्यसन का त्यागी होता है।
8. यह श्रावक नियन्त्रितरूप में ही विषय-भोगों का सेवन करता है।
9. यह जीव बारह व्रतों का भी अभ्यासरूप में पालन करता है, लेकिन अतिचारों की अधिकता के कारण व्रती श्रावक की संज्ञा नहीं पाता है।

अविरत सम्यक्त्व और दर्शनप्रतिमा में अन्तर

1. अविरत सम्यक्त्व का चौथा गुणस्थान होता है, जबकि दर्शनप्रतिमा से पाँचवे गुणस्थान का प्रारम्भ हो जाता है।
2. अविरत सम्यग्दृष्टि को असंयम नामक औदयिक भाव होता है, जबकि दर्शनप्रतिमाधारी को संयमासंयम नामक क्षयोपशमभाव होता है।
3. अविरत सम्यक्त्वी के चारित्र को सम्यक्त्वाचरणचारित्र कहते हैं तो दर्शनप्रतिमाधारी के चारित्र को विकल संयमाचरणचारित्र या देशचारित्र भी कहते हैं।
4. अविरत सम्यक्त्व में श्रद्धान की मुख्यता होती है क्योंकि यहाँ तक चौथा गुणस्थान होता है तो दर्शनप्रतिमाधारी के चारित्र की मुख्यता प्रारम्भ हो जाती है।
5. अविरत सम्यक्त्वी को यद्यपि अविरति माना गया है, परन्तु उसके भी अनन्तानुबन्धीजनित अविरति नहीं होती, जबकि दर्शनप्रतिमाधारी को व्रतप्रतिमा नहीं होने पर भी अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण-जनित अविरति नहीं होती।
6. अविरत सम्यक्त्वी भी यद्यपि अनेक क्रियाओं का पालन करता है, परन्तु उसे नियमरूप या प्रतिज्ञारूप में कोई भी क्रिया नहीं होती; जबकि दर्शन-प्रतिमाधारी को अनेक क्रियाएँ नियमरूप में भी होती हैं, तथापि वह अनेक क्रियाओं को व्रतप्रतिमा नहीं होने के कारण अभ्यासरूप में पालन करता है।

2. व्रतप्रतिमा

माया, मिथ्यात्व और निदान – इन तीन शल्यों से रहित होकर निरतिचार पंचाणुव्रत और सप्त शीलव्रतों को धारण करने वाला श्रावक, **व्रतिक** या **व्रती** कहलाता है। इस प्रतिमा के योग्य शुद्ध परिणति, **निश्चयप्रतिमा** कहलाती है और बारह व्रतों के मन्द कषायरूप भाव, **व्यवहारप्रतिमा** कहलाते हैं।

पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

पांच अणुव्रत आदरै, तीन गुणव्रत पाल।
शिक्षाव्रत चारों धरै, यह प्रतिमा चाल।।60।।

अर्थात् जो पांच अणुव्रतों का आदर करता है, तीन गुणव्रतों का पालन करता है और चार शिक्षाव्रतों को धारण करता है; वह व्रतप्रतिमा का धारक कहलाता है।

व्रतप्रतिमा के धारक की कुछ विशेषताएँ

1. पहली दर्शनप्रतिमा में प्राप्त विशुद्धि को बढ़ाने वाला श्रावक, दूसरी व्रतप्रतिमा को प्राप्त करता है।
2. यह श्रावक, अष्ट मूलगुणों का निरतिचार पालन करता है तथा अनेक उत्तरगुणों को भी धारण करता है अर्थात् इस प्रतिमा में पाँच अणुव्रतों का निरतिचार एवं सप्त शीलों का अभ्यासरूप में पालन होता है। निरतिचार से भी तात्पर्य यह है कि यदि कदाचित् कषायवश उन व्रतों में भी दोष लगे तो उन्हें प्रायश्चित्त विधि से शुद्ध करता है।
3. यह श्रावक, स्थूल अपेक्षा रात्रि-भोजन का पूर्ण त्याग करता है।
4. यह श्रावक, अन्तराय टाल कर भोजन करता है। भोजन के समय व अन्य आवश्यक क्रियाओं के समय मौन रखता है। आवश्यक क्रियाओं से तात्पर्य भोजन, शव-दाह-क्रिया, मल-मूत्र-क्षेपण, स्नान, पूजन आदि से है। मौन से तात्पर्य लौकिक कार्यों से मौन है, प्रभु-स्मरण आदि से नहीं।
5. यह श्रावक, चमड़े की किसी भी वस्तु का उपयोग नहीं करता है; इसी प्रकार भेड़ आदि के बालों से बने ऊनी वस्त्रों का भी वह त्याग करता है।
6. यह श्रावक, गृहस्थ श्रावक के लिए कथित षट् आवश्यक कार्यों को अत्यन्त दृढ़ता से पालन करता है।

दर्शनप्रतिमा और व्रतप्रतिमा में अन्तर

1. यद्यपि पाँच अणुव्रतों की प्रवृत्ति तो दर्शनप्रतिमा से ही प्रारम्भ हो जाती है; तथापि उनका पालन वहाँ अभ्यासरूप में ही होता है; अतः अणुव्रतों का अतिचाररहित पालन करना सम्भव नहीं होता। जबकि व्रतप्रतिमा में अणुव्रतों का निरतिचार पालन होता है तथा उनका पालन अत्यन्त दृढ़ता के साथ किया जाता है।
2. कोई कोई विचारकों ने दर्शनप्रतिमा को चतुर्थ गुणस्थान के अन्तर्गत स्वीकार किया है क्योंकि यहाँ व्रतों का निरतिचार पालन नहीं होता है; परन्तु इस मत के विरुद्ध अनेक आचार्यों ने दर्शनप्रतिमा को पंचम गुणस्थान में ही स्वीकार किया है क्योंकि दर्शनप्रतिमा में प्रतिज्ञा का प्रारम्भ हो जाता है, भले ही वह व्रतप्रतिमा के समान न हो।

3. सामायिकप्रतिमा

जिस श्रावक की बुद्धि निरतिचार सम्यग्दर्शन, निरतिचार मूलगुण और निरतिचार उत्तरगुणों के समूह के पालन करने से विशुद्ध हो गई है; ऐसा श्रावक, प्रातः दोपहर और सन्ध्या – इन तीनों कालों में उपसर्ग और परीषह के उपस्थित होने पर भी साम्य परिणाम को धारण करता हुआ मन-वचन-काय की एकाग्रता को स्थिर बनाये रखता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक है। वही पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

द्रव्य भाव विधि संजुगत, हिये प्रतिज्ञा टेक।
तजि ममता समता गहै, अन्तर्मुहूरत एक।।61।।
जो अरि मित्र समान विचारै, आरत रौद्र कुध्यान निवारै।
संयमसहित भावना भावै, सो सामायिकवन्त कहावै।।62।।

सामायिकप्रतिमा के धारक की कुछ विशेषताएँ

1. दूसरी प्रतिमा में ग्रहण किये गये सामायिक व्रत को जब और अधिक विशुद्धि के साथ आगमोक्त विधि से धारण किया जाता है, तब सामायिक प्रतिमा होती है।
2. सामायिक का उद्देश्य आत्मा की शक्ति का केन्द्रीकरण करना है।
3. यह श्रावक, तीनों सन्ध्याकालों में कम से कम दो घड़ी और मध्यम रीति से चार घड़ी और उत्कृष्ट रीति से छह घड़ी की सामायिक करता है।
4. सामायिक करने वाले व्यक्ति को अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह की चिन्ता से दूर रह कर खड्गासन या पद्मासन मुद्रा में मन-वचन-काय के व्यापार को शुद्ध रख कर, सामायिक करते समय प्रत्येक दिशा में एक एक कायोत्सर्ग के पश्चात् **'णमो अरहंताणं'** इस आद्य सामायिक दण्डक और **'थोस्सामि हं'** इस अन्तिम स्तविक दण्डक के तीन तीन आवर्त एवं एक एक शिरोनति करना चाहिए।
5. उक्त प्रतिमा का धारक पुरुष, न्यायपूर्वक आजीविका करता हुआ, लोक में उत्तम पदों को ग्रहण करता हुआ, घर-कुटुम्ब का पालन करता हुआ, इस प्रतिमा को धारण कर सकता है।
6. सामायिक करते समय ऐसे स्थान का चुनाव करना चाहिए; जहाँ एकान्त हो, जन-सम्पर्क न हो, जीव-जन्तुओं की बाधा न हो तथा वह स्थान न तो अति ठण्डा हो और न अति गर्म हो।
7. सामायिक करते समय कायोत्सर्ग में स्थित होकर लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग, आदि के प्रति समभाव रखना आवश्यक है।
8. सामायिक करते समय निश्चय से अपने चैतन्यमात्र शुद्धस्वरूप का ध्यान करते हुए उसी का चिन्तन-मनन-एकाग्रता आदि करना चाहिए।
9. यदि शुद्धस्वरूप में एकाग्रता प्राप्त नहीं हो पा रही है तो ऐसी स्थिति में अरहन्तादि परमात्मा, जिनबिम्ब; अथवा पंच परमेष्ठी के वाचक णमोकार मन्त्र आदि; जिनवाणी, जिनधर्म अथवा कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालय; अथवा पदार्थों के यथार्थ स्वरूप, तीन लोक, अनित्यादि वैराग्य भावनाओं; अथवा समवसरण में विराजमान उत्तम अष्ट प्रातिहार्यों से तीर्थंकर अरहन्त जिन; अथवा सिद्ध भगवान के अष्ट गुणों से युक्त स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। उक्त विषयों का ध्यान न हो पाने की स्थिति में अथवा अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों में कर्म के विपाक का चिन्तवन करना चाहिए अर्थात् यह विचार करना चाहिए कि कर्म के उदय कैसे कैसे आते हैं ? मुझे इन सबमें समभाव रखना है, परिणामों को विचलित नहीं करना है, आदि चिन्तवन करना भी पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत आता है।
10. सामायिक करता हुआ श्रावक, मुनि के तुल्य हो जाता है – ऐसे श्रावक की तुलना रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उस मुनि से की गई है, जिस पर कि उपसर्ग के काल में वस्त्र डाल दिया गया हो। ऐसा वर्णन मूलाचार सर्वार्थसिद्धि चारित्रसार पुरुषार्थसिद्ध्युपाय कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रन्थों में भी किया गया है।
11. सामायिक से सम्बन्धित अनेक दोष भी जिनागम में बतलाये गये हैं, उनका वर्णन अन्यत्र अतिचारों के प्रकरण में किया गया है; अतः वहाँ से जानना चाहिए।

सामायिकव्रत और सामायिकप्रतिमा में अन्तर

1. सामायिकव्रत का समावेश दूसरी व्रतप्रतिमा में चार शिक्षाव्रतों के अन्तर्गत किया गया है; जबकि सामायिकप्रतिमा पृथक् से तीसरी प्रतिमा मानी गई है।
2. सामायिकव्रत में सामायिक अतिचारसहित होती है; जबकि सामायिकप्रतिमा में होने वाली सामायिक निरतिचार मानी गई है।
3. सामायिकव्रत में तीनों काल की सामायिक करने का नियम नहीं है; जबकि सामायिकप्रतिमा में तीनों काल की सामायिक नियम से होती है; लेकिन उसमें भी उत्तम मध्यम जघन्य के भेद हो सकते हैं।
4. सामायिकव्रत, शिक्षाव्रत होने से उसका धारक कभी किसी कारणवशात् सामायिक न भी करे – ऐसा सम्भव है; जबकि सामायिकप्रतिमा में ऐसा करना सर्वथा निषिद्ध है।
5. सामायिकव्रत वाला श्रावक, सामान्य दिनों की अपेक्षा पर्व के दिनों में विशेष सामायिक करता है; जबकि सामायिकप्रतिमाधारी को ऐसा कोई नियम नहीं है।

4. प्रोषधोपवास-प्रतिमा

प्रतिमाह दो अष्टमी और दो चतुर्दशी – इस प्रकार चार पर्व के दिनों में अपनी शक्ति को नहीं छिपा कर, चार प्रकार के आहार का त्याग कर, अथवा नीरस आहार या अल्प आहार या छाछ आदि मात्र लेकर (शुभ) धर्मध्यान में लीन होकर प्रोषधपूर्वक नियम से सर्व सावद्ययोग का त्याग करके उपवास करने वाला चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा का धारक कहलाता है। उसे संसार शरीर और भोगों के प्रति आसक्ति घट जाती है; अतः आहार आदि का त्याग करके उपवास की प्रतिज्ञा लेता है।

प्रोषधोपवास के सामान्यतया दो अर्थ प्राप्त होते हैं –

पहले अर्थ के अनुसार प्रोषध का अर्थ एक बार भोजन करना और उपवास का अर्थ चारों प्रकार के आहार का त्याग है। इस प्रकार धारणे पारणे के दिन प्रोषध करते हुए पर्व के दिन उपवास करना, प्रोषधोपवास कहलाता है।

दूसरे अर्थ के अनुसार प्रोषध का ही अर्थ पर्व है, अतः पर्व के दिनों में जो उपवास किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास कहते हैं।

लाटी संहिता में एक विशेष अर्थ दिया है कि प्र अर्थात् प्रकृष्ट या उत्कृष्ट, औषध अर्थात् रोगनाशक और उपवास अर्थात् अनशन। तात्पर्य यह है कि उपवास ही जन्म-मरणरूपी रोग को नष्ट करने वाली परम या उत्कृष्ट औषधि है – ऐसा प्रोषधोपवास का अर्थ है।

उपवास की व्याख्या, आचार्यों ने अनेक प्रकार से की है –

1. जहाँ कषाय, इन्द्रियों के विषय और आहार – इन तीनों का त्याग किया जाता है; उसे उपवास कहते हैं।
2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा में तीर्थंकर गणधर आदि मुनीन्द्रों ने उपशमन को उपवास कहा है।
3. अनगार धर्मामृत में उपयोग को इन्द्रियों के अपने अपने विषयों से हटा कर शुद्धात्मस्वरूप में लीन होने को उपवास कहा है।
4. सर्वार्थसिद्धि के अनुसार उप माने समीप, और वास माने रहना अर्थात् चार प्रकार के आहार का त्याग करके अपनी आत्मा के समीप वास करना, उपवास कहलाता है।

उपवास हमेशा यथाशक्ति ही करना चाहिए – इस सम्बन्ध में आचार्यों/विद्वानों ने अनेक मन्तव्य दिये हैं। धवलाकार लिखते हैं कि जो पित्त के प्रकोप वश उपवास करने में असमर्थ हैं तथा जिन्हें आधे आहार की अपेक्षा उपवास करने में अधिक थकान होती है; उन्हें अवमौदर्य या ऊनोदर नामक तप करना चाहिए।

जबकि सागार धर्मामृत में लिखा है कि उपवास करने में असमर्थ श्रावकों को जल छोड़ कर चारों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए। अल्प आहार और नीरस आहार का ग्रहण भी किया जा सकता है क्योंकि शक्ति के अनुसार किया गया तप ही कल्याण के लिए होता है।

प्रोषधोपवास के तीन भेद

प्रोषधोपवास के तीन भेद बताये गये हैं – 1. उत्तम प्रोषधोपवास, 2. मध्यम प्रोषधोपवास और 3. जघन्य प्रोषधोपवास।

उपवास से पूर्व दिन में भोजनोपरान्त मध्याह्न में समस्त आरम्भ से मुक्त होकर तथा शरीरादिक में ममत्व को त्याग कर, उपवास को अंगीकार करे। पश्चात् किसी एकान्त स्थान में जावे, वहाँ सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर त्रिगुप्तिपूर्वक सामायिक में स्थित होवे, पश्चात् यदि कुछ अन्य धर्मकार्य करना हो तो उन्हें अपने प्रमाणानुकूल क्षेत्र में ही करे। पश्चात् सन्ध्याकालीन सामायिक करके पठन पाठन द्वारा निद्रा को जीतता हुआ पवित्र एवं प्रासुक जीवाणुरहित चटाई आदि पर रात्रि व्यतीत करे। तदुपरान्त प्रातः उठ कर आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर स्नान करके प्रासुक द्रव्यों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करे। पश्चात् पूर्वोक्त विधि से दिन और रात्रि को व्यतीत करके तीसरे दिन के भी आधे भाग को अतिशय यत्नाचारपूर्वक व्यतीत करे। पश्चात् आहारदानपूर्वक स्वयं भोजन ग्रहण करे। इस प्रकार उत्तम प्रोषधोपवास का संक्षेप में स्वरूप जानना चाहिए।

उत्तम प्रोषधोपवास की विशेषताएँ

- यह प्रोषधोपवास सोलह पहर अर्थात् 48 घण्टे का होता है।

- यह श्रावक, पर्व के दिनों में स्नान, विलेपन, आभूषण, स्त्रीसंसर्ग, पुष्प, इत्र, धूप आदि का त्याग होता है।
- यह श्रावक, उक्त समय के लिए समस्त आरम्भ, व्यापार, सेवा, लेनदेन आदि का त्याग करता है।
- यह श्रावक, शरीर एवं उसके सम्बन्धियों के प्रति भी ममत्व का त्याग करता है।
- यह श्रावक, अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सूने एकान्त घर, जिन-मन्दिर, एकान्त स्थान, चैत्यालय, निर्जन स्थान, मठ आदि में निवास करता है।
- चार प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग करता है।
- कषाय उत्पन्न होने के प्रसंगों में भी कषाय नहीं करता है।
- कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए पंचेन्द्रियों के विषयों से अपने को दूर रखता है।
- ब्रह्मचर्य का अच्छी तरह पालन करता है।
- नाटक सिनेमा देशाटन तथा मधुर संगीत आदि से भी अपने को दूर रखता है।

मध्यम प्रोषधोपवास की विशेषताएँ

- सामान्यतया यह प्रोषधोपवास, 12 पहर अर्थात् 36 घण्टे, अथवा 14 पहर अर्थात् 42 घण्टे का होता है।
- इसके अलावा इस प्रोषधोपवास के और भी अनेक प्रकार हो सकते हैं।
- यह प्रोषधोपवास धारणा और पारणा के एकासन से रहित होता है तथा पर्व के दिन उपवास से सहित होता है। साथ ही वह उपवास के दिन जल भी ग्रहण कर सकता है।
- इस प्रोषधोपवास में यदि श्रावक को कोई बहुत जरूरी कार्य हो तो सावद्य (पाप) रहित होकर तत्सम्बन्धी आरम्भ भी कर सकता है।
- सामान्यतया उत्तम प्रोषधोपवास की अन्य क्रियाएँ इस अवधि तक यहाँ भी लागू होती हैं।

जघन्य प्रोषधोपवास की विशेषताएँ

- जो श्रावक, सोलह से बारह प्रहर तक निराहार नहीं रह सकता है तथा जिसे आहार के बिना आकुलता हो जाती है; वह पर्व के दिन रसरहित, स्वादरहित, सादा भोजन, एक बार, अल्प मात्रा में ग्रहण करके अगले दिन उसी समय तक निराहार रहता है; अतः उस श्रावक का आठ प्रहर अर्थात् चौबीस घण्टे तक आहार का त्याग होने से जघन्य प्रोषधोपवास कहलाता है।
- यद्यपि जघन्य प्रोषधोपवासी का भी पर्व की पूर्व रात्रि में रात्रिभोजन सम्भव नहीं है; इस दृष्टि से यह व्रत छत्तीस घण्टे तक भी माना गया है।
- भोजन सम्बन्धी उक्त विवेचन के अलावा अन्य धर्मक्रियाओं को यह जघन्य प्रोषधोपवासी भी अपनी अपनी सुविधानुसार पालन करता है।

प्रोषधोपवासव्रत और प्रोषधोपवासप्रतिमा में अन्तर

- प्रोषधोपवासव्रत दूसरी व्रतप्रतिमा के अन्तर्गत दूसरा शिक्षाव्रत है; जबकि प्रोषधोपवासप्रतिमा पृथक् से चौथी प्रतिमा है।
- जो अन्तर सामायिकव्रत और सामायिकप्रतिमा में पहले बताये गये हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।
- प्रोषधोपवासव्रत अभ्यासरूप होने से अतिचारसहित होता है; जबकि प्रोषधोपवासप्रतिमा प्रतिज्ञारूप होने से उसका पालन निरतिचार होता है।
- दूसरी व्रतप्रतिमा में कोई श्रावक कदाचित् प्रोषधोपवास नहीं भी करता है; जबकि प्रोषधोपवासप्रतिमा में उत्तम, मध्यम या जघन्य; किसी न किसी प्रकार के प्रोषधोपवास का पालन करना अनिवार्य माना है।

उपवास और अनशन में अन्तर

- सामान्य दृष्टि से उपवास और अनशन शब्द के प्रयोग एकार्थ में ही किये जाते हैं। जबकि शाब्दिक, आध्यात्मिक एवं भावनात्मक दृष्टि से दोनों में कुछ अन्तर भी दृष्टिगत होता है।

- उपवास का अर्थ पर्व आदि के दिनों में पाप से दूर रह कर, धर्म या आत्मा में वास करना है; जबकि अनशन से तात्पर्य नियत काल के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करना है।
- जहाँ उपवास हमें क्या करना चाहिए – यह बताता है; वहीं अनशन हमें यह बताता है कि उपवास के दिनों में हमें क्या नहीं करना चाहिए अर्थात् उपवास अस्तिवाचक है तो अनशन नास्तिवाचक है।
- प्रोषधोपवास की विशेषताओं को जानने से यह ज्ञात होता है कि उपवास में आहार-त्याग की अपेक्षा धर्म और धर्मायतन में वास करने को अधिक महत्त्व दिया गया है।
- तात्पर्य यह है कि उपवास, अनशन के साथ भी किया जा सकता है तथा ऊनोदर वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग के साथ भी किया जा सकता है।
- कार्तिकेयानुप्रेक्षा में तो यहाँ तक कहा गया है कि तीर्थंकर गणधर आदि मुनीन्द्रों ने उपशमन को उपवास कहा है; इसलिए जितेन्द्रिय पुरुष भोजन करते हुए भी उपवासी होते हैं।

इस प्रकार उपवास और अनशन को एकार्थवाची नहीं कहा जा सकता है।

सामायिक और प्रोषधोपवास में परस्पर सम्बन्ध

इस सम्बन्ध में आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखते हैं –

सामायिकसंस्कारं, प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकतुम्।
पक्षाऽर्द्धयोर्द्वयोरपि, कर्तव्योऽवश्यमुपवासः।।151।।

अर्थात् प्रतिदिन अंगीकार किये हुए सामायिकरूप संस्कार को स्थिर करने के लिए दोनों शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के अर्द्धभाग एवं उनके पूर्ण होने पर अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास अवश्य करना चाहिए। इससे शुद्ध सामायिक करने की भावना दृढ़ होती है तथा विषय कषाय से चित्त विरक्त होता है।

पण्डित बनारसीदासजी भी प्रोषधप्रतिमा को सामायिक से जोड़ते हुए लिखते हैं –

सामायिक की सी दशा, चार पहरलों होय।
अथवा आठ पहर रहे, प्रोषध प्रतिमा सोय।।63।।

अर्थात् प्रथम सामायिक प्रतिमा में सामायिक की दशा चार पहर अर्थात् 12 घण्टे तक होती थी, लेकिन जब सामायिक की दशा कम से कम आठ पहर अर्थात् 24 घण्टे तक हो जाती है, उसे प्रोषधप्रतिमा कहते हैं।

5. सचित्तत्यागप्रतिमा

पूर्व की चार प्रतिमाओं का पालन करने वाले दयालु श्रावक के द्वारा जीवसहित सचित्त हरे साग सब्जी फल फूल आदि का भक्षण नहीं किया जाता है; यही सचित्तत्यागप्रतिमा है।

पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

जो सचित्त भोजन तजै, पीवै प्रासुक नीर।
सो सचित्तत्यागी पुरुष, पंच प्रतिज्ञा गीर।।64।।

इस प्रतिमा के माध्यम से प्राणिसंयम के पालन करने की प्रतिज्ञा ली जाती है। संयम दो प्रकार का होता है – प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम। तात्पर्य यह है कि पांचवीं छठवीं और सातवीं प्रतिमाओं के माध्यम से उक्त दोनों संयम पालन को अतिदृढ़ किया जाता है।

प्राणिसंयम के स्थूल त्रसहिंसा और स्थूल स्थावरहिंसा का त्याग तो पहले ही हो चुका है। अब यहाँ उसके सूक्ष्मस्वरूप का भी त्याग होता है। वनस्पतिकाय, स्थावरकाय का एक भेद है। उस वनस्पति के दो भेद हैं – साधारण और प्रत्येक। साधारण वनस्पति का त्याग तो पहले ही अनन्तकायत्याग या बहुघातत्याग के अन्तर्गत हो चुका है। प्रत्येक वनस्पति के भी दो भेद हैं – सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। सप्रतिष्ठदशा में प्रत्येक वनस्पति भी साधारण वनस्पति के समान होती है। लेकिन अप्रतिष्ठितदशा में उसमें अनन्तकायपना नहीं होने से एक जीव का वास ही होने से अप्रतिष्ठित प्रत्येकदशा में भी सचित्त होने से पंचम प्रतिमाधारी सचित्तत्यागी श्रावक उसका भक्षण नहीं करता, लेकिन अचित्त करके उसका भक्षण कर लेता है। अचित्त करने के लिए उसे सुखाना, अग्नि में पकाना, चाकू से टुकड़े टुकड़े करना आदि क्रियाएँ शामिल हैं।

प्रश्न – पानी या वनस्पति आदि सचित्त पदार्थों को अचित्त करने में जो जीव उस पदार्थ के आश्रित होते हैं, उनके घात का दोष आता है या नहीं ?

समाधान – यद्यपि यह दोष आता ही है, परन्तु इससे अधिक दोषों से बचने के लिए अचित्त करने का विधान है। 1. एक बार किसी पदार्थ को अचित्त करने से उसमें विद्यमान जीवों का घात तो होता है, परन्तु उसमें उत्पन्न होने वाले जीवों की सन्तति रुक जाने से आगे सम्भावित जीवों का घात रुक जाता है तथा उन जीवों का घात तो होना ही था, सचित्त भक्षण करते या अचित्त। इस प्रकार प्राणिसंयम का पालन होता है। 2. अचित्त करने से वस्तु का मूलभूत स्वाद बदल जाता है, जिससे उसे भक्षण करने में स्वादहीनता आ जाती है। इस प्रकार इसमें प्राणि-संयम के साथ इन्द्रिय-संयम का भी पालन हो जाता है। 3. सचित्त भक्षण करने पर राग की तीव्रता या गृद्धता का प्रसंग आता है क्योंकि सजीव पदार्थों का भक्षण बिना तीव्र गृद्धता के सम्भव नहीं है, इस प्रकार भावहिंसा से भी बचा जाता है।

सचित्तत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ

- यह प्रतिमा हमारे प्रतिदिन के भोजन से सम्बन्ध रखती है।
- इस प्रतिमाधारी को अनेक ग्रन्थों में दयालु शब्द से सम्बोधित किया है।
- चौथी प्रतिमा की तुलना में इस श्रावक के आत्मविशुद्धि और अधिक बढ़ जाने के कारण शरीर आदि के प्रति आसक्तिभाव और अधिक घट जाता है। यद्यपि शरीर की स्थिति के लिए भोजन लेने का भाव आता तो है, लेकिन सचित्त भोजन पान करने का विकल्प नहीं आता है।
- यद्यपि इस प्रतिमा का वर्णन करते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में यह लिखा है –

  मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कन्द-प्रसून-बीजानि।
  नामानि योऽत्ति सोऽयं, सचित्तविरतो दयामूर्तिः।।141।।

  अर्थात् जो दयामूर्ति श्रावक, मूल, फल, शाक, शाखा, करीर अर्थात् कोंपल या अंकुर, कन्द, फूल और बीज को आमानि अर्थात् कच्चे या अपक्व अवस्था में नहीं खाता, वह यह सचित्तविरत श्रावक कहलाता है।
- यद्यपि इस प्रतिमाधारी का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि वह श्रावक उक्त पदार्थों को सचित्त ग्रहण नहीं करता है, परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि वह श्रावक, इन अभक्ष्य पदार्थों या त्याज्य पदार्थों को अचित्त करके ग्रहण कर सकता है क्योंकि वह तो उन पदार्थों को छू भी नहीं सकता तो फिर उन्हें अचित्त कैसे करेगा ?
- आर्यिका आदिमती माताजी की टीका में कहा गया है कि जो श्रावक प्रयोजनवश हरित वनस्पति को पैर से छूने में भी अत्यन्त घृणा करता है क्योंकि उसमें अनन्तनिगोद नामक साधारण शरीर वनस्पतिकायिक जीवों का वास है तो क्या वह उस हरित वनस्पति को खायेगा ? अर्थात् नहीं खायेगा।
- इस प्रतिमा में केवल सचित्त पदार्थों के खाने का ही निषेध नहीं किया गया है, बल्कि उनके नहाने, धोने आदि क्रियाओं में उनके उपयोग करने का भी सर्वथा त्याग कराया जाता है।
- इस प्रतिमाधारी को न तो सचित्त का स्वयं भक्षण आदि करना चाहिए और न अन्य को कराना चाहिए और न ही उसे भक्षण आदि करने का उपदेश आदि देकर समर्थन करना चाहिए।
- वनस्पति के समान पानी और नमक भी अपनी प्राकृतिक अवस्था में सचित्त होते हैं। नमक को पीस लेने के बाद भी वह थोड़े ही काल में पुनः सचित्त हो जाता है क्योंकि वायु की आर्द्रता के निमित्त से उसमें तुरन्त ही जीवोत्पत्ति हो जाती है। व्रतियों को तो सेंधा नमक ही ग्राह्य है, वह भी तुरन्त का पिसा हुआ होना चाहिए। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि आजकल आयोडाइज्ड नमक का प्रचार सरकार तथा अन्य प्रचार माध्यमों से किया जाता है, लेकिन उसमें मिलाया जाने वाला आयोडीन, पशुओं की आयोडीन ग्रन्थि से प्राप्त किया जाता है; अतः उसे जैनधर्म के श्रावक एवं श्रमण, दोनों ही प्रयोग में नहीं लेते।
- सचित्त पदार्थों को अचित्त या प्रासुक करने की विधि मूलाराधना में निम्न प्रकार से बताई है –

सुक्कं पक्कं तत्तं, अंविललवणेन मिस्सियं दव्वं।

जं जंतेण य छिण्णं, तं सव्वं फासुवं भणियं।।824।।

अर्थात् सुखाना, पकाना, आग पर गर्म करना, चाकू से छिन्न-भिन्न करना, उसमें नमक आदि मिलाना – ये सब प्रासुक करने की विधियाँ हैं।

- गोम्मटसार जीवकाण्ड की कर्नाटकी वृत्ति एवं संस्कृत टीका में पाप का वर्जन करने वाले वचनों के अन्तर्गत कहा है –

कर्नाटकी वृत्ति – शुष्कपक्वध्वस्ताम्ललवणसंमिश्रदग्धादिद्रव्यंगळु प्रासुकमदु कारणदिं तत्सेवनदोळ् पापबंधमिल्लेदिंतु पापवर्ज्यवचनदंतिल्लि।

संस्कृत टीका – शुष्कपक्वध्वस्ताम्ललवणसंमिश्रदग्धादि द्रव्यं प्रासुकं ततस्तत्सेवने पापबन्धो नास्तीति पापवर्जनवचनम्।

अर्थात् सूखा हुआ, पकाया हुआ, छिन्न-भिन्न किया हुआ, खटाई या नमक मिलाया हुआ तथा जला हुआ द्रव्य प्रासुक है; अतः उसके सेवन में पापबन्ध नहीं है। इस प्रकार के पाप के त्यागरूप वचन भावसत्य है।[191]

6. रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा या दिवामैथुनत्यागप्रतिमा

जिनागम में इस प्रतिमा के दो नाम प्रसिद्ध हैं – रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा और दिवामैथुनत्यागप्रतिमा। इसके भी दो कारण परिलक्षित होते हैं –

1. जहाँ पहला नाम पूर्व की पाँचवीं सचित्तत्यागप्रतिमा से है, वहीं दूसरा नाम बाद की सातवीं ब्रह्मचर्यप्रतिमा से सम्बन्ध रखता है।

   प्रश्न – यद्यपि सचित्त का दोष रात्रिभोजन से अधिक नहीं है; तथापि यहाँ सचित्तत्याग प्रतिमा के बाद रात्रिभोजनत्याग को छठी प्रतिमा क्यों स्वीकार किया गया है ?

   समाधान – क्योंकि रात्रिभोजनत्याग को छठे अणुव्रत के रूप में भी मान्यता दी गई है; तथापि उसका निरतिचार पालन यहाँ छठी प्रतिमा में जाकर ही होता है; अतः उसे छठी प्रतिमा के रूप में मान्यता स्वयं आचार्य समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में दे रहे हैं। वे लिखते हैं –

   अन्नं पानं खाद्यं, लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।

   स च रात्रिभुक्तिविरतः, सत्त्वेष्वनुम्पमानमनाः।।142।।

   अर्थात् सभी प्राणियों पर अनुकम्पारूप परिणामों को मन में धारण करने वाला जो पुरुष, रात्रि में **अन्न** अर्थात् अन्न से बने हुआ भोज्य पदार्थ, **पान** अर्थात् जल दूध शरबत आदि पीने योग्य पेय पदार्थ, **खाद्य** अर्थात् दूध आदि से बने हुए लड्डू पेड़ा पाक बरफी आदि पदार्थ, **लेह्य** अर्थात् स्वाद लेने योग्य इलायची लोंग औषधि आदि पदार्थ; इस प्रकार चारों प्रकार के आहार को नहीं खाता; वह **रात्रिभुक्तिविरत** नामक छठवीं प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

   इसी प्रकार सातवीं प्रतिमा में जाकर पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेना है; अतः यहाँ छठी प्रतिमा में उसके अभ्यासस्वरूप पहले दिन में ब्रह्मचर्य पालन कराने के उद्देश्य से दिवामैथुनत्याग कराया है। बाद में रात्रि में भी मैथुन का त्याग करके पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन हो जाता है।

   इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं –

   जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालै, तिथि आये निसि दिवस संभालै।

   गहि नौ वाड़ि करै व्रत रख्या, सो षट् प्रतिमा श्रावक अख्या।।65।।

2. वास्तव में इस प्रतिमा के दोनों नाम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं अर्थात् जो कार्य दिन में करने योग्य है, उसे दिन में ही करना चाहिए, रात्रि में नहीं; यही **रात्रिभोजनत्याग** है। इसी प्रकार जो कार्य रात्रि में करने योग्य है, उसे रात्रि में ही करना चाहिए, दिन में नहीं; यही **दिवामैथुनत्याग** है।

रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा या दिवामैथुनत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ

- इस प्रतिमा में श्रावक की भोजन तथा अब्रह्म (मैथुन) दोनों प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाया गया है।

- इस प्रतिमा तक जघन्य श्रावक की श्रेणी मानी गई है।
- सागार धर्मामृत और लाटीसंहिता आदि ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनी श्रावक द्वारा रात्रिभोजनत्याग को तीन स्तरों पर पालन किया जाता है –
- **रात्रिभोजनत्याग के तीन स्तर**

  1. पाक्षिक श्रावक के कुलाचाररूप जघन्य स्तर पर – अन्नमात्र का त्याग करके, इसके बिना वह पाक्षिक या दार्शनिक दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक भी नहीं कहलाता। इतना करने से वह लौकिक दृष्टि से तो यह प्रतिष्ठा पाता ही है कि वह रात्रिभोजन नहीं करता, इस आचरण को भी हम मिथ्या नहीं कह सकते।

  2. दूसरी व्रतप्रतिमा मध्यम स्तर पर – सातिचार रात्रिभोजनत्यागव्रत का पालन अथवा जल या औषधि को छोड़ कर बाकी समस्त रात्रिभोजन का त्याग करके,

  3. छठवीं प्रतिमा के उत्कृष्ट स्तर पर – यहाँ तक आते आते श्रावक की विशुद्धि इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह जलादि का भी त्याग करके सर्वथा निरतिचार प्रतिज्ञापूर्वक रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा का पालन करता है। इस स्तर पर आकर यह त्याग कृत-कारित-अनुमोदना एवं मन-वचन-काय – इन नव कोटियों से हो जाता है अर्थात् न तो वह स्वयं रात्रिभोजन करता है, न दूसरों को कराता है और न करते हुए की अनुमोदना करता है।
- दिन के भोजन की अपेक्षा रात्रि में भोजन करने से परिणामों में विशेष गृद्धता होती है, अतः वह अवश्य त्याज्य है। धवलाकार ने रात्रिभोजन एवं अन्य अशुद्धभोजन करने को ज्ञानावरणीकर्म के बन्ध का कारण बताया है।
- इस प्रतिमाधारी श्रावक को प्रमुखतः दो बार – दिन के दूसरे और चौथे पहर के प्रथम अर्द्धभाग में भोजन कर लेना चाहिए।
- रात्रिभोजनत्याग का अतिशय महत्त्व जैनधर्म में प्रदान किया गया है। उदाहरणार्थ –

  1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि जो पुरुष, मन-वचन-काय से रात्रिभोजन को त्याग देता है, वह निरन्तर अहिंसा का पालन करता है।

  2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि जो पुरुष, रात्रिभोजन छोड़ता है, वह वर्ष में छह महिने का उपवास करता है।
- यद्यपि शास्त्रों में सच्चे शूद्र और स्त्रियों को ग्यारह प्रतिमाओं तक के पालन करने का अधिकार दिया गया है; तथापि सामान्यतः उन्हें इस प्रतिमा के पालन में कठिनाइयों का सामना अवश्य करना पड़ता है। जैसे, सामान्य स्त्री को सन्तानादि को औषधि आदि देने, दुग्धपान आदि कराने तथा स्वयं को प्रसूति आदि के समय औषधि आदि का ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता है। इसी प्रकार शूद्रों का भी सम्पर्क हीन आचरण वाले रात्रिभोजियों से विशेषरूप से रहने के कारण उन्हें भी इस प्रतिमा के पालन करने में कठिनाई होती है।
- इसी प्रकार रात्रि में मैथुन करने की तुलना में दिन में मैथुन करने वालों के परिणामों में तीव्रता अधिक होती है; अतः पहले तीव्रकषाय के कार्य का त्याग कराने की दृष्टि से दिवामैथुनत्याग का पहले त्याग कराके पश्चात् सम्पूर्ण मैथुन का त्याग सातवीं ब्रह्मचर्यप्रतिमा में कराया है।
- इस प्रतिमा का धारक मात्र काय से ही नहीं, किन्तु मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से भी दिन में मैथुन का त्याग करता है।
- इसी प्रतिमा एक नाम रात्रिभक्तव्रत भी है। भक्त का अर्थ स्त्रीसेवन भी होता है, जिसे भोगना या भोजन भी कहते हैं। चारित्रसार आदि ग्रन्थों में दिन में स्त्रीसेवन का त्याग करके रात्रि में स्त्रीसेवन का व्रत ही रात्रिभुक्तिव्रत है।

7. ब्रह्मचर्यप्रतिमा

यह शरीर, माता के रुधिर व पिता के वीर्यरूप मल से उत्पन्न हुआ है; इसलिए इसका बीज, मल ही है। यह शरीर मल को ही उत्पन्न करता है; अतः यह मल की योनि है। यह सदा ही नव द्वारों से मल को

ही बहाता रहता है; अतः यह महा दुर्गन्धियुक्त एवं घृणा का स्थान है – ऐसे शरीर को देखते हुए जो काम-भाव से विरक्त हो जाता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक है। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ मात्र शारीरिक मैथुन क्रिया से निवृत्ति करना ही नहीं है, बल्कि पंचेन्द्रियों के विषय-भोगों का त्याग करना भी अभीष्ट है।

ब्रह्म के अनेक अर्थ हैं। चारित्र आत्मा ज्ञान आदि। 'ब्रह्मनि आत्मनि चरतीति ब्रह्मचारी' अर्थात् जो आत्मा में चरण करता है, अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव में लीन रहता है और व्यवहार में स्त्री मात्र के सेवन का त्यागी है, वह ब्रह्मचारी है। स्त्री मात्र से आशय केवल मनुष्य जाति की स्त्रियों से ही नहीं है, अपितु देवांगना और पशु स्त्रियाँ तथा काष्ठ पाषाण आदि से निर्मित एवं चित्रों में अंकित प्रतिकृतियाँ भी अन्तगर्भित हैं। उनके सेवन का त्याग कायमात्र से नहीं, अपितु मन-वचन से भी उनके सेवन का त्याग होना चाहिए।

वही पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

जो नव वाडि सहित विधि साधै, निसि-दिन ब्रह्मचर्य आराधै।
सो सप्तम प्रतिमा धर ग्याता, सील सिरोमणि जग विख्याता।।66।।

ब्रह्मचर्यप्रतिमा की विशेषताएँ

- सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा से लेकर नौवीं परिग्रहत्यागप्रतिमा तक मध्यम श्रावक की श्रेणी है।
- इस प्रतिमा की भूमिका का प्रारम्भ पाक्षिक श्रावक, सप्तव्यसन के अन्तर्गत परस्त्रीसेवनत्याग एवं वेश्यागमनत्याग से हो जाता है। उसके बाद व्रतप्रतिमा मे ब्रह्मचर्याणुव्रत में स्वस्त्रीसन्तोषव्रत के रूप में ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन करता है। तत्पश्चात् छठी प्रतिमा में स्वस्त्री के साथ भी दिन में ब्रह्मचर्य से रहता है। पश्चात् वही श्रावक अपनी विशुद्धि को बढ़ा कर अपनी विवाहिता स्त्री का भी सेवन सर्वथा त्याग करके ब्रह्मचर्यप्रतिमा को धारण करता है; परन्तु ब्रह्मचर्यभाव की पूर्णता ब्रह्मचर्य महाव्रत के रूप में मुनि अवस्था में ही होती है। पश्चात् कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से नौवें गुणस्थान में तीन वेदों का अभाव जब होता है, तब जाकर वास्तविक ब्रह्मचर्यभाव की पूर्णता मानी जाती है।
- यद्यपि सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक भी बाह्य में पूर्णरूप से ही ब्रह्मचर्य का पालन करता है; तथापि वह ब्रह्मचर्य महाव्रत का नाम नहीं पाता है क्योंकि ब्रह्मचर्य महाव्रत तीन कषाय चौकड़ी के अभाव में होता है, जबकि सप्तम प्रतिमा में दो कषाय चौकड़ी का ही अभाव हुआ है।
- इस प्रतिमा में ब्रह्मचर्य का पालन मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना – इनके परस्पर गुणनरूप नौ कोटि से होता है।
- यह श्रावक, स्वप्न में भी स्त्री या पुरुष के साथ संयोग की इच्छा नहीं करता है।
- यह श्रावक, अपनी विवाहिता स्त्री के साथ, निकट एक स्थान में शयन नहीं करता है। पूर्व में भोगे हुए भोगों की कथा वार्तालाप विचार नहीं करता है।
- कामभोग का त्याग हो जाने से उसे न तो सन्तान की वृद्धि होती है और न ही वह अधिक परिग्रह का संचय ही करता है। इस प्रकार परिग्रहपरिमाणव्रत एवं भोगोपभोगपरिमाणव्रत में उन्नति करता है।
- यह श्रावक, गृहवासी या गृहत्यागी दोनों में से किसी भी प्रकार का हो सकता है। गृहवासी श्रावक को चाहिए कि वह जब तक घर में है, तब तक सादा गृहस्थ सरीखा वेष धारण करे, सादे वस्त्र पहने और उदासीन रूप में रहे, क्षुल्लक सरीखे वेष में न रहे, लेकिन भिक्षावृत्ति करने वाला गृहत्यागी ब्रह्मचारी क्षुल्लक सरीखे वेष में रह सकता है।
- इस प्रतिमाधारी को चाहिए कि वह स्त्रीवाची संज्ञा वाली सवारियों में भी न बैठे। जैसे, हथिनी, ऊँटनी, घोड़ी आदि।
- गृहत्यागी ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी को सामान्यतः दिन एक बार ही भोजन करना चाहिए। दूसरी बार सन्ध्या से पूर्व जल पीना हो तो उसका ग्रहण कर लेना चाहिए, परन्तु गृहवासी ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी को अपनी शारीरिक अवस्था के अनुसार एक बार या दो बार भोजन करने का नियम रखना चाहिए।
- शील का रक्षण करने वाले पुरुष को जैसे स्त्री का त्याग करना योग्य है; उसी प्रकार शील का रक्षण करने वाली स्त्रियों को भी पुरुष का त्याग करना योग्य है।
- निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों का नाम लेने मात्र से राक्षस आदि क्रूर प्राणी भी शान्त हो जाते हैं, देवता भी सेवकों की तरह व्यवहार करते हैं तथा उन्हें विद्या और मन्त्र भी सिद्ध हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य को वृद्धिंगत करने वाली क्रियाएँ

साधारणतया मूलाचार, दर्शनपाहुड़ की टीका, संयमप्रकाश आदि ग्रन्थों में दश प्रकार की क्रियाओं का वर्णन मिलता है, परन्तु उनमें परस्पर अन्तर भी दिखाई देता है। उक्त तीनों स्थलों के विश्लेषण करने पर निम्न क्रियाओं को स्वीकार किया जा सकता है –

1. स्त्री का संसर्ग नहीं करना चाहिए।
2. स्वादिष्ट आहार तथा बहुत भोजन नहीं करना चाहिए।
3. सुगन्धित पदार्थों से अथवा तैलादि से शरीर का संस्कार नहीं करना चाहिए।
4. कोमल शय्या या आसन आदि पर न सोना और न बैठना चाहिए।
5. अलंकार आदि से शरीर का शृंगार नहीं करना चाहिए और न ही रागादिभाव से उसकी अनुमोदना करना चाहिए।
6. गीत, नृत्य आदि नहीं देखना या नहीं सुनना चाहिए।
7. अधिक धन का संग्रह नहीं करना चाहिए।
8. राजा की सेवा नहीं करना चाहिए अथवा राजनीति से प्रेरित होकर किसी पद आदि को स्वीकार नहीं करना चाहिए।
9. कुशील व्यक्तियों की संगति नहीं करना चाहिए।
10. रात्रि में इधर-उधर नहीं घूमना चाहिए।

ब्रह्मचर्य को वृद्धिंगत करने वाली अन्य क्रियाएँ

- सुगन्धित पुष्पमाला आदि का सेवन नहीं करना चाहिए।
- कामोद्दीपन करने वाले पुष्ट आहार का त्याग करना चाहिए।
- ताम्बूल आदि राग बढ़ाने वाली वस्तुओं का दूर से ही त्याग करना चाहिए।
- राग उत्पन्न करने वाले वस्त्र आभरण आदि नहीं पहनना चाहिए।
- सादे तरीके से स्नान करना चाहिए। शरीर पर साबुन या उबटन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।
- साधारण वस्त्र पहनना चाहिए।
- कपड़े के जूते ही पहनना चाहिए।
- रागोत्पादक विकथाओं को नहीं करना चाहिए। शृंगार कथा, हास्य कथारूप काव्य, नाटक आदि का पढ़ना सुनना आदि त्याग देना चाहिए।
- गीत वादित्र नृत्य आदि का सुनना या देखना छोड़ देना चाहिए।
- फूलों की माला, सुगन्ध, विलेपन, इत्र, फुलेल आदि का त्याग करना चाहिए।
- भण्ड वचन, असत्य वचन अथवा अश्लील वचन कभी नहीं बोलना चाहिए।
- हँसी मजाक के रूप में चर्चा वार्ता नहीं करना चाहिए।
- अपने बिस्तर पर अन्य किसी को नहीं सुलाना चाहिए।
- अपने बिस्तर पर कोमल वस्त्र का चादर नहीं बिछाना चाहिए।
- रूप आदि इन्द्रिय विषयों में अति प्रीति का व्यवहार नहीं करना चाहिए।
- अपने पहिनने के वस्त्रों को थोड़े से प्रासुक जल से स्वयं धोना चाहिए, दूसरों से नहीं धुलाना चाहिए।
- धार्मिक उत्सवों को छोड़ कर बाजार या मेला आदि में नहीं घूमना चाहिए।
- नेत्रों में शौक से अंजन आदि नहीं लगाना चाहिए।

ब्रह्मचारियों के भेद

चारित्रसार नामक ग्रन्थ में ब्रह्मचारियों के पाँच भेदों की चर्चा की गई है –

1. **उपनय ब्रह्मचारी –** ब्रह्मचर्य सहित विद्याभ्यासी उपनय ब्रह्मचारी कहलाता है।
2. **अदीक्षा ब्रह्मचारी –** जो ब्रह्मचारी का वेष धारण किये बिना ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करता है, वह अवलम्ब ब्रह्मचारी कहलाता है।

3. **अवलम्ब ब्रह्मचारी** – जो क्षुल्लक वेष धारण करके ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करता है, वह अवलम्ब ब्रह्मचारी कहलाता है।
4. **गूढ़ ब्रह्मचारी** – जो मुनिवेश धारण करके ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करता है, वह गूढ़ ब्रह्मचारी कहलाता है।
5. **नैष्ठिक ब्रह्मचारी** – जो सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करता है, वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है।

उक्त पाँच भेदों में प्रारम्भ के चार ब्रह्मचारी बाल्यावस्था में विद्याभ्यास मात्र के लिए व्रती या ब्रह्मचारी बने हैं। विद्याभ्यास समाप्त हो जाने के बाद वे विवाह आदि भी कर सकते हैं, परन्तु पाँचवाँ नैष्ठिक ब्रह्मचारी आजीवन ब्रह्मचर्य से रहता है। यहाँ सप्तम प्रतिमा के प्रसंग में नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की चर्चा ही की गई है।

8. आरम्भत्यागप्रतिमा

पूर्व की सात प्रतिमाओं का पालन करने वाला श्रावक जब आजीविका के साधन कृषि व्यापार एवं नौकरी आदि पापारम्भ का त्याग कर देता है; वह आरम्भत्यागप्रतिमा का धारक कहलाता है। जहाँ ब्रह्मचर्यप्रतिमा में कौटुम्बिक जीवन को मर्यादित कर दिया जाता है तो इस प्रतिमा में व्यापारादि को भी सुयोग्य सन्तान आदि को सौंप कर उससे विरत हुआ जाता है। आरम्भ आदि के त्याग का हेतु उनमें होने वाला प्राणघात है।

पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में लिखा है –

जो विवेक विधि आदरै, करै न पापारम्भ।
सो अष्टम प्रतिमा धनी, कुगति विजय रणथम्भ।।68।।

उक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि आरम्भत्यागप्रतिमाधारी श्रावक अभिषेक दान पूजन आदि धर्मकार्यों के लिए आरम्भ कर सकता है।

अपने कपड़ों को धोना, जल आदि भरना आदि कार्य स्वयं अपने हाथ से कर सकता है अथवा दूसरे साधर्मियों से भी करा सकता है।

यद्यपि यह श्रावक, स्वयं अपने लिए भोजन बना कर खा सकता है और पात्रदान आदि भी कर सकता है; तथापि गृहत्यागी श्रावक तो अपने लिए भी भोजनादि नहीं बनावे। गृहवासी भी अपने लिए यथासम्भव अपने लिए न स्वयं भोजन बनावे और न ही अपनी इच्छानुसार भोजन बनाने को कहे। उसे अपने घर पर या दूसरे घर पर, निमन्त्रण पर या बिना निमन्त्रण के ही भोजन कर लेना चाहिए।

प्रश्न – गृहविरत आरम्भत्यागी को कदाचित् कोई भोजन के लिए न बुलावे तो स्वयं बना कर खावे या नहीं ?

समाधान – संयमप्रकाश में ऐसे ही प्रश्न का उत्तर देते हुए समझाया है – ''आरम्भत्यागी को पहले अपना द्रव्यक्षेत्रकालभाव देख लेना चाहिए कि इस रूप मेरी कषाय शान्त हुई या नहीं। प्रथम तो धर्मात्माओं को कभी ऐसा अवसर आता ही नहीं कि उसे धर्म के साधन न मिलें या धर्मसाधन करने वाले न हों; बल्कि वह ऐसे क्षेत्र में जावे ही नहीं, जहाँ संयम का घात होता हो; कभी अकेला भी न रहे, हमेशा अपने समान त्यागी व्रतियों के साथ ही रहे, जिससे सर्वदा धर्मसाधन बनता रहे। अकेले भ्रमण करने से व्रती भी स्वच्छन्द प्रमादी और दूषणयुक्त हो जाता है; अतः इस स्वच्छन्दता से सदा बचे। प्रतिमा धारण करने के पहले उस व्रत का स्वरूप अच्छी तरह समझ लेवे तथा द्रव्यक्षेत्रकालभाव देखे, तब यदि उचित होवे और पल सके – ऐसा जाने तो ही व्रतरूप प्रतिज्ञा ग्रहण करे, अन्यथा नहीं। केवल देखादेखी से तो व्रत भ्रष्ट और पापी होना पड़ता है, जिससे बड़ा अकल्याण होता है क्योंकि स्वरूप समझे बिना पालन कैसा?

आरम्भ शब्द का तात्पर्य

1. प्राणियों को दुःख पहुँचाने वाली प्रवृत्ति करना, **आरम्भ** है।[192]
2. हिंसा करना है स्वभाव जिनका – ऐसे कार्यों को **आरम्भ** कहते हैं।[193]
3. प्राणियों के प्राणों का वियोग करना, **आरम्भ** कहलाता है।[194]

आरम्भत्यागप्रतिमा में आरम्भत्याग का स्तर

आरम्भत्यागप्रतिमा में आरम्भ का त्याग कृत से होता है या कारित से या अनुमोदना से अथवा तीनों से – इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों के अलग अलग मन्तव्य प्राप्त होते हैं –

1. कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस प्रतिमाधारी को आरम्भ का त्याग कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीनों से माना है।
2. श्रावकधर्मसंग्रह में इस प्रतिमाधारी को आरम्भ का त्याग मात्र कृतकारित से माना है, अनुमोदना से नहीं क्योंकि अनुमोदना का त्याग दसवीं प्रतिमा में होता है।
3. श्रावकधर्मप्रदीप में इस प्रतिमाधारी को आरम्भ का त्याग मात्र कृत से माना है क्योंकि परिग्रहत्याग एवं अनुमतित्याग नहीं होने से इस प्रतिमाधारी को कारित और अनुमोदना सम्बन्धी दोष आते हैं।

उक्त तीनों बातों का अपना अपना महत्त्व है। इन तीनों विचारों में स्थूल दृष्टि से अन्तर भासित होने पर भी सूक्ष्म दृष्टि से उनमें सामंजस्य भी देखा जा सकता है क्योंकि जिस स्तर का आरम्भत्याग इस प्रतिमा में है, उस स्तर का त्याग तो कृत-कारित-अनुमोदना तीनों से ही होता है। लेकिन यदि दूसरी दृष्टि से विचार करें तो सर्वथा आरम्भ का त्याग, इस प्रतिमा में सम्भव ही नहीं है क्योंकि अभी परिग्रह का त्याग नहीं हुआ है, अनुमति का त्याग भी नहीं हुआ है। अतएव दोनों दृष्टियों को ध्यान में रख कर ऐसा कहा जा सकता है कि परिग्रहत्याग होने पर कारित का त्याग और अनुमतित्याग होने पर अनुमोदना का त्याग होता है। लेकिन तीसरी दृष्टि से यदि हम कहें कि परिग्रहत्याग से कारित के त्याग का क्या लेना-देना ? तो हम कह सकते हैं कि आरम्भत्याग के समय ही कृत-कारित का त्याग हो जाता है परन्तु अनुमोदना का त्याग तो अनुमतित्याग के समय ही होता है – ऐसा मानने में भी कोई दोष नहीं है।

आरम्भत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ

- स्थूल दृष्टि से आरम्भ का अर्थ दुकानदारी आदि आजीविका के लिए आरम्भी एवं उद्योगी हिंसा करना है, परन्तु यह अष्टमप्रतिमाधारी श्रावक आरम्भी और उद्योगी हिंसा से अतिभयभीत होकर आरम्भकर्म को विकलता उत्पन्न करने वाला जान कर आरम्भकर्म का त्याग करता है।
- यह श्रावक, सर्व प्रकार के व्यापार धन्धे नौकरी तथा गृहसम्बन्धी आरम्भ भी नहीं करता।
- कोई कहे कि शेयर बाजार, सराफा आदि दुकानों में तो आरम्भी हिंसा अधिक नहीं होती तो उसे कहते हैं कि वहाँ भी भावों के उतार चढ़ाव आदि के निमित्त से आत्मपरिणामों की विशेष हिंसा होती है, अतएव भले ही द्रव्यहिंसा की अधिकता न हो, परन्तु भावहिंसा की तीव्रता होने से उनका भी निषेध किया गया है। जिनागम में द्रव्यहिंसा की तुलना में भावहिंसा को अधिक महत्त्व दिया गया है क्योंकि फल तो भावों का ही लगता है।
- इस प्रतिमा के योग्य भावों की विशुद्धि करने का प्रारम्भ दूसरी व्रतप्रतिमा में दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोगपरिमाणव्रत, परिग्रहपरिमाणव्रत आदि के माध्यम से हो चुका है, उन्हीं भावों की विशुद्धि की ओर ले जाने वाली यह प्रतिमा है।
- इस प्रतिमाधारी के भी अभी यथापरिमाण परिग्रह रखना, व्यापारादि कार्यों में अनुमति प्रदान करना, उद्दिष्ट भोजन आदि करना, इत्यादि दोषों का त्याग नहीं हुआ है, अतः तत्सम्बन्धी दोष यहाँ भी लगते ही हैं तथा उनकी अविरतिजन्य पापबन्ध भी लगता ही है।
- इस प्रतिमा में यतनाचारपूर्वक पूजनादि षट् आवश्यक सम्बन्धी अल्पारम्भ का त्याग नहीं है क्योंकि इन कार्यों में 'सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ' की उक्ति चरितार्थ होती है अर्थात् इन धर्मकार्यों को करने से थोड़ा आरम्भ होता है और बहुत पुण्य की राशि का संचय होता है। यहाँ भी ध्यान रखने वाली बात यह है कि यह श्रावक धर्मकार्यों में भी अधिक आरम्भ नहीं करे। जैसे, धूप खेना, दीपक जलाना आदि।
- इस प्रतिमा में भोजनादि की व्यवस्था बहुत कुछ अन्य श्रावकों पर आश्रित हो जाती है।
- इस प्रतिमा के धारण करने से पूर्व जितनी भी धन-सम्पत्ति अपने पास होवे, उसका अपनी इच्छानुसार योग्य विभाग कर देवे। जितना अपने पास रखना हो, उसे अपने पास रख कर बाकी सम्पत्ति को परिवारीजनों, कुटुम्बीजनों, साधर्मी, हितचिन्तकों आदि में विभाग करके बाँट देवे, जिससे उन्हें सन्तोष रहे। लेकिन आरम्भ करके नया धन नहीं कमावे।

- यह प्रतिमाधारी अपने पास के धन का उपयोग दानादि अथवा तीर्थयात्रा आदि अथवा दीन दुःखी भूखों के उपकार अथवा अपने व्यक्तिगत औषधि भोजन वस्त्रादि के उपयोग में नियमानुसार खर्च कर सकता है; परन्तु अन्य प्रीतिभोज आदि व्यावहारिक कार्यों में खर्च न करे।
- जो मर्यादारूप धन अपने पास रख लिया था; उसे कोई चोर, हिस्सेदार, दुष्ट, राजादि छीन ले तो क्लेश नहीं करता है; पुनः कमाने का प्रयत्न नहीं करता है। त्याग करके ऊपर ही चढ़ता है। वह विचारता है कि 'अहो! मैंने रागी मोही होकर इतना परिग्रह रख लिया था, जो चला गया। कर्मोदय ने मेरा बड़ा उपकार किया। ममता, आरम्भ, रक्षा, भय आदि समस्त क्लेश छूट गया, इतना बड़ा दुर्ध्यान था, वह सहज ही छूट गया' – ऐसे भाव करके वह अपने परिणामों को सम्हालता है।
- संयमप्रकाश के अनुसार – इस प्रतिमाधारी को सामान्यतः सवारी मात्र का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि सवारी चेतन हो या अचेतन, उनमें जीवहिंसा हुए बिना नहीं रहती; इसीलिए आरम्भत्यागप्रतिमाधारी को सवारी का त्याग अवश्य कर देना चाहिए। सवारी में बैठने से स्वाधीनता एवं विरक्ति दोनों का नाश हो जाता है।
- जबकि श्रावकधर्मप्रदीप आदि अन्य श्रावकाचारों के अनुसार – इस प्रतिमा में सवारी के सर्वथा त्याग की बात तो नहीं है, परन्तु वहाँ भी इसके विवेकपूर्वक कम उपयोग करने पर ही जोर दिया गया है।
- यह प्रतिमाधारी वस्त्रों में भी अल्प सादे व स्वच्छ वस्त्रों का ही उपयोग करता है या तो स्वयं प्रासुक जल से अपने वस्त्र निचोड़ लेता है। अथवा दूसरा व्यक्ति भी उतने ही यतनाचारपूर्वक उनके वस्त्रों को धोना चाहे तो धो सकता है। इसी प्रकार स्वयं पूजन प्रक्षाल आदि के लिए अल्प जल से यत्नपूर्वक स्नान करे।
- यह प्रतिमाधारी भी या तो गृहत्यागी हो जाता है अथवा यदि घर में रहता भी है तो परघर की तरह रहता है। वहाँ भी अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु नहीं रहता, बल्कि परिग्रह और कुटुम्बीजनों के प्रति रागांश के कारण रहता है। अतः गृहवासी रहते हुए उसका आरम्भत्याग नव कोटि से होने की तुलना में मात्र छह कोटि से ही पल पाता है।
- यह प्रतिमाधारी, गृहवासी होते हुए अपने घर में भी एकान्त स्थल चुन कर, स्वाध्याय और सामायिक मे अपना समय व्यतीत करता है। अथवा उक्त उद्देश्यों को ही सामने रख कर गृहत्यागी होकर चैत्यालय या धर्मशाला आदि निरुपद्रव स्थान का चयन करता है।
- यह प्रतिमाधारी शरीर और भोगेच्छा से ममत्व का त्याग करता है, जो कि मुनिपद के लिए अत्यावश्यक है क्योंकि सप्तम प्रतिमा से ही मुनिपद के योग्य क्रियाओं का एवं व्रतों का अभ्यास प्रारम्भ हो गया है और क्रमशः वृद्धि करता हुआ अष्टम प्रतिमा को इस स्वरूप में धारण किया है।

9. परिग्रहत्यागप्रतिमा

''जो दश प्रकार के बाह्य परिग्रह में 'ये हमारे कुछ भी नहीं हैं' – ऐसे ममता को छोड़ कर, समतापूर्वक निर्ममत्व में लीन रहता हुआ सन्तोष वृत्ति धारण करके दीनता रहित होता है; समस्त परद्रव्यों एवं उनकी पर्यायों में आत्मबुद्धिरहित होकर, अपने अविनाशी ज्ञायकभाव में स्थिर होता है तथा जो कर्मोदय से प्राप्त बुद्धिपूर्वक भोजन, स्थान, वस्त्रादि परिचित स्थूल परिग्रह से विरत होता है; वह **नवम परिग्रहत्याग-प्रतिमाधारी श्रावक** है।''[195]

अथवा ''जो वस्त्र मात्र परिग्रह को रख कर शेष सब परिग्रह को छोड़ देता है और स्वीकृत परिग्रह में भी मूर्च्छा नहीं करता, वह **नौवीं प्रतिमाधारी श्रावक** कहलाता है।''[196]

इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक सोना, चाँदी, आदि समस्त द्रव्य मात्र का त्याग कर देता है तथा केवल अपने शरीर के लिए वस्त्र घर आदि आवश्यक पदार्थों को ही स्वीकार करता है अथवा धर्मसाधन के लिए जिन जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है, उनका ग्रहण करता है, शेष सबका त्याग कर देता है।

ऐसा ही कथन नाटक समयसार में भी आता है –

जो दसधा परिग्रह कौ त्यागी, सुख संतोष सहित वैरागी।
समरस संचित किंचित ग्राही, सो श्रावक नौ प्रतिमा वाही।।69।।

कुरलकाव्य में लिखा है कि ''मनुष्य, जिस वस्तु को छोड़ देता है तो उससे होने वाले दुःख से वह अपने को मुक्त कर लेता है।''[197]

परिग्रहत्याग की आवश्यकता एवं प्रेरणा

जिनमत में परिग्रह को सबसे बड़ा पाप माना गया है; अतः उसकी अत्यन्त कठोर शब्दों में निन्दा भी की गई है। यद्यपि मुख्यता से यह बात द्रव्यलिंगी मुनि के प्रसंग में कही गई है, तथापि यहाँ परिग्रहत्याग का प्रकरण होने से कुछ शास्त्रों के उद्धरण दिये जाते हैं –

1. परिग्रह से काम, काम से क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप, पाप से नरकगति होती है; उस नरकगति में वचनों से अगोचर महादुःख होता है; इस प्रकार दुःख का मूल परिग्रह है।[198]
2. सब दोष परिग्रहमूलक ही होते हैं। 'यह मेरा है', इस प्रकार का संकल्प होने पर संरक्षण आदि रूप भाव होते हैं। फिर उसके लिए हिंसा अवश्यंभावी है, फिर उसी के लिए असत्य बोलता है, फिर चोरी करता है, मैथुनकर्म में रत होता है; अरे! नरकादि में जितने दुःख हैं, वे सब इससे उत्पन्न होते हैं।[199]
3. हिंसा के ही पर्यायरूप होने के कारण अन्तरंग परिग्रह में हिंसा स्वयंसिद्ध है तथा बहिरंग परिग्रहों में ही ममत्व परिणाम होने के कारण हिंसा ही है।[200]
4. अणुमात्र परिग्रह के रखने से भी मोहकर्म की ग्रन्थी/गाँठ दृढ़ होती है और इससे तृष्णा की ऐसी वृद्धि हो जाती है कि उसके शान्ति के लिए समस्त लोक की सम्पत्ति भी कम पड़ती है।[201]
5. हे भाई! तू खराब प्रकार से भोगने वाला है; जो (परिग्रह) तेरा नहीं है, उसे तू भोगता है – यह महा खेद की बात है।[202]
6. चक्रवर्ती का सुख रागभाव को बढ़ाने वाला तथा तृष्णा को बढ़ाने वाला है; इसलिए परिग्रह का त्याग करने पर रागद्वेष रहित मुनि को जो सुख होता है, उसके अनन्तवें भाग की बराबरी भी चक्रवर्ती का सुख नहीं कर सकता है।[203]
7. जिस किसी ने जिनवर का वेश धारण करके भस्म से शिर के केश लोंच लिये हैं, लेकिन सब परिग्रह नहीं छोड़े, उसने अपनी आत्मा को ठग लिया।[204]
8. परम मुनि, उत्कृष्ट आत्मद्रव्य को जानते हुए भी परद्रव्य को छोड़ देते हैं क्योंकि परद्रव्य के संसर्ग से, वे ध्यान करने योग्य जो परमपद, उससे चलायमान हो जाते हैं।[205]
9. विद्वानों को चाहिए कि परपदार्थों के त्याग की इच्छा से आत्मा के स्वरूप की भावना करें क्योंकि जो पुरुष, आत्मा के स्वरूप की परवाह नहीं करते, वे परद्रव्य का त्याग नहीं कर सकते।[206]
10. जैसे, तालाब में पत्थर डालने पर उसके तल भाग में दबा हुआ कीचड़, क्षुब्ध होकर ऊपर आता है; वैसे ही परिग्रह, जीव की प्रशान्त कषायों को भी प्रगट करता है।[207]
11. उपधि अर्थात् परिग्रह से निश्चय ही बन्ध होता है; इसलिए श्रमणों ने सर्व परिग्रह का त्याग किया है।[208]
12. विद्यमान या अविद्यमान बहिरंग परिग्रह की अभिलाषा रहने पर निर्मल शुद्धात्मानुभूतिरूप चित्त की शुद्धि नहीं की जा सकती है।[209]
13. कदाचित् सूर्य अपना स्थान छोड़ दे और सुमेरु पर्वत स्थिरता छोड़ दे – यह तो सम्भव है, परन्तु परिग्रह सहित मुनि कदापि जितेन्द्रिय नहीं हो सकता है।[210]
14. जो पुरुष, बाह्य परिग्रह को छोड़ने में भी असमर्थ है, वह नपुंसक आगे की कर्मों की सेना को कैसे हरेगा?[211]
15. निषिद्ध उपधि के सद्भाव में उस भिक्षु के मूर्च्छा, आरम्भ या असंयम न हो – यह कैसे हो सकता है? तथा जो परद्रव्य मे रत हो, वह आत्मा को कैसे साध सकता है?[212]

परिग्रहत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ

- परिग्रहत्यागप्रतिमा की भावना करने वाला श्रावक, अपने द्वारा ग्रहण किये गये परिग्रह को मुर्दे के शृंगार की तरह व्यर्थ समझता है; अतः उसके त्याग की ओर प्रवृत्त होता है। वह यह विचार करता है कि मैं तो ब्रह्मचारी हूँ, मुझे दो चार वस्त्र तथा शौचादि और भोजनादि के लिए दो चार बर्तनों के सिवाय अन्य परिग्रह का कोई उपयोग नहीं है, अतः ऐसा विचार करके वह अपने पुत्रादि, कुटुम्बियों तथा

साधर्मियों को अपने समक्ष बुला कर, उन्हें विधिपूर्वक गृह-भार सौंप देते हैं और स्वयं उस परिग्रह से मुक्त हो जाता है। यह परिग्रहत्यागप्रतिमा को धारण करने की विधि है।

- यह प्रतिमाधारी व्यापार आदि के लेनदेन, गृहकार्य, पुत्रादि के विवाह आदि तथा अन्य सांसारिक कार्यों मे भाग नहीं लेता और न ही उसके लिए किसी प्रकार की कोई प्रेरणा ही देता है।
- घर गृहस्थी के कार्यों में यदि कोई परिवारीजन उनकी सम्मति माँगता है तो उन्हें अपना अभिप्राय, प्रयोजन, उद्देश्य आदि बता देता है क्योंकि इस प्रतिमाधारी ने अभी अनुमतित्याग नामक दसवीं प्रतिमा को धारण नहीं किया है।
- रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इस प्रतिमा का नाम परिचितपरिग्रहत्यागप्रतिमा कहा है; उसका तात्पर्य यह है कि इस प्रतिमा में यद्यपि उस श्रावक ने अपने लिए आवश्यक कुछ वस्त्रादि एवं कुछ बर्तनादि का त्याग नहीं किया है, तथापि उनसे भी ममत्वभाव का त्याग तो किया ही है। उसने अन्य समस्त परिचित परिग्रहों का, जिनमें खेत, जमीन, मकान, बाग, कुआँ, बावड़ी, सोना, चाँदी, माणिक, मोती, रुपया पैसा, चेक, हुण्डी, कम्पनियों के शेयर, कीमती वस्त्र आदि अन्य अनेक वस्तुएँ, अस्त्र-शस्त्र, गाड़ी, मोटर, स्कूटर, सायकिल, ताँगा, घोड़ा, गाय, भैंस, बकरी, पक्षी, नौकर, धातुओं के बर्तन, आभूषण आदि वस्तुओं का सर्वथा त्याग करता है।
- इस प्रतिमा से इस बात की भी शिक्षा मिलती है कि जो श्रावक, मुनिपद की भावना के साथ आचरण कर रहा है, वह यद्यपि द्रव्यलिंग-भावलिंगरूप मुनिपद का आचरण तो नहीं कर रहा है, फिर भी वह मात्र बाह्य व्रतादि ही ग्रहण नहीं करता, बल्कि अन्तरंग ममत्व परिणामों का भी यथाशक्ति त्याग करता है अर्थात् दर्शनमोहजनित मिथ्यात्व का तो सर्वथा त्याग करता ही है, चारित्रमोहजनित अविरति, प्रमाद और कषायभावों का यथाशक्ति त्याग करता है।
- परिग्रहत्यागप्रतिमाधारी, केवल शीतउष्ण की वेदना दूर करने के लिए तथा शरीर आच्छादन करने के लिए सादे वस्त्र रखे, जिनमें सामान्यतः लंगोटी, धोती तथा ओढ़ने के लिए एक दो वस्त्र होते हैं।
- बिछाने के लिए बिस्तर न रखे, चटाई आदि का ही प्रयोग करे।
- अल्प मूल्य का ताँबे या पीतल आदि का एक जल-पात्र तथा एक या दो भोजन-पात्र रखे।
- भोजन करने हेतु अपने या अन्य के घर में निमन्त्रण से जावे। ध्यान रहे परिग्रहत्यागी, किसी को भोजन बनाने के लिए प्रेरित नहीं करे।
- जीवों की रक्षा के लिए एक नरम पूँजणी या एक छोटा सफेद रुमाल रखे।
- अपने स्त्री-पुत्रादि, औषधि-आहार-पानादि देवें, वस्त्रादि धोवें तथा शारीरिक सेवा सुश्रुषा आदि करें तो ठीक; लेकिन यदि वे न करें तो स्वयं उन पर दबाव न डालें और न उन पर अप्रसन्न हों। ध्यान रहे कि अव्रतियों से सेवा आदि न करावें।
- यदि इस प्रतिमा का धारक गृह-त्यागी हो तो कुटुम्ब-सम्बन्धी सुआ सूतक आदि न माने; परन्तु यदि गृहवासी हो तो गृहस्थी में रहने के कारण सुआ सूतक आदि मानना चाहिए।
- रागादि युक्त मकान आदि में न रहे। नौकर चाकर आदि का प्रयोग न करे, स्वतन्त्र होकर स्वयं अपना कार्य करे।
- भोजन-पात्र को भोजनोपरान्त तुरन्त माँज कर अपने साथ ले आवें। उन्हें गृहस्थ के घर पर न छोड़ें, जिससे देरी से मँजने में होने वाले असंयम की सम्भावना न रहे।
- यदि कहीं धार्मिक कार्यक्रम के निमित्त सामूहिक रूप से भी मर्यादा का ध्यान रखते हुए शुद्धतापूर्वक भोजन बनता है तो यह श्रावक वहाँ भी निमन्त्रण पर भोजन ग्रहण कर सकता है।
- इस प्रतिमा से ही बिना दिया हुआ जल या मिट्टी भी ग्रहण न करें।
- परिग्रहत्यागी को द्रव्यपूजन करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि द्रव्यपूजन में दान की मुख्यता होती है, परन्तु इस प्रतिमा से परिग्रह का सर्वथा ही त्याग हो जाता है, अतः वह बिना परिग्रह के द्रव्यपूजन कैसे करेगा ? केवल भावपूजन करके ही सन्तोष धारण करे।
- यह निष्परिग्रही श्रावक, अल्प प्रासुक जल से शुद्धि मात्र के लिए स्नान करता है।
- यह श्रावक, नित्य देववन्दना, स्तुति, सामायिक, जप, तप, स्वाध्याय आदि के द्वारा ही अपने जीवन के अमूल्य क्षणों का उपयोग करता है।

- इस प्रतिमा में श्रावक समस्त परिग्रह का त्याग करके अपने आप को धन्य भाग्य अनुभव करता है तथा बाह्य परिग्रह का त्याग करके मन में बहुत आनन्दित होता है क्योंकि उसने अन्तरंग मूर्च्छा घटाने के लिए ही बाह्य परिग्रह का त्याग किया है, दिखावे के लिए या मान प्रतिष्ठा के लिए नहीं; अतः मूर्च्छा घटने से उसे निराकुलताजनित आनन्द ही होता है। यदि किसी के पास बाह्य परिग्रह तो कुछ भी न हो, परन्तु अन्तरंग लालसा विशेष हो तो वह पूरा परिग्रहधारी है।
- कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है –

जो परिवज्जइ गंथं, अब्भंतर बाहिरं च साणंदो।
पावं ति मण्णमाणो, णिग्गंथो सो हवे णाणी।।386।।[213]

अर्थात् जो ज्ञानी श्रावक, अभ्यन्तर और बाह्य, दोनों प्रकार के परिग्रह को पाप का कारण मानता हुआ उन्हें आनन्द सहित छोड़ता है, वह परिग्रह का त्यागी श्रावक होता है।

परिग्रहत्याग में अन्तरंग परिग्रह के त्याग की मुख्यता

जैनदर्शन में अन्तरंग परिग्रहत्याग की मुख्यता का कारण यह है कि वह मोक्षमार्ग का साक्षात् कारण है, परन्तु जब जब अन्तरंग परिग्रह का त्याग होता है, तब तब वह बाह्य परिग्रह के त्यागपूर्वक ही होता है; अतः आगम में अन्तरंग परिग्रह के साथ बाह्य परिग्रह के त्याग को भी यथायोग्य स्थान दिया गया है। इस सम्बन्ध में निम्न आगम वचन ध्यान देने योग्य हैं –

- जैसे, ऊपर का छिलका निकाले बिना चावल का अन्तरंग मल नष्ट नहीं होता; वैसे, बाह्य परिग्रहरूप मल निकले बिना अन्तरंग मोहरूपी मल नष्ट नहीं हो सकता।[214]
- बाह्य परिग्रह का त्याग, अन्तरंग भावों की विशुद्धि के लिए किया जाता है।[215]
- अध्यवसान का प्रतिषेध करने के लिए ही बाह्य वस्तु का निषेध किया गया है।[216]
- समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा उसके निमित्त से होने वाले भावों का प्रत्याख्यान करता है।[217]
- यद्यपि जीवों को जो अध्यवसान होता है, वह वस्तु का अवलम्बन करके ही होता है; तथापि वस्तु से बन्ध नहीं होता, अध्यवसान से ही बन्ध होता है।[218]
- अन्तरंग शुद्धि से बाह्य परिग्रह का त्याग नियम से होता है।[219]
- राग लोभ और मोह – जब मन में उत्पन्न होते हैं, तब इस आत्मा में बाह्य परिग्रह ग्रहण करने की बुद्धि होती है।[220]
- जो मनुष्य, केवल बाह्य द्रव्यरूप से विषयों से निवृत्त या विरक्त है, उसके पापों की निवृत्ति नहीं, किन्तु जो भावरूप से निवृत्त है, उन्हीं के वास्तविकरूप से कर्मों का संवर होता है।[221]
- अन्तरंग मूर्च्छारूप रागादि परिणामों के अनुसार बाह्य परिग्रह होता है।[222]

10. अनुमतित्यागप्रतिमा

जो आरम्भ-कार्यों, परिग्रह-कार्यों, लौकिक-कार्यों आदि; जैसे, विवाह आदि करना, घर आदि बनवाना, व्यापार नौकरी आदि कार्यों के सम्बन्ध में कुटुम्ब के लोग पूछें तो भी अनुमति नहीं देता है तथा तुमने अच्छा किया या बुरा किया – इस प्रकार मन-वचन-काय से प्रगट नहीं करता तथा जो रागादि रहित समबुद्धि वाला है, वह श्रावक 'अनुमतित्यागप्रतिमाधारी' कहलाता है।

पण्डित बनारसीदासजी, नाटक समयसार में लिखते हैं –

पर कौं पापारम्भ कौ, जो न देइ उपदेश।
सो दसमी प्रतिमा सहित, श्रावक विगत कलेश।।70।।

अनुमति शब्द का तात्पर्य

स्वयं तो कोई कार्य नहीं करना, परन्तु अन्य को करने की सलाह देना, अनुमति है। अथवा अन्य के द्वारा स्वयं कोई कार्य करने पर प्रसन्न होना, अनुमति है।[223]

मूलाचार के अनुसार अनुमति-दोष के भेद

1. प्रतिसेवा अनुमति दोष – दाता, जो पात्र के उद्देश्य से आहार, उपकरण आदि बनाता है और पात्र, यदि उस आहारादि को प्रासुक समझ कर, उसे ग्रहण करता है तो उस पात्र को प्रतिसेवा नामक अनुमति दोष लगता है।

2. प्रतिश्रवण अनुमति दोष – यदि शुद्ध प्रासुक आहार, उपकरण आदि वस्तु को पात्र के द्वारा ग्रहण करने के पहले ही दाता उसे बता देता है कि मैंने आपके निमित्त यह प्रासुक आहार, उपकरण आदि बनाए हैं, इनको आप ग्रहण कीजिए – ऐसा सुन कर भी यदि पात्र उन्हें ग्रहण कर लेता है तथा यदि दाता, पात्र को बिना बताए आहार या उपकरण आदि उन्हें प्रदान कर देता है, परन्तु पश्चात् वह उन्हें बताता है कि यह आहारादि मैंने आपके लिए बनाए थे, आपने इन्हें ग्रहण करके मुझ पर बड़ा उपकार किया है – ऐसा सुन कर भी यदि मुनि यदि मौन से या सन्तोषपूर्वक रह जाते हैं तो उनके उक्त दोनों स्थितियों में प्रतिश्रवण नामक अनुमति दोष लगता है।

3. संवास अनुमति दोष – सावद्य से संक्लेशित ममत्वभाव को संवास कहते हैं। जैसे, जो मुनि, गृहस्थों के साथ संवास करता है और आहार, उपकरण आदि के प्रति संक्लिष्ट होता हुआ 'यह मेरा है' – ऐसा ममत्वभाव रखता है, उसके संवास नामक अनुमति दोष लगता है।

मूलाचार में कहा है कि जो साधु, उक्त अनुमति दोषों को करते हुए यथोक्त चारित्र का आचरण नहीं करते हैं और अपने बलवीर्य को छिपाते हैं, उन्होंने वीर्याचार का अनुष्ठान नहीं किया है – ऐसा समझना चाहिए।

अनुमतित्यागप्रतिमा की विशेषताएँ

- नैष्ठिक श्रावक के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भेदों में से यह अनुमतित्यागप्रतिमाधारी एवं उद्दिष्टत्यागप्रतिमाधारी श्रावक, उत्कृष्ट नैष्ठिक श्रावक कहलाते हैं।
- उत्कृष्ट श्रावक को साधक श्रावक भी कहा जाता है; जिनमें उत्तम साधक – ऐलक, मध्यम साधक – क्षुल्लक एवं क्षुल्लिका तथा जघन्य साधक – दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक एवं श्राविकाएँ कहलाती हैं।
- परिग्रहत्याग एवं आरम्भत्याग प्रतिमाओं में निषिद्ध कार्यों एवं इस लोक सम्बन्धी विवाह आदि कार्यों का यह श्रावक, अनुमोदना भी नहीं करता।
- यह श्रावक, उदासीनभाव से घर में अथवा किसी आश्रम, धर्मशाला आदि में अथवा चैत्यालय आदि में भी रह सकता है।
- यह श्रावक, पहले से भोजन के लिए आमन्त्रण स्वीकार नहीं करता, लेकिन हाँ, भोजन के यदि समय कोई सज्जन बुलाने आवे तो उसके साथ भोजन करने जाता है, अन्यथा ऐसे ही भवितव्य का विचार करके सन्तोषवृत्ति से रहता है। वह भोजन हेतु अपने या अन्य के घर में जा सकता है।
- यह श्रावक, अपने पास प्रतिलेखन कार्य हेतु नरम वस्त्र आदि की एक प्रतिलेखनी रखता है क्योंकि उसे अभी इस अवस्था में मयूरपीछी रखने की आज्ञा, जिनागम में नहीं है।
- यह श्रावक, अपने साथ 2–3 वस्त्र, भोजन एवं शौच हेतु 1–2 बर्तन तथा शयन हेतु चटाई आदि के अतिरिक्त अन्य कोई परिग्रह नहीं रखता।
- यह श्रावक, पाप के मूल गृहस्थी के कार्यों में 'जो भवितव्य होगा, वही होगा' – ऐसे विचारसहित भावना रखता हुआ, उन कार्यों की अनुमोदना नहीं करता – ऐसा कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है।[224]
- इस श्रावक को यद्यपि 'भिक्षु' संज्ञा नहीं है, तथापि इसकी रुचि, भिक्षु के समान ही है क्योंकि इसके आगे का पद, भिक्षु का ही है।
- यह श्रावक, गृह, कुटुम्ब, धनादि से विरक्त होकर, निरन्तर देववन्दना, स्वाध्याय, सामायिक और जप आदि कार्यों में अपना समय लगाता है।
- इस श्रावक का चित्रण करते हुए सागार धर्मामृत में लिखा है – यह मुमुक्षु, शरीर की स्थिति के लिए भोजन की और धर्म की सिद्धि के लिए शरीर की अपेक्षा करते हैं तथा विचार करते हैं कि अधःकर्म से युक्त अपने उद्देश्य से किये हुए आहार को खानेवाले मुझे वह धर्म की सिद्धि कैसे हो सकती है? अरे! मैं भिक्षावृत्ति से प्राप्त अमृत को कब खाऊँगा?

- यह प्रतिमाधारी श्रावक, 'मेरे लिए अमुक वस्तु बनाओ – ऐसा कभी नहीं कहता। जो कुछ गृहस्थ के यहाँ बना हो, उसी का भोजन कर आवे। अपने अन्तरायकर्म के क्षयोपशम के अनुसार जो कुछ खट्टा-मीठा, लोना-अलोना, चिकना-रूखा आदि जैसा मिल जावे, वैसे भोजन से अपनी क्षुधारूपी अग्नि प्रशान्त करे, पर यह ध्यान रखे कि भोजन, सिद्धान्तानुसार प्रासुक एवं शुद्ध हो।
- यह श्रावक, किसी के अच्छे या बुरे लौकिक कार्य को अपने मन से चिन्तवन नहीं करे तथा सदैव स्वाध्याय व धर्मचर्चा में लगा रहे, अन्य विकथाओं को कभी न करे। अन्य लौकिक पापवर्द्धक उपदेश आदि तो भूल कर भी नहीं देवे।
- यह श्रावक, अपनी विशुद्धि के बढ़ने पर ज्ञानाचार आदि पंचाचार के पालने में तत्पर होकर, गृहस्थावस्था से विरक्त होकर घर से बाहर निकलने की इच्छा से गुरुजन, माता-पिता, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव आदि से यथायोग्य आज्ञा लेवे।

11. उद्दिष्टत्यागप्रतिमा

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस प्रतिमा का स्वरूप बताते हुए लिखा है –

जो णव कोडिविसुद्धं, भिक्खायरणेण भुजदे भोज्जं।
जायणरहियं जोग्गं, उद्दिट्ठाहारविरदो सो।। 390।।[225]

अर्थात् जो श्रावक, नव कोटि विशुद्ध भिक्षाचरणपूर्वक याचनारहित योग्य आहार को ग्रहण करता है, वह उद्दिष्ट आहार का त्यागी है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भाषा–टीका में पण्डित सदासुखदासजी ने कहा है कि जो समस्त गृह–कुटुम्ब से विरक्त होकर, एक कोपीन अर्थात् लंगोटी मात्र या कोपीन तथा खण्ड वस्त्र, जिससे पूरा शरीर नहीं ढकता, सिर ढॉके तो पैर नहीं ढके, केवल कुछ डॉस, मच्छर, शीत, आताप, वर्षा, पवन के परीषह में सहारा रहे – ऐसा खण्ड वस्त्र धारण करता है तथा भिक्षा भोजन अयाचीक वृत्तिपूर्वक मौन सहित ग्रहण करता है।[162]

यह श्रावक, मुनियों के समान नवकोटिपूर्वक उद्दिष्ट आहार का त्यागी होता है। उद्दिष्ट अर्थात् व्यक्तिगतरूप से जिसे आहार कराना हो, उसके उद्देष्य से भोजन तैयार करना, जैसे, 'उन मुनिराज को यह भोजन पसन्द है, अतः मैं ऐसा भोजन बनाता/बनाती हूँ।' अथवा उसके द्वारा कहा हुआ भोजन तैयार करना कि 'आप मेरे लिए ऐसा भोजन बनाओ' अथवा पात्र को बता कर भोजन तैयार करना कि 'मैंने आपके लिए भोजन तैयार किया है', आदि।

यद्यपि अनुमतित्यागप्रतिमाधारी भी उत्कृष्टश्रावक है, तथापि उत्कृष्ट श्रावकों में अनुमतित्यागप्रतिमाधारी श्रावक, जघन्य-उत्कृष्टश्रावक है; क्षुल्लक, मध्यम-उत्कृष्टश्रावक है और ऐलक, उत्कृष्ट-उत्कृष्टश्रावक है।

सामान्य उद्दिष्टत्यागप्रतिमा की विशेषताएँ

- यह श्रावक–भूमिका का सर्वोत्कृष्ट दर्जा है।
- जो घर छोड़ कर मठ या मण्डप में रहता है, भिक्षा द्वारा आहार लेता है, जो इसके निमित्त कोई आहार बनावे तो उस आहार को नहीं लेता है, मॉग कर नहीं लेता है, अयोग्य मांसादिक तथा सचित्त आहार नहीं लेता है – ऐसा उद्दिष्टविरत श्रावक होता है।
- यह श्रावक, अपने लिए बनाया भोजन ग्रहण नहीं करता है; निमन्त्रण करने पर या समय पर बुलाने पर नहीं जाता है; यदि अपने लिए कुछ भी आरम्भ किया जान ले तो भोजन का त्याग कर देता है।
- वन में या ग्राम के बाहर वसतिका में रहता है; उपसर्ग परीषह आ जाए तो निर्भय होकर सहता है; कायरता या दीनता नहीं दिखाता है; ध्यान–स्वाध्याय में सदाकाल लीन रहता है।
- गृहस्थ के घर बिना बुलाये जाता है, गृहस्थ ने स्वयं के लिए जो भोजन बनाया हो, उसमें से भक्तिपूर्वक दिया हुआ, मौनपूर्वक ग्रहण करता है, उसमें समभाव रखता है।
- रसरहित हो या रससहित हो, कडुवा–खारा–मीठा, जो गृहस्थ दे, उसे ग्रहण करता है; अन्तराय हो जाए तो उपवास करता है।

- दिन में एक बार ही आहार–पानी आदि ग्रहण करता है। शाम को अथवा दूसरी बार कुछ भी ग्रहण नहीं करता।
- अनशनादि तप में शक्ति अनुसार उद्यमी रहता है।[226]
- यह प्रतिमाधारी श्रावक, घर छोड़ कर, मुनियों के पास मुनिसंघ में चला जाता है और उनके निकट ही व्रतों को धारण करता है, पश्चात् वन या ग्राम के बाहर वसतिका आदि में रह सकता है, उपसर्ग–परिषह आ जाने पर निर्भय होकर सहता है, कायरता या दीनता नहीं दिखाता। ध्यान, स्वाध्याय आदि में ही लीन रहता है।
- इस श्रावक की चर्या मुनिधर्म का पालन करने के लिए ही एक प्रकार का अभ्यास होता है।
- यह श्रावक, आहार की तरह अपने उद्देश्य से बनाई गई वसतिका, आसन, चटाई, उपधि, शय्या, वगैरह को भी वह स्वीकार नहीं करता।[227]

उद्दिष्ट शब्द से तात्पर्य

वामन शिवराम आप्टे कृत संस्कृत–हिन्दी कोश एवं आदर्श हिन्दी शब्दकोश के अनुसार 'उद्दिष्ट' शब्द (उद्+दिश्+क्त) के निम्न अर्थ बताये गये हैं –

1. बताया हुआ, विशिष्ट, विशेषरूप से कहा गया।
2. समझाया हुआ या समझाया गया, दिखलाया हुआ या दिखलाया गया।
3. ढूँढा हुआ।
4. लक्ष्य किया हुआ।
5. इच्छित या चाहा हुआ।

अर्थात् अपने उद्देश्य से अथवा अपनी इच्छा से बतलाई हुई, विशेषरूप से कही गई, समझाई गई, दिखलाई गई, सिखाई गई वस्तु उद्दिष्ट कहलाती है।

उद्दिष्ट शब्द की व्याख्या करते हुए श्री जिनेन्द्र वर्णी लिखते हैं –

''उद्दिष्ट, वास्तव में एक सामान्यार्थवाची शब्द है; इसलिए इसका पृथक् से कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं है। आहार के 46 दोषों में जो अधःकर्मादि 16 दोष हैं, वे सर्व मिल कर, एक उदि ्दष्ट शब्द के द्वारा कहे जाते हैं। इसलिए 'उद्दिष्ट' नामक किसी पृथक् दोष का ग्रहण नहीं किया गया है। उसमें भी दो विकल्प हैं – एक दातार की अपेक्षा उद्दिष्ट और दूसरा पात्र की अपेक्षा उद्दिष्ट। दातार यदि उपर्युक्त 16 दोषों से युक्त आहार बनाता है तो वह द्रव्य से उद्दिष्ट है और यदि पात्र अपने चित्त में, अपने लिए बने का अथवा भोजन के उत्पादन सम्बन्धी किसी प्रकार का विकल्प करता है तो वह भाव से उद्दिष्ट है – ऐसा आहार साधु (एवं उद्दिष्टत्यागप्रतिमाधारी श्रावक) को ग्रहण नहीं करना चाहिए।''[228]

उद्दिष्टत्यागप्रतिमाधारी श्रावक के भेद

इस श्रावक के दो भेद हैं – क्षुल्लक और ऐलक। जो क्षुल्लक होता है, वह दो वस्त्रधारी होता है; जबकि ऐलक मात्र लंगोटधारी होता है, इसके बाद सीधे मुनिदशा ही होती है। हम ऐसा कह सकते हैं कि मुनिदशा का उत्कृष्ट अभ्यास इस भूमिका में होता है, अतः क्षुल्लक-ऐलक भी मुनियों के समान पीछी-कमण्डलु का उपयोग कर सकते हैं। इस प्रतिमा में प्रत्याख्यानावरण कषाय की विद्यमानता होती है, अतः वह किंचित् मोह जीवित होने के कारण, निर्ग्रन्थ मुनिमुद्रा धारण करने में असमर्थ होता है।

क्षुल्लक-ऐलक शब्दों के प्रयोग एवं क्षुल्लकों के दो भेदों सम्बन्धी इतिहास

''जिनसेनाचार्य के पूर्व तक शूद्र को दीक्षा देने या न देने का कोई प्रश्न न था। जिनसेनाचार्य के समक्ष जब यह प्रश्न आया तो उन्होंने अदीक्षार्ह और दीक्षार्ह कुलोत्पन्नों का विभाग किया।.....क्षुल्लक को जो पात्र रखने और अनेक घरों से भिक्षा लाकर खाने का विधान किया गया है, वह भी सम्भवतः उनके शूद्र होने के कारण ही किया गया प्रतीत होता है।

उक्त रूप वाले क्षुल्लकों को किस श्रावक प्रतिमा में स्थान दिया जाए – यह प्रश्न सर्वप्रथम वसुनन्दि के सामने आया प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम ग्यारहवीं प्रतिमा के भेद किये हैं। इनसे पूर्ववर्ती

किसी भी आचार्य ने इस प्रतिमा के दो भेद नही किये।.....14वीं–15वीं शताब्दी तक वे प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट के रूप में चलते रहे। 16वीं शताब्दी में पण्डित राजमल्लजी ने अपनी लाटी संहिता में सर्वप्रथम उनके लिए क्रमशः क्षुल्लक और ऐलक शब्द का प्रयोग किया।''[229]

क्षुल्लक पद की विशेषताएँ

- क्षुल्लक शब्द का अर्थ छोटा होता है अर्थात् क्षुल्लक को छोटा साधु कह सकते हैं अथवा हम इन्हें उत्कृष्ट श्रावकों में ऐलक से छोटे कह सकते हैं – ऐसा क्षुल्लक शब्द का भाव समझना चाहिए।
- यद्यपि क्षुल्लक को साधु एवं ऐलक से छोटा माना गया है, परन्तु वह सम्पूर्ण जगत् को समान दृष्टि से देखता है अर्थात् अपने बन्धु बान्धवों के प्रति ममत्व का त्याग करता है तथा अपने से प्रतिकूल आचरण करने वालों के प्रति भी द्वेष नहीं रखता।
- क्षुल्लक भी अपने केशों का लोच अपने हाथों से करने का अभ्यास करता है, उसमें भस्म की सहायता लेता है, परन्तु लोच करना, उसके लिए नियमरूप नहीं माना गया है, वह चाहे तो अपने मस्तक और दाढ़ी के बालों को कैंची या छुरे से दूर कर सकता है। परन्तु ऐलक को केशलोंच करने का नियम है।
- केशों को दूर करने का समय कम से कम दो माह, मध्यम रीति से तीन माह और अधिक से अधिक चार माह है; इससे अधिक काल तक केश रखने से जीवों की उत्पत्ति हो जाती है।
- क्षुल्लक, केशों का तेल आदि से संस्कार नहीं करता, इसी तरह वह बालों की किसी तरह साज-सम्हाल भी नहीं करता।
- क्षुल्लक अपने पास लंगोट (कोपीन) तथा खण्ड वस्त्र रखता है। खण्ड वस्त्र से तात्पर्य यह है कि जो तीन–सवा तीन हाथ से अधिक लम्बा न हो और न ही अधिक चौड़ा हो। यह वस्त्र, सागार धर्मामृत एवं पद्मपुराण के अनुसार सफेद ही होता है, परन्तु कहीं कहीं पर पारम्परिकरूप में गेरुए वस्त्र भी पहनने का प्रचलन है।
- क्षुल्लक पद में पीछी-कमण्डलु रखने के सम्बन्ध में आचार्यों के अनेक मत प्राप्त होते हैं – जहाँ अनेक विद्वान् उसके समर्थन में है तो सागार धर्मामृत, लाटी संहिता, अनगार धर्मामृत में उसका निषेध किया गया है; परन्तु इस सम्बन्ध में सभी एक मत हैं कि उन्हें संयम-प्रतिलेखन और शौच के उपकरण के रूप में कोई न कोई वस्तु अवश्य रखना चाहिए। जैसे, वस्त्रनिर्मित पीछी, शौच हेतु कोई बर्तन आदि।
- प्रतिलेखन से तात्पर्य है कि जो जीव-जन्तु प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, उनकी रक्षापूर्वक ही उठना-बैठना, आसन ग्रहण करना, वस्तुओं को उठाना-रखना, मल-मूत्र त्याग करना, आदि अर्थात् यह व्रती उस मृदु उपकरण से स्थान को स्वच्छ कर निर्जन्तुक होने पर ही उपयोग में लेता है।
- क्षुल्लक पाणिपात्र या पात्र में भी भोजन कर लेता है परन्तु ऐलक, साधु के समान पाणिपात्र में ही भोजन करता है। वसुनन्दि श्रावकाचार में लिखा है कि क्षुल्लक, एक बार बैठ कर भोजन करता है, किन्तु पर्वों में नियम से उपवास करता है।[230]
- वह क्षुल्लक, संयम की इच्छा करता हुआ, अपने भोजन के पात्र को धोने आदि के कार्य में अपने तप और विद्या आदि का गर्व नहीं करता हुआ, स्वयं ही यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करे, नही ंतो बड़ा भारी असंयम होता है।[231]
- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में महापुराण के उद्धरण से यह सिद्ध किया है कि भगवान ऋषभदेव, अपने पाँचवें पूर्वभव राजा सुविधि के भव में अपने पुत्रमोह के कारण गृहस्थ अवस्था का त्याग नहीं कर पाये थे, परन्तु वे घर में रह कर ही श्रावक के उत्कृष्ट पद में रह कर, कठिन तपस्या करते थे। लेकिन इस उद्धरण में उत्कृष्ट श्रावक का अर्थ क्षुल्लक करना उचित नहीं है, क्योंकि अनुमतित्याग प्रतिमा का धारक उत्कृष्ट श्रावक होते हुए भी घर में रह सकता है। जबकि रत्करण्ड श्रावकाचार[232] एवं सागार धर्मामृत[233] के सन्दर्भों से यह सिद्ध है कि ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक श्रावक गृहत्यागी ही होता है।
- यदि क्षुल्लक को किसी साधर्मी से जल, चन्दन, अक्षत आदि अष्ट द्रव्य सामग्री मिल जाती है तो वह भी प्रसन्नतापूर्वक अरहन्तदेव या सिद्धपरमेष्ठी या साधुपरमेष्ठी की पूजा कर सकता है।[234]
- क्षुल्लक श्रावकों के भी कितने ही भेद हैं – कोई साधक क्षुल्लक होते हैं, कोई गूढ़ क्षुल्लक होते हैं, कोई वानप्रस्थ क्षुल्लक होते हैं। ये तीनों ही क्षुल्लक, क्षुल्लक के समान वेष धारण करते हैं, क्षुल्लक की

क्रियाओं का पालन करते हैं, न तो अत्यन्त कठिन व्रतों का पालन करते हैं और न अत्यन्त सरल, मध्यम स्थिति के व्रतों का पालन करते हैं, पंचपरमेष्ठी की साक्षीपूर्वक व्रतों को ग्रहण करते हैं। इन तीनों के क्षुल्लकों में परस्पर विशेष भेद नहीं है। इनमें से जिन्होंने क्षुल्लक के व्रत नहीं लिये हैं, किन्तु व्रत धारण करना चाहते हैं, वे उन व्रतों का अभ्यास करते हैं। तथा जिन्होंने व्रतों को पालन करने का पूर्ण अभ्यास कर लिया है, वे साहसपूर्वक उन व्रतों को ग्रहण कर लेते हैं तथा कोई कातर और असाहसी ऐसे भी होते हैं, जो व्रतों को ग्रहण नहीं करते, किन्तु घर वापस चले जाते हैं।[235]

- क्षुल्लक, गुरु से दीक्षा लेते हैं, उनके सान्निध्य में रहते हैं, उनकी तथा अन्य संघ के साधओं की वैयावृत्ति करते हैं, साधु-सेवा ही उनका व्रत होता है, स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि करते हैं तथा आत्म-चिन्तन द्वारा अपने को सन्मार्ग पर स्थिर रखने का प्रयत्न करते हैं।

  यदि दीक्षादायक साधुजन के अभाव में इस व्रती ने भगवान तीर्थंकर की प्रतिमा या आगम ग्रन्थ के सन्मुख दीक्षा ली हो तो भी उसे अन्य व्रती या प्रतिमाधारियों के साथ ही रहना चाहिए, स्वतन्त्र विचरण नहीं करना चाहिए। स्वतन्त्र अकेले विचरण करने का तो साधु को भी निषेध किया गया है क्योंकि अकेले विहार करने पर सत्संगति के अभाव में और उपसर्ग-परीषहों पर विजय न कर सकने की स्थिति में मार्ग से च्युत हो जाने की सम्भावना आचार्यों ने की है; अतः संघ में रहने का आदेश दिया है।

  संघ में रहते हुए अन्य व्रतियों की धर्मसेवा करना, वह अपना कर्तव्य समझता है। वह व्रतियों की रोगी अवस्था में, असहाय अवस्था में, पीड़ित अवस्था में, उनकी शारीरिक सेवा भी करता है, धर्म-साधन में सहायता करता है।

  समाधिमरण आदि अवस्था में अपने धर्म-साधन की क्रियाओं में हानि हो जाने पर भी समाधिगत साधु या श्रावक की सेवा कर, उसे समाधि में स्थिर करता है, उस कर्तव्य को वह उस काल में सर्वश्रेष्ठ मानता है, क्षुल्लक व्रती की यह प्रक्रिया है।[236]

क्षुल्लक के आहार सम्बन्धी विचारणा

आहार-ग्रहण की अपेक्षा क्षुल्लक के दो भेद हैं – 1. एकगृहभोजी या एकभिक्षानियम एवं 2. अनेकगृह-भोजी या अनेकभिक्षानियम।

1. एकगृहभोजी या एकभिक्षानियम – किसी श्रावक के एक ही घर में जाकर, वहाँ जो भिक्षा प्राप्त हो, उसे लेकर अपनी उदरपूर्ति करने वाले श्रावक, एकभिक्षानियम हैं। इनमें कोई अपना बर्तन अपने पास रखते हैं और कोई श्रावक के बर्तन का भी प्रयोग करते हैं।

2. अनेकगृह-भोजी या अनेकभिक्षानियम – अनेकभिक्षानियम वाले क्षुल्लक, अपने पास के बर्तन में एक से अधिक घरों से प्राप्त भिक्षा का संग्रह कर लेते हैं, परन्तु आवश्यकता से अधिक नहीं। पश्चात् उनमें से किसी एक श्रावक के घर जहाँ भी प्रासुक जल मिल जाए, वहाँ बैठ कर भोजन कर लेते हैं। यदि कुछ और भिक्षा ग्रहण करने की इच्छा हो तो उस अन्तिम घर से भी कुछ अन्न ग्रहण कर सकते हैं।

अथवा अनेकगृहभोजी क्षुल्लक आहार के समय पात्र का प्रक्षालन करके श्रावकों के घर स्वयं जाते हैं; वहाँ आँगन में कुछ क्षण ठहर कर, 'धर्मलाभ' कह कर, अपना शरीर दिखा कर, स्वयं भिक्षा माँगता है। यदि कोई श्रावक, घर से बाहर निकल कर आता है तो वहाँ भिक्षा ग्रहण करते हैं। अन्यथा भिक्षा-लाभ के अलाभ में अर्थात् भिक्षा न मिलने पर, दीनता लाये बिना, वहाँ से शीघ्र निकल कर, दूसरे घरों में अपने नियम के अनुसार जाते हैं और मौन से अपना मुख दिखलाते हैं।

यदि मार्ग के बीच में कोई श्रावक मिले और प्रार्थना करे कि 'आप मेरे यहाँ भोजन कर लीजिए, मेरे यहाँ आपके योग्य आहार–जल आदि शुद्ध हैं' – इस क्रिया का नाम प्रतिग्रह अथवा आग्रह कहलाता है। गृहस्थ की इस प्रकार प्रार्थना करने पर तो वह भिक्षु ठहर जाता है, पश्चात् पुनः प्रार्थना करने पर वह उसके घर में प्रवेश करता है। गृहस्थ, उसे उच्च आसन पर बिठाता है, पैर धोता है, सम्मान करता है, नतमस्तक होता है और अभिप्राय व्यक्त करता है कि आपको आहार देने में मेरे मन–वचन–काय विशुद्ध हैं तथा आहार जल शुद्ध हैं – यह नवधाभक्ति कहलाती है।

नवधाभक्ति से तात्पर्य यह है कि मैं कोई कपट से या किसी दबाव से अथवा लोकलाज से या लोकापवाद के भय से या अपनी बिना इच्छा से आहार देने को प्रस्तुत नहीं हुआ हूँ। मैं परम हर्ष व पवित्र

वृत्ति से आहार देने को तैयार हुआ हूँ। मेरे घर पर आपकी भिक्षा के योग्य शुद्ध व शास्त्रोक्त नियम के अनुसार अभक्ष्य आदि दोषों से रहित शुद्ध आहार व प्रासुक जल है। आप कृपा करके स्वीकार करें – ऐसी प्रार्थना करने पर भिक्षु भोजनशाला में प्रवेश करे और अपने नियम के अनुसार आहार ग्रहण करता है।

इस विधि से पूर्व घर से प्राप्त अपनी भिक्षा को खाकर, शेष अर्थात् जितना पेट खाली रहे, तत्प्रमाण उस श्रावक के अन्न को खाये। यदि मार्ग में कोई श्रावक भोजन के लिए न कहे तो अपने पेट को पूरण करने के प्रमाण भिक्षा प्राप्त करने तक परिभ्रमण करे अर्थात् अन्य अन्य श्रावकों के घर जावे। आवश्यक भिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् किसी एक घर में जाकर प्रासुक जल माँगे। जो कुछ भी भिक्षा प्राप्त हुई हो, उसे शोध कर, भोजन करे और यत्न के साथ अपने पात्र को प्रक्षालन कर गुरु के पास जावे।[237]

वसुनन्दि श्रावकाचार में लिखा है कि ''यदि किसी को अनेक गृहगोचरी न रुचे तो वह मुनियों की गोचरी जाने के पश्चात् चर्या के लिए प्रवेश करे अर्थात् एक भिक्षा के नियम वाला उत्कृष्ट श्रावक, चर्या के लिए श्रावकजन के घर जावे और यदि इस प्रकार भिक्षा न मिले तो उसे प्रवृत्ति–नियमन करना चाहिए। पश्चात् गुरु के पास जाकर विधिपूर्वक चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान ग्रहण कर, पुनः प्रयत्न के साथ सर्व दोषों की आलोचना करे।''[238]

लाटी संहिता में अनेकगृहभोजी क्षुल्लक के सम्बन्ध में एक और बात की ओर इशारा किया है –

''वह क्षुल्लक, उन अनेक घरों में से ही किसी एक घर में जहाँ प्रासुक जल दृष्टिगोचर हो जाता है, उसी घर में भोजन के लिए ठहर जाता है तथा थोड़ी देर तक वह किसी भी मुनिराज को आहारदान देने के लिए प्रतीक्षा करता है। यदि आहारदान देने के लिए किसी मुनिराज का समागम नहीं मिला तो फिर वह भोजन कर लेता है। यदि दैवयोग से आहारदान देने के लिए किसी मुनिराज का समागम मिल जाए अथवा अन्य किसी पात्र का समागम मिल जाए तो वह क्षुल्लक श्रावक, गृहस्थ के समान अपना लाया हुआ भोजन उन मुनिराज को दे देता है। पश्चात् जो कुछ बच रहता है, उसको स्वयं भोजन कर लेता है। यदि कुछ न बचे तो उस दिन नियम से उपवास करता है।''[239]

ऐलक पद की विशेषताएँ [240]

- जो उत्कृष्ट श्रावक, मात्र कोपीन (लंगोटी) धारण करते हैं; दाढ़ी, मूँछ एवं सिर के बालों का केशलोंच दो से चार माह के बीच करते हैं, मुनि की तरह पीछी रखते हैं और पाणिपात्र में भोजन करते हैं; वे ऐलक कहलाते हैं।
- ऐलक की आर्य संज्ञा है। क्षुल्लक की तुलना में ऐलक की कर्म-निर्जरा उत्तरोत्तर अधिक होती है।
- ऐलक शब्द की उत्पत्ति 'अचेलक' शब्द से मानी जा सकती है। अचेलक शब्द में से 'च्' वर्ण का लोप हो जाने पर 'ऐलक' शब्द बना है। अचेलक शब्द का अर्थ 'सर्वथा वस्त्ररहित' भी हो सकता है और 'ईषत् चेलसहित या ईषत् वस्त्रसहित' भी किया हो सकता है।[241]
- मात्र कोपीन धारण करने के कारण मुनियों के समान सर्दी, गर्मी, वर्षा, मक्खी, मच्छर आदि की सम्पूर्ण बाधाएँ अपने खुले शरीर पर झेलते हैं।
- यद्यपि ये उपसर्ग-परीषहों की बाधाओं को सहन करने में कायरता नहीं दिखाते, उन्हें प्रीतिपूर्वक सहन करते हैं; तथापि बुद्धिपूर्वक वे उपसर्ग-परीषहों की प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करते।
- आहार-विधि के अन्तर्गत यदि कोई श्रावक, मध्यम नवधा भक्तिपूर्वक आहार दे तो बैठ कर, अपने करपात्र में ही लेते हैं। भोजन का पात्र न अपने पास ही रखते हैं, न ही श्रावक के पास ही रखते हैं।
- इनके अनेक-गृह-भिक्षा-वृत्ति का उल्लेख नहीं है। वे केवल एक घर में ही आहार लेकर आ जाते हैं तथा आहार के बाद गुरु को सब प्रक्रिया निवेदन करते हैं तथा दिया हुआ प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं। वे इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि आहार शुद्ध है, प्रासुक है तथा कोई अन्तराय योग्य वस्तु का उसमें समागम तो नहीं है – ये एषणा समितिपूर्वक देख-शोध कर आहार ग्रहण करते हैं।
- दैनिक, रात्रिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण – इनको ऐलक नियम से करते हैं।
- ऐलक, चातुर्मास में एक ही स्थान पर रहते हैं। साधारणतः चातुर्मास में एक स्थान पर रहने का नियम सभी गृह-त्यागियों का होता है। यदि साधारण गृहस्थ भी धर्मसाधना के निमित्त ऐसा व्रत लेना चाहें तो ले सकते हैं।

- यह ऐलक पदधारी श्रावक का लघुभ्राता कहा जाता है। इसी कारण इनकी अधिकांश क्रियाएँ मुनियों के समान होती हैं। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि मुनियों और ऐलकों में मात्र कोपीन का अन्तर होता है।
- यद्यपि ऐलक पदधारी श्रावक, श्रावक पद में स्थित होता है; तथापि श्रावक अवस्था की अन्तिम सीढ़ी होने के कारण इनके कदम महाव्रत की मर्यादा में भी पड़ने लगते हैं। इसी कारण ये समिति, गुप्ति आदि मुनियों के लिए उचित क्रियाओं का भी अभ्यास करते हैं।
- यद्यपि ये पीछी-कमण्डलु तथा पुस्तक आदि धर्मोपकरणों को धारण करते हैं; तथापि वे थोड़े भी आरम्भ के कारणभूत पदार्थों को अपने पास नहीं रखते।
- यद्यपि ये मुनिसंघों में अथवा किसी मुनिराज के समीप वन में रहते हैं; तथापि इनके चैत्यालय, मठ अथवा किसी भी निर्दोष और शुद्ध स्थान में रहने का निषेध नहीं है।
- ये रात्रि में मुनि की तरह नग्न होकर ध्यान कर सकते हैं, पर दिन में नहीं; प्रकारान्तर से उनकी रात्रि में मुनिवृत्ति और दिन में ऐलकवृत्ति रहती है।
- यह पद बाह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – इन तीन वर्णों में ही धारण किया जा सकता है।
- यह श्रावक, बिना किसी लाग-लपेट या छल-कपट के निःस्वार्थ भाव से मोक्ष का कारणभूत धर्मोपदेश देता है तथा स्वाध्याय, ध्यान, धर्मप्रभावना आदि कार्यों में अपने समय का सदुपयोग करता है।
- कालान्तर में अथवा अन्त में कोपीन मात्र वस्त्र का त्याग करके ये ऐलक मुनिव्रत अंगीकार करते हैं क्योंकि श्रावकव्रत की समाप्ति तो ऐलक पद में ही हो जाती है।

ग्यारह प्रतिमाओं में स्त्रियों का स्थान[242]

पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी उक्त ग्यारह प्रतिमाओं का यथायोग्य पालन कर सकती हैं। कदाचित् उनकी अवस्था के अनुसार कुछ भेद/अपवाद भी सम्भव होते हैं। जैसे,

- छठी प्रतिमा में रात्रिभोजन का त्याग, कृत-कारित-अनुमोदना से होता है; अतः जिस स्त्री की गोद में दूध पीता बच्चा है, उसे रात्रि में भी बालक को दूध पिलाना पड़ेगा, अतः उसके द्वारा इस प्रतिमा का पालन करना सम्भव नहीं है; ऐसी स्त्री को छठी प्रतिमा को लेना भी नहीं चाहिए।
- इसी प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा के जिस प्रकार पुरुषों में क्षुल्लक और ऐलक, दो भेद माने गये हैं; वैसे दो भेद स्त्रियों में नहीं होते। अतः स्त्रियों में एक मात्र क्षुल्लिका का ही पद माना गया है।
- यद्यपि स्त्रियों में आर्यिका का पद भी पंचम गुणस्थान के अन्तर्गत ही माना गया है। तदनुसार निश्चय से उनको देशसंयम ही होता है, तथापि व्यवहार में आर्यिका को उपचार से महाव्रती माना गया है; अतः उनका स्थान उत्कृष्ट श्राविका का न होकर साधु के समान हो जाता है, जिसे दिगम्बर आम्नाय में 'आर्यिका' नाम से जाना जाता है। आगम में आर्यिका के स्वरूप का विस्तार से वर्णन मिलता है।

आर्यिका की विशेषताएँ[243]

- आप्टे कृत संस्कृत हिन्दी शब्दकोश के अनुसार आर्यिका शब्द का अर्थ 'आदरणीय महिला' किया गया है। जबकि दिगम्बर मान्यता के अनुसार स्त्रियों में सर्वोत्कृष्ट व्रताचरण करने वाली स्त्री को आर्यिका शब्द से सम्बोधित किया जाता है।
- यही कारण है कि श्रावकों में उत्कृष्ट आचरण करने वाले ऐलक को आर्य और श्राविकाओं में उत्कृष्ट आचरण करने वाली महिला को आर्यिका की संज्ञा दी जाती है।
- दर्शनपाहुड़ के अनुसार जिनमार्ग में आर्यिका का तृतीय स्थान माना गया है। उसमें प्रथम स्थान जिनदेव अर्थात् मुनि का, दूसरा स्थान उत्कृष्ट श्रावक अर्थात् क्षुल्लक-ऐलक का, एवं तीसरा स्थान स्त्री अर्थात् आर्यिका का बताया है। चौथा कोई भी लिंग जैनदर्शन को मान्य नहीं है।[244]
- जिस प्रकार मुनिसंघ में मुनिगण, आचार्य की आज्ञा का पालन करते हैं; उसी प्रकार आर्यिकासंघ में आर्यिकाएँ अपनी गणिनी की आज्ञा का पालन करती हैं।
- आर्यिकासंघ की प्रमुख गणिनी आर्यिका होती हैं, परन्तु वे भी प्रतिक्रमण आदि के विषय में आचार्य की आज्ञा का ही पालन करती हैं। आर्यिकाओं के आचार्य कैसे होते हैं? उनकी 13 विशेषताओं को मूलाचार में वर्णित किया गया है – ''1. जो धर्म के प्रेमी हैं, 2. धर्म में दृढ़ हैं, 3. संवेगभाव सहित हैं,

4. पाप से भयभीत हैं, 5. शुद्ध आचरण वाले हैं, 6. शिष्यों के संग्रह और अनुग्रह में कुशल हैं, 7. हमेशा ही पापक्रिया की निवृत्ति से युक्त हैं, 8. गम्भीर हैं, 9. स्थिरचित्त हैं, 10. सीमित बोलने वाले हैं, 11. किंचित् कुतूहल करते हैं, 12. चिरदीक्षित हैं, 13. तत्त्वों के ज्ञाता हैं – ऐसे मुनि, आर्यिकाओं के आचार्य होते हैं।। 183–184।।''[245]

- यदि उक्त गुणों से रहित आचार्य, आर्यिकाओं का आचार्यत्व करता है तो उसके द्वारा चार कालों – गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ अथवा दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण और आत्मसंस्कार; इनकी विराधना होती है अथवा वह चार प्रकार के प्रायश्चित्त – छेद, मूल, परिहार और पारंचिक; इनके योग्य होता है तथा उसके द्वारा गच्छ अर्थात् संघ की भी विराधना हो जाती है।।185।।
- आर्यिकाएँ, परस्पर में मात्सर्य भाव को छोड़ कर, एक दूसरे के अनुकूल रहती हैं। परस्पर एक दूसरे की रक्षा करने में तत्पर रहती हैं। क्रोधभाव, वैरभाव और मायाचार से रहित होती हैं। लज्जा, मर्यादा और अपने कुलों के अनुरूप आचरण करने में तत्पर रहती हैं।।188।।
- आर्यिकाएँ, निरन्तर शास्त्रों को पढ़ने, सुनने, कहने, पाठ करने में; अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन में; तप, विनय, संयम आदि में नित्य ही उद्यत रहती हुई ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहती हैं।।189।।
- आर्यिकाएँ, विकार रहित वस्त्र और वेश को धारण करने वाली, पसीनायुक्त मैल और धूलि से लिप्त रहती हुई शरीर संस्कार से शून्य रहती हैं तथा धर्म, कुल, कीर्ति और दीक्षा के अनुकूल निर्दोष चर्या को करती हैं।।190।।
- आर्यिकाओं के योग्य वसतिका, गृहस्थों के साथ नहीं होती; उसमें चोर आदि दुराचारियों के आवागमन से रहित होती है; जिसमें हवा, प्रकाश आदि का विशुद्ध संचरण होता रहता है – ऐसी वसतिका में आर्यिकाएँ, दो, तीन, चार आदि अनेकों की संख्या में रहती हैं। तात्पर्य यह है कि आर्यिका के अकेले रहने का निषेध है।।191।।
- आर्यिकाओं के लिए गृहस्थों के घर एवं यतियों की वसतिकाएँ परगृह कहलाती हैं। वे बिना प्रयोजन किसी परगृह में नहीं जातीं। यदि आर्यिकाओं को भिक्षा आदि के लिए गृहस्थ के यहाँ तथा प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, वन्दना आदि आवश्यक कार्य हेतु मुनियों की वसतिका मे जाने का प्रसंग बने तो वे गणिनी से पूछ कर, अन्य आर्यिकाओं को साथ लेकर ही जाती हैं।।192।।
- आर्यिकाओं को अपनी वसतिका में अथवा परगृह में दुःख से पीड़ित होकर रोना, बच्चों को नहलाना, धुलाना, खिलाना, भोजन पकाना, सूत कातना, षट्कर्म अर्थात् असि, मसि, कृषि, शिल्प, विद्या और वाणिज्य के आरम्भ, यतियों के पैरों में तेल आदि से मालिश करना, चरणों का प्रक्षालन करना, गीत गाना आदि क्रियाओं को नहीं करना चाहिए।।193।।
- मूलाचार में लिखा है कि तीन, पाँच या सात आर्यिकाएँ, परस्पर रक्षा में तत्पर होती हुई, वृद्धा आर्यिकाओं के साथ मिल कर, हमेशा आहार के लिए निकलती हैं। यहाँ आहार शब्द उपलक्षण मात्र है। तात्पर्य यह है कि आर्यिकाएँ, जब भी देववन्दना, गुरुवन्दना, आहार, विहार, नीहार आदि किसी भी प्रयोजन से बाहर जावें तो दो-चार जन मिल कर, वृद्धा आर्यिकाओं के साथ ही जावें।।194।।
- आर्यिकाएँ, आचार्य के पास आलोचना करती हैं, अतः उनकी वन्दना के लिए पाँच हाथ के अन्तराल पर गवासन से बैठ कर उन्हें नमस्कार करती हैं। उपाध्याय के पास अध्ययन करती हैं, अतः उन्हें छह हाथ के अन्तराल से नमस्कार करती हैं तथा साधु की स्तुति करनी होती है, अतः उन्हें सात हाथ के अन्तराल से नमस्कार करती हैं; अन्य प्रकार से नहीं। इस प्रकार यह क्रमभेद, आलोचना, अध्ययन और स्तुति करने की अपेक्षा से हो जाता है।।195।।

आर्यिकाओं के विशेष नियम[246]

साधुचर्या के लिए विहित अट्ठाईस मूलगुणों एवं विशेष नियमों का पालन, आर्यिकाएँ भी अपनी अपनी भूमिकानुसार, नग्नत्व आदि के अलावा, यथायोग्य करती ही हैं। इसके सिवा उनके लिए जो अन्य नियम बतलाये गये हैं, उन्हें भी वे आचरण में लाती हैं। वे अन्य नियम हैं –

1. आर्यिकाएँ, परस्पर में एक दूसरे के अनुकूल होकर एक दूसरे की रक्षा करती हुई रहती हैं।
2. रोष, वैरभाव और मायाभाव से रहित होकर लज्जा और मर्यादा का ध्यान रखती हुई उचित आचार का पालन करती हैं।
3. सूत्र का अध्ययन, सूत्रपाठ, सूत्र का श्रवण, उपदेश देना, बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन, तप, विनय और संयम में सदा सावधान रहती हैं।
4. शरीर का संस्कार नहीं करती।
5. सादा बिना रंगा हुआ वस्त्र रखती हैं।
6. जहाँ गृहस्थ निवास करते हैं, उस मकान आदि में नहीं ठहरतीं।
7. कभी अकेली नहीं रहतीं। कम से कम दो तीन मिल कर रहती हैं।
8. बिना प्रयोजन के किसी के घर नहीं जातीं। यदि प्रयोजनवश कहीं जाना ही पड़े तो गणिनी से अनुज्ञा लेकर मिल कर ही जाती हैं।
9. रोना, बालक आदि को स्नान कराना, भोजन बनाना, दाई का कार्य और कृषि आदि छह प्रकार का आरम्भ कर्म नहीं करतीं।
10. साधुओं का पाद-प्रक्षालन व उनका परिमार्जन नहीं करतीं।
11. वृद्धा आर्यिका को मध्य में करके तीन, पाँच, सात आर्यिकाएँ मिल कर एक दूसरे की रक्षा करती हुई आहार को जाती हैं।
12. आचार्य से पाँच हाथ, उपाध्याय से छह हाथ और अन्य साधुओं से सात हाथ दूर रह कर गो आसन से बैठ कर उनकी वन्दना करती हैं।

मुनिराज का जीवन, अध्यात्म की पराकाष्ठा है, उसमें यद्यपि किसी भी प्रकार का लौकिक संग अपेक्षित नहीं है; तथापि आहार, वैयावृत्य एवं धर्मोपदेशादि – ऐसे कारण हैं, जिसमें मुनिराजों का सम्पर्क गृहस्थों के साथ होता है; अतः वे अपनी मर्यादा में रह कर उतना ही सम्पर्क या व्यवहार गृहस्थों के साथ रखते हैं, जिससे अपने लक्ष्य से च्युत न हो जाएँ।

प्रवचनसार में कहा है – ''रोगी, गुरु, बाल तथा वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से शुभोपयोग युक्त लौकिक जनों के साथ ही बातचीत निन्दित नहीं है।''[247]

मूलाचार-समीक्षा में लिखा है –

''वस्तुतः मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ में श्रमण और श्रावक, दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों ही जैनधर्म के प्रमुख स्तम्भ माने जाते हैं; अतः श्रावक के साथ मुनि का सम्पर्क आहार-चर्या, वैयावृत्य, धर्मोपदेश आदि के समय होना स्वाभाविक है, किन्तु यह सम्पर्क लक्ष्य की एकता के कारण है, अतः ऐसा निरपेक्ष व्यवहार या सम्पर्क रखना चाहिए, जिससे अपने धर्म की साधना में किंचित् मात्र भी बाधा न पहुँचे क्योंकि असावधानीवश धार्मिकता के बहाने संसार के प्रपंच में प्रवेश और झुकाव हो सकता है और यह भी तथ्य है कि श्रमणों में सांसारिक आकर्षण प्रथमतः सांसारिक जनों के निमित्त से ही बढ़ते हैं।''[248]

आशय यह है कि श्रावकजन को तो मुनिराज का सुयोग कल्पवृक्ष-सम फलदायी है, अतः उन्हें तो मुनिराज का सान्निध्य प्राप्त करने के अवसर ढूँढ़ना ही चाहिए क्योंकि इससे उनको वैराग्य भाव के पोषण के अवसर तो प्राप्त होंगे ही, धर्मोपदेश एवं पात्रदानादि के सुयोग भी मिलेंगे, परन्तु मुनिराज को श्रावकों के साथ मात्र धर्मोपदेश, आहार एवं वैयावृत्य तक ही सीमित सम्बन्ध रखना चाहिए। श्रावकों द्वारा किसी भी प्रकार के लौकिक सामाजिक प्रसंगों का प्रलोभन मुनि जीवन का घातक एवं अधःपतन करने वाला हो सकता है। साथ ही तीव्रकषायी लौकिकजनों एवं धर्म-प्राप्ति के अयोग्य जनों से मौन ही श्रेष्ठ मार्ग है।

तत्त्वार्थवार्तिक में वैयावृत्य-सम्बन्धी व्यवहार करने के चार कारण गिनाये हैं –

1. समाधि पैदा करना।
2. विचिकित्सा दूर करना।
3. प्रवचन-वात्सल्य प्रगट करना।
4. सनाथ अर्थात् निःसहायता की अनुभूति न होने देना।

मुनिराज को नमस्कार करने पर मुनिराज द्वारा भूमिकानुसार आशीर्वाद का विधान[249]

1. प्रथम तो मुनि, आचार्य को यथोक्त विधिपूर्वक नमस्कार करे, पश्चात् आचार्य भी गर्वरहित शुद्धभाव से वन्दना स्वीकार करें अर्थात् मुनि को नमस्कार करें। इतना विशेष है कि सामान्य मुनि तो आचार्य को विशेष विनय से नमस्कार करे और आचार्य, उस मुनि को थोड़े विनय से प्रतिनमस्कार करे।
2. जब आर्यिका नमस्कार करें, तब आचार्य उनसे कहें कि 'तुम्हारे स्त्री-पर्याय का व सर्व अष्ट कर्म का क्षय हो।'
3. उत्कृष्ट प्रतिमाधारी श्रावक से कहें – 'तुम्हारे धर्म की वृद्धि हो।'
4. सामान्य पुरुष या स्त्री से कहें – 'तुम्हारे शुभ हो व शान्ति हो।'
5. चाण्डालादि अस्पर्श्य शूद्र से कहें – 'तेरे पाप का क्षय हो।'

इस प्रकार आचार्य, आशीर्वाद प्रदान करते हैं।

आर्यिकाओं के सम्बन्ध में विशेष कथन

आर्यिकाओं का पाँचवाँ गुणस्थान होता है, तदनुसार उनका भाव संयमासंयमरूप ही होता है। यद्यपि आर्यिकाओं को उपचार से महाव्रती माना गया है क्योंकि स्त्री पर्याय में इससे अधिक विशुद्ध अवस्था का होना सम्भव नहीं है, वह अपने सामर्थ्य की हद को पहुँच कर व्रतों का धारण करती है; तथापि वास्तव में उनके महाव्रत होना सम्भव नहीं है क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार ''वस्त्रधारी को महाव्रती नहीं माना जा सकता और न ही वस्त्रसहित मुक्ति मानी जा सकती है। स्त्री भले ही आर्यिका ही क्यों न हो, उसे मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती; अतः उसे वास्तव में महाव्रती भी माना नहीं गया है। आचार्य कुन्दकुन्द तो सूत्रपाहुड़ में उनके लिंग को तीसरा लिंग मानते हुए भी उनकी दीक्षा को दीक्षा ही नहीं मानते हैं क्योंकि उनके शरीर के अनेक स्थानों में निरन्तर जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। साथ ही उनको ध्यान भी नहीं माना गया है क्योंकि उनको मासिकधर्म होता है, अतः उनके परिणामों उग्र पुरुषार्थ सम्भव नहीं है। इतना कहने के उपरान्त भी वे कहते हैं कि यदि स्त्री, दर्शन से शुद्ध हो तो वह पापरहित है, भली है।[250]

अष्टपाहुड़ में सूत्रपाहुड़ की मूल गाथाएँ निम्न प्रकार हैं –

लिंगं इत्थीण हवदि, भुंजइ पिंड सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था, वत्थावरणेण भुंजेदि ।। 22।।
ण वि सिज्झदि वत्थधरो, जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो वि मोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे ।। 23।।
लिंगम्मि य इत्थीणं, थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु ।
भणिओ सुहुमो काओ, तासिं कह होइ पव्वज्जा।। 24।।
जइ दंसणेण सुद्धा, उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता ।
घोरं चरिय चरित्तं, इत्थीसु ण पव्वया भणिया ।। 25।।
चित्तासोहि ण तेसिं, ढिल्लं भावं तहा सहावेण ।
विज्जदि मासा तेसिं, इत्थीसु ण संकया झाणा ।। 26।।

अर्थात् स्त्रियों का तीसरा लिंग इस प्रकार है – आर्यिका एक काल में भोजन करे, बार-बार भोजन न करे, एक वस्त्र ही धारण करे और भोजन करते समय भी वस्त्र के आवरण सहित रहे, नग्न नहीं हो।। 22।।

जिनशासन में इस प्रकार कहा है कि वस्त्र को धारण करने वाला सीझता नहीं है, मोक्ष नहीं पाता है। यदि तीर्थंकर भी हो तो जब तक गृहस्थ रहे, तब तक मोक्ष नहीं पाता है; दीक्षा लेकर दिगम्बररूप धारण करे, तब मोक्ष पावे क्योंकि नग्नपना ही मोक्षमार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं।। 23।।

स्त्रियों के लिंग अर्थात् योनि में, स्तनान्तर अर्थात् दोनों कुचों के मध्य प्रदेश में, कक्ष अर्थात् दोनों काँखों में तथा नाभि में सूक्ष्मकाय अर्थात् दृष्टि के अगोचर जीव कहे हैं; इस प्रकार स्त्रियों के प्रव्रज्या अर्थात् महाव्रतरूप दीक्षा कैसे हो?

स्त्रियों में जो स्त्री, दर्शन अर्थात् जिनमत की श्रद्धा से शुद्ध है, वह भी मार्ग से संयुक्त कही गई है। जो घोर चारित्र, तीव्र तपश्चरण आदि आचरण से पापरहित होती है, इसलिए उसे पापयुक्त नहीं कहते हैं।

(भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कहते हैं कि स्त्रियों में जो स्त्री सम्यक्त्व सहित हो और तपश्चरण करे तो पापरहित होकर स्वर्ग को प्राप्त हो, इसलिए प्रशंसा करने योग्य है, स्त्रीपर्याय से मोक्ष नहीं है।)

स्त्रियों के चित्त की शुद्धता नहीं होती है, स्वभाव से ही उनका ढ़ीला भाव होता है, शिथिल परिणाम होता है, तथा उनको प्रतिमास रुधिर का स्राव होता है, उसकी शंका बनी रहती है; अतः स्त्रियों को ध्यान नहीं होता है। (भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कहते हैं कि ध्यान के बिना केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हो और केवलज्ञान के बिना मोक्ष नहीं है।)

यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्द ने स्त्रियों की दीक्षा का निषेध किया है, उससे यह समझना चाहिए कि जिस प्रकार आर्यिकाओं में उपचार से महाव्रत माने जाते हैं; उसी प्रकार उनकी दीक्षा को भी उपचार से मानने में कोई दोष नहीं है। प्रवचनसार की आचार्य जयसेन कृत टीका में कहा है कि ''वे स्त्रियाँ, जिनदीक्षा ग्रहण करके विशेष तपश्चरण के द्वारा सोलहवें स्वर्ग में जाकर, पुनः वहाँ से आकर पुरुषवेद प्राप्त करके मोक्ष जाएँगी;''[251] अतः इस अपेक्षा उनकी भी दीक्षा को उपचार से मान्यता प्रदान की गई है।

क्षुल्लिका की विशेषताएँ[252]

- हम कह सकते हैं कि जो अन्तर ऐलक और क्षुल्लक में होता है, वही अन्तर आर्यिका और क्षुल्लिका में होता है क्योंकि जिनागम में ऐलिका नाम के किसी पद की सम्भावना नहीं मानी गई है।
- क्षुल्लिका को भी ग्यारहवीं प्रतिमाधारी मानी जाती है। उसकी सारी क्रियाएँ क्षुल्लक के समान होती हैं। इसी प्रकार क्षुल्लिका के समस्त भेद-प्रभेद भी क्षुल्लक के समान समझना चाहिए।
- क्षुल्लिका को अपने से वरिष्ठ आर्यिकाओं के पास रहना चाहिए। मासिक धर्म की कठिनाई के समय, अन्य श्राविकाओं के घर पर भी रह सकती हैं, कठिनाई दूर होने पर पुनः संघ में आ जावें। अथवा संघ में योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अनुकूलता हो तो वहाँ रह कर भी उनका निर्वाह हो सकता है।
- क्षुल्लिका, सोलह हाथ की एक धोती तथा एक ओढ़ने के वस्त्र का ही प्रयोग करती है जबकि आर्यिका अवस्था में केवल एक धोती मात्र का ही प्रयोग होता है।
- क्षुल्लिकाएँ अपने पास शुद्धि निमित्य तत्सम दूसरी धोती भी रख सकती है, परन्तु वे एक समय में एक का ही प्रयोग करती हैं।
- क्षुल्लिकाओं को भी परस्पर 'इच्छामि' या 'इच्छाकार' के द्वारा सम्बोधन करना चाहिए। इस शब्द का अर्थ है कि जैसे आपको मुनिपद की भावना है, वैसे हमें भी मुनिपद की भावना है।

साधक श्रावक

जीवन के अन्त में आहारादि का सर्वथा त्याग कर सल्लेखना द्वारा आत्मसाधना करना, साधन है। इस प्रकार के साधन को अपनाते हुए ध्यानशुद्धिपूर्वक आत्मशोधन करने वाला साधक श्रावक कहलाता हैं।[253]

''श्रावक के बारह व्रतों में समाधिमरण को भी एक व्रत के रूप में किन्हीं आचार्यों ने गिनाया है। शिक्षाव्रतों में अन्तिम चतुर्थ व्रत समाधिमरण को गिनाया गया है। जबकि किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने सभी व्रतियों और अव्रतियों को भी इसकी आवश्यकता वर्णित की है क्योंकि वास्तव में अव्रती पाक्षिक श्रावक की भी यही इच्छा रहती है कि उसका मरण अच्छी तरह समाधिपूर्वक हो। यही कारण है कि श्रावक के तीन प्रकार बताये गये हैं; उनमें साधक श्रावक का एक स्वतन्त्र भेद बताया गया है। समाधि की निरन्तर भावना रख कर, उसके प्रति निरन्तर प्रयत्न करने वाले व्रती श्रावक को ही साधक संज्ञा दी जा सकती है।

इस जीव का मरण किसी भी समय किसी भी कारण से आ सकता है; वह कोई उपसर्ग भी हो सकता है, कोई बीमारी भी हो सकती है, कोई दुर्घटना भी हो सकती है; उस समय अपने परिणामों को सम्हाल कर समभाव पूर्वक समाधि की साधना कर लेना ही पुरुषार्थी का लक्षण है। जो सम्पूर्ण जीवन में ऐसी भावना रख कर जीवनचर्या करते हैं, उन्हें यह कठिन नहीं भी है। वे मरण समय को जान कर तत्काल अन्नाहार आदि का त्याग कर निःकषायभाव की आराधना करके शरीर का त्याग करते हैं। हम कह सकते हैं कि जिसने जीवन भर व्रत किया और अन्त समय समाधि का साधन नहीं किया, उसने जीवन भर कमाई हुई संपत्ति को उपयोग करने से पूर्व ही कुए में डाल दिया – ऐसा समझ कर इस व्रत या साधना का पालन अवश्य करना चाहिए। पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी इस व्रत का पालन कर सकती हैं।

इस प्रकार जिनका मरण होता है; उनकी कुगति नहीं होती है। अव्रती श्रावक से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा एवं मुनिपद तक अपनी अपनी योग्यता एवं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार यह साधना की जाती है।

समाधि के समय करने योग्य कार्यों को हम इस प्रकार समझ सकते हैं –

- समाधिमरण स्वीकार करने के बाद सबसे ममत्व त्याग कर द्वादश भावनाओं का विचार करना चाहिए।
- आरम्भ-परिग्रह को सर्वथा त्याग कर धर्मध्यान में अपना उपयोग लगाना चाहिए।
- सबके प्रति उत्तम क्षमा का भाव रख कर सबसे क्षमा-याचना करना चाहिए।
- किसी के प्रति राग-द्वेष बिल्कुल नहीं करना चाहिए।
- किसी भी वस्तु के प्रति वांछा का भाव नहीं रखना चाहिए।
- शरीर में कम्पन, उच्छ्वास, नेत्रों को खोलन, बन्द करना आदि क्रियाएँ नहीं करना चाहिए।
- अपने चित्त को लोक के ऊपर विराजमान सिद्धों के प्रति एकाग्र करना चाहिए।''[254]

महापुराण एवं सागार धर्मामृत में कहा है – ''जो श्रावक आनन्दित होता हुआ, जीवन के अन्त में अर्थात् मृत्यु समय शरीर, भोजन और मन-वचन-काय के व्यापार के त्याग से पवित्र ध्यान के द्वारा आत्मा की शुद्धि का साधन करता है, वह साधक श्रावक कहलाता है।''[255]

क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी लिखते हैं – ''अतिवृद्ध या असाध्य रोगग्रस्त हो जाने पर अथवा अप्रतिकार्य उपसर्ग आ पड़ने पर अथवा दुर्भिक्ष आदि के होने पर साधक साम्यभाव पूर्वक अन्तरंग कषायों का सम्यक् प्रकार दमन करते हुए भोजन आदि का त्याग करके, धीरे धीरे शरीर को कृश करते हुए इसका त्याग कर देते हैं। इसे ही सल्लेखना या समाधिमरण कहते हैं। यह समाधिमरण, सम्यग्दृष्टिजनों को यथार्थतः सम्भव होने से इसे पण्डितमरण भी कहते हैं। शरीर के प्रति जो स्वभाव से ही उपेक्षित हैं – ऐसे **श्रावक व साधु** को ऐसे अवसरों पर अथवा आयु पूर्ण होने पर इसी प्रकार की वीरता से शरीर का त्याग करना योग्य है। इसे आत्महत्या या आत्मघात कहना अनभिज्ञता का सूचक है।''[256]

तत्त्वार्थसूत्र में सल्लेखना का स्वरूप बताते हुए कहा है –

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता।[257]

अर्थात् जीवन के अन्त में मरण के समय होने वाली सल्लेखना को उत्साहपूर्वक करना चाहिए।

यह सूत्र गृहस्थों के बारह व्रतों के व्याख्यान के बाद आने के कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि गृहस्थ श्रावक भी सल्लेखना या समाधिमरण कर सकता है, वह भी इसके योग्य है। मुनि या श्रावक के व्रतों के साथ उत्साहपूर्वक जीवन व्यतीत करता हुआ साधक, मरण समय निकट जान कर, समाधिपूर्वक मरना चाहता है तो वह सल्लेखनाव्रत धारण करता है। भले प्रकार से काय और कषाय का कृश करना, **सल्लेखना** है। इस समय साधक साधर्मियों या कुटुम्ब आदि से ममत्व घटा कर अन्त में देह आहार और ईहित का त्याग करते हुए आत्मध्यान में अपने को जुटाता है। यह व्रत, मरण से पूर्व मरणपर्यन्त के लिए लिया जाता है, इसी कारण इसे **मारणान्तिकी सल्लेखना** भी कहा गया है। यह व्रत, मुनि और श्रावक दोनों के लिए बतलाया है।

राजवार्तिक में सल्लेखना की विशेषरूप से दो विशेषताओं का उल्लेख किया गया है –

1. जो मरणविशेष अर्थात् समाधिमरण को सम्पन्न करने में समर्थ है।
2. जो बिना किसी की प्रेरणा के स्वयं अपने मन में धारण की जाती है।[258]

शंका – इस व्रत का धारी व्यक्ति क्रम से आहार-पानी का त्याग करके शरीर का विसर्जन करता है, यह तो स्ववध ही है और स्ववध तथा आत्मघात में कोई अन्तर नहीं है, इसलिए इसे व्रत मानना उचित नहीं है?

समाधान – राग द्वेष या मोहवश विष शस्त्र आदि से अपना नाश करना, स्ववध है। जबकि यह बात सल्लेखना में नहीं देखी जाती, इसलिए इसे स्ववध मानना उचित नहीं है। सल्लेखनाव्रत तभी लिया जाता है, जब लेने वाला अन्य कारणों से अपने जीवन का अन्त निकट भविष्य में समझ लेता है।

जैसे, व्यापारी अपने माल की हर प्रकार से रक्षा करता है और उसके विनाश के कारण उपस्थित हो जाने पर वह उनको दूर करने का प्रयत्न करता है। इतने पर भी यदि वह सबकी रक्षा करने में अपने को असमर्थ पाता है तो उसमें जो बहुमूल्य वस्तु होती है, उसकी सर्वप्रथम रक्षा करता है।

इसी प्रकार मुनि अथवा गृहस्थ भी व्रत और शील के समुचित रीति से पालन करने के लिए शरीर का नाश नहीं करना चाहता, उन कारणों को दूर करने का प्रयत्न भी करता है। इतने पर भी यदि वह देखता है कि मैं शरीर की रक्षा नहीं कर सकता तो वह अपने आत्मा की उत्तम प्रकार से रक्षा करते हुए अर्थात् आत्मा को राग द्वेष और मोह से बचाते हुए शरीर का त्याग करता है। इसलिए इस सल्लेखनाव्रत को स्वहिंसा नहीं माना जा सकता।

शंका – जलसमाधि अग्निपात आदि अनेक प्रथाएँ अन्य सम्प्रदायों में प्रचलित हैं; उनमें और सल्लेखना में क्या अन्तर है?

समाधान – जब यह निश्चय हो जाता है कि मेरा मरण अतिनिकट है, तब सल्लेखनाव्रत लिया जाता है, वह भी शरीर आदि बाह्य पदार्थों से राग द्वेष और मोह को कम करने के लिए ही लिया जाता है, केवल अकाल में मरने के लिए नहीं; किन्तु यह बात जलसमाधि अग्निपात आदि प्रथाओं में नहीं देखी जाती। इसलिए उनमें और सल्लेखना मे बड़ा भारी अन्तर है।

सल्लेखना स्पष्टतः आत्मशुद्धि का एक प्रकार है, जबकि जलसमाधि आदि स्पष्टतः आत्मघात हैं क्योंकि वे मरण काल को निकट जान कर नहीं किये जाते। यद्यपि उसमें भी अर्पण की भावना काम करती है, लेकिन मात्र उतने कारणों से जलसमाधि आदि के द्वारा आत्मघात करना उचित नहीं है। अन्त में दुर्ध्यान से बचाने की उसमें कोई व्यवस्था नहीं है, जबकि सल्लेखना में इसका पूर्णतः ध्यान रखा जाता है, योग्य निर्यापक के मार्गदर्शन में ही सल्लेखना ली जाती है। हम यह कह सकते हैं कि सल्लेखना आत्मघात तो है ही नहीं बल्कि आत्मघात से बचाने की अमोघ औषधि है। सल्लेखना के बिना आत्मघात के समान पीड़ा होने की सम्भावना अवश्य होती है।

समाधिमरण की विधियाँ[259]

समाधिमरण की मुख्यतः तीन विधियाँ आगम में वर्णित हैं – 1. भक्तप्रत्याख्यान विधि, 2. इंगिनीमरण विधि, 3. प्रायोपगमन विधि। इन विधियों का उल्लेख मुख्यतः मुनियों के प्रकरण में वर्णित किया गया है। विस्तार के लिए इस शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय : श्रमणाचार के स्वरूप का अवलोकन करें।

श्रावकों की मुख्यता से समाधिमरण विधि

आगम में समर्थ व असमर्थ, श्रावकों की समाधिमरण विधियों का उल्लेख अलग अलग प्राप्त होता है। जहाँ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, चारित्रसार, सागार धर्मामृत आदि में **समर्थ श्रावकों की विधि**[260] का वर्णन मिलता है, वहीं भगवती आराधना, वसुनन्दि श्रावकाचार, सागार धर्मामृत आदि में **असमर्थ श्रावकों की विधि**[261] का वर्णन प्राप्त होता है।

समर्थ श्रावकों की समाधिमरण विधि

- सल्लेखना धारण करने वाला शीत-उष्ण आदि में हर्ष-विषाद न करे।
- स्नेह, वैर, परिग्रह को छोड़ कर शुद्ध होता हुआ प्रिय वचनों से अपने कुटुम्बियों और नौकर-चाकरों से भी क्षमा करावे और स्वयं भी उन्हें क्षमा करे।
- कृत-कारित-अनुमोदना सहित पूर्व में किये हुए समस्त पापों की आलोचना, छलकपट रहित होकर करके मरण पर्यन्त रहने वाले समस्त महाव्रतों को धारण करे।
- शोक, भय, विषाद, राग, कलुषता और अरति को त्याग करके तथा अपने बल और उत्साह प्रगट करके संसार के दुःखरूपी सन्ताप को दूर करने वाले अमृतरूप शास्त्रों के श्रवण से मन को प्रसन्न करे।
- क्रम-क्रम से आहार को छोड़ कर दुग्ध या छाछ को बढ़ावे और पीछे दुग्धादिक को छोड़ कर कांजी और गरम जल को बढ़ावे। तत्पश्चात् उष्ण जलपान का भी त्याग करके और शक्त्यनुसार उपवास करके पंच नमस्कार मन्त्र को मन में धारण करता हुआ शरीर को छोड़े।

असमर्थ श्रावकों की समाधिमरण विधि

- असमर्थ श्रावकों को भी राग-द्वेष का त्याग, समता का धारण तथा परिजनों आदि से क्षमा आदि का करना तो यहाँ भी आवश्यक है।[262]

- यह श्रावक, वस्त्रमात्र परिग्रह को रख कर और शेष समस्त परिग्रह को छोड़ कर, अपने ही घर में अथवा जिनालय में रह कर, गुरु के समीप में मन-वचन-काय की भले प्रकार आलोचना करके पान के सिवाय शेष तीन प्रकार के आहार का त्याग करता है।[263]
- मृत्यु का समय निकट आने पर जब शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाए तो उसे जल का भी त्याग कर देना चाहिए।[264]
- तात्पर्य यह है कि जो क्षपक, परीषह सहन करने में खूब समर्थ है, उसे चार प्रकार के आहार का और जो असमर्थ है, उसे तीन प्रकार के आहार का त्याग कराना चाहिए।[265]
- बारह व्रतों को पालने वाले गृहस्थ को सहसा मरण आने पर, जीवित की आशा रहने पर, अथवा बन्धुओं ने जिसको दीक्षा की अनुमति नहीं दी है – ऐसे प्रसंग में जो श्रावक, शरीर-सल्लेखना और कषाय-सल्लेखना न करके भी आलोचना कर, निःशल्य होकर घर में ही संस्तर पर आरोहण करता है, उस गृहस्थ की मृत्यु को बाल-पण्डित-मरण कहते हैं।[266]

इस प्रकार **'अतिचार एवं प्रायश्चित्त – स्वरूप एवं विश्लेषण : जैन संविधान के सन्दर्भ में'** – इस शोध-प्रबन्ध के 'द्वितीय अध्याय : **श्रावकाचार : जैन संविधान के परिप्रेक्ष्य में'** का विवरण पूर्ण होता है।

इति शुभं भवतु।

सन्दर्भ-सूची

द्वितीय अध्याय : श्रावकाचार : जैन संविधान के परिप्रेक्ष्य में

001. जैन, फूलचन्द, **ज्ञानपीठ पूजांजलि,** प्रस्तावना, पृष्ठ 1

002. **दर्शनपाहुड़,** 2

003. **मूलाचार प्रदीप,** 1619-1621

004. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** 34

005. **मोक्षपाहुड़**, 39 एवं **रयणसार**, 90

006. **भगवती आराधना,** 735

007. **चारित्तपाहुड़**, 20

008. **भावपाहुड़**, 144

009. **रयणसार,** 47 एवं **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** 31-32

010. **मोक्षपाहुड़,** 88 एवं **बारस अणुवेक्खा,** 90

011. **रयणसार,** 54 व 158

012. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**, 28

013. **आचारसार,** 2/68

014. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** 34

015. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा,** 325-326

016. **मोक्षपाहुड़,** 89

017. **रयणसार** 4, **समयसार आत्मख्याति** कलश 6 व 216 एवं **तात्पर्यवृत्ति** 2, 38, 144, 155, व 314-315, **वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका** 14, 22, 40, 41 व 45, **पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति** 107, **प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका तात्पर्यवृत्ति** 242, **परमात्मप्रकाश** 2, **पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध** 215, आदि के आधार पर

018. वही

019. वही

020. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** 4, **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** 317, **मूलाचार** 203, **समयसार** 155, **तात्पर्यवृत्ति** 176, **दर्शनपाहुड** 19–20, **सूत्रपाहुड़** 5, **मोक्षपाहुड** 38 व 90, **नियमसार तात्पर्यवृत्ति** 5, **धवला** 1/151, **वसुनन्दि श्रावकाचार** 6 व 10, **रयणसार, पंचास्तिकायसंग्रह** 107, **परमात्मप्रकाश** 2/13, **क्षपणासार** 165, **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** 22, **वृहद्द्रव्यसंग्रह** 41 के आधार पर

021. **धवला** 1/151

022. **परमात्मप्रकाश टीका** 2/17

023. **समयसार आत्मख्याति तात्पर्यवृत्ति** 13, कलश 8

024. **तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थवार्तिक** 1/2 व 3, **भगवती आराधना** विजयोदया टीका 16 व 51, **धवला** 1/151, **परमात्मप्रकाश** 2/17, **समयसार तात्पर्यवृत्ति** 97, **पंचास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति** 150-151, **वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका** 41, **अमितगति श्रावकाचार** 2/65-66,

025. **मोक्षमार्गप्रकाशक** 9/323-330

026. **वही**, पृष्ठ 223

027. **वही,** पृष्ठ 224

028. **वही,** पृष्ठ 225

029. **वही,** पृष्ठ 226

030. **वही,** पृष्ठ 227

031. **वही,** पृष्ठ 230

032. **वही,** पृष्ठ 230

033. **सर्वार्थसिद्धि** 1/7, **धवला** 1/396

034. **तत्त्वार्थसूत्र,** 1/3, **सर्वार्थसिद्धि** 1/7

035. **ज्ञानार्णव** 6/7, **गोम्मटसार जीवतत्त्वप्रदीपिका** 704

036. **राजवार्तिक** 3/36, **दर्शनपाहुड़ टीका** 12, **अनगार धर्मामृत** 2/62, **आत्मानुशासन** 11-14

037. **तत्त्वार्थवार्तिक** 1/7, **दर्शनपाहुड़ टीका** 12

038. **षट्खण्डागम** 1/144/395

039. **द्रव्यसंग्रह टीका**, 13/34/5; सागार धर्मामृत, 1/16; एवं **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 4, पृष्ठ 46

040. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा टीका**, 3/50

041. पण्डित आशाधर, **सागार धर्मामृत** एवं स्वोपज्ञ टीका, 1/15

042. जैन नेमिचन्द्र, **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 1),** पृष्ठ 509, प्रकाशक, आचार्य शान्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) (1992)

043. **सागार धर्मामृत,** हिन्दी टीका, श्लोक 2/1

044. **वही**, पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित विशेषार्थ

045. **चारित्रसार,** 41/3

046. जैन नेमिचन्द्र, **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 1),** पृष्ठ 509–510, प्रकाशक, आचार्य शान्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) (1992)

047. **पंचाध्यायी,** उत्तरार्द्ध, 725

048. **सागार धर्मामृत,** 1/20

049. **सागार धर्मामृत**, पण्डित आशाधर, प्रथम अध्याय, श्लोक 19–20, हिन्दी अर्थ, पृष्ठ 37 व 39;

050. और देखें, **सागार धर्मामृत,** 3/4, पृष्ठ 123

052. **सागार धर्मामृत**, पण्डित आशाधर, द्वितीय अध्याय, श्लोक 2, पृष्ठ 41–42, 'ज्ञानदीपिका' संस्कृत पंजिका टीका, सम्पादक, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, (1978)

053. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** आचार्य समन्तभद्र, श्लोक 66, अनुवादिका, आर्यिका स्याद्वादमती, प्रकाशक, श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, लखनऊ (उ.प्र.) (2003)

054. **सागार धर्मामृत,** 2/3, पृष्ठ 43, 'ज्ञानदीपिका' संस्कृत पंजिका टीका; और देखें, **चारित्रसार,** पृष्ठ 62

055. **महापुराण**, आचार्य जिनसेन, 38/122, प्रकाशक, श्री शान्तिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था, फलटण (1982)

056. **भावसंग्रह,** आचार्य देवसेन, गाथा 356, हिन्दी टीकाकार, पण्डित लालाराम शास्त्री, प्रकाशक, आर्यिका सुमतिमती दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, अकलूज, सोलापुर (1987)

057. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**, आचार्य समन्तभद्र, पृष्ठ 112 एवं 127–136, भाषाटीका, पण्डित सदासुखदास, प्रकाशक, श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, अजमेर (राज.) (2003)एवं कवि भूधरदास; एवं **जैन शतक,** छन्द 51–57, अनुवादक – डॉ. वीरसागर जैन, नई दिल्ली के आधार पर

058. आचार्य सूर्यसागर; **संयम प्रकाश,** उत्तरार्द्ध, भाग 1, पृष्ठ 214, प्राप्तिस्थान, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, शालीमार बाग, दिल्ली (1995) एवं भारिल्ल रतनचन्द; **सामान्य श्रावकाचार,** पृष्ठ 63, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, (1995)

059. भारिल्ल रतनचन्द; **सामान्य श्रावकाचार,** पृष्ठ 64, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, (1995)

060. **तद्विरतस्य तत्समानफलत्वाद्धातुवादाद्युपव्यसनानामपि दूरपरिहरणीयतामुपदिशति।**

– **सागार धर्मामृत**, 3/18 की उत्थानिका, पृष्ठ 133

061. **वही,** 3/9–24, पृष्ठ 126–137

062. देखें, **पद्मनन्दि पंचविंशतिः,** 1/16, 6/10; **वसुनन्दि श्रावकाचार**, 59; **लाटी संहिता,** 2/113

063. **जैन शतक,** कविवर भूधरदास, छन्द 50; और देखे, पण्डित बनारसीदास; **नाटक समयसार**, साध्य-साधक द्वार, छन्द 27

064. **उमास्वामी श्रावकाचार,** श्लोक 468–470, श्रावकाचार संग्रह, भाग 3, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर

065. **पद्मनन्दि पंचविंशतिः,** 1/32

066. **नाटक समयसार,** साध्य-साधक द्वार, छन्द 29; एवं जैन कल्पना, **वीतराग विज्ञान विवेचिका,** पृष्ठ 116, प्रकाशक, श्री वीतराग विज्ञान प्रभावना मण्डल, कानपुर – 11, (2001)

067. **सागार धर्मामृत,** 2/7, पृष्ठ 50, विशेषार्थ; **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,** 66–68 एवं सम्बोध प्रकरण, 6/75

068. **सागार धर्मामृत,** 2/10, पृष्ठ 52 एवं विशेषार्थ

069. **वही**, 2/6, पृष्ठ 46 070. **वही**, 3/12, पृष्ठ 127 071. **वही**, 3/19, पृष्ठ 134

072. **नाटक समयसार**, साध्य-साधक द्वार, छन्द 29; एवं जैन कल्पना, **वीतराग विज्ञान विवेचिका**, पृष्ठ 117

073. **सागार धर्मामृत,** 2/4, पृष्ठ 44

074. **सागार धर्मामृत,** 2/12–13, पृष्ठ 55; और देखें, **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,** 73; **अमितगति श्रावकाचार,** 5/70; और देखें, **उपासकाध्ययन एवं टीका,** आचार्य सोमदेवसूरि, श्लोक 295, पृष्ठ 136, सम्पादन-अनुवाद, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली (1964)

075. **छहढ़ाला,** 1/2

076. **नाटक समयसार,** साध्य-साधक द्वार, छन्द 29; एवं जैन कल्पना, **वीतराग विज्ञान विवेचिका,** पृष्ठ 118

077. और देखें, **पद्मनन्दि पंचविंशतिका**, आचार्य पद्मनन्दि, 1/17, 23–24, हिन्दी टीकाकार, पण्डित गजाधरलाल न्यायतीर्थ, प्रकाशक, श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मण्डल ट्रस्ट, नागपुर (1996)

078. **नाटक समयसार,** साध्य-साधक द्वार, छन्द 29; एवं जैन कल्पना, वीतराग विज्ञान विवेचिका, पृष्ठ 118

079. **सागार धर्मामृत,** 2/17, पृष्ठ 61; और देखें, पद्मनन्दि पंचविंशतिः एवं पद्मनन्दि पंचविंशतिका, 1/25

080. **वही**, 1/26

081. **नाटक समयसार,** साध्य-साधक द्वार, छन्द 29; एवं जैन कल्पना, **वीतराग विज्ञान विवेचिका,** पृष्ठ 119

082. और देखें, **पद्मनन्दि पंचविंशतिका**, आचार्य पद्मनन्दि, 1/28, हिन्दी टीकाकार, पण्डित गजाधरलाल न्यायतीर्थ

083. **नाटक समयसार**, साध्य-साधक द्वार, छन्द 29; एवं जैन कल्पना, वीतराग विज्ञान विवेचिका, पृष्ठ 120

084. **पद्मनन्दि पंचविंशतिका**, आचार्य पद्मनन्दि, 1/29, भावार्थ, हिन्दी टीकाकार, पण्डित गजाधरलाल न्यायतीर्थ

085. **नाटक समयसार,** साध्य-साधक द्वार, छन्द 29; एवं जैन कल्पना, **वीतराग विज्ञान विवेचिका,** पृष्ठ 121

086. पण्डित चम्पालाल, **चर्चासागर,** चर्चा 207, पृष्ठ 412–443 के आधार पर

087. **वही** 088. **वही** 089. **वही** 090. **वही** 091. **वही** 092. **वही** 093. **वही**

089. पण्डित चम्पालाल, **चर्चासागर,** चर्चा 12-13, पृष्ठ 14–15 के आधार पर

090. **पद्मनन्दि पंचविंशतिका**, आचार्य पद्मनन्दि, 6/16–17

091. सेठी, मोहनलाल, **वर्तमान में जैन श्रावकाचार पालन,** पृष्ठ 1–7 के आधार पर

092. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा टीका**, पृष्ठ 57

093. **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, गाथा 187–190, जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका, केशव वर्णी, सम्पादक, आ. ने उपाध्ये एवं सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2000) के आधार पर

094. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा टीका**, पृष्ठ 147 के आधार पर

095. **वही**, पृष्ठ 140 के आधार पर 096. **वही**, पृष्ठ 141 के आधार पर 097. **वही**, पृष्ठ 141 के आधार पर

098. **नाटक समयसार,** चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द 55, पृष्ठ 384; **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 3, पृष्ठ 202; एवं भारिल्ल, हुकमचन्द, **वीतराग विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका,** 155

099. **क्रियाकोष,** कवि किशनसिंह, पृष्ठ 16, गद्यानुवादक, पण्डित पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रकाशक, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (1985)

100. **आचार निर्देशिका संग्रह**; मूल प्रेरक, बाल ब्र. रवीन्द्रकुमारजी; प्रेरणास्रोत, बाल ब्र. सुमतप्रकाशजी; पृष्ठ 46, प्रकाशक, श्री मुलतान दिगम्बर जैन समाज, आदर्शनगर, जयपुर एवं अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, जयपुर के आधार पर

101. जैन नेमिचन्द्र, **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 1),** पृष्ठ 509–510; और देखें, पण्डित आशाधर; **सागार धर्मामृत**, 1/11, स्वोपज्ञ टीका, पृष्ठ 10–21

102. **आचार्य सूर्यसागर;** संयम प्रकाश, उत्तरार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 247–252 के आधार पर

103. **वही** 104. **वही** 105. **वही** 106. **वही** 107. **वही** 108. **वही** 109. **वही**

110. जिनेन्द्र वर्णी, **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 442–443 111. **मूलाराधना टीका;** 646

112. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 230 113. **त्रिलोकसार,** 924 114. **अनगार धर्मामृत,** 5/34

115. **बोधपाहुड,** टीका, 48 116. **लाटी संहिता,** 5/251 117. **चर्चा समाधान,** 53, पृष्ठ 50

118. **जयसेन प्रतिष्ठापाठ,** 258 119. **प्रायश्चित्त संग्रह,** 353 120. **महापुराण,** 38/90-91

121. **प्रायश्चित्त संग्रह,** 153 122. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** 4/443 123. **अनगार धर्मामृत,** 5/34-35

124. **त्रिलोकसार,** 924 125. **सागार धर्मामृत,** 4/31 126. **महापुराण,** 38/70

127. **प्रायश्चित्त विधान,** गाथा 87-89 128. **प्रायश्चित्त विधान,** गाथा 90-91

129. **प्रायश्चित्त विधान,** गाथा 92-93 130. **प्रायश्चित्त विधान,** गाथा 94-95

131. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 137-141 एवं **चर्चासागर,** चर्चा 190–191, पृष्ठ 363–369 के आधार पर

132. **प्रायश्चित्त विधान,** गाथा 96-99 133. **प्रायश्चित्त विधान,** गाथा 100

134. **प्रायश्चित्त विधान,** गाथा 101-103 35. और देखें, पण्डित आशाधर; **सागार धर्मामृत**, 1/20, स्वोपज्ञ टीका, पृष्ठ 39

136. **वही**, 3/1, पृष्ठ 120

137. जैन, फूलचन्द, **तत्त्वार्थसूत्र,** प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 7/3-8, पृष्ठ 214, 216

138. इन व्रतों की बारह भावनाओं का विस्तृत विवेचन **तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओं,** जिनमें प्रमुखतः **सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थमंजूषा, तत्त्वार्थवृत्ति** एवं **तत्त्वार्थसूत्र** की अन्य विद्वानों द्वारा लिखी गई टीकाओं के सप्तम अध्याय, सूत्र 1-12 तक किया गया है। पाठक वहाँ से जान सकते हैं।

139. **प्रायश्चित्त विधान,** आचार्य आदिसागर अंकलीकर, श्लोक 4–6 एवं उसका अर्थ, संस्कृतानुवाद, आचार्य महावीरकीर्ति, हिन्दी टीकाकर्ती, आर्यिका विजयमती, सम्पादक, विष्णुकुमार चौधरी, टिप्पणी, आचार्य सन्मतिसागर, प्रकाशक, आचार्य आदिसागर अंकलीकर विद्यालय, इटावा, उ.प्र.

140. **वही**. श्लोक 4–6

141. **अनगार धर्मामृत,** नवम अध्याय, 99, विशेषार्थ, पृष्ठ 701–702

142. **प्रायश्चित्त विधान,** श्लोक 7–8 एवं उसका अर्थ

143. **तत्त्वार्थसूत्र** एवं उसकी टीकाएँ, सप्तम अध्याय, सूत्र 13-17 के आधार पर

144. जैन नेमिचन्द्र, **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 1),** पृष्ठ 51

145. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,** आचार्य अमृतचन्द्र श्लोक 44, टीकाकार, पण्डित मुन्नालाल रांधेलीय (वर्णी), प्रकाशक, स्वाधीन ग्रन्थमाला, सन्तोष भवन, कटरा बाजार, सागर, म.प्र. (1969)

146. **समयसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा 207, **आत्मख्याति टीका**, आचार्य अमृतचन्द्र, गुजराती अनुवादक, पं. हिम्मतलाल जेठालाल शाह, हिन्दी अनुवादक, पं. परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (2005)

147. **सवार्थसिद्धि**, आचार्य पूज्यपाद, अध्याय 6, सूत्र 15, सम्पादक, सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली (1991)

148. **तत्त्वार्थवार्तिक** (भाग 1-2), आचार्य अकलंकदेव, अध्याय 7, सूत्र 17, हिन्दी अनुवादिका, आर्यिका सुपार्श्वमती, प्रकाशक, दुलीचन्द बाकलीवाल, यूनिवर्सल एजेन्सीज्, देरगांव, आसाम

149. **सवार्थसिद्धि**, आचार्य पूज्यपाद, अध्याय 4, सूत्र 21,

150. **धवला,** आचार्य वीरसेन, 12/282, मूलग्रन्थ षट्खण्डागम, आचार्य भूतबलि–पुष्पदन्त, सम्पादक, हीरालाल जैन, सहसम्पादकद्वय, पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री एवं पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र, अमरावती एवं श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर

151. **छहढाला,** कविवर दौलतराम, पहली ढाल, छन्द 3, टीकाकार, पण्डित रामजीभाई दोशी, सम्पादन, पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशक, तीर्थधाम मंगलायतन, श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (2006)

152. **समयसार,** आचार्य कुन्दकुन्द; गाथा 207

153. **प्रवचनसार,** आचार्य कुन्दकुन्द; गाथा 222 से 225 तक का अर्थ

154. **तत्त्वार्थसूत्र,** आचार्य उमास्वामी; सप्तम अध्याय, सूत्र 18

155. **तत्त्वार्थसूत्र,** आचार्य उमास्वामी; सप्तम अध्याय, सूत्र 19–21 के आधार पर

156. **जिनवाणी मासिक पत्रिका**, दिसम्बर 2007, पृष्ठ 5–8, **अचौर्यव्रत और नैतिकता,** डॉ. धर्मचन्द जैन, के आधार पर

157. वही

158. पण्डित बनारसीदास; **नाटक समयसार,** चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द 67, पृष्ठ 388

159. **मूलाचार,** 1017–1020; **भावपाहुड़ टीका, 118–120; एवं चर्चासागर,** चर्चा 87 के आधार पर

160. मूलाचार, 1017–1020 एवं भावपाहुड़ 118 एवं 120 के आधार पर

161. वही

162. **चर्चासागर,** चर्चा 87 के आधार पर

163. **वही,** चर्चा 113, पृष्ठ 120-124 के आधार पर

164. वही

165. वही

166. वही

167. वही

168. **वसुनन्दि-श्रावकाचार, श्रावकाचार-संग्रह, भाग 1,** गाथा 215, सम्पादक-अनुवादक, सिद्धान्ताचार्य पं. हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2001)

169. **नामसंस्थापनाद्रव्य.-क्षेत्रकालेषु श्रीजिनैः। उक्तं सामायिकं भावं, षड्विधं धर्ममुक्तिदम्।। 23।।**
शुभेतरविकल्पं यः, श्रुत्वा नामकदम्बकम्। रागादिकं त्यजेद्धीमान्, नामसामायिकं लभेत्।। 24।।
दृष्ट्वा शुभाशुभं रूपं, चेतनेतरजं हि यः। त्यजेद्रागादिकं स, स्थापनासामायिकं भवेत्।। 25।।
लोष्ठहेमादिद्रव्येषु, समचित्तं करोति यः। द्रव्यसामायिकं तस्य, भवेन्नाऽन्यस्य सर्वथा।। 26।।
शुभेतरप्रदेशं यः, सुखदुःखादिसंकुलम्। प्राप्य रागादिकं हन्यात्, क्षेत्रसामायिकं लभेत्।। 27।।
शीतोष्णादिषु कालेषु, समतां यो वितन्वते। कालसामायिकं तस्य, भवत्येव न संशयः।। 28।।
त्यक्त्वा रागादिकं योरिमित्रादिषु करोति सः। समताधिष्ठितं भावं, भावसामायिकं लभेत्।। 29।।

– **प्रश्नोत्तरोपासकाचार (प्रश्नोत्तर-श्रावकाचार),** आचार्य श्री सकलकीर्ति, 18/23-**29, श्रावकाचार संग्रह,** भाग 2, पृष्ठ 343, सम्पादक-अनुवादक, सिद्धान्ताचार्य पं. हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2001); और देखें, पण्डित चम्पालाल, **चर्चासागर,** चर्चा 108, पृष्ठ 115

170. पण्डित चम्पालाल, **चर्चासागर,** चर्चा 34-35, पृष्ठ 37-38

171. दाल, रोटी, भात आदि भोजन के पदार्थों को **खाद्य** कहते हैं। पेड़ा, बरफी, लौंग, इलायची आदि स्वाद लेने योग्य पदार्थों को **स्वाद्य** कहते हैं। चाटने योग्य रबड़ी चटनी आदि को **अवलेह** कहते हैं। तथा दूध, पानी आदि पीने योग्य पदार्थों को **पान** कहते हैं।

172. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा,** गाथा 378

173. आचार्य शुभचन्द्र, **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, संस्कृत टीका, श्लोक 359, पृष्ठ 261/ श्लोक 378, पृष्ठ 276/श्लोक 442, पृष्ठ 331 एवं आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल, मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 231

174. **प्रश्नोत्तरोपासकाचार (प्रश्नोत्तर-श्रावकाचार),** आचार्य श्री सकलकीर्ति, 19/7

175. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** आचार्य समन्तभद्र, श्लोक 87, अनुवादिका, आर्यिका स्याद्वादमती, प्रकाशक, श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, लखनऊ (2003)

176. पण्डित चम्पालाल, **चर्चासागर,** चर्चा 33, पृष्ठ 37

177. **श्रावकधर्मसंग्रह,** दरयावसिंह सोधिया, पृष्ठ 144, सम्पादक, परमानन्द जैन शास्त्री, प्रकाशक, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर (वि.सं, 2006, वीर निर्वाण 2476); एवं **श्रावक-धर्म-संहिता,** दरयावसिंह सोधिया, पृष्ठ 105-106, प्रकाशक, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली (1975) के आधार पर

178. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार, हिन्दी टीका,** पृष्ठ 148-149 के आधार पर

179. **तत्त्वार्थ राजवार्तिक**, सप्तम अध्याय, सूत्र 21/26; और देखें, **श्रावकधर्मप्रदीप,** पृष्ठ 107; **बालबोध विवेचिका,** पृष्ठ 100-102; आदि अनेक श्रावकाचार

180. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार, हिन्दी टीका,** पृष्ठ 144 के आधार पर

181. **श्रावकधर्मसंग्रह,** दरयावसिंह सोधिया, पृष्ठ 159-183 एवं **श्रावक-धर्म-संहिता,** दरयावसिंह सोधिया, पृष्ठ 115-123,

182. वही

183. अष्टांग अर्थात् **शिर नितम्ब उर पीठ कर, जुगल जुगल पद टेक।**
अष्ट अंग हैं तन विषै, और उपंग अनेक।।

184. **भोजनशुद्धि** – इसके अन्तर्गत द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की शुद्धि पर ध्यान देना चाहिए अर्थात् भोजन के पदार्थ शुद्ध मर्यादीक तथा रसोई बनाने की सामग्री – बर्तन, लकड़ी आदि शुद्ध एवं निर्जन्तुक होना चाहिए। रसोई बनाने वाला रसोई के बनाने की विधि का ज्ञाता हो, धर्मबुद्धि हो। रसोई करने का तथा आहार देने का स्थान, चँदोवा सहित, मिट्टी से लिपा हुआ, स्वच्छ, निर्जन्तुक होना चाहिए। रसोई ठीक समय पर तैयार होकर, दोपहर की सामायिक के पहले पहले योग्य पात्र को देना चाहिए। पवित्र और उत्साहित चित्त होकर अपनी योग्यतानुसार अपनी गृहस्थी के लिए तैयार भोजन में से पात्रदान करना चाहिए, पात्र के निमित्त नहीं बनाना चाहिए। ध्यान रहे भोजन में कोई भी सचित्त पदार्थ न हो। जल को अच्छी तरह गर्म करके उसे उतार कर ठण्डा कर लें, यही जल, भोजन के समय और कमण्डलु में भरने के काम लावें।

185. **श्रावकधर्मसंग्रह,** दरयावसिंह सोधिया, पृष्ठ 159-183 एवं **श्रावक-धर्म-संहिता,** दरयावसिंह सोधिया, पृष्ठ 115-123

186. प्रत्येक प्रतिमा के छन्द हेतु पण्डित बनारसीदासकृत **नाटक समयसार,** चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द 59–69 देखें एवं विस्तृत विवेचन हेतु **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग 1, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** में प्रतिमा के नाम पर एवं **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** का सप्तम अध्याय देखें।

187. **नाटक समयसार,** पण्डित बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द 58

188. देखें, **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** 477

189. **उपासकाध्ययन एवं टीका,** आचार्य सोमदेवसूरि, प्रस्तावना, पृष्ठ 96, सम्पादन-अनुवाद, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली (1964)

190. **नाटक समयसार,** पण्डित बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द 59

191. **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** 824, कर्नाटक वृत्ति, केशववर्णी; जीवतत्त्वप्रदीपिका संस्कृत टीका, पृष्ठ 361, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1978)

192. **सवार्थसिद्धि**, आचार्य पूज्यपाद, अध्याय 6, सूत्र 15,

193. **तत्त्वार्थवार्तिक** (भाग 2), आचार्य अकलंकदेव, अध्याय 6, सूत्र 15, सम्पादक, डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1990)

194. **धवला**, 13/46

195. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**,, आचार्य समन्तभद्र, श्लोक 145 के आधार पर

196. **वसुनन्दि श्रावकाचार** एवं **वृहद्द्रव्यसंग्रह** के आधार पर

197. **कुरलकाव्य,** एलाचार्य तिरुवल्लुवर, परिच्छेद 35 : त्याग, पृष्ठ 179, टीकाकार, पण्डित गोविन्दराय जैन शास्त्री, प्रकाशक, वीतराग वाणी ट्रस्ट, टीकमगढ़ (2001)

198. देखें, **ज्ञानार्णव** आचार्य शुभचन्द्र, अध्याय 16, श्लोक 831, परिग्रहदोषविचार, श्लोक 11, पृष्ठ 280, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर 1977

199. **सर्वार्थसिद्धि,** आचार्य पूज्यपाद, अध्याय 7, सूत्र 17, सम्पादक – पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

200. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**, आचार्य अमृतचन्द्र, श्लोक 119

201. देखें, **ज्ञानार्णव**, आचार्य शुभचन्द्र, अध्याय 16, श्लोक 839, परिग्रहदोषविचार, श्लोक 19, पृष्ठ 280, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर 1977

202. **समयसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, **आत्मख्याति टीका**, आचार्य अमृतचन्द्र, गुजराती अनुवादक, पं. हिम्मतलाल जेठालाल शाह, हिन्दी अनुवादक, पं. परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (2005)

203. **भगवती आराधना** (अपरनाम **मूलाराधना**), आचार्य शिवार्य, टीका, विजयोदया, टीकाकार, अपराजित सूरि, सम्पादक एवं अनुवादक, पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2004)

204. **परमात्मप्रकाश,** अध्याय 2, गाथा 90

205. **परमात्मप्रकाश,** अध्याय 2, गाथा 108

206. **योगसार प्राभृत**, आचार्य अमितगति, सम्पादक, जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2003)

207. **भगवती आराधना** (अपरनाम **मूलाराधना**), आचार्य शिवार्य, टीका, विजयोदया, टीकाकार, अपराजित सूरि, सम्पादक एवं अनुवादक, पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2004)

208. **प्रवचनसार**, गाथा 219

209. **प्रवचनसार**, गाथा 220

210. देखें, **ज्ञानार्णव**, आचार्य शुभचन्द्र, अध्याय 16, श्लोक 845, परिग्रहदोषविचार, श्लोक 25, पृष्ठ 284, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर 1977

211. देखें, **ज्ञानार्णव**, आचार्य शुभचन्द्र, अध्याय 16, श्लोक 846, परिग्रहदोषविचार, श्लोक 26, पृष्ठ 284, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर. 1977

212. **प्रवचनसार,** गाथा 221

213. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, गाथा 386

214. **भगवती आराधना,** गाथा 1114, पृष्ठ 571, **प्रवचनसार,** तत्त्वप्रदीपिका टीका, 220 एवं **अनगार धर्मामृत** 4/105

215. **भावपाहुड़** गाथा 3

216. **समयसार** गाथा 286

217. **वही,** 286 की आत्मख्याति टीका

218. **समयसार** 265 **एवं कषायपाहुड़** 1/गाथा 51/105

219. **भगवती आराधना,** गाथा 1910–1911

220. **वही,** गाथा 1115, पृष्ठ 571 एवं 1912

221. **योगसार अमितगति**. 5/57, पृष्ठ 113

222. **प्रवचनसार,** तात्पर्यवृत्ति, गाथा 218

223. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** 1/95

224. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा,** गाथा 388

225. **वही,** गाथा 390

226. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा टीका,** श्लोक 148, पृष्ट 474

227. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा,** स्वामिकार्तिकेय, संस्कृत टीका, आचार्य शुभचन्द्र 390–391

228. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** 1/413

229. **वसुनन्दि श्रावकाचार,** प्रस्तावना, पृष्ठ 62–63

230. **वही**, श्लोक 303

231. **सागार धर्मामृत,** 7/44

232. **गृहतो मुनिवनमित्वा.....**इत्यादि पाठ – **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** श्लोक 147

233. **वसेन्मुनिवने नित्यम्**.....इत्यादि पाठ – **सागार धर्मामृत,** श्लोक 7/47

234. **लाटी संहिता,** 7/69 235. **वही,** 7/69 236. **श्रावकधर्मप्रदीप,** पृष्ठ 226

237. **वसुनन्दि श्रावकाचार,** 304–308 238. **वही,** 309–310 239. **लाटी संहिता,** 7/67–68

240. **वही,** 7/55–62; देखें, **वसुनन्दि श्रावकाचार,** 301–311 एवं **सागार धर्मामृत,** 7/48–49 के आधार पर

241. **वसुनन्दि श्रावकाचार,** प्रस्तावना, पृष्ठ 63 242. **श्रावकधर्मप्रदीप,** पृष्ठ 230 के आधार पर

243. **मूलाचार,** आचारवृत्ति, गाथा 183–195 के आधार पर

244. **एगं जिणस्स रूवं, बिदियं उक्किट्ठसावयाणं।**
अवरट्ठियाण तइयं, चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।। 18।।

– **अष्टपाहुड़,** दर्शनपाहुड़, गाथा 18 के आधार पर

245. **पियधम्मो दढ़धम्मो, संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो।**
संगहणुग्गहकुसलो, सददं सारक्खणाजुत्तो।।183।।
गंभीरो दुद्धरिसो, मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो, अज्जाणं गणधरो होदि।।184।।

– **मूलाचार,** आचार्य वट्टकेर, 183-184

246. **ज्ञानपीठ पूजांजलि,** प्रस्तावना, पृष्ठ 15–17 247. **प्रवचनसार** 254

248. **मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन,** 331–332 249. **मूलाचार,** आचारवृत्ति, गाथा 177–182 के आधार पर

250. **अष्टपाहुड़,** सूत्रपाहुड़, गाथा 23–26

251. **प्रवचनसार,** तात्पर्यवृत्ति, गाथा 225 के बाद की अतिरिक्त गाथा क्रमांक 27, पृष्ठ 435

252. **श्रावकधर्मप्रदीप,** पृष्ठ 230 के आधार पर 253. **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा,** पृष्ठ 51

254. **श्रावकधर्मप्रदीप,** पृष्ठ 229–230; चारित्रसार, 41/2 के आधार पर

255. **महापुराण,** 39/149; **सागार धर्मामृत,** 1/19–20/8 के आधार पर

256. क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 4, पृष्ठ 380 257. **तत्त्वार्थसूत्र,** सप्तम अध्याय, सूत्र 22

258. **तत्त्वार्थवार्तिक,** 7/37 की उत्थानिका के आधार पर 259. देखें, **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 4, पृष्ठ 386

260. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** 124–128; **चारित्रसार,** 48/2; **सागार धर्मामृत,** 8/57, 64–67; **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 4, पृष्ठ 388 के आधार पर

261. **वसुनन्दि श्रावकाचार,** 271–272; **सागार धर्मामृत,** 8/66; **भगवती आराधना,** 2083–2084; **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश**, भाग 3, पृष्ठ 280; **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 4, पृष्ठ 388, 393 के आधार पर

262. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 4, पृष्ठ 388 के आधार पर 263. **वसुनन्दि श्रावकाचार,** 271–272 के आधार पर

264. **सागार धर्मामृत,** 8/66 के आधार पर

265. **भगवती आराधना,** 707–708; **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 4, पृष्ठ 393 के आधार पर

266. **वही,** 2083–2084; **वही,** भाग 3, पृष्ठ 280 के आधार पर

तीसरा अधिकार

श्रमणाचार का जैन संवैधानिक आधार

जब यह जीव श्रावकाचार का यथायोग्य पालन करता हुआ, अणुव्रतों में गुण उत्पन्न करने हेतु गुणव्रतों को भी धारण करता हुआ, तथा अपने परिणामों को श्रमणाचार के पालन के प्रति उद्यत रखने के हेतु एवं मुनिधर्म के अभ्यास हेतु शिक्षाव्रतों को अवधारता है; पश्चात् ग्यारह प्रतिमाओं के माध्यम से निरन्तर तीन काल की सामायिक करके, पर्व के दिनों में प्रोषध सहित उपवास करके, सचित्त पदार्थों के सेवन का त्याग करके, ब्रह्मचर्य के अभ्यास पूर्वक पूर्ण ब्रह्मचर्य अंगीकार करके, कृत-कारित-अनुमोदना से समस्त प्रकार के आरम्भ का त्याग करके, परिग्रह से मुक्त होकर, आरम्भ-परिग्रह आदि के सम्बन्ध में अनुमति का भी त्याग करके, कोई निर्ग्रन्थ नग्न दिगम्बर भावलिंगी मुनिराज अथवा आचार्य के सान्निध्य में रह कर मुनिदशा के साक्षात् अभ्यासरूप क्षुल्लक-ऐलक पद में रह कर कुछ काल व्यतीत करता है; पश्चात् बारह भावनाओं के चिन्तवनपूर्वक वैराग्य उत्पन्न होने पर आचार्य भगवन्त से आग्रहपूर्वक निवेदन करके मुनिदशा अंगीकार करता है। वह भावविभोर होकर विचारता है – धन्य है ऐसी मुनिदशा ! धन्य हैं ऐसे मुनि भगवन्त !!

इस शोध प्रबन्ध में मुनिराजों के विवेचन में दिगम्बर परम्परा के साधुओं की आचार-संहिता को मुख्यरूप से आधार बनाया गया है। साथ ही यथासम्भव श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य परम्परा के सन्दर्भों को आधार बना कर उनकी भी चर्चा की गई है।

श्रमणाचार का महत्त्व

आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि ''**पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्ख परिमोक्खं**[1] अर्थात् यदि दुःखों से परिमुक्त होने की इच्छा है तो श्रामण्य को अंगीकार करो।'' तात्पर्य यह है कि संसार-दुःखों के अभाव के लिए और मुक्ति-सुख की उपलब्धि के लिए मुनिधर्म को अंगीकार करना चाहिए।

मुनिराजों को कैसा जीवन जीना चाहिए – इसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य शुभचन्द्र विरचित 'अंगपण्णति' ग्रन्थ में 'आचारांग का प्ररूपण' शीर्षक के अन्तर्गत कहा है –

कहं चरे, कहं तिट्ठे, कहमासे, कहं सये।
कहं भासे, कहं भुंजे, कहं पावं ण बंधइ।।
जदं चरे, जदं तिट्ठे, जदमासे, जदं सये।
जदं भासे, जदं भुंजे, एवं पावं ण भुंजइ।।[2]

अर्थात् मुनिराजों को किस प्रकार आचरण करना चाहिए ? किस प्रकार खड़े होना चाहिए ? किस प्रकार बैठना चाहिए ? किस प्रकार शयन करना चाहिए ? किस प्रकार वार्तालाप करना चाहिए ? और किस प्रकार भोजन करना चाहिए ? जिससे पापकर्मों का आस्रव नहीं होता।

उक्त प्रश्नों का उत्तर अत्यन्त संक्षिप्त में देते हुए कहा है कि यतियों को यत्नपूर्वक आचरण करना चाहिए, यत्नपूर्वक खड़े होना चाहिए, यत्नपूर्वक बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक शयन करना चाहिए, यत्नपूर्वक वार्तालाप करना चाहिए और यत्नपूर्वक ही भोजन करना चाहिए, इससे पाप का बन्ध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मुनिराज को सभी क्रियाओं को सावधानीपूर्वक प्रमादरहित होकर करना चाहिए।

नियमसार में कहा है – ''समस्त आरम्भादि बाह्य व्यापार से विमुक्त, चतुर्विध आराधना में सदा रक्त, निर्ग्रन्थ और निर्मोह – ऐसे साधु होते हैं।''[3]

''मुनि यथाजातरूप होते हैं, जैसे, जन्म लेते समय बालक नग्न होता है, वैसे ही मुनि नग्नरूप दिगम्बर मुद्रा के धारक होते हैं। वे अपने हाथ से तिल के तुषमात्र भी कुछ ग्रहण नहीं करते हैं और यदि कुछ थोड़ा-बहुत लेवें या ग्रहण करें तो वे मुनि, जिन-सूत्र की श्रद्धा के अभाव में निगोद में जाते हैं''[4] – ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है।

आचार्य वादीभसिंह ने क्षत्रचूड़ामणि में कहा है –

तत्त्वज्ञानविहीनानां, नैर्ग्रन्थ्यमपि निष्फलम्।।6/18।।[5]

अर्थात् जो मुनि, तत्त्वज्ञान से रहित हैं, उनका निर्ग्रन्थ मुनि बनना भी निष्फल है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के शब्दों में – ''पहले तत्त्वज्ञान होता है, पश्चात् उदासीन परिणाम होते हैं, परीषहादिक सहने की शक्ति होती है, तब वह स्वयमेव मुनि होना चाहता है और तब श्रीगुरु मुनिधर्म अंगीकार कराते हैं।''[6]

भगवती आराधना में कहा है –

आचेलक्कं लोचो, वोसट्टसरीरदा य पदिलिहणं।
एसो हु लिंग कप्पो, चदुव्विहो होदि उस्सग्गे।। 82।।[7]

भावार्थ यह है कि **एक लिंग** तो वस्त्र आभूषण, शस्त्र इत्यादिक समस्त परिग्रहरहितपणां, **दूजा लिंग** मस्तक मूंछ दाड़ी के केषनि का लोंच, **तीसरा लिंग** देह सूं ममता रहितपणां, **चौथा लिंग** मयूर के पांखां की पींछी राखना, ये च्यारि मुनिपणां के बाह्य लिंग हैं। इनिमें एक भी घाटि होय तो मुनिपणां नाहीं है, तदि वन्दनादिक आदिर कै योग्य कैसे होय ?

आचार्य सोमदेव ने उपासकाध्ययन में कहा है –

ज्ञानं पूज्यं तपोहीनं, ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम्।
यत्र द्वयं स देव स्यात्, द्विहीनो गणपूरणः।।815।।[8]

अर्थात् तप से हीन ज्ञानवान् पूज्य है और ज्ञान से हीन तपवान् पूजनीय है तथा जिस अनगार के ज्ञान और तप दोनों होते हैं; वह देव के समान पूज्य है; लेकिन जो दोनों से रहित है, वह त्यागी केवल संघ की संख्या बढ़ाने वाला है।

बोधपाहुड़ की टीका में आचार्य श्रुतसागर ने मुनिमुद्रा के प्रभाव को परिलक्षित करते हुए लिखा है – **अहर्निशं पठनपाठनाऽदिना जिनमुद्रा भवति।**[9] अर्थात् जिस जिनमुद्रा में रात-दिन पठन-पाठन आदि के द्वारा ज्ञान का प्रचार-प्रसार होता है, वह मुनिमुद्रा है।

आचारचूला में श्रमण का स्वरूप बताते हुए कहा है कि

- श्रमण, अर्हत् वचन का श्रवण करके विज्ञ और भयमुक्त होते हैं, अनित्यादि भावनाओं की अनुप्रेक्षा करते हैं, गृहपाश का व्युत्सर्ग करते हैं, आरम्भ और परिग्रह का परित्याग करते हैं।
- ऐसे अनित्यादि भावना भावित, गृहत्यागी, अनन्त चारित्र पर्यवों (पर्यायों) से सम्पन्न, संयत, आगमनिपुण, और शुद्ध आहार की एषणा में निरत ज्ञानी मुनि पर यदि कोई अनार्य मनुष्य असभ्य वचनों एवं महा कष्टों से व्यथित करते हैं, लोष्ठ प्रहार आदि से पीड़ित करते हैं तो भी अकलुषित चित्त से उन्हें सहन करते हैं, तीव्र वायु से अप्रकम्पित पर्वत की तरह अविचलित रहते हैं।
- मध्यस्थ भावना भावित भावक्रिया प्रवण महामुनि सुश्रमण, सभी प्राणियों के प्रति अहिंसक रहते हैं, पृथ्वी की तरह सर्वंसह होते हैं – ऐसे वितृष्ण, ध्यानलीन, मुनि के तप, प्रज्ञा और यश बढ़ता है।[10]
- इस प्रकार श्रमण भगवान शीलसम्पन्न, व्रतसम्पन्न, गुणसम्पन्न, संयत, संवृत, ब्रह्मचारी और मैथुन धर्म से उपरत होते हैं, और आधाकर्मिक अशन-पान खा-पी नहीं सकते।[11]
- जो वस्तु का लाभ होने पर भी अग्राह्य–अनेषणीय का परित्याग करते हैं, वे ही अहिंसक भिक्षु कहला सकते हैं। वेषधारी भिक्षु यद्यपि भिक्षाजीवी हैं, किन्तु वे साधु की भांति एषणाशुद्ध भिक्षा ग्रहण नहीं करते।[12]

मुनिदशा लेने का क्रम

प्रथमं ब्रह्मचारी संधार्यानन्तरं क्षुल्लकदीक्षायाम्।
ऐलकदीक्षां धृत्वाऽनन्तरमपि वर्ततेऽत्र निर्ग्रन्थः।।

अर्थात् सर्व प्रथम ब्रह्मचारी होना चाहिए, उसके पश्चात् क्षुल्लक दीक्षा दी जाती है। उसके पश्चात् ऐलक दीक्षा दी जाती है तथा उसके पश्चात् ही निर्ग्रन्थ दीक्षा दी जाती है।[13]

श्रमण दीक्षा देने वाले आचार्य की पात्रता

जो श्रमण हैं, गुणों से परिपूर्ण हैं; कुल रूप तथा वय से विशिष्ट हैं और अन्य श्रमणों या मुनियों को अति इष्ट हैं – ऐसे आचार्य के पास जाकर ही दीक्षा लेना उचित है।[14] भगवती आराधना में आचार्यादि को एकदेश सिद्ध कहा है।[15] इस सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में आचार्य की योग्यता को ही आधार बनाया गया है।

श्रमण-दीक्षा के योग्य पात्र

आचार्य इन्द्रनन्दि द्वारा रचित नीतिसार के एक श्लोक की व्याख्या में व्याख्याकार ने लिखा है –

''अच्छीतरह परीक्षा लेकर ही निर्ग्रन्थ दीक्षा देना चाहिए, अन्यथा मिथ्यामार्ग का प्रचलन होगा तथा दी गई दिगम्बर दीक्षा हँसी की पात्र होगी और वह अनुक्रम से स्वोपघात करेगी। आचार्य को भी चाहिए कि वह अपनी ओर से दीक्षार्थी के विषय में अभिज्ञता प्राप्त करे। यदि वह बालक, अशक्त, बूढ़ा, नपुंसक, विकलांग, जड़बुद्धि, रोगी, चोरी करने की आदत वाला, राजापराधी, उन्मत्त चेष्टा वाला, अन्धा, काणा, बहिरा, दासवृत्ति, दुष्टस्वभावी, मूर्ख, कर्जपीड़ित, कारावास पाया हुआ, कहीं से भगा कर लाया हुआ तथा अन्य प्रकार से सापराध आचरणों से युक्त हो तो उसे मुनिदीक्षा नहीं देनी चाहिए। **'तेऽपि न दीक्षाऽर्हा, लोकेऽवर्णवाद-सम्भवात्।'** चूंकि इससे लोक में निन्दावाद फैलेगा, अतः निन्दा प्राप्तों को पूज्यपद नहीं दिया जा सकता।''[16]

जबकि आचारसार में आचार्य वीरनन्दि ने लिखा है –

''जो आचार्य, लोक-व्यवहार की सब बातों को जानने वाले हैं, मोह रहित और बुद्धिमान हैं, उनको सबसे पहले यह मालूम कर लेना चाहिए कि यह देश अच्छा है या नहीं ? दीक्षा देने योग्य है या नहीं ? मुनियों के लिए निर्वाह योग्य है या नहीं ? दीक्षार्थी पुरुष ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य – इन तीन वर्णों में से किस वर्ण का है ? अथवा पतित या बहिष्कृत तो नहीं है ? उसके सब अंग पूर्ण हैं या नहीं ? यदि अपूर्ण हों तो दीक्षा का पात्र नहीं है। वह राज्य अथवा लोक के विरुद्ध तो नहीं है ? इसने कुटुम्ब और परिवारीजनों से आज्ञा ले ली है या नहीं ? इसका घर आदि सम्बन्धी मोह नष्ट हो गया है या नहीं ? यह अपस्मार या मृगी आदि रोग से सहित तो नहीं है ? इत्यादि बातों को उसी के जाति तथा कुटुम्ब के लोगों से पूछ कर निर्णय कर लेते हैं।''[17]

साधु-दीक्षा की विधि[18]

- ''जब कोई भव्य जीव, संसार शरीर एवं भोगों से उदास होकर, दुःखों से मुक्त होने की अभिलाषा से गुरु के पास आता है तो गुरु उसे उपदेश देते हुए कहते हैं कि यदि तुम सम्पूर्ण दुःखों से परिमुक्त होना चाहते हो तो तुम श्रमणधर्म को अंगीकार करो। (क्योंकि जिनशासन में यही आज्ञा है कि सर्व प्रथम यतिधर्म को ग्रहण करने का ही उपदेश देना चाहिए; अन्यथा उपदेशदाता का दण्डनीय अपराध है।)
- पश्चात् उस भव्य जीव के तैयार होने पर गुरु उसकी दृढ़ता जानने के उद्देश्य से अपने बन्धुवर्ग (भाई एवं मित्रगण) से पूछने की सलाह देते हैं, बन्धुवर्ग भी उसकी भावना की दृढ़ता जानने के उद्देश्य से नाना प्रकार से उसकी परीक्षा करते हैं।
- उसके बाद आचार्य, उसे अपने माता-पिता, पत्नि, पुत्र आदि परिवारीजनों से छूट कर आने को कहते हैं। इसका उद्देश्य यह है कि परिवारीजनों को लगाव होने के कारण वे उसे जल्दी से आज्ञा नहीं देते; अतः उनसे छूटने की बात कही है।
- जब वह दीक्षार्थी, भेदज्ञान की भाषा में प्रवचनसार गाथा 202 की टीका में कहे अनुसार अपने माता-पिता आदि को सम्बोधित करते हुए कहता है कि 'हे इस शरीर के जनक के आत्मा! आप तो इस शरीर के माता-पिता हो, मुझ आत्मा को न तो आपने और न किसी अन्य ईश्वर आदि ने उत्पन्न किया है, न कोई अन्य मुझसे उत्पन्न हुआ है और न कोई अन्य मुझ आत्मा को रमण कराता है'; इस प्रकार दीक्षार्थी की उत्कट भावना, निर्ममत्व भाव एवं दृढ़ निश्चय को जान कर, परिवारीजन भी उसे दीक्षा स्वीकार करने की आज्ञा दे देते हैं, उसे अपने मोह से मुक्त कर देते हैं।
- साथ-साथ आचार्यदेव, उस दीक्षार्थी को व्यावहारिक पंचाचारों – ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को अंगीकार करने का उपदेश देते हैं तो वह भेदज्ञानी दीक्षार्थी, उनको इस प्रकार

अंगीकार करता है कि 'हे व्यवहार-रत्नत्रय-स्वरूप अष्ट प्रकार ज्ञानाचार ! अष्टविध दर्शनाचार ! त्रयोदशविध चारित्राचार ! द्वादशविध तपाचार ! और अन्य आचारों में प्रवृत्ति कराने वाली स्वशक्ति को उद्घाटित करने वाले वीर्याचार ! मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तुम सब शुद्धात्मा के नहीं हो, तथापि मैं तुम्हें तब तक अंगीकार करता हूँ, जब तक तुम्हारे प्रसाद से शुद्धात्मा को प्राप्त न कर लूँ।''[19]

- दीक्षार्थी को दीक्षा से पहले छोटा अथवा बड़ा विधान करना चाहिए; जैसे, शान्ति-विधान, गणधर वलय विधान, या चारित्र-शुद्धि विधान करना चाहिए।
- दीक्षा के एक पूर्व दिन, दीक्षार्थी को गुरु के पास जाकर विधिवत् पात्र में भोजन करने का त्याग करके कर-पात्र में भोजन-ग्रहण करके जिन-मन्दिर में जाना चाहिए।
- इसी प्रकार दीक्षार्थी को शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ लग्न और शुभ ग्रहों के अंश में निर्ग्रन्थ आचार्य के पास जाकर दीक्षा ग्रहण करना चाहिए।
- पुनः दीक्षा के दिन 'वृहद्-प्रत्याख्यान-प्रतिष्ठापन' क्रिया के अन्तर्गत गुरु के पास सिद्ध-भक्ति और योग-भक्ति पढ़ कर, उपवास सहित वृहद् प्रत्याख्यान करना चाहिए। पश्चात् आचार्य-भक्ति, शान्ति-भक्ति और समाधि-भक्ति पढ़ कर, गुरु को नमस्कार करना चाहिए।
- तत्पश्चात् दीक्षार्थी को आचार्यदेव से निवेदन करते हुए कहना चाहिए कि ''हे भगवन् ! आप मुझे स्वीकार करके संसार-समुद्र से तारने वाली जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान कर अनुगृहीत करें।''
- आचार्यदेव, उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर, आसन पर बैठने की आज्ञा देते हैं। तब वह शिष्य, पूर्व दिशा की ओर मुख करके पर्यंकासन से बैठ जाता है और गुरु भी वहीं उसके पास उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठ कर, समस्त संघ की अनुमोदना लेकर, दीक्षार्थी के मस्तक पर मन्त्रोच्चारणपूर्वक गन्धोदक लगा कर, वर्द्धमान मन्त्र के साथ पीले अक्षत निक्षेपित करके भस्म लगा कर, केशलोंच-विधि प्रारम्भ करते हैं। यदि शिष्य केशलोंच करने में कुशल है तो वह स्वयं अपने हाथ से केशलोंच करता है अथवा अन्य साधु उसका केशलोंच पूरा करते हैं।
- उसके बाद वह गुरुभक्ति करके गुरु की आज्ञा से बहिरंग लिंगस्वरूप अपने वस्त्र, आभूषण, यज्ञोपवीत, सकिंचनत्व, सावद्य-योग, शरीर-संस्कार आदि का त्याग करके 'मैं किंचित् मात्र भी पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं, इस षड्द्रव्यात्मक लोक में मेरा कुछ भी नहीं है' – ऐसा निश्चय करके जितेन्द्रिय होता हुआ आत्मा का सहजस्वरूप धारण करने के अभिप्राय से बाह्य में भी यथाजातरूप, सिर और दाढ़ी-मूछ के बालों का लोच किया हुआ, शुद्ध, हिंसादि से रहित और शारीरिक श्रंगार से रहित बहिरंग लिंग धारण करता है; तथा अन्तरंग लिंगस्वरूप मूर्च्छा और आरम्भ से रहितता, योग और उपयोग की शुद्धता और पराधीनता का नाश होता है – ऐसा अन्तरंग और बहिरंग लिंग होने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है।[20]
- ''इस प्रकार वह श्रमण होने का इच्छुक दीक्षार्थी, दोनों बहिरंग और अन्तरंग लिंगों को ग्रहण करता है, गुरु को नमस्कार करता है, व्रत तथा क्रिया को सुनता है और दृढ़तापूर्वक श्रमण होने के लिए उपस्थित होता है तथा उपस्थित होता हुआ श्रामण्य की सामग्री परिपूर्ण होने से श्रमण होता है। उसकी संक्षिप्त विधि इस प्रकार है –
  - प्रथम ही परमगुरु अर्हन्त भट्टारक और उस समय के दीक्षाचार्य, यथाजातरूपधरत्व के सूचक बहिरंग और अन्तरंग लिंग के ग्रहण की विधि के प्रतिपादक होने से व्यवहार से उस लिंग के देने वाले हैं।
  - इस प्रकार उनके द्वारा दिये गये उन लिंगों को ग्रहण क्रिया के द्वारा सम्भावित करके अर्थात् सम्मानित करके तन्मय होता है अर्थात् द्रव्य-भाव लिंग को तन्मयतापूर्वक स्वीकार करता है।
  - जिन्होंने सब-कुछ दिया है – ऐसे मूल परमगुरु अर्हन्त परमात्मा और उत्तर गुरु अपने दीक्षाचार्य पर्यन्त के प्रति अत्यन्त भक्तिभावरूप भाव्य-भावकता के कारण, जिसमें स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है – ऐसे गाढ़ इतरेतर मिलनरूप नमस्कार क्रिया के द्वारा सम्मानित करके भावस्तुति-वन्दनामय होता है।
  - पश्चात् आचार्य भगवन्त के द्वारा सर्व सावद्ययोग के त्यागस्वरूप एक निश्चय महाव्रत को सुन कर तत्सम्बन्धी श्रुतज्ञान में प्रवृत्त होकर अपनी एक अभेद अखण्ड त्रिकाली शुद्ध आत्मा को जानता हुआ **सामायिक चारित्र** में आरूढ़ होता है तथा निश्चय प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यानस्वरूप क्रिया को सुन कर, तत्सम्बन्धी श्रुतज्ञान के द्वारा अपने त्रैकालिक शुद्धस्वरूप को जानता हुआ, अतीत-वर्तमान-अनागत मन-वचन-काय सम्बन्धी कर्मों से भिन्नता को साक्षात् अनुभवता है।

- पश्चात् समस्त सावद्य कर्मों के आयतनभूत काय अर्थात् शरीर की अत्यन्त उपेक्षा करके यथाजातरूप एक शुद्धात्मस्वरूप को एकाग्रता के साथ ध्याता हुआ उपस्थित रहता है। इस प्रकार उपस्थित रहता हुआ, वह सर्वत्र समदृष्टिपने के कारण साक्षात् श्रमण होता है।
- इस प्रकार जब श्रमण, निर्विकल्प **सामायिक चारित्र** से च्युत होता है, तब वह सविकल्प **छेदोपस्थापना** चारित्र को अंगीकार करता है। सर्व सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रत की अभिव्यक्तियाँ होने से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह की विरतिस्वरूप पाँच प्रकार का व्रत तथा उसकी परिकरभूत पाँच प्रकार की समितियाँ, पाँच प्रकार का इन्द्रियजय, छह प्रकार का आवश्यक, केशलोंच, अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े खड़े भोजन और एक बार भोजन; इस प्रकार ये अट्ठाईस मूलगुणों के भेद, निर्विकल्प सामायिक संयम के भेद-विकल्प होने से श्रमणों के मूलगुण ही हैं; उनमें अपने को स्थापित करना, **छेदोपस्थापना चारित्र** है।
- जिस प्रकार कोई सुवर्णार्थी पुरुष, केवल सुवर्ण को प्राप्त नहीं होने पर उसकी कुण्डलादि पर्यायों को ग्रहण करता है, उनका सर्वथा त्याग नहीं करता है; उसी प्रकार यह मोक्षार्थी जीव, जिसमें विकल्पों का अभ्यास नहीं है – ऐसी निर्विकल्प सामायिक संयमस्वरूप निश्चय मूलगुण नामक परम समाधि के अभाव में छेदोपस्थापना चारित्र को अंगीकार करता है। वह छेदोपस्थापना चारित्र, संक्षेप से पाँच महाव्रतरूप होता है, उन्हीं पाँच व्रतों का रक्षण करने के लिए पाँच समितियाँ आदि भेदरूप अट्ठाईस मूलगुण कहलाते हैं। उन्हीं अट्ठाईस मूलगुणों का रक्षण करने के लिए बाईस परीषहजय और बारह प्रकार के तपश्चरणरूप चौंतीस उत्तरगुण कहलाते हैं। उन्हीं का रक्षण करने के लिए वे देव, मनुष्य, संज्ञी तिर्यंच और असंज्ञी तिर्यंच – ऐसे चार जीवों के द्वारा जन्य उपसर्गजयी एवं बारह प्रकार की अनुप्रेक्षा या भावनामयी होते हैं।''[21]
- आचार्य उसके मस्तक पर 'श्री' लिख कर, उसे विधिवत् दीक्षा प्रदान करते हैं।

चातुर्मास स्थापन

यद्यपि भक्तियाँ, मुनिराजों को कण्ठस्थ कर लेनी चाहिए। यदि किसी कारण यह सम्भव न हो तो ये कार्य दिन में ही कर लेने चाहिए। दीपक आदि का उपयोग करना तो किसी भी तरह उचित नहीं। चातुर्मास स्थापन तो आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम पहर से ही होगा, पर अन्य आवश्यक कार्य हैं, वे दिन में ही कर लेने चाहिए, जिससे रात्रि में दीपक आदि की आवश्यकता ही न पड़े। इसके अतिरिक्त गत आठ मास में जो दोष एवं प्रायश्चित्त किये हों, वे सब संघ के आचार्य के समक्ष सरल भाषा से निवेदन कर देने चाहिए। आचार्यों द्वारा भी आठ मास में जो कुछ दोष बन पड़े हों – उन सबका आचार्य स्वयं, संघ के वृद्ध मुनियों के समक्ष प्रायश्चित्त कर लें।

साधुचर्या का विशेष स्वरूप

- इतना विशेष जानना चाहिए कि जो लिंग-ग्रहण के समय निर्विकल्प सामायिक संयम के प्रतिपादक प्रव्रज्यादायक दीक्षागुरु हैं, वे तो आचार्य कहलाते हैं; तथा जो अन्य सविकल्प अट्ठाईस भेदरूप 'छेद में उपस्थापक' अर्थात् छेदोपस्थापना संयम के प्रतिपादक शिक्षागुरु या श्रुतगुरु हैं, वे निर्यापक कहलाते हैं। इसी प्रकार जो छिन्न संयम की प्रायश्चित्त-विधि के प्रतिपादक होने से 'छेद या दोष या अतिचार होने पर 'उपस्थापक' हैं, वे भी छेदोपस्थापक या निर्यापक ही हैं, क्योंकि यदि श्रमण के प्रयत्नपूर्वक की जाने वाली कायचेष्टा में छेद होता है तब तो उसे आलोचनापूर्वक क्रिया करना चाहिए, लेकिन यदि श्रमण, छेद में बुद्धिपूर्वक उपयुक्त हुआ हो तो उसे जैनमत में व्यवहार-कुशल श्रमण (छेदोपस्थापक) के पास जाकर आलोचना (अपने दोषों का निर्दोष रीति से निवेदन) करके वे जैसा उपदेश दें, वह प्रायश्चित्त स्वीकार करना चाहिए।[22]
- इस प्रकार श्रमण को अधिवास अर्थात् आत्मवास में अथवा गुरुओं के साथ सहवास में वसते हुए या विवास अर्थात् गुरुओं से रहित वास में रहते हुए सदा परद्रव्य-सम्बन्धी प्रतिबन्धों का निषेध करते हुए श्रामण्य में छेद-विहीन होकर विचरण करना चाहिए क्योंकि जो श्रमण, सदा ज्ञान में और दर्शनादि में प्रतिबद्ध तथा मूलगुणों में प्रयत्नशील होकर विचरण करता है, वह परिपूर्ण श्रामण्यवान् है।[23]

- मुनि-जीवन में आगम-विरुद्ध आहार-विहार आदि का तो आजीवन त्याग होता ही है, परन्तु संयम के निमित्त जो शरीर के निर्वाह में आवश्यक **आगमोक्त प्रासुक आहार**; जिससे शरीर का निर्वाह बना रहे और शुद्धात्मानुभूति प्राप्त करने में आसानी हो – ऐसा **आगमोक्त अनशन या उपवास**; जिससे शुद्धात्मस्वरूप में लीन होने में बाह्य अनुकूलता बनी रहे – ऐसे **ऊँचे पर्वतों की गुफा, आदि में निवास**; जिससे शरीर टिका रहे – ऐसे आहार, नीहार आदि के निमित्त से होने वाले **व्यवहार** या देशान्तर-गमनरूप **विहारकार्य**; जो श्रामण्य पर्याय का सहकारी कारण है – ऐसे **देह मात्र परिग्रह** अथवा ज्ञानोपकरणरूप **शास्त्र**, संयमोपकरणरूप **पीछी**, शौचोपकरणरूप **कमण्डलु** आदि **आवश्यक परिग्रह;** परमपदार्थ शुद्धात्मा के उपदेश को समझने या अन्य मुनियों को समझाने के लिए होने वाले **श्रमणों के किंचित् परिचय** अथवा रोग, वृद्धत्व, या थकान के कारण जिनकी समता या शील प्रभावित हो रहे हैं – ऐसे **श्रमणों की वैयावृत्ति**, श्रावकों के साथ धार्मिक एवं आध्यात्मिक चर्चा-वार्ता आदि के अलावा शुद्धात्मतत्त्व से विरुद्ध होने वाली **विकथा,** आदि कार्यों के सम्बन्ध में होने वाले विकल्पों से चित्त को रंगने देना या उनका प्रतिबन्ध अनुभव करना भी मुनियों को उचित नहीं है क्योंकि उससे उनके **संयम में छेद** होता है, अर्थात् संयम का नुकसान होता है।

  अशुद्धोपयोग ही वास्तव में छेद है क्योंकि उससे शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का छेदन होता है, उसकी हिंसा होती है क्योंकि श्रमण के द्वारा अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होने वाली शयन, आसन, स्थान, गमन इत्यादि कार्यों में अप्रयत चर्या के निमित्त से निरन्तर धाराप्रवाही हिंसा होती रहती है।

  छेद के अन्तरंग और बहिरंग दो प्रकार हैं – अशुद्धोपयोग अन्तरंग छेद है और अन्य जीवों के प्राणों का घात होना, बहिरंग छेद है। जैनधर्म में बहिरंग छेद से अधिक अन्तरंग छेद को महत्त्व दिया है। बाह्य में परजीवों के प्राणों का घात हो या न हो अर्थात् परजीव मरे या जिये, लेकिन यदि अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होने वाले अप्रयत आचार से प्रसिद्ध अशुद्धोपयोग के कारण हिंसा की सिद्धि निश्चित होती है। श्रमण के शुद्धोपयाग के सद्भाव में प्रयत आचार करने पर, कदाचित् अन्य बाह्य कारणों से परप्राणों का घात हो भी रहा हो तो बन्ध नहीं होने के कारण हिंसा नहीं मानी जा सकती। अतः अन्तरंग छेद ही बलवान है, बहिरंग छेद नहीं। बहिरंग छेद, अन्तरंग छेद का आयतन मात्र होने से उसकी भी छेद के रूप में प्रसिद्धि है।[24]

- अध्यात्म शास्त्र कथित 'मूर्च्छा ही परिग्रह' के समान ईर्यासमिति पूर्वक चलते हुए मुनिराज के द्वारा कहीं जाने के लिए उठाये गये पैर से किसी छोटे प्राणी को बाधा पहुँचने पर या उसके मर जाने पर भी उन मुनिराज को उस प्राणी-घात के निमित्त से किंचित् मात्र भी बन्ध नहीं होता – ऐसा परमागम में कहा है। मुनिराज को जब तक पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति नहीं होती, तब तक जितने अंशों में स्वस्थभाव से चलनरूप रागादिपरिणति वाली भावहिंसा होती है, उतने अंश में ही कर्मबन्ध होता है, बाह्य में होने वाली सूक्ष्म या स्थूल जीवों की हिंसा के कारण नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम बाह्य जीवों की हिंसा न होने देने हेतु प्रयत आचार ही न करें। आचार्य अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखते हैं –

  सूक्ष्माऽपि न खलु हिंसा, परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
  हिंसायतननिवृत्तिः, परिणामविशुद्धये तदपि कार्या।। 49।।[25]

- जिनशासन में जहाँ अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होने वाले अप्रयत आचार वाले श्रमण को छह काय सम्बन्धी वध का करने वाला माना गया है; वहीं यदि श्रमण, अशुद्धोपयोग के बिना होने वाले प्रयत आचार से संयुक्त है तो वह जल में रहने वालें कमल की भाँति निर्लेप कहा गया है। आचार्य जयसेन लिखते हैं –

  शुद्धात्म-संवित्ति लक्षण शुद्धोपयोग परिणत पुरुष के द्वारा छह काय वाले जीवों के कुलरूप लोक में विचरते हुए यद्यपि बहिरंग द्रव्यहिंसा मात्र तो होती है, तथापि निश्चयहिंसा (भावहिंसा) नहीं होती है।[26]

- ध्यान देने की बात यह है कि कायचेष्टा पूर्वक जीव के मरने पर तो अशुद्धोपयोग के सद्भाव में बन्ध होता है अथवा अशुद्धोपयोग के असद्भाव में बन्ध नहीं होता, लेकिन उपधि अर्थात् परिग्रह, सर्वथा अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता, अतः उससे निश्चय ही बन्ध होता है। इसलिए जैसे, परम श्रमणों ने पूर्व में दीक्षाकाल में स्वयं अपनी आत्मा को ही परिग्रह बना कर, पहले सर्व बाह्य परिग्रह को छोड़ा है

और इसी कारण दूसरे श्रमणों को भी अन्तरंग छेद के समान सर्व बाह्य परिग्रह को प्रथम ही मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से छोड़ना चाहिए क्योंकि वह अन्तरंग छेद के बिना नहीं होता।[27]

- वास्तव में बाह्य-उपधि या परिग्रह का निषेध, अशुद्धोपयोगरूप अन्तरंग छेद का ही निषेध है क्योंकि यदि उपधि का निरपेक्ष त्याग न हो तो उपधि के सद्भाव में साधु को ममत्व परिणामरूप मूर्च्छा, काम-धन्धेरूप आरम्भ और शुद्धात्मस्वरूप की हिंसारूप असंयम होता ही है, अर्थात् जो परद्रव्य में रत है, उसके भाव की विशुद्धि नहीं होती; इस प्रकार जो भाव से अविशुद्ध है, उसके शुद्धोपयोग मूलक कर्मक्षय कैसे हो सकता है ?[28]
- यद्यपि समस्त उपधि ही निषिद्ध है – ऐसा सामान्य उत्सर्ग नियम है, तथापि उपधि के सम्बन्ध में अपवाद कथन करते हैं कि किसी के कहीं किसी प्रकार की कोई उपधि अनिषिद्ध भी है। जिस उपधि के ग्रहण-विसर्जन में सेवन करने वाले को छेद नहीं होता, ऐसी उपधि को काल-क्षेत्र की सापेक्षता में संहनन की हीनता होने पर ग्रहण करने का निषेध नहीं किया गया है – ऐसी अनिषिद्ध उपधि को श्रमण शुद्धोपयोग सहित ग्रहण कर सकते हैं।[29]
- यद्यपि 'उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं', अर्थात् जिनवरेन्द्रों ने मोक्षाभिलाषियों को देह भी परिग्रह कहा है अर्थात् उसके प्रति अप्रतिकर्मपना या संस्काररहितपने का ही उपदेश दिया है, उसे भी अनुग्रहयोग्य नहीं कहा है, उपेक्षायोग्य ही कहा है तो अन्य स्पष्टतः बाह्य वस्तुओं को ग्राह्य कैसे कहा जा सकता है ?; तथापि जो अल्प हो, अनिन्दित हो, असंयतजनों के द्वारा अप्रार्थनीय अर्थात् अनभिलषणीय हो और स्वयं को मूर्च्छा आदि की जनक न हो – ऐसी उपधि को ही अनिषिद्ध या अप्रतिषिद्ध उपधि की श्रेणी में रखा गया है। अपवाद के अन्तर्गत अनिषिद्ध उपधि को उपकरण के रूप में उदाहृत करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य अमृतचन्द्र ने 1. यथाजातरूप लिंग अर्थात् जन्मजात नग्न दिगम्बररूप व्यवहार द्रव्यलिंग एवं यथाजात परमात्मस्वरूप निश्चय लिंग, 2. गुरु के तत्कालबोधक आत्मतत्त्व-प्रतिबोधक सारभूत अमोघ सिद्धोपदेशरूप गुरु-वचन, 3. नित्यबोधक अनादिनिधन शुद्ध आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने में समर्थ परमागमरूप जिनसूत्रों का अध्ययन और 4. शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव करने वाले गुरुओं के प्रति भक्तिभावरूप व्यवहार-विनय – इन चार को उपकरणस्वरूप परिग्रह स्वीकार किया है। यद्यपि निमित्तरूप से इन सब को कार्यकारी कहा है, तथापि इन्हें वस्तुधर्म मानने से इंकार भी किया है।[30]
- श्रमण, इस लोक में निरपेक्ष और परलोक में अप्रतिबद्ध होने से कषायरहित वर्तता हुआ युक्ताहारविहारी होता है। स्वयं आत्मा अनशनस्वभावी होने से साधु भी ऐसी आत्मा का प्राप्त करने के लिए उसकी भिक्षा भी एषणारहित होती है। वे आहार करते हुए भी मानो आहार नहीं करते हों – ऐसे युक्ताहारविहारी होने से साक्षात् अनाहारी कहलाते हैं। वे शरीर में भी 'मेरा नहीं है, अतः अनुग्रह योग्य नहीं है, किन्तु उपेक्षा योग्य है' – ऐसा समझ कर, उसका संस्कार नहीं करने के कारण अपनी शक्ति को छुपाये बिना तप में युक्त रहते हैं; अतः योगी कहलाते हैं, तथा वह आहार आदि योगी का आहार आदि होने से युक्ताहार कहलाता है। साधु उस आहार को भी दिन में, एक बार, ऊनोदर, यथालब्ध, भिक्षाचरण से, नीरस एवं हिंसायतन रहित प्रासुक ग्रहण करते हैं; अन्यथा वह आहार, युक्ताहार नहीं कहलाया जा सकता।[31]
- साधु, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का पूर्णतः त्यागी होता है। वह अपना समस्त आचार-व्यवहार यत्नाचारपूर्वक करता है। चलते समय जमीन शोध कर चलता है। बोलने का संयम रखता है। यदि बोलता भी है तो हित, मित और प्रिय वचन ही बोलता है। शरीर द्वारा संयम की रक्षा के लिए अयाचित और अनुद्दिष्ट निर्दोष भोजन दिन में एक बार लेता है। पात्र और आसन को स्वीकार नहीं करता है। आहार के ग्रहण की पूर्ति अंजलिबद्ध दोनों हाथों से हो जाती है और खड़े-खड़े ही उपकरणों में आसक्ति किये बिना आहार लिया जा सकता है; इसलिए पात्र और आसन का आश्रय नहीं लेता।
- संयम की रक्षा और ज्ञान की वृद्धि के लिए वह पीछी, कमण्डलु और शास्त्र को स्वीकार करता है, किन्तु उनके उठाने-धरने में किसी को बाधा न पहुँचे – इस अभिप्राय से वह वहाँ भी पूरी सावधानी रखता है। मल-मूत्र आदि का क्षेपण भी निर्जन्तु और एकान्त स्थान में करता है। काय और मन की यद्वा-तद्वा प्रवृत्ति से विरत रहता है।

- केश, सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति के स्थान हैं – इस अभिप्राय से वह स्वयं अपने हाथ से उनके उत्पाटन का व्रत स्वीकार करता है। इसके लिए किसी से कर्तरी और छुरा आदि की याचना नहीं करता। कोई स्वेच्छा से लाकर देने भी लगे तो वह उन्हें स्वीकार नहीं करता। उनके स्वीकार करने में या उनसे काम लेने में वह अपने स्वावलम्बन व्रत की हानि मानता है।
- उसकी अन्य परिग्रह आदि के समान शरीर में भी आसक्ति नहीं होती, इसलिए वह न तो शरीर का संस्कार करता है और न स्नान ही करता है। समस्त आवरण और परिग्रह का त्याग कर देने से वह नग्न रहता है। आहार उतना ही लेता है, जो शरीर के सन्धारण के लिए आवश्यक होता है। उसके मुँह में आहारजन्य दुर्गन्ध आदि के उत्पन्न न होने के कारण उसे दन्तधावन आदि की भी आवश्यकता नहीं पड़ती तथा वह अपने पाँच इन्द्रियों के विषयों से सदा विरक्त रहता है। यह प्रत्येक साधु की जीवन भर के लिए स्वीकृत चर्या है। इसका वह शरीर में आसक्ति किये बिना उत्तम रीति से सदा पालन करता है।
- मुनिराज, पीछी का ग्रहण करते हैं और प्राणपन से उसकी सम्हाल और उपयोग करते हैं, उसे अपने से कभी वियुक्त नहीं होने देते, यदि कभी किसी परिस्थिति उसका वियोग हो जाए तो उसका प्रायश्चित्त स्वीकार करते हैं।

इस सम्बन्ध में चर्चासागर का एक शंका-समाधान द्रष्टव्य है –

"**प्रश्न –** मुनिराज पीछी रखते हैं सो इसमें ऐसा कौनसा गुण जो वे सामायिक, वन्दना, देवदर्शन करने, चलने बैठने में सब कामों में उसको अपने पास रखते हैं तथा उसके वियोग में प्रायश्चित्त लेते हैं, सो क्या बात है ?

समाधान – पीछी में पाँच गुण होने चाहिए –

1. जो धूल और पसीने को दूर करे।
2. जो कोमल हो।
3. जो चिकनी हो।
4. जो छोटी हो।
5. जो हल्की हो।

ये पाँच गुण पीछी में होने चाहिए – ऐसी पीछी से जीवों को अभयदान दिया जाता है। यह उसमें सबसे उत्तम गुण हैं। ऐसा भगवान अरहन्तदेव ने कहा है। यदि पीछी न हो तो साधुजनों की ईर्या समिति का नाश हो जाता है। तथा स्थूल, सूक्ष्म आदि अनेक जीवों का घात होता है। जिससे उन मुनियों का मुनिपद ही भ्रष्ट हो जाता है। इसीलिए पीछी के वियोग में मुनिराज प्रायश्चित्त लेते हैं। सो ही सकलकीर्ति कृत धर्मप्रश्नोत्तर में लिखा है –

अथ पिच्छिकागुणाः, रजःस्वेदाग्रहणद्वयम्।
मार्दवं सुकुमालत्वं, लघुत्वं सद्गुणा इमे।।
पंच ज्ञेयास्तथा ज्ञेया, निर्भयादिगुणोत्तमाः।
मयूरपिच्छजातायाः पिच्छिकाया जिनोदिताः।।
समितिस्तां विना नश्येत्साधूनां कार्यसाधने।
स्थूलसूक्ष्मादिहिंसाद्या, व्यर्थं जन्मदीक्षणम्।।[32]

इस पंचम काल के दोष से कितने ही ऐसे मुनि बन गये हैं, जो पीछी नहीं रखते और अपने को मुनि मानते हैं, परन्तु वास्तव में वे मुनि नहीं हैं, शास्त्रों में उनको जैनाभास बतलाया है, वही नीतिसार में लिखा है –

कियत्यपि गते काले, ततः श्वेताम्बरोऽभवत्।
द्राविडो यापनीयश्च, केकीसंघश्च मानतः।।
केकिपिच्छः श्वेतवासो, द्राविडो यापनीयकः।
निःपिच्छश्चेति पंचैते, जैनाभासाः प्रकीर्तिताः।।
स्वस्वमत्यनुसारेण, सिद्धान्तव्यभिचारिणः।
विरचय्य च जैनेन्द्रं, मार्गं निर्भेद याति भो।।[33]

जहाँ पीछी-कमण्डलु के बिना मुनिराजों की कल्पना भी नहीं की जा सकती, वहीं कोई कोई अतिरेक में उसे भी मुनिराजों का परिग्रह मान कर उसका निषेध करते हैं, परन्तु यह जैन साधु की आर्ष परम्परा नहीं है। इस सम्बन्ध में चर्चासागर में लिखा है –

''कितने ही लोग, मुनीश्वरों का स्वरूप पीछी-कमण्डलु से रहित मानते हैं, परन्तु उनका यह मानना मिथ्या है। जो मुनीश्वरों का स्वरूप पीछी रहित मानते हैं, वे जिनमत से बाह्य हैं – ऐसे ही लोग, जिनमार्ग में भेद उत्पन्न करने वाले हैं।.....जो मुनियों को पीछी रहित मानते हैं, वे जैनाभास हैं, साक्षात् जैनी नहीं हैं; इसलिए पीछी-कमण्डलु के बिना मुनि का स्वरूप बन ही नहीं सकता।''[34]

मुनिराज को छठवें गुणस्थान में प्रमाद के साथ सकलचारित्रपना कैसे?

छठवें गुणस्थान में सकलचारित्रपना या महाव्रतपना, अपने से नीचे वाले देशसंयम की अपेक्षा जानना चाहिए, अपने से ऊपर के गुणस्थानों की अपेक्षा नहीं, इसलिए ही प्रमत्तसंयत को चित्रलाचरण कहा गया है। इस विषय में **धवला** में समागत निम्न शंका-समाधान विचारणीय है –

''**शंका** – यदि छठवें गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्त हैं तो संयत नहीं हो सकते हैं क्योंकि प्रमत्त जीवों को अपने स्वरूप का संवेदन नहीं हो सकता है। यदि वे संयत हैं तो प्रमत्त नहीं हो सकते हैं क्योंकि संयमभाव, प्रमाद के परिहारस्वरूप होता है।

समाधान – यह कोई दोष नहीं है क्योंकि हिंसा, असत्य, स्तेय, अबह्म और परिग्रह – इन पाँच पापों से विरतिभाव को संयम कहते हैं, जो कि तीन गुप्ति और पाँच समितियों से अनुरक्षित है; वह संयम, वास्तव में प्रमाद से नष्ट नहीं किया जा सकता है क्योंकि संयम में प्रमाद से केवल मल की ही उत्पत्ति होती है।

शंका – छठवें गुणस्थान में संयम में मल उत्पन्न करने वाला ही प्रमाद विवक्षित है, संयम का नाश करने वाला प्रमाद विवक्षित नहीं है – यह बात कैसे निश्चित की जाए?

समाधान – छठवें गुणस्थान में प्रमाद के रहते हुए संयम का सद्भाव अन्यथा बन नहीं सकता है, इसलिए निश्चय होता है कि यहाँ पर मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद ही अभीष्ट है। दूसरे छठवें गुणस्थान में होने वाला स्वल्पकालवर्ती मन्दतम प्रमाद, संयम का नाश भी नहीं कर सकता है क्योंकि सकलसंयम का उत्कष्टरूप से प्रतिबन्ध करने वाले प्रत्याख्यानावरण के अभाव में संयम का नाश नहीं पाया जाता।

यहाँ छठवें-सातवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय का क्रमशः तीव्र-मन्द उदय होता है; तथापि छठवें गुणस्थान को औदयिक नहीं माना गया है, बल्कि यहाँ चारित्र या संयम की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव या क्षायोपशमिक चारित्र ही माना गया है।

शंका – संज्वलन कषाय के उदय से संयम होता है, इसलिए उसे औदयिक नाम से क्यों नही कहा जाता है?

समाधान – नहीं, क्योंकि संज्वलन कषाय के उदय से संयम की उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका – तो संज्वलन का व्यापार कहाँ पर होता है?

समाधान – प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से उत्पन्न हुए संयम में मल, उत्पन्न करने में संज्वलन का व्यापार होता है।''[35]

मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण

मूल और गुण – इन दो शब्दों के मेल से बना है – मूलगुण। इनमें मूल शब्द का अर्थ है – मुख्य या प्रधान तथा गुण शब्द का अर्थ है – धर्म, स्वभाव या लक्षण। अतः श्रमणों के मुख्य धर्म या स्वभाव को ही मूलगुण कहा जाता है।.....मुनि, जिन मूलगुणों को धारण कर श्रमण धर्म में दीक्षित होता है, उनकी संख्या दिगम्बर मान्यतानुसार मूलाचार आदि ग्रन्थों में 28 और श्वेताम्बर मान्यतानुसार समवायांग आदि में 27 मानी गई है। दिगम्बर मान्यतानुसार उनका विवरण निम्न प्रकार है –

1-5. पंच महाव्रत

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार के व्यवहार चारित्र अधिकार गाथा 56 से 60 में पंच महाव्रतों का स्वरूप इस प्रकार बताया है –

1. जो साधु, जीवों के कुल योनि जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि को जान कर, उनके प्रति दया परिणाम करता है, उसे पहला **अहिंसा महाव्रत** कहते हैं।
2. जो साधु, राग द्वेष अथवा मोह से होने वाले असत्य वचन के परिणाम को छोड़ता हुआ हित-मित-प्रिय वचन बोलता है, उसे दूसरा **सत्य महाव्रत** कहते हैं।
3. जो साधु, ग्राम, नगर यावन में परायी वस्तु को देख कर, उसे ग्रहण करने का भाव छोड़ता है, उसे तीसरा **अचौर्य महाव्रत** कहते हैं
4. जो साधु, स्त्रियों का रूप देख कर, उनके प्रति वांछा भाव की निवृत्ति करता है, उसे अथवा मैथुन संज्ञा रहित परिणाम को चौथा **ब्रह्मचर्य महाव्रत** कहते हैं।
5. जो साधु, अंतरंग और बहिरंग सर्व परिग्रहों के त्याग रूप चारित्र को धारण करता है, उसे पाँचवां **अपरिग्रह महाव्रत** कहते हैं।

6-10. पाँच समिति

तत्त्वार्थसूत्र की पण्डित सदासुखदासजी कृत अर्थप्रकाशिका टीका में पंच समितियों का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया गया है –

''अन्य जीवों के दुःख दूर करने की इच्छा से सम्यक् यत्नाचार प्रवृत्ति करना, वह **समिति** है।

1. जो मुनि, जीवों के उत्पत्ति-स्थानों – योनि आदि का ज्ञाता होकर, धर्म के लिए प्रयत्न में सावधान होकर, सूर्य का उदय हो जाने के पश्चात् जहाँ नेत्रों से सभी पदार्थ अच्छी तरह से दिखाई देने लगें, मनुष्य तिर्यंचादि के चलने से ओस बर्फ आदि जिस मार्ग में से दूर हो जावें – ऐसे मार्ग पर, मन को अन्य जगह जाने से रोक कर, धीरे धीरे पैर रखता हुआ, शरीर के अंगोपांगादि को संकोचरूप करता हुआ, चराहाथ आगे की जमीन पर नजर रखता हुआ गमन करता है; उस साधु के पृथ्वीकाय, जलकाय आदि जीवों की विराधना के अभाव में **ईर्या समिति** होती है।
2. हित, मित और सन्देह रहित वचन बोलना, **भाषा समिति** है जिससे अपने संसार का अभाव होता है, स्वहितवचन है तथा जिससे दूसरे जीवों का संसार परिभ्रमण मिटता है, वह परहितवचन है – ऐसा वचन कहना, जिससे अपना और पर का हित होवे, वह **भाषा समिति** है।
3. दिन में एक बार निर्दोष आहार ग्रहण करना, **एषणा समिति** है। एषणा समिति के धारी गृहादि परिग्रहरहित मुनिराज, गुणरत्नों से भरी देहरूपी गाड़ी को ओंगनकी तरह प्रामाणिक आहार देकर, समाधिनगर में पहुँचने के इच्छुक होते हैं, यही **एषणा समिति** का उद्देश्य है।
4. शरीर, पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरणों को धर्म के विरोध से रहित, अन्य जीवों के विरोधसे रहित, नेत्रों से अच्छी तरह देखकर, पीछी से शोध कर ग्रहण करना, धरना, उपयोग करना, **आदान-निक्षेपण समिति** है।
5. त्रस-स्थावर जीवों को जिस तरह बाधा उत्पन्न नहीं हो, उस तरह शुद्ध, जन्तुरहित, अंकुररहित, जिस स्थान पर आवागमन करने वालों की नजर न पड़े – ऐसी भूमि पर मलमूत्र आदि का क्षेपण करके प्रासुक जल से शौच क्रिया करने वाले मुनि को **उत्सर्ग** या **प्रतिष्ठापना समिति** होती है।''[36]

''मुनियों के किंचित् राग होने पर गमानादि क्रिया होती है, वहाँ उन क्रियाओं में अति आसक्तता के अभाव में प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती तथा अन्य जीवों को दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन नहीं साधते, इसलिए स्वयमेव दया पलती है। इस प्रकार यह **सच्ची समिति** है।''[37]

सम्यग्दृष्टि को समिति में जितने अंश में वीतरागभाव है, उतने अंश में संवर होता है और जितने अंश में राग होता है, उतने अंश में बन्ध है।.....द्रव्यलिंगी मुनि के शुभोपयोगरूप समिति होती है, किन्तु वह सम्यक् समिति नहीं है और संवर का कारण भी नहीं है।..... तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय में समिति को संवर के कारण में गिना है, इसका कारण यह है कि जैसे, सम्यग्दृष्टि को वीतरागता के अनुसार पाँच समिति संवर का कारण होती है; वैसे, उसके जितने अंश में राग है, उतने अंश में वह आस्रव का भी कारण होती है।.....वास्तव में समिति, चारित्र के मिश्ररूप भाव हैं – ऐसा भाव, सम्यग्दृष्टि को ही होता है।..... सम्यग्दृष्टि के ऐसे मिश्ररूप भाव से तो संवर और बन्ध – ये दोनों कार्य होते हैं, किन्तु अकेले राग के द्वारा

ये दो कार्य नहीं हो सकते; इसलिए अकेले प्रशस्तराग से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना, सो भ्रम है।[38]

यदि जीव, **निश्चय समिति** को उत्पन्न करे तो वह मुक्ति प्राप्त करता है, लेकिन वास्तविक निश्चय समिति के अभाव में अरे रे! वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता, किन्तु संसाररूपी महासागर में ही भटकता है।

11-15. पाँच इन्द्रिय-निरोध

इन्द्र अर्थात् आत्मा के लिंग को इन्द्रिय कहते हैं। अथवा इन्द्र अर्थात् नामकर्म, उसके द्वारा जो निर्मित हैं, वे इन्द्रियाँ कहलाती हैं। इसके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय की अपेक्षा से दो भेद हैं। उन इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति नहीं करना, **इन्द्रिय-निरोध** कहलाता है।

पाँच इन्द्रिय-निरोध का वर्णन इस प्रकार है –

1. जीव और अजीव से उत्पन्न हुए एवं कठोर, कोमल आदि आठ भेदों से युक्त सुख और दुखरूप स्पर्श में मोह-रागादि नहीं करना, **स्पर्शनेन्द्रिय-निरोध** है।
2. अशन आदि से चार भेदरूप, पंच रसयुक्त, प्रासुक, निर्दोष, पर के द्वारा दिये गये रुचिकर अथवा अरुचिकर आहार में लम्पटता का नहीं होना, **रसनेन्द्रिय-निरोध** है।
3. जीव और अजीव के स्वरूप में सुख और दुःखरूप प्राकृतिक तथा पर-निमित्तक गन्ध में राग-द्वेष का नहीं करना, **घ्राणेन्द्रिय-निरोध** है।
4. सचेतन और अचेतन पदार्थों की क्रिया, आकार और वर्ण के भेदों में राग-द्वेष आदि संग का त्याग करना, **चक्षुरिन्द्रिय-निरोध** है।
5. षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि शब्द और वीणा आदि अजीव से उत्पन्न हुए शब्दों को सुन कर, रागादि नहीं करना, **कर्णेन्द्रिय-निरोध** है।

ध्यान रहे कि इन्द्रिय-विजयी या जितेन्द्रिय होने की विधि इन्द्रियों को तोड़-फोड़ देना नहीं है, बल्कि इन्द्रिय-विजेता होने का उपाय दर्शाते हुए समयसार में कहा है –

जो इंदिये जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते, भणंति जे णिच्छिदा साहू।। 31।।

अर्थात् जो इन्द्रियों को जीत कर, ज्ञानस्वभाव के कारण अपनी आत्मा को अन्य द्रव्य से अधिक जानते हैं, उन्हें निश्चयनय में स्थित साधु, वास्तव में **जितेन्द्रिय** कहते हैं।

16-21. षट् आवश्यक

भगवती आराधना की टीका में लिखा है –

आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति आवश्यकाः।

अर्थात् वे क्रियाएँ आवश्यक हैं, जो आत्मा में रत्नत्रय का आवास करती हैं।

अन्यत्र विशेषावश्यक भाष्य में लिखा है – अवश्य करने योग्य वह क्रिया, जो आत्मा को दुर्गुणों से हटा कर, सद्गुणों के अधीन करे तथा आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों से आवासित, अनुरंजित अथवा आच्छादित करे, वह **आवश्यक** है।[39]

इनका वर्णन इस प्रकार है –

1. जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु तथा दुःख-सुख आदि में समभाव रखना और त्रिकाल देव-वन्दना करना, **सामायिक आवश्यक** है।
2. ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों के नाम का कथन और उनके गुणों का कीर्तन करते हुए उनकी पूजा करके उनको मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक नमस्कार करना, **स्तवन या चतुर्विंशति स्तवन आवश्यक** है।
3. अरहन्त, सिद्ध और उनकी प्रतिमा; तप, श्रुत या गुणों में बड़े गुरु और स्वगुरु का, कृतिकर्मपूर्वक अथवा बिना कृतिकर्म के मन-वचन-कायपूर्वक प्रणाम करना, **वन्दना आवश्यक** है।
4. निन्दा और गर्हापूर्वक मन-वचन-काय के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आलम्बन से व्रतविशेष या आहार आदि के ग्रहण के समय हुए गये अपराधों का शोधन करना, **प्रतिक्रमण आवश्यक** है।

5. भविष्य और निकटवर्ती भविष्यकाल में आने वाले नाम, स्थापना आदि छहों अयोग्य कर्म का मन-वचन-काय से वर्जन करना, **प्रत्याख्यान आवश्यक** है।
6. दैवसिक, रात्रिक आदि नियमरूप क्रियाओं में, आगम में कथित प्रमाण से, आगम में कथित काल में, जिनेन्द्रदेव के गुणों के चिन्तवन से सहित शरीर से ममत्व का त्याग करना, अथवा अयोग्य नाम, स्थापना और द्रव्य आदि का मन, वचन, और काय से त्याग कर देना, **कायोत्सर्ग आवश्यक** है।''[40]

22-28. शेष सात मूलगुण

केशलोंच से लेकर एकभक्त तक शेष सात मूलगुण श्रमण के बाह्य चिह्न माने जाते हैं। अन्तरंग कषाय मल की विशुद्धि के लिए बाह्य क्रियाओं की शुद्धता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः ये गुण जीवन की सहजता एवं स्वाभाविकता के प्रतीक हैं। श्रमण को प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने, अपने को और अपने शरीर को कष्टसहिष्णु बनाने तथा लोकलज्जा और लोकभय से ऊपर उठने में ये सात महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करते हैं।

इसी प्रकार का भाव पण्डित दौलतरामजी ने **छहढ़ाला** की छठी ढ़ाल में अभिव्यक्त किया है –

जिनके न न्होंन, न दन्तधोवन, लेश अम्बर-आवरन।
भू माहिं पिछली रयनि में, कछु शयन एकासन करन।।
इक बार दिन में लें अहार, खड़े अलप निज-पान में।
कचलोंच करत न डरत परिषह सों, लगे निज-ध्यान में।। 5-6।।[41]

इन्हीं गुणों को श्रीमद् राजचन्द्र ने भी **अपूर्व अवसर** के निम्न छन्द में समाविष्ट किया है और स्वयं मुनि बनने की भावना भाई है –

नग्नभाव मुण्डभाव सहित अस्नानता, अदन्तधोवन आदि परम प्रसिद्ध जब।
केशरोमनख आदि अंग शृंगार नहीं, द्रव्यभाव संयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जब।।
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा।। 9।।[42]

उक्त शेष सात गुणों का विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है –

1. **केशलोंच** – ''हाथों से मस्तक और दाढ़ी मूँछ के बालों को उखाड़ना, लोच या केशलोंच कहलाता है; यह केशलोंच दिन में, प्रतिक्रमणसहित एवं उपवासपूर्वक करना चाहिए। इसकी अवधि दो, तीन, या चार माह है, जिसे क्रमशः उत्तम, मध्यम और जघन्य कहा जाता है।

   सम्मूर्च्छन आदि जीवों के परिहार के लिए अर्थात् जूं आदि उत्पन्न न हों इसलिए, शरीर से रागभाव आदि को दूर करने के लिए, अपनी शक्ति को प्रकट करने के लिए, सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण के लिए, और निर्ग्रन्थ मुद्रा आदि के गुणों को बतलाने के लिए हाथ से मस्तक और दाढ़ी मूँछ के केशों को उखाड़ना, **केशलोंच** कहलाता है।

   उस्तरा आदि से केशों को दूर करने में दैन्यवृत्ति होना, याचना करना, परिग्रह रखना, तिरस्कारित होना आदि दोषों का होना सम्भव है; किन्तु हाथ से केशों को दूर करने में ये दोष नहीं आते। यही कारण है कि स्वाधीन वृत्ति वाले मुनिराज हाथ से केशलोंच करते हैं।''

   केशलोंच के अन्तर्गत कहाँ कहाँ के बालों को केशलोंच किया जाता है, इसका समाधान करते हुए चर्चासागर में शंका समाधान किया गया है –

   ''**प्रश्न** – मुनिराज जो केशलोंच करते हैं सो कहाँ कहाँ के केश उखाड़ते हैं और कहाँ कहाँ के नहीं उखाड़ते हैं ?

   उत्तर – मुनिराज शिर के और दाढ़ी मूँछ के केश उखाड़ते हैं, काँख और नीचे के लिंग-वृषण के केशों की रक्षा करते हैं – ऐसी आम्नाय है।.....चारित्रसार में कहा है – **शिरःमुख स्मश्रुलोचोधःकेशरक्षणमिति।** इसी प्रकार इन्द्रनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती ने नीतिसार में लिखा है – **अचेलत्वं शीर्षकूर्चलोचोधःकेशधारणमिति।** इस प्रकार जानना।

   प्रश्न – मुनिराज के लोच की विधि तो जानी, परन्तु तीर्थंकर भगवान, दीक्षा के समय जो **पंचमुष्टि** लोच करते हैं सो किस प्रकार करते हैं ?

उत्तर – तीर्थंकर भगवान, मुनियों के समान लोच नहीं करते क्योंकि उनके दाढ़ी मूँछ होते ही नहीं हैं। तीर्थंकर भगवान तो सदा सोलह वर्ष की अवस्थावाले पुरुष के समान (बिना दाढ़ी मूँछ के) अपने रूप से सुशोभित रहते हैं।''[43]

2. **नग्नत्व (आचेलक्य या अचेलकत्व या अचेलकपना)** – किसी भी प्रकार के वस्त्र से शरीर को ढ़कने से उन वस्त्रों के आश्रित रहने वाले जीवों की हिंसा अवश्य होगी, उनको संभालना, धोना सुखाना, फट जाने पर दूसरों से माँगना, आदि प्रसंग अवश्य आएँगे। इन कारणों से साधु को ध्यान और अध्ययन में बाधा अवश्य आएगी, इसलिए नग्न वेष धारण करना, यह **आचेलक्य (नग्नत्व) मूलगुण** है।

अचेलकत्व अर्थात् **नग्नता नामक मूलगुण के अनेक लाभ** बताये गये हैं –

1. सर्व परिग्रह का परिहार होने से त्याग धर्म में प्रवृत्ति होती है।
2. आकिंचन्य धर्म में प्रवृत्ति होती है।
3. आरम्भ का अभाव होने से असंयम का अभाव होता है।
4. असत्य भाषण का कारण ही नष्ट हो जाता है।
5. लाघवगुण अर्थात् विनम्रता प्राप्त होती है।
6. अचौर्यव्रत की पूर्णता प्राप्त होती है।
7. रागादिक का त्याग होने से परिणामों मे निर्मलता आती है।
8. ब्रह्मचर्य का निर्दोष रक्षण होता है।
9. उत्तम क्षमा गुण प्रकट होता है।
10. उत्तम मार्दव गुण प्रगट होता है।
11. आर्जव गुण प्रगट होता है।
12. शौच गुण प्रगट होता है।
13. उपसर्ग और परिषह सहन करने की सामर्थ्य प्रगट होती है।
14. घोर तप का पालन होता है।
15. संयम-शुद्धि होती है।
16. इन्द्रिय-विजय नामक गुण प्रकट होता है।
17. लोभादि कषायों का अभाव होता है।
18. परिग्रह-त्याग नामक गुण प्रकट होता है।
19. आत्मा निर्मल होता है।
20. शरीर के प्रति अनादर प्रकट होता है।
21. स्ववशता नामक गुण प्रकट होता है।
22. मन की विशुद्धि प्रकट होती है।
23. निर्भयता नामक गुण प्रकट होता है।
24. अपना बल और वीर्य प्रकट होता है।
25. तीर्थंकरों के द्वारा आचरित नामक गुण प्राप्त होता है।
26. जिन-प्रतिमाएं और तीर्थंकरों के अनुयायी गणधर भी निर्वस्त्र ही होते हें।
27. उनके सर्व शिष्य भी वस्त्ररहित ही होते हैं।
28. अरे! नग्नता में दोष तो कोई है ही नहीं, बस ! गुण मात्र अपरिमित हैं।
29. अधिक क्या कहें ! जितने तीर्थंकर हो चुके हैं और जितने होने वाले हैं, वे सब वस्त्र रहित होकर ही तप करते हैं।''[44]

यद्यपि जिनागम में मुनिराजों को तो साक्षात् नग्न ही स्वीकार किया गया है; तथापि श्री सिद्धसेन दिवाकर विरचित दशाध्याय सूत्र की टीका में तथा धर्मरसिक ग्रन्थ में नग्न के दश प्रकार बतलाये हैं –

1. जो अपवित्र वस्त्र पहने, वह भी नग्न है।

2. जो खण्ड वस्त्र पहने, वह भी नग्न है।
3. जो मैले वस्त्र पहने, वह भी नग्न है।
4. कोपीन पहने, वह भी नग्न है।
5. जो कषायले रंग के रंगे वस्त्र पहने, वह भी नग्न है।
6. जो दूसरों के उतरे वस्त्र पहने, वह भी नग्न है।
7. जो भीतरी काछ लगावे, बाहर से न लगावे, वह भी नग्न है।
8. जो बाहर से काछ लगावे, भीतर से न लगावे, वह भी नग्न है।
9. जिसकी काछ छूटी रहे, वह भी नग्न है।
10. जो साक्षात् नग्न है, वह तो नग्न है ही।

धर्मरसिक ग्रन्थ में मूल में लिखा है –

अपवित्रपटो नग्नो, नग्नश्चार्द्धपटः स्मृतः।
नग्नश्च मलिनोद्वासी, नग्नः कोपीनवानपि।।
कषायवाससा नग्नो, नग्नश्चोत्तीर्यवानपि।
अन्तःकच्छो बहिःकच्छो, मुक्तकच्छस्तथैव च।।[45]

इसी प्रकार यह जीव किन किन अवस्थाओं में नग्न होता है, उसका सजीव चित्रण यशस्तिलक चम्पू काव्य में दिया गया है –

सुखानुभवने नग्नो नग्नो जन्मसमागमे।
बाल्ये नग्नः शिवो नग्नो, नग्नश्छिन्नशिखो यतिः।।
नग्नत्वं सहजं लोके, विकारो वस्त्रवेष्टनम्।
नग्ना चेयं कथं वन्द्या, सौरभेयी दिने दिने।।[46]

1. यह मानव, काम-सुख भोगने के अवसर पर नग्न होता है।
2. जन्म-प्राप्ति के समय नग्न होता है।
3. बाल्यावस्था में नग्न रहता है।
4. शिवजी भी नग्न हैं।
5. शिखारहित संन्यासी भी नग्न होता है।
6. लोक में नग्नता स्वाभाविक है।
7. वस्त्र से आच्छादित होना – यह तो विकार है।
8. लोक में नग्न गाय ही प्रति दिन वन्द्यनीय मानी गई है।''

3. **अस्नान** – जिनका आहार-विहार अप्राकृतिक होता है, उन्हें स्नानादि की आवश्यकता होती है। श्रमण की आहार-विहार आदि जीवन-पद्धति पूर्णतः प्राकृतिक होती है। दिन में मात्र एक बार प्रासुक, परिमित एवं सादा आहार लेना और उसी समय प्रासुक जल पी लेना, नियमानुसार उपवास आदि करना, सांसारिक क्रियाओं से पूर्णतः विरक्त होना, एकान्त-वास करना, निरन्तर ध्यान, अध्ययन, मनन, चिन्तन आदि में लगे रहना; इत्यादि रूप में श्रमणों का जीवन प्राकृतिक होता है।

सभी क्रियाएँ नियमबद्ध होने से उनके शरीर की धातु, उपधातु आदि प्राकृतिक अवस्था में रहते हैं – ऐसी अवस्था में उन्हें स्नानादि की आवश्यकता ही नहीं रहती; इसलिए साधारण गृहस्थों को कठिन प्रतीत होने वाले अस्नान मूलगुण का पालन श्रमण सहजरूप में कर लेते हैं।

4. **भूमिशयन या क्षितिशयन** – इन्द्रिय-सुखों को परिहार करने के लिए, तप की भावना के लिए और शरीर आदि से निस्पृहता आदि के लिए यह **भूमिशयन** मूलगुण होता है अर्थात् पृथ्वी पर सोने से अथवा तृण, घास, पाटे आदि पर सोने पर, कोमल-कोमल बिछौने आदि का त्याग हो जाने से इन्द्रियों का सुख समाप्त हो जाता है, तपश्चरण में भावना बढ़ती चली जाती है, शरीर से ममत्व का निरास होता है और भी अनेकों गुण प्रकट होते हैं।

मूलाचार में लिखा है – ''अल्प भी संस्तर से रहित, एकान्त स्थानरूप प्रासुक भूमि-प्रदेश पर दण्डाकार या धनुषाकार शयन करना अर्थात् एक करवट से शयन करना, **भूमिशयन या क्षितिशयन मूलगुण** है।''[47]

इस सम्बन्ध में भावदीपिका में कहा है – ''मुनिराज, रात्रि के पिछले प्रहर में प्रासुक भूमि पर अल्प निद्रासहित सोते हैं। जन्तुरहित पृथ्वी को देख कर, पिच्छिका से परिमार्जन करके शयन करते हैं। पिच्छिका से जीवों को ही हटाते समय यदि कदाचित् कंकर, कण्टकादि को हटाते हैं तो पिच्छिका के प्रति परिग्रहभाव हो जाता है।''[48]

छहढ़ाला में भी कहा है –

भू माहिं पिछली रयनि में, कछु शयन एकासन करन।[49]

अर्थात् मुनिराज, भूमि पर रात्रि के पिछले भाग में कुछ शयन एक करवट से करते हैं।

5. **अदन्तधावन** – मूलाचार में लिखा है – ''अंगुली, नख, दातोन, तृणस्पर्श, पत्थर, छाल, आदि के द्वारा दाँत के मल का शोधन नहीं करना, यह संयम की रक्षारूप **अदन्तधावन मूलगुण है।''**[50]

अदन्तधावन के माध्यम से मुनिराजों के शरीर संस्कार का निषेध किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी के विचार दृष्टव्य हैं – ''शरीर-विषयक संस्कार श्रमण को पूर्णतः निषिद्ध है; अतः वे अपने शरीर का किंचित् भी संस्कार नहीं करते। मुख, नेत्र और दाँतों का प्रक्षालन, शोधन, सुगन्धित द्रव्य से उबटन, पाद-प्रक्षालन, अंग-मर्दन, मुष्टि से शरीर दबाना और काष्ठ यन्त्र आदि से शरीर दबाना आदि मुनि नहीं करते तथा शरीर के अवयवों को धूप से सुगन्धित करना अथवा रोग की आशंका व शोक आदि से बचने के लिए मानसिक आह्लाद सहित धूप का प्रयोग, वमन, औषधि आदि के द्वारा मलद्वार से मल का विरेचन करना अर्थात् जुलाब के द्वारा मल को दूर करना, नेत्रों में काजल लगाना, सुगन्धित तेल से शरीर संस्कार, चन्दनादि का शरीर पर लेपन, नासिका कर्म, शलाका, वर्तिका आदि की क्रिया अर्थात् अपान मार्ग के द्वारा स्नेह का प्रक्षेप, नसों को वेध कर रक्त निकालना आदि कार्य भी मुनि अपने शरीर संस्कार के निमित्त नहीं करते।''[51]

इस प्रकार शारीरिक संस्कारों के निषेध में 'दन्तधावन' शब्द से दाँतों के प्रक्षालन का निषेध किया गया है। तात्पर्य यह है कि न केवल दन्तधावन, बल्कि अन्य शारीरिक संस्कारों का भी निषेध इसके माध्यम से हो जाता है।

6. **स्थिति-भोजन** – मूलाचार में कहा है – ''दीवार आदि का सहारा न लेकर जीव-जन्तु से रहित तीन प्रकार की भूमि की शुद्धिपूर्वक समपाद खड़े होकर, दोनों हाथ की अंजुलि बना कर, भोजन करना **स्थितिभोजन मूलगुण** है।''[52]

भावदीपिकाकार ने लिखा है कि ''हाथ की अंजुली में खड़े रह कर पाणिपात्र में आहार लेना। अपने हाथ की अंजुली को पाणिपात्र या करपात्र कहते हैं। अपने दोनों हाथ की अंगुलियों मिला कर पात्र बनाते हैं, उसमें गृहस्थ भक्तिपूर्वक ग्रास रखते हैं, उस ग्रास को मुख से ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार जल ग्रहण करते हैं, उस जल से अन्तर बाहर मुख और हस्तादि शुद्ध करके आहार पूर्ण करते हैं – ऐसे खड़े खड़े भोजनपान ग्रहण करना, **(स्थितिभोजन) मूलगुण** है।''[53]

''प्रश्न – मुनिराज आहार के समय दोनों हाथों की अंगुलियों में आंट देकर दोनों हाथ मिला लेते हैं, तब अन्न-जल आदि का ग्रहण करते हैं। यदि वह दोनों मिले हुए हाथ छूट जाएँ तो वे अन्तराय मान कर आहार का त्याग कर देते हैं सो इसका क्या कारण है?

समाधान – मुनिराज सदा यम नियम पालन करते रहते हैं; अतएव आहार के समय जो अन्न-जल ग्रहण करते हैं, वह भी नियमपूर्वक ही ग्रहण करते हैं। उस समय भी उनके यह नियम रहता है कि जब तक दोनों हाथों का संयोग है, तब तक आहार ग्रहण करेंगे। हाथों के छूट जाने पर आहार का त्याग कर देंगे। श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका के पहले अधिकार में लिखा भी है –

यावन्मे स्थितिभोजनेऽस्ति दृढ़ता, पाण्योश्च संयोजने,
भुंजे तावदहं रहाम्यथ विधौ, एषा प्रतिज्ञा यतेः।
कायेऽप्यस्पृहचेतसोऽन्यविधिषु, प्रोल्लासिनः सम्मतेः,
न ह्येतेन दिविस्थितिर्न नरके, सम्पद्यते तद्विना।।[54]

इससे सिद्ध होता है कि मुनिराज जो आहार ग्रहण करते हैं, वह भी प्रतिज्ञापूर्वक ही ग्रहण करते हैं। जैसे, कोई गृहस्थ अपने हाथ की अंगुली मे किसी धातु की अंगूठी पहिन कर, यह नियम कर ले कि यह अंगूठी जब तक इस अंगुली में है, तब तक मेरे अन्न जल का त्याग है। यदि उसे भोजन करने की आवश्यकता होती है, तब वह उसे उस अंगुली से निकाल कर दूसरी अंगुली में पहन लेता है या उतार कर रख देता है और फिर भोजन कर लेता है। उसी प्रकार मुनियों के भी आहार करते समय दोनों हाथों के संयोग का नियम समझ लेना चाहिए।''[55]

अनगार धर्मामृत में इस सम्बन्ध में मुनिराज की एक प्रतिज्ञा का उल्लेख किया गया है कि ''जब तक खड़े होकर और अपने हाथ को जोड़ कर या उनको ही पात्र बना कर, उन्हीं के द्वारा भोजन करने की सामर्थ्य रखता हूँ; तभी तक भोजन करने में प्रवृत्ति करूँगा, अन्यथा नहीं।[56]

7. **एकभक्त मूलगुण** – मूलाचार में कहा है – ''सूर्योदय के अनन्तर तीन घड़ी व्यतीत होने पर तथा सूर्यास्त होने के पूर्व तक दिन के मध्यकाल में एक मुहूर्त, दो मुहूर्त या तीन मुहूर्त काल में एक बार आहार ग्रहण करना, **एकभक्त मूलगुण** है।''[57]

इसी प्रकार प्रवचनसार में कहा है कि ''साधु को भूख से कम, जैसा प्राप्त हो, वैसा दोषरहित तथा रस की अपेक्षारहित भिक्षावृत्तिपूर्वक दिन में एक बार युक्ताहार ग्रहण करना चाहिए।''[58]

यद्यपि संयम, ज्ञान, ध्यान, अध्ययन एवं साधना की वृद्धि के लिए जैसा मिले, वैसा ही शुद्धरूप आहार लेना श्रमण को अपेक्षित है। इसकी पूर्ति दिन में एक बार मौन पूर्वक ग्रहण किये गये आहार से ही हो जाती है। एकाधिक बार आहार ग्रहण से तो शिथिलाचार में ही प्रवृत्ति बढ़ती है।

अट्ठाईस मूलगुणों के अलावा साधुचर्या के विशेष नियम[59]

पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने ज्ञानपीठ पूजांजलि की प्रस्तावना में साधु के उक्त अट्ठाईस मूलगुणों के अलावा साधुधर्म की रक्षा के लिए कुछ विशेष नियमों की चर्चा की है, जो निम्न प्रकार है –

1. जो अपने से बड़े पुराने दीक्षित साधु हैं, उनके सामने आने पर अभ्युत्थान और प्रणाम आदि द्वारा उनको समुचित विनय करता है।
2. आगमार्थ के सुनने और ग्रहण करने में रुचि रखता है।
3. गुरु आदि से शंका का निवारण विनयपूर्वक करता है।
4. श्रुत का अभ्यास बढ़ जाने पर न तो अहंकार करता है और न उसे छिपाता है।
5. ज्ञान और संयम के उपकरणों के प्रति आसक्ति नहीं रखता।
6. जिस पुस्तक का स्वाध्याय करता है, उसे स्वाध्याय समाप्त होने तक के लिए स्वीकार करता है। अनावश्यक पुस्तकों के संग्रह में रुचि नहीं रखता। अनुसन्धान के लिए अधिक का पुस्तकों का अवलोकन करना, वर्जनीय नहीं है, परन्तु उनके संग्रह में रुचि नहीं रखता।
7. अपने गुरु और गुरुकुल अर्थात् गुरु परम्परा के अनुकूल प्रवृत्ति करता है।
8. संयम के योग्य क्षेत्र, निर्जन वन, गिरि-गुफा या चैत्यालय आदि में निवास करता है।
9. अन्य साधुओं की आवश्यकतानुसार वैयावृत्य करता है।
10. गाँव में एक दिन और शहर में पाँच दिन निवास करता है।
11. पहले अपनी गुरु परम्परा से आये हुए आगम का विधिपूर्वक अध्ययन करके अनन्तर गुरु की आज्ञा से अन्य शास्त्रों का अध्ययन करता है।
12. अध्ययन करने के बाद यदि अन्य धर्मायतन आदि स्थान में जाने की इच्छा हो तो गुरु से अनेक बार पृच्छापूर्वक आज्ञा लेकर अकेला नहीं जाता है, किन्तु अन्य साधुओं के साथ जाता है।
13. गुरु, अकेले विहार करने की आज्ञा, ऐसे साधु को ही देते हैं, जो सूत्रार्थ का ज्ञाता है, उत्तम प्रकार से तपश्चर्या में रत है, जिसने सहन शक्ति बढ़ा ली है, जो शान्त और प्रशस्त परिणाम वाला है, उत्तम संहनन का धारी है, सब तपस्वियों में पुराना है, अपने आचार की रक्षा करने में समर्थ है, और जो देश काल का पूर्ण ज्ञाता है।
14. जो उक्त गुणों का धारी नहीं है, उसके एकलविहारी होने पर गुरु का अपवाद होने का, श्रुत का विच्छेद होने का और तीर्थ के मलिन होने का भय बना रहता है तथा स्वैराचार अर्थात् स्वच्छन्दता की

प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। और भी अनेक दोष हैं; इसलिए हर कोई साधु एकलविहारी नहीं हो सकता। जो इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं, वे भी उक्त दोषों के भागी होते हैं।

15. प्रायः जो गारव दोष से युक्त होते हैं, मायावी होते हैं, आलसी होते हैं, व्रतादि के पालन करने में असमर्थ होते हैं, और पापबुद्धि होते हैं, वे ही गुरु की अवहेलना करके अकेले रहना चाहते हैं।
16. आर्यिका या अन्य स्त्री के अकेले होने पर उनसे बातचीत नहीं करता, और न वहाँ ठहरता ही है।
17. यदि बातचीत करने का विशेष प्रयोजन हो तो अनेक स्त्रियों के रहते हुए ही दूर से उनसे बातचीत करता है।
18. आर्यिकाओं या अन्य व्रती श्राविकाओं के उपाश्रयों में नहीं ठहरता।
19. अपनी प्रभाव वृद्धि के लिए मन्त्र तन्त्र और ज्योतिष विद्या का उपयोग नहीं करता।
20. तैलमर्दन आदि द्वारा शरीर का संस्कार नहीं करता और सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग नहीं करता।
21. शीत आदि की बाधाओं से रक्षा के उपायों का आश्रय नहीं लेता।
22. वसतिका आदि का द्वार स्वयं बन्द नहीं करता तथा वहाँ आने वाले अन्य व्यक्ति को नहीं रोकता।
23. दीपक या लालटेन की रोशनी को कम अधिक नहीं करता। बैटरी आदि से संचालित टॉर्च आदि भी पास में नहीं रखता।
24. उष्णता का वारण करने के लिए पंखे आदि का उपयोग नहीं करता।
25. अपने साथ नौकर आदि नहीं रखता।
26. किसी के साथ विसंवाद नहीं करता।
27. तीर्थादि की यात्रा के लिए अर्थ का संग्रह नहीं करता और न इसकी पूर्ति के लिए उपदेश देता है।
28. यात्रा के समय किसी प्रकार की सवारी का उपयोग नहीं करता है।

इन नियमों के सिवाय और भी बहुत से नियम हैं, जिनका वह संयम की रक्षा के लिए भले प्रकार पालन करता है।

श्वेताम्बर मान्यतानुसार मुनियों के सत्ताईस मूलगुण[59क]

श्वेताम्बर मान्यता में मुनियों के सत्ताईस मूलगुणों में **पाँच महाव्रत** – प्राणातिपात विरमण, मृषावाद विरमण, अदत्तादान विरमण, मैथुन विरमण, परिग्रह विरमण (5); **पाँच इन्द्रिय-निग्रह** (5); **चार कषाय-त्याग** (4); **तीन सत्य** (3) – भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य; **त्रियोग समाधारणता** या संकोचन (3); **त्रिरत्न (ज्ञान-दर्शन-चारित्र) सम्पन्नता** (3); **द्वि-अधिसहन** (2) – **वेदना** और **मारणान्तिक; क्षमा** (1), **विरागता** (1) = कुल 27 मूलगुणों का समावेश किया गया है।

ध्यान रहे कि उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति[59ख] एवं आवश्यकवृत्ति[59ग] में 27 गुणों का निर्देश तो मिलता है लेकिन उनके नामों में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। वहाँ चार कषायत्याग, ज्ञान-सम्पन्नता, दर्शन-सम्पन्नता और चारित्र-सम्पन्नता – इन सात के स्थान पर रात्रिभोजनत्याग, पाँच स्थावर और त्रस – इन छह काय के जीवों पर आधारित छह प्रकार के प्राणीसंयम को स्वीकार किया गया है।

इस सम्बन्ध में डॉ. जिनेन्द्र जैन, लाडनूँ ने अपने शोध निबन्ध[59घ] में लिखा है –

''मूलाचार में निर्दिष्ट गुणों के नामों तथा समवायांग और दोनों वृत्तियों में उल्लिखित मूलगुणों के नामों एवं संख्या में अन्तर दिखाई देता है किन्तु परम्परा की दृष्टि से एक दो मूलगुणों को छोड़ कर शेष मूलगुणों का यदि सूक्ष्मता से अध्ययन करें तो दोनों ग्रन्थों में मान्य गुण या तो मूलगुण में समाहित हैं या उत्तरगुणों में। दोनों ग्रन्थों की तालिका में पाँच महाव्रतों एवं पाँच इन्द्रिय निग्रह का समान विधान है। समितियों को मूलगुणों में रखने पर चारों कषायों के वर्जन का समाहार हो जाता है। जबकि समवायांग में चारों कषायों के त्याग को मूलगुणों रखा गया है और समितियों का उत्तरगुणों में समावेश हो जाता है। 'केशलोंच' नामक मूलगुण, 'काय-समाधारणता' में निहित है। इसी प्रकार षडावश्यक मुनियों की दैनिक आचार संहिता के अन्तर्गत मान्य है और षट्कायिक जीवों के प्रति संयम का विधान, अहिंसा नामक प्रथम मूलगुण में निहित कहा जा सकता है। 'अष्ट प्रवचनमाता' का उल्लेख जैनागमों में मिलता है। पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ मिल कर अष्ट प्रवचनमाता कही गई हैं, जिन्हें श्रमण अनिवार्यरूप से पालता है। महाव्रतों को सुरक्षित

रखने तथा धर्म में एकनिष्ठ रहने हेतु प्रवचनमाता का विशेष महत्त्व व योगदान है। आचेलक्य का उल्लेख साधु के दश स्थितिकल्पों में सर्वप्रथम किया गया है। अर्धमागधी आगम (श्वेताम्बर आम्नाय) में स्थितिभोजन का विधान नहीं है क्योंकि वहाँ आहार स्वस्थान पर लाकर करने का विधान है। इसका उल्लेख 'दशवैकालिक' सूत्र मे विस्तार के साथ किया गया है।''

मुनिराज के उत्तरगुण

मुनिराज के मूलगुणों के अतिरिक्त पालन करने के योग्य नियम-उपनियम तथा बारह तप, बारह अनुप्रेक्षा, दशलक्षण धर्म, बाईस परीषहजय, शील आदि अनेक गुणों को **उत्तरगुण** कहते हैं। इनके माध्यम से मुनिराज, आध्यात्मिक विकास की शक्ति प्राप्त करते हैं और शुद्धि की वृद्धि करते हुए सम्पूर्ण विकारों का क्षय करके पूर्ण अविकारी मुक्तदशा को प्राप्त करते हैं। **अथवा** व्रतों के अनन्तर उत्तरकाल में जिनका पालन किया जाता है, उन अनशनादि तपों को **उत्तरगुण** कहते हैं। **अथवा** सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उत्तर काल में चारित्र की उत्पत्ति होती है, अतः चारित्र अर्थात् संयम को **उत्तरगुण** कहते हैं।[60]

मूलगुण और उत्तरगुण में सम्बन्ध

श्रमण-जीवन में आत्मिक उत्कर्ष की दृष्टि से उत्तरगुणों का भी महत्त्व है, परन्तु मूलगुणों के मूल्य पर मात्र उत्तरगुणों की रक्षा करना योग्य नहीं है, क्योंकि मूलगुणों के अनन्तर पालन किये जाने वाले उत्तरगुणों में दृढ़ता, इन्हीं मूलगुणों के निमित्त से ही प्राप्त होती है।[61]

''जिस प्रकार मूलरहित वृक्ष, किसी प्रकार के फल उत्पन्न नहीं कर सकता; उसी प्रकार मूलगुण से रहित समस्त उत्तरगुण कभी फलदायी नहीं हो सकते। जो उत्तरगुणों को प्राप्त करने के लिए मूलगुणों का त्याग कर देते हैं, वे तो अपने हाथ की अंगुलियों की रक्षा के लिए मानों शिरच्छेद ही करा लेते हैं।''[62]

उत्तरगुण के भेद-प्रभेद

जिस प्रकार मूलगुणों की संख्या निश्चित है, उस तरह उत्तरगुणों की कोई सनिश्चित संख्या नहीं है। मूलगुणों के अतिरिक्त मुनि-जीवन के सभी गुण या व्रत-शील आदि उत्तरगुण में समाहित हैं। यही कारण है कि विस्तार से उत्तरगुणों की उत्कृष्ट संख्या चौरासी लाख तक मानी गई है। सामान्यतः उत्तरगुणों के अन्तर्गत दशलक्षण धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय, पंचाचार, बारह तप एवं शीलगुणों का समावेश होता है। जबकि उत्तरगुणों की संख्या के अलग अलग आगम-प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

जैसे, आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित मान्य मूलाचार एवं प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में कहा है कि **तवपरिसहादिभेदा चोत्तीसा उत्तरगुणक्खा** अर्थात् बारह तप और बाईस परिषह – इस प्रकार चौंतीस उत्तरगुणों का उल्लेख मिलता है। यदि विचार करें तो बारह तपों के अन्तर्गत स्वाध्याय तप में अनुप्रेक्षा स्वाध्याय में बारह अनुप्रेक्षाओं का समावेश किया जा सकता है और बारह अनुप्रेक्षाओं में धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा के अन्तर्गत दश धर्मों का समावेश किया जा सकता है; अतः मूल उत्तरगुणों में चौंतीस भेदों की संख्या अपने आप मे पर्याप्त है। इसका प्रमाण यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने बारसाणुवेक्खा में बारह अनुप्रेक्षा के एक भेद, धर्म अनुप्रेक्षा के अन्तर्गत गृहस्थधर्म की ग्यारह प्रतिमाओं एवं मुनिधर्म के उत्तमक्षमा आदि दश धर्मों का वर्णन किया है।[63] वहीं नयचक्र में उक्त चौंतीस भेदों के साथ पंचाचारों को भी उत्तरगुण के रूप में स्वीकार किया है।[64] जबकि आचार्य वट्टकेर कृत मूलाचार के शीलगुणाधिकार में शील के अठारह हजार एवं चौरासी लाख भेदों को उत्तरगुण कहा है।[65]

बारह तप

जिनागम में इच्छा के निरोध को तप कहा गया है।[66] जैसे, अग्नि, महान तृणराशि को जला कर खाक कर देती है; उसी प्रकार तपरूपी अग्नि, महान कर्मरूपी तृणों के ढेर को जला कर राख कर देती है। जैसे, सुवर्ण पाषाण को महान अग्नि से तपाने पर उसमें से सोना अलग हो जाता है; उसी प्रकार तपरूप अग्नि से तपाने पर कर्मरूपी धातु से घिरा हुआ जीव शुद्ध हो जाता है।[67] उस तप से क्या होता है ? – इसका समाधान करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है – **तपसा निर्जरा च**[68] अर्थात् तप से निर्जरा होती है। अतः मुक्तिमार्ग में निर्जरा आवश्यक है क्योंकि उससे ही कर्मों की मुक्ति होती है।

तप के सम्बन्ध में अपने मौलिक विचार व्यक्त करते हुए क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी लिखते हैं –

तप नाम यद्यपि कुछ भयावह प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। यदि अन्तरंग वीतरागता व साम्यता की रक्षा व वृद्धि के लिए तप किया जाए तो वह एक महान धर्म सिद्ध होता है क्योंकि वह दुःखदायक न होकर आनन्दप्रदायक होता है; इसीलिए ज्ञानी शक्ति के अनुसार तप करने क नित्य भावना भाते रहते हैं और प्रमाद नहीं करते। इतना अवश्य है अन्तरंग साम्यता से निरपेक्ष किया गया तप कायक्लेश मात्र है, जिसका मोक्षमार्ग में कोई स्थान नहीं है। तप के द्वारा अनादि के बँधे कर्म व संस्कार क्षण भर में विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए सम्यक् तप का मोक्षमार्ग में बड़ा स्थान है। इसी कारण गुरुजन, शिष्यों के दोष दूर करने के लिए कदाचित् प्रायश्चित्त के रूप में भी उन्हें तप करने का आदेश दिया करते हैं।[69]

तप को परिभाषित करते हुए जिनागम में कहा है –

सहज निश्चयात्मक परमस्वभाव प्रसिद्ध शुद्ध कारणपरमात्मा में अन्तर्मुख होकर दृढ़तापूर्वक तन्मयता/लीनता, स्वरूप की स्थिरता, निस्तरंग निर्विकल्प भाव, चैतन्य की प्रदीप्ति, आत्मा को आत्मा में आत्मा के द्वारा धारण करके रखना, समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्वस्वरूप की विजय करना, **निश्चय से तप** है।[70]

सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र को धारण करके कर्मक्षय के लिए शरीर और इन्द्रियों के निग्रहपूर्वक स्वशक्ति के अनुसार समभाव सहित बाह्य चारित्र में जो अनशन आदिरूप उद्योग और उपयोग की प्रवर्तना की जाती है, उसे जिनेन्द्रभगवान **व्यवहार से तप** कहते हैं।[71]

जबकि **निश्चय-व्यवहार की सन्धिपूर्वक** कहें तो पंचेन्द्रिय विषय और क्रोधादि चार कषाय का निग्रह करके स्वाध्याय व ध्यान के द्वारा आत्मस्वरूप का चिन्तन करना, **तप** है।[72] लेकिन अपने परमार्थ -स्वरूप को छोड़ कर जो जीव बाह्य तप और बाह्य व्रत धारण करते हैं, अथवा जो जीव, मिथ्यात्व के कारण मोक्षमार्ग के लिए अनुपयोगी कायक्लेश आदि की मुख्यतापूर्वक मायाचार से वतों को धारण करता है, उसके उन सब तपों और व्रतों को सर्वज्ञदेव ने बालतप और बालव्रत कहा है।[73]

इसी प्रकार सम्यक्त्व और संयमरहित तप.....महान उपकारी नहीं है, उसका तप, हस्ति-स्नान की भांति जानना अथवा दही मथने की रस्सी की तरह जानना।[74]

पद्मनन्दि पंचविंशतिका में लिखा है कि साधु, घर छोड़ कर बाहर रहने से वर्षा, सर्दी, और धूप आदि के तीव्र दुःख को सहता है, वह यदि अध्यात्म ज्ञान से रहित होता है तो उसका सब ही कायक्लेश उसी प्रकार व्यर्थ होता है, जिस प्रकार धान्यांकुरों से रहित खेतों में बाँसों या काँटों आदि से बाढ़ का निर्माण करना।[75]

तप को आनन्ददायक परिणति निरूपित करते हुए समाधिशतक में आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं कि आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान से उत्पन्न हुए आनन्द से जो आनन्दित है, वह तप के द्वारा उदय में लाये हुए भयानक दुष्कर्मों के फल को भोगता हुआ भी खेद को प्राप्त नहीं होता।[76]

तप के भेद-प्रभेद

यद्यपि तप आत्मशोधन एवं कर्मक्षय की एक अखण्ड प्रक्रिया है, तथापि विधि, प्रक्रिया और उत्तरोत्तर विशुद्धि के आधार पर तप के बाह्य-आभ्यन्तर भेद और उनके भी छह छह प्रभेद किये गये हैं। इस प्रकार तप के कुल बारह भेद हैं –

तप के दो भेद – बाह्य और अभ्यन्तर।

बाह्य तप के छह भेद – 1. अनशन, 2. अवमौदर्य, 3. वृत्तिपरिसंख्यान, 4. रसपरित्याग, 5. विविक्त शय्यासन और 6. कायक्लेश।

अभ्यन्तर तप के छह भेद – 7. प्रायश्चित्त, 8. विनय, 9. वैयावृत्य, 10. स्वाध्याय, 11. व्युत्सर्ग, और 12. ध्यान।

बाह्य तप

बाह्य द्रव्य के अवलम्बन से दूसरों को देखने में आने वाले तप बाह्य तप हैं।[77] अथवा जिस तप की साधना, शरीर से विशेष सम्बन्धित हो तथा जिसके द्वारा शरीर का कर्षण हो जाने से इन्द्रियों का मर्दन हो जाता है, वह **बाह्य तप** है।[78] आचार्यकल्प टोडरमलजी ने भी कहा है कि बाह्य का अर्थ है कि बाहर से औरों को दिखाई दे कि यह तपस्वी है।[79]

ध्यान रहे कि अभ्यन्तर तप के लिए ही बाह्य तप माना गया है क्योंकि अभ्यन्तर तप प्रधान है। यह तप, शुभ और शुद्ध परिणामों से युक्त रहता है, इसके बिना बाह्य तप कर्म-निर्जरा करने में असमर्थ है।[80]

बाह्य तप के द्वारा स्व-आत्मा, अपना कुलख गण अर्थात् अपने गुरु, उनकी शिष्य परम्परा और प्रवचन अर्थात् जिनमत – इन सबको भी मुनि सुशोभित करता है।.....अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, और रसपरित्याग – इन चार तपों के द्वारा मुख्यरूप से रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त की जाती है। कायक्लेश और विविक्त शय्यासन – ये दो तप, स्पर्शन, घ्राण, चक्षु और कर्णेन्द्रिय – इन चार इन्द्रियों तथा इनके विषयों के प्रति अनासक्ति बनाने में सहयागी होते हैं।[81]

अब, उक्त बारह तपों के स्वरूप का संक्षेप में वर्णन[82] करते हैं –

1. **अनशन** – इन्द्रियों के अपने अपने विषयों से हट कर, रागद्वेषरहित आत्मस्वरूप में वसने या लीन होने से अशन, स्वाद्य, खाद्य और पेय – इन चार प्रकार के आहार का विधिपूर्वक त्याग करना, उपवास या अनशन कहलाता है। यह नियतकालिक और सर्वकालिक, दोनों प्रकार से किया जा सकता है।[83]

   कार्तिकेयानुप्रेक्षा में तो यहाँ तक कहा है –

   उवसमणं अक्खाणं, उववासो वण्णिदो मुणिंदेहिं।
   तम्हा भुंजंता वि य, जिदिंदिया होंति उववासा।। 437।।

   अर्थात् मुनीन्द्रों ने संक्षेप में इन्द्रियों का विषयों में न जाने देने को, मन को अपने आत्मस्वरूप में लगाने को उपवास कहा हे; इसलिए जितेन्द्रिय आहार करते हुए भी उपवास सहित ही होते हैं।[84]

   क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि यद्यपि भूखा मरना कोई धर्म नहीं है, परन्तु शरीर से उपेक्षा हो जाने के कारण अथवा अपनी चेतन वृत्तियों को भोजन आदि के बन्धनों से मुक्त रखने के लिए अथवा क्षुधा आदि में भी साम्यरस से च्युत न होने रूप आत्मिक बल की वृद्धि के लिए किया गया अशन का त्याग मोक्षमार्गी को अवश्य श्रेयस्कर है – ऐसे ही त्याग का नाम अनशन तप है, अन्यथा तो कोरा लंघन है, जिससे कुछ भी सिद्धि नहीं।[85]

   इसी प्रकार के भावसूचक एक श्लोक का उद्धरण आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने किया है –

   कषायविषयाहारो, त्यागो यत्र विधीयते।
   उपवासः स विज्ञेयः, शेषं लंघनकं विदुः।।[86]

   अर्थात् कषाय, विषय और आहार – इन तीनों का त्याग जब एक साथ किया जाता है, तब ही उसे **उपवास** कहा जाता है; शेष को श्रीगुरु लंघन संज्ञा देते हैं।

   जिनागम में निम्न उद्देश्य से **अनशन तप करने का उपदेश** दिया है – 1. प्राणीसंयम और इन्द्रियसंयम की सिद्धि, 2. शरीर और प्राणों के प्रति आसक्ति का अभाव, 3. चेतन वृत्तियों को भोजन आदि के बन्धनों से मुक्त रखना, 4. आत्मिक बल की सिद्धि, 5. राग का विध्वंस, 6. कर्मों का नाश, 7. सद्ध्यान की प्राप्ति, 8. शास्त्रों का अभ्यास, 9. इहलोक-परलोक सम्बन्धी वांछा का अभाव 10. इन्द्रिय और मन के विषयों में प्रवृत्ति से रहित होना, और 11. अनशनस्वभावी आत्मा में प्रवृत्ति। आदि।[87]

2. **अवमौदर्य** – संयम की वृद्धि, निद्रा-आलस्य का नाश, वात-पित्त-कफ आदि दोषों का प्रशमन, सन्तोष, स्वाध्याय, आदि सुखपूर्वक होवें, इसके लिए थोड़ा आहार लेना, **अवमौदर्य तप** है।[88]

   जिनागम के अनुसार **अवमौदर्य या ऊनोदरी तप के उद्देश्य** इस प्रकार हैं – 1. उत्तम क्षमा आदि दशलक्षण धर्म, षट् आवश्यक, आतापन आदि योग, ध्यान और चारित्र इत्यादि का पालन, 2. निद्रा विजय, 3. इन्द्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का अभाव, 4. संयम की जागृति, 5. दोषों का उपशम और 6. सन्तोष, स्वाध्याय आदि की सुखपूर्वक सिद्धि। आदि।[89]

   ध्यान रहे – जो मुनि, कीर्ति के निमित्त, मायाचारी से और मिष्ट भोजन के लाभ के लिए अल्प भोजन करता है, उसके अवमौदर्य तप निष्फल है।[90]

3. **वृत्तिपरिसंख्यान** – भोजन, पात्र, घर, मोहल्ला आदि को वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति का परिमाण या नियन्त्रण करना, **वृत्तिपरिसंख्यान तप** है।[91]

   गृहों का प्रमाण, भोजनदाता का विशेष, काँसे आदि पात्र का विशेष, मौठ, सत्तू आदि भोजन का विशेष, इनमें अनेक तरह के विकल्प कर भोजन ग्रहण करना, **वृत्तिपरिसंख्यान तप** है।[92]

जिस मार्ग से आहारार्थ गमन किया है, उसी मार्ग से लौटते समय अथवा सरल रास्ते से जाते समय अथवा.....मोड़ों सहित भ्रमण करते हुए अथवा.....पंक्षियों की पंक्ति की भाँति भ्रमण करते हुए अथवा जिस श्रावक के घर में आहार ग्रहण का संकल्प किया है उसी में, इत्यादि प्रकार से आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।

एक दो आदि फाटकों तक प्राप्त ही अथवा विवक्षित फाटक में प्राप्त ही अथवा विवक्षित घर के आँगन में प्राप्त ही अथवा.....एक या दो बार परोसा ही, अथवा एक या दो आदि दाताओं द्वारा ही अथवा एक या दो बार परोसा ही अथवा पिण्डरूप ही, द्रवरूप ही, अथवा द्रवरूप ही, पिण्डरूप नहीं अथवा विवक्षित धान्यादिरूप आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।.....अथवा भात सहित या रहित ही भोजन मिलेगा तो लूँगा, अन्यथा नहीं।.....इत्यादि नाना प्रकार के नियम करना, **वृत्ति-परिसंख्यान तप** है।[93]

जिनागम के अनुसार **वृत्तिपरिसंख्यान तप** के उददेश्य इस प्रकार हैं – 1. इन्द्रिय और मन का निग्रह, 2. भोजनादि के प्रति रागवृत्ति को दूर करना, 3. आशा-तृष्णा की निवृत्ति, 4. धैर्य गुण की वृद्धि, 5. भूख-प्यास सहन करने का अभ्यास, 6. अनुद्दिष्ट भोजन के नियम का पालन करना, 7. अपनी वृत्तियों पर कठोर संयम करना, 8. भोजन के विषय में होने वाले संकल्प-विकल्प और चिन्ताओं का नियन्त्रण करना। आदि।[94]

4. **रसपरित्याग** – जो मुनि, संसार के दुःख से तप्तायमान होकर ऐसे विचार करता है कि इन्द्रियों के विषय विष समान हैं; विष खाने पर तो एक बार मरता है, परन्तु विषय-सेवन करने पर बहुत जन्म-मरण होते हैं – ऐसा विचार कर जो नीरस भोजन करता है, उसके **रसपरित्याग तप** निर्मल होता है।[95]

   दूध, दही, घी, तेल, गुड़ (शक्कर), और लवण – इन सब रसों का त्याग करना अथवा एक एक रस का त्याग करना अथवा तीखा, कड़वा, कषायला, खट्टा, और मीठा – इन पाँच प्रकार के रसों का एकदेश या सर्वदेश त्याग करना, **रसपरित्याग तप** है।[96] अथवा रस सम्बन्धी लम्पटता को मन, वचन और शरीर के संकल्प से त्यागना, **रसपरित्याग तप** है।[97]

   जिनागम के अनुसार रसपरित्याग तप के उद्देश्य इस प्रकार हैं – 1. इन्द्रियों के मद का निग्रह करना, 2. निद्रा को जीतना, 3. स्वाध्याय आदि की सिद्धि, 4. प्राणीसंयम और इन्द्रियसंयम की प्राप्ति, विषयसेवन का त्याग, 6. असंयम का निरोध, और 7. रसना इन्द्रिय की स्वादवृत्ति पर विजय की साधना। आदि।[98]

5. **विविक्त शय्यासन** – जो मुनि, राग-द्वेष के कारण आसन, शय्या, आदि को छोड़ता है, अपने आत्मस्वरूप में रहता है, और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होता है, उसे **विविक्त शय्यासन तप** होता है।[99]

   शून्य घर, गिरि-गुफा, वृक्षमूल, आगन्तुकों के निमित्त निर्मित घर, देवकुल, शिक्षागृह, अकृत (किसी के द्वारा नहीं बनाये गये) स्थान इत्यादि विविक्त वसतियों में रहना, **विविक्त शय्यासन तप** है।[100] अथवा अप्रमादी मुनि द्वारा सोने, बैठने व ठहरने के लिए तिर्यंचनी, मनुष्यनी, विकारसहित देवियाँ और गृहस्थों से युक्त मकानों आदि का त्याग करना, विविक्त शय्यासन तप है।[101]

   जो महामुनि, पूजादि से निरपेक्ष, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त, प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, ध्यान आदि अन्तरंग तपों में प्रवीण, उपशमशील, मन्दकषायरूप, शान्तपरिणामी, महा पराक्रमी, क्षमादि परिणाम से युक्त हैं; वे श्मशान भूमि, गहन वन, निर्जन स्थान, महा भयानक उद्यान, और अन्य भी ऐसे स्थानों में रहते हैं, उनके **विविक्त शय्यासन तप** होता है।[102]

   जिनागम में **विविक्त शय्यासन तप करने के उद्देश्य** इस प्रकार वर्णित हैं – 1. सुखपूर्वक आत्मस्वरूप में लीन होना, 2. मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकना, 3. ब्रह्मचर्य की उत्कृष्ट साधना करना, 4. ध्यान और स्वाध्याय की वृद्धि, 5. गमनागमन का अभाव होने से जीवों की रक्षा 6. कष्टसहिष्णुता, 7. संसार शरीर भोगों से विरक्ति, 8. प्रायश्चित्त-विधि का पालन। आदि।[103]

6. **कायक्लेश** – जो मुनि, दुःसह उपसर्गों को जीतने वाला है, आताप, शीत, वात पीड़ित होकर भी खेद को प्राप्त नहीं होता हैं, चित्त में क्षोभ अर्थात् क्लेश भी नहीं करता है; उस मुनि के **कायक्लेश तप** होता है।[104] अथवा आतापन योग, वृक्ष के मूल में निवास, निरावरण शयन और नाना प्रकार के आसन इत्यादि करना, **कायक्लेश तप** है।[105] अथवा खड़े रहना, एक करवट से मृत व्यक्ति की तरह सोना, वीरासन आदि से

बैठना इत्यादि अनेक प्रकार से शास्त्रानुसार विवेकपूर्वक आतापन आदि द्वारा शरीर को कष्ट देना, **कायक्लेश तप** है।[106]

मूलाचार समीक्षा लिखते हुए विद्वान् लेखक ने लिखा है कि कायक्लेश तप का मूल उद्देश्य शरीर को किसी प्रकार कष्ट देना मात्र नहीं है; अपितु इसमें योगविधियों के द्वारा शरीर के प्रति निर्ममत्व भाव उत्पन्न कर, आत्मा में स्थित अनन्त शक्तियों की जागृति, आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति तथा आत्म-कल्याण की भावना निहित है।.....कायक्लेश करते हुए श्रमण को यह चिन्तन करना चाहिए कि जो परीषह, कष्ट आदि हैं, वे आत्मा में नहीं, अपितु शरीर में होते हैं और यह शरीर मेरा नहीं है। यही चिन्तन कायक्लेश तप का आध्यात्मिक आधार है। इससे देहासक्ति और देहाध्यास को कम करने का बल प्राप्त होता है।.....वस्तुतः शरीर में द्वेषबुद्धि करके उसे कष्ट देना, कायक्लेश नहीं है; अपितु आत्म-साधना-आराधना करते हुए, यदि अनेक प्रकार के कष्ट आ पड़े तो स्वरूपानुभव के बल से उनसे निरपेक्ष रह कर अनवरतरूप से आत्मसाधना करते रहना, **कायक्लेश तप** है।[107]

जिनागम में **कायक्लेश तप करने के उद्देश्य** इस प्रकार वर्णित हैं – 1. देह के प्रति उपेक्षा भाव, 2. परीषह सहन करने की भावना, 3. शरीर से निरपेक्ष रह कर आत्म-साधना करना, 4. देहासक्ति और देहाध्यास को घटाने हेतु निर्ममत्वभाव की साधना, 5. शारीरिक सुख की अभिलाषा का अभाव, 6. शारीरिक कष्ट सहने की सहन शक्ति, और 7. मार्ग की प्रभावना। आदि।[108]

अभ्यन्तर तप

मन का नियमन करने वाले होने से इन्हें **अभ्यन्तर तप** कहते हैं। अथवा जो तप, अन्तःकरण के व्यापार का अवलम्बन लेकर होते हैं अथवा जो बाह्य द्रव्यों का अपेक्षा नहीं रखते, जो मिथ्यादृष्टियों के द्वारा अप्राप्य होते हैं, उन्हें अन्तरंग तप कहते हैं।[109]

पण्डित टोडरमलजी अन्तरंग तपों के सम्बन्ध में समझाते हुए कहते हैं कि अन्तरंग तपों में प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग या त्याग और ध्यानरूप बाह्य प्रवर्तन को तो बाह्य तपवत् ही जानना। जैसे, अनशनादि बाह्य क्रियाएँ हैं, उसी प्रकार इनमें भी बाह्य क्रियाएँ हैं; इसलिए प्रायश्चित्त आदि बाह्यसाधन अन्तरंग तप नहीं हैं। ऐसा बाह्य प्रवर्तन होने पर जो अन्तरंग परिणामों की शुद्धता हो, उसका नाम अन्तरंग तप जानना चाहिए।[110]

अब, इन अन्तरंग तपों का संक्षेप में वर्णन करते हैं –

7. **प्रायश्चित्त** – जिसके द्वारा अपराध को प्राप्त हुआ जीव, पूर्वकृत पाप से विशुद्ध हो जाता है, वह **प्रायश्चित्त तप** है। अथवा प्रमादजन्य दोष का परिहार करना, **प्रायश्चित्त तप** है।[111]

जिनागम में **प्रायश्चित्त तप करने के उद्देश्य** इस प्रकार वर्णित हैं – 1. प्रमाद से लगे हुए दोषों का निराकरण, 2. परिणामों में निर्मलता, 3. निःशल्यपना अर्थात् भावों की शल्य का निराकरण, 4. अव्यवस्था का निवारण, 5. संयम की दृढ़ता, 6. आराधना की सिद्धि, एवं 7. मर्यादा का पालन।

प्रायश्चित्त एवं उसके भेद-प्रभेदों का सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन इसी शोध प्रबन्ध के पाँचवें और छठे अध्याय में किया गया है; अतः यहाँ विशेष विस्तार से विराम लेते हैं।

8. **विनय** – रत्नत्रय को धारण करने वाले पुरुषों के प्रति नम्रवृत्ति धारण करना, विनय है।[112] जो कर्ममल का नाश करता है, वह विनय है तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की अतिचारभूत अशुभ क्रियाओं को हटाना, विनय तप है।[113] दर्शन-ज्ञान-चारित्र और बारह प्रकार के तप के विषय में जो विशुद्ध परिणाम होता है, वही उनकी विनय है।[114]

मोक्षमार्ग में विनय का प्रधान स्थान है। वह दो प्रकार का है – निश्चय और व्यवहार। अपने रत्नत्रयरूप गुण की विनय, निश्चय विनय है और रत्नत्रयधारी साधुओं आदि की विनय व्यवहार या उपचार विनय है – ये दोनों ही अत्यन्त प्रयोजनीय हैं। ज्ञानप्राप्ति में गुरुविनय अत्यन्त प्रधान है। साधु, आर्यिका आदि चतुर्विध संघ में परस्पर विनय करने सम्बन्धी नियमों का पालन करना चाहिए परन्तु मिथ्यादृष्टियों और कुलिंगियों की विनय करना योग्य नहीं है।[115]

विचारणीय यह है कि जिनागम में विनय को मोक्ष का साधक होने से तप के रूप में सबसे बड़ा धर्म, तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण होने से विनयसम्पन्नता को सबसे बड़ा पुण्य और अनन्त संसार का

कारण होने से विनय मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप स्वीकार किया गया है; अतः विनय के प्रयोग में अत्यन्त सावधानी रखने की आवश्यकता है, कहीं आप विनय तप या विनय सम्पन्नता के नाम पर विनय मिथ्यात्व का पोषण कर अनन्त संसार को तो नहीं बढ़ा रहे हैं।[116]

विनय के भेद – मोक्षमार्ग में विनय के चार भेद हैं – ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार। इनमें तप को मिलाने से विनय के पाँच भेद हो जाते हैं। **ज्ञानविनय** में सत्शास्त्रों का अभ्यास, स्मरण आदि का समावेश होता है। ज्ञानाचार के आठ भेद ही ज्ञानविनय के भी हो जाते हैं। **दर्शनविनय** में आठ अंग सहित और आठ दोष रहित तत्त्वार्थश्रद्धान, भक्ति, पूजा आदि गुणों का धारण आता है। **चारित्रविनय** में गुप्ति, समिति, आदि चारित्र के अंगों का पालन करना, दर्शन-ज्ञानयुक्त चारित्र के धारक पुरुषों के प्रति अन्तर्भक्ति, आदरभाव सहित प्रणाम, आदि का समावेश होता है। **तप विनय** में तप के प्रति या अपने से श्रेष्ठ तप करने वालों के प्रति भक्ति रखना चाहिए तथा अपने से हीन तपस्वियों की भी अवहेलना नहीं करना चाहिए। **उपचारविनय** के अन्तर्गत आचार्य आदि के समक्ष खड़े होना, उनके पीछे पीछे चलना और नमस्कार करना आदि होता है।[117]

जिनागम में **विनय तप करने के उद्देश्य** इस प्रकार वर्णित हैं – 1. ज्ञान का लाभ, 2. आचार की शुद्धता, 3. सम्यक् आराधना की सिद्धि, 4. ज्ञान, संयम, तप की सिद्धि, 5. आत्मशुद्धि, 6. निर्द्वन्द्वभाव की प्राप्ति, 7. आर्जव, मार्दव, लघुता, गुण-प्रीति, भक्ति, स्व-पर आह्लाद की प्राप्ति, 8. कीर्ति, मित्रता, निर्लोभता, मान भंजन, कलह रहितता, गुरुसेवा और 10. तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन।

9. **वैयावृत्य** – जो मुनि, विशुद्ध उपयोग से युक्त होकर शम-दम-भावरूप अपने आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति करता है, और लोक व्यवहार से विरक्त रहता है, उसके उत्कृष्ट निश्चय वैयावृत्य तप होता है।[118]

गुणों में अनुरागपूर्वक संयमी पुरुषों के खेद को दूर करना, पाँव दबाना आदि प्रकार से अन्तरंग-बहिरंग उपकार करना। जैसे, वसतिका, आसन, कमण्डलु, पीछी, विशुद्ध आहार, औषधि, शास्त्र-व्याख्यान, अशक्त मुनियों के मल आदि का शोधना, वन्दना आदि द्वारा श्रमणों की सेवा करना, **वैयावृत्य तप** है।[119]

भगवती आराधना में कहा है कि जो समर्थ होते हुए भी अपने बल को छिपाते हुए जिनोपदिष्ट वैयावृत्य नहीं करता है, वह धर्मभ्रष्ट है। जो क्षपक की उपेक्षा करता है, वह स्वयं भी उन गुणों से भ्रष्ट होता है।[120]

वैयावृत्य के भेद – मोक्षमार्ग में मुख्यतः आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ – इन दश प्रकार के मुनियों की वैयावृत्ति को आधार बना कर वैयावृत्य के दश भेद किये गये हैं।

जिनागम में **वैयावृत्य तप करने के उद्देश्य** इस प्रकार वर्णित हैं – 1. समाधि की साधना, 2. व्याधि निवृत्ति, उपयोग विशुद्धि, ग्लानि का निवारण, 3. प्रवचन वात्सल्य, 4. असहायपने की अनुभूति न होने देना, 5 जिनाज्ञा का परिपालन , 6. निर्दोष रत्नत्रय का धारण और 7. संयम में सहयोग।

10. **स्वाध्याय** – आत्मकल्याण के पावन उद्देश्य से आत्महितकारी शास्त्रों का योग्य विधिपूर्वक अध्ययन, अध्यापन, श्रवण, मनन, चिन्तवन, उपदेश आदि देना स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय की दो व्युत्पत्तियाँ सम्भावित हैं – स्व + अध्याय अथवा सु + आ + अध्याय। अर्थात् सम्यक् शास्त्रों का या अपनी आत्मा का अच्छी तरह मर्यादा-विनयपूर्वक, आलस्य का त्याग कर, अर्थशुद्धि एवं वचनशुद्धिपूर्वक अध्ययन-अध्यापन करना, स्वाध्याय है।

स्वाध्याय की महिमा बताते हुए आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने दश बिन्दुओं[121] की ओर ध्यान आकर्षित कराया है –

1. क्रोधादि कषायों की मन्दता होती है।
2. पंचेन्द्रिय के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है।
3. अति चंचल मन भी एकाग्र होता है।
4. हिंसादि पाँच पाप नहीं होते।
5. अल्प ज्ञान होने पर भी तीन लोक के तीन काल सम्बन्धी चराचर पदार्थों का जानना होता है।
6. हेय-उपादेय की पहचान होती है।

7. आत्मज्ञान की सन्मुखता या ज्ञान की आत्म-सन्मुखता होती है।
8. अधिक अधिक ज्ञान होने पर आनन्द उत्पन्न होता है।
9. लोक में यश विशेष होता है।
10. सातिशय पुण्य का बन्ध होता है।

धवलाकार ने स्वाध्याय अर्थात् सूत्र का अध्ययन करने से कर्मों की असंख्यातगुणित श्रेणीरूप निर्जरा होना स्वीकृत किया है। और भी वे कहते हैं कि वृषभसेन आदि गणधरदेवों द्वारा जिनकी शब्दरचना की गई है – ऐसे द्रव्यसूत्रों को पढ़ने और मनन करनेरूप क्रिया में प्रवृत्त हुए सब जीवों के प्रतिसमय असंख्यातगुणित श्रेणीरूप से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा होती है।[122]

ध्यान रहे कि बारह तपों के क्रम में स्वाध्याय से महान तपों में सिर्फ व्युत्सर्ग और ध्यान को ही माना गया है। शेष सभी तपों की तुलना में स्वाध्याय तप का विशेष महत्त्व है। इससे भी स्वाध्याय की महानता सिद्ध होती है। मोक्षमार्ग में स्वाध्याय का बहुत ऊँचा स्थान है। इसे ध्यान में रख कर ही छहढ़ाला में लिखा है –

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माहिं, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।।[123]

शास्त्रों में स्वाध्याय के पाँच अंगों को ही उसके पाँच भेद बताया गया है – वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।

1. **वाचना** – निर्दोष रीति से ग्रन्थ, उसके अर्थ और दोनों का भव्य जीवों को श्रवण कराना अथवा शिष्यों को शक्त्यनुसार ग्रन्थ का अध्ययन कराना, **वाचना स्वाध्याय** है।
2. **पृच्छना** – संशय को दूर करने के लिए अथवा निश्चय को दृढ़ करने के लिए प्रश्न पूछना अथवा आगम से नहीं समझे हुए अर्थ के विषय में पूछना, **पृच्छना स्वाध्याय** है।
3. **अनुप्रेक्षा** – जाने हुए पदार्थों का बारम्बार चिन्तवन करना अथवा सुने हुए अर्थ का श्रुत के अनुसार चिन्तवन करना, **अनुप्रेक्षा स्वाध्याय** है।
4. **आम्नाय** – निर्दोष उच्चारण करते हुए पाठ को याद करने की दृष्टि से पुनः पुनः दोहराना, **आम्नाय स्वाध्याय** है।
5. **धर्मोपदेश** – धर्मकथा, प्रवचन आदि का अनुष्ठान करना, **धर्मोपदेश स्वाध्याय** है।[124]

स्वाध्याय के काल का निर्देश करते हुए आचार्यों ने चार सन्धिकालों को छोड़ने का कथन किया है। वे चार सन्धिकाल हैं – सूर्योदय, मध्याह्न, सूर्यास्त और मध्यरात्रि। भगवती आराधना में कहा है कि सन्धिकालों में वाचना, पृच्छना, परिवर्तना या आम्नाय एवं धर्मोपदेश को छोड़ कर सूत्र और अर्थ का एकाग्रता से स्मरण करते हैं। अथवा दिन के पूर्व, मध्य, अन्त और अर्द्धरात्रि – ऐसे चार समयों (अन्तर्महूर्त) में तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि खिरती है; अतः ये काल स्वाध्याय के नहीं हैं, परन्तु ऐसे समयों में भी वे साधु अनुप्रेक्षात्मक स्वाध्याय करते हैं।[125]

जिनागम में **स्वाध्याय तप करने के उद्देश्य** इस प्रकार वर्णित हैं – 1. प्रज्ञातिशय, 2. प्रशस्त अध्यवसाय, 3. प्रवचन स्थिति, 4. संशयोच्छेद, 5. परवादियों की शंका का अभाव, 6. परम संवेग, 7. तपोवृद्धि, 8. अतिचार शुद्धि, 9. आत्महित का निर्मल ज्ञान, 10. निष्कम्प सम्यग्दर्शन, 11. बारम्बार संवेग, 12. निर्मल चारित्र, 13. रत्नत्रय में निश्चलता, 14. परोपदेश की क्षमता, 15. गुणश्रेणी निर्जरा, 16. विशद सिद्धसुख।[126]

11. **व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)** – जो देह को अचेतन, नश्वर और कर्मनिर्मित समझ कर, उसके पोषण आदि के अर्थ 10 प्रकार के बाह्य और 14 प्रकार के अन्तरंग परिग्रह के प्रति ममत्व को नियत समय के लिए छोड़ कर, आत्मा को निर्विकल्परूप से ध्याता है, वह **कायोत्सर्ग (व्युत्सर्ग)** का धारक कहलाता है।[127]

यहाँ कायोत्सर्ग से मतलब काय का सर्वथा त्याग करना नहीं है, बल्कि उसके अशुचित्व, अनित्यत्व, विनाशशील, असारत्व, दुःखहेतुत्व, अनन्त-संसार-परिभ्रमण-हेतुत्व आदि दोषों का विचार करके 'यह शरीर मेरा नहीं है और मैं इसका स्वामी नहीं हूँ' – ऐसा मन में संकल्प उत्पन्न हो जाने पर शरीर के प्रति प्रीति का अभाव होता है, उससे शरीर का त्याग ही सिद्ध होता है। जैसे, प्रियतमा पत्नि से कुछ अपराध

हो जाने पर, वह पति के साथ एक घर में रहते हुए भी, पति का प्रेम हट जाने के कारण वह त्यागी हुई ही कही जाती है। इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। दूसरी बात यह है कि शरीर के अपाय के कारण उपस्थित होने पर उन्हें हटाने के प्रति यति निरुत्सुक रहते हैं; इसलिए उनका कायत्याग योग्य ही है।[128]

ध्यान रहे कि प्रत्येक तप को प्रायश्चित्त के रूप में तथा सीधे तप के रूप में भी किया जा सकता है। जब किसी साधक से कोई अतिचार हो जाता है तो उसके प्रायश्चित्तस्वरूप तप भी दिया जा सकता है तथा जब वही तप स्वेच्छापूर्वक निरपेक्षभाव से किया जाता है तो वह सीधे तप संज्ञा पाता है।[129]

जिनागम में **व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग तप करने के उद्देश्य** इस प्रकार वर्णित हैं – 1. निःसंगपना अर्थात् ममत्वबुद्धि को दूर करके आत्माराधना, 2. निर्भयता, 3. जीवित रहने की आशा का अभाव, 4. दोषों का छेद और 5. मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति।[130]

12. **ध्यान** – जब उपयोग चंचलतारहित अचल प्रकाश वाला दैदीप्यमान होता है, शुभाशुभ मन-वचन-काय का निरोध करके सर्व संकल्प-विकल्पों का परित्याग करके निःस्पृह वृत्ति से स्व शुद्धात्मा में स्थिर होता है, कुछ भी चेष्टा नहीं करता, कुछ भी बोलता नहीं है, कुछ भी चिन्तवन नहीं करता, वही परम ध्यान है। यह ध्यान, उत्तम संहनन वाले के द्वारा एकाग्रतापूर्वक अन्तर्मुहूर्त तक चिन्ता का निरोध करने पर होता है। यही केवलज्ञान तथा मुक्ति का साक्षात् कारण है।[131]

ध्यान के सामान्यतः चार भेद हैं – आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इन चारों के भी चार-चार प्रभेद होते हैं। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को अप्रशस्त और संसार परिभ्रमण का कारण माना गया है; अतः उनको तपरूप माना ही नहीं जा सकता। तथा निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान को शुद्धोपयोगरूप होने से प्रशस्त और संवर-निर्जरापूर्वक मुक्ति का कारण माना गया है। जबकि व्यवहार धर्मध्यान, शुभोपयोगरूप होने से स्वर्ग का कारण माना गया है। इस प्रकरण में चार अधिकार प्रमुख होते हैं – ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यानफल। ध्यान स्वयं क्रिया है, उसे करने वाले को ध्याता कहते हैं, ध्यान के विषय को ध्येय कहते हैं और इस क्रिया से प्राप्त होने वाले फल को ध्यानफल कहते हैं। इनका विस्तार से विवेचन जानने के लिए जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के ध्यान प्रकरण को अवश्य देखें।

जिनागम में **स्वाध्याय तप करने के उद्देश्य** इस प्रकार वर्णित हैं – 1. चित्त की चंचलता का निरोध, 2. आत्मा का साक्षात्कार एवं स्वरूपानुभव की प्राप्ति, 3. इष्ट फल की प्राप्ति, 4. शुद्धि की वृद्धि, 5. अशुद्धि की हानि, 6. पूर्ण वीतरागता, 7. केवलज्ञान, 8. कर्मों का अभाव, 9. निर्वाण की प्राप्ति।

बारह तपों का सार

तप का लक्ष्य रागद्वेष आदि विकारों को सदा के लिए दूर कर, आत्म परिशोधन है, न कि मात्र देह-दमन। तप के माध्यम से आत्मशुद्धि हेतु विकारों को तपाया जाता है, न कि शरीर को। शरीर तो आत्मशुद्धि और आत्मसाधना का माध्यम मात्र है। वस्तुतः जो ज्ञानस्वभाव की भावना भाता है, उसे बाह्य तप स्वयमेव सिद्ध हो जाता है और अभ्यन्तर तप तो स्वयं आत्मा, ज्ञान, ध्यान आदिरूप है, जो आत्मशुद्धि का साक्षात् साधन है; अतः तप को साधक जीवन की कसौटी माना जाता है।

इस प्रकार बाह्य और अभ्यन्तररूप इन बारह तपों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति हेतु साधना के क्षेत्र में ये तप दिव्य रसायन हैं। यद्यपि साधना-पद्धति के अनेक अंग और तत्त्व हैं, किन्तु प्रायः सभी का अन्तर्भाव तप के उपर्युक्त प्रकारों एवं उनके विश्लेषण में निहित है। इस दृष्टि से साधना की सम्पूर्ण पद्धति के रूप में ये सभी तप साधक को कल्याणकारी होने से उपादेय हैं।[132]

बारह अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से संसार, शरीर और भोगों की अनित्यता इत्यादि का चिन्तन करके वैराग्य को दृढ़ किया जाता है। यद्यपि मुनिराज तो वैराग्य की मूर्ति ही होते हैं; तथापि उनके जीवन में वैराग्य की अत्यधिक अभिवृद्धि हेतु वैराग्यजननी बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन अनुपयोगी नहीं है। छहढ़ालाकार ने अनुप्रेक्षाओं की उपयोगिता एवं महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखा है –

मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव भोगन तैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई ।। 1।।

इमि चिन्तत समसुख जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागै।
जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठानै।। 2।।[133]

पूर्णरूप से जाने हुए किसी विषय का पुनः पुनः चिन्तवन करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं।[134] अपना और शरीरादि का जहाँ जैसा स्वभाव है, वैसा पहिचान कर, भ्रम को मिटाना तथा भला जान कर राग नहीं करना और बुरा जान कर द्वेष नहीं करना – ऐसी सच्ची उदासीनता के लिए यथार्थ अनित्यत्वादिक का चिन्तवन करना ही सच्ची **अनुप्रेक्षा** है।[135] आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं कि भूतकाल में जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और जो आगे होंगे, वे सब इन्हीं बारह भावनाओं का चिन्तवन करके ही हुए हैं।[136]

आचार्य कुन्दकुन्द आदि आचार्यों एवं अन्य महर्षियों ने इस विषय को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि अनेक आचार्यों एवं विद्वानों ने तो इस विषय पर अपनी रचनाएँ लिखी हैं। और अनेकों ने अपनी अन्य रचनाओं में बारह भावनाओं का समावेश किया है। आचार्य कुन्दकुन्द की द्वादशानुप्रेक्षा, स्वामी कार्तिकेय की कार्तिकेयानुप्रेक्षा, कविवर भूधरदासजी, जयचन्दजी छाबड़ा आदि अनेक विद्वानों द्वारा लिखित पद्यात्मक बारह भावनाएँ, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित पुस्तक 'बारह भावना : एक अनुशीलन' आदि कृतियाँ, इसकी प्रमाण हैं। विशेष बात यह है कि यह विषय चारों अनुयोग में रुचिकर रहा है।

रयणसार में बारह अनुप्रेक्षाओं के सम्बन्ध में कहा है कि 'बंधणमुक्खे तक्कारणरूपे बारसाणुवेक्खे' अर्थात् व्यवहारनय से उक्त बारह अनुप्रेक्षाएँ शुभभावात्मक होने से पुण्यबन्ध की कारण और निश्चयनय से शुद्धभावात्मक होने से मोक्ष की कारण हैं।[137] समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में मोक्ष अधिकार की चूलिका में आचार्य जयसेन ने शुद्धोपयोग को भी भावनारूप स्वीकार किया है।[138] पण्डित सुखलाल संघवी ने तत्त्वार्थसूत्र का विवेचन करते हुए कहा है कि अनुप्रेक्षा अर्थात् गहन चिन्तन। तात्त्विक और गहरे चिन्तन द्वारा राग-द्वेष आदि वृत्तियाँ रुक जाती हैं; इसलिए ऐसे चिन्तन को संवर का उपाय कहा गया है। जीवन शुद्धि में विशेष उपयोगी बारह विषयों को चुन कर, उनके चिन्तन को बारह अनुप्रेक्षाओं के रूप में गिनाया गया है। इसी कारण अनुप्रेक्षा को भावना भी कहते हैं।

अनुप्रेक्षा के बारह भेद

तत्त्वार्थसूत्र में बारह अनुप्रेक्षाओं का सूचक निम्न सूत्र द्रष्टव्य है –

अनित्याऽशरण-संसारैकत्वाऽन्यत्वाऽशुच्याऽस्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यातत्वाऽनुचिन्तनमनुप्रेक्षा।[139]

अर्थात् अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्व – ये बारह अनुप्रेक्षाएँ या भावनाएँ कही गई हैं।

बारह भावनाओं के क्रम में कहीं कहीं आचार्यों की मत-भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। आचार्य कुन्दकुन्द कृत बारसाणुवेक्खा, आचार्य वट्टकेर कृत मूलाचार एवं आचार्य शिवार्य कृत भगवती आराधना का क्रम निम्न प्रकार है – अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, और बोधिदुर्लभ।[140] इनके क्रम की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में पृथक् से विवेचन अपेक्षित है। यहाँ तत्त्वार्थसूत्र के क्रमानुसार उनका विवेचन किया जाता है।

1. **अनित्यानुप्रेक्षा** – संसार, शरीर और भोगों की क्षणभंगुरता एवं स्वभाव की नित्यता का चिन्तन, **अनित्यानुप्रेक्षा** है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि मात्र अनित्यता का चिन्तन करना ही अनित्यानुप्रेक्षा नहीं है, बल्कि अनित्य पर्यायस्वभाव के साथ नित्य द्रव्यस्वभाव का चिन्तन करना भी अनिवार्य है।

   पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कृत बारह भावना का निम्न छन्द द्रष्टव्य है –

   द्रव्यरूप करि सर्व थिर, पर्यय थिर है कौन।
   द्रव्यदृष्टि आपा लखो, पर्ययनय करि गौन।। 1।।[141]

   अतः हे भव्यजीवों! समस्त विषयों को क्षणभंगुर जान कर उनके साथ महामोह को त्यागो और मन को विषयों के सुख से रहित करो, जिससे तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति हो।

2. **अशरणानुप्रेक्षा** – संयोगों की अशरणता एवं निश्चय से निज शुद्धात्मा व व्यवहार से पंच परमेष्ठी की शरणरूपता का चिन्तन करना, **अशरणानुप्रेक्षा** है। कहा है –

   शुद्धातम अरु पंचगुरु, जग में शरणौ दोय।
   मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय।। 2।।[142]

निश्चय से जन्म, जरा, मरण, रोग और भय आदि से आत्मा ही अपनी रक्षा करता है, इसलिए आत्मा ही इस संसार में शरण है। यह आत्मा, स्वयं ही कर्मों को नष्ट कर, जन्म, जरा, मरण आदि के कष्टों से बच सकता है।[143]

श्री कार्तिकेयस्वामी कहते हैं कि आत्मा को उत्तमक्षमा आदि भावों से युक्त करना भी शरण है क्योंकि जिसकी तीव्र कषाय होती है, वह स्वयं अपना घात करता है।[144]

अनित्य और अशरण भावना में अन्तर – वस्तु में अनित्यता और अशरणता नामक दो धर्म अलग अलग हैं। अनित्य स्वभाव के कारण प्रत्येक वस्तु परिणमनशील है, नित्य परिणमन करती है; जबकि अशरण स्वभाव के कारण किसी भी वस्तु को अपने परिणमन के लिए किसी की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं है। पर की शरण परतन्त्रता की प्रतीक है, जबकि प्रत्येक वस्तु पूर्णतः स्वतन्त्र है।

जहाँ अनित्य भावना में यह समझाया है कि '**मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार।**'[145] वहीं अशरण भावना में '**मणि मन्त्र बहु होई, मरतैं न बचावे कोई।**'[146] – यह समझाया है। यही इन दोनों में अन्तर है।[147]

3. **संसारानुप्रेक्षा – संसरणमिति संसारः** अर्थात् चतुर्गतिरूप एवं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव के भेद से पंच-परावर्तनरूप संसार में यह जीव, अपनी भूल के कारण मोहरूपी महामद को पी कर, अनादिकाल से भटक रहा है। उस संसार की असारता और अपने निजस्वभाव की सारभूतता का चिन्तन करना ही **संसार भावना** है।

   यद्यपि यह जीव, कर्म के निमित्त से संसाररूपी बड़े भारी वन में भटकता रहता है, परन्तु निश्चयनय से यह कर्म से रहित है और इसीलिए इसका भ्रमणरूप संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है।[148]

   राजवार्तिक में चार प्रकार से जीव की अवस्था का विचार किया गया है – संसार, असंसार, नोसंसार और इन तीनों से विलक्षण। 1. अनेक योनि वाली चार गतियों में भ्रमण करना, **संसार** है। 2. शिवपद के परमामृत सुख में प्रतिष्ठित होना, **असंसार** है। 3. चतुर्गति में भ्रमण का अभाव होने पर, परन्तु अभी मोक्ष की प्राप्ति न होने से सयोगकेवली की जीवन-मुक्त अवस्था होना, **ईषत् संसार या नोसंसार** है। 4. उक्त तीनों से भिन्न अयोगकेवली की अवस्था होना, **इन तीनों से विलक्षण** है। विशेष यह है कि अभव्यसामान्य और अभव्यविशेष की दृष्टि से संसार अनादि-अनन्त है। जबकि भव्यसामान्य की दृष्टि से अनादि-अनन्त और भव्यविशेष की अपेक्षा अनादि-सान्त है। नोसंसार सादि-सान्त है; नोसंसार का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल आठ वर्ष कम एक लाख करोड़ पूर्व है। असंसार सादि-अनन्त है। तीनों से विलक्षण का काल तो मात्र अन्तर्मुहूर्त है। सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सादि-सान्त संसार का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल अर्द्धपुद्गलपरावर्तन है।[149]

   कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामीकार्तिकेय कहते हैं कि हे जीव! इस मोहरूप संसार को सर्व सम्यक् आचार या पुरुषार्थ से त्याग करके अपने उस शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप का ध्यान करो।[150]

4. **एकत्वानुप्रेक्षा** – मैं एक हूँ, ममतारहित हूँ, शुद्ध हूँ, और ज्ञानदर्शनस्वरूप हूँ; इसलिए शुद्ध एकपना ही मेरे उपादेय है – ऐसा निरन्तर चिन्तवन करना ही **एकत्वानुप्रेक्षा** है।[151] एकत्व-निश्चय को प्राप्त जो समय है, वह लोक में सब जगह सुन्दर है; इसलिए अपने एकत्व में दूसरे के साथ बन्ध की कथा विसंवाद अर्थात् विरोध करने वाली है।[152]

   हे जीव! निश्चय से केवलज्ञान ही एक सहज स्वाभाविक शरीर है, सप्तधातुमयी यह औदारिक शरीर नहीं; निजात्मतत्त्व ही एक सदा शाश्वत व परम हितकारी है, पुत्र-कलत्र आदि नहीं; स्वशुद्धात्मपदार्थ ही एक अविनश्वर व परम हितकारी धन है, सुवर्णादिरूप धन नहीं; स्वस्वभावात्मक सुख ही एक सुख है, आकुलता-उत्पादक इन्द्रिय सुख नहीं; ऐसे स्वशुद्धात्मा ही एक सहायी है। इस प्रकार एकत्व भावना का फल जान कर, निरन्तर शुद्धात्मा मे एकत्वरूप भावना अवश्य करना चाहिए।[153]

5. **अन्यत्वानुप्रेक्षा** – शरीर से अन्यत्व का चिन्तन करना, अन्यत्वानुप्रेक्षा है। जैसे, बन्ध की अपेक्षा अभेद होने पर भी लक्षण के भेद से 'मैं शरीर से अन्य हूँ, शरीर इन्द्रिय वाला है, और मैं अतीन्द्रिय हूँ, शरीर अज्ञ है और मैं ज्ञाता हूँ, शरीर अनित्य है और मैं नित्य हूँ, शरीर आदि अन्त वाला है और मैं अनाद्यनन्त हूँ, शरीर में परिभ्रमण करते हुए मैंने लाखों शरीर धारण किये हैं, परन्तु उनसे भिन्न वह ही मैं हूँ। इस प्रकार शरीर से ही जब मैं अन्य हूँ, तब हे वत्स! मैं बाह्य पदार्थों से भिन्न होऊँ, इसमें क्या आश्चर्य है।[154]

कविवर भूधरदासजी ने इसी बात को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है –

जहां देह अपनी नहीं, तहां न अपनो कोय।
घर सम्पति सब प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय।। 5।।[155]

बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' ने इस भावना के निश्चयस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए लिखा है –

मेरे न हुए ये, मैं इनसे, अति भिन्न अखण्ड निराला हूँ।
निज में पर से अन्यत्व लिए, निज समरस पीने वाला हूँ।। 5।। [156]

एकत्व एवं अन्यत्व भावना में अन्तर

एकत्वानुप्रेक्षा में तो 'मैं अकेला हूँ', इत्यादि प्रकार से विधिरूप व्याख्यान है और अन्यत्वानुप्रेक्षा में 'देह आदि पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, ये मेरे नहीं हैं' इत्यादि निषेधरूप से वर्णन है। इस प्रकार एकत्व और अन्यत्व, इन दोनों अनुप्रेक्षाओं में विधि-निषेध का ही अन्तर है, तात्पर्यरूप अर्थ तो दोनों का एक ही है।

6. **अशुचि-अनुप्रेक्षा** – वैराग्यभाव के उद्देश्य से देह के अपावनस्वरूप के चिन्तनपूर्वक निजस्वभाव की पवित्रता का चिन्तन करना ही **अशुचि-अनुप्रेक्षा** है। वही पण्डित जयचन्दजी ने कहा है –

निर्मल अपनी आत्मा, देह अपावन गेह।
जानि भव्य निजभाव को, यासों तजो सनेह।। 6।।[157]

शरीर के समान आस्रवादि भावों की अशुचिता का विचार करना भी **अशुचि भावना** है। समयसार की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि जल में सेवाल या काई है सो मल या मैल है, उस सेवाल की भांति आस्रव मलरूप या मैलरूप अनुभव में आते हैं, इसलिए अशुचि हैं, अपवित्र हैं तथा भगवान आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल चैतन्यमात्र स्वभावरूप से ज्ञायक है, इसलिए अत्यन्त शुचि ही है, पवित्र ही है, उज्ज्वल ही है।[158]

इसी प्रकार अर्थ और काम पुरुषार्थ तथा सर्व मनुष्यों का देह अशुभ है, अशुचि है। एक धर्म ही शुभ है और सर्व सौख्य का दाता है। अर्थ पुरुषार्थ से इसलोक और परलोक के दुःख मनुष्य को भोगने पड़ते हैं। अर्थ पुरुषार्थ के वश होकर पुरुष अन्याय करता है, चोरी करता है और राजा से दण्डित होता है और परलोक में नरक आदि गतियों में नाना दुःखों का अनुभव करता है, इसलिए अर्थ माने धन, अनर्थ का कारण है, महाभय का कारण है, मोक्ष-प्राप्ति के लिए यह अर्गला के समान प्रतिबन्ध करता है। काम पुरुषार्थ, अपवित्र शरीर से उत्पन्न होता है, इससे आत्मा नीच होती है, इसकी सेवा से आत्मा दुर्गति में दुःख पाता है, यह पुरुषार्थ उत्पन्न होकर अल्पकाल में ही नष्ट हो जाता है और प्राप्त होने में भी कठिन है।[159]

7. **आस्रवानुप्रेक्षा** – आस्रवभाव अशुचि है विपरीत है, अध्रुव है, अनित्य है, अशरण है, दुःख का कारण है और स्वयं दुःखरूप है, और दुःख फल वाला है –ऐसा विचार करके शुभाशुभ आस्रवभावों से भिन्न भगवान आत्मा अत्यन्त शुचि है, अविपरीत स्वभाववाला है, ध्रुव है, नित्य है, परमशरणभूत है, सुख का कारण है, सुखस्वरूप है, और सुखरूप ही फल वाला है – ऐसा चिन्तवन करना ही यथार्थ **आस्रवानुप्रेक्षा** है।[160]

आस्रव के दो भेद कहे गये हैं – पुण्यास्रव और पापास्रव। उनमें पापास्रवों को तो पाप तो सारा जगत् जानता है, परन्तु ज्ञानी तो वह है कि जो पुण्य को भी पाप जाने – ऐसा योगसार में कहा है। इतना ही नहीं, भेदरूप व्यवहार रत्नत्रय को भी स्वरूप से पतित करने के कारण आचार्य जयसेन ने समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में पापाधिकार में डाला है। विस्तार कथन मूल में देखें।[161]

द्वादशानुप्रेक्षा में तो आचार्य कुन्दकुन्द ने इन आस्रवों को जीव से ही भिन्न बताया गया है –

पुव्वत्तासवभेयो, णिच्छयणयेण णत्थि जीवस्स।
उदयासवणिम्मुक्कं, अप्पाणं चिंतए णिच्चं।। 60।।[162]

अर्थात् आस्रव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग – इन पाँच भेदों को निश्चय से जीव के ही नहीं माना गया है; इसलिए निरन्तर ही आत्मा को द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार के आस्रवों से रहित ही चिन्तवन करना चाहिए।

आस्रवतत्त्व और आस्रवभावना में अन्तर – आस्रवभाव तो दुःखस्वरूप है, जबकि आस्रवभावना उससे विरक्त करने वाली होने से उससे विपरीत संवरतत्त्वस्वरूप है, संवर की कारण है।

8. **संवरानुप्रेक्षा** – आस्रव का निरोध करना संवर है।[163] यह संवर सुखस्वरूप है, सुख का कारण है, मोहरागद्वेष से विपरीत, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय है, मोक्ष का कारण है। निश्चय गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, और चारित्र; सभी संवर के कारण हैं। इस संवर से नवीन कर्म आने से रुकते हैं। जबकि व्यवहार गुप्ति, समिति, आदि से मात्र पाप का संवर होने से पुण्यबन्ध होता है; अतः मात्र पाप का संवर होने से उन्हें व्यवहार से संवर कहा जाता है; इस प्रकार विचार करना, **संवर भावना** है।[164] शुद्धात्मतत्त्व के साक्षात्कार से संवर की प्राप्ति होती है और शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि भेदज्ञान से होती है; इसलिए भेदविज्ञान ही अतिशयरूप से भाने योग्य है।[165]

द्वादशानुप्रेक्षा में आचार्य कुन्दकुन्द ने संवर को भी जीव से भिन्न तत्त्व के रूप में बता कर उससे भी भिन्न आत्मा का चिन्तवन करने का उपदेश दिया है –

जीवस्स ण संवरणं, परमट्ठणएण सुद्धभावादो।
संवरभावविमुक्कं, अप्पाणं चिंतये णिच्चं।। 65।।

अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से जीव के संवर ही नहीं है; इसलिए संवरभाव से रहित आत्मा का चिन्तवन करना चाहिए।

9. **निर्जरानुप्रेक्षा** – निज परमात्मानुभूति के बल से निर्जरा करने के लिए दृष्ट, श्रुत और अनुभूत भोगों की आकांक्षादिरूप विभावपरिणाम के त्यागरूप संवेग तथा वैराग्यरूप परिणामें के साथ रहना, **निर्जरानुप्रेक्षा** है।[166] शुभाशुभभाव के निरोधरूप संवर और शुद्धोपयोगरूप योग से युक्त जो जीव, अनेक प्रकार के तप करता है; वह नियम से अनेक प्रकार के कर्मों की निर्जरा करता है।[167] जो साम्यभावरूप सुख में लीन होकर बार बार आत्मा का स्मरण करता है, ध्यान करता है तथा इन्द्रियों और कषायों को जीतता है, उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।[168]

निर्जरा के अनेक प्रकार से दो दो भेद हैं – सविपाक और अविपाक; अबुद्धिपूर्वक या अकुशलानुबन्धा और बुद्धिपूर्वक या कुशलमूला; एकदेश और सकल तथा सकाम और अकाम। सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि नरकादि विविध गतियों में कर्मफल के विपाक से अर्थात् फल काल के प्राप्त होने पर जो निर्जरा होती है, वह **अबुद्धिपूर्वक या अकुशलानुबन्धा या सविपाक निर्जरा** है। यह सब प्राणियों के होती है। किन्तु परीषह के जीतने तथा तपश्चर्या के निमित्त से फलकाल के बिना प्राप्त हुए स्वोदय या परोदय से जो कर्मों की निर्जरा होती है, वह **कुशलमूला, बुद्धिपूर्वक या अविपाक निर्जरा** है। वह शुभानुबन्धा तथा निरनुबन्धा होती है। इस प्रकार निर्जरा के गुणदोष का विचार करना, **निर्जरानुप्रेक्षा** है। मोक्षमार्ग में उपयोगी निर्जरा सकामनिर्जरा और अज्ञानी की निर्जरा अकामनिर्जरा कहलाती है।

10. **लोकानुप्रेक्षा** – लोक के आकार-प्रकार और उसके स्वरूप का अनुचिन्तन करना, **लोकानुप्रेक्षा** है। जैसे, यह लोक अकृत्रिम, अनादि-निधन और स्वभाव-निष्पन्न है। जीव और अजीव पदार्थों से यह पूर्ण भरा हुआ है। हमेशा स्थित रहने से नित्य है। तालवृक्ष के समान आकार वाला है। जीव और पुद्गलों की गति और अगति में जहाँ तक है, वहीं तक लोक है, उसके आगे अलोकाकाश है। उनकी गति और अगति में निमित्त धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य हैं। ये धर्म और अधर्मद्रव्य लोकाकाश-प्रमाण होते हैं। इस लोक में जीव स्वकर्मोपार्जित सुख-दुःखों का अनुभव करता हुआ, इसी अनन्त संसार में पुनः पुनः जन्म-मरण धारण करता है; अतः इस जीव के लिए यह लोक, दीर्घ-गमनयुक्त निस्सार है। लोकाग्र-शिखर पर निवास ही सुखकर है – ऐसा चिन्तन **लोकानुप्रेक्षा** है। इस अनुप्रेक्षा के चिन्तन से तत्त्वज्ञान में विशुद्धि होती है।[169]

यद्यपि लोक अनेक प्रकार का है, तथापि यहाँ लोक शब्द से जीवद्रव्य को ही लोक कहा जा रहा है क्योंकि यहाँ जीव की धर्मप्रवृत्ति का प्रकरण है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब झलकते हैं; उसी प्रकार आदि-मध्य-अन्तरहित शुद्ध -बुद्ध -एक स्वभाव वाले परमात्मा के सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान में शुद्धात्मा आदि सभी पदार्थ आलोकित होते हैं, दिखाई देते हैं, ज्ञात होते हैं; इस कारण वह आत्मा ही निश्चय लोक है अथवा उस निजशुद्धात्मा में अवलोकन ही निश्चय लोक है तथा समस्त शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों के त्यागपूर्वक निजशुद्धात्म भावना से उत्पन्न परम-सुखामृत-रस के स्वाद के अनुभवरूप या आनन्दरूप जो भावना है; वही निश्चय से **लोकभावना** है, शेष सब व्यवहार है।[170]

वही प्रेरणा देते हुए पण्डित जयचन्दजी लिखते हैं –

लोकस्वरूप विचारि कैं, आतमरूप निहारि।
परमारथ व्यवहार मुणि, मिथ्याभाव निवारि।। 10।।[171]

एक देश से दूसरे देश को जाने वाले पुरुष के समान इस जीव को सारे जगत् में बन्धु-लाभ होता है, किसी जीव के साथ इसका पिता-पुत्र आदि रूप सम्बन्ध नहीं हुआ, ऐसा कोई नहीं है; अतः सर्व जीव इसके सम्बन्धी हैं। यह जगत् बिजली के समान चंचल है, समुद्र के फेन के समान दुर्बल है, व्याधि और मृत्यु से पीड़ित है। ज्ञानी पुरुष इसे दुःखों से भरा हुआ देख कर, इससे कैसे प्रीति कर सकते हैं अर्थात् ज्ञानी इस लोक से प्रेम नहीं करते, इसके ऊपर माध्यस्थ्यभाव रखते हैं।[172]

11. **बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा** – जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है, उस उपाय की चिन्ता करना, **बोधिदुर्लभ-भावना** है क्योंकि उस सम्यग्ज्ञान का पाना अत्यन्त कठिन है। विशेष बात यह है कि क्षायोपशमिकश्रज्ञान कर्मों के उदय से उत्पन्न होता है, इसलिए हेय है अर्थात् त्यागने योग्य है, जबकि सम्यग्ज्ञान स्वद्रव्य है अर्थात् निज आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न होता है।[173]

श्रेष्ठ देश, कुल, जन्म, आयु, आरोग्य, वीर्य, विनय, श्रवण, ग्रहण, मति तथा धारणा – ये सभी उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं, तब तो बोधि की दुर्लभता स्वयं सिद्ध है। फिर भी जो उस बोधि प्राप्ति में प्रमाद करता है, कापुरुष दुर्गतियों को प्राप्त होता है। श्रेष्ठ भव्य जीव, उपशम, क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व (बोधि) को प्राप्त करके जब तप और संयम से युक्त हो जाता है, तब अक्षय सौख्य को प्राप्त कर लेता है। यहाँ आचार्य स्वयं अपनी भावना व्यक्त करते हैं कि मैं भी श्रद्धा, संवेग, शक्ति, और विनय के द्वारा वैसी आत्मा की भावना करता हूँ कि जिस प्रकार वह बोधि चिरकाल तक बनी रहे।[174]

कर्मों के क्षय के लिए मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा, एवं संयम – इन चार दुर्लभ तत्त्वों का आश्रय लेना तथा इनका अनुचिन्तन करना **बोधिदुर्लभ** है।[175]

पण्डित जयचन्द छाबड़ा एवं पण्डित भगोतीदास कृत बारह भावनाओं में बोधिदुर्लभभावना एक विशेष अर्थ की ओर ध्यान आकर्षित कराया गया है। उनके द्वारा रचित पंक्तियों की ध्यान दें –

बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं।
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं।। 11।।[176]

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप बोधि तो आत्मा का स्वभावभाव है; अतः निश्चय से दुर्लभ नहीं है। संसार में उसकी प्राप्ति कठिन है – यह तो मात्र व्यवहार से कहा जाता है। कहा है –

दुर्लभ परद्रव्यनि को भाव, सो तोहि दुर्लभ है सुनि राव।
जो है तेरो ज्ञान अनन्त, सो नहिं दुर्लभ सुनो महन्त।। 11।।[177]

पदार्थों की प्रवृत्ति अपने आधीन न होने से परद्रव्यों के भाव ही वस्तुतः दुर्लभ हैं। इसलिए हे आत्मन्! तेरा जो अनन्तज्ञानरूप भाव है, वह किसी भी रूप में दुर्लभ नहीं है।

12. **धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा** – धर्ममार्ग से च्युत न होने और उसके अनुष्ठान में स्थिरता लाने के लिए ऐसा चिन्तन करना कि 'यह कितना बड़ा सौभाग्य है कि जिससे समस्त प्राणियों का कल्याण होता है – ऐसे सर्व गुणसुम्पन्न धर्म का सत्पुरुषों ने उपदेश किया है' – यह **धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा** है।[178]

जिनेन्द्रदेव ने जो अहिंसालक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य से वह रक्षित है, उपशम की उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रह-रहितपना उसका आलम्बन है। इसकी प्राप्ति नहीं होने से दुष्कर्म-विपाक से जायमान दुःख को अनुभव करते हुए जीव, अनादि संसार में परिभ्रमण करते हैं, परन्तु इसका लाभ होने पर नाना प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्तिपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित है – ऐसा चिन्तन करना, **धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा** है।[179]

बारह भावनाओं को लिखने वाले विद्वान् कवियों ने भी इस सम्बन्ध में बहुत अच्छा अच्छा लिखा है–

जाँचे सुरतरु देय सुख, चिन्तत चिन्ता रैन।
बिन जाँचे बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन।। 12।।[180]
दर्श ज्ञानमय चेतना, आतम धर्म बखानि।
दया क्षमादिक रत्नत्रय, यामें गर्भित जानि।। 12।।[181]

जो भाव-मोह तैं न्यारे, दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारे।। 14।।
सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताको सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी।। 15।।[182]

नयचक्र में माइल्ल धवल लिखते हैं कि समताभाव, माध्यस्थ्यभाव, वीतरागता, चारित्र और स्वभाव की आराधना – इन सबको धर्म कहा जाता है।[183] निश्चयनय से जीव, सागार अर्थात् श्रावक और अनगार अर्थात् मुनि – इन दोनों से सम्बन्धित श्रावकधर्म और मुनिधर्म, दोनों से भिन्न है; इसलिए इनमें राग-द्वेषरहित माध्यस्थ्यभाव रख कर, शुद्धात्मा का ही सदा चिन्तन करना चाहिए।[184]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आरम्भ की छह भावनाओं के माध्यम से संयोगों की **अनित्यता,** घर-परिवार की **अशरणभूतता, संसार** की परिभ्रमणशीलता, आत्मा का **एकत्व,** पर से **अन्यत्व,** और शरीर की **अशुचिता** का ज्ञान कराके संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न किया जाता है; जिससे यह आत्मा आत्महितकारी तत्त्वों को समझने के लिए तैयार होता है। इन भावनाओं मे देहादि परपदार्थों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान कराके भेदविज्ञान की प्रथम सीढ़ी भी पार करा दी जाती है। तत्पश्चात् **आस्रवभावना** के द्वारा रागादि भावों की दुःखरूपता, **संवर** की आस्रवनिरोधता, **निर्जरा** की तपमयता, द्वारा तात्त्विक समाधान कराया जाता है। **लोकभावना** के द्वारा वास्तविक जगत् का स्वरूप समझा कर, **बोधि की दुर्लभता** का ज्ञान कराके **धर्म की महिमा** बता कर उसके लिए उद्यमशील बनाया गया है।

धर्म भावना या धर्म अनुप्रेक्षा का विस्तार से कथन दश धर्म या दश लक्षण धर्म के रूप में किया जाता है; उनके संक्षिप्त स्वरूप का वर्णन यहाँ करते हैं –

दशलक्षण धर्म

वस्तुतः जो भाव, जीव को भवभ्रमण एवं रागद्वेष आदि कषाय के आताप से परिशान्त करता है – ऐसा वीतराग भाव ही धर्म है। वह धर्म यद्यपि एक प्रकार का है, तथापि जिनागम में विविध अपेक्षाओं से उसका प्रतिपादन अनेक प्रकार से किया है। धर्म की व्याख्या करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द, भावपाहुड़ में कहते हैं –

अप्पा अप्पम्मि रओ, रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदू, धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।। 85।।
पूयादिसु वयसहियं, पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो धम्मो।। 83।।
सद्दहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं, ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं।। 84।।[185]

अर्थात् राग-द्वेष आदि समस्त दोषरहित आत्मा का आत्मा में लीन होना ही धर्म है। जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने इस प्रकार कहा है कि जो व्रतसहित पूजादि में प्रवृत्ति है, वह तो पुण्य है, लेकिन मोह-क्षोभ रहित जो आत्मा का परिणाम है, वही धर्म है। जो पुरुष, पुण्य को धर्म जान कर श्रद्धान करते हैं, प्रतीति करते हैं, रुचि करते हैं और स्पर्श करते हैं; उसके 'पुण्य' भोग का निमित्त है क्योंकि उससे स्वर्गादिक भोग पाता है, परन्तु वह पुण्य, कर्म के क्षय का निमित्त नहीं होता, यह प्रगट जानना चाहिए।

और भी अनेक प्रकार से धर्म की व्याख्या की गई है। सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है।[186] और चारित्र वास्तव में धर्म है और जो धर्म है, वह साम्य है। तथा मोह-क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम साम्य है। स्वरूप में चरण करना (रमना) सो चारित्र है अर्थात् स्वसमय में प्रवृत्ति करना चारित्र है। यही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है अर्थात् शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना धर्म है।[187] वस्तु का स्वभाव धर्म है; जैसे, जीव का स्वभाव दर्शनज्ञानस्वरूप चैतन्य है। दश प्रकार के क्षमादिभाव भी धर्म हैं। रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भी धर्म है और जीवों की रक्षा करना भी धर्म है।[188] जो समस्त प्राणियों को पंचपरावर्तनरूप संसार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुख में स्थापित करता है, वह धर्म है।[189] निज शुद्धभाव का नाम ही धर्म है। वह संसार में पड़े हुए जीवों की चतुर्गति के दुःखों से रक्षा करता है।[190]

क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी ने धर्म के निश्चय-व्यवहारस्वरूप को उजागर करते हुए उसकी व्याख्या की है –

धर्म नाम स्वभाव का है। जीव का स्वभाव आनन्द है, ऐन्द्रियसुख नहीं; अतः वह अतीन्द्रिय आनन्द ही जीव का धर्म है या कारण में कार्य का उपचार करके, जिस अनुष्ठान विशेष से उस आनन्द की प्राप्ति हो, उसे भी धर्म कहते हैं। वह दो प्रकार का है – एक बाह्य, दूसरा अन्तरंग। बाह्य अनुष्ठान तो पूजा, दान, शील, संयम, व्रत, त्याग आदि करना है और अन्तरंग अनुष्ठान साम्यता व वीतरागी भाव में स्थिति की अधिकाधिक साधना करना है। वहाँ बाह्य अनुष्ठान को व्यवहारधर्म कहते हैं और अन्तरंग को निश्चयधर्म। निश्चयधर्म तो साक्षात् समातास्वरूप होने के कारण वास्तविक है और व्यवहार धर्म उसका कारण होने से औपचारिक। निश्चयधतर्म तो सम्यक्त्वसहित ही होता है, पर व्यवहारधर्म सम्यक्त्वसहित भी होता है और उससे रहित भी।

व्यवहारधर्म, निश्चयनिरपेक्ष भी होता है और निश्चयसापेक्ष भी। उनमें से पहला तो निश्चयधर्म से बिलकुल अस्पष्ट रहता है और दूसरा निश्वचधर्म के अंशसहित होता है। पहला कृत्रिम होता है और दूसरा स्वाभाविक। पहला तो साम्यता के अभिप्राय से न होकर, पुण्य आदि के अभिप्राय से होता है और दूसरा केवल उपयोग की बाह्य विषयों से रक्षा के लिए होता है। पहले में कृत्रिम उपायों से बाह्य विषयों के प्रति अरुचि उत्पन्न कराना इष्ट है ओर दूसरे में वह अरुचि स्वाभाविक होती है। इसलिए पहला धर्म बाह्य से भीतर की ओर जाता है जबकि दूसरा भीतर से बाहर की ओर निकलता है। इसलिए पहला तो आनन्द प्राप्ति के लिए अकिंचित्कर रहता है और दूसरा उसका परम्परा साधन होता है क्योंकि वह साधक को धीरे धीरे भूमिकानुसार साम्यता के प्रति अधिकाधिक झुकाता हुआ अन्त में परम लक्ष्य के साथ घुल-मिल कर अपनी सत्ता खो देता है।

पहला व्यवहारधर्म भी कदाचित् निश्चयधर्मरूप साम्यता का साधक हो सकता है, परन्तु तभी जबकि अन्य सब प्रयोजनों को छोड़ कर मात्र साम्यता की प्राप्ति के लिए किया जाए तो। निश्चयसापेक्ष व्यवहारधर्म भी साधक की भूमिकानुसार दो प्रकार का होता है – एक सागार और दूसरा अनगार। सागारधर्म गृहस्थ या श्रावक के लिए है और अनगारधर्म साधु के लिए। पहले में विकल्प अधिक होने के कारण निश्चय का अंश अत्यन्त अल्प होता है और दूसरे में साम्यता की वृद्धि हो जाने के कारण वह अंश अधिक होता है; अतः पहले में निश्चयधर्म अप्रधान और दूसरे में वह प्रधान होता है। निश्चयधर्म अथवा निश्चयसापेक्ष व्यवहारधर्म, दोनों में ही यथायोग्य क्षमा, मार्दव आदि दशलक्षण प्रगट होते हैं, जिसके कारण ही धर्म को दशलक्षण धर्म अथवा दशविध धर्म कह दिया जाता है।[191]

धर्म को उत्तमक्षमा आदि दश प्रकार से समझाया गया है। प्रत्येक धर्म के साथ लगा 'उत्तम' शब्द, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की अनिवार्यता का सूचक है। आशय यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपरान्त होने वाली चारित्रगुण की वीतराग-परिणति व शुभभाव ही वस्तुतः निश्चय-व्यवहार उत्तमक्षमादि धर्म-संज्ञा प्राप्त करते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना वीतरागभाव नहीं होता, वीतरागभाव के अभाव में मिथ्यादृष्टि के मात्र शुभभाव को धर्म-संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में होने वाली भूल पर ध्यानाकर्षित करते हुए कहा है कि बन्धादिक के भय से, स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि नहीं करते, परन्तु वहाँ क्रोधादि करने का अभिप्राय तो मिटा नहीं है। जैसे, कोई राजादिक के भय से अथवा महन्तपने के लोभ से परस्त्री का सेवन नहीं करता तो उसे त्यागी नहीं कहते; वैसे ही यह क्रोधादि का त्यागी नहीं है। वास्तव में पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने से क्रोधादि उत्पन्न होते हैं। जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयमेव ही क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते, तब सच्चा धर्म होता है।

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में दशलक्षण धर्म का वर्णन, मुख्यतः मुनिराजों के उत्तरगुणों की मुख्यतया से आया है;[192] तथापि देशविरत श्रावक एवं सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को भी उनकी भूमिकानुसार ये होते हैं। मुनिराज की भूमिका में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण-कषाय-सम्बन्धी क्रोधादि के अभावपूर्वक प्रगट वीतराग-परिणति निश्चय उत्तमक्षमादि धर्म एवं उस भूमिका में विद्यमान क्षमादि-सम्बन्धी शुभ-विकल्प व्यवहार उत्तमक्षमादि धर्म हैं। इसी प्रकार श्रावक की भूमिका में दो कषाय चौकड़ी एवं सम्यग्दृष्टि की भूमिका में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के अभावपूर्वक प्रगट होने वाली वीतराग परिणति एवं भूमिकानुसार होने वाला शुभभाव निश्चय-व्यवहार उत्तमक्षमादि धर्म हैं।

आचार्य पद्मनन्दि ने तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में श्रावकों को निर्देशित करते हुए दशलक्षण धर्म पालन करने का कथन किया है –

आद्योत्तमक्षमा यत्र, सो धर्मो दशभेदवाक्।
श्रावकैरपि सेव्योऽसौ, यथाशक्तिः यथागमं।।[193]

अर्थात् धर्म के उत्तमक्षमा आदि दश धर्मों को जिनागम के अनुसार श्रावकों को भी यथाशक्ति पालन करना चाहिए।

यद्यपि यहाँ मुनिराजों के उत्तरगुणों के प्रकरण में उत्तमक्षमा आदि धर्मों की चर्चा होने से उसके वर्णन में भी मुनिधर्म की मुख्यता होती है; तथापि ये धर्म, मात्र मुनियों के ही होते हैं – ऐसा नहीं समझना चाहिए। अन्य रत्नत्रय धर्म, अहिंसालक्षण धर्म, दया धर्म, आदि का भी परस्पर एक दूसरे में समावेश कर लेना चाहिए। तथा इन्हें पालन करने वालों की अपेक्षा भी धर्म के दो भेद स्वीकार किये गये हैं – गृहस्थधर्म और मुनिधर्म। सभी ज्ञानियों के क्षमादि धर्मों में मात्राभेद तो स्वीकार करना चाहिए, परन्तु उनमें जातिगत भेद नहीं है। जहाँ मुनिराज के क्षमा आदि धर्म तीन कषाय चौकड़ी के अभावस्वरूप वीतरागतायुक्त होते हैं, वहीं व्रती श्रावक के दो कषाय चौकड़ी, और अविरत सम्यग्दृष्टि के एक कषाय चौकड़ी के अभावस्वरूप वीतरागतायुक्त मानने में कोई दोष नहीं है। चतुर्थ संज्वलन सम्बन्धी कषाय चौकड़ी का अभाव हो जाने पर पूर्ण वीतरागता प्रगट हो जाने पर सर्वज्ञता एवं सिद्धदशा भी प्राप्त हो जाती है।

उत्तमक्षमादि दश धर्मोंके नाम इस प्रकार हैं – उत्तम क्षमाधर्म, उत्तम मार्दवधर्म, उत्तम आर्जवधर्म, उत्तम शौचधर्म, उत्तम सत्यधर्म, उत्तम संयमधर्म, उत्तम तपधर्म, उत्तम त्यागधर्म, उत्तम आकिंचन्यधर्म, उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म। इन दश धर्मों का संक्षिप्त स्वरूप निम्न प्रकार से समझा जा सकता है[194] –

- **उत्तम क्षमाधर्म** – मुनिराज को तीन कषाय चौकड़ी के अभाव होने पर अन्तरंग क्रोध के अभावरूप प्रगट वीतरागी परिणति **निश्चय उत्तम क्षमाधर्म** है और बाह्य में क्रोध के कारणभूत निन्दा, गाली आदि के प्रसंगों में भी क्रोधित नहीं होना, **व्यवहार उत्तम क्षमाधर्म** है।

  क्षमाभाव की महानता को द्योतित करते हुए कुरलकाव्य में लिखा है कि ''उपवास करके तपश्चर्या करने वाले निःसन्देह महान हैं, उनका स्थान उन लोगों के पश्चात् ही है, जो अपनी निन्दा करने वालों को क्षमा कर देते हैं।[195]

- **उत्तम मार्दवधर्म – मृदुता** अर्थात् कोमलता का भाव **मार्दव** है। जो मनस्वी पुरुष, कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र और शील आदि के विषय में थोड़ा सा भी घमण्ड नहीं करता, उसके **उत्तम मार्दवधर्म** होता है।[196]

- **उत्तम आर्जवधर्म – ऋजुता** अर्थात् सरलता का भाव **आर्जव** है। जो मुनि, मन में कुटिल चिन्तवन नहीं करता, कुटिल वचन नहीं बोलता, कुटिल कार्य नहीं करता और अपने दोषों को नहीं छिपाता, वह मुनि **उत्तम आर्जवधर्म** का धारी होता है।[197]

- **उत्तम शौचधर्म – शुचिता** अर्थात् पवित्रता का भाव **शौच** है। जो मुनि, इच्छाओं को रोक कर, वैराग्यरूप विचारों से युक्त होकर आचरण करता है, उसको **उत्तम शौचधर्म** होता है।[198]

- **उत्तम सत्यधर्म** – सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ प्रगट होने वाली ईमानदारी या सत्यता ही वास्तविक **सत्यधर्म** है। जो मुनि, जिनसूत्र ही के वचन को कहे; उसमें जो आचार आदि कहा गया है, उसका पालन करने में असमर्थ हो तो भी अन्यथा नहीं कहे और जो व्यवहार से भी असत्य नहीं कहे, वह मुनि सत्यवादी है, उसको **उत्तम सत्यधर्म** है।[199]

- **उत्तम संयमधर्म – संयमन** को **संयम** कहते हैं। संयमन अर्थात् उपयोग को परपदार्थ से समेट कर, आत्मसन्मुख करना, अपने में सीमित करना, अपने में लगाना; अतः उपयोग की स्वसन्मुखता, स्वलीनता ही **निश्चय संयमधर्म** है। अथवा पाँच व्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, क्रोधादि कषायों का निग्रह करना, मनवचनकायरूप तीन दण्डों का त्याग करना, और पाँच इन्द्रियों के विषयों को जीतना संयम है।[200]

- **उत्तम तपधर्म** – जो आत्मा को आत्मा में आत्मा से धारण कर रखता है, टिकाये रखता है, जोड़े रखता है, वह अध्यात्म है और वही **तप** है। वह तप अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार का है।[201]

  जहाँ अनशन आदि कायक्लेशरूप तपों को बाह्य तप कह कर गौण किया है, वहीं प्रायश्चित्त लेना, विनय करना, वैयावृत्ति/सेवा करना, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और ध्यान को अन्तरंग तप कह कर

उनकी मुख्यता कराई है। कार्तिकेयस्वामी कहते हैं कि जो मुनि, इसलोकपरलोक के सुख की अपेक्षा से रहित होता हुआ सुखदुःख, तृणकंचन, निन्दाप्रशंसा आदि में रागद्वेषरहित समभावी होता हुआ अनेक प्रकार के कायक्लेश करता है, उस मुनि के निर्मल **तपधर्म** होता है।[202]

- **उत्तम त्यागधर्म** – सब परभावों को 'ये पर हैं' – ऐसा जान कर, छोड़ा जाता है, अतः ऐसा ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, **त्याग** है।[203] निज शुद्धात्मा का ग्रहण करके बाह्य और अभ्यन्तर सचेतन-अचेतन परिग्रह से निवृत्ति करना, त्याग है।[204] अथवा संयत के द्वारा करने योग्य ज्ञानादि का दान, त्याग कहलाता है।[205]
- **उत्तम आकिंचन्यधर्म** – शरीरादि मेरे कुछ भी नहीं है – ऐसे अकिंचनपने के भावसहित उनमें संस्कार का त्याग करना, **आकिंचन्य** कहते हैं।[206] अथवा जो मुनि, मिष्ट भोजन को छोड़ता है, रागद्वेष उत्पन्न करने वाले उपकरण को छोड़ता है, ममत्व की कारण वसतिका को छोड़ता है; उसे **आकिंचन्यधर्म** होता है।[207]
- **उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म** – मोक्षमार्ग में ब्रह्मचर्य को अन्तिम सीढ़ी माना है। ब्रह्म अर्थात् निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा या जीव में लीन होने रूप मुनि की चर्या ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।[208]

ध्यान रहे कि जैनों में विशेषरूप से दिगम्बराम्नाय में दशलक्षण महापर्व के नाम से दश दिनों तक मनाये जाने वाले पर्व भी इन्हीं दश धर्मों की आराधनापूर्वक मनाये जाते हैं।

बाईस परीषहजय

मुनि-जीवन का साधना-मार्ग, अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति से सम्पन्न होने से यद्यपि अत्यन्त आनन्दमय है; तथापि इस दशा में भी मन-वचन-काय सम्बन्धी कष्ट, वेदना, दुःख अथवा विघ्न-बाधाओं की प्रतिकूलता का आ जाना असम्भव नहीं है, उन्हें ही **परीषह** कहते हैं, लेकिन धन्य हैं वे सन्त! जो आत्मिक विकास की यात्रा पर गतिशील रह कर, उन समस्त स्थितियों को समभावपूर्वक सहन करते हैं, जयन करते हैं, परिणामों में संक्लेश नहीं होने देते; इसे ही **परीषहजय** कहते हैं और विघ्न-बाधाओंरूपी विपरीत परिस्थितियों की आँधी, जिनकी स्वरूप-साधनारूप ज्योति को बुझा नहीं सकती। मुनि-जीवन में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा वे विघ्न-बाधाएँ अथवा प्रतिकूलताएँ सदा एक-सी नहीं होती हैं। लेकिन समभावपूर्वक उन विविध प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करना, '**परीषहानां जयः परीषहजयः**' कहलाता है। इन परीषहों पर विजय प्राप्त करने के दो कारण तत्त्वार्थसूत्र में बताये गये हैं –

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।।9/8।।

अर्थात् संवर[1] मार्ग से च्युत नहीं होने और कर्मों की निर्जरा के प्रयोजन से परीषहों को सम्यक् प्रकार से सहन करना चाहिए, इसे ही **परीषहजय** कहते हैं।[209]

आचार्य ब्रह्मदेव सूरि कहते हैं कि क्षुधा आदि की वेदना के तीव्र उदय होने पर भी.....समतारूप परम सामायिक के द्वारा.....निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न, विकाररहित, नित्यानन्दरूप सुखामृत के अनुभव से चलित नहीं होना, **परीषहजय** है।[210]

अनगार धर्मामृत में परीषहजयी साधु का चरित्र-चित्रण करते हुए कहा है कि जिस साधु ने सुखपूर्वक मोक्षमार्ग की साधना की है, दुःख उपस्थित होने पर वह साधु मोक्षमार्ग से च्युत हो जाता है; इसलिए मोक्ष का मार्ग स्वीकार करने पर, नवीन कर्मबन्ध को रोकने और पुराने कर्मों की निर्जरा के लिए भूख-प्यास आदि बाईस वेदनाओं को आत्मस्थ साधु जो सहता है, उसे **परीषहजय** कहते हैं। वह परीषहजय केवल धीर-वीर पुरुषों के द्वारा ही साध्य है, कायर उसे नहीं सह सकते।[211]

अज्ञानी लोग, परीषहजय को कष्टकारक मानते हैं, परन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि तत्त्वार्थसूत्र में परीषहजय को संवर के कारणों में गिनाया है तो प्रश्न यह उठता है कि क्या संवर को या संवर के कारणों को दुःख का कारण या कष्टकारक माना जा सकता है। इस सन्दर्भ मोक्षशास्त्र की टीका में श्री रामजीभाई लिखते हैं –

अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि परीषह सहन करना दुःखरूप है, किन्तु ऐसा नहीं है; परीषह सहन करने का अर्थ दुःख भोगना नहीं होता क्योंकि जिस भाव से जीव को दुःख होता है, वह तो आर्तध्यान है और वह पाप है, उससे अशुभबन्ध होता है और यहाँ तो संवर के कारणों का वर्णन चल रहा है। लोगों की अपेक्षा से कहें तो बाह्य संयोग चाहे अनुकूल हों या प्रतिकूल, राग या द्वेष न होने देना अर्थात् वीतरागभाव प्रगट करने का नाम ही **परीषहजय** है अर्थात् उसे ही परीषह सहन करना कहा जाता है। यदि उनमें अच्छे-बुरे का

विकल्प उठे तो परीषह सहन करना नहीं कहलाता, बल्कि राग-द्वेष करना कहलाता है। राग-द्वेष से कभी संवर होता ही नहीं, किन्तु बन्ध ही होता है; इसलिए ऐसा समझना चाहिए कि **जितने अंश में वीतरागता है, उतने अंश में परीषहजय है और यह सुख-शान्तिरूप है। परीषहजय को दुःख मानना, मिथ्या मान्यता है।**[212]

आचार्यकल्प टोडरमलजी परीषहजय को ज्ञाता-द्रष्टाभाव से जोड़ते हुए कहते हैं –

दुःख का कारण मिलने पर दुःखी न हो और सुख का कारण मिलने पर सुखी न हो, ज्ञेयरूप से उनका जानने वाला ही रहे, वही **सच्चा परीषहजय** है।[213]

परीषहों के बाईस भेद

तत्त्वार्थसूत्र में बाईस परीषहों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है –

क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशक-नाग्न्याऽरति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्याऽऽक्रोश-वध-याचनाऽलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कारपुरस्कार-प्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि।[214]

अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन – ये **बाईस परीषह** हैं।

मूलाचार में भी परीषहों का यही क्रम है। मात्र वहाँ नाग्न्य को अचेल, अरति को अरतिरति, मल का जल्ल, सत्कार-पुरस्कार को सत्कार, इन नामों से अभिहित किया गया है।[215]

1. **क्षुधा परीषहजय** – प्रकृष्ट क्षुधारूपी अग्नि की ज्वाला को धैर्यरूपी जल से शान्त करना, **क्षुधाजय** नामक **परीषहजय** कहलाता है।[216]

   जो भिक्षु, निर्दोष आहार का शोध करता है, जो भिक्षाके नहीं मिलने पर या अल्प मात्रा में मिलने पर क्षुधावेदना को प्राप्त नहीं होता, अकाल में यहा अदेश में जिसे भिक्षा लेने की इच्छा नहीं होती, आवश्यकों की हानि को जो थोड़ा सहन नहीं करता, जो स्वाध्याय और ध्यान भावना में तत्पर रहता है, जिसने बहुत बार स्वकृत और परकृत अनशन व अवमोदर्य तप किया है, जो नीरस आहार को लेता है, अत्यन्त गरम भांड में गिरी जल की कतिपय बूँदों के समान जिसका गला सूख गया है और क्षुधावेदना की उदीरणा होने पर भी जो भिक्षालाभ की अपेक्षा, उसके अलाभ को अधिक गुणकारी मानता है, उसका **क्षुधाजन्य बाधा का चिन्तन करना, क्षुधा परीषहजय** है।[217]

   असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा हो, तभी क्षुधा/भूख उत्पन्न होती है और उस वेदनीय कर्म की उदीरणा छठवें गुणस्थान पर्यन्त ही होती है, उससे ऊपर के गुणस्थानों में नहीं होती.....छठवें गुणस्थान वाले मुनि के भी इतना पुरुषार्थ होता है कि यदि योग्य समय, निर्दोष भोजन का योग न बने तो आहार का विकल्प तोड़ कर निर्विकल्पदशा में लीन हो जाते हैं, तब उनके परीषहजय कहा जाता है।[218]

   मुनिराज को यह चिन्तवन करना चाहिए कि मैंने अनन्त बार परवश होकर भूख की वेदना सही है। मनुष्यगति में बन्दीगृह में पड़ कर, जलचर, थलचर, और नभचर की दशा में तिर्यंचगति में बाँधे जाने अथवा रोके जाने के कारण भूख की वेदना सही है तथा नरकगति में स्वाभाविक भूख की वेदना सही है, उसके सामने यह भूख कितनी हैं ? कुछ भी नहीं; इस प्रकार चिन्तवन करके मोक्ष चाहने वालों को सन्तोष धारण कर भूख से उत्पन्न हुई वेदना को जीतना चाहिए।[219]

2. **तृषा परीषहजय** – तृषा की उदीरणा के कारण मिलने पर भी प्यास के वशीभूत नहीं होना और उसके प्रतीकार को नहीं चाहना, **पिपासासहन या तृषा परीषहजय** है।[220]

   जिसने जल से स्नान करने, उसमें अवगाहन करने और उससे सिंचन करने का त्याग कर दिया है; जिसका पक्षी के समान आसन और आवास नियत नहीं है; जो अतिखारे, अतिस्निग्ध और अतिरूक्ष, प्रकृति-विरुद्ध आहार, ग्रीष्मकालीन आतप, पित्त-ज्वर और अनशन आदि के कारण उत्पन्न हुई तथा शरीर और इन्द्रियों को मथने वाली तृषा का प्रतीकार करने में आदरभाव नहीं रखता और जो पिपासारूपी अग्निशिखा को सन्तोषरूपी नूतन मिट्टी के घड़े में भरे हुए शीतल सुगन्धित समाधिरूपी जल से शान्त कर रहा है, उसके **पिपासा या तृषा परीषहजय** प्रशंसा के योग्य है।

   क्षुधा और तृषा के सम्बन्ध में आध्यात्मिक चिन्तन इस प्रकार करना योग्य है कि क्षुधा और तृषा नोकर्मरूप शरीर की अवस्था है। यह अवस्था चाहे जैसी हो तो भी जीव का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती। यदि जीव शरीर की उस अवस्था को ज्ञेयरूप से जानता है, उसमें रागादि नहीं करता तो उसके

शुद्धता प्रगट होती है,.....वह परीषहजय कहलाता है, उससे संवर निर्जरा होते हैं।.....सम्यग्दृष्टि ही ऐसी शुद्ध अवस्था प्रगट कर सकता है।[221]

3. **शीत परीषहजय** – शीत के कारणों के सन्निधान में शीत के प्रतीकार की अभिलाषा नहीं करना, संयम का परिपालन करना, शीतक्षमा नामक परीषहजय कहलाता है।[222]

जिसने आवरण का त्याग कर दिया है, पक्षी के समान जिसका आवास निश्चित नहीं है, वृक्षमूल, चौपथ, और शिलातल आदि पर निवास करते हुए बर्फ के गिरने पर और शीतल हवा का झोंका आने पर उसका प्रतीकार करने की इच्छा से जो निवृत्त है, पहले अनुभव किय गये शीत के प्रतीकार के हेतुभूत वस्तुओं का जो स्मरण नहीं करता और जो ज्ञानभावनारूपी गर्भागार में निवास करता है, उसके प्रशंसायोग्य **शीतवेदनासहन नामक परीषहजय** होता है।

मुनिराज, शीतवेदना को आत्मध्यानरूपी गर्मी के द्वारा दूर करते हैं। उस शीतवेदना को शान्त करने के लिए न तो किसी के ओढ़ने का चिन्तवन करते हैं और न अग्नि आदि शीत को दूर करने वाले पदार्थों का चिन्तवन करते हैं।[223]

4. **उष्ण परीषहजय** – चारित्र की रक्षा करने के लिए दाह का प्रतीकार करने की इच्छा का अभाव होना, उष्णसहन नामक परीषहजय कहलाता है।[224]

निर्वात और निर्जल तथा ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणों से सूख कर, पत्तों के गिर जाने से छायारहित वृक्षों से युक्त ऐसे वन के मध्य जो अपनी इच्छानुसार प्राप्त हुआ है – ऐसे अनशन आदि अभ्यन्तर साधनवश जिसे दाह उत्पन्न हुई है, दावाग्निजन्य दाह, अति कठोर वायु और आतप के कारण जिसे गले और तालु में शोष उत्पन्न हुआ है, जो उसके प्रतीकार के बहुत`स अनुभूत हेतुओं को जानता हुआ भी उनका चिन्तन नही करता है तथा जिसका प्राणियों की पीड़ा के परिहार में चित्त लगा हुआ है, उस साधु के चारित्र के रक्षणरूप **उष्णसहन नामक परीषहजय** कहलाता है।[225]

वे मुनिराज, स्वयं की उष्णवेदना के समय निराश्रय पशुओं, मनुष्यों व नारकियों के कर्मों के उदय से होने वाली उष्णवेदना का चिन्तवन करते हैं और श्रेष्ठ ज्ञानरूपी अमृत का पान करते हैं, इन दोनों कारणों से वे उस गर्मी की वेदना को जीतते हैं। वे मुनिराज, पानी के छिड़काव से या पानी में नहा कर गर्मी की बाधा को दूर नहीं करते।[226]

5. **दंशमशक परीषहजय** – दंशमशक की बाधा सहन करना, उसका प्रतीकार नहीं करना, दंशमशक परीषहजय कहलाता है।[227]

यहाँ दंशमशक पद से दंशमशक, मक्खी, पिस्सू, छोटी मक्खी, खटमल, कीट, चींटी, बिच्छू आदि का ग्रहण होता है। जो इनके द्वारा की गई बाधाओं को बिना प्रतीकार किये सहन करता है, मन-वचन-काय से उन्हें बाधा नहीं पहुँचाता है और निर्वाण की प्राप्ति मात्र संकल्प ही जिनका ओढ़ना है, उन मुनिराजों के द्वारा उनकी वेदना को सह लेना, दंशमशक नामक परीषहजय कहलाता है।[228]

6. **नाग्न्य परीषहजय** – यथाजातरूप जन्म अवस्था के समान निराभरण निर्वस्त्र निर्विकाररूप अवस्था धारण करना, नाग्न्य परीषहजय कहलाता है।[229]

बालक के समान जो निष्कलंक यथाजातरूप को धारण करने वाले हैं, जिसे याचना से प्राप्त करना अशक्य है, जो बाह्य परिग्रह से सम्बन्धित याचना, रक्षा और हिंसा आदि दोषों से रहित हैं, जो निष्परिग्रहरूप होने से निर्वाण-प्राप्ति का अनन्य साधन है, अर्थात् मुक्ति का अद्वितीय कारण है, जो नग्नता में बाधक मनोविकारों से रहित होकर, स्त्री के रूप को अत्यन्त अशुचि शव-कंकाल के समान देखता है और दिन-रात अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण करता है, उसके निर्दोष **अचेलव्रतरूप नाग्न्य परीषहजय** कहलाता है।[230]

7. **अरति परीषहजय** – संयम में रति या प्रीति होने से अन्य बाह्य विषयों में अरतिभाव का नहीं होना, **अरति परीषहजय** कहलाता है।[231]

जो संयत, इन्द्रियों के इष्ट विषयों के प्रति निरुत्सुक हों; जो गीत, नृत्य और वादित्र आदि से रहित शून्यघर, तरुकोटर, शिला, गुफा आदि स्थानों पर स्वाध्याय ध्यान भावना आदि में लीन हों; जो पहले देखे हुए, सुने हुए, और अनुभव किये हुए विषय-भोग के स्मरण, तत्सम्बन्धी कथा-श्रवण, काम-बाण-

प्रवेश के लिए जिलका हृदय निश्छिद्र है और जो प्राणियों के प्रति सदाकाल दयावान हैं, उनके **अरति परीषहजय** जानना चाहिए।[232]

8. **स्त्री परीषहजय** – स्त्रियों का रूप देखना, उनका स्पर्श करना आदि भावों की निवृत्ति को **स्त्री परीषहजय** कहते हैं।[233]

कोई मुनिराज, किसी एकान्त स्थान में विराजमान हों, और वहाँ पर उन्मत्त यौवनवती स्त्रियाँ आकर, उनके सामने हाव-भाव, विलास, शरीर-विकार, मुख-विकार, भौह-विकार, गाना, बजाना, बकवास करना, कटाक्षरूपी बाणों का फेंकना, शृंगार रस का दिखाना, आदि कितने ही कारणों से व्रतों को नाश करने वाला अनर्थ करती हों तो भी उन मुनिराज का निर्विकार होकर उस उपद्रव का सहन करना, स्त्री परीषहजय कहलाता है।[234]

9. **चर्या परीषहजय** – गमन सम्बन्धी दोषों का निग्रह करना, **चर्या परीषहजय** है।[235]

जो दीर्घकाल तक गुरुकुलों में रह कर, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, बन्धमोक्ष के स्वरूप को जानते हैं, गुरु की आज्ञापूर्वक संयम के आयतनों की भक्ति के लिए जो देशान्तर में गमन करता है, जो वायु के समान निःसंग हैं, अनेक बार अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग के कारण होने वाली बाधाओं से जिनका शरीर परिक्लान्त है, देश और काल के प्रमाण का अतिक्रमण करने वाले संयम-विरोधी मार्ग का जिसने परिहार किया है, जिसने खडाऊँ आदि का भी त्याग किया है, तीक्ष्ण कंकर, काँटे आदि के कारण चरणों में घावजनित खेद उत्पन्न होने पर भी पूर्व में उपयोग किये गये यान, वाहन आदि का स्मरण नहीं करता तथा जो यथासमय अपने सम्पूर्ण आवश्यकों का पालन करता है; वह **चर्या परीषहजय** कहलाता है।[236]

10. **निषद्या परीषहजय** – संकल्पित आसन से विचलित नहीं होना, **निषद्या परीषहजय** है।[237]

जो मुनिराज, किसी पर्वतादि की गुफा या वनादि में वज्रासन आदि कठिन आसनों से विराजमान होते हैं और उस समय भी अनेक उपसर्ग आदि उन पर हो जाते हैं; तथापि वे मुनिराज अपने आसन से कभी चलायमान नहीं होते;.....अपने योग को सदा अचल बनाये रखते हैं; उनके **निषद्या परीषहजय** कहलाता है।[238]

11. **शय्या परीषहजय** – आगमोक्त शयन क्रिया से चलित नहीं होना, **शयन परीषहजय** है।[239]

सर्वार्थसिद्धि में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है – मुनिराज, स्वाध्याय, ध्यान और मार्गश्रम के कारण थक कर, जो कठोर, विषम तथा प्रचुर मात्रा में कंकर और खपरों के टुकड़ों से व्याप्त ऐसे अतिशीत तथा अत्युष्ण भूमिप्रदेशों में **एक मुहुर्त प्रमाण निद्रा का अनुभव करते हैं,** जो एक करवट से या सीधे दण्ड के समान शयन करता है, करवट लेने से प्राणियों को होने वाली बाधा का निवारण करने के लिए जो गिरे हुए लकड़ी के कुन्दे या मुर्दे के समान करवट नहीं बदलते, जिनका चित्त ज्ञानभावना में लगा हुआ है, व्यन्तरादि के द्वारा किये गये नाना प्रकार के उपसर्गों से भी जिनका शरीर चलायमान नहीं होता तथा जो अनियतकालिक तत्कृत बाधा को सहन करते हैं; उनके **शय्या परीषहजय** होता है।[240]

12. **आक्रोश परीषहजय** – अनिष्ट वचनों को सहन करना, **आक्रोश परीषहजय** है।[241]

जो मुनिराज, मिथ्यादृष्टि, म्लेच्छ, चाण्डाल, शत्रु, पापी, दुरात्मा आदि के कठोर वचन, अपमानजनक अवज्ञात्मक निन्दारूप शब्द, तिरस्कार या धिक्कार के वचन, गाली-गलौच के असभ्य शब्दों आदि को सुन कर, उनका प्रतीकार करने में समर्थ होने पर भी उन वचनों को अपने कर्म का विपाक मान कर, जो रंचमात्र भी क्लेश का अनुभव नहीं करते और मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक उनको सहन करते हैं; उन चतुर मुनियों को आक्रोश परीषहजय होता है।[242]

मुनिराज यह विचार करते हैं कि सामने वाले व्यक्ति के कर्म के उदय से अज्ञानभाव हो रहा है, इस कारण उन्हें दुःख भी हो रहा है, ये सब कर्म के परवश हैं, यह इनका अपराध नहीं है, मेरे ही अशुभकर्म का उदय है। ऐसा विचार कर दूसरों के द्वारा कहे गये दुर्वचनों से क्लेश को प्राप्त नहीं होते हुए अनिष्ट वचनों को सहना, **आक्रोश परीषहजय** कहलाता है।[243]

13. **वध परीषहजय** – मारपीट, बन्धन और घात को सहना, अथवा मारने वालों के प्रति भी क्रोध नहीं करना, **वध परीषहजय** है। ग्राम, उद्यान, अटवी, नगर आदि में रात-दिन एकाकी विचरण करने वाले, निरावरण

शरीर वाले मुनिराज; चारों तरफ घूमने वाले चोर, कोतवाल, म्लेच्छ, भील, कटोर, बधिर, पूर्व शत्रु और द्वेषाविष्ट मिथ्यादृष्टि तपस्वी आदि के द्वारा क्रोधपूर्वक ताड़न, आकर्षण, बन्धन, शस्त्राभिघात आदि के द्वारा मारने पर भी बैर नहीं करते हैं। ऐसे समय में भी वे मुनिराज विचार करते हैं कि 'यह शरीर अवश्य ही नष्ट होने वाला है, जल के बुलबले के समान है तथा यह तो भला ही है कि इस पुरुष के द्वारा यह शरीर ही नष्ट किया जा रहा है; मेरे व्रत, शील, भावना आदि तो नष्ट नहीं किये जा रहे हैं, मेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को कोई नष्ट नहीं कर सकता, इस वध से तो मेरे कर्मों की ही निर्जरा हो रही है'; इत्यादि शुभ भावनाओं को भाने वाले, जलने पर भी सुगन्ध को फैलाने वाले चन्दन के समान शुभ परिणाम वाले, दृढ़ मति और क्षमारूपी औषधि के बल से मारने वाले में भी मित्रभाव रखने वाले, क्रोध नहीं करने वाले संयमी मुनिराजों के **वध परीषहजय** होता है।[244]

14. **याचना परीषहजय** – प्राणों का नाश होने पर भी आहारादि की याचना नहीं करना, दीनता से निवृत्त होना, **याचना परीषहजय** है। क्षुधा, मार्गश्रम, तप, रोग आदि के द्वारा सूखे वृक्ष की तरह जिनके समस्त अवयव सूख गये हैं, जिनके हाड़, और नसें ऊपर-नीचे हो रही हैं, आँखें धँस गई हैं, ओंठ सूख गये हैं, सारे शरीर का चमड़ा सुकड़ गया है, जाँघें पैर आदि अत्यन्त शिथिल हो गये हैं – ऐसा होने पर भी परम स्वाभिमानी मौनी आगम विरहित विधि से भिक्षा लेने वाले साधु के परम क्षीणता होने पर और प्राण जाने का समय आने पर भी कभी दीनतापूर्वक अविहित आहार वसति औषध आदि की याचना नहीं करना, **याचना परीषहजय** है। मुनिराज, भिक्षा के समय केवल अपने शरीर को दिखाते भर हैं, कभी भी मुख पर विवर्णता हीनवचन प्रयोग या किसीप्रकार का याचना संकेत नहीं करते। जिस प्रकार जौहरी अपना मणि दिखाता है, उसी प्रकार स्वशरीर को बिजली की चमक के समान दिखा देना ही पर्याप्त है। वन्दना करने वाले को आशीर्वाद देने के समय ही उनके हाथ फैलते हैं, याचना के लिए नहीं; इस तरह ऊर्जितसत्त्व और प्रज्ञा से सन्तुष्टमना साधु को **याचना परीषहजय** होता है।[245]

    जो मुनि सैकड़ों व्याधि और क्लेशों के हो जाने पर भी तथा अनेक उपवासों के बाद पारणा करने पर भी कभी जल या औषधि आदि की याचना नहीं करते हैं, उनको **याचना परीषहजय** है।[246]

15. **अलाभ परीषहजय** – आहार आदि का लाभ नहीं होने पर भी वे मुनिराज सन्तुष्ट होकर मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक उस भूख-प्यास की और आहारादि के न मिलने की बाधा को सहन करते हैं, अपने ज्ञानानन्द के अनुभव द्वारा विशेष सन्तोष धारण करते हैं, इसे **अलाभ परीषहजय** कहते हैं। मुनिराज जब बेला, तेला आदि अनेक उपवास करके पारणा को निकलते हैं और बहुत समय तक और बहुत घरों में भी अन्न-पानादि का लाभ नहीं होता है; तब उनके अलाभ परीषह उत्पन्न होता है।[247]

    वायु के समान अनेक देशों में विहार करने वाले, अपनी शक्ति को प्रकाशित नहीं करने वाले, दिन में एक बार भोजन करने वाले, पाणिपात्र में भिक्षा ग्रहण करने वाले, 'भिक्षां देहि' आदि असभ्य वचनों का प्रयोग नहीं करने वाले, दाताविशेष की परीक्षा करने में निरुत्सुक, भाषासमिति का पालने करने वाले, शरीर के ममत्व के त्यागी, लाभ की अपेक्षा अलाभ को ही तप की पूर्ति करने वाला मानने वाले, परम तपस्वी समताभावी मुनिराज के **अलाभ परीषहजय** होता है।[248]

16. **रोग परीषहजय** – नाना व्याधियों के होने पर भी अपने कर्मों का नाश करने के लिए कोढ़ आदि असह्य रोगों की महावेदना के भी प्रतीकार की इच्छा नहीं करने वाले के **रोग परीषहजय** होता है। यह शरीर, वात, पित्त, कफ और सन्निपातजन्य अनेक रोगों और वेदनाओं का घर है, दुःखों का कारण और अशुचि है, यह जीर्ण वस्त्र की तरह अवश्य ही छोड़ने योग्य है, इस तरह अपने शरीर में परशरीर की तरह उपेक्षाभाव धारण कर, सब प्रकार की चिकित्साओं से चित्त को हटा कर, शरीर यात्रा के लिए मात्र विधिवत् आहार ग्रहण करने वाले साधु का जल्लौषधि आदि अनेक औषध ऋद्धियों के होने पर भी शरीर से निःस्पृह रह कर 'पूर्वकृत पाप का यह फल है, इसे भोग कर उऋण हो जाने ही अच्छा है' इत्यादि विचारों के द्वारा रोग का प्रतीकार न कर, उसे सहन करना, **रोग परीषहजय** है।[249]

17. **तृणस्पर्श परीषहजय** – जो मुनिराज, अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर, अपने पापों का नाश करने के लिए मनवचनकाय की शुद्धतापूर्वक वायु से उड़ कर आये हुए सूखे पत्ते व तृण आदि के स्पर्श से उत्पन्न हुई खुजली आदि के विकार को सहन करते हैं, उसमें किसी प्रकार का क्लेश नहीं करते, उसे **तृणस्पर्श परीषहजय** कहते हैं।[250] अथवा तृणादि के निमित्त से वेदना के होने पर भी मन का निश्चल रहना, उसमें दुःख नहीं मानना, **तृणस्पर्श परीषहजय** है।[251]

सूत्र में दिया गया 'तृण' शब्द उपलक्षण है। इससे जो कोई बिंधने रूप दुःख का कारण है, उन सूखे तिनके, कठोर कंकर, काँटा, तीक्ष्ण मिट्टी, शूल आदि का ग्रहण हो जाता है।[252]

मुनिराज, शास्त्र की भावना, चिन्तन, पठन-पाठन, अनशन और मार्ग में चलना आदि कार्यों से जब थक जाते हैं; तब थकावट को दूर करने के लिए कुछ समय तक शुद्ध पृथिवी, घास या पत्तों का बिस्तर अथवा शिलापट्ट पर शय्या और निषद्या को प्राप्त होते हैं। तृणपत्र निर्मित शय्या पर शयन करने से शरीर में पीड़ा तथा खुजली उत्पन्न हो जाता है। इस सब कष्ट को समता से सहन करने वाले मुनि **तृष्णस्पर्श परीषहजयी** कहलाते है।[253]

18. **मल परीषहजय** – जलकायिक जीवों की पीड़ा का परिहार करने के लिए अस्नान व्रत को धारण करने वाले परम अहिंसक मुनिराज के पसीने के कारण आकर चिपके मैल से अंगों के जल जाने पर दाद, खाज आदि चर्म रोगों के प्रकुपित होने से नख, रोम, दाढ़ी, मूछ, केश के विकृत होने से एवं अनेक बाह्य मल के सम्पर्क के कारण चर्म विकार होने से शरीरगत मल के निकलने कारण स्वयं मल हटाने की या पर के द्वारा हटाये जाने की जरा भी इच्छा नहीं करना, **मल परीषहजय** है।

साधुजन कभी भी पूर्वकृत स्नान, अनुलेपन आदि का स्मरण नहीं करते और न अपनी शारीरिक मलिनता से हीनत्व का ही अनुभव करते हैं। केशलुंचन या केशो का संस्कार न करने से खेद होता है, पर यह **मलपरीषह** में ही अन्तर्भूत है।[254]

मुनिराज को स्नान करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सप्त धातुमय शरीर को पवित्र नहीं किया जा सकता; अतः पवित्रता की दृष्टि से स्नान का कोई प्रयोजन नहीं है। रोग को दूर करने के लिए भी स्नान आवश्यक नहीं है क्योंकि तब साधु रोग परीषह सहन नहीं कर सकेंगे और शरीर की शोभा के लिए भी स्नान आवश्यक नहीं है क्योंकि साधु तो विरागी होते हैं, उन्हें शरीर का सजाने से प्रयोजन ही नहीं है।[255]

मल परीषह का सम्बन्ध अस्नानव्रत से होने से यहाँ स्नान के दोष-लाभ बताते हैं –

स्नान करने से हानियाँ

- ''छहों काय के जीवों का घात होता है, पाप होता है।
- ब्रह्मचर्य आदि गुणों का घात करने वाला महान् राग प्रगट होता है।
- स्नानराग से उत्पन्न दुर्बुद्धि से आत्मगुणों के नाशक पापकर्म रूप महामल प्रगट होते हैं।
- ठण्डे पानी के स्नान से त्रसस्थावरत्त जीवों को बाधा होती है।
- कीचड़ रेत आदि के मर्दन से पानी में क्षोभ पैदा होता है, जिससे वनस्पतिकायिक जीवों को तथा मछली, मेंढ़क और सूक्ष्म त्रस जीवों को पीड़ा उत्पन्न होता है।
- गर्म पानी से स्नान करने पर भी त्रसस्थावर जीवों को बाधा होती है।
- जल के खारेपन से धान्य के रस को भी हानि पहुँचती है।''[256]

स्नान करने से लाभ

- ''स्नान त्याग से मुनियों के निर्ममत्व आदि पापरूपी मल को दूर करने वाले शुद्ध गुण प्रगट होते हैं।
- राग-द्वेष-मोह आदि विकार नष्ट होते हैं।
- अहिंसा आदि पूर्ण वैराग्य को प्रगट करने वाले व्रत वृद्धि को प्राप्त होते हैं।
- स्नान का त्याग कर देने से मुनिराज का शरीर जल्ल (मल से शरीर लिप्त होना), मल्ल (शरीर के एकदेश को ढ़कने वाला), स्वेद (पसीना) से लिप्त हो जाने से इन्द्रियसंयम और प्राणीसंयम का पालन होता है।
- यह महान गुण है क्योंकि इसमें प्रकृष्ट गुण पाये जाते हैं।''[257]

19. **सत्कार-पुरस्कार परीषहजय** – मान और अपमान में समभाव रखना, **सत्कार-पुरस्कार परीषहजय** है।[258]

सत्कार का अर्थ – पूजा-प्रशंसा-नमस्कार-स्तुति आदि है तो पुरस्कार का अर्थ – चलते समय यात्रा आदि में उन्हें आगे रखना, और स्वयं उनके पीछे चलना, आदि है। जो मुनिराज, ज्ञान-विज्ञान से सुशोभित हैं, अखण्ड ब्रह्मचारी हैं, स्व-परसमय निश्चयज्ञ हैं, शास्त्रज्ञ हैं, हितोपदेशी हैं, और तपश्चरण

आदि अनेक सद्गुणों से विभूषित हैं; इतना होने पर भी जो मुनिराज, सत्कार-पुरस्कार का त्याग कर देते हैं। कोई सत्कार-पुरस्कार न करे तो खेद नहीं करते, उसे **सत्कार-पुरस्कार परीषहजय** कहते हैं।[259]

मेरे दोष, किसी दूसरे के द्वारा गुण नहीं हो सकते और गुण, दोष नहीं हो सकते; इस प्रकार विचार करते हुए मुनिराज, **सत्कार-पुरस्कार परीषह** को जीतते हैं।[260]

20. **प्रज्ञा परीषहजय** – प्रज्ञा या बुद्धि का विकास अर्थात् ज्ञान का विशेष क्षयोपशम होने पर भी उसका मद नहीं करना, **प्रज्ञा परीषहजय** है।[261]

मैं अंग, पूर्व, और प्रकीर्णक शास्त्रों में विशारद हूँ, शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदि में निपुण हूँ, मेरे सामने अन्य लोग, सूर्य की प्रभा से अभिभूत हुए जुगनु के प्रकाश के समान बिलकुल सुशोभित नहीं होते हैं; इस प्रकार ज्ञानमद को नहीं होने देना, **प्रज्ञा परीषहजय** जानना चाहिए।[262]

जो मुनि, ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के ज्ञाता हैं, महा विद्वान हैं, वादविवाद करने में सर्वश्रेष्ठ हैं, तो भी वे अपने मन में ऐसा अभिमान नहीं करते कि मैं विद्वान् हूँ, संसार के समस्त तत्त्वों को जानता हूँ, बाकी सब लोग बैल के समान मूर्ख हैं, तत्त्वों का स्वरूप कुछ नहीं जानते; इस प्रकार के अभिमान को सदा के लिए त्याग कर देते हैं; उन मुनिराज के **प्रज्ञा परीषहजय** होता है।[263]

21. **अज्ञान परीषहजय** – अध्ययन और अर्थग्रहण में श्रम करने वाले चिरप्रव्रजित विविध तपधारी सर्वतः अप्रमत्त, अशुभ मनवचनकाय की क्रियाओ से रहित होने पर भी अज्ञान के कारण होने वाले अपमान और आक्षेप वचनों को सुन कर, हीन भावना नहीं होने देना, दुःखी नहीं होना और ज्ञान की अभिलाषा को सहन करना, **अज्ञान परीषहजय** है।[264]

जो मुनि अल्पज्ञानी हैं, उनके लिए अन्य दुष्ट लोगों के द्वारा 'यह अज्ञानी है, परमार्थ को कुछ नहीं जानता, पशु के समान है, मूर्ख है' इत्यादि कड़वे वचन कहे जाने पर तथा दुर्धर घोर तपश्चरण करने के बाद भी कोई अतिशय प्रगट नहीं होने पर, श्रुतज्ञान या अवधिज्ञान प्रगट नहीं होने पर अज्ञान परीषह उत्पन्न होता है।[265]

मेरी बुद्धि, ज्ञान-ध्यान में लीन रहती है तथा तप भी मेरा तीव्र है, फिर भी मुझे पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो रहा है। 'यह मूर्ख है, पशु है' इस प्रकार के वचन सुनने के लिए समर्थ नहीं हूँ; फिर भी वे मुनि समभाव के साथ **अज्ञान परीषह को सहन** करते हैं क्योंकि वस्तुस्थिति का उन्हें ज्ञान है कि कार्य अन्तरंग और बहिरंग दोनों कारणों के मिलने पर होता है, अन्य प्रकार से नहीं।[266]

22. **अदर्शन परीषहजय** – 'दीक्षा लेना आदि अनर्थक है'; इस प्रकार मानसिक विचार नहीं होने देना, **अदर्शन परीषहजय** है। यद्यपि दर्शन के श्रद्धान और आलोचन, दोनों अर्थ हैं, तथापि अविनाभाव दिखाने के लिए दर्शन का श्रद्धानरूप अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि श्रद्धान का पाँचों ज्ञानों के साथ अविनाभाव पाया जाता है। जबकि आलोचन का श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के साथ अविनाभाव नहीं होता है। आलोचनरूप दर्शन के अभाव का अन्तर्भाव अज्ञान परीषह में हो जाता है। लेकिन श्रद्धान का अन्तर्भाव प्रज्ञा में नहीं हो सकता क्योंकि क्षयोपशमज्ञानरूप प्रज्ञा के सद्भाव में भी तत्त्वार्थश्रद्धान का अभाव हो सकता है।[267]

अधिक समय तक कठोर तपश्चरण करने पर भी मुझे अवधिज्ञान तथा चारणऋद्धि आदि की प्राप्ति नहीं हुई, इसलिए तपश्चरण आदि धारण करना व्यर्थ है – ऐसी अश्रद्धा का भाव नहीं होने देना, **अदर्शन परीषहजय** है।[268]

'परम वैराग्य की भावना से जिनका हृदय पवित्र है, जिन्होंने समस्त पदार्थों के रहस्य को जान लिया है, अरहन्त, सिद्ध, साधु, आयतन और धर्म का उपासक हूँ, चिरकाल से प्रव्रजित हूँ, तो भी मेरे ज्ञानातिशय आदि उत्पन्न नहीं हुए हैं' – ऐसे विचारपूर्वक प्रव्रज्या, व्रत आदि के आनर्थक्य का विचार नहीं आने देना, **अदर्शन परीषहजय** कहलाता है।[269]

परीषह और कायक्लेश में अन्तर

जो अपने आप प्राप्त होता है, वह परीषह है और जो स्वयं किया जाता है, वह कायक्लेश है – यही दोनों में अन्तर है।[270]

परीषहों के कारणभूत कर्म[271]

- ''**ज्ञानावरण** कर्म के सद्भाव में **प्रज्ञा** और **अज्ञान परीषह** होते हैं।

- **दर्शनमोहनीय** कर्म के सद्भाव में **अदर्शन परीषह** होता है।
- **लाभान्तराय** कर्म के सद्भाव में **अलाभ परीषह** होता है।
- **चारित्रमोहनीय** कर्म के सद्भाव में **नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना** और **सत्कार-पुरस्कार परीषह** होते हैं।
- **असातावेदनीय** कर्म के सद्भाव में बाकी के **क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, शय्या, चर्या, वध, रोग, तृणस्पर्श** और **मल परीषह** होते हैं।''

एक जीव में एक साथ कितने परीषह[272]

- ''एक साथ एक जीव में उन्नीस परीषह तक विकल्प से हो सकते हैं।
- एक जीव में एक साथ शीत और उष्ण परीषह में से एक हो सकता है।
- एक जीव में एक साथ शय्या, निषद्या और चर्या परीषह में से एक हो सकता है।''

गुणस्थान आरोहण के क्रम में कौन-कौनसे परीषह सम्भव[273]

- मिथ्यात्व से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक सात गुणस्थानों में सब परीषह हो सकते हैं।
- आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में अदर्शन को छोड़ कर बाकी के इक्कीस परीषह हो सकते हैं।
- नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अदर्शन और अरति को छोड़ कर बाकी के बीस परीषह हो सकते हैं।
- इसी नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में जब वेद का उपशम अथवा क्षय हो जाता है तो अदर्शन, अरति और स्त्री को छोड़ कर बाकी के उन्नीस परीषह हो सकते हैं।
- इसी नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में आगे चल कर, जब मानकषाय का उपशम अथवा क्षय हो जाता है तो अदर्शन, अरति, स्त्री के साथ नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार को छोड़ कर बाकी के चौदह परीषह हो सकते हैं।
- दशवें सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में मोह अर्थात् संज्वलन लोभ का उदय अत्यन्त मन्द है, सूक्ष्म है, अत्यल्प है, नाममात्र है; इसीलिए वहाँ मोहनीय कर्म निमित्तक आठ परीषहों का अभाव कहा है।[274]
- उक्त चौदह परीषह, नौवें गुणस्थान के इस भाग से लेकर बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में रह सकते हैं। ध्यान रहे कि इन गुणस्थानों में ये परीषह अत्यल्प मात्रा में ही रहते हैं, सुख देने वाले ही होते हैं, दुःख देने वाले नहीं होते।
- बारहवें गुणस्थान के अन्त में जब घाति कर्मों का नाश हो जाता है, तब उन केवली भगवान के प्रज्ञा, अज्ञान और अलाभ परीषह भी नष्ट हो जाते हैं।
- ग्यारहवें गुणस्थान के ऊपर कोई भी परीषह मोहनीय के अभाव में वेदना देने वाले नहीं हैं, मात्र शक्ति-सामर्थ्य की अपेक्षा उनकी विद्यमानता होती है।
- केवली भगवान के वेदनीय कर्म निमित्तक ग्यारह परीषह उपचार से कहलाते हैं अथवा **'एकादश जिने'** – इस सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका के अनुसार **'न सन्ति'** इतना वाक्यांश और सूत्र में जोड़ लेना चाहिए अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के कथित ग्यारह परीषह नहीं होते क्योंकि उनके घाति कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाने से अनन्त सुख होता है, इसलिए परीषह दुःख देने में समर्थ नहीं होते।[275]

इस प्रकार सम्पूर्ण परीषहजय विवेचन का तात्पर्य यह है कि मुक्तिमार्ग के साधक वीतरागी सन्तों की अन्तर पवित्रता तो सर्वोत्कृष्ट है ही, साथ ही उनका बाह्य जीवन भी वीतरागता का जीवन्त आदर्श होता है। वे परीषहों की विविधरूपा परिस्थितियों में भी स्वरूप-साधना में मेरुवत् अचल रहते हैं। आचार्य सकलकीर्ति मूलाचार प्रदीप में प्रेरणा देते हुए लिखते हैं –

''ये समस्त परीषह कर्मों के उदय से उत्पन्न होते हैं, इसलिए मुनियों को अपने कर्म नष्ट करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान और अध्ययन आदि कार्यों के द्वारा परीषहों को अवश्य सहन करना चाहिए।

अपने चारित्र में अचल रहने वाले जो मुनिराज मोक्षमार्गरूपी घोर युद्ध में चारित्ररूपी धनुष पर श्रेष्ठ तपरूपी बाण चढ़ा कर परीषहरूपी योद्धाओं को जीत लेते हैं, उनके समस्त कर्म, पंचेन्द्रियरूपी चोरों

के साथ साथ अवश्य नष्ट हो जाते हैं और बहुत ही शीघ्र मोक्षलक्ष्मी के साथ साथ उनको तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है।

जो कायर मुनि, परीषहरूपी योद्धाओं से डर कर भाग जाते हैं; वे उस चारित्ररूपी युद्ध में अपकीर्ति को प्राप्त करते हैं, वे अपने स्वजन और साधुओं के मध्य हँसी के पात्र बनते हैं तथा परलोक में पापकर्म के उदय से चारों गतियों के समस्त महादुःख प्राप्त करते हैं।

ऐसा समझ कर बुद्धिमान् मुनियों को मुक्तिरूपी साम्राज्य सिद्ध करने के लिए अपनी धैर्यरूपी तलवार से अपने शत्रुओं के समान इन समस्त परीषहों को सदा के लिए जीत लेना चाहिए।[276]

पंचाचार

सामान्यतः सिद्धान्तों, आदर्शों या विधिविधान का व्यावहारिक प्रयोगात्मक अथवा क्रियात्मक पक्ष आचार कहलाता है। जैन दृष्टि में अपनी शक्ति के अनुसार निर्मल किये गये सम्यग्दर्शन आदि में जो यत्न किया जाता है, उसे आचार कहते हैं।[277] आचार के पाँच भेद हैं – दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। कहा भी है – **समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे।** पाँचों प्रकार के आचारों के निश्चय-व्यवहारनयात्मक स्वरूप का विवेचन प्रवचनसार की मंगलाचरणसूचक गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति टीका में किया गया है। जो श्रमण भूमिका में तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक प्राप्त होने वाली शुद्ध परिणति के साथ परमचैतन्यमात्र निजपरमात्मतत्त्व की सर्व प्रकार से रुचिरूप दर्शनाचार, परिच्छित्तिरूप ज्ञानाचार, निश्चल अनुभूतिरूप चारित्राचार, समस्त परद्रव्यों की इच्छा की निवृत्तिरूप तपाचार, और अपनी शक्ति को नहीं छिपानेरूप वीर्याचार होता है, वह निश्चय पंचाचार कहलाता है। तथा जो बाह्य आचार के सूचक चरणानुयोग के ग्रन्थों में वर्णित उक्त वर्णित एवं निश्चय पंचाचार का साधक शुभराग होता है, वह व्यवहार पंचाचार कहलाता है।[278] इनका पृथक् पृथक् संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है –

1. **दर्शनाचार** – सम्यग्दर्शन विषयक आचरण अर्थात् शंका, कांक्षा आदि दोषों से रहित तत्त्वश्रद्धानरूप विषयों में किया गया प्रयत्न **दर्शनाचार** है।[279]

   जो चिदानन्दरूप एकस्वभावी शुद्धात्मतत्त्व है, वही सब प्रकार से उपादेय आराधने योग्य है; उससे भिन्न जो परवस्तुएँ हैं, वे सब त्याज्य हैं – ऐसी चंचलतारहित निर्मल गाढ़ दृढ़ प्रतीतिरूप परम श्रद्धा सम्यक्त्व है तथा उसका आचरण अर्थात् उसस्वरूप परिणमन करना, **निश्चय दर्शनाचार** है।[280]

   दर्शनाचार के आठ भेद करते हुए सम्यक्त्व के निःशंकित आदि आठ अंगों का समावेश किया जाता है।[281] इसके साथ उसके अविनाभावी पच्चीस दोषों एवं सात भयों से रहितपना, तथा प्रशमादि चार गुणों को भी इसी दर्शनाचार के अन्तर्गत समाविष्ट किया जाता है।[282] आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी दर्शनाचार को चारित्रपाहुड़ में **सम्यक्त्वाचरण चारित्र** से सम्बोधित किया है।[283] चार विनय के प्रकरण में इसे दर्शन विनय से निरूपित किया है। यद्यपि उक्त सभी पर्यायवाचियों के यत्किंचित् अन्तर भी किया जा सकता है।

2. **ज्ञानाचार** – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल – इन पाँच ज्ञानों की उत्पत्ति के कारणभूत शास्त्रों का अध्ययन आदि करना, **ज्ञानाचार** है।[284]

   निज स्वरूप में संशय-विमोह-विभ्रम रहित स्वसंवेदन ज्ञानरूप ग्राहक-बुद्धि सम्यग्ज्ञान है, उसका आचरण अर्थात् उसरूप परिणमन करना, **निश्चय ज्ञानाचार** है।[285]

   ज्ञानाचार के आठ भेद – काल ज्ञानाचार, विनय ज्ञानाचार, उपधान ज्ञानाचार, बहुमान ज्ञानाचार, अनिह्नव ज्ञानाचार, व्यंजन ज्ञानाचार, अर्थ ज्ञानाचार और तदुभय ज्ञानाचार – इनकी शुद्धिपूर्वक ज्ञान का अभ्यास, **ज्ञानाचार** है।[286]

- स्वाध्याय की बेला में सम्यक् शास्त्र का पढ़ना, पढ़े हुए को फेरना, व्याख्यान आदि कार्य **काल ज्ञानाचार** है।
- मन, वचन और काय के निर्मल परिणामों से युक्त होकर श्रुत का पठन-पाठन, व्याख्यान आदि करना, **विनय ज्ञानाचार** है।
- शास्त्र-अध्ययन आदि के समय रसपरित्याग आदि तप करना, **उपधान ज्ञानाचार** है।

- श्रुतपूजा एवं सत्कारपूर्वक शास्त्रपठन आदि कार्य करना, **बहुमान ज्ञानाचार** है।
- विद्यागुरु, आचार्य आदि का नाम नहीं छिपाना अथवा श्रुत को प्रगट करना, **अनिह्नव ज्ञानाचार** है।
- सूत्र के वर्ण, पद, वाक्यों का व्याकरण से शुद्ध उच्चारण करना, **व्यंजन ज्ञानाचार** है।
- सूत्र का अनेकान्तात्मकता के साथ अर्थ करना, **अर्थ ज्ञानाचार** है।
- व्यंजनशुद्धि और अर्थशुद्धि दोनों के साथ शास्त्र का अध्ययन करना, **तदुभय ज्ञानाचार** है।

उक्त आठ प्रकार के ज्ञानाचारों के साथ अध्ययन करने से मनुष्य की निर्मल कीर्ति तीनों लोक में फैल जाती है, प्रभुत्व आ जाता है, समस्त कलाएँ प्राप्त होती हैं, विज्ञान आदि गुणों के समूह प्रगट होते हैं, उत्कृष्ट विवेकशीलता आ जाती है, उपशम आदि परम गुण अपने आप आ जाते हैं, तीर्थंकर, इन्द्र आदि पूज्य पद प्राप्त हो जाते हैं, तीनों लोक हाथ की रेखा के समान स्पष्ट दिखाई देता है, हेयोपादेय आदि समस्त तत्त्वों को वह ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान से जान लेता है – ऐसा ज्ञानी पुरुष, ज्ञानरूपी जहाज के माध्यम से अन्य पुरुषों को भी संसार समुद्र से पार ले जा सकता है।[287]

3. **चारित्राचार** – प्राणिवध से निवृत्ति तथा इन्द्रियजय में प्रवृत्तिरूप चारित्रगुणयुक्त होना, चारित्राचार कहलाता है।[288]

उत्कृष्ट चैतन्यमात्र अपने शुद्ध आत्मतत्त्व की रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित, स्वाभाविक सुखास्वाद सहित निश्चल अनुभूतिरूप वीतरागचारित्र होता है, उसमें आचरण या परिणमन करना, **निश्चय चारित्राचार** है।[289]

चारित्राचार के कुल तेरह भेद कहे गये हैं – पाँच महाव्रत, पाँच समिति, और तीन गुप्ति। इनका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया गया है। चारित्रविनय से चारित्राचार की विशेष शुद्धि होती है। तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित व्रतों की भावनाएँ चारित्राचार को निर्मल करती हैं, अतः उनकी अवश्य भावना करनी चाहिए।[290]

जिनका आत्मा इस चारित्राचार से सुशोभित है, उन मुनियों के चरणकमलों को तीनों लोकों के इन्द्र सेवक के समान प्रसन्नतापूर्वक मस्तक नवाकर प्रतिदिन नमस्कार करते हैं। इस चारित्र के बिना उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन और उत्कृष्ट ज्ञान भी मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ नहीं हो सकते। धन्य हैं वे महामुनि! जिन्होंने स्वप्न में भी अपने चारित्र को मलिन नहीं किया। वास्तव में उनका जीवन ही धन्य है।[291]

4. **तपाचार** – कायक्लेश आदिरूप बारह प्रकार के तपों में कुशल एवं अग्लान रहना तथा उत्साहपूर्वक इन तपों का अनुष्ठान करना, **तपाचार** है।[292]

समस्त परद्रव्यों की इच्छा रोकने से तथा अनशन आदि बारह तपरूप बहिरंग सहकारी कारणों निजस्वरूप में प्रतपन करना, विजयन करना, निश्चय तप है; उसमें आचरण या परिणमन करना **निश्चय तपाचार** है।[293]

तपाचार के बाह्य और अभ्यन्तर की अपेक्षा छह छह भेद जिनागम में वर्णित हैं। इनका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया गया है। विशेष क्या कहें – मोक्ष की इच्छा करने वाले जो पुरुष, आज तक मोक्ष गये हैं, अब जा रहे हैं, और आगे जायेंगे; वे सब तपश्चरण से ही कर्मरूप शत्रुओं को नाश करके मोक्ष गये हैं और जायेंगे। बिना तप के न तो कोई मोक्ष गया है और न कभी जा सकता है।[294]

5. **वीर्याचार** – अपने बल-वीर्य को न छिपा कर, जो मुनि यथोक्त विषय में यथास्थान अपनी आत्मा को लगाना, वीर्याचार है। बल, वीर्य, शक्ति, पराक्रम, और धृतिबल – इन पाँच के आश्रय से जो आचरण किया जाता है, उसे वीर्याचार कहते हैं।[295]

उक्त चार प्रकार के निश्चय आचारों की रक्षा के लिए अपनी शक्ति को नहीं छिपाना, शुद्धात्मस्वरूप में अपनी शक्ति को प्रगट करना, निश्चय वीर्याचार है।[296]

वीर्याचार के पृथक् से भेद नहीं किये गये हैं, बल्कि दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार और तपाचार के भेद-प्रभेदों के माध्यम से ही वीर्याचार के भेद किये जा सकते हैं। मूलाचार में कहा भी है कि आहार, औषधि आदि से उत्पन्न बल-वीर्य को न छिपा कर, उसका उपयोग प्राणिसंयम, इन्द्रियसंयम का पालन करते हुए तपश्चरण आदि में प्रतिसेवा, प्रतिश्रवण और संवास – इन तीन अनुमति दोष रहित यथोक्त चारित्र में अपनी आत्मा को युक्त करना, वीर्याचार है।

वहीं इन तीन अनुमति दोषों का संक्षिप्त स्वरूप[297] निम्न प्रकार से वर्णित किया गया है –

- **प्रतिसेवा** – पात्र के उद्देश्य से लाई हुई आहारादि सामग्री का सेवन एवं ग्रहण करना, **प्रथम प्रतिसेवा अनुमति दोष** है।
- **प्रतिश्रवण** – दाता के द्वारा उद्देश्य की सूचना देने पर यदि आहार आदि या अन्य उपकरण ग्रहण करता है या ग्रहण करने के बाद अपने को लक्ष्य कर लाई हुई सामग्री का ज्ञान होने पर भी कुछ नहीं बोलता या उसका त्याग नहीं करता, वह **द्वितीय प्रतिश्रवण अनुमति दोष** है।
- **संवास** – सावद्य से ममत्ववश संक्लेश परिणाम उत्पन्न होना अर्थात् गृहस्थ के साथ सदा सम्बन्ध रखते हुए उपकरण आदि से ममत्वभाव रखना, **तृतीय संवास अनुमति दोष** है।

शीलगुण

सामान्यतः शील का अर्थ स्वभाव या प्रकृति होता है। यहाँ मुनिराज के उत्तरगुणों के प्रकरण में जिनके द्वारा अहिंसादि महाव्रतों की रक्षा की जाती है, पंचेन्द्रिय विषयों से विरक्त होते हैं, वे शीलगुण कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप आदि सब शील के परिवार हैं। शील पाहुड़ में कहा है कि शील ही विशुद्ध निर्मल तप है, शील ही दर्शन की शुद्धता है, शील ही ज्ञान की शुद्धता है, शील ही विषयों का शत्रु है, शील ही मोक्ष की सीढ़ी है।[298]

मूलाचार में शील के अठारह हजार भेदों की चर्चा करते हुए कहा है –

जोए करणे सण्णा, इन्दिय भोम्मादि खमणधम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था, अट्ठारहसीलसहस्साहं।। 11/2।।

अर्थात् तीन योग (3), तीन करण (3), चार संज्ञा (4), पाँच इन्द्रिय (5), दश पृथ्वीकाय आदि जीव (10) और दश क्षमा आदि धर्म (10) – इनका परस्पर गुणन करने से शील के अठारह हजार (18000) भेद होते हैं।

इसी प्रकार शास्त्रों में **शील के चौरासी लाख भेद** भी किये गये हैं – हिंसादिक 21 दोष (21), अतिक्रम आदि चार दोष (4), पृश्वीकायादि जीवों के दश भेद (10) संयम के दश भेद (10), अब्रह्म के दश भेद (10), आलोचना के दश भेद (10), शुद्धि (प्रायश्चित्त) के दश भेद (10) – इस सब का परस्पर गुणा करने पर चौरासी लाख गुण सिद्ध होते हैं।

हिंसादिक इक्कीस दोष – 1. प्राणिवध, 2. मृषावाद, 3. अदत्तग्रहण, 4. मैथुन, 5. परिग्रह, 6.क्रोध, 7. मान, 8. माया, 9. लोभ, 10. रति, 11. अरति, 12. भय, 13. जुगुप्सा, 14. मनोपापक्रिया, 15. वचनपापक्रिया, 16. कायपापक्रिया, 17. मिथ्यादर्शन, 18. प्रमाद, 19. पैशून्य, 20 अज्ञान और 21. इन्द्रियनिग्रह।

अतिक्रम आदि चार दोष – 1. अतिक्रम, 2. व्यतिक्रम, 3. अतिचार और 4. अनाचार।

अब्रह्म या शील विराधना के दश दोष – 1. स्त्रीसंसर्ग, 2. प्रणीतरसभोजन, 3. गन्धमाल्यसंस्पर्श, 4. शयनासन, 5. आभूषण, 6. गीतवादित्र, 7. अर्थसम्प्रयोग, 8. कुशीलसंसर्ग, 9. राजसेवा, और 10. रात्रिसंचरण।

आलोचना के दश दोष – 1. आकम्पित, 2. अनुमानित, 3. दृष्ट, 4. बादर, 5. सूक्ष्म, 6. छन्न, 7. शब्दाकुलित, 8. बहुजन, 9. अव्यक्त, और 10. तत्सेवी।

शुद्धि (प्रायश्चित्त) के दश भेद – 1. आलोचना, 2. प्रतिक्रमण, 3. तदुभय, 4. विवेक, 5. व्युत्सर्ग, 6. तप, 7. छेद, 8. मूल, 9. परिहार और 10. श्रद्धान।

इस प्रकार मुनिराज के उत्तरगुणों के अन्तर्गत बारह तप, बारह भावनाएँ, दश धर्म, बाईस परीषहजय, पंचाचार, शील के अठारह हजार या चौरासी लाख भेद – इन सबका यथासम्भव वर्णन यहाँ पूर्णता को प्राप्त होता है। आशा है पाठक इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री से आचरण की सुस्थिति[299]

आचार्य कुन्दकुन्ददेव, प्रवचनसार ग्रन्थ की गाथा 230 में लिखते हैं – ''बाल, वृद्ध, थके हुए या रोगी श्रमणों को, जैसे मूल का उच्छेद न हो, उस प्रकार अपने योग्य आचरण आचरना चाहिए'' (जब साधु, उपवास आदि करता है, तब उसे श्रम करने से **थकने** या **रोगी** आदि होने का प्रसंग बनता है तथा **बाल, वृद्ध** आदि शरीर की अवस्थाएँ होती हैं)।

इस गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन ने **उत्सर्ग आचरण, अपवाद आचरण, अपवादसापेक्ष उत्सर्ग आचरण** और **उत्सर्गसापेक्ष अपवाद आचरण** की विस्तृत चर्चा की है –

1. उत्सर्ग आचरण – बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान श्रमण को भी शुद्धात्मतत्त्व के साधक मूलभूत संयम में जिस प्रकार छेद न हो, उस प्रकार अपने योग्य अति कठोर आचरण ही आचरना; यह **उत्सर्ग आचरण** है। **अथवा** स्वशुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य सर्व बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़ना, यह **उत्सर्ग आचरण** है। इसके अन्य भी अनेक नाम हैं; जैसे, निश्चयचारित्र, सर्वपरित्याग, परमोपेक्षासंयम, वीतरागचारित्र, शुद्धोपयोग आदि।

2. अपवाद आचरण – बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान श्रमण को शुद्धात्मतत्त्व के साधक मूलभूत संयम के साधन शरीर का जिस प्रकार छेद न हो, उस प्रकार अपने योग्य मृदु आचरण ही आचरना; यह **अपवाद आचरण** है। **अथवा** उत्सर्ग आचरण में असमर्थ पुरुष, जो शुद्धात्मभावना का सहकारी कुछ प्रासुक आहार, ज्ञानोपकरणस्वरूप शास्त्र आदि ग्रहण करता है, वह **अपवाद आचरण** है। इसके अन्य भी अनेक नाम हैं; जैसे, व्यवहारचारित्र, एकदेशपरित्याग, अपहृतसंयम, सरागचारित्र, शुभोपयोग आदि।

3. अपवादसापेक्ष उत्सर्ग आचरण – बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान श्रमण को भी शुद्धात्मतत्त्व के साधक मूलभूत संयम में जिस प्रकार छेद न हो, उस प्रकार अपने योग्य अति कठोर आचरण आचरते हुए, शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम के साधन शरीर का जिस प्रकार छेद न हो, उस प्रकार अपने योग्य मृदु आचरण भी आचरना; इस प्रकार **अपवादसहित उत्सर्ग आचरण** है। **अथवा** शुद्धात्मभावना के लिए सर्वत्याग लक्षण वाले उत्सर्ग अर्थात् कठोर आचरण में प्रवर्तमान तपस्वी, जब शुद्धात्मतत्त्व के साधक मूलभूत संयम एवं संयम के साधक मूलभूत शरीर का जिस प्रकार छेद या विनाश न हो, उस प्रकार कुछ प्रासुक आहार, ज्ञानोपकरण शास्त्र आदि का ग्रहण करते हैं, यह **अपवादसापेक्ष उत्सर्ग आचरण** है।

4. उत्सर्गसापेक्ष अपवाद आचरण – बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान श्रमण को शुद्धात्मतत्त्व के साधक मूलभूत संयम के साधन शरीर का जिस प्रकार छेद न हो, उस प्रकार अपने योग्य मृदु आचरण आचरते हुए, शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का जिस प्रकार छेद न हो, उस प्रकार अपने योग्य कठोर आचरण भी आचरना; इस प्रकार **उत्सर्गसहित अपवाद आचरण** है। **अथवा** जब श्रमण, अपवादलक्षण वाले अपहृतसंयम में प्रवर्तते हैं, तब भी शुद्धात्मतत्त्व के साधक मूलभूत संयम एवं संयम के साधक मूलभूत शरीर का जिस प्रकार छेद या विनाश न हो, उस प्रकार प्रवर्तत हुए भी संयम की विराधना नहीं करते हैं; यह **उत्सर्गसापेक्ष अपवाद आचरण** है।

इस प्रकार सर्व प्रकार से **उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री** द्वारा **आचरण का सुस्थितपना** करना चाहिए।

उत्सर्ग और अपवाद की अमैत्री से आचरण की दुर्दशा[300]

आचार्य कुन्दकुन्ददेव, प्रवचनसार ग्रन्थ की गाथा 231 में लिखते हैं – ''यदि श्रमण, आहार अथवा विहार में देश, काल, श्रम, क्षमता, तथा उपधि को जान कर प्रवर्तता है तो वह अल्पलेपी होता है।''

इस गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन ने **उत्सर्ग और अपवाद की अमैत्री की निकृष्टता** का प्रतिपादन किया है –

1. उत्सर्ग आचरण का एकान्त – यदि देश-कालज्ञ साधु भी बाल, वृद्ध, थकित, रोगी आदि होने पर यह विचार करता है कि आहार-विहार में मृदु आचरण करने पर **अल्प लेप होता ही है**, अतः उत्सर्ग आचरण अच्छा है; यह **उत्सर्ग आचरण का एकान्त** है। इस तरह यदि अपवाद के आश्रय से होने वाले अल्प लेप या बन्ध के भय से, उत्सर्ग का हठ करके यदि औषधिसेवन, पथ्यसेवन आदि अपवाद में प्रवृत्ति न करे और अति कर्कश आचरणरूप होकर, आर्तध्यानरूप संक्लेश के कारण अक्रम से शरीरत्याग करके पूर्वकृत पुण्य से देवलोक में उत्पन्न होता है, परन्तु वहाँ सम्पूर्णरूप से संयम एवं तप के अभाव में महान लेप या बन्ध होता है; इसलिए **अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग** भी श्रेयस्कर नहीं है।

2. अपवाद आचरण का एकान्त – यदि देश-कालज्ञ साधु भी बाल, वृद्ध, थकित, रोगी आदि होने पर यह विचार करता है कि आहार-विहार में मृदु आचरण करने पर **अल्प ही लेप होता है,** अतः अपवाद आचरण अच्छा है; यह **अपवाद आचरण का एकान्त** है। इस तरह अपवाद आचरण से होने वाले अल्प लेप को नहीं गिन कर, उस अपवाद में यथेष्ट प्रवृत्ति करे अर्थात् औषधिसेवन, पथ्यसेवन आदि उपचारों को न करके इन्द्रियसुखों में ही लम्पटता से प्रवृत्ति करके, अथवा उक्त उपचारों को करके भी शुद्धात्मभावनारूप उत्सर्गस्वरूप ध्येय को चूक कर, असंयतजन के समान आचरण करने के कारण तप का अवकाश ही नहीं रहने के कारण महान लेप होता है; इसलिए **उत्सर्ग रहित अपवाद** भी श्रेयस्कर नहीं है।

इस प्रकार उत्सर्ग और अपवाद के विरोध से होने वाला आचरण का दुःस्थितपना सर्वथा त्याज्य है; परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवाद से जिसकी सिद्धि होती है – ऐसा स्याद्वाद ही सर्वथा स्वीकार करने योग्य है; जिसमें हठ भी न हो और शिथिलता भी न हो। सर्वज्ञ भगवान का मार्ग अनेकान्त है। अपनी दशा की जाँच करके जैसे भी लाभ हो, उस प्रकार से वर्तन करने का भगवान का उपदेश है।

श्रामण्य अर्थात् मोक्षमार्ग की एकाग्रता : पदार्थों का निश्चय : आगम का अध्ययन[301]

''श्रमण, वास्तव में एकाग्रता को प्राप्त होता ही है क्योंकि एक आत्मा में श्रद्धान-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की एकाग्रता के बिना शुद्धात्मतत्त्व-प्रवृत्तिरूप श्रामण्य ही नहीं होता। श्रमण, एकाग्रता लक्षणवाले मोक्षमार्ग पर आरोहण करता है, उसकी एकाग्रता का कारण पदार्थों का निश्चय है, पदार्थों का निश्चय आगम के द्वारा ही होता है क्योंकि आगम ही समस्त पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से गम्भीर है; इसलिए **आगमचेट्ठा तदो चेट्ठा** अर्थात् आगम-परमागम में चेष्टा करना ही श्रमणों का प्रमुख धर्म है, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

चूंकि आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं होता, पदार्थों के निश्चय के बिना अश्रद्धाजनित तरलता, परकर्तृत्व की अभिलाषाजनित क्षोभ और परभोक्तृत्व की अभिलाषाजनित अस्थिरता के कारण एकाग्रता नहीं होती। मोक्षमार्ग की एकाग्रता, पदार्थों का निश्चय करने वाले को ही होती है क्योंकि अनिश्चयी जीव को ज्ञान द्वारा निश्चय करने की इच्छा, पदार्थों को करने की इच्छा व पदार्थों को भोगने की इच्छा होती रहती है और एकाग्रता के बिना एक आत्मा में श्रद्धान-ज्ञान-वर्तनरूप शुद्धात्मप्रवृत्ति नहीं होने से मुनिपना भी नहीं माना जा सकता; इसलिए मोक्षार्थी का प्रधान कर्तव्य शब्दब्रह्मरूप आगम में प्रवीणता प्राप्त करना है।

आगमहीन साधु को परात्मज्ञान अर्थात् पर और आत्मा का भेदज्ञान और परमात्मज्ञान अर्थात् 'मैं परमात्म-स्वभावी परम आत्मा हूँ' – ऐसा विशेष ज्ञान, नहीं होने से मोह का अभाव नहीं होने के कारण ज्ञप्तिपरिवर्तन का अभाव नहीं होने से एकाग्रता सिद्ध नहीं होती; अतः मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधु के लिए आगम ही एकमात्र चक्षु है। जैसे, सम्पूर्ण जगत् के प्राणी, इन्द्रिय चक्षुवाले हैं; देव, अवधि चक्षुवाले हैं और सिद्ध सर्वतः चक्षु हैं; उसी प्रकार साधु आगमचक्षु (**आगमचक्खू साहू**)कहलाते हैं। चूंकि जगत् के समस्त पदार्थ विचित्र गुणपर्याय वाले प्रतीत होते हैं – ऐसा ही आगम से भी सिद्ध होता है, तथा ऐसा ही साधु के श्रुतज्ञानोपयोग में प्रतिभासित होता है, इस प्रकार उनके ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध होती है; इस प्रकार साधु के लिए कुछ भी अदृश्य नहीं है। इस लोक में जिसकी दृष्टि, आगम के अनुसार नहीं है, उसके संयतपना भी सम्भव नहीं है तथा जो असंयत है, वह साधु या श्रमण कैसे हो सकता है ? इस प्रकार आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व के युगपत्पने में ही मोक्षमार्ग बन सकता है। लेकिन यहाँ यह ध्यान रहे कि इन तीनों का युगपत्पना होने पर भी यदि आत्मज्ञान नहीं हो तो मोक्षमार्ग नहीं होता; बल्कि आत्मज्ञान के बिना ये तीनों अकिंचित्कर माने गये हैं; अतः मोक्षमार्ग में उक्त तीनों के साथ आत्मज्ञान को ही साधकतम कारण माना है। प्रवचनसार में कहा भी है –

जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्सासमेत्तेण।। 238।।

अर्थात् जो कर्म, अज्ञानी लाखों करोड़ों भवों में खिराता है, नष्ट करता है; वह कर्म, ज्ञानी साधु आत्मलीनतारूप त्रिगुप्ति के माध्यम से उच्छ्वासमात्र में खेल खेल में नष्ट कर देता है।

ऐसे साधु का लक्षण बताते हुए वहाँ कहा है कि जिसे शत्रु और मित्र समान है, सुख और दुःख समान है, निन्दा और प्रशंसा समान है, मिट्टी और सोना समान है, जीवन और मरण समान है; वही श्रमण है। जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीनों में एक ही साथ आरूढ़ है, वही एकाग्रता को प्राप्त है; उसी का श्रामण्य परिपूर्ण है।''

मुनिराजों का तेरह प्रकार का चारित्र

मुनिराजों का चारित्र तेरह प्रकार का माना गया है, परन्तु उसमें अट्ठाईस मूलगुणों में समागत **पाँच महाव्रत और पाँच समितियों** का समावेश हो जाता है, इनके अलावा विशेषरूप से तीन गुप्तियों को उसमें स्थान दिया गया है।

तीन गुप्तियाँ

सर्वार्थसिद्धि में लिखा है – जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन अर्थात् रक्षा होती है, वह **गुप्ति** है।[302]

आचार्य जयसेन लिखते हैं – निश्चय से स्वरूप में गुप्त या परिणत होना ही **त्रिगुप्तिगुप्त** होना है।[303] शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व अनुष्ठान ही **त्रिगुप्ति** है।[304]

आचार्य जयसेन के मन्तव्य को ही अनगार धर्मामृत में इस प्रकार व्यक्त किया गया है – मिथ्यादर्शन आदि जो आत्मा के प्रतिपक्षी, उनसे रत्नत्रयस्वरूप अपनी आत्मा को सुरक्षित रखने के लिए ख्याति, लाभ आदि विषयों में स्पृहा (इच्छा) नहीं रखना, **गुप्ति** है।[305]

अर्थ-प्रकाशिका में कहा है – ''संसार-परिभ्रमण के कारणों से आत्मा की रक्षा करना, गुप्ति है। **सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः** अर्थात् सम्यक् प्रकार से मन-वचन-कायरूप योगों की क्रियारूप यथेष्ट आचरण का रोकना, **गुप्ति** है।''[306]

छहढाला की वचनिका में श्री रामजीभाई दोशी लिखते हैं – ''भावलिंगी मुनि, जब उग्र पुरुषार्थ द्वारा शुद्धोपयोगरूप परिणमित होकर, निर्विकल्परूप में स्वरूप में गुप्त होते हैं, वह **निश्चय गुप्ति** है।''[307]

मोक्षमार्ग प्रकाशक में आता है – ''बाह्य मन-वचन-काय की चेष्टा मिटाये, पाप-चिन्तवन न करे, मौन धारण करे, गमनादिक न करे, उसे वह गुप्ति मानता है; सो यहाँ तो मन में भक्तिरूप प्रशस्त राग से नाना विकल्प होते हैं, मन-वचन-काय की चेष्टा स्वयं ने रोक रखी है, वहाँ शुभ प्रवृत्ति है, परन्तु प्रवृत्ति में गुप्तिपना बनता नहीं है।''[308]

''छठवें गुणस्थानवर्ती साधु के शुभभावरूप गुप्ति भी होती है, इसे **व्यवहार गुप्ति** कहते हैं, किन्तु वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। वह शुभ विकल्प हैं, इसलिए ज्ञानी उसे हेय समझते हैं क्योंकि इससे बन्ध होता है, इसे दूर कर साधु निर्विकल्प दशा में स्थिर होते हैं, इस स्थिरता को **निश्चय गुप्ति** कहते हैं। यह निश्चय गुप्ति, संवर का सच्चा कारण है।''[309]

प्राणी-संयम के सत्रह या चौदह भेद

(1–5) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति – ये पाँच स्थावरकाय जीवों की रक्षा तथा (6–9) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय – ये चार त्रसकाय जीवों की रक्षा, और (10) अजीवकाय की रक्षा (11) प्रतिलेख संयम, (12) दुःप्रतिलेख संयम, (13) उपेक्षा संयम, (14) अपहरण संयम और (15–17) मन-वचन-काय का संयम – इस प्रकार कुल सत्रह प्रकार का प्राणी संयम है।''[310]

उक्त सत्रह प्रकार के संयमों में से पाँच स्थावरकाय के जीवों की रक्षा, चार त्रसकाय के जीवों की रक्षा एवं तीन मन-वचन-काय से सम्बन्धित हैं; तथा शेष **पाँच प्रकार के विशेष संयमों की व्याख्या** मूलाचार आचारवृत्ति में इस प्रकार की गई है –

- सूखे तृण आदि का छेदन न करना, **अजीवकाय संयम** है।
- शास्त्र आदि वस्तु को चक्षु से देख कर, उनका और उनके स्थानों का पिच्छी के द्वारा प्रतिलेख करना, **प्रतिलेख संयम** कहलाता है।
- इन्हीं शास्त्रादि द्रव्य का और उनके स्थानों का ठीक से प्रमार्जन करना, यत्नपूर्वक प्रमाद के बिना प्रतिलेखन करना, **दुःप्रतिलेख संयम** है।
- सम्मूर्च्छन आदि जीवों को देख कर, उपकरण आदि की उपेक्षा नहीं करना, प्रतिदिन निरीक्षण करना, पिच्छिका से उनका परिमार्जन करना, **उपेक्षा संयम** है।
- उपकरणों से द्वीन्द्रिय आदि जीवों को दूर करना, उन्हें निकाल कर, सुरक्षित स्थान पर डालना, **अपहरण संयम** है।''[311]

इसी प्रकार चौदह प्रकार के जीव-समासों की रक्षा करने की अपेक्षा **प्राणी-संयम के चौदह भेद** कहे जाते हैं।[312]

यहाँ यह **शंका** उपस्थित की जा सकती है कि जब कोई जीव, किसी अन्य जीव को मार या बचा नहीं सकता, सुखी-दुःखी नहीं कर सकता, परजीवों को मारने-बचाने का अभिप्राय मिथ्यादर्शन है – ऐसा

समयसार के बन्ध अधिकार में कहा है तो यहाँ जो प्राणी-संयम के अन्तर्गत परजीवों की रक्षा करने की बात कही जा रही है; उसका सामंजस्य कैसे बिठाया जाए? उक्त दोनों कथनों में से किसे सत्य माना जाए?

इसका **समाधान** यह है कि आचार्यों में कोई पारस्परिक मतभेद नहीं है, हाँ ! उनके कथनों में परस्पर विवक्षा-भेद अवश्य है। जिनागम के इन विवक्षा-भेदों को समझना आवश्यक है। समयसार का उक्त कथन वस्तु-व्यवस्था एवं कर्म-सिद्धान्त पर आधारित है क्योंकि विश्व का प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है और अपने सभी प्रकार के परिणमन का स्वयं उत्तरदायी है। साथ ही प्रत्येक जीव के अपने-अपने भावों के अनुसार बँधे हुए कर्म एवं उनके उदय भी हैं; तदनुकूल ही सारी जीवन-मरण, सुख-दुःख आदि की व्यवस्थाएँ घटित होती हैं। यदि एक जीव को दूसरे जीवके सुख-दुःख, जीवन-मरण का उत्तरदायी माना जाए तो न तो वस्तु-व्यवस्था की स्वतन्त्रता को बचाया जा सकेगा और न कर्म-सिद्धान्त का कोई औचित्य सिद्ध होगा। यही कारण है कि समयसार परमागम में उक्त मान्यता को अध्यवसाय अथवा मिथ्यादर्शन कहा गया है।

समयसार में वर्णित उक्त तथ्य की परम सत्यता होने पर भी जब मुनिराजों की रागात्मक भूमिका पर विचार करते हैं तो तीन कषाय-चौकड़ी का अभाव होने से उनके जीवन में किसी भी परजीव को दुःखी करने अथवा मारने का भाव होता ही नहीं। यदि रागात्मक भूमिका में उनके कोई रागभाव होगा भी तो उन्हें सुखी करने अथवा बचाने का ही भाव होगा। ऐसी स्थिति मे भी वस्तुतः तो वे अपने उस रागभाव के ही कर्ता हैं; परजीवों के जीवन, कल्याण या सुखादि के नहीं। उनकी भूमिका में विद्यमान उस भाव का ज्ञान कराने के लिए ही चरणानुयोग की शैली में परजीवों की रक्षा करने सम्बन्धी कथन व्यवहारनय से ही किये जाते हैं। परमार्थतः न तो वे मुनिराज ही अपने को परजीवों के जीवन-मरण या सुख-दुःख का कर्ता मानते हैं और न ही चरणानुयोग का ऐसा कोई प्रयोजन ही है। उनकी भूमिका का ज्ञान कराना ही उनका प्रयोजन है।

इस प्रकार यहाँ अध्यात्म और चरणानुयोग की विवक्षाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार का विवक्षा-भेद, आगे भी यथासम्भव घटित कर लेना चाहिए।

इन्द्रिय-संयम के अट्ठाईस भेद

स्पर्शन के आठ, रसना के पाँच, घ्राण के दो, चक्षु के पाँच, कर्ण के सात और एक मन – इस प्रकार इन्द्रियों के अट्ठाईस विषय होते हैं। इनका संयमन अर्थात् अपने अपने विषयों के प्रति इन्द्रियों का रोकना, **अट्ठाईस प्रकार का इन्द्रिय-संयम कहलाता है।**[313]

मुनिराज का पाँच प्रकार का चारित्र

1. सामायिक चारित्र या सामायिक संयम

- जिसमें सकल संयम संगृहीत होता है – ऐसे सर्व सावद्य के त्यागरूप एकमात्र अनुत्तर एवं दुरवगम्य अभेद संयम को धारण करना, सामायिक संयम है।[314]
- इस सामायिक चारित्र में समताभाव, माध्यस्थ्यभाव, रत्नत्रय तथा व्रत, समिति, गुप्ति आदि सभी धर्म के अंगों का अभेदरूप से समावेश हो जाता है; अतः निश्चय से यह एक ही व्रत या चारित्र है।[315]
- यद्यपि यह सामायिक चारित्र भी निवृत्तिपरक है, तथापि सामायिक चारित्र और गुप्ति में यह अन्तर है कि सामायिक चारित्र में मानसी प्रवृत्ति का सद्भाव है जबकि गुप्ति, पूर्ण निवृत्तिस्वरूप होती है। पुनः यद्यपि सामायिक चारित्र में कथंचित् प्रवृत्ति का सद्भाव माना गया है, तथापि उसे सर्वथा प्रवृत्तिरूप समिति भी नहीं माना जा सकता क्योंकि सामायिक चारित्र में समर्थ व्यक्ति को ही समितियों में प्रवृत्ति का उपदेश है; अतः सामायिक चारित्र कारण है और समिति उसका कार्य है। इस प्रकार सामायिक चारित्र और गुप्ति-समिति में सूक्ष्म दृष्टि से अन्तर है।[316]

2. छेदोपस्थापना चारित्र या छेदोपस्थापना संयम

- व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, लोच, आवश्यक, अचेलपना, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े खड़े भोजन, और एक बार भोजन – ये वास्तव में श्रमणों के मूलगुण जिनवरों ने कहे हैं; उनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।[317]
- अथवा सावद्य पर्यायरूप पुरानी हिंसादि पर्याय को छेद कर, अहिंसादि पाँच प्रकार के यमरूप धर्म में अपनी आत्मा को स्थापित करना, **छेदोपस्थापना संयम या चारित्र** है। जैसे, सर्व- सावद्य-त्याग लक्षण वाले सामायिक की अपेक्षा से व्रत एक है, अतः सामायिक चारित्र अभेद प्रधान होने से द्रव्यार्थिकनय का विषय

है और छेदोपस्थापना की अपेक्षा से वही व्रत, अहिंसा, सत्य आदि पाँच प्रकार का होता है, अतः भेद प्रधान होने से यह पर्यायार्थिकनय का विषय है।[318]

- यहाँ पर तीक्ष्णबुद्धि मनुष्यों के अनुग्रह के लिए द्रव्यार्थिकनय का उपदेश है और मन्दबुद्धि प्राणियों का अनुग्रह करने के लिए पर्यायार्थिकनय का उपदेश दिया गया है।

प्रश्न – तब तो उपदेश की अपेक्षा संयम को भले ही दो प्रकार का कह लिया जावे, पर वास्तव में वह एक ही है।

उत्तर – यह कोई दोष नहीं है क्योंकि यह कथन हमें इष्ट ही है।

प्रश्न – तो पाँच प्रकार के संयम का उपदेश कैसे बन सकता है ?

उत्तर – यदि पाँच प्रँकार का संयम घटित नहीं होता है तो मत होओ।

प्रश्न – तो संयम कितने प्रकार का है ?

उत्तर – संयम चार प्रकार का है क्योंकि पाँचवाँ संयम पाया ही नहीं जाता।

विशेषार्थ – सामायिक और छेदोपस्थापना संयम में विवक्षा भेद से ही भेद है, वास्तव में नहीं; अतः वे दोनों मिल कर एक और शेष तीन संयम; इस प्रकार संयम के चार प्रकार होते हैं। वास्तव में जो सामायिकशुद्धिसंयत जीव हैं, वे ही छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत होते हैं तथा जो छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत जीव हैं, वे ही सामायिकशुद्धिसंयत होते हैं।[319]

- **अथवा** व्रत, समिति और गुप्तिरूप तेरह प्रकार के चारित्र में भेद व दोष लगने पर उन दोषों को छेद करना, नाश करना और फिर चारित्र को अपनी आत्मा में स्थापन करना, अपने आत्मस्वरूप चारित्र को अपने आत्मा में ही स्थिर रखना, वह **छेदोपस्थापना चारित्र** है।[320]
- यह चारित्र भी छठवें गुणस्थान से नौवें गुणस्थान तक पाया जाता है, लेकिन आठवें से आगे श्रेणी में ध्यान-मग्न अवस्था होने से वहाँ पर छेद अर्थात् दोषों के प्रायश्चित्तरूप **छेदोपस्थापना चारित्र** नहीं है।
- प्रमादकृत हिंसादि अनर्थ क्रियाओं का सर्वथा त्याग करने पर जो भले प्रकार प्रतिक्रिया की जाती है, उसे छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं। अथवा विकल्पों की निवृत्ति का नाम छेदोपस्थापना चारित्र है।[321]
- जहाँ पर हिंसा, चोरी इत्यादि विशेष रूप से भेदपूर्वक पाप क्रिया का त्याग किया जाता है और व्रतभंग हो जाने पर उसकी प्रायश्चित्त आदि से शुद्धि की जाती है, उसको छेदोपस्थापना कहते हैं।[322]
- यद्यपि दीक्षा धारण करते समय साधु पूर्णतया साम्य रहने की प्रतिज्ञा करता है, परन्तु पूर्ण निर्विकल्पता में अधिक देर टिकने में समर्थ न रहने पर व्रत, समिति, गुप्ति आदि रूप व्यवहार चारित्र तथा क्रियानुष्ठानों में अपने को स्थापित करता है। पुनः कुछ समय पश्चात् अवकाश पाकर साम्यता में पहुँच जाता है और पुनः परिणामों के गिरने पर विकल्पों में स्थित होता है। जब तक चारित्रमोह का उपशम या क्षय नहीं करता, तब तक इसी प्रकार झूले में झूलता रहता है। वहाँ निर्विकल्प व साम्य चारित्र का नाम सामायिक या निश्चय चारित्र है और विकल्पात्मक चारित्र का नाम छेदोपस्थापना या व्यवहार चारित्र है।[323]
- त्रस और स्थावर जीवों की उत्पत्ति और हिंसा के स्थान, छद्मस्थ जीवों को अप्रत्यक्ष हैं; अतः निरवद्य क्रियाओं में प्रमादवश दोष लगने पर उसका सम्यक् रीति से प्रतिकार करना, **छेदोपस्थापना चारित्र** है।

3. परिहारविशुद्धि चारित्र या परिहारविशुद्धि संयम

- प्राणिवध से निवृत्ति को परिहार कहते हैं। इस परिहार से युक्त शुद्धि, जिस चारित्र में होती है, वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। इस प्रकार परिहार ही प्रधान है – ऐसे शुद्धिप्राप्त संयतों को परिहारविशुद्धि संयत कहते हैं।[324]
- पाँच समितियों और तीन गुप्तियों से युक्त होकर सदा ही सर्व सावद्य योग का परिहार करना तथा पाँच यमरूप भेद संयम (छेदोपस्थापना) अथवा एक यमरूप अभेद संयम (सामायिक) को धारण करना **परिहारविशुद्धि संयम** कहलाता है।[325]
- जो मिथ्यात्व, राग आदि के विकल्प मलों के परिहार से सम्यग्दर्शन आदि भावों की शुद्धि से विशेष आत्मशुद्धि होती है, उसे परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं, उससे जीव, शीघ्र ही मोक्ष-सिद्धि को प्राप्त करता है।[326]

- भगवती आराधना में परिहारविशुद्धि चारित्र का वर्णन करते हुए लिखा है –

''छेदोपस्थापना चारित्र के धारक चार या पाँच साधुगण, अपने को जिनकल्प को धारण करने में असमर्थ जान कर, आचार्य की आज्ञा से **परिहारविशुद्धि संयम** धारण करते हैं; वे **परिहारक** कहलाते हैं, उनमें से एक उनका आचार्य होता है। शेष जो बाद में धारण करते हैं, वे अनुपहारक कहलाते हैं।

ये साधु, वसतिका, आहार, संस्तर, पीछी व कमण्डलु के अतिरिक्त अन्य कुछ भी ग्रहण नहीं करते। धैर्यपूर्वक उपसर्ग सहते हैं। वेदना आदि आने पर भी उसका प्रतिकार नहीं करते। निरन्तर ध्यान व स्वाध्याय में मग्न रहते हैं। श्मशान में भी ध्यान करने का इनको निषेध नहीं। यथाकाल आवश्यक क्रियायें करते हैं। शरीर के अंगों को पीछी से पोंछने की क्रिया नहीं करते।

वसतिका के लिए उसके स्वामी से अनुज्ञा लेते हैं और निःसही और असही के नियमों को पालते हैं। निर्देश को छोड़ कर समस्त समाचारों को पालते हैं। अपने साधर्मी के अतिरिक्त अन्य सबके साथ आदान, प्रदान, वन्दन, अनुभाषण आदि समस्त व्यवहारों त्याग करते हैं; लेकिन आचार्य पद पर अधिष्ठित परिहारसंयमी, उन व्यवहारों का त्याग नहीं करते।

धर्मकार्य में आचार्य से अनुज्ञा लेना, विहार में मार्ग पूछना, वसतिका के स्वामी से आज्ञा लेना, योग्य-अयोग्य उपकरणों के लिए निर्णय करना तथा किसी का सन्देह दूर करने के लिए उत्तर देना, इन कार्यों के अतिरिक्त वे मौन से रहते हैं। उपसर्ग आने पर स्वयं दूर करने का प्रयत्न नहीं करते। यदि दूसरा दूर करे तो मौन रहते हैं। तीसरे पहर भिक्षा को जाते हैं। जहाँ छह भिक्षाएँ अपुनरुक्त मिल सकें – ऐसे स्थान में रहना ही योग्य समझते हैं। इत्यादि।''[327]

- ''छठे गुणस्थान में रहने वाले साधु के सामायिक-छेदोपस्थापनापूर्वक **परिहार** अर्थात् छह काय के जीवों की हिंसा का त्याग करने से जो आत्मा की निर्मलता होती है, उस निर्मलता के साथ साथ अपनी आयुपर्यन्त समस्त पापों का त्याग कर देना, **परिहारविशुद्धि संयम** है।

इसकी उत्पत्ति का क्रम निम्न प्रकार है – जो मनुष्य, जन्म से लेकर भोजन पान आदि से सदा सुखी रहा हो, कम से कम तीस वर्ष की आयु में दीक्षा लेवे, सामायिक आदि संयम के साथ साथ कम से कम आठ वर्ष पर्यन्त तीर्थंकर भगवान के चरणकमल में रह कर आचारांग को आदि लेकर प्रत्याख्यान नाम के नौवें पूर्व तक पाठी हो – ऐसे महामुनि को परिहारविशुद्धि संयम उत्पन्न होता है।

इस संयम को धारण करने वाले साधु की प्रवृत्ति इस प्रकार है – प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल – इन तीनों काल की सामायिक के समयों को छोड़ कर, बाकी के समय मे कम से कम दो कोस विहार करता है। रात्रि में विहार नहीं करता है तथा जिसके वर्षाकाल में एक जगह चौमासा करने का नियम भी नहीं रहता। एक जगह चौमासा करे भी और न भी करे।

अब इसकी स्थिति बतलाते हैं – इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। अन्तर्मुहूर्त बाद गुणस्थान बदल सकता है तथा उत्कृष्ट स्थिति अड़तीस वर्ष कम एक करोड़ वर्ष पूर्व है क्योंकि जिस मनुष्य की आयु एक करोड़ वर्ष पूर्व की हो, वह यदि तीस वर्ष की आयु में दीक्षा ले लेवे और फिर आठ वर्ष तक तीर्थंकर के निकट रह कर पहले अंग से लेकर ग्यारह अंग नौ पूर्व तक अभ्यास करे और फिर उसके परिहारविशुद्धि संयम उत्पन्न हुआ हो तो ऐसी अवस्था में वह संयम अड़तीस वर्ष कम एक करोड़ पूर्व तक रह सकता है। 'कोई आचार्य सोलह वर्षों से और कोई बाईस वर्षों से कम पूर्वकोटि वर्षप्रमाण कहते हैं।[328]

परिहारविशुद्धि संयम वाले मुनिराज का चातुर्मास का नियम न होने से वे वर्षाकाल में भी गमन कर सकते हैं। जिस प्रकार कमल के पत्ते जल में रहते हुए भी जल से अलिप्त रहते हैं, उसी प्रकार जिस मुनिराज के परिहारविशुद्धि संयम की ऋद्धि हो गई हो, वे यदि छह काय के जीवों के समूह में भी गमन करें तो भी वे पापों से लिप्त नहीं होते हैं। लिखा भी है –

परिहारर्द्धिसमेतः जीवः, षट्कायसंकुले विहरन्।
पयसेव पद्मपत्रं, न लिप्यते पापनिवहेन।।[329]

- परिहारविशुद्धि, अत्यन्त निर्मल चारित्र है, जो अत्यन्त धीर व उच्चदर्शी साधुओं को प्राप्त होता है।[330]

4. सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र या सूक्ष्मसाम्पराय संयम

- जिस चारित्र में कषाय अतिसूक्ष्म हो, वह सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र है।[331]

- मोहकर्म का उपशमन या क्षपण करते हुए सूक्ष्मलोभ का वेदन करना, सूक्ष्मसाम्पराय संयम है। यह संयम, यथाख्यात संयम से कुछ ही कम होता है।[332]
- सूक्ष्म-स्थूल प्राणियों के वध के परिहार में जो पूरी तरह अप्रमत्त है, जो अत्यन्त निर्बाध उत्साहशील, अखण्डित चारित्र वाला है,..... जिसने कषाय विषांकुरों को खोंट (नष्ट कर) दिया है, सूक्ष्ममोहनीय कर्म के बीज को भी जिसने नाश के मुख में धकेल दिया है, उस परम सूक्ष्म लोभवाले साधु के सूक्ष्म साम्पराय चारित्र होता है।.....यह चारित्र, गुप्ति और समिति के परिणामों से आगे बढ़ कर, दसवें गुणस्थान में होता है, जहाँ मात्र सूक्ष्म लोभ टिमटिमाता है।[333]
- सूक्ष्म अतीन्द्रिय निज शुद्धात्मा के बल से सूक्ष्मलोभ नामक साम्पराय कषाय का पूर्ण रूप से उपशमन या क्षपण, सो सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र है।[334]
- सूक्ष्म लोभ का नाश होने से जो सूक्ष्म परिणामों का शेष रह जाना है, वह सूक्ष्मचारित्र है, वह शाश्वत सुख का स्थान है।[335]

5. यथाख्यात चारित्र या यथाख्यात संयम

- समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव है, उस अवस्थारूप जो चारित्र होता है, वह यथाख्यात चारित्र कहा जाता है.....जिस प्रकार आत्मा का स्वभाव अवस्थित है, उसी प्रकार यह कहा गया है, इसलिए इसे यथाख्यात कहते हैं।[336]
- अशुभरूप मोहनीय कर्म के उपशान्त अथवा क्षीण हो जाने पर जो वीतराग संयम होता है, उसे यथाख्यात संयम कहते हैं।[337]
- धवला में यथाख्यात विहारशुद्धि संयत की चर्चा करते हुए कहा है –

  परमागम में विहार अर्थात् कषायों के अभावरूप अनुष्ठान का जैसा प्रतिपादन किया गया है, तदनुकूल विहार जिनके पाया जाता है, उन्हें यथाख्यात विहारी कहते हैं। जो यथाख्यात विहारी और शुद्धि-प्राप्त संयत हैं; वे यथाख्यात विहार-शुद्धि संयत कहलाते हैं।.....ये उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगकेवली; इन गुणस्थानों में होते हैं।[338]
- कषायों के सर्वथा अभाव से प्रादुर्भूत आत्मा की शुद्धि विशेष को यथाख्यात चारित्र कहते हैं।[339]

साधु का युक्ताहारविहारी जीवन[340]

मुनिराज को युक्त आहारी और युक्त विहारी कहा गया है अर्थात् वह श्रमण, कषायरहित वर्तता हुआ मनुष्य होते हुए भी मनुष्य-व्यवहार, एवं स्वसंवित्ति के विनाशक ख्याति, पूजा, लाभ आदि से उदासीन – इस लोक के प्रति निरपेक्ष तथा तपश्चरण के निमित्त से भविष्य में होने वाले दिव्य देव, देवी आदि के भोगरूप अनुभव की तृष्णा से शून्य होने के कारण परलोक के प्रति अप्रतिबद्ध होता है; अतः वे साधु, युक्ताहार-विहारी होने से साक्षात् अनाहार-विहारी ही होते हैं क्योंकि वे स्वयं अनशनस्वभाव वाले होने से तथा एषणा दोष-शून्य भिक्षा वाले होने से वे युक्ताहारी, युक्ताहार करते हुए भी मानो आहार नहीं करते हों – ऐसे साक्षात् अनाहारी ही हैं। इसी प्रकार वे स्वयं अविहारस्वभाव वाले होने से तथा ईर्यासमिति से शुद्ध होने से वे युक्तविहारी, युक्त-विहार करते हुए भी मानो विहार नहीं करते हों – ऐसे साक्षात् अविहारी ही हैं।

जिस प्रकार ज्ञेय पदार्थों को जानने के लिए ही दीपक में तेल डाला जाता है और उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित किया जाता है; उसी प्रकार वे श्रमण भी मात्र शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि के लिए ही शरीर को खिलाते और एक स्थान से दूसरे स्थान को चलते रहते हैं।

श्रमण के युक्ताहारी होने में दो हेतु हैं – 1. शरीर के प्रति ममत्व नहीं होने से उसके अनुचित आहार-ग्रहण नहीं होता है, इसलिए वह युक्ताहारी अर्थात् उचित आहार वाला है। 2. आहार-ग्रहण आत्मा का स्वभाव नहीं है – ऐसा परिणामस्वरूप योग, श्रमण को वर्तता होने से वह युक्त अर्थात् योगी है, इसलिए उसका आहार युक्ताहार अर्थात् योगी का आहार है।

अब यहाँ श्रमण जीवन में होने वाले युक्ताहार को अनेक उदाहरणों के द्वारा समझाते हैं –

- **एक बार आहार ही युक्ताहार है** क्योंकि उतने से ही श्रामण्य पर्याय का सहकारी कारणभूत शरीर टिका रहता है। अनेक बार आहार शरीर के प्रति अनुराग का सूचक है, अतः हिंसायतन का प्रतीक होने से

युक्त (योग्य) नहीं है और अनेक बार आहार करने वाला युक्त (योगी) नहीं है। इस प्रकार अनेक बार आहार करना, युक्ताहार नहीं है।

- **ऊनोदर या अपूर्णोदर आहार ही युक्ताहार है** क्योंकि वही प्रमादोत्पादक नहीं होने से आत्मस्वभाव से जुड़ने के लिए योग्य है, अतः वही युक्त है – ऐसा आहार करने वाला ही युक्त अर्थात् योगी है।
- **यथालब्ध** (जैसा मिल जाए वैसा) **आहार ही युक्ताहार है** क्योंकि उसी आहार में विशेष गृद्धता का अभाव होता है, अतः वही युक्त है – ऐसा आहार करने वाला ही युक्त अर्थात् योगी है।
- **भिक्षाचरण से प्राप्त आहार ही युक्ताहार है** क्योंकि वही आरम्भशून्य है। भिक्षाचरण के बिना आरम्भ होने की सम्भावना होने से हिंसायतनपना प्रसिद्ध है तथा ऐसे आहार के सेवन करने में अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होने से वह युक्त नहीं है – ऐसा आहार करने वाला भी युक्त अर्थात् योगी नहीं है।
- **दिन में आहार करना ही युक्ताहार है** क्योंकि सूर्य प्रकाश में ही सम्यक् प्रकार से आहार देखा जा सकने से अनिवार्य हिंसायतन की सम्भावना कम होने से उसके सेवन में अन्तरंग अशुद्धि का अभाव व्यक्त होता है, अतः वही युक्त है – ऐसा आहार करने वाला ही युक्त अर्थात् योगी है।
- **रस की अपेक्षा से रहित आहार ही युक्ताहार है** क्योंकि वही अन्तरंग शुद्धि से सुन्दर बन जाता है। रस की अपेक्षा वाला आहार तो अन्तरंग शुद्धि के अभाव में अत्यन्त हिंसायतन वाला होने से युक्त नहीं है – ऐसा आहार करने वाला भी युक्त अर्थात् योगी नहीं है।
- **मद्य-माँस-मधु रहित आहार ही युक्ताहार है** क्योंकि उसी के हिंसायतनपने का अभाव है। मद्य-माँस-मधु सहित आहार तो हिंसायतन के बिना नहीं होने से युक्त नहीं है – ऐसा आहार करने वाला भी युक्त अर्थात् योगी नहीं है।

उक्त बिन्दु तो उपलक्षण मात्र हैं, इसी प्रकार अन्य समस्त हिंसायतन रहित आहार ही युक्ताहार है।

मुनिराज की आहार-चर्या

आत्मकल्याण के अभिलाषी संयमी मुनिराजों का आहार ग्रहण भी संयम की साधना एवं उसकी अभिवृद्धि के लिए होता है; उसमें देह-पोषण का रंचमात्र भी उद्देश्य नहीं होता। संयम एवं शुद्धोपयोग की साधना में शरीर बाह्य निमित्त होता है और शरीर की स्थिति में आहार निमित्त होता है। यही कारण है कि मुनिराज शरीर की स्थिति एवं संयम की साधना हेतु भिक्षावृत्ति से योग्य आहार ग्रहण करते हैं।

मूलाचार में लिखा है – ''मुनिराज, बल आयु स्वाद शरीर की पुष्टि और तेज के लिए आहार ग्रहण नहीं करते, अपितु ज्ञान संयम और ध्यान के लिए आहार ग्रहण करते हैं।''[341]

मूलाचार में आहार ग्रहण के छह कारण बताये हैं – 1. वेदना अर्थात् क्षुधा शान्ति, 2. वैयावृत्ति, 3. क्रियार्थ अर्थात् षडावश्यक आदि का पालन, 4. संयमार्थ, 5. प्राण-चिन्ता अर्थात् जीवन-रक्षा का विकल्प, 6. धर्म -चिन्ता अर्थात् प्रभावना आदि कार्य का विकल्प – इन छह कारणों से साधु आहार ग्रहण करने के लिए भिक्षावृत्ति से वृत्तिसंख्यान अर्थात् कोई न कोई अभिग्रह, संकल्प या नियम लेकर निकलते हैं, और वृत्ति अर्थात् विधि मिलने पर नवधाभक्तिपूर्वक जब कोई श्रावक, चार प्रकार (अन्न, पान, खाद्य, और स्वाद्य) का निर्दोष आहार कराता है तो मुनिराज, निर्लोभवृत्ति से आहार ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार छह प्रकार के आहार ग्रहण के छह कारण गिनाये हैं, उसी प्रकार आहार त्याग के भी छह कारण आते हैं – 1. आतंक, 2. उपसर्ग, 3. ब्रह्मचर्य की रक्षा, 4. प्राणीदया, 5. तप और 6. शरीर परित्याग। ध्यान रहे इनमें से कोई एक कारण भी मिलने पर मुनिराज, आहार की इच्छा होने पर भी आहार ग्रहण का विकल्प छोड़ देते हैं। आहारचर्या के अनेक संकल्पों का विस्तृत अध्ययन करने के लिए भगवती आराधना की 220 से 223 गाथा की विजयोदया टीका का स्वाध्याय करना चाहिए।[342]

जो साधु, ज्ञान और संयम की वृद्धि के लिए तथा ध्यान और अध्ययन के निमित्त से यथालब्ध भोजन ग्रहण करते हैं, वे साधु ही मोक्षमार्ग में रत हैं।

मुनिराज की भिक्षावृत्ति के पाँच प्रयोजन माने गये हैं –

1. **उदराग्नि प्रशमन –** जितने आहार से उदर की क्षुधाग्नि शान्त हो, उतना ही जैसा तैसा आहार योग्य विधि से ग्रहण करना।

2. **अक्ष-मृक्षण** – जैसे गाड़ी की धुरी पर तेलादि ओंगन लगाते हैं, उसी प्रकार मोक्ष के साधनभूत शरीर को धर्ममार्ग चलाने के उद्देश्य से आहार ग्रहण करना।
3. **श्वभ्र-पूरण** – नीरस-सरस आहार से पेट के गड्ढे को जैसे तैसे भरना।
4. **गोचरी** – जैसे, गाय की दृष्टि एक मात्र घास पर रहती है, उसी प्रकार मुनिराज की दृष्टि मात्र प्रमाद रहित होकर आहार ग्रहण की ओर लगी रहती है। 'गवेषणा' शब्द का भी यही सन्देश है।
5. **भ्रामरी या मधुकरी** – जैसे, भ्रमर या मधुमक्खी बिना फूल को नुकसान पहुँचाये उनका रस ग्रहण करती है, उसी प्रकार मुनिराज के निमित्त से आहार दाता के ऊपर बिल्कुल भी भार नहीं पड़ता है।[343]

मुनिराज, आहार ग्रहण के लिए निकलते समय भिक्षाकाल, बुभुक्षाकाल और अवग्रहकाल – तीन प्रकार से काल का विचार करते हैं – 1. जिस देश में जिस समय सामान्यतया श्रावक भोजन करते हैं, उसे **भिक्षाकाल** कहते हैं। 2. मुनिराज, अपनी भूख की तीव्रता-मन्दता आदि का विचार करके आहार के लिए जाते हैं। 3. अपने पूर्व गृहीत नियम आदि का ध्यान रख कर आहार के लिए निकलते हैं। मूलाचार में कहा है कि भिक्षा के लिए गमन करते समय मुनिराज, गुप्ति, गुण, शील, संयम और वैराग्य का चिन्तन करते हैं।[344]

भिक्षाचर्या के लिए निकलते समय मुनिराज अपना आगमन सूचित करने के लिए अस्पष्ट शब्दादि के संकेत नहीं करते बल्कि बिजली की चमक के समान अपना शरीर मात्र दिखाते हैं। यदि श्रावक पडगाहन करे तो बाधा रहित घर में, आने जाने का मार्ग छोड़कर श्रावकों के द्वारा प्रार्थना करने पर, ऐसे स्थान पर खड़े हो जाते हैं, जहाँ अन्य साधु भी खड़े हो सकें। साधु के खड़े होने का स्थान समतल और छिद्ररहित होता है; सचित्त, तंग, गन्दा और अन्धकारयुक्त नहीं होता तथा वे दोनों पैरों के बीच चार अंगुल का अन्तर रख कर निश्चल खड़े होते हैं। श्रावक जब देखता है कि मुनिराज के संकल्पानुसार आहार विधि, उसके यहाँ मिल गई है तो वह मुनिराज की तीन बार परिक्रमा देता है; उसके बाद मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और भोजनशुद्धि कह कर उन्हें भोजनशाला में प्रवेश करने हेतु निवेदन करता है।

उसके बाद घर के अन्दर श्रावक के द्वारा नवधाभक्ति पूर्वक योग्य स्थान पर दीवाल, स्तम्भ आदि के आश्रय बिना अपने पैरों में चार अंगुल का अन्तर रख कर, एक ही जगह पर समपाद खड़े रह कर, पैर रखने, जूठन गिरने और दाता के खड़े होने रूप तीन प्रकार की भूमिशुद्धिपूर्वक अपने हाथों की अंजुलिपुट को ही पात्र बना कर, अच्छी तरह शोध कर, पाणिपात्र में शुद्ध आहार ग्रहण करते हैं। ध्यान रहे यत्याचार के अन्तर्गत यह भी कहा गया है कि जब तक श्रमण, खड़े होकर अपने हाथों को ही पात्र बना कर, भोजन करने की सामर्थ्य रखता है, तब तक ही वह आहार की प्रवृत्ति करता है, अन्यथा नहीं।

नवधाभक्ति के अन्तर्गत **1. प्रतिग्रह** अर्थात् नमोस्तु कह कर रुकने के लिए निवेदन करना। घर के अन्दर ले जाकर **2. उच्च स्थान** पर विराजमान करना। 3. पादोदक अर्थात् उनके चरणों को धोकर उस जल को अपने मस्तक पर लगाना। 4. अष्ट द्रव्य से **पूजन** करना। 5. उनके चरणों की **वन्दना** करना। 6. अशुभ ध्यान को छोड़ कर **मनशुद्धि** करना। 7. कर्कश वचनों का त्याग करके **वचनशुद्धि** करना। 8. अंगों को विनीत करके **कायशुद्धि** प्रगट करना। 9. चौदह मलदोषों से रहित **एषणाशुद्धि** प्रगट करना – इन नौ क्रियाओं का समावेश होता है।

आहारशुद्धि का सम्बन्ध एषणासमिति से है; अतः आहार के अन्वेषण, ग्रहण और उपभोग में संयमपूर्वक सावधानी आवश्यक है। इस प्रकार एषणा के तीन भेदों का उल्लेख आता है – **1. गवेषणा** – सोलह उद्गम और सोलह उत्पादन दोषों के शोधनपूर्वक शुद्ध आहार की खोज करना। **2. ग्रहणैषणा** – एषणा के शंकित आदि दश दोषों के शोधनपूर्वक आहार लेना। **3. परिभोगैषणा या ग्रासैषणा** – संयोजना, प्रमाणातिक्रान्त, अंगार और धूम – इन चार दोषों को टाल कर उपभोग करना।[345]

तत्त्वार्थवार्तिक में आचार्य अकलंकदेव ने दाताओं की विशेषताओं में ''पात्र में ईर्ष्या नहीं होना, त्याग में विषाद नहीं होना, अन्य दाताओं के प्रति ईर्ष्याभाव नहीं होना, सब में प्रीति होना, कुशल अभिप्राय होना, प्रत्यक्ष फल की आकांक्षा नहीं होना, निदान नहीं होना, विसंवाद नहीं करना आदि को माना है।'' इसी प्रकार भगवती आराधना में कैसा दाता नहीं होना चाहिए – इसके अन्तर्गत गर्भिणी या स्तनपान करने वाली, रोगी, अतिवृद्ध, बालक, पागल, पिशाच, मूढ़, अन्धा, गूँगा, दुर्बल, भयातुर, शंकालु, अतिनिकटवर्ती एवं दूरवर्ती मनुष्य, लज्जा से परांगमुखी, या घूँघट वाली स्त्री, जूते पर पैर रखने वाला, ऊँचे स्थान पर खड़ा व्यक्ति आदि विशेषताओं को स्वीकार किया है।

मुनिराज के ग्रहण करने योग्य **आहार की विशेषताओं** को मूलाचार में निम्न प्रकार से बताया है –

1. जो आहार, नव कोटि से शुद्ध हो।
2. ब्यालीस दोषों से रहित हो।
3. संयोजना से हीन हो।
4. प्रमाण सहित हो।
5. विधि (नवधाभक्ति) पूर्वक दिया गया हो।
6. अंगार और धूम दोष रहित हो।
7. छह कारणों से युक्त हो।
8. क्रम सहित और उत्क्रम रहित हो।
9. मोक्ष-यात्रा के लिए साधन मात्र हो।
10. चौदह मल दोषों से रहित हो।

मूलाचार के अनुसार मुनिराज को पेट का आधा भाग भोजन से, एक भाग जल से और एक भाग को वायुसंचार के लिए खाली रखने का निर्देश किया है। संयम के लिए यह अत्यन्त उपयोगी माना गया है। आचार्य वट्टकेर कहते हैं कि मुनिराज को चर्याशुद्धि रहित अनेक उपवास करके अनेक पारणाओं की अपेक्षा परिचित, सुपाच्य और प्रशस्त आहार प्रतिदिन लेने को श्रेष्ठ माना है।[346]

मुनिराज की आहारचर्या के सम्बन्ध में चर्चासागर में निम्न शंका समाधान प्रस्तुत किया गया है –

''**प्रश्न** – कोई परवादी कहते हैं कि तुम्हारे निर्ग्रन्थ गुरु प्रत्यक्ष रागी-द्वेषी हैं क्योंकि जो नवधाभक्ति करता है, उसके घर आहार लेते हैं और जो उनको नमोस्तु आदि न करे, उनके घर आहार नहीं लेते – यह एक प्रकार का अभिमान वा राग-द्वेष समझना चाहिए।

समाधान – वास्तव में यह बात नहीं है। महामुनिराज छ्यालीस दोष, बत्तीस अन्तराय और चौदह मलों को टाल कर दिन में एक बार खड़े खड़े आहार लेते हैं। जो जैनी नहीं है, वह न तो आहार की विधि जानता है और न निर्दोष प्रासुक आहार तैयार कर सकता है। इसलिए वे मुनिराज, नमोस्तु आदि पड़गाहन की विधि न देख कर अन्तराय समझ कर चले जाते हैं। राग-द्वेष या मान से नहीं जाते।

अपने गुरु को आए हुए समझ कर भक्ति से उठना, सामने जाना, प्रदक्षिणा देना, नमोस्तु कहना, पड़गाहन करना, पाद-प्रक्षालन करना, पूजन करना आदि आहार देने की विधि को जैन शास्त्रों के जानने वाले श्रावकों के बिना अन्यमती जानते नहीं। इससे उनके प्रासुक शुद्ध आहार की अजानकारी भी स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसलिए अन्तराय समझ कर वे मुनिराज चले जाते हैं।

जो जैनी श्रावक बड़े बड़े विद्वान् होकर भी इस विधि को नहीं करते, उनके घर भी वे अन्तराय समझ कर छोड़ देते हैं। ऐसे घरों का छोड़ना, केवल अपने व्रतों की रक्षा के लिए है और कुछ नहीं है। यदि वे मुनिराज किसी धनवान, राजा या मित्र के घर चले जाएँ और दरिद्री, रंक या शत्रु का घर छोड़ दें; तब तो वे रागी, द्वेषी समझे जाएँ परन्तु ऐसा वे कभी करते नहीं। इसलिए उनके राग-द्वेष कभी सिद्ध नहीं हो सकता। इसके सिवाय वे मुनि स्वादिष्ट भोजन देने वाले में राग नहीं करते तथा स्वादहीन भोजन में वा उसके देने वाले में द्वेष नहीं करते, इसलिए भी राग-द्वेष रहित सिद्ध होते हैं।

जो पड़गाहन करते हैं, उन्हीं के घर आहार लेते हैं, इसका कारण यह भी है कि मुनिराज के भ्रामरी आहार होता है। जिस प्रकार भ्रमर फूल को सताये बिना उसका रस लेता है; उसी प्रकार मुनिराज, किसी को तकलीफ दिये बिना अपना निर्वाह करना चाहते हैं और वह इसी प्रकार पड़गाहन करने से दातार की उत्कट इच्छा से हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार भी वे मुनिराज रागद्वेषरहित परम वीतरागी सिद्ध होते हैं।''[347]

''**प्रश्न** – मुनिराज आहार के लिए गाँव या नगर में जाते हैं तो कौनसी मुद्रा धारण कर जाते हैं ?

समाधान – महा तपोवन मुनिराज दोपहर के समय सामायिक करने के बाद आहार के लिए निकलते हैं; उस समय सबसे पहले पूर्व दिशा की ओर मुँह करके श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करते हैं, फिर ईर्या समिति को धारण करते हुए धीर धीरे आहार के लिए गमन करते हैं। उस समय वे मुनिराज अपने बायें हाथ में कमण्डलु और पीछी – इन दोनों उपकरणों को रखते हैं और अपने दायें हाथ को दायें हाथ को दायें कन्धे

पर रखते हैं अर्थात् पाँचों अंगुलियों को मिला कर उन मिली हुई अंगुलियों को कन्धे पर रख लेते हैं। यह उनकी आहारमुद्रा कहलाती है। इससे सामान्य श्रावक समझ जाते हैं कि मुनिराज आहार के लिए गमन कर रहे हैं। फिर अच्छी दृष्टि से (ईर्यासमितिपूर्वक) श्रावकों के घर जाते हैं। सो ही धर्मरसिक ग्रन्थ में लिखा है –

मध्याह्नसमये योगी, कृत्वा सामायिकं मुदा।
पूर्वस्यां तु जिनं नत्वा, ह्याहारार्थंव्रजेच्छनैः।।
पिच्छं कमण्डलुं वामहस्ते, स्कन्धे तु दक्षिणम्।
हस्तं निधाय संदृष्ट्या, स व्रजेच्छ्रावकालयम्।।[348]

विशेष यह है कि मुनिराज सामायिक के बाद भी आहार को जाते हैं और दोपहर की सामायिक के पहले भी आहार को जाते हैं। सामान्यतया गृहस्थों के भोजन का समय दोपहर की सामायिक के पहले होता है; इसलिए मुनिराज भी दोपहर की सामायिक के पहले ही आहार को जाते हैं। कोई विशेष कारण उपस्थित होने पर सामायिक के बाद भी जाते हैं।

प्रश्न – यहाँ कोई प्रश्न करे कि मुनिराज श्रावक के घर जाते हैं सो वहाँ पर बिना पडगाहे कितनी देर तक ठहर सकते हैं ?

समाधान – मुनिराज श्रावक के घर जाकर कायोत्सर्ग मुद्रा धारण कर नौ बार नमस्कार मन्त्र का जाप करते हुए खड़े होते हैं। यदि इतनी ही देर में श्रावक उनका पडगाहन कर लेवे तो वे सब दोषों को टाल कर निरन्तराय भोजन पान ग्रहण करते हैं। यदि एक कायोत्सर्ग धारण करते समय तक कोई श्रावक उनका पडगाहन न करे तो फिर वे वहाँ से चले जाते हैं। जितनी देर में एक कायोत्सर्ग धारण किया जाता है, उतनी देर तक खड़े रहते हैं। कायोत्सर्ग पूरा होने पर फिर बिना पडगाहे वे वहाँ खड़े नहीं रह सकते। वही धर्मरसिक ग्रन्थ में लिखा है –

गत्वा गृहांगणे तस्य, तिष्ठेच्च मुनिरुत्तमः,
नमस्कारान् पदान् पंच, नववारं जपेच्छुचिः।
तं दृष्ट्वा शीघ्रतो भक्त्या, प्रतिग्राहैत भक्तिकैः....। ।[349]

''**प्रश्न** – मुनिराज के आहार के समय का प्रमाण क्या है ?

समाधान – तीन मुहूर्त दिन चढ़ जाने के बाद से लेकर जब तक तीन मुहूर्त दिन बाकी रहे, उसके मध्य में मुनिराज अपने नित्य सामायिक आदि कार्यों से निवृत्त होकर अन्तराय और दोषों को टाल कर एक बार योग्य आहार लेते हैं। सो ही श्री वट्टकेरस्वामी ने मूलाचार के प्रथम अधिकार में लिखा है –

उदयत्थमणे काले, णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए वा, मुहुत्त कालेयभत्तं तु।।[350]

साधुओं की अनियत विहार-चर्या

विहार-चर्या मुनिराज के जीवन की एक अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण चर्या है। उसका कारण यह है कि बिना किसी विशेष परिस्थिति के वे स्थायीरूप से किसी एक स्थान पर निवास नहीं करते हैं। विहार अर्थात् अनियत-वास है। सम्यग्दर्शन आदि को निर्मल करने के लिए सर्व देश में विहार करना, **विहार-चर्या** है, विहारशुद्धि है।

श्रमणों की अनियत विहारचर्या उनके अनासक्त परिणामों की परिचायक है, क्योंकि निरन्तर एक ही स्थान पर रहने से उसके प्रति रागादि भाव होना सम्भव है और जिन कारणों से रागद्वेषादि दूषणों की सम्भावना होती है, उन्हें श्रमणचर्या में रंच मात्र भी स्थान नहीं है। यही कारण है कि मुनिराज, वर्षाऋतु एवं अन्य आवश्यक कारणों के उपस्थित हुए बिना एक स्थान पर अधिक समय नहीं ठहरते।

भगवती आराधना में कहा है – ''जो वसतिका, उपकरण, गाँव, नगर, गण और श्रावकजनों – इन सब में सर्वत्र अप्रतिबद्ध अर्थात् ममत्वरहित रहता है, वह श्रमण अनियतविहारी है।''[351]

''मुनि, राग-द्वेष से दूषित लोक में भी राग-द्वेष से अछूता रह कर विहार करता है। अपरिग्रही मुनि को बिना किसी अपेक्षा के हवा की भाँति, मुक्त भाव से ग्राम, नगर, वन आदि से युक्त भूमि पर समानरूप से विचरण करते रहना चाहिए। वे साधु, वसुधा पर विहार करते हुए कदाचित् भी किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाते

हैं; जैसे, माता, अपने पुत्रों के समूह में समान भाव से दया रखती है, उसी प्रकार मुनिराज भी जीव मात्र के प्रति समान भाव से दयायुक्त होते हैं।''[352]

मुनियों को विहार-चर्या से सम्यग्दर्शन की शुद्धि, स्थितिकरण, रत्नत्रय की भावना, उसका अभ्यास, शास्त्र-कौशल एवं समाधिमरण के योग्य क्षेत्र की खोज, तीर्थंकरों के जन्म, निर्वाण आदि कल्याणक-स्थानों के दर्शन का लाभ प्राप्त होता है। श्रमण को सतत अनासक्त-वृत्तिपूर्वक अनियत-विहार करने से उनकी अपनी आत्म-साधना में निरन्तर वृद्धि तो होती ही है, अधिकाधिक ज्ञानार्जन और जन-कल्याण की भावना के कार्यान्वयन का योग भी सतत बना रहता है।

''विहारशील श्रमण, उपशान्तभावी, दीनता से रहित, उपेक्षा स्वभाववाले, जितेन्द्रिय, निर्लोभी, मूढताभाव से रहित और काम-भोगों में विस्मयरहित होते हैं तथा वे जिन-वचनों का अनुचिन्तन करते हुए, संसार के भय का विचार करते हुए गर्भवास और जन्म-मरण से भी भयभीत रहते हैं।''[353]

विहार-चर्या का अन्तर्भाव ईर्यासमिति में होता है। जैन श्रमण को विहार के समय अपेक्षित सावधानियाँ इस प्रकार हैं –

1. गमन करते समय चार हाथ भूमि देख कर चलना चाहिए।
2. बीज, घास, जल, पृथ्वी, त्रस आदि जीवों का परिमार्जन करते हुए चलना चाहिए।
3. ऊपर-नीचे देखते हुए, बातें करते हुए, अथवा हँसते हुए नहीं चलना चाहिए।
4. हिलते हुए, लकड़ी, पत्थर, ईंट, आदि पर पैर रख कर, कर्दम या जल को पार नहीं करना चाहिए।
5. सचित्त भूमि पर खड़ा नहीं होना चाहिए।
6. वर्षा, कुहरा आदि के समय नहीं चलना चाहिए। जोर से हवा बह रही हो अथवा कीट, पतंग आदि प्राणी उड़ रहे हों; उस समय नहीं चलना चाहिए।
7. गलीचे, दरी, आदि आवरणयुक्त स्थान पर नहीं चलना चाहिए।
8. शीतल स्थान से गर्म स्थान पर अथवा गर्म स्थान से शीतल स्थान पर जाते समय तथा चलते हुए लाल, काली, सफेद भूमियों के परिवर्तन के समय शरीर का पीछी से परिमार्जन करना चाहिए; जिससे शीतकाय, उष्णकाय तथा उस-उस भूमि के आश्रित जीवों को बाधा न हो।
9. सूर्य का आताप न होने से रात्रि में मार्ग अप्रासुक हो जाता है। समुचित प्रकाश के अभाव में ईर्यासमिति का पालन भी सम्भव नहीं है; अतः अहिंसा का पालन भी नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त रात्रि में दुर्घटनाएँ, लोक-निन्दा आदि अनेक विवादों से भी स्वतः ही बच जाते हैं।''[354]

जल में विहार करने सम्बन्धी नियम

भगवती आराधना की विजयोदया टीका में लिखा है –

''मुनिराज को जल में प्रवेश करते समय पैर आदि में लगी सचित्त और अचित्त धूलि को दूर कर देना चाहिए। इसी प्रकार जब तक पैर न सूख जाए; तब तक जल से निकल कर, जल के पास ही ठहरना चाहिए। वहाँ से जाना नहीं चाहिए। यदि बड़ी नदी को पार करना हो तो इस ओर सिद्धों की वन्दना करे और जब तक मैं नदी के पार न पहुँच जाऊँ, तब तक के लिए मेरा इस शरीर, भोजन और उपकरण का त्याग है। इस प्रकार प्रत्याख्यानरूप नियम ग्रहण करे और चित्त को समाहित करके नौका आदि में चढ़े तथा दूसरे तट पर पहुँच कर कायोत्सर्ग करे। यह कायोत्सर्ग, नदी पार करने में लगे दोषों की शुद्धि के लिए किया जाता है। इसी प्रकार महान जंगल आदि में प्रवेश करने और निकलने पर भी ऐसा करना चाहिए।''[355]

इसी प्रकार अनगार धर्मामृत की प्रस्तावना में सिद्धान्ताचार्य स्व. पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री आचारांग का उल्लेख करते हुए लिखते हैं –

''साधु-साध्वी के निमित्त खरीदी गयी या उनके सत्कार-कर्ता द्वारा तैयार की गई नाव में वे पार नहीं होते। यद्यपि नाव के मालिक की आज्ञा से वे नाव में बैठ सकते हैं, तथापि साधु को नाव चलाने या धक्का आदि देने, नाव के छेद बन्द करने आदि कार्यों को नहीं करना चाहिए। यदि नाव वाला, साधु को पानी में फेंक दे तो उसे तैर कर किनारे पहुँचना चाहिए। पानी से निकल कर वह तब तक खड़ा रहे, जब तक अपने आप उसका शरीर न सूख जाए।

यदि साधु को छिछला जल पार करना पड़े तो उसे सावधानी से किसी को छुए बिना पार करना चाहिए। यदि उसके पैरों में कीचड़ लग जाये तो उसे पैर साफ करने के लिए घास पर नहीं चलना चाहिए।

साधु को गंगा, यमुना, सरयू, इरावती, और मही – इन पाँच महानदियों को एक मास में दो या तीन बार पार नहीं करना चाहिए; किन्तु यदि राजभय हो, या दुर्भिक्ष पड़ा हो या किसी ने उसे नदी में गिरा दिया हो, या बाढ़ आयी हो, या अनार्यों का भय हो तो वह इन नदियों को पार कर सकता है।

यह वर्णन आचारांग के दूसरे भाग में है। दिगम्बर परम्परा में इतना विस्तार से कथन नहीं है।''[356]

संयम प्रकाश में आचार्य सूर्यसागर लिखते हैं –

''मुनियों के लिए आगम में आज्ञा है कि यदि विहार करते समय मार्ग में नदी आ जावे और उसकी गहराई घुटनों से अधिक न हो तो वे स्वयं पार कर सकते हैं तथा इससे अधिक गहरी नदी हो तो जहाँ तक हो सके, उस मार्ग को छोड़ कर दो चार कोस के चक्कर का भी मार्ग हो तो उस मार्ग से विहार करें। यदि ऐसा कोई मार्ग न हो और नदी को पार करना ही हो तो ऐसी अवस्था में वे उसी नाव पर सवार होकर नदी पार कर सकते हैं, जो दूसरे यात्रियों को बिठा कर ले जा रही हो और जिसका नाविक नाव पर सवार होने के लिए स्वयं मुनीश्वरों से निवेदन करे; किसी भी अवस्था में मुनि स्वयं नाव पर चढ़ने के लिए नहीं कहते।

मनुष्यों के मस्तक पर काष्ठ के पट्टे रखवा कर, उनके उपर बैठ कर या ऐसे ही किसी अन्य उपाय का अवलम्बन कर वे नदी को पार नहीं करते क्योंकि ऐसा करने से पूर्व की भाँति जीव-बाधा होती है। घुटने तक पानी में उतरने का शास्त्रों में कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त माना है। घुटने के उपरान्त चार-चार अंगुल अधिक-अधिक पानी में उतरने पर एक-एक उपवास के प्रायश्चित्त का वर्णन किया गया है, इसलिए नाव द्वारा या अन्य मार्ग द्वारा चलना मुनिधर्म से अविरुद्ध है।''[357]

विहार के भेद

मूलाचार में विहार के दो भेद बताये गये हैं –

''गृहीतार्थ विहार और अगहीतार्थ विहार। इनके सिवाय तीसरे विहार की जिनेश्वरों ने आज्ञा नहीं दी है। जीवादि तत्त्वों के स्वरूप के ज्ञाता मुनियों द्वारा चारित्र का पालन करते हुए देशान्तर में जो विहार होता है, वह गृहीतार्थ विहार कहलाता है तथा जो जीवादि तत्त्वों को नहीं जानने वाले मुनियों द्वारा चारित्र का पालन करते हुए जो विहार होता है, वह अगृहीतार्थ विहार कहलाता है।''[358]

एकल विहार करने का अधिकारी कौन ?

मूलाचारवृत्ति में कहा है – ''जो साधु, बारह प्रकार के तप को करने वाले हैं, द्वादशांग और चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता हैं अथवा काल क्षेत्र आदि के अनुसार आगम के ज्ञाता हैं या प्रायश्चित्त आदि ग्रन्थों के वेत्ता हैं, देह की शक्ति और हड्डियों के बल से अथवा भाव के सत्त्व से सहित हैं, शरीरादि से भिन्नरूप एकत्व भावना से तत्पर हैं। वज्रवृषभनाराच आदि तीन संहननों में से किसी उत्तम संहनन के धारी हैं, धैर्यरूप मनोबल से सहित हैं अर्थात् क्षुधा आदि बाधाओं को सहने में समर्थ हैं। बहुत दिन के दीक्षित हैं, तपस्या से वृद्ध हैं, अधिक तपस्वी हैं और आचार शास्त्रों के पारंगत हैं – ऐसे मुनि को एकलविहारी होने की जिनेन्द्रदेव ने आज्ञा दी है।''[359]

इसी प्रकार आचारसार में कहा है – ''जो मुनि, बहुत काल से दीक्षित है, ज्ञान संहनन और भावना से बलवान है – ऐसे मुनि, एकलविहारी हो सकते हैं।''[360]

तात्पर्य यह है कि ''अति पौरुषवान को ही एकल-विहार का निर्देश है। जैसे, राम, बाहुबली आदि एकल-विहारी थे या फिर जिन-कल्पी तीर्थंकर एकल-विहारी थे। सामान्यजन को एकल-विहार का सख्त निषेध है।''[361]

इसी प्रकार मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन करते हुए डॉ. फूलचदजी प्रेमी लिखते हैं कि साधारण मुनियों के लिए और विशेषकर इस पंचम काल में एकाकी विहार का विधान नहीं है।

संघस्थ साधु होने का महत्त्व[362]

भगवती आराधना में संघस्थ साधु का निरूपण अनेक प्रसंगों में किया है। वहाँ संघस्थ साधु होने के अनेक लाभ बताये गये हैं – अमृततुल्य जिनवचनों का श्रवण, आचार्य परमेष्ठी का समागम आदि लाभ,

संघस्थ साधु बनने से ही प्राप्त होते हैं; इससे साधु, सन्मार्ग से दूर नहीं हो पाता, उसकी चर्या सम्यक् प्रकार से बनी रहती है, आदि। वहाँ लिखा है –

किं पुण अणयारसहायेण, कीरयंत पडिकम्मो।
संघे ओलग्गंते, आराधेदुं ण सक्केज्ज।।
जिणवयणममिदभूदं, महुरं कण्णाहुदिं सुणंतेण।
सक्का हु संघमज्जे, साहेदुं उत्तमं अट्ठं।।[363]

अर्थात् हे मुनि ! यहाँ संघ में तुम्हारी सहायता के लिए तो मुनि-समुदाय है; वह तुम्हारे कष्ट का इलाज करता है, तुम्हारे साथ उपासना करता है; अतः तुम उनके साथ आराधना क्यों नहीं कर सकते हो ? यहाँ अमृत के समान मधुर जिन-वचन तुम्हारे कानों में जाते हैं; अतः उसे सुनते हुए संघ के मध्य में तुम्हारे लिए आराधना करना सरल है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा है –

1. क्षपकसाधुरूपी व्यापारी, दीक्षारूपी गाड़ी पर साधुओं के संघ के साथ चढ़ कर निर्वाणरूपी भाण्ड के लिए सिद्धिपुरी की ओर प्रस्थान करता है। उस दीक्षारूपी गाड़ी में समितिरूपी बैल जुड़े हैं, तीन गुप्तिरूपी उसके मजबूत चक्के हैं। रात्रिभोजन से निवृत्तिरूप दो दीर्घ दण्डे हैं। सम्यक्त्वरूपी अक्ष है, समीचीन ज्ञानरूपी धुरा है।
2. आचार्य उस संघ के नायक हैं, जो निरन्तर सावधान हैं। उनके द्वारा बार बार सन्मार्ग पर लगाया गया वह आराधक-साधु-समुदाय, संसाररूपी महावन को पार करता है। वह संघपति आचार्य, अपने द्वारा भावना आदि में नियुक्त उस साधु-समुदाय की इन्द्रियरूपी चोरों से और कषायरूपी अनेक जंगली हिंसक जानवरों से रक्षा करता है अर्थात् आचार्य, साधुओं के प्रमाददोष को उन्हें ध्यान और स्वाध्याय में लगा कर दूर करते हैं; इसलिए इन्द्रियरूपी चोर उन्हें नहीं सताते।
3. जो साधु, चारित्रभ्रष्ट साधुओं की क्रियाएँ करता है, वह असंयमी होकर साधुओं के संघ से बाहर हो जाता है और मोक्षमार्ग से दूर हो जाता है।
4. कोई साधु, इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी हिंसक जीवों के द्वारा पकड़े जाकर साधुसंघ के मार्ग को छोड़ कर साधुओं के पार्श्ववर्ती हो जाते हैं। साधुसंघ के पार्श्ववर्ती होने से इन्हें पासत्थ या पार्श्वस्थ कहते हैं। साधु समूह के मार्ग को छोड़ कर पार्श्वस्थ मुनिपने को प्राप्त हुए वे ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातगौरव से भरे गहन वन में पड़ कर तीव्र दुःख पाते हैं।
5. अथवा कोई मुनि, इन्द्रियरूपी चोरों से पीड़ित होकर कषायरूप हिंसक प्राणियों के भय से साधु संघ से दूर होकर उन्मार्ग में चले जाते हैं। साधु संघ से दूर होकर वे मुनि, कुशीलप्रतिसेवनारूप वन में उन्मार्ग से दौड़ते हुए आहार भय मैथुन परिग्रहरूप संज्ञानदी में गिर कर कष्टरूपी प्रवाह में पड़ कर डूब जाते हैं। संज्ञारूप नदी में डूबने पर उन्हें कहीं भी ठहरने का स्थान नहीं मिलता; अतः वे बहुत दुःख से भयानक संसर समुद्र में प्रवेश करते हैं। संसार समुद्र में प्रवेश करने पर आशारूपी पहाड़ों को लांघते हुए मनवचनकाय की दुष्प्रवृत्तिरूप शिलाओं पर लुढ़कते हुए गिर कर अनन्तकाल बिताते हैं।
6. साधुसंघ से निकल कर जो पूर्वाचार्यों के द्वारा नहीं कहे गये आगमविरुद्ध मार्ग की अपनी इच्छानुसार कल्पना करता है, वह यथाच्छन्द मुनि होता है। वह आगम का अनुसरण नहीं करता, अतः उसके सम्यग्दर्शन नहीं है और सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता। ऐसे यथाच्छन्द मुनि की प्रवृत्ति को अनेक उदाहरणों से भगवती आराधना में बताया गया है –

- जैसे, बकरी का बच्चा, सुगन्धित तेल भी पिये, फिर भी अपनी पूर्व दुर्गन्ध को नहीं छोड़ता; उसी प्रकार दीक्षा लेकर भी अर्थात् असंयम को त्यागने पर भी कोई कोई इन्द्रिय और कषायरूप दुर्गन्ध को नहीं छोड़ पाते।
- जैसे, सूअर, स्वादिष्ट आहार खाते हुए भी चिरन्तन अभ्यासवश विष्टा खाना पसन्द करता है; उसी प्रकार व्रतों को ग्रहण करके भी कोई कोई इन्द्रिय और कषायरूप अशुभपरिणामवाले होते हैं।
- जैसे, व्याध के भय से भागा हुआ हिरन, अपने झुण्ड को जाल में फँसा देख कर, झुण्ड के मोह से स्वयं भी जाल में फँस जाता है; वैसे ही कोई मुनि, गृह त्यागने के बाद स्वयं ही उसमें फँस जाता है।

- जैसे, पींजरे से मुक्त हुआ पक्षी उद्यानों में स्वेच्छापूर्वक विहार करते हुए स्वयं अपने आवास के प्रेमवश पींजरे में चला जाता है।
- जैसे, महती कीचड़ में फँसा हाथी का बच्चा बलवान् हाथी के द्वारा निकाला गया किन्तु पानी की प्यासवश वह स्वयं ही कीचड़ में फँस जाता है।
- जैसे, पक्षी, आग से घिरे वृक्ष से उड़ कर स्वयं ही स्वयं ही अपने घोंसले के कारण उस वृक्ष पर जा पहुँचता है।
- जैसे, किसी सोते हुए मनुष्य पर से सर्प जा रहा है; उसे कोई जागता हुआ मनुष्य, उठाता है और वह उठ कर कौतूहलवश उस सर्प को पकड़ना चाहता है।
- जैसे, कोई निर्लज्ज घिनावना कुत्ता, अपने ही वमन किये भोजन को भोजन की तृष्णावश लोलुपता से खाता है; उसी प्रकार गृहवास के दोषों से मुक्त कोई दीक्षा स्वीकार करके भी गृहवास के उन्हीं इन्द्रिय और कषायरूप दोषों को स्वीकार करता है।

विहार योग्य प्रासुक क्षेत्र तथा मार्ग

विहार योग्य प्रासुक मार्ग के विषय में आचार्य वट्टकेर ने कहा है –

1. ''संयमी को प्रासुक क्षेत्र तथा जहाँ शुद्ध आहार व जलादि सहजरूप से उपलब्ध हों – ऐसे क्षेत्रों में विहार करना चाहिए।
2. जो मार्ग बैलगाड़ी, अन्य वाहन, पालकी, रथ, हाथी, घोड़े, ऊँट, गाय, भैंस, बकरी तथा स्त्री-पुरुष आदि के आवागमन से शुद्ध प्रासुक हो चुका हो, सूर्यादि के आतप से सन्तप्त हो चुका हो – ऐसा मार्ग मुनियों के विचरण करने योग्य है – ऐसे मार्ग में भी मुनियों को दिवस में ही जागरूक होकर ईर्यासमितिपूर्वक चलना चाहिए तथा रात्रि में प्रासुक स्थान पर ठहरना चाहिए।''[364]
3. ''जो उद्गम, उत्पादन एवं एषणा दोषों से रहित, निर्जन्तुक हो, जहाँ पहले से किसी प्राणी का वास न हो, सजावटरहित हो, उस वसतिका में प्रवेश एवं बहिर्गमन की सुविधा हो, अपने उद्देश्य से जिसमें लिपाई-पुताई आदि नहीं कराई गई हो, जिसकी दीवारें मजबूत हों, जिसके दरवाजे ढ़के हों अथवा खुले हों, जहाँ विपुल प्रकाश हो; गाँव के बाहर – ऐसे स्थान में स्थित हो, जहाँ बाल, वृद्ध और चतुर्विध संघ अर्थात् मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका आ-जा सकते हों – ऐसी वसतिका, उद्यान, घर, गुफा, श्मशान-भूमि, वृक्ष का मूल, अकृत्रिम गृह अथवा शून्य घर आदि में हो सकती है।''[365]
4. ''जिन स्थानों या क्षेत्रों में कषाय की उत्पत्ति, आदर का अभाव, इन्द्रिय-विषयों की अधिकता, स्त्रियों का बाहुल्य, दुःखों और उपसर्गों का बाहुल्य हो – ऐसे क्षेत्रों का भिक्षु त्याग करे। गाय आदि तिर्यंचनी, कुशील स्त्री, भवनवासी, व्यन्तर आदि देवियाँ, असंयमी, गृहस्थ – इन सबके निवासों को अप्रमत्त श्रमण शयन करने, ठहरने या खड़े होने आदि के निमित्त सर्वथा त्याज्य समझते हैं। जो क्षेत्र, राजा-विहीन हो या जहाँ का राजा दुष्ट हो, जहाँ कोई दीक्षा न लेता हो, जहाँ सदा संयम-घात की सम्भावना रहती हो – ऐसे क्षेत्रों का श्रमण को परित्याग करना चाहिए।''[366]
5. करोड़ों महा उपद्रव होने पर भी जो अपने मन में कभी चंचलता धारण नहीं करते – ऐसे चतुर मुनिराज, श्री जिनेन्द्रदेव की आज्ञा पर अटल श्रद्धान रखते हुए पर्वतों की गुफाओं में निवास करते हैं।
6. इन वसतिका स्थानों से बहिर्गमन करते समय 'आसिका' शब्द के उच्चारण द्वारा 'मैं यहाँ से जा रहा हूँ, अब आप विराजिए' – इस रूप में सूचना करने का विधान है; जिससे उस स्थान के अधिष्ठाता देव या गृहस्थ स्वामी से पूछ कर जाने का व्यवहार होता है। इस प्रकार उस स्थान के स्वामी को वह स्थान सौंप देने के लिए 'आसिका' शब्द का उच्चारण किया है।
7. इस प्रकार वसतिका में प्रवेश या बहिर्गमन करते समय शरीराश्रित जीवों का परिमार्जन पिच्छिका द्वारा करना चाहिए; जिससे शीतकाय या उष्णकाय के जीवों को परस्पर विरुद्ध वातावरण से बाधा न हो।
8. मुनिराज गाँव में एक रात्रि निवास करते हैं क्योंकि एक रात्रि में ही वहाँ का सर्व अनुभव आ जाता है और नगर में पांच रात्रि ठहरते हैं क्योंकि पांच दिन में वहाँ के सर्व तीर्थ आदि की यात्राएँ हो जाती हैं, इससे अधिक रहने से औद्देशिक आदि दोष हो जाते हैं और मोहादि भी उत्पन्न हो जाते हैं।

9. वर्षा ऋतु में जीवोत्पत्ति की अधिकता होने से स्थावर और जंगम सभी प्रकार के जीवों से यह पृथ्वी व्यापती रहती है; अतः उस समय विहार करने में हिंसा अनिवार्य हो जाती है, महान असंयम होता है। इसी कारण करुणाशील मुनिराज वर्षाकाल में वर्षायोग के धारण का उपयुक्त समय जान कर, धर्मध्यान और चर्या आदि के अनुकूल योग्य प्रासुक एक ही स्थान पर स्व-पर विराधना से बचने के लिए चार माह तक भ्रमण का त्याग कर, आत्म-साधना करते हैं; इसे वर्षावास, वर्षायोग या चातुर्मास भी कहते हैं।

   श्वेताम्बर परम्परा में 'पर्युषणा कल्प' के नाम से वर्षावास का वर्णन प्राप्त होता है। वृहत्कल्पभाष्य में इसे 'संवत्सर' कहा गया है। जैन परम्परा के साथ ही प्रायः सभी भारतीय परम्पराओं में साधुओं को वर्षाकाल के चार माह में एक स्थान पर स्थित रह कर धर्मसाधन करने का विधान है।

   श्रमण और श्रावक – दोनों के लिए धार्मिक और आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से इस चातुर्मास का महत्त्व है; इसलिए श्रमण या उनके संघ के चातुर्मास को श्रावक, वैसे ही प्रिय और हितकर अनुभव करते हैं, जिस प्रकार चकवा चन्द्रोदय को, कमल सूर्य को, और मयूर मेघोदय को अनुभवते हैं।[367]

10. सामान्यतया चातुर्मास की अवधि, आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी से कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी तक होती है। यद्यपि यह समय अनगार धर्मामृत में कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी तक ही माना गया है; परन्तु उसमें चार माह का समय ही पूरा नहीं होता, मात्र साढ़े तीन माह ही होता है। वर्षाकाल के समय में एक सौ बीस दिन तक एक स्थान पर रहने का सामान्य नियम है।[368]

11. श्वेताम्बर परम्परा के कल्पसूत्र में आषाढ़ मास की पूर्णिमा को चातुर्मास के लिए साधुओं और साध्वियों को वसने का विधान किया है। जबकि कल्पसूत्र-निर्युक्ति में कहा है कि साधुओं और साध्वियों को आषाढ़ मास की पूर्णिमा तक नियत स्थान पर पहुँच कर श्रावण कृष्ण पंचमी से वर्षावास प्रारम्भ कर देना चाहिए। वहाँ ऐसा भी कहा है कि उपयुक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावण कृष्ण दसमी से पाँच पाँच दिन बढ़ाते हुए भाद्र शुक्ल पंचमी तक तो निश्चित ही वर्षावास प्रारम्भ कर देना चाहिए, फिर चाहे वृक्ष के नीचे ही क्यों न करना पड़े, किन्तु इस तिथि का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। समय की दृष्टि से वर्षावास के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट – ये तीन भेद बताये हैं। इनमें भाद्रपद शुक्ला पंचमी से कार्तिक पूर्णमासी तक सत्तर दिनों का जघन्य वर्षावास कहा जाता है। आषाढ़ से कार्तिक तक चार माह का मध्यम और आषाढ़ से मृगसर तक छह माह का उत्कृष्ट वर्षावास कहलाता है।[369]

12. ''वर्षायोग धारण कर लेने पर भी यदि दुर्भिक्ष पड़ जाए, महामारी फैल जाए, गाँव अथवा प्रदेश में किसी कारण से उथल-पुथल हो जाए, संघ के विनाश होने के निमित्त आ जाएँ तो देशान्तर में जा सकते हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में वहाँ ठहरने से रत्नत्रय की विराधना होगी, अतः आषाढ़ की पूर्णमासी बीतने पर प्रतिपदा आदि के दिन देशान्तर गमन कर सकते हैं।''[370]

13. ''कितना ही प्रयोजन होने पर भी कार्तिक शुक्ला पंचमी तक वर्षायोग के स्थान से अन्य स्थान पर नहीं जाना चाहिए। यदि किसी दुर्निवार उपसर्ग आदि के कारण वर्षायोग के उक्त प्रयोग में अतिक्रम करना पड़े तो साधु को प्रायश्चित्त लेना चाहिए।''[371]

यद्यपि साधु को वनवासी होना ही उचित है, परन्तु पंचम काल का ध्यान में रख कर पद्मनन्दि पंचविंशतिका, नीतिसार आदि ग्रन्थों में साधु को जिनालय, ग्राम आदि में रहने का भी समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में चर्चासागर की निम्न शंका समाधान द्रष्टव्य है –

''**प्रश्न** – इस पंचम काल में इस वर्तमान समय में होने वाले मुनिराज किस क्षेत्र में ठहरें ? वन, उपवन, पर्वत, गुफा, नदी के किनारे, श्मशान आदि में निवास करें अथवा किसी और जगह भी अपनी स्थिति रख सकते हैं ?

समाधान – इस पंचम काल में वर्तमान समय में होने वाले मुनियों की स्थिति श्रीमन्दिरजी में बतलाई है। यह बात श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका के छठे अधिकार में लिखी है –

सम्प्रत्यत्र कलौ काले, जिनगेहे मुनिस्थितिः।
धर्मस्य दानमित्येषां, श्रावका मूलकारणम्।।[372]

इसी प्रकार श्री इन्द्रनन्दि ने नीतिसार में लिखा है –

काले कलौ वने वासो, वर्जनीयो मुनीश्वरैः।
स्थीयेत च जिनागारग्रामादिषु विशेषतः।।[373]

इस श्लोक में श्रावक की प्रशंसा करते हुए धर्म का दान देने के लिए श्रावक को मूल कारण बताया गया है; इसी उद्देश्य से इस श्लोक का भावार्थ लिखते हुए कहा गया है –

भावार्थ – इस वर्तमान काल में श्रावक ही धर्म सुनने के पात्र हैं, इसलिए मुनिराजों की स्थिति जिनालय में होने से ही श्रावक को लाभ पहुँच सकता है।''

मुनिराज की व्यवहारचर्या अथवा समाचारी[374]

श्रमणाचार के प्रसंग में सामान्यतः मुनिराजों के आहार-विहार, विधि-निषेध और प्रवृत्ति-निवृत्ति की व्यवस्था और उसके आधार को व्यवहार कहा जाता है। सामान्य आचार को भी व्यवहार कहा जाता है। आचार शास्त्रों में प्रायश्चित्त के अर्थ में भी व्यवहार शब्द का प्रयोग होता है।

मुनि-जीवन के सम्पूर्ण ही व्यवहार, समदृष्टि की प्राप्ति के लिए ही होते हैं। वे जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, इष्ट-अनिष्ट, स्वजन-परजन, निन्दक-प्रशंसक, संयोग-वियोग, इत्यादि में राग-द्वेषरहित होकर समताभाव धारण करते हैं। इसी भाव को छहढ़ाला में भी व्यक्त किया गया है –

अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-काँच, निन्दन-थुतिकरन।
अर्घावतारन - असिप्रहारन, में सदा समता धरन।। 6।।[375]

मूलतः मुनिराज का आत्मोन्मुखी जीवन, आत्मशोधन का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है, अतः वे सम्पूर्ण प्रकार के लोक-व्यवहार से तो एकदम अतीत होते ही हैं; तथापि मुनि-जीवन के अनुकूल, अन्य साधर्मी मुनिराज आदि के प्रति पारस्परिक धार्मिक वात्सल्य-पूर्ण सम्बन्धों में यथायोग्य प्रवृत्तिरूप प्रवर्तते भी हैं। वे समाज से जितना लेते हैं, उससे कहीं अधिक देते हैं। सामान्यतः उनका जीवन-व्यवहार निम्न प्रकार से प्रवर्तित होता है –

1. उनका सम्पूर्ण जीवन स्वावलम्बन से परिपूर्ण होता है। पैदल चलना, वस्त्र आदि का प्रयोग नहीं करना, आहार के लिए भिक्षावृत्ति अपनाना आदि प्रत्येक क्रिया में उनके स्वावलम्बन की झलक मिलती है।
2. वे भौतिक (आहार आदि) साधनों का प्रयोग भी कम से कम करते हैं; उनका अर्जन या संचय करने का तो प्रश्न ही नहीं।
3. उनका सारा व्यवहार अहिंसा पर आधारित होता है।
4. उनके जीवन के प्रत्येक क्षण और व्यवहार का एकमात्र उद्देश्य, आत्मसाधना एवं आराधना होता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति में निमित्तभूत अट्ठाईस मूलगुण आदि की प्रवृत्ति होती है।
5. उनका प्रत्येक व्यवहार, यत्नाचारपूर्वक और मन-वचन-काय की विशुद्धता से युक्त होता है। जैसे, उनका वचन-व्यवहार, हित-मित-प्रिय वचनों से युक्त और भाषा समितिपूर्वक होता है।
6. उनकी जीवन शैली, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की सम्पूर्णता में समाहित होती है।
7. उनका गमन, भाषण, आहार, वस्तुओं को उठाना - रखना, एवं मल-मूत्र आदि का विसर्जन आदि सम्पूर्ण कार्य, पूर्ण सावधानीपूर्वक सम्पन्न होते हैं।
8. वे जितेन्द्रिय रहते हुए, षटावश्यकों में सतत प्रयत्नशील रहते हैं।
9. वे श्रमण, अनियत विहारी होने से कहीं भी गुफा, वन या ऐसी एकान्त वसतिका आदि में ठहरते हैं, जहाँ प्राणीमात्र को आने जाने में किसी तरह की बाधा नहीं होती है।
10. वे केश बढ़ने पर उन्हें नाई आदि के माध्यम से कैंची आदि से नहीं कटवाते या स्वयं भी उनका प्रयोग करके नहीं काटते, अपितु अपने हाथों से उनका लुंचन करते हैं।
11. वे आजीवन स्नान आदि नहीं करते।
12. वे पैदल नंगे पैर ही चलते हुए ग्राम-नगर-तीर्थ आदि स्थानों में सदा विहार करते रहते हैं और किसी प्रकार की सवारी का उपयोग नहीं करते हैं।
13. वे वस्त्राभूषणों को मूर्च्छा का कारण समझ कर, उनका सर्वथा त्याग कर देते हैं। सब ऋतुओं में नग्न दिगम्बर ही रहते हैं।
14. वे भूमि पर या उसके ही समान अन्य निर्जन्तुक स्थान पर सोते हैं।
15. वे न तो दातौन करते हैं और न ही उन्हें दातौन करने की आवश्यकता होती है।

16. गृहस्थों से अधिक ममत्व न बढ़े, इसलिए वे एक स्थान पर अधिक समय तक नहीं ठहरते।
17. अट्ठाईस मूलगुणों का पालन श्रमण जीवन का कसौटीपूर्ण व्यवहार है, इन्हीं मर्यादाओं के अन्तर्गत वे अपने समस्त व्यवहारों में प्रवृत्त होते हैं।
18. मूलगुणों के अतिरिक्त उत्तरगुणों के पालन से श्रमण जीवन के व्यवहार में परिपूर्णता आती है, इनमें दश धर्म एवं बारह तपों का आचरण, दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-वीर्य – इन पंचाचारों का परिपालन और निरन्तर वैराग्य-वृद्धि हेतु बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करते हुए श्रमण, आत्मकल्याण में तत्पर रहते हैं।
19. कलुषता, मोह, इच्छा, राग-द्वेष आदि अशुभभाव एवं पाप की कारणभूत विकथाओं का त्याग तथा बन्धन, छेदन, संकोचन, प्रसारण आदिरूप मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रियाओं से मुक्त होकर गुप्तियों का सहज ही पालन करते हैं।
20. प्रमाद सहित एवं संयम विघातक कार्यों को छोड़ कर, अपने श्रामण्य जीवन में समतापूर्वक बाईस परिषहों को स्वेच्छापूर्वक सहते हैं।
21. सभी प्राणियों से उनका सहज मैत्रीभाव होता है।
22. वे पूर्ण अपरिग्रही होते हैं; अतः औषधि, आहार आदि का दान तो नहीं कर सकते क्योंकि उनकी भूमिका में यह सब सम्भव ही नहीं होता, किन्तु वे सभी प्राणियों के प्रति अभयदान का उपदेश देकर अभयदान मिश्रित ज्ञानदान भी करते हैं।

इस प्रकार श्रमण के सम्पूर्ण जीवन-व्यवहार का लक्ष्य, मूलगुणों, उत्तरगुणों एव शीलगुणों आदि का विशुद्धतापूर्वक पालन करते हुए आध्यात्मिक विकास करना होता है।[376]

मुनिराज की व्यवहार-चर्या अथवा समाचारी को हम इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं –

1. मुनिराज का सामान्य व्यवहार या औघिक समाचार
2. मुनिराज का आचार्य के प्रति पारस्परिक व्यवहार
3. मुनिराज एवं आर्यिकाओं का पारस्परिक व्यवहार
4. मुनिराज एवं गृहस्थों का पारस्परिक व्यवहार
5. मुनिराजों का वैयावृत्य सम्बन्धी व्यवहार
6. मुनिराजों का वन्दना सम्बन्धी व्यवहार
7. मुनिराजों का प्रायश्चित्त सम्बन्धी व्यवहार
8. मुनिराजों का आहार एवं विहार सम्बन्धी व्यवहार
9. मुनिराजों के लिए निषिद्ध व्यवहार

जिनागम के आचार-शास्त्रों में मुनिराज की व्यवहारचर्या को समाचार, सामाचार, समाचारी सामाचारी आदि शब्दों का प्रयोग करके सम्बोधित किया गया है।

सम्यक् अर्थात् शोभन या निरतिचार मूलगुणों का अनुष्ठान करना, आचरण करना, पालन करना। अथवा सम्यक् आचरण अर्थात् सम्यग्ज्ञान करना अथवा निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना **समाचार** है क्योंकि 'चर्' धातु भक्षण करना और गमन करना – इन दो अर्थों में मानी गई है। 'चर्' धातु ज्ञान के अर्थ में होती है, अतः समाचार का अर्थ 'ज्ञान' भी होता है।

संघ में वैयावृत्य करना, साधु-समाचारी, धर्मतीर्थ की वृद्धि के लिए प्रयत्न धर्म का निरूपण – ये सब कार्य सरागचारित्र में निषिद्ध नहीं है; लेकिन जो लौकिकजन, श्रद्धा से रहित हैं, चारित्र से हीन हैं, अपवादशील हैं, साधुत्व से विपरीत हैं; उनके साथ समाचारी नहीं करना चाहिए।

सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्दजी बनारस[377] ने लिखा है –

''साधुओं के मध्य जो परस्पर में अभिवादन आदि की प्रक्रिया है या परस्पर के सहयोग से धार्मिक क्रियाओं का समतापूर्वक अनुष्ठान होता है, उसे **समाचारी** कहते हैं। इसके अन्तर्गत अपने से अधिक गुणी साधुओं के प्रति खड़ा होना, आदर करना, विनयपूर्वक हाथ जोड़ना, नमस्कार करना आवश्यक है।.....

बाह्य-अभ्यन्तर निर्ग्रन्थ-निर्विकार प्राकृतिक स्वरूप को प्राप्त श्रमणों को देख कर, श्रमणों को भी सर्व प्रथम अभ्युत्थान आदि क्रियाएँ करना चाहिए, पश्चात् उनका परिचय हो जाने के बाद उनमें गुणानुसार भेद

करना चाहिए। जो गुणों में अधिक हैं, उनके प्रति ही विशेष आदरभाव, सेवा, पोषण, सत्कार, विनयसहित हाथ जोड़ना, प्रणाम आदि प्रवृत्तियाँ चाहिए, अन्य श्रमणाभासों के प्रति नहीं।[378]

जो श्रमण, संयम, तप और श्रुत से सम्पन्न होते हुए भी जिन भगवान के द्वारा उपदिष्ट आत्मप्रधान पदार्थों/तत्त्वों की श्रद्धा नहीं रखता है, पदार्थों को अयथार्थरूप से ग्रहण करते हैं, सत्क्रियाओं को करने में प्रमोद नहीं रखता है, उसका चारित्र नष्ट हो जाता है, वह श्रमण नहीं है, श्रमणाभास है। जो श्रमण, द्वेषवश जिनदेव के शासन में स्थित श्रमण का द्वेष से अपवाद करता है, वह भी श्रमणाभास है। प्रवचनसार में उन्हें अनन्त संसार में भ्रमण करने के कारण संसारतत्त्व कहा है।[379]

जो श्रमण, स्वयं गुण में हीन होते हुए भी गुणवान् श्रमणों से अपनी विनय कराना चाहता है, वह अनन्त संसारी है; इसी प्रकार जो स्वयं गुणों में अधिक होते हुए भी हीन गुणवान् श्रमण की वन्दना तथा लौकिकजनों से संसर्ग आदि क्रियाओं में वर्तते हैं, वे भी चारित्र से भ्रष्ट होते हैं – ऐसे श्रमणाभासों के साथ समाचारी नहीं करना चाहिए। जैसे, अग्नि के संसर्ग से पानी में विकार आ जाता है, वैसे ही लौकिकों के संसर्ग से संयमी भी असंयमी हो जाता है, अतः मोक्षार्थी श्रमण को अपने से गुणाधिक या समान गुणवाले श्रमण का ही संसर्ग करना चाहिए।

जो निर्ग्रन्थरूप से दीक्षित होने के कारण संयम-तप-संयुक्त है, लेकिन वह भी यदि मोह की बहुलता के कारण शुद्ध चेतन व्यवहार को छोड़ कर, हमेशा मनुष्य व्यवहार को मुख्य मान कर, ख्याति-पूजा-लाभ के निमित्तभूत ज्योतिष, मन्त्रवाद, वैद्यक आदि ऐहिक कार्यों में प्रवर्तता है, तो वह साधु भी 'लौकिक' कहा गया है। अतः सर्व दुःखों से मुक्ति चाहने वाले श्रमण को चाहिए कि वह समान अथवा अधिक गुण वाले श्रमण के साथ निवास करे, इससे उसके गुणों में वृद्धि होगी।

समाचार के भेद[381]

मूलाचार में समाचार के दो भेद कहे हैं – औघिक और पदविभागिक समाचार। **औघिक समाचार –** सामान्य आचरण को औघिक समाचार कहते हैं। इसके दश भेद हैं –

इच्छामिच्छाकारो, तधाकारो य आसिआ णिसिही।
आपुच्छा पडिपुच्छा छंदण सणिमंतणा य उवसंपा।। 125।।

अर्थात् 1. इच्छाकार, 2. मिथ्याकार, 3. तथाकार, 4. आसिका, 5. निषेधिका, 6. आपृच्छा, 7. प्रतिपृच्छा, 8. छन्दन, 9. निमन्त्रणा, 10. उपसंपत् – ये औघिक समाचार के दश भेद हैं।

1. **इच्छाकार** – शुभ परिणाम में हर्ष होना।
2. **मिथ्याकार** – अतिचाररूप अशुभ परिणामों में मिथ्याकार शब्द कहना।
3. **तथाकार** – सूत्र के अर्थ सुनने में तथेति अर्थात् 'ऐसा ही है' – ऐसे कहना।
4. **आसिका** – रहने की जगह से पूछ कर निकलना।
5. **निषेधिका** – वसतिका आदि में प्रवेश करते समय पूछ कर प्रवेश करना।
6. **आपृच्छा** – पठन, गमन आदि कार्यों में गुरु आदि से प्रश्न पूछना।
7. **प्रतिपृच्छा** – साधर्मी अथवा गुरु आदि से पहले दिये हुए उपकरणों को पूछ कर ग्रहण करना।
8. **छन्दन** – उपकरणों को देने वाले अभिप्राय के अनुकूल रखना।
9. **निमन्त्रणा** – अगृहीत उपकरणों की इच्छापूर्वक याचना करना।
10. **उपसंपत्** – गुरुकुल आदि में 'मैं आपका हूँ' – इस प्रकार कह कर आचरण करना।

उपसंपत् के पाँच भेद हैं – 1. विनयोपसंपत्, 2. क्षेत्रोपसंपत्, 3. मार्गोपसंपत्, 4. सुखदुःखोपसंपत्, 5. सूत्रोपसंपत्।

1. **विनयोपसंपत्** – आगन्तुक अतिथि श्रमण की विनय, वैयावृत्ति आदि करके उनके अनुकूल प्रवृतना।
2. **क्षेत्रोपसंपत्** – जिस स्थान में रहने से संयम, तप आदि की वृद्धि हो, उस स्थान में रहना।
3. **मार्गोपसंपत्** – बाहर से आये हुए श्रमणों से आने जाने के सम्बन्ध कुशलक्षेम पूछना।
4. **सुखदुःखोपसंपत्** – सुख-दुःख के प्रसंग बनने पर वसतिका, उपकरण आदि के द्वारा साधर्मी की मदद करना, मिष्ट वचन कहना, उनके कष्ट दूर करना।

5. सूत्रोपसंपत् – सूत्र, अर्थ, और सूत्रार्थ के अध्ययन में प्रयत्न करना।

''औघिक समाचार के उक्त विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि साधुवर्ग, समाज व्यवस्था से साक्षात् जुड़े हुए न होने पर भी उनमें साधर्मी व्यवहार, अन्य साधुवर्ग के प्रति सहयोग और अपने से बड़ों के प्रति सम्मान का भाव अवश्य रहता है और वे स्व-पर के परिणामों के विकास में निरन्तर सजग रहते हैं।

पदविभागिक समाचार – श्रमणगण, सूर्योदय से लेकर सम्पूर्ण अहोरात्र पर्यन्त निरन्तर जो आचरण करते हैं, वह सब **पदविभागिक समाचार** कहलाता है। जैसे, गमनागमन, चतर्विंशतिस्तव, प्रतिक्रमण, सामायिक आदि षडावश्यक, नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ, आहारचर्या, आवास आदि विविध यथायोग्य नियमों का जो श्रमणों के द्वारा निरन्तर पालन किया जाता है, वह सब **पदविभागिक समाचार** है।[382]

मुनि अवस्था में पारस्परिक व्यवहार

मुनिराज का जीवन अध्यात्म की पराकाष्ठा होता है। उसमें यद्यपि किसी भी प्रकार का लौकिक संग अपेक्षित नहीं होता है; तथापि आहार, वैयावृत्य एवं धर्मोपदेश आदि ऐसी क्रियाएँ हैं, जिसमें मुनिराजों का सम्पर्क गृहस्थों के साथ होता है; अतः वे अपनी मर्यादा में रह कर उतना ही सम्पर्क या व्यवहार गृहस्थों के साथ रखते हैं, जिससे अपने लक्ष्य से च्युत न हो जाएँ।

जिस प्रकार रागी जीव को रागपोषक एवं रागवर्द्धक, परिवारजनों एवं इष्ट मित्रों के प्रति सहज अनुराग होता है; उसी प्रकार शुभोपयोगी मुनिराजों को अन्य आचार्यादि एवं मुनिराजों के प्रति धार्मिक वात्सल्यपूर्ण अनुराग होता है। श्रमणों में ज्येष्ठता-लघुता एवं पद इत्यादि की अपेक्षा यथायोग्य आदर-सत्कार, वैयावृत्य तथा अन्य सहयोग विषयक विविध व्यवहार होते हैं।

मुनिराजों का वैयावृत्य सम्बन्धी व्यवहार

प्रवचनसार में कहा है कि रोग से, क्षुधा से, तृषा से अथवा श्रम से आक्रान्त श्रमण को देख कर साधु, अपनी शक्ति के अनुसार उनकी वैयावृत्य आदि करना चाहिए; साथ ही ऐसे समय में लौकिकजनों के साथ बातचीत करना भी निषिद्ध नहीं माना है।

तात्पर्य यह है कि शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त श्रमण को उससे च्युत करे – ऐसा कोई उपसर्ग आदि आ जाए तो वह काल, शुभोपयोगी श्रमण या आचार्य को अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिकार करने की इच्छारूप निरवद्य प्रवृत्ति का काल है – ऐसे समय में ही शुभोपयोगी श्रमण, शुद्धात्मपरिणतिशून्य लोगों के साथ बातचीत करते हैं तथा उसके अतिरिक्त काल में श्रमणों को अपनी शुद्धात्मपरिणति की प्राप्ति के लिए निवृत्तिस्वरूप बिताना चाहिए।

साथ ही यहाँ आचार्य, सचेत करते हुए आगे कहते हैं कि वैयावृत्य आदि करना, श्रमणों का गौण कर्म है, जबकि वही गृहस्थ श्रावकों का मुख्य कर्म है। इसी प्रकरण में यह भी कहा गया है कि मुनि को चूंकि सर्वविरति का सद्भाव होता है, इसलिए उनको मात्र कषायकण के सद्भाव के कारण उतना ही शुभोपयोग गौणरूप से रहता है, जबकि गृहस्थ को सर्वविरति के अभाव होता है, इसलिए उग्र शुद्धात्मप्रकाशन का अभाव एवं सराग शुद्धात्मप्रकाशन सम्भावित होने से कषाय का सद्भाव होने के कारण उतना शुभोपयोग मुख्य रहता है। आगे वहीं भावार्थ में यह स्पष्ट किया है कि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के द्वारा अशुभ (विशेष अशुद्ध) से छूटने के लिए प्रवर्तमान शुभोपयोग का पुरुषार्थ, वह शुद्धि का मन्द पुरुषार्थ है क्योंकि शुद्धात्मद्रव्य के मन्द अवलम्बन से अशुभ परिणति बदल कर शुभ परिणति होती है और शुद्धात्मद्रव्य के उग्र अवलम्बन से शुभ परिणति भी बदल कर शुद्ध परिणति हो जाती है।[383]

तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार वैयावृत्य के चार कारण हैं – समाधि उत्पन्न करना, विचिकित्सा दूर करना, प्रवचन-वात्सल्य प्रगट करना, और असहायपने की अनुभूति दूर करना।[384]

वैयावृत्य तप की व्याख्या करते हुए कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि जो अपनी पूजा आदि की अपेक्षा रहित होकर उपसर्ग पीड़ित तथा जरा-रोगादि से क्षीणकाय यतियों का अपनी चेष्टा से, उपदेश से और अल्प वस्तु से उपकार करता है; उसके वैयावृत्य नामक तप होता है।[385]

मूलाचार में तो स्वगण और परगण के साधुओं की वैयावृत्ति करने का भी उपदेश दिया है, उनके अनुसार – गुणों में अधिक, उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, दुर्बल साधुगण, कुल, संघ और मनोज्ञता सहित मुनियों

पर आपत्ति के प्रसंग में वैयावृत्ति करना चाहिए। इसी प्रकार परगण में क्षीण शक्ति वाले, गुरु, बाल, वृद्ध और शैक्ष मुनियों की अपनी शक्ति के अनुसार यथायोग्य वैयावृत्ति करना चाहिए।[386]

उक्त सम्पूर्ण उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि शुभोपयोगी मुनिराज, किसी भी प्रकार के प्रत्युकार की अपेक्षा रखे बिना, रोगादि से पीड़ित अन्य मुनिराज आदि की सेवा आदि करके उन्हें धर्मकार्य में स्थिर-चित्त रखने हेतु वैयावृत्य करते-कराते हैं।

मुनिराज का वन्दना व्यवहार

षट् आवश्यक एवं विनय तप के अन्तर्गत वन्दना व्यवहार का समावेश होता है। रत्नत्रयधारक यति, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, वृद्धसाधु आदि के उत्कृष्ट गुणों को जान कर श्रद्धासहित विनयरूप प्रवर्तना, वन्दना है।[387] वन्दना, शरीर कुल जाति आदि की नहीं की जाती है, वह तो गुणों की होती है क्योंकि गुणहीन वन्दना योग्य नहीं होता।[388] जो पुरुष, पवित्र दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप उत्तम आत्मा की वन्दना करता है, उसे ही विद्वानों ने वन्दना कहा है।[389]

मुनिराज का आचार्य के प्रति पारस्परिक व्यवहार

मुनि, आचार्य के समीप जाकर खड़े रहें। न तो बहुत दूर और न बहुत निकट, विनयपूर्वक तिष्ठें। पश्चात् आचार्य की आज्ञा होने पर ही बैठें, अन्यथा खड़े ही रहें।.....पश्चात् अवसर पाकर सामने जाकर पीछी से धरती का प्रतिलेखन करके एक हाथ प्रमाण भूमि के अन्तरवर्ती दोनों हाथ के बीच पीछी को रख कर, पीछी सहित हाथ जोड़ कर, पंचांग नमस्कार करें और मुख से ऐसे वचन उच्चारण करें – 'अहं वन्दामि'। पश्चात् आचार्य भी गर्वरहित शुद्ध भाव से वन्दना को स्वीकार करें अर्थात् मुनि को प्रति-नमस्कार करें क्योंकि मुनि, मुनि को नमस्कार करते हैं। इतना विशेष है कि सामान्य मुनि तो आचार्य को विशेष विनय से नमस्कार करें और आचार्य उस मुनि को थोड़े विनय से नमस्कार करें।

फिर अवसर पाकर मुनि, आचार्य के समक्ष अपने कल्याण के लिए प्रार्थना करें – ''हे स्वामिन्! जिससे कल्याण हो, ऐसा उपदेश मुझे दीजिए।'' तब आचार्य जो उपदेश दें, उसे विशेष रुचि से ग्रहण करें और जितना उपदेश सुना हो, उसकी भले प्रकार धारणा रखें और बाद में वैसे ही प्रवर्तन करें, उसे विस्मरण न होने दें।

इसी प्रकार जब आर्यिका आदि आचार्य को नमस्कार करें तो आचार्य उनसे कहें कि 'तुम्हारे स्त्रीपर्याय का कर्म व सर्व अष्ट कर्म का क्षय हो'। इसी प्रकर उत्कृष्ट प्रतिमाधारी श्रावक से कहें कि 'तुम्हारे धर्म की वृद्धि हो'। सामान्य पुरुष या स्त्री से कहें कि 'तुम्हारे शुभ व शान्ति हो' तथा चाण्डाल आदि अस्पृश्य शूद्र से कहें कि 'तेरे पाप का क्षय हो' – इस प्रकार आचार्य सम्भाषण करते हैं।

ध्यान रहे कि शिष्य साधु, गुरुओं के सामने नहीं बैठते, अपितु उनकी दायीं-बांयी ओर बैठते हैं। कुछ पूछना आवश्यक हो तो शान्ति से पूछते हैं और उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करते हैं।.....अपने दोनों हाथों में पुस्तक, कमण्डलु, पीछी को धारण करके आचार्य के दोनों हाथों में देवें, इसी प्रकार जब आचार्य से स्वयं पुस्तक आदि लेवें तो दोनों हाथों से विनयपूर्वक लेवें। ऐसा नहीं कि एक ही हाथ से पकड़ा दें अथवा एक ही हाथ से ग्रहण कर लें। ऐसी प्रवृत्ति में अविनय होती है,लेकिन मुनि तो महा विनयवान व अप्रमादी होते हैं।[390]

मुनिराज एवं गृहस्थों का पारस्परिक व्यवहार

इस सम्बन्ध में मूलाचार समीक्षा के लेखक पण्डित फूलचन्द प्रेमी लिखते हैं –

''वस्तुतः मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका रूप संघ में श्रमण और श्रावक, दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं; दोनों ही जैनधर्म के प्रमुख स्तम्भ माने जाते हैं, अतः श्रावक के साथ मुनि का सम्पर्क आहारचर्या, वैयावृत्य, धर्मोपदेश, आदि के समय होना स्वाभाविक है, किन्तु यह सम्पर्क 'लक्ष्य की एकता' के कारण है; अतः ऐसा निरपेक्ष व्यवहार या सम्पर्क रखना चाहिए, जिससे अपने धर्म की साधना में किंचित् मात्र भी बाधा न पहुँचे क्योंकि असावधानीवश धार्मिकता के बहाने संसार के प्रपंच में प्रवेश और झुकाव हो सकता है और यह भी तथ्य है कि श्रमणों में सांसारिक आकर्षण, प्रथमतः सांसारिकजनों के निमित्त से ही बढ़ते हैं।[391]

सामान्य श्रावक-श्राविकाएँ, सर्व मुनियों को 'नमोस्तु' अर्थात् नमस्कार कहें। आर्यिका को वन्दामि और उत्कृष्ट श्रावक-श्राविकाओं, जैसे, क्षुल्लक-ऐलक-क्षुल्लिकाओं को इच्छामि कहें।[392]

श्रावकजन को तो मुनिराज का सुयोग कल्पवृक्षसम फलदायी है, अतः उन्हें तो मुनिराज का सान्निध्य प्राप्त करने का अवसर ढूँढना चाहिए क्योंकि इससे उनको वैराग्यभाव के पोषण का अवसर तो प्राप्त होगा ही, साथ ही धर्मोपदेश एवं पात्रदान आदि के सुयोग भी मिलेंगे; परन्तु मुनिराजों को श्रावकों के साथ मात्र धर्मोपदेश, आहार एवं वैयावृत्य तक ही सीमित सम्बन्ध रखना चाहिए क्योंकि श्रावकों के किसी भी प्रकार के लौकिक/सामाजिक प्रसंगों के प्रलोभन, मुनि-जीवन के लिए घातक एवं अधःपतन के कारण हो सकते हैं तथा तीव्रकषायी लौकिकजनों एवं धर्म-प्राप्ति के अयोग्यजनों के प्रति मौन ही श्रेष्ठमार्ग है।

आर्यिकाओं के साथ आचार्य एवं संघस्थ अन्य मुनियों का परस्पर आगमसम्मत व्यवहार

जैनाचार्यों ने श्रमणसंघ को निर्दोष एवं सदा अक्षुण्ण बनाये रखने के पावन उद्देश्य से, अनेक दृष्टियों से स्त्रियों के संसर्ग का अत्यन्त निषेध किया है। मुनिराजों एवं आर्यिकाओं का पारस्परिक व्यवहार, केवल धार्मिक दृष्टि तक ही सीमित है। वहाँ कुछ आर्यिकाएँ एक साथ मिल कर ही मुनिराजों से अध्ययन या शंका-समाधान आदि कर सकती हैं, अकेले नहीं। अकेले मुनिराज और आर्यिका की तो तत्त्वचर्चा तक का भी निषेध किया गया है। ''आर्यिका को आचार्य से पाँच हाथ, उपाध्याय से छह हाथ, और सामान्य साधुजनों से सात हाथ दूर रह कर गवासन से वन्दना करनी चाहिए।'' यहाँ आर्यिका का प्रकरण होने से आर्यिका का पद लिया गया है, किन्तु इसे उपलक्षण से स्त्री मात्र को ग्रहण होता है।[393]

इसी सन्दर्भ में मूलाचार[394] में कहा है –

- आर्यिकाओं के आने के समय मुनि को अकेले नहीं बैठना चाहिए; उसी प्रकार उनके साथ बिना प्रयोजन वार्तालाप आदि भी नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कदाचित् धर्मकार्य के प्रसंग में बोलना ठीक भी है। यहाँ आर्यिकाओं के साथ सम्पूर्ण स्त्री जाति का ग्रहण कर लेना चाहिए।।177।।
- धर्मकार्य के सम्बन्ध में भी अकेली आर्यिका प्रश्न करे तो अकेला मुनि उत्तर न देवे। यदि कोई आर्यिका, गणिनी को आगे करके पूछती है तो फिर मुनि उसका उत्तर, धर्मप्रभावना की दृष्टि से दे भी सकते हैं।।178।।
- यदि कोई तरुण मुनि, तरुणी आर्यिका या अन्य तरुणी स्त्री के साथ कथा, संलाप, हँसी, वचनालाप आदि करे तो उसे आज्ञाकोप, अनवस्था, मिथ्यात्व-आराधना, आत्मनाश, और संयम-विराधना – ये पाँचों ही दोष लगते हैं।।179।।
- आर्यिकाओं की वसतिका में मुनियों का रहना, वहाँ बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षा व कायोत्सर्ग आदि क्रियाएँ करना युक्त नहीं है, बल्कि निषिद्ध हैं। बहुत काल तक की जाने वाली क्रियाएँ तो वहाँ निषिद्ध हैं ही, अल्पकालिक क्रियाएँ भी निषिद्ध हैं क्योंकि काम से मलिन-चित्त श्रमण, स्थविर, चिरदीक्षित, आचार्य, बहुश्रुत तथा तपस्वी को भी नहीं गिनता है। ऐसा मुनि, कन्या, विधवा, स्वेच्छाचारिनी, रानी, तपस्विनी आदि का आश्रय लेकर तत्काल ही अपवाद को प्राप्त हो जाता है।।180-182।।[395]

भगवती आराधना में इस सन्दर्भ में विशद् मार्गदर्शन देते हुए कहा है –

1. हे साधुजनों! आपको प्रमादरहित होकर आर्याओं के संसर्ग को आग और विष के समान जान कर अवश्य छोड़ना चाहिए। आर्या का संसर्ग, चित्त को सन्तापकारी होने से आग के समान है और संयमरूपी जीवन का विनाशक होने से विष के समान है।
2. जब वृद्ध, तपस्वी, बहुश्रुत और प्रामाणिक श्रमण भी यदि आर्या से संसर्ग रखता है तो वह लोकनिन्दा का पात्र बन जाता है; फिर तो जो श्रमण, अवस्था में तरुण हैं, बहुश्रुत भी नहीं हैं और न उत्कृष्ट तपस्वी हैं; वे आर्याजन के संसर्ग से लोकापवाद के भागी क्यों न होंगे?
3. जो साधु, घर, जमीन आदि समस्त परिग्रहों से मुक्त है, वह सर्वत्र अपने को वश में रखता है, किन्तु वही साधु, आर्या का अनुगामी होकर आत्मवशी नहीं रहता। जिस प्रकार मनुष्य के कफ में फँसी हुई मक्खी, उससे अपने को छुड़ाने में असमर्थ होती है; उसी प्रकार आर्या का अनुगामी साधु, उससे अपने को छुड़ाने में असमर्थ होता है। साधु का आर्या के साथ बन्धन ऐसा है, जिसकी कोई उपमा नहीं है। चर्म के साथ ही उतरने वाला वज्रलेप भी उसके समान नहीं है।
4. यदि कोई साधु, जितेन्द्रिय हो, स्थिर-बुद्धि वाला हो, जिसका चित्त मेरु के समान अकम्प हो, जिसके चित्त में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न होता हो, उसके साथ भी वार्तालाप आदि करके आर्यिका

का चित्त, उल्लास को प्राप्त होकर, अग्नि के समीप रखे हुए घृत के समान पिघल जाता है क्योंकि कड़ाके की ठण्ड में अग्नि के समीप रखा हुआ पत्थर के समान कठोर घी भी क्या नहीं पिघलता है ? अर्थात् अवश्य ही पिघल जाता है।

5. साधु को केवल आर्याओं का संसर्ग ही त्याज्य नहीं है, बल्कि जो साधु, बाला, कन्या, तरुणी, वृद्धा, सुरूपा, कुरूपा आदि सभी प्रकार के स्त्री-वर्ग में प्रमादरहित होता है और कभी भी उनका विश्वास नहीं करता, वही साधु ब्रह्मचर्य को जीवन-पर्यन्त पार लगाता है। जो उससे विपरीत होता है अर्थात् स्त्रियों के सम्बन्ध में प्रमादी और विश्वासी होता है, वह ब्रह्मचर्य को पार नहीं कर पाता।
6. इस प्रकार साधु को केवल आर्याजनों के संसर्ग से ही दूर नहीं रहना चाहिए, किन्तु अन्य भी जो जो वस्तु साधु को परतन्त्र करती है, उस उस वस्तु का त्याग करने हेतु तत्पर रहना चाहिए। उसके त्याग से उसका संयम दृढ़ होगा क्योंकि बाह्य वस्तु के निमित्त से होने वाला असंयम, उस वस्तु के त्याग से त्यागा जाता है।[396]
7. संसर्ग के गुण-दोषों का वर्णन करते हुए मूलाचार के समयसार अधिकार में कहा है कि ''वस्तुतः सदाचाररूप संसर्ग से विशुद्धता आती है अर्थात् बोधि बढ़ती है और कुत्सित आचरण एवं प्रतिकूल संसर्ग से वह नष्ट भी हो जाती है।[397]
8. श्वेताम्बर ग्रन्थ गच्छाचार प्रकीर्णक में भी कहा है – सभी पदार्थों में ममतारहित साधु स्वाधीन होता है, किन्तु यदि वह आर्यिका.पाश में बन्धता है तथा उसी के कथन का अनुसरण करता है तो वह साधु, परतन्त्र सेवक के समान हो जाता है।[398]
9. जो लिंग धारण करके स्त्रियों के समूह के प्रति तो निरन्तर राग प्रीति करता है और अन्य जो कोई निर्दोष हैं, उनको दोष लगाता है, वह दर्शन-ज्ञानरहित है – ऐसा लिंगी तिर्यंच योनि है, पशु के समान है, अज्ञानी है, श्रमण नहीं है।
10. योगी काष्ठ, पत्थर, कागज आदि में बनी हुई स्त्रियों की अचेतन आकृति को भी न छुए, उन चेतन स्त्रियों को छूने की तो बात ही क्या, जिनके कि स्मरण मात्र से भी आपत्ति में फँस जाता है। योगी चित्र की स्त्री से छू जाने पर भी उस दिन भोजन न करे और उस दिन भोजन कर ले तो उस पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप आगे दो दिन का उपवास करे।
11. आहारादि किसी भी समय में स्त्रियों का मुनियों के शरीर से स्पर्श करना, आदर्श नहीं समझा जा सकता।
12. महाकवि मल्लिषेण ने स्त्रियों के साथ गोष्ठी करने वाले साधुओं को कितनी अच्छी शिक्षा दी है –

दुर्गन्धं वदनं वपुर्मलभृतं, भिक्षाटनाद् भोजनं,
शय्या स्थण्डिलभूमिषु प्रतिदिनं, कट्यां न ते कर्पटम्।
मुण्डं मुण्डितमर्द्धदग्धशववत्त्वं दृश्यते भो जनैः,
साधोऽद्याप्यबलाजनस्य भवतो गोष्ठी कथं रोचते।।[399]

अर्थात् हे साधो ! दन्त-धावन न करने से तेरे मुख से बुरी गन्ध आती है, स्नान न करने के कारण तेरा शरीर मैल से भरा है, तुझे गृहस्थ के घर से भोजन मिलता है, प्रतिदिन तू कंकरीली पथरीली भूमि पर शयन करता है, कमर में तेरे कौपीन मात्र फटा कपड़ा तक नहीं है अर्थात् तू नग्न है, केशलोंच करने के कारण तेरा मुण्ड/मस्तक मुँडा हुआ है, इसलिए मनुष्यों की दृष्टि में तू अधजले मुर्दे के समान प्रतीत होता है। इतने पर भी तुझे स्त्रियों के साथ वचनालाप करते हुए कैसे रुचता है?

13. संयमप्रकाश में कहा है – ''कान में पड़ा 'स्त्री' शब्द मात्र भी अन्तःकरण में कामानुराग को उत्पन्न करता है। यदि उस स्त्री का स्वरूप नेत्र-गोचर हो जाए तो वह क्या नहीं करेगा ? अर्थात् स्त्री का रूप, चित्त में चिर काल से संचित ज्ञान व वैराग्य को भी समूल नाश करके, चित्त को विषय से मलीन कर देता है। स्त्री का शरीर, कामदेव का अत्यन्त उग्र बाण है, वह क्या नहीं करता ? अर्थात् वह तो आत्मा का सर्वतोमुखी पतन कर देता है। फिर जिस अभागे संयमी के शरीर से स्त्री के शरीर का स्पर्श हो जाता है, उसका तो सर्व प्रकार से पतन अवश्यंभावी है।''[400]

14. स्त्रीजन के धार्मिक प्रश्न करने पर उत्तर देने वाले मुनि को यद्यपि पापास्रव नहीं होता, परन्तु हँसी-ठट्ठा करते हुए उत्तर देने वाले, उनके अभिप्राय के अनुकूल उनके चित्त को प्रफुल्लित करने वाली इष्ट बात करने वाले, अपनी नम्रता दिखाते हुए मुस्करा कर प्रेम के अनुकूल वचन-उच्चारण करने वाले, श्रृंगार रस के पोषण करने वाली दृष्टान्त कथा आदि का प्रकाश करने वाले साधु को पापकर्मों का बन्ध होता है क्योंकि उक्त प्रकार के अवलोकन तथा वचनों के उच्चारण से अन्तःकरण में कामानुराग उत्पन्न होता है, धैर्य का ध्वंस होता है, अशुभ प्रेम की वृद्धि होती है, मति में विभ्रम होता है। इसके पश्चात् वह शूरवीर, कामदेव के बाण का अतिशीघ्र लक्ष्य बन जाता है अर्थात् वह स्त्री के साथ परिचय करने वाला साधु, काम-वासना के वशीभूत होकर चारित्र से पतित हो जाता है।''[401]
15. ''यहाँ आर्यिकाओं का प्रकरण होने से आर्यिका पद दिया गया है, किन्तु इससे उपलक्षण से स्त्रीमात्र का ग्रहण होता है।
16. स्त्रियों को वन्दना करने के लिए गवासन ही माना गया है। देव-वन्दना, गुरु-वन्दना, शास्त्र-वन्दना इत्यादि करते समय स्त्रियों को गवासन से बैठना चाहिए। गवासन के सिवाय स्त्रियों को दूसरा आसन नहीं बताया गया है। इस आसन से स्त्रियों की लज्जादि का संरक्षण होता है; अतः गवासन को श्रेष्ठ माना गया है।''[402]
17. आर्यिकाएँ, आचार्य से आलोचना करते समय उनसे पाँच हाथ दूर रह कर, उनकी वन्दना करती है। उपाध्याय से अध्ययन तथा तत्सम्बन्धी प्रश्न किया जाता है, इसलिए छह हाथ दूर रह कर उनको वन्दना करती हैं और साधुओं की मात्र स्तुति की जाती है, इसलिए सात हाथ दूर रह कर उनकी वन्दना करती हैं।[403]
18. श्राविका, मुनि को आहार देते समय इतनी दूर रहे, जिससे कि वह भोजन विनयपूर्वक मुनि के कर-पात्र में रख सके। आहार देते समय भी उसे अपने हस्त आदि शरीर के अवयव का, मुनि के शरीर से स्पर्श नहीं होने देना चाहिए। आहार के अतिरिक्त समय में तो उसे मुनि से कम से कम उतनी दूरी पर अवश्य रहना चाहिए, जितनी दूर पर परम वैराग्य की मूर्ति आर्यिकाएँ रहती हैं।
19. साथ ही ध्यान देना चाहिए कि अकेली स्त्री या श्राविका, मुनिराज को आहार नहीं दे सकती है। यदि कथानुयोग में ऐसे कोई प्रसंग आते हैं तो उन्हें अपवाद ही समझना चाहिए, वे प्रसंग अनुकरणीय राजमार्ग नहीं हो सकते।''[404]

प्रश्न – यदि आर्यिकादि के साथ सर्वथा संसर्ग अयोग्य है तो उनके प्रतिक्रमणादि की क्या व्यवस्था होती है ?

उत्तर – उनके साथ व्यवहार रखने का सर्वथा निषेध नहीं किया है, किन्तु यह अवश्य है कि आर्यिकाओं के साथ सम्भाषणादि करने का अधिकार, प्रत्येक साधु को नहीं है। जो विशिष्ट साधु, उनके साथ सम्भाषणादि कर सकते हैं, उनका स्वरूप वहाँ इस प्रकार कहा है –

1. जिसको उत्तमक्षमादि धर्म अथवा चारित्रधर्म अत्यन्त प्रिय है अर्थात् जो क्षमा आदि के पालन करने और महाव्रतादि के रक्षण करने में सर्वदा तत्पर रहता है।
2. जिसका मन धर्म में दृढ़ है अर्थात् अनेक प्रतिकूल निमित्तों का संयोग होने पर भी जिसका चित्त, धर्म से नहीं डिगता है।
3. जो धर्म तथा धर्म के फल में श्रद्धा रखता है, पाप से सदा भयभीत रहता है।
4. जिसका चारित्र अखण्डित है।
5. जो दीक्षा-शिक्षा-व्याख्यान आदि में प्रवीण है।
6. पाप-क्रियाओं की निवृत्ति से जो युक्त है।
7. जो दूसरों को हितोपदेश देकर, उनकी रक्षा करने में तत्पर रहता है।
8. जो गुणों का अगाध भण्डार है।
9. जिसके चित्त पर दूसरे का प्रभाव अंकित नहीं होता है अर्थात् जो स्थिर-चित्त है।

10. जो अल्पभाषी है।
11. जिसको विस्मय नहीं होता।
12. जिसका गुह्यांग अल्प एवं स्तब्धता से रहित है।
13. जो चिरकाल से दीक्षित और ज्येष्ठ गुणों से सहित है।
14. जिसको पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो गया है अर्थात् आचार-शास्त्र और प्रायश्चित्त-शास्त्रादि का जो पूर्ण ज्ञाता है।

– ऐसा महात्मा साधु ही आर्या आदि का गणधर हो सकता है अर्थात् उक्त गुण-विशिष्ट प्रबल आत्मबली मुनि ही आर्यिकादि के योग्य प्रश्नों का उत्तर-दाता और उनको प्रायश्चित्तादि-युक्त आचरण कराने वाला माना गया है।

आशय यह है कि प्रत्येक साधु, आर्या अथवा स्त्रियों के मध्य उपदेशादि देने योग्य नहीं है; इसलिए चिरकाल के दीक्षित, अत्यन्त प्रभावशाली, तपस्यादि गुणों से भरपूर तथा जिसका पुरुष-चिह्न अल्प-परिमाणवाला और विकार-विवर्जित हो, उस परम सौम्य और वैराग्य-मूर्ति को ही आचार्यों ने आर्यिकादि के प्रायश्चित्तादि का आचरण कराने वाला बताया है। उसके अतिरिक्त जो साधु, आर्यिका या अन्य स्त्रियों के साथ गोष्ठी आदि करता है, उनसे किसी प्रकार के संभाषणादि द्वारा परिचय रखता है, वह अपना भी अकल्याण करता है और दूसरों के पतन का भी कारण होता है तथा अपने धर्म को कलंकित करता है।

जब वैराग्य-परायण त्याग की मूर्ति आर्यिकाएँ, साधुओं से सात हाथ दूर रहती हैं, तब श्रृंगार-प्रिय विलासवती स्त्रियों को साधुओं से अवश्य ही कम से कम इतनी दूरी पर रहना ही चाहिए। जो साधु, उक्त जिनाज्ञा का तिरस्कार करके विपरीत प्रवृत्ति करता है, स्त्रियों के शरीर का स्पर्श करवाता है तो वह जिनशासन की अवहेलना करता है और अपनी उच्छृंखल प्रवृत्ति से पवित्र जिन-मार्ग को मलीन करता है एवं अपनी आत्मा का पतन करता है और अन्य के पतन करने में सहायक होता है।

इस तरह आगम के प्रतिकूल प्रवृत्ति करने वाला साधु, छेदादि प्रायश्चित्त के योग्य होता है। जब तक वह उक्त प्रायश्चित्त लेकर आत्म-शुद्धि नहीं कर लेता, तब तक वह साधु, अपराधी माना जाता है और इस अपराध को करने वाला साधु, महापापी एवं अवन्दनीय कहा गया है। इसी प्रकार जो आर्यिका, उक्त मार्ग से विपरीत आचरण करती है, वह भी निरंकुश होने से दूषित है और प्रायश्चित्त की पात्र है।[405]

मुनिराज का वचन व्यवहार

मुनिराज अल्पभाषी होते हैं। वे अत्यन्त हितमितप्रिय वचन व्यवहार का प्रयोग करते हैं। उनके वचनों के माध्यम से भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का सुन्दर एवं सुखद बोध प्राप्त होता है। छहढ़ाला में कहा है –

जग सुहित-कर, सब अहित-हर, श्रुति-सुखद सब संशय हरैं।
भ्रम-रोग-हर जिनके वचन, मुख-चन्द्र तैं अमृत झरैं।। 6/2।।

मुनिराज के वचन व्यवहार में तीन स्तरों का पालन किया जाता है – प्रथम स्तर पर मुख्यतः मुनिराज मौनपूर्वक ही आत्मसाधना करते हैं, इसे **वचनगुप्ति** कहते हैं। द्वितीय स्तर पर यदि कुछ बोलते हैं तो हित-मित-प्रिय ही बोलते हैं, इसे ही **भाषा-समिति** कहते हैं। तृतीय स्तर पर जो कुछ भी बोलते हैं, वह सत्य ही बोलते हैं, अणुमात्र भी असत्य नहीं बोलते हैं, इसे **सत्य महाव्रत** कहते हैं। जबकि गृहस्थ श्रावक के स्तर पर स्थूल असत्य वचन का त्याग होने से सूक्ष्म असत्य वचन का त्याग नहीं होने से वे **सत्याणुव्रत** का पालन करते हैं। इस प्रकार मोक्षमार्ग में मुनिराज के तीन और श्रावक का एक; दोनों के कुल मिला कर, चार स्तर पर **वचन व्यवहार** पाया जाता है।

एक प्रश्न हमें उत्पन्न होता है कि मुनिराज रात्रि में बोलते हैं या नहीं अथवा बोल सकते हैं या नहीं – इस सम्बन्ध में जिनवाणी की क्या आज्ञा है ? इसका समाधान यह है कि मूलाचार आदि ग्रन्थों में ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख देखने में नहीं आया है, लेकिन वर्तमान में दिगम्बर परम्परानुसार यही देखा जाता है कि साधुगण, रात्रि में नियमतः मौन धारण कर लेते हैं, परस्पर या श्रावकों से बात नहीं करते हैं; जबकि श्वेताम्बर परम्परा के साधुओं में भी रात्रि-मौन का प्रचलन नहीं दिखाई देता। किन्तु यह सच है कि संसार से विरक्त मुनि को रात्रि में मौन-धारण करने से महाव्रत, षडावश्यक, तप, संयम और त्रिगुप्ति आदि के निर्विघ्न-पालन में

बहुत बल मिलता है। मुनिचर्या के अन्तर्गत मुनि अल्प-निद्रा ही लेते हैं, किन्तु उनकी इस नींद को योग-निद्रा कहा जाता है। जब साधु, प्रतिमायोग धारण करते हैं, तो उनका 'मौन' स्वयमेव हो जाता है; अतः रात्रि में मौन धारण करना, साधुत्व की दृष्टि से सर्वथा योग्य है।[406]

मुनिराज का प्रायश्चित्त-व्यवहार

प्रायश्चित्त-व्यवहार, श्रमण संघ की व्यवस्था का आधार-बिन्दु है, जिसके माध्यम से चतुर्विध संघ को निरन्तर जागरूक, अप्रमत्त और विशुद्ध रखने का प्रयत्न किया जाता है; अतः चारित्र की आराधना एवं आत्मिक विकास में इस व्यवहार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि मुनिराज अथवा स्वयं आचार्य से भी कोई दोष हो जाए तो उसके परिमार्जन के लिए कुछ दण्ड का विधान है – यही प्रायश्चित्त है। दोषों के प्रकारो ंके अनुसार प्रायश्चित्त के अनेक प्रकार हो सकते हैं।

पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक में आचार्य के गुणों की चर्चा करते हुए लिखते हैं –

''जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की अधिकता से प्रधानपद प्राप्त करके संघ में नायक हुए हैं तथा जो मुख्यरूप से निर्विकल्प स्वरूपाचरण में ही मग्न रहते हैं और जो कदाचित् धर्म के लोभी अन्य याचक जीवों को देख कर, राग अंश के उदय से करूणाबुद्धि हो तो उनको धर्मोपदेश देते हैं; जो दीक्षा-ग्राहक हैं, उनको दीक्षा देते हैं तथा जो अपने दोषो ंको प्रगट करते हैं, उनको प्रायश्चित्त-विधि से शुद्ध करते हैं – ऐसे आचरण अचराने वाले **आचार्य** हैं, उनको हमारा नमस्कार हो।''[407]

ध्यान रहे कि प्रायश्चित्त का विस्तार से अध्ययन, इस शोध-प्रबन्ध के पाँचवें एवं छठे अध्याय में किया गया है।

मुनिराज की भूमिका में निषिद्ध व्यवहार

मुनिदशा के अयोग्य अर्थात् मुनिराज की भूमिका के विराधक कार्य **निषिद्ध व्यवहार** कहलाते हैं। ऐसे सभी कार्य मुनिराज की भूमिका में अनुमोदना योग्य भी नहीं होते हैं। यदि मुनिराज, ऐसे किसी कार्य में संलग्न होते हैं तो निश्चित ही अधःपतन को प्राप्त होकर अनन्त संसारी होते हैं। पार्श्वस्थ आदि के रूप में वर्णित सदोष श्रमण या पाप श्रमण की क्रियाओं को भी निषिद्ध व्यवहार माना गया है।

निषिद्ध व्यवहार के कुछ आगम उद्धरण

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार की एक गाथा में निषिद्ध व्यवहार के कुछ संकेत व्यक्त किये हैं; जैसे,

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं, मूलच्छेदो जधा ण हवदि।। 230।।

अर्थात् बाल, वृद्ध, श्रान्त/श्रमित/परिश्रमी, थकित/ग्लान/व्याधिग्रस्त/रोगी/दुर्बल आदि श्रमण को जिस प्रकार मूल का छेद न हो, उस प्रकार अपने योग्य आचरण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो मूल का छेदक व्यवहार होगा, वही निषिद्ध व्यवहार कहलाने योग्य है।

उन्हीं आचार्य कुन्दकुन्द ने रयणसार में मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष आदि के प्रयोग का कठोर भाषा में निषेध करते हुए कहा है कि जो श्रमण, मन्त्र-तन्त्र तथा भूत-प्रेत आदि विद्याओं का प्रदर्शन कर अपनी उपजीविका/आजीविका करता है, धन्य-धान्य आदि का ग्रहण तथा राजा की सेवा करता है, वह समस्त श्रमणों को दूषित करने वाला संसक्त श्रमण है।[408]

इसी बात की पुष्टि, उत्तराध्ययन के इस कथन से भी होती है कि जो श्रमण, लक्षण-शास्त्र अर्थात् शरीर के लक्षणों/चिह्नों को देख कर, शुभ-अशुभ फल कहने वाले सामुद्रिक शास्त्र, स्वप्न-शास्त्र और अंग-विद्या का प्रयोग करते हैं; उन्हें श्रमण नहीं कहा जा सकता।[409]

इसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी **विसुद्धिमग्ग** नामक ग्रन्थ में कहा है – अंग, निमित्त, उत्पाद, स्वप्न, लक्षण आदि विद्याएँ 'तिर्यक् विद्या' हैं। इनसे आजीविका करने वाले की 'मिथ्या आजीविका' है तथा जो इनसे पर होता है, वही 'आजीव-परिशुद्धि-शील' है।[410]

लिंगपाहुड़ में बहुत विस्तार के साथ इस निषिद्ध व्यवहार की चर्चा की है; वहाँ कहा है कि श्रमण का वेश धारण करके नाचना, गाना, बजाना, बहुमान से गर्वित होकर, कलह, विवाद आदि करना, द्यूतक्रीड़ा,

कन्दर्प आदि भावनाओं का चिन्तन, मायाचार, व्यभिचार, भोजन में रसगृद्धि, बिना ईर्यापथशुद्धि के चलना, महिलावर्ग, शिष्य एवं गृहस्थों के प्रति रागभाव रखना, इत्यादि दोषों या इनमें से कोई एक भी दोष से युक्त श्रमण, भावों से विनष्ट हुआ पार्श्वस्थ श्रमण है, यथार्थ साधु नहीं तथा तिर्यग्योनि और नरक का पात्र है।[411]

इसी तरह पूर्व वर्णित आहार-विहार आदि चर्याओं में दोषयुक्त आचरण निषिद्ध माना गया है। वर्तमान-कालीन युग में प्रवर्तमान अनेक विषमताओं को दृष्टिगोचर करते हुए आचार्य श्री सूर्यसागर ने **संयमप्रकाश** ग्रन्थ में कई निषिद्ध आचरणों का उल्लेख एवं विशद् वर्णन किया है।[412]

मूलाचार में निषिद्ध आचरण के अन्तर्गत गुरु-विरुद्ध आचरण को भी गिनाया है; वे कहते हैं कि श्रमण को अपने गुरु के विरुद्ध आचरण कभी नहीं करना चाहिए – ऐसा करने वाला श्रमण, बहुमोही, कुत्सित आचरण करने वाला होकर, असमाधि को प्राप्त होकर अनन्त संसारी होता है।[413] अत्यन्त क्रोध, चंचलता, चारित्र में आलस्य, दूसरे के अप्रत्यक्ष में दोष कहना, गौरव/पिशुनता, तीव्र कषाय, वैयावृत्य, विनय व वैराग्य से हीन, कुत्सित आचरण, माया, दम्भ, अन्य का निन्दक, परपीडन, मारण आदि मन्त्रशास्त्र अर्थात् हिंसापोषक शास्त्रों का सेवन, आरम्भ, मिथ्यात्वयुक्त, स्वेच्छाचारी, नीचकार्ययुक्त, लौकिक व्यापारयुक्त, लोकोत्तरव्यापार से रहित, इत्यादि दोषों से युक्त श्रमण, चाहे वह चिरकाल से दीक्षित ही क्यों न हो – ऐसे श्रमण से सदाचारी श्रमण को सदा बचना चाहिए। ऐसे श्रमणों की ही पापश्रमण, पार्श्वस्थ, आदि संज्ञाएँ हैं।[414]

धर्म से युक्त, असंवृती, नीच और लौकिक-अलौकिक क्रियाओं के विवेक ज्ञान से रहित दीर्घकाल से प्रव्रजित श्रमणों के भी संसर्ग से बचने के लिए कहा गया है। परिग्रह एवं सावद्य कार्यों में आसक्त, क्रोध, मान, माया और लोभकषायों से युक्त श्रमण, लोकव्यवहार में भले ही चतुर रहें, पर वे सम्यक्त्व से रहित ही होते हैं।[415]

तात्पर्य यही है कि श्रमण जीवन की कुछ आवश्यकताएँ; जैसे, आहार, उपधि और शय्या, की शुद्धि किये बिना सेवन करने से श्रमण, मूल स्थान अर्थात् गृहस्थावस्था को प्राप्त होकर, **'श्रामण्य तुच्छ' (समण-पोल्लो)** अर्थात् यतित्वविहीन कहलाने लगता है तथा उसका कायोत्सर्ग, मौन, अभ्रावकाश, एवं आतापनयोग आदि किसी प्रयोजन के नहीं होते।[416]

जो मोह से अथवा प्रमाद से जितने काल तक लौकिक क्रिया करता रहता है, वह उतने काल तक आचार्य नहीं है और अन्तरंग व्रतों से च्युत भी है।[417]

''वैयावृत्य आदि शुभक्रियाएँ करते हुए षट्काय के जीवों को बाधा नहीं पहुँचाना चाहिए।

शुभोपयोग की क्रियाओं में अधिक वर्तन करना साधु को योग्य नहीं है क्योंकि वैयावृत्यादि शुभ कार्य गृहस्थों को प्रधान है और साधुओं को गौण।

मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, वशीकरण, उच्चाटन आदि करना; मन्त्रसिद्धि, शस्त्र, अंजन, आदि की सिद्धि करना तथा आजीविका करना, साधु के लिए वर्जित है।

मात्रा से अधिक, पौष्टिक व गृद्धतापूर्वक गृहस्थ पर भार डाल कर भोजन नहीं करना चाहिए।''[418]

मुनिराजों के भेद-प्रभेद

जिनागम में मुनिदशा के अनेक प्रकार के भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु यह भी ध्यान देने योग्य है कि ये सारे भेद प्रभेद मुनिदशा की अन्तरंग पवित्रता एवं बाह्य आचरण का उल्लंघन नहीं करते। यदि अन्तरंग पवित्रता अर्थात् तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप निर्मल परिणति एवं शुद्धोपयोग की पवित्रदशा न हो तो मात्र बाह्य शुभाचरण की मुक्तिमार्ग में कोई कीमत नहीं है और यदि उस भूमिका के योग्य बाह्याचार न हो तो उस दशा को बाह्य द्रव्यलिंग संज्ञा भी प्राप्त नहीं हो सकती।

तात्पर्य यह है कि समस्त मुनिराजों में मूलभूत पवित्रता एवं बाह्याचार की समानता होते हुए भी अनुशासन-प्रशासन, अध्ययन-अध्यापन, विशिष्ट पुण्योदय, विहार, आचार, संहनन की उत्कृष्ट-हीनता, वैयावृत्य, चारित्र, लिंग, उपयोग, परिणाम इत्यादि की अपेक्षा भेद पाये जाते हैं, लेकिन ये सभी साधु, पूजनीय या वन्दनीय होते हैं।

सामान्यतः मुनिराजों के आचार्य, उपाध्याय और साधु – ये तीन भेद होते हैं। प्रवचनसार की गाथा 4 में आचार्य को गणधर (णमो गणहराणं) पद से और उपाध्याय को अध्यापक (अज्झावयवग्गाणं) पद से भी

सम्बोधित किया है। इसका मतलब यह हुआ कि तीर्थंकरों के समवसरण में भी गणधर के रूप में आचार्य परमेष्ठी ही विराजमान होते हैं।

श्रमणसंघ की परम्परा के अन्तर्गत श्रमणों के भेद[419]

प्राचीनकाल से ही जैनधर्म के तीर्थंकरों के समय से ही श्रमणसंघ की परम्परा अविच्छिन्नरूप से प्रचलित है। तीर्थंकरों के समय में भी श्रमण-दीक्षा का विधान विद्यमान था – ऐसा पुराणों के अनेक उल्लेखों से ज्ञात होता है। भगवती आराधना में संघ की व्याख्या करते हुए कहा है कि ''गुणसमूह का नाम **संघ** है, यह **संघ** कर्मों से छुड़ाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के मेल से **संघ** होता है।''[420] तात्पर्य यह है कि यहाँ व्यक्तियों के समूह की प्रधानता नहीं है, बल्कि गुणों के समूह को प्रधानता दी गई है। वहीं विजयोदया टीका में आचार्य ने प्रवचन को ही **संघ** कह दिया है।[421] उसका भी तात्पर्य यही है कि जो दिव्य प्रवचनों को आधार बना कर रत्नत्रय को अपना जीवन बनाते हैं, उनका समूह ही **संघ** है। साथ ही वे कहते हैं कि जो श्रम अर्थात् तपस्या करते हैं, वे श्रमण हैं तथा ऐसे श्रमणों के समुदाय को **संघ** कहते हैं।[422]

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में ''सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय से युक्त श्रमणों के समुदाय को **संघ** कहा है।''[423] इसी प्रकार प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में आचार्य जयसेन ने ऋषि-मुनि-यति-अनगाररूप चतुर्विध **संघ** कहा है।[424] वहीं भावपाहुड़ की टीका में ऋषि-आर्यिका-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध **संघ** को मान्यता दी गई है।[425] वास्तव में यही गुणों के समुदायरूप संघ प्राणियों को सुख देने वाला, निकट भव्यजीवों का आधार और माता-पिता की तरह क्षमा प्रदान करने वाला है।[426]

मुनिसंघ के नायक : आचार्य परमेष्ठी

श्रमण-परम्परा में आचार्य का स्थान संघ-नायक के रूप में मान्य किया गया है। आचार्य परमेष्ठी पर ही ऋषि-मुनि-यति-अनगाररूप चातुर्वर्ण्य संघ अथवा मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ के संगठन, संवर्द्धन, अभिरक्षण, अनुशासन एवं उसके सर्वांगीण विकास का सामूहिक एवं प्रमुख उत्तरदायित्व होता है। संघ व्यवस्था के मूलभूत आधार आचार्य होते हैं, वे ही आवश्यकतानुसार उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक, गणी, गणधर, गणावच्छेदक आदि पदों का सृजन और तदनुकूल योग्य श्रमणों को इन पर प्रतिष्ठित करते हैं। शिष्य साधुओं को दीक्षादायक और शिक्षादायक अर्थात् अनुशासनरूप अनुग्रहदायक और उनके दोष-निवारण करने में कुशल आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य की विशेषता को बताते हुए कहते हैं कि **समणं गणिं गुणड्ढं, कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं** अर्थात् जो निन्दा प्रशंसा में समान भाव होने से एवं निश्चय-व्यवहार पंचाचार का आचरण करने-कराने में कुशल होने से **श्रमण** हैं, चौरासी लाख गुणों और अठारह हजार शीलों के सहकारी कारणभूत अपने निज शुद्धात्मा की अनुभूतिरूपी गुण से परिपूर्ण होने के कारण **गुणाढ्य** हैं, सर्व लौकिकजनों के द्वारा निःशंकतया सेवा करने योग्य होने से और कुलक्रमागत क्रूरता आदि दोषों से रहित होने से जो **कुलविशिष्ट** हैं, अन्तरंग शुद्धस्वरूप का अनुमान कराने वाला बहिरंग शुद्धरूप होने से **रूपविशिष्ट** हैं। और यौवनोद्रेक की विक्रिया से रहित बुद्धि होने से जो **वयविशिष्ट** हैं। तथा जो परमात्म तत्त्व की भावना से सहित होने एवं मनुष्यपर्यायजनित पौरुषेय दोषों को निःशेषतया नष्ट कर देने से मुमुक्षु श्रमणों को अति इष्ट हैं – ऐसे **गणी अर्थात् आचार्य** से ही दीक्षा लेना योग्य है।[427]

आचार्य शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ पर विचार करके यह कहा गया है कि जो स्वयं पाँच प्रकार के सर्व काल सम्बन्धी आचार का निरतिचार पालन करता है और दूसरों को भी इसमें प्रवृत्त करता है, वह आचार्य है।

भगवतीसूत्र में व्युत्पत्ति बताते हुए कहा है – **'आ' मर्यादया तद् विषयविनयरूपया चर्यन्ते, सेव्यन्ते...इति आचार्याः अथवा 'आ' मर्यादया चारो विहारः आचारस्तत्र साधवः स्वयं करणात्प्रभाषणात्प्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः।**[428]

अर्थात् जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित आगमज्ञान को हृदयंगम कर उसे आत्मसात् करने की उत्कण्ठा वाले शिष्यों द्वारा जो विनयादि पूर्ण मर्यादापूर्वक सेवित हों, उन्हें आचार्य कहते हैं। अथवा जो मर्यादापूर्वक विहार करते हैं, उसे आचार कहते हैं; उस आचार को जो साधु करते हैं और अन्य को बता कर या प्रदर्शन करके कराते हैं, वे आचार्य हैं – ऐसा व्युत्पत्ति से अर्थ होता है।

धवला में कहा है कि जो प्रवचनरूपी समुद्र-जल के मध्य स्नान करने से अर्थात् परमात्मा के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरु के समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, सिंह के समान निर्भीक हैं, जो वर्य अर्थात् श्रेष्ठ हैं, देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, सौम्य-मूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं – ऐसे आचार्य परमेष्ठी हैं।[429]

पण्डित टोडरमलजी आचार्य परमेष्ठी का व्याख्या करते हुए लिखते हैं – जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की अधिकता से प्रधान पद पर प्राप्त करके संघ में नायक हुए हैं तथा जो मुख्यरूप से तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण में मग्न हैं और जो कदाचित् धर्म के लोभी अन्य जीव – याचक, उनको देख कर, राग के अंश के उदय से करुणा-बुद्धि हो तो धर्मोपदेश देते हैं; जो दीक्षा-ग्राहक हैं, उनको दीक्षा देते हैं; जो अपने दोषों को प्रगट करते हैं, उनको प्रायश्चित्त-विधि से शुद्ध करते हैं – ऐसे आचरण अचराने वाले आचार्य, उनको हमारा नमस्कार हो।[430]

दशवैकालिक चूर्णि में कहा है – सूत्र और अर्थ से सम्पन्न तथा अपने गुरु द्वारा जो गुरुपद पर स्थापित होता है, वह आचार्य कहलाता है।[431]

आचार्य परमेष्ठी के विशेष 36 गुण

आचार्य परमेष्ठी के विशेष 36 गुण माने गये हैं। संख्या की अपेक्षा तो सभी आचार्य एकमत प्रतीत होते हैं। लेकिन उन गुणों के विस्तार में आचार्यों के मतों में भिन्नता दिखाई देती है। भगवती आराधना में वर्णित 36 गुण हैं – आचारवान् आदि 8 गुण, 10 स्थितिकल्प, 12 तप और 6 आवश्यक। जबकि उनके ही टीकाकार अपराजित सूरि के अनुसार 36 गुण हैं – 8 ज्ञानाचार, 8 दर्शनाचार, 12 तप, 5 समिति, और 3 गुप्ति। इसी प्रकार पण्डित आशाधरजी के अनुसार – 28 मूलगुण और 8 आचारवत्व आदि हैं अथवा 10 आलोचना के गुंण, 10 प्रायश्चित्त गुण, 10 स्थिति गुण और 6 जीत गुण – ऐसे 36 गुणों के सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के मत हैं। इनका विस्तार से वर्णन जानने हेतु मूल ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।[432]

नवनियुक्त आचार्य की पदारोहण-विधि

जब आचार्य यह अनुभव करते हैं कि उनकी आयुष्य का कोई भरोसा नहीं है और संघ की सुव्यवस्थित व्यवस्था के लिए सुयोग्यतम उत्तराधिकारी आवश्यक है, जिसे संघ का दायित्व सौंप कर, निःशल्यरूप से आत्म-साधना में लीन हो सकें, तब वे अपने सुयोग्यतम शिष्य को अपने पद पर प्रतिष्ठित करते हैं और स्वयं संघ-संचालन की व्यवस्थाओं से निर्भार हो जाते हैं।

भगवती आराधना के अनुसार – ''सल्लेखना करने के इच्छुक गणस्थ आचार्य को गण का हित सोचना चाहिए; इस कारण आचार्य को अपनी आयु की स्थिति का विचार कर, सम्पूर्ण संघ को और उत्तराधिकारी आचार्य को बुला कर शुभ दिन, शुभ करण, शुभ नक्षत्र और शुभ लग्न तथा शुभ देश में गच्छ का पालन करने योग्य गुणों से विभूषित अपने समान भिक्षु का विचार करने के पश्चात् वह धीर आचार्य, अल्प कथा अर्थात् इस विषय में अल्प वक्तव्य या उपदेश देकर, उस उत्तराधिकारी आचार्य के लिए अपना गण विसर्जित करते हैं अर्थात् पद छोड़ कर, सम्पूर्ण संघ को उत्तराधिकारी आचार्य के लिए समर्पित करते हैं और इस तरह उसके बाद उत्तराधिकारी आचार्य ही उस संघ का आचार्य समझा जाता है।''[433]

नव-नियुक्त आचार्य को शिक्षा

आचार्य, नव-नियुक्त आचार्य को आशीर्वाद देते हैं और मार्मिकरूप से कर्तव्य का बोध कराते हुए कहते हैं –

1. उत्पत्ति-स्थान में छोटी-सी भी उत्तम नदी, जैसे विस्तार के साथ बढ़ती हुई समुद्र तक पहुँच जाती है; उसी प्रकार तुम शील और गुणों में सदा वृद्धि को प्राप्त होते रहो।
2. हे आचार्य! तुम मार्जार अर्थात् बिलाव के शब्द की तरह आचरण मत करना, क्योंकि बिलाव का शब्द पहले जोर का होता है, फिर क्रम से मन्द होता है; उसी प्रकार रत्नत्रय की भावना को पहले बड़े उत्साह से करके, पीछे धीरे-धीरे मन्द मत करना; इस तरह अपना और अपने संघ, इन दोनों का विनाश मत करना। प्रारम्भ में कठोर तप की भावना में लग कर, आप और गण को भी उसी में लगा कर, दुश्चर होने से आप सभी विनाश को प्राप्त होंगे।

3. जो जलते हुए अपने घर को भी आलस्यवश बचाना नहीं चाहता, उस पर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि वह दूसरे के जलते हुए घर को बचायेगा; अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र-विषयक अतिचारों को अवश्य दूर करना चाहिए।
4. धार्मिकों और मिथ्यादृष्टियों के साथ विवाद नहीं करना चाहिए। साथ ही चित्त की शान्ति भंग करने वाला वाद-विवाद भी नहीं करना चाहिए।
5. क्रोधादि कषायें, अपनी और दूसरे की मृत्यु में कारण होती हैं, ये विषरूप हैं और हृदय को जलाने के कारण वे आग की तरह हैं, अतः उन्हें छोड़ना चाहिए।
6. आगम के सारभूत रत्नत्रय में जो गण और अपने को स्थापित करता है, वही गणधर अर्थात् आचार्य कहलाता है।
7. मेरे आधीन बहुत मुनि हैं; अतः अपने आप में गणी होने का घमण्ड मत करना।
8. जो उद्गम आदि दोषों से युक्त आहार, उपकरण अथवा वसति को स्वीकार करता है; उसके न तो प्राणी-संयम है और न इन्द्रिय-संयम; अतः वह न तो यति है और न गणधर।
9. हमारा यह आचार्य, आलोचित दोषों को दूसरे से नहीं कहता – ऐसा मान कर, शिष्यों के द्वारा प्रगट किये गये अपराधों को किसी अन्य से मत कहो।
10. सभी कायों में समदर्शी ही रहो तथा बाल-वृद्ध यतियों से भरे गण की अपनी आँख की तरह रक्षा करो।
11. जिस क्षेत्र में कोई राजा न हो अथवा राजा दुष्ट हो, उस क्षेत्र को त्याग दो।
12. जिस क्षेत्र में प्रव्रज्या न हो अथवा संयम का घात हो, उस क्षेत्र को त्याग दो।
13. दुःसह परीषहों और तीक्ष्ण आक्रोश से भरे हुए वचनरूपी काँटों से पराभूत होकर भी धर्म की धुरा के भार को मत त्यागो।
14. बाल और वृद्ध मुनियों से भरे हुए गण में सर्वज्ञ की आज्ञा से सदा अपनी शक्ति और भक्ति से वैयावृत्य करने में तत्पर रहो क्योंकि सर्वज्ञदेव की आज्ञा है कि वैयावृत्य करना चाहिए। जैसे, आचार्य की धारणा से संघ की धारणा होती है; वैसे ही एक साधु की धारणा अर्थात् वैयावृत्ति से साधु-समुदाय की धारणा होती है।
15. वृद्ध, अनशन आदि तप में तत्पर, बहुश्रुत और प्रमाण माना जाने वाला साधु भी आर्या एवं स्त्री के संसर्ग से लोकापवाद का भागी होता है; अतः जो इनका ही नहीं, अपितु बाला, कन्या, तरुणी, वृद्धा, सुरूपा, कुरूपा आदि सभी प्रकार के स्त्रीवर्ग में प्रमादरहित होता है; वही साधु ब्रह्मचर्य को जीवन-पर्यन्त पार लगाता है।[434]

एलाचार्य

'एला' शब्द का अर्थ 'इलायची' जिस तरह इलायची आकार में छोटी होकर भी महत्वपूर्ण होती है उसी तरह जो अभी आचार्य तो नहीं है, परन्तु आचार्यवत् गुणों के कारण आचार्य के कार्यों को करता है, उसे 'एलाचार्य' या अनुदिक् कहते हैं। यह गुरु की अनुपस्थिति में अन्य मुनियों को चारित्र आदि के क्रम को बतलाता है। अन्यत्र प्रचलित 'बालाचार्य' शब्द भी इसी में से निकला जान पड़ता है।[435]

निर्यापकाचार्य

जिनागम में निर्यापकाचार्य का छेदोपस्थापना एवं सल्लेखना की दृष्टि से विशेष महत्व है, ये आचार्य के गुणों से सम्पन्न होने के साथ-साथ इन विधियों में दक्षता के धारक भी होते हैं। इनके दो प्रकार हैं – 1. छेदोपस्थापना निर्यापकाचार्य, 2. सल्लेखना निर्यापकाचार्य।

निर्विकल्प समाधिरूप सामायिक संयम में एकदेश या सर्वदेश छेद होने पर प्रायश्चित्त देकर, संवेग और वैराग्यजनक परमागम के वचनों के द्वारा जो साधु का संवरण करते हैं, उन्हें (छेदोपस्थापना) **निर्यापक** कहते हैं; इन्हें शिक्षागुरु, श्रुतगुरु और छेदोपस्थापक भी कहा है। तात्पर्य यह है कि निर्यापक, स्वयं आचार्य भी हो सकते हैं और अन्य उपाध्याय आदि श्रमण भी हो सकते हैं।[436]

इसी प्रकार श्रमणों को समाधिमरण के समय क्षुधादि दुःखों से घबड़ाकर विमुख न होने देने के लिए उत्तम कथाओं द्वारा उन दुःखों का उपशमन करने वाले साधु, (सल्लेखना) निर्यापक कहलाते हैं। निर्यापक,

संसारभीरु एवं पापकर्मभीरु होते हैं, उनके चरणमूल में यति, जिनागम के सर्वस्वरूप समाधिमरण में उद्यमी होकर आराधना की सिद्धि करते हैं। श्रमणों को समाधिमरण के समय क्षुधादि दुःखों से घबड़ा कर विमुख न होने देने के लिए उत्तम कथाओं के द्वारा दुःखों का उपशमन करने वाले साधु निर्यापक कहलाते हैं।[437]

निर्यापक की अहं भूमिका स्वीकार करते हुए मूलाचार की वृत्ति में कहा है कि जैसे कर्णधार के बिना उत्तम रत्नों से भरी नगर के समीप किनारे आकर भी प्रमाद के कारण डूब जाती हैं; उसी प्रकार साधुरूपी नौकाएँ भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी रत्नों से परिपूर्ण हैं, और सिद्धि के समीप तक आ चुकी हैं, फिर भी निर्यापकाचार्य के बिना प्रमाद के निमित्त से संसार समुद्र में डूब जाती हैं। अतः सावधानी आवश्यक है।[438]

मुनिसंघ के अध्यापक : उपाध्याय परमेष्ठी

नियमसार में कहा है कि जो रत्नत्रय से युक्त हैं, जिनेन्द्रदेव कथित पदार्थों का उपदेश देने में कुशल हैं, आकांक्षा से रहित हैं; उन्हें उपाध्याय कहते है।[439] धवला के अनुसार – जो श्रमण, चौदह पूर्व रूपी समुद्र में प्रवेश करके सम्पूर्ण परमागम का अभ्यास करते हैं, मोक्षमार्ग में स्थित हैं, मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों/श्रमणों को उपदेश देते हैं, संग्रह, अनुग्रह आदि गुणों के अलावा आचार्य के समस्त गुणों से सहित हैं; वे उपाध्याय हैं।[440]

उपाध्याय परमेष्ठी के 25 अंग या 25 विशेष गुण कहे गये हैं, जिनमें 11 अंग और 14 पूर्वों का समावेश होता है। अंगों की संख्या कुल 12 है, जबकि पूर्वों की संख्या 14 है। लेकिन चूंकि बारहवें अंग के अन्तर्गत ही 14 पूर्व आते हैं, अतः बारहवें अंग को छोड़ कर 11 अंग और बारहवें अंग के स्थान पर 14 पूर्व को लेकर, उनके ज्ञाता होने से उपाध्याय परमेष्ठी के कुल 25 गुण माने जाते हैं।

ओघनिर्युक्ति वृत्ति में कहा है – **अत्थं वाएइ आयरिया, सुत्तं वाएइ उवज्झाया** अर्थात् अर्थ के वाचक आचार्य हैं और सूत्र के वाचक उपाध्याय हैं। तथा आवश्यक निर्युक्ति में **उज्झा** पद की निर्युक्ति में कहा है कि **उ** अर्थात् उपयोगकरण और **ज्झा** अर्थात् ध्यानकरण। इस प्रकार उपयोगपूर्वक ध्यान करने वाले को **उज्झा** कहते हैं।[441]

मूलाचार की व्याख्या के अनुसार **उपेत्यस्मादधीयते इत्युपाध्यायः** अर्थात् जिनके समीप आकर अध्ययन किया जाए, उन्हें उपाध्याय कहते हैं।[442]

भगवती आराधना में उपाध्याय को समस्त श्रुतज्ञान के धारक, रत्नत्रय के अतिचारों के ज्ञाता, स्वाभाविक बुद्धिमान और जितेन्द्रिय महात्मा कहा है। ये विवेचनीय वस्तु के समस्त अंगोपांग, स्वरूप, दृष्टान्त एवं युक्तिपूर्वक विवेचन करने वाले होते हैं तथा कुपित क्षपक को भी अपनी मधुर वाणी से प्रसन्न करने वाले होते हैं।[443]

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कहते हैं – जो बहुत जैन शास्त्रों के ज्ञाता होकर संघ में पठन-पाठन के अधिकारी हुए हैं तथा जो समस्त शास्त्रों का प्रयोजनभूत अर्थ जान कर, एकाग्र होकर, अपने स्वरूप को ध्याते हैं और यदि कदाचित् कषाय अंश के उदय से वहाँ उपयोग स्थिर न रहे तो उन शास्त्रों को स्वयं पढ़ते है तथा अन्य धर्मबुद्धियों को पढ़ाते हैं – ऐसे समीपवर्ती भव्यों को अध्ययन कराने वाले उपाध्याय हैं, उनको हमारा नमस्कार हो।[444]

श्रमणसंघ में आचार्य के बाद उपाध्याय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। णमोकार महामन्त्र में भी आचार्य के बाद उपाध्याय परमेष्ठी को चतुर्थ स्थान प्राप्त है। प्रवचनसार की चौथी गाथा में उपाध्याय को अध्यापक के नाम से अभिहित किया है। वर्तमान में भी शिक्षा जगत् में इसी क्रम में इन्हें स्मरण किया जाता है। आचार्य अर्थात् प्राचार्य के बाद उपाध्याय अर्थात् अध्यापक का ही स्थान आता है।

मूलाचार समीक्षा के लेखक विद्वान् श्री फूलचन्द जैन प्रेमी ने इस प्रकरण के निष्कर्ष में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि श्रमणसंघ, एक प्रकार से चलते-फिरते गुरुकुल होते थे, जिनमें सत् शास्त्रों का सांगोपांग अध्ययन चलता रहता था, केवल जैन शास्त्रों का ही अध्ययन होता हो, यह बात नहीं है, अपितु साहित्य की विविध विधाओं से परिचित कराया जाता है। तभी तो वे अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा अन्य मतों से

परीक्षापूर्वक कर पाते हैं। मूलाचार में उल्लिखित कौटिल्य, महाभारत, रामायण और ऋग्वेद आदि के नामों के उल्लेख से ग्रन्थकार का बहुशास्त्रवेतृत्व गुण प्रगट होता है। उस समय और विशेष अध्ययन हेतु शिष्य श्रमण, एक संघ या गण से दूसरे संघ या गण में आते थे – ऐसे श्रमणों को आगन्तुक श्रमण कहा जाता था। आर्यिकाएँ भी संघ में अपनी शंकाओं का समाधान और अध्ययन, आचार्य और उपाध्याय से करती थीं। इस तरह समस्त शास्त्रों के गहनतम अध्ययन-अध्यापनरूप शैक्षणिक प्रवृत्तियों का श्रमण संघ में अपना एक विशिष्ट एवं आश्चर्यकारी महत्त्व रहा है। इसमें जहाँ संघ के आचार्य का सान्निध्य तथा उनका मार्गदर्शन बहुत महत्त्व रखता है, वहाँ शैक्षणिक गतिविधियो में उपाध्याय की प्रमुख भूमिका रहती है।[445]

संघ-संचालन के अन्य प्रमुख अंग : प्रवर्तक, स्थविर और गणधर

संघों में कार्य-विभाजन की दृष्टि से प्रवर्तक आदि पद माने गये हैं। जो संघ का प्रवर्तन करते हैं, वे **प्रवर्तक** कहलाते हैं। यद्यपि ये ज्ञान में उपाध्याय की अपेक्षा कुछ कम होते हैं, परन्तु सर्व संघ की मर्यादाओं का विशेष ज्ञान होने से इन्हें **प्रवर्तक** कहा जाता है। चिरकाल से दीक्षित और मुनिमार्ग के अनुभवी मुनि, **स्थविर** कहलाते हैं। इनके माध्यम से श्रमणों का आचरण स्थिर होता है, अतः इन्हें **स्थविर** कहा है। इसी प्रकार गण की रक्षा करने वाले या गण को धारण करने वाले श्रमण, **गणधर** कहलाते हैं।[446]

कल्पसूत्र की टीका में कहा है कि जो आचार्य नहीं हैं, किन्तु बुद्धि में आचार्य के सदृश हों और गुरु की आज्ञा से साधुसमूह को साथ लेकर पृथक् विचरण करते हों, वे **गणधर** कहलाते हैं।[447]

चातुर्वण्य संघ[448]

ऋषि, मुनि, यति और अनगार; ये चार प्रकार के श्रमण, चातुर्वण्य संघ के अन्तर्गत आते हैं; इनका संक्षिप्त स्वरूप निम्न प्रकार है –

1. ऋद्धिप्राप्त श्रमण **ऋषि** कहलाते हैं।
2. ज्ञान का मनन करने वाले श्रमण **मुनि** कहलाते हैं। अथवा अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान से युक्त साधु मुनि कहलाते हैं।
3. श्रेणी पर आरोहण करने वाले उपशामक और क्षपक साधु **यति** कहलाते हैं।
4. सामान्य साधु **अनगार** कहलाते हैं।

लोक में प्रसिद्ध साधु के अन्य अनेक नाम

मुनियों के अनेक पर्यायवाची नाम प्रसिद्ध हैं; जैसे, श्रमण, संयत, साधु, वीतराग, विरत, भदन्त, दान्त, क्षान्त, प्रव्रजित, पाखण्डी, चरक, तापस, भिक्षु, योगी, परिव्राजक, क्षपणक, निश्चेल, अकच्छ, मुक्त, तीर्ण, त्राता आदि। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है[449] –

- **श्रमण –** जो श्रम अर्थात् तश्चरण करते हैं, वे श्रमण हैं अथवा जो आत्मा और परमात्मा के लिए श्रम करते हैं, वे श्रमण हैं अथवा जो समस्त प्राणियों एवं वस्तुओं के प्रति समभाव रखते हैं, वे श्रमण हैं।
- **संयम –** जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक अन्तरंग बहिरंग अविरति से विरत है, वह **संयत** है।
- **साधु** – जो अनन्त ज्ञानादिरूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं, वे **साधु** हैं।
- **वीतराग** – जिन्होंने निर्विकार आत्मस्वरूप प्रगट किया है, वे शुद्धोपयोगी श्रमण, **वीतराग** हैं।
- **विरत** – जो प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से परिणामों की विशुद्धता पाकर, समस्त गृहस्थ सम्बन्धी परिग्रहों से मुक्त होकर, निर्ग्रन्थता का अनुभव करके, महाव्रती बन जाते हैं, वे **विरत** कहलाते हैं। संयत और विरत का एक ही अर्थ है।
- **भदन्त** – जो सर्व कल्याणों का प्राप्त होता है, वह **भदन्त** है। लोक में यह शब्द मुख्यतः बौद्ध भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त होता देखा जाता है।
- **दान्त** – जो पाँच इन्द्रियों का निग्रह करता है, वह **दान्त** है।
- **क्षान्त** – जो धैर्यवान् हो, क्षमावान् हो, सहनशील हो, सहिष्णु हो; वह **क्षान्त** है।

- **प्रव्रजित** – जो प्रव्रज्या अर्थात् जिनदीक्षा धारण करता है, वह **प्रव्रजित** है।
- **पाखण्डी** – पंचम काल में भी जिसने समस्त पापों का खण्डन कर दिया हो, वह **पाखण्डी** है।
- **चरक** – जैन मुनि का कोई स्थायी निवास नहीं होता, वे हमेशा गमन करते रहते हैं, चलते रहते हैं; इस कारण उन्हें **चरक** नाम दिया गया है। कोश में चरक शब्द का अर्थ **रमता साधु** किया गया है।
- **तापस** – जो कठोर तपस्या में निरत हैं, वे **तापस** हैं।
- **भिक्षु** – जैन साधु भिक्षावृत्ति से अनुद्दिष्ट भोजन ग्रहण करते हैं, अतः उनकी **भिक्षु** संज्ञा उचित है।
- **योगी** – उत्कृष्ट ध्यान करने वाले साधु **योगी** कहलाते हैं। जो अभी सूक्ष्म सविकल्प अवस्था में स्थित हैं, वे **प्रारब्धयोगी** हैं और जिन्होंने निर्विकल्प अवस्था प्राप्त कर ली है, वे **निष्पन्नयोगी** हैं।
- **परिव्राजक** – सांसारिक मोहमाया को छोड़ने वाले भ्रमणशील तपस्वी साधु **परिव्राजक** कहलाते हैं।
- **क्षपणक** – जो समस्त कर्मों का क्षय करने के लिए उत्कृष्ट पुरुषार्थ करते हैं, वे **क्षपणक** कहलाते हैं।
- **निश्चेल** – चेल अर्थात् वस्त्र रहित नग्न दिगम्बर साधु **निश्चेल** कहलाते हैं।
- **अकच्छ** – साधु कच्छ अर्थात् धोती आदि वस्त्र से रहित होते हैं, अतः **अकच्छ** कहलाते हैं।
- **मुक्त** – सांसारिक बन्धनों से रहित होने के कारण साधु को **मुक्त** कहते हैं।
- **तीर्ण** – जिसके संसार-समुद्र का किनारा निकट आ गया है – ऐसे साधु को **तीर्ण** कहते हैं।
- **त्राता** – जो मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र से बचने का उपदेश देकर, जीवमात्र की संसार के दुःखों से रक्षा करते हैं – ऐसे सच्चे साधु ही **त्राता** हैं।

वैयावृत्य पर आधारित मुनिराज की संज्ञाएँ

तत्त्वार्थसूत्र में प्रायश्चित्त के योग्य साधुओं का उल्लेख करते हुए दश प्रकार के साधुओं की चर्चा की गई है –

आचार्योपाध्याय-तपस्वि-शैक्ष-ग्लान-गण-कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम्।। 9/24।।

अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ – इन दश प्रकार के साधओं की वैयावृत्ति करना, वैयावृत्य नामक तप कहलाता है। इनका संक्षिप्त स्वरूप निम्न प्रकार है –

- **आचार्य** – जो मुख्यरूप से व्रतों का आचरण करते कराते हैं, उन्हें **आचार्य** कहते हैं।
- **उपाध्याय** – जिनके माध्यम से मोक्षोपयोगी शास्त्रों का अभ्यास करते हैं, उन्हें **उपाध्याय** कहते हैं।
- **तपस्वी** – जो महान् उपवास आदि बड़े और कठोर तप करते हैं, उन्हें **तपस्वी** कहते हैं।
- **शैक्ष** – जो शिक्षा ग्रहण करते हैं – ऐसे विद्यार्जन करने वाले साधुओं को **शैक्ष** कहते हैं।
- **ग्लान** – रोग आदि से जिनका शरीर शिथिल हुआ है, उन साधुओं को **ग्लान** कहते हैं।
- **गण** – वृद्ध स्थविर मुनियों की सन्तति को **गण** कहते हैं।
- **कुल** – दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परम्परा को **कुल** कहते हैं।
- **संघ** – ऋषि, मुनि, यति और अनगार – ऐसे चतुर्विध साधुओं को अथवा जिनधर्म के चतुर्विध अनुयायियों को **संघ** कहते हैं।
- **साधु** – बहुत समय के दीक्षित मुनियों को **साधु** कहते हैं।
- **मनोज्ञ** – जो मुनि, विद्वान्, वक्ता, कुलीन और लोकमान्य होते हैं, उन्हें **मनोज्ञ** कहते हैं।[450]

निक्षेपों की अपेक्षा श्रमण के चार भेद

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव – इन चार निक्षेपों की अपेक्षा श्रमणों के चार भेद होते हैं।

- **नाम** – किसी भी वस्तु का 'श्रमण', यह नाम रखना, **नामश्रमण** है।
- **स्थापना** – काष्ठ, धातु आदि में श्रमण की आकृति बना कर उसमें श्रमणत्व की स्थापना करना, **स्थापनाश्रमण** है।

- **द्रव्य** – वर्तमान में भावरहित होकर भी भविष्य में श्रमणपने की भावना से श्रमण का वेश या द्रव्यलिंग धारण करना, **द्रव्यश्रमण** है।
- **भाव** – मूलगुण और उत्तरगुणों को सम्यक् प्रकार से भावसहित पालन करते हुए शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म की साधना करना, **भावश्रमण** है।

श्रमणों के दो या दश भेद[451]

जैन परम्परा में साधु के आचार, विचार, व्यवहार, मर्यादा, नीति, नियम, विधि, सामाचारी आदि को **कल्प** कहते हैं तथा उस कल्प में स्थिति को **स्थितिकल्प** कहते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में तो कल्पसूत्र, वृहत्कल्पभाष्य आदि नामों से ग्रन्थ ही पाया जाता है। दिगम्बर परम्परा के आचार्य वसुनन्दि ने कल्प का अर्थ विकल्प किया है। वैदिक परम्परा में भी आचार के नियमों के लिए कल्प शब्द का प्रयोग किया गया है।

कल्प के संक्षेपतः दो भेद हैं – जिनकल्प और स्थविरकल्प।

- **जिनकल्प** – जिन के समान जिनका आचरण करते हुए विहार करने वाले श्रमण, **जिनकल्पी** कहलाते हैं। उत्तम संहनन, जितेन्द्रियत्व, उत्कृष्ट सम्यक्त्व और संयम से विभूषित, सामायिकचारित्र के धारक, उपसर्ग-परीषहजयी, निरन्तर मौन धारण करने वाले, वर्षाकाल में छह छह माह तक निराहारी, उत्कृष्ट कायोत्सर्ग करने वाले, ग्यारह अंग के धारी, धर्मध्यान और शुक्लध्यान में तत्पर, कषायों के त्यागी, विशेष संहनन के धारक, गुफाओं में रहने वाले, संघ से पृथक् निस्पृही एकाकी रहने वाले यति, जिन के समान होने से 'जिनकल्पी' कहलाते हैं।
- **स्थविरकल्प** – पंचम काल में जिनकल्प को धारण करने में असमर्थ, हीन संहनन के धारक, तेरह प्रकार के चारित्र सहित अट्ठाईस मूलगुणों को पालने वाले, बारह तपों में उद्युक्त, अयाचकवृत्ति के साथ संघसहित विचरण करने वाले, धर्मोपदेशपूर्वक धर्मप्रभावना करने वाले, पुर-नगर-ग्राम में रहते हुए भी धीर-वीर, शिष्यों का संग्रह तथा पालन करने वाले, शत्रु-मित्र में समभावी, अकिंचनवृत्ति एवं पीछी कमण्डलु के धारक, महाव्रतों के पालन में उत्साही साधु **स्थविरकल्पी** कहलाते हैं।

स्थितिकल्प की अपेक्षा श्रमणों के दश भेद

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में दश स्थितिकल्पों की चर्चा की गई है। भगवती आराधना में आचारवत्त्व गुण के साथ, और अनगार धर्मामृत में आचार्य परमेष्ठी के 36 गुणों के साथ, तथा मूलाचार एवं श्वेताम्बर परम्परा में सर्व साधारण श्रमणों के लिए दश स्थितिकल्पो ंकी चर्चा की गई है। उनके नाम इस प्रकार हैं – आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यागृहपिण्डत्याग, राजपिण्डत्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास, एवं पर्युषणा।[452]

1. **आचेलक्य कल्प** – वस्त्रादि समस्त परिग्रह का त्याग, **आचेलक्य कल्प** कहलाता है।
2. **औद्देशिक-त्याग कल्प** – श्रमणों के उद्देश्य से बनाये गये आहार, वसतिका आदि का त्याग **औद्देशिक-त्याग कल्प** कहलाता है।
3. **शय्यागृहपिण्ड-त्याग कल्प** – अनुद्दिष्ट वसतिका प्रदान करने वाले से आहार लेने का त्याग, **शय्यागृह-त्याग कल्प** कहलाता है।
4. **राजपिण्ड-त्याग कल्प** – राजा और राजा के समान वैभव वालों से आहार लेने का त्याग, **राजपिण्ड-त्याग कल्प** कहलाता है।
5. **कृतिकर्म कल्प** – चारित्र में स्थित साधु के द्वारा गुरुओं की विनय करना अथवा स्वयं वन्दना आदि कार्य में उद्योग करना, **कृतिकर्मकल्प** कहलाता है। ध्यान रहे कि साध्वियों के द्वारा साधुओं का कृतिकर्म कल्पता है, परन्तु साधुओं के द्वारा साध्वियों का कृतिकर्म नहीं कल्पता।
6. **व्रत कल्प** – अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों से आत्मा को सुसंस्कृत करना, उनके साथ आत्मा को जोड़ना, **व्रत कल्प** कहलाता है।
7. **ज्येष्ठ कल्प** – दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जो बड़े हों, उन्हें ज्येष्ठ कहते हैं तथा उनके लिए निर्मित विधि-विधान का नाम **ज्येष्ठ कल्प** है।
8. **प्रतिक्रमण कल्प** – अचेलकत्व आदि कल्प मे रहते हुए श्रमण को जो अतिचार लगते हैं, उनके निवारणार्थ **प्रतिक्रमण कल्प** का विधान है।

9. **मास कल्प** – विहार की दृष्टि से काल को वर्षाकाल और ऋतुबद्धकाल – इन दो भागों में विभक्त किया गया है। मूलाचारवृत्ति में कहा है कि साधु को जहाँ वर्षायोग करना हो, वहाँ की लोकस्थिति जानने तथा अहिंसा आदि महाव्रतों के परिपालनार्थ वर्षायोग धारण करने के पूर्व उस स्थान में एक मास रहना तथा वर्षायोग समाप्ति के पश्चात् भी श्रावकों के अनुग्रह, विज्ञप्ति को देखते हुए उनके संक्लेश परिणामों के परिहरणार्थ वहाँ एक मास मात्र और ठहरना अथवा प्रत्येक ऋतु में एक मास ठहरना और एक मास विहार करना **मासश्रमण कल्प** है। वैसे साधारणतया साधु को निरन्तर विहार करने का विधान है। और सामान्यतः वह ग्राम में एक रात्रि तथा नगर में पाँच रात्रि से अधिक नहीं ठहर सकता किन्तु ऋतुबद्धकाल की दृष्टि से इस **मास कल्प** का विधान है।[453]
10. **पर्युषणा कल्प** – वर्षाकाल में चार मास के लिए भ्रमण का त्याग कर, एक ही स्थान पर रहना, **पर्युषणा कल्प** है। इस कल्प का उद्देश्य चातुर्मास में एक ही स्थान पर निवास करना है क्योंकि वर्षा -ऋतु के समय पृथ्वी स्थावर और जंगम जीवों से व्याप्त रहती है; अतः ऐसे समय विहार करने से महान् असंयम होता है। आत्म-विराधना की भी पदे पदे सम्भावना रहती है। इसी कारण पर्युषणा कल्प का विधान किया गया है।

विशिष्ट पुण्यप्रकृति की अपेक्षा साधुओं में भेद

तीर्थंकर साधु और सामान्य साधु में विशिष्ट पुण्य प्रकृतियों और विशिष्ट पौरुष की अपेक्षा महान् भेद होता है। **तीर्थंकर श्रमण,** उसी भव से मोक्ष जाते हैं। ये किसी से दीक्षा नहीं लेते हैं। स्वयं **ऊँ नमः सिद्धेभ्यः** पद का उच्चारण एवं पंचमुष्टि केशलोंच करके दीक्षा लेते हैं। केवलज्ञान होने तक मौन रहते हैं। केवलज्ञान होने पर तीर्थंकर नामकर्म का उदय होने से समवसरण, दिव्यध्वनि आदि विशेष अतिशय प्रगट होते हैं। जबकि **सामान्य श्रमणों** के साथ ऐसा कोई नियम नहीं है।

अन्य अपेक्षाओं से साधुओं के भेद

इसी प्रकार श्रेणी, ज्ञान, उपयोग आदि की अपेक्षा भी साधुओं के भेद होते हैं।

श्रेणी की अपेक्षा साधुओं के दो भेद हैं – उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणी वाले श्रमण, उपशामक कहलाते हैं। इस श्रेणी के आठवें, नौवें, दसवें, और ग्यारहवें गुणस्थान माने गये हैं। ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त करके वहाँ से च्युत होकर छठवें, पाँचवें, चौथे आदि गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। यदि उपशम सम्यग्दृष्टि हों तो श्रेणी से च्युत होकर पहले मिथ्यात्व गुणस्थान को भी प्राप्त कर सकते हैं तथा यदि श्रायिक सम्यग्दृष्टि हों तो चौथे अविरत गुणस्थान तक ही आ सकते हैं, इससे नीचे नहीं। इसी तरह क्षपक श्रेणी में आरोहण करने वाले साधु क्षपक कहलाते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि साधु इस श्रेणी में आरोहण करते हैं, तथा बारहवें गुणस्थान के अन्त में तेरहवाँ अरहन्तदशा का गुणस्थान प्राप्त करते हैं तथा उसी भव से मोक्ष को भी प्राप्त करते हैं।

ज्ञान की अपेक्षा से मति-श्रुत, दो ज्ञान वाले, मति-श्रुत-अवधि, तीन ज्ञान वाले और मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय, चार ज्ञान वाले मुनिराज हो सकते हैं। परम गुरु केवली परमात्मा तो मात्र एक केवलज्ञान के धारी होते हैं।

उपयोग की अपेक्षा साधुओं के दो भेद होते हैं – शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। प्रवचनसार की मूल गाथा में इन दोनों श्रमणों का विवेचन किया गया है –

समणा सुद्धुवजुत्ता, सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता, अणासवा सासवा सेसा।। 245।।

अर्थात् शास्त्रों में श्रमणों को शुद्धोपयोगी ही कहा है, साथ ही ऐसा कहा भी है कि वे शुभोपयागी भी होते हैं। उनमें से शुद्धोपयोगी श्रमण निरास्रव हैं, जबकि शुभोपयोगी श्रमण सास्रव अर्थात् आस्रवसहित हैं। इस गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य जयसेन कहते हैं कि जिस प्रकार निश्चय से शुद्ध-बुद्ध-एक स्वभाव वाले सिद्धजीव ही जीव हैं और व्यवहार से चतुर्गति में भ्रमण करने वाले अशुद्धजीव भी जीव हैं; उसी प्रकार श्रमणों में शुद्धोपयोगियों की मुख्यता मानी गई है और शुभोपयोगियों की 'भी' कह कर गौणता स्वीकार की गई है। उनकी गौणता को इस कारण स्वीकार किया गया है क्योंकि जो शुद्धोपयोगी हैं, वे निजशुद्धात्मभावना के बल

से समस्त शुभाशुभ संकल्प-विकल्प से रहित होने से निरास्रवी हैं और जो शुभोपयोगी हैं, मिथ्यात्व, विषयकषायरूप अशुभास्रव के निरोधक होने पर भी पुण्यास्रवसहित होने से सास्रवी हैं।

अब यहाँ शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी श्रमणों का स्वरूप यत्किंचित् विस्तार के साथ करते हैं –

शुद्धोपयोगी श्रमण

निज शुद्धात्मा आदि पदार्थों और उसके प्रतिपादक सूत्रों को भलीभाँति जान लेने से स्वद्रव्य और परद्रव्य के विभाग को यथार्थ जानने, श्रद्धान करने और आचरण करने में समर्थ होने के कारण जो **सूत्र-पदार्थ के उत्कृष्ट ज्ञाता** है; बाह्य में द्रव्येन्द्रिय के व्यापार से निवृत्त होने के कारण षट्काय के जीवों की रक्षा करने से जीवघात एवं पंचेन्द्रिय के विषयों की अभिलाषा के विकल्प से अपनी आत्मा को व्यावृत्त करने से तथा अन्तरंग में निजशुद्धात्मा की संवित्ति (अनुभूति) के बल से स्वरूप में संयमित होने से जो **संयमयुक्त** हैं और बाह्य-अभ्यन्तर तप के बल से काम-क्रोध आदि शत्रुओं के द्वारा भी खण्डित नहीं होने से तथा अखण्डित प्रताप वाले स्वशुद्धात्मा में प्रतपन करने से जो **तपयुक्त** हैं; वीतराग शुद्धात्मभावना के बल से समस्त रागादि दोषों से रहित होने के कारण जो **विगतराग** हैं; तथा जो निर्विकार निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न परमानन्दरूप सुखरस में लीन हैं, जिससे उन्हें निर्विकार स्वसंवित्तिरूप समताभाव की परमकला प्राप्त हुई है, उससे इष्ट-अनिष्ट इन्द्रिय-विषयों में हर्ष-विषाद नहीं करने से जो **सुख-दुःख में समभावी** हैं – ऐसे विशिष्ट गुणों के धारक श्रमण अर्थात् परम मुनि ही **शुद्धोपयोगी** हैं।[454]

वास्तविकता यह है कि धर्म से परिणत स्वरूप वाला आत्मा, यदि शुद्धोपयोग से युक्त होता है तो शुद्ध आत्मस्वभाव की प्राप्ति करता है। शुद्धोपयोग के द्वारा आत्मा को अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अतीन्द्रिय, अनुपम, अनन्त और अविच्छिन्न सुख प्राप्त होता है क्योंकि वह आत्मा, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहरूपी रज से रहित होता हुआ ज्ञेयभूत पदार्थों के पार को प्राप्त करता है। स्वभाव को प्राप्त करके वह आत्मा स्वयं सर्वज्ञ और त्रिभुवनपति होता हुआ स्वयंभू होता है।

शुभोपयोगी श्रमण[455]

''जो जीव, श्रामण्य-परिणति की प्रतिज्ञा करके भी कषाय अंश के जीवित होने से समस्त परद्रव्यों की निवृत्ति करके, सुविशुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वभाव वाले आत्मतत्व की परिणतिरूप शुद्धोपयोग भूमिका में आरोहण करने में असमर्थ हैं, लेकिन जो शुद्धोपयोग भूमिका के निकट निवास कर रहे हैं। कषाय के कारण जिनकी शक्ति कुण्ठित है, परन्तु जो शुद्धोपयोग भूमिका में जाने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित मन वाले हैं – ऐसे मुनि, **शुभोपयोगी श्रमण** कहलाते हैं क्योंकि शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थ-समवाय होता है।

यद्यपि शुभोपयोगियों को भी श्रमण कहा गया है, तथापि वे शुद्धोपयोगी श्रमणों के साथ समान कोटि के नहीं माने गये हैं क्योंकि शुद्धोपयोगी श्रमण तो समस्त कषायों को निरस्त किया होने से निरास्रव ही हैं, जबकि शुभोपयोगी के तो कषायकण अविनष्ट होने से सास्रव ही हैं। यही कारण है कि शुद्धोपयोगियों के साथ शुभोपयोगियों को नहीं लिया गया है, मात्र पीछे से गौणरूप से लिया है।''[456]

आचार्य जयसेन कहते हैं कि शुद्धोपयोगी श्रमण तो निजशुद्धात्मभावना के बल से समस्त शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित होने से निरास्रव ही हैं, जबकि शुभोपयोगी श्रमणों के द्वारा मिथ्यात्व-विषय-कषायरूप अशुभास्रव का निरोध होने पर भी वे पुण्यास्रव से सहित हैं।[457]

मुनि अवस्था में यदि साधु कषायांश के आवेशवशात् शुद्धात्मपरिणतिरूप रहने में अशक्त होता है तो अरहन्तादिक के प्रति भक्ति या प्रवचनरत जीवों के प्रति उसका जो वात्सल्य पाया जाता है तो वह शुभयुक्त चर्या है। इसी प्रकार शुद्धोपयोगी श्रमणों के प्रति वन्दन-नमस्कार सहित अभ्युत्थान और अनुगमनरूप विनीत प्रवृत्ति करना, उनका श्रम दूर करना, वह रागचर्या में निन्दित नहीं है; यह परद्रव्य-प्रवृत्ति, उतने मात्र राग से युक्त एवं शुद्धात्मपरिणति के साथ मिलित होने के कारण शुभोपयोगी चारित्र है – ऐसा शुद्धात्मा का अनुरागयुक्त शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण है।[458]

ध्यान रहे इसी प्रकार की अन्य प्रवृत्तियाँ, जैसे, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का ग्रहण, उनका पोषण, और जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश आदि प्रवृत्तियाँ वास्तव में शुभोपयोगी श्रमणों की चर्या है, शुद्धोपयोगियों की नहीं। इस प्रकार जितनी भी प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे सब शुभोपयोगी श्रमणों में ही मुख्यता से मानी गई हैं।[459]

जैसे, जो श्रमण, सदा छह काय के जीवों की विराधना से रहित होकर चार प्रकार के श्रमणसंघ का उपकार करता है, वह भी राग की प्रधानता वाला अर्थात् शुभोपयोगी श्रमण ही होता है, शुद्धोपयोगी नहीं। यहाँ इतना अवश्य ध्यान देना चाहिए कि शुभोपयोगी श्रमण की जितनी भी प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे सब संयम के साथ विरोध रखने वाली नहीं होनी चाहिए।[460]

जैसे, कोई श्रमण वैयावृत्ति के अभिप्राय से भी छह काय के जीवों को पीड़ित करता है तो वह शुभोपयोगी श्रमण भी नहीं है, गृहस्थ है।[461]

आचार्य जयसेन शंकाकार की ओर से कहते हैं कि शुभोपयोगियों को भी किसी काल में शुद्धोपयोगभावना दिखाई देती है, शुद्धोपयोगियों को भी किसी काल में शुभोपयोगभावना दिखाई देती है, श्रावकों को भी सामायिकादि काल में शुद्धभावना दिखाई देती है, उनमें कौनसा विशेष भेद ज्ञात होता है? इस शंका का परिहार करते हुए स्वयं आचार्य कहते हैं कि आपने सही कहा, लेकिन किन्तु जो प्रचुरता से शुभोपयोगरूप रहते हैं, वे यद्यपि किसी काल में शुद्धोपयोगभावना भी करते हैं, तथापि वे शुभोपयोगी ही कहलाते हैं; इसी प्रकार जो शुद्धोपयोगी हैं, वे यद्यपि किसी काल में शुभोपयोगरूप होते हैं, तथापि वे शुद्धोपयोगी ही कहलाते हैं। शंकाकार पुनः पूछता है कि ऐसा क्यों है? समाधान यह है कि लोक में बहुपद की प्रधानता (बहुमत) का नियम होता है; जैसे, आम्रवन, नीमवन आदि। इस प्रकार आचार्य जयसेन ने शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी श्रमणों की पाई जाने वाली दोनों प्रकार की भावनाओं का युक्तिसंगत वर्णन किया।[462]

शुभोपयोगी पुरुषों के द्वारा स्वयं को शुद्धात्म-प्राप्ति की भावना से शुद्धात्मा की ज्ञान-दर्शनस्वरूप चर्या करने वाले अनेकान्त के साथ मैत्री युक्त पवित्र परिणामों वाले जैन साधुओं आदि के प्रति परोपकारस्वरूप अनुकम्पा सहित धर्मवात्सल्य के परिणामों में भी यद्यपि सावद्य होने के कारण अल्प लेप होता है, तथापि उस प्रवृत्ति का निषेध नहीं किया गया है, कहा है – **'सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ'**। हाँ, ऐसी प्रवृत्ति भी अन्यत्र सभी के प्रति नहीं की जा सकती है क्योंकि उनके द्वारा स्व-पर की शुद्धात्मपरिणति की रक्षा नहीं हो सकती।[463]

यही न्याय है कि कारण विपरीत होगा तो फल भी विपरीत होगा और कारण उत्तम होगा तो फल भी उत्तम होगा।[464]यदि शुद्धात्मपरिणति प्राप्त श्रमण को उस शुद्धात्मपरिणति से च्युत करने वाला कोई उपसर्ग, रोग, क्षुधा, तृषा, थकान आदि हो जाए तो उन शुभोपयोगी श्रमणों को अपनी शक्ति/मर्यादा का ध्यान रख कर, स्वयं उन तपोधनों की, काय के माध्यम से निरवद्य सेवा, वैयावृत्ति आदि करना चाहिए, साथ ही इसी निमित्त से अन्य लौकिकजनों के साथ बातचीत आदि करना भी निषिद्ध नहीं है क्योंकि ऐसी प्रशस्तभूत चर्या करने में गृहस्थ श्रावक की ही मुख्य भूमिका होती है। ऐसा करने से उन गृहस्थों को भी उन तपोधनों के संसर्ग से निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के उपदेश का लाभ और परम्परा से निर्वाण प्राप्त होता है।[465]

जिसका समस्त पाप रुक गया है, जो सभी धार्मिकों के प्रति समभाववान् हैं, जो गुणसमुदाय का सेवन करने वाला है, जो एकाग्रता स्वरूप मोक्षमार्ग का पात्र है, जो स्वपर को मोक्ष एवं पुण्य का आयतन है – ऐसा साधु शुभोपयोगी माना गया है। जो साधु अशुभोपयोग से रहित वर्तता हुआ शुद्धोपयोग या शुभोपयोग में उपयुक्त होते हैं, वे लोक के तारक माने हैं, उनके प्रति भक्तिभाव रखने वाले जीव, पुण्यशाली होते हैं।[466]

शंका – शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी – ये दोनों अलग-अलग श्रमण/मुनिराज हैं या एक मुनिराज के ही दो रूप हैं?

समाधान – वास्तव में ये भेद, उपयोग की अपेक्षा हैं, व्यक्ति की अपेक्षा नहीं। मुनिराज जिस समय शुद्धोपयोग से युक्त हैं, उस समय उनकी शुद्धोपयोगी और जिस समय शुभोपयोग से युक्त हैं, उस समय शुभोपयोगी संज्ञा है।

इसका दूसरा कारण यह भी है कि यदि मुनि की भूमिका के योग्य अर्थात् न्यूनतम सातवें गुणस्थान के योग्य शुद्धोपयोग परिणति न हो तो अकेले छठवें गुणस्थान के योग्य शुभोपयोग परिणति से श्रमण या मुनि संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है।

प्रवचनसार गाथा 245 की टीका में उल्लिखित 'शुभोपयोग के साथ धर्म का एकार्थ-समवाय' शब्द भी ध्यान देने योग्य है। तात्पर्य यह है कि श्रमण, अंतरंग में तो मुनिपद के योग्य शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणति से प्रवर्तमान हैं, तथापि सम्पूर्णरूप से आत्मस्वरूप में स्थिरता के अभाव में शुभोपयोग की भूमिका में वे ही शुभोपयोगी श्रमण कहलाते हैं।

इस सम्बन्ध में निम्न मनीषियों के विचार दृष्टव्य हैं–

''जो श्रमण शुभोपयोगी हैं, वे सदा शुभोपयोगी ही रहें, अल्प समय को भी कभी शुद्धोपयोगी न हों – ऐसा नहीं बनता है, किन्तु प्रधानता की दृष्टि से वे शुभोपयोगी कहलाते हैं।''[467]

''अक्सर हम ऐसा समझ जाते हैं कि मुनिराज के दो प्रकार के होते हैं – एक शुद्धोपयोगी और दूसरे शुभोपयोगी, पर ऐसा नहीं है। एक ही मुनिराज के कभी शुद्धोपयोग होता है और कभी शुभोपयोग। यह एक ही मुनिराज के दो उपयोग की बात है क्योंकि इस गाथा में स्पष्ट लिखा है कि धर्म से परिणमित स्वरूपवाले आत्मा के ये दो भेद हैं। शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी– ये भेद धर्मात्माओं के हैं, धर्म से परिणमित मुनिराजों के हैं। यह बात बहुत स्पष्ट है कि चाहे मुनिराज, शुद्धोपयोग में हों या शुभोपयोग में; तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप निर्मल परिणति सदा विद्यमान होने से वे धर्मात्मा ही हैं। शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी – ये एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं तथा ये भेद समझाने के लिए किये गये हैं।''[468]

निश्चय-व्यवहार की अपेक्षा साधु के भेद

निश्चय और व्यवहार साधु – ये दो अलग अलग साधु नहीं हैं। वस्तुतः एक ही मुनिराज में वीतरागता और सरागता की अपेक्षा ये दोनों भेद पाये जाते हैं। इन्हीं द्विरूप परिणतियों की अपेक्षा से ही मुनिराज के सराग और वीतराग भेद भी जिनागम में उपलब्ध होते हैं। दान और पूजा – ये श्रावक के मुख्या धर्म हैं; इनके बिना श्रावक नहीं होता; परन्तु साधुओं को ध्यान व अध्ययन प्रधान हैं, इनके बिना यतिधर्म नहीं होता। अतः जो मुनिराज, सदा तत्त्वविचार में लीन रहते हैं, मोक्षमार्ग का आराधन करना जिनका स्वभाव है, और जो निरन्तर धर्मकथा में लीन रहते हैं, वे यथार्थ मुनि हैं।[469] जो श्रमण, अन्तरंग में तो सदा ज्ञान व दर्शन आदि में प्रतिबद्ध रहता है और बाह्य में मूलगुणों में प्रयत्नशील विचरण करता है, वह परिपूर्ण श्रामण्यवान् हैं।[470]

निश्चय साधु की व्याख्या करते हुए कहा है – जो शत्रु और बन्धुवर्ग में समान है, सुखदुःख समान है, प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसको समता है, जिसे लोष्ठ और सुवर्ण समान है तथा जीवनमरण के प्रति जिसको समता है, वह (निश्चय) श्रमण है।[471] जो अनन्त ज्ञानादिस्वरूप शुद्धात्मा की साधना करते हैं, उन्हें (निश्चय) साधु कहते हैं।[472]

तत्त्वार्थसार में व्यवहार साधु की व्याख्या में कहा है कि जो सातों तत्त्वों की भेदरूप से श्रद्धान करता है, भेदरूप से उसे जानता है, तथा भेदरूप से उसे उपेक्षित करता है अर्थात् विकल्पात्मक भेदरत्नत्रय की साधना करता है, वह मुनि व्यवहारावलम्बी है।[473] जो पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, 18,000 शील के भेदों को धारण करते हैं और 84,00,000 उत्तरगुणों का पालन करते हैं; वे (व्यवहार) साधु परमेष्ठी होते हैं।[474]

लिंग की अपेक्षा मुनियों के भेद

मुनियों के लिंग दो प्रकार के माने गये हैं – भावलिंग और द्रव्यलिंग। यद्यपि पाँचों प्रकार के मुनि भावलिंगी ही होते हैं, क्योंकि वे सभी सम्यग्दर्शन सहित संयम पालने में तत्पर या सावधानहोते हैं; तथापि द्रव्यलिंग की अपेक्षा शरीर की ऊँचाई रंग पीछी आदि की अपेक्षा उनमें अन्तर भी होता है; अतः द्रव्यलिंग की अपेक्षा भजनीय हैं अर्थात् किसी किसी मुनि के कभी कहीं पर किसी उपसर्ग आदि कारणवश किसी प्रकार से आवरण सम्भव है। अथवा द्रव्यलिंग के अन्तर को इस प्रकार भी समझ सकते हैं। जैसे, कोई आहार करता है, कोई अनशनादि तप करता है, कोई उपदेश करता है, कोई अध्ययन करता है, कोई ध्यान करता है, कोई तीर्थों में विहार करता है, किसी को कोई दोष लगता है, उसका वह प्रायश्चित्त लेता है, कोई दोष ही नहीं लगने देता, कोई आचार्य है, कोई उपाध्याय है, कोई प्रवर्तक है, कोई निर्यापक है, कोई वैयावृत्य करता है, कोई श्रेणी आरोहण करता है, कोई केवलज्ञान उत्पन्न करता है – इत्यादि प्रवृत्ति से द्रव्यलिंग में अन्तर आता है, लेकिन यथाजातरूप नग्न दिगम्बरपना सभी के है, उसमें कोई अन्तर नहीं है।

वहीं आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि **भावेण होइ णग्गो** अर्थात् भाव से ही नग्न होता है, बाह्य नग्नलिंग से क्या साध्य होता है ? क्योंकि भावसहित द्रव्यलिंग से ही कर्मप्रकृति के समूह का नाश होता है। भावरहित नग्नत्व अकार्यकारी है, कुछ भी कार्यकारी नहीं है; इसलिए हे धीर मुनि! तुम निरन्तर नित्य आत्मा की भावना करो।[475]

''साधु आदि के बाह्य वेष को लिंग कहते हैं। जैनाम्नाय में वह तीन प्रकार का माना गया है – साधु, आर्यिका व उत्कृष्ट श्रावक। ये तीनों ही द्रव्य व भाव के भेद से दो दो प्रकार के हो जाते हैं। शरीर का वेष द्रव्यलिंग है और अन्तरंग की वीतरागता भावलिंग है। भावलिंग सापेक्ष ही द्रव्यलिंग सार्थक है, अन्यथा तो वह स्वांग मात्र है।''[476]

दर्शनपाहुड़ में लिखा है –

एगं जिणस्य रूवं, बिदियं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं, चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।।[477]

अर्थात् जैनदर्शन में पहला लिंग जिनेन्द्र भगवान के समान मुनियों का लिंग है, दूसरा लिंग उत्कृष्ट श्रावकों का लिंग है और तीसरा लिंग जघन्य पद में स्थित आर्यिका का लिंग है और चौथा कोई लिंग है ही नहीं।

यहाँ भी यह ध्यान रखने योग्य है कि भावलिंग और द्रव्यलिंग दो अलग अलग मुनिराज के नहीं होते, अपितु एक ही मुनिराज में अभ्यन्तर वीतराग परिणति अर्थात् प्रचुर स्वसंवेदन निश्चय से भावलिंग है तो उनकी नग्न दिगम्बर दशा बाह्य द्रव्यलिंग है।

भावलिंग का स्वरूप दर्शाने वाले आगम उद्धरण इस प्रकार है –

मुच्छारंभविजुत्तं, जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं, अपुणब्भवकारणं जेण्हं।।[478]

अर्थात् ममत्व और आरम्भ रहित, उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त, पर की अपेक्षा से रहित, अपुनर्भव या मोक्ष का कारण – ऐसा जिनेन्द्रदेव कथित श्रामण्य का अन्तरंग लिंग या भावलिंग है।

जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं कि ''आत्मा के स्वाभाविक परिणामों को भाव कहते हैं – ऐसा लिंग, लक्षण और रूप जिसका हो, वह भावलिंग है।''[479]

द्रव्यलिंग का स्वरूप दर्शाने वाले आगम उद्धरण इस प्रकार हैं –

जधजादरूवजादं, उप्पाडिदके समंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो, अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं।।[480]

अर्थात् जन्म समय के समान रूप वाला, सिर और दाढ़ी मूंछ के बालों का लोंच किया हुआ, शुद्ध अकिंचन, हिंसादि और प्रतिकर्म या शारीरिक संस्कार से रहित – ऐसा श्रामण्य का बहिरंग लिंग है।

वहीं मूलाचार में द्रव्यलिंग का स्वरूप बताने वाली गाथा इस प्रकार है –

अच्चेलक्कं लोचो, वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो, चदुविधो होदि णादव्वो।।[481]

अर्थात् अचेलकत्व, केशलोंच, शरीर संस्कार का त्याग और पीछी – ये चार भेदवाला लिंग जानना चाहिए।

हम ऐसा भी कह सकते हैं कि अट्ठाईस मूलगुणों में बाह्य प्रवृत्ति तो बहिरंग द्रव्यलिंग है तथा उन्हें पालने का अन्तरंग भाव व्यवहार से भावलिंग है क्योंकि जैसे भाव तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक होते हैं, वैसे भाव उसके पहले नहीं होते, अतः वे भी व्यवहार से भावलिंग हैं तथा निश्चय भावलिंग की अपेक्षा इसे भी द्रव्यलिंग कह सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो श्रमण, द्रव्यलिंगसहित भावलिंग को धारण करता है, वह भाव की प्रधानता से **भावलिंगी श्रमण** कहलाता है तथा जो श्रमण, भावलिंग रहित मात्र द्रव्यलिंग धारण करता है, वह **द्रव्यलिंगी श्रमण** कहलाता है। यदि कोई मुनिराज को ध्यानावस्था में कोई वस्त्र ओढ़ा दे तो वे उस समय भी **भावलिंगसहित द्रव्यलिंगधारी** हैं। यदि कोई मुनि, स्वयं वस्त्र ओढ़े, तब द्रव्यलिंग का घात होता है, परन्तु आत्म-ध्यान आदि की दशा में दूसरों के द्वारा वस्त्र ओढ़ाना, मुनिराज पर उपसर्ग है, वह उनका परिग्रह नहीं है। हाँ, यदि शीतादि की दशा में वे उस वस्त्र के प्रति ममत्व धारण करके, ध्यान का नाटक करके बैठे रहें तो उनका मुनिपना नहीं माना जा सकता।

भावलिंगी साधु की पहचान

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं भावलिंगी साधु की पहचान बताते हुए भावपाहुड़ में लिखा है –

देहादिसंगरहिओ, माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, स भावलिंगी हवे साहू।। 56।।
ममत्तिं परिवज्जामि, णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा, अवसेसाइं वोसरे।। 57।।
आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे।। 58।।
एगो मे सस्सदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।। 59।।
भावेह भावसुद्धं, अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं, जइ इच्छह सासयं सुक्खं।। 60।।[482]

अर्थात् जो बाह्य में देहादि परिग्रह से रहित होता है, अन्तरंग में रागादिक परिणाम में अहंकाररूप मानकषाय अर्थात् परभावों में अपनापन माननेरूप भाव से रहित होता है और दर्शनज्ञानरूप चेतनाभावस्वरूप आत्मा में लीन होता है, वही साधु **भावलिंगी** है। आत्मा के स्वाभाविक परिणाम को भाव कहते हैं, उसरूप जिसका लिंग, लक्षण और रूप हो, वह भावलिंग है। उसका धारक साधु भावलिंगी है।। 56।।

भावलिंगी मुनि के भाव इस प्रकार होते हैं – मैं परद्रव्य और परभावों से ममत्व को छोड़ता हूँ, मेरा निजभाव ममत्वरहित है, उसको मैं अंगीकार करता हूँ, अब मुझे अपनी आत्मा का ही अवलम्बन है, अन्य सभी को मैं छोड़ता हूँ।। 57।।

मेरे ज्ञानभाव प्रगट हैं, उसमे आत्मा की ही भावना है, ज्ञान कोई भिन्न वस्तु नहीं है, ज्ञान है वह आत्मा ही है, दर्शन है वह आत्मा ही है, चारित्र है वह आत्मा ही है, प्रत्याख्यान है वह आत्मा ही है, संवर है वह आत्मा ही है, योग है वह आत्मा ही है। यद्यपि संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा भेददृष्टि से विचार करें तो इनमें भिन्नता भी है, परन्तु अभेददृष्टि से देखें तो ये सब भाव आत्मा ही हैं। ऐसा ही भावलिंगी मुनि के अभेद निर्विकल्प अनुभव में भासित होता है, उसी में सिद्धि है।। 58।।

ज्ञान-दर्शनस्वरूप और शाश्वत नित्य एक आत्मा ही एकमात्र मेरा है, शेष सब भाव मुझसे भिन्न हैं, वे सब संयोगलक्षण हैं, परद्रव्य हैं; अतः हे मुनिजनों! यदि चार गतिरूप संसार से छूट कर, शीघ्र शाश्वत सुखरूप मोक्ष तुम चाहो तो भाव से शुद्ध अतिशय विशुद्ध निर्मल आत्मा को जैसे बने वैसे भावो।। 59-60।।

मूलाचारवृत्ति के अनुसार ''जिनका आचरण मूलगुणों और उत्तरगुणों को उत्कृष्ट भावों से धारण करने का होता है, उन्हें भावश्रमण कहा है।''[483]

द्रव्यलिंगी की पहचान

भावपाहुड़ में कहा है कि जो परद्रव्यों से प्रीतिरूप राग या परिग्रह से युक्त हैं तथा जिनभावना अर्थात् शुद्धस्वरूप की भावना से रहित हैं, वे **द्रव्यनिर्ग्रन्थ** हैं।[484] इसी प्रकार मूलाचारवृत्ति के अनुसार जो गुणों से रहित होते हुए भी लिंग का ग्रहण करते हैं, वे **द्रव्यश्रमण** हैं।[485] जो द्रव्यलिंग धारण करके इन्द्रियसुख में व्याकुल हैं, जिनके धर्म-शुक्लध्यान नहीं होता और जो संसाररूपी वृक्ष को काटने में समर्थ नहीं हैं, वे द्रव्यलिंगी हैं।[486]

श्वेताम्बर साहित्य में द्रव्यलिंगी और भावलिंगी श्रमण को द्रव्यभिक्षु और भावभिक्षु संज्ञा भी मिलती है। वहाँ भी शिथिलाचारी श्रमण के वही पाँच भेद कहे गये हैं, जो दिगम्बर आम्नाय में भी प्राप्त होते हैं – 1. पार्श्वस्थ, 2. यथाच्छन्द, 3. कुशील, 4. अवसन्न और 5. संसक्त।[487]

1. **पार्श्वस्थ मुनि** – जो मुनि कहलावे और वसतिका बाँध कर उपकरणों से ही आजीविका करें, उसे **पार्श्वस्थ वेषधारी** कहते हैं।[488] कितने ही मुनि इन्द्रियरूपी चोर और कषायरूपी हिंसक प्राणियों से जब पकड़े जाते हैं; तब साधुसंघ के मार्ग का त्याग कर पार्श्वस्थ मुनियों के पास जाते हैं। पार्श्वस्थ मुनि इन्द्रिय, कषाय और विषय से पराजित होकर चारित्र को तृण के समान समझता है। उसकी सेवा करने वाला भी पार्श्वस्थ हो जाता है।[489]

अतिचाररहित संयममार्ग का स्वरूप जान कर भी उसमें जो प्रवृत्ति नहीं करता है, परन्तु संयममार्ग के पास ही वह रहता है। यद्यपि वह एकान्त से असंयमी नहीं है, परन्तु निरतिचार संयम का पालन नहीं करता

है, इसलिए उसको **पार्श्वस्थ** कहते हैं।.....जो उत्पादन व एषणा दोषसहित आहार ग्रहण करते हैं, हमेशा एक ही वसतिका में रहते हैं, एक ही संस्तर में सोते हैं, एक ही क्षेत्र में रहते हैं, गृहस्थों के घर में अपनी बैठक लगाते हैं.....जिसका शोधना अशक्य है, अथवा जो शोधा नहीं गया, उसको ग्रहण करते हैं। सुई, कैंची आदि वस्तुओं का ग्रहण करते हैं। सोना, धोना, उसको टकना, रंगाना इत्यादि कार्यों में जो तत्पर रहते हैं – ऐसे मुनियों को **पार्श्वस्थ** कहते हैं। जो अपने पास क्षारपूर्ण, सोहागपूर्ण, नमक, घी आदि पदार्थ कारण न होने पर भी रखते हैं, उनको **पार्श्वस्थ** कहते हैं।[490]

पार्श्वस्थ मुनि के दो प्रकार हैं – सर्वतः पार्श्वस्थ और देशतः पार्श्वस्थ। सर्वतः पार्श्वस्थ के तीन प्रकार हैं – पार्श्वस्थ, प्रास्वस्थ और पाशस्थ।

- **पार्श्वस्थ** – जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और प्रवचन में सम्यक् प्रकार से आरूढ़ नहीं है, जो उनके पार्श्व – तट में स्थित है, वह **पार्श्वस्थ** है।
- **प्रास्वस्थ** – जो ज्ञान आदि में अवस्थित होने पर भी अनुद्यमी है, वह **प्रास्वस्थ** है।
- **पाशस्थ** – जो बन्ध के हेतुभूत प्रमाद आदि पाशों में स्थित है, वह **प्राशस्थ** है। यहाँ पाश और बन्धन एकार्थक हैं।

इसी प्रकार जो शय्यातर पिण्डभोजी है, अर्थात् जो आश्रित कुलों में, स्थापना कुलों या लोक में गर्हित कुलों में जो भिक्षा प्राप्त करता है, अभिहत आहार ग्रहण करता है, जो पूर्व-पश्चात्-संस्तुत माता-पिता श्वसुर आदि का उपजीवी है या दान से पहले पीछे दाता की प्रशंसा करता है, जो नित्यपिण्डभोजी और अग्र पिण्डभोजी है; वह **देशतः पार्श्वस्थ** है।[491]

आगम विषय कोश में पार्श्वस्थ की शाब्दिक व्याख्या करते हुए इसे सम्भवतः पार्श्वनाथ की परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया है। वहाँ लिखा है –

''पासत्थ का संस्कृत रूप केवल पार्श्वस्थ ही होना चाहिए। इसका मूलस्पर्शी अर्थ होना चाहिए – भगवान पार्श्व की परम्परा में स्थित। हमारा अनुमान है कि अर्हत् पार्श्व के अनेक शिष्य श्रमण महावीर के तीर्थ में स्वयं प्रव्रजित हो गये। वे शिष्य, श्रमण महावीर के शासन में सम्मिलित नहीं हुए, उन्हीं के लिए पार्श्वस्थ शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह स्पष्ट है कि महावीर के आचार की अपेक्षा पार्श्व का आचार मृदु था। जब तक शक्तिशाली आचार्य थे, तब तक पार्श्वनाथ के शिष्यों के प्रति महावीर के शिष्यों में हीन भावना इतनी बढ़ी कि पार्श्वस्थ शब्द शिथिलाचारी के अर्थ में रूढ़ हो गया होगा।[492]

भावपाहुड़ में पार्श्वस्थ आदि श्रमणों को द्रव्यलिंगी कहा है।[493] साथ ही उनको पाँच अशुभ भावनाएँ भाने वाला बताया गया है। वे पाँच भावनाएँ हैं – कन्दर्प, किल्विषिक, आभियोग्य, आसुरी और सम्मोह। इनके संक्षिप्त स्वरूप निम्न प्रकार हैं –

1. **कन्दर्प भावना** – कन्दर्प, कौतकुच्य आदि से चलशील, और सदा हास्य आदि कथा करने में तत्पर, दूसरे को विस्मय में डालने वाला कन्दर्प भावना करता है।
2. **किल्विषिक भावना** – जो ज्ञान, केवली, धर्म, आचार्य, और सर्व साधुओं के विषय में मायाचार करता है, झूठा दोष लगाता है, वह किल्विषिक भावना करता है।
3. **आभियोग्य भावना** – जो द्रव्यलाभ, मिष्टरस और सुख के लिए मन्त्राभियोग – भूत आदि बुलाना, कौतुकअकाल में वर्षा आदि दिखलाना, और बच्चों की रक्षा के लिए भभूत आदि देता है, वह आभियोग्य भावना करता है।
4. **आसुरी भावना** – अनुबद्ध क्रोध और कलह से जिसका तप संयुक्त है, ज्योति आदि से आजीविका करता है, निर्दय है, दूसरे को कष्ट देकर भी पश्चाताप नहीं करता है, वह दानवी/आसुरी भावना करता है।
5. **सम्मोह भावना** – जो मिथ्यात्व या असंयम का उपदेश देता है, मार्ग को दूषण लगाने वाला है और रत्नत्रय का विरोधी है. अज्ञान से मूढ़ है, वह सम्मोह भावना करता है।[494]

2. **यथाच्छन्द, स्वच्छन्द या मृगचारित्र मुनि** – जो गुरु का आश्रय छोड़ कर एकाकी स्वच्छन्द प्रवर्तता है, जिन-आज्ञा का लोप करता है,[495] जो इस संसार में हिरणों के समान अपनी इच्छानुसार चारित्र या आचरणों को पालन करते हैं, उन पापियों को **मृगचारित्र** नामक मुनि कहते हैं।[496] जो मुनि साधुसंघ को छोड़ कर स्वतन्त्र हुआ है, जो स्वेच्छाचारी बन कर आगमविरुद्ध और पूर्वाचार्यों के द्वारा अकथित आचारों की कल्पना

करता है; वह स्वच्छन्द नामक भ्रष्ट मुनि समझना चाहिए। यथेष्ट प्रवृत्ति करने वाले उस मुनि ने भले ही घोर संयम किया होगा, परन्तु सम्यक्त्व न होने से उसका संयम, चारित्र नहीं कहा जाता है।[497] जो स्वयं उत्सूत्र अर्थात् तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट नहीं, सिद्धान्त के साथ घटित नहीं; स्वेच्छा-कल्पित है, उसका जो आचरण करता है, और दूसरों के समक्ष उसी की प्ररूपणा करता है, वह **यथाच्छन्द या इच्छाछन्द या मृगचारी** कहलाता है। यह पार्श्वस्थ से अधिक तीव्र दोषी माना गया है क्योंकि जिस अपराध में पार्श्वस्थ को जो प्रायश्चित्त आता है, यथाच्छन्द को उससे अधिक आता है। वह आगमविरुद्ध आचरण के अलावा बहुदोषयुक्त कुमत की प्ररूपणा भी करता है।[498]

स्वच्छन्द मुनि की कुछ मिथ्या प्ररूपणाएँ इस प्रकार हैं –

- उस्तरे और कैंची से केश निकालना ही योग्य है क्योंकि केशलोंच करने से आत्मविराधना होती है।
- सचित्त तृणपुंज पर बैठने से भी भूमिशयन मूलगुण पाला जाता है क्योंकि तृण पर बैठने से भी जीवों को बाधा नहीं पहुँचती है।
- उद्देश आदि दोषसहित भोजन करना दोषास्पद नहीं है क्योंकि आहार के लिए पूरे ग्राम में भ्रमण करने से जीवों की विराधना होती है।
- घर में बैठ कर पात्र में भोजन करना ही अच्छा है क्योंकि हाथ में लेकर भोजन करने से जीवों को बाधा पहुँचती है।
- इस काल में यथोक्त आचरण करने वाले मुनि नहीं है, सब मुनि भ्रष्ट हैं। इत्यादि।

3. **कुशील मुनि** – कुत्सित आचरणयुक्त स्वभाव वाले श्रमण **कुशील** कहलाते हैं।[499] जो कषायी होकर व्रतादि से भ्रष्ट रहे, संघ का अविनय करे, ऐसे वेषधारी श्रमण को **कुशील** कहते हैं।[500] साधुसंघ से दूर होकर जो मुनि, कुशील-प्रतिसेवनारूप वन में, उन्मार्ग से दौड़ते हुए आहार, भय, मैथुन और परिग्रहरूपी नदी में गिर कर कष्टरूपी प्रवाह में पड़ कर डूब जाते हैं। पहले वे उत्तरगुण छोड़ते हैं, फिर मूलगुण और सम्यक्त्व से भी भ्रष्ट होकर संसार में भ्रमण करते हैं। वे दूर से ही साधुसंघ को त्याग कर कुमार्ग में दौड़ते हैं और आगमोक्त कुशील मुनि के दोषों को करते हैं।[501]

कुशील के तीन भेद हैं – 1. काल, विनय आदि आठ प्रकार के ज्ञानाचार की विराधना करने वाला **ज्ञानकुशील** है। 2. दर्शनाचार का विराधक, **दर्शनकुशील** है। 3. इन्द्रजाल, मन्त्र-तन्त्र आदि के द्वारा जीवनयापन करने वाला, **चरणकुशील** है।[502]

4. **अवसन्न अथवा अपगत मुनि** – जिनकी सम्यग्ज्ञानादिक सब संज्ञा नष्ट हो गई है, चली गई है – ऐसे भेषधारी मुनियों की अपगत संज्ञा है।[503] जैसे, कीचड़ में फँसे हुए और मार्गभ्रष्ट पथिक को अवसन्न कहते हैं, उसको द्रव्यावसन्न भी कहते हैं। वैसे ही जिसका चारित्र अशुद्ध हो गया है – ऐसे मुनि को भावावसन्न कहते हैं।[504] जो जिनसूत्र से प्रतिकूल हैं, चारित्र से भ्रष्ट हैं, आलसी हैं, ऐसे वेषधारी को **अवसन्न** कहते हैं।[505] अथवा जो सामाचारी से विपरीत आचरण करता है, मूलगुण-उत्तरगुणों में लगे अतिचारों की निन्दा, आलोचना और प्रायश्चित्त नहीं करता, ऐसा वेषधारी **अवसन्न** कहलाता है।

5. **संसक्त मुनि** – इन्द्रिय और कषायों के दोषों से अथवा सामान्य ध्यानादिक से विरक्त होकर जो साधु चारित्र से भ्रष्ट होता है, वह साधुसंघ से अलग होता है। इन्द्रिय, विषय और कषाय के वशीभूत कितने भ्रष्ट मुनि, सर्व दोषों से युक्त होकर सर्व अशुभ स्थान की प्राप्ति कराने वाले परिणामों को प्राप्त होते हैं।[506] जो वैद्यक ज्योतिष विद्या आदि मन्त्र की आजीविका करे, राजादिक का सेवक होवे, ऐसे वेषधारी को **संसक्त** कहते हैं।[507] अथवा जो जिसके साथ मिलता है, उसी के समान हो जाता है, वह **संसक्त साधु** है अर्थात् जो पार्श्वस्थ के साथ मिल कर पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द के साथ मिल कर यथाच्छन्द आदि हो जाता है।

इनके अलावा **अन्य भी दोषी संयमियों** का विवेचन करते हैं –

1. **काथिक श्रमण –** जो आहार आदि की प्राप्ति, यश-प्राप्ति और वन्दना-पूजा आदि के निमित्त धर्मकथा करता है, सूत्र-अध्ययन आदि को छोड़ कर उसी में लगा रहता है, वह काथिक/कथावाचक है।

यद्यपि यह सही है कि धर्मकथा भी स्वाध्याय का ही पाँचवाँ भेद है, उससे तीर्थ की अव्युच्छित्ति और प्रभावना होती है। फिर भी हर समय धर्मकथा नहीं करनी चाहिए क्योंकि उससे वाचना, प्रतिलेखना,

वैयाव्त्य आदि सब संयम-योगों की परिहानि होती है; अतः क्षेत्र, काल और पुरुष को जान कर यथोचित धर्मकथा करणीय है। कहा भी है –

आहारदीणऽट्ठा, जसहेउं अहव पूयणणिमित्तं।
तक्कम्मो जो धम्मं, कहेति सो काहिओ होति।।
कामं खलु धम्मकहा, सज्झायस्सेव पंचमं अंगं।
अव्वोच्छित्तीइ ततो, तित्थस्स पभावणा चेव।।
तह वि य ण सव्वकालं, धम्मकहा जीइ सव्वपरिहाणी।
नाउं व खेत्तकालं, पुरिसं च पवेदते धम्मं।।[508]

2. **प्राश्निक या पश्यक या प्रेक्षणिक श्रमण** – जो लौकिक विवादों में साक्षी होता है अथवा नाटक-नृत्य आदि का प्रेक्षण करता है, छन्द, व्याकरण आदि लौकिक शास्त्रों के सूत्र, अर्थ और भावार्थ का प्रतिपादन करता है, अर्थशास्त्र, शृंगारकथा, शकुनशास्त्र आदि की व्याख्या करता है, वह प्रेक्षणिक या प्राश्निक है।[509]

3. **मामक श्रमण** – जो आहार, उपधि, देह, विचारभूमि, विहारभूमि, शय्या, कुल, ग्राम – इन सब में ममत्व करता है, और दूसरों को इन सबके ग्रहण का निषेध करता है तथा स्थान आदि में आसक्त होकर उनकी निष्कारण प्रशंसा करता है, वह मामक है।

4. **सम्प्रसारक श्रमण** – जो गृहस्थों की असंयममय प्रवृत्तियों का पर्यालोचना करता है, उन्हें समर्थन देता है, उनको परामर्श देता है, यात्रा के लिए घर से निष्क्रमण और पुनः प्रवेश का मुहूर्त बताता है, विवाह आदि का मुहूर्त बताता है, यह द्रव्य बेचो, यह द्रव्य खरीदो, इसमें लाभ होगा, इसमें हानि होगी – ऐसा सावद्य आदेश-निर्देश करता है, वह सम्प्रसारक है।[510]

5. **नित्यक श्रमण** – जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी सीमा का अतिक्रमण उनका नित्य परिभोग करता है, वह नित्यक है तथा जो वर्षाकाल में चातर्मासिक कल्प और ऋतुबद्धकाल में मासकल्प की मर्यादा का अतिक्रमण कर निरन्तर एक क्षेत्र में रहता है, वह काल नित्यक है। ध्यान रहे जो वृद्धवास, वृद्धसेवा आदि कारणों से एक स्थान पर रहने वाला नित्यक नहीं कहलाता। निष्कारण नित्य एक स्थान पर रहने वाले को नित्यक कहा जाता है।[511]

6. **श्रेणिबाह्य लिंगधारक** – जो श्रमण, मुनिलिंग को छोड़ देता है, वह तो संयमश्रेणी से बाह्य है, परन्तु जो मुनिलिंग को धारण किये हुए हैं, वे यदि प्रमाद सहित आचरण करते हैं, उनका चारित्र भी अतिचारों के अपराधों से नष्ट हो जाता है, परन्तु यदि वह संयमश्रेणी को नहीं छोड़ता तो वह यदा कदा प्रमाद करके भी संभल जाता है।[512]

7. **नट श्रमण** – जो धर्म में निरुद्यमी है, दोषों का घर है, इक्षुफूल के समान निष्फल है, गुण के आचरण से रहित है, भाण्डवत् वेशधारी है, वह नग्नरूप होने से नट श्रमण है। जो परिग्रह रखे, वह तो नट श्रमण भी नहीं है।[513]

8. **पाप श्रमण** – सदोष श्रमण या अयथार्थ साधु को ही पाप श्रमण कहा है। अन्तरंग में मिथ्यात्व रागादि से जिसके परिणाम कलुषित हैं और बाह्य में नग्न दिगम्बर वेश धारण करके उस पद के अनुरूप आचरण में प्रवर्तित नहीं होते और अपनी स्वच्छन्द वृत्तियों से जिनशासन को कलंकित करते हैं – ऐसे सदोष श्रमण ही नट श्रमण कहलाते हैं।

पाप श्रमण की व्याख्या करते हुए मूलाचार समीक्षा में डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी लिखते हैं –

श्रमणधर्म में दीक्षित होने के बाद साधक को अपनी मर्यादा के अनुकूल आचरण करना चाहिए। आचरण में कभी दोष या अतिचार उत्पन्न हो जाए तो प्रायश्चित्त आदि द्वारा उसे दूर कर लेना चाहिए तथा पुनः वैसा अतिचार उत्पन्न न हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए; किन्तु जो स्वच्छन्द आचरण करते हैं, आचार्य की उपेक्षा करते हुए धर्मविरुद्ध चलते हैं, वैसा आचरण शास्त्रविहित कह कर अपने शरीरादि पोषण में प्रवृत्त होते हैं – ऐसे मुनि पाप श्रमण कहलाते हैं।[514]

पापश्रमणों को प्राप्त आगमोक्त संज्ञाओं का सूचक चार्ट[515]

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में कैसा कार्य करने वाले व्यक्ति को शास्त्रों में कैसी कैसी उपाधियों से विभूषित किया है ? – इस सम्बन्ध में एक चार्ट बनाया है, जो द्रष्टव्य है –

क्रम	कार्य/व्यक्ति	उपाधि	ग्रन्थ प्रमाण
1.	एकलविहारी साधु	पाप श्रमण	मूलाचार, 951
2.	स्वच्छन्द साधु	राज्य-सेवक	रयणसार, 108
3.	सम्यक्त्वाचरण से भ्रष्ट	ज्ञानमूढ़/अज्ञानी	चारित्रपाहुड़, 10
4.	मिथ्यादृष्टि नग्न साधु	इक्षुपुष्पसम नटश्रमण	भावपाहुड़, 71
5.	भावविहीन साधु	पाप व तिर्यंचगतिभाजन	भावपाहुड़, 74
6.	मिथ्यादृष्टि साधु	चल शव	भावपाहुड़, 143
7.	अर्द्धफालक/श्वेताम्बर साधु	मोक्षमार्ग भ्रष्ट	मोक्षपाहुड़, 79
8.	मिथ्यादृष्टि का ज्ञान	बाल श्रुत	मोक्षपाहुड़, 100
9.	मिथ्यादृष्टि का चारित्र	बाल आचरण	मोक्षपाहुड़, 100
10.	नाचने - गाने वाले नग्न साधु	पापमोहितमति/नारद	लिंगपाहुड़, 3, 4, 7
11.	अब्रह्म का सेवन करने वाले	भावविनष्ट श्रमण	लिंगपाहुड़, 22
12.	गृहस्थो एवं शिष्यों से अति स्नेह वाला	तिर्यग्योनि/पशुश्रमण	लिंगपाहुड़, 18
13.	मन्त्रोपजीवि नग्न साधु	लौकिक	प्रवचनसार, 269
14.	मिथ्यादृष्टि सामान्य	अभव्य	पद्मनन्दि पंचविंश....4/23
15.	बाह्य क्रियावलम्बी साधु	पापजीव	गोम्मटसार जीवकाण्ड, 623
16.	आत्मा को कर्मों आदि का	लौकिक/	समयसार, आत्मख्याति, 321
	कर्ता मानने वाले	सर्वज्ञमत के बाहर	समयसार, आत्मख्याति, 85
17.	आर्त्तध्यान करने वाला	अनन्त संसारी	लिंगपाहुड़, 8
18.	निन्दा करने वाला	चोर श्रमण	लिंगपाहुड़, 15
19.	अन्यवश साधु	राजवल्लभ नौकर	नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, 143
20.	लोक दिखावे को धर्म करनेवाले	मूढ़, लोभी, क्रूर, डरपोक, मूर्ख, भवाभिनन्दी	योगसार, 8/18-19

श्रमणाभासों की वन्दना, संगति आदि करने का निषेध

उक्त पाँच प्रकार के सदोष मुनि स्वच्छन्दाचारी होते हैं, जैनधर्म में दोष लगाने वाले होते हैं, आचार्य के उपदेश को छोड़ कर एकाकी रहते हैं, धैर्य से सदा रहित होते हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप और श्रुतज्ञान से सर्वथा दूर रहते हैं, भाग्यहीन होते हैं, गुणी मुनि और सज्जनों के दोष देखने में निपुण होते हैं, छिद्रान्वेषी होते हैं; इसलिए वे अवन्दनीय हैं, सर्वथा निन्द्य हैं और कृतिकर्म के अयोग्य हैं।

बुद्धिमान पुरुषों को किसी शास्त्र आदि के लोभ से या किसी भय से, इन पार्श्वस्थ आदि मुनियों की वन्दना कभी नहीं करना चाहिए, न विनय करना चाहिए। जो इनकी विनय करता है, उसको कभी रत्नत्रय नहीं हो सकता, उसका कारण है कि नीच लोगों के संसर्ग से या उनको नमस्कार करने से सज्जनों का सम्यग्दर्शन भी समस्त श्रेष्ठ गुणों के साथ दूर भाग जाता है। जिस प्रकार कोई साहूकार भी चोर के संसर्ग से चोर कहलाता है; उसी प्रकार साधु पुरुष भी असाधुओं के संसर्ग से असाधु ही कहलाता है, इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है।[516]

दर्शनपाहुड़ में तो आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं कहते हैं –

जे वि पडंति च तेसिं, जाणंता लज्जागारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोही, पावं अणुमोयमाणाणं।। 13।।

अर्थात् जो जानते हुए भी लज्जा, गारव और भय से उनके पैरों में पड़ते हैं, उनके भी बोधि अर्थात् सम्यक्त्व नहीं है। कैसे हैं वे जीव ? पाप की अनुमोदना करते हैं। पापियों का सन्मान आदि करने से उन्हें भी उस पाप की अनुमोदना का फल लगता है।

अज्ञानी द्रव्यलिंगी का परीषहजय

वहाँ क्षुधादि के नाश का उपाय तो किया नहीं और अंतरंग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलने पर दुःखी हुआ, रति आदि का कारण मिलने पर सुखी हुआ तो वे दुःख-सुखरूप परिणाम हैं, वही आर्त-रौद्रध्यान हैं – ऐसे भावों से संवर कैसे हो? और इसे परीषहजय कैसे कहा जा सकता है?

इसी सन्दर्भ में मोक्षशास्त्र में समागत निम्न कथन भी विचारणीय है –

''अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि परीषह सहन करना, दुःखरूप है, किन्तु ऐसा नहीं है, परीषह सहन करने का अर्थ दुख भोगना नहीं है क्योंकि जिस भाव से जीव को दुःख होता है, वह तो आर्तध्यान है और पाप है, उससे अशुभ-बन्धन होता है और यहाँ तो संवर के कारण का वर्णन चल रहा है। लोगों की अपेक्षा से कहें तो बाह्य संयोग, चाहे अनुकूल हो या प्रतिकूल, उनसे राग या द्वेष न होने देना अर्थात् वीतराग भाव प्रगट करने का नाम ही परीषहजय है अर्थात् उसे ही परीषह सहन करना, कहा जाता है।''[517]

वृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में तो परीषहजय को ध्यान का कारण बताते हुए कहा है – **परिषहजयश्चेति ध्यानहेतवः।**[518]

द्रव्यलिंगी के निषेध का कारण

सम्यक्त्वरहित द्रव्यलिंग सर्वथा निषेध योग्य है क्योंकि वह एकमात्र संसार का ही कारण है, लेकिन सम्यक्त्व सहित चौथे-पाँचवें गुणस्थान वाला द्रव्यलिंगी, यद्यपि पूर्ण चारित्र से च्युत है, फिर भी सम्यक्त्व और देशचारित्र से युक्त है, अतः अपनी कमजोरी को मानता है और उसे अल्पकाल में ही सच्चा मुनिपना भी होगा, यह भी निश्चित है; अतः सर्वथा निषेध योग्य नहीं कहा गया है।

''द्रव्यलिंग, वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि वह शरीराश्रित होने से परद्रव्य है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है क्योंकि वह आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य है; इसलिए समस्त द्रव्यलिंग का त्याग करके, दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में आत्मा को लगाना योग्य है।

भावार्थ यह है कि यहाँ मुनि-श्रावक के व्रत छुड़ाने का उपदेश नहीं है। जो केवल द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग मान कर भेष धारण करते हैं, उनको द्रव्यलिंग का पक्ष छुड़ाया है क्योंकि वेषमात्र से मोक्ष नहीं होता है।''[519]

जिणभावणवज्जिओ णग्गो पावइ दुक्खं अर्थात् जो जिन-भावना से रहित है – ऐसा नग्न सदा दुःख पाता है, **संसारसायरे भमइ** अर्थात् संसार में भ्रमता है तथा **ण लहइ बोहिं** अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को नहीं पाता है; अतः हे मुनिवर! तू अभ्यन्तर की शुद्धिपूर्वक 1. नग्नत्व हेतु वस्त्र का त्याग, 2. केशों का लोंच करना, 3. स्नानादि के द्वारा शरीर-संस्कार का त्याग, 4. प्रतिलेखन हेतु मयूर-पिच्छिका रखना – ऐसे चार प्रकार के बाह्य द्रव्यलिंग को धारण कर क्योंकि भावरहित केवल बाह्य लिंग अकार्यकारी है।[520]

मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि, सम्यग्दृष्टि गृहस्थ से भी हीन

यहाँ इस प्रसंग में यह सिद्ध करने के लिए कतिपय आगम प्रमाण प्रस्तुत करते हैं –

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।33।।[521]

अर्थात् दर्शन-मोह-रहित गृहस्थ तो मोक्षमार्ग में स्थित है, किन्तु मोहवान् मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। इस कारण मोही मुनि से निर्मोही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ हैं।

इसी सन्दर्भ में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा प्रस्तुत शंका-समाधान भी दृष्टव्य है –

यहाँ कोई कहे कि असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि के कषायों की प्रवृत्ति विशेष है और द्रव्यलिंगी मुनि के थोड़ी है, इसी से असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि तो सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त ही जाते हैं और द्रव्यलिंगी, अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त जाता है; इसलिए भावलिंगी मुनि से तो द्रव्यलिंगी को हीन कहो, उसे असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि से हीन कैसे कहा जाए?

समाधान – असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि के कषायों की प्रवृत्ति तो है; परन्तु श्रद्धान में किसी भी कषाय के करने का अभिप्राय नहीं है। तथा द्रव्यलिंगी के शुभकषाय करने का अभिप्राय पाया जाता है, श्रद्धान में उन्हें भला जानता है; इसलिए श्रद्धान की अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टि से भी इसके अधिक कषाय है।

तथा द्रव्यलिंगी के योगों की प्रवृत्ति शुभरूप बहुत होती है और अघाति-कर्मों में पुण्य-पाप का विशेष शुभ-अशुभ योगों के अनुसार है, इसलिए वह अन्तिम गैवेयक पर्यन्त पहुँचता है; परन्तु वह कुछ कार्यकारी नहीं है क्योंकि अघातिया-कर्म आत्मगुण के घातक नहीं हैं, उनके उदय से उच्च-नीचपद प्राप्त किये तो क्या हुआ? वे तो बाह्य संयोग मात्र संसार दशा के स्वांग हैं, आप तो आत्मा है; इसलिए आत्मगुण के घातक जो घातिया कर्म हैं, उनकी हीनता कार्यकारी है।

उन घातिया कर्मों का बन्ध बाह्यप्रवृत्ति के अनुसार नहीं है, अन्तरंग कषायशक्ति के अनुसार है; इसीलिए द्रव्यलिंगी की अपेक्षा असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि के घातिकर्मों का बन्ध थोड़ा है। द्रव्यलिंगी के तो सर्व घाति कर्मों का बन्ध बहुत स्थिति-अनुभाग सहित होता है और असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी आदि कर्मों का तो बन्ध है ही नहीं, अवशेषों का बन्ध है, वह अल्प स्थिति-अनुभाग सहित होता है। तथा द्रव्यलिंगी के कदापि गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती, सम्यग्दृष्टि के कदाचित् होती है और देश और सकल संयम होने पर निरन्तर होती है। इसी से यह मोक्षमार्गी हुआ है; इसलिए द्रव्यलिंगी मुनि को शास्त्र में असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि से हीन कहा है।

समयसार शास्त्र में द्रव्यलिंगी मुनि की हीनता गाथा, टीका और कलशों मे प्रगट की है तथा पंचास्तिकाय टीका मे जहाँ केवल व्यवहारावलम्बी का कथन किया है, वहाँ व्यवहार पंचाचार होने पर भी उसकी हीनता प्रगट की है। तथा प्रवचनसार में द्रव्यलिंगी को संसारतत्त्व कहा है। परमात्मप्रकाश आदि अन्य शास्त्रों में भी इस व्याख्यान को स्पष्ट किया है। द्रव्यलिंगी के जो जप, तप, शील, संयम आदि क्रियाएँ पायी जाती हैं, उन्हें भी इन शास्त्रों में जहाँ तहाँ अकार्यकारी बतलाया है, सो वहाँ देख लेना।.....''[522]

भावलिंग की प्रधानता दर्शाने वाले आगम-उद्धरण

भावसमणा हु समणा अर्थात् जो भावश्रमण हैं, वे ही श्रमण हैं, अन्य नहीं।[523] **भावो हि पढम लिंगं, ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं** अर्थात् भाव ही प्रथम लिंग है, इसलिए हे भव्य जीव! तू द्रव्यलिंग को परमार्थभूत मत जान क्योंकि गुण-दोष का कारणभूत भाव ही है – ऐसा जिनभगवान कहते हैं।[524] भाव ही स्वर्ग-मोक्ष का कारण है, भाव से रहित श्रमण पापस्वरूप है, तिर्यंचगति का पात्र है, तथा कर्ममल से मलिन चित्त वाला है।[525] जो भावश्रमण हैं, वे परम्परा से कल्याणस्वरूप सुखों को पाते हैं तथा जो द्रव्यश्रमण हैं, वे तिर्यंच, मनुष्य और कुदेव योनियों में दुःखों को पाते हैं।[426] सम्यग्दर्शनरहित लिंग अर्थात् मुनिदीक्षा धारण करना व्यर्थ है, इससे मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।[527] जो जीव, परब्रह्म को नहीं जानता है और जो सम्यग्दर्शन से रहित है, वह न तो गृहस्थ अवस्था में है और न साधु अवस्था में है। केवल लिंग को धारण करके क्या कर सकते हैं। कर्मों का नाश तो सम्यक्त्वपूर्वक जिनलिंग धारण करने से ही होता है।[528] जो भले प्रकार ज्ञान और श्रद्धान सहित यम को धारण करते हैं, वे संयत हैं। संयत शब्द की इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से यह जाना जाता है कि यहाँ पर द्रव्यसंयम का प्रकरण नहीं है।[529]

द्रव्यलिंग की गौणता दर्शाने वाले आगम-उद्धरण

बहुत प्रकार के मुनिलिंगों अथवा गृहीलिंगों को ग्रहण करके मूढ़ अज्ञानीजन यह कहते हैं कि 'यह लिंग मोक्षमार्ग है' परन्तु लिंग (द्रव्यलिंग या बाह्यलिंग) मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि अरहन्तदेव, देह के प्रति निर्ममत्व वर्तते हुए, लिंग को छोड़ कर दर्शनज्ञान चारित्र का सेवन करते हैं; अतः मुनियों और गृहस्थों के लिंग मोक्षमार्ग नहीं हैं।[530] जो पुरुष, संयमरहित जिनलिंग धारण करता है, वह सब निष्फल है।[531] जैसी बोधि-समाधि जिनमार्ग में कही है, वैसी बोधि-समाधि द्रव्यलिंगी साधु नहीं पाता है।[532] लिंग, शरीर के आश्रित है और शरीर ही आत्मा का संसार है; इसलिए जिनको लिंग का ही आग्रह है, वे पुरुष संसार से नहीं छूटते।[533] हे मुने! तू लोक का रंजन करने वाला बाह्य व्रत का भेष मत धारण कर।[534]

द्रव्यलिंग और भावलिंग का पारस्परिक सम्बन्ध

जहाँ न्यूनतम तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप भावलिंग होता है, वहाँ तो शरीर की नग्नदशा, बाह्य मूलगुणादि का पालन इत्यादिरूप द्रव्यलिंग होता ही है; परन्तु जहाँ द्रव्यलिंग होता है, वहाँ भावलिंग होता ही

है – ऐसा कोई नियम नहीं है।[535] आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल कहते हैं – 'मुनिलिंग धारै बिना तो मोक्ष न होय, परन्तु मुनिलिंग धारै, मोक्ष होय भी अर नाहीं भी होय।'[536]

ध्यान देने की बात यह है कि द्रव्यलिंग का भी अपना महत्त्व है क्योंकि बिना द्रव्यलिंग के किसी जीव को भावलिंग प्रगट हो जाए – ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। तीर्थंकर भी जब तक गृहस्थदशा में रहते हैं, तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं। सूत्रपाहुड़ में कहा भी है –

ण वि सिज्झदि वत्थधरो, जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो वि मोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे।। 23।।
णिच्चेल पाणिपत्तं, उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो, सेसा ये अमग्गया सव्वे।। 10।।

अर्थात् जिनशासन के अनुसार वस्त्र को धारण करने वाला सीझता नहीं है, मोक्ष नहीं पाता है। यदि तीर्थंकर भी हो तो वह जब तक गृहस्थ में रहे, तब तक मोक्ष नहीं पाता है; जब दीक्षा लेकर दिगम्बरपना धारण करे, तब मोक्ष पावे क्योंकि नग्नपना ही मोक्षमार्ग है, शेष सब लिंग उन्मार्ग हैं। जो निश्चेल दिगम्बर मुद्रा और पाणिपात्र अर्थात् हाथरूपी पात्र में खड़े खड़े आहार करना, आदिरूप एक मोक्षमार्ग का उपदेश तीर्थंकर परमदेव जिनेन्द्रभगवान ने किया है, इसके सिवाय अन्य रीति सब अमार्ग हैं।

आचार्य इन्द्रनन्दि ने समयभूषण में लिखा है कि द्रव्यलिंग को भले प्रकार प्राप्त करके ही यति भावलिंगी होता है। उस द्रव्यलिंग के बिना वह वन्द्य नहीं है, भले ही वह नाना व्रतों को धारण क्यों न करता हो। द्रव्यलिंग को भावलिंग का कारण जानो। भावलिंग तो केवल अध्यात्म द्वारा ही देखा जा सकता है क्योंकि वह नेत्र का विषय नहीं है।[537]

समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन कहते हैं – हे शिष्य! द्रव्यलिंग निषिद्ध ही है – ऐसा तू मत जान, किन्तु.....भावलिंग से रहित यतियों को यहाँ सम्बोधन किया गया है। वह ऐसे कि हे तपोधन! द्रव्यलिंग मात्र से सन्तोष मत करो, किन्तु द्रव्यलिंग के आधार से.....निर्विकल्प समाधिरूप भावना करो।.....भावलिंगरहित द्रव्यलिंग निषिद्ध है, न कि भावलिंगसहित। यहाँ द्रव्यलिंग का आधारभूत जो यह देह है, उसका ममत्व निषिद्ध है।.....दीक्षा के बाद दो घड़ी काल में ही भरत चक्रवर्ती आदि ने मोक्ष प्राप्त किया है, उन्होंने भी निर्ग्रन्थरूप से ही मोक्ष प्राप्त किया है, परन्तु समय बहुत कम होने के कारण उनका परिग्रहत्याग लोग जानते ही नहीं है।[538]

परमात्मप्रकाश टीका के अनुसार – भरतेश्वर ने पहले जिनदीक्षा धारण की, सिर के लुंचन किये, हिंसादि पापों की निवृत्तिरूप पंच महाव्रत आदरे। फिर अन्तर्मुहूर्त में.....निज शुद्धात्मा के ध्यान में ठहर कर, निर्विकल्प हुए; तब भरतेश्वर ने अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त किया, परन्तु उसका समय कम है, इसलिए महाव्रत की प्रसिद्धि नहीं हुई।[539]

इस सम्बन्ध में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी कहते हैं – मुनिलिंग बिना केवलज्ञान नहीं होता, परन्तु मुनिलिंग धारण करने पर मोक्ष होता भी है अथवा नहीं भी होता। भावलिंग होता है तो मोक्ष होता है और भावलिंग नहीं हो तो मोक्ष नहीं होता। भावलिंग हो तो द्रव्यलिंग में समर्थ कारण का आरोप आता है, परन्तु अन्तर मे भावलिंग दशा न हो तो बाह्य नग्नदशा को असमर्थ कारण कहते हैं।[540]

अढ़ाई द्वीप में छठे गुणस्थान के ऊपर भावलिंगी मुनियों की संख्या एवं उनके गुणस्थान

इन सब मुनियों की संख्या ढाई द्वीप भर में अधिक से अधिक तीन कम नौ करोड़ अर्थात् 8,99,99,997 रहती हैं; उन सबको हमार नमस्कार हो। सो ही आचार्य सकलकीर्ति विरचित सिद्धान्तसार में लिखा है –

षष्ठसप्तमयोर्यैस्ते, गुणस्थानद्वयोर्मुनी। विज्ञेयौ शास्त्ररीत्या च, पुलाकबकुशाविह।।
अपूर्वाद्युपशान्तेषु गुणस्थानेषु ये स्थिताः।प्रोक्तास्ते मुनिभिर्नित्यं कुशीलाह्वयधारिणः।।
क्षीणमोहगुणस्थाने, यस्तिष्ठेन्मुनिसत्तमः। ज्ञातोयभवभिः सर्वैर्निर्ग्रन्थो हि प्रशान्तधीः।।
योगायोगगुणस्थाने वसन्ति यतयः खलु। ये मताः स्नातकास्ते, लोकालोकप्रकाशकाः।।
सर्वेषां यतिना संख्यास्त्रिऊना नवकोटयः। कथिताः श्रीजिनैः सर्वैस्तेषांनित्यं नमोस्तु ते।।[541]

भावलिंगी मुनियों की इसी संख्या 8,99,99,997 को गोम्मटसार जीवकाण्ड में बताया गया है –

सत्तादि अट्ठंता, छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
अंजलिमोलियहत्थो, तियरणसुद्धे णमंसामि।। 633।।[542]

अर्थात् जिस संख्या में सात आदि में, आठ अन्त में और दोनों के मध्य में छह जगह नौ का अंक (**अंकानां वामतो गतिः** के नियमानुसार) होता है, उस आठ करोड़, निन्यानवे लाख, निन्यानवे हजार, नौ सौ सत्तानवे अर्थात् तीन कम नौ करोड़ (8,99,99,997) संख्या के धारक छठवें गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक के सर्व संयमियों को मैं हाथ जोड़ कर, सिर नवा कर, मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

ध्यान रहे, छठे प्रमत्त गुणस्थान वाले जीव – 5,93,98,206 हैं; सातवें गुणस्थान वाले जीव – 2,96,99,103 हैं; उपशम श्रेणी वाले आठवें, नौवें, दशवें और ग्यारहवें गुणस्थान वाले जीव – 1,196 हैं; क्षपक श्रेणी वाले भी आठवें, नौवें, दशवें और ग्यारहवें गुणस्थान वाले जीव – 2,392 हैं; तेरहवें सयोगकेवली जिन गुणस्थान वाले जीव – 8,98,502 हैं; तथा अन्तिम चौदहवें अयोगकेवली जिन गुणस्थान वाले जीव – 598 हैं – इन सबका कुल जोड़ – 8,99,99,997 होता है अर्थात् संयमियों की कुल संख्या का प्रमाण तीन कम नौ करोड़ होता है।

पण्डित द्यानतरायजी कृत चरचा शतक के कवित्त 37 में भी इसी संख्या का वर्णन निम्न शब्दों में किया गया है –

पाँच किरोर तिरानवै लाख, हजार अठानवै दो सै छह जानै।
जीव छठे गुण मैं अध सात में, ग्यारसै छ्यानवै चार ठिकानै।।
आठ नवै दस बारहैं चौदहैं, सौ उनतीस नब्बै परमानै।
तेरमैं आठ हि लाख हजार, अठानवै पाँच से दोय बखानै।।[543]

उक्त आगम प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ये तीन कम नौ करोड़ सकलसंयमी मुनिराज, छठे गुणस्थान के ऊपर ही होते हैं; अतः यह सब भावलिंगी मुनियों की ही संख्या है। इसमें छठे प्रमत्त गुणस्थानवर्ती शुभोपयोगी मुनियों का तो समावेश है, परन्तु इसमें प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर चतुर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि एवं पंचम संयतासंयत गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनियों का समावेश नहीं है। वास्तव में द्रव्यलिंगी मुनि तो श्रमणों की गिनती में ही नहीं आते।

यद्यपि चतुर्थ एवं पंचम गुणस्थानवर्ती श्रमण सम्यग्दृष्टि तो हैं और शुभोपयोगी भी हैं, नियमतः निर्वाणगामी भी हैं; तथापि उन्हें वर्तमान में भावलिंगी श्रमण नहीं माना जा सकता क्योंकि उनका गुणस्थान छठे से कम है; उनमें जो तीन कषाय चौकड़ी के अभावजन्य विशुद्धतासहित भावलिंग नहीं माना जा सकता।

मुनियों के पाँच भेद एवं उनके गुण-दोषों पर विचार[544]

मुनियों के पाँच भेद तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में बतलाये हैं –

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः।। 9/46।।

अर्थात् पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक – ये मुनियों के पाँच भेद हैं।

यद्यपि उक्त सभी मुनि, वस्त्र आभरण आयुध गृह कुटुम्ब धान्य आदि का अभाव होने से पूर्ण निर्ग्रन्थ ही हैं; तथापि मोहनीयकर्म का सद्भाव होने से पुलाक बकुश कुशील साधुओं भेद करने पर निर्ग्रन्थ नहीं कहा गया है,। इस प्रकार यद्यपि व्यवहारनय से सभी को निर्ग्रन्थ ही कहते हैं, तथापि परमार्थ से समस्त मोहनीयकर्म का अभाव होने पर प्रगट निर्ग्रन्थपना क्षीणकषायी बारहवें गुणस्थानवर्ती के ही होता है। ये पाँचों ही निर्ग्रन्थ, चारित्र परिणामों के प्रकर्ष और अप्रकर्षरूप परिणामों के भेद से भिन्न होने पर भी नैगम, संग्रह, आदि नयों की अपेक्षा सभी निर्ग्रन्थ ही कहे जाते हैं। चारित्रगुण का क्रमिक विकास और क्रमप्रकर्ष दिखाने के लिए ही इन भेदों की चर्चा की गई है।

पुलाक मुनि

- जो उत्तरगुणों की भावना से तो रहित होते हैं।
- व्रतों में भी किसी काल व किसी क्षेत्र में परिपूर्णता को प्राप्त नहीं करते हैं।

- जैसे, पुलाक का अर्थ होता है – धान अर्थात् छिलकासहित चावल; उसी प्रकार यहाँ अशुद्धता के मिलाप के कारण साधु को पुलाक कहा गया है।
- सामायिक और छेदोपस्थापना संयम होता है।
- उत्कृष्ट की अपेक्षा अभिन्नाक्षर दशपूर्व तक का ज्ञान हो सकता है।
- जघन्य की अपेक्षा आचारवस्तु का ज्ञान हो सकता है।
- परवशता से पाँच महाव्रत और एक रात्रिभोजनत्याग व्रत की विराधना या प्रतिसेवना हो सकती है।
- ऐसे मुनि सभी तीर्थंकरों के धर्मशासन में हो सकते हैं।
- इनके तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं।
- इनका छठा और सातवाँ गुणस्थान होता है।
- इनका उपपाद उत्कृष्टता से सहस्रार स्वर्ग में उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों में होता है। जघन्य की अपेक्षा इनका उपपाद दो सागर की स्थिति वाले सौधर्म ईशान स्वर्ग के देवों में होता है।
- कषायनिमित्तक असंख्यात संयमस्थान होते हैं। पुलाक के सबसे जघन्य लब्धिस्थान होते हैं, उससे आगे वह असंख्यात स्थानों तक जाता है, उसके बाद पुलाक की व्युच्छित्ति हो जाती है।

बकुश मुनि

- जो निर्ग्रन्थ होते हैं।
- व्रतों का अखण्डित पालन करते हैं अर्थात् मूलगुणों में कोई दोष नहीं है, किन्तु शरीर पीछी कमण्डलु पुस्तक आदि को संवारने सजाने में जिनका परिणाम रहता है।
- धर्म तथा अपने यश प्रभाव को चाहता है।
- उसे संघ और धर्म की प्रभावना के लिए ऋद्धि की इच्छा होती है, सांसारिक प्रयोजन के लिए नहीं।
- अपनी साता बनी रहने को भला जानता है, इसलिए परमार्थ से यह भी परिग्रह ही है।
- संघ और उपकरण का हर्ष होना, छेद है, उस छेद से मिश्रित आचरणसहित होने से बकुश या चितकबरा अर्थात् मटमैला कहा गया है।
- कदाचित् किसी कारण से छहों लेश्या सम्भव हैं। कदाचित् अपने तपश्चरण आदि के मदादि के वश से अशुभ लेश्या उत्पन्न होती है, उस समय उनके उपचार से ही मुनिपना रहता है क्योंकि उनके उस समय भी द्रव्यलिंग विद्यमान रहता है।
- बकुश के दो भेद कहे गये हैं – **उपकरण बकुश और शरीर बकुश**।
- जिनका चित्त उपकरणों में आसक्त है, जो विचित्र परिग्रहयुक्त हैं, जो सुन्दर सजे हुए उपकरणों की आकांक्षा करते हैं, वे **उपकरण बकुश** हैं।
- जो शरीर का संस्कार करते हैं, वे **शरीर बकुश** हैं।
- सामायिक और छेदोपस्थापना संयम होता है।
- उत्कृष्ट की अपेक्षा अभिन्नाक्षर दशपूर्व तक का ज्ञान हो सकता है।
- जघन्य की अपेक्षा अष्ट प्रवचन मात्र का ज्ञान हो सकता है।
- इनके द्वारा सामर्थ्य की हीनता के कारण दोष सम्भावित हैं।
- ऐसे मुनि सभी तीर्थंकरों के धर्मशासन में हो सकते हैं।
- इनका छठा और सातवाँ गुणस्थान होता है।
- इनका उपपाद उत्कृष्टता से बावीस सागर की स्थिति वाले आरण-अच्युत स्वर्गों के देवों में होता है। जघन्य की अपेक्षा इनका उपपाद दो सागर की स्थिति वाले सौधर्म ईशान स्वर्ग के देवों में होता है।
- कषायनिमित्तक असंख्यात संयमस्थान होते हैं। पुलाक एवं कषायकुशील के सबसे जघन्य लब्धिस्थान होते हैं, उससे आगे वह असंख्यात स्थानों तक जाता है, उसके बाद पुलाक की व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे आगे बकुश, प्रतिसेवना कुशील एवं कषायकुशील, असंख्यात स्थानों तक एक साथ जाते है, इनमें सबसे पहले बकुश की व्युच्छित्ति होती है।

कुशील मुनि

- कुशील नाम के मुनि का आठवें अपूर्वकरण नाम के गुणस्थान से लेकर उपशान्तमोह गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते हैं।
- कुशील मुनि के दो भेद हैं – **प्रतिसेवना-कुशगील और कषाय-कुशील**।

प्रतिसेवना-कुशील

- जिनके उपकरण तथा शरीरादि से विरक्तता हुई है, मूलगुणों की परिपूर्णता है, उसकी विराधना नहीं करता, परन्तु कभी कभी किसी तरह से उत्तरगुणों में विराधना हो जाती है, वे **प्रतिसेवना-कुशील** हैं।
- कदाचित् किसी कारण से छहों **लेश्या** सम्भव हैं।
- सामायिक और छेदोपस्थापना **संयम** होता है।
- उत्कृष्ट की अपेक्षा अभिन्नाक्षर दशपूर्व तक का **श्रुतज्ञान** हो सकता है।
- जघन्य की अपेक्षा अष्ट प्रवचन मात्र का ज्ञान हो सकता है।
- इनके द्वारा सामर्थ्य की हीनता के कारण दोष संभावित हैं, इसी कारण इनका नाम प्रतिसेवना-कुशील है
- ऐसे मुनि सभी तीर्थंकरों के धर्मशासन में हो सकते हैं।
- इनका उपपाद भी उत्कृष्टता से बावीस सागर की स्थिति वाले आरण-अच्युत स्वर्गों के देवों में होता है। जघन्य की अपेक्षा इनका उपपाद दो सागर की स्थिति वाले सौधर्म ईशान स्वर्ग के देवों में होता है।

कषाय-कुशील

- जिन्होंने अन्य कषायों के उदय को तो वश में किया है, किन्तु जो संज्वलन कषाय के उदय के आधीन हैं, वे **कषाय-कुशील** हैं।
- सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय संयम हो सकता है।
- इनके द्वारा मूलगुणो या उत्तरगुणों की विराधना या प्रतिसेवना नहीं होती।
- उत्कृष्ट की अपेक्षा चौदह पूर्व तक का ज्ञान हो सकता है।
- जघन्य की अपेक्षा अष्ट प्रवचन मात्र का ज्ञान हो सकता है।
- ऐसे मुनि सभी तीर्थंकरों के धर्मशासन में हो सकते हैं।
- इनके तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं, परन्तु इनमें जो परिहारविशुद्धिसंयम वाला कषाय-कुशील है, उनके उत्तरवर्ती चार लेश्याएँ अर्थात् कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ होती हैं।
- इनका उपपाद तैंतीस सागर की स्थिति वाले सर्वार्थसिद्धि के देवों में हो सकता है। जघन्य की अपेक्षा इनका उपपाद दो सागर की स्थिति वाले सौधर्म ईशान स्वर्ग के देवों में होता है।
- कषायनिमित्तक असंख्यात संयमस्थान होते हैं। इनके पुलाक के समान सबसे जघन्य लब्धिस्थान होते हैं, उससे आगे वह असंख्यात स्थानों तक जाता है, उसके बाद पुलाक की व्युच्छित्ति हो जाती है, परन्तु कषायकुशील की व्युच्छित्ति निर्ग्रन्थ मुनि होने के पूर्व होती है। इससे आगे अकषायस्थान हैं, जिन्हें निर्ग्रन्थपना प्राप्त होता है।

निर्ग्रन्थ मुनि

- जिनके मोहकर्म के उदय का तो अभाव हुआ है, किन्तु अन्य कर्म का उदय ऐसा है, जैसे, जल में लाठी डालने से रेखा लहर आती है, किन्तु शीघ्र ही विलीन हो जाती है; उसी प्रकार प्रदेशों का तथा उपयोग का मन्द मन्द चलना होता है, किन्तु प्रगट अनुभव नहीं आता है, ; उन्हें **निर्ग्रन्थ** कहते हैं।
- केवल यथाख्यात संयम होता है।
- इनके द्वारा मूलगुणो या उत्तरगुणों की विराधना या प्रतिसेवना नहीं होती।
- उत्कृष्ट की अपेक्षा चौदह पूर्व तक का ज्ञान हो सकता है।
- जघन्य की अपेक्षा अष्ट प्रवचन मात्र का ज्ञान हो सकता है।
- ऐसे मुनि सभी तीर्थंकरों के धर्मशासन में हो सकते हैं।
- इनके ग्यारहवाँ या बारहवाँ, उपशान्तमोह या क्षीणमोह नामक गुणस्थान होता है।

- इनके केवल एक शुक्ल लेश्या ही होती है।
- उपशान्तमोह गुणस्थान वाले मुनियों का उपपाद तैंतीस सागर की स्थिति वाले सर्वार्थसिद्धि के देवों में हो सकता है। जघन्य की अपेक्षा इनका उपपाद दो सागर की स्थिति वाले सौधर्म ईशान स्वर्ग के देवों में होता है। जबकि बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती मुनियों का निर्वाण ही होता है।
- कषायकुशील की व्युच्छित्ति के आगे अकषायस्थान हैं, जिन्हें निर्ग्रन्थपना प्राप्त होता है, उसकी भी असंख्यातस्थान आगे जाकर व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाण को प्राप्त होता है।

स्नातक मुनि

- जो सम्पूर्ण घातिकर्मों का नाश करके केवली जिन हुए, जिनके ज्ञान की पूर्णता हो गई है, उन्हें **स्नातक** कहते हैं।
- इनके दो भेद हैं – सयोगी जिन और अयोगी जिन।
- इनके द्वारा मूलगुणो या उत्तरगुणों की विराधना या प्रतिसेवना नहीं होती।
- केवलज्ञान का सद्भाव अर्थात् श्रुतज्ञान का अभाव होता है।
- केवल यथाख्यात संयम होता है।
- ऐसे मुनि सभी तीर्थंकरों के धर्मशासन में हो सकते हैं।
- इनका तेरहवाँ सयोगिकेवली और चौदहवाँ अयोगिकेवली गुणस्थान होता है।
- इनमें सयोगी जिन को केवल एक शुक्ल लेश्या ही होती है, जबकि अयोगी जिन, लेश्यारहित होते हैं।
- इनका सर्वथा निर्वाण ही होता है।
- स्नातक की संयमलब्धि सर्वोत्कृष्ट अनन्तगुणी होती है।''

इस प्रकार संयम आदि की अपेक्षा पुलाक आदि मुनियों के भेद किये जा सकते हैं, वही तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है –

संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिंग-लेश्या-उपपाद-स्थान-विकल्पतः साध्याः।। 9/47।।

अर्थात् संयम श्रुत प्रतिसेवना तीर्थ लिंग लेश्या उपपाद स्थान – इन अनुयोगों के द्वारा पुलाकादि मुनियों के भेद किये जा सकते हैं।

इस प्रकार पुलाक बकुश कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक – इन पाँचों प्रकार के मुनियों के गुणस्थान छठे से लेकर चौदहवें तक हैं।

मुनिराजों की सल्लेखना-विधि

वास्तव में वीतरागी मुनिराजों की अन्तर्बाह्य परिणति इतनी निर्भार और आनन्दप्रदायिनी होती है कि जिसकी तुलना, जगत् के किसी पदार्थ के साथ नहीं की जा सकती। वस्तुतः उनका जीवन तो साधनामय होती ही है; उनका मरण भी साधनामय अथवा साधना का प्रतिफल होता है। जिन्होंने जीवन भर आत्मा की साधना की है, देह और आत्मा की भिन्नता की आराधना की है; मरण का प्रसंग उनके लिए भारभूत न होकर महा आनन्ददायक होता है। यही कारण है कि इन ज्ञानी धर्मात्माओं के मरण को जिनागम में 'मृत्यु महोत्सव' की संज्ञा दी जाती है। शरीर के परित्यागरूप इस दशा को 'सल्लेखना' या 'समाधिमरण' या 'संन्यासमरण' नाम से भी जाना जाता है।

जो मरण, आत्मज्ञानपूर्वक हो, जो जन्म-मरण के अभाव के लिए हो; उसे महोत्सव ही तो कहा जाएगा। पण्डित सदासुखदास कासलीवाल ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका के अन्तिम सल्लेखना अधिकार में एक 'मृत्यु महोत्सव' पाठ की वचनिका भी लिखी है।

सल्लेखना = सत् + लेखना अर्थात् अपने शान्तस्वभाव को देखना या उसको ही अपना जीवन समझते हुए चलना, सल्लेखना है।[545] आचार्य पूज्यपाद ने इसी आधार पर समाधिमरण के अर्थ में सल्लेखना की व्याख्या करते हुए लिखा है कि अच्छे प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना, कृश करना सल्लेखना है। बाह्य में शरीर और अन्तरंग में कषायों के कारणों को उत्तरोत्तर घटाते हुए भले प्रकार से उनका लेखन करना, कृश करना **सल्लेखना** है।[546]

इस अपेक्षा से सल्लेखना के दो प्रकार हो जाते हैं – काय सल्लेखना और कषाय सल्लेखना। काय सल्लेखना को बाह्य सल्लेखना या द्रव्य सल्लेखना तथा कषाय सल्लेखना को अन्तरंग सल्लेखना या भाव सल्लेखना भी कहते हैं।[547]

उक्त दोनों सल्लेखनाओं में कषाय सल्लेखना ही प्रधान मानी गई है। यही कारण है कि भगवती आराधना में कहा है कि अनेकविध शरीर सल्लेखना विधि को करते हुए क्षपक, एक क्षण के लिए भी परिणामों की विशुद्धि को न छोड़े क्योंकि कषाय से कलुषित मन में परिणामों की विशुद्धि नहीं होती और परिणामों की विशुद्धि ही कषाय सल्लेखना है। यहाँ तक कहा गया है कि परिणामों की विशुद्धि के बिना उत्कृष्ट तप करने वाले साधु, ख्याति आदि कारणों से ही तप करते हैं – ऐसा समझना चाहिए। इसीलिए तो उनके परिणामों की शुद्धि नहीं होती है। जो साधु, शरीर की सल्लेखना तो निरतिचार कर रहे हैं, परन्तु यदि उनके अन्तरंग में राग-द्वेष आदिरूप भावपरिग्रह निवास करता है तो वे संस्तरारूढ़ होते हुए भी परिणामों की संक्लेशता के कारण संसार में ही भ्रमण करते हैं।[548]

पण्डित आशाधरजी लिखते हैं कि जो साधु, कषायों को कृश न करके केवल शरीर को ही कृश करता है, उसका वह शरीर को कृश करना निष्फल है क्योंकि कषायों को कृश करने के लिए ही शरीर को कृश किया जाता है।[549]

पंचास्तिकाय प्राभृत में आचार्य जयसेन ने **परमात्माराधक साधुओं** की दीक्षा, शिक्षा, सल्लेखना आदि के माध्यम से छह कालों का वर्णन किया है – 1. दीक्षा काल, 2. शिक्षा काल, 3. गणपोषक काल, 4. आत्म-संस्कार काल, 5. सल्लेखना काल, 6. उत्तमार्थ काल। इनमें से दीक्षा, शिक्षा और गणपोषक का यहाँ प्रकरण नहीं होने से उनका वर्णन नहीं करते हैं, शेष तीनों का प्रकरणवशात् वर्णन करते हैं।

- **आत्म-संस्कार काल** – अध्यात्म-दृष्टि से कहा जाए तो साधक जब दीक्षा-शिक्षा-गणपोषक काल के उपरान्त गण को छोड़ कर, निज परमात्मा में शुद्ध संस्कार करता है, तब वह **आत्म-संस्कार काल** है।

  इसे ही आगम भाषा के अनुसार कहा जाए तो अपने शिष्यों को छोड़ कर, आत्म-भावना के संस्कार का प्रयोजनवान् होकर साधक जब अन्य गण में चला जाता है, उस समय **आत्म-संस्कार काल** है।
- **सल्लेखना काल** – अध्यात्म-दृष्टि से कहा जाए तो आत्म-संस्कार करने के पश्चात् उस प्रयोजन से ही क्रोधादि कषायरहित अनन्त ज्ञानादि गुणलक्षणरूप परमात्मपदार्थ में स्थित होकर, रागादि विकल्पों का सम्यक् लेखन करना, कृश करना, **भावसल्लेखना** है और उसके लिए कायक्लेशरूप अनुष्ठान करना, द्रव्यसल्लेखना है तथा इन दोनों का आचरण करना, **सल्लेखना काल** है। आगम भाषा में कहा जाए तो आत्म-संस्कार के पश्चात् पंचाचार एवं चतुर्विध आराधना के कथित क्रम से जब साधक **द्रव्य-भाव सल्लेखना** करता है, उस समय वह **सल्लेखना काल** है।
- **उत्तमार्थ काल** – अध्यात्म-दृष्टि से सल्लेखना के पश्चात् विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावरूप आत्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, अनुष्ठान और इच्छा-निरोधरूप तपश्चरण – इन चार प्रकार की निश्चय आराधना-पूर्वक चरम देह से मोक्ष जाने योग्य और उससे भिन्न अचरम देह से भवान्तर में मोक्ष जाने योग्य काल, उत्तमार्थ काल है। आगम भाषा से सल्लेखना काल के पश्चात् चार प्रकार की आराधना की भावना द्वारा जब समाधि की विधिपूर्वक काल व्यतीत करता है, उस समय **उत्तमार्थ काल** है।

सल्लेखना की महिमा

आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने सल्लेखना की महिमा बताते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है –

इयमेकैव समर्था, धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया, पश्चिमसल्लेखना भक्त्या।।[550]

अर्थात् यह एक मरण के अन्त में होने वाली सल्लेखना ही मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले जाने में समर्थ है, इस प्रकार भक्ति सहित निरन्तर भावना करनी चाहिए।

इसी प्रकार संन्यासमरण या समाधिमरण के बिना तप आदि सभी की निष्फलता मानी गई है।[551]

लौकिक में समाधिमरण को आत्महत्या तक कह दिया जाता है, परन्तु इनमें जमीन आसमान का अन्तर है। इस सम्बन्ध में आज से लगभग 1500 वर्ष पूर्व अत्यन्त युक्तिसंगत शंका-समाधान आचार्य पूज्यपाद ने प्रस्तुत किया है –

शंका – सल्लेखना में अपने अभिप्राय से आयु आदि का त्याग किया जाता है, अतः यह आत्मघात है।

समाधान – यह कोई दोष सल्लेखना में नहीं है क्योंकि इसमें प्रमाद का अभाव होता है। 'प्रमत्तयोग से प्राणों का वध करना हिंसा है' – ऐसा पहले कहा जा चुका है, परन्तु यहाँ साधक को प्रमाद नहीं है क्योंकि उसके रागादिक नहीं पाये जाते। जो राग-द्वेष-मोह से युक्त होकर विष और शस्त्र आदि उपकरणों का प्रयोग करके उनसे अपना घात करता है, उसे आत्मघात का दोष प्राप्त होता है, परन्तु सल्लेखना को प्राप्त हुए जीव के रागादिक तो हैं नहीं, इसलिए उसे आत्मघात का दोष प्राप्त नहीं होता।

मरण किसी को भी इष्ट नहीं है। जैसे, नाना प्राकर की विक्रेय वस्तुओं के देने, लेने और उनके संचय में लगे हुए किसी व्यापारी को अपने घर का नाश होना इष्ट नहीं होता है, फिर भी परिस्थितिवश उसके विनाश के कारण उपस्थित हो जाएँ तो वह यथाशक्ति उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है। इतने पर भी यदि वे दूर न हो सकें तो जिससे विक्रेय वस्तुओं का नाश न हो, ऐसा प्रयत्न करता है। उसी प्रकार व्रत और शील के संचय में जुटा हुआ गृहस्थ भी उनके आधारभूत शरीर और आयु का पतन नहीं चाहता। यदि कदाचित् उनके विनाश के कारण उपस्थित हो जाएँ तो जिससे अपने गुणों में बाधा नहीं पड़ें, इस प्रकार उनको दूर करने का प्रयत्न करता है। इतने पर भी यदि वे दूर न हों तो जिससे अपने गुणों का नाश न हो, इस प्रकार प्रयत्न करता है, इसलिए साधक को आत्मघात नामक दोष कैसे हो सकता है।[552]

साधक की ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं जबरदस्ती से मरण करूँ, अपितु उसका अभिप्राय ऐसा है कि जब बलात् मरण होने ही लगे, तब मेरे परिणाम शुद्ध रहें और मैं सांसारिक विषय भोगों से ममत्व त्याग दूँ। अतः संन्यास धारण करके कषाय को घटाता है और रागादि को मिटाता है, इसलिए उसके आत्मघात का दोष नहीं है।

सल्लेखना की विधि आदि की सापेक्षता से वर्णन और उसके भेद प्रभेदों की विस्तृत जानकारी, भगवती आराधना, धवला, मरण-कण्डिका, उत्तराध्ययन, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, आदि ग्रन्थों के माध्यम से जानना चाहिए।

इस प्रकार **'अतिचार एवं प्रायश्चित्त – स्वरूप एवं विश्लेषण : जैन संविधान के सन्दर्भ में'** – इस शोध-प्रबन्ध के 'तृतीय अध्याय : **श्रमणाचार का जैन संवैधानिक आधार'** का विवरण पूर्ण होता है।

इति शुभं भवतु।

सन्दर्भ-सूची

श्रमणाचार का जैन संवैधानिक आधार

001. **प्रवचनसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा 201

002. **अंगपण्णत्ति,** आचार्य शुभचन्द्र, प्रथम अधिकार, गाथा 16-17, हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन, आर्यिका सुपार्श्वमती, प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् (1991)

003. **नियमसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा 75 एवं उसकी टीका, टीकाकार, मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़,

004. **अष्टपाहुड़,**, आचार्य कुन्दकुन्द, सूत्रपाहुड़, गाथा 18, भाषा वचनिका, पण्डित जयचन्द छाबड़ा, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़, सौराष्ट्र (1995)

005. **क्षत्रचूड़ामणि,** आचार्य वादीभसिंह, 6/18

006. **मोक्षमार्गप्रकाशक,** पण्डित टोडरमल, अध्याय 6, पृष्ठ 186, सम्पादक, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (2002)

007. **भगवती आराधना** (अपरनाम **मूलाराधना**) – आचार्य शिवार्य, गाथा 82, विजयोदया टीका, टीकाकार, अपराजित सूरि, सम्पादक एवं अनुवादक, पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2004) एवं **प्रवचनसार,** गाथा 205–206

008. **उपासकाध्ययन,** आचार्य सोमदेव, 815

009. आचार्य श्रुतसागर, **षट्पाहुड़, बोधपाहुड़** टीका, 19

010. **आचूला** (आचारचूला, अंगसुत्ताणि, भाग 1), 16/1–5, प्रकाशक, जैन विश्व भारती, लाडनूं, 1974 एवं आगम विषय कोश, पृष्ठ 565 के आधार पर

011. **आचूला** (आचारचूला, अंगसुत्ताणि, भाग 1), 1/121

012. **व्यवहार भाष्य,** 191

013. आचार्य विद्यानन्दि, **आर्ष-परम्परा में आर्यिका दीक्षा,** पृष्ठ 10

014. **समणं गणिं गुंणड्ढं.....प्रवचनसार,** 203

015. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 1

016. **परीक्ष्य दीक्षा दातव्या, मिथ्यादृष्टेरथान्यथा।**
दत्ता दर्शनहास्याय, स्वोपघाताय च क्रमात्।। 25।।
– **नीतिसार,** आचार्य इन्द्रनन्दि, श्लोक 25, भावार्थ; और देखें, आचार्य विद्यानन्दि, **आर्षपरम्परा में आर्यिका दीक्षा,** पृष्ठ 9-10

017. **प्राज्ञेन ज्ञातलोक-व्यवहृतिमतिना, तेन मोहोज्झितेन,**
प्राग्विज्ञातः सुदेहो, द्विजनृपतिवणिग्वर्णवर्ण्योंगपूर्णः।
भूभृल्लोकाविरुद्धः स्वजनपरिजनोन्मोचितो वीतमोह-
चित्रापस्मारारोगाद्यपगत इति च ज्ञातिसंकीर्तनाद्यैः।
– **आचारसार,** आचार्य वीरनन्दि, 11,एवं आर्यिका ज्ञानमति, **दिगम्बर मुनि**, पृष्ठ 7

018. साधु-दीक्षा की संक्षिप्त विधि का वर्णन, आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा विरचित **'प्रवचनसार'** ग्रन्थ के तृतीय अध्याय; 'चरणानुयोगसूचक चूलिका' के प्रारम्भ में; आर्यिका ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखित पुस्तक **'दिगम्बर मुनि'** के प्रारम्भ में तथा वृहद्-दीक्षा-विधि – इस शीर्षक के अन्तर्गत **'क्रियाकलाप'** नामक पुस्तक में किया गया है। विस्तार से जानने हेतु पाठकों से मूलतः वहाँ देखने का सानुरोध निवेदन है। उसका यहाँ संक्षेप में वर्णन दिया गया है।

019. **प्रवचनसार,** तत्त्वप्रदीपिका, 201-202 के आधार पर

020. **प्रवचनसार,** 204-206 के आधार पर

021. **प्रवचनसार,** तत्त्वप्रदीपिका एवं तात्पर्यवृत्ति, 207-209 की उत्थानिका एवं टीका के आधार पर

022. **प्रवचनसार,** तत्त्वप्रदीपिका, गाथा 210-212 के आधार पर

023. **प्रवचनसार,** तत्त्वप्रदीपिका, गाथा 213-214 के आधार पर

024. **प्रवचनसार,** तत्त्वप्रदीपिका एवं तात्पर्यवृत्ति, 215–217 के आधार पर

025. **प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका** 217 के बाद तात्पर्यवृत्ति में समागत अतिरिक्त दो गाथाओं अथवा तात्पर्यवृत्ति के अनुसार गाथा 231–232 की टीका एवं **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,** 49 के आधार पर

026. **प्रवचनसार,** तत्त्वप्रदीपिका एवं तात्पर्यवृत्ति, 218 के आधार पर

027. **प्रवचनसार,** तत्त्वप्रदीपिका एवं तात्पर्यवृत्ति, 219 के आधार पर

028. **प्रवचनसार,** तत्त्वप्रदीपिका एवं तात्पर्यवृत्ति, 220–221 के आधार पर

029. **प्रवचनसार,** तत्त्वप्रदीपिका एवं तात्पर्यवृत्ति, 222 के आधार पर

030. **प्रवचनसार,** 223–225 एवं उसकी आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन विरचित टीकाओं के आधार पर

031. **प्रवचनसार,** 227–229 एवं उसकी आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन विरचित टीकाओं के आधार पर

032. **चर्चासागर,** चर्चा 210 033. **वही** 034. **चर्चासागर,** चर्चा 7, पृष्ठ 9-10 035. **धवला**, 1/176-177

036. **अर्थप्रकाशिका** (मोक्षशास्त्र की भाषावचनिका), पण्डित सदासुखदास कासलीवाल, अध्याय 9, सूत्र 1–2 की व्याख्या, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, गुज. (1940)

037. **मोक्षमार्गप्रकाशक,** पण्डित टोडरमल, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ 228

038. **मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र टीका),** आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी, नौवाँ अध्याय, सूत्र 5, पृष्ठ 551 552 टीकाकार, रामजी माणेकचन्द दोशी, प्रकाशक, सी. वी. भण्डारी चैरिटेबल ट्रस्ट, बैंगलोर (1998)

039. **विशेषावश्यक भाष्य,** भाग 1 (गुजराती प्रकाशन), आचार्य श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, गाथा 870, वृत्तिकार, आचार्य हेमचन्द्र, भाषान्तर, चुनीलाल शाह, सम्पादक, वज्रसेनविजय गणी, प्रकाशक, भद्रंकर प्रकाशन, महालक्ष्मी सोसायटी, अहमदाबाद

040. जैन, फूलचन्द, **ज्ञानपीठ पूजांजलि,** पृष्ठ 14–15, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1980) के आधार पर

041. **छहढ़ाला,** छठी ढ़ाल, छन्द 5-6

042. **अपूर्व अवसर,** छन्द 9, श्रीमद् राजचन्द्रजी, बाल ब्र. सुमतप्रकाशजी द्वारा अनुवादित एवं पण्डित अभयकुमारजी द्वारा संशोधित, श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मण्डल, नागपुर से प्रकाशित पत्रक, मार्च 2011

043. पण्डित चम्पालाल, **चर्चासागर,** चर्चा 4-5, पृष्ठ 6-7

044. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, गाथा 423, पृष्ठ 320-323

045. **यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य,** आचार्य सोमदेव, उत्तर खण्ड, पंचम आश्वास, श्लोक 131--132, प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, (1971) JAINA E-Library Project - Pravin K. Shah 046. वही

047. **मूलाचार,** श्री वट्टकेराचार्य, आचारवृत्ति, गाथा 32, पृष्ठ 40; आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती, टीकानुवाद, आर्यिका ज्ञानमती, सम्पादक, सिद्धान्ताचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1992)

048. **भावदीपिका,** पाँचवाँ अधिकार, पृष्ठ 154, पण्डित दीपचन्द शाह कासलीवाल, प्रकाशक, अश्विन शाह, दर्शन प्रकाशन, मलाड, मुम्बई (2004)

049. **छहढाला,** कविवर दौलतराम, छठी ढाल, छन्द 5, टीकाकार, पण्डित रामजीभाई दोशी, सम्पादन, पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशक, तीर्थधाम मंगलायतन, श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (2006)

050. **मूलाचार**, 33

051. जैन फूलचन्द 'प्रेमी', **मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन,** पृष्ठ 152-153 प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, (1987)

052. **मूलाचार,** 34 053. **भावदीपिका** 155 054. **पद्मनन्दि पंचविंशतिका,** 1/43

055. **चर्चासागर,** चर्चा 20, पृष्ठ 19-20 056. **अनगार धर्मामृत,** 9/93 057. **मूलाचार**, 35

058. **प्रवचनसार**, 229 059. **ज्ञानपीठ पूजांजलि,** प्रस्तावना, पृष्ठ 15–17

059क. **समवायांगसूत्र,** समवाय 27/1 059ख. **उत्तराध्ययनसूत्र** 31/18, वृहद्वृत्ति, पत्र 6/6

059ग. **आवश्यकवृत्ति,** हरिभद्रीया, पृष्ठ 113

059घ. **प्राकृतविद्या,** वर्ष 13, अंक 2, जुलाई-सितम्बर 2001, पृष्ठ 89, जैन आगम साहित्य में प्रतिपादित श्रमणों के मूलगुण, डॉ. जिनेन्द्र जैन, प्रकाशक, श्री कुन्दकुन्द भारती, 18 बी, स्पेशल इन्स्टिट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली

060. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 116 061. **मूलाचार समीक्षा,** पृष्ठ 161 062. **मूलाचार प्रदीप,** 1353-1354

063. **मूलाचार,** आचार्य कुन्दकुन्द, (मान्य), 1/3, पृष्ठ 3, अनुवादक, पण्डित जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले, आचार्य शान्तिसागर जैन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण, 2484

064. **द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र,** 336, माइल्ल धवल, सम्पादक, पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

065. **मूलाचार,** शीलगुणाधिकार, 11/2, 11/8

066. **इच्छानिरोधस्तपः – धवला** 13, सूत्र 26

067. **भगवती आराधना** 1845-1847

068. तत्त्वार्थसूत्र 9/3

069. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** 2/357

070. **प्रवचनसार** तत्त्वप्रदीपिका 14, 79 एवं **नियमसार** टीका 55, 118, 123

071. **भगवती आराधना** 10, **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/6, **मूलाचारवृत्ति** 11/5 **पद्मनन्दि पंचविशतिका** 1/98, **तत्त्वार्थवार्तिक** 6/24, **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** 400 के आधार पर

072. **बारसाणुवेक्खा** 77

073. समयसार 152, सर्वार्थसिद्धि 6/20

074. **मूलाराधना** 940

075. **पद्मनन्दि पंचविंशतिका** 1/67

076. **समाधिशतक** 34

077. **सर्वार्थसिद्धि** 9/11

078. **अनगार धर्मामृत** 7/8

079. **मोक्षमार्गप्रकाशक** 231

080. **भगवती आराधना** 1306, 1348

081. **मूलाचार** 242, 238

082. **धन्य मुनिदशा,** खण्ड 4, मंगलायतन मासिक विशेषांक, तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़

083. **मूलाचार**, आचार्य कुन्दकुन्द मान्य, 169, फलटन प्रति

084. और देखें, **प्रवचनसार** तत्त्वप्रदीपिका 227

085. **जिनेन्द्र सिद्धान्त कोश** 1/65

086. **मोक्षमार्गप्रकाशक** 231

087. **प्रवचनसार** 227, **सर्वार्थसिद्धि** 9/11, **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/11, **तत्त्वार्थवृत्ति** 9/11, **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** 440 आदि के आधार पर

088. **सर्वार्थसिद्धि वचनिका** 363

089. **सर्वार्थसिद्धि** 9/11, **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/11, **तत्त्वार्थवृत्ति** 9/11 के आधार पर

090. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** 442

091. **धवला** 13/57

092. **मूलाचार** 355

093. **भगवती आराधना** 218-221

094. **सर्वार्थसिद्धि** 9/11, **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/11, **तत्त्वार्थवृत्ति** 9/11 के आधार पर

095. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** 446

096. **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/11

097. **भगवती आराधना** टीका 6/32

098. **सर्वार्थसिद्धि** 9/11, **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/11, **तत्त्वार्थवृत्ति** 9/11

099. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** 440

100. **भगवती आराधना** टीका 231

101. **मूलचार** 357

102. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** 448-449

103. **सर्वार्थसिद्धि** 9/11, **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/11, **तत्त्वार्थवृत्ति** 9/11

104. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** 448

105. **सर्वार्थसिद्धि** 9/11, **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/11

106. **मूलाचार वृत्ति** 356

107. **मूलाचार समीक्षा,** 183

108. **सर्वार्थसिद्धि** 9/11, **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/11, **तत्त्वार्थवृत्ति** 9/11

109. **सर्वार्थसिद्धि** 9/20, **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/20

110. **मोक्षमार्गप्रकाशक** 232

111. **मूलाचार** 361, सर्वार्थसिद्धि 9/20

112. **धवला** 13/63

113. **भगवती आराधना** टीका 6/32

114. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** 457

115. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** 3/547

116. भारिल्ल, डॉ. हुकमचन्द, **धर्म के दशलक्षण**, उत्तम तप धर्म, 107

117. **सर्वार्थसिद्धि** 9/23, **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/23, **भगवती आराधना** 114-117, **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** 458 के आधार पर

118. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** 460

119. **मूलाचार वृत्ति** 389, **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** 112

120. **भगवती आराधना** 307 एवं 1496

121. **सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका,** प्रस्तावना, पण्डित टोडरमल, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

122. **धवला** 9/3 एवं 1/56

123. **छहढाला,** पण्डित दौलतराम, ढाल 4

124. **सर्वार्थसिद्धि** 9/25, **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/25, **मोक्षशास्त्र** 9/25 आदि के आधार पर

125. **भगवती आराधना** 1784-2052

126. **सर्वार्थसिद्धि** 9/25, **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/25, **मोक्षशास्त्र** 9/25, **धवला** 9/3 एवं 1/56, **मूलाचार** 511, **सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका,** प्रस्तावना, आदि के आधार पर

127. **नियमसार** 121, **सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, मोक्षशास्त्र** 9/26, अमितगतिकृत **योगसार** 5/52, आदि के आधार पर

128. **भगवती आराधना** टीका 116

129. **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/26

130. **सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, मोक्षशास्त्र, अर्थप्रकाशिका** 9/26 आदि के आधार पर

131. **सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, मोक्षशास्त्र** 9/27, **वृहदृद्रव्यसंग्रह** 55-56 आदि, **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** 2/494 के आधार पर

132. **मूलाचार समीक्षा,** 213

133. **छहढ़ाला,** पाँचवीं ढ़ाल, 1-2

134. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/25; **धवला,** 9/263

135. **मोक्षमार्गप्रकाशक**, 229

136. **बारस अणुवेक्खा**, 90

137. **रयणसार**, 64

138. **समयसार,** तात्पर्यवृत्ति, 320 के बाद की टीका

139. **तत्त्वार्थसूत्र,** 9/7

140. **अद्धुवमसरणमेगत्तमण्ण संसारलोयमसुइत्तं।**

सो निगदसव्वकम्मो, विमलो विमलालयं लहदि।।

— **मूलाचार,** 5/206, 8/2, **भगवती आराधना,** 1715, **बारस अणुवेक्खा,** 2

141. पण्डित जयचन्दजी कृत **बारह भावना,** अनित्य भावना, **जिनेन्द्र अर्चना,** पृष्ठ 300, 142. **वही**

143. **बारसाणुवेक्खा,** 11 144. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा,** 31 145. कविवर भूधरदासजी कृत बारह भावना, **जिनेन्द्र अर्चना,** पृष्ठ 301

146. कविवर दौलतरामकृत बारह भावना, **छहढ़ाला,** पांचवीं ढाल, अशरण भावना,

147. **बारह भावना : एक अनुशीलन,** पृष्ठ 29 एवं 31 के आधार पर 148. **बारसाणुवेक्खा,** 11

149. **तत्त्वार्थ राजवार्तिक,** 9/7, 3 150. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा,** 11 151. **बारसाणुवेक्खा,** 20

152. **समयसार,** 3 153. **वृहद्द्रव्यसंग्रह,** टीका, 35 154. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/7

155. कविवर भूधरदासजी कृत बारह भावना, **जिनेन्द्र अर्चना**, पृष्ठ 301

156. बाबू युगलजी कृत देव-शास्त्र-गुरु पूजन, जयमाला, बारह भावना, **जिनेन्द्र अर्चना,** पृष्ठ 89

157. पण्डित जयचन्दजी कृत बारह भावना, **जिनेन्द्र अर्चना,** पृष्ठ 300

158. **समयसार,** आत्मख्याति, 72 159. **भगवती आराधना**, 1813-1815 160. **समयसार,** आत्मख्याति, 72-74

161. देखें, **समयसार,** तात्पर्यवृत्ति, पुण्यपापाधिकार के अन्त में, 161-163 162. **बारसाणुवेक्खा,** 60

163. **तत्त्वार्थसूत्र,** 9/1 164. **छहढ़ाला,** श्री रामजीभाई कृत टीका, 5/10 165. **समयसार,** आत्मख्याति, कलश 129

166. **वृहद्द्रव्यसंग्रह,** 35 की टीका 167. **पंचास्तिकायसंग्रह**, 144 168. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, 114

169. **मूलाचार,** 8/19 170. **वृहद्द्रव्यसंग्रह,** टीका, 35

171. पण्डित जयचन्दजी कृत बारह भावना, **जिनेन्द्र अर्चना,** पृष्ठ 300 172. **भगवती आराधना,** 1798, 1812

173. **बारसाणुवेक्खा**, 83-84 174. **मूलाचार,** 758, 761-763 175. **उत्तराध्ययन,** 3/1

176. पण्डित जयचन्दजी कृत बारह भावना, **जिनेन्द्र अर्चना,** पृष्ठ 300 177. बारह भावना, **भावना शतक,** पृष्ठ 23

178. **तत्त्वार्थसूत्र,** वाचक उमास्वाति, विवेचनसहित, 9/7, पृष्ठ 213, विवेचक, पण्डित सुखलाल संघवी, प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी — 5, (1976) 179. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/7

180. कविवर भूधरदासजी कृत बारह भावना, **जिनेन्द्र अर्चना,** पृष्ठ 301

181. पण्डित जयचन्द छाबड़ा कृत बारह भावना, **जिनेन्द्र अर्चना,** पृष्ठ 300

182. कविवर दौलतराम, छहढ़ाला, पाँचवीं ढ़ाल, छन्द 14-15, बारह भावना, **जिनेन्द्र अर्चना,** पृष्ठ 270

183. **द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक**, 357 184. **बारसाणुवेक्खा,** 82 185. **भावपाहुड़,** 83-85 186. **दर्शनपाहुड़,** 2

187. **प्रवचनसार,** तत्त्वप्रदीपिका, 7 188. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, 476 189. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** 2, **सर्वार्थसिद्धि,** 9/2

190. **परमात्मप्रकाश**, 2 191. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** 2/464 192. **मूलाचार,** 11/5, 8/62; **समवायांग,** 10/1

193. **पद्मनन्दि पंचविंशतिका,** 6/59

194. दश धर्मों का विस्तृत विवेचन जानने के लिए गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के **'दशधर्म प्रवचन'** एवं डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा रचित पुस्तक **'धर्म के दशलक्षण'** का गहराई से अध्ययन करना चाहिए।

195. **कुरलकाव्य,** 16/10 196. **बारस अणुवेक्खा**, 72 197. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा,** 396 198. **बारस अणुवेक्खा,** 75

199. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, 398 200. **धवला,** 1/144 201. **नियमसार,** तात्पर्यवृत्ति, 123 202. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा,** 400

203. **समयसार,** 34 204. **प्रवचनसार**, तात्पर्यवृत्ति, 239; **राजवार्तिक,** 9/6 205. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/6

206. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/6 207. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा,** 401 208. **पद्मनन्दि पंचविंशतिका,** 12/2; **भगवती आराधना,** 878

209. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/9 210. **वृहद्द्रव्यसंग्रह,** टीका, 35 211. **अनगार धर्मामृत**, 6/83 212. **मोक्षशास्त्र** टीका, 9/8

213. **मोक्षमार्गप्रकाशक**, 7/229 214. **तत्त्वार्थसूत्र,** 9/9 215. **मूलाचार,** 5/57, 58 216. **तत्त्वार्थवार्तिक,** 9/9

217. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/9 218. **मोक्षशास्त्र** टीका, 9/9 219. **मूलाचार प्रदीप,** 3127-3130 220. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/9

221. **मोक्षशास्त्र** टीका, 9/9 222. **तत्त्वार्थवार्तिक**, 9/9 223. **मूलाचार प्रदीप**, 3137 224. **तत्त्वार्थवार्तिक,** 9/9

225. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/9 226. **मूलाचार प्रदीप,** 3138-3140 227. **तत्त्वार्थवार्तिक,** 9/9 228. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/9

229. **तत्त्वार्थवार्तिक,** 9/9 230. **सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थवृत्ति,** 9/9 231. **तत्त्वार्थवार्तिक,** 9/9 232. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/9

233. **तत्त्वार्थवार्तिक**, 9/9 234. **मूलाचार प्रदीप**, 3147-3148 235. **तत्त्वार्थवार्तिक,** 9/9 236. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/9

237. **तत्त्वार्थवार्तिक**, 9/9 238. **मूलाचार प्रदीप**, 3151-3152 239. **तत्त्वार्थवार्तिक**, 9/9

240. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/9 एवं **मूलाचार प्रदीप**, 3153-3154 241. **तत्त्वार्थवार्तिक**, 9/9

242. **मूलाचार प्रदीप,** 3127-3130 एवं **सर्वार्थसिद्धि,** 9/9 243. **अर्थप्रकाशिका,** 9/9

244. **तत्त्वार्थवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थवृत्ति**, 9/9 के आधार पर 245. **तत्त्वार्थवार्तिक, एवं सर्वार्थसिद्धि,** 9/9

246. **मूलाचार प्रदीप,** 3158 247. **मूलाचार प्रदीप**, 3160, **चारित्रसार,** 182. एवं **मोक्षशास्त्र** 9/9 248. **तत्त्वार्थवार्तिक,** 9/9

249. **तत्त्वार्थवार्तिक**, 9/9 एवं **मूलाचार प्रदीप,** 3161 250. **मूलाचार प्रदीप**, 3127-3130 251. **तत्त्वार्थवार्तिक**, 9/9

252. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/9 253. **आचारसार**, 7/12 254. **तत्त्वार्थवार्तिक**, 9/9 255. **भगवती आराधना**, विजयोदया टीका, 82

256. **मूलाचार प्रदीप**, 1303-1304 एवं **भगवती आराधना**, विजयोदया टीका, 92 257. **मूलाचार प्रदीप,** 1301-1302, 3166

258. **तत्त्वार्थवार्तिक**, 9/9 259. **मूलाचार प्रदीप**, 3167-3168 260. **आचारसार**, 87/22 261. **तत्त्वार्थवार्तिक**, 9/9

262. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/9 263. **मूलाचार प्रदीप**, 3169-3170 264. **तत्त्वार्थवार्तिक,** 9/9 265. **मूलाचार प्रदीप**, 3171-72

266. **आचारसार**, 7/19 267. **तत्त्वार्थवार्तिक**, 9/9 268. **मोक्षशास्त्र** टीका, 9/9 269. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/9

270. **सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थवार्तिक,** 9/9 271. **तत्त्वार्थसूत्र** 9/13-16 272. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/17

273. **मूलाचार प्रदीप**, 3185-3192 274. **मोक्षशास्त्र** टीका, 9/10 275. **मूलाचार प्रदीप,** 3193

276. **मूलाचार प्रदीप**, 3197-3202 277. **सागार धर्मामृत**, 7/35 278. **प्रवचनसार** तात्पर्यवृत्ति 202 एवं 1-5

279. **मूलाचार** आचारवृत्ति 368 280. **परमात्मप्रकाश** टीका 7 एवं देखें, **वृहद्द्रव्यसंग्रह** टीका 52

281. देखें, **समयसार** आत्मख्याति 230-236, **समयसार** कलश 154-161, **मूलाचार** टीका 201, 263, **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** हिन्दी टीका 11-18, **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** 419, **तत्त्वार्थवार्तिक** 6/24, **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** 23-30, 282. **वृहद्द्रव्यसंग्रह** टीका 41

283. **चारित्रपाहुड़** 5-20 284. **मूलाचार** आचारवृत्ति 99

285. **परमात्मप्रकाश** टीका 7 एवं देखें, **प्रवचनसार** तात्पर्यवृत्ति 216, **वृहद्द्रव्यसंग्रह** टीका 52 286. **मूलाचार** आचारवृत्ति 269

287. **मूलाचारप्रदीप** 1676-1692 के आधार पर 288. **मूलाचार** आचारवृत्ति 199

289. **प्रवचनसार** तात्पर्यवृत्ति 216, **परमात्मप्रकाश** टीका 7 एवं **वृहद्द्रव्यसंग्रह** टीका 52 के आधार पर

290. देखें, **तत्त्वार्थसूत्र,** 7/4-9, **मूलाचार** आचारवृत्ति 288, 297, 336 291. **मूलाचारप्रदीप** 1672-1675 के आधार पर

292. **मूलाचार** आचारवृत्ति 5/2 293. **प्रवचनसार** तात्पर्यवृत्ति 216, **परमात्मप्रकाश** टीका 7 एवं **वृहद्द्रव्यसंग्रह** टीका 52

294. **मूलाचारप्रदीप** 2108 295. **मूलाचार** आचार्य कुन्दकुन्द, 5/239, फलटण से प्रकाशित

296. **प्रवचनसार** तात्पर्यवृत्ति 216, **परमात्मप्रकाश** टीका 7 एवं **वृहद्द्रव्यसंग्रह** टीका 52 297. **मूलाचार,** 5/216-219

298. **शीलपाहुड़** 19-20 एवं **मूलाचार** वृत्ति 11/1 299. **प्रवचनसार,** 230 एवं उसकी टीकाओं के आधार पर

300. **वही,** 230-231 एवं उसकी टीकाओं के आधार पर 301. **वही,** 232–244 एवं उसकी टीकाओं के आधार पर

302. **सवार्थसिद्धि** एवं **तत्त्वार्थ राजवार्तिक,** अध्याय 9/2; **राजवार्तिक; भगवती आराधना, विजयोदया** टीका, 115

303. **प्रवचनसार,** तात्पर्यवृत्ति टीका, 240 304. **समयसार,** तात्पर्यवृत्ति, 307 305. **अनगार धर्मामृत**, 4/154

306. **अर्थप्रकाशिका**, 9/4 307. **छहढाला,** छठी ढाल, छन्द 4, भावार्थ 308. **मोक्षमार्ग प्रकाशक,** सातवाँ अधिकार, 228

309. **मंगलायतन पत्रिका,** धन्य मुनिदशा विशेषांक माला 310. **मूलाचार,** गाथा 416-417

311. **मूलाचार,** आचारवृत्ति, गाथा 416-417 के आधार पर 312. **मूलाचार,** आचारवृत्ति, गाथा 418

313. **मूलाचार,** आचारवृत्ति, गाथा 418

314. **पंचसंग्रह प्राकृत** 1/129, **धवला,** 1/1,1,123/369, **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** 470, **तत्त्वार्थ राजवार्तिक** 9/18

315. **धवला,** 1/1,1,123/369 316. **तत्त्वार्थ राजवार्तिक** 9/18

317. **वदसमिदिंदियरोधो, लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।**
खिदिसयणमदंतवणं, ठिदिभोयणमेगभत्तं च।।
एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो, छेदोवट्ठावणो होदि।। — **प्रवचनसार** 208–209

318. **पंचसंग्रह** प्राकृत 1/130; **पंचसंग्रह संस्कृत** 1/240; **धवला** 1/188/372; **गोम्मटसार जीवकाण्ड** 471

319. **धवला** 1/370, 1/376 एवं 3/447, 449; **सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक** 7/1 के आधार पर

320. **वृहद्द्रव्यसंग्रह** टीका, 35 के आधार पर

321. **सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक** 9/18; **चारित्रसार** 83/4; **गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका,** 547 के आधार पर

322. **तत्त्वार्थसार** 5/46 323. क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** 2/307

324. **सर्वार्थसिद्धि/राजवार्तिक** 9/18; **धवला** 1/370; **चारित्रसार** 83/4; **गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका,** 547

325. **पंचसंग्रह प्राकृत** 1/131; **पंचसंग्रह संस्कृत** 1/241; **धवला** 1/189/372; **गोम्मटसार जीवकाण्ड** 471

326. **योगसार** 102 एवं **वृहद्द्रव्यसंग्रह** टीका 35 327. **भगवती आराधना, विजयोदया** टीका 155

328. **धवला** 7/169 एवं **गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका,** 473 व 715 329. **चर्चासागर,** चर्चा 124, पृष्ठ 137

330. क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** 3/36

331. **सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थ राजवार्तिक** 9/18; **धवला** 1/371; **गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका,** 547

332. **धवला** 1/190/373, **गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका,** 574; **तत्त्वार्थसार** 6/48; **जैन सिद्धान्त प्रवेशिका,** प्रश्न 541

333. **तत्त्वार्थ राजवार्तिक** 9/18/9-10 एवं **चारित्रसार** 84/2 334. **वृहद्द्रव्यसंग्रह** टीका, 35 335. **योगसार,** 103

336. **सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थ राजवार्तिक** 9/18; **धवला** 1/371; **चारित्रसार** 84/4; **तत्त्वार्थसार** 6/49; **गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका,** 547; **वृहद्द्रव्यसंग्रह** टीका 35 के आधार पर

337. **पंचसंग्रह प्राकृत** 1/133; **पंचसंग्रह संस्कृत** 1/243; **धवला** 1/191/373; **गोम्मटसार जीवकाण्ड** 475

338. **पंचसंग्रह प्राकृत** 1/133; **पंचसंग्रह संस्कृत** 1/241; **धवला** 1/191/373; **गोम्मटसार जीवकाण्ड** 475

339. **जैन सिद्धान्त प्रवेशिका,** प्रश्न 116 340. **प्रवचनसार,** गाथा 226-229 एवं उसकी सभी टीकाओं के आधार पर

341. **मूलाचार,** 481 342. **मूलाचार,** 6/60, 61 343. **तत्त्वार्थवार्तिक, अनगार धर्मामृत, मूलाचार** आदि के आधार पर

344. **मूलाचार,** 493 345. **मूलाचार** समीक्षा, पृष्ठ 261-262 346. **मूलाचार,** 491, 940

347. **चर्चासागर,** चर्चा 209, पृष्ठ 445-446 एवं चर्चा 50-51, पृष्ठ 52-53 के आधार पर 348. **चर्चासागर,** चर्चा 68

349. **वही** 350. **वही** 351. **भगवती आराधना,** 155 352. **मूलाचार,** गाथा 799-800

353. **मूलाचार,** गाथा 806-807 354. **मूलाचार समीक्षा,** पृष्ठ 287 355. **भगवती आराधना, विजयोदया** टीका, 152

356. **अनगार धर्मामृत,** पण्डित आशाधर, प्रस्तावना, पृष्ठ 19 357. **संयमप्रकाश** पूर्वार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 273

358. **मूलाचार,** 148 359. **मूलाचारवृत्ति,** गाथा 149 360. **आचारसार,** 27

361. जैन, योगेशचन्द्र, **जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा,** पृष्ठ 236, प्रकाशक, मुक्ति प्रकाशन, अलीगंज, एटा, (1990)

362. **भगवती आराधना,** श्लोक 1555, 1284-1319 के आधार पर 363. वही 364. **मूलाचार,** 304-306

365. **भगवती आराधना,** 229–239 के आधार पर 366. **मूलाचार,** 951-953

367. **भगवती आराधना, विजयोदया** टीका, 421; **आचारांग** 2/3/1; **वृहत्कल्पभाष्य** 1/36, 3/2736; एवं **मूलाचार** का समीक्षात्मक अध्ययन, पृष्ठ 344–346 के आधार पर

368. **अनगार धर्मामृत** 9/66–67; एवं **मूलाचार** का समीक्षात्मक अध्ययन, पृष्ठ 346–347 के आधार पर

369. **कल्पसूत्र, कल्पमंजरी** टीका, 17, पृष्ठ 74; **कल्पसूत्र** निर्युक्ति 16, **कल्पसूत्र** चूर्णि, पृष्ठ 89; ठाणं, टिप्पण, 5/61–62; स्थानांग वृत्ति, पृष्ठ 294–295; अनगार धर्मामृत 9/66–67; एवं मूलाचार समीक्षा, पृष्ठ 347 के आधार पर

370. **भगवती आराधना, विजयोदया** टीका, 421 371. **अनगार धर्मामृत,** 9/68–69

372. **चर्चासागर,** चर्चा 19, पृष्ठ 11-12 373. वही

374. **मंगलायतन पत्रिका,** धन्य मुनिराज विशेषांक, 'मुनिराज की व्यवहारचर्या' प्रकरण के आधार पर

375. पण्डित दौलतरामजी, **छहढ़ाला,** छठी ढ़ाल, छन्द 6 376. **मूलाचार** समीक्षा, पृष्ठ 300-302 के आधार पर

377. **द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र,** 338, विशेषार्थ 378. **प्रवचनसार,** 261-263 379. **प्रवचनसार,** 271

380. **प्रवचनसार,** 264-270, **मूलाचार,** गाथा 338, विशेषार्थ के आधार पर

381. **मूलाचार,** गाथा 124-144, उसके विशेषार्थों एवं **वृहद्कल्पभाष्य,** 1623-1637 के आधार पर

382. **जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा,** पृष्ठ 176 के आधार पर

383. **प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका एवं तात्पर्यवृत्ति,** 252-254 एवं भावार्थ के आधार पर 384. **तत्त्वार्थवार्तिक,** 9/24/17

385. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा,** 457 386. **मूलाचार** 390, 174 एवं **तत्त्वार्थसूत्र** 9/23 387. **भगवती आराधना** टीका, 116

388. **अष्टपाहुड़, दर्शनपाहुड़,** 27 389. **योगसार प्राभृत** 5

390. ब्र. रायमल्ल, **चर्चासंग्रह,** चर्चा 186-187 एवं 200 के आधार पर 391. **मूलाचार समीक्षा,** पृष्ठ 331-332

392. ब्र. रायमल्ल, **चर्चासंग्रह,** चर्चा 201, पृष्ठ 82 के आधार पर 393. **आचारसार,** 2/85

394. **मूलाचार,** आचारवृत्ति, गाथा 177–182 के आधार पर 395. और देखें, आचारसार, 72-74

396. **भगवती आराधना,** 332-340 397. **मूलाचार,** 956

398. और देखें, **गच्छाचार प्रकीर्णक,** गाथा 61–70; आगम संस्थान ग्रन्थमाला, आगम-अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर

399. **सज्जन-चित्त-वल्लभ,** महाकवि मल्लिषेण, श्लोक 7, टीका, डॉ. योगेश जैन, जैन स्वाध्याय समिति, मुरार, ग्वालियर, (1986)

400. **संयमप्रकाश,** पूर्वार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 212-213 401. **संयम प्रकाश,** पूर्वार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 214-215

402. **मूलाचार,** 195 403. **संयम प्रकाश,** पूर्वार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 223-224 404. **वही**, पृष्ठ 351-352

405. **वही**, पृष्ठ 223-224 406. **मूलाचार** समीक्षा, पृष्ठ 325 407. **मोक्षमार्गप्रकाशक,** प्रथम अध्याय, पृष्ठ 3

408. **रयणसार,** 96 एवं **चारित्रसार,** 144 409. **उत्तराध्ययन,** 8/13

410. **विसुद्धिमग्ग,** आचार्य बुद्धघोष, 1/1, पृष्ठ 30-31, प्रकाशक, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1956

411. **लिंगपाहुड़,** 3, 6, 12, 15, 17, 18, 20 एवं **मूलाचार** समीक्षा, पृष्ठ 321

412. विस्तार से देखें, **संयमप्रकाश,** पूर्वार्द्ध, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 238-293 413. **मूलाचार,** 71 414. **मूलाचार,** 957-960

415. **रयणसार,** 97 416. **मूलाचार,** 918-920 417. **पंचाध्यायी,** उत्तरार्द्ध, 657 418. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** 4/404

419. **मूलाचार** समीक्षा, पृष्ठ 353-354 के आधार पर 420. **भगवती आराधना,** 713 421. **वही, विजयोदया** टीका, 495

422. **वही,** 512 423. **सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थवार्तिक,** 6/13 424. **प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति,** 249 425. **भावपाहुड़,** 78

426. **भगवती आराधना,** 712 427. **प्रवचनसार,** एवं टीकाएं, 203 428. **भगवतीसूत्र** वृत्ति, अभयदेव सूरि, 1,1,1, मंगलाचरण

429. **धवला,** 1/29-31/50 430. **मोक्षमार्गप्रकाशक,** पृष्ठ 3 431. **दशवैकालिक** (अगस्त्यसिंह) **चूर्णि,** 9/3/1

432. **भगवती आराधना,** 419-420 व **विजयोदया** टीका, 528; एवं **अनगार धर्मामृत** 9/76 433. **भगवती आराधना**, 274-358

434. **भगवती आराधना**, 274-358 एवं **प्रवचनसार**, गाथा 210 435. **भगवती आराधना**, मूलाराधना टीका, 177

436. **प्रवचनसार**, तात्पर्यवृत्ति, 210 437. **भगवती आराधना,** 402-404 438. **मूलाचार** वृत्ति, 2/88

439. **नियमसार** 74 440. **धवला** 1/50 441. आवश्यक निर्युक्ति, 995-996 442. **मूलाचार** वृत्ति, 4/155

443. **भगवती आराधना, विजयोदया** टीका 500 444. **मोक्षमार्गप्रकाशक,** पृष्ठ 4 445. **मूलाचार** समीक्षा, पृष्ठ 373-374

446. **मूलाचारवृत्ति,** 155-156 447. **कल्पसूत्र** टीका, 6 448. **प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति,** 249

449. **मूलाचार,** 9/120; दशवैकालिक निर्युक्ति, 1158-159 एवं धन्य मुनिदशा, मंगलायतन विशेषांक संकलन के आधार पर

450. **तत्त्वार्थसूत्र,** 9/24, व्याख्याकार, उपाध्याय श्री श्रुतसागर, सम्पादक, डॉ. सुदीप जैन, प्रकाशक, श्री श्रुतविद्या प्रकाशन, नई दिल्ली; एवं **तत्त्वार्थसूत्र,** 9/24, विवेचनकर्ता, सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी के आधार पर

451. **भावसंग्रह,** 119-131, **गोम्मटसार कर्मकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका,** 574; जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा, पृष्ठ 289, एवं **मूलाचार** समीक्षा, 334-335 के आधार पर

452. देखें, अनगार **धर्मामृत,** 9/76, **मूलाचारवृत्ति,** 10/18, **भगवती आराधना, विजयोदया** टीका, 82-83 एवं 421, आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, 121, **वृहत्कल्पभाष्य,** 63-64, **कल्पसूत्र**टीका, 4, 6, 8, 9, **कल्पमंजरी** टीका, 6, **स्थानांग,** 5/3, प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार, 1/5, **निशीथभाष्य** 11/51-54, **सूत्रकृतांग,** 1/9/14-16, **उत्तराध्ययन,** 20/47 एवं **मूलाचार** समीक्षा, पृष्ठ 336-337 के आधार पर

453. **मूलाचारवृत्ति,** 10/18 454. **प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका एवं तात्पर्यवृत्ति,** 14

455. **प्रवचनसार,** गाथा 245–250 एवं उसकी आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन विरचित टीकाओं के आधार पर

456. **प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका,** गाथा 245 के आधार पर 457. **प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति,** गाथा 245 के आधार पर

458. **प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका,** गाथा 246-247 के आधार पर 459. **प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका,** गाथा 248 के आधार पर

460. **प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका,** गाथा 249 के आधार पर 461. **प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका,** गाथा 250 के आधार पर

462. **प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति,,** गाथा 248 के आधार पर 463. **प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका,** गाथा 251 के आधार पर

464. **प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका,** गाथा 255-258 के आधार पर 465. **प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका,** गाथा 252-254 के आधार पर

466. **प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका,** गाथा 259-260 के आधार पर

467. **प्रवचनसार–सप्तदंशांगी टीका,** क्षुल्लक मनोहर वर्णी, सहजानन्द महाराज, गाथा 245, तथ्यप्रकाश 2, प्रकाशक, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला, रणजीतपुरी, सदर, मेरठ, (1979)

468. भारिल्ल, हुकमचन्द, **प्रवचनसार का सार,** पृष्ठ 362 469. **रयणसार,** 11, 99 470. **प्रवचनसार,** 214

471. **प्रवचनसार,** 241 472. **धवला,** 8/51 473. **तत्त्वार्थसार,** 9/5 474. **धवला** 1/51 475. **भावपाहुड़,** 54-55

476. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** 3/416 477. **अष्टपाहुड**, **दर्शनपाहुड** 18 478. **प्रवचनसार,** 206

479. **अष्टपाहुड**, आचार्य कुन्दकुन्द, भावपाहुड़, गाथा 56, भावार्थ, भाषा वचनिका, पण्डित जयचन्द छाबड़ा, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) (1995)

480. **प्रवचनसार,** 205 481. **मूलाचार,** 206 482. **भावपाहुड़,** 56-60 483. **मूलाचार** 207

484. **भावपाहुड़,** 72 485. **मूलाचारवृत्ति** 10/110 486. **भावपाहुड़,** 122

487. विशेष देखें, **मूलाचार,** 7/95-96, **भगवती आराधना,** 1296-1300, **आगम विषय कोश,** भाग 2, पृष्ठ 465-569

488. **भावपाहुड़,** 14, भावार्थ 489. **भगवती आराधना,** 1296, 1300 490. **भगवती आराधना,** 1950, 1722

491. **व्यवहार भाष्य,** 852–856 492. आगम विषय कोश, पृष्ठ 567 493. **भावपाहुड़,** 14 की उत्थानिका

494. **भगवती आराधना,** 182-186 495. **भावपाहुड़,** 14, **भावार्थ/चारित्रसार,** 1444/2 496. **मूलाचारप्रदीप,** 964-965

497. **भगवती आराधना,** 1308, 1312 498. **व्यवहार भाष्य,** 860, 874 499. **मूलाचारवृत्ति,** 7/96

500. **भावपाहुड़,** 14, भावार्थ 501. **भगवती आराधना,** 1297-1300 502. **व्यवहार भाष्य,** 877-880

503. **मूलाचारप्रदीप,** 963 504. **भगवती आराधना,** 1950, 1721 505. **भावपाहुड़,** 14, **भावार्थ; चारित्रसार,** 144/1

506. **भगवती आराधना,** 1313-1314 507. **भावपाहुड़,** 14, **भावार्थ; चारित्रसार,** 144/1

508. **निशीथ भाष्य (निशीथ सूत्र),** 4353-4355, प्रकाशक, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1982 509. **वही,** 4356-4358

510. **वही,** 4359-4362 511. **वही,** 1010, 1016, 4352 512. **बृहत्कल्पभाष्य,** 4516-4519 513. **भावपाहुड़,** 71

514. **मूलाचार** समीक्षा, 402-403 515. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** 2/589 के आधार पर

516. **मूलाचारप्रदीप,** 966-978 के आधार पर

517. **मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र टीका),** आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी, नौवां अध्याय, सूत्र 2, टीकाकार, रामजी माणेकचन्द दोशी, प्रकाशक, सी. वी. भण्डारी चैरिटेबल ट्रस्ट, बैंगलोर (1998)

518. **वृहद्द्रव्यसंग्रह,** आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, गाथा 57, पृष्ठ 193, टीकाकार, ब्रह्मदेव सूरि, प्रकाशक, श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर 519. **समयसार,** 410-411 एवं भावार्थ 520. **भावपाहुड़,** 68, 111

521. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** 33 522. **मोक्षमार्गप्रकाशक,** सातवाँ अधिकार, पृष्ठ 247-248 523. **मूलाचारवृत्ति,** 10/110

524. देखें, **भावपाहुड़,** 2, 6, 7, 48, 54 55 525. **भावपाहुड़,** 74 526. **भावपाहुड़,** 100 527. **भगवती आराधना,** 770

528. **रयणसार,** 87 529. **धवला,** 1/177 530. **समयसार,** 408-410 531. **मूलाचार,** 900

532. **भावपाहुड़,** 72 533. **समाधिशतक,** 87 534. डॉ. धर्मचन्द जैन90 535. **समयसार, तात्पर्यवृत्ति,** 414, **भावार्थ**

536. **मोक्षमार्गप्रकाशक,** ढुढारी, 9/462 537. **भावपाहुड़** टीका, 2/9 538. **समयसार, तात्पर्यवृत्ति,** 414

539. **परमात्मप्रकाश** टीका, 2/52 540. **मोक्षमार्गप्रकाशक** प्रवचन, भाग 4, 220 541. **चर्चासागर,** चर्चा 69, पृष्ठ 65

542. **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** 633 543. पण्डित द्यानतराय, **चरचा शतक,** 37

544. **मंगलायतन पत्रिका :** धन्य मुनिदशा विशेषांकों के आधार पर 545. शान्तिपथ प्रदर्शन 359 546. **सर्वार्थसिद्धि** 7/22

547. **भगवती आराधना** 206 एवं **पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति** 173 548. **भगवती आराधना** 256-258 व 1674

549. **सागार धर्मामृत** 8/ 23 550. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** 175 551. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** 123

552. **सर्वार्थसिद्धि** 7/22

चतुर्थ अध्याय

अतिचार : स्वरूप एवं विश्लेषण

जहाँ आत्मानुभूतिरूप आनन्द की अनुपम धारा जहाँ बहती हो, त्यागरूप परिणति की अविच्छिन्न लहरें उछलती हों – ऐसे अलौकिक प्रवाहरूप सरोवर में स्नान करते हुए कभी काई (कीचड़) में पैर चले जावे तो वही **अतिचार** है तथा उसे शुद्ध जल से धो लेने पर वह पैर पुनः शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार **प्रायश्चित्त-विधि** अपनाने से उस अशुद्धता या अतिचार की शुद्धि हो जाती है।

प्राणीमात्र का उद्देश्य सुख-प्राप्ति है और वह सुख, मोक्ष में ही मिल सकता है। मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की एकतापूर्वक मोक्षमार्ग पर निश्चल आरूढ़ होने से होती है। यद्यपि मोक्षमार्ग तो एक ही प्रकार का होता है, तथापि उसे निश्चय-व्यवहार नय की अपेक्षा दो प्रकार का कहा जाता है। जहाँ निश्चय मोक्षमार्ग शुद्धोपयोगस्वरूप है और साक्षात् मुक्ति का कारण है; वहीं व्यवहार मोक्षमार्ग शुभोपयोगरूप व्रतादि परिणतिमय है और पुण्यास्रव का कारण है। व्रतों को धारण करने वाले व्रती कहलाते हैं तथा व्रती, माया-मिथ्या-निदान – इन तीन शल्यों से रहित होता है।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा है – **निःशल्यो व्रती**[1] अर्थात् व्रती निःशल्य होता है।

''विविध प्रकार की वेदनारूपी शलाकाओं (सुइयों) के द्वारा जो प्राणियों को छेदती हैं, दुःख देती हैं; वे शल्य कहलाती हैं।.....जैसे – शरीर में चुभे हुए काँटा आदि प्राणियों को बाधा करने वाली शल्य हैं अर्थात् शरीर में चुभा हुआ काँटा प्राणियों को दुःख देता है; उसी प्रकार कर्मोदय विकार भी शारीरिक और मानसिक बाधा का कारण होने से, शल्य की भाँति उपचार से शल्य कहलाता है।''[2]

शल्य तीन प्रकार की होती हैं – माया, मिथ्यात्व और निदान। माया अर्थात् छलकपट, मिथ्यात्व अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धान का अभाव और निदान अर्थात् विषय-भोगों की आकांक्षा का होना। व्रती, केवल हिंसादि की विरतिरूप व्रत से ही नहीं होता, बल्कि उसके इन तीन शल्यों से रहित होना, अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इन शल्यों के सद्भाव में व्रतादि का सम्यक् परिपालन हो ही नहीं सकता। जो व्यक्ति मायाचारी होगा, मिथ्यादृष्टि होगा और विषय-भोगों का आकांक्षी होगा; वह व्रतादि का सम्यक् प्रकार से निर्वहन कैसे करेगा ?

कहा भी है – जिसके घर बहुत घी-दूध-दही का भण्डार हो, वही गोमान अर्थात् गाय वाला कहा जा सकता है तथा विपुल मात्रा मे इनके अभाव में वह बहुत गायों के होते हुए भी गोमान या गाय वाला नहीं कहा जा सकता है; उसी प्रकार सशल्य होने पर व्रतों के रहते हुए भी व्रती नहीं कहा जा सकता है।

उपासकाध्ययन में कहा है –

''दुश्चिन्तनं दुरालापं, दुर्व्यापारं च नाचरेत्।
व्रती व्रतविशुद्ध्यर्थं, मनोवाक्कायसंश्रयम्।।
अभंगानतिचाराभ्यां, ग्रहीतेषु व्रतेषु यत्।
रक्षणं क्रियते शश्वत्तद्भवेत् व्रतपालनम्।।[3]

अर्थात् व्रती पुरुष को अपने व्रतों को शुद्ध रखने के लिए मन में बुरे विचार नही लाना चाहिए। वचन से बुरी बात नहीं कहनी चाहिए और शरीर से बुरी चेष्टा नहीं करनी चाहिए। जो व्रत ग्रहण किये हों, उनमें न तो अतिचार लगने देना चाहिए और न व्रत को खण्डित होने देना चाहिए। इस प्रकार जो व्रतों की रक्षा की जाती है, इसे ही व्रतों का पालन कहा जाता है।''

व्रत का स्मरण न रखते हुए उसे तोड़ डालना, व्रतभंग कहलाता है; इसलिए जो व्रत लो, उसे खूब सोच विचार कर लो, और जब व्रत ले लो तो उसे पूरे प्रयत्न के साथ पालन करना चाहिए। यदि कभी अज्ञान या प्रमाद से व्रत खण्डित हो जाए तो यह सोच कर कि अब तो यह टूट ही गया, उसे छोड़ मत बैठो, बल्कि प्रयत्नपूर्वक उसे फिर धारण करो – ऐसी सावधानता रखने से ही व्रतों का पालन हो सकता है।

इसी प्रकार जब तक व्यवहार सम्यक्त्व, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्रतों में दूषण लगते रहेंगे, तब तक व्यवहार सम्यक्त्व आदि पूर्वक निश्चय सम्यक्त्व आदि की साधना वृद्धिंगत नहीं की जा सकती; अतः इनका निर्दोष होना अत्यन्त आवश्यक है। व्यवहार सम्यक्त्व, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्रतादि में लगने वाले इन्हीं दोषों की अतिचार संज्ञा कही जाती है। अतिचारों की मन्दता-तीव्रता के आधार पर ही उन्हें अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोग की श्रेणियों में विभाजित किया गया है।

जैन आगमिक परम्परा में अतिचार निरूपण

अतिचार के सम्बन्ध में आगम में निम्न प्रकार कथन प्राप्त होते हैं –

''अवश्य-करणीय आवश्यक आदि के न करने पर तथा त्यागने योग्य हिंसा आदि के न त्यागने पर जो पाप लगते हैं, उसे **अतिचार** कहते हैं।''[4]

''व्रत का एकदेश भंग होना, **अतिचार** है।''[5]

''कर्तव्यस्याऽकरणे वर्जनीयस्याऽवर्जने यत्पापं सोऽतिचारः।[6]

अर्थात् किसी करने योग्य कार्य के न करने पर और त्याग करने योग्य पदार्थ के त्याग न करने पर, जो पाप होता है, उसे **अतिचार** कहते हैं।''

''व्रत धारण करने के पश्चात् उसमें दृढ़ता की कमी से परिस्थितिवश दूषण लगाने या उसे अंशरूप में भंग करने को **अतिचार** कहते हैं तथा व्रत लेकर उसकी उपेक्षा करते हुए उसे भंग कर देने को **अनाचार** कहते हैं।.....ये दोष व्रतादि की शुद्धि के प्रतिबन्धक हैं और यथोचित मार्ग को दूषित कर उससे भ्रष्ट कर सकते हैं; अतः हेय हैं।''[7]

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में क्षयोपशम भाव की अस्थिरता के कारण व्रतों की रक्षा का अभिप्राय रखते हुए भी व्रत के एक अंश में क्षति होना, **अतिचार** है।

''सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभंजनम्।
मन्त्र-तन्त्र-प्रयोगाद्यां, पेरप्यूह्यास्तथाऽत्ययाः।।[8]

अर्थात् 'मैं ग्रहण किये हुए अहिंसा व्रत का भंग नहीं करूँगा' – ऐसी प्रतिज्ञा करने वाले श्रावक के व्रत का एक अंश भंग होना अर्थात् अन्तरंग व्रत का खण्डन होना अथवा बहिरंग व्रत का खण्डन होना, उस व्रत का **अतिचार** कहलाता है। तात्पर्य यह है कि निर्दय होना, अन्तरंग व्रत का खण्डन है तथा अन्तरंग अभिप्राय के बिना प्राणघात होना, किसी को दुःख पहुँच जाना आदि बहिरंग व्रत का खण्डन है। लेकिन यदि अन्तरंग और बहिरंग, दोनों व्रतों का खण्डन हो जाए तो **अनाचार** कहलाता है।''

अतिचार का भाव समझाते हुए जैन तत्त्वविद्या में लिखा है –

''मानव-मन की यह दुर्बलता है कि वह अपने जीवन में व्यवहार को मर्यादित व नियन्त्रित करने के लिए जो व्रत-नियम अंगीकार करता है, उसकी विरुद्ध दिशा में जब उसका मन आकर्षित होने लगता है; जैसे – धरती पर बीज बोने के बाद अंकुरोत्पत्ति के साथ ही अनेक प्रकार के खर, पतवार, आदि उग आते हैं, उनकी निदाई-गुड़ाई करनी पड़ती है; उसी प्रकार व्रत, नियम, संयम, आदि अंगीकार करने के बाद भी मनोभूमि में व्रतों को मलिन करने वाली अनेक प्रकार की दुर्भावनाएँ/दुर्वृत्तियाँ उभरने लगती हैं, यही **अतिचार** कहलाते हैं।''[9]

धवलाकार ने भी इस सम्बन्ध में विशेष व्याख्या की हैं, जो मूलतः पठनीय है।[10]

लाटी संहिता में पाण्डे राजमलजी ने **अनाचारसम अतिचार** की चर्चा की है। वहाँ अष्ट मूलगुणों के अन्तर्गत जैन श्रावक के अतिचारों का वर्णन करते हुए निम्न शंका-समाधान प्रस्तुत किया है –

''शंका – कदाचित् यहाँ पर कोई यह शंका करे कि कोई भी जैनी, मद्य-माँस-मधु का साक्षात् सेवन नहीं करता, इसलिए क्या जैनी मात्र के उनका त्याग नहीं हुआ ? अवश्य हुआ; इसलिए सिद्धसाधन होने से आपके त्याग कराने का उपदेश असिद्ध है।

समाधान – यह बात सही नहीं है क्योंकि यद्यपि जैनी इनका साक्षात् भक्षण नहीं करते हैं, तथापि उनके कितने ही अतिचार होते हैं और वे **अतिचार, अनाचारों के समान** हैं, इसलिए धर्मात्मा जीवों को उन अतिचारों का त्याग अवश्य कर देना चाहिए।''[11]

श्वेताम्बर विद्वान् पण्डित सुखलाल संघवी ने तत्त्वार्थसूत्र की विवेचना करते हुए लिखा है –

''ऐसे स्खलन **अतिचार** कहलाते हैं; जिनसे कोई भी स्वीकार किया हुआ गुण मलिन हो जाता है और धीरे-धीरे ह्रास होते-होते जो नष्ट हो जाता है।''[12]

इस प्रकार जो व्रतों का मूलतः घात न कर सके, परन्तु उसे सदोष बना दे, उसे **अतिचार** कहते हैं। निश्चय आत्मानुभूतिरूप कार्य को नहीं करने पर भी ऐसे दोषों का लगना अवश्यंभावी है क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में जीव का उपयोग तो बदलता रहता है और जहाँ मिथ्यात्व-अवस्था में वह उपयोग शुभ-अशुभ भावों में परस्पर बदलता है, वहीं मोक्षमार्ग में आरूढ़ होने के बाद वह उपयोग शुभ और शुद्ध भावों में भी बदलने लगता है। यदि जीव, शुद्ध भाव का उद्यम न करे तो उसका भी उपयोग, शुभ-अशुभ भावों में परिवर्तित होने लगता है।

न्यायाचार्य पण्डित माणिकचन्द्रजी कौन्देय ने श्लोकवार्तिकालंकार में सप्तम अध्याय के सूत्र 31 की टीका में अतिचारों की व्यवस्था के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है –

''सर्वत्र व्रत-रक्षा की अपेक्षा रखते हुए पुरुष के व्रत में दोष लग जाने से अतिचारों की व्यवस्था मानी गई है।.....व्रतों से शुद्ध हो रही आत्मा में स्वल्प संक्लेश करने वाले परिणाम, उस व्रत के **अतिचार** समझे जाते हैं।.....व्रतशोधक और व्रतसंघातक परिणामों से भिन्न थोड़ी मलिनता के कारण हो रहे दोष, **अतिचार** कहलाते हैं।''[13]

सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्दजी शास्त्री ने अतिचार लगने की परिस्थिति को रेखांकित करते हुए तत्त्वार्थसूत्र की टीका में लिखा है –

''ऐसा कोई गुण या व्रत नहीं जो सदाकाल एकसा उज्ज्वल बना रहे। बाह्य निमित्त और परिणामों की निर्मलता और अनिर्मलता के कारण गुण या व्रत में भी निर्मलता और अनिर्मलता उत्पन्न हुआ करती है। यहाँ उत्पन्न हुई यही अनिर्मलता ही **अतिचार** है।''[14]

''**अतिचार** का अर्थ दोष, कलंक या बट्टा लगना होता है।''[15]

पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखते हैं –

''व्रत का ध्यान रखते हुए भी जो उसके एकदेश का भंग हो जाता है, उसे **अतिचार** कहते हैं। अतिचारों की परम्परा का उद्गम तत्त्वार्थसूत्र ही प्रतीत होता है। प्रायः सभी श्रावकाचारों में उसी के अनुसार अतिचार गिनाये हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में क्वचित् अन्तर प्रतीत होता है।

दूसरी व्रत प्रतिमा के धारी श्रावक के लिए तो अतिचार त्याज्य हैं; अतः ये अतिचार तो प्रायः अभ्यासी के लिए ही सम्भव हैं। वही इस प्रकार की मोटी गलतियाँ कर सकता है। इनके पीछे आचार्यों की उदात्त भावना तथा मानव मन की कमजोरियों के प्रति सहिष्णुता का भाव भी रहा है। अतिचार लगाते हुए भी यदि व्रती अपने व्रत की मूल भावना के प्रति जागरूक रहे तो वह अतिचारों को भी छोड़ने में सक्षम हो सकता है। अतिचार के भय से यदि व्रत ही ग्रहण न करे तो वह कभी व्रती नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए जिस व्यक्ति को चोरी की आदत है, यदि वह चोरी करने का व्रत लेता है, किन्तु अपनी आदतवश चोरी न करके भी किसी को चोरी का उपाय बताता है तो उसका यह अपराध क्षम्य ही कहा जाएगा। यही बात सत्य बोलने का व्रत लेकर झूठी गवाही देने वाले के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। किन्तु परिगृहीत और अपरिगृहीत परस्त्री का त्याग करके भी उनका सेवन अतिचार माना गया है – यह खटक सकता है, परन्तु जिसने नया व्रत लिया है, परानी आदतवश यदि कदाचित् भूल हो जाए तो ऐसी स्थिति में ही उसे **अतिचार** की संज्ञा दी जा सकती है। अतिचार छूट नहीं है, दोष है और बार-बार दोष लगाने से व्रत भंग हो सकता है। उनकी ओर से सावधान करने के लिए ही अतिचार कहे गये है।''[16]

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टीका में पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री लिखते हैं –

''सम्यक्त्व या व्रतों में अंशरूप से भंग होता हो, उसी का नाम **अतिचार** है।.....एकदेश व्रत का भंग क्या कहलाता है ? – इसका खुलासा इस प्रकार है कि व्रतों का पालन बहिरंग और अन्तरंग दोनों रूप से होता है। यदि केवल अन्तरंग में व्रतभाव हो और बहिरंग में उसके अनुकूल आचरण न हो तो भी व्रत की रक्षा नहीं हो सकती और न वह व्रतरूप प्रवृत्ति ही कहलायी जा सकती है तथा यदि बाह्य व्रताचरण हो और अन्तरंग में मर्यादित प्रतिज्ञा न हो तो उसे व्रत नहीं कहा जा सकता; इसलिए दोनों अन्तरंग–बहिरंगरूप से

जो पाला जाता है, वही व्रत कहलाता है। उस व्रत में या तो अन्तरंग भावों में कुछ दूषण आता है तो वह अतिचार कहलाता है अथवा बहिरंग प्रवृत्ति में कुछ दूषण आता है तो वह अतिचार कहलाता है और जहां अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार से व्रतरक्षा का भाव नहीं रहता, वहाँ उसे अनाचार कहा गया है अर्थात् व्रतरक्षा का लक्ष्य ही भावों से उठा देना कि मैं व्रत-मर्यादा की कुछ परवाह नहीं करता, तब तो निर्मर्याद-प्रवृत्ति ही अनाचार है, अनाचार में व्रत का सर्वथा भंग हो जाता है। जबकि अतिचार में व्रत-मर्यादा तोड़ी नहीं जाती, किन्तु किसी कारणवश उसके एकदेश में थोड़ा दूषण लगता है।''[17]

अतिचार के पर्यायवाची नामों में एक नाम अपराध भी है। भारतीय दण्ड संहिता में धारा 40 में अपराध की व्याख्या की गई है; उसके अनुसार 'जो कार्य, या कृत्य, विशेष स्थानीय कानून के अन्तर्गत दण्डनीय बताया गया है, वह कार्य अपराध की श्रेणी में आता है।'

''भारतीय दण्ड संहिता में भी अपराध करने वाले के समान उसे दुष्प्रेरित करने वाले, उसका अपराध छिपाने वाले, षड्यन्त्र करने वाले, राजद्रोह करने वाले, गैरकानूनी कार्य करने वाली भीड़ में सम्मिलित होने वाले, झूठे साक्ष्य देने वाले, आश्रय देने वाले, रिश्वत लेने वाले, आदि को भी अपराध करने वालों की तरह समान कोटि का अपराध माना है। इसका मतलब है कि कृत-कारित-अनुमोदना से अपराध को समान माना है। जैसे, धारा 109 में स्पष्ट रूप से कहा है कि 'किसी व्यक्ति को अपराध के लिए दुष्प्रेरित करने वाले को वही दण्ड मिलता है, जो उसे अपराध करने पर मिलता' आदि।''[18]

दोषों की निरूपणा : व्रतों के सन्दर्भ में

व्रतों में दोष चार या पाँच प्रकार से लग सकते हैं; जिन्हें अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोग के रूप में आगम में बताया गया है। चार भेदों का उल्लेख करते हुए आचार्य अमितगति कहते हैं –

''क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनं।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं, वदन्त्यऽनाचारमिहाऽतिसक्तताम्।।[19]

अर्थात् मन की शुद्धि की हानि **अतिक्रम** है, शीलव्रत का उल्लंघन **व्यतिक्रम** है, विषयों में एकदेश प्रवृत्ति **अतिचार** है तथा विषयों में अति-आसक्ति **अनाचार** है।''

इसकी व्याख्या करते हुए पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखते हैं –

''इसमें अतिचार का लक्षण विषयों में प्रवृत्ति कहा है, किन्तु वह प्रवृत्ति व्रत का ध्यान रखते हुए भी कदाचित् होना चाहिए। इसके अनुसार जो अतिचार बतलाये गये हैं, वे प्रायः सब सुघटित हो सकते हैं। असल में तो प्रथम अवस्था अतिक्रम है। मानसिक शुद्धि में क्षति आये बिना त्यागे हुए विषय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती; अतः प्रारम्भ से ही सावधान रहने से अतिचार का प्रसंग नहीं आ सकता। किन्तु उसके लिए व्रती को सतत जागरूक रहना आवश्यक है। जो लोग लौकिक प्रतिष्ठा या भावुकतावश व्रत धारण करते हैं, वे प्रायः बाहर से तो सावधान रहते हैं, किन्तु अन्तरंग से सावधान नहीं रहते; अतः उनके व्रत प्रायः सातिचार ही रहते हैं। संसार शरीर और भोगों से अन्तरंग से उदासीन वही होता है, जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध होता है। तथा सम्यग्दर्शन केवल प्रयत्न-साध्य नहीं है, व्रतों की तरह उसे ऊपर से नहीं ओढ़ा जा सकता और उसके बिना सब व्रताचरण निष्फल है; अतः व्रती को सम्यग्दर्शन की शुद्धि के लिए सदा तत्त्व-चिन्तन में रत रहना चाहिए क्योंकि तत्त्वदृष्टि के बिना सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं होती।''[20]

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक 30 की टीका में उद्धृत एक श्लोक का सन्दर्भ लिया गया है, जो इस प्रकार है –

''अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिः, व्यतिक्रमो यो विषयाऽभिलाषः।
तथाऽतिचारं करणाऽलसत्वं, भंगो ह्यनाचारमिह व्रतानाम्।।[21]

अर्थात् मन की शुद्धि में हानि होना, वह **अतिक्रम** है; विषयों की अभिलाषा होना, वह **व्यतिक्रम** है; इन्द्रियों की असावधानी या व्रतों में शिथिलता होना, वह **अतिचार** है; तथा व्रत का सर्वथा भंग हो जाना, वह **अनाचार** है।''

मूलाचार की आचारवृत्ति टीका में इनकी व्याख्या यत्किंचित् विशेषता के साथ प्रस्तुत की गई है –

''संयत समूह के मध्य में रहते हुए भी जो विषयों की आकांक्षा होती है, वह **अतिक्रम** है; संयत समुदाय को छोड़ कर विषयों के उपकरण का अर्जन करने वाले संयत के **व्यतिक्रम** है; व्रतों में शिथिलता

होना या किंचित् रूप से असंयम का सेवन करना, **अतिचार** है; और व्रतों का भंग होना या सर्वथा स्वेच्छा से प्रवर्तन करना, **अनाचार** है।''[22]

इस विषय में न्यायाचार्य पण्डित माणिकचन्द्रजी कौन्देय लिखते हैं –

''मानसिक शुद्धि की हानि हो जाना, **अतिक्रम** है; विषयों की अभिलाषा होना, **व्यतिक्रम** है; व्रतों की एकदेश रक्षा का अभिप्राय रखते हुए एक अंश की क्षति कर देना, **अतिचार** है; विचारपूर्वक ग्रहण किये गये व्रतों की रक्षा का लक्ष्य नहीं रख कर, पापक्रियाओं में उच्छृंखल प्रवृति करना, **अनाचार** है।''[23]

लाटीसंहिता की टीका में इसी श्लोक का सन्दर्भ लेते हुए पण्डित श्री लालाराम शास्त्री लिखते हैं –

''मन की शुद्धता में कमी लाना, व्रत पालते हुए मन में अशुद्धता लाना **अतिक्रम** है। विषयों की इच्छा रखना अर्थात् जिनका त्याग कर दिया है, उनको सेवन तो न करना किन्तु सेवन करने की इच्छा या लालसा करना **व्यतिक्रम** है। चारित्र के पालन करने में आलस, असावधानी वा प्रमाद करना **अतिचार** है। तथा व्रतों के भंग करने को **अनाचार** है।''

उक्त अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार के साथ आभोग को मिला कर, पाँच प्रकार के दोषों की व्याख्या करते हुए प्रायश्चित्त चूलिका में एक बूढ़े बैल का दृष्टान्त आता है, जो निम्न प्रकार है –

''जैसे, कोई बूढ़ा बैल धान्य के हरे-भरे किसी खेत को देख कर, उसकी बाड़ के समीप बैठा हुआ उसे खाने की मन में इच्छा करता है, यह **अतिक्रम दोष** है; पुनः वह बैठाबैठा ही बाड़ के किसी छिद्र से भीतर मुख डाल कर एक ग्रास धान्य खाने की अभिलाषा करे तो वह **व्यतिक्रम दोष** है; अपने स्थान से उठ कर और खेत की बाड़ को तोड़ कर भीतर घुसने का प्रयत्न करना, **अतिचार दोष** है; पुनः खेत में घुस कर एक ग्रास खाता है और निकल आता है तो वह उसका **अनाचार दोष** है; तथा खेत के स्वामी द्वारा डण्डों से पीटे जाने पर भी घास खाना नहीं छोड़ता है तो **आभोग दोष** कहलाता है।

जिस प्रकार अतिक्रमादि दोषों को बूढ़े बैल पर घटाया गया है; उसी प्रकार से व्रतों पर भी घटित कर लेना चाहिए।''[24]

इस विषय में सिद्धान्ताचार्य पण्डित हीरालालजी के विचार दृष्टव्य हैं –

''जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय का तीव्र उदय होता है तो व्रत, जड़-मूल से ही खण्डित हो जाता है। उसके लिए आचार्यों ने 'अनाचार' नाम का प्रयोग किया गया है। यदि किसी व्रत के लिए 100 अंक मान लिए जावें तो 01 से लेकर 99 अंक तक का व्रत-खण्डन अतिचार की सीमा के भीतर आता है क्योंकि व्रत-धारक की कम से कम एक प्रतिशत अपेक्षा व्रत-धारण में बनी हुई है। यदि वह एक प्रतिशत व्रत-सापेक्षता भी न रहे और व्रत शत-प्रतिशत खण्डित हो जावे तो उसे 'अनाचार' कहते हैं। अनेक आचार्यों ने अतिचार और अनाचार – इन दो के स्थान पर अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार – ऐसे चार विभाग किये हैं।.....

उस व्यवस्था के अनुसार 1 से लेकर 33 अंश तक के व्रत-भंग को **अतिक्रम**, 34 से लेकर 66 अंश तक के व्रत-भंग को **व्यतिक्रम**, 67 से लेकर 99 अंश तक के व्रत-भंग को **अतिचार** और शत-प्रतिशत व्रत-भंग को **अनाचार** समझना चाहिए।

वहीं प्रायश्चित्त-शास्त्र के प्रणेताओं ने उक्त चार के साथ 'आभोग' को बढ़ा करके व्रत-भंग के पाँच विभाग किये हैं। उनके मत से एक बार व्रत-खण्डित करने का नाम अनाचार है और व्रत-खण्डित होने के बाद निःशंक होकर उत्कट अभिलाषा के साथ विषय-सेवन करने का नाम 'आभोग' है। किसी-किसी प्रायश्चित्त-शास्त्रकार ने अनाचार के स्थान पर 'छन्नभंग' नाम दिया है।

इस प्रकार प्रायश्चित्त शास्त्रकारों के मत से 1 से लेकर 25 अंश तक के व्रत-भंग को **अतिक्रम**, 26 से लेकर 50 अंश तक के व्रत-भंग को **व्यतिक्रम**, 51 से लेकर 75 अंश तक के व्रत-भंग को **अतिचार**, 76 से लेकर 99 अंश तक के व्रत-भंग को **अनाचार** और शत-प्रतिशत व्रत-भंग को **आभोग** समझना चाहिए।''[25]

मुनिराजों की भूमिका में भी अतिचारों की सम्भावना

सामान्यतः ऐसी **शंका** व्यक्त की जाती है कि अतिचार, मात्र गृहस्थों को ही लगते हैं क्योंकि वे निचली भूमिका में स्थित हैं; अतः उनकी भूमिका में दोष लगना स्वाभाविक है क्योंकि अभी उनकी एक या दो कषाय चौकडियों का ही अभाव हुआ है, परन्तु विद्यमान कषायों के उदय से उनके परिणामों में स्थिरता नहीं

रह पाती; इसलिए सम्यक्त्व में, अणुव्रतों में, शीलव्रतों में एवं सल्लेखना में एकदेश भंग होने पर अतिचार लग सकते हैं, परन्तु मुनिराज तो महाव्रती हैं, उनको अतिचार कैसे लग सकते हैं ? अतः अतिचार मात्र श्रावकों को ही लगते हैं, मुनिराज को नहीं।

उसका **समाधान** यही है कि सामान्यतः ऐसा जो प्रतीत होता है, उसमें अनुचित कुछ भी नहीं है; तत्त्वार्थसूत्र में भी अतिचारों के प्रकरण में गृहस्थों की मुख्यता से ही वर्णन किया गया है, परन्तु उसका कारण यह नहीं है कि अतिचार, मात्र गृहस्थों के ही होते हैं, मुनियों के नहीं; बल्कि उसका कारण यह कि तत्त्वार्थसूत्र जनसामान्य की मुख्यता से लिखा गया महान ग्रन्थ है और जनसामान्य में गृहस्थ ही आते हैं, मुनि नहीं; अतः वहाँ गृहस्थों की मुख्यता से ही अतिचारों का वर्णन किया गया है, मुनियों की मुख्यता से नहीं। वहाँ मुनिराजों के अतिचारों का वर्णन करने पर गृहस्थों के भ्रमित होने की सम्भावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता है।

तत्त्वार्थसूत्र में अतिचारों की विवेचना में केवल श्रावक को आधार बनाया गया है; इस कारण अनेक विद्वानों का ऐसा मत बन गया कि साधु के महाव्रतों में अतिचार नहीं लगते, केवल श्रावक के अणुव्रतादि में ही अतिचार लगते हैं; परन्तु यह धारणा उचित प्रतीत नहीं होती क्योंकि मुनियों के आचार के निरूपक शास्त्रों में साधुओं के अतिचारों एवं दोषों की विवेचना अत्यन्त सुस्पष्टरूप से की गई है। मेरा ऐसा मानना है कि यद्यपि सामान्य तत्त्वविवेचना के समय अथवा गृहस्थों को साधुओं के अतिचारों से क्या लेना-देना ? अतः तत्त्वार्थसूत्र आदि स्थलों पर केवल श्रावकों के अतिचारों की ही चर्चा की गई है, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि साधुओं की भूमिका में अतिचार लगते ही नहीं हैं।

इस सम्बन्ध में कुछ इसी प्रकार के विचार सिद्धान्ताचार्य पण्डित हीरालालजी शास्त्री, न्यायतीर्थ ने श्रावकाचार संग्रह, चतुर्थ भाग की प्रस्तावना में व्यक्त किये हैं, जो निम्न प्रकार हैं –

''साधुओं के पाँचों पापों का सर्वथा त्याग, नव कोटि से अर्थात् मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से होता है; अतएव उनके व्रतों में किसी प्रकार के अतिचार के लिए स्थान नहीं रहता है, परन्तु श्रावकों के –

1. प्रथम तो सर्व पापों का सर्वथा त्याग सम्भव ही नहीं है।
2. दूसरे हर एक व्यक्ति, नव कोटि से स्थूल भी पापों का त्याग नहीं कर सकता है।
3. तीसरे प्रत्येक व्यक्ति के चारों ओर का वातावरण भी भिन्न-भिन्न प्रकार का रहता है।

इन सब बाह्य कारणों से तथा प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन और नोकषायों के तीव्र उदय से उसके व्रतों में कुछ न कुछ दोष लगता रहता है। अतएव व्रत की अपेक्षा रखते हुए भी प्रमादादि तथा बाह्य परिस्थिति-जनित कारणों से गृहीत व्रतों में दोष लगने का, व्रत के आंशिक रूप से खण्डित होने का और स्वीकृत व्रत की मर्यादा के उल्लंघन का नाम ही शास्त्रकारों ने 'अतिचार' रखा है।''[26]

उक्त विचार सामान्य दृष्टि से उचित प्रतीत होते हैं, परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि साधु का चारित्र, छठे-सातवें गुणस्थान में क्षायोपशमिक चारित्र माना गया है तथा क्षयोपशम भाव का यह स्वरूप ही माना गया है कि वह पूर्ण नहीं होता है, उसमें सर्वत्र देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से दोषों की उपस्थिति मानी गई है।

जैसे, क्षयोपशम सम्यक्त्व में चल-मल-अगाढ़ दोष माने गये हैं; क्षयोपशम ज्ञान पूर्ण नहीं होता; उसी प्रकार क्षयोपशम चारित्र भी दोषयुक्त होता है, उसके दोषों की ही अतिचार आदि संज्ञा, आगम में दी गई है। हाँ, यह कहने में कोई दोष नहीं माना गया है कि जब साधु या श्रावक, क्षायिक भाव या उपशम भाव में स्थित होते हैं, उस समय उन्हें दोष नहीं लगते हैं; उनका चारित्र या सम्यक्त्व निरतिचार मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

यहाँ यह भी माना जा सकता है कि क्षयोपशम चारित्र या क्षयोपशम सम्यक्त्व की अवस्था में भी जब देशघाति स्पर्द्धकों का मन्द उदय होता है, उस समय उनका सम्यक्त्व या चारित्र भी निर्दोष होता है। अथवा उस समय इतना सूक्ष्म दोष होता है कि वह छद्मस्थ के ज्ञान का विषय नहीं बनता है, अतः उसे भी निर्दोष या निरतिचार कहते हैं।

मुनिराजों को भी अतिचार इसलिए लगते हैं क्योंकि उनके भी अभी छठवें-सातवें गुणस्थान में क्षयोपशम चारित्र की अवस्था में मात्र तीन कषाय-चौकडी का ही अभाव हुआ है, संज्वलन कषाय के सद्भाव में उनकी भूमिका के योग्य दोष भी उनको लग सकते हैं।

ध्यान रहे – मुनिराजों में उनसे निचली भूमिका के योग्य दोष नहीं लगते। हाँ, उनसे निचली भूमिका के योग्य दोष लगने पर उनको वे दोष अतिचार न कहला कर, अनाचार कहलाएँगे और उनके दोष की तीव्रता-मन्दता के आधार पर उनके गुणस्थान का गिरना भी सम्भव है – ऐसी अवस्था में बाह्य वेश तो वही रहेगा लेकिन उसे प्रायश्चित्त-विधि से शुद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है और शुद्धोपयोग की भूमिका बढ़ा कर उसे स्थिरता और वृद्धि प्रदान करना भी उतना ही आवश्यक है।

मुनिराजों की अवस्था को चित्रलाचरणरूप प्रतिपादित करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है –

अत्र साकल्यं महत्त्वं च देशसंयतापेक्षया ज्ञातव्यम्, ततः कारणादेव प्रमत्तसंयतः चित्रलाचरण इत्युक्तम्।[27]

अर्थात् छठवें गुणस्थान में सकलचारित्रपना महाव्रतपना, अपने से नीचे वाले देशसंयत गुणस्थान की अपेक्षा जानना चाहिए; अपने से ऊपर के गुणस्थानों की अपेक्षा नहीं; इसलिए ही प्रमत्तसंयत को चित्रलाचरण कहा गया है।

धवला ग्रन्थ में भी छठवें गुणस्थान की अवस्था का चित्रण करते हुए शंका-समाधान के माध्यम से विस्तृत स्पष्टीकरण किया गया है, जो मूलतः द्रष्टव्य है; उसके कतिपय अंश निम्न प्रकार हैं –

''प्रकर्ष से मत्त जीवों को प्रमत्त कहते हैं और अच्छी तरह से विरत या संयम को प्राप्त जीवों को संयत कहते हैं। जो प्रमत्त होते हुए भी संयत होते हैं, उन्हें **प्रमत्तसंयत** कहते हैं।

शंका – यदि छठवें गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्त हैं तो संयत नहीं हो सकते हैं क्योंकि प्रमत्त जीवों को अपने स्वरूप का संवेदन नहीं हो सकता है। यदि वे संयत हैं तो प्रमत्त नहीं हो सकते हैं क्योंकि संयम भाव, प्रमाद के परिहारस्वरूप होता है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है क्योंकि हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म, और परिग्रह – इन पाँच पापों से विरतिभाव को संयम कहते हैं; जो कि तीन गुप्ति और पाँच समितियों से अनुरक्षित है। वह संयम, वास्तव में प्रमाद से नष्ट नहीं किया जा सकता है क्योंकि संयम में प्रमाद से केवल मल की उत्पत्ति होती है।

शंका – छठवें गुणस्थान में संयम में मल उत्पन्न करने वाला ही प्रमाद विवक्षित है, संयम का नाश करने वाला प्रमाद विवक्षित नहीं है – यह बात कैसे निश्चित की जाए ?

समाधान – छठवें गुणस्थान में प्रमाद के रहते हुए संयम का सद्भाव, अन्यथा बन नहीं सकता है, इसलिए निश्चय होता है कि यहाँ पर मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद अभीष्ट है। दूसरे छठवें गुणस्थान में होने वाला स्वल्प कालवर्ती मन्दतम प्रमाद, संयम का नाश भी नहीं कर सकता है क्योंकि सकलसंयम का उत्कृष्टरूप से प्रतिबन्ध करने वाले प्रत्याख्यानावरण के अभाव में संयम का नाश नहीं पाया जाता।''[28]

इसी प्रकार यद्यपि छठवें-सातवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय का क्रमशः तीव्र-मन्द उदय होता है, तथापि छठवें गुणस्थान को औदयिक नहीं माना गया है; बल्कि यहाँ चारित्र या संयम की अपेक्षा क्षायोपशमिकभाव या क्षायोपशमिकचारित्र ही माना गया है। इस सन्दर्भ में धवलाकार के द्वारा लिखित निम्न शंका-समाधान प्रस्तुत है –

''**शंका** – संज्वलन कषाय के उदय से संयम होता है, इसलिए उसे औदयिक नाम से क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान – नहीं, क्योंकि संज्वलन कषाय के उदय से संयम की उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका – तो संज्वलन का व्यापार कहाँ पर होता है ?

समाधान – प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय (और सदवस्थारूप उपशम) से उत्पन्न हुए संयम में, मल उत्पन्न करने में संज्वलन का व्यापार होता है।''[29]

इस प्रकार छठवें-सातवें गुणस्थान में पाये जाने वाले क्रमशः प्रमाद और कषाय तो औदयिक भाव हैं, परन्तु चारित्र या संयम को तो क्षायोपशमिक भाव ही माना गया है। जैसे, इन गुणस्थानों में ज्ञान क्षायोपशमिक भाव है।

प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने शुभोपयोगी, अशुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी श्रमण का स्वरूप बताते हुए लिखा है –

''विशिष्ट क्षयोपशमदशा में रहने वाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से शुभ उपराग को ग्रहण करने से, परमभट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर – अर्हत्, सिद्ध, और साधु के श्रद्धान करने में तथा समस्त जीवसमूह की अनुकम्पा का आचरण करने में प्रवृत्त हुआ उपयोग **शुभोपयोग** है।''[30]

''विशिष्ट उदयदशा में रहने वाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से अशुभ उपराग को ग्रहण करने से, परमभट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर – अर्हत्, सिद्ध, और साधु को छोड़ कर, अन्य उन्मार्ग की श्रद्धा करने में तथा विषय-कषाय, कुश्रवण, कुविचार, और कुसंग और उग्रता का आचरण करने में प्रवृत्त हुआ उपयोग **अशुभोपयोग** है।''[30]

''जो जीव, श्रामण्य परिणति की प्रतिज्ञा करके भी **कषाय अंश के जीवित होने से,** समस्त परद्रव्यों की निवृत्ति करके, सुविशुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वभाव वाले आत्मतत्त्व की परिणतिरूप शुद्धोपयोग भूमिका में (अप्रमत्त गुणस्थान में) आरोहण करने में तत्काल असमर्थ हैं, लेकिन जो शुद्धोपयोग भूमिका के निकट (प्रमत्त गुणस्थान में) निवास कर रहे हैं; कषाय के कारण जिनकी शक्ति कुण्ठित (क्षीण) है, परन्तु जो शुद्धोपयोग भूमिका में (सातवें गुणस्थान और उससे आगे) जाने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित मन वाले हैं – ऐसे मुनि, **शुभोपयोगी श्रमण** हैं।''[31]

शुभोपयोग और अशुभोपयोग की व्याख्या में क्रमशः प्रयुक्त **विशिष्ट-क्षयोपशम-दशा-विश्रान्त और विशिष्ट-उदय-दशा-विश्रान्त** – इन पदों का तथ्यप्रकाश करते हुए ; क्षुल्लक मनोहर वर्णी ने प्रवचनसार की सप्तदशांगी टीका में स्पष्ट लिखा है –

''1. शुभ उपराग का निमित्त कारण मोहनीयकर्म की क्षयोपशमदशा है।

2. शुभोपयोग का निमित्त विशिष्ट क्षयोपशमदशा में रहने वाला मोहनीयकर्म है।

3. अशुभोपयोग या अशुभ उपराग का निमित्त कारण मोहनीयकर्म का उदयविशेष है।''[32]

श्रावकों की भूमिका में होने वाले संयतासंयमभाव की अवस्था

इसी प्रकार संयमासंयमभाव के भी क्षायोपशमिक होने के सम्बन्ध में भी धवलाकार का निम्न कथन द्रष्टव्य है –

''जो संयत होते हुए भी असंयत होते हैं, उन्हें संयतासंयत कहते हैं।

शंका – जो संयत होता है, वह असंयत नहीं हो सकता है और जो असंयत होता है, वह संयत नहीं हो सकता क्योंकि संयम भाव और असंयम भाव का परस्पर विरोध है; इसलिए यह गुणस्थान नहीं हो सकता है?

समाधान – विरोध दो प्रकार का है – परस्पर-परिहार-लक्षण विरोध और सहानवस्थान-लक्षण विरोध। इनमें से एक द्रव्य के अनन्त गुणों में परस्पर-परिहार-लक्षण विरोध इष्ट ही है क्योंकि यदि गुणों का, एक-दूसरे का परिहार करके अस्तित्व नहीं माना जावे तो उनके स्वरूप की हानि का प्रसंग आता है; परन्तु इतने मात्र से गुणों में सहानवस्थान-लक्षण विरोध सम्भव नहीं है। यदि नाना गुणों का एक साथ रहना ही विरोधस्वरूप मान लिया जाए तो वस्तु का अस्तित्व ही नहीं बन सकता है क्योंकि वस्तु का अस्तित्व अनेकान्त-निमित्तक ही होता है।

दूसरे, विरुद्ध दो धर्मों की उत्पत्ति का कारण यदि समान अर्थात् एक मान लिया जाए तो विरोध आता है, परन्तु संयम भाव और असंयम भाव – इन दोनों को एक आत्मा में स्वीकार कर लेने पर भी कोई विरोध नहीं आता है क्योंकि उन दोनों की उत्पत्ति के कारण भिन्न-भिन्न हैं। संयम भाव की उत्पत्ति का कारण त्रस-हिंसा से विरति भाव है और असंयम भाव की उत्पत्ति का कारण स्थावर-हिंसा से अविरति भाव है; इसलिए संयतासंयत नाम का पाँचवाँ गुणस्थान बन जाता है।

शंका – औदयिक आदि पाँच भावों में से किस भाव के आश्रय से संयमासंयम भाव उत्पन्न होता है?

समाधान – संयमासंयम भाव क्षायोपशमिक है क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के वर्तमान-कालिक सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय होने से और आगामी काल में उदय में आने योग्य उन्हीं के सदवस्थारूप

उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से संयमासंयमरूप अप्रत्याख्यान चारित्र उत्पन्न होता है।''[33]

अतिचारों का वर्णन करने का प्रयोजन

यहाँ एक और **शंका** उठना स्वाभाविक है कि मोक्षमार्ग में उत्कृष्ट आचरण का ही कथन होना चाहिए, परन्तु यहाँ व्रतों में शिथिलता का वर्णन किया जा रहा है, उससे कोई जीव स्वच्छन्दता का पोषण कर, पथभ्रष्ट भी हो सकता है।

इस शंका का **समाधान**, भगवती आराधना में जो अतिचारों का वर्णन करने के कारण बताए गये हैं, उनके द्वारा किया जा सकता है, उन कारणों को निम्न प्रकार समझ सकते हैं –

1. अपनी भूमिका का ज्ञान कराने के लिए।
2. प्रमाद से बचाने के लिए।
3. व्रतों की रक्षा के लिए।
4. दर्शन-ज्ञान-चारित्र में लगे दोषों की शुद्धि के लिए।
5. कर्मों के अभाव के लिए।
6. दुःखों के क्षय के लिए।
7. दीक्षा से लेकर आज तक के सभी दोषों की निवृत्ति के लिए।

वास्तव में सभी दोषों के अभाव के लिए ही दोषों/अतिचारों का वर्णन किया गया है। इस विषय को आध्यात्मिक कविवर पण्डित दौलतरामजी ने इस प्रकार लिखा है –

अष्ट अंग अरु दोष पचीसों, तिन संक्षेप हि कहियै।
बिन जानें तैं दोष-गुनन को, कैसे तजिये-गहिये।।[34]

अर्थात् जब तक हम दोषों को पहचानेंगे ही नहीं, तब तक उन्हें छोडने का प्रयत्न कैसे करेंगे ? अतिचार बताने का एक उद्देश्य यह भी है कि व्रतों का निर्दोष पालन हो और अतिचारों के सम्बन्ध में उचित समझ विकसित हो सके, ताकि उन दोषों का निवारण, उसके मूल कारण को पहचान कर, उचित रीति से किया जा सके। यहाँ विशेष सावधानी रखने हेतु निम्न बिन्दुओं को ध्यान में रखने की आवश्यक्ता है –

1. जिन गृहस्थ या मुनि के व्रतों में यत्किंचित् दोष लग गया हो, वे यह न समझें कि अब तो मैं भ्रष्ट हो गया हूँ और अब मुझे पद छोड़ देना चाहिए; बल्कि वे यह समझें कि मुझसे यह जाने-अनजाने भूल हो गई है, अतः मुझे सावधान हो जाना चाहिए। अब आगे मैं ऐसी भूल नहीं दुहराऊँगा तथा लगे हुए दोषों को प्रायश्चित्त-विधि से स्वयं या गुरु की आज्ञा से शुद्ध होकर, पुनः दृढता को प्राप्त करूँगा।
2. जैसे – बालक, कहने योग्य कार्य हों या न कहने योग्य कार्य हों, सभी को सरल भाव से कह देता है, कुछ भी छिपाता नहीं है; वैसे ही श्रावक एवं साधुओं को भी मनोगत कुटिलता और वचनगत झूठ को त्याग कर, अपना अपराध कहना चाहिए।
3. जैनधर्म में अतिचार बताने का उद्देश्य व्रतों में दृढ़ता उत्पन्न कराना है, न कि पथभ्रष्ट होने का रास्ता दिखाना है।
4. अतिचार बताने से कोई श्रावक या साधु, यह भी न समझें कि हमें उक्त अतिचार करने की छूट मिल गई है; बल्कि वे यह सोचें कि हमें स्वच्छन्दता छोड कर, दोषों का परिज्ञान कर, दोषों की जड़ पहचान कर, दोषों का परिहार करना चाहिए।

अतिचार के हेतु

''आलोचना, प्रतिक्रमण आदि चारित्र की विराधना से सम्बन्धित सर्व अतिचार, संज्वलन कषाय के उदय से होते हैं। तथा बारह कषायों – अनन्तानुबन्धी चतुष्क, अप्रत्याख्यानचतुष्क, एवं प्रत्याख्यानचतुष्क के उदय से मूल का छेद होता है अर्थात् आठवें मूल प्रायश्चित्त से जिन दोषों का समूह दूर किया जाता है, उन्हें मूलछेद कहते हैं। अथवा जिन बारह कषायों के उदय से मूलतः सर्व चारित्र का उच्छेद होता है, उन्हें मूलछेद कहते हैं अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व का नाश होता है, अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से देशविरतिरूप अणुव्रतों का नाश होता है तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सर्वविरतिरूप महाव्रतों का नाश होता है।''[35]

अतिचार सामान्य के भेद

अतिचारों के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप, आदि के परिपालन में होने वाले दोषों की अपेक्षा; श्रावकों के देशत्याग और मुनियों के सर्वत्याग में होने वाले दोषों की अपेक्षा; मन-वचन-काय के निमित्त से होने वाले दोषों की अपेक्षा; कृत-कारित-अनुमोदना आदि के निमित्त आदि अनेक अपेक्षाओं से अनेकों भेद सम्भव हैं।

''अत्यन्त संक्षिप्तरूप में जैसे व्रतों के एकदेश व्रत और सर्वदेश व्रत – ऐसे दो भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार अतिचार के भी सामान्यतया दो भेद किये गये हैं – देशातिचार और सर्वातिचार। उपर्युक्त सम्यग्दर्शन आदि विषयों में मन-वचन-काय या कृत-कारित-अनुमोदना आदि में से किसी एक के द्वारा दोष उत्पन्न होना, देशातिचार है तथा सर्व प्रकार से दोष उत्पन्न होना, सर्वातिचार या सर्वत्यागातिचार है।''[36]

सामान्यतः हम देशातिचार को अतिचार और सर्वातिचार को अनाचार कह सकते हैं क्योंकि देशातिचार में आंशिकरूप से भंग स्वीकार किया गया है, अतः अतिचार कहना उचित है लेकिन सर्वातिचार में पूर्णरूप से भंग होने के कारण, उसे अनाचार कहना उचित है।

अतिचार के चौबीस भेद

भगवती आराधना की विजयोदया टीका में विस्तार से अतिचार के भेदों की चर्चा भी गई है, उसके आधार पर क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी ने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में अतिचारों के चौबीस भेदों की चर्चा की है। उन अतिचारों के चौबीस भेद निम्न प्रकार हैं –

1. **अज्ञान अतिचार** – अज्ञ जीवों का आचरण देख कर, स्वयं भी वैसा आचरण करना अथवा उसमें क्या दोष है ? – इसका ज्ञान न होना अथवा अज्ञानी के द्वारा लाये उद्गम आदि दोषों से सहित उपकरणादिकों का सेवन करना, **अज्ञान** अतिचार है।
2. **अनाभोगकृत अतिचार** – उपयोग देकर भी जिसे अतिचारों का सम्यग्ज्ञान नहीं होता, उसे **अनाभोगकृत** अतिचार कहते हैं अथवा दूसरी तरफ मन लगने पर जो अतिचार होता है, वह **अनाभोगकृत** अतिचार है।
3. **आपात अतिचार** – नदीपूर, अग्नि लगना, महा वायु बहना, वृष्टि होना, शत्रु के सैन्य से घिर जाना इत्यादि कारणों से होने वाले अतिचारों को **आपात** अतिचार कहते हैं।
4. **आर्त अतिचार** – रोग, शोक या वेदना से व्यथित होना, **आर्त** अतिचार है।
5. **उपधि अतिचार** – उपधि या उवधि का अर्थ माया होता है। गुप्त रीति से मायाचार में प्रवृत्ति करना, दाता के घर का शोध करके अन्य मुनि जाने के पूर्व ही वहाँ आहारार्थ प्रवेश करना अथवा किसी कार्य के निमित्त से दूसरे नहीं जान सकें; इस प्रकार से प्रवेश करना, मिष्ट पदार्थ खाने को मिलने पर मुझे विरस अन्न खाने को मिला – ऐसा कहना, रोगी मुनि या आचार्य की वैयावृत्त्य के लिए श्रावकों से कुछ चीज मांग कर, उसका स्वयं उपयोग करना, **उपधि** अतिचार है।
6. **उपचार अतिचार** – यह ठण्डी हवा मेरे शरीर को पीड़ा देती है – ऐसा विचार कर, चटाई से शरीर को ढँकना, अग्नि का सेवन करना। ग्रीष्म ऋतु का ताप मिटाने के लिए वस्त्र ग्रहण करना, उवटन लगाना, उसे साफ करना। तैलादिकों से कमण्डलु आदि साफ करना, धोना। उपकरण नष्ट होगा – इस भय से उसे अपने उपयोग में न लाना तथा पिच्छिका झड जाएगी – इस भय से उससे जमीन व पुस्तक आदि साफ न करना; **उपचार** अतिचार है।
7. **गौरव अतिचार** – ऋद्धि का त्याग करने में असमर्थ होना, ऋद्धि में गौरव समझना। परिवार में आदर करना, प्रिय भाषण करके और उपकरण देकर, परकीय वस्तु अपने वश करना, इसको **ऋद्धि गौरव** कहते हैं। इष्ट रस का त्याग न करना और अनिष्ट रस में अनादर रखना; इसको **रस गौरव** कहते हैं। अतिशय भोजन करना, अतिशय सोना, इसको **सात गौरव** कहते हैं। इन सबकी **आलोचना** करनी चाहिए।
8. **तित्तिणदा अतिचार** – रस में आसक्त होना और वाचाल होना; इसको **तित्तिणदा** अतिचार कहते हैं।
9. **देशातिचार** – मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना के विकल्पों से देशातिचार नाना प्रकार का होता है।

10. **परवश अतिचार** – परवश होने से जो अतिचार होते हैं, उनका विवेचन इस प्रकार है – उन्माद, पित्त, पिशाच इत्यादि कारणों से परवश होने पर अतिचार होते हैं। अथवा परिवारीजनों के पकडने पर बलात्कार से इत्र, पुष्प वगैरह का सेवन किया जाना, त्यागे हुए पदार्थों का भक्षण करना, रात्रि भोजन करना, मुख को सुगन्धित करने वाला पदार्थ ताम्बूल वगैरह भक्षण करना, स्त्री अथवा नपुंसकों के द्वारा बलात्कार होने पर ब्रह्मचर्य का विनाश होना, ऐसे कार्यों के परवश होने पर उक्त अतिचार लगते हैं। इनकी आलोचना करना क्षपक का कर्तव्य है।

11. **पालिकुंचन अतिचार** – द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से जो अतिचार हुए हों, उनका अन्यथा कथन करना; उसको **पालिकुंचन** कहते हैं। जैसे, सचित्त पदार्थ का सेवन करके अचित्त का सेवन किया – ऐसा कहना या अचित्त पदार्थ का सेवन करके सचित्त का सेवन किया – ऐसा कहना **द्रव्य पालिकुंचन** अतिचार है। वसति में कोई कार्य किया हो तो 'मैंने यह कार्य रास्ते में किया' – ऐसा कहना **क्षेत्र पालिकुंचन** अतिचार है। सुभिक्ष में किया हुआ कृत्य, दुर्भिक्ष में किया था – ऐसा कहना तथा दिन में कोई कृत्य करने पर भी मैंने रात में अमुक कार्य किया था – ऐसा कहना **काल पालिकुंचन** अतिचार है। अकषाय (मन्द) भाव से किये हुए कृत्य को तीव्र परिणाम से किया था – ऐसा कहना **भाव पालिकुंचन** अतिचार है। इन सभी दोषों की आलोचना करनी चाहिए।

12. **प्रदोष अतिचार** – संज्वलन कषायों का तीव्र परिणमन होना अर्थात् उनका तीव्र उदय होना। जल, धूलि, पृथिवी और पाषाण रेखा तुल्य – क्रोध, मान, माया और लोभ में प्रत्येक के चार-चार भेद हैं। इन सोलह कषायों से होने वाले अतिचार को **प्रदोष** अतिचार कहते हैं।

13. **प्रमाद अतिचार** – वाचना, पृच्छना, आदि स्वाध्याय तथा सामायिक वन्दनादि आवश्यक क्रियाओं में अनादर आलस्य करना **प्रमाद** नाम का अतिचार है।

14. **भय अतिचार** – एकान्त स्थान में वसति होने से सर्प, दुष्ट पशु, वाघ इत्यादिक प्राणी प्रवेश करेंगे – इस भय से वसति के द्वार बन्द करना, **भय** अतिचार है।

15. **मीमांसा परीक्षा अतिचार** – अपना बल और दूसरे के बल में कम और ज्यादा किसका है ? इसकी परीक्षा करना; इसे **मीमांसा** अतिचार कहते हैं। जैसे – फैले हुए हाथ को समेट लेना, संकुचित हाथ को फैला लेना, धनुष की डोरी लगा कर सज्ज करना, पत्थर फेंकना, माटी का ढेला फेंकना, बाधा देना, मर्यादा-बाड़ को उल्लंघना, कण्टकादि को लांघ कर गमन करना, पशु-सर्प वगैरह प्राणियों को मन्त्र की परीक्षा करने के लिए पकड़ना और सामर्थ्य की परीक्षा करने के लिए अंजन और चूर्ण का प्रयोग करना, द्रव्यों का संयोग करने से त्रस और एकेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है या नहीं, इसकी परीक्षा करना, इन कृत्यों को परीक्षा कहते हैं – ऐसे कृत्य करने से व्रतों में दोष उत्पन्न होते हैं।

16. **वचन अतिचार** – पालिकुंचन अतिचार में वचन-सम्बन्धी अतिचारों का कथन किया जा चुका है, अतः वचन अतिचार का स्वरूप वहाँ से समझना चाहिए।

17. **वसति अतिचार** – वसति का तृण कोई पशु खाता हो तो उसका निवारण करना, वसति भग्न होती हो तो उसका निवारण करना, बहुत से व्यक्ति मेरी वसति में नहीं ठहर सकते – ऐसा भाषण करना, बहुत मुनि प्रवेश करने लगें तो उन पर क्रुद्ध होना, बहुत यतियों को वसति मत दो – ऐसा कहना, वसति की सेवा करना **वसति** अतिचार है। अथवा अपने कुल के मुनियों से सेवा कराना, निमित्तादिकों का उपदेश देना, ममत्व से ग्राम-नगर में अथवा देश में रहने का निषेध न करना, अपने सम्बन्धी यतियों के सुख से अपने को सुखी और उनके दुःखों से अपने को दुःखी समझना, **वसति** अतिचार है।

18. **विनय अतिचार** – पार्श्वस्थादि मुनियों की वन्दना करना, उनको उपकरणादि देना, उनका उल्लंघन करने की सामर्थ्य न रखना, इत्यादि कृत्यों से जो दोष होते हैं, उन्हें **विनय** अतिचार कहते हैं। उनकी आलोचना करनी चाहिए।

19. **शंका अतिचार** – पिच्छिका वगैरह उपयोगी द्रव्यों में ये सचित्त हैं या अचित्त हैं – ऐसी शंका होने पर भी उन्हें मोड़ना, फोड़ना, भक्षण करना। आहार, उपकरण और वसति – ये पदार्थ उद्गमादि दोष रहित हैं अथवा नहीं हैं – ऐसी शंका आने पर उनको स्वीकार करना, **शंका** अतिचार है।

20. **सर्व अतिचार** – व्रत का सम्पूर्ण भंग हो जाना, **सर्व** अतिचार है।
21. **सहसा अतिचार** – अशुभ वचन और अशुभ विचारों में वचन और मन की अविचारपूर्वक प्रवृत्ति होना, **सहसा** अतिचार है।
22. **स्नेह अतिचार** – शरीर, उपकरण, वसति, कुल, गाँव, नगर, देश, बन्धु और पार्श्वस्थ मुनि; इनमें 'ये मेरे हैं' – ऐसा भाव उत्पन्न होना, स्नेह है; इससे उत्पन्न हुए दोषों को **स्नेह** अतिचार कहते हैं।
23. **स्वप्न अतिचार** – स्वप्न में अयोग्य पदार्थ का सेवन होना, उसे **स्वप्न** अतिचार कहते हैं।
24. **स्वयंशोधक अतिचार** – आचार्य के पास आलोचना करने पर आचार्य के प्रायश्चित्त देने से पूर्व ही स्वयं यह प्रायश्चित्त मैंने लिया है – ऐसा कह कर, जो स्वयं प्रायश्चित्त लेता है, उसे **स्वयंशोधक** अतिचार कहते हैं।[37]

सम्यग्दर्शन के अतिचार

अतिचार का सामान्य विवेचन करने के उपरान्त अब विस्तार से अतिचारों का कथन करते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में अतिचारों का वर्णन मुख्यतः श्रावकों या अणुव्रतों की मुख्यता से किया गया है। यद्यपि महाव्रतों, समितियों आदि के अतिचारों का वर्णन भी मूलाचार, अनगार धर्मामृत, आदि ग्रन्थों में किया गया है, तथापि यहाँ प्रथम निचली भूमिका की अपेक्षा वर्णन करते हैं। अणुव्रतों का भी पालन पाँचवें गुणस्थान में होता है, अतः सर्व प्रथम चतुर्थ गुणस्थान में उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन की अपेक्षा अतिचारों का वर्णन करते हैं। सम्यग्दर्शन के अतिचारों का कथन भी मुख्यतः क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की अपेक्षा किया जाता है तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ से लेकर सप्तम गुणस्थान तक पाया जाता है, अतः इन सम्यग्दर्शन के अतिचारों की सम्भावना भी उक्त चारों गुणस्थानों तक रह सकती है – ऐसा समझना चाहिए।

''सम्यग्दर्शन, धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है, मोक्ष-महल की पहली सीढ़ी है; इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते; अतः भव्य जीवों को यह उचित है कि जैसे बने, वैसे आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझ कर, सम्यग्दर्शनरूपी रत्न से अपनी आत्मा को भूषित करे और सम्यग्दर्शन को निरतिचार बनावें। धर्मरूपी कमल के मध्य में सम्यग्दर्शनरूपी नाल शोभायमान है; निश्चय व्रत, शील इत्यादि उसकी पंखुडियाँ हैं। इसलिए गृहस्थों और मुनियों को इस सम्यग्दर्शनरूपी नाल में अतिचार नहीं आने देना चाहिए।

शुद्धात्मस्वभाव की प्रतीतिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन के सद्भाव में भी इन अतिचारों के माध्यम से सम्यग्दर्शन सम्बन्धी व्यावहारिक दोष होते हैं, तथापि वहाँ मिथ्यात्व-सम्बन्धी प्रकृतियों का बन्ध भी नहीं होता।[38]

यद्यपि अतिचार तो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र, तीनों में लग सकते हैं, परन्तु आचार्यों ने सम्यग्दर्शन के अतिचारों को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है क्योंकि यदि सम्यक्त्व होगा तो ज्ञान और चारित्र के अतिचार सरलता से दूर हो जाएँगे, लेकिन यदि सम्यक्त्व की मलिनता जल्दी दूर नहीं हुई तो वह नासूर बन जाएगी और वह जीव, मोक्षमार्ग से अत्यन्त दूर चला जाएगा।

इस विषय को आचार्य कुन्दकुन्द ने अत्यन्त स्पष्टता से अभिव्यक्त किया है –

''दंसणभट्टा भट्टा, दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा, दंसणभट्ट ण सिज्झंति।।[39]

अर्थात् जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वही वास्तव में भ्रष्ट हैं क्योंकि जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, उनको कभी निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती अर्थात् जो चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे तो जल्दी सुधर जाएँगे, लेकिन जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे जल्दी नहीं सुधरेंगे।

सम्यग्दर्शन के अतिचारों को परिभाषित करते हुए तत्त्वार्थराजवार्तिक में कहा है –

''दर्शनमोह के उदय से तत्त्वार्थश्रद्धान से विचलित होना, सम्यग्दर्शन का अतिचार है। अतिक्रम भी इसी का नाम है।''[40]

सम्यग्दर्शन में अतिचार क्यों लगते हैं – इसका उत्तर देते हुए आचार्य विद्यानन्दि लिखते हैं –

''दर्शनमोहनीय कर्म की देशघाति सम्यक्त्वप्रकृति का उदय होने पर क्षयोपशम सम्यक्त्व में ये अतिचार सम्भवित होते हैं। शंका आदि करने वाले जीव के सम्यग्दर्शन गुण की रक्षा तो रही आती है परन्तु एकदेशरूप से सम्यक्त्व का भंग भी हो जाता है।''[41]

सम्यग्दर्शन के प्रमुख पाँच अतिचार

सम्यग्दर्शन के अतिचारों की चर्चा करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है –

शंका-कांक्षा-विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसा-संस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः।[42]

अर्थात् शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि की मन से प्रशंसा करना और अन्यदृष्टि की वचन से संस्तुति करना – ये सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं।

भगवती आराधना में सम्यक्त्व के पाँच अतिचारों में अन्यदृष्टि-संस्तव के स्थान पर अनायतन-सेवा को अतिचार बताने वाली गाथा इस प्रकार है –

''सम्मत्तादीचारा, संका कंखा तहेव विदिगिंछा।
परदिट्ठीण पसंसा, अणायदणसेवणा चेव।।[43]

अर्थात् सम्यक्त्व के पाँच अतिचार हैं – शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परदृष्टि-प्रशंसा, और अनायतन-सेवा।''

तात्पर्य यह है कि ये सम्यग्दर्शन के निम्न पाँच अतिचार अर्थात् मलदोष हैं, वे टालने योग्य हैं –

1. **शंका** अर्थात् तत्त्वों में या भगवान के वचनों में संशय या शंका करना।
2. **कांछा** अर्थात् संसार के भोगों की या सुन्दर आहार, स्त्री, वस्त्र, आभरण, सुगन्धित माला, आदि विषयों में आसक्ति करना या उनकी आगामी काल में वांछा करना अथवा साधना के फलस्वरूप किसी अभ्युदय की आकांक्षा करना।
3. **विचिकित्सा** अर्थात् मलिन वस्तु को देख कर या दुःखकारी क्षेत्र-काल आदि देख कर या अशुभकर्म का उदय देख कर, ग्लानि करना अथवा मुनियों के शरीर को देख कर, ग्लानि करना अथवा विवेक को नष्ट होने देना।
4. **परदृष्टि-प्रशंसा** अर्थात् मिथ्यादृष्टि का तप, ज्ञान, विद्या, क्रिया, आदि की मन से प्रशंसा करना अथवा दूसरों के सदोष सिद्धान्तों की अनावश्यक प्रशंसा करना।
5. **अनायतन-सेवा** अर्थात् मिथ्यात्व और मिथ्यात्व के धारक, मिथ्याज्ञान और मिथ्याज्ञान के धारक तथा मिथ्याचारित्र और मिथ्याचारित्र के धारक – ये छह प्रकार के धर्म के आयतन या स्थान नहीं हैं; इसलिए उन्हें अनायतन कहते हैं। इनका सेवन करना, अनायतन-सेवा कहलाती है।''[44]

इसी प्रकार पद्मपुराण में पाँचवें अतिचार के स्थान पर 'प्रत्यक्ष ही उदार मनुष्यों में दोषादि लगाना' कहा गया है।

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचारों को किंचित् परिवर्तन के साथ पण्डित बनारसीदासजी ने निम्न प्रकार से बताये हैं –

''लोक हास भय, भोग रुचि, अग्र सोच थिति मेव।
मिथ्या आगम की भगति, मृषा दर्सनी सेव।।[45]

अर्थात् लोक-हास्य का भय अथवा सम्यक्त्वरूप प्रवृत्ति करने में लोगों की हँसी का भय, इन्द्रियों के विषयों को भोगने में अनुराग, आगामी काल की चिन्ता, कुशास्त्रों की भक्ति और कुदेवों की सेवा – ये सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं।

सम्यक्त्व-नाश के पाँच कारण

इसी प्रकार समयसार नाटक में सम्यक्त्व-नाश के पाँच कारण गिनाये हैं, उन्हें हम सम्यक्त्व के अनाचार-सम्बन्धी दोषों के अन्तर्गत रख सकते हैं –

''ग्यान गरब, मति मंदता, निठुर वचन उद्गार।
रुद्र भाव, आलस दसा, नास पंच परकार।।[46]

अर्थात् ज्ञान का अभिमान, बुद्धि की हीनता, निर्दय वचनों का भाषण, तीव्र क्रोध का परिणाम और प्रमाद – ये पाँच, सम्यक्त्व के नष्ट होने में कारणभूत हैं।

सम्यग्दर्शन के आठ अतिचार क्यों नहीं?

शंका – सम्यग्दर्शन के आठ गुण होते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं – 1. निःशंकित, 2. निःकांक्षित, 3. निर्विचिकित्सा, 4. अमूढ़दृष्टि, 5. उपगूहन, 6. स्थितिकरण, 7. वात्सल्य और 8. प्रभावना। जबकि सम्यग्दर्शन के अतिचार केवल पाँच ही कहे गये हैं।

उसका **समाधान** यह है कि तत्त्वार्थसूत्र में सर्वत्र अतिचार पाँच-पाँच ही कहे हैं; अतः सम्यग्दर्शन के उक्त आठ गुणों से सम्बन्धित दोषों को इन पाँच अतिचारों में ही अन्तर्भाव किया गया है। पहले तीन अतिचार तो प्रारम्भिक तीन गुणों से सम्बन्धित ही हैं तथा बाकी के दो अतिचारों में अन्तिम पाँच गुणों के दोषों का समावेश होता है।

यही कारण है कि हरिवंशपुराण में तो स्पष्टतः आठ अतिचार ही बताये गये हैं।[47]

इस सम्बन्ध में आचार्य विद्यानन्दि के विचार द्रष्टव्य हैं –

''ननु च न पंचाऽतिचारवचनं युक्तमष्टांगत्वात् सम्यग्दर्शनस्याऽतिक्रमणानां तावत्त्वमिति चेत्, न अत्रैवाऽन्तर्भावात्, निःशंकितत्वाद्यष्टांगविपरीताऽतिचाराणामष्टविधत्वप्रसंगे त्रयाणां वात्सल्यादिविपरीताना-मवात्सल्यादीना- मन्यदृष्टिप्रशंसादीनां सजातीयानां तत्रैवाऽन्तर्भावात्। व्रताद्यतीचाराणां पंचसंख्याव्याख्यान-प्रकाशाणामपि पंचसंख्याऽभिधानात्।

शंका – सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचारों का वचन युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन का अतिक्रमण करने वाले दोषों का भी आठ प्रकारपना ही युक्त है ?

समाधान – ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उन सभी का इनमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। निःशंकितत्व आदि आठ अंगों से विपरीत अतिचारों के आठ प्रकार होने के प्रसंग में वात्सल्य आदि के विपरीत अवात्सल्य आदि दोषों का अन्यदृष्टि-प्रशंसा आदि से सजातीय दोषों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। वास्तव में व्रतादि के अतिचारों की पाँच-पाँच संख्या का व्याख्यान होने से उसी के समान सम्यग्दर्शन के भी पाँच अतिचार कहे गये हैं।''[48]

अन्यदृष्टि-प्रशंसा और अन्यदृष्टि-संस्तव में अन्तर

अन्यदृष्टि-प्रशंसा और अन्यदृष्टि-संस्तव के अन्तर को स्पष्ट करते हुए श्लोकवार्तिककार आचार्य विद्यानन्दि ने लिखा है कि प्रशंसा हमेशा मन से की जाती है और संस्तव या संस्तवन हमेशा वचनों से किया जाता है अर्थात् मन में मिथ्यादृष्टियों के श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र, तप, आदि में प्रकृष्ट गुणपना होने का और उन जैसा अपने में प्रगट करने का मन में अभिप्राय रखना, अन्यदृष्टि-प्रशंसा कहलाता है तथा वचन से उन्हीं विद्यमान-अविद्यमान गुणों की भावना करते हुए, उनका उच्चारण करना, बोलना, आदि अन्यदृष्टि-संस्तव कहलाता है – यही इन दोनों में अन्तर है।

अन्यदृष्टि-प्रशंसा-संस्तव के अन्तर्गत पाँच दोषों का अन्तर्भाव

अन्यदृष्टि-प्रशंसा-संस्तव के अन्तर्गत पाँच दोषों का अन्तर्भाव कैसे हो जाता है ? – इसका स्पष्टीकरण करते हुए श्लोकवार्तिक के भाषा-टीकाकार पण्डित माणिकचन्द्र कौन्देय लिखते हैं –

मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना – इन पाँच दोषों को अन्यदृष्टि-प्रशंसा एवं संस्तव – इन दो दोषों में गर्भित कर लेना चाहिए। देखिए – जो पुरुष, मिथ्यादृष्टियों की मन में प्रशंसा करता है और वचन से स्तुति करता है, वह मूढदृष्टि दोष वाला है। वैसा मूढदृष्टि जीव, उन रत्नत्रय-मण्डित पुरुषों के दोषों का उपगूहन नहीं करता है, दर्शन या चारित्र से डिगते हुए जीवों का स्थितिकरण भी नहीं कर पाता है, वात्सल्य भाव तो उसके निकट आता ही नहीं है। जिनशासन की प्रभावना करना तो कथमपि उसको अभीष्ट नहीं हैं। इस कारण से पाँच दोष सूत्रोक्त चौथे-पाँचवें दोषों के सजातीय होने से उन्हीं में गर्भित कर लिये जाते हैं।[49]

वास्तव में सूत्रोक्त पाँच दोष ही मुख्य दोष हैं क्योंकि जो सर्वज्ञ या आगम में शंका कर रहा है अथवा वीतराग धर्म का श्रद्धालु होकर, भी भोगोपभोग की आकांक्षा कर रहा है अथवा मुनि-भगवन्तों के मलिन शरीर को देख कर, घृणा उत्पन्न कर रहा है अथवा वीतराग सत्यार्थ धर्म से विपरीत मार्ग की प्रशंसा-स्तुति करने में लगा है, वही वास्तव में दोषी है; उनकी तुलना में अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना के दोष अत्यन्त सामान्य प्रतीत होते हैं; इस प्रकार पाँच अतिचारों का कथन युक्तिसंगत है।

सम्यक्त्व के अतिचार किनको ? – मात्र श्रावकों को या महाव्रती मुनिराजों को भी

''**शंका** – यहाँ पुनः शंका उत्पन्न होती है कि उक्त अतिचार, मात्र अविरत सम्यग्दृष्टि अथवा गृहस्थ व्रती श्रावक को ही सम्भव हैं या महाव्रती मुनिराजों को भी ऐसे दोष सम्भावित हैं?

समाधान – ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि सूत्र में **सम्यग्दृष्टेरतीचाराः** – ऐसा पाठ है। चौथे-पाँचवें गुणस्थान से लेकर छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती तक, व्रती श्रावक के साथ-साथ नग्न दिगम्बर भावलिंगी सन्तों को भी तत्सम्बन्धी अतिचार लग सकते हैं।

शंका – यदि सूत्र के **सम्यग्दृष्टेरतीचाराः** – इस पाठ के कारण मुनियों को भी अतिचार लगने की सम्भावना व्यक्त की जा रही है? तो छठवें-सातवें गुणस्थान के ऊपर भी सारे मुनियों को क्या ये अतिचार लगेंगे? तो क्या फिर अरहन्त-सिद्ध भगवन्त भी इस दोष से नहीं बच पाएँगें?

समाधान – यह शंका भी अविचारितरम्य ही है क्योंकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि उक्त अतिचार मात्र क्षयोपशम सम्यक्त्व के धारक जीवों को ही लगते हैं, अन्य को नहीं। आठवें गुणस्थान के ऊपर तो सभी मुनि-भगवन्त औपशमिक सम्यक्त्व या क्षायिक सम्यक्त्व के धारक ही होते हैं। अरहन्त-सिद्ध परमात्मा तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, अतः उनके तो उक्त अतिचार लगने की सम्भावना मूलतः ही निरस्त समझना चाहिए। एक बात और समझ लेना कि चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान वाले अविरत सम्यग्दृष्टि, गृहस्थ व्रती श्रावक और मुनिराज भी यदि औपशमिक सम्यक्त्व या क्षायिक सम्यक्त्व के धारक हैं तो उनको भी उक्त दोष नहीं लगेंगे, इस अपेक्षा से वे भी उपशमश्रेणी में स्थित मुनि-भगवन्त और क्षायिक सम्यक्त्व के धारक अरहन्त-सिद्ध परमात्मा के तुल्य ही माने जाएँगे।

इस प्रकार क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन के धारक अविरत सम्यग्दृष्टि, व्रती श्रावक एवं महाव्रती मुनिराजों को ही ये अतिचार हो सकते हैं, अन्य को नहीं; परन्तु ध्यान रहे – इन अतिचारों के द्वारा सम्यक्त्व का आंशिकरूप से ही भंग होता है, सम्पूर्णरूप से नहीं।''[50]

इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर विद्वान् पण्डित सुखलाल संघवी भी सहमत हैं, वे लिखते हैं –

उक्त पाँचों अतिचार, व्रती श्रावक और साधु के लिए समान हैं क्योंकि दोनों के लिए सम्यक्त्व साधारण धर्म है।[51]

सम्यग्दर्शन, धर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन के अभाव में न तो ज्ञान सम्यक् होता है, न चारित्र। आचार की शुद्धि के लिए विचार का आधार होता है, इसलिए दोनों की शुद्धि अनिवार्य है, परन्तु श्रद्धा सम्बन्धी दोष टले बिना चारित्र में शुद्धि नहीं आती क्योंकि दोनों एक-दूसरे के बिना नहीं होते। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र कार्यकारी नहीं है, यहाँ तक कि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र उत्पन्न भी नहीं होता। इसी प्रकार सम्यक्त्वाचरण चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन भी नहीं होता, वे एक-दूसरे के अविनाभावी ही होते हैं।

इस सम्बन्ध में जैन तत्त्वविद्या का निम्न कथन द्रष्टव्य है –

''सम्यग्दर्शन, धर्म का मूल स्तम्भ है। सम्यग्दर्शन के अभाव में न तो ज्ञान सम्यक् होता है और न चारित्र ही। इसलिए सम्यग्दर्शन को मोक्षमहल की प्रथम सीढी कहा गया है। यह हमारी विचारशुद्धि का आधार है। आचार की विशुद्धि के लिए विचार की शुद्धि अनिवार्य है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र में अंक और शून्य का सम्बन्ध है। चाहे जितने भी शून्य हों, अंक के अभाव में उनका कोई महत्त्व नहीं होता। यदि शून्य के साथ एक भी अंक हो तो अंक और शून्य दोनों का महत्त्व बढ जाता है। सम्यग्दर्शन अंक है और सम्यक्चारित्र शून्य। सम्यग्दर्शन से ही सम्यक्चारित्र का तेज प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन रहित चारित्र उस अन्धे व्यक्ति की तरह है, जो निरन्तर चलना तो जानता है, पर लक्ष्य का पता नहीं है। लक्ष्यविहीन यात्रा, यात्रा नहीं, भटकन है।''[52]

क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व में देशघाति सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय से ही अतिचार

इस प्रकार यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व तो निर्मल होते हैं, इनमें सम्यक्त्व के अतिचार नहीं लगते, परन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उक्त अतिचार लगते हैं, लेकिन इन अतिचारों के कारण सम्यक्त्व मलिन तो अवश्य होता है, परन्तु सम्यक्त्व का नाश नहीं होता।

धवला में कहा है कि जिस कर्म के उदय से आप्त, आगम और पदार्थों की श्रद्धा में शिथिलता होती है, वह सम्यक्त्वप्रकृति है तथा सर्वार्थसिद्धि के आठवें अध्याय में कहा है कि जो शुभपरिणामों के कारण अपने स्वरस (शक्ति या विपाक) को रोक देता है और जो उदासीनरूप से अवस्थित रह कर, आत्मा के श्रद्धान को नहीं रोकता, वह सम्यक्त्वप्रकृति है। इसका वेदन करने वाला पुरुष सम्यग्दृष्टि कहलाता है। विशेष बात यह है कि यह प्रकृति, सम्यग्दर्शन में दोष उत्पन्न करती है, फिर भी इसका नाम सम्यक्त्वप्रकृति क्यों है? इसका एकमात्र यही कारण प्रतीत होता है कि इस प्रकृति का कार्य सम्यग्दृष्टियों में ही देखा जाता है, अन्यत्र नहीं तथा इससे, न सम्यग्दर्शन खण्डित होता है और न सम्यग्दर्शन, इसे खण्डित कर पाता है; अतः साथ-साथ रहने के कारण इसका सम्यक्त्वप्रकृति नाम सार्थक है।

इस क्षयोपशम सम्यक्त्व का ही दूसरा नाम वेदक सम्यक्त्व है। जहाँ मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय के क्षयोपशम की मुख्यता से कहा जाए, तब इसी का नाम क्षयोपशम सम्यक्त्व है और जब सम्यक्त्वमोहनीय के उदय की मुख्यता से कहा जाए तो इसी का नाम वेदक सम्यक्त्व है; अतः कथन मात्र ही दो नाम हैं, स्वरूप में कोई भेद नहीं है। कृतकृत्य वेदक अवस्था भी इसी सम्यक्त्व में होती है और उसके बाद ही जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

इस सम्यक्त्व में सम्यक्त्वप्रकृति का उदय विद्यमान होने पर भी इसे औदयिक भाव नहीं माना गया है क्योंकि सम्यक्त्वप्रकृति देशघाति है और उसी समय दर्शनमोह की ही मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व नामक प्रकृतियों का अनुदय अथवा क्षयोपशम विद्यमान है, जो कि सर्वघाति प्रकृतियाँ हैं; अतः देशघाति के उदय को नहीं गिन कर, केवल क्षयोपशम भाव को ही कहा गया है। यद्यपि सम्पूर्णता की दृष्टि से इस भाव को क्षयोपशमोदय भाव कहना चाहिए अर्थात् इसे क्षय -उपशम-उदयभाव कह सकते हैं, तभी इसके मिश्र भाव कहने की भी सार्थकता है; तथापि आगम कहीं भी ऐसा उल्लेख पाया नहीं जाता।

यद्यपि धवला में तीसरे गुणस्थान के भाव को किसी अपेक्षा से उदयोपशमिक स्वीकार किया गया है परन्तु क्षयोपशम सम्यक्त्व को उदयोपशमिक या क्षयोपशमौदयिक नहीं माना गया है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि क्षयोपशम सम्यक्त्व होने में मात्र दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या उदय निमित्तकारण नहीं है; बल्कि क्षय, उपशम और उदय का मिला-जुला अखण्ड परिणमन यहाँ निमित्तकारण है तथा आत्मा का भी यत्किंचित् सविकार एवं निर्मल, अखण्ड मिश्र परिणमन ही क्षायोपशमिक भावरूप से स्वीकार किया है।

आचार्यों ने इसकी अखण्डता को समझाने के लिए श्रीखण्ड का उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार अच्छी तरह मिले हुए दही-गुड़ से बने हुए श्रीखण्ड में से उसकी खटास या मिठास में से किसी को भी अलग नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार क्षयोपशम भाव में से देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से होने वाला यत्किंचित् सविकार परिणमन अलग नहीं किया जा सकता। वह इतना सूक्ष्म होता है कि आचार्यों ने उसे केवलीगम्य भी कहा है, परन्तु उसकी सत्ता से इंकार भी नहीं किया है और उसे समझाने का प्रयत्न भी किया है। चल-मल-अगाढ़ दोषों का उदाहरण सहित स्पष्टीकरण उसी शृंखला की एक कड़ी है।

यद्यपि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि को चारित्रमोह, अज्ञान, अविरति, प्रमाद, कषाय, आदि जनित अनेकों दोष लगते हैं, परन्तु यहाँ उन दोषों की विवक्षा नहीं हैं। मात्र चल-मल-अगाढ़ दोषों की चर्चा विशेषरूप से की जाती है क्योंकि इनमें सम्यक्त्वप्रकृति का उदय कारण होता है, उसी के कारण उक्त दोष होते हैं।

पण्डितप्रवर आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत में लिखा है –

''लसत् कल्लोलमालासु, जलमेकमिव स्थितम्।
नानाऽऽत्मीयविशेषेषु, चलतीति चलं यथा।।
तदप्यलब्धमाहात्म्यं, पाकात् सम्यक्त्वकर्मणः।
मलिनं मलसंगेन, शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत्।।

स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ, देवोऽयं मेऽन्यकारिते।
अन्यस्याऽसाविति भ्राम्यन्, मोहाच्छ्राद्धोपि चेष्टते।।[53]

अर्थात् जैसे, उठती हुई लहरों में जल, एकरूप ही स्थित रहता है, लहरों के कारण जल में कोई अन्तर नहीं पड़ता; वैसे ही सम्यग्दर्शन के विषयभूत नाना प्रकार के देव आदि भेदों में स्थित रहते हुए भी चंचलता के कारण वेदक सम्यक्त्व **चल** होता है।

जैसे, स्वर्ण, पहले अपने कारणों से शुद्ध उत्पन्न होकर भी चाँदी आदि के मेल से मलिन हो जाता है; वैसे ही क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, उत्पत्ति के समय निर्मल होने पर भी सम्यक्त्व-कर्म के उदय के कारण, कर्मक्षय के द्वारा होने वाले अतिशय से अछूता रहते हुए शंका आदि दोषों के संसर्ग से **मलिन** हो जाता है।

मिथ्यादृष्टि की तो बात ही क्या? श्रद्धावान सम्यग्दृष्टि भी सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से भ्रम में पड़ कर, अपने बनवाये हुए जिन-प्रतिमा, जिन-मन्दिर वगैरह में यह मेरे देव हैं, यह मेरा जिनालय है तथा दूसरे के बनवाये हुए जिन-मन्दिर, जिनालय वगैरह में यह दूसरे का है – ऐसा व्यवहार **(अगाढ़पना)** करता है।''

अनगार धर्मामृत की ही हिन्दी टीका में पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, इन दोषों को समझाते हुए विशेषार्थ में कहते हैं –

''जो कुछ काल तक ठहर कर, चलायमान होता है, उसे **चल** कहते हैं और जो शंका आदि दोषों से दूषित होता है, उसे **मलिन** कहते हैं। वेदक सम्यक्त्व चल और मलिन होने से **अगाढ़** और अनवस्थित होने के साथ किसी अपेक्षा नित्य भी है क्योंकि अन्तर्मुहूर्त से लेकर छियासठ सागर तक रहता है अर्थात् वेदक सम्यक्त्व की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति छ्यासठ सागर होने से वह चल भी है और स्थायी भी है।''[54]

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने क्षयोपशम सम्यक्त्व में दोषों की चर्चा करते हुए लिखा है –

''**क्षयोपशम क्या? सो कहते हैं –** दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों में जो मिथ्यात्व का अनुभाग है, उसके अनन्तवें भाग मिश्रमोहनीय का अनुभाग है, उसके अनन्तवें भाग सम्यक्त्वमोहनीय का अनुभाग है। इनमें सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति देशघाति है; इसका उदय होने पर भी सम्यक्त्व का घात नहीं होता।

किंचित् मलिनता करे, मूल घात न कर सके, उसी को **देशघाति** कहते है।

सो जहाँ मिथ्यात्व व मिश्र मिथ्यात्व के वर्तमान काल में उदय आने योग्य निषेकों का उदय होय बिना ही निर्जरा होती है, वह तो **क्षय** जानना, और इन्हीं के आगामी काल में उदय आने योग्य निषेकों की सत्ता पाई जाए, वही **उपशम** है, और सम्यक्त्व मोहनीय का उदय पाया जाता है, ऐसी दशा जहाँ हो; सो क्षयोपशम है, इसलिए जहाँ समल तत्त्वार्थश्रद्धान हो, वह क्षयोपशम सम्यक्त्व है।

यहाँ जो मल लगता है, उसका तारतम्यरूप तो केवली जानते हैं; उदाहरण बतलाने के अर्थ चल-मलिन-अवगाढपना कहा है। वहाँ मात्र देवादिक की प्रतीति तो हो, परन्तु अरहन्त देवादि में – यह मेरा है, यह अन्य का है, इत्यादि भाव सो **चलपना** है। शंकादि मल लगे सो **मलपना** है। यह शान्तिनाथ शान्तिकर्ता हैं, इत्यादि भाव सो **अगाढपना** है। **ऐसे उदाहरण मात्र बतलाए, परन्तु नियमरूप नहीं हैं।** क्षयोपशम सम्यक्त्व में जो नियमरूप कोई मल लगता है सो केवली जानते हैं। इतना जानना कि इसके तत्त्वार्थश्रद्धान में किसी प्रकार से समलपना होता है, इसलिए यह सम्यक्त्व निर्मल नहीं है। इस क्षयोपशम सम्यक्त्व का एक ही प्रकार है, इसमें कुछ भेद नहीं है।''[55]

इन अतिचारों के कारण क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि का तत्त्वार्थश्रद्धान विशुद्धता को प्राप्त नहीं होता – ऐसा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के निम्न श्लोक से भी पुष्ट होता है –

''सम्यग्दृष्टेरतीचाराः, पंच शंकादयः स्मृताः।
तेषु सत्सु हि तत्त्वार्थश्रद्धानं न विशुद्ध्यति।।[56]

अर्थात् सम्यग्दृष्टि के शंका आदि पाँच अतिचार कहे गये हैं; उनके होने पर उसका तत्त्वार्थश्रद्धान विशुद्धि को प्राप्त नहीं होता है।''

आचार्य विद्यानन्दि ने अतिचारों को सम्यग्दर्शन की मलिनता का हेतु बताते हुए न्याय की भाषा का प्रयोग किया है – **शंकादयः सद्दर्शनस्याऽतीचारा एव मालिन्यहेतुत्वात् ये तु न तस्याऽतीचाराः, न ते तन्मालिन्यहेतवो यथा तद्विशुद्धिहेतवस्तत्त्वार्थश्रवणाद्यर्थास्तद्विनाशहेतवो वा दर्शनमोहोदयाः तन्मालिन्यहेतवश्चैव ते तस्मात्तदतीचारा इति युक्तिवचनं प्रत्येयम्।**[57]

अर्थात् शंका आदि सम्यग्दर्शन के ही अतिचार हैं क्योंकि वे उसकी मलिनता के हेतु हैं। जो उसके अतिचार नहीं होते, वे उसकी मलिनता के हेतु भी नहीं होते। जैसे, उसकी विशुद्धि में हेतु तत्त्वार्थ-श्रवण आदि हैं और उसके विनाश में हेतु दर्शनमोह आदि हैं। इसलिए जो उसकी मलिनता में हेतु हैं, वे उसके अतिचार ही हैं – ऐसा युक्तिसंगत या न्यायसंगत वचन जानना चाहिए।''

गोम्मटसार की मूल गाथा में इस क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का वर्णन करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने स्पष्टरूप से चल-मल-अगाढ़ दोषों की चर्चा की है –

''सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं।
चलमलिनमगाढ़ं तं, णिच्चं कम्मखवणहेदु।।[58]

अर्थात् देशघाति सम्यक्त्वप्रकृति के उदय होने पर वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है; वे परिणाम चल-मलिन-अगाढ़ दोषों से युक्त होते हुए भी नित्य कर्मों की निर्जरा में कारण होते हैं।''

भगवती आराधना की भाषा टीका लिखते हुए पण्डित सदासुखदासजी, किंचित् अन्तर के साथ इन दोषों का स्वरूप कहते हैं –

''अब, चलपने का स्वरूप कहते हैं – अपने ही आप्त-आगम-पदार्थरूप श्रद्धान के भेदों में जो चलायमान होता है, वह **चल** है। अपने द्वारा प्रतिष्ठित कराये हुए अर्हन्त भगवान के प्रतिबिम्ब आदि में यह मेरा देव है – ऐसा ममत्व होता है तथा अन्य के द्वारा प्रतिष्ठित कराये हुए अर्हन्त भगवान के प्रतिबिम्ब आदि में यह अन्य का देव है – ऐसा परपना मान कर, परिणामों में भेद उत्पन्न होता है; अतः उसे **चल** कहा है। यहाँ दृष्टान्त कहते हैं – जैसे, जल की कल्लोलों की पंक्ति में जल एक ही है, तथापि वही नाना प्रकार से चलायमान होता है; उसी प्रकार सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से श्रद्धान भी अनेक प्रकार भ्रमणरूप चेष्टा करता है। भावार्थ यह है कि जैसे, जल, तरंगों की अवस्था में चंचल तो होता है, परन्तु अन्यभावरूप नहीं हो जाता है; उसी प्रकार वेदक सम्यग्दृष्टि भी अपने और अन्य के द्वारा प्रतिष्ठित कराये गये जिनबिम्बादि में यह मेरा है, यह अन्य का है, इत्यादि विकल्प करता है, परन्तु अन्य रागी-द्वेषी देवतादि को नहीं पूजता है।

अब, मलिनपने का स्वरूप कहते हैं – जैसे, शुद्ध सोना भी मल के संयोग से मैला हो जाता है; उसी प्रकार सम्यक्त्व भी सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से शंकादि मलदोष के संयोग से मलिन हो जाता है।

अब, अगाढ़पने का स्वरूप कहते हैं – जैसे, वृद्ध के हाथ की लाठी अपने स्थान में रह कर भी कम्पायमान रहती है; यद्यपि गिरती नहीं है, तथापि दृढ़ नहीं है; उसी प्रकार यह सम्यग्दृष्टि आप्त-आगम-पदार्थ के श्रद्धानरूप अवस्था में रहता हुआ भी उसके परिणाम काँपते हैं, दृढ़ नहीं हैं, उसे ही अगाढ़ कहते हैं। उसका उदाहरण ऐसा है – समस्त अरहन्त परमेष्ठियों में अनन्त शक्तिपना समान होते हुए भी उसको ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि शान्ति उत्पन्न कराने में शान्तिनाथ भगवान ही समर्थ हैं तथा इस विघ्नों का नाश करने की क्रिया में पार्श्वनाथ ही समर्थ हैं इत्यादि प्रकार से रुचि-प्रतीति की शिथिलता होती है; अतः वृद्ध पुरुष के हाथ में रहने वाली लाठी के शिथिल सम्बन्ध का दृष्टान्त यहाँ अगाढ़पने को समझाने के लिए दिया है।

इस प्रकार सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान में चल-मल-अगाढ दोष लगते हैं; फिर भी वह कर्मों का नाश करने में समर्थ होता है।''[59]

इसका कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि में निश्चितरूप से ज्ञान-वैराग्य की शक्ति होती है, इसी के बल से वह निरन्तर कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ होता है। वही समयसार की आत्मख्याति टीका में कहा है –

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः।[60]

देशघाति सम्यक्त्वप्रकृति के उदयजनित अवस्था का वर्णन करते हुए भावदीपिका में अत्यन्त विस्तार से कथन किया है, जो कि अत्यन्त प्राचीन लगभग 450 वर्ष पूर्व की हिन्दी भाषा में लिखा गया है। यहाँ उसका स्वरचित आधुनिक हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है[61] –

''यहाँ (वर्तमान के उदय का अभाव होने से) क्षय कहा है एवं सत्ता में रहने वाला मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व कर्म का द्रव्य उपशमकरण को प्राप्त होता है। उपशम अर्थात् वह कर्म उदीरणा को प्राप्त होकर उदय में नहीं आता तथा देशघाति सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व का उदय होता है।

इस प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भाव, जीव को उत्पन्न होता है। इस भाव के होने पर जिनभाषित जीवादि तत्त्वों में रुचि अर्थात् श्रद्धा उत्पन्न होती है, प्रतीति होती है अर्थात् जिस प्रकार सर्वज्ञ के द्वारा कथित

द्रव्य, जीवादि भेद की अपेक्षा छह प्रकार के कहे गये हैं; अस्तिकाय, (जीवादि) भेद की अपेक्षा पाँच प्रकार के कहे गये हैं; तत्त्व, (जीवादि) भेद की अपेक्षा सात प्रकार के कहे गये हैं तथा अर्थ, (जीवादि) भेद की अपेक्षा नौ प्रकार के कहे गये हैं; उनके द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जैसा कहा गया है, वैसा ही वह श्रद्धान करता है और वैसे ही उनमें प्रवृत्ति करता है।

यहाँ दर्शनमोह की सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति का उदय है, उसके कारण मूल तत्त्वश्रद्धान का अभाव तो नहीं हो सकता है, परन्तु श्रद्धान में चल-मल-अगाढ़ – ऐसे तीन प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं, उन दोषों की तारतम्यता तो केवलीगम्य है, किन्तु उनकी दशा छद्मस्थ को दिखाने के लिए दृष्टान्तों के द्वारा सिद्धान्त शास्त्रों में जैसी कही गई है, वैसी ही कहते हैं –

चल दोष

जैसे, अपने द्वारा स्थापित जिन-मन्दिर, जिन-प्रतिमा या जिन-शास्त्र या अपने रिश्तेदार पिता आदि मुनि हुए हों, उनके प्रति तो भक्ति आदि सरस करता है और मन में ऐसा जानता है कि 'ये मेरे हैं' तथा अन्य के द्वारा स्थापित जिन-मन्दिर, जिन-प्रतिमा या जिन-शास्त्र या अन्य मुनि के प्रति प्रीतिभाव घटा कर, भक्ति आदि करता है और उनको ऐसा मानता है कि 'ये अन्य हैं' – ऐसी भ्रान्ति-भाव उत्पन्न करता है और मिटाता है। जिस प्रकार जल में उत्पन्न होने वाली कल्लोलें जल में ही रहती हैं, अन्यत्र नहीं जाती हैं; उसी प्रकार इसे सम्यक्त्व के साधक धर्म एवं पदार्थों में ही विकल्प उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, लेकिन मिथ्यात्व के साधक पदार्थों में भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होती; यदि उत्पन्न होती है तो वह **अनाचार** कहलाता है।

मल दोष

शास्त्रसारसमुच्चय में आचार्य माघनन्दि ने तृतीय अध्याय 'चरणानुयोग वेद' के छठे सूत्र में अत्यन्त स्पष्टता से लिखा है –

तत्र वेदकसम्यक्त्वस्य पंचविंशतिर्मलानि।। 6।।

अर्थात् वेदकसम्यक्त्व के अन्तर्गत पच्चीस मल होते हैं।

आगम में भी मल दोषों को पच्चीस प्रकार का कहा गया है, जबकि क्षुल्लक मनोहर वर्णी ने समस्थानसूत्र के सप्तम स्कन्ध में सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले दोषों की संख्या 50 बताई है [62] – इसमें आठ दोष, आठ मद, तीन मूढ़ता, षट् अनायतन, तीन शल्य, सप्त भय, सप्त व्यसन, मधु, और पंच उदुम्बर फल मिला कर छह अभक्ष्य तथा अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव नामक दो अतिचार। इनमें अधिकांशतः सम्यक्त्व को मलिन करने वाले सभी दोषों का समावेश हो जाता है। तीन शल्य, सप्त व्यसन, सप्त भय, छह अभक्ष्य, दो अतिचार का वर्णन अन्यत्र किया ही गया है।

सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोषों का संक्षिप्त वर्णन

आठ मल दोष – शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना के धारकों की सराहना करना।

आठ मद दोष – कुलमद, जातिमद, रूपमद, ऐश्वर्यमद, लाभमद, बलमद, तपमद और विद्यामद।

छह अनायतन दोष – कुदेव की सराहना करना, कुदेव के धारकों की सराहना करना; कुगुरु की सराहना करना, कुगुरु के धारकों की सराहना करना; कुधर्म की सराहना करना और कुधर्म के धारकों की सराहना करना।

तीन मूढ़ता दोष – देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और लोकमूढ़ता।

इस प्रकार पच्चीस दोष कहे गये हैं, ये सभी दोष, धर्म के प्रकरण से सम्बन्धित ही उत्पन्न होते हैं; ये ही सम्यक्त्व के अतिचार हैं; उनका विशेष विवरण कहते हैं –

सर्व प्रथम आठ गुणों से विपरीत **आठ मल दोषों** को कहते हैं –

1. **शंका दोष –** जीवादि तत्त्वों के विषय में संशय उत्पन्न होना अर्थात् जब इन जीवादि का स्वरूप, इनकी प्रवृत्ति, इनके सम्बन्ध में हेय-उपादेय या ग्रहण-त्याग अथवा तत्सम्बन्धी फल इत्यादि जैसे कहे हैं; वैसे ही हैं या अन्यथा हैं? – इस प्रकार सन्देह उत्पन्न होता है, पश्चात् विनश जाता है; इसे ही **शंका दोष** के नाम से कहा जाता है।

2. **कांक्षा दोष** – जब ऐसा भाव उत्पन्न होता है कि इस धर्म के प्रसाद से मुझे लक्ष्मी की प्राप्ति हो, सुन्दर स्त्री एवं पुत्रादि की प्राप्ति हो, मेरे शरीर का रोग चला जाए या मेरा शत्रु नष्ट हो जाए इत्यादि इस भव-सम्बन्धी वांछा का होना तथा परभव में देव हो जाऊँ या इन्द्र पद का सिंहासन पा जाऊँ; भोगभूमि में उत्पन्न हो जाऊँ या चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, कामदेव, विद्याधर इत्यादि पद पा जाऊँ – इस प्रकार इसभव-परभव सम्बन्धी वांछा का होना, **कांछा दोष** कहलाता है।

3. **विचिकित्सा दोष** – इस दोष में प्रतिज्ञा, व्रत, शील, अनशनादि तप या अणुव्रत-महाव्रत का जो संयमरूप ग्रहण किया था, उनमें अरुचिभाव होता है कि यह नियम का काल कब पूरा होगा? यह नियम तो ले लिया, अब इसका निर्वाह कैसे होगा? अर्थात् भार जैसा लगता है? अथवा मन्दिरादि का या पूजा-प्रतिष्ठादिक का या तीर्थयात्रा का इत्यादि धर्म-सम्बन्धी कार्य का प्रारम्भ तो कर दिया और बाद में कार्य भारभूत लगने लगे; उनमें धनादि को अरुचिभाव के साथ कृपणता सहित खरचने लगे अथवा जैसे-तैसे उस काम को पूरा करना चाहे या चतुर्विध संघ में रोग, दरिद्रता, आदि होने पर उनसे ग्लानि करना इत्यादि जो भाव प्रवर्तते हैं, उन्हें **निर्विचिकित्सा दोष** कहते हैं।

4. **मूढ़दृष्टि दोष** – धर्मकार्यों को यथार्थ-अयथार्थ, योग्य-अयोग्य, विनय-अविनय, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के विवेक रहित करना, उसे **मूढदृष्टि दोष** कहते हैं।

5. **अनुपगूहन दोष** – चतुर्विध संघ में मुनि आर्यिका-श्रावक-श्राविका में कर्म के उदय से उत्पन्न दोषों को प्रगट करना, उसे **अनुपगूहन दोष** कहते हैं।

6. **अस्थितिकरण दोष** – मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका में कोई भी किसी प्रकार से भी धर्म में शिथिल हो रहे हों तो उनका कारण जानें; उन्हें तन से, धन से, वचन से, उपदेशादि से अपनी सामर्थ्य होने पर भी स्थिर नहीं करना अथवा अपनी सामर्थ्य नहीं होने पर अन्य के माध्यम से नहीं करवाना; यह **अस्थितिकरण दोष** है।

7. **अवात्सल्य दोष** – धर्म और धर्मात्मा के प्रति प्रीतिभाव नहीं करना; उसे **अवात्सल्य दोष** कहते हैं।

8. **अप्रभावना दोष** – तन-मन-धन, वचन, कषाय, ज्ञान-श्रद्धान के द्वारा तप-संयमादि की प्रवृत्ति को सम्यक् प्रकार से नहीं करके अपने को या जिनमत को श्रेष्ठ नहीं दिखाना अथवा तन-मन-धन, वचन, कषाय, ज्ञान-श्रद्धान के द्वारा तप-संयमादि की मिथ्या प्रवृत्ति करके जिनमार्ग को हीन दिखाना; इसे ही **अप्रभावना दोष** कहते हैं।

अब, **आठ मद दोषों** को कहते हैं –

9. **कुलमद दोष** – यदि आप स्वयं तो राजादिक का बेटा हो और अन्य कोई धर्मात्मा किसी अन्य मनुष्य का पुत्र हो अथवा शूद्र कुल का हो, लेकिन श्रद्धान-ज्ञान-तप-संयमादि में अपने से अधिक हो; परन्तु अपने कुलमद के जोर से उसका विनय-सत्कारादि नहीं करना, इसे **कुलमद** कहते हैं।

10. **जातिमद दोष** – उसी प्रकार आप स्वयं किसी बडे राजा का पौत्रादि हो, उसके मद में अपने से अधिक गुणवान को सामान्य जाति का या शूद्र कुल का जान कर, उनका विनय-सत्कारादि नहीं करना, इसे **जातिमद** कहते हैं।

11. **रूपमद दोष** – उसी प्रकार आप स्वयं रूपवान है और अन्य अपने से अधिक गुणवान है, भले ही रूप से हीन हो, परन्तु उसे हीन जानना और अपने को उच्च मानना, इसे **रूपमद** कहते हैं।

12. **ऐश्वर्यमद दोष** – आप स्वयं ऐश्वर्यवान है, राज्यलक्ष्मी और धनादि से सहित है तथा अन्य अपने से अधिक गुणवान है, भले ही ऐश्वर्य से हीन हो या धनादि से रहित हो; उनका आदर-सत्कारादि नहीं करना; इसे **ऐश्वर्यमद** कहते हैं।

13. **लाभमद दोष** – अपने को पूर्व पुण्य के उदय से अनेक प्रकार के अलभ्य का लाभ होता है; तथा अन्य अपने से अधिक गुणवान को पूर्व पाप के उदय से अनेक प्रकार के अलभ्य का लाभ नहीं होता है; उस समय उन्हें दुर्भाग्यशाली जानना और अपने को सौभाग्यशाली मानना और उन्हें कटुकवचन कहना; इसे **लाभमद** कहते हैं।

14. **बलमद दोष** – अपने में शरीरबल, राज्यबल, कुटुम्बबल, लक्ष्मीबल इत्यादि सात प्रकार के बल हों; उसके मद में गुणवान धर्मात्मा का पराभव करना; इसे **बलमद** कहते हैं।

15. **तपमद दोष** – आप स्वयं अनेक तपों में प्रवर्तन करता हो और अन्य धर्मात्मा में तप आदि की प्रवृत्ति कम पाई जाती हो अथवा नहीं पाई जाती हो; तब उन्हें हीन मानना और अपने को श्रेष्ठ मानना; इसे **तपमद** कहते हैं।

16. **विद्यामद दोष** – स्वयं तो अनेक शास्त्रों का पाठी हो और अन्य धर्मात्मा का शास्त्रज्ञान सामान्य या कम हो; तब अपने को महन्त मानना और अन्य को हीन मानना; इसे **विद्यामद** कहते हैं।

अब, **षट् अनायतन** का स्वरूप कहते हैं –

17. **कुदेव अनायतन दोष** – जो देवभाव से रहित विपरीत स्वरूप को धारण करते हों, उन्हें कुदेव कहते हैं; उनकी सराहना करना। जैसे – कैसे रूप-श्रृंगाार किये हैं, कैसी लक्ष्मी से युक्त हैं, कैसे अंगों का श्रृंगार किया गया है, कैसे मुकुट, कुण्डल, हार, भुजबन्ध, आदि पहने हैं? तथा समस्त पूजने वालों की कामना पूर्ण करते हैं, बहुत राजादिकों के द्वारा सेवित हैं, इत्यादि प्रकार से सराहना करना; इसे **कुदेव अनायतन दोष** कहते हैं।

18. **कुदेव आराधक अनायतन दोष** – इसी प्रकार जो कुदेव के सेवक हैं, उनकी सराहना करना। जैसे – देखो, इनको बड़ी भक्ति है, तन-मन-धन-वचन, घर-कुटुम्ब, आदि सब न्योछावर कर दिये हैं, निरन्तर भजन में ही निमग्न रहते हैं – ऐसे अन्य कोई भी पुरुष नहीं हैं, इत्यादि प्रकार से सराहना करना; इसे **कुदेव आराधक अनायतन दोष** कहते हैं।

19. **कुगुरु अनायतन दोष** – जो नाना प्रकार के भेष के धारक हैं – ऐसे कुलिंगी स्वयं गुरुपने का बड़प्पन धराते हैं, जगत् से पुजवाते हैं, जगत् की धन-सम्पदादि या धार्मिक-जगत् को ठगने वाले हैं, मानरूप शिखर पर आरूढ़ हैं, अनेक प्रकार की माया को करने वाले हैं, क्रोधरूप अग्नि के पुंज हैं; वे कुगुरु हैं। ऐसे कुगुरुओं की जो सराहना करते हैं कि ये बड़े विद्यावान हैं, तपस्वी हैं, त्यागी हैं, निर्मोही हैं, शीलवान हैं, हिंसा रहित हैं, अयाची हैं, नाना प्रकार के चमत्कार करते हैं, लक्ष्मीवान हैं, महन्त हैं; इत्यादि गुणों में कोई एक या दो गुण बाह्य दृष्टिगोचर देख कर, उसके माध्यम से सराहना करना; इसे **कुगुरु अनायतन दोष** कहते हैं।

20. **कुगुरु आराधक अनायतन दोष** – उक्त कुगुरुओं के सेवकों की सराहना करना कि ये उनकी बड़ी भक्ति करते हैं, उनके लिए धनादि खर्च करते हैं, ये बड़े फल को प्राप्त होंगे, इत्यादि प्रकार से सराहना करना; उसे **कुगुरु आराधक अनायतन दोष** कहते है।

21. **कुधर्म अनायतन दोष** – कुधर्म की सराहना करना। जैसे – सभी धर्मों का सेवन करने से उत्तम फल की प्राप्ति होती है, यह धर्म में अच्छा मार्ग है या धर्म में ये हमेशा प्रवर्तन करते हैं, श्वेताम्बरादि में संवत्सरी आदि धर्म हैं, ढूंढिया मत के साधु धनादि नहीं रखते हैं, शील का पालन करते हैं, जीवों की दया पालते हैं, भिक्षा माँग कर भोजन करते हैं, उसमें मान-अपमान नहीं गिनते हैं, इत्यादि प्रकार से कुधर्म की सराहना करते हैं; इसे **कुधर्म अनायतन दोष** कहते हैं।

22. **कुधर्म आराधक अनायतन दोष** – जो पूर्वोक्त प्रकार से नाना प्रकार के धर्म का सेवन करने वाले पुरुषों की सराहना करते हैं; उसे **कुधर्म आराधक अनायतन दोष** कहते हैं।

अब, **तीन प्रकार की मूढ़ता के दोष** कहते हैं –

23. **देवमूढ़ता दोष** – सदोष-निर्दोष सभी देवों को समान जानना, कुछ भी विचार नहीं करना। जैसे – दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनों आम्नाय के प्रतिबिम्बों और जिन-मन्दिरों को समान जानना, सभी की वन्दना करना, इत्यादि प्रकार से विवेक रहित प्रवृत्ति करना; उसे **देवमूढ़ता दोष** कहते हैं।

24. **गुरुमूढ़ता दोष** – अट्ठाईस मूलगुणों के धारक परम दिगम्बर मुनियों एवं कुलिंग के धारक पाखण्डियों को समान जानना, विनय-सत्कारादि करना; इसे **गुरुमूढ़ता दोष** कहते हैं।

25. **समयमूढ़ता दोष** – सर्व शास्त्रों को समान मानना, यथार्थ-अयथार्थ का विवेक नहीं करना, यथार्थ-अयथार्थ वक्ता का विवेक नहीं करना, आम्नाय-कुआम्नाय का विवेक नहीं करना, धर्म-कुधर्म का विवेक नहीं करना, तत्त्व-कुतत्त्व का विवेक नहीं करना; इसे **समयमूढ़ता दोष** कहते है।

अर्थात् जिस किसी शास्त्र को संस्कृत या प्राकृत में रचा हुआ देखा या बड़े पन्ने पर सुन्दर अक्षरों में लिखा देखा या बड़े वेष्टन में बँधा हुआ देखा इत्यादि अविधिपना अर्थात् अयुक्तिसंगत विशेषताओं को देख कर; इसी प्रकार किसी वक्ता को बड़ा पण्डित देख कर, संस्कृत-प्राकृत-न्याय का ज्ञाता देख कर, बड़ी गादी और बड़े सिंहासन पर बैठा देख कर, बड़े शब्दों के आडम्बर एवं ललित वाणी सहित वक्तृत्व देख कर, इत्यादि का अविधिपना या आडम्बर देख कर; इसी प्रकार जिस किसी आम्नाय में बहुत धन खरचते हुए देख कर, बहुत पण्डित देख कर, परस्पर बहुत चर्चा देख कर, बहुत तप-संयमादि देख कर, बहुत गान-नृत्य-वादित्रादि के साथ भक्ति करते हुए देख कर, बहुत मनुष्यों का संघटन देख कर, इत्यादि अविधिपना या आडम्बर सहित देख कर; इसी तरह अनेक प्रकार से विषय-कषाय पोषक धर्म की प्रवृत्ति देख कर; उनसे प्रभावित होना।

जिस धर्म की प्रवृत्ति में पाँच इन्द्रियों के विषयों का सेवन होता है, फिर भी उसे धर्म कहा जाता है तो वह **विषयपोषक धर्म** कहा गया है तथा उसी धर्म-प्रवृत्ति में क्रोध-मान-माया-लोभ का पोषण होता है, छह हास्यादिक कषायों के कार्य व्यक्त होते हैं, तीनों वेदों की मुख्यता होती है तथा किसी प्रकार कुशील का सेवन होता है, उसे **कषायपोषक प्रवृत्ति** कहते हैं।

वहाँ कोई पच्चीस तत्त्व के साधक हैं, कोई सोलह तत्त्व के साधक हैं, कोई छह तत्त्व के साधक हैं, कोई चार, तीन, दो या एक तत्त्व के साधक हैं – ऐसे विभिन्न मतों को देख कर, उन्हें बहुत राजादि मनुष्यों के द्वारा मानता हुआ देख कर, अपनी कुल-आम्नाय में चला आया हुआ देख कर या कोई चमत्कारादि देख कर या लज्जा-कज्जा, यश-बड़ाई इत्यादि के कारण उनको और यथार्थ जैन-शास्त्रों, यथार्थ जैन-वक्ताओं, यथार्थ जैन-आम्नाय, यथार्थ जैनधर्म, यथार्थ जैनभाषित जीवादि तत्त्वों इत्यादि को समान जानना; इसे **समयमूढ़ता दोष** कहते हैं।

अगाढ़ दोष

अब **अगाढ़ दोष** का स्वरूप कहते हैं – सभी तीर्थंकर अनन्त शक्ति के धारक हैं, उनमें हीनाधिकता जानना। जैसे, शान्तिनाथ शान्ति के कर्ता हैं, विघ्न हरने में पार्श्वनाथ समर्थ हैं – ऐसा श्रद्धान शिथिलता को दर्शाता है। जिस प्रकार वृद्ध मनुष्य के हाथ की लकड़ी काँपती तो है, परन्तु छूटती नहीं है; उसी प्रकार सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के उदय से श्रद्धान शिथिल तो होता, परन्तु छूटता नहीं है; इसे **अगाढ़ दोष** कहते हैं।

इस प्रकार जो चल-मल-अगाढ़ दोष कहे हैं, वे सम्यक्त्व मोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं; अतः उनको सम्यग्दृष्टि, तत्त्वज्ञान के बल से अभाव करता है और उसको सत्य प्रतीतिरूप अवस्था होती है। उसे देव-शास्त्र-गुरु तथा आप्त-आगम-पदार्थ – इन मोक्ष के कारणभूत पदार्थों में जो सन्देह उत्पन्न होता है और उनके अनेक प्रकार के विशेषों के सम्बन्ध में जो सन्देह उत्पन्न होता है, उसे वह देव-शास्त्र-गुरु के प्रसाद से निवारण करता है और दिन-प्रति-दिन समताभाव को बढ़ाता जाता है तथा आपा-पर के विचार में उसे कोई भ्रम नहीं रहता है एवं दूर हुए हैं सर्व प्रपंचभाव जिसके – ऐसी सरलता को प्राप्त होता है।''

इस प्रकार यहाँ सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों अथवा अतिचारों की चर्चा की है। मिथ्यादृष्टि, इन दोषों के आधीन होकर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भवरूप पंच परावर्तन करता रहता है –

उसने ऐसी कोई पर्याय नहीं, जो धारण न की हो; ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ वह उत्पन्न न हुआ हो; ऐसा कोई समय नहीं, जिसमें वह उत्पन्न न हुआ हो; ऐसा कोई भव नहीं, जो उसने धारण न किया हो; उसी प्रकार ऐसा कोई विकारी भाव नहीं, जो उसने न किया हो; अतः आचार्य उपदेश देते हैं कि मिथ्यात्व का त्याग कर, पच्चीस दोष रहित सम्यक्त्व प्राप्त करना, इस मनुष्य जन्म का परम कर्तव्य है।

हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि बड़े या महान पुरुषों का यत्किंचित् दोष भी बहुत खटकता है तथा छोटा दोष भी परिपाक में बड़ा हो जाता है; अतः गृहस्थ हों या मुनिराज, दोनों को निर्दोष क्षायिक या उपशम सम्यक्त्व का ही प्रयत्न करना चाहिए और लक्ष्य तो नित्य सादि अनन्त काल तक रहने वाले क्षायिक सम्यक्त्व का ही रखना चाहिए क्योकि क्षयोपशम सम्यक्त्व में तो सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से शंकादि दोषों की सम्भावना बनी रहती है।

विस्तार से सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोषों का वर्णन

इस संसार में सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है, यही मोक्ष का मुख्य साधन है। ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति के लिए सम्यग्दर्शन, बीज के सदृश है और धर्मरूपी वृक्ष की स्थिरता के लिए मूल के

समान है। जैसे किसी पुरुष की शोभा आभूषणों से बढ़ती है; वैसे ही चित्त में धर्म की प्रभावना करने की भावना होना, हेय-उपादेय का विवेक होना, धीरज होना, सम्यक्त्व-प्राप्ति का हर्ष होना और तत्त्व-विचार में प्रवीणता – इन पाँच गुणों से सम्यक्त्व की शोभा बढ़ती है, ये सम्यग्दर्शन के पाँच आभूषण हैं।

''चित प्रभावना भावजुत, हेय उपादेय वानि।
धीरज हरख प्रवीनता, भूषण पंच बखानि।।[63]

इस प्रकार यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार बताये गये हैं; तथापि आचार्यो ने सम्यग्दृष्टि के आठ गुणों से विपरीत आठ मलदोषों का वर्णन भी किया है। साथ ही आठ मद, छह अनायतन, तीन मूढ़ता का भी वर्णन किया गया है। इनके अलावा भी अन्य दोषों की चर्चा भी प्रसंगवशात् की जाएगी।

सर्व प्रथम हम यहाँ क्रम से आगमोक्त पच्चीस दोषों का विस्तारपूर्वक विचार करते हैं –

आठ मल दोष

1. शंका दोष

''अस्थिर मन से सन्मार्ग का आराधन करना, **शंका दोष** है; इसके होने पर मनुष्य, सन्मार्ग में अधिक समय तक लगा नहीं रह सकता है।''[64]

''मैं अकेला हूँ, तीन लोक में मेरा कोई नहीं है', इस प्रकार बुखार व गलगण्ड आदि रोग के समूह के आक्रमण के भय से होने वाली मृत्यु से भयभीत होने को शंका कहते हैं। अथवा 'यह तत्त्व है या यह तत्त्व है ? यह व्रत है या यह व्रत है ? यह देव है या यह देव है ?' इस प्रकार के संशय को **शंका दोष** कहते हैं। ऐसी शंकित चित्तवृत्ति वाले सम्यग्दृष्टि का सम्यग्दर्शन विशुद्ध नहीं होता और न उसे अभिलषित वस्तु प्राप्त होती है। जैसे, नपुंसक मानव को अभिलषित वस्तु प्राप्त नहीं होती है।''[65]

वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी परमात्मा के वचन कदापि मिथ्या नहीं हो सकते क्योंकि कषाय और अज्ञान के कारण ही मिथ्या वचनों का प्रयोग होता है; अतः जो राग-द्वेष से रहित निःकषाय सर्वज्ञ हैं, उनके वचन कदापि मिथ्या नहीं हो सकते। इस प्रकार सर्वज्ञ-वीतरागी के वचनों पर दृढ़ श्रद्धान रखते हुए कदाचित् आप्त, आगम, गुरु और तत्त्व के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न करना, **शंका दोष** है।

निर्ग्रन्थों को मोक्ष होता है **या** सग्रन्थों को भी मुक्ति हो जाती है **अथवा** क्या गृहस्थ मनुष्य, पशु, स्त्री भी कैवल्य को प्राप्त कर लेते हैं ? इस प्रकार शंकाएँ करना अथवा अनेक शुभकार्यों में भय करने की टेव रखना **शंका** है।[66]

श्वेताम्बर ग्रन्थ दशवैकालिक सूत्र की प्रथम चूलिका 'रतिवाक्या' के अनुसार शंका या संशय दोष

इसी प्रकार संयम के विषय में भी साधक जीवों को संशय उत्पन्न हो जाता है कि संयम हमारे लिए कार्यकारी है या नहीं ? उन्हें संयम मार्ग से च्युत होने की भावना होने लगती है – ऐसे जीवों को सम्बोधित करते हुए श्वेताम्बर आम्नाय के ग्रन्थ – दशवैकालिक सूत्र के दशवें सभिक्षु नामक अध्ययन के बाद प्रथम चूलिका 'रतिवाक्या' में अत्यन्त मार्मिक सम्बोधन किया गया है। जिस प्रकार सम्यक्त्व के आठ अंगों में स्थितिकरण नामक अंग के अन्तर्गत धर्ममार्ग से च्युत होने वाले जीवों को सम्बोधन करके उन्हें धर्ममार्ग में लगाया जाता है; उसी प्रकार 'रतिवाक्या' में भी अठारह स्थानों के माध्यम से संयममार्ग को छोड़ने वाले जीवों का स्थितिकरण किया गया है।

यदि कोई भिक्षु (साधु) कर्मवशात् संयम से शिथिल होकर धर्मपथ से भ्रष्ट हो तो उसकी आत्मा को धर्म में पुनः स्थिर करने के लिए यह 'रतिवाक्या' नामक चूलिका का अधिकार कहते हैं। इस चूलिका का नाम 'रतिवाक्या' है। असंयम में सहज ही रति और संयम में अरति होती है। इसका कारण भोगों के प्रति अनादि संस्कारवशात् सहज ही आकर्षण माना गया है, वैसा आकर्षण संयम में नहीं होता; अतः यहाँ असंयम में उत्पन्न होने वाले रतिभाव को दूर करने के लिए और संयम में रतिभाव उत्पन्न करने के लिए स्थितिकरणस्वरूप निम्न अठारह स्थानों (शिक्षाओं) की भूमिका बनाते हुए वहाँ कहा गया है–

''इह खलु भो ! पव्वइएणं उप्पण्णदुक्खेणं संजमे अरइसमावण्णचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणाहाइएणं चेव हयरस्सि-गयंकुस-पोयपडाणाभूयाइं इमाइं अट्ठारसठाणाइं सम्मं संपडिलेहियव्वाइं भवंति। ''[67]

अर्थात् हे शिष्यों! दीक्षा लेने के बाद किसी समय शारीरिक एवं मानसिक कष्ट आ पड़ने पर यदि कदाचित् संयम में अरति उत्पन्न हो जाए अर्थात् संयम मार्ग में चित्त का प्रेम न रहे और संयम छोड़ कर वापिस गृहस्थाश्रम में चले जाने की इच्छा होती हो तो संयम छोड़ने के पहले साधु को इन अठारह स्थानों का खूब अच्छी तरह से विचार करना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार – 1. लगाम से चंचल घोड़ा वश में आ जाता है; 2. अंकुश से मदोन्मत्त हाथी वश में आ जाता है; 3. पतवार से मार्ग भूल कर समुद्र में इधर-उधर गोते खाती हुई नाव ठीक रास्ते पर आ जाती है; उसी प्रकार आगे कहे जाने वाले अठारह स्थानों (शिक्षाओं) पर विचार करने से चंचल एवं डाँवाडोल बना हुआ साधु का चित्त भी संयम में पुनः स्थिर हो जाता है। वे अठारह शिक्षाएँ इस प्रकार हैं –

1. हे आत्मन्! इस अवसर्पिणी के दुःषम-काल का जीवन ही दुःखमय है।
2. इस दुःषम-काल में गृहस्थ लोगों के काम-भोग तुच्छ और अल्पकालीन हैं।
3. इस दुःषम-काल के अधिकांश मनुष्य बड़े कपटी एवं मायावी होते हैं।
4. मुझे जो दुःख उत्पन्न हुआ है, वह बहुत काल तक नहीं रहेगा।
5. संयम छोड़ कर गृहस्थाश्रम में जाने वालों को नीच पुरुषों की चापलूसी एवं सेवा करनी पड़ती है।
6. संयम को छोड़ कर गृहस्थाश्रम में जाने से जिन पदार्थों का एक बार वमन या त्याग कर दिया है, उन्हीं का फिर सेवन करना पड़ेगा।
7. संयम को छोड़ कर गृहस्थाश्रम में जाना, मानो साक्षात् नरक गति में जाने की तैयारी करने के समान है।
8. हे आत्मन्! गृहस्थाश्रमरूप पाश में जकड़े हुए गृहस्थों के लिए धर्म का पालन करना, निश्चय ही दुर्लभ (कठिन) है।
9. यह शरीर, आतंक उत्पन्न करने वाले रोगों का घर है; वे रोग तत्काल मृत्यु के मुख में पहुँचा देते हैं।
10. इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग होने पर मानसिक संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं; जो आत्मघात में कारण बन जाते हैं।
11. गृहस्थाश्रम क्लेशयुक्त है और संयम क्लेशरहित है क्योंकि सच्ची शान्ति त्याग में ही है।
12. गृहस्थाश्रम, बन्धनरूप है, कर्मों के बन्धन का स्थान है और संयम, मोक्षरूप है, कर्मों के बन्धन से छुड़ाने वाला है क्योंकि त्याग से ही मुक्ति होती है।
13. गृहस्थाश्रम, पापस्थान है और संयम निष्पाप एवं पवित्र है।
14. गृहस्थों के काम-भोग तुच्छ एवं साधारण हैं।
15. प्रत्येक प्राणी के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् हैं अर्थात् प्रत्येक प्राणी, अपने-अपने शुभाशुभ कर्मानुसार सुख-दुःख भोगते हैं।
16. हे आत्मन्! मनुष्यों का जीवन कुश के अग्रभाग पर रहे जल-बिन्दु के समान अति चंचल है, अनित्य एवं क्षणिक है।
17. हे आत्मन्! निश्चय ही मैंने बहुत पापकर्म किये हैं अथवा मेरे बहुत ही पापकर्मों का उदय है, इसीलिए संयम छोड़ देने के निन्दनीय विचार मेरे हृदय में उत्पन्न हो रहे हैं।
18. हे आत्मन्! दुष्ट भावों से तथा मिथ्यात्व आदि से उपार्जन किये हुए पहले के पापकर्मों के फल को भोगने के बाद ही मोक्ष होता है, किन्तु कर्मों का फल भोगे बिना मोक्ष नहीं होता अथवा तप के द्वारा कर्मों का क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है।

उक्त स्थितिकरण के विषय में निम्न प्रकार से भी विचार कर सकते हैं –

1. जब कोई अनार्य पुरुष, भोगों की इच्छा से धर्म अर्थात् संयम को छोड़ता है, तब काम भोगों में आसक्त बना हुआ वह अज्ञानी भविष्यत् काल के लिए जरा भी विचार नहीं करता।
2. जिस प्रकार स्वर्ग लोक से च्यव कर पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाला इन्द्र, अपनी पूर्व पश्चात्ताप करता है; उसी प्रकार जब कोई साधु संयम से भ्रष्ट होकर सब धर्मों से भ्रष्ट हो जाता है, तब वह पीछे पश्चात्ताप करता है।

3. जब साधु संयम में रहता है, तब तो वह सब लोगों का वन्दनीय होता है, किन्तु संयम छोड़ देने के बाद वही अवन्दनीय हो जाता है। अपने स्थान से च्युत हुई अर्थात् जिस प्रकार इन्द्र द्वारा परित्यक्ता देवी पश्चात्ताप करती है; उसी प्रकार संयम-भ्रष्ट साधु पश्चात्ताप करता है।
4. जब साधु संयम में रहता है, तब तो सभी लोगों से पूजनीय होता है, किन्तु संयम छोड़ देने के बाद अपूजनीय हो जाता है। जिस प्रकार राज्य-भ्रष्ट राजा पश्चात्ताप करता है; उसी प्रकार वह साधु संयम से भ्रष्ट हो जाने के बाद पश्चात्ताप करता है।
5. जब साधु संयम में रहता है, तब तो सभी लोगों का माननीय होता है, किन्तु संयम से भ्रष्ट हो जाने के बाद अमाननीय हो जाता है। जिस प्रकार कर्बट अर्थात् छोटे से गाँव में अनिच्छापूर्वक रखा हुआ सेठ पश्चात्ताप करता है; उसी प्रकार वह संयमभ्रष्ट साधु भी पीछे पश्चात्ताप करता है।
6. जिस प्रकार लोहे के काँटे पर लगे हुए माँस को खाने के लिए मछली उस पर झपटती है, किन्तु गले में काँटा फँस जाने के कारण पश्चात्ताप करती हुई मृत्यु को प्राप्त होती है। इसी प्रकार संयम से भ्रष्ट हुआ साधु यौवन अवस्था के बीत जाने पर जब स्थविर अर्थात् वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, तब वह पीछे पश्चात्ताप करता है।
7. विषय-भोगों के झूठे लालच में फँस कर, संयम से पतित होने वाले साधु को जब अनुकूल परिवार एवं इष्ट संयोगों की प्राप्ति नहीं होती; तब वह आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान करता हुआ अनेक प्रकार की चिन्ताओं से चिन्तित रहता है और बन्धन में बँधे हुए हाथी के समान वह पीछे बार-बार पश्चात्ताप करता है।
8. पुत्र-स्त्री आदि से घिरा हुआ, मोहपाश में फँसा हुआ वह संयम-भ्रष्ट साधु कीचड़ में फँसे हुए हाथी के समान पीछे बार-बार पश्चात्ताप करता है।
9. संयम से पतित हुआ साधु इस प्रकार विचार करता है कि यदि मैं साधुपना नहीं छोड़ता और भावितात्मा होकर जिनेश्वर देवों द्वारा प्ररूपित साधु धर्म का पालन करता हुआ बहुश्रुत-शास्त्रों का अभ्यास करता रहता तो आज मैं आचार्य पद पर सुशोभित होता।
10. जो महर्षि संयम में रत रहते हैं, उनके लिए संयम देवलोक के सुखों के समान आनन्ददायक है, किन्तु संयम में रुचि नहीं रखने वालों को संयम, नरक के समान दुःखदायी प्रतीत होता है।
11. जब तक यज्ञ की अग्नि जलती रहती है, तब तक उसे पवित्र समझ कर अग्निहोत्री ब्राह्मण उसमें घृतादि डालते हैं और प्रणाम करते हैं, किन्तु जब वह बुझ कर तेज रहित हो जाती है, तब उसकी राख को बाहर फेंक देते हैं। इसी प्रकार जब तक साँप के मुँह में भयंकर विष को धारण करने वाली दाढ़ें मौजूद रहती हैं, तब तक सभी लोग उससे डरते हैं, किन्तु जब वे उसकी दाढ़ें मदारी द्वारा निकाल दी जाती हैं, तब उससे कोई नहीं डरता, प्रत्युत छोटे-छोटे बच्चे भी उस सर्प को छेड़ते हैं और अनेक बार कष्ट पहुँचाते हैं। इसी प्रकार जब तक साधु संयम का यथावत् पालन करता हुआ तपरूपी तेज से दीप्त रहता है, तब तक सभी लोग उसकी विनय -भक्ति एवं सत्कार-सम्मान करते हैं, किन्तु जब वही साधु संयम से भ्रष्ट होने और तपरूपी लक्ष्मी से रहित होकर अयोग्य आचरण करने लग जाता है, तब आचार-हीन सामान्य लोग भी उसकी अवहेलना एवं तिरस्कार करने लग जाते हैं।
12. धर्म अर्थात् संयम धर्म से च्युत अर्थात् पतित, अधर्म का सेवन करने वाला ग्रहण किये हुए व्रतों को खण्डित करने वाला साधु, इस लोक में अधर्म, अपयश और अकीर्ति को प्राप्त होता है और साधारण लोगों में भी बदनामी एवं तिरस्कार को प्राप्त होता है तथा परलोक में नरकादि नीच गतियों में उत्पन्न होकर असह्य दुःख भोगता है।
13. तीव्र लालसा एवं गृद्धिभाव पूर्वक भोगों को भोग कर तथा बहुत से असंयम पूर्ण निन्दनीय कार्यों का आचरण करके ज बवह संयम-भ्रष्ट साधु, काल-धर्म को प्राप्त होता है; तब अनिष्ट नरकादि गतियों में जाकर अनेक दुःख भोगता है और उसे अनेक भवों में भी बोधि-बीज (समकित एवं जिनधर्म) की प्राप्ति होना सुलभ नहीं है।
14. संयम में आने वाले आकस्मिक कष्टों से घबरा कर, संयम छोड़ने की इच्छा करने वाले साधु को विचार करना चाहिए कि नरकों में अनेक बार उत्पन्न होकर मैंने अनेक कष्ट एवं असह्य दुःख सहन किये हैं। वहाँ की पल्योपम और सागरोपम जैसी दुःख पूर्ण लम्बी आयु को भी समाप्त कर वहाँ से

निकल आया हूँ तो फिर मेरा यह चारित्र विषयक मानसिक दुःख तो है ही क्या चीज ? अर्थात् नरकों में पल्योपम और सागरोपम की लम्बी आयुष्य तक निरन्तर मिलने वाला अनन्त दुःख कहाँ और इस संयमी जीवन में कभी-कभी आया हुआ थोड़ा-सा आकस्मिक दुःख कहाँ ? इन दोनों में महान अन्तर है – ऐसा सोच कर साधु को समभाव पूर्वक कष्ट सहन करना चाहिए।

15. दुःख से घबरा कर संयम छोड़ने की इच्छा करने वाले साधु को ऐसा विचार करना चाहिए कि मेरा यह दुःख बहुत काल तक नहीं रहेगा। भोग भोगने की लालसा से संयम छोड़ने की इच्छा करने वाले साधु को विचार करना चाहिए कि जीव की भोग–पिपासा (विषय-वासना) अशाश्वत है। यदि यह विषय-वासना इस शरीर में शक्ति रहते नष्ट न होगी तो मेरी वृद्धावस्था आने पर अथवा मृत्यु आने पर तो अवश्य नष्ट हो जाएगी अर्थात् जब यह शरीर ही अनित्य है तो विषय-वासना नित्य किस प्रकार हो सकती है ?

उपर्युक्त रीति से विचार करने से जिसकी आत्मा धर्म पर इतनी दृढ़ हो जाती है कि अवसर पड़ने पर वह धर्म पर अपने शरीर को प्रसन्नता पूर्वक न्यौछावर कर देता है किन्तु धर्म का त्याग नहीं करता। जिस प्रकार प्रलय काल की प्रचण्ड वायु भी सुमेरु पर्वत को चलित नहीं कर सकती; उसी प्रकार चंचल इन्द्रियाँ भी मेरु पर्वत के समान दृढ़ उस पूर्वोक्त मुनि को संयम मार्ग से विचलित नहीं कर सकती।[68]

शंका दोष के भेद

''यह दोष मुख्यरूप से दो कारणों से उत्पन्न होता है – अज्ञानमूलक और दौर्बल्यमूलक।''[69]

अज्ञानमूलक शंका दोष

इस दोष का सम्बन्ध दर्शनमोहनीय कर्म के साथ-साथ ज्ञानावरण कर्म के साथ भी है। अनगार धर्मामृत, संयमप्रकाश, आदि में इसकी व्याख्या, इसी आधार पर की गई है। जैसे –

''**जीवादितत्त्वार्थेषु रत्नत्रयमोक्षमार्गे तत्प्रतिपादके वाऽऽगमे तत्प्रणेतरि च सर्वज्ञे सदसत्त्वाभ्यामन्यथा वा संशीतिः शंका।**[70]

अर्थात् जीव, अजीव, आदि तत्त्वार्थों में, रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग में, उन जीवादि और रत्नत्रय के प्रतिपादक आगम में एवं उन तत्त्वों के प्रणेता सर्वज्ञ भगवान में विद्यमान-अविद्यमान गुणों में वे ऐसे हैं अथवा अन्यथा हैं; इस प्रकार संशय करना, **शंका नामक अतिचार** है।''

''दर्शनमोह के उदय का अभाव होने से, सर्वज्ञ की आज्ञा से विश्व (समस्त वस्तु विस्तार) को – यह ऐसा ही है, इस प्रकार मानते हुए भी ज्ञानावरण कर्म के उदय से सर्वज्ञ के द्वारा कहे गये तत्त्व में – यह है या नहीं है – ऐसी जो डगमगाती हुई प्रतिपत्ति होती है, उसे **संशय** कहते हैं, उसे ही **शंका नामक अतिचार** कहते हैं।''[71]

''चलित प्रतिपत्तिरूप अनिश्चित अनेक कोट्यात्मक ज्ञान **संशय** कहलाता है। जैसे, यह साँप है या रस्सी, सीप है या चाँदी, तत्त्व अनेकान्तात्मक है या एकान्तात्मक, जीव का लक्षण चेतना है या नहीं, जिनोक्त तत्त्व सच्चा है या मिथ्या, आदि तत्त्वों के विषय में ऐसी **शंका**, दर्शनमोहनीय (सम्यक्त्व प्रकृति) सहित ज्ञानावरण कर्म के उदय से होती है।''[72]

''वह **प्रवचन विषयक शंका** निश्चय से वस्तुस्वरूप के यथार्थ प्रत्यय से सम्बन्ध रखने वाले सम्यग्दर्शन को मलिन करती है; किन्तु यह साँप है या रस्सी है, इस प्रकार की शंका, सम्यग्दर्शन को मलिन नहीं करती; किन्तु दर्शनमोह के उदय से होने वाले सन्देह से जो प्रवचन में अश्रद्धा होती है, वह **संशय मिथ्यात्व** है।''[73]

इस विषय में सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी के विचार द्रष्टव्य हैं –

''शंका का अर्थ भी संशय है। यह साँप है या रस्सी है, ठूँठ है या पुरुष है; इस प्रकार की चलिन प्रतीति को संशय कहते हैं। इस प्रकार का संशय तो सम्यग्दृष्टि को भी होता है, कुछ अँधेरा होने के कारण ठीक-ठीक दिखाई न देने से इस प्रकार का सन्देह होता है परन्तु यह सन्देह श्रद्धामूलक नहीं है, अतः इससे सम्यग्दर्शन मलिन नहीं होता।

दर्शनमोह के उदय के अभाव में सर्वज्ञोक्त तत्त्वों की श्रद्धा करते हुए ज्ञानावरण कर्म के उदय से जो सन्देहरूप प्रतीति होती है, वह **सन्देह नामक अतिचार** है, उससे सम्यग्दर्शन मलिन होता है।

इसी से कहा है कि अच्छे समझाने वाले के न होने से, अपनी बुद्धि मन्द होने से और पदार्थ के सूक्ष्म होने से यदि कोई तत्त्व समझ में न आता हो उसमें सन्देह न करके सर्वज्ञप्रणीत आगम को ही प्रमाण मान कर, गहन पदार्थ का श्रद्धान करना चाहिए।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, **अज्ञानमूलक प्रवचन विषयक शंका** से मलिन होता है; किन्तु यदि शंका अश्रद्धानमूलक हो, उसके मूल में दर्शनमोह का उदय कारण हो तो उसे **संशय मिथ्यात्व** कहते हैं। संशय मिथ्यात्व के रहते हुए तो सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता, वह अतिचार नहीं है, अतिचार तो एकदेश भंग होने पर होता है।''[74]

किस प्रकार का संशय होने पर भी सम्यक्त्व रहता है? – इस विषय को स्पष्ट करते हुए भगवती आराधना की विजयोदया टीका में निम्न शंका-समाधान प्राप्त होता है –

''**शंका** – सम्यक्त्व होने पर उसमें अतिचार लगना उचित है, किन्तु संशय तो मिथ्यात्वरूप है। मिथ्यात्व के भेदों में संशय को भी गिना है।

समाधान – संशय के होने पर भी सम्यग्दर्शन रहता है, अतः उसका अतिचारपना उचित है। श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष न होने से, उपदेष्टा के अभाव से, अथवा उसके वचनों की निपुणता न होने से, या निर्णयकारी शास्त्रवचन के न प्राप्त होने से अथवा कालल्बि के अभाव से यदि किसी विषय का निर्णय नहीं होता, तथापि 'जैसा इसे सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, वैसा ही मैं श्रद्धान करता हूँ' – ऐसी भावना करने वाले के सम्यक्त्व का अभाव कैसे हो सकता है ?[75]

इस सम्बन्ध में श्री रामजीभाई, तत्त्वार्थसूत्र की टीका में लिखते हैं –

''आत्मा का स्वरूप समझने के लिए शंका करके जो प्रश्न किया जाए, वह शंका नहीं, किन्तु आशंका है; अतिचारों में जो **शंका दोष** कहा है, उसमें इसका समावेश नहीं होता।''[76]

इस दोष को तर्कवाद से जोड़ते हुए पण्डित सुखलाल संघवी लिखते हैं –

''परीक्षा का जैन तत्त्वज्ञान में पूर्ण स्थान होने पर भी यहाँ शंका को अतिचार कहने का अभिप्राय इतना ही है कि तर्कवाद से परे (अगोचर) पदार्थों को तर्कदृष्टि से कसने का प्रयत्न नहीं होना चाहिए; क्योंकि साधक श्रद्धागम्य प्रदेश को भी छोड़ देता है; अतः जिससे साधना के विकास में बाधा आती हो; वैसी शंका, अतिचार के रूप में त्याज्य है।''[77]

अज्ञानमूलक शंका दोष के निराकरण की प्रेरणा

''वीतराग सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा गया 'सब अनेकान्तात्मक है' – यह मत अन्यथा नहीं हो सकता, इस प्रकार श्रद्धा करते हुए, अपनी बुद्धि मन्द होने से अथवा गुरु आदि के नय-प्रयोग में कुशल न होने से, 'यह जिन भगवान के द्वारा कहा गया धर्मादि-तत्त्व ठीक है या बौद्ध आदि के द्वारा कहा गया ठीक है; यह जिनोक्त तत्त्व इसी प्रकार है या अन्य प्रकार है;' इस प्रकार हृदय में लगी हुई शंका को युक्ति और आगम में कुशल गुरु या युक्ति से समर्थित आगमरूपी तीर्थ का तत्काल अवगाहन करके दूर करना चाहिए।[78]

इसी अज्ञानमूलक शंका दोष के निराकरण की प्रेरणा करते हुए पण्डित कैलाशचन्द्रजी उदाहरण सहित लिखते हैं –

''लोक में देखा जाता है कि लोग, कीचड़ लग जाने पर नदी आदि के घाट पर जाकर, उसमें अवगाहन करके शुद्धि प्राप्त कर लेते हैं। इसी तरह अपनी बुद्धि मन्द होने से या समझाने वाले की अकुशलता के कारण यदि हृदय में यह शंका पैदा हो जाती है कि जिनोक्त तत्त्व ठीक है या नहीं या वह अनेकान्तरूप ही है या एकान्तरूप है तो सद्युक्तिरूपी तीर्थ में अवगाहन करके उसे दूर करना चाहिए। युक्ति कहते हैं नय-प्रमाणरूप हेतु को और समीचीन अबाधित युक्ति को **सद्युक्ति** कहते हैं तथा **सद्युक्ति-तीर्थ** है – युक्ति और आगम में कुशल गुरु और युक्ति से समर्थित आगम।

कहा भी है –

''जिनश्रुततदाधारौ, तीर्थं द्वावेव तत्त्वतः।
संसारस्तीर्यते ताभ्यां, तत्सेवी तीर्थसेवकः।। 2/72।।[79]

अर्थात् जिनागम और जिनागम के ज्ञाता गुरु – ये दो ही वास्तव में **तीर्थ** हैं क्योंकि उन्हीं के द्वारा संसाररूपी समुद्र से तिरा जाता है तथा उनका सेवक ही **तीर्थसेवक** कहलाता है।''

अज्ञानमूलक शंका दोष से होने वाले दुष्परिणाम

''जैसे, शूरवीर पुरुष, शत्रुओं को मारने का संकल्प करके भी युद्ध में यदि ऐसे घोड़े पर चढ़ा हो जो वेग से दौड़ता हुआ कभी पूरब और कभी पश्चिम की ओर जाता हो तो वह शत्रुओं के द्वारा मारा जाता है; उसी तरह सम्यग्दृष्टि, मोहरूपी शत्रुओं को मारने का निश्चय करके भी यदि सर्वज्ञ के वचनों में 'यह ऐसा ही है या अन्यथा है,' इस प्रकार दोनों ही कोटियों को स्पर्श करने वाली प्रतीति का आश्रय लेता है तो वह मोहरूपी शत्रुओं के द्वारा सम्यग्दर्शन से च्युत कर दिया जाता है।''[80]

दौर्बल्यमूलक शंका दोष

इस दोष का सम्बन्ध मुख्यरूप से निःशंकित अंग के साथ है और समयसार में इस अंग के कारण सम्यग्दृष्टि को निर्भय कहा गया है; अतः शंका दोष में भी क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि को सप्त भयों से सहित बताते हुए श्री रामजीभाई दोशी लिखते हैं –

''निज आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा, अखण्ड, अविनाशी और पुद्गल से भिन्न जान कर भी इसलोक, परलोक, मरण, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति और अकस्मात् – इन सात भयों की प्राप्ति होना अथवा अर्हन्त सर्वज्ञ वीतराग देव के कहे हुए तत्त्व के स्वरूप में सन्देह होना; वह शंका नामक अतिचार है।''[81]

सात भय

सम्यग्दृष्टि के निःशंकित अंग को सात भयों से मुक्त बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार की मूल गाथा में लिखा है –

''सम्मादिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका।।228।।[82]

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं, इसलिए निर्भय होते हैं और क्योंकि वे सप्त भयों से रहित होते हैं, इसलिए निःशंक होते हैं।''

इसी प्रकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव सम्यग्दृष्टियों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं –

''सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं, कर्तुं क्षमन्ते परं,
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया, शंकां विहाय स्वयं,
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं, बोधाच्च्यवन्ते न हि।।154।।[83]

अर्थात् जिसके भय से चलायमान होते हुए तीनों लोक अपने मार्ग को छोड़ देते हैं – ऐसा वज्रपात होने पर भी, ये सम्यग्दृष्टि जीव, स्वभावतः निर्भय होने से, समस्त शंका को छोड़ कर, स्वयं अपने को जिसका ज्ञानरूपी शरीर अवध्य है – ऐसा जानते हुए, ज्ञान से च्युत नहीं होते। इस प्रकार ऐसा परम साहस करने के लिए मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ हैं।''

इसी भाव को व्यक्त करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबडा, इसी श्लोक के भावार्थ में लिखते हैं –

''जिसके भय से तीनों लोक के जीव काँप उठते हैं, चलायमान हो उठते हैं और अपना मार्ग छोड़ देते हैं – ऐसा वज्रपात होने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव, अपने स्वरूप को ज्ञानशरीरी मानता हुआ ज्ञान से चलायमान नहीं होता। उसे ऐसी शंका नहीं होती कि इस वज्रपात से मेरा नाश हो जाएगा; यदि पर्याय का विनाश हो तो ठीक ही है क्योंकि उसका तो विनाशीक स्वभाव ही है।''[84]

फिर भी क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव को अतिचार की अवस्था में इन सात भयों में से कोई-कोई भय का प्रादुर्भाव हो जाता है। इन सात भयों के नाम निम्न प्रकार हैं –

''इहभवभय परलोकभय, मरण वेदना जात।
अनरच्छा अनगुप्तभय, अकस्मातभय सात।।48।।[85]

अर्थात् इहलोकभय, परलोकभय, मरणभय, वेदनाभय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय और अकस्मात्भय – ये सात भय हैं।

पण्डित बनारसीदासजी ने इन सात भयों का पृथक्-पृथक् स्वरूप केवल एक छन्द में अत्यन्त सुन्दरता के साथ समाहित किया है, जो देखते ही बनता है –

''दसधा परिग्रह-वियोग-चिंता इह भव,
दुर्गति-गमन भय परलोक मानिये।
प्राननि कौ हरन मरन-भै कहावै सोइ,
रोगादिक कष्ट, यह वेदना बखानिये।।
रच्छक हमारौ कोऊ नांही अनरच्छा भय,
चोर-भै विचार अनगुप्त मन आनिये।
अनचिन्त्यौ अबही अचानक कहांधौं होइ,
ऐसौ भय अकस्मात जगत मैं जानिये।।49।।[86]

अर्थात् क्षेत्र, वास्तु, आदि दस प्रकार के परिग्रह का वियोग होने की चिन्ता करना, **इहलोकभय** है। कुगति में जन्म होने का डर मानना, **परलोकभय** है। दस प्रकार के प्राणों का वियोग हो जाने का डर मानना, **मरणभय** है। रोग आदि दुःख होने का डर मानना, **वेदनाभय** है। कोई हमारा रक्षक नहीं – ऐसी चिन्ता करना, **अनरक्षाभय** है। चोर व दुश्मन आवे तो कैसे बचेंगे – ऐसी चिन्ता करना, **अगुप्तभय** है। अचानक ही कुछ विपत्ति न आ खड़ी हो – ऐसी चिन्ता करना, **अकस्मात्भय** है; इस प्रकार ये **सात भय** संसार में हैं।''

इन सात भयों का स्वरूप एवं उनसे बचने का उपाय आचार्य सूर्यसागरजी ने संयमप्रकाश में अत्यन्त स्पष्टता और सरलता के साथ लिखा है, जो द्रष्टव्य है[87] –

1. **इहलोकभय** – इस भव में मेरे इष्ट का वियोग व अनिष्ट का संयोग न हो, मैं सदा धनवान बना रहूँ, कभी दरिद्री नहीं होऊँ, इत्यादि चिन्ताओं से ग्रसित होना, अथवा यदि मेरा वैभव नष्ट हो जाएगा तो मैं कैसे जीऊँगा इत्यादि विचारों का भय, **इसलोकभय** है; परन्तु सम्यग्दृष्टि को ऐसा भय नहीं होता क्योंकि वह वस्तुस्वरूप का ज्ञाता होने से ऐसा मानता है कि 'शुभाशुभकर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, परन्तु उससे मेरे आत्मा की कोई हानि नहीं होती' – ऐसा दृढ़ श्रद्धान रखता है।

2. **परलोकभय** – मिथ्यादृष्टि ही कर्मजनित दुःखों से घबराता है, सम्यग्दृष्टि तो सांसारिक सुख-दुःख में राग-द्वेष करने में अपना अहित समझ कर, ऐसा भय नहीं रखना कि 'मेरा परलोक में क्या होगा? मैं कहाँ जाकर जन्म लूँगा? और किस-किस प्रकार सुख-दुःख भोगने पड़ेंगे? न मालूम मुझे कैसे सम्बन्धी किस रूप में मिलेंगे? – यही **परलोकभय** है।

3. **मरणभय** – जिसका जन्म हुआ है, उसका मरण अवश्यंभावी है तो भी मरण का नाम लेने से ही मिथ्यादृष्टि जीव डरते हैं, न कि सम्यग्दृष्टि। यह शरीर जीर्ण एवं शीर्ण वस्त्र के समान है, जीव इसको बदल कर, दूसरे शरीर में जाता है, इससे आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ता और संसार में प्राणों के नाश का ही नाम मरण है और मेरे तो एक चेतना ही प्राण है, उसका कभी विनाश नहीं होता; फिर भी यह जीव मरण से डरता है – यही **मरणभय** है।

4. **वेदनाभय** – शरीर में वात-पित्तादिक के प्रकोप से ज्वरादि रोगों की उत्पत्ति का होना, वेदना कहलाता है। रोग होने के पहले से ही ऐसी चिन्ता करना कि मैं बीमार न हो जाऊँ या बीमार हो जाने पर यह चिन्ता करना कि मैं कब निरोग होऊँगा? इत्यादि वेदनाभय कहलाता है। सम्यग्दृष्टि विचारता है कि ज्ञान-दर्शनस्वभाव का धारक होने से मैं तो निजस्वरूप-वेदना का ही अनुभव करने वाला हूँ; अतः कर्मजनित रोगादि से मैं क्यों घबराऊँ। रोग तो शरीर में होता है, किन्तु शरीर मेरा कहाँ है? वह तो पर है, जड़ है। मैं तो चेतनस्वरूप हूँ, रोगादि मेरे स्वरूप से भिन्न ही हैं; अतः मैं उनका विचार क्यों करूँ? मैं तो सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ – ऐसा विचार कर, वह **वेदनाभय** को जीतता है।

5. **अरक्षाभय** – मिथ्यादृष्टि सोचता है कि मेरा कोई रक्षक नहीं है। हाय, मुझे कोई बचाने वाला नहीं है। मैं किसकी शरण जाऊँ? परन्तु सम्यग्दृष्टि विचारता है कि पदार्थ की सत्ता का कभी नाश नहीं होता, अतः किसी के द्वारा मेरे शरीर की रक्षा नहीं होने पर भी निज आत्मा का कभी नाश नहीं होता, फिर 'हाय, मेरी रक्षा करने वाला नहीं है' – ऐसा भय मैं क्यों करूँ? शरीर का नाश होना तो अवश्यंभावी है – ऐसा विचार कर, वह इस अरक्षाभय से विजय प्राप्त करता है।

6. **अगुप्तिभय** – जिस मिथ्यादृष्टि भूमिपति (राजा) आदि के पास दृढ़ किला आदि न हो तो वह डरता रहता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि राजा ऐसा विचारता है कि मेरे कोट, किला, खाई, आदि नहीं हैं तो भी इससे मेरी

कोई हानि नहीं क्योंकि मैं सत्स्वरूप आदि-अन्त रहित, चैतन्यरूप हूँ और रूप-रस-गन्ध-स्पर्श रहित होने से संसारी जीवों की दृष्टि में मैं दृष्टिगत होने वाला नहीं हूँ, मुझे तो केवलज्ञानी ही देख सकते हैं तथा मैं एक ऐसा द्रव्य हूँ, जिसका कि कभी भी नाश नहीं हो सकता। फिर मैं अगुप्ति का भय क्यों करूँ? यदि भय करूँगा तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में अन्तर ही क्या रहेगा? ऐसा भय करने से तो सम्यक्त्व में दूषण लगता है; अतः अगुप्तिभय करना मुझको अयोग्य है। मुझे मेरा स्वरूप समझना चाहिए, मेरे स्वरूप की गुप्ति तो स्वयं ही हो रही है, इसके लिए मुझे डरने की जरूरत नहीं है – ऐसे विचार से इस **अगुप्तिभय** को जीतना चाहिए।

7. **अकस्मात्भय** – आकस्मिक घटनाओं से डरना, उनका ख्याल करके, भयभीत रहना। जैसे – बिजली गिरने, भूकम्प होने, अग्नि लगने, बाढ़ आने, आदि से डरते रहना। सम्यग्दृष्टि ऐसे भयों के विषय में विचारता है कि ये मेरा क्या कर सकते हैं? क्योंकि सिद्धान्त में ऐसा कहा है कि किसी वस्तु का, अन्यवस्तु कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। सभी द्रव्य, अपने-अपने गुण-पर्यायों में स्वतन्त्ररूप से बने रहते हैं। फिर अकस्मात् भय आकर, मेरा क्या बिगाड कर सकता है। श्री जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान में जो कुछ भी झलका है, उसको मेटने में इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, आदि की भी सामर्थ्य नहीं है तो फिर अन्य सामान्य मनुष्य की तो बात ही क्या है? इसलिए **आकस्मिकभय** से कभी चलायमान नहीं होना चाहिए।

आचार्यों ने सिद्धान्त में कहा है कि तीन लोक की सम्पूर्ण वस्तुएँ मिल कर, सम्यग्दृष्टि को चलायमान करें, तब भी वह अपने दृढ़ श्रद्धान से चलायमान नहीं हो सकता। फिर मैं कैसे डर सकता हूँ? इस तरह डरना मेरा कर्तव्य नहीं है। वीतराग निर्ग्रन्थ श्री जिनेन्द्र भगवान का मार्ग महान उत्कृष्ट है; अतः उसके उपासक को कभी डरना नहीं चाहिए। यह भी मैं जानता हूँ कि संसार में कोई भी वस्तु, पर्यायरूप से स्थिर नहीं है; सबकी मर्यादा है तो इस उपसर्ग की भी तो मर्यादा है, इसलिए समय पूर्ण होने पर यह भी दूर हो जाएगा। अगर यह मनुष्य पर्याय भी इसी उपसर्ग से जानी होगी तो अवश्य जाएगी, किसी के रोकने से रुक नहीं सकती; अतः इस **अकस्मात्भय** से डरना उचित नहीं है।''[88]

इसी भाव को प्रगट करने वाला आत्मख्याति का कलश निम्न प्रकार है –

''सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं, कर्तुं क्षमन्ते परं,
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्, त्रैलोक्यमुक्ताध्वनिः।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया, शंकां विहाय स्वयं,
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं, बोधाच्च्यवन्ते न हि।।154।।

अर्थात् जिसके भय से चलायमान होते हुए तीनों लोक अपना मार्ग छोड़ देते हैं – ऐसा वज्रपात होने पर भी ये सम्यग्दृष्टि जीव, स्वभाव से ही निर्भय होने से समस्त शंकाओं-आशंकाओं को छोड़ कर, ज्ञानशरीरी अपने आत्मा को अवध्य जान कर, ज्ञान से च्युत नहीं होते – ऐसा परम साहस करने में मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ होते हैं।''[89]

सात भयों का आध्यात्मिक दृष्टि से निराकरण[90]

''सात भयों का आध्यात्मिक दृष्टि से निराकरण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव समयसार की आत्मख्याति टीका में संस्कृत छन्दों के माध्यम से और पण्डित जयचन्द्रजी छाबडा उसकी हिन्दी वचनिका में लिखते हैं –

- **इहलोकभय और परलोकभय का निराकरण**

लोकः शाश्वत एक एष सकल-व्यक्तो विविक्ताऽऽत्मनः,
चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं, यल्लोकयत्येककः।
लोकोऽयं न तवाऽपरस्तदपरस्तस्याऽस्ति तद्भीः कुतो,
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं, ज्ञानं सदा वन्दति।।155।।

अर्थात् यह भिन्न आत्मा का चैतन्यस्वरूप लोक है; वह शाश्वत है, एक है और सब जीवों में प्रगट है; जिसको केवल यह ज्ञानी आत्मा ही स्वयं अकेला अवलोकन करता है। वहाँ ज्ञानी आत्मा ऐसा विचार करता है कि यह चैतन्यलोक ही मेरा है, इससे अन्य लोक परलोक है, तेरा नहीं है; इस प्रकार विचार करते हुए ज्ञानी को इहलोक और परलोक का भय क्यों हो? अर्थात् नहीं होता; वह ज्ञानी निःशंक होता हुआ, निरन्तर अपने को स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप अनुभव करता है।

- **वेदनाभय का निराकरण**

एषैकैव हि वेदना यदचलं, ज्ञानं स्वयं वेद्यते,
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदाऽनाकुलैः।
नैवाऽन्याऽगतवेदनैव हि भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो,
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं, ज्ञानं सदा वन्दति।।156।।

अर्थात् ज्ञानी पुरुषों को यही एक वेदना रहती है कि वे निराकुल होकर, अपने एक ज्ञानस्वरूप को, अपने ज्ञानस्वभाव ही से स्वयं वेदने योग्य और स्वयं ही वेदन करने वाला – ऐसे अभेदस्वरूप वेद्य-वेदकभाव के बल से, अपने को निरन्तर निश्चल वेदते हैं, अनुभवन करते हैं। ज्ञानी को अन्य किसी प्रकार की कोई वेदना ही नहीं है; अतः उसको उस वेदना का भय क्यों हो? अर्थात् नहीं होता; इसलिए ज्ञानी निःशंक होता हुआ, अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वभाव का निरन्तर अनुभव करता है।

- **अरक्षाभय का निराकरण**

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं, व्यक्तेति वस्तुस्थितिः,
ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्याऽपरैः।
अस्याऽत्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो,
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं, ज्ञानं सदा वन्दति।।157।।

अर्थात् ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि सत्स्वरूप वस्तु तो कभी नाश को प्राप्त होती नहीं है – यह नियम से वस्तु की मर्यादा है। ज्ञान, स्वयं सत्स्वरूप वस्तु है, उसकी निश्चय से अन्य के द्वारा रक्षा की आवश्यकता क्या है? अर्थात् उस ज्ञान की असुरक्षा का कारण कोई भी नहीं है; अतः ज्ञानी को अरक्षा का भय किसलिए हो? अर्थात् नहीं होता। ज्ञानी तो सदा निःशंक होता हुआ अपने स्वाभाविक को स्वयं अनुभव करता है।

- **अगुप्तिभय का निराकरण**

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा, गुप्तिः स्वरूपेनयत्,
शक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं, ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्याऽगुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो,
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं, ज्ञानं सदा वन्दति।।158।।

ज्ञानी विचार करता है कि वस्तु का निजरूप ही परमगुप्ति है, उसमें अन्य कोई भी प्रवेश करने में समर्थ नहीं है। ज्ञान, पुरुष का अकृत्रिम स्वरूप है; अतः इसमें अगुप्ति कुछ नहीं होती है, इसलिए इस अगुप्ति का भय ज्ञानी को नहीं है। इसी कारण सदा निःशंक होता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञानभाव का निरन्तर स्वयं अनुभव करता है।

- **मरणभय का निराकरण**

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं, प्राणाः किलाऽस्याऽऽत्मना,
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया, नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्याऽतो मरणं न किंचन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो,
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं, ज्ञानं सदा वन्दति।।159।।

ज्ञानी विचार करता है कि प्राणों के उच्छेद होने को मरण कहते हैं, परन्तु निश्चय से आत्मा का ज्ञान ही प्राण है और वह स्वयमेव शाश्वत है, अतः उसका कभी उच्छेद नहीं होता है। इस कारण इस आत्मा का मरण कुछ भी नहीं है, अतः ऐसे विचार करने वाले ज्ञानी को उस मरण का भय क्यों हो? इसलिए वह ज्ञानी, सदा निःशंक होता हुआ, निरन्तर अपने स्वाभाविक ज्ञानभाव का सदा स्वयं अनुभव करता है।

- **आकस्मिकभय का निराकरण**

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो,
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नाऽत्र द्वितीयोदयः।

तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भी कुतो ज्ञानिनो,
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं, ज्ञानं सदा वन्दति।।160।।

अर्थात् ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि यह ज्ञान एक है, अनादि है, अनन्त है, अचल है और यह स्वयं ही से सिद्ध है। वह जब तक है, तब तक वह सदा वह ही है, इसमें दूसरे का उदय नहीं है; इसलिए इसमें अकस्मात् नया कुछ उत्पन्न हो – ऐसा कुछ भी नहीं है। ऐसा विचारने पर उसे अकस्मात् कुछ होने का भय क्यों हो ? अर्थात् नहीं होता; इसलिए वह ज्ञानी, निःशंक होता हुआ, निरन्तर अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वभाव का सदा अनुभव करता है।[91]

चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न भय सम्यग्दृष्टि को भी होता है –इस सम्बन्ध में पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ा ने भी समयसार वचनिका में विशेष प्रश्न उपस्थित करके समाधान किया है।[92]

शंका दोष को दूर करने का उपदेश

"इस लोक में जीव को केवल परमात्मा में भक्ति ही शरण है, मोक्ष के लिए उसी परमात्मा की आराधना करनी चाहिए, दूसरे की नहीं; उसी परमात्मा के द्वारा कहा गया धर्म ही मोक्षदाता है, दूसरा नहीं। इस प्रकार सन्मार्ग पर निश्चल श्रद्धा करने वाले अंजन चोर का स्मरण करते हुए मुमुक्षु को भय और संशय को छोड़ कर, निःशंक होना चाहिए।

शंका के दो भेद हैं – भय और संशय। कहा भी है –

अहमेक्को न मे कश्चिदस्ति त्राता जगत्त्रये।
इति व्याधिव्रजोत्क्रान्तिः, भीतिं शंकां प्रचक्षते।।
एतत्तत्त्वमिदं तत्त्वमेतद्व्रतमिदं व्रतम्।
एष देवश्च देवोऽयमिति शंकां विदुः पराम्।।2/74।।

अर्थात् मैं अकेला हूँ, तीनों लोकों में मेरा कोई रक्षक नहीं है, इस प्रकार रोगों के आक्रमण के भय को शंका कहते हैं। अथवा यह तत्त्व है या यह तत्त्व है? यह व्रत है या यह व्रत है? यह देव है या यह देव है? इस प्रकार के संशय को शंका कहते हैं। इन दोनों से जो मुक्त है, वही निःशंक है। उसी का उपाय बताया है।

मृत्यु आदि के भय से मुक्त होने के लिए यह श्रद्धा करना चाहिए कि परमात्मा के सिवाय इस संसार में अन्य कोई शरण नहीं है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में अशरण भावना का चिन्तन करते हुए कहा है –

जिस संसार में देवों के स्वामी इन्द्रों का भी विलय होता देखा जाता है तथा जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश जैसे देव भी काल के ग्रास बन चुके हैं, उस संसार में कुछ भी शरण नहीं है। जैसे, शेर के पंजे में फँसे हुए हिरन को कोई नहीं बचा सकता, वैसे ही मृत्यु के मुख में गये हुए प्राणी को कोई नहीं बचा सकता। यदि मरते हुए जीव को देव, तन्त्र, मन्त्र, क्षेत्रपाल वगैरह बचा सकते तो मनुष्य अमर हो जाते। रक्षा के विविध साधनों युक्त बलवान से बलवान मनुष्य भी मृत्यु से नहीं बचता।

यह सब जानते-देखते हुए भी मनुष्य, तीव्र मिथ्यात्व के फन्दे में फँस कर भूत, प्रेत, यक्ष, आदि को शरण मानता है। आयु का क्षय होने से मरण होता है और आयु देने में कोई समर्थ नहीं है, अतः स्वर्ग का स्वामी इन्द्र भी मृत्यु से नहीं बचा सकता। दूसरों को बचाने की बात तो दूर है, यदि देवेन्द्र अपने को स्वर्ग से च्युत होने से बचा सकता तो वह सर्वोत्तम भोगों से सम्पन्न स्वर्ग का क्यों छोड़ता? इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही शरण है, अन्य कुछ भी शरण नहीं है; अतः उसी की परम श्रद्धा से सेवा करना चाहिए।

इस प्रकार की श्रद्धा के बल से भयरूप शंका से छुटकारा मिल सकता है; अतः परमात्मा में विशुद्ध भाव युक्त अन्तरंग अनुराग होना चाहिए और उनके द्वारा कहे गये धर्म को मोक्षमार्ग मान कर, संशयरूप शंका से मुक्त होना चाहिए तथा सम्यग्दर्शन के निःशंकित अंग का पालन करने में प्रसिद्ध हुए अंजन चोर के जीवन को स्मृति में रखना चाहिए कि किस तरह उसने सेठ जिनदत्त के द्वारा बताये गये मन्त्र पर दृढ़ श्रद्धा करके पेड़ में लटके छीके पर बैठ कर, उसके बन्धन काट डाले थे, नीचे गड़े अस्त्र-शस्त्रों से मृत्यु का भय नहीं किया था और अंजन (अंजन चोर) से निरंजन (सिद्ध) हो गया था।"[93]

निःशंकित गुण का वर्णन करते हुए आचार्य समन्तभद्रस्वामी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखते हैं –

''इदमेवेदृशं चैव, तत्त्वं नाऽन्यन्न चाऽन्यथा।
इत्यकम्पाऽयसाम्भोवत्, सन्मार्गेऽसंशया रुचिः।।11।।

अर्थात् यथावस्थित वस्तु का स्वरूप यही है, ऐसा ही है, अन्य या अन्य प्रकार का नहीं है – इस प्रकार मोक्षमार्ग में लोह-निर्मित तलवार के पानी के समान अचल-अडोल निश्चल श्रद्धान करने को निःशंकित अंग कहते हैं।''[94]

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए पण्डित सदासुखदासजी लिखते हैं –

''संसार में अनेक प्रकार के गदा, चक्र, त्रिशूल आदि आयुध के धारी, स्त्रियों में अति आसक्त, क्रोधी, मानी, मायाचारी, लोभी; अपना शौर्य आदि कर्तव्य दिखाने के इच्छुक को देव कहा जाता है; हिंसा, काम, क्रोधादि में धर्म बताने वाले शास्त्र को आगम कहा जाता है और अनेक पाखण्डी, लोभी, कामी, अभिमानी, आदि को गुरु कहा जाता है; किन्तु वे कोई भी सच्चे नहीं हैं – ऐसा दृढ़ श्रद्धान जिसे है, उसके निःशंकित गुण होता है। मूढ़ों की खोटी युक्तियों द्वारा जिसका चित्त चलायमान नहीं होता तथा खोटे देवताओं के विकार द्वारा, मन्त्र-तन्त्र आदि द्वारा परिणाम विकारी नहीं होते हैं, उसके निःशंकित गुण है। जैसे, तलवार की धार का पानी हवा द्वारा चलायमान नहीं होता है; वैसे ही जिसके सच्चे देव-गुरु-धर्म के स्वरूप-सम्बन्धी परिणाम, मिथ्यादृष्टियों के वचनरूप हवा के द्वारा संशय को प्राप्त नहीं होते, उसके निःशंकित गुण होता है।

इसी प्रकार आत्मतत्त्व का जैसा स्वरूप निर्दोष आगम में कहा है, वैसा स्वानुभव करके जिसने अपने को आपरूप जाना है और पर-पुद्गलों के सम्बन्ध को पररूप जाना है – ऐसा सम्यग्दृष्टि सप्त भय रहित होकर, निःशंकित गुण को प्राप्त करता है।.....अपना और पर का स्वरूप सही-सही जानने वाले सम्यग्दृष्टि को ये सप्त भय नहीं होते हैं।.....जिसको सम्यग्दर्शन है, उसे परिणामों में सातों ही भय नहीं होते हैं। अपना सच्चा स्वरूप जाने बिना यह आत्मा सप्त भय रहित नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि अहिंसा को ही निश्चयरूप धर्म जानता है। जिसको ऐसी शंका ही उत्पन्न नहीं होती है कि यज्ञ-होमादि जीवघात के आरम्भ में कुछ थोड़ा-सा तो धर्म होगा – ऐसी शंका का अभाव ही निःशंकित अंग है।''[95]

2. कांक्षा दोष

''सन्मार्ग का आराधन करके भी इन्द्रियों का ही पोषण चाहना, **कांक्षा दोष** है।''[96]

''सद्दर्शनफलस्य विषयोपभोगस्येहाऽमुत्र चाऽऽकांक्षणमाकांक्षा।

अर्थात् सम्यग्दर्शन के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले विषय-भोग-उपभोगों की इहलोक एवं परलोक में आकांक्षा करना, **कांक्षा नामक अतिचार** है।''[97]

''इहलोक-सम्बन्धी और परलोक-सम्बन्धी भोगों की आकांक्षा करना, **कांक्षा नामक दोष** है।''[98]

आचार्य सूर्यसागरजी ने अत्यन्त सरल शब्दों में इस दोष की व्याख्या की है –

''मैं जैनधर्म के प्रसाद व सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से देव, यक्ष व राजा हो जाऊँ ? इस प्रकार पराधीन, विनश्वर और सन्ताप तथा तृष्णा को बढ़ाने वाले संसार सुख की वांछा करना, **कांक्षा दोष** है।''[99]

''यद्यपि असंयत सम्यग्दृष्टि और देशसंयमी को भी आहारादि की कांक्षा होती है, प्रमत्तसंयत मुनि को भी परीषह से पीड़ित होने पर खान-पान की कांक्षा होती है, भव्यों को सुख की कांक्षा होती है; इसी प्रकार संसारी गृहस्थ प्राणी को कृषि, व्यापार, आदि के द्वारा धन-धान्य आदि प्राप्त करने की चाह, इच्छा या कांक्षा होती रहती है; किन्तु कांक्षामात्र अतिचार नहीं है। लेकिन जब सम्यग्दर्शन, व्रत, दान, देवपूजा, तप, आदि से उत्पन्न हुए पुण्य से मुझे अच्छा कुल, रूप, धन, स्त्री-पुत्रादि, शत्रु-विनाश अथवा सातिशय स्त्रीपना या पुरुषपना प्राप्त हों; इस प्रकार की कांक्षा, सम्यग्दर्शन का अतिचार है। निदान से होने वाले अतिचारों को हम कांक्षा दोष की श्रेणी में रख सकते हैं, परन्तु ध्यान रहे कि निदान-सम्बन्धी परिणामों की मर्यादा पंचम गुणस्थान तक ही मानी गई है।''[100]

पण्डित आशाधरजी, अनगार धर्मामृत के द्वितीय अध्याय में कांक्षा दोष को बताते हुए लिखते हैं–

''सांसारिक सुख, इष्ट वस्तु के विषय में प्रीतिरूप होने से रागरूप है, स्वयं ही नश्वर है, पुण्य के आधीन होने से पराधीन है, सन्ताप और तृष्णा उसके फल हैं, दुःखदायक अशुभकर्म के बन्ध का कारण होने

से दुःखरूप है – ऐसे सांसारिक सुख में एकमात्र ज्ञानावरण कर्म के उदय से होने वाली भ्रान्ति से ऐसी आकांक्षा होती है कि सम्यग्दर्शन के या तप के माहात्म्य से मुझे यह इन्द्र आदि का पद या संसार का सुख प्राप्त हो, यही कांक्षा, सम्यग्दर्शन में अतिचार लगाती है।

सम्यग्दृष्टि को भी एकमात्र ज्ञानावरण कर्म के उदय से सांसारिक विषयों में सुख की भ्रान्ति होती है। यहाँ एकमात्र कहने का यह अभिप्राय है कि उसके साथ में दर्शनमोह का उदय नहीं है क्योंकि सम्यग्दृष्टियों को दर्शनमोह के उदय से होने वाली भ्रान्ति असम्भव है। यदि उनके वैसी भ्रान्ति हो तो उनके मिथ्याज्ञान का प्रसंग आता है। इसी ज्ञानावरण कर्म के उदयजन्य भ्रान्ति से सम्यग्दृष्टि को भी संसार के सुख की चाह होती है। यही चाह सम्यग्दर्शन में अतिचार लगाती है। कहा भी है –

स्यां देवः, स्यामहं यक्षः, स्यां वा वसुमतीपतिः।
यदि सम्यक्त्वमाहात्म्यमस्तीतीच्छां परित्यजेत्।।2/75।।

अर्थात् 'यदि सम्यक्त्व में माहात्म्य है तो मैं देव होऊँ, यक्ष होऊँ अथवा राजा होऊँ;' इस प्रकार की इच्छा को छोड़ना चाहिए।''[101]

तात्पर्य यह है कि यदि कोई सम्यग्दृष्टि कृषि-व्यापार आदि के द्वारा धन-धान्य प्राप्त करने की इच्छा करता है तो वह **इच्छा, सम्यक्त्व का अतिचार** नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र की आध्यात्मिक हिन्दी टीका में श्री रामजीभाई लिखते है –

''इहलोक या परलोक सम्बन्धी भोगों तथा मिथ्यादृष्टि के ज्ञान या आचरणादि में वांछा होना, वह **वांछा अतिचार** है, यह रागरूप दोष या अतिचार है।''[102]

इस दोष को अतिचार मानने में हेतु प्रस्तुत करते हुए पण्डित सुखलाल संघवी के विचार द्रष्टव्य हैं –

''यदि ऐसी कांक्षा होगी तो साधक गुण-दोष का विचार किए बिना ही, चाहे जब अपना सिद्धान्त छोड़ देगा, इसलिए उसे अतिचार कहा गया है।''[103]

सांसारिक सुख का स्वरूप

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार ग्रन्थ में सांसारिक सुख की व्याख्या करते हुए लिखा है –

''सपरं बाधासहिदं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इन्दिएहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।।[104]

अर्थात् जो इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह सुख पर-सम्बन्धयुक्त, बाधा सहित, विच्छिन्न, बन्ध का कारण और विषम है; इस प्रकार वह दुःख ही है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियसुख, पुण्यजन्य होने पर भी दुःख ही है।''

आचार्य अमृतचन्द्र, उक्त विशेषणों की व्याख्या करते हुए लिखते हैं –

''इन्द्रियसुख, (1) पर के साथ सम्बन्ध वाला होता हुआ अर्थात् पराश्रयता के कारण पराधीन है। (2) बाधा सहित होता हुआ अर्थात् खाने, पीने और मैथुन की इच्छा, इत्यादि तृष्णा की व्यक्तियों (प्रगटताओं) से युक्त होने से अत्यन्त आकुलित है। (3) विच्छिन्न होता हुआ अर्थात् असातावेदनीय का उदय, जिसे च्युत कर देता है – ऐसे सातावेदनीय के उदय से प्रवर्तमान होता हुआ अनुभव में आता है, इसलिए विपक्ष की उत्पत्ति वाला है। (4) बन्ध का कारण होता हुआ अर्थात् विषयोपभोग के मार्ग में लगी हुई रागादि दोषों की सेना के अनुसार कर्म-रज के घन-पटल का सम्बन्ध होने के कारण परिणाम से दुःसह है और (5) विषम होता हुआ अर्थात् हानि-लाभ में परिणमित होने से अत्यन्त अस्थिर है; इसलिए वह (इन्द्रियसुख), दुःख ही है।''[105]

कांक्षा दोष को दूर करने का उपदेश

सम्यक्त्वरूपी रत्न, मुक्तिरूपी लक्ष्मी को आकृष्ट करने वाला है क्योंकि सम्यग्दृष्टि ही मुक्ति-लक्ष्मी का वरण करता है। उस मुक्ति-लक्ष्मी का वरण करने के लिए इन्द्रादिक भी इतने उत्सुक रहते हैं कि वे स्वर्ग के सुखों में मग्न न होकर, पुनः मनुष्य-जन्म प्राप्त करके तपश्चरण करने की इच्छा रखते हैं – ऐसे सम्यक्त्व-रत्न के बदले में जो विषय-सुख की आकांक्षा करता है, वह मनुष्य, उस विषयी मनुष्य के तुल्य है, जो किसी दासी के साथ सम्भोग करने के बदले में उसे चिन्तामणि-रत्न दे डालता है। कहा भी है –

''जो सांसारिक सुखों के बदले में सम्यक्त्व को बेचता है, वह छाछ के बदले में माणिक्य को बेचने वाले मनुष्य के समान केवल अपने को ठगता है। आचार्य निःकांक्षित अंग का वर्णन करते हुए लिखते हैं –

कर्मपरवशे सान्ते, दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था, श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता।।

अर्थात् जो कर्म की पराधीनता को लिए हुए हैं, अन्त सहित हैं, अनेक प्रकार के दुःखों से मिश्रित हैं और पापबन्ध के कारण हैं – ऐसे सांसारिक सुख में अनास्थारूप श्रद्धान रखना, निःकांक्षित अंग है।''[106]

कैसा है इन्द्रियजनित सुख?

1. कर्मों के परवश है, स्वाधीन नहीं है, पुण्यकर्म के उदय के आधीन है। पुण्यकर्म के उदय की सहायता के बिना करोड़ों उपाय तथा महान पुरुषार्थ करने पर भी इस सुख की प्राप्ति नहीं होती है, इष्ट का लाभ नहीं होता है, बहुत प्रकार से अनिष्ट ही प्राप्त होते हैं।
2. कदाचित् पुण्य के उदय से वह सुख प्राप्त हो भी जाए तो वह सुख अन्त सहित है, पराधीन है, कितने समय तक भोगा जाएगा? क्योंकि जो इन्द्रियजनित सुख है, वह अपने इष्ट विषय के आधीन है और इष्ट का समागम विनाशीक है – इन्द्रधनुष के समान, बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर तथा पराधीन है। वह सुख, शरीर की नीरोगता के आधीन, धन के आधीन, स्त्री के आधीन, पुत्र के आधीन, आयु के आधीन, जीविका के आधीन, क्षेत्र के आधीन, काल के आधीन, इन्द्रियों के आधीन, इन्द्रियों के विषयों के आधीन, इत्यादि हजारों पराधीनताओं सहित है तथा विनाश के सम्मुख है, कितने समय तक भोगा जावेगा? इसलिए जो इन्द्रियजनित सुख है, वह अवश्य ही अन्त सहित है।
3. अन्त सहित है तो भी अखण्ड धाराप्रवाहरूप नहीं है। बीच-बीच में अनेक दुःखों के उदय सहित है। कभी तो रोग का आ जाना, कभी स्त्री-पुत्र-मित्र का वियोग हो जाना, कभी अपमान होना, कभी धन की हानि होना, कभी अनिष्ट का संयोग होना; इस प्रकार अन्त सहित और अनेक दुःखों सहित है।
4. यह सुख, पाप का बीज है। इन्द्रियजनित सुखों में लीन होते ही यह जीव, अपना स्वरूप भूलता ही है; अतः इन्द्रियजनित सुख नरक–तिर्यंचादि गतियों में परिभ्रमण कराने वाला पापबन्ध का बीज है।
5. ऐसे पराधीन, अन्त सहित, दुःखों से भरे (पाप के बीजरूप) जितने भी इन्द्रियजनित सुख हैं, वे सब सम्यग्दृष्टि को सुख दिखते ही नहीं हैं, तब उस सुख में उसे आस्थारूप श्रद्धान ही नहीं होगा, तब वह वांछा कैसे करेगा? यहाँ ऐसा भाव समझना कि जो सम्यग्दृष्टि हैं, उसे आत्मा का अनुभव तो होता ही है; तब आत्मा का स्वभाव जो अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञान और निराकुलता लक्षणरूप अविनाशी सुख है, उसका अनुभव होता ही है।
6. संसारी जीवों को जो इन्द्रियों के आधीन सुख है, वह तो सुखाभास है, सुख नहीं है, वेदना का इलाज है। जिसे क्षुधा की तीव्र वेदना उत्पन्न होगी, वह भोजन करके सुख मानेगा; जिसे प्यास लगेगी, वह ठण्डा पानी पीना चाहेगा; जिसे शीत की वेदना होगी, वह रुई का वस्त्र तथा ऊनी वस्त्र ओढ़ना चाहेगा; जिसे गर्मी की वेदना होगी, वह ठण्डी हवा चाहेगा क्योंकि रोग का कष्ट हुए बिना इलाज कराना कौन चाहता है? नेत्र में रोग हुए बिना आँखों में अंजन कौन लगाता है? कर्ण में रोग हुए बिना बकरे का मूत्र तथा तेल आदि कान में कौन डालता है? ठण्ड के बुखार के बिना अग्नि की ताप तथा सूर्य की धूप आदर से कौन सेवन करता है? वातरोग के बिना दुर्गन्धित तेल आदि की मालिश कौन कराना चाहेगा?
7. इसलिए संसारी जीव को इन पाँचों इन्द्रियों की विषयों की चाहरूप दुःख उत्पन्न होने पर इन विषयों को भोगने की इच्छा उत्पन्न होती है। विषयों के भोग तो उस दुःख को थोड़े समय के लिए शान्त कर देते हैं, किन्तु बाद में और अधिक दुःख उत्पन्न करते हैं। इसलिए इन्द्रियों के विषयों को भोगने से उत्पन्न होने वाला सुख तो वास्तव में दुःख ही है।
8. बाह्य शरीर, इन्द्रियादि को ही आत्मा जानने वाला बहिरात्मा है, वह विषयों की वेदना के इलाज को ही सुख मानता है। ऐसा मानना तो मोहकर्मजनित भ्रम है। सुख तो ऐसा है, जहाँ दुःख उत्पन्न ही न हो, उसका लक्षण निराकुलता है। विषयों के आधीन सुख मानना तो मिथ्याश्रद्धान है। सम्यग्दृष्टि को अहमिन्द्र लोक का सुख भी पराधीन, आकुलतारूप, विनाशीक, केवल दुःखरूप ही दिखाई देता है; अतः सम्यग्दृष्टि को इन्द्रियजनित सुख में कभी भी वांछा नहीं होती है।

9. सम्यग्दृष्टि, इस जन्म में तो धन, सम्पत्ति, वैभव, आदि नहीं चाहता है और परलोक में भी इन्द्रपना, चक्रीपना इत्यादि कभी नहीं चाहता है। ये इन्द्रियों के विषय तो थोड़े समय के लिए हैं, किन्तु इनका फल असंख्यात काल तक नरक के दुःख तथा अनन्त काल तक तिर्यंच आदि गतियों में महा दरिद्री, महा रोगी, नीच कुल के मनुष्यों में अनेक जन्म धारण कर भोगना होता है।
10. इस जगत् में जीवों को मोह के उदय से आशा और शंका निरन्तर बनी रहती है। आशा-चाह करने से कुछ प्राप्त होता नहीं है। सभी जीव अपने लिए नित्य ही धन की प्राप्ति, नीरोगता, कुटुम्ब की वृद्धि, इन्द्रियों का बल, अपनी उच्चता चाहते हैं, परन्तु चाह करने से कुछ होता नहीं है। सभी जीव चाह कर-करके निरन्तर पापबन्ध और अन्तरायकर्म का तीव्र बन्ध कर रहे हैं।
11. कितने ही जीव, भोग के अभिलाषी होकर दान, तप, व्रत, शील, संयम धारण करते हैं, किन्तु वांछा करने से पुण्य का घात ही होता है। पुण्य का बन्ध तो निर्वांछक को होता है। जो शुभ-अशुभकर्म के उदय से प्राप्त विषयों में सन्तोषी होकर, विषयों की वांछा नहीं करता है, उसे पुण्य का बन्ध होता है।
12. जगत् के सभी जीव, नित्य प्रातःकाल उठ करके यह चाहते हैं कि मुझे वियोग, मरण, हानि, अपमान, धन का नाश, रोग, वेदना न हो तथा निरन्तर इनकी ही होने की शंका करते रहते हैं, बहुत भयभीत रहते हैं तो भी वियोग होता ही है, मरण होता ही है। धन-हानि, बल-हानि, अपमान, रोग, वेदना, आदि पूर्व में बाँधे गये जो कर्म हैं, उनके उदय के अनुसार होते ही हैं। इनको टालने में इन्द्र-जिनेन्द्र, मन्त्र-तन्त्र, आदि कोई भी समर्थ नहीं हैं क्योंकि मरण तो आयुकर्म के नाश से होता है, अलाभादि अन्तरायकर्म के उदय से होते हैं, रोग-वेदनादि असातावेदनीयकर्म के उदय से होते हैं और कर्म को हटा देने में, जुटा देने में, पलट देने में कोई देव-दानव-इन्द्र-जिनेन्द्रादि समर्थ नहीं हैं। जीव, अपने भावों द्वारा बाँधे गये कर्मों से अपने को छुड़ाने के लिए अपने सन्तोष, क्षमा, तपश्चरणादि भावों के द्वारा आप ही समर्थ है, अन्य कोई नहीं – ऐसे दृढ़ निश्चयश्रद्धान का धारी निःशंक-निर्वांछक सम्यग्दृष्टि ही होता है।

सम्यग्दृष्टि अव्रती गृहस्थ को भी निःकांक्षित सम्यक्त्व होना सम्भव

"यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि समस्त परिग्रह के त्यागी मुनीश्वर साधु हैं, उनको तथा त्यागी गृहस्थों को तो शंका-रहितपना तथा वांछा का अभावपना हो सकता है, किन्तु व्रत **रहित** गृहस्थों को निःशंकितपना, निःकांक्षितपना कैसे हो सकता है? अव्रत-सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को तो भोगों की इच्छा होती दिखाई देती है; वणिज-व्यवहार में, सेवा-नौकरी में लाभ चाहता ही है; अपने कुटुम्ब की वृद्धि, धन की वृद्धि चाहता ही है; तथा रोग की शंका, कुटुम्ब के वियोग की शंका, जीविका के बिगड़ जाने की शंका, धन के नाश होने की शंका, उसे तो निरन्तर बनी रहती है; तब उसे निःशंकपना-निर्वांछकपना कैसे होगा? और निःशंकित-निःकांक्षित भाव हुए बिना सम्यक्त्व कैसे होगा? इसलिए अव्रती-गृहस्थ को सम्यक्त्व होना कैसे सम्भव है?

उसका **उत्तर** ऐसा जानना कि जो सम्यक्त्व होता है, वह तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होने पर होता है। अव्रत-सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के मिथ्यात्व का अभाव हुआ है और अनन्तानुबन्धी का भी अभाव हुआ है। मिथ्यात्व के अभाव से तो सच्चा आत्मतत्त्व और परतत्त्व का श्रद्धान प्रगट हुआ है। अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव से विपरीत रागभाव का अभाव हुआ है तथा ज्ञान-श्रद्धान की विपरीतता के अभाव से इहलोकभय, परलोकभय, मरणभय, आदि सातों भय अव्रत-सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं। इसी कारण से वह अपने आत्मा का अखण्ड, अविनाशी, टंकोत्कीर्ण ज्ञान-दर्शनस्वभाव का श्रद्धान करता है। परवस्तु की वांछारूप जो विपरीतता, उसका अभाव होने से समस्त विषयों में वांछा रहित है। स्वर्गलोक में उत्पन्न हुए इन्द्र और अहमिन्द्रों के भी विषय-भोगों को विष के समान दाह-दुःख उत्पन्न करने वाले जान कर, कभी स्वप्न में भी उनकी वांछा नहीं करता है। अपना आत्माधीन निराकुलता लक्षणरूप अविनाशी ज्ञानानन्द ही को सुख मानता है। अपने शरीर को तथा धन-सम्पदादि को कर्म-उदयजनित, पराधीन, विनाशीक, दुःखरूप जान कर, 'ये हमारे हैं' – ऐसा विपरीत संकल्प नहीं करता है।

अनन्तानुबन्धी कषाय के उदयजनित विपरीत झूठा भय, शंका, परवस्तु में वांछा; अव्रत-सम्यग्दृष्टि के कभी नहीं होती है; परन्तु अप्रत्याख्यानावरण-सम्बन्धी चार कषाय, प्रत्याख्यानावरण-सम्बन्धी चार कषाय, संज्वलन-सम्बन्धी चार कषाय तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद – इन कुल इक्कीस कषायों के तीव्र उदय से उत्पन्न हुए रागभाव के प्रभाव से इन्द्रियों के दुःख का मारा है;

अतः त्याग करने से परिणाम काँपते हैं। यद्यपि विषयों को दुःखरूप जानता है, तथापि वर्तमानकाल का दुःख सहने को समर्थ नहीं है।

जैसे, रोगी कडुवी औषधि को पीना कभी भी अच्छा नहीं मानता है; फिर भी दुःख का सताया कडुवी औषधि को बड़े प्रेम से पीता है; किन्तु अन्तरंग में औषधि पीने को बहुत बुरा जानता है और विचारता है कि 'कब वह दिन आएगा, जब मैं औषधि का नाम भी नहीं लूँगा; उसी तरह अव्रत-सम्यग्दृष्टि भी भोगों को कभी भला नहीं मानता है; परन्तु उनके बिना निर्वाह होता नहीं दिखाई देता, परिणाम की दृढ़ता नहीं दिखाई देती, कषायों का प्रबल धक्का लग रहा है, इन्द्रियों का दुःख सहा नहीं जाता है, इसलिए दुःख का सताया भोगों को चाहता है।

संहनन कमजोर है, कोई सहायता करने वाला दिखता नहीं है, कषायों के उदय से शक्ति नष्ट हो रही है, परवश में पड़ा है। जैसे, जेलखाने में बन्द पुरुष, जेल से अत्यन्त विरक्त है, फिर भी पराधीन हो कर, महा दुःख देने वाले उस जेलखाने को भी लीपता है, धोता है, झाड़ता है; उसी तरह अव्रत-सम्यग्दृष्टि भी शरीर को जेलखाने के समान जानता है, भूख-प्यास के कष्ट सहने में असमर्थ हो कर, शरीर का पोषण करता है, किन्तु देह को अपनी नहीं मानता-जानता है। वर्तमान काल के दुःख का ही उसे डर है और उस दुःख को दूर करने मात्र की ही अव्रत-सम्यग्दृष्टि के वांछा है। कर्म के उदय के जाल में फँसा है, निकलना चाहता है; तथापि राग, द्वेष, अभिमान, आदि अप्रत्याख्यान के उदय का प्रभाव ही ऐसा है कि वह त्याग व व्रतादि चाहता तो है, किन्तु वे उसे त्यागी होने नहीं देते हैं।

उदय की दशा बड़ी बलवान है। संसारी जीव अनादि काल से कर्म के उदय के जाल में से निकल नहीं सका है। जब तक शरीर का संयोग है, तब तक शरीर के निर्वाह के लिए जीविका, भोजन, वस्त्र चाहता ही है। अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से लोक में अपनी नीची प्रवृत्ति के अभावरूप उच्च प्रवृत्ति चाहता है। धन, सम्पदा, जीविका बिगड़ जाने का भय होता ही है, अपयश, तिरस्कार होने का भय होता ही है। इन्द्रियों का कष्ट सहने की असमर्थता से विषयों को चाहता ही है। अभी कषाय घटी नहीं है, राग घटा नहीं है; इसलिए आगे अधिक दुःख होना दिखाई देता है, उसे टालना ही चाहता है; फिर भी राज्य -भोग-सम्पदादि को दुःखरूप जान कर, उनकी चाह नहीं करता है।''[107]

3. विचिकित्सा दोष

''सन्मार्गानुयायी जनों से नफरत करना, **विचिकित्सा दोष** है; जिससे सन्मार्ग छोड़ कर, उन्मार्गगामी भी बन सकता है।''[108]

''आप्ताऽऽगमपदार्थेषु संयमाऽऽधारे च जुगुप्सा, विचिकित्सा।

अर्थात् आप्त, आगम और पदार्थों में तथा संयम के आधार पर आचरण कर रहे साधुओं में जुगुप्सा यानि घृणा करना, **विचिकित्सा नामक अतिचार** है।''[109]

''क्रोध आदि के वश रत्नत्रयरूप धर्म के साधन, किन्तु स्वभाव से अपवित्र शरीर आदि में जो ग्लानि होती है, वह **विचिकित्सा** है। वह रत्नत्रय के प्रभाव में अरुचिरूप होने से सम्यग्दर्शन का मल है, दोष है।''[110]

''शरीर तो स्वभाव से ही गन्दा है, उसके भीतर मल-मूत्र-रुधिर आदि भरा है, ऊपर चाम से मढ़ा है किन्तु धर्म का साधन है। मुनि, उस शरीर के द्वारा ही तपश्चरण करके धर्म का साधन करते हैं, किन्तु वे शरीर की उपेक्षा ही करते हैं; इससे उनका शरीर बाहर से भी मलिन रहता है – ऐसे शरीर को देख कर, उससे घृणा करना, वस्तुतः धर्म के प्रति ही अरुचि का द्योतक है; अतः वह **सम्यग्दर्शन का अतिचार** है।''[111]

''रत्नत्रय के द्वारा पवित्र, किन्तु बाह्य में मलिन शरीर वाले मुनियों को देख कर, उनके प्रति अथवा धर्मात्मा के गुणों के प्रति या दुःखी दरिद्री जीवों को देख कर, उनके प्रति ग्लानि हो जाना, वह **विचिकित्सा अतिचार** है, यह **द्वेषरूप दोष या अतिचार** है।''[112]

''रत्नत्रय से पवित्र मुनियों, व्रतियों एवं त्यागियों के मलिन शरीर से घृणा करना अथवा कोई धर्मात्मा रोगादि से अशक्त हो जाए तो उसके वमन व मल-मूत्र आदि उठाने में घृणा करना, **विचिकित्सा** है।''[113]

''रत्नत्रय युक्त शरीरधारियों की घृणा करना; जैसे, स्नान नहीं करना, दन्तधावन नहीं करना, आदि को दोषरूप से प्रगट करना, **विचिकित्सा** है।''[114]

इस दोष को चिकित्सा अर्थात् सही-गलत के यथार्थ निर्णय से विरुद्ध विचिकित्सा अर्थात् सही-गलत के यथार्थ निर्णय नहीं करने से जोड़ते हुए अर्थात् अमूढ़दृष्टि अंग से विरुद्ध बताते हुए पण्डित सुखलाल संघवी लिखते हैं –

''जहाँ भी मतभेद या विचारभेद का प्रसंग उपस्थित हो, वहाँ अपने आप कोई निर्णय न करके केवल मति-मन्दता या अस्थिर-बुद्धि के कारण यह सोचना कि 'यह बात भी ठीक है और वह बात भी ठीक हो सकती है।' बुद्धि की यह अस्थिरता, साधक को किसी एक तत्त्व पर कभी स्थिर नहीं रहने देती, इसीलिए इसे **अतिचार** कहा गया है।''[115]

''जैन तीर्थंकरों द्वारा कहा गया यह उग्र तप, सत्यता का मन्दिर न होने से प्रशंसनीय नहीं है एवं यह तपरूपी वस्तु सदोष है; इस प्रकार के मानसिक अभिप्राय को **विचिकित्सा दोष** कहते हैं।''[116]

मिथ्यात्व, असंयम, आदि में जुगुप्सा करना अतिचार नहीं

यदि जुगुप्सा करना, सम्यक्त्व का अतिचार है तो क्या मिथ्यात्व आदि विकारी भावों के प्रति भी निर्विचिकित्सा भाव रखना उचित है? – इस प्रश्न के सम्बन्ध में आचार्यश्री अपराजित सूरि ने निम्न शंका-समाधान प्रस्तुत किया है –

''**शंका** – यदि जुगुप्सा अतिचार है तो मिथ्यात्व, असंयम, आदि में जुगुप्सा करना भी अतिचार हो जाएगा?

समाधान – यहाँ नियत विषयों में जुगुप्सा को अतिचार माना है। रत्नत्रय में से किसी एक में अथवा रत्नत्रय के धारियों में कोप आदि के निमित्त से होने वाली जुगुप्सा का यहाँ ग्रहण किया है कि इनका दर्शन-ज्ञान-चारित्र अशोभन है अर्थात् जिसका जिनमें यह श्रद्धान है कि ये श्रेष्ठ हैं, फिर भी यदि वही उनसे जुगुप्सा करता है तो अतिचारपना बनता है; अतः रत्नत्रय के महत्त्व में अरुचि का होना, **जुगुप्सा अतिचार** होता है।''[117]

देह-सम्बन्धी वासना से अतीत मुनिराज

''**शंका** – आज के आधुनिक युग में क्या मुनिराजों को बाह्य मलिनता रखना योग्य है?

समाधान – मुनिराज बाह्य मलिनता को रखते नहीं हैं, परन्तु वे देह में स्थित होते हुए भी देह-सम्बन्धी वासना से अतीत होते हैं; अतः उनका ध्यान देह की अपवित्रता की ओर जाता ही नहीं है तथा लौकिक दृष्टि से देखा जाए तो अपवित्र देह भी रत्नत्रय के द्वारा ही पवित्र होती है। स्नान-जनित हिंसा आदि दोषों के परिहार हेतु मुनिराजों के 28 मूलगुणों में अस्नान नामक मूलगुण है और मुनिराज उनका निरतिचार पालन करते हैं तथा बाह्य मलिनता मोक्षमार्ग में बाधक भी नहीं है। यही कारण है कि छहढालाकार ने निर्विचिकित्सा अंग के वर्णन में यह स्पष्टता के साथ लिखा है कि **मुनितन मलिन, न देख घिनावे**[118] अर्थात् सम्यग्दृष्टि, मुनिराज के शरीर को मलिन देख कर, घृणा नहीं करते।

पुनः शंका – यदि मुनिराजों को बाह्य मलिनता योग्य है तो उन्हें कमण्डलु रखने की क्या आवश्यकता है?

समाधान – यद्यपि मुनिराज बाह्य मलिनता से घृणा नहीं करते क्योंकि जुगुप्सा या ग्लानि करना भी एक कषाय है तथा वस्तुस्वरूप के ज्ञाता मुनिराज, मल-मूत्र आदि से भी घृणा नहीं करते; परन्तु व्यवहार-शुद्धि के लिए आवश्यकता पड़ने पर मल-मूत्र आदि का स्पर्श हो जाने पर उससे उत्पन्न हुई अशुद्धि को दूर करने हेतु शास्त्रोक्त विधि से शुद्धि अवश्य करते हैं, इसलिए मुनिराज कमण्डलु रखते हैं; यही कमण्डलु उनको शुद्धि का उपकरण माना गया है।''[119]

महापुरुषों को मुनिराज की बाह्य मलिनता देख कर भी ग्लानि नहीं

''किसी इष्ट-वियोग आदि का कारण पाकर, वैराग्य के बढने पर, केशलोंचपूर्वक दिगम्बर मुनिलिंग को धारण करके, धर्म की साधना के हेतु शरीर की केवल स्थिति बनाए रखने के लिए, न कि बाह्य चमक-दमक के लिए; विधिपूर्वक आहार आदि ग्रहण करते हुए भी पाप के अत्यधिक भय से स्नान, तेलमर्दन, आदि प्रसाधनों से जिनका मन अत्यन्त निवृत्त है, अतएव अत्यन्त स्पष्ट बीभत्स रूप वाले उन मुनिराज के शरीर को देख कर, जिन-भगवान का स्मरण करते हुए आनन्द में निमग्न सम्यग्दृष्टि को ग्लानि कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती।''[120]

अपने शरीर के प्रति विचिकित्साभाव रखने से लाभ

''सन्त पुरुष, मुक्तात्माओं की गुण-सम्पत्ति की अभिलाषा से वात-पित्त-कफ आदि दोष, रुधिर-मास-मेद-हड्डी-मज्जा-वीर्य-मल-पसीना वगैरह धातु से बने हुए तथा आपत्तियों के मूल, शरीर में रहते हुए कभी भी उससे ग्लानि नहीं करते हैं; इससे वे सन्त पुरुष, निश्चय ही कर्म-मल से रहित अपनी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करते हैं।''[121]

विचिकित्सा दोष को दूर करने का उपदेश

''विचिकित्सा दोष को दूर करने का हमें अपने पूर्ण मन से प्रयत्न करना चाहिए। विष्टा-मूत्र आदि द्रव्य, अचेतन स्पर्शन आदि इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध रखते हैं, मेरे चिद्रूप के साथ नहीं क्योंकि मूर्त का सम्बन्ध मूर्त के साथ ही होता है। मेरे यह भूख, प्यास, आदि भी कर्म के उदयाधीन होने के कारण वैचारिक ही हैं; इसलिए इन द्रव्य-भावों में मुझे किससे विचिकित्सा करना – ऐसा विचार करते हुए सम्यग्दृष्टि आत्मा को शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्थिर होना चाहिए तथा मुनिराज, व्रती श्रावकों एवं सद्गृहस्थों के रोगादि निवारण करने का प्रयत्न करना चाहिए।''[122]

आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखते हैं –

''स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीति, मता निर्विचिकित्सता।।[123]

अर्थात् स्वभाव से अपवित्र; किन्तु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप धर्म से पवित्र – ऐसे धर्मात्माओं के शरीर में निरादर और ग्लानि न करके रत्नत्रयस्वरूप गुणों से प्रीति का भाव होना, **निर्विचिकित्सा अंग** है।''

''इस सम्बन्ध में पण्डित सदासुखदासजी निम्न प्रकार से अपने विचार व्यक्त करते हैं –

1. यह शरीर तो सप्त धातुमय तथा मल-मूत्रादिमय है, स्वभाव से ही अशुचि है। यह शरीर तो रत्नत्रय का स्वरूप प्रगट होने से पवित्र हो जाता है। इसलिए रोग सहित वृद्धावस्था या तपश्चरण के कारण शरीर की क्षीणता या मलिनता देख कर, जिसे ग्लानि नहीं होती है, बल्कि उनके गुणों में प्रीति होती है, उसके **निर्विचिकित्सा अंग** होता है।
2. जो सम्यग्दृष्टि है, वह वस्तु का सच्चा स्वरूप जानता ही है, इसलिए पुद्गल के अनेक स्वभाव जान कर मल, मूत्र, रक्त, माँस, पीव सहित तथा दरिद्रता, रोगादि सहित मनुष्य व तिर्यंचों के शरीरादि की मलिनता, दुर्गन्धादि को देख कर, सुन कर, ग्लानि नहीं करता है। कर्मों के उदय से क्षुधा, तृषा, रोग, दरिद्रतादि से दुःखी होना; पराधीन बन्दीगृह आदि में पड़ जाना, नीच कुलादि में उत्पन्न होना, नीच कर्म के कारण मलिन भोजन करना, मैले गन्दे वस्त्र पहनना, खोटा रूप-अंग-उपांग की प्राप्ति होती है। सम्यग्दृष्टि, इनमें ग्लानि करके अपने मन को खराब नहीं करता है तथा कषायों के आधीन हुए निन्द्य आचरण करने वालों को देख कर, अपने परिणाम नहीं बिगाड़ता है, उसके **निर्विचिकित्सा अंग** होता है।
3. इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि, मलिन क्षेत्र, मलिन ग्राम-गृहादि में मलिनता और दरिद्रता देख कर, ग्लानि नहीं करता है। अन्धकार, वर्षा, ग्रीष्म, शीतादि के कष्ट के समय को देख कर, ग्लानि नहीं करता है। अपने को गरीबी और रोग का आना देख कर, इष्ट का वियोग होना और अशुभकर्म के उदय को आता देख कर, उस समय अपने परिणाम मलिन नहीं करता है। मैंने जो कर्मबन्ध किये, उनके फल को मैं ही भोगूँगा, अशुभकर्म का फल तो ऐसा ही होता है। जो इस प्रकार जान कर, अपने परिणामों को मलिन नहीं करता है, उस पुरुष के **निर्विचिकित्सा अंग** होता है। तथा जिसके निर्विचिकित्सा अंग है, उसके ही दया है, उसी के वैयावृत्य होती है, उसी के वात्सल्य, स्थितिकरणादि गुण प्रगट होते हैं।''[124]

4. मूढ़दृष्टि दोष

''उन्मार्गगामियों की मन से सराहना और वचन से उनकी तारीफ करना भी दूषण है – ऐसा करने से उन्मार्ग को प्रोत्साहन मिलता है।''[125]

इस दोष के अन्तर्गत सम्यग्दृष्टि के पाँच अतिचारों में से अन्तिम दो अतिचारों को गर्भित किया गया है –

''सुगतादिदर्शनान्यन्यदृष्टयस्तदाश्रिता वा पुमांसस्तेषां प्रशंसा-संस्तवौ अन्यदृष्टि-प्रशंसा-संस्तवौ।

अर्थात् सुगत, कपिल, कणाद, आदि के दर्शनशास्त्र अन्यदृष्टि हैं तथा उन दर्शनों के आश्रित उनके मतावलम्बी पुरुषों की प्रशंसा एवं समीचीन स्तुति करना, **अन्यदृष्टि-प्रशंसा-संस्तव नामक अतिचार** हैं।''[126]

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकपूर्ण होती है, उसकी प्रत्येक क्रिया आत्मा को उज्ज्वल बनाने में निमित्त होती है; परन्तु कदाचित् किसी कारण से उसकी क्रियाओं में कुछ मूढ़ता परिलक्षित होती है तो वह उसका **मूढ़ता दोष** है। संयमप्रकाश में लिखा है –

''मूढ़ता, परम्परा का मोह और अज्ञानवश कुदेव व कुगुरुओं की सेवा-पूजा करना, कुशास्त्रों को सुनना, आदि ऐसे कार्य करना, जिनसे धर्म से श्रद्धान हट कर, सम्यक्त्व में शिथिलता पैदा हो; वह **मूढ़दृष्टि** है।''[127]

इस दोष को अतिचार क्यों कहा गया है ? – इसका विचार करते हुए पण्डित सुखलाल संघवी ने लिखा है –

''भ्रान्तदृष्टि से युक्त व्यक्तियों में भी कई बार विचारात्मकता, त्याग, आदि गुण मिलते हैं। उनके गुण और दोष का भेद किए बिना उन गुणों से आकृष्ट होकर, वैसे व्यक्ति की प्रशंसा करने अथवा उनसे परिचय करने में अविवेकी साधक के सिद्धान्त से स्खलित होने का डर रहता है, इसलिए **अन्यदृष्टि-प्रशंसा और अन्यदृष्टि-संस्तव** को अतिचार माना गया है; लेकिन मध्यस्थता और विवेकपूर्वक, गुण को गुण और दोष को दोष समझने वाले साधक के लिए भी उक्त प्रकार के प्रशंसा और संस्तव, सर्वथा हानिकारक ही होते हैं – ऐसी बात नहीं है।''[128]

इस दोष का सम्बन्ध षट् अनायतन दोषों एवं तीन मूढ़ता दोषों से भी जानना चाहिए। अन्तर सिर्फ इतना किया जा सकता है कि मूढ़दृष्टि दोष तो अमूढ़दृष्टि अंग से विपरीत है जबकि अनायतन एवं मूढ़ता दोषों का कथन, सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों में पृथक् से किया गया है।

अन्यदृष्टि-प्रशंसा

''वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है; इस प्रकार के एकान्तवादरूपी अन्धकार से जिनका वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान अर्थात् अनेकान्त तत्त्व का बोध नष्ट हो गया है, उन बौद्ध आदि एकान्तवादियों की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए क्योंकि उससे **सम्यक्त्व में दूषण** लगता है।''[129]

''जैनधर्म से बाह्य हो रहे पुरुषों के ज्ञान, चारित्र, आदि गुणों की मन से प्रशंसा करना, **अन्यदृष्टि-प्रशंसा** है।''[130]

''आत्मस्वरूप के अजानकार जीवों के ज्ञान, तप, शील, चारित्र, दान, आदि को निज में प्रगट करने का मन में विचार होना अथवा उसे भला जानना, वह **अन्यदृष्टि-प्रशंसा अतिचार** है।''[131]

अन्यदृष्टि-संस्तव

''अन्यमतावलम्बियों के सद्भूत-असद्भूत गुणों को वचन से प्रगट करना, **अन्यदृष्टि-संस्तव** है।''[132]

''इसी प्रकार आत्मस्वरूप से अनजान जीवों के ज्ञान, तप, शील, चारित्र, दान, आदि के फल को भला जान कर, वचन द्वारा उनकी स्तुति करना, वह **अन्यदृष्टि-संस्तव अतिचार** है।''[133]

मूढदृष्टि दोष को दूर करने का उपदेश

''खोटे शास्त्रों से, व्यन्तर आदि देवकृत विक्रिया से, मणि-मन्त्र-औषधि आदि के प्रभाव से, अनेक वस्तुओं का विपरीत स्वभाव देख कर, सच्चे धर्म से चलायमान नहीं होना, वह सम्यग्दर्शन का **अमूढ़दृष्टि गुण** है, जो सम्यग्दृष्टि के होता ही है।''[134]

आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं –

''कापथे पथि दुःखानां, कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढ़ा दृष्टिरुच्यते।।[135]

अर्थात् दुःखों के कारणभूत कुमार्ग में तथा कुमार्ग में स्थित जीवों के प्रति मन से सम्मत नहीं होना, वचन से प्रशंसा नहीं करना तथा काय से विनय-भक्ति नहीं करना, **अमूढ़दृष्टि अंग** है।''

5. अनुपगूहन दोष

''अशक्तता, अज्ञान व प्रमाद के वश किसी रत्नत्रय के धारक से अथवा अन्य सहधर्मी से उसके पद के विरुद्ध कोई दोष बन पड़ा हो तो उसे सर्व साधारण में प्रगट करके, धर्म व समाज की हँसी कराना तथा उनकी निन्दा द्वारा धर्मात्मा को निर्लज्ज व उच्छृंखल बना देना, **अनुपगूहन दोष** है।''[136]

अनुपगूहन दोष को दूर करने का उपदेश

जो यह जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदेशित दशलक्षणरूप अथवा रत्नत्रयरूप धर्म है, वह अनादिनिधन है, जगत् के जीवों का उपकार करने वाला है, सभी प्रकार से निर्दोष है, इससे किसी का भी अकल्याण नहीं होता है और किसी के द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता है। ऐसे धर्म मे किसी अज्ञानी की भूल के कारण अथवा किसी की शक्ति की हीनता के कारण यदि धर्म की निन्दा हो तो उसे दूर कर देना, आच्छादन कर देना, उपगूहन नाम का अंग है।[137]

6. अस्थितिकरण दोष

''धर्मात्मा पुरुषों की हँसी, मजाक व निन्दा करना, उनको धर्म से विचलित करने का प्रयत्न करना और उनकी धार्मिक क्रियाओं में शिथिलता कराना अर्थात् धर्मी जीवों को जैसे-तैसे चिगा देना या धर्म-साधन में शिथिल कर देना, **अस्थितिकरण दोष** है।''[138]

अस्थितिकरण दोष को दूर करने का उपदेश

यदि किसी धर्मात्मा अव्रत सम्यग्दृष्टि तथा व्रती पुरुष के परिणाम, रोग की वेदना, दरिद्रता, वियोग आदि के कारण धर्म से चिग जाएँ तो धर्म से प्रीति करने वाला समझदार पुरुष, उसे धर्म से छूटता जान कर, उपदेश आदि देकर धर्म में स्थिर कर दे; उसके स्थितिकरण अंग है।.....

यदि अपना आत्मा भी, नीतिमार्ग छोड़ कर, काम–मद–लोभ के वश होकर, अन्याय के विषय तथा धन की इच्छा करने लगे, अयोग्य वचनों में प्रवृत्ति करने लगे, उसकी अभक्ष्य भक्षण में प्रवृत्ति हो जाए, अभिमान के वश हो जाए, रोग सहने में कायर हो जाए, अनेक प्रकार के परिग्रह में लालसा बढ़ जाए, कुटुम्ब में राग अधिक बढ़ जाए, रोग सहने में कायर हो जाए, आर्तध्यानी हो जाए, वियोग में शोक सहित हो जाए, निर्धनता से दीन हो जाए, उत्साह रहित हो जाए, आकुलतारूप हो जाए तो उसे भी अध्यात्म शास्त्रों का स्वाध्याय करावे, बारह भावना की शरण करावे, आत्मा के अजर–अमर–अविनाशी–एकाकी, परद्रव्य के भाव रहित स्वभाव का चिन्तन करावे, धर्म से नहीं छूटने दे तथा असातादि कर्म, अन्तराय कर्म तथा और भी अन्य कर्मों के उदय को आत्मा से भिन्न मान कर, कर्मों के उदय के कारण अपने स्वभाव को चलित नहीं होने देना, वह स्थितिकरण नामक छठा अंग है।[139]

7. अवात्सल्य दोष

''धर्मस्थान तथा धर्मात्माओं से द्वेष रखना, उनके दोषों को खोजते रहना, उनकी निन्दा करना और उनके दुःख के समय सहायक नहीं होना, **अवात्सल्य दोष** है।''[140]

अवात्सल्य दोष को दूर करने का उपदेश

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप धर्म धारण करने वालों के समूह को धर्मात्मा जीव, अपना समूह मानता है। रत्नत्रय–धारकों के समूह में रहने वाले मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका तथा अव्रत–सम्यग्दृष्टियों के प्रति भाव सहित, कपट रहित यथायोग्य प्रतिपत्ति अर्थात् उठ कर खड़े हो जाना, सामने आ जाना, वन्दना करना, गुणों का स्तवन करना, हाथ जोड़ना, आज्ञा मानना, पूजा–प्रशंसा करना, ऊँचे स्थान पर बैठाना, स्वयं नीचे बैठ जाना, उनके आने से इतना हर्ष मानना, जितना किसी दरिद्री को महानिधान के प्राप्त हो जाने से होता है, महान प्रीति का भाव आना और अवसर के अनुसार आहार–पानी, निवास, सामग्री आदि द्वारा वैयावृत्य करके आनन्द मानना, उसे वात्सल्य अंग कहते हैं।[141]

8. अप्रभावना दोष

''कोई पुरुष, धर्म-प्रभावना का कार्य करना चाहता हो या कहीं पर धर्मकार्य होता हो तो उसको नहीं होने देना। जैसे – विद्यालय, औषधालय, साहित्य समिति, ग्रन्थमाला, मन्दिर-निर्माण, आदि लोकोपयोगी कार्यों

में सहायता नहीं देना, वितण्डावाद खड़ा करना, स्वयं रोक देना या अन्य से रुकवा देना। तात्पर्य यह है कि जिन कार्यों से धर्म-प्रभावना होती हो, उनको नहीं होने देना या जिससे धर्म को लांछन लगे – ऐसे कार्य कर बैठना, **अप्रभावना दोष** है।''[142]

अप्रभावना दोष को दूर करने का उपदेश

अनादि काल का संसारी जीव सर्वज्ञ, वीतराग द्वारा प्रकाशित धर्म को नहीं जानता है। इसी कारण से इसे यह भी ज्ञान नहीं है कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? मेरा जब यहाँ जन्म नहीं हुआ है, तो मैं कहाँ था? कैसा था? यहाँ मुझे किसने उत्पन्न किया? रात–दिन आयु बीत कर, नष्ट हो रही है, अतः मुझे करने योग्य क्या है? मेरा हित क्या है? आराधने योग्य कौन है? जीवों को अनेक प्रकार के सुख दुःख क्यों होते हैं? देव–गुरु–धर्म का स्वरूप कैसा है? मृत्यु एवं जीवन का स्वरूप क्या है? भक्ष्य–अभक्ष्य का स्वरूप क्या है? इस पर्याय में मुझे करने योग्य कार्य क्या है? मेरा कौन है? मैं किसका हूँ? इत्यादि विचार रहित मोहनीय कर्मकृत अन्धकार से आच्छादित हो रहे हैं? उनके अज्ञानरूप अन्धकार को स्याद्वादरूप परमागम के प्रकाश से दूर कर, स्वरूप और पररूप का प्रकाश या ज्ञान करना, वह **प्रभावना** नामक अंग है।

सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्र द्वारा आत्मा का प्रभाव–माहात्म्य प्रकट करना, वह प्रभावना है। दान, तप, शील, संयम, निर्लोभता, विनय, प्रियवचन, जिनेन्द्रपूजन, गुण प्रकाशन द्वारा जिनधर्म का माहात्म्य–प्रभाव प्रकट करना, वह प्रभावना है।[143]

सम्यक्त्व के उक्त आठ दोषों के सम्बन्ध में कुछ ज्वलन्त प्रश्न[144]

न्यायाचार्य पण्डित माणिकचन्द्र कौन्देय ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार की हिन्दी टीका में उक्त निःशंकित, निःकांक्षित, आदि अंगों/गुणों के सम्बन्ध में कुछ ज्वलन्त प्रश्न खड़े किये गये हैं, जो आजकल लगभग प्रत्येक सद्गृहस्थ के मन में कभी न कभी अवश्य उठे होंगे, जिनका समाधान होना अत्यन्त आवश्यक है। उसका मूल पाठ निम्न प्रकार है –

1. **निःशंकित अंग के सम्बन्ध में ज्वलन्त प्रश्न** – सामान्यतः सूक्ष्म विचार के साथ पर्यवेक्षण किया जाए तो लाखों-करोड़ों जीवों में एक-दो जीव को ही शंकाएँ नहीं होती हैं। शेष सभी जीव, प्रायः हृदय में व्यक्त-अव्यक्तरूप से शंका-पिशाचियों से ग्रसित हो रहे हैं। परलोक है या नहीं? बड़े-बड़े स्नेही जीव भी मर कर, पुनः आ कर, अपने प्रेमपात्रों को क्यों नहीं सम्हालते हैं। तीव्र क्रोधी भी परलोक से आ कर, अपने शत्रुओं को त्रास देते नहीं सुने जाते हैं। क्वचित् भव-स्मरण कर, पूर्वभव की बातों को कहने वाले लड़के-लड़कियाँ देखे-सुने जाते हैं, किन्तु उनसे भरपूर सन्तोष नहीं होता है। अनेक पुरुष, अभिमान के साथ उपकार या अपकार करने की प्रतिज्ञा कर मरते हैं, परन्तु वे भी भूतकाल में लीन हो जाते हैं।.....

   इसी प्रकार जैन धर्मात्माओं या तीर्थस्थानों अथवा जिनबिम्ब, जिनागम, आदि के ऊपर कई प्रकार की विपत्तियाँ आ रही जान कर भी असंख्यात सम्यग्दृष्टि देव या जिनशासन-रक्षक देवों के होते हुए भी कोई एक भी देव यहाँ आर्यखण्ड में आ कर, दिगम्बर जैनधर्म का प्रकाण्ड चमत्कार क्यों नहीं दिखाता है? स्वर्ग-मोक्ष, असंख्यात द्वीप-समुद्र भला कहाँ हैं? कुछ समझ में नहीं आता है। जब पाप-पुण्य की व्यवस्था है तो अनेक पापी जीव सुखपूर्वक जीवन बिताते हुए और अनेक धर्मात्मा पुरुष, क्लेशमय जीवन को पूरा कर रहे होते, क्यों देखे जाते हैं? कतिपय बड़े-बड़े धर्मात्मा मरते समय अनेक क्लेशों को भुगतते हैं, जबकि अनेक पापी जीव सुखपूर्वक मर जाते हैं।

   इस प्रकार धर्म का रहस्य अन्धकार में पड़ा हुआ है।

2. **निःकांक्षित अंग के सम्बन्ध में ज्वलन्त प्रश्न** – इसी प्रकार बड़े-बड़े धर्मात्माओं को भी आकांक्षाएँ हो जाती हैं। नीरोग दृढ़ सुन्दर शरीर, पुत्र, स्त्री, धन, कुल, आदि की प्राप्ति; प्रभुता, यश, लोकमान्यता, आदि का मिलना; प्रकृष्ट ज्ञान, बल, राजप्रतिष्ठा, आदि की पूर्णता; इत्यादि में से जिस किसी भी महत्त्वाकांक्षी पदार्थ की त्रुटि रह जाती है, उसी की आकांक्षा आजकल के जीवों के क्वचित् कदाचित् हो ही जाती है।

   दिन-रात कलह करने वाली स्त्री से भले मनुष्य का भी दिल ऊब जाता है, बेचारा कहाँ तक सन्तोष करे? कुरूप, क्रोधी, आजीविकाहीन, दरिद्री, मूर्ख पति में सुन्दर स्त्री का चित्त कहाँ तक रमण कर सकता है, उसको स्वानुकूल पति की आकांक्षा कदाचित् हो ही जाती है। चक्रवर्ती, विद्याधर, देव, इन्द्र,

अहमिन्द्रों के सुखों को सुन कर, अनेक भद्र पुरुषों के मुख में पानी आ जाता है। जैसे, आतुर विद्यार्थी कदाचित् अच्छे व्याख्याता के व्याख्यान को सुन कर, व्याख्याता बनने के लिए और अच्छे लेखक के लेखों को पढ़ कर, प्रसिद्ध लेखक बनने के लिए एवं चित्रकार, अभिनेता, व्यापारी, शासक, आदि बनने के लिए जैसे लालायित हो जाता है; उसी प्रकार कतिपय दानी पूजक पुरुषों का भी चित्त, अन्य विभूतियों को देख कर, अधीरता से बाहर हो जाता है।

3. **निर्विचिकित्सा अंग के सम्बन्ध में ज्वलन्त प्रश्न** – विचिकित्सा दोष पर भी यह कहना है कि कितने बहिरंग धर्मात्माओं में घृणा के भाव पाये जाते हैं। कितने पुरुष, दुःखी जीवों पर करुणा करते हैं ? या बीमार धार्मिक पुरुषों का मल-मूत्र धो कर, उनकी परिचर्या में लग जाते हैं ? बताओ। घृणा के कारण कितने ही जीव, अन्य मनुष्यों की चिकित्सा या समाधिमरण कराने के लिए उद्यत रहते हैं ? हजारों-लाखों में से कोई एकाध ही होगा।

4. **अमूढ़दृष्टि अंग के सम्बन्ध में ज्वलन्त प्रश्न** – जैनेतर पुरुषों की प्रशंसा करना, अनेक भद्र पुरुषों में भी देखी जाती है। हाँ, सम्भव है कोई उदासीन श्रावक अथवा मुनि, इस अतिचार से बच गया होवे, परन्तु बहुत से जीवों में यह दोष अधिकतया पाया जाता है। जैन पण्डित, ब्रह्मचारी, मुनियों की, सन्मुख प्रशंसा करने वाले जैन सदस्य भी पीठ-पीछे उन्हीं की निन्दा करते हुए देखे जाते हैं। जैनों के द्वारा व्यवहार में अनेक अजैनजन प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहे हैं और जैनों को उन अजैनों की टहल करनी पड़ती है। भले ही सम्यग्दृष्टि कहे जाने वालों के घर में एक मिथ्यादृष्टि पुरुष, उच्चकोटि की प्रशंसा-स्तुतियों को पा रहा हो। अजैन राजघरानों एवं प्रभुओं की प्रशंसा करते हुए लोग अघाते नहीं हैं; जबकि साधर्मी भाई से जय-जिनेन्द्र या सहानुभूतिसूचक दो-एक शब्द बोलने में उन पर डलियों आलस्य चढ कर बैठ जाता है। यह दुर्दशा अमूढदृष्टि गुण की है।

   लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, आदि के चक्कर में अनेक स्त्री-पुरुष फँस जाते हैं; प्रगट-अप्रगटरूप से वे उन कार्यों में आसक्ति कर बैठते हैं। रामलीला, रासलीला, नाटक, सिनेमा, कहानियाँ, गंगास्नान, कुतपस्वी-दर्शन, देवता-आराधन, मन्त्र-तन्त्र क्रियाएँ, आदि उपायों द्वारा कितने ही श्रोता मूढ़दृष्टि क्रियाओं में सम्मति दे देते हैं।

5. **स्थितिकरण अंग के सम्बन्ध में ज्वलन्त प्रश्न** – स्थितिकरण करना भी बड़ा कठिन हो रहा है। अजैनों के लिए या राजवर्ग के लिए या यशः सम्बन्धी कार्यों के लिए अनेक जैन धनिक थैलियों के मुँह खोले हुए रखते हैं; किन्तु निर्धन धार्मिकों या दरिद्र विधवाओं अथवा दीन छात्रों के उदर पोषणार्थ स्वल्प-व्यय करने की भी उनके आय-व्यय के बजट में गुंजाइश नहीं है। विद्वानजन भी अपने स्वार्थ या यश की सिद्धि के लिए तो व्याख्यानों को झाड़ते फिरते हैं; किन्तु आवश्यक स्थलों पर दर्शन-च्युत या चारित्र-पतित जीवों को जिनमार्ग पर लाने के लिए उनको समय नहीं मिलता है। व्रती पुरुष भी जैनत्व को बढाने और स्थितिकरण करने में उतने उद्योगी नहीं हैं, जितने उन्हें होना चाहिए।

6. **उपगूहन अंग के सम्बन्ध में ज्वलन्त प्रश्न** – उपगूहन अंग की भी यही विकट स्थिति है; साम्यवाद के युग में दोषों को छिपाना दोष समझा जाता है। खोटी टेवों को धार रहे अनेक फालतू बैठे पुरुष, जब दूसरों के असद्भूत दोषों को प्रसिद्धि में ला रहे हैं तो सद्भूत दोषों को प्रगट करने में उनको लज्जा क्यों आने लगे ? आजकल व्यर्थ के संकल्प-विकल्पों और झूठी निन्दा-प्रशंसा का व्यवहार बड़े वेग से बढ़ रहा है। साधर्मियों के अल्प दोषों का परोक्ष में या एकान्त में त्रियोग से छिपा लेना, बड़े भारी पुरुषार्थपूर्वक किया गया गुरुतर कार्य हो गया है। निन्दा किये बिना हमसे चुप नहीं बैठा जाता, समाधान करने पर भी जनता बुराई करने से नहीं चूकती है। वह कहती है कि भले ही उलटा हमसे कुछ ले लो, किन्तु दूसरों के सद्भूत-असद्भूत दोषों की निन्दा किये बिना हमारी खुजली नहीं मिट सकती है।

7. **वात्सल्य अंग के सम्बन्ध में ज्वलन्त प्रश्न** – वात्सल्य परिणाम भी हीयमान हो रहा है। अपने साधर्मी भाईयों के साथ निष्कपट प्रतिपत्ति करने का व्यवहार क्वचित् ही पाया जाता है। भले से भला मनुष्य भी यदि किसी व्यक्ति से बातचीत करता है तो उस व्यक्ति को प्रथम यही भान होता है कि यह कोई स्वार्थसिद्धि के लिए कपट-व्यवहार कर, मुझको आर्थिक, मानसिक क्षतियाँ पहुँचाने का प्रयत्न कर रहा है। विश्वास और वात्सल्य की दृष्टियाँ न्यून होती जा रही हैं।

8. **प्रभावना अंग के सम्बन्ध में ज्वलन्त प्रश्न** – ठोस प्रभावना अंग का पालना तो विरल पुरुषों में ही पाया जाता है। यश की प्राप्ति और कुछ धर्मलाभ का लक्ष्य रख कर, यद्यपि कतिपय सभाएँ, प्रतिष्ठाएँ, तीर्थयात्राएँ, जिनपूजा, तपश्चरण, आदि कार्य होते हैं; फिर भी परम पवित्र जिनशासन के माहात्म्य का प्रकाश करना अभी बहुत दूर है। यदि दश वर्ष तक भी ठोस प्रभावनाएँ हो जाएँ तो जैनों की संख्या बढ़ कर, दो करोड़ हो सकती है।

निष्कर्ष – तात्पर्य यह है कि अष्टांग सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अतीव दुर्लभ है, उनतीस अंक प्रमाण पर्याप्त मनुष्यों में मात्र सात सौ करोड़ (700,00,00,000) असंयत सम्यग्दृष्टि, तेरह करोड़ (13,00,00,000) देशसंयमी और तीन कम नौ करोड़ (8,99,99,997) संयमी मुनि; इस प्रकार सम्पूर्ण सात सौ इक्कीस करोड़, निन्यानवे लाख, निन्यानवे हजार, नौ सौ सतानवे (721,99,99,997) मनुष्य ही सम्यग्दृष्टि हैं अर्थात् **बीस अंक प्रमाण मनुष्यों में एक मनुष्य के सम्यग्दृष्टि होने का स्थूल परिगणन आता है।**

हाँ, असम्भव तो नहीं है क्योंकि क्षयोपशम सम्यक्त्व और उपशम सम्यक्त्व कभी-कभी आधुनिक धर्मात्मा जैनों को भी हो जाते हैं; उस समय थोड़ी देर के लिए निःशंकितपना आदि गुण भी चमक जाते हैं। पुनः मिथ्यात्व का उदय आ जाने पर शंका आदि दोष, स्थान पा जाते हैं। क्षयोपशम सम्यक्त्व में उक्त पाँच अतिचार मन्द या अव्यक्त हो कर, सम्भवित हो जाते हैं। रत्नस्थान, दुर्लभ होवें तो इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए; किसी भी जीव के जब कभी निःशंकित, वात्सल्य, आदि गुण हो जाएँ तो ही अच्छा है। जीवों को पापप्रधान पुण्य रहित बहुभाग परिणतियों का परित्याग कर, रत्नत्रय पाने में उद्योगी होना चाहिए। यह जिनशासन का उपदेश, त्रिलोक-त्रिकाल में अबाधित है।

षट् अनायतन दोष

जो आयतन नहीं है, वह अनायतन है। आयतन, स्थान को कहते हैं। जो मुख्यरूप से धर्म का स्थान हो, सम्यक्त्व प्राप्त करने का माध्यम हो, जिसके माध्यम से सम्यक्त्व दृढ़ होता हो; वही आयतन है। इनके विपरीत जो मिथ्यात्व के स्थान हों, जिनके माध्यम से मिथ्यात्व होने की सम्भावना हो – ऐसे स्थानों, परिणामों, व्यक्तियों और उनके आराधकों को अनायतन कहा गया है। मुख्यरूप से कुगुरु-कुदेव-कुधर्म और उनके सेवकों को अनायतन कहा है। कहीं-कहीं पर अन्य विवक्षाओं से अन्य अनायतनों की चर्चा भी प्राप्त होती है।

पण्डित सदासुखदासजी ने लिखा है –

''कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र का श्रद्धान व कुदेव की सेवा करने वाला, कुगुरु की सेवा करने वाला और कुशास्त्र को पढ़ने वाला – इस तरह ये छह धर्म के आयतन अर्थात् स्थान नहीं हैं; इनसे अपना कुछ भी भला नहीं होता, इसलिए ये छह ही अनायतन हैं। संक्षेप में इनका स्वरूप कहते हैं –

जिनमें सर्वज्ञपना नहीं है, वीतरागपना नहीं है, जो कामी-क्रोधी, चोरों और जारों का प्रधान है, जो भोजन का इच्छुक है, माँस का भक्षक है, लोभी है, अपनी पूजा कराने का इच्छुक है, जीवों का संहार कराने वाला है, अपने भक्तों का उपकारक तथा अभक्तों का विनाशक है, जिन्हें बहुत से मूर्ख लोग देव मान कर पूजते हैं, किन्तु उनमें देवपना नहीं है, उनमें देवपने की बुद्धि करना, उन्हें देव मानना मिथ्या है; वे देवत्व के आयतन नहीं हैं।

जो व्रत-संयम रहित, अनेक पाखण्ड भेष के धारी हैं; उनमें व्रत-त्याग-विद्या- अध्ययन, परिग्रह-त्याग, आदि देख कर; मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र विद्या, ज्योतिष, वैद्यक, शकुन विद्या तथा इन्द्रजाल, आदि विद्याओं को देख कर; अनेक मूर्ख लोगों द्वारा मानता-पूजता देख कर, पाखण्डी जिनाज्ञा-बाह्य भेषियों में पूज्यपना-गुरुपना नहीं जानना।

खोटे मिथ्या शास्त्र, हिंसा के पोषक, जिनमें आत्महित नहीं – ऐसे शास्त्र, सम्यग्ज्ञान के आयतन नहीं हैं। इसी प्रकार कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रों का सेवन करने वाले; इन सब की सेवा-उपासना करने से अपना कल्याण होना मानने वालों की सम्यग्दृष्टि प्रशंसा नहीं करता है।''[145]

पण्डितप्रवर आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत में षट् अनायतन सम्बन्धी निम्न श्लोक लिखा है –

''मिथ्यादृग्ज्ञानवृत्तानि त्रीणि त्रींस्तद्वतस्तथा।
षडनायतनान्याहुस्तत्सेवा दृङ्मूलं त्यजेत्।।[146]

अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र – ये तीन तथा इनके धारक मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री – ये तीन मिला कर, कुल छह अनायतन हैं। सम्यग्दृष्टि को इन छहों की उपासना छोड़नी चाहिए क्योंकि यह सम्यक्त्व का दोष है।''

इसी प्रकार के भेद अन्यत्र भी अमितगति श्रावकाचार 2/25 में भी कहे हैं, लेकिन वृहद्द्रव्यसंग्रह की गाथा 41 की टीका में मिथ्यादेव और मिथ्यादेव के आराधक, मिथ्यातप और मिथ्यातपस्वी तथा मिथ्या आगम और मिथ्या आगम के धारक – ये छह अनायतन कहे हैं। इसी प्रकार गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा 74 में भी ये ही छह अनायतन कहे हैं।

भगवती आराधना में आचार्य शिवार्य ने सम्यग्दृष्टि के पाँच अतिचारों में अनायतन-सेवा को अन्तर्गर्भित करके इसका महत्त्व प्रतिपादित किया है। वहाँ **अनायतनं षड्विधं** कह कर भी उनके नामों का अलग प्रकार से निर्देश किया है –

''मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र और मिथ्याचारित्री। यहाँ उनका श्रद्धान करना तो मिथ्यात्व ही है और इस प्रकार श्रद्धान करके उनकी सेवा करने पर तो मिथ्यादृष्टि ही है; अर्थात् यहाँ मिथ्यात्व और मिथ्यादृष्टियों की सेवा से तात्पर्य उन्हें बहुत मानना है। मिथ्याज्ञान और मिथ्याज्ञानियों की सेवा से तात्पर्य निरपेक्ष नयों के प्रतिपादक दर्शनों का उपदेश देना, यही तत्त्व है – ऐसा श्रोताओं को उपदेश दे कर, श्रद्धान कराऊँ आदि तथा इसी प्रकार क्रिया करते हुए मिथ्याज्ञानियों के साथ वार्तालाप करना, उनसे अनुराग रखना अथवा उनकी अनुकूलता करना, आदि। मिथ्याज्ञानियों के आचरण को मिथ्याचारित्र कहते है; वहाँ द्रव्यलोभ आदि की अपेक्षा से उनका अनुवर्तन करना, उनकी संगति करना आदि। इन सम्यक्त्व के अतिचारों का त्याग करना चाहिए।''[147]

''भय, आशा एवं स्नेहवश कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इन तीनों के आराधकों की भक्ति-प्रशंसा करना, षड् अनायतन हैं।''[148]

अनायतन-सेवन-निषेध

''जैसे, अपने यूथ (संघ) का कल्याण चाहने वाला यूथनाथ (संघपति) – हस्तीसमूह का स्वामी प्रधान हाथी, अपने होनहार बाल हाथी को अपने प्रतिपक्ष के प्रबल हाथी के साथ लड़ाई करते ही रोक देता है; उसी प्रकार अपने द्वारा धारण किये गये व्रतादि का संरक्षण चाहने वाले सम्यक्त्व के आराधक भव्य को प्रबल मिथ्यात्व के साथ संघर्ष होते ही अपने सम्यक्त्व की रक्षा करने में तत्पर रहना चाहिए क्योंकि आगामी ज्ञान और चारित्र की पुष्टि में सम्यक्त्व ही निमित्त होता है।''[149]

छहढाला में पण्डित दौलतरामजी लिखते हैं –

कुगुरु-कुदेव-कुवृष सेवक की, नहीं प्रशंस उचरै हैं।
जिनमुनि-जिनश्रुत बिन कुगुरादिक, तिन्हें न नमन करै हैं।। 3/14।।[150]

''कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरु-सेवक, कुदेव-सेवक, और कुधर्म-सेवक – ये छह अनायतन अर्थात् धर्म के अस्थान कहलाते हैं। उनकी भक्ति, विनय और पूजन, आदि तो दूर रही, सम्यग्दृष्टि जीव, उनकी प्रशंसा भी नहीं करता; क्योंकि उनकी प्रशंसा करने पर भी सम्यक्त्व में दोष लगता है।

सम्यग्दृष्टि जीव, जिनेन्द्र देव, वीतरागी मुनि और जिनवाणी के अतिरिक्त कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्रादि को भय, आशा, लोभ, और स्नेह, आदि के कारण भी नमस्कार नहीं करता क्योकि उन्हें नमस्कार करने मात्र से भी सम्यक्त्व दूषित हो जाता है। कुगुरु-सेवा, कुदेव-सेवा और कुधर्म-सेवा – ये तीन भी सम्यक्त्व के मूढता नामक दोष हैं।''[151]

मोक्षमार्गप्रकाशक के छठवें अधिकार में कुगुरु-कुदेव-कुधर्म के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन किया गया है, उसके आधार पर निम्न बिन्दु ध्यान देने योग्य हैं –

कुगुरु का निरूपण और उनके श्रद्धानादि का निषेध[152]

कुगुरु कौन ? – जो जीव, विषय-कषायादि अधर्मरूप तो परिणमित होते हैं और मानादिक से अपने को धर्मात्मा मानते हैं, धर्मात्मा के योग्य नमस्कारादि क्रिया कराते हैं अथवा किंचित् धर्म का कोई अंग धारण करके बड़े धर्मात्मा कहलाते हैं, बड़े धर्मात्मा योग्य क्रिया कराते हैं; इस प्रकार धर्म का आश्रय करके बड़ा मनवाते हैं; वे सब **कुगुरु** जानना।

विभिन्न अपेक्षाओं से कुगुरुपने की मान्यताएँ और उनका निषेध

(1) कुल की अपेक्षा गुरुपने की मान्यता का खण्डन

1. वहाँ कितने ही तो कुल द्वारा अपने को गुरु मानते हैं। उनमें कुछ ब्राह्मणादिक तो कहते हैं कि हमारा कुल ही ऊँचा है, इसलिए हम सबके गुरु हैं।

   निष्कर्ष – परन्तु कुल की उच्चता तो धर्म साधने से है। यदि उच्च कुल में हो कर, हीन आचरण करे तो उसे उच्च कैसे मानें?

   यदि कुल में उत्पन्न होने से ही उच्चपना रहे तो माँसभक्षणादि करने पर भी उसे उच्च ही मानो सो वह बनता नहीं है।

   भारत ग्रन्थ में भी अनेक ब्राह्मण कहे हैं। वहाँ 'जो ब्राह्मण हो कर, चाण्डाल कर्म करे, उसे चाण्डाल कहना' – ऐसा कहा है। यदि कुल ही से उच्चपना हो तो ऐसी हीन संज्ञा किसलिए दी है?

2. वैष्णव-शास्त्रों में ऐसा भी कहते हैं – वेदव्यास आदि, मछली आदि से उत्पन्न हुए हैं।

   निष्कर्ष – वहाँ कुल का अनुक्रम किस प्रकार रहा? मूल उत्पत्ति तो ब्रह्मा से कहते हैं; इसलिए सबका एक कुल है, भिन्न कुल कैसे रहा? उच्च कुल की स्त्री का नीच कुल के पुरुष से और नीच कुल की स्त्री का उच्च कुल के पुरुष से संगम होने से सन्तति होती देखी जाती है; वहाँ कुल का प्रमाण किस प्रकार रहा?

3. हमारे बड़े भक्त हुए हैं, सिद्ध हुए हैं, धर्मात्मा हुए हैं, हम उनकी सन्तति में हैं; इसलिए हम गुरु हैं।

   निष्कर्ष – परन्तु उन बड़ों के बड़े तो ऐसे उत्तम थे नहीं। यदि उनकी सन्तति में उत्तम कार्य करने से उत्तम मानते हो तो उत्तम पुरुष की सन्तति में जो उत्तम कार्य न करे, उसे उत्तम किसलिए मानते हो? शास्त्रों में व लोक में यह प्रसिद्ध है कि पिता शुभकार्य करके उच्चपद प्राप्त करता है, पुत्र अशुभकार्य करके नीचपद को प्राप्त करता है; पिता अशुभकार्य करके नीचपद को प्राप्त करता है, पुत्र शुभकार्य करके उच्चपद को प्राप्त करता है। इसलिए बड़ों की अपेक्षा महन्त मानना योग्य नहीं है।

   धर्मपद्धति मे कुल-अपेक्षा महन्तपना सम्भव नहीं है। धर्मसाधन ही से महन्तपना होता है। ब्राह्मणादि कुलों में यदि महन्तपना है सो धर्मप्रवृत्ति से है; धर्मप्रवृत्ति को छोड़ कर, हिंसादि पाप में प्रवर्तने से महन्तपना किस प्रकार रहेगा?

   इस प्रकार कुल द्वारा गुरुपना मानना मिथ्याभाव जानना।

(2) पट्ट की अपेक्षा गुरुपने की मान्यता का खण्डन

कितने ही पट्ट द्वारा गुरुपना मानते हैं। पूर्वकाल में कोई महन्त पुरुष हुआ हो, उसकी गादी पर जो शिष्य-प्रतिशिष्य होते आये हों, उनमें उस महत्पुरुष जैसे गुण न होने पर भी गुरुपना मानते हैं।

निष्कर्ष – यदि ऐसा ही हो तो उस गादी में कोई परस्त्री-गमन आदि महा पापकार्य करेगा, वह भी धर्मात्मा होगा, सुगति को प्राप्त होगा; परन्तु यह सम्भव नहीं है और पापी है तो गादी का अधिकार कहाँ रहा? जो गुरुपद योग्य कार्य करे, वही गुरु है।

(3) स्त्री-त्याग की अपेक्षा गुरुपने की मान्यता का खण्डन

1. कितने ही पहले तो स्त्री आदि के त्यागी थे; बाद में भ्रष्ट हो कर, विवाह आदि कार्य करके गृंहस्थ हुए, उनकी सन्तति अपने को गुरु मानती है।

   निष्कर्ष – परन्तु भ्रष्ट होने के बाद गुरुपना किस प्रकार रहा? अन्य गृहस्थों के समान यह भी हुए। इतना विशेष हुआ कि यह भ्रष्ट हो कर, गृहस्थ हुए; इन्हें मूल गृहस्थ-धर्मी गुरु कैसे मानें?

2. कितने ही अन्य तो सर्व पापकार्य करते हैं; एक स्त्री से विवाह नहीं करते और इसी अंग द्वारा गुरुपना मानते हैं।

   निष्कर्ष – परन्तु एक अब्रह्म ही तो पाप नहीं है; हिंसा, परिग्रहादि भी पाप है; उन्हें करते हुए धर्मात्मा-गुरु किस प्रकार मानें? तथा वह धर्मबुद्धि से विवाहादि का त्यागी नहीं हुआ है, परन्तु किसी आजीविका व लज्जा, आदि प्रयोजन के लिए विवाह नहीं करता। यदि धर्मबुद्धि होती तो हिंसादि किसलिए

बढ़ाता? तथा जिसके धर्मबुद्धि नहीं है, उसके शील की भी दृढ़ता नहीं रहती और विवाह नहीं करता, तब परस्त्री-गमनादि महा पाप उत्पन्न करता है – ऐसी क्रिया होने पर गुरुपना मानना, महा भ्रष्टबुद्धि है।

(4) भेष-धारण करने की अपेक्षा गुरुपने की मान्यता का खण्डन

1. कितने ही किसी प्रकार का भेष धारण करने से गुरुपना मानते हैं।

निष्कर्ष – परन्तु भेष धारण करने में कौनसा धर्म हुआ कि जिससे धर्मात्मा गुरु मानें?

2. वहाँ कोई टोपी लगाते हैं, कोई गुदड़ी रखते हैं, कोई चोला पहनते हैं, कोई चादर ओढ़ते हैं, कोई लाल वस्त्र रखते हैं, कोई श्वेत वस्त्र रखते हैं, कोई भगवा रखते हैं, कोई टाट पहनते हैं, कोई मृगछाल रखते हैं, कोई राख लगाते हैं, इत्यादि अनेक स्वाँग बनाते हैं।

निष्कर्ष – परन्तु यदि शीत-उष्णादि नहीं सहे जाते थे, लज्जा नहीं छूटी थी तो पगड़ी, पाजामा इत्यादिरूप वस्त्रादि का त्याग किसलिए किया? उनको छोड़ कर, ऐसे स्वाँग बनाने में कौनसा (धर्म का) अंग हुआ? गृहस्थों को ठगने के अर्थ ऐसे भेष जानना। यदि गृहस्थ जैसा अपना स्वाँग रखे तो गृहस्थ कैसे ठगे जाएँगे? और इन्हें उनके द्वारा आजीविका व धनादि व मानादि का प्रयोजन साधना है, इसलिए ऐसे स्वाँग बनाते हैं। भोला जगत् उस स्वाँग को देख कर, ठगाता है और धर्म हुआ मानता है; परन्तु यह भ्रम है।

यही कहा है –

जह कुवि वेस्सारत्तो, मुसिज्जमाणो वि मण्णए हरिसं।
तह मिच्छवेस मुसिया, गयं पि ण मुणंति धम्मणिहिं।।[153]

अर्थात् जैसे, कोई वेश्यासक्त पुरुष, धनादिक को ठगाते हुए भी हर्ष मानते हैं; उसी प्रकार मिथ्या वेष द्वारा ठगे गये जीव भी नष्ट होते हुए धर्मधन को नहीं जानते हैं।

भावार्थ यह है कि इन मिथ्या भेष वाले जीवों की सुश्रुषा आदि से अपना धर्मधन नष्ट होता है, उसका विषाद नहीं है, मिथ्या बुद्धि से हर्ष करते हैं।

3. वहाँ कोई तो मिथ्या शास्त्रों में जो वेष निरूपण किये हैं, उनको धारण करते हैं, परन्तु उन शास्त्रों के कर्ता पापियों ने सुगम क्रिया करने से उच्च पद प्ररूपित करने में हमारी मान्यता होगी, अन्य जीव इस मार्ग में लग जाएँगे – इस अभिप्राय से मिथ्या उपदेश दिया है।

निष्कर्ष – उसकी परम्परा से विचार रहित जीव, इतना भी विचार नहीं करते कि सुगम क्रिया से उच्च पद होना बतलाते हैं सो यहाँ कुछ दगा है, परन्तु वे भ्रम से उनके कहे हुए मार्ग में प्रवर्तते हैं।

4. वहाँ शास्त्रों में तो कठिन मार्ग निरूपित किया है, वह तो सधेगा नहीं और अपना ऊँचा नाम धराये बिना लोग मानेंगे नहीं; इस अभिप्राय से यति, मुनि, आचार्य, उपाध्याय, साधु, भट्टारक, संन्यासी, योगी, तपस्वी, नग्न, इत्यादि नाम तो ऊँचा रखते हैं और इनके आचारों को साध नहीं सकते, इसलिए इच्छानुसार नाना वेष बनाते हैं तथा कितने ही अपनी इच्छानुसार ही नवीन नाम धारण करते हैं और इच्छानुसार ही वेष बनाते हैं।

इस प्रकार अनेक वेष धारण करने से गुरुपना मानते हैं, सो यह मिथ्या है।

यहाँ कोई पूछे कि वेष तो बहुत प्रकार के दिखते हैं, उनमें सच्चे-झूठे वेष की पहिचान किस प्रकार होगी?

समाधान – जिन वेषों में विषय-कषाय का किंचित् लगाव नहीं है, वे वेष सच्चे हैं। वे सच्चे वेष तीन प्रकार के हैं; अन्य सर्व वेष मिथ्या हैं।

वही 'षट्पाहुड़' में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है –

एगं जिणस्स रूवं, विदियं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं, चउत्थ लिंगदंसणं णत्थि।।[154]

अर्थात् एक तो जिनस्वरूप निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिलिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का रूप – दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक का लिंग और तीसरा आर्यिकाओं का रूप – यह स्त्रियों का लिंग – ऐसे यह तीन लिंग तो श्रद्धानपूर्वक हैं तथा चौथा कोई लिंग सम्यग्दर्शनस्वरूप नहीं है।

निष्कर्ष – इन तीन लिंग के अलावा अन्य लिंग को मानने वाला श्रद्धानी नहीं है, मिथ्यादृष्टि है।

5. इन वेषियों में कितने ही वेषी अपने वेष की प्रतीति कराने के अर्थ किंचित् धर्म के अंग को भी पालते हैं।

निष्कर्ष – जिस प्रकार खोटा रुपया चलाने वाला उसमें चाँदी का अंश भी रखता है; उसी प्रकार धर्म का कोई अंग दिखा कर, अपना उच्च पद मानते हैं।

यहाँ कोई कहे कि उन्होंने जो धर्मसाधन किया, उसका तो फल होगा?

समाधान – जिस प्रकार उपवास का नाम रखा कर, कण मात्र भी भक्षण करे तो पापी है, और एकाशन का नाम रखा कर, किंचित् कम भोजन करे, तब भी धर्मात्मा है; उसी प्रकार उच्च पदवी का नाम रखा कर, उसमें किंचित् भी अन्यथा प्रवर्ते तो महा पापी है और नीची पदवी का नाम रख कर, किंचित् धर्म-साधन करे तो धर्मात्मा है। इसीलिए धर्मसाधन तो जितना बने, उतना ही करना, कुछ दोष नहीं है; परन्तु ऊँचा धर्मात्मा नाम रख कर, नीच क्रिया करने से महा पाप ही होता है।

वही 'षट्पाहुड़' में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है –

जहजायरूवसरिसो, तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं, तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं।।[155]

अर्थात् यथाजातरूप के समान मुनिपद है। जैसे, जन्म होते हुए बालक का नग्नरूप होता है, वैसे मुनि नग्न हैं। वे मुनि, धन-वस्त्रादि वस्तुओं को तिल के तुष मात्र भी ग्रहण नहीं करते हैं। यदि कदाचित् अल्प या बहुत का ग्रहण करते हैं तो उससे वे निगोद में जाते हैं।

सो यहाँ देखो, गृहस्थपने में बहुत परिग्रह रख कर, कुछ प्रमाण करे तो भी वह स्वर्ग-मोक्ष का अधिकारी होता है, परन्तु मुनिपने में किंचित् परिग्रह अंगीकार करने पर भी निगोदगामी होता है। इसलिए ऊँचा नाम रखा कर, नीची प्रवृत्ति युक्त नहीं है।

देखो, हुण्डावसर्पिणी काल में यह कलिकाल वर्त रहा है। इसके दोष से जिनमत में मुनि का स्वरूप तो ऐसा है – जहाँ बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का लगाव नहीं है, केवल अपने आत्मा का आपरूप अनुभव करते हुए शुभाशुभभावों से उदासीन रहते हैं; परन्तु अब विषय-कषायासक्त जीव मुनिपद धारण करते हैं, वहाँ सर्व सावद्य के त्यागी हो कर, पंच महाव्रतादि अंगीकार करते हैं, श्वेत-रक्तादि वस्त्रों को ग्रहण करते हैं, भोजनादि में लोलुप होते हैं, अपनी पद्धति बढ़ाने के उद्यमी होते हैं व कितने ही धनादिक ग्रहण करने का फल निगोद कहा है, तब ऐसे पापों का फल तो अनन्त संसार होगा ही होगा।

लोगों की अज्ञानता तो देखो, कोई एक छोटी भी प्रतिज्ञा भंग करे, उसे तो पापी कहते हैं और ऐसी बड़ी प्रतिज्ञा भंग करते देख कर भी गुरु मानते हैं, उनका मुनिवत् सन्मानादि करते हैं; सो शास्त्र में कृत-कारित-अनुमोदना का समान फल कहा है, इसलिए उनको भी वैसा ही फल लगता है।

मुनिपद लेने का क्रम तो यह है कि पहले तत्त्वज्ञान होता है, पश्चात् उदासीन परिणाम होते हैं, परीषहादि सहने की शक्ति होती है; तब वह स्वयमेव मुनि होना चाहता है और तब श्रीगुरु मुनिधर्म अंगीकार कराते हैं।

यह कैसी विपरीतता है कि तत्त्वज्ञान रहित विषय-कषायासक्त जीवों को माया से व लोभ दिखा कर, मुनिपद देना, पश्चात् अन्यथा प्रवृत्ति कराना; सो यह बड़ा अन्याय है।

इस प्रकार कुगुरु और उनके सेवन का निषेध किया।

कुगुरु-सेवन के निषेध में शास्त्रों की साक्षियाँ[156]

उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला में ऐसा कहा है –

1. **गुरुणो भट्टा जाया, सद्दे थुणिऊण लिंति दाणाइं।**
दोण्ण वि अमुणियसारा, दूसमिसमयम्मि बुड्ढंति।।[157]

अर्थात् कालदोष से जो गुरु हैं, वे तो भाट हुए; भाटवत् शब्द द्वारा दातार की स्तुति करके दानादि ग्रहण करते हैं। सो इस दुःषमकाल में दोनों ही – दातार व पात्र संसार में डूबते हैं।

2. **सप्पे दिट्ठे णासइ, लोओ ण हि कोवि किंपि अक्खेइ।**
जो चयइ कुगुरु सप्पं, हा मूढ़ा भणइ तं दुट्ठं।।[158]

अर्थात् सर्प को देख कर कोई भागे, उसे तो लोग कुछ भी नहीं कहते। हाय! हाय!! देखो तो जो कुगुरु सर्प को छोड़ते हैं, उसे मूढ़लोग दुष्ट कहते हैं, बुरा बोलते हैं।

3. **सप्पो इक्कं मरणं, कुगुरु अणंताइ देह मरणाईं।**
तो वर सप्पं गहियं, मा कुगुरु सेवणं भद्दं।।[159]

अर्थात् सर्प द्वारा तो एक बार मरण होता है और कुगुरु अनन्त मरण देता है, अनन्त बार जन्म-मरण कराता है; इसलिए हे भद्र! सर्प का ग्रहण तो भला और कुगुरु-सेवन भला नहीं है।

इसी प्रकार वहाँ और भी गाथाएँ श्रद्धान को दृढ़ करने को बहुत कही हैं, सो उन्हें वहाँ से जान लेना चाहिए।

तथा श्वेताम्बर ग्रन्थ 'संघपट्ट' में ऐसा कहा है –

''क्षुत्क्षामः किल कोऽपि रंकशिशुकः, प्रवृज्य चैत्ये क्वचित्,
कृत्वा किंचन पक्षमक्षतकलिः, प्राप्तस्तदाऽऽचार्यकम्।
चित्रं चैत्यगृहे गृहीयति निजे, गच्छे कुटुम्बीयति,
स्वं शक्रीयति बालिशीयति बुधान्, विश्वं वराकीयति।।[160]

अर्थात् देखो, क्षुधा से कृश किसी रंक का बालक कहीं चैत्यालयादि में दीक्षा धारण करके, पाप रहित न होता हुआ किसी पक्ष द्वारा आचार्यपद को प्राप्त हुआ। वह चैत्यालय में अपने गृहवत् प्रवर्तता है, निज गच्छ में कुटुम्बवत् प्रवर्तता है, अपने को इन्द्रवत् महान मानता है, ज्ञानियों को बालकवत् मानता है, सर्व गृहस्थों को रंकवत् मानता है; सो यह बड़ा आश्चर्य हुआ है।''

इसी प्रकार वहाँ **'यैर्जातो न च वर्द्धितो न च क्रीतो'** इत्यादि काव्य है; उसका अर्थ ऐसा है कि जिनसे जन्म नहीं हुआ है, बढ़ा नहीं है, मोल नहीं लिया है, देनदार नहीं हुआ है; इत्यादि कोई प्रकार सम्बन्ध नहीं है – ऐसे गृहस्थों को वृषभवत् हाँकते हैं, जबरदस्ती दानादि लेते हैं। सो हाय! हाय!! यह जगत् राजा से रहित है, कोई न्याय पूछने वाला नहीं है।

इस प्रकार वहाँ अन्य भी श्रद्धान के पोषक काव्य हैं; सो मूल ग्रन्थ से जानना।

अब यहाँ दिगम्बर ग्रन्थों से भी इसी श्रद्धान के पोषक वचन कहते हैं। सर्व प्रथम श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत 'षट्पाहुड़' में ऐसा कहा है –

दंसणमूलो धम्मो, उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं साऊण सकण्णे, दंसणहीणो ण वंदिव्वो।।[161]

अर्थात् सम्यग्दर्शन है मूल जिसका – ऐसा जिनवर द्वारा उपदेशित धर्म है; उसे सुन कर, हे कर्ण सहित पुरुषों! यह मानो कि सम्यक्त्व रहित जीव वन्दना योग्य नहीं है।

भावार्थ यह है कि यदि आप स्वयं कुगुरु हो तो उसके श्रद्धान से सम्यक्त्वी कैसे हो सकता है? बिना सम्यक्त्व अन्य धर्म भी नहीं होता, फिर धर्म के बिना वन्दने योग्य कैसे होगा?

फिर कहते हैं –

जे दंसणेसु भट्टा, णाणे भट्टा चरित्त भट्टा य।
एदे भट्ट वि भट्टा, सेसं पि जणं विणासंति।।[162]

अर्थात् जो दर्शन में भ्रष्ट हैं, ज्ञान में भ्रष्ट हैं, चारित्र में भ्रष्ट हैं; वे भ्रष्ट से भी भ्रष्ट हैं और जो जीव उनका उपदेश मानते हैं; उन जीवों का वे नाश करते हैं, बुरा करते हैं।

पुनः कहते हैं –

जे दंसणेसु भट्टा, पाए पाडंति दंसणधराणं।
ते होंति लल्लमूआ, बोही पुण दुल्लहा तेसिं।।[163]

अर्थात् जो स्वयं तो सम्यक्त्व से भ्रष्ट हैं और सम्यक्त्वधारियों से अपने पाँव पड़वाना चाहते हैं, वे लूले-गूँगे होते हैं अर्थात् स्थावर होते हैं तथा उनको बोध की प्राप्ति भी महा दुर्लभ होती है।

जे वि पडंति च तेसिं, जाणंता लज्जागारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि बोही, पावं अणुमोयमाणाणं।।[164]

अर्थात् जो जानते हुए भी लज्जा, गारव और भय से उनके पैरों में पड़ते हैं; उनके भी बोधि अर्थात् सम्यक्त्व नहीं है। कैसे हैं वे जीव? पाप की अनुमोदना करते हैं। पापियों का सन्मानादि करने से उन्हे उस पाप की अनुमोदना का फल लगता है।

जस्स परिग्गहगहणं, अप्प बहुयं च हवइ लिंगस्स।
सो गरहिउ जिणवयणे, परिगहरहिओ णिरायारो।।[165]

अर्थात् जिस लिंग के थोड़ा व बहुत परिग्रह का अंगीकार हो, वह जिनवचन में निन्दा योग्य है क्योंकि परिग्रह रहित ही अनगार होता है।

धम्मम्मि णिप्पवासो, दोसावासो य इच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो, णडसवणो णग्गरूवेण।।[166]

अर्थात् जो धर्म में निरुद्यमी है, दोषों का घर है, इक्षुफूल के समान है, गुण के आचरण से रहित है; वह नग्नरूप से नट-श्रमण है, भाँडवत् वेषधारी है। यहाँ नग्न होने पर तो भाँड का दृष्टान्त सम्भव है, परन्तु यदि परिग्रह रखे तो यह दृष्टान्त भी नहीं बनता।

जे पावमोहियमई, लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
पावं कुणंति पावा, ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।।[167]

अर्थात् पाप से मोहित हुई है बुद्धि जिनकी – ऐसे जो जीव जिनवरों का लिंग धारण करके पाप करते हैं, वे पापमूर्ति मोक्षमार्ग में भ्रष्ट जानना।

तथा ऐसा भी कहा है –

जे पंचचेलसत्ता, गंथग्गाही य जायणासीला।
आधाकम्मम्मि रया, ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।।[168]

अर्थात् जो पंच प्रकार के वस्त्रों में आसक्त हैं, परिग्रह को ग्रहण करने वाले हैं, याचना सहित हैं, अधःकर्म दोषों में रत हैं; उन्हें मोक्षमार्ग में भ्रष्ट जानना।

और भी अनेक गाथासूत्र वहाँ पर श्रद्धान को दृढ़ करने के लिए कहे हैं; उन्हें वहाँ से जानना चाहिए तथा श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत 'लिंगपाहुड़' है, उसमें मुनिलिंग धारण करके जो हिंसा, आरम्भ, यन्त्र-मन्त्रादि करते हैं; उनका बहुत निषेध किया है।

श्री गुणभद्राचार्य कृत 'आत्मानुशासन' में ऐसा कहा है –

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो, विभाववर्य्यां यथा मृगाः।
वनाब्दसन्त्युग्रामं, कलौ कष्टं तपस्विनः।।[169]

अर्थात् कलिकाल में तपस्वी मृग की भाँति इधर-उधर से भयभीत हो कर, वन से नगर के समीप निवास करते हैं, यह महा खेदकारी कार्य है। यहाँ जब नगर के समीप रहने का ही निषेध किया है तो नगर में रहना तो निषिद्ध हुआ ही।

वरं गार्हस्थ्यमेवाऽद्य, तपसो भाविजन्मनः।
सुस्त्रीकटाऽक्षलुण्टाकैर्लुप्तवैराग्यसम्पदः ।।[170]

अर्थात् जिससे अनन्त संसार की प्राप्ति हो – ऐसे तप से गृहस्थपना ही भला है। कैसा है वह तप? प्रभात होते ही स्त्रियों के कटाक्षरूपी लुटेरों द्वारा जिनकी वैराग्य-सम्पदा लुट गई है – ऐसा है।

इसी बात को श्री योगीन्द्रदेव कृत 'परमात्मप्रकाश' में ऐसा कहा है –

चेल्ला–चेल्ली–पुत्थियहिं, तुसइ मूढु णिभंतु।
एयहिं लज्जइ णाणियउ, बंधहं हेउ मुणंतु।।[171]

अर्थात् चेला-चेली और पुस्तकों द्वारा मूढ़ सन्तुष्ट होता है; भ्रान्ति रहित ऐसा ज्ञानी, उन्हें बन्ध का कारण जानता हुआ, उनसे लज्जायमान होता है।

केण वि अप्पउ वंचियउ, सिरु लुंचिवि छारेण।
सयल वि संग ण परिहरिय, जिणवर–लिंगधरेण।।[172]

अर्थात् किस जीव द्वारा अपना आत्मा ठगा गया? – जिस जीव ने एक तरफ जिनवर का लिंग धारण किया और राख से सिर का लोंच किया; परन्तु दूसरी तरफ समस्त परिग्रह नहीं छोड़ा।

जे जिण–लिंगु धरेवि मुणि, इट्ठ–परिग्गह लिंति।
छहि करेविणु ते जि जिय, सा पुणु छद्दि गिलंति।।[173]

अर्थात् हे जीव! जो मुनि, जिनलिंग धारण करके इष्ट परिग्रह को ग्रहण करते हैं, वे छर्दि या उल्टी करके, उसी छर्दि का पुनः भक्षण करते हैं; अतः वे निन्दनीय हैं।

इत्यादि प्रकार से वहाँ (अष्टपाहुड़, आत्मानुशासन, परमात्मप्रकाश, आदि ग्रन्थों में) बहुत-बहुत कठोर वचनों से सम्बोधित किया है। इस प्रकार शास्त्रों में कुगुरु का व उनके आचरण का व उनकी सुश्रुषा का निषेध किया है। तथा जहाँ मुनि के धात्री-दूत आदि छियालीस दोष आहारादिक में कहे हैं; वहाँ गृहस्थों के बालकों को प्रसन्न करना, समाचार कहना, मन्त्र-औषधि-ज्योतिष आदि कार्य बतलाना तथा किया-कराया-अनुमोदित भोजन लेना इत्यादि क्रियाओं का निषेध किया है; परन्तु अब कालदोष से इन्हीं दोषों सहित आहारादि ग्रहण करते हैं।

तथा शास्त्रों में पार्श्वस्थ, कुशीलादि भ्रष्टाचारी मुनियों का निषेध किया है; फिर भी उन्हीं के लक्षणों को धारण करते हैं। इतना विशेष है कि वे द्रव्य से तो नग्न हैं, यह नाना परिग्रह रखते हैं। तथा वहाँ शास्त्रों में मुनियों के भ्रामरी आदि आहार लेने की विधि कही है; परन्तु यह आसक्त हो कर, दातार के प्राण पीड़ित करके आहारादि ग्रहण करते हैं। तथा जो गृहस्थ-धर्म में भी उचित नहीं हैं – ऐसे अन्याय युक्त, लोकनिन्द्य, पापरूप कार्य करते प्रत्यक्ष देखे जाते हैं।

तथा वे जिनबिम्ब, शास्त्रादि जो सर्वोत्कृष्ट पूज्य हैं, उनकी तो अविनय करते हैं और आप उनसे भी महन्तता रख कर, ऊपर बैठना आदि प्रवृत्ति को धारण करते हैं – इत्यादिक अनेक विपरीतताएँ प्रत्यक्ष भासित होती हैं; फिर भी अपने को मुनि मानते हैं, मूलगुण आदि के धारी कहलाते हैं। इस प्रकार अपनी महिमा कराते हैं और गृहस्थ भोले उनके द्वारा प्रशंसादिक से ठगाते हुए धर्म का विचार नहीं करते, उनकी भक्ति में तत्पर होते हैं, परन्तु बड़े पाप को बड़ा धर्म मानना – इस मिथ्यात्व का फल कैसे अनन्त संसार नहीं होगा? शास्त्र में एक जिनवचन को अन्यथा मानने से महा पापी होना कहा है; यहाँ तो जिनवचन की कुछ बात ही नहीं रखी तो इसके समान और पाप कौन है?

कुगुरुओं के शिथिलाचार की पोषक युक्तियाँ और उनका निराकरण[174]

अब यहाँ कुयुक्ति द्वारा जो उन कुगुरुओं की स्थापना करते हैं, उनका निराकरण करते हैं –

1. **वहाँ वह कहता है –** गुरु बिना तो निगुरा कहलाएँगे और वैसे (शास्त्रोक्त) गुरु इस समय दिखते नहीं हैं; इसलिए इन्हीं को गुरु मानना?

   समाधान – निगुरा तो उसका नाम है, जो गुरु मानता ही नहीं। तथा जो गुरु को तो माने, परन्तु इस क्षेत्र में गुरु का लक्षण न देख कर, किसी को गुरु न माने तो इस श्रद्धान से तो निगुरा होता नहीं है। जिस प्रकार नास्तिक तो उसका नाम है, जो परमेश्वर को मानता ही नहीं; लेकिन जो परमेश्वर को तो माने, परन्तु इस क्षेत्र में परमेश्वर का लक्षण न देख कर, किसी को परमेश्वर न माने तो नास्तिक तो होता नहीं है; उसी प्रकार यह जानना।

2. **फिर वह कहता है –** जैन-शास्त्रों में वर्तमान में केवली का अभाव कहा है, मुनि का तो अभाव नहीं कहा है?

   समाधान – ऐसा तो कहा नहीं है कि इन देशों में सद्भाव रहेगा; परन्तु भरतक्षेत्र में कहते हैं सो भरतक्षेत्र तो बहुत बड़ा है, कहीं सद्भाव होगा; इसलिए अभाव नहीं कहा है। यदि तुम जहाँ रहते हो, उसी क्षेत्र में सद्भाव मानोगे तो जहाँ ऐसे भी गुरु नहीं मिलेंगे, वहाँ जाओगे तो किसको गुरु मानोगे? जिस प्रकार हंसों का सद्भाव वर्तमान में कहा है, परन्तु हंस दिखाई नहीं देते तो और पक्षियों को तो हंस माना नहीं जाता; उसी प्रकार वर्तमान में मुनियों का सद्भाव कहा है, परन्तु मुनि दिखाई नहीं देते तो औरों को तो मुनि माना नहीं जा सकता।

3. **फिर वह कहता है –** एक अक्षर के दाता को गुरु मानते हैं तो जो शास्त्र सिखलाएँ व सुनाएँ, उन्हें गुरु कैसे न मानें?

   समाधान – गुरु नाम बड़े का है सो जिस प्रकार की महन्तता जिसके सम्भव हो, उसे उस प्रकार गुरु संज्ञा सम्भव है। जैसे, कुल अपेक्षा माता-पिता को गुरु संज्ञा है; उसी प्रकार विद्याएँ पढ़ाने वाले को

विद्या अपेक्षा गुरु संज्ञा है। यहाँ तो धर्म का अधिकार है, इसलिए जिसके धर्म अपेक्षा महन्तता सम्भवित हो, उसे गुरु जानना। परन्तु धर्म नाम चारित्र का है, **'चारित्रं खलु धम्मो'** – ऐसा शास्त्र में कहा है, इसलिए चारित्र के धारक को ही गुरु संज्ञा है। तथा जिस प्रकार भूतादि का नाम भी देव है; तथापि यहाँ देव के श्रद्धान में अरहन्तदेव का ही ग्रहण है, उसी प्रकार औरों का भी नाम गुरु है, तथापि यहाँ श्रद्धान में निर्ग्रन्थ गुरु का ही ग्रहण है। जैनधर्म में **'अर्हन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु'** – ऐसा प्रसिद्ध वचन है।

4. **यहाँ प्रश्न है** कि निर्ग्रन्थ के सिवाय अन्य को गुरु नहीं मानते सो क्या कारण है?

समाधान – निर्ग्रन्थ के सिवाय अन्य जीव, सर्व प्रकार से महन्तता धारण नहीं करते। जैसे, लोभी शास्त्र-व्याख्यान करे वहाँ वह इसे शास्त्र सुनाने से महन्त हुआ और यह उसे धन-वस्त्रादि देने से महन्त हुआ। यद्यपि बाह्य में शास्त्र सुनाने वाला महन्त रहता है, तथापि अन्तरंग में लोभी होता है; इसलिए सर्वथा महन्तता नहीं हुई।

5. **यहाँ कोई कहे** – निर्ग्रन्थ भी तो आहार लेते हैं?

समाधान – लोभी हो कर, दातार की सुश्रुषा करके, दीनता से आहार नहीं लेते; इसलिए महन्तता नहीं घटती। जो लोभी हो, वही हीनता प्राप्त करता है। इसी प्रकार अन्य जीव जानना। इसलिए निर्ग्रन्थ ही सर्व प्रकार महन्तता युक्त हैं; निर्ग्रन्थ के सिवाय अन्य जीव, सर्व प्रकार गुणवान नहीं हैं; इसलिए गुणों की अपेक्षा महन्तता और दोषों की अपेक्षा हीनता भासिंत होती है; तब निःशंक स्तुति नहीं की जा सकती।

तथा निर्ग्रन्थ के सिवाय अन्य जीव जैसा धर्म-साधन करते हैं, वैसा व उससे अधिक धर्म-साधन गृहस्थ भी कर सकते हैं; वहाँ गुरु संज्ञा किसको होगी? इसलिए जो बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ मुनि हैं, उन्हीं को गुरु जानना।

6. **यहाँ कोई कहे** – ऐसे गुरु तो वर्तमान में यहाँ नहीं है; इसलिए जिस प्रकार अरहन्त की स्थापना प्रतिमा है; उसी प्रकार गुरुओं की स्थापना ये वेषधारी हैं?

समाधान – जिस प्रकार राजा की स्थापना, चित्रादि द्वारा करें सो वह राजा का प्रतिपक्षी नहीं है, लेकिन यदि कोई सामान्य मनुष्य अपने को राजा मनाये तो वह राजा का प्रतिपक्षी होता है; उसी प्रकार अरहन्तादि की पाषाणादि में स्थापना बनाएँ तो उनका प्रतिपक्षी नहीं है, लेकिन यदि कोई सामान्य मनुष्य अपने को मुनि मनाये तो वह मुनियों का प्रतिपक्षी हुआ। यदि इस प्रकार स्थापना हो तो अपने को अरहन्त भी मनाओ! तथा यदि उनकी स्थापना हो तो बाह्य में तो वैसा ही होना चाहिए; परन्तु वे निर्ग्रन्थ और ये बहुत परिग्रह के धारी – यह कैसे बन सकता है?

7. **तथा कोई कहे** – अब श्रावक भी तो जैसे सम्भव हैं, वैसे नहीं हैं; इसलिए **जैसे श्रावक, वैसे मुनि?**

समाधान – श्रावक संज्ञा तो शास्त्र में सर्व गृहस्थ जैनियों की है। श्रेणिक भी असंयमी थे, उन्हें भी उत्तरपुराण में श्रावकोत्तम कहा है। बारह सभाओं मे श्रावक कहे हैं, वहाँ सर्व व्रतधारी नहीं थे। यदि सर्व व्रतधारी होते तो असंयत मनुष्यों की भी अलग संख्या कही जाती सो नहीं कही है; इसलिए जैन गृहस्थ, श्रावक नाम प्राप्त करता है और मुनि संज्ञा तो निर्ग्रन्थ के सिवाय कहीं नहीं कही है।

तथा श्रावक के अष्ट मूलगुण कहे हैं; इसलिए मद्य-माँस-मधु, पाँच उदुम्बरादि फलों का भक्षण, श्रावकों के है नहीं; इसीलिए किसी प्रकार से श्रावकपना तो सम्भवित भी है; परन्तु मुनि के अट्ठाईस मूलगुण हैं सो वेषियों के दिखाई नहीं देते, इसलिए मुनिपना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। तथा गृहस्थ-अवस्था में तो पहले जम्बूकुमारादि ने बहुत हिंसादि कार्य किये, सुने जाते हैं; मुनि हो कर तो किसी ने हिंसादि कार्य किये नहीं हैं, परिग्रह रखा नहीं है; इसलिए ऐसी युक्ति कार्यकारी नहीं है।

देखो! आदिनाथजी के साथ चार हजार राजा दीक्षा लेकर, भ्रष्ट हुए, तब देव उनसे कहने लगे – 'जिनलिंगी हो कर, अन्यथा प्रवर्तोगे तो हम दण्ड देंगे। जिनलिंग छोड़ कर, जो तुम्हारी इच्छा हो सो तुम जानो'। इसलिए जिनलिंगी कहला कर, अन्यथा प्रवर्तें, वे तो दण्ड-योग्य हैं, वन्दनादि-योग्य कैसे होंगे?

अब अधिक क्या कहें? जिनमत में कुवेष धारण करते हैं, वे महा पाप करते हैं; अन्य जीव, जो उनकी सेवा-सुश्रुषा आदि करते हैं, वे भी पापी हैं। पद्मपुराण में यह कथा है कि श्रेष्ठी धर्मात्मा ने चारण (ऋद्धिधारी) मुनियों को भ्रम से जान कर, आहार नहीं दिया; तब जो प्रत्यक्ष भ्रष्ट हैं, उन्हें दानादिक देना कैसे सम्भव है?

8. यहाँ कोई कहे – हमारे अन्तरंग में श्रद्धान तो सत्य है, परन्तु बाह्य लज्जादि से शिष्टाचार करते हैं; सो फल तो अन्तरंग का होगा?

समाधान – षट्पाहुड़ में लज्जादि से वन्दनादि का निषेध बतलाया था, वह पहले ही कहा था। कोई जबरदस्ती मस्तक झुका कर, हाथ जुड़वाये, तब तो यह सम्भव है कि हमारा अन्तरंग नहीं था; परन्तु आप ही मानादि से नमस्कारादि करे, वहाँ अन्तरंग कैसे न कहें? जैसे, कोई अन्तरंग में तो माँस को बुरा जाने; परन्तु राजादि से भला मनवाने को माँस-भक्षण करे तो उसे व्रती कैसे मानें? उसी प्रकार अन्तरंग में तो कुगुरु-सेवन को बुरा जाने; परन्तु उनको व लोगों को भला मनवाने के लिए सेवन करे तो श्रद्धानी कैसे कहें? इसलिए बाह्य त्याग करने पर ही अन्तरंग त्याग सम्भव है; अतः जो श्रद्धानी जीव हैं, उन्हें किसी प्रकार से भी कुगुरुओं की सुश्रुषा आदि करना योग्य नहीं है।

इस प्रकार **कुगुरु-सेवन का निषेध** किया।

9. यहाँ कोई कहे – किसी तत्त्वश्रद्धानी को कुगुरुसेवन से मिथ्यात्व कैसे हुआ?

समाधान – जिस प्रकार शीलवती स्त्री, पर-पुरुष के साथ भर्तार की भाँति रमण-क्रिया सर्वथा नहीं करती; उसी प्रकार तत्त्वश्रद्धानी पुरुष कुगुरु के साथ सुगुरु की भाँति नमस्कारादि क्रिया सर्वथा नहीं करता क्योंकि यह तो जीवादि तत्त्वों का श्रद्धानी हुआ है, वहाँ रागादि का निषेध करने वाला श्रद्धान करता है, वीतरागभाव को श्रेष्ठ मानता है; इसलिए जिसके वीतरागता पाई जाए, उन्हीं गुरु को उत्तम जान कर, नमस्कारादि करता है; जिनके रागादि पाये जाएँ, उन्हें निषिद्ध जान कर, कदापि नमस्कारादि नहीं करता।

10. यहाँ कोई कहे – जिस प्रकार राजादि को (नमस्कारादि) करता है; उसी प्रकार इनको भी करता है?

समाधान – राजादि धर्मपद्धति में नहीं है, गुरु का सेवन तो धर्मपद्धति मे है। राजादि का सेवन लोभादि से होता है, वहाँ चारित्रमोह का ही उदय सम्भव है; परन्तु गुरु के स्थान पर कुगुरु का सेवन किया, वहाँ तत्त्वश्रद्धान के कारण तो गुरु थे, उनसे यह प्रतिकूल हुआ सो लज्जादि से जिसने कारण में विपरीतता उत्पन्न की, उसके कार्यभूत तत्त्वश्रद्धान में दृढ़ता कैसे सम्भव है? इसलिए वहाँ दर्शनमोह का उदय सम्भव है।

इस प्रकार कुगुरुओं का निरूपण किया।

कुदेव का निरूपण और उनके श्रद्धानादि का निषेध[175]

कुदेव कौन? – जो हित के कर्ता नहीं हैं, उन्हें भ्रम से हित के कर्ता जान कर, सेवन करें सो कुदेव हैं। उनका सेवन मुख्यतः तीन प्रकार के प्रयोजन सहित करते हैं – कहीं तो मोक्ष का प्रयोजन है, कहीं परलोक का प्रयोजन है और कहीं इसलोक का प्रयोजन है सो प्रयोजन तो सिद्ध नहीं होते, बल्कि कुछ विशेष हानि होती है; इसलिए उनका सेवन मिथ्याभाव है।

निष्कर्ष – 1. उनके सेवन से मोक्ष तो होता नहीं है क्योंकि उनके द्वारा माने गये तत्त्व कल्पित हैं और उनके द्वारा कहा गया मोक्षमार्ग सिद्ध भी नहीं होता।

2. उनके सेवन से परलोक में सुख भी नहीं होता क्योंकि परलोक में सुख तो पुण्य उपजाने और पाप नहीं करने से होता है; परन्तु स्वयं तो पाप उपजाता है और कहता है कि ईश्वर हमारा भला करेगा तो वहाँ अन्याय ठहरा क्योंकि किसी को पाप का फल दे, किसी को न दे – ऐसा तो होता नहीं। जैसे, अपने परिणाम करेगा, वैसा ही फल पायेगा; ईश्वर किसी का भला-बुरा करने वाला नहीं है।

तथा उन देवों का सेवन करते हुए उन देवों का तो नाम देते हैं और अन्य जीवों की हिंसा करते हैं तथा भोजन, नृत्यादि द्वारा अपनी इन्द्रियों का विषय-पोषण करते हैं; सो पाप परिणामों का फल तो लगे बिना रहेगा नहीं। हिंसा, विषय-कषायों को सब पाप कहते हैं और पाप का फल भी सब बुरा ही मानते हैं तथा कुदेवों के सेवन में हिंसा-विषयादि ही का अधिकार है; इसलिए कुदेवों के सेवन से परलोक में भला नहीं होता।

3. बहुत से जीव इस लोक या इस पर्याय सम्बन्धी – शत्रु-नाशादि व रोगादि मिटाने, धनादि व पुत्रादि की प्राप्ति, इत्यादि दुःख मिटाने व सुख प्राप्त करने के अनेक प्रयोजन सहित कुदेवादि का सेवन

करते हैं, हनुमानादि को पूजते हैं, देवियों को पूजते हैं, गनगौर-सांझी आदि बना कर पूजते हैं, चौथ-शीतला-दहाड़ी आदि को पूजते हैं, भूत-प्रेत-पितर-व्यन्तरादि को पूजते हैं, सूर्य-चन्द्रमा-शनिश्चरादि ज्योतिषियों को पूजते हैं, पीर-पैगम्बरादि को पूजते हैं, गाय-घोड़ा आदि तिर्यंचों को पूजते हैं, अग्नि-जलादि को पूजते हैं, शस्त्रादि को पूजते हैं; अधिक क्या कहें? रोड़ा इत्यादि को भी पूजते हैं।

निष्कर्ष – इस प्रकार कुदेवादि का सेवन, मिथ्यादृष्टि से होता है क्योंकि प्रथम तो वह जिनका सेवन करता है, उनमें से कितने ही तो कल्पना मात्र देव हैं; इसलिए उनका सेवन कार्यकारी कैसे होगा?

विभिन्न अपेक्षाओं से कुदेवपने की मान्यताएँ और उनका निषेध

(1) व्यन्तरादि की सीमित शक्ति

1. कितने ही व्यन्तरादि हैं सो वे किसी का भला-बुरा करने में समर्थ नहीं हैं। यदि वे ही समर्थ होंगे तो वे ही कर्ता ठहरेंगे; परन्तु उनके करने से कुछ होता दिखाई नहीं देता; प्रसन्न हो कर, धनादि नहीं दे सकते और द्वेषी हो कर, बुरा नहीं कर सकते।

   यहाँ कोई कहे – दुःख देते तो देखे जाते हैं; मानने से दुःख देना रोक देते हैं?

   समाधान – इसके पाप का उदय हो, तब उनके ऐसी ही कुतूहल बुद्धि होती है, उससे वे चेष्टा करते हैं, चेष्टा करने से यह दुःखी होता है। तथा वे कुतूहल से कुछ कहें और यह उनका कहा हुआ न करे तो वे चेष्टा करते रुक जाते हैं तथा इसे शिथिल जान कर कुतूहल करते रहते हैं। यदि इसके पुण्य का उदय हो तो कुछ कर नहीं सकते।

   ऐसा भी देखा जाता है – कोई जीव उनको नहीं पूजते व उनकी निन्दा करते हैं तो वे भी उससे द्वेष करते हैं, परन्तु उसे दुःख नहीं दे सकते। ऐसा भी कहते देखे जाते हैं कि अमुक हमको नहीं मानता, परन्तु उस पर हमारा कुछ वश नहीं चलता। इसलिए व्यन्तरादि कुछ करने में समर्थ नहीं हैं, इसके पुण्य-पाप ही से सुख-दुःख होता है; उनके मानने-पूजने से उल्टा रोग लगता है, कुछ कार्यसिद्धि नहीं होती।

2. तथा ऐसा जानना – जो कल्पित देव हैं, उनका भी कहीं अतिशय चमत्कार देखा जाता है, वह व्यन्तरादि द्वारा किया होता है। कोई पूर्व पर्याय में उनका सेवक था, पश्चात् मर कर, व्यन्तरादि हुआ, वहीं किसी निमित्त से ऐसी बुद्धि हुई, तब वह लोक में उनको सेवन करने की प्रवृत्ति कराने के अर्थ कोई चमत्कार दिखाता है। जगत् भोला है, अतः किंचित् चमत्कार देख कर, इस कार्य में लग जाता है। जिस प्रकार जिन-प्रतिमादि का भी अतिशय होना सुनते व देखते हैं सो जिनकृत नहीं है, जैनी व्यन्तरादि द्वारा होते हैं; उसी प्रकार कुदेवों का कोई चमत्कार होता है, वह उनके अनुचर व्यन्तरादि द्वारा किया होता है – ऐसा जानना।

3. तथा अन्य मत में परमेश्वर ने भक्तों की सहाय की व प्रत्यक्ष दर्शन दिए इत्यादि कहते हैं; वहाँ कितनी ही तो कल्पित बातें कही हैं। कितने ही उनके अनुचर व्यन्तरादि द्वारा किये गये कार्यों को परमेश्वर के किये कहते हैं। यदि परमेश्वर के किये हों तो परमेश्वर तो त्रिकालज्ञ है, सर्व प्रकार समर्थ है; भक्त को दुःख किसलिए होने देगा? तथा आज भी देखते हैं कि म्लेच्छ आ कर, भक्तों पर उपद्रव करते हैं, धर्म-विध्वंस करते हैं, मूर्ति को विघ्न करते हैं। यदि परमेश्वर को ऐसे कार्यों का ज्ञान न हो तो सर्वज्ञपना नहीं रहेगा। जानने के पश्चात् भी सहाय न करे तो भक्त-वत्सलता गई और सामर्थ्यहीन हुआ। तथा साक्षीभूत रहता है तो 'पहले भक्तों की सहाय की' कहते हैं, वह झूठ है क्योंकि उसकी तो एक-सी वृत्ति (मानी गई) है।

4. फिर यदि कहोगे – वैसी भक्ति नहीं है तो म्लेच्छों से तो भले हैं और यदि मूर्ति आदि तो उसी की स्थापना थी, उसे तो विघ्न नहीं होने देना था? तथा म्लेच्छ-पापियों का उदय होता है सो परमेश्वर का किया है या नहीं? यदि परमेश्वर का किया है तो निन्दकों को सुखी करता है, भक्तों को दुःख देने वाले पैदा करता है, वहाँ भक्त-वत्सलता कैसे रही? और परमेश्वर का किया नहीं होता तो परमेश्वर सामर्थ्यहीन हुआ; इसलिए यह सब परमेश्वर कृत कार्य नहीं है, कोई अनुचरव्यन्तरादि ही चमत्कार दिखलाता है – ऐसा ही निश्चय करना।

5. **यहाँ कोई पूछे** कि कोई व्यन्तर अपना प्रभुत्व कहता है, अप्रत्यक्ष को बतला देता है, कोई कुस्थान निवासादि बतला कर, अपनी हीनता कहता है; पूछते हैं सो नहीं बतलाता, भ्रमरूप वचन कहता है, औरों को अन्यथा परिणमित करता है, दुःख देता है – इत्यादि विचित्रता किस प्रकार है?

समाधान – व्यन्तरों में प्रभुत्व की अधिकता-हीनता तो है, परन्तु जो कुस्थान में निवासादिक बतला कर, हीनता दिखलाते हैं, वह तो कुतूहल से वचन कहते हैं। व्यन्तर, बालक की भाँति कुतूहल करते रहते हैं। जिस प्रकार बालक, कुतूहल द्वारा अपने को हीन दिखलाता है, चिढ़ाता है, गाली सुनाता है, ऊँचे स्वर में रोता है, बाद में हँसने लग जाता है; उसी प्रकार व्यन्तर चेष्टा करते हैं। यदि कुस्थान के निवासी हों तो उत्तम स्थान में आते हैं; वहाँ किसके लाने से आते हैं? अपने आप आते हैं तो अपनी शक्ति होने पर कुस्थान में किसलिए रहते हैं? इसलिए इनका ठिकाना तो जहाँ उत्पन्न होते हैं, वहाँ इस पृथ्वी के नीचे व ऊपर है सो मनोज्ञ है। कुतूहल के लिए जो चाहें सो कहते हैं। यदि इनको पीड़ा होती हो तो रोते-रोते हँसने कैसे लग जाते हैं ?

6. वहाँ इतना ही जानना कि मन्त्रादिक की अचिन्त्य शक्ति है सो किसी सच्चे मन्त्र के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो तो उसके किंचित् गमनादिक नहीं हो सकते व किंचित् दुःख उत्पन्न होता है व कोई प्रबल उसे मना करे, तब रह जाता है व आप ही रह जाता है; इत्यादि मन्त्र की शक्ति है, परन्तु जलाना आदि नहीं होता। मन्त्र वाले जलाया कहते हैं, वह फिर प्रगट हो जाता है क्योंकि वैक्रियिक शरीर का जलना आदि सम्भव नहीं है।
7. व्यन्तरों के अवधिज्ञान, किसी को अल्प क्षेत्र-काल जानने का है, किसी को बहुत है। वहाँ उनके इच्छा हो और अपने को ज्ञान बहुत हो तो अप्रत्यक्ष को पूछने पर उसका उत्तर देते हैं। अल्प ज्ञान हो तो अन्य महत् ज्ञानी से पूछ आ कर, जवाब देते हैं। अपने को अल्प ज्ञान हो तो व इच्छा न हो तो पूछने पर भी उसका उत्तर नहीं देते – ऐसा जानना। अल्प ज्ञान वाले व्यन्तरादिक को उत्पन्न होने के पश्चात् कितने काल तक तो पूर्व जन्म का ज्ञान हो सकता है, फिर उसका स्मरण मात्र रहता है, इसलिए वहाँ इच्छा द्वारा आप कुछ चेष्टा करें तो कहते हैं, पूर्व जन्म की बातें कहते हैं; कोई अन्य बात पूछे तो अवधिज्ञान तो थोड़ा है, बिना जाने किस प्रकार कहें? जिसका उत्तर आप न दे सकें व इच्छा न हो, वहाँ मान-कुतूहलादिक से उत्तर नहीं देते व झूठ बोलते हैं – ऐसा जानना।
8. देवों में ऐसी शक्ति है कि अपने व अन्य के शरीर को व पुद्गल-स्कन्ध को जैसी इच्छा हो, तदनुसार परिणमित करते हैं; इसलिए नाना आकारादिरूप आप होते हैं, व अन्य नाना चरित्र दिखाते हैं। अन्य जीव के शरीर को रोगादि युक्त करते हैं। यहाँ इतना है कि अपने शरीर को व अन्य पुद्गल-स्कन्धों को जितनी शक्ति हो, उतने ही परिणमित कर सकते हैं; इसलिए सर्व कार्य करने की शक्ति नहीं है। अन्य जीव के शरीरादि को उसके पुण्य-पाप के अनुसार परिणमित कर सकते हैं। उसके पुण्य का उदय हो तो स्वयं उसे रोगादिरूप परिणमित नहीं कर सकता और पाप-उदय हो तो उसका, इष्ट कार्य नहीं कर सकता।

इस प्रकार व्यन्तरादिक की शक्ति जानना।

(2) व्यन्तरादि को पूजने का निषेध

1. **यहाँ कोई कहे** – इतनी शक्ति जिनमें पायी जाए, उनके मानने-पूजने में क्या दोष है?

उत्तर – अपने पाप का उदय होने पर सुख नहीं दे सकते, पुण्य का उदय होने पर दुःख नहीं दे सकते; तथा उनको पूजने से कोई पुण्यबन्ध नहीं होता, बल्कि रागादिक की वृद्धि होने से पाप ही होता है; इसलिए उनका मानना-पूजना कार्यकारी नहीं है, बुरा कराने वाला है। तथा व्यन्तरादिक मनवाते हैं, पुजवाते हैं; वह कुतूहल करते हैं, कोई विशेष प्रयोजन नहीं रखते। जो उनको माने-पूजे, उसी से कुतूहल करते-रहते हैं; जो नहीं मानते-पूजते, उनसे कुछ नहीं कहते। यदि उनको प्रयोजन ही हो तो न मानने-पूजने वाले को बहुत दुःखी करें; परन्तु जिनके न मानने-पूजने का निश्चय है, उससे कुछ भी कहते दिखाई नहीं देते तथा प्रयोजन तो क्षुधादिक की पीड़ा हो, तब हो; परन्तु वह उनके व्यक्त होती नहीं है। यदि हो तो इनके अर्थ नैवेद्यादिक देते हैं, उसे ग्रहण क्यों नहीं करते? व औरों को उनके कुतूहल का स्थान होने पर दुःख होगा, हीनता होगी; इसलिए उनको मानना-पूजना योग्य नहीं है।

2. **तथा कोई पूछे** कि व्यन्तर ऐसा कहते हैं – गया आदि में पिण्डदान करो तो हमारी गति होगी, हम फिर नहीं आएँगे। सो क्या है?

उत्तर – जीवों के पूर्वभव का संस्कार तो रहता ही है। व्यन्तरों को भी पूर्वभव के स्मरणादि से विशेष संस्कार जागृत होते हैं; इसलिए पूर्वभव में ऐसी ही वासना थी कि गया आदिक में पिण्डदानादि करने पर

गति होती है, इसलिए ऐसे कार्य करने को कहते हैं। यदि मुसलमान आदि मर कर, व्यन्तर होते हैं तो वे ऐसा नहीं कहते, वे तो अपने संस्काररूप ही वचन कहते हैं; इसलिए सर्व व्यन्तरों की गति इसी प्रकार होती तो समान प्रार्थना करते; परन्तु ऐसा नहीं है – ऐसा जानना।

इस प्रकार व्यन्तरादि का स्वरूप कहा और उन्हें पूजने का निषेध किया।

3. तथा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रहादिक ज्योतिषी हैं, उनको पूजते हैं, वह भी भ्रम है। सूर्यादिक को परमेश्वर का अंश मान कर पूजते हैं, परन्तु उसको तो एक प्रकाश की ही अधिकता होती है सो प्रकाशवान् तो अन्य रत्नादिक भी होते हैं; उनमें अन्य कोई ऐसा लक्षण नहीं है, जिससे उन्हें परमेश्वर का अंश मानें।
4. तथा चन्द्रमादिक को धनादिक की प्राप्ति के अर्थ पूजते हैं; परन्तु उनके पूजने से ही धन होता हो तो सर्व दरिद्री इस कार्य को करें; इसलिए यह मिथ्याभाव है।
5. तथा ज्योतिष के विचार से बुरे ग्रहादिक आने पर उनकी पूजनादि करते हैं, इसके अर्थ दानादिक देते हैं सो जिस प्रकार हिरनादिक स्वयमेव गमनादिक करते हैं और पुरुष के दायें-बायें आने पर सुख-दुःख होने के आगामी ज्ञान को कारण होते हैं, कुछ सुख-दुःख देने को समर्थ नहीं हैं; उसी प्रकार ग्रहादिक स्वयमेव आगामी ज्ञान को कारण होते हैं, कुछ सुख-दुःख देने को समर्थ नहीं है। कोई तो उनका पूजनादि करते हैं, उनका भी इष्ट नहीं होता; कोई नहीं करता, उसका भी इष्ट होता है; इसलिए उनका पूजनादि करना मिथ्याभाव है।
6. **यहाँ कोई कहे** – दानादि देना तो पुण्य है सो भला ही है?

   उत्तर – धर्म के अर्थ दानादि देना पुण्य है; परन्तु यह तो दुःख के भय से व सुख के लोभ से (दानादि) देते हैं; इसलिए पाप ही है।

   इत्यादिक अनेक प्रकार से ज्योतिषी देवों को पूजते हैं सो मिथ्या है।
7. तथा देवी-दहाड़ी आदि हैं; वे कितनी ही तो व्यन्तरी व ज्योतिषिनी हैं, उनका अन्यथा स्वरूप मान कर पूजनादि करते हैं। कितनी ही कल्पित हैं सो उनकी कल्पना करके पूजनादि करते हैं।

   इस प्रकार व्यन्तरादिक के पूजने का निषेध किया।

(3) क्षेत्रपाल, पद्मावती, आदि को पूजने का निषेध

1. **यहाँ कोई कहे** – क्षेत्रपाल, दहाड़ी, पद्मावती, आदि देवी, यक्ष-यक्षिणी, आदि जो जिनमत का अनुसरण करते हैं, उनके पूजनादि करने में दोष नहीं है?

   उत्तर – जिनमत में संयम धारण करने से पूज्यपना होता है और देवों के संयम होता ही नहीं। तथा इनको सम्यक्त्वी मान कर पूजते हैं सो भवनत्रिक में सम्यक्त्व की भी मुख्यता नहीं है। यदि सम्यक्त्व से ही पूजते हैं तो सर्वार्थसिद्धि, लौकान्तिक, आदि के सम्यग्दृष्टि देवों को ही क्यों न पूजें?
2. **फिर कहोगे** – इनके जिनभक्ति विशेष है तो भक्ति की विशेषता तो सौधर्म इन्द्र के भी है, वह सम्यग्दृष्टि भी है; उसे छोड़ कर, इन्हें किसलिए पूजें?
3. **फिर कहोगे** – जिस प्रकार राजा के प्रतिहारादिक हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर के क्षेत्रपालादिक हैं, परन्तु समवसरणादि में इनका अधिकार नहीं है, यह तो झूठी मान्यता है। तथा जिस प्रकार प्रतिहारादिक के मिलाने पर राजा से मिलते हैं; उसी प्रकार यह तीर्थंकर से नहीं मिलाते। वहाँ तो जिसके भक्ति हो, वही तीर्थंकर के दर्शनादिक कर सकता है, कुछ किसी के आधीन नहीं है।
4. तथा देखो अज्ञानता! आयुधादि सहित रौद्रस्वरूप है जिनका, उनकी गा-गा कर, भक्ति करते हैं सो यदि जिनमत में भी रौद्ररूप पूज्य हुआ तो यह भी अन्य मत के समान हुआ। तीव्र मिथ्यात्वभाव से जिनमत में भी ऐसी विपरीत प्रवृत्ति का मानना होता है।

   इस प्रकार क्षेत्रपालादिक को भी पूजना योग्य नहीं है।

(4) गाय आदि तिर्यंच और वृक्ष आदि स्थावरों को पूजने का निषेध

तथा गाय, सर्पादि तिर्यंच हैं, वे प्रत्यक्ष ही अपने से हीन भासित होते हैं; उनका तिरस्कारादि कर सकते हैं, उनकी निन्द्यदशा प्रत्यक्ष देखी जाती है। तथा वृक्ष, अग्नि, जलादिक स्थावर हैं; वे तिर्यंचों से

अत्यन्त हीन अवस्था को प्राप्त देखे जाते हैं, उनमें पूज्यपने का उपचार भी सम्भव नहीं है। इसलिए इनका पूजना महा मिथ्यात्व है। इनको पूजने से प्रत्यक्ष व अनुमान द्वारा कुछ भी फल की प्राप्ति भासित नहीं होती; इसलिए इनको पूजना योग्य नहीं है।

इस प्रकार सर्व ही कुदेवों को पूजना-मानना निषिद्ध है।

(5) रोड़ा, शीतला, आदि को पूजने का निषेध

देखो तो मिथ्यात्व की महिमा! लोक में अपने से नीचे को नमन करने में अपने को निन्द्य मानते हैं और मोहित हो कर, रोड़ों (ईंट.पत्थर का ढेला) तक को पूजते हुए भी निन्द्यपना नहीं मानते।

तथा लोक में तो जिससे प्रयोजन सिद्ध होता जाने, उसकी सेवा करते हैं और मोहित हो कर, 'कुदेवों से मेरा प्रयोजन कैसे सिद्ध होगा?' – ऐसा विचार किये बिना ही कुदेवों का सेवन करते हैं। तथा कुदेवों का सेवन करते हुए हजारों विघ्न होते हैं, उन्हें तो गिनता नहीं है और किसी पुण्य के उदय से इष्टकार्य सिद्ध हो जाए तो कहता है कि इसका सेवन नहीं किया, इसलिए अनिष्ट हुआ। इतना नहीं विचारता कि इन्हीं के आधीन इष्ट अनिष्ट करना हो तो जो पूजते हैं, उनके इष्ट होगा, जो नहीं पूजते, उनके अनिष्ट होगा; परन्तु ऐसा दिखाई नहीं देता। जिस प्रकार किसी के शीतला को बहुत मानने पर भी पुत्रादि मरते देखे जाते हैं, किसी के बिना माने भी जीते देखे जाते हैं; इसलिए शीतला का मानना किंचित् कार्यकारी नहीं है।

इसी प्रकार सर्व कुदेवों का मानना किंचित् कार्यकारी नहीं है।

कुदेवों की मान्यता के सम्बन्ध में शंका समाधान

1. **यहाँ कोई कहे** कि कार्यकारी नहीं है तो नहीं हो, उनके मानने से बिगाड़ भी तो नहीं होता?

   उत्तर – यदि बिगाड़ न हो तो हम किसलिए निषेध करें? एक तो मिथ्यात्वादि दृढ़ होने से मोक्षमार्ग दुर्लभ हो जाता है, यह बड़ा बिगाड़ है और दूसरे पापबन्ध होने से आगामी दुःख पाते हैं, यह बिगाड़ है।

2. **यहाँ वह पूछता है** कि मिथ्यात्वादि भाव तो अतत्त्व श्रद्धानादि होने पर होते हैं और पापबन्ध, खोटे कार्य करने से होता है सो उनके मानने से मिथ्यात्वादिक व पापबन्ध किस प्रकार होंगे?

   उत्तर – प्रथम तो परद्रव्यों को इष्ट अनिष्ट मानना ही मिथ्या है क्योंकि कोई द्रव्य किसी का मित्र शत्रु है नहीं तथा जो इष्ट-अनिष्ट पदार्थ पाये जाते है, उसका कारण पुण्य-पाप है; इसलिए जैसे पुण्यबन्ध हो, पापबन्ध न हो; वह करना। तथा यदि कर्म-उदय का भी निश्चय न हो और इष्ट-अनिष्ट के बाह्य कारणों के संयोग-वियोग का उपाय करे; परन्तु कुदेव को मानने से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि दूर नहीं होती, केवल वृद्धि को प्राप्त होती है। तथा उससे पुण्यबन्ध भी नहीं होता, पापबन्ध होता है। तथा कुदेव किसी को धनादिक देते या छुड़ा लेते, नहीं देखे जाते, इसलिए ये बाह्य कारण भी नहीं हैं।

3. **इनकी मान्यता किस अर्थ की जाती है?** – जब अत्यन्त भ्रमबुद्धि हो, जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान-ज्ञान का अंश भी न हो और राग-द्वेष की अति तीव्रता हो; तब जो कारण नहीं हैं, उन्हें भी इष्ट-अनिष्ट का कारण मानते हैं, तब कुदेवों की मान्यता होती है।

   – ऐसे तीव्र मिथ्यात्वादि भाव होने पर मोक्षमार्ग अतिदुर्लभ हो जाता है।

कुधर्म का निरूपण और उनके श्रद्धानादि का निषेध[176]

कुधर्म क्या? – जहाँ हिंसादि पाप उत्पन्न हों व विषय-कषायों की वृद्धि हो, वहाँ धर्म माने सो कुधर्म जानना। यज्ञादि क्रियाओं में महा हिंसादिक उत्पन्न करे, बड़े जीवों का घात करे और इन्द्रियों के विषय-पोषण करे, अन्य जीवों के प्रति दुष्टबुद्धि करके रौद्रध्यानी हो, तीव्र लोभ से औरों का बुरा करके अपना कोई प्रयोजन साधना चाहे और ऐसे कार्य करके वहाँ धर्म माने सो कुधर्म है।

विभिन्न अपेक्षाओं से कुधर्मपने की मान्यताएँ और उनका निषेध

(1) तीर्थों में अन्यत्र स्नानादि कार्य का निषेध

तीर्थों में अन्यत्र स्नानादि कार्य करे, वहाँ बड़े-छोटे बहुत से जीवों की हिंसा होती है, शरीर को चैन मिलता है; इसलिए विषय-पोषण होता है और कामादिक बढ़ते हैं; कुतूहलादि से वहाँ कषायभाव बढ़ाता है और धर्म मानता है सो कुधर्म है।

(2) संक्रान्ति, ग्रहणादि पर दानादि कार्य करके धर्म मानने का निषेध

1. संक्रान्ति, ग्रहण, व्यतिपातादिक में दान देता है व बुरे ग्रहादि के अर्थ दान देता है; पात्र जान कर, लोभी पुरुषों को दान देता है; दान देने में सुवर्ण, हस्ती, घोड़ा, तिल, आदि वस्तुओं को देता है; परन्तु संक्रान्ति आदि पर्व धर्मरूप नहीं हैं, ज्योतिषी के संचारादिक द्वारा संक्रान्ति आदि होते हैं। तथा 'दुष्ट ग्रहादिक के अर्थ दिया' – वहाँ भय, लोभादिक की अधिकता हुई, इसलिए वहाँ दान देने में धर्म नहीं है।
2. लोभी पुरुष देने योग्य पात्र नहीं हैं क्योंकि लोभी, नाना युक्तियाँ करके ठगते हैं, किंचित् भला नहीं करते। भला तो तब होता है, जब इसके दान की सहायता से वह धर्मसाधन करे; परन्तु वह तो उल्टा पापरूप प्रवर्तता है। पाप के सहायक का भला कैसे होगा?
3. रयणसार शास्त्र में कहा है –

सप्पुरिसाणं दाणं, कप्पतरूणं फलाण सोहं वा।
लोहीणं दाणं जइ, विमाण सोहा सवस्स जाणेह।। 26।।[177]

अर्थात् सत्पुरुषों को दान देना, कल्पवृक्षों के फलों की शोभा समान है। शोभा भी है और सुखदायक भी है। तथा लोभी पुरुषों को दान देना होता है सो शव अर्थात् मुर्दे की ठठरी की शोभा समान जानना। शोभा तो होती है परन्तु मालिक को परम दुःखदायक होती है; इसलिए लोभी पुरुषों को दान देने में धर्म नहीं है।

4. द्रव्य तो ऐसा देना चाहिए, जिससे उसके धर्म बढ़े; परन्तु सुवर्ण, हस्ती, आदि देने से तो हिंसादिक उत्पन्न होते हैं और मान-लोभादिक बढ़ते हैं, उससे महा पाप होता है। ऐसी वस्तुओं को देने वाले के पुण्य कैसे होगा ?
5. विषयासक्त जीव रतिदानादिक में पुण्य ठहराते हैं; परन्तु जहाँ प्रत्यक्ष कुशीलादि पाप हों, वहाँ पुण्य कैसे होगा? तथा युक्ति मिलाने को कहते हैं कि वह स्त्री सन्तोष प्राप्त करती है। सो स्त्री तो विषय-सेवन करने से सुख पाती ही है, शील का उपदेश किसलिए दिया? रतिकाल के अतिरिक्त भी उसके मनोरथ न प्रवर्ते तो दुःख पाती है; सो ऐसी असत्य युक्ति बना कर, विषय-पोषण करने का उपदेश देते हैं।

इसी प्रकार दया-दान व पात्र-दान के सिवा अन्य दान देकर धर्म मानना, सर्व कुधर्म है।

(3) मिथ्या व्रतादिक से धर्म मानने का निषेध

1. व्रतादिक करके वहाँ हिंसादिक व विषयादिक बढ़ाते हैं; परन्तु व्रतादिक तो उन्हें घटाने के अर्थ किये जाते हैं। तथा जहाँ अन्न का तो त्याग करे और कन्दमूलादिक का भक्षण करे, वहाँ हिंसा विशेष हुई, स्वादादिक विषय विशेष हुए।
2. दिन में तो भोजन करता नहीं है और रात्रि में भोजन करता है; वहाँ प्रत्यक्ष ही दिन में भोजन करने से रात्रि में भोजन करने में विशेष हिंसा भासित होती है, प्रमाद विशेष होता है।
3. व्रतादिक करके नाना शृंगार बनाता है, कुतूहल करता है, जुआ आदि खेलने रूप प्रवर्तता है; इत्यादि पापक्रियाएँ करता है; तथा व्रतादिक का फल लौकिक इष्ट की प्राप्ति, अनिष्ट के नाश को चाहता है; वहाँ कषायों की तीव्रता विशेष हुई।

इस प्रकार व्रतादिक से धर्म मानता है सो कुधर्म है।

(4) मिथ्या भक्ति आदि करने से धर्म मानने का निषेध

कोई भक्ति आदि कार्यों में हिंसादिक पाप बढ़ाते हैं, गीत-नृत्य-गानादिक व इष्ट भोजनादिक व अन्य सामग्रियों द्वारा विषयों का पोषण करते हैं, कुतूहल-प्रमादादिरूप प्रवर्तते हैं; वहाँ पाप तो बहुत उत्पन्न करते हैं और धर्म का किंचित् साधन नहीं है; वहाँ धर्म मानते हैं सो सब कुधर्म है।

1. कितने ही शरीर को तो क्लेश उत्पन्न करते हैं और वहाँ हिंसादिक उत्पन्न करते हैं व कषायादिरूप प्रवर्तते हैं। जैसे, पंचाग्नि तपते हैं सो अग्नि से छोटे-बड़े जीव जलते हैं, हिंसादिक बढ़ते हैं, इसमें धर्म क्या हुआ? औंधे मुँह झूलते हैं, ऊर्ध्वबाहु रखते हैं; इत्यादि साधन करते हैं, वहाँ क्लेश ही होता है। यह कुछ धर्म के अंग नहीं हैं।

2. पवन साधते हैं, वहाँ नेती, धोती इत्यादि कार्यों में जलादिक से हिंसादिक उत्पन्न होते हैं; कोई चमत्कार उत्पन्न हो तो उससे मानादिक बढ़ते हैं; किंचित् धर्मसाधन नहीं है; इत्यादि क्लेश तो करते हैं, विषय-कषाय घटाने का कोई साधन नहीं करते। अन्तरंग में क्रोध, मान, माया, लोभ का अभिप्राय है; वृथा क्लेश करके धर्म मानते हैं सो कुधर्म है।

(5) अपघात करने में धर्म मानने का निषेध

कितने ही इस लोक में दुःख सहन न होने से व परलोक में इष्ट की इच्छा व अपनी पूजा बढ़ाने के अर्थ व किसी क्रोधादिक से अपघात करते हैं। जैसे, पति-वियोग से अग्नि में जल कर, सती कहलाती है व हिमालय में गलते हैं, काशी में करौंत लेते हैं, जीवित मरण लेते हैं; इत्यादि कार्यों से धर्म मानते हैं, परन्तु अपघात का तो महान पाप है। यदि शरीरादिक से अनुराग घटा था तो तपश्चरणादि करना था, मर जाने में किस धर्म का अंग हुआ? इसलिए अपघात करना कुधर्म है।

इसी प्रकार अन्य भी बहुत से कुधर्म के अंग हैं। कहाँ तक कहें, जहाँ विषय-कषाय बढ़ते हों और धर्म मानें सो सब कुधर्म जानना।

(5) कालदोष से जैनधर्म में भी कुधर्म की प्रवृत्ति

1. देखो, काल का दोष! जैनधर्म में भी कुधर्म की प्रवृत्ति हो गई है। जैनमत में जो धर्म-पर्व कहे हैं, वहाँ तो विषय-कषाय छोड़ कर, संयमरूप प्रवर्तना योग्य है। उसे तो ग्रहण नहीं करते और व्रतादिक का नाम धारण करके वहाँ शृंगार बनाते हैं, इष्ट भोजनादिक करते हैं, कुतूहलादि करते हैं व कषाय बढ़ाने के कार्य करते हैं, जुआ इत्यादि महान पापरूप प्रवर्तते हैं।
2. पूजनादि कार्यों में उपदेश तो यह था कि ''**सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ दोषाय नाऽलं**[178] अर्थात् बहुत पुण्य-समूह में पाप का अंश, दोष उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है।'' – इस छल द्वारा पूजा-प्रभावनादि कार्यों में – रात्रि में दीपक जलाने से, अनन्तकायादिक के द्वारा व अयत्नाचार-प्रवृत्ति से हिंसादिरूप पाप तो बहुत उत्पन्न करते हैं और स्तुति, भक्ति, आदि शुभपरिणामों में नहीं प्रवर्तते व थोड़े प्रवर्तते हैं सो वहाँ नुकसान बहुत, नफा थोड़ा या कुछ नहीं – ऐसे कार्य करने में तो बुरा ही दिखना होता है।
3. जिनमन्दिर तो धर्म का ठिकाना है। वहाँ नाना कुकथा करना, सोना इत्यादि प्रमादरूप प्रवर्तते हैं; तथा वहाँ बाग-बाड़ी इत्यादि बना कर, विषय-कषाय का पोषण करते हैं।
4. लोभी पुरुष को गुरु मान कर, दानादिक देते हैं व उनकी असत्य स्तुति करके महन्तपना मानते हैं।

इत्यादि प्रकार से विषय-कषायों को बढ़ाते हैं और धर्म मानते हैं; परन्तु जिनधर्म तो वीतरागभावरूप है, उसमें ऐसी विपरीत प्रवृत्ति कालदोष से ही देखी जाती है।

इस प्रकार कुधर्म-सेवन का निषेध किया।

कुधर्म-सेवन से मिथ्यात्वभाव कैसे?

1. तत्त्वश्रद्धान करने में प्रयोजनभूत तो एक यह है कि 'रागादिक छोड़ना'। इसी भाव का नाम धर्म है। यदि रागादिक भावों को बढ़ा कर, धर्म मानें तो वहाँ तत्त्वश्रद्धान कैसे रहा? तथा जिन-आज्ञा से प्रतिकूल हुआ रागादिकभाव तो पाप हैं, उन्हें धर्म माना सो यह झूठा श्रद्धान हुआ; इसलिए कुधर्म के सेवन में मिथ्यात्वभाव है। यही षट्पाहुड़ (अष्टपाहुड़) में कहा है –

कुच्छियदेवं धम्मं, कुच्छियलिंगं च बंदए जो दु।
लज्जाभयगारवदो, मिच्छादिट्ठी हवे सो हु।।[179]

अर्थात् यदि लज्जा से, भय से व बड़ाई से भी कुत्सित देव को, कुत्सित धर्म को व कुत्सित लिंग को वन्दता है तो मिथ्यादृष्टि होता है।

2. इसलिए जो मिथ्यात्व का त्याग करना चाहे, वह पहले कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का त्यागी हो। सम्यक्त्व के पच्चीस मलों के त्याग में भी अमूढ़दृष्टि अंग में व षडायतन में इन्हीं का त्याग कराया है; इसलिए इनका अवश्य त्याग करना।
3. कुदेवादिक के सेवन से जो मिथ्यात्वभाव होता है, वह हिंसादिक पापों से बड़ा पाप है। इसके फल से निगोद, नरकादि पर्यायें पायी जाती हैं। वहाँ अनन्त कालपर्यन्त महा संकट पाया जाता है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति महा दुर्लभ हो जाती है।

यही षट्पाहुड़ में कहा है –

कुच्छियधम्मम्मि रओ, कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो।
कुच्छियतव कुणंतो, कुच्छियगइभायणो होदि।।[180]

अर्थात् जो कुत्सित धर्म में रत है, कुत्सित पाखण्डियों की भक्ति से संयुक्त है, कुत्सित तप को करता है; वह जीव कुत्सित अर्थात् खोटी गति को भोगने वाला होता है।

अतः हे भव्यों! किंचित्मात्र लोभ से व भय से कुदेवादिक का सेवन करके जिससे अनन्त कालपर्यन्त महा दुःख सहना होता है – ऐसा मिथ्यात्वभाव करना योग्य नहीं है।

जिनधर्म की आम्नाय[181]

जिनधर्म में यह तो आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ा कर, फिर छोटा पाप छुड़ाया है; इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादिक से भी बड़ा पाप जान कर, पहले छुड़ाया है। इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं; अपने आत्मा को दुःख-समुद्र में नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो; निन्दा-प्रशंसादिक के विचार से शिथिल होना योग्य नहीं है क्योंकि नीति में भी ऐसा कहा है –

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वाऽस्तु मरणं तु युगान्तरे वा,
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।[182]

अर्थात् कोई निन्दा करता है तो निन्दा करो, स्तुति करता है तो स्तुति करो, लक्ष्मी आओ या जहाँ-तहाँ जाओ तथा अभी मरण होओ या युगान्तर मे होओ; परन्तु नीति में निपुण पुरुष न्यायमार्ग से एक डग भी चलित नहीं होते।

ऐसा न्याय विचार कर, निन्दा-प्रशंसादिक के भय से या लोभादिक से अन्यायरूप मिथ्यात्व-प्रवृत्ति करना युक्त नहीं है।

सच्चे देव-गुरु-धर्म की उत्कृष्टता[183]

अहो! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आधार से धर्म है। इनमें शिथिलता रखने से अन्य धर्म किस प्रकार होगा? इसलिए बहुत कहने से क्या? सर्वथा प्रकार से कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्यागी होना योग्य है।

कुदेवादिक का त्याग न करने से मिथ्यात्वभाव बहुत पुष्ट होता है और वर्तमान में यहाँ इनकी प्रवृत्ति विशेष पायी जाती है; इसलिए इनका निषेधरूप निरूपण किया है। उसे जान कर, मिथ्यात्वभाव छोड़ कर, अपना कल्याण करो।''[184]

आठ मद

मद अर्थात् अहंकार – यह सम्यग्दर्शन का दोष है। जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव – जाति, कुल, रूप, सम्पदा (ऐश्वर्य), बुद्धि (विद्या), बल, तप, और पूजा – इन आठों का घमण्ड करता है अर्थात् इनसे अपने को तो ऊँचा दिखाना चाहता है और दूसरे साधर्मियों को नीचा दिखाना चाहता है, वह सम्यक्त्व की महिमा को घटाता है अर्थात् सम्यक्त्व को मलिन करता है। यद्यपि प्रौढ़ सम्यक्त्व के धारक सम्यग्दृष्टि को अभिमानरूपी मिथ्यात्व के आवेश की शंका नहीं होती क्योंकि कहा भी है –

मा भैषीर्दृष्टिसिंहेन राजन्वति मनोवने।
न मदान्धोऽपि मिथ्यात्वगन्धहस्ती चरिष्यति।।[185]

अर्थात् हे सुदृढ़ सम्यग्दृष्टि! तू डर मत क्योंकि सम्यग्दर्शनरूपी सिंह का जहाँ राज्य है, उस मनरूपी वन में मदान्ध मिथ्यात्वरूपी गन्धहस्ती विचरण नहीं कर सकेगा।

फिर भी यदि सम्यक्त्व में यत्किंचित् कमी है तो वह जाति आदि के मद से अहंकाराविष्ट हुआ सम्यग्दृष्टि, साधर्मी के अपमान की ओर अभिमुख होने से सम्यक्त्व के माहात्म्य को हानि पहुँचाता है। यही अनगार धर्मामृत में कहा है –

सम्भावयन् जातिकुलाऽभिरूप्य-, विभूतिधीशक्तितपोऽर्चनाभिः।
स्वोत्कर्षमन्यस्य सधर्मणो वा, कुर्वन् प्रघर्षं प्रदुनोति दृष्टिम्।।[186]

अर्थात् जाति, कुल, सुन्दरता, समृद्धि, ज्ञान, शक्ति, तप और पूजा से अपना उत्कर्ष मानने वाला; मैं उससे बड़ा हूँ – ऐसा समझने वाला अथवा अन्य साधर्मी का तिरस्कार करने वाला सम्यक्त्व की महत्ता को घटाता है।

अष्ट मदों के नाम

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मयमाहुर्गतस्मयाः।।[187]

अर्थात् ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद, बलमद, ऋद्धिमद, तपमद, शरीरमद, – ऐसे आठ प्रकार के मान को मद रहित गणधरादि ने मद (स्मय) कहा है।

इन आठ मदों में रूपमद को शरीरमद, सौन्दर्यमद, आदि; ज्ञानमद को विद्यामद, बुद्धिमद, आदि; धनमद को ऋद्धिमद, ऐश्वर्यमद, समृद्धिमद, लक्ष्मीमद, आदि; प्रभुतामद को प्रतिष्ठामद, पूजामद, आदि ; बलमद को शक्तिमद आदि नामों से भी जाना जाता है।

अष्ट मदों का स्वरूप[188]

1. **ज्ञानमद** – अपनी विद्या का अभिमान करना, ज्ञानमद है।
2. **पूजामद या प्रभुतामद** – अपने बड़प्पन और आज्ञा का गर्व करना, पूजामद या प्रभुतामद है।
3. **कुलमद** – पिता आदि पितृपक्ष में राजा आदि प्रतापी पुरुष होने से 'मैं राजकुमार हूँ' आदि अभिमान करना, कुलमद है।
4. **जातिमद** – मामा आदि मातृपक्ष में राजा आदि प्रतापी पुरुष होने का अभिमान करना, जातिमद है।
5. **बलमद** – अपनी शारीरिक शक्ति का गर्व करना, बलमद है।
6. **ऋद्धिमद, लक्ष्मीमद या धनमद** – अपनी धन-सम्पत्ति का अभिमान करना, ऋद्धिमद, लक्ष्मीमद या धनमद है।
7. **तपमद** – अपने व्रत-उपवास आदि तप का गर्व करना, तपमद है।
8. **शरीरमद या रूपमद** – शारीरिक सौन्दर्य का मद करना, शरीरमद या रूपमद है।

अष्ट मदों को त्याग करने की प्रेरणा

जिनके अभिमान छूट जाने से आठ मदों का अत्यन्त अभाव हो जाता है, कठोरता छूट कर, कोमलता प्रगट हो जाती है; उनके नम्रता अर्थात् मार्दव धर्म प्रगट हो जाता है। लोक में जिनको अभिमान होता है, उनका समस्त जगत् वैरी हो जाता है। अभिमानी की सभी निन्दा करते हैं, उसका महा अपयश होता है। सभी लोग अभिमानी का पतन चाहते हैं। जो अभिमानी, यहाँ किंचित् मात्र भी कठोर वचन नहीं सहते हैं; वे तिर्यंच गति में नाक में मूँज की रस्सी का बन्धन, लादन, ताड़न, लातों से ठोकरों की मार, मर्मस्थलों में चमड़े के कोड़ों की मार पराधीन होकर भोगते हैं तथा चाण्डाल आदि के मलिन घरों में बन्धनों से बँधे रहते हैं, और जिनके ऊपर मैला आदि निन्द्य वस्तुएँ लादी जाती हैं; अतः उक्त आठों मदों का अवश्य त्याग कर देना चाहिए।

वस्तुतः सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि क्षयोपशमजन्य ज्ञान, पूजा, आदि वस्तएँ मेरे आधीन नहीं हैं, किन्तु कर्माधीन हैं और कर्मोदय प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है; अतएव शरीर, ज्ञान, ऐश्वर्य, आदि का मद करना निरर्थक है। रत्नत्रयरूप धर्म ही जीवात्मा के स्वाधीन है, कालावच्छिन्न है, पवित्र-निर्मल और स्वयं कल्याणस्वरूप है। संसार के अन्य सब पदार्थ 'पर' हैं और आत्मोत्थान में सहायक नहीं हैं।.....यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ज्ञानादि हेय नहीं हैं, अपितु ज्ञानादि के मद हेय हैं।

''सम्यग्दृष्टि जीव, संयोग शरीर और पर्यायबुद्धि से रहित होता है, इस कारण उसे इनके आश्रय से मद नहीं होता।.....जो जीव, इन आठ मदों का गर्व नहीं करता, वही आत्मा का ज्ञान कर सकता है। यदि उनका गर्व करता है तो ये मद सम्यग्दर्शन के आठ दोष बन कर, उसे दूषित करते हैं।''[189]

उक्त आठों मद सम्यग्दर्शन का नाश करने वाले हैं, इनका संसर्ग स्वप्न में भी जैसे नहीं हो, वैसे निरन्तर प्रवर्तन करना योग्य है।

अब इन आठों मदों को त्याग करने की प्रेरणासूचक आगम-वचनों को कहते हैं –

ज्ञानमद का त्याग करने की प्रेरणा[190]

जिसके एक भी मद हो, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? सम्यग्दृष्टि, इस प्रकार सच्चा चिन्तवन करता है –

इन्द्रियज्ञान की हीनता

1. हे आत्मन्! तूने तो इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ ज्ञान पाया है, इसका गर्व क्यों करता है? यह ज्ञान तो ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम के आधीन है, विनाशीक है, इन्द्रियों के आधीन है, वात-पित्त-कफ़ादि के आधीन है। इसके नष्ट होने में अधिक देर नहीं लगती है। क्यों इसका गर्व करते हो? इन्द्रियों के नष्ट होते ही ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, वात-पित्त-कफ़ादि के घटने-बढ़ने पर क्षण मात्र में ही ज्ञान विपरीत हो जाता है, बावला हो जाता है।
2. यह इन्द्रियजनित ज्ञान तो शरीर के साथ ही विनश जाएगा।
3. कई बार एकेन्द्रिय हुआ, शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्त ही नहीं हुईं। एकेन्द्रियों में जड़रूप पाषाण, धूल, पृथ्वीरूप होकर असंख्यात काल तक अज्ञानी रहा।
4. कई बार विकलत्रय में हित-अहित की शिक्षा रहित हुआ।
5. कई बार कूकर, शूकर, व्याघ्र, सर्प, आदि में विपरीत ज्ञानी होकर भ्रमण किया।
6. निगोद में अक्षर के अनन्तवें भाग मात्र ज्ञान सहित हुआ।
7. व्यन्तर आदि अधम देवों में भी मिथ्यात्व के प्रभाव से आपा-पर नहीं जानता हुआ, मरण करके एकेन्द्रिय में उत्पन्न होकर अनन्त काल तक परिभ्रमण किया है।

मनुष्यों के द्वारा ज्ञान का दुरुपयोग

1. मनुष्यों में भी किन्हीं विरले मनुष्यों को ज्ञानावरण के क्षयोपशम की अधिकता से तीक्ष्ण ज्ञान हो जाता है तो उनमें से कितने ही मनुष्य तो नीच कार्यों में प्रवीण होकर अनेक जल के जीव, थल के जीव, आकाश में विचरण करने वाले जीवों के मारने में, पकड़ने में, बाँधने में, अनेक यन्त्र-पींजरा-जाल-फाँसी बनवाने में चतुराई का उपयोग करते हैं।
2. कितने ही मनुष्य अनेक प्रकार की तलवार, बन्दूक, तोप, बाण, जहर, विष, आदि बनाने की विद्या में प्रवीण हो कर, अपनी चतुराई के मद में उन्मत्त हो कर, गाँव-देश आदि के विध्वंस करने में होशियार बन जाते हैं।
3. कितने ही मनुष्य सिंह, व्याघ्र, वराह, आदि जीवों का शिकार करने में चतुर होते हैं।
4. कितने ही मनुष्य, ज्ञान का अधिक क्षयोपशम पा कर, दूसरे अनेक मनुष्यों का धन छीनने में, लूटने में, रास्ता चलते लोगों का धन चुराने में, हत्या करने में प्रवीण हो जाते हैं।
5. कितने ही मनुष्य, ज्ञान की तीक्ष्णता पाकर भोले जीवों का तिरस्कार करने में, झूठों को सच्चा सिद्ध कर देने में, सच्चे को झूठा सिद्ध कर देने में, धन और प्राण दोनों हरण करने में प्रवीण हो जाते हैं।
6. कितने ही मनुष्य, अपने ज्ञान की तीक्ष्णता द्वारा मनुष्यों की चुगली करने में, लुटवा देने में, धन-धरती-आजीविका आदि नष्ट कर देने में, राजा आदि द्वारा दण्ड करा देने में, मरण करा देने में प्रवीण होते हैं।
7. कितने ही मनुष्य, लकड़ी, पत्थर, धातु, रत्न, आदि की अनेक वस्तुएँ बनवाने में; चित्र, आभरण, वस्त्र, महल, आदि अनेक प्रकार की रचना देने में, प्रवीणता पाकर अभिमान के वश होकर नष्ट हो जाते हैं।
8. कितने ही मनुष्य, ज्ञान की प्रबलता पाकर अनेक शृंगार शास्त्र, युद्ध शास्त्र, वैद्यक शास्त्र, आदि बना कर राजाओं को प्रसन्न करते हैं। वे अनेक छन्द, अलंकार, व्याकरण विद्या, एकान्तरूप न्याय विद्या, वेद-पुराण, क्रियाकाण्ड, आदि की प्ररूपणा करके, गर्विष्ट होकर आत्मज्ञान रहित होकर संसार में परिभ्रमण करते हैं।

9. कितने ही मनुष्य, वीतराग मार्ग को प्राप्त करके भी मिथ्यात्व के तीव्र उदय से सत्य ज्ञान-श्रद्धान को नहीं पाकर अपना अभिमान, वचन, पक्ष पुष्ट करने के लिए विरुद्ध मार्ग में प्रवर्तन करा कर, अपने को कृतार्थ मानते हैं।

इस प्रकार ज्ञान की अधिकता प्राप्त करके भी मिथ्यात्व के प्रभाव से और अधिक-अधिक बन्ध करके संसार में ही नष्ट होते हैं; इसलिए अब वीतरागी सम्यग्ज्ञानी गुरुओं का उपदेश पा कर, ज्ञान का गर्व नहीं करो। हे आत्मन्! तेरा स्वभाव तो सकल लोकालोक को जानने वाला केवलज्ञानरूप है। अब, कर्म के क्षयोपशम से जो इन्द्रियों के आधीन शास्त्रों का कुछ ज्ञान प्रगट हुआ है, उसका क्यों गर्व करते हो? जैसे, कोई प्रबल शत्रु, मण्डलेश्वर राजा को बाँध कर, जेल में डाल कर, घटिया थोड़ा-सा भोजन दे कर, अनेक प्रकार से कष्ट देकर रखे; कभी किसी समय थोड़ा-सा मिष्ट भोजन भी दे देवे तो क्या मण्डलेश्वर राजा, जेल में पड़ा हुआ उस थोड़े-से मिष्ट भोजन को पाकर गर्व करेगा? उसी प्रकार तुम्हारे अनन्तज्ञानस्वरूप केवलज्ञान को इन कर्मों ने लूट की शरीररूप बन्दीगृह में पराधीन कर रखा है। अब, इन्द्रियों द्वारा कुछ ज्ञान पा कर, उस पर क्यों गर्व करते हो?

यह इन्द्रियज्ञान तो विनाशीक पराधीन है, शरीर के साथ ही अवश्य नष्ट हो जाएगा। इस शरीर में भी रोग से, बुढ़ापे से, इन्द्रियों की विकलता से, दुष्टों की संगति से, विषय-कषायों की अधिकता से क्षण मात्र में ही इस इन्द्रियज्ञान के विनाश होने में देर नहीं लगती। इस विनाशीक ज्ञान को पा कर, यदि मद करोगे तो तुम्हारे सभी गुण नष्ट हो जावेंगे और तुम ज्ञान रहित हो कर, एकेन्द्रिय आदि में जा कर, पैदा हो जाओगे।

इस काल में तुम कोई कविता, छन्द, चर्चा समझ कर; नवीन काव्य, श्लोक, शास्त्र, छन्द, युक्ति बना कर तथा जिनमत के सिद्धान्तों का कुछ ज्ञान पा कर, मद को प्राप्त हो रहे हो सो मद करना उचित नहीं है।

पूर्वकाल में हुए ज्ञानी वीतरागियों के लिए ग्रन्थों के वाक्यों को देखो। अकलंकदेव द्वारा रचित लघुत्रयी, बृहत्त्रयी और चूलिका – ऐसे सात ग्रन्थ हैं; उन्हें समझने के लिए माणिक्यनन्दि मुनिराज ने 'परीक्षामुख' बनाया। उसकी बड़ी टीका प्रमेयकमलमार्तण्ड, बारह हजार श्लोकप्रमाण आचार्य प्रभाचन्द्रजी ने बनाई। लघुत्रयी के ऊपर न्यायकुमुदचन्द्रोदय, सोलह हजार श्लोकों में आचार्य प्रभाचन्द्रजी ने लिखा। तत्त्वार्थसूत्र का गन्धहस्ति महाभाष्य तो चौरासी हजार श्लोकों में लिखा गया है, जो इस समय मिलता ही नहीं है। उसके मंगलाचरण पर आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा लिखी, जो देवागमस्तोत्र के नाम से भी प्रसिद्ध है। उस पर आचार्य अकलंकदेव ने अष्टशती एवं आचार्य विद्यानन्दि ने अष्टसहस्री टीका लिखी। अकलंकदेव ने राजवार्तिक रचा है। आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने अठारह हजार श्लोकों में श्लोकवार्तिक लिखी हैं तथा आप्तपरीक्षा भी लिखी हैं।

उनके निर्बाध वचनों के प्रभाव को देख कर, बड़े-बड़े वादियों – तर्क करने वालों के गर्व गल जाते हैं। नाटकत्रय, सारत्रय इत्यादि अनेकान्तरूप निर्बाध युक्तियुक्त वचनों को जान कर, कैसे ज्ञान का मद करते हो? किसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से कुछ ज्ञान प्राप्त किया है तो इसे बड़ी दुर्लभ वस्तु समझ कर, आत्मा को विषयों से तथा अभिमान आदि कषायों से छुड़ा कर, परम समता धारण कर, संसार परिभ्रमण के अभाव का प्रयत्न करो। ज्ञान का मद करके आत्मा को अनन्त संसार नहीं बनाओ।

इस प्रकार ज्ञान के मद का अभाव करने का उपदेश दिया है।

पूजामद या प्रभुतामद का त्याग करने की प्रेरणा

यह दूसरा, पूज्यता का मद – ऐश्वर्य का मद, सम्यग्दृष्टि नहीं करता हैं। ये राज्य ऐश्वर्य आत्मा का स्वभाव नहीं है, कर्मों का किया है, विनाशीक है, पराधीन है, दुर्गति का कारण है। मेरा ऐश्वर्य तो अनन्त चतुष्टयमय अक्षय-अविनाशी-अखण्ड-सुखमय है, अनन्त ज्ञान-दर्शनमय है, अनन्त सुखमय है। यह कर्मकृत, महा उपाधिरूप, आत्मा को क्लेषित करके दुर्गति में पहुँचाने वाला, स्वरूप को भुलाने वाला, महा दाह को उत्पन्न करने वाला, दुःखस्वरूप है, अनेक जीवों को घातक है। महा आरम्भ, महा परिग्रह में अन्धा करके नरक पहुँचाने वाला है। इस ऐश्वर्य से मैं कितने दिन पूज्य रहूँगा? क्षण भर में नष्ट होने से रंक हो जाऊँगा।

जगत् में धन के लोभी तथा अज्ञानी लोग मुझे ऊँचा मानते हैं, सत्कार करते हैं किन्तु उस राज्य, सम्पदा, आदि का मेरा कितने दिनों का स्वामीपना है? मृत्यु का दिन निकट आ रहा है। मुझ सरीखे

अनन्तानन्त जीव सम्पदा को अपनी मानने वाले नष्ट हो गये हैं। परमाणु मात्र भी परद्रव्य मेरा नहीं हैं। एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कैसे हो सकता है?

इस पर्याय में कर्मकृत पर का संयोगरूप ऐश्वर्य है सो दान, सन्मान, शील, संयम, दूसरे जीवों मे उपकार में लगाने से ही प्रशंसा योग्य है। ऐश्वर्य पाकर गर्व रहित, वांछा रहित, समता सहित, विनयवन्त होना शुभगति का कारण है। मिथ्यादर्शन जनित मिथ्याभाव जीव को अपना स्वरूप भुला कर, ऐश्वर्य में उलझा कर, नरक में पहुँचा देता हैं। अन्य जीवों को अशुभकर्म के उदय के वश निर्धनतासे दुःखी देख कर, अशुभ सामग्री सहित देख कर, अवज्ञा-तिरस्कार नहीं करता है, करुणा ही करता है।

कुलमद का त्याग करने की प्रेरणा

अब यह सिद्ध करते हैं कि सम्यग्दृष्टि को कुल का मद नहीं होता है। जगत् में पिता के वंश को कुल कहते हैं। सम्यग्दृष्टि विचारता है कि मेरा आत्मा किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं किया गया है। मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, उसका कुल होता ही नहीं है। ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव ही मेरा कुल है। मैं अनादिकाल का कर्मों से पराधीन हूँ। इस मनुष्य पर्याय में यदि उत्तम कुल मिला है तो इसका गर्व करना महा अनर्थ है।

पूर्व भवों में मैं अनन्त बार नारकी हुआ, अनन्त बार सिंह-व्याघ्र-सर्पों के कुलों पैदा हुआ, अनन्त बार सूकर, कूकर, गीदड़, गधा, ऊँट, भेड़, भैंसा, स्याल इत्यादि के कुलों में पैदा हुआ; अनन्त बार म्लोच्छों, धोबी, तेली, खाती, लुहार, भड़भूंजा, चारण, भाट, डोम, भांडों के कुलों में पैदा हुआ; अनेक बार निर्धनों के कुल में पैदा हुआ हूँ। कभी किसी शुभकर्म के उदय से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के कुलों में आ कर, पैदा हो गया तो अब कर्म के किए कुल में आ कर, गर्व करना बड़ा अज्ञान है। इस कुल में मुझे कितने दिनों तक रहना है? अनादि से इस कुल में मेरा निवास तो था नहीं, नया पैदा हुआ है, मर कर, फिर पुण्य-पाप के अनुसार किसी अन्य कुल में पैदा होना होगा।

उत्तम कुल प्राप्त करने का फल तो ये है कि मोक्षमार्ग का साधक रत्नत्रय में प्रवर्तन करना तथा अधम आचरण का त्याग करना। ऐसा भी विचार करना चाहिए कि मुझे पुण्य के प्रभाव से उत्तम कुल मिला है, इसलिए नीच कुल के मनुष्यों के समान अभक्ष्य नहीं खाना चाहिए; जुआ खेलना, वेश्या-सेवन, चोरी करना, आदि उचित नहीं है। निंद्यकर्म तथा शारीरिक परिश्रम वाली जीविका करना अयोग्य है; हास्य, असत्य वचन, छलकपट करना उचित नहीं है। यदि मैं अब उत्तम कुल को पाकर भी निंद्यकर्म करूँगा तो इस लोक में निन्दा योग्य हो कर, आगे दुर्गति का पात्र होऊँगा।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि कुल का मद नहीं करता है।

जातिमद का त्याग करने की प्रेरणा

माता के वंश को जाति कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव, जाति का गर्व नहीं करता है। सम्यग्दृष्टि, विचार करता है कि पूर्वभवों में अनन्त बार नीच जाति में पैदा हुआ, तब एक बार उच्च जाति में पैदा हुआ; इस प्रकार अनन्त बार नीच जाति पाई और अनन्त बार उच्च जाति भी पाई है। अब उच्च जाति पाने का क्या गर्व करते हो? अनेक बार निगोद में पैदा हुआ; कूकरी, सूकरी, चांडाली, भीलनी, चमारी, दासी, वेश्याओं के गर्भ में भी अनेक बार जन्म धारण किया है।

यह जाति तो पुण्य-पाप कर्म का फल है, जो रस देकर खिर जाएगा। जाति-कुल में रुकना कितने दिन का है? इसलिए जाति-कुल को विनाशीक जान कर्म के अधीन जान कर, उत्तम शील पालने में, क्षमा धारण करने में, स्वाध्याय में, परोपकार में, दान में, विनय में प्रवर्तन करके जाति का उच्चपना सफल करो। जाति का मद करके संसार में नष्ट मत होओ।

जातिमद और कुलमद करने वालों को सम्बोधन – "हे जाति और कुल से अपने को ऊँचा मानने वाले! पूर्व पुण्य के उदय से यदि तू सम्यक्त्व, सदाचार, दानवीरता, धन, कला, सौन्दर्य, वीरता, आदि गुणों में प्रसिद्ध स्त्री-पुरुषों के द्वारा जनता के मन में चमत्कार करने वाले कुल में पैदा हुआ है तो इस कलिकाल में तो स्त्रियों की तो बात ही क्या? पुरुषों का भी मनोबल प्रायः अपवादों से घिर जाता है। इसलिए जाति और कुल के मिथ्या अभिमान में तू अन्य साधर्मियों से बड़ा मान कर, अपने को नीचे क्यों गिराता है?"[191]

आगम में जातिमद आदि को बहुत बुरा बतलाया है। कहा भी है –

जाति-रूप-कुलैश्वर्य-शील-ज्ञान-तपो-बलैः ।
कुर्वाणोऽहंकृतिं नीचं, गोत्रं बध्नाति मानवः।।[192]

अर्थात् जाति, रूप, कुल, ऐश्वर्य, शील, ज्ञान, तप, और बल का अहंकार करने वाला मनुष्य नीच गोत्र का बन्ध करता है।

इसके सिवाय इस कलिकाल में जाति और कुल की उच्चता का अभिमान इसलिए भी व्यर्थ है कि कुल नारीमूलक है और कलिकाल में कामदेव का साम्राज्य रहता है। कब कहाँ किसका मन विकृत हो कर, शील को दूषित कर दे? – इसका कोई ठिकाना नहीं है; अतः जाति-कुल का अभिमान व्यर्थ है।

इसी सन्दर्भ में सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी द्वारा अनगार धर्मामृत की भाषा-टीका में उद्धृत, जाति-कल्पना की निरर्थकता का सूचक निम्न श्लोक पठितव्य है –

''**अनादाविह संसारे, दुर्वारे मकरध्वजे।**
कुले च कामिनीमूले,का जातिपरिकल्पना।।[193]

अर्थात् संसार अनादि है, कामदेव की गति दुर्निवार है और कुल का मूल नारी है – ऐसी स्थिति में जाति की परिकल्पना बेकार है।''

बलमद का त्याग करने की प्रेरणा

सम्यग्दृष्टि को बल का मद नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि विचार करता है –

''मैं आत्मा अनन्त बल का धारी हूँ, किन्तु कर्मरूपी मेरे प्रबल बैरी ने मेरा बल नष्ट करके, बल रहित एकेन्द्रिय, विकलत्रय, आदि में मेरा सम्पूर्ण बल आच्छादित करके, मेरी ऐसी बल रहित दशा की है, जहाँ मैं जगत् की ठोकरों से कुचला गया व चींथा गया हूँ। अब किसी वीर्यान्तराय कर्म का कुछ क्षयोपशम पा कर, इस मनुष्य शरीर की युवा अवस्था में आहार के आश्रय से कुछ बल का उघाड़ हुआ है।

अब इस देह के आधार से पराधीन बल से यदि मैं तपस्या करके कर्मों का नाश करूँ तो बल पाना सफल है। इस बल के प्राप्त होने से मैं व्रत, उपवास, शील, संयम, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग करूँ तथा कर्म का प्रबल उदय होने पर भी आए हुए उपसर्ग-परीषह आदि से विचलित नहीं होऊँ; रोग-दारिद्र्य आदि कर्मों के प्रहार से कायर नहीं होऊँ तो मेरा बल पाना सफल है।

मैं दीन, दरिद्री, असमर्थों के दुर्वचन सुन कर भी क्षमा धारण करूँगा तो मेरी आत्मा की विशुद्धता के प्रभाव से दुर्जेय कर्मों को जीत कर, क्रम-क्रम से अनन्त वीर्य को प्राप्त करके अविनाशी पद प्राप्त कर लूँगा; और यदि मैं बलवान होकर निर्बलों का घात करूँ तो सिंह-व्याघ्र-सर्प आदि दुष्ट तिर्यंचों के समान दूसरे जीवों की हिंसा करने के लिए ही मेरा बल पाना रहा; जिसका फल दीर्घ काल तक नरकों के दुःख भोग करके अनन्त काल तक निगोद में परिभ्रमण करना होगा। इस प्रकार बल के मद के समान मेरी आत्मा का घातक अन्य कोई नहीं है।''[194]

ऋद्धिमद, लक्ष्मीमद या धनमद का त्याग करने की प्रेरणा

''ज्ञानी को ऋद्धि अर्थात् धन-सम्पत्ति पाने का गर्व नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि तो धन आदि के परिग्रह को महा भार मानता है। वह विचारता है कि ऐसा दिन कब आएगा? – जब मैं समस्त परिग्रह के भार को छोड़ कर, अपने आत्मीक धन की सम्हाल करूँगा? – यह धन-परिग्रह का भार महा बन्धन है। राग, द्वेष, भय, सन्ताप, शोक, क्लेश, बैर, हानि, महा आरम्भ का कारण है; मद उत्पन्न करने वाला है, दुःखरूप दुर्गति का बीज है।

परन्तु करें क्या? जैसे, कफ में पड़ी मक्खी अपने को निकालने में समर्थ नहीं है, कीचड़ में फँसा अशक्त बैल कीचड़ के बाहर निकलने में समर्थ नहीं है, दलदल में पड़ा हाथी अपने को निकालने में समर्थ नहीं है; उसी प्रकार मैं भी इस धन-कुटुम्ब आदि के फन्दे में से निकलना चाहता हूँ, किन्तु आसक्ति का प्रबल उदय, निर्वाह होने की कठिनता दिखाई देने से हृदय काँपता है – ऐसे अपमान, भयादि कराने वाले परिग्रह के बन्धन से बाहर निकलने का इच्छुक सम्यग्दृष्टि, पराधीन विनाशीक, दुःखरूप सम्पत्ति का गर्व नहीं करता है। इसका संयोग होने से बड़ी शर्म लगती है कि 'मैं अपनी स्वाधीन अविनाशी आत्मीक लक्ष्मी को छोड़ कर, ज्ञानी होकर भी इस धूल समान लक्ष्मी को नहीं छोड़ रहा हूँ, इसके समान मेरी और क्या निर्लज्जता होगी और क्या हीनता होगी?''[195]

"जो लक्ष्मी एकमात्र पुराकृत शुभकर्म से प्राप्त होती है, जो लक्ष्मी एक साथ आने वाली विपत्तियों एवं भीतियों का स्थान है, जो लक्ष्मी अपने अत्यन्त भक्त निकट-सम्बन्धी पुत्र, भाई, आदि में भी निरन्तर विश्वास को घटाती है, जो लक्ष्मी दोषों में भी गुणों की कल्पना करा कर, लोगों को अनुरागी बनाती है; हे भाई! युक्त-अयुक्त के विचार से विकल होने के कारण ऐसी लक्ष्मी से तुम्हें प्रीति उत्पन्न होती है। वह लक्ष्मी, तुम्हें छोड़ कर, अन्य पुरुष के पास जाए, उससे पहले ही तू अपने को उक्त लक्ष्मी से बड़ा मान अर्थात् अपने स्वभाव को सर्वोपरि मान कर, उस लक्ष्मी से अपने को अलग कर ले।"[196]

"लक्ष्मी की प्राप्ति में पौरुष से अधिक दैव का हाथ होता है और फिर लक्ष्मी पाकर मनुष्य, आपत्तियों का शिकार हो जाता है। कहा भी है –

बह्वपायमिदं राज्यं, त्याज्यमेव मनस्विनाम्।
यत्र पुत्राः ससोदर्याः, वैरायन्ते निरन्तरम्।।

अर्थात् यह राज्य बहुत-सी बुराइयों से भरा हुआ है, यह मनस्वी पुरुषों के द्वारा छोड़ देने योग्य है; जिसमें सहोदर भाई और पुत्र, सदा वैरी की तरह व्यवहार करते हैं अर्थात् लक्ष्मी पाकर मनुष्य, अपने निकट बन्धुओं का भी विश्वास नहीं करता।

लक्ष्मी के लोभ से धनवान् के दोष भी गुण कहलाते हैं। कहा भी है –

वयोवृद्धास्तपोवृद्धा, ये च वृद्धा बहुश्रुताः।
सर्वे ते धनवृद्धस्य, द्वारे तिष्ठन्ति किंकराः।।

अर्थात् जो अवस्था में बड़े हैं, तप में बड़े हैं और जो बहुश्रुत वृद्धजन हैं; वे सब लक्ष्मी में बड़े पुरुष के द्वार पर आज्ञाकारी सेवक की तरह खड़े रहते हैं।

जब लक्ष्मी, उसे छोड़ कर, दूसरे के पास जाती है तो मनुय देखते हुए भी नहीं देखता और उसके जाने पर उसकी आँखें खुलती हैं। एक लोकोक्ति है –

सम्पत्तिरूपी पटल से जिन मनुष्यों के नेत्र ढँक जाते हैं, वे दारिद्र्यरूपी शलाका के अंजन से आँजने पर निर्मल हो जाते हैं, पुनः खुल जाते हैं।"[197]

कविवर भूधरदासजी ने तो यहाँ तक कहा है –

वेश्या सम लक्ष्मी अति चंचल, याका कौन पतियारा।[198]

तपमद का त्याग करने की प्रेरणा

"सम्यग्दृष्टि को तप का मद नहीं होता है। मद तो तप का नाश करने वाला है। तप के प्रभाव से अष्ट कर्मरूपी शत्रुओं को जीत कर, जो परमातमपने को प्राप्त हुए हैं, वे धन्य हैं। मैं संसारी आसक्त हो कर, इन्द्रियों को विषयों में लगने से रोकने में असमर्थ हूँ, कामभाव को जीता नहीं है, निद्रा-आलस्य-प्रमाद को भी जीता नहीं है, इच्छाओं को रोकने में समर्थ नहीं हूँ, शरीर में लालसा घटी नहीं है, जीवित रहने की इच्छा मिटी नहीं है, मरने का भय दूर हुआ नहीं है, स्तवन-निन्दा में, लाभ-अलाभ में समभाव हुआ नहीं है; तब तक हमारा तप कैसा? किस काम का? – तप तो वह है, जिसमें कर्म-शत्रुओं के उदय को जीत कर, शुद्धात्मदशा में लीन हो जाएँ। धन्य हैं वे, जिनके वीतरागता प्रगट हुई है – ऐसे विचारों सहित सम्यग्दृष्टि को तप का मद कैसे होगा?"[199]

सौन्दर्यमद या रूपमद का त्याग करने की प्रेरणा

"सम्यग्दृष्टि को शरीर के रूप का गर्व नहीं होता है क्योंकि वह अपना रूप तो ज्ञानमय जानता-देखता है, जिसमें सभी पदार्थों का यथार्थ स्वरूप दिखाई देता है। ये चमड़ामय शरीर का रूप मेरा रूप नहीं है। इस देह का रूप क्षण-क्षण में विनाशीक है। एक दिन आहार-पान नहीं करे तो महा विरूप दिखने लगता है। इस देह का रूप समय-समय विनशता रहता है। यदि बुढ़ापा आ जाए तो महा सुगला-अभद्र-भयकारी दिखने लग जाता है। यदि रोग-दारिद्र्य आ जाए तो किसी के देखने लायक, छूने लायक ही नहीं रह जाता है। इस रूप का गर्व कौन ज्ञानी करता है? – यह तो एक ही क्षण में अन्धा हो जाए, काना हो जाए, कुबड़ा-लूला-डूँठा-वक्रमुख-वक्रग्रीव-लम्बोदर-विड्रूप हो जाए – इसका कौन ठिकाना? यहाँ रूप का गर्व करना बड़ा अनर्थ है।

सुन्दर रूप पाकर, शील को मलिन नहीं करो। दरिद्री-दुःखी-रोगी-अंगहीन-कुरूप-मलिन देख कर, उसका तिरस्कार नहीं करो। ग्लानि नहीं करो, दया ही करो। संसार में महा कुरूप मनुष्य-तिर्यंचों का महा अभद्र-भयंकर-सूगलारूप अनेकों बार पाया है; इसलिए रूप का गर्व नहीं करो।''[200]

''लोकोत्तर वर्णन करने में निपुण कविगण, अपने काव्यों में स्त्री के मुख को चन्द्रमा की और नेत्रों को कमल की उपमा दे कर, पुरुषों को स्त्रियों की ओर आकृष्ट करते हैं तथा पुरुषों के अंगों को अन्य उपमाएँ दे कर, स्त्रियों को पुरुषों की ओर आकृष्ट करते हैं; इसलिए कवियों को ठग कहा है क्योंकि वे पुरुषार्थ का घात करते हैं।''[201]

मद करने का दुष्फल

मद करने वाला अन्य धर्मात्माजनों का तिरस्कार करते हैं, यह उनका महा दोष है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है –

स्मयेन योऽन्यानत्येति, धर्मस्थानगर्विताऽशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं, न धर्मो धार्मिकैर्बिना।।

अर्थात् जो कोई पुरुष, गर्व करके धर्म के धारक अन्य धर्मात्मा पुरुषों का तिरस्कार करता है, वह अपने धर्म का ही तिरस्कार करता है, क्योंकि धर्मात्मा पुरुषों के बिना धर्म नहीं पाया जाता है।

अतः जो ज्ञान, पूजा, धन, तप, ऐश्वर्य, रूप, आदि का मद करके धर्मात्माओं का तिरस्कार करता है; वह अपने ही धर्म का तिरस्कार करता है क्योंकि धर्म तो किसी पुरुष के आधार से ही रहता है, बिना पुरुष के धर्म तो रहता नहीं है।

भावार्थ यह है कि संसार में धन, ऐश्वर्य, आज्ञा-आदेश का बड़ा मद होता है। जो मद से गर्वीला हो जाता है, वह देव-गुरु-धर्म की विनय भी भूल जाता है। गर्विष्ट व्यक्ति, ऐसा विचार करता है कि ये मन्दिर क्या वस्तु है ? मैं दूसरा नया बनवा दूँगा, ये भी तो हमारा ही बनवाया है। ये जो तपस्वी-त्यागी हैं, वे भी हमारे ही आधीन भोजन-वस्त्र पा कर, जीवित रहते हैं। ये धर्म भी धन खर्च करने से ही होता है, धन खर्च करने से ही भगवान की पूजन-प्रभावना होती है। इस प्रकार अवज्ञा करता है; अनेक पापाचरण करता हुआ भी कोई अभिमान के वश हो कर, दान-पूजा-प्रभावना में पाँच रुपया लगा कर, अपने को धन्य और धर्मात्मा मानता है।

धन, आज्ञा, ऐश्वर्य के मद में अन्धा होकर वह ऐसा मानता है कि इस जगत् में धन ही सबसे बड़ा है। धनवान के घर बड़े-बड़े ज्ञानी, शास्त्रों के पारगामी, काव्य-श्लोक बनाने वाले नित्य ही आते हैं, बड़े-बड़े ज्ञानी धन वालों के घर में स्वयं ही आ कर, शास्त्रों को सुनाते फिरते हैं। अनेक कला-चतुराई जानने वाले धनवान के घर नित्य ही आते हैं। पूजने करने वाले, प्रभावना करने वाले, भजन कहने वाले अनेक लोग धनवान का आश्रय ले कर, धनवानों को सुनाते फिरते हैं। उपवास, व्रत, बेला, तेला करने वाले त्यागी-तपस्वी धनवानों के ही घर आते हैं। मन्त्र, जाप, आदि भी धनवन्त पुरुषों क भले होने को ही करते हैं। समस्त धर्म और समस्त गुण हमारे धन के ही आधीन हैं। इस प्रकार धन-ऐश्वर्य से अपनी आत्मा को ऊँचा मान कर, अपने को कृत्यकृत्य समझ कर, धर्मात्माओं की अवज्ञा करते हैं।

आत्मज्ञानी, परमार्थी, परम सन्तोषी लोगों को तो ये गर्विष्ट पुरुष देखते ही नहीं हैं। जिनको चक्री की सम्पदा व इन्द्रलोक की सम्पदा भी दुःखरूप दिखाई देती है, वे पुरुष धनवन्तों का साथ स्वप्न में भी नहीं चाहते हैं।

जगत् के अल्प पुण्य वाले निर्धन लोग, गृह-कुटुम्ब के पालने की चिन्ता से दुःखी होकर, अपना सम्मान छोड़ कर, धनवान के घर आते हैं; दयावान उपकारी जान कर तथा धर्म से प्रीति और धन प्राप्त करने का फल लेने वाला जान कर, धनवान के दरवाजे पर आते हैं, परन्तु वह धनवन्त धन के मद में अन्धा हो जाता है, जिस कारण उससे दान तो नहीं होता है, उपकार नहीं करता है, दया रहित निर्दयी हो जाता है। कोई केवल हमारा धन मत छीनो, धन मत बिगाड़ो – ऐसा मानता हुआ मर कर, बहुत ममता-कृपणता के प्रभाव से नरक-तिर्यंचगति में बहुत काल तक परिभ्रमण करता है।''[202]

धन के सम्बन्ध में ज्ञानियों के विचार

जो धन-सम्पत्ति पाकर मद रहित हैं, उनका ऐसा विचार है –

''यह धन-सम्पत्ति हमारा रूप नहीं है, हमारी नहीं है, कोई पूर्वकृत पुण्य फला है, परन्तु यह विनाशीक है। अब, इस सम्पत्ति से किसी का उपकार करूँगा, दरिद्री लोगों का दुःख मिटाऊँगा, दया करके दुःखी जीवों का उपकार करूँगा, जो जिनधर्म के श्रद्धानी-ज्ञानी हैं, उनकी निर्धनता का दुःख मिटा कर, उन्हें निराकुल करूँगा। सभी लोग धनवान से आशा रखते हैं। मैं यदि निर्धन होता तो मैं भी धनवान से उपकार चाहता?

इसलिए जब मेरे शुभकर्म फला है तो मुझे अपने आश्रितों का भरण-पोषण करना करना सफल है। मैं ऐसे कार्य में धन लगाऊँ, जिससे जिनधर्म की परिपाटी बहुत काल तक चलती रहे, ज्ञानाभ्यास की परम्परा चलती जाए। नित्य-पूजन, ध्यान, अध्ययन, तप, शील से संसार का उद्धार करने वाले कार्यों का प्रवर्तन बना रहे – यह धन पाने का फल है, लाभ है। यदि यह धन परोपकार में नहीं लगेगा तो अवश्य ही नष्ट हो जाएगा। यह सम्पदा किसी के भी साथ परलोक नहीं गई है। बिना दान किये यह सम्पदा, केवल पाप-दुर्ध्यान करा कर, संसार-समुद्र में डुबो देगी।

इस सम्पदा पाने का फल तो दान करना ही है। करोड़ों मनुष्यों ने पहले भवों में दान नहीं दिया, इसलिए आज वे घर-घर, दरवाजे-दरवाजे अन्न माँगते फिरते हैं, फिर भी उन्हें पेट भर भोजन नहीं मिलता है, शरीर ढ़कने को कपड़ा नहीं मिलता है, दीन-दरिद्री हो कर, दूसरों की जूठन की आशा करते फिरते हैं – यह सब दान रहितता तथा कृपणता का फल है। मनुष्यों व पशुओं की सेवा करना या दासपना करता है तो भी पेट नहीं भर पाता है। दान किये बिना मुझे आगामी काल में सम्पत्ति नहीं प्राप्त होगी। दान में, धर्म के स्थानों में धन लगाऊँगा तो ही धन पाना सफल है। मरने के बाद सम्पदा परलोक में साथ नहीं जाएगी, जहाँ रखी है, वहीं रखी रह जाएगी। इसलिए किन्हीं जीवों के उपकार में खर्च हो तो सफल है। इस प्रकार उतनी ही और वह ही सम्पत्ति हमारी है।

– ऐसे विचारों सहित सम्यग्दृष्टि सदा ही परोपकार के कार्यों में धन लगाने को तत्पर रहता है, उद्यमी रहता है। धर्मात्मा पुरुषों को तो यह सम्पदा ग्रहण करने योग्य ही नहीं है, मोह से अन्धा कर देने वाली है, आत्मा को भुला देने वाली है। सम्यग्दृष्टि इसमें अपनापन ही नहीं करता है, किन्तु अभी चारित्रमोह का उदय होने से राग तो मिटा नहीं है, इसलिए अन्य जीवों के उपकार में अवश्य लगाना। बहुत कष्ट से कमाई है, उसे उत्तम कार्य में लगाना, छोड़ कर मर जाने में अपना क्या भला होगा? – ऐसा विचार करके जो पाप रहित जन हैं, वे निर्धन, रोगी, दुःखीजनों को देख कर अवज्ञा नहीं करते हैं, धन देकर उनका दुःख मिटाते हैं। धर्म में प्रवर्ताने वाले शुभ कार्यों में खर्च करवाने वाले लोगों को देख कर, बड़ा आनन्द मानते हैं; धर्म-साधन करने वालों के साथ शामिल हो कर, धन के भोगने में आनन्द मानते हैं। ऐसे लोगों ने सम्पदा प्राप्त होने का फल लिया है, आगे परलोक में देवों की सम्पदा, चक्रवर्ती की सम्पदा भी दानी को ही प्राप्त होती है।[203]

इसी प्रकार जो सम्पत्ति में रागी हैं, उन्हें सम्पत्ति का स्वरूप दिखाने हेतु निम्न श्लोक कहते हैं –

''यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।।

अर्थात् यदि पाप का निरोध कर दिया गया है तो अन्य सम्पदा का क्या प्रयोजन है अर्थात् उसे अन्य सम्पदा की आवश्यक्ता ही क्या है। तथा यदि पाप का आस्रव हो रहा है तो भी अन्य सम्पदा का क्या प्रयोजन है अर्थात् उसके पास सम्पदा रुक ही नहीं सकती, अतः उसे सम्पदा का क्या प्रयोजन है।

भावार्थ यह है कि इस जीव की त्यागरूप संयमरूप प्रवृत्ति द्वारा पाप का आस्रव होना यदि रुक गया है तो अन्य जो इन्द्रियों के विषयों की सम्पदा या राज्य-ऐश्वर्यरूप सम्पदा प्राप्त हो भी गई तो उस सम्पदा से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? आस्रव रुकने से तो निर्वाण-सम्पदा या अहमिन्द्रलोक की सम्पदा प्राप्त होती है। इस खाक-धूल के समान क्लेश से भरी क्षणभंगुर सम्पदा से क्या प्रयोजन है? यदि इस जीव के त्यागरूप, संयमरूप प्रवृत्ति से पाप का आस्रव नहीं है तो निर्बन्ध नाम की सम्पदा बड़ी विभूति या महालक्ष्मी है।

यदि अन्याय, अनीति, कपट, छल, चोरी, आदि करके मेरे पाप का आस्रव निरन्तर हो रहा है तथा कुछ और अधिक धन-सम्पदा प्राप्त हो गई तो इससे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? शीघ्र ही मर कर, अन्तर्मुहूर्त में नरक का नारकी होकर पैदा हो जाऊँगा। सम्यग्दृष्टि को तो पापकर्म के आस्रव होने का बड़ा भय है। वह तो पाप का आस्रव रुक जाने को ही महा सम्पदा का लाभ मानता है। इस संसार की सम्पदा को तो पराधीन

दुःख देने वाली जान कर, इसमें लालसा नहीं करता है। कभी लाभान्तराय-भोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है; तब उसे पराधीन, विनाशीक, बन्ध कराने वाली जान कर, इस सम्पदा से लिप्त नहीं होता है। वर्तमान की कुछ वेदना को शान्त करने वाली मान कर, उदासीन भाव से कडुवी दवा के समान ग्रहण करता है, सम्पदा को अपने हितरूप जान कर, उसकी वांछा नहीं करता है।''[204]

''मद, आत्मा के पतन के कारण हैं। मान करने से सम्यग्दर्शन की हानि होती है। मद, मान, अहंकार, आदि ये पर्यायवाची हैं। मानी व्यक्ति की दशा, मदिरापायी – शराब पीने वाले व्यक्ति की तरह हो जाती है। जैसे, मदिरापान करने वाला, कभी-कभी पागल और विवेकशून्य हो जाता है; वैसे ही मान (मद) की मदिरा पीने वाला मानी, विवेकशून्य होकर आत्मधर्म को खो देता है और अपने से हीन कुल, जाति अथवा ज्ञानादिक में न्यून धर्मात्माओं का तिरस्कार तक कर बैठता है। यह मद करने का बहुत बड़ा दोष है।''[205]

तीन मूढता

अन्धश्रद्धालु बन कर, आत्महित का विचार किये बिना ही लोक, देव, एवं धर्म-सम्बन्धी मूढता युक्त क्रियाओं में प्रवृत्त होना, अन्धश्रद्धा या मूढता है। ये मूढताएँ तीन हैं – 1. लोकमूढता 2. देवमूढता 3. पाषण्डि-मूढता।

पण्डित सदासुखदासजी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भाषा-टीका में अत्यन्त विस्तार से तीनों मूढताओं का वर्णन किया है, जो कि विस्तार-भय से यहाँ देना उपयुक्त प्रतीत नहीं हो रहा है परन्तु पाठकों से मूल में से पढने का निवेदन है। यहाँ कतिपय बिन्दुओं के द्वारा उसका वर्णन किया जाता है। लोकमूढता सम्बन्धी बिन्दु निम्न प्रकार हैं –

1. लोकमूढता

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताऽश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च, लोकमूढ़ं निगद्यते।।[206]

अर्थात् ऐहिकफल की इच्छा से धर्म समझ कर नदी, समुद्र एवं पुष्कर, आदि में स्नान करना, बालुका एवं पत्थर के ढेर लगाना, पर्वत से गिरना एवं अग्नि में कूद कर प्राण देना, मूढता या अन्धश्रद्धा में समाविष्ट है, उसे **लोकमूढ़ता** कहते हैं।

''जो आत्मधर्म से विमुख होकर लौकिक क्रिया-काण्डों को ही धर्म समझता है और धर्म-साधना के रूप में प्रवृत्ति करता है, वह **लोकमूढ़** कहा जाता है।''[207]

स्नान-सम्बन्धी मूढ़ता

1. अनेक लोग स्नान करके आत्मा की पवित्रता मानते हैं, परन्तु आत्मा तो अमूर्तिक है, उस तक स्नान तो पहुँचता ही नहीं है और शरीर तो महा अपवित्र है, वह स्नान के द्वारा कभी पवित्र नहीं हो सकता।
2. पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला में शरीर की अपवित्रता का वर्णन पांचवीं ढ़ाल में अशुचि-भावना के अन्तर्गत निम्न प्रकार से किया है –

पल-रुधिर-राध-मल-थैली, कीकस-वसादि तैं मैली।
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करै किम यारी।।

3. जिसके नव द्वारों से निरन्तर मल बहता रहता है – ऐसा शरीर जल द्वारा स्नान करने से कैसे शुद्ध माना जाए? जैसे, मल से बनाया हुआ घड़ा, मल से ही भरी और सभी तरफ से जिसमें से मल बह रहा हो, वह जल द्वारा धोने से कैसे शुद्ध हो सकता है?.....समस्त तीर्थों के जल से नित्य स्नान करें और चन्दन, कपूर, आदि का लेप लगावें तो भी यह शरीर शुद्ध नहीं होगा, सुगन्धित नहीं होगा; रक्षा करते-करते भी यह विनाश के मार्ग पर चला जाता है। यदि नदी के जल में स्नान करने से ही शरीर शुद्ध हो जाता तो करोड़ों मछली, मगर, कछुआ, कीर, धीवर, आदि शुद्ध हो जाते; अतः यह **लोकमूढ़ता** त्यागने योग्य ही है।
4. जल से शरीर के ऊपर लगा मैल तो साफ हो जाता है तथा वस्त्रों की मलिनता धोने से साफ हो जाती है; किन्तु जल, देह को उज्ज्वल पवित्र नहीं कर सकता है। जैसे, कोयले को ज्यों-ज्यों धोवो, त्यों-त्यों महा मलिनता ही प्रगट होती है; इसलिए स्नान करने से पवित्र होना मानना, वह तो तीव्र मिथ्यात्व है।.....

5. गंगादि नदियों में करोड़ों मनुष्यों के मल, मूत्र, रक्त, माँस, कीचड़ तथा मृतक मनुष्य-तिर्यंचों के कलेवर घुलते रहते हैं; उस गंगा का जल कैसे पवित्र करेगा? अरे! जल का सूतक तो कभी मिटता ही नहीं है।.. .....मिथ्यात्व के प्रभाव से सब लोग विपरीत श्रद्धानी हो रहे हैं।.....
6. श्री राजवार्तिक में कहा है – ये तो मन में आप स्वयं ने ग्लानि मान रखी है, जो इस संकल्प से दूर कर लेता है कि मैंने तो स्नान कर लिया है।.....लौकिक शौच से परिणामों की ग्लानि मिट जाती है। व्यवहार की उज्ज्वलता देख कर, कुल की उच्चता ख्याल में आ जाती है, परन्तु वह शरीर को पवित्र नहीं कर सकती है।.....
7. गृहस्थ का स्नान किये बिना निर्वाह नहीं है, परन्तु अज्ञानी गृहस्थ, स्नान करने से धर्म होना मानते हैं, पवित्र होना मानते हैं – ऐसी मिथ्याबुद्धि अनादिकाल से हो रही है।.....सत्पुरुषों के तो मिथ्यात्वमल का नाश करने वाला एक विवेक ही स्नान है।.....
8. जगत् के पापी मिथ्यादृष्टि लोगों ने निश्चयरूप निर्मल तत्त्वों का सरोवर देखा ही नहीं है और कभी ज्ञानरूप रत्नाकर समुद्र भी नहीं देखा है। समता नाम की अत्यन्त शुद्ध नदी भी नहीं देखी है। इसी कारण से पाप को दूर करने वाले सत्य तीर्थों को छोड़ कर मूर्ख लोग, जिन्हें तीर्थ कहते हैं, वे संसार से तारने वाले नहीं है – ऐसे गंगादि नदियों सें डूब कर, वे हर्षित होते हैं।.....
9. हे समझदार बन्धुओं! आत्मा की शुद्धता के प्रयोजन से **परमात्मा नाम के तीर्थ** में सदाकाल स्नान करो। व्यर्थ ही खेद करके दुःखी हो कर, गंगादि तीर्थों की ओर क्यों दौड़ते हो?
10. **कैसा है परमात्मा नाम का तीर्थ?** – जिसमें सम्यग्ज्ञानरूप निर्मल जल भरा है, जिसमें सम्यग्दर्शनरूप दैदीप्यमान लहर है, जो अविनाशी अनन्त सुख से शीतल है और जो समस्त पापों को धो कर, नष्ट कर देने वाले हैं – ऐसे परमात्मस्वरूप तीर्थ में डुबकी लगा कर, लीन हो जाओ।
11. जिन मूर्खों ने तत्त्वों का निश्चयरूप सरोवर नहीं देखा है, ज्ञानरूप समुद्र नहीं देखा है और समता नाम की नदी नहीं देखी है; वे गंगादि तीर्थाभासों में दौड़ते फिरते हैं। यदि वे तत्त्वों के निश्चयरूप सरोवर को देखते, ज्ञानरूप समुद्र को देखते और समता नाम की नदी को देखते तो इनमें डुबकी लगा कर, मिथ्यात्व व कषायरूप मल से रहित हो कर, अपने को उज्ज्वल पवित्र कर लेते।[208]

स्नान-सम्बन्धी सावधानियाँ

1. अब, यहाँ इतना विशेष जानना कि स्नान करने से शरीर पवित्र नहीं होता और धर्म भी नहीं होता है, परन्तु गृहस्थ दशा में मुनिराज के समान स्नान का त्याग कर देना उचित नहीं है।.....जैनियों का आचरण व्यवहार का विरोधी नहीं है।.....परमार्थ शौच तो व्यवहार शौच से ही होती है। जिसके भोजन, पानी, स्पर्श-प्रवृत्ति, आदि में मलिनता हो जाती है तो उसका परमार्थ धर्म भी मलिन हो जाता है।.....
2. मुनिराज तो नीच जाति मनुष्य आदि का स्पर्श हो जाने पर दण्ड-स्नान करते हैं, उस दिन उपवास करते हैं। यदि बिना जाने ही किसी नीच कुल वाले के घर में प्रवेश हो जाए तो भोजन का अन्तराय मानते हैं। मदिरा, माँस, शरीर से चार अंगुल की दूरी पर रक्त, पीव, पंचेन्द्रिय जीव का मृतक कलेवर, आदि भोजन करते समय दिख जाए तो उसका अन्तराय मानते हैं।.....
3. जिनेन्द्र का पूजन करने के लिए स्नान करना उचित ही है क्योंकि स्नान करके देव का पूजन-स्पर्श करना – यह बड़ी विनय है। यद्यपि स्नान करने से शुद्धता नहीं होती तो भी देव के उपकरणों को स्नान करके ही स्पर्श करना चाहिए, धोया हुआ द्रव्य ही चढाना चाहिए, यह देवविनय ही है और विनय है, वही आराधना है। जब जिनेन्द्र के मन्दिर के उपकरण की भी विनय करते हैं तो जिनेन्द्र के आगम को, वाणी को, पूजन के द्रव्य को भी स्नान करके छूना, हाथ धोकर स्पर्श करना, मन्दिर में हाथ-पैर धोकर प्रवेश करना भी विनय ही है।
4. यद्यपि शरीर में रक्त, माँस, हाड़, चाम, केश, मल, मूत्र भरा है; परन्तु रक्त, पीव, माँस, हाड़, चाम, केश, मल, मूत्र, आदि का बाह्य स्पर्श हो जाने पर अवश्य धो डालना उचित है क्योंकि केश, चाम, आदि शरीर से अलग हो जाने के पश्चात् स्पर्श करने योग्य नहीं हैं। इनका हाथ, आदि से स्पर्श हो जाने पर शीघ्र ही हाथ धोना उचित है।
5. मुनिराज का शरीर तो रत्नत्रय के प्रभाव से महा पवित्र है तो भी बाह्य शुद्धि के लिए कमण्डलु रखते हैं, हाथ-पैर धोकर स्वाध्याय करते हैं, थोड़े गर्म जल से पैर धुलवा कर भोजन करते हैं, व्यवहार-आचार को

नहीं छोड़ते हैं। यह भगवान जिनेन्द्र का धर्म अनेकान्तरूप है। निश्चय-व्यवहार के विरोध रहित ही धर्म है, सर्वथा एकान्तरूप जिनेन्द्र का धर्म नहीं है।

6. जो लौकिक शुद्धि रहित होगा तो धर्म की निन्दा, कुल की निन्दा ही करावेगा; तब अपना आत्मा मलिन ही होगा। मैथुन-सेवन किया हो, मुर्दा जला कर आया हो, क्षौरकर्म करा कर आया हो, चाण्डाल-म्लेच्छादि का स्पर्श हो गया हो, पंचेन्द्रिय मृतक का स्पर्श हो गया हो, रजस्वला आदि का स्पर्श हो गया हो, इत्यादि और भी अनेक कारण हों, तब अवश्य ही स्नान करना चाहिए। अन्य कारणों में जहाँ मल, मूत्र, हाड़, चाम, आदि का अंग से स्पर्श हुआ हो, उसे शीघ्र ही धोना उचित है।
7. लोक में **आठ प्रकार की शुद्धि** अनादि से चली आ रही है – कालशौच, भस्मशौच, अग्निशौच, मृत्तिकाशौच, गोमयशौच, जलशौच, पवनशौच और ज्ञानशौच; परन्तु ये आठ शौच-शुद्धियाँ शरीर को पवित्र करने में समर्थ नहीं हैं। लौकिकजनों द्वारा व्यवहार की इस शौच के छोड़ देने से बड़ा अनर्थ हो जाएगा, हीन आचरण की ग्लानि नहीं रह जाएगी, सभी एक जैसे हो जाएँगे, तब परमार्थ भी नष्ट हो जाएगा; इसलिए लोग अनादिकाल से ही बाह्य शुचिता को अपना कर, मन की ग्लानि मिटा लेते हैं –

1. **कालशुद्धि** – जगत् में कितनी ही वस्तुएँ तो समय व्यतीत होने से ही शुद्ध मान लेते हैं। जैसे, रजस्वला स्त्री को तीन रात्रि बीत जाने पर शुद्ध होना मानते हैं; किन्तु शरीर तो किसी काल भी शुद्ध नहीं मानते हैं।
2. **भस्मशुद्धि** – कितने ही जूठे धातु के बर्तन राख से माँजने पर शुद्ध मान लेते हैं; परन्तु शरीर तो राख-भस्म लगाने से शुद्ध नहीं होता है।
3. **अग्निशुद्धि** – कितने ही धातु के बर्तन जो शूद्रादि द्वारा प्रयोग में लिये गये हों तो उन्हें अग्नि में डालने से शुद्ध मानते हैं; परन्तु शरीर तो अग्नि के संसर्ग से भी शुद्ध नहीं होता है।
4. **मृत्तिकाशुद्धि** – मल-मूत्र आदि का स्पर्श, मिट्टी से धोने पर शुद्ध मानते हैं; परन्तु शरीर तो मिट्टी से धोने पर या लगाने पर भी शुद्ध नहीं होता है।
5. **गोमयशुद्धि** – भूमि आदि को गोबर से लीपने पर शुद्ध होना मानते हैं; परन्तु शरीर तो गोबर लगाने से भी शुद्ध नहीं होता है।
6. **जलशुद्धि** – कीचड़ आदि लगने पर तथा शूद्रादि का स्पर्श हो जाने पर, जल से धोने तथा स्नान करने से शुद्धता मानते हैं; परन्तु शरीर तो स्नान करने से शुद्ध नहीं होता है। स्नान करने के बाद भी चन्दन, पुष्प, आदि पवित्र वस्तु भी शरीर के स्पर्शमात्र से मलिन हो जाती है।
7. **पवनशुद्धि** – कितने ही भूमि, पाषाण, किवाड़, लकड़ी, आदि हवा से शुद्ध होना मानते हैं; परन्तु शरीर तो हवा लगने से शुद्ध नहीं होता है।
8. **ज्ञानशुद्धि** – कितने ही पदार्थ, जिन्हें अपने ज्ञान में शुद्ध माना ही नहीं है, उन्हें ज्ञान से शुद्ध होना मानते हैं; परन्तु शरीर में तो शुद्धपने के ज्ञान का कोई संकल्प ही नहीं कर सकते हैं।

इस प्रकार शरीर तो आठों प्रकार की लौकिक शुद्धियों द्वारा शुद्ध नहीं होता है। लौकिक शुद्धियों से परिणामों की ग्लानि मिट जाती है। व्यवहार की उज्ज्वलता देख कर, कुल की उच्चता ख्याल में आ जाती है, परन्तु वह शरीर को पवित्र नहीं कर सकती है। शरीर तो सब प्रकार से अपवित्र ही है।

इस शरीर में रह कर जो आत्मा, पराया धन और पराई स्त्री के प्रति चाह रहित और जीवमात्र की विराधना रहित हो जाए तो हाड़-माँस का यह मलिन शरीर भी देवों द्वारा पूज्य महा पवित्र हो जाए। इस शरीर को पवित्र करने का अन्य कोई उपाय नहीं हैं – ऐसा कथन, दिगम्बर वीतराग मुनि श्री पद्मनन्दि ने किया है।

जगत् में प्रगट देखते हैं कि कान के मैल से आँख के मैल को, आँख के मैल से नाक के मैल को, नाक के मैल से कफ-लार आदि मुख के मैल को, उससे मूत्र को, उससे विष्टा को अधिक-अधिक अपवित्र मानते हैं। यदि सभी प्रकार के मैल-मल को समान माना जाएगा तो समस्त आचार उपद्रवित हो जाएगा। यद्यपि द्रव्यार्थिकनय से समस्त ही मल की एक पुद्गल जाति है, तथापि उनमें परस्पर बहुत भेद है। यद्यपि हाड़, माँस, रक्त, मूत्र, आदि समस्त पदार्थ, मिट्टीरूप व जलरूप हो जाते हैं और मिट्टी-जलादि, माँस, रक्त,

मलादिरूप हो जाते हैं; तथापि पर्याय-पर्याय में बहुत अन्तर है। द्रव्य और पर्याय की सर्वथा एकता मानने से समस्त व्यवहार-परमार्थ का लोप हो जाएगा, इसलिए द्रव्य-पर्याय के कथंचित् एकपना और कथंचित् अनेकपना मानना ही श्रेष्ठ है।

निष्कर्ष – इसी प्रकार बालू का पिण्ड बनाने में, पर्वत से गिरने में, अग्नि से जलने में, शीत से गलने में, पंचाग्नि-तप तपने में धर्म मानना, **लोकमूढ़ता** है। सूर्य-चन्द्रग्रहणादि में सूतक मानना, स्नान करना, चाण्डाल आदि को दान देना, संक्रान्ति मान कर दान देना, कुआ पूजना, पीपल पूजना, गाय को पूजना, रुपया-सिक्का-मोहर को पूजना, लक्ष्मी को पूजना, मृत पितरों को पूजना, छींक पूजना, मृतकों को तृप्त करने के लिए तर्पण करना, श्राद्ध करना, देवताओं के लिए रतजगा करना, गंगाजल को पवित्र मानना, तिर्यंचों के रूप को देव मानना, कुआ-बावड़ी-वापिका-तालाब खुदवाने में धर्म मानना, बगीचा लगाने में धर्म मानना, मृत्युंजय आदि के जप कराने से मृत्यु का टल जाना मानना, ग्रहों का दान देने से अपने दुःख दूर होना मानना; यह सब **लोक-मूढ़ता** है।

लोकमूढ़ जिनधर्मी[209]

1. कितने ही जिनधर्मी कहलाते हुए भी आत्मज्ञान रहित हो कर, परमागम की आज्ञा को नहीं जानते हुए भेषधारियों द्वारा कल्पित अनेक क्रियाकाण्ड तथा तीर्थंकरादि का तर्पण कराना, अपने पिता व पितामह का तर्पण कराना, यक्षादि के लिए होम, यज्ञादि करने में अपना कल्याण होना मानते हैं; सकलीकरण विधान कराना; यह सब लोकमूढ़ता ही है।
2. कितने ही स्नान करके रसोई करने में, स्नान करके जीमने में, आला अर्थात् बिना किसी दूसरे से स्पर्शित वस्त्र पहन कर, जीमने में अपनी पवित्रता, शुद्धता, परमधर्म होना ही मानते हैं; परन्तु अभक्ष्यभक्षण तथा हिंसादि के होने का विचार नहीं करते हैं; यह सब मिथ्यात्व के उदय से **लोकमूढ़ता** ही है।
3. **बहुत कहने से क्या?** जो योग्य-अयोग्य, सत्य-असत्य, हित-अहित, आराध्य-अनाराध्य के विचार रहित लौकिक जीवों की प्रवृत्ति देख कर, जैसे, अज्ञानी अनादि के मिथ्यादृष्टि प्रवर्तते हैं, उसी प्रकार की प्रवृत्ति को सत्य मान कर, विचार रहित होकर प्रवर्तन करना, वही **लोकमूढ़ता** है।

2. देवमूढता

1. वस्तुतः देव-सम्बन्धी अन्धविश्वास एवं उस विश्वास की पूर्ति के साधन, **देवमूढता** में समाविष्ट हैं। देव, वीतरागी सर्वज्ञ और हितोपदेशी होता है। इसके विपरीत जो राग-द्वेष से मलिन है, वह कुदेव है और ऐसे कुदेवों की आराधना करने से धर्माचरण नहीं होता है। यदि सम्यग्दृष्टि, सांसारिक फल की इच्छा से वीतराग देव की उपासना भी करता है तो भी उसके सम्यक्त्व में दोष आता है। फिर जो मिथ्या आशावश सराग देवों की आराधना से लौकिक फल प्राप्त करना चाहता है; उसकी आस्था, पंगु और अन्ध है।[210]
2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है –

वरोपलिप्सयाऽऽशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत, देवतामूढ़मुच्यते।।[211]

अर्थात् लौकिक अभ्युदय एवं वरदान-प्राप्ति की इच्छा से आशा युक्त होकर राग-द्वेष से मलिन देवों की आराधना करना, **देवमूढता** है।

3. संसारी जीव इस लोक में राज्य, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, आभूषण, वस्त्र, वाहन, धन, ऐश्वर्य, आदि की इच्छा सहित निरन्तर रहते हैं; इनकी प्राप्ति के लिए रागी-द्वेषी-मोही देवों की सेवा-पूजा करना, वही **देवमूढता** है।
4. राज्य, सुख, सम्पत्ति, आदि तो सातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं; परन्तु वह सातावेदनीय कर्म, कोई हमें देने में समर्थ नहीं है। लाभ तो लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होता है। भोग-उपभोग सामग्री की प्राप्ति भोगोपभोग नामक अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती है। अपने भावों द्वारा बाँधे गये कर्मों को कोई भी देवी-देवता देने में तथा लेने में समर्थ नहीं हैं।
5. कुल की वृद्धि के लिए कुलदेवी को पूजते हैं, किन्तु पूजते-पूजते भी किसी के कुल का विध्वंश होते देखा जाता है। लक्ष्मी के लिए लक्ष्मीदेवी को, रुपयों को, मुहरों को पूजते हैं, किन्तु इन्हें पूजते-पूजते भी अनेक

दरिद्री होते दिखाई देते हैं। शीतला की पूजा करते-करते भी सन्तान का मरण होते देखा जाता है। पितरों को मानते हुए भी रोगादि बढते देखे जाते हैं। व्यन्तर-क्षेत्रपालादि को अपनी सहायता करने वाला मानते हैं, यह मिथ्यात्व के उदय का ही प्रभाव है।

देवमूढ़ जिनधर्मी

कितने ही कहते हैं कि चक्रेश्वरी, पद्मावतीदेवी ने शस्त्र धारण किये हैं, वे जिनशासन की रक्षक हैं तथा सेवकों की रक्षा करने वाली हैं; प्रत्येक तीर्थंकर की एक-एक देवी हैं, एक-एक यक्ष हैं, इनकी आराधना करने से जिनधर्म की रक्षा होती है। ये धर्मात्माओं की भी रक्षा करती हैं, इसलिए इन देवियों की और यक्षों का पूजन-स्तवन करना उचित है। देवियाँ समस्त कार्य को साधने वाली हैं, तीर्थंकरों की भक्त हैं, इनके बिना धर्म की रक्षा कौन करेगा? इसी कारण से मन्दिरों के भीतर पद्मावती का रूप, जिसकी चार भुजा व बत्तीस भुजा और अनेक शस्त्रों सहित बना कर, उसके मस्तक के ऊपर भगवान पार्श्वनाथस्वामी का प्रतिबिम्ब और उसके ऊपर अनेक फणों वाला सर्प का रूप बनाते हैं और बहुत अनुराग से पूजते हैं। इन सब का परमागम से अच्छी तरह जान कर, निर्णय करना चाहिए। मूर्ख लोगों के कहने में आ कर, चाहे जैसी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए।

निष्कर्ष

1. प्रथम तो भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी – इन तीन प्रकार के देवों में मिथ्यादृष्टि ही उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि, भवनत्रिक देवों में उत्पन्न ही नहीं होता है, स्त्री पर्याय में भी नहीं जाता है; पद्मावती-चक्रेश्वरी तो भवनवासिनी तथा स्त्री पर्याय में हैं, क्षेत्रपाल आदि व्यन्तर हैं; उनमें सम्यग्दृष्टि कैसे उत्पन्न होगा? उनमें तो नियम से मिथ्यादृष्टि ही उत्पन्न होते हैं – ऐसा हजारों बार परमागम में कहा है।
2. यदि इनको जैनधर्म से प्रीति है तो जिनधर्म के धारकों से अपनी पूजा-वन्दना नहीं चाहेंगे। जो अव्रती है और अपने को अव्रती जानता है, वह सम्यग्दृष्टि से अपनी वन्दना-पूजा कैसे कराएगा? साधर्मियों का उपकार तो वह बिना कहे ही करेगा।
3. पद्मावती, भगवान का प्रतिबिम्ब तो अपने मस्तक पर रखती हैं तथा भगवान के भक्तों से अपनी पूजा कराती हैं – ऐसी अविनय, कोई धर्मात्मा होकर कैसे करेगा? वे तो अनेक शस्त्रों को धारण करके वीतराग धर्म में अपनी प्रवृत्ति को बिगाड़ती हैं तथा अपनी बलहीनता प्रगट दिखाती हैं।
4. जिनशासन के रक्षक एक-एक यक्ष-यक्षिणी ही कैसे कहते हो? भगवान के शासन के तो सौधर्म इन्द्र से लगा कर, असंख्यात देव-देवियाँ सभी सेवक हैं।
5. जैन शास्त्रों में भी ऐसी अनेक कहानियाँ हैं कि शीलवान तथा ध्यानी तपस्वियों के धर्म के प्रसाद से देवों के आसन कम्पित हुए, फिर देवों ने आ कर, उनका उपसर्ग दूर किया और अनेक प्रकार के रत्नों से उन धर्मात्माओं की पूजा की; परन्तु ऐसी कोई भी कथा नहीं है, जहाँ धर्मात्मा पुरुषों ने उन देवों की पूजा की हो। पद्मावती, चक्रेश्वरी की भी ऐसी अनेक कथाएँ मिलती हैं, जहाँ उन्होंने शीलवानों और व्रतवानों की पूजा की, परन्तु ऐसा कहीं नहीं लिखा है कि शीलवानों और व्रतवानों ने जा कर, किसी देव-देवी की पूजा की हो। जैसे, चाण्डाल के अहिंसाव्रत के प्रभाव से देवों ने सिंहासन आदि बना दिये; नीली के शील के प्रभाव से देवता सहायी हुए; सीता के शील के प्रभाव से अग्निकुण्ड जलरूप हो गया; सुदर्शन सेठ का उपसर्ग, देव ने आकर टाला और भी कितनों ही की देवों ने सहायता की, उपसर्ग दूर किये, देवों के आसन कम्पायमान हुए और देवों ने आकर सहायता की – ऐसी हजारों कथाएँ प्रसिद्ध हैं।
6. स्वामी कार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है –

ण य कोवि देदि लच्छी, ण कोवि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं, कम्मं पि सुहासुहं कुणदि।।
भत्तीए पुज्जमाणो, विंतर देवो वि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्मं कीरदि, एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी।।[212]

अर्थात् इस जीव को कोई लक्ष्मी नहीं देता है और जीव का कोई उपकार-अपकार भी नहीं करता है। जगत् में जो उपकार-अपकार करता हुआ दिखाई देता है, वह अपने किये हुए शुभ-अशुभकर्मों के द्वारा होता है। भक्तिपूर्वक पूजा करने से यदि व्यन्तरदेव ही यदि लक्ष्मी देवें तो दान, पूजा, शील, संयम,

ध्यान, अध्ययन, तपरूप समस्त धर्म क्यों किये जाएँ? यदि भक्तिपूर्वक पूजा-वन्दना करने से कुदेव ही संसार के कार्य सिद्ध करने लगेंगे तो कर्म, कुछ वस्तु ही नहीं रहेंगे? व्यन्तर ही समस्त सुख को देने वाले रहे, धर्म का आचरण निष्फल रहा।

भावार्थ यह है कि जगत् में इस जीव का जो देव, दानव, देवी, मनुष्य, स्वामी, माता-पिता, भाई, मित्र, तिर्यंच, औषधि, आदि जो उपकार या अपकार करते हैं, वह सभी अपने द्वारा किये गये पुण्य -पापकर्म के उदय के आधीन करते हैं। ये सभी तो बाह्य निमित्त मात्र हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि कोई भला करना चाहता है किन्तु उपकार, बुरा हो जाता है; कोई बुरा करना चाहता है किन्तु अपकार, भला हो जाता है; इसलिए प्रधान कारण पुण्य -पापकर्म हैं।

7. भगवान आदिनाथ के छह महीने भोजन का अन्तराय रहा, तब किसी देव ने आ कर, किसी को आहार की विधि क्यों नहीं बताई? पहले तो गर्भ में आने के छह माह पहले ही इन्द्रादि अनेक देव, भगवान की सेवा में रहते थे तथा स्वर्ग लोक से आहार, वस्त्र, वाहनादि लाने को सावधान होकर उपस्थित रहते थे; वे सब देव कैसे भूल गये? भरतादि सौ पुत्रों को तथा ब्राह्मी-सुन्दरी पुत्रियों को मुनि-श्रावक का सब धर्म पढ़ाया था, उन्होंने भी विचार नहीं किया कि भगवान भी अब मुनि हो कर, आहार के लिए चर्या कर रहे हैं। वास्तव में अन्तराय कर्म का उदय मन्द हुए बिना कौन सहायता कर सकता है?

   इसी प्रकार पाँच पाण्डव, सुकुमाल महा मुनि, श्रीकृष्ण नारायण आदि के उदाहरण भी यही सूचित करते हैं कि अशुभकर्म का उपशम हुए बिना और शुभकर्म का उदय आए बिना कोई देव आदि सहायी नहीं होते हैं। पूर्व कर्म के उदय के निमित्त से अनेक उपकार-अपकार होते हैं। कोई देव आदि पूजा करने से धन, आजीविका, स्त्री, पुत्र, आदि देने में समर्थ नहीं है।

8. यहाँ प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि नगर का राजा, सभी देव-देवी, पीर-पैगम्बर, स्वामी-फकीर, सभी मतों के साधु, सभी वेद-पुराणों के पाठ करने वाले, नित्य ही होम-यज्ञ का पाठ करने वाले ब्राह्मणों को बहुत आजीविका देता है, बड़ा सत्कार करता है, लाखों रुपयों का दान देता है, जिसका बड़ा फल सब तक पहुँचता है तो भी संयाग-वियोग, हानि-वृद्धि, जीत-हार टालने में कोई भी समर्थ नहीं है; इसलिए ऐसा निश्चित जानो कि बिना श्रद्धान किए भी अनेक देव-देवियों की पूजा-आराधना, **देवमूढ़ता** ही है।

9. जो मन्त्र-साधना, विद्या-आराधना, देव-आराधना, आदि हैं; वे सभी पुण्य-पाप के अनुसार ही फल देते हैं। इसलिए जो सुख के इच्छुक हैं; वे दया, क्षमा, सन्तोष, निर्वांछकता, मन्दकषायता, वीतरागता के द्वारा अकेले धर्म का ही आराधन करो, अन्य प्रकार से वांछा करके पापबन्ध नहीं करो।

10. यदि देवों की संगति करने की ही इच्छा है तो उत्तम सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र, शची इन्द्राणी, लौकान्तिक देवों की संगति करने की भावना करो; अन्य अधम देवों की सेवा करने से क्या सिद्ध होगा?

11. बहुत से लोग, मिथ्याबुद्धि के कारण मन्दिरों में क्षेत्रपाल की स्थापना करते हैं और प्रतिदिन उनकी पूजा करते हैं। वे लोग, पहिले तो क्षेत्रपाल की पूजा करते हैं और क्षेत्रपाल की पूजा करने के बाद जिनेन्द्रदेव का पूजन करते हैं। वे ऐसा कहते हैं कि जैसे, पहले द्वारपाल का सम्मान करना, उसके पश्चात् राजा का सम्मान चाहिए क्योंकि द्वारपाल के बिना राजा से भेंट कौन करावेगा? वैसे ही क्षेत्रपाल के बिना भगवान से भेंट-मिलाप कौन करा सकता है? परन्तु उन मूर्खों को यह विवेक भी नहीं है कि भगवान तो मोक्ष में हैं और यह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी क्षेत्रपाल, जो भगवान परमात्मा के स्वरूप को जानता ही नहीं है, उनसे कैसे मिलवा देगा और कैसे विघ्नों का नाश करेगा? वे तो स्वयं के ही विघ्नों का नाश करने में समर्थ नहीं हैं।

    इस प्रकार विवेक रहित मिथ्यादृष्टि लोग, क्षेत्रपाल का अत्यन्त विपरीत रूप बना कर, वीतराग के मन्दिर में पहले स्थान पर ही स्थापना करते हैं; जिसके हाथ में कटा हुआ सिर तथा गदा, तलवार है, जो कुत्ते पर बैठा हुआ है, तेल-गुड़ खाने से जो प्रसन्न होता है – ऐसे लोगों को बहका कर, क्षेत्रपाल को पुजवाते हैं तथा इनका दर्शन-पूजन पहले करते हैं सो यह सब मिथ्यादर्शन और कुज्ञान का ही प्रभाव जानना।

12. भगवान पार्श्व जिनेन्द्र की प्रतिमा, मस्तक के ऊपर फण बिना बनाते ही नहीं हैं। भगवान पार्श्व अरहन्त के समोसरण में मस्तक के ऊपर धरणेन्द्र द्वारा फण बनाना कैसे सम्भव है? धरणेन्द्र ने तो भगवान के तपस्या करते समय मुनि अवस्था में फण बनाया था; उसके उसके पश्चात् अर्हन्त अवस्था में फण बनाने

का कोई प्रयोजन नहीं है। जब भगवान पार्श्व जिनेन्द्र अर्हन्त बन गये और इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समोसरण की रचना की थी; तब वहाँ भगवान पार्श्व, फण सहित विराजमान नहीं थे। वहाँ चार निकाय के देव, मनुष्य और तिर्यंच धर्मश्रवण-स्तवन-वन्दन करते हुए ही बैठते हैं; इसलिए स्थापित प्रतिमा में अर्हन्त के प्रतिबिम्बों के फण कैसे सम्भव होगा? वीतराग मुद्रा तो इस प्रकार की नहीं होती।

13. काल के प्रभाव से धरणेन्द्र की पूजा-प्रभावना दिखलाने को लोग विपरीत कल्पना करने लगे हैं सो उन्हें कौन दूर कर सकता है? जैसे, पाषाण की भगवान की प्रतिमा में अंगों की सुन्दरता व मस्तक की रक्षा के लिए कर्णों को लम्बा करके कन्धों को जोड़ देते हैं; उन्हें देख कर, सभी धातु की प्रतिमाओं के भी कर्ण, कन्धों से जोड़ने लगे, सो यह देखा-देखी चल गई । उसी प्रकार अर्हन्त की प्रतिमा के ऊपर फण का आकार बनाते हुए लोगों को देख कर, तत्त्व को समझे बिना फण बनाने की प्रवृत्ति चल गई। फण बना देने से प्रतिमा तो अपूज्य नहीं हो जाती क्योंकि चार प्रकार के सभी देव चारों तरफ से सदा ही भगवान की सेवा करते ही हैं। फण-मण्डप करने से ही धरणेन्द्र को पूज्य मानना, वह तो **देवमूढ़ता** है।

देवमूढता के अनेकरूप – गणेश, हनुमान, लिंग, योनि, चतुर्मुख-षट्मुख का रूप, देवत्व रहित प्रगट असम्भव तिर्यंच रूप को देव मानना, बड़-पीपलादि वृक्षों को, नदी को, जल को, वायु को, अग्नि को, अनाज को देव मानना, यह सब **देवमूढता** है।[213]

3. पाखण्डिमूढ़ता या गुरुमूढ़ता

1. रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है और इस मार्ग के लिए आरम्भ-परिग्रह के त्यागी गुरु के अवलम्बन की आवश्यकता है, जो आरम्भ परिग्रह और हिंसा से सहित, संसार-परिभ्रमण के कारणभूत कार्यों में लीन हैं, वे कुगुरु हैं। ऐसे कुगुरुओं की भक्ति, वन्दना करना, पाषण्डि या गुरुमूढता है।
2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है –

सग्रन्थाऽऽरम्भहिंसानां, संसाराऽऽवर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो, ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्।।[214]

अर्थात् परिग्रह, आरम्भ और हिंसा सहित संसार के चक्र में रहने वाले पाखण्डी साधु-तपस्वियों का पूजा-भक्ति-आदर-सम्मान करना, उसे **पाखण्डिमूढ़ता** या **गुरुमूढ़ता** जानना चाहिए।

3. जो जिनेन्द्र के धर्म के श्रद्धान-ज्ञान रहित होकर, अनेक प्रकार के भेष धारण करके, अपने को ऊँचा मान कर, जगत् के जीवों से पूजा-वन्दना-सत्कार चाहते हुए परिग्रह रखते हैं, अनेक प्रकार के आरम्भ करते हैं, हिंसा के कार्यों में प्रवर्तते हैं, इन्द्रियों के विषयों के रागी-संसारी-असंयमी-अज्ञानियों से गोष्ठी वार्ता करके अभिमानी होकर, अपने को आचार्य, पूज्य, धर्मात्मा कहलाते हुए रागी-द्वेषी होकर प्रवर्तते हैं; युद्धाभ्यास, शृंगार के शास्त्र, हिंसा के कारण आरम्भ के शास्त्र, राग के बढ़ाने वाले शास्त्रों का आप महन्त होकर उपदेश देते हैं, वे सब **पाखण्डी** हैं।
4. जिनके अनेक प्रकार से रसों सहित भोजन में आसक्ति है; इसी कारण काम-भोग-बन्ध की कथा में लीन हो रहे हैं, परिग्रह को बढ़ाने के लिए दुर्ध्यानी हो रहे हैं; जो मुनि, आचार्य, साधु, महन्त, पूज्य नाम से कहलाते हैं, लोगों से नमस्कार कराना चाहते हैं; विकथा करते हैं, विषयों में लीन हैं; मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र-जप-मारण-उच्चाटन-वशीकरणादि निन्द्य आचरण करते हैं; वे सभी **पाखण्डी** हैं।
5. उन पाखण्डियों के वचनों को प्रमाण मानना, उनका सत्कार करना, उन्हें धर्मकार्य में प्रधान मानना, वह **पाखण्डिमूढ़ता** है।[215]
6. जो धन्य-धान्यादि परिग्रह से सहित हैं; कृषि-वाणिज्यादि सावद्यकर्म करने से आरम्भ सहित हैं; आरम्भी, उद्योगी, संकल्पी और विरोधी हिंसा में रत हैं; संसार में भ्रमण के कारणभूत विवाहादि कर्मों के द्वारा दुनिया के चक्कर अथवा गोरखधन्धे में फँसे हुए हैं – ऐसे पाप के खण्डन में प्रवृत्त न होने वाले लिंगी साधुओं को पाषण्डि साधु के रूप में अथवा सुगुरु-बुद्धि से आदर-सत्कार करना, **पाखण्डिमूढ़ता** या **गुरुमूढ़ता** है।[216]

निष्कर्ष

1. ये समस्त दोष होने पर सम्यग्दृष्टि जीव उन्हें दोषरूप से जानता है और इन दोषों का उसे खेद है, इसलिए ये अतिचार हैं; किन्तु जो जीव इन दोषों को दोषरूप न माने और उपादेय माने, उसके तो ये अनाचार हैं अर्थात् वह तो मिथ्यादृष्टि ही है।
2. सच बात तो यह है कि ये शंकादि प्रगट दोष तो मिथ्यादृष्टियों के ही पाये जाते हैं। हाँ, सम्यग्दृष्टि के भी अव्यक्तरूप से क्वचित् कदाचित् सम्भव हो जाते हैं।.....

* * *

देव-शास्त्र-गुरु, सम्यक्त्व के स्थान हैं; अतः सम्यक्त्व के दोष सम्बन्धी प्रकरण में यहाँ जिन-मन्दिर में नहीं करने योग्य कार्य, जिन्हें आसादन दोष या आसातना दोष कहते हैं, उनका यहाँ वर्णन करते हैं –

जिन-मन्दिर में नहीं करने योग्य 84 आसादन दोष[217]

1. जिन-मन्दिर में खाँसना, खकारना, थूकना आदि क्रियाएँ नहीं करना।
2. मल, मूत्र नहीं करना तथा अपान वायु नहीं निकालना।
3. वमन या कुल्ला न करना और न कराना।
4. आँख, नाक, कान, गले, मस्तक, हाथ-पैर, बालों आदि का मैल नहीं निकालना; मुण्डन आदि नहीं करवाना।
5. पसीना नहीं पोंछना तथा शरीर का मैल, कीचड़ आदि नहीं निकालना।
6. हाथ, पाँव आदि के नाखून नहीं काटना या दाँतों से नहीं कुतरना।
7. उबटन, लेपन, तेल या इत्र नहीं लगाना।
8. जख्म या फोड़े को खोल कर खून आदि नहीं बहाना, उसमें औषधि या मरहम-पट्टी नहीं लगाना, वफारा नहीं लेना।
9. पाँव पसार कर या गुप्त अंगों को दिखा कर नहीं बैठना, पाँव पर पाँव रख कर अविनय से नहीं बैठना, अँगुली नहीं चटकाना।
10. लूला, लंगड़ा, बोना, अन्धा, बहरा, गूँगा, काना, शूद्रवर्ण और संकरवर्ण पुरुष को स्नान कर, उज्ज्वल वस्त्र पहन कर भी श्रीजी का प्रक्षाल-अभिषेक-द्रव्यपूजन नहीं करना; उसे शुद्धता के साथ नाना प्रकार की स्तुति-पाठ-भावपूजन आदि ही करना।
11. आलस्य, छींक, जम्हाई आदि नहीं लेना।
12. दीवार या खम्भे के सहारे नहीं बैठना, शयन नहीं करना तथा बैठे-बैठे भी नहीं ऊँघना।
13. हाथ, पाँव या शरीर नहीं दबवाना, चम्पी आदि नहीं करवाना।
14. मन्दिर में बिना छने जल आदि से, साबुन आदि लगा कर, स्नान न करना और न कराना।
15. गर्मी में पंखा या रुमाल आदि से हवा न करना और न कराना।
16. शीतकाल में सिगड़ी आदि के माध्यम से तापना नहीं।
17. अपने व्यक्तिगत कपड़ा, धोती आदि न धोना और न सुखाना।
18. शरीर में खाज-खुजली को नहीं खुजाना।
19. दन्त-मंजन नहीं करना तथा दाँतों में सींक नहीं करना।
20. तखत, कुर्सी, खाट या पलंग पर न बैठना और न सोना।
21. गद्दी-तकिया लगा कर, पैरों को फैला कर नहीं बैठना, मूँछों पर ताव नहीं देना।
22. देव, शास्त्र और गुरु से उच्चासन पर बैठ कर शास्त्र नहीं वाँचना; छत्र, चमर आदि अपने ऊपर नहीं रखवाना।
23. शास्त्रों, पूजन की थाली आदि की चौकी आदि को नहीं लाँघना; दर्शन-पूजन करने वाले व्यक्ति के सामने से नहीं जाना, यदि जाना पड़े तो अत्यन्त विनयसहित जाना।
24. कमर बाँध कर या कमर में शस्त्र बाँध कर मन्दिर में नहीं आना।

25. घर से किसी सवारी पर बैठ कर मन्दिर में नहीं आना।
26. पाद-त्राण खडाऊँ आदि पहन कर, मोजे व ऊनी वस्त्र पहन कर तथा सीप या चमड़े की वस्तु लेकर मन्दिर में नहीं आना।
27. नंगे सिर भगवान का अभिषेक-पूजन नहीं करना। पूजन आदि के अलावा मन्दिर की द्रव्य से केसर, चन्दन आदि का तिलक नहीं करना। रात्रि-पूजन नहीं करना।
28. स्त्री को साड़ी के ऊपर ओढ़नी आदि अवश्य ओढ़ना चाहिए। रजस्वला स्त्री को तीन दिन तक एवं प्रसूति हुई स्त्री को डेढ़ माह तक मन्दिर नहीं जाना।
29. मन्दिर-परिसर में दाढ़ी-मूँछ पर ताव नहीं देना, कंघी नहीं करना, दर्पण में मुख नहीं देखना, बिना प्रयोजन यहाँ वहाँ नहीं घूमना।
30. स्त्रियों को भगवान की मूर्ति का स्पर्श न करना और न कराना तथा स्त्रियों को अभिषेक-प्रक्षालन नहीं करना, अन्यथा घोर पाप का बन्ध होता है।
31. इलायची, सुपारी, पान-तम्बाकू, बीड़ी, लवंग, फल आदि कुछ भी खा-पीकर मन्दिर नहीं आना और न मन्दिर में कुछ भी खाना। मन्दिर में जीमन आदि न करना और न कराना।
32. भाँग, माजूम, च्युंगम, गुटखा आदि का नशा करके मन्दिर में नहीं आना।
33. फूलों की माला पहन कर तथा कलंगी लगा कर मन्दिर में नहीं आना।
34. मन्दिर में बैठ कर पगड़ी, साफा आदि नहीं बाँधना।
35. मन्दिर में कुल्ला नहीं करना तथा भोजन, जल-पान आदि नहीं करना।
36. औषधि, चूर्ण अथवा कोई भी दवाई मन्दिर में नहीं लेना।
37. विषय-वासना बढ़ाने वाले नखरे, बहस, वाद-विवाद आदि मन्दिर में नहीं करना।
38. मन्दिर में वैद्यक, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, वाणिज्य, व्यापार आदि न करना और न कराना।
39. हास्य-विनोद से युक्त जल-क्रीड़ा, होली आदि मन्दिर में नहीं खेलना; और भी अन्य क्रीड़ाएँ न करना और न कराना।
40. शादी-ब्याह की चर्चा भी मन्दिर में नहीं करना, शादी-सगाई आदि भी नहीं करना।
41. रिश्तेदार आदि सगे-सम्बन्धी, मित्र आदि से किसी प्रकार का व्यवहार नहीं करना।
42. माता-पिता आदि कुटुम्बीजनों का मन्दिर में आदर-सत्कार न करना और न कराना।
43. मन्दिर में जय-जिनेन्द्र, नमस्कार, जुहार आदि न करना और न कराना।
44. मन्दिर में राजा, सेठ, श्रीमान् आदि किसी का सम्मान न करना और न कराना।
45. बिरादरी-सम्बन्धी पंचायत, मन्दिर में न करना और न कराना।
46. लड़ाई, झगड़ा, क्लेश, स्पर्धा, हार-जीत के खेल आदि न करना और न कराना।
47. गाली, भण्ड-वचन, कटु-वचन, मर्मच्छेदी वचन, मस्करी, विवाद, ईर्ष्या, अदया, किसी को रोकने-बाँधने-मारने आदि के वचन नहीं बोलना।
48. झूठ-वचन, अहंकारयुक्त वचन, अप्रिय-वचन आदि नहीं बोलना; अति तर्कयुक्त वचन भी नहीं बोलना।
49. लाठी, मुट्ठी, शस्त्र आदि का प्रहार नहीं करना।
50. हंसी, ठट्ठा, मसखरी आदि न करना और न कराना।
51. रोना, शोक करना, हिचकी लेना आदि मन्दिर में नहीं करना; छोटे बच्चों को लेकर स्वाध्याय में नहीं बैठना, उनमें संस्कार हेतु प्रतिदिन उन्हें दर्शन अवश्य करावें।
52. स्त्री-कथा, भोग-कथा आदि विकथा न करना और न कराना।
53. चौपड़, शतरंज, गंजीफा, तास, वीडियो गेम, लूडो, मोबाइल आदि से नहीं खेलना।
54. राजा, शत्रु आदि के भय से मन्दिर में न छिपना और न छिपाना।
55. गृह-कार्य अथवा लौकिक-कार्य का वार्तालाप मन्दिर में नहीं करना।
56. धन, मकान, जायजाद, व्यापार आदि का बँटवारा आदि मन्दिर में नहीं करना।

57. ज्योतिष, सामुद्रिक रत्न, वैद्य द्वारा नब्ज की परीक्षा आदि मन्दिर में नहीं करना।
58. मन्दिर में लेन-देन आदि से सम्बन्धित जुआ, कसम, शर्त, सौगन्ध आदि नहीं खाना।
59. दुष्टता, कलह, क्लेश आदि से सम्बन्धित विषयों का चिन्तवन मन्दिर में नहीं करना।
60. किसी प्रकार की विकथा न करना और न कराना।
61. चमड़ा, हाथी-दाँत अथवा हड्डी से बने हुए सामान मन्दिर में नहीं लाना।
62. हरितकाय के फल-फूल आदि मन्दिर में न लाना और न चढ़ाना।
63. पुष्प-वाटिका नहीं लगवाना, उसमें बिना छने जल आदि का उपयोग नहीं करना।
64. रिश्वत, घूस, उधारी आदि का लेन-देन मन्दिर में नहीं करना, मन्दिर का द्रव्य उधार नहीं लेना।
65. रत्न, रुपया, वस्त्र आदि मन्दिर में नहीं परखना।
66. व्यक्तिगत या पारिवारिक धन आदि कोई भी वस्तु मन्दिर में नहीं रखना।
67. मन्दिर में चढ़ाया हुआ द्रव्य, मन्दिर या भण्डार में नहीं रखना।
68. मन्दिर में उपयोग के लिए भी निर्माल्य द्रव्य मोल नहीं लेना, निर्माल्य के ग्रहण के पाप समान और अन्य पाप नहीं है – यह पाप अनन्त संसार का कारण है।
69. मन्दिर की बिछात, नगाड़ा, तबला, आदि वस्तुओं का विवाहादि कार्यों में उपयोग नहीं करना। मन्दिर की वस्तु उधार नहीं लेना, पैसा देकर मोल भी नहीं लेना क्योंकि जिस वस्तु द्रव्य को एक बार देने का संकल्प कर लिया हो, उसे किसी भी प्रकार पुनः प्रयोग नहीं करना, उस वस्तु को अंश मात्र भी पुनः करने पर निर्माल्य का दोष लगता है।
70. मन्दिर में व्यक्तिगत चिट्ठी आदि लेख नहीं लिखना।
71. वेश्या का नाच, भाण्डों का नाच, तमाशा आदि मन्दिर में नहीं कराना। स्त्रियों के साथ एकान्त में चर्चा आदि नहीं करना। अन्य शील-मर्यादाओं का पालन करना।
72. मन्दिर में आते समय निःसहि, जाते समय अस्सहि आदि विनय का प्रदर्शन करना। सचित्त पूजन नहीं करना, प्रतिष्ठित प्रतिमा पर टाँकी नहीं लगाना, सरागता के प्रतीकस्वरूप प्रतिमाजी के अंगों पर केसर, चन्दन आदि का चर्चन नहीं करना आदि, प्रतिमाजी के नीचे या सिंहासन के ऊपर वस्त्र नहीं बिछाना, प्रतिमाजी के निकट नहीं बैठना, यदि पैर दुखने लगें तो दूर आकर बैठना चाहिए।
73. तोता-मैना आदि पक्षियों को मन्दिर में नहीं पालना।
74. व्यक्तिगत या पारिवारिक वस्त्रों की नाप या सिलाई आदि मन्दिर में नहीं करना।
75. गहना, आभूषण आदि मन्दिर में नहीं गढ़वाना।
76. धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त मिथ्यात्ववर्धक, कषायवर्धक और अश्लील ग्रन्थ, मन्दिर में न रखना, न पढ़ना और न लिखना। काम-विकाररूप नहीं परिणमना, स्त्रियों के रूप-लावण्य को विकारभाव से नहीं देखना।
77. राजा, सेठ या साहूकारों का छाया-चित्र मन्दिर में नहीं लगाना।
78. गाय-भैंस, घोड़ा-घोड़ी, वाहन आदि मन्दिर में नहीं रखना।
79. मन्दिर के चौक आदि जगह में पापड़, बड़ी, पकौड़ी आदि न बनाना और न सुखाना। इसी प्रकार अन्य लौकिक-कार्य – कण्डे थापना, दाल दलना, चावल आदि कूटना, वस्त्रों को धोना, धुलवाना, सुखाना आदि नहीं करना।
80. कसरत, नाट्य-कला आदि के प्रदर्शन न मन्दिर में करना और न कराना।
81. विनयरहित और अभिमानसहित मन्दिर में नहीं आना।
82. मन्दिर में दर्पण देख कर शृंगार नहीं करना, बाल आदि नहीं बनाना।
83. मन्दिर में पंचेन्द्रियों के भोग न करना और न कराना।
84. मन्दिर से लगी हुई चारों तरफ की दीवारों से सटी गृहस्थ की इमारत व घर आदि नहीं होना चाहिए। अनछने जल से जिन-मन्दिर का कोई भी कार्य नहीं कराना, जिन कार्यों में बहुत से त्रस जीवों का घात हो – ऐसे सर्व कार्य तजने योग्य हैं।

इस प्रकार जिन-मन्दिर में जो कार्य, सावद्य योगसहित हों, वे सर्व ही तजना चाहिए क्योंकि अन्य स्थान में जो पाप उपार्जन किये हों, उन्हें उपशान्त करने के लिए जिनमन्दिर कारण है। लेकिन जिनमन्दिर में ही जो पाप उपार्जन किया हो, उसे उपशान्त करने के लिए अन्य कोई समर्थ नहीं है। कहा भी है –

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं, धर्मक्षेत्रे विनश्यति।
धर्मक्षेत्रे कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति।।

जैसे, कोई पुरुष, कहीं लड़ कर आया हो तो वह अपराध, राजा के निकट क्षमा करा सकता है, किन्तु यदि वह राजा से ही लड़ ले तो उसका अपराध कौन क्षमा कर सकता है, उसका फल तो बन्दीगृह ही है – ऐसा जान कर निजहित मान कर, किसी भी प्रकार विनयपूर्वक रहना चाहिए क्योंकि विनय गुण धर्म का मूल है। मूल बिना धर्मरूपी वृक्ष पर स्वर्ग-मोक्षरूपी फल कदापि नहीं लगते। इसलिए हे भाई! आलस छोड़ कर, प्रमादरहित हो कर, खोटे उपदेश का त्याग करके भगवान की आज्ञा के अनुसार प्रवर्तन करना चाहिए।

अधिक कहने से क्या ? यह तो अपने हित की ही बात है, जिसमें अपना हित हो, वह क्यों नहीं करना ? तो देखो, अरहन्तदेव का उपदेश तो ऐसा है कि इन चौरासी में से एक-दो दोष भी लगें तो महापाप होता है और नरक-निगोद में जाना पड़ता है।

श्रावकों के अतिचार

तत्त्वार्थसूत्र में अतिचारों के सम्बन्ध में कहा है –

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्।[218]

अर्थात् श्रावक के पाँच अणुव्रत और सात शीलों के क्रमशः पाँच-पाँच अतिचार होते हैं।

यद्यपि सूत्र में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि ये अतिचार, गृहस्थ श्रावकों के ही हैं या मुनियों के नहीं हैं; लेकिन फिर भी इनके स्वरूप का विश्लेषण करने से यह अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है कि ये अतिचार, गृहस्थों में ही सम्भव हैं, गृहत्यागी मुनियों के नहीं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इन्हीं अतिचारों का कथन श्रावक के व्रतों के प्रकरण में लिखा है तथा तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं – तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि में यह स्पष्ट उल्लेख है कि अतिचार के प्रकरण में गृहस्थ के व्रतों का ही ग्रहण करना चाहिए –

यद्यपि इदं सूत्रमविशेषणोक्तं, तथापि सामर्थ्याद् गृहिव्रतग्रहणमवसेयम्। किं सामर्थ्यम् ? वक्ष्यमाण-वध-बन्धच्छेदाऽदिवचनम्। ते हि बन्ध-वधच्छेदाऽदयो गृहस्थस्यैव नाऽनगारस्येति।[219]

इसी प्रकार तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में भी कहा है –

सामार्थ्याद्गृहिसम्प्रत्ययः बन्धनादयो ह्यतीचारा वक्ष्यमाणा नानगारस्य सम्भवन्तीति सामर्थ्याद्गृहिण एव व्रतेषु शीलेषु पंच पंचातिचाराः प्रतीयन्ते।[220]

अतिचारों की पंचरूपता

सिद्धान्ताचार्य पण्डित हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ ने श्रावकाचार संग्रह के चतुर्थ भाग की प्रस्तावना में इसका विशेषतः वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, जो मूलतः द्रष्टव्य है –

''यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रत्येक व्रत के पाँच पाँच ही अतिचार क्यों बतलाये गये हैं ? तत्त्वार्थसूत्र की उपलब्ध समस्त दिगम्बर और श्वेताम्बर टीकाओं के भीतर इस प्रश्न का कोई उत्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। जिन जिन श्रावकाचारों में अतिचारों का निरूपण किया गया है; उनमें तथा उनकी टीकाओं में भी इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं मिलता है; परन्तु इस प्रश्न के समाधान का संकेत मिलता है – प्रायश्चित्त विषयक ग्रन्थों में; जहाँ पर कि अतिक्रम, व्यतिवम, अतिचार, अनाचार और आभोग के रूप में व्रत भंग के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं।

कुछ वर्ष पूर्व अजमेर के बीस पन्थ धड़े के शास्त्र भण्डार से जो 'जीतसार समुच्चय' नामक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है, उसके अन्त में 'हेमनाभ' नाम का एक प्रकरण दिया गया है। इसके भीतर भरत के प्रश्नों का भगवान ऋषभदेव के द्वारा दिलाया है। वहाँ पर प्रस्तुत अतिचारों की चर्चा इस प्रकार से दी गई है –

दृग्-व्रत-गुण-शिक्षाणां, पंच-पंचैकशो मलाः।
अतिक्रमादिभेदेन, पंचषष्टिश्च सन्ततेः।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत – इन तेरह व्रतों में से प्रत्येक व्रत के अतिक्रम आदि के भेद से पाँच पाँच मल या दोष होते हैं; अतएव सर्वमलों की संख्या – 13 X 5 = 65 अर्थात् पैंसठ हो जाती है।

इसके आगे सातवें आदि श्लोकों में अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि पाँचों भेदों का स्वरूप बताया गया है –

त्रयोदश-व्रतेषु स्युर्मानस-शुद्धि-हानितः।
त्रयोदशातिचारास्ते विनश्यन्त्यात्मनिन्दनात्।।
त्रयोदश-व्रतानां स्वप्रतिपक्षाभिलाषिणाम्।
त्रयोदशातिचारास्ते शुद्ध्यन्ति स्वान्तनिग्रहात्।।
त्रयोदश-व्रतानां तु क्रिया लस्यं प्रकुर्वतः।
त्रयोदशातिचारास्ते विनश्यन्त्यात्मनिन्दनात्।।
त्रयोदश-व्रतेषु स्युर्मानस-शुद्धि-हानितः।
त्रयोदशातिचारास्ते विनश्यन्त्यात्मनिन्दनात्।।
त्रयोदश-व्रतेषु स्युर्मानस-शुद्धि-हानितः।
त्रयोदशातिचारास्ते विनश्यन्त्यात्मनिन्दनात्।।

अर्थात् उक्त तेरह व्रतों में मानस-शुद्धि की हानिरूप अतिक्रम से जो तेरह अतिचार लगते हैं, वे अपनी निन्दा से दूर हो जाते हैं।।10।।

तेरह व्रतों के स्व-प्रतिपक्षरूप विषयों की अभिलाषा से जो व्यतिक्रम-जनित तेरह अतिचार लगते हैं, वे मन के निग्रह करने से शुद्ध हो जाते हैं।।11।।

तेरह व्रतों के आचरणरूप क्रिया में आलस्य करने से तेरह अतिचार लगते हैं, उनके त्याग करने से गृहस्थ निर्मल या शुद्ध हो जाता है।।12।।

तेरह व्रतों के अनाचाररूप छन्न-भंग को करने से जो तेरह अतिचार लगते हैं, वे मन-वचन-कायरूप तीनों योगों के निग्रह से शुद्ध हो जाते हैं।।13।।

तेरह व्रतों के आभोग-जनित व्रत-भंग से जो तेरह अतिचार उत्पन्न होते हैं, वे प्रायश्चित्त-वर्णित नयमार्ग से शुद्ध होते हैं।।14।।

इस विवेचन से सिद्ध है कि प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचारों में से एक-एक (प्रथम) अतिचार अतिक्रमजनित है, एक एक (द्वितीय) व्यतिक्रमजनित है, एक एक (तृतीय) अतिचारजनित है, एक एक (चतुर्थ) अनाचारजनित है, और एक एक (पंचम) आभोगजनित है।

उक्त सन्दर्भ से दूसरी बात यह भी प्रगट होती है कि प्रत्येक अतिचार की शुद्धि का प्रकार भी भिन्न भिन्न ही है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि यतः व्रतभंग के प्रकार पाँच हैं, अतः तज्जनित दोष या अतिचार भी पाँच ही हो सकते हैं।''[221]

प्रायश्चित्त चूलिका के टीकाकार ने भी उक्त प्रकार से ही व्रतसम्बन्धी दोषों के पाँच पाँच भेद किये हैं। यथा –

सर्वेऽपि व्रत-दोषाः पंचषष्टि-भेदा भवन्ति। तद्यथा – अतिक्रमो व्यतिक्रमोऽतिचारोऽनाचारऽऽभोग इति। एषामर्थश्चाऽयमभिधीयते – जरद्-गव-न्यायेन। यथा –

कश्चिद् जरद्-गवः महा-शस्य-समृद्धि-सम्पन्नं क्षेत्रं समवलोक्य तत्सीम-समीप-प्रदेशे समवस्थितस्तत्प्रति स्पृहां संविधत्ते सोऽतिक्रमः।

पुनर्विवरोदरान्तरास्यं सम्प्रवेश्य ग्रासमेकं समाददामीत्यभिलाषकालुष्यमस्य व्यतिक्रमः।

पुनरपि तद्-वृत्ति-समुल्लंघनमस्याऽतिचारः।

पुनरपि क्षेत्र-मध्यमधिगम्य ग्रासमेकं समादाय पुनरस्याऽपसरणमनाचारः।

भूयोऽपि निःशंकितः क्षेत्र-मध्यं प्रविश्य यथेष्टं संभक्षणं क्षेत्र-प्रभुणा प्रचण्ड-दण्ड-ताडन- खलीकारः आभोगकारः आभोग इति।

एवं व्रतादिष्वपि योज्यम्।[222]

अर्थात् प्रत्येक व्रत के दोष, अतिक्रम आदि के भेद से पाँच प्रकार के होते हैं – इन पाँचों का वर्णन एक बूढ़े बैल के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया जाता है –

1. जैसे, कोई बूढ़ा बैल, धान्य के हरे-भरे किसी खेत को देख कर, उसकी बाड़ के समीप बैठा हुआ, उसे खाने की मन में इच्छा करता है – यह **अतिक्रम दोष** है।
2. पुनः वह बैठा-बैठा ही बाड़ के किसी छिद्र से भीतर मुख डाल कर, एक ग्रास धान्य खाने की अभिलाषा करे तो वह **व्यतिक्रम दोष** है।
3. फिर अपने स्थान से उठ कर और खेत की बाड़ को तोड़ कर, भीतर घुसने का प्रयत्न करना, **अतिचार दोष** है।
4. पुनः खेत में घुस कर, एक ग्रास घास या धान्य को खाकर, वापिस लौट आवे तो यह **अनाचार दोष** है।
5. किन्तु जब वह निःशंक होकर और खेत के भीतर घुस कर, यथेच्छ (भरपेट) घास खाता है और खेत के स्वामी द्वारा डण्डों से पीटे जाने पर भी, घास खाना नहीं छोड़ता तो यह **आभोग दोष** है।

जिस प्रकार अतिक्रमादि दोषों को बूढ़े बैल के ऊपर घटाया गया है; उसी प्रकार से व्रतों के ऊपर भी घटित कर लेना चाहिए।

इस प्रकार इस विवेचन से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अतिक्रमादि पाँच प्रकार के दोषों को ध्यान में रख कर ही प्रत्येक व्रत के पाँच पाँच अतिचार बतलाये गये हैं।

यहाँ पर सम्यग्दर्शन, बारह व्रत, और सल्लेखना के अतिचारों का अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोग – इन पाँच प्रकार के दोषों में वर्गीकरण किया जाता है।

अतिचार आदि पाँच प्रकार के दोषों का वर्गीकरण

व्रत	अतिक्रम	व्यतिक्रम	अतिचार	अनाचार	आभोग
सम्यग्दर्शन	शंका	कांक्षा	विचिकित्सा	अन्यदृष्टिप्रशंसा	अन्यदृष्टिसंस्तव
अहिंसाणुव्रत	बन्धन	पीडन	छेदन	अतिभारारोपण	अन्नपाननिरोध
सत्याणुव्रत	मिथ्योपदेश	रहोभ्याख्यान	कूटलेखकरण	न्यासापहार	साकारमन्त्रभेद
अचौर्याणुव्रत	विरुद्धराज्यातिक्रम	सदृशसम्मिश्रण	हीनाधिकविनिमान	चौरप्रयोग	चौरार्थादान
ब्रह्मचर्याणुव्रत	अन्यविवाहकरण	विटत्व	अनंगक्रीड़ा	विपुलतृषा	इत्वरिकागमन
परिग्रहपरिमाणव्रत	विस्मय	अतिलोभ	अतिवाहन	अतिभारारोपण	अतिसंग्रह
दिग्व्रत	ऊर्ध्वव्यतिक्रम	अधोव्यतिक्रम	तिर्यग्व्यतिक्रम	अवधिविस्मरण	क्षेत्रवृद्धि
देशव्रत	रूपानुपात	शब्दानुपात	पुद्गलक्षेप	आनयन	प्रेष्यप्रयोग
अनर्थदण्डव्रत	कन्दर्प	कौतकुच्य	मौखर्य	असमीक्ष्याधिकरण	अतिप्रसाधन
सामायिक	मनोदुःप्रणिधान	वचोदुःप्रणिधान	कायदुःप्रणिधान	अनादर	विस्मरण
प्रोषधोपवास	अदृष्टमृष्टत्याग	अदृष्टमृष्टग्रहण	अदृष्टमृष्टसंस्तर	अनादर	विस्मरण
भोगोपभोगपरिमाण	विषयानुप्रेक्षा	अनुस्मृति	अतिलौल्य	अतितृषा	अति अनुभव
अतिथिसंविभाग	सचित्तनिक्षेप	सचित्तापिधान	मात्सर्य	अनादर	विस्मरण
सल्लेखना	जीविताशंसा	मरणाशंसा	मित्रानुराग	सुखानुबन्ध	निदान

उपर्युक्त वर्गीकरण रत्नकरण्ड श्रावकाचार में वर्णित अतिचारों को लक्ष्य में रख कर, किया गया है क्योंकि ये अतिचार सबसे अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होते हैं तथा भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतिचारों में जो विसंगति ऊपर बताई गई है, वह भी नहीं रहती है।

सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि सभी अतिचारों को एक सा नहीं समझना चाहिए, किन्तु प्रत्येक व्रत के अतिचारों में व्रतभंग-सम्बन्धी तरतमता है, उनके फल में और उनकी शुद्धि में भी तरतमतागत भेद है; भले ही उन्हें अतिचार, व्यतिपात, मल या दोष जैसे किसी भी सामान्य शब्द से कहा गया हो।

यहाँ इतना विशेष और ज्ञातव्य है कि ये पाँच पाँच अतिचार स्थूल एवं उपलक्षणरूप हैं; अतः जैसा भी व्रत में दोष लगे, उसे यथासम्भव तदनुकूल अतिचार में परिगणित कर लेना चाहिए। यथार्थ में तो अतिक्रम, व्यतिक्रम, आदि के भी गणनातीत सूक्ष्म भेद होते हैं, जिन्हें ज्ञानी एवं जागरूक श्रावक, स्वयं ही जानने और उनकी संशुद्धि करने में सावधान रहता है।

प्रमुख ग्रन्थों में वर्णित श्रावक के अतिचारों का तुलनात्मक अध्ययन[223]

''श्रावकधर्म का वर्णन करने वाले जितने भी ग्रन्थ हैं, उनमें से व्रतों के अतिचारों का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र और श्वेताम्बरीय ग्रन्थ उपासकदशांगसूत्र में ही सर्व प्रथम दृष्टिगोचर होता है तथा श्रावकाचारों में से सर्व प्रथम रत्नकरण्ड श्रावकाचार में अतिचारों का वर्णन पाया जाता है। जब तत्त्वार्थसूत्र वर्णित अतिचारों का उपासकदशांगसूत्र से तुलना करते हैं तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि एक का दूसरे पर प्रभाव ही नहीं है, अपितु एक ने दूसरे के अतिचारों का अपनी भाषा में अनुवाद किया है। यदि दोनों के अतिचारों मे कहीं अन्तर है तो केवल भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतिचारों में है। उपासकदशांगसूत्र में इस व्रत के अतिचार दो प्रकार से बतलाए हैं – भोगतः और कर्मतः। भोग की अपेक्षा वे ही पाँच अतिचार बतलाये गये हैं, जो तत्त्वार्थसूत्र में दिये गये हैं। कर्म की अपेक्षा उपासकदशांगसूत्र में पन्द्रह अतिचार कहे गये हैं, जो कि खरकर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं और पण्डित आशाधरजी ने सागार धर्मामृत में जिनका उल्लेख किया है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि उपासकदशा में कर्म की अपेक्षा जो पन्द्रह अतिचार बतलाये गये हैं, उन्हें तत्त्वार्थसूत्रकार ने क्यों नहीं बतलाया ? मेरी समण से इसका कारण यह प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार 'व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्' इस प्रतिज्ञा से बँधे हुए थे, इसलिए उन्होंने व्रत के पाँच पाँच ही अतिचार बताये; परन्तु उपासकदशाकार ने इस प्रकार की कोई प्रतिज्ञा अतिचारों का वर्णन करने से पूर्व नहीं की, अतः वे पाँच से अधिक भी अतिचारों के वर्णन करने के लिए स्वतन्त्र रहे हैं।

तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्ड श्रावकाचार में वर्णित अतिचारों का जब तुलनात्मक दृष्टि से मिलान करते हैं तो कुछ व्रतों के अतिचारों में एक खास भेद दृष्टिगोचर होता है। उनमें से दो स्थ खास तौर से उल्लेखनीय हैं – एक परिग्रहपरिमाणव्रत और दूसरा भोगोपभोगपरिमाणव्रत। तत्त्वार्थ-सूत्र में परिग्रहपरिमाणव्रत के जो अतिचार बताये गये हैं, उनमें पाँच की एक निश्चित संख्या का अतिक्रमण होता है तथा भोगोपभोगपरिमाणव्रत के जो अतिचार बताये गये हैं, वे केवल भोग पर ही घटित होते हैं, उपभोग पर नहीं। जबकि व्रत के नामानुसार उनका दोनों पर घटित होना आवश्यक है। रत्नकरण्ड के कर्ता स्वामी समन्तभद्र जैसे तार्किक आचार्य के हृदय में उक्त बात खटकी और इसीलिए उक्त दोनों ही व्रतों के एक नये ही प्रकार के पाँच पाँच अतिचारों का निरूपण किया, जो कि उपर्युक्त दोनों आपत्तियों से रहित हैं।''

श्रावक के पाँच अणुव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार

श्रावक के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत और सल्लेखना के पाँच-पाँच अतिचार बताये गये हैं। वहाँ जो व्रतों के विनाशक कार्य हैं, वे अनाचार हैं तथा जो व्रतों को मलिन करने वाले कार्य हैं, वे अतिचार हैं। अतिचार उनको माना गया है, जो कि व्रतों की सर्वांग होने में भी कारण नहीं हैं और जो व्रत का सर्वांग विनाश करने वाले भी नहीं हैं। जो विशुद्धि के कारण हैं, वे तो व्रतों के संरक्षक हैं। जो व्रतों के विनाशक हैं, वे अनाचार या अविरतिस्वरूप हैं। जो व्रतों को मलिन कर देने वाले हैं, वे अतिचार हैं।

अब यहाँ **श्रावक के अतिचारों का विस्तृत वर्णन**[224] करते हैं –

अहिंसाणुव्रत के अतिचार

जब कोई गृहस्थ श्रावक, व्रत अंगीकार करता है तो सामान्यतया वह सर्व प्रथम अणुव्रत ही अंगीकार करता है। यद्यपि मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होने के बाद वह पूर्ण महाव्रत ही ग्रहण करना चाहता है तथापि अपनी कमजोर दशा को देख कर वह पहले अणुव्रत स्वीकार करता है, यही राजमार्ग है। लेकिन जब वह इन अणुव्रतों का पालन करता है तो जाने-अनजाने उससे कुछ दोष भी होते हैं, जिन्हें अतिचार के नाम से जाना जाता है।

हिंसा का त्याग करना, अहिंसाव्रत कहलाता है। आंशिकरूप से इस व्रत का पालन करना, अहिंसाणुव्रत कहलाता है। जो गृहस्थ, सम्यग्दर्शन से सहित है, दयावान् है, हिंसा से भयभीत है, उसका सम्पूर्ण त्याग करने की भावना है, उसके सम्मुख है तो भी उससे एकेन्द्रिय जो पृथिवीकाय आदि स्थावर जीव

की हिंसा का त्याग नहीं हो पा रहा है क्योंकि त्रस और स्थावर दोनों की हिंसा का त्याग तो जो गृहत्यागी मुनीश्वर हैं, उनसे ही बन सकता है। अतः अहिंसाणुव्रत के अन्तर्गत श्रावक संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है, वह त्रस जीवों (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, और पाँच इन्द्रिय जीव) की हिंसा मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से संकल्पपूर्वक नहीं करता है। इस प्रकार उसे स्थूल हिंसा का त्यागी होने से अहिंसाणुव्रती कहते हैं।

त्रस और स्थावर सब प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग न हो सकने के कारण जीवन भर के लिए संकल्पी त्रसहिंसा का त्याग कर देना और स्थावर जीवों की हिंसा तथा आरम्भ भी यथासम्भव कम करते जाना, **अहिंसाणुव्रत** है।

यहाँ स्थूल हिंसा में संकल्पी हिंसा का ग्रहण किया जाता है। जो हिंसा, केवल हिंसा करने के लिए की जाती है, तथा जो हिंसा इरादापूर्वक की जाती है, उसे संकल्पी हिंसा कहते हैं। जैसे – आतंकवादियों के द्वारा की जाने वाली हिंसा।

इस व्रत को दूषित करने वाले पाँच अतिचारों की गणना तत्त्वार्थसूत्र में निम्न प्रकार से की गई है –

बन्ध-वधच्छेदाऽति-भाराऽरोपणाऽन्न-पान-निरोधाः।[225]

अर्थात् 1. बन्ध, 2. वध, 3. छेद, 4. अतिभार-आरोपण 5. अन्न-पान-निरोध – ये अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

जबकि रत्नकरण्ड श्रावकाचार में अहिंसाणुव्रत के अतिचारों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है –

छेदन-बन्धन-पीड़न-, मतिभारारोपणं व्यतिचाराः।
आहार-वारणाऽपि च, स्थूलवधाद् व्युपरतेः पंच।।[226]

अर्थात् छेदना-भेदना, बाँधना, पीड़ा देना, शक्ति से अधिक भार लादना और समय पर भोजन नहीं देना या उसमें त्रुटि करना; अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं, जो गृहस्थ को त्यागने योग्य हैं –

1. **बन्ध या बन्धन अतिचार** – इच्छित स्थान पर जाने से रोकने के लिए रस्सी, जंजीर आदि से बाँधना, बन्ध है अर्थात् इच्छित देश में जाने के उत्सुक के लिए उस गमन के प्रतिबन्ध के हेतु खूँटे आदि में रस्सी से इस प्रकार बाँध देना, जिससे वह इष्ट देश में गमन न कर सके, वह **बन्ध** कहलाता है।

   अथवा किसी भी प्राणी को इस प्रकार बाँध कर रखना, जिससे वह इष्ट देश में न जा सके, **बन्ध** है।

   अथवा किसी प्रतिबन्धक पदार्थ के द्वारा शरीर और वचन पर अनुचित रोकथाम लगाना, **बन्धन** नामक अतिचार है।

   अथवा मनुष्यों को बन्धन आदि के द्वारा बाँधना, बन्दीगृह में डाल देना, तिर्यंचों को मजबूत बन्धन में बाँधना, पक्षियों को पिंजरे में बन्द करना इत्यादि, बन्धन नामक अतिचार है।

   अथवा किसी जीव को जबरदस्ती बाँध कर रखना, पिंजरे आदि में बन्द करना, बन्धन कहलाता है।

   अच्छे कार्यों में भाग लेने से रोकना, तीर्थाटन, दान, त्याग आदि उत्तम कार्यों में बन्धन लगाना, दोष का कारण नहीं है; बल्कि दुष्कार्यों, दुष्क्षेत्र में जाने में रोकथाम लगाना तो सच्चे गृहस्थाचार्य व गुरु का परम कर्तव्य है।

2. **वध या पीड़न अतिचार** – डण्डे, चाबुक, बेंत आदि से पीटना, शरीर को कष्ट पहुँचाना तथा कटुक वचनों के द्वारा किसी का मन दुखाना आदि **वध** अतिचार है।

   अथवा मनुष्य-तिर्यंचों को लात, घमूका, लाठी, चाबुक आदि के प्रहार से कष्ट देना एवं कठोर वचनों का प्रयोग कर उन्हें पीड़ा पहुँचाना, **पीड़न** नामक अतिचार है।

   यहाँ **वध** का अर्थ प्राणी को पीड़ा देना है, प्राणी की हत्या करना नहीं है क्योंकि प्राणियों की हत्या तो प्राणघातरूप होने से व्रतनाश का सूचक है, लेकिन उससे विरक्ति तो व्रत-धारण काल में ही हो जाती है। यही कारण है कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इस अतिचार का नाम **'पीड़न'** उल्लिखित है।

   ध्यान रहे कि कटु वचन को भी अहिंसाणुव्रत का अतिचार कहा है; उसका कारण यह है कि कटु वचन भी मर्मच्छेदी होते हैं, मानसिक पीड़ा देते हैं। कहा भी है – 'शरीर का घाव तो समय पाकर भर जाता है, परन्तु कटु वचनों का घाव समय पाकर भी नहीं भरता।'

   गुरुजन या पालकजन बालक के हितार्थ उसे मारना, डाँटना, फटकारना आदि कर सकते हैं; लेकिन वहाँ भी बालक के हितार्थ निर्दयता से पीटना, गाली-गलौच करना उचित नहीं है। गुरु की मार के

सम्बन्ध में कहा भी है – 'अन्दर हाथ पसारि के बाहर मारत चोट' अर्थात् अन्दर में दया-ममता से भीगे गुरु मात्र धमकी देते हुए हल्की-हल्की चोट ऊपर से लगाते हैं।

3. **छेद या छेदन अतिचार** – कान, नाक आदि अंगों को परहित की विरोधिनी दृष्टि से छेदना-भेदना, अपनयन करना, **छेद** अतिचार है।

   अथवा मनुष्य-तिर्यंचों के कान, नाक, ओष्ठ आदि अंगों कष्ट देने की दृष्टि से छेदना, वह **छेदन** नामक अतिचार है।

   इस अतिचार के अन्तर्गत माता-पिता आदि के द्वारा कर्ण-नासिका आदि शरीर के अवयवों को आभूषण पहनाने के लिए छेदना-भेदना शामिल नहीं है। इसी प्रकार रोग-निवारक चेचक आदि के टीके आदि लगवाना या बीमार होने पर सुई (इन्जेक्शन) आदि के माध्यम से इलाज करना भी इस श्रेणी में नहीं है।

4. **अतिभार-आरोपण अतिचार** – अत्यन्त लोभ के कारण बैल, घोड़े आदि पर उचित भार से अधिक भार लादना, **अतिभार-आरोपण** है।

   अथवा मनुष्य-तिर्यंचों तथा उनकी गाड़ी पर बहुत बोझ लादना, **अतिभार-आरोपण** नामक अतिचार है। अथवा किसी भी मानव, नौकर-चाकर आदि व पशु पर उसकी शक्ति से अधिक भार न्याय-नीति से अधिक कार्य भार, कर भार, दण्ड भार आदि भी **अतिभार-आरोपण** के अन्तर्गत आते हैं। जैसे, घर में सास के द्वारा बहू पर शक्ति के बाहर कार्य भार लादना, किसी भी नौकर आदि से उसकी शक्ति के बाहर काम लेना, उसे वेतन कम देना, सरकार के द्वारा जनता पर अनुचित कर भार लादना, कम दोषी को अधिक दण्ड देना, गुरु द्वारा भी शिष्य पर प्रायश्चित्त का अनुचित व शक्ति से दण्ड देना, लड़की के पिता से जो दहेज की माँग करना आदि।

   शंका – अतिभार-आरोपण को अतिचार क्यों कहा गया है ?

   समाधान – शक्ति से अधिक भार लादने और कठिन लम्बा रास्ता पार कराने से आयु पूर्ण होने से पहले ही पशु की मृत्यु हो सकती है अर्थात् वह अकाल में ही मरण को प्राप्त हो सकता है; अतः पशुओं पर उनकी क्षमता के अनुसार ही बोझा लादना चाहिए, उन्हें अल्प समय तक और कम दूरी तक ही चलाना चाहिए, तथा अधिक तेज चाल से भी नहीं चलाना चाहिए।

5. **अन्न-पान-निरोध या आहार-वारणा अतिचार** – अपने अधीन गाय, भैंस, नौकर आदि को भूख–प्यास की बाधा देना, समय पर भोजन-पानी नहीं देना, **अन्न-पान-निरोध** है। ध्यान रहे कि मूक प्राणी कुछ कह नहीं पाते हैं, अन्दर-अन्दर से तड़फ जाते हैं – यह महापाप है।

   अथवा मनुष्य-तिर्यंचों को खाने-पीने से रोकना, वह **अन्न-पान-निरोध** नामक अतिचार है।

   अथवा स्वाश्रित सास-ससुर, बहू-बेटे, माता-पिता, नौकर आदि मनुष्य एवं तिर्यंच आदि को समय पर भोजन नहीं देना या भोजन में कमी करना या भरपेट भोजन नहीं देना आदि **आहार-वारणा** नामक अतिचार कहलाता है।

अहिंसाणुव्रत के बन्ध आदि अतिचार मानने में हेतु[227]

''**शंका** – अहिंसाणुव्रत के बन्ध आदि अतिचार किस युक्ति से सिद्ध होते हैं ?

समाधान – आगम और अनुमान प्रमाण से इनकी सिद्धि होती है। अहिंसाणुव्रत के बन्ध आदि अतिचार, आगम-परम्परा से चले आ रहे हैं क्योंकि ये क्रोध, लोभ आदि कषाय भावों से उत्पन्न होते हैं और क्रोधादि, अहिंसा व्रत के मल हैं। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि के अतिचारों का निरूपण करते हुए 'मालिन्यहेतुत्वात् अर्थात् मलिनता के हेतु होने से' – ऐसा कह कर पूर्व में अनुमान प्रयोग से सिद्ध किया है, उसी प्रकार यहाँ भी मलिनता का हेतु होने से ये अतिचार सिद्ध हैं।''

निष्कर्ष

1. अहिंसाणुव्रतधारी श्रावक को इन दोषों से सदा बचते रहना चाहिए, क्योंकि इन दोषों के सेवन से अहिंसाणुव्रत मलिन होता है। यदि कदाचित् कर्तव्यवश इनका सेवन करना भी पड़े तो कोमलभाव से काम लेना चाहिए, दुर्भाव से तो इनका कभी भी सेवन न करें।

2. पर-पीड़ा-कारक छेदन-भेदन-बन्धन कभी भी नहीं करना चाहिए।
3. पीड़ा-कारक वचन मुख से नहीं बोलना चाहिए।
4. शक्ति से अधिक कार्य किसी से भी नहीं लेना चाहिए। जैसे – चार सवारी के ताँगे में 6-7 सवारी नहीं बैठाना चाहिए। यद्यपि मशीन तो जड़ अचेतन होती है, परन्तु इस श्रेणी में हम ऑटो आदि इंजन से चलने वाले वाहनों पर पड़ने वाले अत्यधिक भार को भी ले सकते हैं; हमें उन पर भी दया करना चाहिए।
5. सेवक आदि को वे जितने घण्टे कार्य करने के पैसे लेते हैं, उतने घण्टे ईमानदारी से काम करना चाहिए। इसी प्रकार स्वामी को भी शक्ति देख कर कार्य कराना चाहिए व पारिश्रमिक भी पूरा देना चाहिए।
6. किसी भी प्राणी के आहार में रोक लगाना, कम भोजन देना, समय पर भोजन नहीं देना आदि कार्य कभी नहीं करना चाहिए।
7. लाटी संहिता[227अ] में कहा है कि बहुत कहने से क्या ? अणुव्रत धारण करने वाले श्रावकों को ऐसी कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए, जिसमें त्रस जीवों की हिंसा होती हो।
8. अहिंसाव्रत को दृढ़ करने हेतु वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण-समिति एवं रात्रिभोजनत्याग -व्रत का पालन अवश्य करना चाहिए।

सत्याणुव्रत के अतिचार

सत्य और अहिंसा का परस्पर बहुत गहरा सम्बन्ध है। एक के अभाव में दूसरे का पालन सम्भव नहीं है। ये दोनों परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। अहिंसा, यथार्थ सत्य को सौन्दर्य प्रदान करती है और यथार्थ सत्य, अहिंसा को सुरक्षा देता है। अहिंसारहित सत्य, कुरूप है और सत्यरहित अहिंसा, क्षणस्थायी है, असुरक्षित है। इसलिए अहिंसा की आराधना के लिए सत्य की आराधना अनिवार्य है।

सत्यव्रत का पूर्णरूप से पालन तो मुनियों के द्वारा होता है और एकदेशरूप से पालन गृहस्थ श्रावक के द्वारा होता है। जो गृहस्थ, स्थूल असत्य स्वयं नहीं बोलता, न दूसरे से कहलाता है, तथा जिस वचन से अपने पर या दूसरे पर आपत्ति आ जावे – ऐसा सत्य भी नहीं बोलता है; उसे सन्त पुरुष, स्थूल असत्य का त्याग या सत्याणुव्रत कहते हैं। लोक-व्यवहार में जिसे स्थूल झूठ समझा जाता है, उसी का यहाँ ग्रहण किया गया है। जैसे – 1. शपथ लेकर अन्यथा कथन करना अर्थात् जान-बूझ कर झूठ बोलना। 2. पंच या जज (न्यायाधीश) के पद पर प्रतिष्ठित होकर अन्यथा कहना या कहलाना या निर्णय देना। 3. धर्मोपदेष्टा बन कर अन्यथा उपदेश देना। 4. विश्वस्त करके झूठ बोलना। 5. ऐसा झूठ बोलना, जो आपत्ति का कारण हो।

जिस प्रकार स्थूल हिंसा में संकल्पी हिंसा का ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार स्थूल झूठ में संकल्पी झूठ का ग्रहण किया जाता है। जो झूठ, सिर्फ झूठ बोलने के लिए ही बोला जाता है, जो इरादापूर्वक दूसरे को नुकसान पहुँचाने के उद्देश्य से झूठ बोला जाता है, उसे इस श्रेणी में लिया जाता है। सामान्य सद्गृहस्थ से कम से कम इतनी अपेक्षा तो रखी ही जा सकती है।

भयवश आशावश स्नेहवश या लोभवश कम से कम ऐसा असत्य नहीं बोलना, जो गृहविनाश या ग्रामविनाश का कारण हो, वह **सत्याणुव्रत** है।

सत्याणुव्रत को दूषित करने वाले पाँच अतिचारों का उल्लेख करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः।[228]

अर्थात् 1. मिथ्योपदेश, 2. रहोभ्याख्यान, 3. कूटलेखक्रिया, 4. न्यासापहार, 5. साकारमन्त्रभेद – ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

जबकि रत्नकरण्ड श्रावकाचार के अनुसार परिवाद, रहोभ्याख्यान, पैशून्य, कूट-लेख-करण और न्यासापहार; ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं, जिन्हें व्यतिक्रम नाम से कहा गया है –

परिवाद-रहोभ्याख्या, पैशून्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासापहारिताऽपि च, व्यतिक्रमाः पंच सत्यस्य।।[229]

इसी प्रकार अमितगति श्रावकाचार के अनुसार – न्यासापहार, परमन्त्रभेद, मिथ्योपदेश, परकूटलेख, और दूसरे की गुप्त चेष्टाओं को प्रकाशित करना – ये पाँच अतिचार हैं।

1. **मिथ्योपदेश या परिवाद –** इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पद और मोक्ष से सम्बन्धित क्रियाओं में अन्यथा प्रवृत्ति कर देना या उनके प्रति विपरीत बात कहना, **मिथ्योपदेश** है।

अथवा मिथ्या वचनों द्वारा दूसरों को ठगना, झूठी गवाही देना, दूसरे का अपवाद करना, यह सब भी **मिथ्योपदेश** है।

अथवा मिथ्या उपदेश देने का दूसरा नाम **परिवाद** भी है। किसी की निन्दा करना, गाली देना, वचनों से ऐसा वातावरण बनाना, जिससे परिवार, समाज या राष्ट्र में अशान्ति उत्पन्न हो, **परिवाद** कहलाता है।

अथवा सन्मार्ग पर लगे हुए किसी को भ्रमवश अन्य मार्ग पर ले जाने का उपदेश करना, **मिथ्योपदेश** है। जैसे, किसी ने आलू आदि जमीकन्द खाने का त्याग कर रखा है, परन्तु उसे यह समझा कर कि आलू आदि अनन्तकाय नहीं हैं, उनके खाने में पुनः प्रवृत्त करना, मिथ्योपदेश है। ध्यान रहे कि ऐसा उपदेश यदि नासमझी से दिया जाता है तो वह अतिचार है और यदि जानबूझ कर दिया जाता है तो अनाचार है।

2. **रहोभ्याख्यान** – स्त्री और पुरुष के द्वारा एकान्त में किये गये रहस्य का उद्घाटन करना, **रहोभ्याख्यान** है। अथवा किसी स्त्री या पुरुष की एकान्त की गुप्त चेष्टा देख कर या गुप्त वचन सुन कर किसी अन्य से कह देना या प्रगट कर देना; वह **रहोभ्याख्यान** नामक अतिचार है।

   अथवा संवृत का प्रकाशन **रहोभ्याख्यान** है अर्थात् किसी ने अपनी कोई गुप्त बात बताई हो, वह बात किसी तीसरे से कह देना या विख्यात कर देना, **रहोभ्याख्यान** है।

   अथवा किसी के गोपनीय रहस्यों को उजागर करना, प्रलोभन में आकर देश की रक्षा, उद्योग या अर्थव्यवस्था सम्बन्धी सूचनाएँ आदि विरोधियों को देना, **रहोभ्याख्यान** कहलाता है।

3. **कूट-लेख-क्रिया या कूट-लेख-करण** – किसी के नहीं कहने पर भी किसी दूसरे की प्रेरणा से यह कहना कि उसने ऐसा कहा है या ऐसा किया है; इस प्रकार वंचना, छल, धोखा या ठगी करने के उद्देश्य से लेख लिखना, **कूट-लेख-क्रिया** है।

   अथवा नकली दस्तावेज बनाना, झूठे सर्टिफिकेट बनाना, जाली हस्ताक्षर करके लिखा-पढ़ी में फेरबदल करना आदि **कूट-लेख-क्रिया** कहलाती है।

4. **न्यासापहार** – कोई आपको धन सौंप गया हो, वस्त्र-आभरण रख गया हो; परन्तु जब वह वापिस लेने आये और सही संख्या भूल कर कुछ कम माँगने लगे तो उससे ऐसा कहना कि ''हाँ! तुम जितना कह रहे हो, उतना ही तुमने रखा है, उसे तुम ले जाओ'' – यह **न्यासापहार** नामक अतिचार है।

   अथवा हिरण्य आदि निक्षेप में अल्प संख्या का अनुज्ञा वचन न्यासापहार कहलाता है। सुवर्ण आदि गहना रखने वाले के द्वारा भूल से अल्प या कम माँगने पर जानते हुए भी 'जो तुम माँगते हो, ले जाओ' इस प्रकार अनुज्ञा वचन कहना और उसे कम देना, **न्यासापहार** नामक अतिचार कहलाता है।

   अथवा अपने पास रखी किसी की धरोहर न देना, या भुला देना, किसी की सम्पत्ति हड़प लेना, मजदूरों को नियमानुसार वेतन आदि नहीं देना या उनमें कटौती आदि करना, **न्यासापहार** है।

5. **साकारमन्त्रभेद या पैशून्य** – प्रयोजन, प्रकरण, अंग-विकार, अथवा भ्रू-विक्षेप आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जान कर, ईर्ष्यावश उसे प्रगट कर देना, **साकार-मन्त्र-भेद** अतिचार है।

   अथवा किसी की कोई कमजोरी जान कर, उसका बिगाड़ कराने के अभिप्राय से किसी को छिप कर कह देना, चुगली कर देना, वह **पैशून्य** नामक अतिचार है।

   अथवा किन्हीं दो लोगों को लड़वाने के लिए चुगली करना, इधर-उधर की बातें बनाना, पीठ-पीछे बुराई आदि करना, **पैशून्य** कहलाता है।

निष्कर्ष

1. क्रोध-मान-माया-लोभ के वशीभूत होकर ऐसा वचन नहीं बोलना चाहिए, जिससे अन्य का घात हो जाए, अपवाद हो जाए, कलंक लग जाए क्योंकि वही तो निन्द्य-वचन है।
2. जिस वचन से मिथ्याश्रद्धान हो जाए, धर्म से छूट जाए, व्रत-संयम-त्याग में शिथिल हो जाए, कलह-विसंवाद बढ़ जाए, विषयों में अनुराग बढ़ जाए, बहुत आरम्भ में प्रवृत्ति हो जाए, आर्तध्यान हो जाए, कामवेदना प्रगट हो जाए, दूसरे की आजीविका बिगड़ जाए, अपयश हो जाए – ऐसे वचन नहीं बोलें।
3. ऐसा सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए, जिससे अपना और दूसरे का बिगाड़ हो जाए, आपत्ति आ जाए, अनर्थ पैदा हो जाए, मर्म छिद जाए, राजा से दण्ड हो जाए, धन की हानि हो जाए – ऐसा सत्य वचन भी झूठ ही है।

4. गाली के वचन, भण्ड वचन, नीच वचन, हिंसा के वचन, मर्मच्छेदी वचन, अपमान-सूचक वचन, तिरस्कार के वचन, अहंकार के वचन कभी नहीं बोलना चाहिए।
5. जिनसूत्र के अनुकूल, अपने पद के हितरूप, बहुत प्रलापरहित, प्रामाणिक, सन्तोष उत्पन्न करने वाले, धर्म का प्रकाश फैलाने वाले वचन कहना चाहिए।
6. इस मनुष्य जन्म में तो एक वाणी बोलना ही सार है, आश्चर्यकारी है। जिसने इस वाणी को बिगाड़ा, उसने अपना समस्त जन्म ही बिगाड़ लिया।
7. अयोग्य वचनों से ही घर-घर में कलह, विसंवाद, परस्पर में वैर, पीटना, मारना, प्राण ले लेना आदि दिखाई देते हैं।
8. अप्रतीति, अविश्वास, खेद का कारण एक असत्य वचन को ही जानना चाहिए।
9. यदि गृहस्थ अपने भोगोपभोग के साधन मात्र के सम्बन्ध में सदोष वचन त्यागने में समर्थ नहीं है तो अन्य निरर्थक पाप बन्ध करने वाले समस्त असत्य वचन का अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए।
10. सत्यव्रत का पालन करने हेतु क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग करना एवं आगमानुसार वचन अवश्य बोलना चाहिए।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार

बिना दिये हुए दूसरे के द्रव्य को नहीं लेना, **अचौर्याणुव्रत** है।

चोरी भी हिंसा का ही एक रूप है। जब कोई व्यक्ति, किसी की कोई वस्तु चुरा लेता है, या ठग लेता है, तब उसे बहुत मानसिक पीड़ा होती है और भौतिक कष्ट भी होता है; अतः जब तक चोरी करने का त्याग न हो, तब तक अहिंसा का पालन भी नहीं हो सकता और सत्य का निर्वाह भी नहीं हो सकता।

चोरी के पूर्ण त्याग करने पर अचौर्य महाव्रत होता है, परन्तु गृहस्थ अवस्था में चोरी का पूर्णतः त्याग करना सम्भव नहीं है; अतः स्थूल चोरी के त्यागरूप अचौर्याणुव्रत होता है। जैसे – किसी पुरुष का जमीन में गड़ा हुआ धन हो; किसी भी स्थान में, महल में, मन्दिर में, गृह आदि में छिपाया हुआ धन हो; आपको अमानत सौंप गया हो; आपके मकान में या दूसरे के मकान में आप को बिना बताये–जताये ही रख गया हो, गाँव में, नगर में, रास्ते में, वन में, बाग में पटक गया हो, आप को सौंप कर भूल गया हो, पटक गया हो; आप को सौंप कर भूल गया हो; हिसाब में, लेखे में चूक गया हो; आप के स्थान में भूल से रख गया हो, पटक गया हो; अथवा लेन–देन में, गिनती में, भूला हुआ पैसा, रुपया, मुहर, आभरण, वस्तु आदि महंगी या थोड़े मोल की हो; उसे बिना दी हुई ग्रहण नहीं करना चाहिए या दूसरे की वस्तु उठा कर किसी अन्य को देना नहीं चाहिए।

डॉ. धर्मचन्द जैन ने जिनवाणी मासिक पत्रिका में 'अचौर्यव्रत और नैतिकता'[230] – इस विषय पर एक लेख लिखा है, जिसमें उन्होंने वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अचौर्यव्रत के महत्त्व को रेखांकित किया है। उसके कतिपय अंश निम्न प्रकार हैं –

1. अचौर्यव्रत का महत्त्व मानवीय परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। पशु-पक्षियों के लिए चोरी की कोई अवधारणा नहीं है। जहाँ उन्हें भोजन मिलता है, वे वहीं उसे ग्रहण कर लेते हैं। अतः उन्हें यह बोध नहीं होता कि कहाँ खाना चोरी के अन्तर्गत आएगा और कहाँ नहीं।
2. चोरी से दूसरे के अधिकारों का हनन होता है और अपने मूल्यों का पतन।
3. चोरी को मानव समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है; चोर की इज्जत, समाज की दृष्टि में कुछ नहीं।
4. चोरी को मानव समाज में तथा सरकार के स्तर पर एक दण्डनीय अपराध स्वीकार किया गया है।
5. भगवान महावीर ने चोरी को 'अदत्तादान' शब्द से परिभाषित किया है। यह शब्द की सूक्ष्म व्याख्या करता है। जिस वस्तु पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं है, उसको तो हम ग्रहण कर सकते हैं। उदाहरणार्थ – सूर्य के प्रकाश, वायु आदि अनेक वस्तुओं पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं है; अतः हम उसे सहजरूप में ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु जहाँ तक रोटी–कपड़ा–मकान की बात है; वहाँ हम उसे मूल्य चुका कर अथवा दूसरे की अनुमति लेकर ग्रहण कर सकते हैं।
6. जैन साधु-साध्वी अपने पास फूटी कौड़ी भी नहीं रखते है, अतः वे अपनी आवश्यक्ता के अनुसार गृहस्थों से भोजन आदि ग्रहण करते हैं; इन्हें ग्रहण करने में भी अनेक नियमों और उपनियमों का

पालन करते हैं। नियमों के कारण वे भूख होते हुए भी एवं भोजन मिलने पर भी कदाचित् उसे नहीं ले पाते हैं। वे अपनी इच्छाओं एवं आवश्यक्ताओं को कम और नियमों को अधिक महत्त्व देते हैं। इसलिए सहज ही उनके जीवन में अदत्तादान व्रत का पालन हो जाता है। वे संयम यात्रा के लिए भिक्षावृत्ति अपनाते हैं। यदि कहीं प्रासुक जल उपलब्ध है, किन्तु कोई देने वाला न हो तो वे उसे स्वयं ग्रहण नहीं करते हैं।

7. आज वस्तु-संग्रह की कोई सीमा नहीं रह गई है। यह मानव अपने सुख के लिए दूसरे के श्रम को भूल जाता है तथा सामाजिक नीति-नियमों को ताक में रख कर वस्तु-संग्रह में लगा रहता है।
8. राज्य के नियमों में स्थानीय चुगी, वाणिज्यिक कर, वेट टैक्स, आय कर आदि सबका समावेश होता है किन्तु ऐसे कम ही व्यापारी हैं, जो पूर्णतया इन नियमों का पालन करते हैं।
9. कर चोरी को जैन समाज भी बुरा नहीं मानता। वह कहता है कि सरकारी नियम ही इतने कठोर हैं कि यदि व्यक्ति कर चोरी न करे तो कुछ भी कमा न सकेगा। दूसरी बात, यदि सब व्यक्ति कर चुकाने लगें तो बाजार में वस्तुओं के दाम अधिक ऊँचे जा सकते हैं। सरकार को कर नहीं देने वाले लोग, बाजार में कम कीमत पर वस्तु उपलब्ध कराते हैं। यह राज्य-विरुद्ध कार्य है, जो पूर्णतया त्याज्य है।
10. चोरी के अनेक रूप हैं; उनमें कार्य की चोरी भी एक चोरी है। जिस कार्य को करने के लिए पारिश्रमिक लिया गया है, यदि उसे हम पूर्ण नहीं करते हैं तो यह भी एक तरह की चोरी ही है।
11. चोरी का एक रूप लेखन की चोरी है। दूसरे के द्वारा लिखे हुए मौलिक लेखों एवं रचनाओं को अपने नाम से प्रकाशित करवाना भी एक चोरी है। गृहस्थों में ही नहीं, साधु-साध्वियों में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है। कोई यह कहे कि किसी लेखक को पैसा देकर हम उस कृति को अपने नाम से प्रकाशित करवाये तो इसमें क्या दोष है ?, यह तो कोई अदत्तादान नहीं है। किन्तु गहराई से विचार करने पर ज्ञात होगा कि यह भी एक प्रकार का दोष ही है।
12. आजकल किसी शोध का भी पेटेन्ट होता है। उसे दूसरा कोई अपने नाम से प्रयोग नहीं कर सकता। इसी प्रकार लेखन में भी कॉपीराइट (सर्वाधिकार सुरक्षित) होता है, दूसरा उसकी नकल नहीं कर सकता। यदि करता है तो यह अपराध है।
13. बिना श्रम के वस्तु की प्राप्ति की भावना, लोभ की प्रवृत्ति, दूसरों को धोखा देने की लालसा, अपने कुत्सित संवेगों पर अनियन्त्रण आदि अनेक कारण हैं, जो चोरी की प्रवृत्ति को जन्म देते हैं।
14. प्रभु महावीर ने जो अदत्तादान का सन्देश दिया है, वह व्यक्ति को भीतर से निर्मल बनाता है तथा दूसरों के प्रति आदरभाव उत्पन्न करता है, उनके अधिकारों की रक्षा के भाव को सुरक्षित रखता है तथा संग्रह की भावना को उत्पन्न नहीं देता।
15. इस प्रकार अदत्तादान-विरमण-व्रत, व्यक्ति को बाह्य रूप से ही नहीं, बल्कि अभ्यन्तर स्तर पर भी नैतिक एवं धर्मनिष्ठ बनाता है। महात्मा कबीर ने कहा भी है –

देख पराई चूपड़ी, मत ललचावे जीव।
रूखी-सूखी खाय के, ठण्डा पानी पीव।।''

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः।[231]

अर्थात् 1. स्तेन-प्रयोग, 2. तदाहृतादान, 3. विरुद्ध-राज्यातिक्रम, 4. हीनाधिक-मानोन्मान, 5. प्रतिरूपक-व्यवहार – ये अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचारों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है –

चौरप्रयोग-चौरार्थादान-विलोप-सदृशसन्मिश्राः।
हीनाधिकविनिमानं पंचास्तेये व्यतीपाताः।।[232]

अर्थात् 1. चोरप्रयोग, 2. चोरार्थप्रयोग, 3. विलोप, 4. सदृशसन्मिश्र, 5. हीनाधिक-मानोन्मान – ये अचौर्याणुव्रत के पाँच व्यतिपात (अतिचार) हैं।

1. **स्तेन-प्रयोग या चौर-प्रयोग –** स्वयं तो चोरी नहीं करना, किन्तु दूसरों को चोरी करने की प्रेरणा करना, प्रयुक्त करना, प्रवृत्त करना या चोरी करने के उपाय बताना; **स्तेनप्रयोग** कहलाता है।

अथवा चोरी की योजना बनाना, चोरी या चोर की प्रशंसा करना या समर्थन करना, चोरी करना अच्छा मानना और स्वयं या दूसरे के द्वारा चोरी करने के लिए तरह-तरह के उपाय बतलाना; **स्तेनप्रयोग** कहलाता है।

अथवा चोर को तीन प्रकार – मन से, वचन से और काय से प्रयुक्त करना; **स्तेनप्रयोग** है।

2. **तदाहृतादान या चोरार्थादान –** चोरी की वस्तु खरीदना-बेचना, चोर-डाकुओं को संरक्षण और सहायता देना; **चोरार्थादान** कहलाता है।

   अथवा अपने द्वारा जिसके उपाय नहीं बताये गये हैं और न जिसकी अनुमोदना ही की गई है – ऐसे चोर के चोरी करके लाये गये द्रव्य को खरीदना, **तदाहृतादान** है।

   शंका – व्यापारी जब माल खरीदता है तो उसे क्या पता? – यह चोरी का माल है या नहीं; अतः चोरार्थादान नामक दोष कैसे बनेगा?

   समाधान – चोरी का माल कीमती होने पर भी बहुत सस्ते दाम में मिल जाता है, अन्य प्रकार से भी यह अन्देशा लगाना कठिन नहीं होता कि यह माल अनैतिक तरीके से बेचा जा रहा है; अतः खरीदने वाले को भी समझ में आ जाता है कि यह माल सही है या नहीं। ऐसी स्थिति में उस माल को लोभवश खरीदना, **चोरार्थादान** कहलाता है।

3. **विरुद्धराज्यातिक्रम या विलोप –** न्यायमार्ग को छोड़ कर अन्य प्रकार से किसी की जमीन छीन लेना, अतिक्रमण करना, कब्जा करना, जमाखोरी करना, कालाबाजारी करना, महंगाई बढ़ाना, तस्करी करना, रिश्वतखोरी, सट्टेबाजी आदि; **विरुद्धराज्यातिक्रम** के उदाहरण हैं।

   उचित न्याय की रीति को छोड़ कर अन्य रीति से धन-ग्रहण करना तथा राज्य की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करके धन अथवा अन्य वस्तुओं का ग्रहण करना; **विलोप** नामक अतिचार है।

   अथवा राज्य में विप्लव होने पर हीन-अधिक तौल में वस्तुओं का आदान-प्रदान करना, **विरुद्धराज्यातिक्रम** है। जैसे, युद्धकाल में या उसके बाद जो वस्तुओं की जो ब्लैक मार्केटिंग होती है, वह सब विरुद्धराज्यातिक्रम है।

   अथवा जिस राज्य के साथ अपने राज्य का व्यापारिक सम्बन्ध निषिद्ध है, उस राज्य को विरुद्ध राज्य कहते हैं तथा विरुद्ध राज्य से सस्ती वस्तुओं को लाकर महंगे मूल्य में बेचना और तस्कर व्यापार को बढ़ावा देना, **विरुद्धराज्यातिक्रम** कहलाता है।

4. **प्रतिरूपक/कृत्रिम व्यवहार या सदृश सन्मिश्र –** मिलावट करना, नकली को असली बताना, नकली दवा या अन्य वस्तुओं को बेचना, आदि **प्रतिरूपक व्यवहार** कहलाता है। आजकल नकली मोती, नकली घी, नकली दवा आदि बहुत सी वस्तुएँ चल पड़ी हैं; उन्हें असली कह कर बेचना, या असली में मिला कर बेचना, प्रतिरूपक व्यवहार के उदाहरण हैं।

   अथवा समान रूप-रंग वाली नकली वस्तु, असली वस्तु में मिला कर असली वस्तु के भाव में बेचना, **सदृश-सन्मिश्र** कहलाता है। जैसे – घी में तेल को मिश्रित करना आदि।

   अथवा कृत्रिम या झूठे सुवर्णादि बना कर, वंचनापूर्वक व्यवहार करना, **प्रतिरूपक या कृत्रिम** व्यवहार है।

5. **हीनाधिक मानोन्मान –** कम तौलना, कर-चोरी करना, हिसाब में हेरा-फेरी करना, आदि **हीनाधिक मानोन्मान** कहलाता है। जिसमें भर कर या जिससे तौल कर वस्तु ली या दी जाती है, उसे **मान** कहते हैं। जैसे – प्रस्थ, तराजू आदि। तथा जिससे नाप कर कोई वस्तु ली या दी जाती है, उसे **उन्मान** कहते हैं। जैसे – फुट, गज, मीटर आदि।

   अथवा मापने या तौलने के न्यूनाधिक बाँटों से लेनदेन करना अर्थात् किसी वस्तु को देते समय हीन मान-उन्मान का और खरीदते समय अधिक मान-उन्मान का प्रयोग करना, **हीनाधिक मानोन्मान** कहलाता है अर्थात् दूसरे को देते समय कम वजन वाले बाँटों से देना और लेते समय अधिक वजन वाले बाँटों का प्रयोग करना, **हीनाधिक मानोन्मान** है।

   शंका – स्तेनप्रयोगादि को अतिचार क्यों कहा है?

   समाधान – तराजू व माप अव्यवस्थिति व्यवहार को दूषित करने वाली मायाचारी है। वस्तुएँ लेन-देन करते समय तौलने के बटखरे कमबेशी रखना और मापने के द्रोणी आदि पात्र भी छोटे-बड़े रखना,

व्यवहार को विकृत कर देता है। क्रय-विक्रय की वस्तुओं में मनमाना मूल्य बढ़ा कर विक्रय करते हैं एवं धन संचय करते हैं, इससे प्रजा को कष्ट होता है। दारिद्र्य-जन्य पीड़ा होती है। जिस देश में व्यापारी अन्याय से अनावश्यक अन्न का अधिक संचय करके रखते हैं, प्रजा को नहीं देते हैं; वहाँ अन्य तन्त्र-कार्य भी स्थगित हो जाते हैं। चतुष्पदों – पशुओं की व्यवस्था नहीं हो पाती है, फलतः देश नष्ट हो जाता है।

निष्कर्ष

1. चोरी की वस्तु खरीदने से चोर को चोरी करने की प्रेरणा मिलती है। चोरी का माल खरीदने से परपीड़ा, राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। वास्तव में यहाँ राजमार्ग को छोड़ कर अन्य तरीके से वस्तु को खरीदा या बेचा गया है; अतः इसे अतिचार कहा गया है।
2. अचौर्यव्रत की दृढ़ता के लिए शून्य घर में रहना, किसी के द्वारा छोड़े हुए घर में रहना, किसी कार्य के लिए दूसरे को मना नहीं करना, भिक्षा में शुद्धि, साधर्मियों के साथ विसंवाद नहीं करना – इन कार्यों को भी करने का प्रयत्न करना चाहिए।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार

अपनी विवाहिता स्त्री या विवाहित पुरुष के सिवा शेष सब स्त्रियाँ या पुरुषों को बुरी निगाह से नहीं देखना, **ब्रह्मचर्याणुव्रत** है।

यद्यपि यौनाचार या मैथुन के सर्वथा त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं, तथापि गृहस्थ को विवाह का मार्ग खुला हुआ है। जो अपनी जाति की, कुलीन घर की एवं साक्षीपूर्वक विवाहित स्त्री में सन्तोष धारण करके, उससे अन्य समस्त स्त्री मात्र में रागभाव का त्याग करके, परस्त्री, वेश्या, दासी, कुलटा, कुंवारी इत्यादि स्त्रियों में विरागता को प्राप्त होकर, उनसे रागभावपूर्वक मिलना, वचनालाप करना, अवलोकन करना, स्पर्श करना आदि का त्याग करना, **ब्रह्मचर्याणुव्रत** कहलाता है।

इस व्रत के दूसरे नाम 1. परस्त्रीत्यागव्रत या परपुरुषत्यागव्रत अथवा 2. स्वस्त्रीसन्तोषव्रत या स्वपुरुष-सन्तोषव्रत भी है। दोनों में से एक नाम निषेधपरक है और दूसरा नाम विधिपरक है; अतः दोनों का आशय एक ही है। उन्मुक्त यौनाचार ने आज एड्स आदि कई ज्वलन्त समस्याओं को जन्म दिया है, इनसे परिवार और समाज में अशान्ति और विग्रह फैलता है।

वर्तमान में काम-सेवन की तुलना पौरुष से की जाती है। ऐसा माना जाता है कि जो जितना कामुक है या काम-पुरुषार्थ करता है, वह उतना ही बलवान या बलशाली है, किन्तु यह एक अत्यन्त भ्रान्त धारणा है। अधिक काम-वासना कमजोरी की सूचक होती है। एक शोध से ज्ञात हुआ है कि शेर जैसा शक्तिशाली जानवर, वर्ष में एक बार ही सम्भोग करता है; अन्य पशु-पक्षी भी अपने निश्चित ऋतुकाल में ही काम-सेवन करते हैं, किन्तु मात्र मनुष्य के जीवन में भोग का कोई नियम या सीमा विवेक नहीं है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत को दूषित करने वाले पाँच अतिचार बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीता-गमनाऽनंगक्रीड़ा-कामतीव्राभिनिवेशाः।[233]

अर्थात् 1. परविवाहकरण, 2. परिगृहीता इत्वरिका गमन, 3. अपरिगृहीता इत्वरिका गमन, 4. अनंग क्रीड़ा, 5. कामतीव्राभिनिवेश – ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

जबकि रत्नकरण्ड श्रावकाचार में ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार – 1. अन्यविवाहाऽऽकरण, 2. अनंगक्रीड़ा, 3. विटत्व, 4. विपुलतृष, 5. इत्वरिकागमन – इन्हें बताया है –

अन्यविवाहाऽऽकरणाऽनंगक्रीड़ा-विटत्व-विपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चाऽस्मरस्य पंच व्यतिचाराः।।[234]

1. **परविवाहकरण या अन्यविवाहाऽऽकरण** – कन्यादान को विवाह कहते हैं। जिनका विवाह करना अपने गृहस्थ कर्तव्य में सम्मिलित नहीं है, उनका स्नेहवश विवाह करना, परविवाहकरण है अर्थात् अपनी या अपने आश्रित भाई आदि की सन्तान को छोड़ कर, अन्य लोगों की सन्तानों का विवाह, प्रमुख कर्ता-धर्ता बन कर पूर्ण सहयोग के साथ तन-मन-धन से करना या कराना, **परविवाहकरण या अन्यविवाहाऽऽकरण** (अन्य-विवाह-आकरण अर्थात् दूसरे का विवाह करने मे पूर्ण सहयोग देना) कहलाता है।

   अथवा दूसरे का विवाह करवाना, दिन-रात उसी चिन्ता में रहना, अपने परिवार के अलावा दुनिया भर के विवाह की सोचना, आदि क्रियाएँ, **परविवाहकरण** कहलाती हैं।

अथवा सातावेदनीयकर्म और चारित्रमोहनीयकर्म (माया, लोभ, रति, हास्य, वेद) के उदय से वधू के वरण करने को विवाह कहते हैं; दूसरे के विवाह को परविवाह कहते हैं; और पर के विवाह करने को **परविवाहकरण** कहते हैं।

पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार ने 'समीचीन धर्मशास्त्र' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'अन्यविवाह' में अन्य शब्द का अभिप्राय उन दूसरे लोगों से है, जो स्वाश्रित कुटुम्बीजन नहीं हैं और 'आकरण' शब्द का आशय सब ओर से विवाह-कार्य को सम्पन्न करना अर्थात् तन-मन-धन से पूरा सहयोग देना है। यहाँ अपने कुटुम्बी तथा आश्रितजनों का विवाह करना तथा दूसरे के विवाह मे मात्र सलाह-मशविरा अथवा सम्मति देना, इस व्रत के लिए दोषरूप अथवा बाधक नहीं हैं।

2. **अनंगक्रीड़ा** – काम-सेवन के निश्चित अंगों को छोड़ कर अन्य अंगों से काम-क्रीड़ा करना, **अनंगक्रीड़ा** कहलाती है।

   अथवा पुरुष का लिंग और स्त्री की योनि, कामसेवन के अंग हैं; उन अंगों को छोड़ कर अन्य अंगों से भोग-क्रिया करना, **अनंगक्रीड़ा** है। जैसे – हस्तमैथुन आदि। ऐसा करना अस्वाभाविक और सृष्टि-विरुद्ध होने से सर्वथा वर्ज्य है।

   अथवा विकृत और उच्छृंखल यौनाचार में रुचि रखना, अप्राकृतिक मैथुन करना, **अनंगक्रीड़ा** है।

3. **विटत्व** – कामुक एवं लम्पट व्यक्ति को विट कहते हैं अर्थात् विट पुरुषों के समान कुचेष्टा करते हुए भण्ड-वचन बोलना, विपरीत लिंग का रूप या स्वांग बना कर मन-वचन-काय से कुशील की प्रवृत्ति करना या दूसरों से कराना, **विटत्व** नामक अतिचार है। अथवा काम सम्बन्धी कुचेष्टाएँ करना, **विटत्व** है।

4. **कामतीव्राभिनिवेश या विपुलतृष** – काम-सेवन की अतितृष्णा, रतिक्रिया का अतिशय करके बढ़ रहा काम-विषयक परिणाम एवं तीव्र प्रवृत्ति करके सतत काम-वासना से पीड़ित रह कर विषय-सेवन में लगना, उसकी तीव्र लालसा रखना, रात-दिन उसी के बारे में सोचना, अन्य कार्यों का नहीं रुचना, **कामतीव्राभिनिवेश या विपुलतृष** नामक अतिचार है।

   यद्यपि ब्रह्मचर्याणुव्रती को स्व-स्त्री या स्व-पुरुष के साथ काम-सेवन का निषेध नहीं किया गया है, परन्तु उस व्रती को स्व-स्त्री या स्व-पुरुष के साथ काम-सेवन में भी अतिलम्पटता रखने का निषेध, इस अतिचार के माध्यम से किया गया है। इसी प्रकार दीक्षिता, अतिबाला या हरिणी आदि तिर्यंचनी एवं काष्ठ, चित्र आदि में प्रदर्शित स्त्रियों में मैथुन प्रवृत्ति का निषेध, इसी अतिचार के द्वारा किया जाता है क्योंकि इनमें प्रवृत्ति, काम की तीव्रता के बिना नहीं हो सकती। इसी प्रकार स्त्री पक्ष में भी उससे विपरीत पुरुष आदि के प्रति तीव्र कामसेवन के अभिनिवेश को समझना चाहिए।

5. **इत्वरिकागमन या परिगृहीता-अपरिगृहीता इत्वरिकागमन** – तत्त्वार्थसूत्र में इस अतिचार को दो भागों में विभाजित किया है। एक का नाम **परिगृहीता इत्वरिकागमन** है तो दूसरे का नाम **अपरिगृहीता इत्वरिकागमन** है।

   जिसका स्वभाव अन्य पुरुषों के पास आना-जाना है – ऐसी स्त्री इत्वरी कहलाती है। इत्वरी अर्थात् व्यभिचारिणी, कुलटा या अभिसारिका। यहाँ कुत्सित अर्थ में 'क' प्रत्यय जुड़ कर इत्वरिका शब्द बना है।

   पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री ने **परपुरुषगामिनी व्यभिचारिणी स्त्रियों** को इत्वरिका कहा है।[235]

   जिस इत्वरिका का कोई एक पुरुष स्वामी है, जो परिणीता है, किन्तु जो पुंश्चली है; वह **परिगृहीता इत्वरिका** कहलाती है तथा जिसका कोई पुरुष स्वामी नहीं है, जो विवाहित नहीं है, जो वेश्या या व्यभिचारिणी होने से दूसरे पुरुषों के पास आती-जाती है, वह **अपरिगृहीता इत्वरिका** कहलाती है। इन दोनों प्रकार की इत्वरिकाओं से सम्बन्ध रखना, उनके यहाँ जाना-आना, उसके जघन भाग, स्तन, मुख, उदर आदि का निरीक्षण करना, सराग हास्य आदिरूप सम्भाषण करना, हाथ-भ्रकुटी-आँख आदि के द्वारा संकेत करना, इत्यादि प्रकार से रागी होकर अनेक कुचेष्टाएँ करना, **इत्वरिकागमन या परिगृहीता-अपरिगृहीता इत्वरिकागमन** नामक अतिचार है।

   राजवार्तिक के अनुसार – ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त गान-नृत्यादि कला और चारित्रमोह के स्त्रीवेदकर्म के उदय से विशिष्ट अंगोपांग के लाभ से जो पर-पुरुषों का सेवन करती है, उनको अपने आधीन बनाती है, वह इत्वरिका कहलाती है।

हरिवंशपुराण में लिखा है कि स्वेच्छाचारिणी कुलटा स्त्रियों के पास जाना, **इत्वरिकागमन** कहलाता है।

निष्कर्ष

1. उक्त अतिचारों में वर्णित कार्यों को करने से राजभय, लोकापवाद, पापकर्मों का आगमन आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।
2. व्रत में विघ्न करने योग्य परिणाम ही उस चौथे व्रत के अतिचार हैं, किन्तु उस ब्रह्मचर्यव्रत का ही सर्वांग विघात करने वाले तो अतिचार नहीं हो सकते हैं।
3. व्रत के विशोधक परिणाम – स्त्री-राग-कथा-श्रवण-त्याग, नव बाड़ से ब्रह्मचर्य-व्रत-पालन आदि हैं, ब्रह्मचर्यव्रत के घातक अनाचाररूप परिणाम – पर-स्त्री-रमण, वेश्या-मैथुन आदि हैं, तथा ब्रह्मचर्यव्रत को मलिन करने वाले एकदेश घातक परिणाम – परविवाहकरण, विटत्व आदि हैं।
4. यह व्रत देवताओं के द्वारा भी पूज्य है। जो इस व्रत की रक्षा करना चाहता है, उसे अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय अन्य माता, बहिन, पुत्री, पुत्रवधु आदि के निकट तथा एकान्त स्थान में भी नहीं रहना चाहिए। इसी प्रकार स्त्रियों को भी अपने योग्य परिस्थितियों का पालन करना चाहिए।
5. अन्य स्त्रियों या पुरुषों के मुख-नेत्रादि में अपने नेत्रादि को जोड़ कर या गड़ा कर या स्थिर रख कर नहीं देखना चाहिए। इसी प्रकार अन्य स्त्री या पुरुष की तरफ विकारभाव से नहीं देखना चाहिए।
6. शीलवन्त पुरुषों और स्त्रियों के नेत्र तो अन्य स्त्री या पुरुष को देख कर तुरन्त ही स्वयं मुद्रित (बन्द) हो जाते हैं।
7. काम-वासना उत्पन्न करने वाले अश्लील साहित्य को नहीं पढ़ना चाहिए और तत्सम्बन्धी कथा, चर्चा, भाषण इत्यादि क्रिया-कलापों में भाग नहीं लेना चाहिए।
8. कामोत्तेजक वस्त्र आदि नहीं पहनना चाहिए और तदनुरूप शरीर को नहीं सजाना चाहिए। इसी प्रकार कामोत्तेजक पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए।
9. पूर्व काल में यदि भोग भोगे हैं तो उन भोगों का स्मरण नहीं करना चाहिए।
10. ब्रह्मचर्यव्रत की दृढ़ता के लिए हमें स्त्रियों की रागभरी कथाओं को सुनने का त्याग, स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने का त्याग, पूर्व में भोगे हुए भोगों के स्मरण का त्याग, उन्मादोत्पादक गरिष्ठ भोजन के सेवन का त्याग, अपने शरीर के संस्कार का त्याग भी अवश्य करना चाहिए।
11. वर्तमान में जो नाटक सिनेमा आदि में अतिशय आसक्ति देखी जाती है, वह कामविषयक तीव्र अभिलाषा का ही परिणाम है। इससे ब्रह्मचर्य को गहरा धक्का लग कर जनता के स्वास्थ्य और सौन्दर्य की गहरी हानि हो रही है और उत्तरोत्तर असदाचार की वृद्धि में सहायता मिलती है। ऐसे बहुत ही कम लोग हैं, जो शिक्षा की दृष्टि से सिनेमा देखने जाते हैं। अथवा सिनेमा भी ऐसे बहुत ही कम होती हैं, जो शिक्षा की दृष्टि से बनाई या दिखाई जाती हैं। अधिकतर सिनेमा बनाने का प्रयोजन चित्त को विचलित करना रहता है। इससे जनता अन्धी होकर उनके जाल में फँसती जाती है। इससे देश की जो हानि हो रही है, वह अवर्णनीय है। प्रत्येक सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि स्वयं को व अपने बच्चों को इस असत् प्रवृत्ति से रोके।
12. स्वस्त्री-भोगाभिलाष, इन्द्रिय-विकार, पुष्ट रस-सेवा, स्त्री के अंगोपांग का अवलोकन करना, स्त्री का अधिक सत्कार करना, स्त्री का सम्मान करना, पूर्वभोगानुस्मरण, आगामी भोगाभिलाष, इष्ट विषय-सेवन – ये अब्रह्म के दस प्रकार हैं।[236]
13. बहुत भोजन करना अथवा स्वादिष्ट आहार का ग्रहण, तैलादि से शरीर का संस्कार करना, सुगन्धित पुष्पमाला आदि पदार्थों का सेवन या उनसे शरीर का संस्कार, गीत-नृत्यादि देखना-सुनना, शय्या-क्रीड़ागृह या चित्रशाला आदि की खोज करना, कोमल शय्या व आसन आदि पर सोना/बैठना, कुशील व्यक्तियों की संगति करना, स्त्री का संसर्ग, कटाक्ष करती स्त्रियों के साथ खेलना, स्त्री में किसी प्रकार का संकल्प या विचार करना, स्त्री के अंगों को देखना, उन्हें देखने का संस्कार मन में रखना, आभूषण/अलंकार वस्त्रादि पहनना या उनसे शरीर का शृंगार करना, पूर्व में किये भोगों का स्मरण करना, आगामी भोगने की आकांक्षा करना, रूपादि इन्द्रिय-विषयों में प्रेम, इष्ट व पुष्ट रस का सेवन, अधिक धन का ग्रहण, राजा की सेवा, रात्रि में इधर उधर घूमना, शुक्राणुओं का क्षरण करना – ऐसे अनेक प्रकार से अब्रह्म या मैथुन का सेवन होता है, यह सब संसार के महादुःखों का स्थान है। जो महात्मा संयमी, इन्हें त्यागता है, वही दृढ़ ब्रह्मचर्य का धारी होता है।[237]

14. वेश्या व्यसन का त्यागी श्रावक, गीत-नृत्य-वाद्य में आसक्ति को, बिना प्रयोजन घूमने को, व्यभिचारी पुरुषों की संगति को और वेश्या के घर आने जाने आदि को सदा छोड़े।[238]
15. परस्त्री व्यसन का त्यागी श्रावक परस्त्री व्यसन के त्यागरूप व्रत की शुद्धि को करने की इच्छा से कन्या के लिए दूषण लगाने को और गान्धर्व विवाह आदि करने को छोड़े।[239]
16. धर्म के जानने वाले पुरुषों को भोगपत्नि का पूर्णरूप से त्याग कर देना चाहिए क्योंकि यद्यपि विवाहित होने के कारण वह ग्रहण करने योग्य है, तथापि धर्मपत्नि से वह सर्वथा भिन्न है, सब तरह के अधिकारों से रहित है, इसलिए उसका सेवन करने में दोष है।[240]
17. शील का रक्षण करने वाले पुरुष को जैसे स्त्री त्यागने योग्य है, वैसे ही शील का रक्षण करने वाली स्त्रियों को भी परपुरुष निन्दनीय अर्थात् त्याज्य है।[241]
18. जीवदया, इन्द्रियदमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप – ये सब शील के परिवार हैं।[242]
19. शुद्ध और बुद्ध अपने चित्स्वरूप ब्रह्म में परद्रव्यों का त्याग करने वाले व्यक्ति की अप्रतिहत परिणतिरूप जो चर्या होती है, उसी को ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह व्रत, समस्त व्रतों में सार्वभौम के समान है। जो पुरुष, इसका पालन करते हैं; वे ही पुरुष, सर्वोत्कृष्ट आनन्द मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं।[243]
20. इसलोक और परलोक में दुःखदायी जितने भी दोष हैं, वे सब मनुष्य की मैथुन संज्ञा में विद्यमान होते हैं।
21. काम से पीड़ित मनुष्य शोक करता है, विलाप करता है, परिताप करता है, विषाद करता है, रात दिन नहीं सोता, इष्ट स्त्री आदि का स्मरण करता रहता है और अन्यमनस्क होकर धर्म-कर्म सब भूल जाता है।
22. काम से पीड़ित मनुष्य का एक एक क्षण एक एक वर्ष की तरह बीतता है। उसके सब अंग वेदनाकारक होते हैं और वह उत्कण्ठित होता है, उसका मन उसी में लगा रहता है, खान-पान में भी मन नहीं लगता।
23. कामातुर मनुष्य अपनी हथेली पर गाल रख कर दीनमुख होकर बहुत सी व्यर्थ चिन्ताएँ किया करता है। शीतकाल में भी पसीने में भीग जाता है। बिना कारण ही उसके अंग काँपते हैं। वह अन्तरंग में काम की चिन्ता-चिता में जला करता है। जैसे, आग से तपा ताम्बे का द्रव पीकर मनुष्य अन्तरंग में जला करता है, वैसे ही वह इच्छित स्त्री के न मिलने पर अन्तरंग में जलती हुई अरतिरूप आग की ज्वाला मे जलता है।
24. कामोन्मत्त पुरुष, अपनी इच्छित स्त्री के न मिलने पर प्रायः पर्वत से गिर कर या समुद्र में डूब कर या वृक्ष की शाखा पर लटक कर अथवा आग में कूद कर मरने की चेष्टा करता है।
25. कामरूपी सर्प, मानसिक संकल्परूपी अण्डे से उत्पन्न होता है। उसकी राग-द्वेषरूपी दो जिह्वाएँ होती हैं, जो सदा जला करती हैं। विषयरूपी बिल में उसका निवास होता है। रति उसका मुख है। चिन्तारूप अतिरोष है। लज्जा उसकी काँचली है, उसे वह छोड़ देता है। मद उसकी दाढ़ है। अनेक प्रकार के दुःख उसका जहर है – ऐसे कामरूपी सर्प से डसा हुआ मनुष्य नाश को प्राप्त होता है।
26. सब सर्पों में प्रमुख आशीविष सर्प होता है, उसके द्वारा डसे मनुष्य के तो सात ही वेग होते हैं किन्तु कामरूपी सर्प के द्वारा डसे मनुष्य के दस वेग होते हैं। उन दस वेगों का क्रम इस प्रकार है –
    i. जिसको देखा या सुना, उसके बारे में सोचता है।
    ii. उसे देखने की इच्छा करता है।
    iii. दीर्घ निश्वास लेता है।
    iv. शरीर में ज्वर चढ़ जाता है।
    v. अंग जलने लगते हैं।
    vi. भोजन नहीं रुचता।
    vii. मूर्च्छित हो जाता है।
    viii. उन्मत्त हो जाता है।
    ix. अपने को भी नहीं जानता।
    x. मर जाता है।

    इस प्रकार कामान्ध पुरुष के संकल्पानुसार तीव्र या मन्द वेग होते हैं।
27. ज्येष्ठमास के शुक्लपक्ष में मध्याह्नकाल में आकाश के निर्मल रहते हुए सूर्य वैसा नहीं जलाता, जैसा कामी पुरुष को प्रज्वलित काम जलाता है।

28. सूर्य अग्नि तो केवल दिन में ही जलाती है किन्तु कामाग्नि रात-दिन जलाती है।
29. सूर्य के ताप से बचने का उपाय तो छाता, जल आदि हैं किन्तु कामाग्नि से बचने का कोई उपाय नहीं है।
30. सूर्य की गर्मी तो चर्म को ही जलाती है किन्तु कामाग्नि, शरीर और आत्मा, दोनों को जलाती है।
31. मैथुनसंज्ञा से मूढ़ हुआ मनुष्य, मातृवंश, पितृवंश, साथ में रहने वाले मित्रादि, धर्म और बन्धु-बान्धवों की भी परवाह न करके अकार्य करता है।
32. कामरूपी पिशाच के द्वारा पकड़ा गया मनुष्य, अपने हित-अहित को नहीं जानता क्योंकि वह भी पिशाच के द्वारा पकड़े गये मनुष्य की तरह अपने वश में नहीं रहता।
33. जैसे, नीच मनुष्य, किये गये उपकार को भुला देता है; वैसे ही कुलीन वंश का भी व्यक्ति उन्मत्त होकर पूर्व में लज्जावान् होते हुए भी निर्लज्ज हो जाता है।
34. जैसे, चोर जागते हुए व्यक्तियों पर रोष करता है; वैसे ही कामी पुरुष, संयमीजनों पर रोष करता है। कामी पुरुष, हितकारी बात कहने वाले को शत्रु के समान देखता है। वह धार्मिक भाव को छोड़ कर, आचार्य, उपाध्याय, साधु, आदि चतुर्विध संघ का विरोधी बन जाता है।
35. कामान्ध पुरुष, तीनों लोकों के सारभूत श्रुतज्ञान के लाभ अर्थात् स्वाध्याय के प्रति रुचि को छोड़ देता है। वह विषयान्ध होकर त्रिलोकपूजित अपने स्वरूप के माहात्म्य को भी भुला देता है।
36. इन्द्रिय-विषयरूपी माँस में आसक्त मनुष्य, तप, चारित्र और सम्यग्दर्शन को तिनके की तरह त्याग देता है। ठीक ही है – विषयरूपी माँस के लोभी के लिए कुछ भी अकार्य नहीं है, वह सब अनर्थों को कर सकता है।
37. विषयलोभी मनुष्य, कुलीन और बुद्धिमान होते हुए भी विषय-सेवन के लिए ज्ञान और कुल आदि से अत्यन्त-हीन पुरुषों की सेवा करने लगता है। वह अपना सम्मान खोकर कुलीन पुरुषों के द्वारा निन्दित उच्छिष्ट भोजन आदि नीचकर्म करता है। जैसे, पुराणों में वर्णित वारत्रक नामक कुलीन यति ने नर्तकी के लिए अत्यन्त निन्दित काम किया था।
38. कामी मनुष्य की वचन-कुशलता और समझदारी नष्ट हो जाती है। शास्त्र में प्रवीण अति तीक्ष्ण भी बुद्धि मन्द हो जाती है।
39. दुष्ट हथिनी में आसक्त जंगली हाथी की तरह मूढ़ कामी पुरुष, नेत्र वाला होकर भी अन्धा होता है। जैसे, गोरसन्दीप नामक कामपीड़ित मनुष्य, बारह वर्ष तक गणिका के साथ रह कर भी यह नहीं जान सका कि गणिका के पैर में अँगूठा नहीं है।
40. सुकुमार होने पर भी कामी पुरुष, सर्दी, गर्मी, प्यास, भूख, खोटी शय्या, खराब भोजन, मार्ग में चलने का श्रम आदि सहता है और भारी बोझा भी उठाता है। उच्च कुल में जन्मा हुआ भी वह विषयासक्त होकर गाता है, नाचता है, दौड़ता है, खेत जोतता है, अन्न बोता है, खेती काटता है, अनाज निकालता है, कपड़े सीता है, बुनता है – यह सब काम, इन्द्रिय-विषयों के वश होकर अपने और अपनी पत्नि के भरण-पोषण के लिए करता है।

इस प्रकार अनेक प्रकार से भगवती आराधना ग्रन्थ में सम्बोधन किया गया है।[244]

परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार

बाह्य पदार्थों को एकत्रित करने की भावना और उसमें आसक्ति ही परिग्रह है। अपनी आवश्यक्ता के अनुसार पदार्थ का संचय तथा उसमें अनासक्ति का भाव रखना, **परिग्रह-परिमाण-व्रत** कहलाता है। परिग्रह अर्थात् पदार्थों में आसक्ति, हिंसा है तथा पदार्थों के प्रति ममत्व या आसक्ति का त्याग, अहिंसा है। इस व्रत का दूसरा नाम 'इच्छा-परिमाण-व्रत' भी है।

परिग्रह दो प्रकार के होते हैं – एक, अन्तरंग परिग्रह और दूसरा, बहिरंग परिग्रह।

चेतना में उठने वाली विकार की सभी तरंगें, अन्तरंग परिग्रह हैं अर्थात् कामनाओं का ही दूसरा नाम अन्तरंग परिग्रह है। उसके चौदह भेद वर्णित हैं – 1. मिथ्यात्व, 2. क्रोध, 3. मान, 4. माया, 5. लोभ, 6. हास्य, 7. रति, 8. अरति, 9. शोक, 10. भय, 11. जुगुप्सा, 12. स्त्रीवेद, 13. पुरुषवेद, 14. नपुंसकवेद। ये आत्मा की सहज स्वाभाविक शान्ति में व्यवधान डालते हैं; अतः इन्हें हिंसा कहते हैं।

उस अन्तरंग परिग्रह में जो निमित्तभूत बाह्य पदार्थ हैं, उन्हें बहिरंग परिग्रह के नाम से जाना जाता है। बहिरंग परिग्रह में 1. खेत, 2. मकान, 3.सोना 4. चाँदी, 5. धन, 6. धान्य, 7. दासी, 8. दास, 9. कपड़े, 10. बर्तन अथवा 1. क्षेत्र, 2. वास्तु, 3. धन, 4. धान्य, 5. द्विपद, 6. चतुष्पद, 7. शयनासन, 8. वाहन, 9. वस्त्र, 10 बर्तन – इन दश पदार्थों का समावेश होता है।

इस प्रकार परिग्रह के कुल चौबीस भेद हो जाते हैं।

उक्त सभी बाह्य परिगहों में अपनी शक्ति, परिस्थिति और आवश्यक्ताओं के अनुसार सीमा बाँध कर उसके बाहर अनन्त पदार्थों का मन-वचन-काय से त्याग कर देना, **परिग्रह-परिमाण-व्रत** कहलाता है।

आवश्यकता को कम करते हुए जीवन भर के लिए धन धान्य आदि बाह्य परिग्रह का परिमाण कर लेना, **परिग्रहपरिमाणव्रत** है।

परिग्रह का परिमाण करना स्वयं अणुव्रत का सूचक है, अतः इस व्रत के नाम के साथ अणुव्रत शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है।

यद्यपि यह व्रत पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक को होता है और उसको अन्तरंग परिग्रहों में भी कथंचित् परिमाण हो जाता है क्योंकि उसके अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाता है; इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उसके मिथ्यात्व को छोड़ कर बाकी सभी परिग्रहों का परिमाण हो जाता है। मिथ्यात्व का तो चतुर्थ गुणस्थान में ही अभाव हो जाता है। नोकषायों में भी हम कह सकते हैं कि अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण के प्रभाव वाली हास्य आदि कषायों का अभाव होने से उनमें भी परिमाण हो जाता है। चूंकि व्यावहारिक दृष्टि से हमें बाह्य परिग्रह ही दृष्टिगोचर होता है; अतः व्यवहार में बाह्य परिग्रहों के परिमाण को आधार बना कर ही यह व्रत ग्रहण किया जाता है और उनके अतिक्रमण करने पर अतिचार की संज्ञा कही जाती है।

परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतिचार बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासी-दास-कुप्य-प्रमाणाऽतिक्रमाः।[245]

अर्थात् 1. क्षेत्र-वास्तु, 2. हिरण्य-सुवर्ण, 3. धन-धान्य, 4. दासी-दास, 5. कुप्य – इन परिग्रहों के गृहीत परिमाण का उल्लंघन करना, परिग्रह-परिमाण-व्रत के अतिचार हैं।

इन अतिचारों के माध्यम से यही कहा गया है कि जब हम परिग्रहपरिमाणव्रत अंगीकार करते हैं, तब हम उक्त दश प्रकार के परिग्रहों का परिमाण करते हैं; लेकिन बाद में उस गृहीत या स्वीकृत परिमाण को भूल कर या प्रमादवश उसका उल्लंघन करना, परिग्रह-परिमाण-व्रत का अतिचार है।

अतिचारों की पाँच संख्या को कायम रखने की दृष्टि से यहाँ उक्त दश परिग्रहों को दो दो के जोड़े बना कर उन्हें पाँच संख्या में व्यवस्थित किया है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित इन अतिचारों के नाम बन जाते हैं – 1. क्षेत्र-वास्तु-प्रमाणातिक्रम, 2. हिरण्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रम, 3. धन-धान्य-प्रमाणातिक्रम, 4. दासी-दास-प्रमाणातिक्रम, 5. कुप्य-भाण्ड-प्रमाणातिक्रम।

दश प्रकार के परिग्रहों का सामान्य वर्णन निम्न प्रकार है –।

- खेती-बाड़ी के काम आने वाली जमीन को **क्षेत्र** कहते हैं।
- घर मकान आदि को **वास्तु** कहते हैं।
- चाँदी के आभूषण आदि को **हिरण्य** कहते हैं।
- सोने के आभूषण आदि को **सुवर्ण** कहते हैं।
- गाय भैंस आदि पशुओं को **धन** कहते हैं।
- गेहूँ चाँवल आदि अन्न को **धान्य** कहते हैं।
- स्त्री रूप नौकर चाकर आदि को **दासी** कहते हैं।
- पुरुष रूप नौकर चाकर आदि को **दास** कहते हैं।
- सोने चाँदी के अलावा लोहे पीतल आदि के बर्तनों एवं वस्त्र आदि को **कुप्य** कहते हैं।

तीव्र लोभ के वशीभूत होकर उक्त परिग्रहों की मर्यादा का उल्लंघन करना, प्रमाणातिक्रम कहलाता है। 'मेरा इतना ही परिमाण है, अथवा मेरा इतना ही परिग्रह है, उसकी मर्यादा का उल्लंघन नहीं हुआ' – ऐसा कह कर विभिन्न परिग्रहों की मर्यादा बढ़ा लेना, प्रमाणातिक्रम है।

1. **क्षेत्र-वास्तु-प्रमाणातिक्रम** – जैसे, किसी ने एक खेत और एक मकान रखने का परिग्रह-परिमाण-व्रत लिया हो, किन्तु कालान्तर में उसे उसके खेत के पास दूसरा खेत या उसके मकान के पास दूसरा मकान मिल जाए तो वह दोनों खेतों की बीच की मेड़ को तोड़ कर या दोनों मकानों के बीच की दीवार को तोड़ कर एक लेवे तो और कहे कि मेरा तो एक ही खेत और एक ही मकान है तो यह उसका **क्षेत्र-वास्तु-प्रमाणातिक्रम** कहलाएगा।

2. **हिरण्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रम** – जैसे, किसी ने चाँदी के बीस गहने और सोने के दस गहने रखने का व्रत लिया हो, किन्तु कालान्तर में अतिरिक्त सोना या चाँदी उसे मिल जाए तो उसे उन्हीं गहनों में बढ़ाते जाना अथवा अतिरिक्त गहनों को धरोहर के रूप में इष्ट मित्रों के यहाँ रख देना, **हिरण्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रम** कहलाएगा।

3. **धन-धान्य-प्रमाणातिक्रम** – जैसे, किसी ने पाँच गाय रखने का नियम लिया और उसके पास पाँच गाय हैं भी, किन्तु उनके गर्भ रह जाने पर उसे गाय न मान कर बछड़ा आदि मान कर रखना। इसी प्रकार किसी के पास धान्य के प्रमाण से अधिक धान्य हो जाने पर उसे अन्य रिश्तेदारों के पास रख देना और अपने पास खतम हो जाने पर उनसे ले आना, **धन-धान्य-प्रमाणातिक्रम** कहलाएगा।

4. **दासीदासप्रमाणातिक्रम** – पूर्व काल में भारतवर्ष में भी दासी-दास की प्रथा प्रचलित थी और जो जितने अधिक दासी-दास रखता था, वह उतना ही बड़ा आदमी समझा जाता था। वह प्रथा बहुत कुछ अंश में बन्द होकर नौकर-चाकर रखने की पद्धति चालू हुई है। दासी-दास अपनी जायदाद समझे जाते थे, किन्तु नौकर चाकर जायदाद में परिगणित नहीं किये जाते, अतः वर्तमान काल के अनुसार जिसके यहाँ जितने नौकर चाकर हों, उनकी संख्या को बढ़ाने की भावना रखना और उनके साथ मानवोचित व्यवहार न कर उन्हें अपनी जायदाद समझना, **दासीदासप्रमाणातिक्रम** है।

5. **कुप्यप्रमाणातिक्रम** – वस्त्रों और बर्तनों आदि का प्रमाण निश्चित करके उन्हें प्राप्त करके, उसके प्रमाण का उल्लंघन करना, **कुप्यप्रमाणातिक्रम** है।

- रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इन अतिचारों को परिमित-परिग्रह-व्रत के विक्षेप कहते हुए बिलकुल अलग तरीके से प्रस्तुत किया है –

अतिवाहनाऽतिसंग्रह-, विस्मय-लोभाऽतिभारवहनानि।
परिमित-परिग्रहस्य, विक्षेपाः पंच लक्ष्यन्ते।।[246]

अर्थात् 1. अतिवाहन, 2. अतिसंग्रह, 3. अतिविस्मय, 4. अतिलोभ, 5. अतिभारवहन – ये पाँच अतिचार परिग्रह-परिमाण-व्रत या परिमित-परिग्रह-व्रत के हैं।

1. **अतिवाहन** – लोभ से, अधिक लाभ की इच्छा से वाहन को अधिक चलाना; बैल, घोड़ा आदि सुखपूर्वक जितना चल सकते हैं, उससे अधिक चलाना, अधिक काम लेना आदि **अतिवाहन** नामक अतिचार है।

   अथवा अधिक लाभ की आकांक्षा से शक्ति से ज्यादा दौड़ना-भागना, दिन-रात आकुल-व्याकुल रहना और अपने अधीनस्थों से नियमविरुद्ध अधिक काम करवाना, **अतिवाहन** कहलाता है।

   अथवा लोभ की तीव्रता को कम करने के लिए परिग्रह का परिमाण कर लेने पर भी कोई लोभ के आवेश में अधिक वाहन रखता है। बैल आदि पशु जितने मार्ग को सुख से पार कर सकते हैं, उससे अधिक मार्ग पर उन्हें चलाता है तो उसकी यह क्रिया अतिवाहन कहलाती है। जैसे – इस व्रत को धारण करने वाले किसी व्यक्ति ने बैल आदि की संख्या तो कम कर ली, परन्तु उनकी संख्या के अनुपात से खेती तथा मार्ग का यातायात कम नहीं किया; इसलिए उन कम किये हुए बैलों आदि को ही अधिक चला कर अपना काम पूरा करता है – ऐसी स्थिति में उसे **अतिवाहन** नामक अतिचार लगता है।

2. **अतिसंग्रह** – अधिक लाभ की भावना से वस्तुओं का अधिक समय तक और अधिक मात्रा में संग्रह करना, **अतिसंग्रह** नामक अतिचार कहलाता है।

3. **अतिविस्मय** – व्यापार आदि में स्वयं को अधिक लाभ होने पर अहंकार करना अथवा दूसरे को अधिक लाभ देख कर विषाद करना, मन ही मन ईर्ष्या करना, **अतिविस्मय** कहलाता है।

अथवा संगृहीत वस्तु को वर्तमान भाव से बेच देने पर किसी का मूल भी वसूल नहीं हुआ और दूसरे के द्वारा कुछ समय बाद बेचने पर उसे अधिक लाभ हुआ – ऐसी स्थिति में लोभ के आवेश में अतिखेद करना, अतिविस्मय कहलाता है। इसके अन्तर्गत अतिखेद के साथ अतिहर्ष को भी शामिल किया जा सकता है।

4. **अतिलोभ** – व्यापार आदि में स्वयं को विशिष्ट लाभ होने पर भी और अधिक लाभ की इच्छा करना, **अतिलोभ** नामक अतिचार कहलाता है।

5. **अतिभारवहन** – किसी व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर उससे अधिक ब्याज आदि वसूल करना, **अतिभारवहन** नामक अतिचार कहलाता है।

   अथवा अधिक कमाने की इच्छा से वाहन, पशुओं या नौकर आदि पर सामर्थ्य से अधिक भार लादना, काम का बोझा बढ़ाना, **अतिभारवहन** है।

   अतिवाहन और अतिभारवहन में यही अन्तर है कि अतिवाहन में वाहनों की संख्या अधिक बढ़ाना या उतने ही वाहनों को अधिक मार्ग तक चलाना आता है जबकि अतिभारवहन में उन वाहनों पर अधिक भार लादना आता है।

निष्कर्ष

1. इच्छाओं का संसार असीम है। यदि उसे सीमित न किया जाए तो मानव को दानव बनने में देर नहीं लगती। अत्यधिक परिग्रह का अर्थ होता है कि अन्याय करना। अन्याय और शोषण महाहिंसा है। जो शोषित होता है, वह भी हिंसक हो जाता है। ऐसी स्थिति में समाज और राष्ट्र की शान्ति भंग होने में देर नहीं लगती।
2. उक्त अतिचारों में वर्णित क्रियाओं से समाज में असन्तुलन की स्थिति बनती है। इनसे व्यक्तिगत अपराध तो होता ही है, बल्कि सामाजिक अपराधों में भी बढ़ोतरी होती है।
3. श्लोकवार्तिकालंकार में कहा है – क्षेत्र, वास्तु, आदि में स्वयं प्रतिज्ञापूर्वक किये गये व्रतों में अतिक्रमण, सन्तोष का एकदेश घात करने में कारण होते हैं; परन्तु जो सन्तोष का किंचित् भी घात नहीं करते – ऐसे दान, पूजन आदि अतिचार नहीं हैं, बल्कि वे सन्तोषवर्धक और परिमाणव्रत के पोषक गुण हैं।[247]
4. अपरिग्रहव्रत की दृढ़ता के लिए मनोज्ञ इन्द्रिय विषयों में राग एवं अमनोज्ञ इन्द्रिय विषयों में द्वेष नहीं करना चाहिए।

श्रावक के तीन गुणव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार

दिग्व्रत के अतिचार

जीवन भर के लिए अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार पूर्व आदि सभी दिशाओं की मर्यादा निश्चितं करके बाहर धर्मकार्य के सिवा अन्य निमित्त से जाने-आने आदिरूप किसी प्रकार का व्यापार नहीं करना, **दिग्विरतिव्रत** है।

इस व्रत में एक बार स्वीकृत दिशाओं की मर्यादा को कालान्तर में घटाया तो जा सकता है, परन्तु बढ़ाना किसी भी हालत में सम्भव नहीं है।

दिग्व्रत, यह तीन गुणव्रतों का एक भेद है। ये पंचाणुव्रतों को गुणाकाररूप से बढ़ाने वाले होने से गुणव्रत कहलाते हैं। अहिंसा धर्म की वृद्धि के लिए दश दिशाओं के समूह में किसी प्रसिद्ध समुद्र, नदी, पर्वत, वन, देश, आदि के माध्यम से परिमाण करके, परिमाण की हुई सीमा से बाहर मरणपर्यन्त स्वयं गमन नहीं करना, किसी को नहीं बुलाना, किसी को नहीं भेजना, वस्तु नहीं माँगना, आदि **दिग्व्रत** कहलाता है। ध्यान रहे कि दिग्व्रत की मर्यादा मात्र पाप कार्यों से निवृत्ति के लिए होती है, धर्मकार्य से निवृत्ति के लिए नहीं।

दिग्व्रत के पाँच अतिचार बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

ऊर्ध्वाऽधस्तिर्यग्व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तराऽऽधानानि।[248]

अर्थात् 1. ऊर्ध्व-व्यतिक्रम, 2. अधो-व्यतिक्रम, 3. तिर्यग्-व्यतिक्रम, 4. क्षेत्रवृद्धि, 5. स्मृत्यन्तराधान – ये दिग्विरति के पाँच अतिचार हैं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इन अतिचारों के नामों में व्यतिक्रम के स्थान पर व्यतिपात शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार इन अतिचारों के नाम निम्न प्रकार हैं – 1. ऊर्ध्व-व्यतिपात, 2. अधो-व्यतिपात, 3. तिर्यग्-व्यतिपात, 4. क्षेत्रवृद्धि और 5. विस्मरण।

''परिमाण की गई दिशा की अवधि का उल्लंघन कर देना, अतिक्रम या अतिपात कहलाता है। विशेषरूप से अतिक्रम या अतिपात कर देना, व्यतिक्रम या व्यतिपात कहलाता है। यह अतिक्रम या अतिपात ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्यग्दिशा के विषयों की भिन्नता के से तीन प्रकार का है। उक्त व्यतिक्रमों के होने में कारण प्रमाद, मोह एवं चित्त-व्यासंग होते हैं। प्रयोजन बिना या अज्ञान से इनका अतिक्रम या अतिपात किया जाएगा तब तो अतिचार है, अन्य प्रकार से बुद्धिपूर्वक अतिक्रम या अतिपात करने पर तो अनाचार ही है क्योंकि अज्ञानवश ये अतिक्रम हो जाएँ तो पुनः सम्भल कर व्रतों की रक्षा कर ली जाती है, बाद में अतिक्रान्त स्थल में जाने का सर्वथा त्याग कर दिया जाता है, अन्य को भी नहीं भेजा जाता है, यदि अतिक्रान्त स्थान से किसी वस्तु का लाभ किया जाए तो उसका त्याग कर दिया जाता है।

ऊर्ध्वातिक्रमणाद्याः स्युः, शीलस्याद्यस्य पंच ते।
तद्विरत्युपघातित्वात्तेषां तद्धि मलत्वतः।।

अर्थात् दिग्विरति शील के ऊर्ध्वदिशा अतिक्रमण आदि पाँच अतिचार हैं क्योंकि ये उस दिग्विरति व्रत का ईषद् घात करने वाले हैं; अतः वे उस व्रत के मल हैं। व्रत का समूल घात नहीं कर देने से और व्रत के पोषक भी नहीं होने से इन मलिनता के कारणों को व्रत का एकदेश भंग कर देने की अपेक्षा अतिचार कहा गया है।''[249]

1. **ऊर्ध्वातिक्रम या ऊर्ध्वाधिपात** – मर्यादित पर्वत, भूमि आदि से ऊपर चढ़ना, **ऊर्ध्वातिक्रम** कहलाता है।

   अथवा पर्वत, स्तूप, टीला आदि के ऊपर मर्यादा का अतिक्रम करते हुए चढ़ने पर **ऊर्ध्वातिक्रम** होता है। जैसे, पर्वत तक की ऊँचाई की मर्यादा को लोभवश विमान आदि की सवारी करके भंग कर देना, **ऊर्ध्वातिपात** अतिचार है।

2. **अधोतिक्रम या अधस्तात्-व्यतिपात** – मर्यादित अधोभाग से नीचे कूपादि में उतरना, **अधोतिक्रम** है।

   अथवा कुआँ दर्रा आदि में लोभवश मर्यादा के नीचे उतर जाना, आदि क्रियाओं से **अधोतिक्रम** होता है। जैसे, कुआ, बावड़ी, तालाब आदि में नीचे उतरने की गृहीत मर्यादा का भंग कर देना, **अधस्तात्-व्यतिपात** है।

3. **तिर्यक्-व्यतिक्रम या तिर्यक्-व्यतिपात** – भूमि के बिल, गुफा आदि में प्रवेश करके मर्यादा का उल्लंघन करना, **तिर्यक्-व्यतिक्रम** कहलाता है।

   अथवा बिल में घुस जाना, सुरंग में प्रवेश कर जाना आदि से **तिर्यगतिक्रम** हो जाता है। जैसे, देशों, गुफाओं आदि में प्रवेश कर गृहीत मर्यादा को भंग कर देना, **तिर्यक्व्यतिपात** है।

4. **क्षेत्रवृद्धि** – लोभ कषाय के वशीभूत होकर स्वीकृत मर्यादा का परिमाण बढ़ा लेना, **क्षेत्रवृद्धि** कहलाता है। अथवा पूर्व दिशा की मर्यादा को घटा कर, उसे पश्चिम देश की मर्यादा में जोड़ लेना, यह क्षेत्रवृद्धि है।

   अथवा चारों ओर ग्रहण कर ली गई दिशा का लोभ के आवेश से अधिकपने का अभिप्राय रखना, **क्षेत्रवृद्धि** है। जैसे, मर्यादा का क्षेत्र किसी विशेष प्रयोजन हेतु बढ़ा लेना, **क्षेत्रवृद्धि** है।

5. **स्मृत्यन्तराधान या विस्मरण** – निश्चित की गई मर्यादा को भूल जाना अर्थात् 'इतने योजनादि से आगे नहीं जाऊँगा' – ऐसी जो प्रतिज्ञा की थी, उसे भूल जाना, **स्मृत्यन्तराधान या विस्मरण** कहलाता है।

   अथवा नियत सीमा को भूल कर, अन्य न्यूनाधिक स्मृतियों का अभिप्राय रखना, स्मृत्यन्तराधान है। अज्ञान, अचातुर्य, सन्देह, अतिव्याकुलता, अन्यमनस्कता, अतिलोभ आदि के कारण स्मृति का भ्रंश हो जाता है। जैसे, किसी ने पूर्व दिशा में सौ योजन का परिमाण किया था या पचास योजन का किया था, उसे गमन करते समय स्पष्टरूप से स्मरण नहीं रहा कि मैंने सौ योजन का परिमाण किया था या पचास योजन का नियम किया था, उस व्रती का पचास योजन से आगे जाने पर तो अतिचार है और सौ योजन का अतिक्रम करने पर अनाचार हो जाएगा।

परिग्रहपरिमाणव्रत और दिग्व्रत एवं उनके अतिचारों में अन्तर

1. दोनों के अधिकरण या विषय भिन्न-भिन्न हैं।
2. परिग्रहपरिमाणव्रत में क्षेत्र, वास्तु आदि दस प्रकार के बाह्य परिग्रहों का परिमाण किया जाता है; परन्तु दिग्व्रत में दिशाओं में जाने की मर्यादा की जाती है।
3. दिशाओं में क्षेत्र, वास्तु आदि के समान परिग्रहबुद्धि को आत्मसात् करके परिमाण नहीं किया जाता।

निष्कर्ष

जो अणुव्रती गृहस्थ, दश दिशाओं की मर्यादा लेकर रहते हैं, उनके मर्यादा के भीतर तो अणुव्रत ही रहते हैं, किन्तु मर्यादा के बाहर समस्त त्रस-स्थावर जीवों की अणु मात्र भी हिंसा आदि पाँचों पापों का पूर्ण त्याग होने से अणुव्रत भी महाव्रतपने की परिणति को प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि निश्चय से उनके साक्षात् महाव्रत नहीं होते क्योंकि अणुव्रती के प्रत्याख्यानावरण कषाय का मन्द उदय विद्यमान होता है। फिर भी उत्साह बढ़ाने के हेतु से उन्हें उपचार से महाव्रती भी कहा जाता है। वास्तविक महाव्रत में तो नग्न दिगम्बर अवस्था में हिंसादि पाँचों पापों का मन-वचन-कायपूर्वक कृत-कारित-अनुमोदना से सहज पूर्ण त्याग होता है।

देशव्रत के अतिचार

दिग्व्रत में गृहीत मर्यादा के अन्तर्गत प्रयोजन के अनुसार घड़ी घण्टा दिन पक्ष आदि के हिसाब से क्षेत्र का परिमाण निश्चित करके उसके बाहर धर्मकार्य के सिवा अन्य निमित्त से जाने आने आदिरूप किसी भी प्रकार का व्यापार नहीं करना, **देशविरतिव्रत** है।

यद्यपि यह व्रत नियत समय के लिए लिया जाता है, तथापि एक बार स्वीकृत व्रत की कालमर्यादा पूरी होने के साथ ही पुनः नवीन हीनाधिक देशमर्यादा ले ली जाती है।

देशव्रत के पाँच अतिचार बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः।[250]

अर्थात् 1. आनयन, 2. प्रेष्यप्रयोग, 3. शब्दानुपात, 4. रूपानुपात, 5. पुद्गलक्षेप – ये देशव्रत के पाँच अतिचार हैं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार आदि में इन अतिचारों के क्रम एवं नामों में किंचित् अन्तर प्रतीत भी प्रतीत होता है। जैसे, प्रेष्यप्रयोग को प्रेषण या योज्ययोजन, शब्दानुपात को शब्दाभिव्यक्ति या जल्पन, रूपानुपात को रूपाभिव्यक्ति या शरीरसंज्ञा भी कहा गया है।

1. **आनयन** – अपने द्वारा संकल्पित देश में ठहरे हुए पुरुष को प्रयोजनवश मर्यादा से बाहर के क्षेत्र से पदार्थों को लाने की आज्ञा करना और उसे मँगा कर क्रय-विक्रय आदि करना, **आनयन** है।

   अथवा मर्यादा से बाह्य क्षेत्र में रहने वाले लोगों को प्रयोजनवश यह आज्ञा देना कि 'तुम अमुक वस्तु को लाओ' – यह **आनयन** नाम का अतिचार है।

2. **प्रेष्य-प्रयोग** – परिमित देश के बाहर स्वयं नहीं जाकर, दूसरे को वहाँ से भी नहीं बुला कर, लेकिन नौकर आदि प्रेष्य को 'तुम यह काम करो' – इस प्रकार कह कर उसे आज्ञा देकर मर्यादा के बाहर भेजना, उसके द्वारा इष्ट-व्यापार सिद्ध करना, इच्छित पदार्थ को मँगाना, **प्रेष्यप्रयोग** नाम का अतिचार है।

   श्लोकवार्तिकालंकार में इस सम्बन्ध में बहुत अच्छा स्पष्टीकरण प्राप्त होता है। वहाँ पण्डित माणिकचन्द्र न्यायाचार्य लिखते हैं – देशावकाशिक व्रत जब हिंसा से बचने के लिए लिया गया है तो स्वयं करना और दूसरे से कराना, इन दोनों में एक ही बात सिद्ध होती है, प्रत्युत स्वयं गमन करने में कुछ विवेकपूर्वक ईर्यापथशुद्धि भी हो सकती थी, किन्तु दूसरे नौकर-चाकरों से ईर्यासमिति नहीं पल सकेगी; अतः यह **प्रेष्यप्रयोग** अतिचार हो जाता है।

3. **शब्दानुपात** – मर्यादा के बाहर कार्य करने वाले लोगों को लक्ष्य करके खाँसना या अन्य प्रकार से शब्द करके उनसे कार्य कराना, **शब्दानुपात** है।

   अथवा निषिद्ध देश में बैठे हुए कर्मचारी पुरुषों को उद्देश्य करके खाँसना, मठारना, ताली सीटी या चुटकी बजाना, हस्त-संकेत आदि करना, टेलीफोन करना, **शब्दानुपात** कहलाता है।

4. **रूपानुपात** – स्वयं मर्यादित क्षेत्र के भीतर स्थित रह कर बाह्य क्षेत्र में काम करने वाले लोगों को अपना शरीर दिखलाना, जिससे मेरे रूप को देख कर ये 'शीघ्र ही कार्य करेंगे' – इस अभिप्राय से अपने शरीर को दिखाना या झण्डी, ध्वजा आदि दिखलाना, **रूपानुपात** या **रूपाभिव्यक्ति** नाम का अतिचार कहलाता है। इसमें कपट का भी अभिप्राय गर्भित है – ऐसा श्लोकवार्तिकालंकार ने अपना मत प्रगट किया है।
5. मर्यादित देश के बाहर कार्य करने वाले नौकर-चाकरों को लक्ष्य करके उन्हें प्रेरित करने के उद्देश्य से संकेत करने के लिए कंकर, पत्थर, ढ़ेला आदि फेंकना, **पुद्गलक्षेप** कहलाता है।

आनयन आदि को अतिचार मानने का कारण

राजवार्तिक में लिखा है कि स्वयं उल्लंघन न करके, दूसरों से करवाता है; इसलिए ये अतिचार हैं। यदि स्वयं उल्लंघन करता है तो व्रत का ही लोप हो जाता है। इसी प्रकार श्लोकवार्तिक में लिखा है कि इन क्रियाओं के माध्यम से संक्लेश उत्पन्न होता है, जो व्रतधारी की विशुद्धि को खण्डित करता है। व्रतों से शुद्ध हो रही आत्मा में स्वल्प संक्लेश करने वाले परिणाम उस व्रत के अतिचार समझे जाते हैं। यहाँ भी पूर्ववत् व्रतशोधक और व्रतसंघातक परिणामों से भिन्न थोड़ी मलिनता के कारण हो रहे दोष, अतिचार समझे जाते हैं।

दिग्व्रत और देशव्रत के अतिचारों में अन्तर

शंका – जो दिग्व्रत के अतिचार हैं, वे देशव्रत में भी सम्भव हैं तथा जो देशव्रत के अतिचार हैं, वे दिग्व्रत में भी सम्भव हैं तो फिर इन दोनों व्रतों के अतिचारों में मूलभूत अन्तर क्या है ?

समाधान – दिग्व्रत सार्वकालिक होता है और देशव्रत सार्वकालिक होकर भी समय समय पर बदलता रहता है। इसलिए दिग्व्रत में क्षेत्र की मर्यादा का उल्लंघन प्रायः अज्ञानवश याा विस्मृतिवश हो जाता है, किन्तु देशव्रत में ऐसे अज्ञान या विस्मृति बहुत ही कम सम्भव है। यहाँ व्रती श्रावक अधिकतर लोभ या स्नेहवश क्षेत्र की मर्यादा में रह कर गमनागमन करके स्वयं उल्लंघन न करके मर्यादा के बाहर से काम निकालना चाहता है। यही कारण है कि इन दोनों के अतिचार भिन्न भिन्न प्रकार से बतलाये गये हैं।

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

प्रयोजन के बिना होने वाला निरर्थक व्यापार अनर्थदण्ड कहलाता है और उसका त्याग कर देना, **अनर्थदण्डविरतिव्रत** है।

व्रती को दिग्व्रत के द्वारा गृहीत मर्यादा के भीतर भी ऐसे ही कार्य करना चाहिए, जिनसे व्यर्थ ही पाप का संचय नहीं हो; जिनसे कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है – ऐसे कार्यों से भी विरक्त होना, **अनर्थदण्डव्रत** कहलाता है।

अनर्थदण्डव्रत के **पाँच भेद** कहे गये हैं –

1. **पापोपदेश** – तिर्यंचों को क्लेश पहुँचाने, उनका वध करने, हिंसोत्पादक खोटे व्यवसाय करने, आरम्भकार्य करने, छलकपट करने आदि पाप का उपदेश देना।
2. **हिंसादान** – हिंसा के उपकरणों को उधार देना, बेचना आदि।
3. **अपध्यान** – गलत कार्यों का विचार करना।
4. **दुःश्रुति** – गलत कार्यों का उपदेश सुनना।
5. **प्रमादचर्या** – हिंसोत्पादक प्रमादरूप आचरण करना।

अन्य भी इसी प्रकार के स्वयं के लिए निरर्थक कार्यों को भी अनर्थदण्ड के रूप में जानना चाहिए तथा उनका त्याग भी अवश्य करना चाहिए।

अनर्थदण्डव्रत के पाँच अतिचार बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्याऽसमीक्ष्याऽधिकरणोपभोगपरिभोगाऽनर्थक्यानि।[251]

अर्थात् 1. कन्दर्प, 2. कौत्कुच्य, 3. मौखर्य, 4. असमीक्ष्याधिकरण, 5. उपभोग-परिभोगाऽनर्थक्य – ये अनर्थदण्डव्रत के पाँच अतिचार हैं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में उपभोगपरिभोगानर्थक्य को अतिप्रसाधन के नाम से उल्लिखित किया गया है। अतिप्रसाधन से तात्पर्य भोगोपभोग की सामग्री का अधिक संग्रह करना है।

यशस्तिलकचम्पू में सोमदेव सूरि ने लिखा है कि खोटे उपदेश से ठगी, आरम्भ और हिंसा का प्रवर्तन करना, शक्ति से अधिक बोझ लादना और दूसरों को अधिक कष्ट देना आदि कर्म अनर्थदण्डव्रत को हानि पहुँचाते हैं; अतः इस प्रकार के कार्यों से अनर्थदण्डव्रत में दोष या अतिचार लगते हैं।

1. **कन्दर्प** – राग की तीव्रता से अर्थात् चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में राग के उद्रेक से हँसी-दिल्लगी से युक्त अशिष्ट भण्ड वचन का प्रयोग करना, **कन्दर्प** है।

   अथवा हास-परिहास से मिश्रित असभ्य भाषण बोलना, **कन्दर्प** है।

   अथवा काम को उत्तेजित करने वाले भद्दे वचन बोलना, **कन्दर्प** है।

2. **कौत्कुच्य** – तीव्रराग के उदय में हास्य एवं असभ्य वचनों के साथ काय की दुष्ट एवं निन्द्य चेष्टाओं को करना, **कौत्कुच्य** है।

   अथवा हास्य वचन और अशिष्ट वचन – इन दोनों के साथ दूसरें को लक्ष्य करके शरीरिक कुचेष्टाएँ करना; जैसे, भौं मटकाना, कमर हिलाना, ओंठ नचाना, हाथ-पाँव फड़काना, गले लगना आदि निन्द्य कायक्रियाओं को करना, **कौत्कुच्य** कहलाता है।

   अथवा हास-परिहास मिश्रित अशिष्ट वचन बोलते हुए हाथ आदि अंगों से दूसरों के साथ शरीर की कुचेष्टा करना, **कौत्कुच्य** कहलाता है। जैसे कि भाण्ड, विदूषक आदि किया करते हैं।

3. **मौखर्य** – ढ़ीठता को लिये हुए निःसार कुछ भी अण्ट-शण्ट, यद्वा-तद्वा व्यर्थ की पूर्वापर-सम्बन्धरहित बहुत बकवाद करना, **मौखर्य** है।

   अथवा बिना प्रयोजन धृष्टता से बहुत प्रलाप करना, **मौखर्य** है।

   अथवा शालीनता त्याग करके निर्लज्जतापूर्वक बकवास करना, **मौखर्य** है।

   अथवा आवश्यक्ता से अधिक निष्प्रयोजन बहुत बोलना, **मौखर्य** है।

4. **असमीक्ष्याधिकरण** – बिना विचारे निष्प्रयोजन कार्य करना, **असमीक्ष्याधिकरण** कहलाता है।

   अथवा अपनी आवश्यकता का विचार किये बिना अधिक कार्य करना, **असमीक्ष्याधिकरण** है।

   अथवा जिनको सुनते हुए दूसरे मनुष्य उकता जावें – ऐसे निष्प्रयोजनीय मन-वचन-कायगत विषयों की अधिकता करना, **असमीक्ष्याधिकरण** है।

   असमीक्ष्याधिकरण के तीन प्रकार हैं – 1. मनोगोचर असमीक्ष्याधिकरण, 2. वचनगोचर असमीक्ष्याधिकरण, और 3. कायगोचर असमीक्ष्याधिकरण।

   - **मनोविषयक असमीक्ष्याधिकरण** – मिथ्यादृष्टियों के द्वारा रचित राग-द्वेषवर्धक काव्य, छन्द, गीत, आदि का निरर्थक चिन्तन करना, स्मरण करना।
   - **वचनविषयक असमीक्ष्याधिकरण** – निष्प्रयोजन परपीड़ादायक कुछ भी बकवास करना, अनर्गल प्रलाप करना।

     अथवा पाप कथा द्वारा दूसरे के मन-वचन-काय को बिगाड़ने वाली खोटी कथा कहना।
   - **कायविषयक असमीक्ष्याधिकरण** – बिना प्रयोजन गमन करना, उठना, बैठना, दौड़ना आदि कार्य करना तथा चलते हुए, टहलते हुए, बैठे हुए सचित्त एवं अचित्त पत्र, पुष्प, फलों का छेदन-भेदन, कुट्टन, क्षेपण, अग्नि जलाना, विष देना, क्षार देना आदि निरर्थक कार्य करना।

5. **भोगोपभोग अनर्थक्य या अतिप्रसाधन** – जितने पदार्थों से अपने भोग-उपभोग का कार्य सब सध सकते हैं, उनसे अधिक अनर्थक वस्त्र आभूषण आदि पदार्थों को अधिक मूल्य देकर भी ग्रहण कर लेने की टेव के साथ संग्रह कर लेना, **उपभोग-परिभोग अनर्थक्य** नामक अतिचार है।

कन्दर्प और कौतकुच्य में अन्तर

कन्दर्प में तो तीव्र राग से युक्त हास्य वचन और शिष्ट जनों के अयोग्य अशिष्ट वचन – ये दोनों होते हैं; परन्तु **कौत्कुच्य** में हास्य वचन, अशिष्ट वचन और दूषित कायचेष्टाएँ – इन तीनों से मिश्रित परिणाम होता है।

अनर्थदण्डव्रत से प्राप्त निष्कर्ष[252]

1. यद्यपि गृहस्थ श्रावक घर में रह कर समस्त पापों का त्याग नहीं कर पाता है तो भी उसे जिनसे अपना धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि कुछ भी प्रयोजन नहीं है – ऐसे केवल पाप-बन्ध के कारण निन्द्य-कर्मों को अवश्य छोड़ देना चाहिए।
2. यहाँ उत्तम कुल में जिनेन्द्र का उपदेश, अतिदुर्लभ उत्तम जिनधर्म प्राप्त हो गया है तो अब बिना प्रयोजन के पाप-बन्ध से भयभीत होकर दूर रहना ही उचित है।
3. यदि आप स्वयं पाप से नहीं छूट पा रहे हो तो कम से कम दूसरे को तो ऐसे आरम्भ-कार्य-सम्बन्धी पाप का उपदेश नहीं देना चाहिए।
4. तिर्यंचों को दुःख देने, मारने, बाँधने आदि का उपदेश नहीं देना चाहिए।
5. खोटे, पापरूप, शृंगार-पोषक, हिंसा-प्रधान, मिथ्या श्रद्धान कराने वाले, मारण-उच्चाटन-वशीकरण-मन्त्र-तन्त्र आदि क्रियाओं के पोषक पुस्तकें या शास्त्र न पढ़ना चाहिए और न पढ़ाना चाहिए।
6. अभक्ष्य-भक्षण, रात्रि-भोजन, झूठ, चुगली, चोरी, खोटी गवाही, व्यभिचार, बड़े-बड़े आरम्भ, फटाके फोड़ना, बाग-बगीचा लगाना, दासी-दास बेचने, पशुओं को बेचने, शिकार करने, खेती करने आदि पाप-पोषक क्रियाओं को न करना चाहिए और न कराना चाहिए।
7. दुर्ध्यान को बढ़ाने वाले मेला-प्रदर्शनी, नृत्य, सिनेमा, टी.वी., आदि देखने का उपदेश नहीं देना चाहिए।
8. युद्ध आदि करने, गाली देने, दूसरे की आजीविका बिगाड़ने, बीड़ी-सिगरेट-तम्बाखू आदि नशाकारक वस्तुओं को सेवन करने, चूना-ईंट आदि पकवाने आदि का उपदेश नहीं देना चाहिए।
9. राग-पोषक फिल्मी गीत गाने, कलह, विसंवाद आदि सुनने का उपदेश नहीं देना चाहिए।
10. कोई दातार मनुष्य-तिर्यंचों को भोजन-वस्त्र-धन आदि देता हो तो उसे अन्तराय मत करो तथा कुपात्र-दान, व्रत-भंग आदि करने का उपदेश मत दो।
11. जिनसे बहुत हिंसा होती है – ऐसे तलवार, भाला, बन्दूक, गन, तमंचा आदि उपकरण किसी को नहीं देना चाहिए क्योंकि ये उपकरण महापाप के कारण हैं, इन्हें हाथ में लेते ही परिणाम दुष्ट हो जाते हैं, किसी का भी घात करने में समर्थ हैं। वास्तव में तो हिंसक उपकरणों को तो घर में ही नहीं रखना चाहिए।
12. खुरपा, कुल्हाड़ी, कुदाल, फावड़ा आदि भूमि खोदने के उपकरण; पिंजरा, बेड़ी, सांकल आदि जीवों को पकड़ने के उपकरण तथा लाठी, चाबुक आदि मनुष्य-तिर्यंचों को मारने के उपकरण इत्यादि किसी को नहीं देने चाहिए क्योंकि इनसे अनेक जीवों का घात होता है, हो सकता है।
13. बिल्ली, कुत्ता आदि हिंसक प्राणियों को पालतू बना कर पालना नहीं चाहिए। इसी प्रकार मुर्गा, कबूतर, बाज आदि पक्षियों को पिंजरे में रखना या पालना नहीं चाहिए।
14. लोहा, नील, नमक, लकड़ी, साबुन, लाख, चमड़ा, ऊन, केश, गुड़, खांड, अन्न, शस्त्र, शराब, बारूद, लहसुन, जमीकन्द, भांग, तमाखू, गांजा, ईंट-भट्टा दासी-दास, पशु, आदि निन्द्य व्यापार भी महापाप के कारण हैं; उनमें कितना ही लाभ होता हो तो भी पाप से डर कर उनका त्याग कर देना चाहिए। यदि इन सबका व्यापार-त्याग करना सम्भव न हो तो जिसमें कम से कम हिंसा, आरम्भ आदि हो तो उसे थोड़ी मात्रा में करके अन्य व्यापार का त्याग कर देना चाहिए।
15. अन्य नौकरी सम्बन्धी आजीविकाओं में भी विवेक रख कर आजीविका ग्रहण करना चाहिए। जैसे, पुलिस-विभाग, वन-विभाग, वाहन चलाना, दलाली करना आदि की आजीविका करना भी योग्य नहीं है।
16. लोभ के वशीभूत होकर वृद्ध पुरुष की शादी-सगाई आदि नहीं कराना चाहिए।
17. सरकारी टैक्स की चोरी नहीं करना चाहिए।
18. माँसभक्षियों, वेश्याओं आदि निन्द्य कर्म करने वालों को ब्याज पर भी रुपया नहीं देना चाहिए तथा उन्हें मकान आदि भी किराये पर नहीं देना चाहिए।
19. पापी, कुमार्गी, माँसभक्षी, मद्यपायी, वेश्या में आसक्त, परस्त्री-लम्पट, अधर्मी जीवों से मित्रता या प्रीति करने का भी त्याग करना चाहिए।

20. दूसरे की धन-लक्ष्मी में वांछा, अन्य की लक्ष्मी को देख कर आश्चर्य तथा अपनी दीनता का चिन्तवन, नहीं करना चाहिए। अन्य की स्त्री को देखने और उससे वार्तालाप आदि करने का अभिलाषी नहीं होना चाहिए। वेश्या आदि के हाव-भाव, नृत्य आदि देखने की अभिलाषा नहीं करना चाहिए।
21. अन्य मनुष्य-तिर्यंचों की कलह नहीं देखना चाहिए। अन्य के पुत्र-स्त्री के वियोग की भावना नहीं करना चाहिए। अन्य का अपमान, अपयश, अपवाद आदि सुन कर हर्षित नहीं होना चाहिए। अन्य का लाभ, रससहित भोजन, आभरण आदि तथा अपना दारिद्र, वियोग, रोग आदि देख कर विषाद नहीं करना चाहिए। धनवानों से ईर्ष्या नहीं करना चाहिए।
22. किसी सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि के शिकार के सम्बन्ध में चिन्तवन, संग्राम में किसी की हार-जीत, जय-पराजय आदि की चाह नहीं करना चाहिए।
23. गालीयुक्त अश्लील वचन वाले गीत नहीं सुनना चाहिए क्योंकि इनसे परिणामों में मलिनता आ सकती है।
24. दरिद्रता आ जाने पर भी नीची प्रवृत्ति द्वारा आजीविका नहीं करना चाहिए। किसी से याचना या दीनता के वचन नहीं कहना चाहिए। निर्धनता होने पर भी प्रवृत्ति को विकाररूप नहीं करना चाहिए।
25. जिनालय आदि धर्म के स्थानों में स्त्रियों की कथा, राजकथा, चोरकथा, देशकथा, भोजनकथा आदि महापाप का उपार्जन करने वाली कथाएँ कभी नहीं करना चाहिए। लेन-देन और ब्याह-सगाई का झगड़ा, पंचायत, जाति-कुल का विवाद आदि लौकिक कार्य मन्दिर में बैठ कर कभी नहीं करना चाहिए। यदि हम मन्दिर में बैठ कर विकथाएँ करेंगे तो धर्म स्थान की मर्यादा तोड़ने के कारण नरक-निगोद का पात्र होना पड़ता है। इसी प्रकार जिनमन्दिर में बैठ कर भोजन, पानी, तम्बाखू, गन्ध, पुष्प, विषय-कषाय आदि का सेवन नहीं करना चाहिए तथा मन्दिर में शयन करना, उच्च आसन पर बैठना, व्यापार, सगाई-ब्याह, झगड़ा, गाली आदि के वचन, अविनय, आरम्भ आदि के वचनों में कभी प्रवर्तन नहीं करना चाहिए।
26. जिनके सुनने से विषयों में राग बढ़े, हास्य-कौतुक उत्पन्न हो, काम जाग्रत हो, भोजन के अनेक स्वादों में चित्त चला जाए – ऐसी कथनी श्रवण नहीं करना चाहिए। जैसे, स्त्री-पुरुषों के पापरूप चरित्र की कथा, भूत-प्रेतों की असत्य कथा, हिंसा की प्रधानता वाली कथाएँ, कपोल-कल्पित अनेक कहानियाँ, आदि।
27. कषायों को उत्पन्न करने वाले क्रोधियों के कटु वचन, अभिमानियों के मदभरे वचन, मायाचारियों के कुटिल वचन, लोभियों के लालसा उत्पन्न करने वाले वचन, मद्य-माँस अभक्ष्य के स्वाद की प्रशंसा करने वाले वचन, भाँग-तमाखू-हुक्का की प्रशंसा करने वाले के वचन, धर्म का अभाव करने वाले एवं परलोक आदि का अभाव कहने वाले नास्तिकों के वचन, पापबन्ध के कारण होने से कभी नहीं सुनने चाहिए।
28. व्यर्थ का आरम्भ छोड़ देना चाहिए। जैसे, माटी, कचरा, कीचड़, मल, मूत्र, उच्छिष्ट आदि भूमि को देखे बिना नहीं फेंकना चाहिए। धातु के बर्तन, पलंग, चौकी, वस्त्र आदि जमीन पर घिस कर या रगड़ कर प्रमाद से नहीं सरकाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने में यत्नाचार का नहीं होता है, बहुत जीवों की हिंसा होती है। इसी प्रकार भूमि को कुचरना, वृक्ष की डालियाँ-पत्ते-फूल आदि को तोड़ना मोड़ना आदि, व्यर्थ पानी को फेंकना आदि कार्य पाप से डर कर नहीं करने चाहिए।
29. गृह-सम्बन्धी कार्यों को निष्प्रमाद होकर करना चाहिए। जिस प्रकार धर्म न बिगड़े, दया पले, अपने शरीर को बाधा नहीं हो और अन्य किसी का अनादर या उजाड़-बिगाड़ न हो, उस प्रकार कार्य करना चाहिए।
30. हित-अहित का विचार किये बिना, सुपात्र-कुपात्र का विचार किये बिना किसी से कुछ नहीं कहना चाहिए, कहने में गुण-दोष का विचार करके ही कहना चाहिए। यदि कोई आपसे पूछता है तो शीघ्रता से जवाब नहीं देना चाहिए। यही कहना चाहिए कि मैं समझ-विचार कर उत्तर दूँगा। पश्चात् धर्म-अर्थ-काम से अविरुद्ध विचार कर विनय से उत्तर देना चाहिए। शीघ्रता से उत्तर देने में क्रोध, मान, माया, लोभ के वश से वचन निकलने की सम्भावना रहती है, कषाय के आवेग में योग्यअयोग्य कहने का विचार नहीं रहता है, दूसरे की पूरी बात सुन कर, कहने वाले का सम्पूर्ण अभिप्राय जान कर ही उत्तर देना उचित है। एकान्तरूप, हठग्राही, पक्षपाती नहीं होना चाहिए, इससे धर्म-कर्म दोनों बिगड़ जाते हैं।
31. जुआ खेलना, मद्य-माँस-मधु का सेवन करना, वेश्या-गमन करना, चोरी करना, पर-स्त्री-गमन आदि व्यसन भी अनर्थदण्ड के कार्य हैं, इनका त्याग प्रत्येक प्राणी को अवश्य करना चाहिए।

श्रावक के चार शिक्षाव्रतों के पाँच-पाँच अतिचार

सामायिकव्रत के अतिचार

विवक्षित काल तक मन-वचन-काय सम्बन्धी बाह्य प्रवृत्ति से निवृत्त होकर समता परिणामों से एकत्व का अभ्यास करना, **सामायिक** है।

इस अभ्यास में णमोकार आदि पदों का पुनः पुनः नियत उच्चारण करना सहायक होने से वह भी सामायिक माना गया है, परन्तु सामायिक में शब्दोच्चारण की अपेक्षा चिन्तवन की ही मुख्यता है।

सामायिकव्रत के पाँच अतिचार बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

योग-दुःप्रणिधानाऽनादर-स्मृत्यनुपस्थानानि।[253]

अर्थात् 1. काययोगदुष्प्रणिधान, 2. वचनयोगदुष्प्रणिधान, 3. मनोयोगदुष्प्रणिधान, 4. अनादर, 5. स्मृत्यनुपस्थान – ये सामायिकव्रत के पाँच अतिचार हैं।

योगदुष्प्रणिधान आदि सामायिक शील के एकदेशघातक होने से अतिचार हैं। ये सामायिक शील के पोषक भी नहीं हैं और सर्वथा विनाशक भी नहीं हैं, अपितु मलिन करने वाले हैं; अतः अतिचार हैं।

1. **काययोगदुष्प्रणिधान** – क्रोधादि कषायों के वश होकर शरीर के अवयवों का विचित्र विकृत रूप हो जाना, उन्हें व्यर्थ ही चलाते रहना, नींद का झोका ले लेना, कभी कमर को सीधा करना, कभी झुकाना, कभी आँखों को खोलना, कभी झुकाना आदि विकृत क्रियाएँ करना, **काययोगदुष्प्रणिधान** है।

   अथवा सामायिक करते समय हाथ, पाँव, सिर आदि शरीर के अवयवों को निश्चल नहीं धारे रहना या शान्त परिणामों में उपयोगी नासाग्र-नयन और खड़े होकर आसन लगाने पर पाँवों की दोनों एड़ियों को मिला कर दोनों अंगुष्ठों में चार अंगुल का अन्तर रखना, तथा पाठ पढ़ते हुए सिर हिलाना आदि ध्यानानुकूल आकृतियों का स्थिर नहीं रखना, **कायदुष्प्रणिधान** है।

2. **वचनयोगदुष्प्रणिधान** – वर्ण संस्कार का अभाव अर्थात् अशुद्ध उच्चारण करना तथा अर्थ के आगमकत्व में चपलता अर्थात् मन्त्रों के यथार्थ अर्थ भासित नहीं होना, **वचनयोगदुष्प्रणिधान** है।

   अथवा सामायिक के समय बीच-बीच में गाने लग जाना; संस्काररहित होकर अर्थ को नहीं समझाने वाले वर्ण या पद का प्रयोग कर देना; अतिशीघ्र, अतिविलम्ब, अशुद्ध, धृष्ट, स्खलित, अव्यक्त, पीड़ित, दीन, चपल, नासिका-स्वरमिश्रित शब्दों का प्रयोग करना, **वचनदुष्प्रणिधान** है।

3. **मनोयोगदुष्प्रणिधान** – सामायिक के समय मन का अनर्पित होना, अन्यथा होना, मन का उपयोग नहीं लगना, मन में अन्य विकल्प ले आना, किसी का भला-बुरा विचार करने लगना, घर-गृहस्थी के कामों में मन को फँसा लेना, **मनोयोगदुष्प्रणिधान** है।

   अथवा पुरुषार्थपूर्वक किये जाने योग्य विशुद्ध मानसिक विचारों के करने में उदासीनता धारण करके क्रोधादि के अनुसार या अन्य सावद्य कार्यों में व्यासंग हो जाने से मन की अन्य प्रकार से प्रवृत्ति करना, **मनोदुःप्रणिधान** है।

4. **अनादर** – सामायिक के प्रति अनुत्साह अर्थात् सामायिक का समय होने पर भी उसमें प्रवृत्त नहीं होना या जैसे तैसे सामायिक को पूरा करना, **अनादर** हैं।

   अथवा सामायिक करने में उत्साह नहीं रखना; प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल नियत समय पर सामायिक नहीं करना या जैसे-तैसे उद्वेग चित्त से सामायिक पूरा करना, **अनादर** है।

   अथवा सामायिक करने के अनन्तर ही झट से भोजन, व्यापार, क्रीड़ा आदि में सोत्साह लग जाना भी सामायिक का **अनादर** समझा जाता है।

5. **स्मृत्यनुपस्थान** – एकाग्रता न होने से सामायिक की स्मृति नहीं रहना, **स्मृत्यनुपस्थान** है।

   अथवा सामायिक करने में चित्त की एकाग्रता नहीं रखना, **स्मृत्यनुपस्थान** है।

   अथवा सामायिक मुझे करना है या नहीं ? सामायिक मैंने किया या नहीं; इस प्रकार प्रबल प्रमाद से स्मरण नहीं रखना भी पाँचवाँ **स्मृत्यनुपस्थान** नामक अतिचार है।

   अथवा मन्त्र या पदों को भूल जाना भी **स्मृत्यनुपस्थान** है।

अनेकाग्रता, असमाहित-मनस्कता और स्मृत्यनुपस्थान – ये सब एकार्थवाची हैं अर्थात् चित्त की एकाग्रता न होना और मन में समाधिरूपता का न होना, **स्मृत्यनुपस्थान** कहा जाता है।

दुष्प्रणिधान से तात्पर्य

दुष्प्रणिधान यानि अन्यथा प्रवर्तन। दुर् उपसर्ग का अर्थ दुष्टता है तथा प्रणिधान, प्रयोग और परिणाम – ये एकार्थवाची हैं। इस प्रकार दुष्ट या पापयुक्त परिणामों के साथ मन-वचन-कायरूप योगों की खोटी प्रवृत्ति को **दुष्प्रणिधान** कहते हैं। सामायिक के अवसर पर योगों को दूसरे अनुपयोगी प्रकारों से एकाग्र करते रहना, **योगदुष्प्रणिधान** है।

स्मृत्यनुपस्थान एवं मनोदुष्प्रणिधान में अन्तर

1. **स्मृत्यनुपस्थान** में अन्य का चिन्तन न होने से **मनोदुष्प्रणिधान** नहीं है।
2. **मनोदुष्प्रणिधान** में अन्य विचार तो नहीं आते, परन्तु जिस विषय का विचार किया जाता है, उसमें भी क्रोधादि का आवेश आ जाता है; जबकि **स्मृत्यनुपस्थान** में चिन्ता का परिस्पन्दन होता है अर्थात् मानसिक विकल्प चलते रहते हैं, चित्त में एकाग्रता नहीं आती है; अतः दोनों में अन्तर स्पष्ट है।
3. सामायिकव्रत में अन्य का चिन्तन करना, **मनोदुःप्रणिधान** है; लेकिन रात्रि और दिन की नित्य क्रियाओं को ही प्रमाद की अधिकता से भूल जाना, **स्मृत्यनुपस्थान** है।
4. क्रोधादि कषायों के आवेश से या सामायिक में उदासीनता रखने के कारण बहुत थोड़ी देर तक सामायिक में चित्त लगाना, **मनोदुष्प्रणिधान** है और चिन्तन के परिस्पन्दन होने से अर्थात् बदल जाने से चित्त को एकाग्र न रखना, स्थिर न रखना, **स्मृत्यनुपस्थान** है।

प्रोषधोपवासव्रत के अतिचार

अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में पंचेन्द्रिय के विषयों से निवृत्त होकर चार प्रकार के आहार का त्याग करना, **प्रोषधोपवास** है।

इस अवसर पर अपने शरीर का संस्कार करना, स्नान करना, सुगन्ध लगाना, माला पहिनना, आभूषण पहिनना, व्यापार करना या घर के दूसरे काम करना आदि समस्त व्यापारों का त्याग कर देना चाहिए और चैत्यालय, साधु-निवास या उपवासगृह आदि एकान्त स्थान में धर्मकथा करते हुए समय बिताना चाहिए।

प्रोषधोपवासव्रत के पाँच अतिचार बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमार्जितोत्सर्गाऽऽदान-संस्तरोपक्रमणाऽनादर-स्मृत्यनुपस्थानानि।[254]

अर्थात् 1. अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग, 2. अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-आदान, 3. अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-संस्तरोपक्रमण, 4. अनादर, 5. स्मृत्यनुपस्थान – ये प्रोषधोपवासव्रत के पाँच अतिचार हैं।

1. **अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग** – जो भूख आदि से पीड़ित होकर जीव-जन्तु को बिना देखे और बिना कोमल वस्त्र पिच्छिका आदि उपकरण से भूमि आदि का प्रमार्जन किये बिना ही मल मूत्र श्लेष्म आदि अथवा पुस्तक पात्र आदि को जहाँ तहाँ छोड़ना, **अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग** है।
2. **अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-आदान** – जो भूख आदि से पीड़ित होकर जीव-जन्तु को बिना देखे और कोमल वस्त्र पिच्छिका आदि उपकरण से बिना प्रमार्जन किये ही अर्हत् या आचार्य आदि की पूजा के उपकरण, चन्दन और धूप आदि वस्तुओं या अपने पहनने ओढ़ने के वस्त्र, पात्र आदि को उठाना, रखना, खींच कर ग्रहण करना आदि, **अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-आदान** है।
3. **अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-संस्तरोपक्रमण** – जो भूख आदि से पीड़ित होकर जीव-जन्तु को बिना देखे और कोमल वस्त्र पिच्छिका आदि उपकरण से बिना प्रमार्जन किये ही भूमि पर संथारा चटाई आदि बिछाना या स्वीकार करना, **अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-संस्तरोपक्रमण** है।
4. **अनादर** – क्षुधा तृषा आदि से पीड़ित होने के कारण प्रोषधोपवास में या तत्सम्बन्धी स्वाध्याय संयम आदि आवश्यक क्रियाओं में उत्साहभाव न रहना, **अनादर** है।
5. **स्मृत्यनुपस्थान** – प्रोषधोपवास करने के समय चित्त की चंचलता या अनेकाग्रता का होना या एकाग्रता का नहीं होना, मानसिक विकल्पों का चलना, मन का शान्त नहीं होना, **स्मृत्यनुपस्थान** है।

   अथवा रात्रि और दिन की क्रियाओं को प्रमाद की अधिकता के कारण भूल जाना, **स्मृत्यनुपस्थान** है।

अप्रत्यवेक्षण और अप्रमार्जन का अर्थ

अप्रत्यवेक्षण – दयार्द्र पुरुष का 'जन्तु है या नहीं'; इस प्रकार विचारपूर्वक देखना, या नेत्र इन्द्रिय का जो व्यापार है, वह प्रत्यवेक्षण है तथा भूख प्यास आदि जनित आकुलता उत्पन्न होने पर प्रत्यवेक्षण नहीं करना, **अप्रत्यवेक्षण** है। इसी का दूसरा नाम रत्नकरण्ड श्रावकाचार के अनुसार **अदृष्ट** है।

अप्रमार्जन – कोमल पिच्छिका आदि उपकरण से भूमि आदि का शोधन करना प्रमार्जन है तथा प्रमार्जन नहीं करना, **अप्रमार्जन** है। इसी का दूसरा नाम रत्नकरण्ड श्रावकाचार के अनुसार **अमृष्ट** है।

भोगोपभोग-परिमाणव्रत या उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत के अतिचार

भोगोपभोग-परिमाणव्रत के पाँच अतिचार बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

सचित्त-सम्बन्ध-सम्मिश्राऽभिषव-दुःपक्वाऽहाराः।[255]

अर्थात् 1. सचित्ताहार, 2. सचित्त-सम्बन्धाहार, 3. सचित्त-सम्मिश्राहार, 4. अभिषव, 5. दुःपक्वाहार – ये भोगोपभोग-परिमाणव्रत के पाँच अतिचार हैं।

शंका – यद्यपि इस व्रत का सम्बन्ध केवल भोजन या आहार के साथ ही नहीं है, सवारी वस्त्र आभूषण आदि बहुत से पदार्थों से भी है; तथापि यहाँ अतिचारों में केवल भोजन-सम्बन्धी पदार्थों का ही ग्रहण क्यों किया गया है ?

समाधान – यद्यपि यह सत्य है कि इस व्रत का सम्बन्ध भोजन के अलावा अन्य वस्तुओं से भी है; तथापि भोगउपभोग या उपभोगपरिभोग में भोजन की मुख्यता अवश्य है। अधिकतर गड़बड़ी भोजन में ही देखी जाती है; इसलिए यहाँ की मुख्यता से अतिचार बतलाये हैं। अन्य वस्तुओं से सम्बन्धित दोष लगने पर भी अतिचार लगता ही है, उन्हें इन्हीं अतिचारों में ही समझ लेना चाहिए।

यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इस व्रत के अतिचारों में अनुपेक्षा अनुस्मृति अतिलोलुपता अतितृष्णा और अति-अनुभव – इन नामों से वर्णित किया है, जिनका विस्तृत वर्णन आगे किया गया है।

1. **सचित्ताहार** – चित्त का अर्थ ज्ञान है, उसके साथ जो वर्तता है, उसे सचित्त कहते हैं। व्रत की एकदेश रक्षा करते हुए किसी हरितकाय पदार्थ को खा लेना, **सचित्ताहार** नामक अतिचार कहलाता है।

   यद्यपि आटा आदि खाद्य पदार्थों की जो मर्यादा बतलाई है, उसके बाद वह सचित्त हो जाता है, तथापि 'अभी वह अचित्त ही है' – ऐसा मान कर उस अमर्यादित वस्तु का भोजन में उपयोग करना, **सचित्ताहार** है।

   यद्यपि सचित्त खाने का त्याग कर चुके व्रती का पुनः सचित्त का भक्षण कर लेने पर अनाचार हो जाना चाहिए, तथापि अज्ञान या चित्त की एकाग्रता के अभाव में सचित्त-भक्षण हो जाने पर भी व्रत-रक्षण की अपेक्षा है; अतः सचित्ताहार को भी अतिचार में गिना है।

   विशेष यह है कि अप्रतिष्ठित प्रत्येक माने गये आम्रवृक्ष के फल या पत्ता को कोई कोई मन्दबुद्धि पुरुष अचित्त कहते हैं क्योंकि वृक्ष का एक जीव वहाँ वृक्ष में ही रहा आया, टूटा हुआ फल या पत्ता तो उसके आत्मप्रदेश निकल जाने पर अचित्त हो गया। इस पर यह समझना चाहिए कि शुष्क, पक्व, तप्त हो जाने पर या आम्ल, तीक्ष्णरस वाले पदार्थ के साथ सम्मिश्रण हो जाने की दशा में अथवा शिल, चाकी आदि यन्त्रों से चकनाचूर कर देने पर अचित्त हो जाने की व्यवस्था आगमोक्त है।

   अप्रतिष्ठित प्रत्येक होने पर भी आम, अमरूद, केला, आदि के फल, पत्ते, शाखा आदि अवयवों में अन्य भी छोटे छोटे वनस्पतिकायिक जीव पाये जाते हैं। जैसे, प्रत्येक कर्म का उदय होने पर भी कर्मभूमि के तिर्यंचों, मनुष्यों के शरीर में अनेक त्रसजीव आश्रित हो रहे हैं। श्री गोम्मटसार का परामर्श करने पर वनस्पतिकायिक जीवों की छोटी छोटी अवगाहनाओं का निर्णय हो जाता है।

   एकेन्द्रिय जीवों में पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय एवं वायुकाय के जीवों में ही बादर निगोद का आश्रितपना टाला गया है, वनस्पतिकाय में बादर निगोद पाया जाता है; अतः संघट्ट करने पर भी शिल या चाकी के छेदों में घुस गये वनस्पति के उर्द, मूँग, बराबर के टुकड़े भी जब सचित्त हो सकते हैं तो गीले फल, पत्ते आदि अवश्य ही सचित्त होने चाहिए; अतः व्रती, उन त्यागे हुए सचित्त पदार्थों के आर्द्र फल-पत्ते आदि का भक्षण नहीं कर सकता है।

2. **सचित्त-सम्बन्धाहार** – जीवसहित सचित्त द्रव्य के साथ उपश्लिष्ट अर्थात् सम्बन्धित वस्तु को **सचित्त-सम्बन्ध** कहते हैं अर्थात् उस सचित्त के साथ पृथक् करने योग्य संसर्ग को प्राप्त पदार्थ **सचित्त-सम्बद्ध** हैं।

   जिस अचित्त वस्तु का सचित्त वस्तु से सम्बन्ध हो गया हो, उसका भोजन में उपयोग करना, **सचित्त-सम्बन्धाहार** है।

   इस प्रकार सचेतन हो रहे बीज, फल- खण्ड, पत्र, अंकुर आदि के साथ संसर्ग मात्र किये जा रहे पदार्थ का भक्षण कर लेना, **सचित्त-सम्बन्धाहार** नामक अतिचार है क्योंकि स्वयं अचित्त हो रहा भी आहार दूसरे सचित्त द्रव्य के संघट्ट मात्र से दूषित हो जाता है।

3. **सचित्त-सम्मिश्राहार** – सचेतन पदार्थों से सम्मिलित हो रहे द्रव्य का आहार कर लेना, **सचित्त-सम्मिश्राहार** है अर्थात् सचित्त द्रव्य के साथ एकरस हो कर मिश्रित हो रहा आहार्य पदार्थ **सचित्त-सम्मिश्र** हैं क्योंकि वहाँ अचित्त का सचित्त द्रव्य से पृथग्भाव नहीं किया जा सकता है, छोटे-छोटे वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना, घनांगुल के असंख्यातवें या संख्यातवें भाग मात्र है। सचित्त के छू जाने मात्र से ही खाद्य पदार्थ में अनेक जीव आ जाते हैं।

   चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओं से मिश्रित भोजन का आहार करना, **सचित्त-सम्मिश्राहार** है।

   प्रमाद तथा मोह के कारण क्षुधा, तृषा से पीड़ित व्यक्ति की जल्दी जल्दी में **सचित्त-सम्बन्ध, सचित्त-सम्मिश्र** आदि में भोजन, पान, अनुलेपन तथा परिधान आदि के लिए प्रवृत्ति हो जाती है।

4. **अभिषवाहार** – द्रव अर्थात् सिरका आदि और उत्तेजक अर्थात् कामोद्दीपक पुष्टि- कारक भोजन का आहार, **अभिषवाहार** नामक अतिचार कहलाता है।

   अथवा आसव और अरिष्ट आदि मदजनक द्रव पदार्थों का सेवन करना, **अभिषवाहार** है।

   कुछ देर तक गला कर जो सौवीर आदि बना लिये जाते हैं, वे द्रव पदार्थ कहलाते हैं तथा इन्द्रियों के बल को बढ़ाने वाले उर्द के मोदक, रसायन, वशीकरण पदार्थ, पौष्टिकरस – ये वृष्य हैं। द्रव, वृष्य और अभिषव – इनका एक अर्थ है।

   यद्यपि इनमें से कोई पदार्थ भले ही अचित्त या शुद्ध हो, किन्तु इन्द्रिय-मद-वृद्धि के कारण होने से व्रतियों को इनका त्याग करना चाहिए।

5. **दुःपक्वाहार** – जो अच्छी तरह नहीं पका हुआ हो, वह दुःपक्व कहलाता है अर्थात् अधपके या अतिपक्व पदार्थ का आहार करना, **दुःपक्वाहार** है।

   अधपके, अधिक पके, ठीक तरह से नहीं पके हुए या जले-भुने हुए भोजन का सेवन करना, **दुष्पक्वाहार** है।

   उर्द की दाल या भात आदि को भीतर अधपका रहने देने पर अथवा अधिक गला कर या जला कर खाने से और मोटे चावल, गेहूँ की मोटी, गरिष्ट रोटी, बाटी, भापला या बाफला, एवं प्रकृति से भारी हो रहे कतिपय फल आदि का सेवन करने से शरीर में अनेक रोग या आलस्य उपजते हैं; साथ ही आत्मसंक्लेश हो जाने के कारण धार्मिक क्रियाओं में क्षति पहुँचती है।

   राजवार्तिकार के अनुसार दुःपक्व भोजन से भी इन्द्रियों में मदवृद्धि हो जाती है, सचित्त-प्रयोग का दोष आता है, वात आदि रोगों का प्रकोप होता है तथा उनका प्रतिकार करने की क्रियाओं में भी पाप लगता है। यही कारण है कि अतिथि अर्थात् मुनिगण इनका सेवन नहीं करते हैं; अतः वे त्याज्य हैं।

सचित्त-सम्बन्ध और सचित्त-सम्मिश्र में अन्तर

सचित्त-सम्बन्ध में केवल संसर्ग या केवल स्पर्श कर लेना विवक्षित होता है तथा सचित-सम्मिश्र में सूक्ष्म जन्तुओं से आहार ऐसा मिला होता है, जिसका विभाग करना अशक्य होता है। जैसे, सिद्ध भगवान् का पुद्गल वर्गणाओं के साथ मात्र संसर्ग है, बन्ध या सम्मिश्रण नहीं है। जैसे, बोतल में मद्य या विष का केवल उपश्लेष है, लेकिन पेट मे खा-पी लेने पर उनका शरीरावयवों के साथ सम्मिश्रण हो जाता है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत और उपभोग-परिभोगानर्थक्य नामक अतिचार में अन्तर

भोगोपभोगपरिमाणव्रत में इच्छानुसार परिमाण किया जाता है और सावद्य का परित्याग किया जाता है परन्तु उस परिमाण के अन्तर्गत आवश्यक्ता का विचार करके अनावश्यक पदार्थों का संग्रह की निरर्थकता

बताते हुए यहाँ उन्हें अनर्थदण्डव्रत के अतिचार कहा गया है। श्लोकवार्तिकालंकार में अनर्थदण्डव्रत के भेदों से इन अतिचारों को जोड़ कर भी निरूपण किया है, वे लिखते हैं – इन पाँच अतिचारों में पहिले दो (कन्दर्प और कौत्कुच्य) तो प्रमादचर्याविरति के अतिचार हैं। पापोपदेशविरति का अतिचार मौखर्य है। हिंसोपकरणविरति का अतिचार असमीक्ष्याधिकरण हो सकता है। प्रमादचर्याविरति में भी यह दोष सम्भवित है। पाँचवाँ अतिचार भोगोपभोग अनर्थक्य भी प्रमादचर्या का ही अंग है।

भोगोपभोग-परिमाणव्रत के अन्य प्रकार से पाँच अतिचार

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इस व्रत को गुणव्रतों के अन्तर्गत लिया गया है। जबकि गुणव्रतों की संख्या तो तीन ही मानी गई है; अतः तत्त्वार्थसूत्र में गुणव्रतों में देशव्रत को भी लिया गया है लेकिन रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र ने गुणव्रतों में भोगोपभोग-परिमाणव्रत को लेकर शिक्षाव्रतों में देशव्रत को अन्तर्गर्भित किया गया है। वहाँ इस व्रत के अतिचारों को बिलकुल अलग रीति से प्रस्तुत किया गया है; उनके अनुसार इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं –

विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते।।[256]

अर्थात् 1. विषयरूपी विष की **अनुपेक्षा** या उपेक्षा नहीं करना , 2. विषयरूपी विष की **अनुस्मृति** या बार-बार स्मरण करना, 3. विषयरूपी विष की **अतिलोलुपता**, 4. विषयरूपी विष की **अतितृष्णा**, 5. विषयरूपी विष का **अत्यनुभव** – ये भोगोपभोग-परिमाणव्रत के पाँच अतिचार हैं।

1. **अनुपेक्षा –** विषय-भोगों का राग नहीं घटना, उनके प्रति उपेक्षा भाव नहीं होना, वह **अनुपेक्षा** नामक अतिचार है। विषयभोग, सन्ताप बढ़ाते हैं, बल्कि इनके निमित्त से मरण भी हो जाता है; अतः ये पाँच इन्द्रियों के विषय, विष हैं। जिस प्रकार विष, प्राणियों को दाह, सन्ताप आदि करता है; उसी प्रकार विषय भी प्राणियों को दाह, सन्ताप आदि उत्पन्न करते हैं।

2. **अनुस्मृति –** जो विषय, पहले भोगे थे, उन्हें बार-बार याद करना, वह **अनुस्मृति** नामक अतिचार है। विषयों का अनुभव या उपभोग, विषय-सम्बन्धी वेदना के प्रतिकार के लिए किया जाता है; अतः विषयानुभव से वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी सम्भाषण तथा आलिंगन आदि में आदर तथा सौन्दर्यजनित सुख का साधन होने से विषयों का बार-बार स्मरण करना, वह अत्यन्त आसक्ति का जनक होने से **अनुस्मृति** नामक अतिचार माना गया है।

3. **अतिलोलुपता –** वर्तमान में भोगे जा रहे विषयों को अति गृद्धता और अति आसक्ति से भोगना, **अतिलोलुपता** नामक अतिचार है। विषयानुभव से वेदना का प्रतिकार हो जाने पर भी बार-बार उसके अनुभव की आकांक्षा रखना, **अतिलौल्य** नामक अतिचार है।

4. **अतितृष्णा –** भविष्य में विषयों को भोगने की अति आकांक्षा होना, **अतितृष्णा** नामक अतिचार है। अथवा आगामी भोगोपभोग आदि की अत्यधिक गृद्धता के साथ प्राप्ति की आकांक्षा रखना, **अतितृषा** नामक अतिचार है।

5. **अति-अनुभव –** जब विषयों को नहीं भोग रहा है, उस काल में भी ऐसा समझना कि मैं विषयों को भोग रहा हूँ अथवा वर्तमान विषय का अत्यन्त आसक्ति से अनुभव करना – यह **अति-अनुभव** नामक अतिचार है अथवा नियतकाल में भी जब भोग और उपभोग का अनुभ्व करता है, तब अत्यन्त आसक्ति से करता है, मात्र वेदना के प्रतिकार की भावना से नहीं – यह **अत्यनुभव** नामक अतिचार है।

अन्य भोगोपभोग की वस्तुओं के दोष

- **अफीम के दोष –** अफीम खाने वाले को यदि एक घड़ी अफीम नहीं मिले तो वह जमीन में बेहोश होकर गिर जाता है। वेदना के आर्त परिणाम से पशु जैसा जमीन पर पड़ा पैर रगड़ता है, निर्लज्ज होकर याचना करता है, नेत्रों से पानी बहने लगता है। यदि उसे अफीम मिल जाती है तो नशे में आकर भूला हुआ सा ऊँघता रहता है, जिह्वा इन्द्रिय की लोलुपता बढ़ जाती है। स्वाध्याय धर्मश्रवण व्रत संयम उपवास आदि दूर से ही छोड़ देता है। उसकी बुद्धि धर्म से विपरीत हो जाती है, उत्तम आचरण नष्ट हो जाता है।

- **हुक्का के दोष** – हुक्के की महा मलिनता दुर्गन्ध तमाखू एवं धुआँ के योग से उसके पानी में जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। जहाँ भी हुक्के का पानी गिर जाए, वहाँ छह काय के जीवों का घात होता है। इसकी दुर्गन्ध से उत्तम आचरण के धारक पास में बैठ नहीं सकते हैं। हुक्का पीने वाला बार बार घर घर में अग्नि ढूँढ़ता फिरता है, घर में राख का बर्तन रखा ही रहता है।.....यदि हुक्का पीने वाले को हुक्का न मिले तो किसी से भी चिलम माँग कर पीता है। यदि नहीं पीवे तो बड़ी रोग-बीमारी पैदा हो जाती है, पेट में अफरा चढ़ जाता है, नीहार बन्द हो जाता है। हुक्का पीने वाले ने बड़ी मुसीबत गले बाँध ली है; जिसके कारण व्रत संयम उपवास स्वाध्याय आदि सभी उत्तम कार्यों को तिलांजली दे देता है।

- **जर्दा या तमाखू के दोष** – जर्दा महान् अपवित्र वस्तु है; इसे खाने वाले मुख में मल-मूत्र कर पाते हैं। रास्ते चलते सड़क पर मल-मूत्र के ऊपर जूते पहने ही जर्दा खा लेता है। माँसभक्षी शराब पीने वालों के घर का पानी मिला हुआ कत्था-चूना खा लेता है। यदि कोई अपने हाथों को बिना धोए नीचे के अंगों को खुजलाते हुए जर्दा मसल कर दे दे तो भी खा लेते हैं, उनकी झूठन की भी ग्लानि नहीं करता है। सभी सोने के स्थान, उठने-बैठने के स्थान, कोना, बारी, जाली आदि सब जगह थूक-थूक कर गन्दगी से लिप्त कर देते हैं। अरे! पशु भी रास्ते में चलते हुए सोते हुए मुख नहीं चलाता है, परन्तु इस जर्दा खाने वाले को पशु से भी अधिक विकलता है। इसके मुख में हमेशा महादुर्गन्ध रहती है। जर्दा की पीक जहाँ भी गिरती है; वहीं मक्खी मच्छर डाँस मकड़ी कीड़ा कीड़ी तथा बड़े-बड़े त्रस जीव भी मर जाते हैं, पाँचों स्थावरों का घात तो वहाँ होता ही है। इसके व्रत संयम उपवास स्वाध्याय जाप शुद्धभावना का भी नाश हो जाता है।

  जर्दा खाने वालों की बुद्धि आत्मा के हित में नहीं प्रवर्तती है, संयम के योग्य नहीं रहती है। उसमें दया क्षमा शील सन्तोष इन्द्रियविजय के परिणाम कभी नहीं होते हैं। अनेक पापाचार कपट छल आदि में उसकी बुद्धि प्रवीण हो जाती है। अनेक व्यसनों में लग जाता है।.....जर्दा खाने वाला यदि एक दिन भी जरदा नहीं खावे तो परिणामों में उपाधि, पेट में पीड़ा आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

  जर्दा खाने वालों को हमने बहुत निकट से देखा है; उनमें से एक भी परमार्थ की बुद्धि, परलोक सुधारने की बुद्धि ही नहीं होती है। इस प्रकार आप भी अपने अनुभव से दूसरे जर्दा खाने वालों को स्वयं देख सकते हैं।

- **भांग के दोष** – भांग पीने से अपना बड़प्पन, शोभा नष्ट हो जाती है। भंगेड़ी की इज्जत घट जाती है, जिह्वा इन्द्रिय की लम्पटता बढ़ जाती है, विकलता सताती है। वह तो प्रमादी होकर ऐश करना, बहुत निद्रा लेना, बहुत घी-शक्कर का भोजन करना चाहता है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों की लम्पटता को प्राप्त हो जाता है, ज्ञान कमजोर हो जाता है, बहमी हो जाता है। भांग पीने वाले को मीठे भोजन में इतनी लम्पटता हो जाती है कि मीठा मिलने पर कृतकत्य सा हो जाता है; उसे आत्मज्ञान या धर्म का ज्ञान कभी नहीं होता है, बाह्य आचरण से भ्रष्ट होता ही है।

  भांग में हजारों त्रस जीव चलते दौड़ते दिखाई देते हैं, उत्पन्न होते रहते हैं। वर्षाऋतु में अपरिमित त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। भंगेड़ी भंग को शोधता नहीं है, घोंट कर पी जाता है।

- **नीच संगति के दोष** – मिथ्यात्व सहित अनायतनों में, मांसभक्षियों के साथ बैठ कर भोजन नहीं करना चाहिए। नीच पुरुषों से मित्रता नहीं करना चाहिए। देवता को चढाया गया भोजन नहीं खाना चाहिए। यदि हाथी दांत की चूड़ी, रोम का वस्त्र, कम्बल पहिन कर भोजन बनाया गया हो तो वह भोजन भी नहीं खाने योग्य नहीं है। मांसभक्षी के घर में बैठ कर भी भोजन नहीं करना चाहिए।

- **इत्र के दोष** – 1. अत्तारों के अर्क, माजूम, शरबत और अन्य सभी वस्तुएँ खाने योग्य नहीं हैं। अत्तार के यहाँ विदेशों का बना हुआ, म्लेच्छों के जल से बनाया हुआ, जूठे अर्क की भरी हुई बोतलें आती हैं; वह किस किस वस्तु से बनाया गया है, सभी कुछ अज्ञात है। 2. अर्क में जलचर, थलचर, नभचर पंचेन्द्रिय आदि जीवों के मांस के कई अर्क हैं। 3. अनेक प्रकार की शराब बना कर अर्क नाम रख देते हैं। 4. बहुत जीवों के अण्डों के रस की बोतलें भरी रखी होती हैं। 4. समस्त शरबत मुरब्बा माजूम जवारस आदि में मधु या शहद होता है। 5. अनेक जीवों के अनेक अंग इन्द्रियाँ जिह्वा कलेजा सूखा हुआ मांस वगैरह अत्तार बेचता है। 6. भारत के सभी उत्तम कुल वालों की बुद्धि भ्रष्ट करने के लिए इन अत्तारों की दुकानें

खोली गई हैं। 7. एक करोड़ कसाइयों की हिंसा के बराबर एक अत्तार की दुकान के इत्रों में हिंसा होती है। 8. अब उत्तम कुल वाले भी इन अर्क आदि का सेवन करने लगे हैं, सभी कुल आचरण भ्रष्ट हो गये हैं। 9. अत्तारों की औषधि से ही रोग मिटते हैं – ऐसा नियम नहीं है।.....जिनको दुर्गति का बन्ध हो गया है, उन्हें ही इनकी भ्रष्ट औषधि से आराम होता है। जैसे, राजा अरविन्द ने दाह ज्वर का इलाज हेतु खून की बावड़ी बनाने का आदेश दिया था। 10. प्राणों के नाश का अवसर आने पर भी छह महिने के बालक को भी अत्तार की औषधि देना उचित नहीं है।

- **रात्रि में बनाये भोजन के दोष** – 1. रात्रि में बनाया सभी भोजन, कभी भक्षण नहीं करना चाहिए। 2. रात्रि में चूल्हा चक्की पानी बर्तन का आरम्भ करना, रखना उठाना मांजना धोना – इन घोर पापकर्मों से तो महान हिंसा होने से महादुःख प्रगट हो जाता है, तब घोर आरम्भी के जिनधर्म का लेश भी नहीं रहता है।
- **रात्रिभोजन करने के दोष** – 1. रात्रि के समय भोजन करना त्यागने योग्य ही है। 2. जो रात्रि में भोजन करता है, उसके यत्नाचार तो रहता ही नहीं है, जीवों की हिंसा होती ही है। 3. रात्रि में कीड़ी मच्छर मक्खी मकड़ी कसारी आदि अनेक जीव भोजन में आकर गिर पड़ते हैं। 4. यदि दीपक बिजली आदि जला कर भोजन करते हैं तो उजाले के संयोग से दूर दूर के जीव दीपक के पास तेजी से आकर भोजन मे गिर पड़ते हैं। 5. जैनधर्मी होकर यदि रात्रि में भोजन करता है तो आगे मार्ग से भ्रष्ट हो जाएगा।

कोई कहता है – आरम्भ तो नहीं करना, किन्तु बना बनाया ही भोजन, लड्डू पेड़ा पुड़ी पुआ बरफी दूध आदि सीधा खा लेने में तो रात्रि का कोई आरम्भ नहीं हुआ ?

समाधान – इस सम्बन्ध में निम्न तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है –

1. जो दिन में छोड़ कर रात्रि में भोजन करता है, उसको तीव्र रागरूप महान हिंसा होती है।
2. जैसे, अन्न के ग्रास का अनुराग और मांस के ग्रास का अनुराग समान नहीं होता है; उसी प्रकार रात्रिभोजन का अनुराग और दिन के भोजन का अनुराग समान नहीं है।
3. मनुष्य को दिन में ही भोजन करना पर्याप्त है लेकिन जो रात और दिन – दोनों में भोजन करता है, उसके पशु के समान धर्म रहित प्रवृत्ति है।
4. रात्रिभोजन करने वाले के व्रत तप आदि नहीं होते हैं।
5. इतना विशेष जानना कि अनादिकाल से विदेहक्षेत्र में और भरतक्षेत्र के जिनधर्मी के तो दिन में एक बार या दो बार ही भोजन होता है, रात्रि में कभी भी भोजन नहीं होता है – ऐसी सनातन रीति चली आ रही है। लोक में भी करोड़ों मनुष्यों यह बात प्रसिद्ध है कि जिनधर्मी रात्रि में भोजन नहीं करते। ऐसी यश की उज्ज्वलता प्रभावना उच्चता एवं भोजन की शुद्धता को बिगाड़ कर यदि कोई प्रमादी विषयों में अन्धा होकर रात्रि में दूध, कलाकन्द, पेड़ा आदि खाता है तथा दवाई पानी आदि पीता है तो वह अपने उत्तम आचरण को, धर्म को, कुल की मर्यादा को, जैनीपना को जल में डुबो कर सन्मार्ग से भ्रष्ट हुआ उन्मार्गी है। उसका तो बाह्य आभ्यन्तर मार्ग ही भ्रष्ट है और वह आगे अधर्म की परिपाटी चलाने वाला है।
6. जो रात्रि में भोजन करता है तो चूल्हा चक्की बुहारी जल आदि का आरम्भ रात्रि में ही होगा, जिससे समस्त यत्नाचार का अभाव हो जाता है।
7. दिन में भी आरम्भ और रात्रि में भी घोर आरम्भ से परिवार के सभी लोगों को बहुत कष्ट होता है।
8. रात्रि में घोर आरम्भ करके रात्रिभोजन करने से परिणामों में समता नहीं आ सकती है। रात्रि में भोजन करने वाले को धर्म-सेवन, शास्त्र का पठन-श्रवण, तत्त्वार्थ की चर्चा, जाप, सामायिक, शुभध्यान का तो अवसर ही नहीं रहता है।
9. पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री तत्त्वार्थसूत्र की टीका लिखते हुए कहते हैं[257] –
   - सच पूछा जाए तो जैनी अहिंसा के प्रतीक हैं और तमाम धर्मों ने या उनके अनुयायियों ने हिंसा-अहिंसा के भेद का भुला दिया है। बौद्धधर्म, जो श्रमणधर्म का अंग माना जाता है, उसके अनुयायी भी अब मांस आदि का भक्षण करना अनुचित नहीं मानते। एक जैनी ही ऐसे हैं, जिन्होंने विकृत या अविकृत हर हालत में अहिंसा की रक्षा की है; अतः रात्रि में भोजन करने से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है, यही कारण है कि रात्रि में भोजन करने का निषेध किया जाता है।

- ○ रात्रि में भोजन न करने के अन्य लाभ – आरोग्य में वृद्धि, जठर का आराम, कार्यक्षमता में वृद्धि, निद्रा की पूर्णता, ब्रह्मचर्य में दृढ़ता, तेजोमय जीवन आदि।
- ○ रात्रिभोजन न करने में आने वाली परेशानियों ध्यान में रख कर यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को उस धर्म का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए, जो कि उसके प्रारम्भिक कर्तव्यों में सम्मिलित है। धर्म व्यक्तिगत वस्तु है, इसलिए अपने पतन और उत्थान के लिए व्यक्ति ही उत्तरदायी है। कमजोरी के स्थलों का निर्देश करके धर्म की रक्षा नहीं की जा सकती, किन्तु जो स्थल कमजोरी के हैं, उन स्थलों पर दृढ़ बने रहने से ही धर्म की रक्षा होती है।
- ○ आजकल एक नई प्रथा चल पड़ी है – अधिकतर ब्याह-शादियों के प्रसंग में या सार्वजनिक प्रसंगों मे रात्रि को भी सामूहिक भोज दिया जाने लगा है। कहीं इसमें अन्न का बचाव किया जाता है, कहीं अन्न के स्थान पर सिंघाड़े आदि से काम लिया जाता है और कहीं अन्न का ही व्यवहार किया जाता है। यह रोग बढ़ता ही जा रहा है।''

- **द्विदल के दोष** – दो फाड़ वाली दाल के अन्न को दही छाछ के साथ नहीं खाना चाहिए। यदि इन्हें मिला कर खओगे तो इसमें द्विदल का दोष लगता है। जीभ के नीचे कण्ठ में पहुँचते ही जिसमें सम्मूर्छन जीव उत्पन्न होने लगते हैं।

- **अनछने जल का दोष** – 1. पानी को मोटे दुहरे कपड़े से छान कर पीना चाहिए और दूसरों को भी छान कर ही पिलाना चाहिए। 2. बर्तन के मुख में तिगुना लम्बा चौड़ा दोहरा नवीन वस्त्र से लगा कर पानी छान कर, बिलछानी/जिवानी को दूसरे बर्तन में ले जाकर जल के स्थान में पहुँचा देना चाहिए; सही विधि से जिवानी जल में यत्नाचार की यही मर्यादा है। 3. छानने के बाद दो घड़ी की मर्यादा है। यदि फिर से काम में लेना है तो फिर से छान कर काम में लेना चाहिए। 4. गर्म किये हुए जल की दो प्रहर की मर्यादा है। यदि बहुत करके यथास्थान पहुँचाने से असंख्यात जीवों को अभयदान/जीवनदान देने का फल मिलता है। उबाल कर गर्म किया है तो आठ प्रहर तक काम में ले सकते हैं। उसके बाद बिना छाने काम का नहीं रहता है। 5. अनछने जल से स्नान करना, भोजन बनाना, कपड़े धोना इत्यादि क्रियाएँ नहीं करना चाहिए। 6. जल में यत्नाचार करने से दयावानपने की मर्यादा बनी रहती है। 7. नाई के बर्तन के पानी से बाल नहीं बनवाना चाहिए।

  ''**शंका** – हम नल/बोरिंग/हैण्डपम्प का पानी पीते हैं, उसकी जिवानी यथास्थान कैसे पहुँचाई जा सकती है ?

  समाधान – पुराने जमाने में नल आदि की व्यवस्था नहीं होने से लोग कुए के पानी का ही उपयोग करते थे, जिससे सहज ही जिवानी के माध्यम से जीवों की रक्षा करके पापों से बच जाते थे। लेकिन इस यान्त्रिक युग में कोई कुए का पानी पीता ही नहीं है और मिलता भी नहीं है।

  आजकल लगभग सभी लोग नल आदि का पानी ही पीते हैं, फिर भी अपवाद मार्ग में उसकी भी जिवानी इस प्रकार की जा सकती है। विधिपूर्वक छन्ने को धोकर जिवानी के पानी को घर में जो बड़ी टंकी, हौद या जिसमें पानी इकट्ठा भरा रहता है, उसमें पहुँचा कर जीवों की रक्षा की जा सकती है क्योंकि उस टंकी आदि में भी नलादि का ही पानी भरा रहता है, इसलिए उसमें डालने से उनकी रक्षा हो जाती है। नाली में डालने से तो सब जीव नियम से मर ही जाते हैं क्योंकि नाली में साबुन, सर्फ, मल-मूत्र आदि तिक्त पदार्थों से मिश्रित पानी रहता है, उन क्षार पदार्थों से उनके प्राणों की रक्षा किसी हालत में नहीं हो सकती है। टंकी में डालने से जब तक टंकी खाली नहीं होती, तब तक तो जीवों की रक्षा हो ही जाती है और टंकी महिनों तक खाली नहीं होती है।

  ध्यान रहे कि जाली, प्लास्टिक की चलनी, फिल्टर आदि से पानी नहीं छनता है। इनसे तो मात्र पानी का कूड़ा-कचरा ही निकलता है, पानी के जीव नहीं निकलते हैं; इसलिए मलेरिया आदि की रोक-थाम के लिए उबले पानी का उपयोग किया जाता है, फिल्टर का नहीं।''[258]

- **चमड़े के बर्तन का दोष** – 1. चमड़े के बर्तन में रखा हुआ घी तेल जल आदि रस खाने योग्य नहीं है; उसमें असंख्यात त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। 2. चमड़े के बर्तन बनाने में माँस को जमीन में गाड़ कर, पश्चात् कूट कर मिट्टी के साँचे के ऊपर बनाते हैं; इनसे छुआया गया घी तेल जल आदि माँस के

समान हैं। 3. अरे! यदि चमड़े से बिना छुआ घृत आदि नहीं मिलते हैं तो सूखा भोजन ही कर लेना चाहिए।

अभक्ष्य भक्षण नहीं करने के निष्कर्ष

1. धर्म बिगड़ जाने के बाद यह जिनधर्म अनन्तकाल में भी नहीं मिलेगा; इसलिए जैनधर्म के धारकों को शरीर के हजार खण्ड हो जायें तो भी अभक्ष्य भक्षण नहीं करना चाहिए।
2. बहुत कहने से क्या? संक्षेप में इतना जान लेना कि समस्त संसार के परिभ्रमण की कारण पाँच इन्द्रियों के विषयों की लालसा है।
3. पाँच इन्द्रिय में भी जिह्वा इन्द्रिय तथा उपस्थ इन्द्रिय – इन दो इन्द्रियों की लालसा, इसलोक तथा परलोक दोनों को बिगाड़ने वाली है।
4. इन दो इन्द्रियों के विषयों की लालसा जिनको अधिक है, वे मनुष्य जन्म में भी पशु के समान हैं क्योंकि पशुयोनि में भी इन्हीं दो इन्द्रियों के विषयों की चाह से परस्पर में लड़ लड़ कर मर जाते हैं, मार डालते हैं, मार कर खा जाते हैं।
5. मनुष्य जन्म में भी कलह करना, मरना, मारना, निर्लज्ज होना, जूठन खाना, दीनता युक्त वचन कहना, पुण्यदान लेना, अभक्ष्य भक्षण करना आदि सभी नीचकर्मों में प्रवृत्ति करना, आदि इन्द्रियों के विषयों की लालसा से ही होती है।
6. परिणामों की सामर्थ्य के अनुसार व्रत लें। जो मनुष्य भोगोपभोगपरिमाण व्रत लें, उन्हें अपने परिणामों की दृढ़ता देख लेना चाहिए कि मेरा राग घटा है या नहीं अथवा मेरा कितना राग घटा है ? साथ ही मेरे शरीर तथा परिणामों में उसका निर्वाह करने की सामर्थ्य है या नहीं – ऐसा विचार करके ही व्रत धारण करना चाहिए।

मर्यादित द्रव्य-क्षेत्र-काल के बाहर त्याज्य अभक्ष्य पदार्थ[259]

i. खाद्य पदार्थों की अवधि

1. आटा शीतऋतु में सात दिन, ग्रीष्मऋतु में पाँच दिन और वर्षाऋतु में तीन दिन से अधिक का नहीं खाना चाहिए। आटे का संग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि आटे में बहुत लटें पैदा हो जाती हैं।
2. दाल चावल आदि जब भी पकाओ तो दो तीन बार शोध-बीन कर ही पकाना चाहिए क्योंकि यहाँ यत्नाचार ही धर्म है।
3. दही पहले दिन का जमाया दूसरे दिन तक खा सकते हैं, इससे अधिक नहीं।
4. दूध को दुह लेने के बाद छान कर दो घड़ी के पहिले गर्म कर लेना चाहिए, बाद में उसमें सम्मूर्छन जीव उत्पन्न होने लगते हैं।
5. घी को भी छाछ में से निकलने के बाद शीघ्र ही गर्म कर लेना चाहिए; बाद में उसमें सम्मूर्छन त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं; बिना तपाये और बिना छाने उसे नहीं खाना चाहिए।

ii. वर्षाऋतु के कारण होने वाले दोष

1. बरसात के समय चार महिनों में गुड़ शक्कर खाँड, सोंठ अजवाइन इलायची, काजू सुपारी दाख पिस्ता चिरोंजी छुआरा खोपरा, हल्दी धनिया जीरा मिर्ची अमचुर आदि कितनी ही वस्तुओं का संग्रह करना ही नहीं चाहिए क्योंकि उनमें से किसी में घुन लग जाती है, किसी में लट इल्ली कीड़े आदि लग जाते हैं, किसी में चीटीं सुलसुली आदि हो जाती हैं।
2. नगर, शहर में रहने का यही फायदा है कि जिस समय चाहो, उसी समय दो चार पाँच दस दिनों के लिए जितना आवश्यक है, उतना दस पाँच जगह देख भाल कर अच्छा निर्दोष सामान देख कर खरीद सकते हैं।
3. पुरवाई हवा के संयोग से गुड़ आदि में परिमाण रहित जीव उत्पन्न होते हैं।
4. मर्यादा रहित लड्डू पेड़ा बरफी घेवर आदि में लट आदि उत्पन्न हो जाते हैं।
5. फागुन के बाद तिल में और सिंघाड़ों में बहुत त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं; इसलिए फागुन के बाद उन्हें नहीं खाना चाहिए।

iii. बासी भोजन के दोष

1. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में कहा है कि **'सर्वाशनं च न ग्राह्यं, दिनद्वययुतं नरैः'** अर्थात् समस्त प्रकार का भोजन, दो दिन से अधिक पुराना नहीं खाना चाहिए; अतः एक रात बीत जाने के बाद यदि दूसरी रात भी बीत जाए तो वह भोजन मनुष्यों के खाने योग्य नहीं रहता है। इसमें जल के संसर्ग सहित सभी पकवान आदि भी आ गये।
2. पुआ मालपुआ हलुआ आदि तथा बड़ा कचोड़ी रात के बासी हो जाने पर चलितरस हो जाते हैं, स्वाद बिगड़ जाता है।
3. रोटी खिचड़ी तरकारी साग लोंजी आदि रात की बासी तो कभी खाना ही नहीं चाहिए।
4. यदि उनके स्वाद बिगड़ जाएँ तो उसी दिन शाम को भी नहीं खाना चाहिए।

iv. हॉटेल के भोजन का दोष

1. बाजार की दुकानों का आटा कभी नहीं खाना चाहिए क्योंकि बेचने वाले के यहाँ शुद्धता का कोई विवेक नहीं रखा जाता।
2. यह आटा एक महिना या छह महिना पहले का पिसा भी हो सकता है, उसकी कोई मर्यादा नहीं होती, हजारों इल्लियाँ इसमें हो जाती हैं।
3. बहुत लोग घुना अनाज लेकर पिसवा लेते हैं, उसे बेचते हैं।
4. हॉटेल में सभी मांसभक्षी और शराब पीने वाले एक ही स्थान पर बैठ कर भोजन करते हैं।
5. इसी प्रकार हॉटेल के दुकानदार आदि का पीतल, कांसे, लोहे आदि का बर्तन भोजन बनाने या करने के लिए नहीं लेना चाहिए। वह तो सभी मांसभक्षी दुराचारियों आदि को भी वे ही बर्तन दे देता है।
6. यदि अपने आचरण की उज्ज्वलता बनाये रखना चाहते हो तो बाहर प्रवास आदि में अपने साथ दो चार बर्तन अवश्य रखना चाहिए। वहाँ आवश्यकता पड़ने पर अधिक पैसा देकर भी ताजा आटा तैयार करा कर खाना चाहिए। यदि विधि के अनुसार आटा तैयार न हो सके तो खिचड़ी, घुंघरी आदि बना कर ही खा लेना चाहिए।

v. बाजार की बनी मिठाइयों आदि के दोष

1. बाजार की मिठाई लाडू बरफी घेवर आदि नहीं खाना चाहिए।
2. इनके आटे घी जल आदि की कोई प्रामाणिकता नहीं होती, मर्यादा नहीं होती।
3. लोभी तथा निन्द्य कर्मियों के कोई आचार-विचार का विवेक नहीं होता है।
4. मैदा का खमीर बना कर सड़ाते हैं। खट्टा होते ही उसमें अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होने लगते हैं। फिर कढ़ाई के गर्म घी या तेल में पकाते हैं, भूनते हैं, जलेबी बनाते हैं, फैनी बनाते हैं, जो खाने के योग्य ही नहीं है।
5. दही में खाण्ड या शक्कर मिलाने के बाद बहुत समय तक नहीं रखना चाहिए, दो मुहूर्त में ही खाना योग्य है।

vi. जूठे भोजन के दोष

1. अपने पुत्र भाई मित्र आदि के साथ शामिल होकर एक ही बर्तन में भोजन करना उचित नहीं है।
2. मनुष्य कुत्ता बिल्ली आदि का जूठा भोजन त्यागना योग्य है।

vii. अंग्रेजी दवाओं के दोष

1. वर्तमान में जो विदेशी दवाएँ होती हैं, जिनके निर्माण का ठीक तरह से पता नहीं चलता और जिनमें अशुचि पदार्थों के रहने की सम्भावना रहती है।
2. जो पेय औषधियाँ हैं, उनका सेवन करना अजानफल के समान निषिद्ध जानना चाहिए।

अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार

अपने द्वारा न्याय से कमाये गये द्रव्य में से संयम का उपकारी भोजन व दवाई आदि का भक्तिभावपूर्वक सुपात्र को देना, **अतिथिसंविभागव्रत** है।

सुपात्र की अतिथि संज्ञा है। उत्तम सुपात्र मुनि हैं, मध्यम सुपात्र व्रती गृहस्थ है और जघन्य सुपात्र अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं।

वर्तमान में इस परम्परा में ह्रास परिलक्षित हो रहा है; इसलिए सदाचार को स्थिर रखने के लिए अतिथिसंविभागव्रत के पालन करने पर दृढ़ता से ध्यान देना आवश्यक है।

अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

सचित्त-निक्षेपाऽपिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य-कालाऽतिक्रमाः।[260]

अर्थात् 1. सचित्तनिक्षेप, 2. सचित्ताऽपिधान, 3. परव्यपदेश, 4. मात्सर्य, 5.कालाऽतिक्रम – ये पाँच अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार हैं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इनके नाम किंचित् अन्तर लिये हैं – 1. हरितपिधान, 2. हरितनिधान, 3. अनादर, 4. अस्मरण, 5. मत्सरत्व।

1. **सचित्त-निक्षेप या हरितपिधान –** खाने-पीने की वस्तु, संयत के काम न आ सके – इस बुद्धि से अथवा अज्ञान से या जल्दी में उसे सचित्त अर्थात् सजीव कमलपत्र पलाशपत्र कदलीपत्र आदि पर, गीली पृथ्वी या उस पर बने चूल्हे आदि पर, सचित्त जल से गीले बर्तनों आदि में रख देना, **सचित्त-निक्षेप या हरितपिधान** है।

2. **सचित्तापिधान या हरितनिधान –** अपिधान का अर्थ ढाँकना है। अपिधान और आवरण एकार्थवाची हैं। खाने पीने की वस्तु, संयत के काम न आ सके – इस बुद्धि से उन वस्तुओं को सचित्त कमलपत्र आदि से ढ़क देना अथवा ऐसी वस्तु को संयमी को देना, **सचित्तापिधान या हरितनिधान** है।

3. **परव्यपदेश या अन्यव्यपदेश –** अपनी देय वस्तु को 'यह अन्य की है' – ऐसा कह कर अर्पण करना, अथवा दूसरे दाता के देय द्रव्य का स्वयं अर्पण कर देना अथवा 'मुझे कुछ कार्य है, तू दान कर देना' अथवा 'दूसरे दाता यहाँ विद्यमान हैं, मैं ही अकेला दाता नहीं हूँ' अथवा 'दूसरे दाता हैं, मैं ही क्यों दान करूँ या दान देने की चिन्ता करूँ' अथवा 'और बहुत देने वाले हैं, अतः मैं देकर क्या करूँगा' – ऐसा व्यपदेश या कथन करके स्वयं दान देने से बचना अथवा धनलाभ व्यापार आदि कार्यों में व्यस्त होने के कारण या सूतक आदि का बहाना बना कर, दूसरे के हाथ से दान दिलाना, आदि, **परव्यपदेश या अन्यव्यपदेश** है।

   शंका – परव्यपदेश अतिचार क्यों है ?

   समाधान – धनादि लाभ की आकांक्षा से आहार देने के समय व्यापार को न छोड़ सकने के कारण योग्यता होते हुए भी दूसरे से दान दिलाने के कारण परव्यपदेश अतिचार है। यशस्तिलक चम्पू में कहा है –

   अपने द्रव्य के द्वारा दूसरों से धर्म या दान कराने से धनादिक की प्राप्ति तो होती है, परन्तु वह अपने भोग के लिए नहीं होती, उसका भोक्ता दूसरा ही होता है क्योंकि भोज्यपदार्थ और भोजन करने की शक्ति, स्त्री की प्राप्ति और रतिशक्ति का होना, विभव और दान देने की शक्ति का होना – ये स्वयं धर्म करने के फल हैं।

4. **मात्सर्य या मत्सरत्व–** दान देते हुए भी पात्र के प्रति आदर भाव न रखना, दान देने में हर्ष नहीं मानना अथवा अन्य दाता के दानादि गुणों को न सह सकना, **मात्सर्य या मत्सरत्व** है।

   अथवा 'यदि मैं दान नहीं दूँगा तो लोग मुझे हीनदृष्टि से देखेंगे' – ऐसा विचार करके दान देना, **मात्सर्य** है।

5. **कालातिक्रम या अस्मरण–** अतिथि को भोजन न कराना पड़े – इस बुद्धि से भिक्षा के समय को टाल कर स्वयं भोजन करना अथवा जिस तिस प्रकार अतिथि के भोजनकाल का अतिक्रमण करना, **कालातिक्रम** है।

   अथवा भिक्षाकाल के अलावा दूसरा काल अकाल है या अयोग्य काल है, अर्थात् साधुओं के भिक्षाकाल को टाल कर उसमें भोजन कराने का उपक्रम करना, **कालातिक्रम** है।

   अथवा आहार का समय हो चुका है, पात्र को भी भूख वेदना हो रही होगी – ऐसा विचार नहीं करके आहारपूर्व की क्रियाओं में व्यर्थ समय बर्बाद करना, **कालातिक्रम** है।

आहारादि दान इस समय ऐसे पात्र को देना चाहिए या देने योग्य वस्तुओं में यह वस्तु दी है या नहीं दी है; इस प्रकार की स्मृति का अभाव होना, **अस्मरण** है।

दातार के पाँच दोष[261]

1. विलम्ब से दान देना।
2. उदास होकर दान देना।
3. दुर्वचन कह कर दान देना।
4. निरादरपूर्वक दान देना।
5. दान दिये पीछे पछताना।

सल्लेखना व्रत के अतिचार

सल्लेखना व्रत के पाँच अतिचार बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

जीवित-मरणाऽऽशंसा-मित्राऽनुराग-सुखाऽनुबन्ध-निदानानि।[262]

अर्थात् 1. जीविताशंसा 2. मरणाशंसा 3. मित्रानुराग 4. सुखानुबन्ध 5. निदान – ये सल्लेखना व्रत के पाँच अतिचार हैं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इन अतिचारों में सुखानुबन्ध की जगह भय तथा मित्रानुराग की जगह मित्रस्मृति नामक अतिचारों के उल्लेख हैं, शेष अतिचारों के नाम समान हैं।

1. **जीविताशंसा** – पूजा सत्कार और वैयावृत्ति आदि देख कर जीने की चाह करना, **जीविताशंसा** नामक अतिचार है।
2. **मरणाशंसा** – पूजा सत्कार सेवा और वैयावृत्ति आदि न होते देख कर मरने की चाह करना, **मरणाशंसा** नामक अतिचार है।
3. **मित्रानुराग या मित्रस्मृति** – ये हमारे बाल्यकाल के मित्र हैं, विपत्ति पड़ने पर इन्होंने हमारी बड़ी सेवा की; इस प्रकार पुनः पुनः मित्रों का स्मरण करके उनके प्रति अनुराग रखना, **मित्रानुराग** नामक अतिचार है।
4. **सुखानुबन्ध या भय** – पहले भोगे हुए सुखों का पुनः पुनः स्मरण कर उन्हें ताजा करना, **सुखानुबन्ध** नामक अतिचार है।
5. **निदान** – तपश्चर्या का फल भोग के रूप में चाहना, **निदान** नामक अतिचार है।

निष्कर्ष – अहिंसाणुव्रत आदि व्रतों के जो दोष अतिचार के प्रकरण में बताये गये हैं, वे यदि यथासम्भव अज्ञान असावधानी और मोहवश होते हैं तो अतिचार हैं और यदि जानबूझ कर किये जाते हैं तो अनाचार हैं। तात्पर्य यह है कि अतिचार को अतिचार समझ करना, अनाचार है।

श्रावक चर्या से सम्बन्धित अतिचार[263]

1. पूजन के अतिचार

- पूजन करते हुए नाक छिनकना।
- खाँसी आने पर कफ थूकना।
- जँभाई लेना।
- अशुद्ध वस्त्र पहन कर पूजन करना। आदि।

2. अभिषेक के अतिचार

- अभिषेक करते समय पादसंकोच करना या फैलाना।
- भृकुटी चढ़ाना।
- अति तीव्र या अति मन्द स्वर से अभिषेक पाठ बोलना।
- वेग के साथ जलधारा छोड़ना। आदि।

3. मौन व्रत के अतिचार

- हाथ आदि से संकेत करना।

- खखार कर बुलाना।
- थाली आदि बजा कर बुलाना।
- मेंढ़क के समान टर्र टर्र करते हुए अस्पष्ट बोलना या गुनगुनाना। आदि।

4. रात्रिभोजन त्याग व्रत या अनस्तमित व्रत के अतिचार

- सूर्यास्त के पश्चात् भी प्रकाश रहने तक खाना पीना।
- अन्न न खाकर रात्रि में दूध, फल आदि का सेवन करना।
- स्वयं न खाना, परन्तु दूसरों को खिलाना पिलाना।
- रात्रि में बने पदार्थ खाना। आदि।

5. जलगालन या पानी छानने के अतिचार

- दो मुहुर्त के बाद बिना छना पानी पीना।
- पतले और जीर्ण वस्त्र से गालना।
- जिवानी यथास्थान नहीं डालना। आदि।

व्यसनत्याग के अतिचार[264]

1. जुआ व्यसन त्याग के अतिचार या दोष

- होड़ लगाना।
- सौदा-सट्टा करना।
- हार-जीत की भावना से ताश-पत्ते आदि खेलना। आदि।

2. मांसभक्षण व्यसन त्याग के अतिचार या दोष

- चमड़े में रखे घी, तेल, जल आदि का सेवन करना।
- चलित रस वाले दूध, दही आदि को खाना।
- खीलन-फूलन वाले पक्वान्नों आदि को खाना।
- माँस मिश्रित या माँस निर्मित दवाएँ बेचना। आदि।

3. मद्यपान व्यसन त्याग के अतिचार या दोष

- सभी प्रकार के अचार, मुरब्बा, आसव आदि का सेवन करना।
- मर्यादा के बाहर के अर्क पीना।
- जिसके दो दिन व दो रात बीत गये हैं – ऐसे दही व छाछ का सेवन करना।
- जिस पर फुई आ गई हो – ऐसी काँजी का सेवन करना।
- कोकाकोला आदि पीना।
- भाँग, गाँजा, अफीम, चरस, बीड़ी सिगरेट आदि नशाकारक पदार्थों का सेवन करना।
- मदिरा आदि को बेचना। आदि।

4. वेश्यासेवन त्याग के अतिचार या दोष

- गीत, संगीत और वाद्यों की ध्वनि सुनने में आसक्ति करना।
- व्यभिचारी-जनों की संगति करना।
- वेश्या-गृह-गमन आदि करना।
- सिनेमा-नाटकादि देखना। आदि।

5. शिकार या आखेट व्यसन त्याग के अतिचार या दोष

- चित्रों को फाड़ना।
- चित्र वाले वस्त्रों को फाड़ना।
- मिट्टी-प्लास्टिक आदि से बने जानवरों को तोड़ना।
- शिकार करने से सम्बन्धित चित्र बनाना। आदि।

6. चोरी व्यसन त्याग के अतिचार

- भागीदार के भाग को हड़पना।
- भाई-बन्धुओं का भाग न देना।
- अपने समीप वाली दूसरों की भूमि में अपना अधिकार बढ़ाना। आदि।

7. परस्त्रीसेवन व्यसन त्याग के अतिचार या दोष

- अपने साथ विवाह की इच्छा से किसी कन्या को दूषण लगाना।
- गन्धर्व विवाह करना।
- कन्याओं को उड़ा कर उनसे दुराचार कराना। आदि।

○ **मधु त्याग के अतिचार**

- गुलाब आदि फूलों को खाना।
- उनसे बने गुलकन्द खाना।
- महुआ खाना तथा फूलों का रस य उनसे बना हुआ आसव आदि का सेवन करना।
- मधु मिश्रित अवलेह आदि खाना।
- वस्तिकर्म, नेत्रांजन आदि में मधु का उपयोग करना।
- मधु आदि को बेचना। आदि।''

सम्यग्ज्ञान के अतिचार[265]

- असमय में स्वाध्याय करना।
- श्रुत अथवा श्रुतधारियों की विनय न करना।
- अनुयोग आदि को ग्रहण करने में उसके योग्य अवग्रह न करना।
- गुरु का नाम छिपाना।
- व्यंजन, शब्द आदि छोड़ना अथवा अधिक बोलना।
- अर्थ का अन्यथा कथन करना।

श्रुत के अतिचार

- द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की शुद्धि के बिना श्रुत का पढ़ना।
- अक्षर, पद आदि को कम करना अथवा उनको बढ़ाना, अथवा उनको आगे-पीछे करके पौवापर्य रचना में विपरीतता करना, विपरीत अर्थ करना, ग्रन्थ और अर्थ में विपरीतता करना।

ज्ञान के चौदह अतिचार

1. **व्याविद्ध** – आगमपाठ को आगे पीछे करना।
2. **व्यत्याम्रेडित** – मूलपाठ में अन्य पाठ का मिश्रण करना।
3. **हीनाक्षर** – अक्षरों को न्यून कर उच्चारण करना।
4. **अत्यक्षर** – अक्षरों को अधिक कर उच्चारण करना।
5. **पदहीन** – पदों को कम कर उच्चारण करना।
6. **विनयहीन** – विनयरहित उच्चारण करना।
7. **घोषहीन** – उदात्त आदि घोष (उतार-चढ़ाव) रहित उच्चारण करना।
8. **योगहीन** – सम्बन्धरहित उच्चारण करना।
9. **सुष्ठदत्त** – योग्यता से अधिक दान देना।
10. **दुष्ठुप्रतिच्छित्त** – ज्ञान को सम्यक् भाव से ग्रहण न करना।
11. **अकाल-स्वाध्याय** – अकाल में स्वाध्याय करना।
12. **कालेऽस्वाध्याय** – स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न करना।
13. **अस्थितौ स्वाध्याय** – अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय करना।
14. **स्थितौऽस्वाध्याय** – स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न करना।

सूत्र के बत्तीस दोष[266]

सूत्र के सात गुण माने गये हैं – अल्पाक्षर, असन्दिग्ध, सारवान्, गूढ़, निर्दोष, हेतुयुक्त एवं तथ्यपूर्ण। इन सभी गुणों का विस्तृत विवेचन डॉ. वीरसागर ने अपने लेख में किया है। जैसा कि सूत्र के अल्पाक्षर होने के सम्बन्ध में वैयाकरणों का निम्न वाक्य प्रसिद्ध है – **अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।** अर्थात् यदि सूत्र में से आधी मात्रा भी कम हो जाए और उसका भाव वैसा का वैसा सुरक्षित रहे तो वैयाकरणों को पुत्रप्राप्ति के समान आनन्द होता है। सूत्र के इन गुणों में कुछ गुण तो लेखक और वक्ताओं को भी ध्यान देने योग्य हैं। जिस प्रकार मुनिराज, भोजन के एक एक ग्रास को 32 दोषों को टाल कर ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार सज्जनों को अपने वक्तृत्व में 32 दोषों को अवश्य टालना चाहिए। इसी प्रकार सूत्र के 'निर्दोष' विशेषण की व्याख्या करते हुए **वृहत्कल्पसूत्र**[267] के आधार पर उसके 32 दोषों का कथन किया गया है –

1. **अलीक** – जो है, उसे नहीं कहना और जो नहीं है, उसे कहना – ऐसे मिथ्या या झूठे वचन **अलीक दोष से दूषित** कहलाते हैं। जैसे, जीव नहीं है। आदि।
2. **उपघात-जनक** – जो वचन हिंसा के उत्पादक हों – ऐसे वचन **उपघात-जनक दोष से दूषित** कहलाते हैं। जैसे, माँस-भक्षण में कोई दोष नहीं है। आदि।
3. **असम्बद्ध या अपार्थक**– जिस वचन के अवयवों का तो अर्थ हो परन्तु उसके समुदाय का कोई अर्थ नहीं निकलता हो – ऐसे वचन **असम्बद्ध या अपार्थक दोष से दूषित** कहलाते हैं। जैसे, 'मेज पर पृथ्वी है और पर्वत पर समुद्र है।' आदि।
4. **निरर्थक** – जिस वचन के अवयवों का कोई अर्थ न हो – ऐसे वचन **निरर्थक दोष से दूषित** कहलाते हैं। जैसे, 'डित्थ डवित्थ वाजिन कछ' आदि।
5. **छल** – वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके कथन में दोषारोपण करना – ऐसे वचन **छल दोष से दूषित** कहलाते हैं। इसके तीन प्रकार हैं – **1. सामान्य छल** – 'अहो! यह ब्राह्मण विद्या और आचरण से सम्पन्न है' – इस वाक्य में विशेष ब्राह्मण को विद्या और आचरण से सम्पन्न कहा है, उसका छल करके सभी ब्राह्मणों को विद्या और आचरण से सम्पन्न कहना – यह **सामान्य छल** है। **2. वाक्छल** – 'यह व्यक्ति, नवकम्बलवान् है' – इस वाक्य में 'नव' शब्द का अर्थ नवीन है, उसका छल करके नव शब्द का अर्थ नौ करना – यह **वाक्छल** है। **3. उपचार छल** – मंच पर बैठे व्यक्तियों को रोते हुए देख कर यह कहा जाता है कि मंच रोता है तो उसका छल करके कोई कहे कि 'अरे ! मंच तो अचेतन पदार्थ है, वह कैसे रो सकता है ?' – यह **उपचार छल** है।
6. **दुहिल** – जो आगमवचनों का अपलाप करें – ऐसे वचन, **दुहिल दोष से दूषित** कहलाते हैं। जैसे, यह लोक इतना ही है, जितना कि दृष्टिगोचर हो रहा है। आदि।
7. **निस्सार** – जिस कथन से कोई सारभूत प्रयोजन नहीं निकलता हो – ऐसे वचन **निस्सार दोष से दूषित** कहलाते हैं। जैसे, अस्थिचर्म का ढाँचा मात्र वृद्ध हैं। आदि।
8. **अधिक** – जहाँ आवश्यकता से अधिक वचनों का प्रयोग किया जाए – ऐसे वचन **अधिक दोष से दूषित** कहलाते हैं।
9. **न्यून** – जहाँ आवश्यकता से कम वचनों का प्रयोग किया जाए, जिससे विषय ही स्पष्ट न हों – ऐसे वचन, **न्यून दोष से दूषित** कहलाते हैं।
10. **पुनरुक्त** – जहाँ शब्द या अर्थ का पुनः पुनः उच्चारण होता है – ऐसे वचन **पुनरुक्त दोष से दूषित** कहलाते हैं।
11. **व्याहत** – जहाँ पूर्वकथन का उत्तरकथन से खण्डन हो जाता है – ऐसे वचन **व्याहत दोष से दूषित** कहलाते हैं।
12. **अयुक्त** – जो युक्तिसंगत नहीं होते – ऐसे अतिशयोक्तियुक्त वचन **अयुक्त दोष से दूषित** कहलाते हैं। जैसे, कर्म भी हैं और उसका फल भी है, परन्तु उसका कोई भोक्ता नहीं है।
13. **क्रम-भिन्न** – जहाँ उचित क्रम का उल्लंघन होता है – ऐसे वचन **क्रम-भिन्न दोष से दूषित** कहलाते हैं। जैसे, वर्द्धमान के माता-पिता का नाम सिद्धार्थ-त्रिशला था। इस वाक्य में माता का नाम पहले और पिता का नाम बाद में आना चाहिए, जबकि पिता का नाम पहले और माता का नाम बाद में आया है।

14. **वचन-भिन्न** – एकवचन आदि के सम्यक् प्रयोग से रहित कथन, **वचन-भिन्न दोष से दूषित** कहलाते हैं।
15. **विभक्ति-भिन्न** – उचित विभक्ति के प्रयोग से रहित कथन, **विभक्ति-भिन्न दोष से दूषित** कहलाते हैं।
16. **लिंग-भिन्न** – उचित लिंग के प्रयोग से रहित कथन, **लिंग-भिन्न दोष से दूषित** कहलाते हैं।
17. **अनभिहित** – जो शास्त्र नहीं लिखे – ऐसे स्वेच्छाचारी वचन **अनभिहित दोष से दूषित** कहलाते हैं।
18. **अपद** – उपयुक्त छन्द आदि पदों के प्रयोग से रहित वचन, **अपद दोष से दूषित** कहलाते हैं। जैसे, अनुष्टुप् छन्द पढ़ते हुए अन्य छन्द की राग का प्रयोग करना। आदि।
19. **स्वभाव-हीन** – किसी वस्तु को उसके स्वभाव से रहित बताने वाले वचन, **स्वभाव-हीन दोष से दूषित** कहलाते हैं। जैसे, वायु को स्थिर बताना। आदि।
20. **व्यवहित** – प्रकृत प्रकरण से च्युत होकर अन्य वचन कहने लगना, **व्यवहित दोष से दूषित** कहलाता है।
21. **काल-दोष** – भूत-भविष्य-वर्तमान कालों का अन्यथा प्रयोग करना, **काल-दोष दोष से दूषित** कहलाता है।
22. **यति-दोष** – विराम चिह्न या स्थलों का अन्यथा प्रयोग करना, **यति-दोष दोष से दूषित** कहलाता है। जैसे, श्लोक आदि छन्दों को पढ़ते हुए गलत स्थल पर रुकना। आदि।
23. **छवि-दोष** – छवि अर्थात् अलंकार। अलंकारों का अनुचित प्रयोग करना, **छवि-दोष दोष से दूषित** कहलाता है।
24. **समय-विरुद्ध** – किसी दर्शन विशेष के नाम पर उसके विरुद्ध बात कहना, **समय-विरुद्ध दोष से दूषित** कहलाता है। जैसे, जैनदर्शन में वस्तु को एकान्तस्वरूप बतलाया है। आदि।
25. **वचन-मात्र** – कुछ भी कहने के लिए निराधार बात बोलना, **वचन-मात्र दोष से दूषित** कहलाता है। जैसे, कोई पुरुष, कहीं पर भी कील ठोक कर कहे कि यह पृथ्वी का मध्यबिन्दु है। आदि।
26. **अर्थापत्ति** – द्विअर्थक वाक्यों का प्रयोग करना, **अर्थापत्ति दोष से दूषित** कहलाता है। जैसे, यदि कोई कहता है कि गाय को नहीं मारना चाहिए तो इससे यह भी अर्थ निकलता है कि अन्य पशुओं को मार सकते हो। आदि।
27. **असमास** – जहाँ सामासिक वचनों का प्रयोग प्रासंगिक हों, फिर भी उनका प्रयोग नहीं करना या उनका अशुद्ध प्रयोग करना – ऐसे वचन **असमास दोष से दूषित** कहलाते हैं। जैसे, 'नरेश जा रहा है' के स्थान पर 'नर का ईश जा रहा है' – ऐसा कहना। आदि।
28. **उपमा** – जहाँ उपमा का अन्यथा प्रयोग हो – ऐसे वचन **उपमा दोष से दूषित** कहलाते हैं। जैसे, पेय पदार्थों के लिए ठोस पदार्थों की उपमा देना अथवा शीत पदार्थों के लिए सूर्य की उपमा देना। आदि।
29. **रूपक** – जहाँ रूपकों का अन्यथा प्रयोग हो – ऐसे वचन **रूपक दोष से दूषित** कहलाते हैं। जैसे, यह पर्वत रूपवान् है क्योंकि यह अपने अंगों के द्वारा शून्य को बताता है। आदि।
30. **पर-प्रवृत्ति** – जहाँ बहुत वर्णन करके भी वस्तु का निर्देश न किया जाए – ऐसे वचन **पर-प्रवृत्ति दोष से दूषित** कहलाते हैं।
31. **पद** – व्याकरण शास्त्रों में कहा है कि '**सुब्तिङन्तं पदं**' अर्थात् व्याकरण से असिद्ध पद का प्रयोग करना, **पद दोष से दूषित** कहलाता है, इस दोष को ग्राम्यत्व दोष भी कहते हैं।
32. **सन्धि** – जहाँ सन्धि का योग होते हुए भी सन्धि न की जाए अथवा अशुद्धरूप से सन्धि की जाए तो ऐसे वचन **सन्धि दोष से दूषित** कहलाते हैं।

पात्रदान के पाँच अतिचार[268]

1. दान में दी जाने वाली वस्तु हरित पत्र में रखना।
2. हरित पत्र से ढाँकना।
3. अनादर से दान देना।
4. दान की विधि भूल जाना या दान देने की सुधि नहीं रखना।
5. ईर्ष्या बुद्धि से दान देना।

बाह्य तप के अतिचार[269]

अनशन तप के अतिचार

- स्वयं भोजन न करते हुए भी दूसरों को भोजन कराना।
- मन-वचन-काय से दूसरों को भोजन की अनुमति देना।
- स्वयं भूख से पीड़ित होने पर मन से आहार की अभिलाषा करना।
- मुझे पारणा कौन कराएगा ? अथवा कहाँ पारणा होगी अथवा रसीले आहार के बिना मेरी थकान दूर नहीं होती, इत्यादि चिन्ता होना।
- प्रचुर निद्रा में पड़ कर छह काय के जीवों की बाधा में मन या वचन या काय से प्रवृत्ति होना।
- मैंने यह संक्लेशकारी उपवास व्यर्थ ही किया, यह सन्तापकारी है, इसे भविष्य में नहीं करूँगा; आदि संकल्प करना। इत्यादि।

अवमौदर्य तप के अतिचार

- मन से बहुत भोजन करने में आदर मानना।
- दूसरों को बहुत भोजन कराने की चिन्ता होना।
- जब तक आपकी तृप्ति हो, तब तक आप भोजन करो – ऐसा कहना।
- 'मैंने बहुत भोजन किया' – ऐसा किसी के कहने पर 'आपने अच्छा किया' – ऐसा कहना।
- हाथ के संकेत से कण्ठ प्रदेश को स्पर्श करके बतलाना कि मैंने आकण्ठ भोजन किया है। इत्यादि।

वृत्तिपरिसंख्यान तप के अतिचार

- सात घरों में ही प्रवेश करुँगा – ऐसा संकल्प करके सात से अधिक घरों में प्रवेश करना।
- एक ही मोहल्ले में जाऊँगा – ऐसा संकल्प करके एक मुहल्ले से दूसरे मोहल्ले में जाना।
- दरिद्र के घर ही जाऊँगा – ऐसा संकल्प करके दरिद्र के अलावा अन्य घर में प्रवेश करना।
- ऐसे दाता पुरुष या दात्री स्त्री के द्वारा दिया गया आहार ही ग्रहण करूँगा – ऐसा संकल्प करके अन्य दाता या दात्री के घर भोजन करना।
- अपने अलावा अन्य को भोजन कराने का विचार करना। इत्यादि।

रसपरित्याग तप के अतिचार

- रसों में अति आसक्ति करना।
- दूसरे को रसयुक्त आहार का भोजन कराना।
- दूसरे को रसयुक्त आहार करने की स्वीकृति देना। इत्यादि।

विविक्त शय्यासन अथवा अभ्रावकाश तप के अतिचार

- सचित्त भूमि पर, जिसमें त्रससहित हरितकाय हो, तथा छिद्र वाली भूमि पर सोना, भूमि और शरीर को पीछी से शुद्ध किये बिना सोते हुए हाथ पैर संकोचना, फैलाना, करवट लेना, अथवा शरीर खुजाना।
- बर्फ और वायु से पीड़ित होने पर 'कब ये बन्द होंगे' – ऐसी चिन्ता करना। 'इस प्रदेश में अधिक वायु चलती है' – ऐसा संक्लेश करना।
- बाँस के पत्ते वगैरह से शरीर पर गिरी बर्फ को हटाना तथा बर्फ से घट्टन करना।
- शीत दूर करने के साधन आग, ओढ़ने के वस्त्र आदि का स्मरण करना।

कायक्लेश तप के अतिचार

- गर्मी से पीड़ित होने पर शीतलद्रव्य की प्राप्ति की इच्छा होना।
- मेरा सन्ताप कैसे दूर होगा ? – ऐसी चिन्ता होना।
- पूर्व में भोगे हुए शीतल द्रव्यों एवं शीतल प्रदेशों को याद करना।
- कठोर धूप से द्वेष करना।

- शीतल प्रदेश से अपने शरीर को पीछी से शोधे बिना धूप में प्रवेश करना अथवा घाम से सन्तप्त शरीर को पीछी से शोधे बिना छाया में प्रवेश करना। आदि।
- वृक्ष के मूल में जाकर हाथ-पैर, अथवा शरीर से जलकायिक जीवों को पीड़ा देना।
- शरीर में लगे हुए जल-कणों को हाथ वगैरह से पोंछना।
- हाथ या पैर से शिलातल आदि पर पड़े हुए जल को दूर करना।
- कोमल गीली भूमि पर सोना। अथवा जल के बहने के निचले प्रदेश में ठहरना।
- शुष्क स्थान पर रहते हुए 'कब वर्षा होगी' – ऐसी, अथवा वर्षा होने पर 'कब वर्षा रुकेगी' – ऐसी चिन्ता करना। अथवा वर्षा से बचने के लिए छाता आदि का प्रयोग करना।

अन्तरंग तपों में कतिपय तपों के अतिचार

प्रायश्चित्त तप के अतिचार

- **आलोचना प्रायश्चित्त के अतिचार** – आकम्पित, अनुमानित आदि दोष, **आलोचना प्रायश्चित्त के अतिचार** कहलाते हैं, जिनकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है।
- **प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त के अतिचार** – अपने द्वारा लगे अतिचारों में मन से ग्लानि का न होना अतिचार है तथा अज्ञान, प्रमाद, कर्मों की तीव्रता, आलस्य आदि से मैंने यह अशुभकर्म के बन्ध कराने में निमित्तभूत कार्य किया, यह बुरा किया – ऐसा जुगुप्साभाव नहीं रखना **प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का अतिचार** है।
- **तदुभय प्रायश्चित्त के अतिचार** – उक्त आलोचना और प्रतिक्रमण, दोनों के संयुक्तरूप से अतिचार, **तदुभय प्रायश्चित्त के अतिचार** कहलाते हैं।
- **विवेक प्रायश्चित्त के अतिचार** – भावपूर्वक विवेक का न होना, विवेक तप का अतिचार है।
- **व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त के अतिचार** – शरीर से ममता हटाना, व्युत्सर्ग तप है परन्तु शरीर से ममत्व दूर नहीं करना, अशुभ ध्यानरूप परिणति करना, तथा अन्यत्र वर्णित कायोत्सर्ग के सभी दोष, **व्युत्सर्ग तप के अतिचार** हैं।
- **छेद प्रायश्चित्त के अतिचार** – मेरी दीक्षा छेदने से मैं छोटा हो गया – ऐसा संक्लेश करना, **छेद प्रायश्चित्त का अतिचार** है।
- **मूल प्रायश्चित्त के अतिचार** – भावपूर्वक रत्नत्रय को ग्रहण न करना, **मूल प्रायश्चित्त के अतिचार** है।

कायोत्सर्ग के अतिचार[270]

कायोत्सर्ग करने वाले के द्वारा होने वाले सम्भावित दोष इस प्रकार हैं –

1. घोड़े की तरह पैर को थोड़ा मोड़ कर, खड़ा होना, **घोटकपाद दोष** है।
2. बेल की तरह इधर-उधर हिलते हुए खड़े होना, **लतावक्र दोष** है।
3. स्तम्भ की तरह शरीर को स्तब्ध करके खड़े होना, **स्तम्भस्थिति दोष** है।
4. स्तम्भ के आश्रय से खड़े होना, **स्तम्भावष्टम्भ दोष** है।
5. दीवार के आश्रय से खड़े होना, **कुड्याश्रित दोष** है।
6. ऊपर की छत से सिर को लगा कर, खड़े होना, **मालिकोद्वहन दोष** है।
7. ओष्ठ को लटका कर खड़े होना, **अधरोष्ठ दोष** है।
8. दृष्टि अपने स्तनों पर रख कर खड़े होना, **स्तनदृष्टि दोष** है।
9. कौए की तरह आँखों को इधर-उधर घुमाना, **काकावलोकन** या **काकालोकन दोष** है।
10. लगाम से पीड़ित मुख वाले घोड़े की तरह मुख चलाते हुए अवस्थित होना, **खलीनित दोष** है।
11. जैसे, कन्धे पर जुआ होने पर बैल अपना सिर नीचे डालता है; उस तरह सिर को लटका कर, नीचा करके अवस्थापन करना, **युगकन्धर** या **लम्बित दोष** है।
12. सिर को ऊपर को उठा कर खड़े होना, **उत्तरित दोष** है।
13. ग्रीवा को ऊपर उठा कर खड़े होना, **ग्रीवोर्ध्वनयन** या **ग्रीवोन्नयन दोष** है।

14. ग्रीवा को नीचे की तरफ झुका कर खड़े होना, **ग्रीवाधोनयन** या **ग्रीवावनमन दोष** है।
15. बालक को दूध पिलाने को उद्यत स्त्रीवत् वक्षःस्थल के स्तनभाग को ऊपर उठा कर खड़े होना, **स्तनोन्नति दोष** है।
16. कैथ के फल को ग्रहण करने वाला मनुष्य जैसे, अपनी हथेली को फैलाता है; उस तरह हथेली को फैला कर; या पाँचों अुगुलियों को संकुचित करके अवस्थित होना, **कपित्थमुष्टि दोष** है।
17. सिर को चलाते हुए अवस्थान करना, **शीर्ष-प्रकम्पित** या **सिरचालन दोष** है।
18. गूँगे की तरह हुंकार करते हुए अवस्थान करना, **हुंकार दोष** है।
19. गूँगे की तरह नाक से वस्तु को दिखलाते हुए अवस्थान करना, **मूकसंज्ञा दोष** है।
20. अंगुली को चटकाते हुए या चुटकी बजाते हुए अवस्थान करना, **अंगुलिचालन दोष** है।
21. भौं को नचाते हुए या टेढ़ी करके अवस्थान करना, **भ्रूक्षेप दोष** है।
22. भीलनी की तरह अपने अग्रभाग को हथेली से ढाँकते हुए अवस्थान करना, **शबरी-गुह्य-गूहन दोष** है।
23. बेड़ी से जकड़े हुए मनुष्य की भाँति खड़े होना, **शृंखलित दोष** है।
24. मदिरा पिये हुए की तरह अथवा पराधीन शरीर वाले की तरह खड़े होना, **उन्मत्त दोष** है।
25. कायोत्सर्ग करते समय थूकना, **निष्ठीवन दोष** है।
26. शरीर को इधर उधर स्पर्श करना, **वपुःस्पर्श दोष** है।
27. योग्य प्रमाण काल से कम काल तक कायोत्सर्ग करना, **हीन** या **न्यून दोष** है।
28. आठों या दशों दिशाओं की तरफ देखते हुए कायोत्सर्ग करना, **दिगवलोकन दोष** है। इस दोष को आठ या दश दिशाओं की अपेक्षा आठ या दश भेदरूप समझ सकते हैं – पूर्वदिशावलोकन, आग्नेयदिशावलोकन, दक्षिणदिशावलोकन, नैऋत्यदिशावलोकन, पश्चिमदिशावलोकन, वायव्यदिशावलोकन, उत्तरदिशावलोकन, ईशानदिशावलोकन, ऊर्ध्वदिशावलोकन एवं अधोदिशावलोकन।
29. लोगों को आश्चर्य उत्पन्न हो – ऐसे खड़े होना, **मायाप्रायास्थिति दोष** है।
30. लोगों को भय उत्पन्न हो – ऐसे खड़े होना, **पिशाच दोष** है।
31. वृद्धावस्था के कारण कायोत्सर्ग को छोड़ देना, **वयोपेक्षाविवर्जन दोष** है।
32. मन में विक्षेप होना या मन का चलायमान होना, **व्याक्षेपासक्तचित्तता दोष** है।
33. समय की कमी के करण कायोत्सर्ग के अंशों को छोड़ देना, **कालापेक्षा व्यतिक्रम दोष** है।
34. लोभवश चित्त में विक्षेप होना, **लोभाकुलता दोष** है।
35. कर्तव्य और अकर्तव्य के विवके से शून्य होना, **मूढ़ता दोष** है।
36. कायोत्सर्ग के समय हिंसादि के परिणामों का उत्कर्ष होना, **पापकर्मैकसर्गता दोष** है।

इस प्रकार **कायोत्सर्ग के अतिचार** या **दोष** जानना चाहिए।''

वन्दना के अतिचार[271]

1. वन्दना में तत्परता या आदर का अभाव, **अनादृत दोष** है।
2. आठ मदों के वश होकर अहंकारसहित वन्दना करना, **स्तब्ध दोष** है।
3. अर्हन्तादि परमेष्ठियों के अत्यन्त निकट होकर वन्दना करना, **प्रविष्ट दोष** है।
4. वन्दना के समय जंघाओं का स्पर्श करना, **परिपीड़ित दोष** है।
5. हिन्डोले की भाँति शरीर का अथवा मन का डोलना, **दोलायित दोष** है।
6. अंकुश की भाँति हाथ को मस्तक पर रखना, **अंकुशित दोष** है।
7. बैठे बैठे इधर उधर रींगना या खिसकना, **कच्छपरिंगित दोष** है।
8. मछली की भाँति कटिभाग को ऊपर को निकालना, **मत्स्योर्दूत दोष** है।
9. आचार्य आदि के प्रति आक्षेप या खिन्नता होना, **मनोदुष्ट दोष** है।
10. अपनी छाती के स्तनभाग का मर्दन करना अथवा दोनों भुजाओं से दोनों घुटने बाँध कर बैठना, **वेढ़िकाबद्ध दोष** है।

11. सप्त भययुक्त होकर वन्दना आदि करना, **भय दोष** है।
12. आचार्य आदि के भय से वन्दना करना, **विभ्य दोष** है।
13. चतुःप्रकार के संघ को अपना भक्त बनाने के अभिप्राय से वन्दना आदि करना, **ऋद्धिगौरव दोष** है।
14. भोजन, उपकरण आदि की चाह से वन्दना करना, **गौरव दोष** है।
15. गुरुजनों से छिपा कर वन्दना करना, **स्तेनित दोष** है।
16. गुरु की आज्ञा के प्रतिकूल वन्दना करना, **प्रतिनीत दोष** है।
17. तीनों योगों से द्वेषी को क्षमा धारण कराये बिना या उसे क्षमा किये बिना वन्दना करना, **प्रदुष्ट दोष** है।
18. तर्जनी अंगुली के द्वारा अन्य साधुओं को भय दिखाते हुए अथवा आचार्य आदि से स्वयं तर्जित होकर वन्दना आदि करना, **तर्जित दोष** है।
19. वन्दना के बीच में बातचीत करना, **शब्द दोष** है।
20. वन्दना के समय दूसरों को धक्का देना या उनकी हंसी आदि करना, **हेलित दोष** है।
21. कटि, ग्रीवा, मस्तक आदि पर तीन बल पड़ जाना, **त्रिवलित दोष** है।
22. दोनों घुटनों के बीच सिर रखना, **कुंचित दोष** है।
23. दिशाओं की तरफ देखना, अथवा दूसरे उसकी देखें, तब अधिक उत्साह से स्तुति आदि करना, **दृष्ट दोष** है।
24. गुरु की दृष्टि से ओझल होकर, अथवा पीछे प्रतिलेखना न करके वन्दना आदि करना, **अदृष्ट दोष** है।
25. संघ, जबरदस्ती मुझसे वन्दना आदि कराता है – ऐसा विचार आना, **संघकरमोचन दोष** है।
26. उपकरण आदि का लोभ हो जाने पर क्रिया करना, **आलब्ध दोष** है।
27. उपकरण आदि की आशा से वन्दना करना, **अनालब्ध दोष** है।
28. मात्रा प्रमाण की अपेक्षा हीन-अधिक करना, **हीन दोष** है।
29. वन्दना को थोड़ी ही देर में समाप्त करके उसकी चूलिकारूप आलोचना आदि को अधिक समय तक करना, **उत्तरचूलिका दोष** है।
30. मन ही मन में पढ़ना, ताकि दूसरे न सुन सकें अथवा वन्दना करते करते बीच बीच इशारे आदि करना, **मूक दोष** है।
31. इतनी जोर जोर से पाठ का उच्चारण करना, जिससे दूसरों को बाधा हो, वह **दुर्दर दोष** है।
32. पाठ को पंचम स्वर में गा गाकर बोलना, **सुललित या चलुलित दोष** है।

    इस प्रकार **वन्दना के बत्तीस दोष** कहे हैं।''

अतिचारों की सामान्य आलोचना-विधि

- शंका, कांक्षा, आदि **सम्यग्दर्शन के अतिचार** कहे हैं।
- **सम्यग्ज्ञान के अतिचार** निम्न प्रकार से हैं –
  - मन से सम्यग्ज्ञान की अवज्ञा करना, इस ज्ञान से क्या लाभ है, तप और चारित्र ही फलदायक हैं, उन्हें ही करना चाहिए – ऐसा विचार करना।
  - अथवा सम्यग्ज्ञान को 'यह मिथ्याज्ञान है' – ऐसा दूषण लगाना।
  - अथवा मन से, वचन से, काय से अपनी अरुचि प्रगट करना।
  - अथवा मुख की विरूपता से या सिर हिला कर, 'यह ऐसा नहीं है' – यह प्रगट करना।
- असंयम, **तप या चारित्र का अतिचार** है।
- अपनी शक्ति को छिपाना, **वीर्य का अतिचार** है।

– उक्त सब अतिचार, कृत-कारित-अनुमोदना के भेद से तीन प्रकार के हैं तथा **स्वयं** करना-कराना-अनुमोदना और **पर के द्वारा** करना-कराना-अनुमोदना – इस तरह कृत-कारित-अनुमोदना के दो प्रकार हैं। इस प्रकार सब प्रकारों से अतिचारों की आलोचना करना चाहिए।

साधु अवस्था में सम्भावित दोष या अतिचार

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन ने प्रवचनसार में लिखा है –

''अशुद्धोपयोग वास्तव में छेद है क्योंकि उससे शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का छेदन होता है और वही हिंसा है क्योंकि उससे शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का हिंसन होता है। श्रमण के जो शयन-आसन-स्थान-गमन आदि में जो असावधानीपूर्वक अप्रयत्नशील चर्या है, वह वास्तव में उसके लिए सतत सन्तानवाहिनी हिंसा ही है, जो कि अशुद्धोपयोगरूप छेद के बिना नहीं होती।

संयम का छेद (दोष) दो प्रकार का है – बहिरंग और अन्तरंग। उसमें मात्र कायचेष्टा सम्बन्धी बहिरंग छेद है और उपयोग सम्बन्धी अन्तरंग छेद है। दूसरे प्रकार से कहें तो अशुद्धोपयोग अन्तरंग छेद या हिंसा है और परप्राणों का घात वह बहिरंग छेद या हिंसा है। इनमें से अन्तरंग छेद ही विशेष बलवान है, बहिरंग छेद नहीं क्योंकि बहिरंग छेद अन्तरंग छेद का आयतन मात्र है।

जीव मरें या न मरें, अप्रयत आचार वाले के हिंसा निश्चित है तथा प्रयत आचार वाले समितिवान् के बहिरंग हिंसा मात्र से बन्ध नहीं है। कायचेष्टापूर्वक अन्य जीव के मरने पर इस जीव को बन्ध होता भी है और नहीं भी होता है किन्तु उपधि या परिग्रह से निश्चय ही बन्ध होता है क्योंकि परिग्रह, सर्वथा अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता; अतः अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह तो एकान्तिक बन्धरूप है, इसलिए भगवन्त अर्हन्तों ने – परम श्रमणों ने पहिले ही सर्व परिग्रह को छोड़ा है और इसीलिए दूसरों को भी, अन्तरंग छेद के समान प्रथम ही सर्व परिग्रह को छोड़ना योग्य है क्योंकि वह परिग्रह अन्तरंग छेद के बिना नहीं होता।

यदि साधु का त्याग निरपेक्ष न हो तो उसकी भावविशुद्धि नहीं होती और जो भाव से विशुद्ध न हो, उसके कर्मक्षय कैसे हो सकता है? जैसे, छिलके सद्भाव में चावलों में पाई जाने वाली अशुद्धता का त्याग नहीं होता; उसी प्रकार बहिरंग संग के सद्भाव में शुद्धोपयोगमूलक कैवल्य की उपलब्धि नहीं होती; अतः बहिरंग उपधि का निषेध भी अन्तरंग छेद का ही निषेध है क्योंकि उपधि के सद्भाव में उस साधु को मूर्च्छा, आरम्भ या असंयम न हो तो यह कैसे हो सकता है? तथा जो परद्रव्य में रत हो, वह आत्मा को कैसे साध सकता है?

साधु जीवन में जब श्रमण, सर्व उपधि (परिग्रह) के निषेध का आश्रय लेकर परमोपेक्षा संयम को प्राप्त करने का इच्छुक होने पर भी विशिष्ट काल क्षेत्र के वश होकर हीन शक्ति वाला होने से उसे प्राप्त करने में असमर्थ होता है, तब वह अनुत्कृष्ट संयम प्राप्त करता हुआ उसकी बहिरंग साधन मात्र उपधि का आश्रय करता है। इस प्रकार जिसका आश्रय किया जाता है – ऐसी उपधि, उपधिमात्र के कारण वास्तव में छेदरूप नहीं है, बल्कि छेद के निषेधरूप है क्योंकि जो उपधि, अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होती, वह छेदरूप है, किन्तु यह संयम की साधक उपधि तो श्रामण्यपर्याय की सहकारी कारणभूत शरीर की वृत्ति के हेतुभूत आहार-निहार आदि के ग्रहण-विसर्जन सम्बन्धी छेद के निषेधार्थ एवं संयम-ज्ञान के उद्देश्य से उपकरणस्वरूप ग्रहण की जाने के कारण सर्वथा शुद्धोपयोग सहित ही है, इसलिए छेद के निषेधरूप ही है।

यह **अनिषिद्ध उपधि** कैसी होनी चाहिए ? उसका वर्णन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं –

- वह संयम-ज्ञान-शौच की उपकरणस्वरूप होना चाहिए।
- उसकी मात्रा अत्यन्त अल्प होनी चाहिए।
- बन्ध की साधक होने से अनिन्दित होना चाहिए।
- वह असंयतजनों के काम की नहीं होने से उनके द्वारा अनिच्छनीय या अनभिलषणीय होना चाहिए।
- जिससे मूर्च्छा या मोह उत्पन्न हो – ऐसी नहीं होना चाहिए।

यहाँ यह **शंका** उत्पन्न होती है कि यहाँ अनिषिद्ध उपधि के वर्णन में इतनी शर्तों को क्यों लगाया गया है ? उसका **समाधान** यही है कि यहाँ श्रामण्य पर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं किया गया है – ऐसे अत्यन्त निकटवर्ती शरीर में भी 'यह परद्रव्य होने से परिग्रह है, वास्तव में अनुग्रह योग्य

नहीं है, किन्तु उपेक्षा योग्य ही है' – ऐसा कह कर भगवन्त अर्हन्तदेवों ने उस शरीर के प्रति भी अप्रतिकर्मपने का उपदेश दिया है तो फिर शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धि की सम्भावना के रसिक पुरुषों को शेष दूरवर्ती परिग्रह बेचारा कैसे अनुग्रह योग्य कैसे हो सकता है ?

जिनमार्ग में अनिषिद्ध उपधि के उदाहरणस्वरूप ही यथाजातरूप नग्नपना, गुरु के वचन, सूत्रों का अध्ययन और विनय को लिया गया है क्योंकि श्रमण कषायरहित है, इसलिए वह वर्तमान शरीर के अनुराग से या भावि दिव्य शरीर के अनुराग से आहार-विहार में अयुक्तरूप से प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि की साधकभूत श्रामण्यपर्याय के पालन के लिए ही केवल युक्ताहार-विहारी होता है।''[272]

दीक्षा के अयोग्य व्यक्ति

सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्दजी शास्त्री, अनगार धर्मामृत की प्रस्तावना में दिगम्बर श्वेताम्बर परम्परा का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि ''जैन श्रमण का पद एक बहुत ही आदरणीय और उच्च नैतिक मापदण्ड का स्थान है; अतः उसे धारण करने वाले में कुछ विशेषताएँ होना आवश्यक हैं। श्वेताम्बर संघ के अनुसार नीचे लिखे व्यक्ति श्रमण संघ में प्रवेश करने के अयोग्य माने गये हैं –

1. जिसकी आयु आठ वर्ष से कम है, 2. वृद्ध, 3. नपुंसक, 4. रोगी, 5. अंगहीन, 6. कायर या भीरु, 7. जड़बुद्धि, 8. चोर, 9. राजविरोधी, 10. पागल, 11. अन्ध, 12. दास, 13. धूर्त, 14. मूढ़, 15. कर्जदार, 16. भागा हुआ या भगाया हुआ, 17. गर्भिणी स्त्री तथा बालकवाला स्त्री।

इसके बाद वे आगे लिखते हैं कि जहाँ तक हम जानते हैं – दिगम्बर परम्परा में भी उक्त व्यक्ति, मुनिदीक्षा के अयोग्य माने गये हैं। श्वेताम्बर परम्परा में चारों वर्णों के व्यक्ति श्रमण हो सकते हैं, किन्तु दिगम्बर परम्परा में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण को ही उसके योग्य माना गया है।''[273]

श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने कहा है –

''जो महाव्रती सम्पूर्ण 28 मूलगुण और शील के भेदों से युक्त होते हुए भी संज्वलन कषाय के तीव्र उदय से व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों प्रकार के प्रमादों को करते हैं, वे प्रमत्त गुणस्थान वाले हैं, अतएव उन्हें चित्रल आचरण वाला माना गया है।''[274]

इस भूमिका में निम्न अपराध हो सकते हैं –

1. एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की विराधना, असत्यवचन, चोरी, मैथुन, परिग्रह – इन पापों में किंचित् दोष होना, अपराध हैं।
2. सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप को नष्ट करने वाला प्रतिकूल आचरण, उद्गम, उत्पादन, एषणा आदि छ्यालीस दोषों से युक्त वसदि आदि का सेवन करना, अपराध है।
3. दुर्भिक्ष के समय रोग आने पर, मार्ग में चोर, वैरी आदि के द्वारा निरोध व रुकावट हो जाने पर मन, वचन और काय की मलिनता होना, अपराध है।
4. प्रमाद के पन्द्रह भेद हैं – चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रिय-विषय, एक निद्रा और एक प्रणय।

- **चार विकथा** – 1. स्त्री-कथा 2. भक्त-कथा 3. राष्ट्र-कथा 4. अवनिपाल-कथा।
- **चार कषाय** – 1. क्रोध 2. मान 3. माया 4. लोभ।
- **पाँच इन्द्रिय-विषय** – 1. स्पर्शन 2. रसना 3. घ्राण 4. चक्षु 5. कर्ण।
- **एक** – निद्रा और **एक** – स्नेह या प्रणय।
- जब संयम की विरोधी कथा या वाक्य-प्रबन्ध को **विकथा** कहते हैं।
- जिससे संयम गुण का घात हो – ऐसे क्रोध-मान-माया-लोभरूप परिणाम को **कषाय** कहते हैं।
- स्पर्शनादि इन्द्रियों के द्वारा अपने-अपने स्पर्शादि विषयों में रागभाव के होने को **इन्द्रिय-विषय** कहते हैं।
- निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि – इन तीन कर्मों के उदय से अथवा निद्रा और प्रचला के तीव्र उदय से अपने विषय के सामान्य ग्रहण को रोकने वाली जो अचेतनवत् अवस्था उत्पन्न होती है, उसको **निद्रा** कहते हैं।
- बाह्य पदार्थों में ममत्व परिणाम को अथवा तीव्र हास्यादि नोकषाय के उदय से होने वाले संक्लेश परिणाम को **प्रणय** या **स्नेह** कहते हैं।

उक्त पन्द्रह प्रमादों के कारण सम्यग्दर्शन, व्रत, गुण, शील आदि कुशल अनुष्ठान में असावधानी अथवा अनादर आदि भाव हो जाया करते हैं, वही **प्रमाद** हैं, जो संयत को प्रमत्त बना देता है। यह दशा अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं रहा करती, उसके बाद अप्रमत्त गुणस्थान हो जाया करता है, इन दोनों गुणस्थानों में इसी प्रकार हजारों बार परिवर्तन होता रहता है।

सदोष आहार : सर्वथा त्याज्य[275]

भगवती आराधना की विजयोदया टीका के अनुसार मुनि को माँस, मधु, मक्खन, बिना कटा फल, मूल, पत्र, अंकुर, कन्द तथा इन सबसे छुआ हुआ भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए। रस-गन्ध से विकृत, दुर्गन्धित, पुष्पित, पुराना, जीव-जन्तुयुक्त भोजन न तो किसी को दान देना चाहिए, न स्वयं खाना चाहिए और न छूना ही चाहिए। टूटी-फूटी चम्मच आदि से दिया हुआ आहार नहीं ग्रहण करना चाहिए। कपाल, जूठे पात्र, कमल तथा केले आदि के पत्तों में रखा हुआ आहार भी नहीं ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार मुनि को सभी दोषों से रहित विशुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिए।

आहार-सम्बन्धी दोष एवं उनके 46 भेद[276]

आहार सम्बन्धी दोषों को **पिण्ड-दोष** भी कहते हैं। इन दोषों को दो भागों में विभाजित किया है –

1. उद्गम आदि दोषसहित तथा अधःकर्मयुक्त आहार **द्रव्यपिण्ड-दोष** कहा जाता है।
2. आत्म-परिणामों की अशुद्धि से आहार लेना, **भावपिण्ड-दोष** है अर्थात् शुद्ध प्रासुक आहार भी परिणामों की अशुद्धि से अशुद्ध कहलाता है।

सामान्यतः आहार की विविधता के कारण आहार-सम्बन्धी दोष के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं, मुख्यरूप से ये दोष आठ प्रकार के हैं, जिनके भेदों को मिला कर **छ्यालीस दोष** हो जाते हैं। सबसे बड़ा दोष **अधःकर्म** है; अतः इसे 46 दोषों के अलावा भी माना गया है।

अधःकर्म का स्वरूप[277]

1. जिन कार्यों को करने से जीव-हिंसा होती है, उन्हें **अधःकर्म** कहते हैं।
2. जो आहार आदि, छह काय के जीवों की विराधना, मारण, घात, हिंसा, दुःख आदि करके अपने द्वारा बनाया गया हो, या दूसरे के द्वारा बनवाया गया हो या पर के द्वारा बनाने पर जिसकी अनुमोदना की गई हो, जिसमें साधु की वैयावृत्ति आदि कारण नहीं है, वह **अधःकर्म** कहलाता है – ऐसा अधःकर्म, संयतों को दूर से ही छोड़ देना चाहिए।
3. यदि साधु, अन्य साधुओं की वैयावृत्ति आदि के निमित्त औषधि आदि या आहार आदि बनाने के लिए कदाचित् श्रावक से कह देता है तो वह अधःकर्म का भागी नहीं होता है क्योंकि समाधि आदि के प्रसंग में साधु ही क्षपक के लिए उद्गम आदि दोषरहित भोजन-पान आदि की व्यवस्था करते हैं। यह भी उनकी वैयावृत्ति का अंग है, दोष नहीं। हाँ, यहाँ पर यदि मुनि, स्वयं के आहार आदि के लिए आरम्भ करता या करवाता है तो वह **अधःकर्म** कहलाता है।
4. विराधना और उद्दावन – ये अधःकर्म हैं क्योंकि ये पापक्रियारूप हैं, इनसे उत्पन्न भोजन आदि भी **अधकर्म** कहलाता है। यहाँ पर कार्य में कारण का उपचार किया गया है।
5. जो पंच सूना सहित और गृहस्थ के आश्रित होता है, वह **अधःकर्म** कहलाता है।
6. यदि कोई श्रमण, इस दोष को करेगा तो वह गृहस्थ जैसा ही हो जाएगा। जिस प्रकार अन्यमती साधु, अपने लिए नाना प्रकार के आरम्भ आदि करते हुए देखे जाते है, उनकी देखादेखी यदि कोई दिगम्बर साधु भी ऐसा करने लग जावें तो वे इस दोष के भागी हो जावेंगे; इसीलिए इसका निषेध किया है।
7. जो उपद्रावण, विद्रावण, परितापन और आरम्भरूप कार्य से निष्पन्न होता है, वह सब **अधःकर्म** है।.....
   - जीव का उपद्रव करना, **ओहावण या उपद्रावण** कहलाता है।
   - अंग-छेदन आदि व्यापार करना, **विहावण या विद्रावण** कहलाता है।
   - सन्ताप उत्पन्न करना, **परिदावण या परितापन** कहलाता है।
   - प्राणियों के प्राणों का वियोग करना, **आरम्भ** कहलाता है।

8. अधःकर्म-युक्त किसी भी पदार्थ की मन-वचन-काय से साधुजन अनुमोदना नहीं करते; वे न तो ऐसा आहार और न ही ऐसी वसति का ग्रहण करते हैं। यदि कोई श्रमण यह कार्य करता है तो वह गृहस्थ जैसा हो जाता है। ऐसे आहार को ग्रहण करने वाले मुनियों के उपवासादि तपश्चरण नष्ट होते हैं।[278]
9. इसी प्रकार वसति-सम्बन्धी, शरीर-सम्बन्धी अधःकर्म की चर्चा भी धवला, भगवती आराधना आदि ग्रन्थों[279] में की गई है।
10. अन्यमतावलम्बी साधुओं में ये सब आरम्भ कार्य देखे जाते हैं, उनके निषेधार्थ यह अधःकर्म, दोष कहा गया है; अतः जैन साधुओं में ये दोष सर्वथा निषिद्ध ही हैं। फिर भी यदि वे यह दोष करते हैं तो यह महादोष है।
11. यहाँ यह विशेष जानना कि यदि कोई साधु, अन्य साधु की वैयावृत्ति आदि के लिए औषधि या आहार बनाने के लिए कदाचित् श्रावक से कह देता है तो वह अधःकर्म के दोष का भागी नहीं होता।
12. किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने अधःकर्म को उद्गम दोष के अन्तर्गत औद्देशिक दोष की जगह माना है।[280]

आठ प्रकार के आहार-सम्बन्धी सामान्य दोष एवं उनके भेद[281]

मूल दोष आठ हैं – 1. उद्गम, 2. उत्पादन, 3. एषणा, 4. संयोजन, 5. प्रमाण, 6. अंगार, 7. धूम और 8. कारण; इन आठ दोषों से रहित **पिण्डशुद्धि** होती है।

वहाँ उद्गम के सोलह, उत्पादन के सोलह, एषणा के दस और संयोजन आदि चार दोष होते हैं।

इस प्रकार आहार-सम्बन्धी कुल 46 दोष होते हैं।

उद्गम दोष से आशय और उसके सोलह भेदों का स्वरूप[282]

दाता में होने वाले जिन अभिप्रायों से आहार आदि उत्पन्न होते हैं, वे **उद्गम दोष** हैं। विस्तार से उनके भेदों का स्वरूप निम्न प्रकार है –

1. **औद्देशिक दोष** – मूलाचार में उद्गम दोष का पहला भेद **औद्देशिक दोष** माना है। इसका दूसरा नाम **उद्दिष्ट दोष** भी है। उनके अनुसार नाग, यक्षादि देवताओं के लिए, अन्यमती पाखण्डियों के लिए या दीन-कृपणजनों के लिए जो अन्न तैयार किया जाता है, वह **औद्देशिक दोष** कहलाता है; उसके चार भेद हैं –
   - जो कोई आयेगा, सबको देंगे – ऐसे हर किसी के उद्देश से अर्थात् हर किसी के लिए बनाया गया सामान्य भोजन, **उद्देश** कहलाता है।
   - समस्त अन्यमती पाखण्डियों के उद्देश से बनाया गया भोजन, **समुद्देश** कहलाता है।
   - आजीवक, तापस, परिव्राजक, छात्र, अथवा रक्तपट बौद्ध श्रमण आदि के उद्देश से बनाया गया भोजन, **आदेश** कहलाता है।
   - समस्त निर्ग्रन्थों, दिगम्बर साधुओं के उद्देश से बनाया गया भोजन, **समादेश** कहलाता है।

   पद्मपुराण में आता है कि एक बार भगवान् ऋषभदेव ससंघ अयोध्या नगरी में पधारे। तब भरत अच्छे अच्छे भोजन बनवा कर नौकर के हाथ उनके स्थान पर ले गया और भक्तिपूर्वक भगवान् से प्रार्थना करने लगा कि समस्त संघ उस आहार को ग्रहण करके उसे सन्तुष्ट करें। भरत के ऐसा कहने पर भगवान् ने कहा कि हे भरत! जे भिक्षा मुनियों के उद्देश्य से तैयार की जाती है, वह उनके योग्य नहीं है; मुनिजन उद्दिष्ट भोजन ग्रहण नहीं करते। वे श्रावकों के घर ही भोजन के लिए जाते हैं और वहाँ प्राप्त हुई निर्दोष भिक्षा को मौन से खड़े रह कर ग्रहण करते हैं।

   इस दोष को समयसार की तात्पर्यवृत्ति में **औपदेशिक** भी कहा है।

   जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में उद्दिष्ट विवेचन का भावार्थ लिखते हुए कहा है – ''उद्दिष्ट, वास्तव में एक सामान्यार्थवाची शब्द है; इसलिए इसका पृथक् से कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं है। आहार के 46 दोषों में जो अधःकर्मादि 16 उद्गम दोष हैं, वे सब मिल कर एक उद्दिष्ट शब्द से कहे जाते हैं।[283]

   उनकी दृष्टि में उद्दिष्ट को दो प्रकार से समझ सकते हैं – एक दातार की अपेक्षा **द्रव्य-उद्दिष्ट** और दूसरा पात्र की अपेक्षा **भाव-उद्दिष्ट**। 1. दातार, यदि उद्गम दोष से दूषित आहार बनाता है तो वह **द्रव्य से उद्दिष्ट दोष** है तथा 2. यदि पात्र मुनि, अपने चित्त में अपने लिए बने भोजन का अथवा भोजन के

उत्पादन सम्बन्धी किसी प्रकार किसी प्रकार का विकल्प करता है तो वह **भाव से उद्दिष्ट दोष** है – ऐसा आहार, साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए।''

श्रावक, अतिथिसंविभागव्रत का पालन करते हुए सामान्यतया शुद्ध भोजन बनाता है और मुनियों को पड़गाहन करके आहार देता है, तो वही निर्दोष आहार है।

श्रावकधर्मसंग्रह में लिखा है कि ''साधु का नाम लेकर भोजन तैयार करना, सो **औद्देशिक दोष** है।'' जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश तथा भावदीपिका में उद्गम दोष का पहला भेद **अधःकर्म** भी माना गया है, जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है।

दिगम्बर साधु, श्वेताम्बर साधु, ऐलक, क्षुल्लक आदि उत्कृष्ट श्रावक आदि की चर्या एवं दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि समस्त आगमों, परम्पराओं और उनके व्यावहारिक शास्त्र-सम्मत स्वरूप को आधार बना कर अनुद्दिष्ट भोजन के स्वरूप का निर्धारण करने के लिए विस्तृत विवेचन अपेक्षित है। इस सम्बन्ध में समाज अनेक प्रकार की विचारधाराएं व्याप्त हैं, जिनका निराकरण करना अत्यावश्यक जान पड़ता है।

2. **अध्यधि दोष** – स्वयं के लिए बनते हुए पकते भोजन में यति के उद्देश्य से चावलादि और मिला लेना, उसे **अध्यधि दोष** कहलाता है। **अथवा** संयमी को आते देख भोजन पकाने का आरम्भ करना, सो **अध्यधि दोष** है। अथवा जब तक भोजन तैयार हो, तब तक के लिए साधु को प्रतीक्षा करवा कर, किसी तरह रोके रखना, **अध्यधि दोष** है क्योंकि इसमें मुनियों की अविनय का बड़ा दोष है।
3. **पूति दोष** – अप्रासुक आहार देना, उसे **पूतिकर्म दोष** कहते हैं। **अथवा** प्रासुक भोजन में अप्रासुक भोजन मिलाना, सो **पूति दोष** है। यह चूल्हा, ओखली, कलछी या चम्मच, बर्तन और गन्ध के निमित्त से पाँच प्रकार का हो जाता है। जैसे, यह नया चूल्हा, ओखली, बर्तन आदि का उपयोग पहले साधु के लिए करूँगा, बाद में अपने या अन्य के प्रयोग में लूँगा – ऐसा विचार करके उक्त वस्तुओं का प्रयोग करना, **पूति दोष** कहलाता है क्योंकि इन पाँचों प्रकारों से आरम्भकार्य होते हैं।
4. **मिश्र दोष** – कुदृष्टियों के साथ बनाई गई रसोई का अन्न, मुनिराज को आहार के लिए देना या असंयमी के हिस्से का आहार देना, उसे **मिश्र दोष** कहते हैं। **अथवा** असंयमी के भोजन में संयमी के योग्य भोजन का मिलाना, सो **मिश्र दोष** है। अथवा पाखण्डी साधओं और गृहस्थों के साथ मुनियों को आहार देना, **मिश्र दोष** कहलाता है क्योंकि इसमें एक प्रकार का अनादर का भाव है और अन्य का स्पर्श आदि हो जाने पर अशुद्धि का खतरा भी बना रहता है।
5. **स्थापित दोष** – जिस भाजन या बर्तन में चावलादि पकाये हों, उसमें से अन्न निकाल कर उसे अपने घर में या अन्य के घर में रख देना या उसी पात्र में दूसरा खाद्य पदार्थ पकाना या अन्य बर्तन में निकाल कर लाया हुआ आहार देना, **स्थापित दोष** है। **अथवा** रसोई के स्थान से अन्यत्र अपने वा पर के स्थान में रखा हुआ भोजन लाकर देना, सो **स्थापित दोष** है। इसमें दाता के द्वारा अन्य रखने वाले से डरने आदि का प्रसंग आता है क्योंकि 'क्या पता उसे कैसा लगेगा ?' – ऐसा भय बना रहता है।
6. **बलि दोष** – पितर आदि या देवार्चना आदि के निमित्त बनाई गई रसोई का भोजन देना, उसे **बलि दोष** कहते हैं। **अथवा** यक्ष नाग आदि के लिए बना हुआ भोजन मुनि को देना, सो **बलि दोष** है। अथवा संयतों के आने के लिए बलिकर्म करना अर्थात् 'यदि आज मेरे घर में मुनि आहार को आ जावेंगे तो मैं यक्ष आदि को नैवेद्य चढाऊँगा, जल-क्षेपण करूँगा' – ऐसे संकल्प आदि करना, **बलिकर्म** कहलाते हैं, उस संकल्पपूर्वक मुनि को आहार देना, **बलि दोष** है क्योंकि इसमें सावद्य दोष देखा जाता है।
7. **प्रावर्तित दोष** – काल की हीनाधिकता सहित आहार देना, उसे **परावर्ती या प्राभृत दोष** कहते हैं। **अथवा** पात्र को पड़गाहन करने के बाद काल की हानि-वृद्धि करना अथवा नवधा भक्ति में शीघ्रता या विलम्ब करना, सो **प्रावर्तित दोष** है। इस कालदोष के दो भेद हैं – **बादर** और **सूक्ष्म**। इन दोनों के भी दो दो भेद हैं – **उत्कर्षण** और **अपकर्षण** अर्थात् **काल की वृद्धि** और **काल की हानि**। **स्थूल कालदोष** में दिवस, पक्ष, महिना, वर्ष आदि की तथा **सूक्ष्म कालदोष** में प्रातः, दोपहर और सांयकाल की वृद्धि-हानि का समावेश होता है। इस तरह आहार देने में दातार को क्लेश, बहुविघात और बहु आरम्भ आदि दोष देखे जाते हैं।
8. **प्रादुष्कर दोष –** मण्डप आदि का प्रकाशन करना, **प्रादुष्करण दोष** है। इसके दो भेद हैं – संक्रमण और प्रकाशन।

- साधु के आ जाने पर भोजन, भाजन आदि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना **संक्रमण दोष** है।
- भाजन को भस्म आदि से माँजना, जल आदि से धोना, धूप आदि में सुखाना या भोजन पर दीपक का प्रकाश करना अथवा मण्डप, दीवाल आदि का उद्योतन करना, लीप-पोत कर साफ-सफाई करना आदि **प्रकाशन दोष** है। **अथवा** अँधेरा जान मण्डप आदि को प्रकाशरूप करना, सो **प्राविष्करण दोष** है क्योंकि इन सभी कार्यों को करने में चलने फिरने आदि से ईर्यापथ शुद्धि नहीं रहती।

9. **क्रीत** या **क्रीततर दोष** – किसी प्रकार खरीद कर आहार देना, **क्रीत दोष** है। इसके भी दो भेद हैं – **द्रव्य** और **भाव**। इन दोनों के भी दो दो भेद हैं – **स्वद्रव्य** और **परद्रव्य** तथा **स्वभाव** और **परभाव**।
   - संयमी के भिक्षार्थ प्रवेश करने पर गाय आदि द्रव्यों को देकर, बदले में भोजन लेकर, साधु को आहार देना, **द्रव्य-क्रीत दोष** है।
   - विद्या या मन्त्र आदि भावों के बदले में आहार लेकर, साधु को आहार देना, **भाव-क्रीत दोष** है।

   इनमें दोष यही है कि इन दोनों प्रकार के कार्यों में करुणा आदि दोष देखे जाते हैं।
10. **प्रामृष्य** या **प्रामिषिक दोष** – उधार लेकर आहार देना, उसे **ऋण** या **प्रामृष्य दोष** कहते हैं। **अथवा** अपने पास वस्तु नहीं, पर की उधार लाकर देना, वह **प्रामिषिक दोष** है। इसमें दाता को क्लेश और परिश्रम आदि करना पड़ता है, अतः यह दोष है। इस ऋण के भी दो भेद हैं – **ब्याजसहित** और **ब्याजरहित**।
11. **परिवर्तक दोष** – अपना अन्नादि दूसरों से बदल कर आहार देना, उसे **परिवर्त दोष** कहते हैं। **अथवा** अपनी वस्तु के बदले दूसरे गृहस्थ से वस्तु लाकर देना, वह **परिवर्तक दोष** है क्योंकि इससे दाता को क्लेश होता है।
12. **अभिघट दोष** – दूसरे घर, ग्रामादि से मँगा कर आहार देना, उसे **अभिघट दोष** कहते हैं। **अथवा** तत्काल देशान्तर से आई हुई वस्तु देना, वह **अभिघट दोष** है क्योंकि इससे दाता को बहुत आरम्भ और ईर्यापथशुद्धि का अभाव होता है। योग्य-अयोग्य विधि से प्राप्त वस्तुओं के आधार पर इसके भी दो भेद हो जाते हैं – **आचिन्न** और **अनाचिन्न**। योग्य विधि से प्राप्त वस्तु आचिन्न है और अयोग्य विधि से प्राप्त वस्तु अनाचिन्न है। देशाभिघट और सर्वाभिघट की अपेक्षा अभिघट दोष दो प्रकार का है। उनके भी स्वग्राम-परग्राम, स्वदेश-परदेश आदि की अपेक्षा अनेक भेद सम्भव हैं।
13. **उद्भिन्न दोष** – ढ़के हुए या मुद्रा से बन्द हुए जो औषधि, घी, शक्कर आदि हैं, उन्हें खोल कर देना, उसे **उद्भिन्न दोष** कहते हैं क्योंकि इससे अप्रासुक अशुद्ध और अमर्यादित पदार्थों के ग्रहण का दोष आता है।
14. **मालारोहण दोष** – नाली उलांघ कर या सीढ़ी से घर के ऊपरी में चढ़ कर लाया हुआ आहार देना, उसे **मालारोहण दोष** कहते हैं। **अथवा** रसोई के स्थान से ऊपर की मंजिल पर रखी हुई वस्तु को नसैनी पर चढ़ कर लाकर देना, वह **मालारोहण दोष** है क्योंकि इसमें दाता के गिरने आदि का भय रहता है।
15. **अनीशार्थ** या **अनिसृष्ट दोष** – जिसका कोई स्वामी न हो – ऐसे अन्य की रसोई का आहार देना, उसे **अनीशार्थ या अनिसृष्ट दोष** कहते हैं। **अथवा** यदि दातार असमर्थ है तो उसे **अनीशार्थ दोष** आता है। मूलाचार टीका में इस भेद का विस्तार से कथन किया गया है।[284]

    मुख्यतः इस दोष के दाता की अपेक्षा दो भेद हैं – ईश्वर और अनीश्वर अर्थात् प्रधान और अप्रधान या समर्थ और असमर्थ। इन दोनों के भी चार चार भेद किये गये हैं – सारक्ष, अव्यक्त, व्यक्त और संघाटक। वहाँ मन्त्रादि युक्त स्वामी को सारक्ष कहते हैं, बालक अज्ञानी स्वामी को अव्यक्त कहते हैं, बुद्धिमान स्वामी को व्यक्त कहते हैं, तथा व्यक्ताव्यक्तरूप पुरुष संघाटक कहा है। निसृष्ट और अनिसृष्ट की अपेक्षा भी इन दोनों के दो दो भेद हैं। इन सबमें सर्वत्र विरोध दिखाई देता है, यही दोष है।
16. **उच्छेद्य दोष** – राजा या चोर आदि के भय से आहार देना, उसे **आच्छेद्य** या **अच्छेद्य दोष** कहते हैं। **अथवा** उद्वेग, त्रास, या भय के कारण आहार देना, वह **उच्छेद्य दोष** है। यह दोष भय को उत्पन्न करने वाला है, यही इसमें दोष है।

इन सोलह दोषों से सहित गृहस्थ, यति को आहार देता नहीं और यदि मुनि को जानकारी हो जाए तो वे लेते नहीं। यदि मुनि, वह आहार जानने के बाद भी ले लेते हैं तो उनके भी ये दोष हो जाते हैं।

उत्पादन दोष से आशय एवं उसके सोलह भेदों का स्वरूप[285]

आहार ग्रहण करने वाले पात्र के जिन अभिप्रायों से आहार आदि बनाया जाते हैं, वे **उत्पादन दोष** हैं। विस्तार से उनके भेदों का स्वरूप मूलाचार आदि ग्रन्थों पिण्डशुद्धि आदि अधिकारों में वर्णित है। संक्षेप में उनका स्वरूप निम्न प्रकार है –

1. धाय अर्थात् माता के समान दातार के बालकों को खिलाना पुचकारना, वह **धात्री दोष** कहलाता है। **अथवा** गृहस्थ को बालक के स्नान, तिलक, क्रीडन, दुग्धपान, शयन आदि का उपदेश देकर उनसे आहार ग्रहण करना, **धात्री दोष** है। इन्हीं क्रियाओं के आधार पर इस दोष के मार्जनादि अनेक भेद हो जाते हैं। इनके कारण साधु के स्वाध्याय आदि कर्मों का विनाश हो जाता है, अतः ये दोष कहलाते हैं।
2. जल, स्थल या आकाशमार्ग से गमन करते समय दूत के समान देशान्तर का समाचार दातार से कहना, वह **दूत दोष** कहलाता है। इससे जिनशासन दूषित होता है, अतः यह दोष कहलाता है।
3. व्यंजन, अंग, स्वर आदि निमित्त-ज्ञान की बातें दातार से कहना, वह **निमित्त दोष** कहलाता है। इसमें रसगृद्धता, दीनता आदि दोष लगते हैं।
4. आजीविका आदि की शिक्षा देना, वह **आजीविका दोष** कहलाता है। **अथवा** अपनी जाति, कुल, शिल्प, तपश्चरण आदि की महिमा बता कर आहार ग्रहण करना, **आजीविक दोष** है। इसमें अपनी शक्ति को छिपाना, दीनता-प्रदर्शन आदि दोष गर्भित हैं।
5. कुत्ता, कृपण, भिखारी, कौवा आदि कुपात्रों को दानादि के पोषक वचन दातार से कहना, वह **वनीपक दोष** कहलाता है। **अथवा** दातार के अनुकूल बातें कर, आहार लेना, **वनीपक दोष** है। इसमें भी दीनता आदि दोष आते हैं।
6. बालरोग, बुखाररोग, कण्ठरोग, उदररोग, चर्मरोग, विषरोग, घाव, नेत्ररोग, अस्थिरोग, भूतबाधा आदि होने पर वैद्यक क्रिया करना, वह **चिकित्सा दोष** कहलाता है। **अथवा** दातार को औषधि आदि बता कर आहार लेना, **चिकित्सा दोष** है। इसमें सावद्यकार्य होने से जीवहिंसा आदि का प्रसंग बनता है।
7. क्रोध करके भिक्षा देने के लिए प्रेरित करना, वह **क्रोध दोष** कहलाता है।
8. मान-सहित आहार लेना, वह **मान दोष** कहलाता है।
9. माया-सहित आहार लेना, वह **माया दोष** कहलाता है।
10. लोभ के अभिनिवेश-सहित आहार लेना, वह **लोभ दोष** कहलाता है।
11. आहार लेने के पहले दातार की प्रशंसा करना, वह **पूर्व-स्तुति दोष** कहलाता है।
12. आहार लेने के बाद दातार की स्तुति करना, वह **पश्चात्-स्तुति दोष** कहलाता है।
13. कोई विद्या आदि सिखा कर या बता कर आहार लेना, वह **विद्या दोष** कहलाता है।
14. सर्प, बिच्छू आदि के विष दूर करने वाले मन्त्र बता कर आहार लेना, वह **मन्त्र दोष** कहलाता है।
15. नेत्रों का अंजन, आभूषण साफ करने का चूर्ण, शरीर की शोभा बढ़ाने वाला चूर्ण (पावडर)– इन चूर्णों की विधि बतला कर आहार लेना, **चूर्ण दोष** कहलाता है।
16. वशीकरण आदि करके या उसका उपाय बता कर आहार लेना, वह **मूलकर्म दोष** कहलाता है।

एषणा दोष से आशय एवं उसके दस भेदों का स्वरूप[286]

साधु और गृहस्थ दोनों के द्वारा लगने वाले आहार सम्बन्धी दोष **एषणा दोष** कहलाते हैं – ये दोष विधिपूर्वक आहार न लेने-देने और शुद्धाशुद्ध आहार की छान-बीन न करने से पैदा होते हैं। इन दोषों में सावद्य-क्रिया होने से ये त्याज्य हैं। इनमें जीवदया का पालन भी नहीं होता और लोक-निन्दा भी होती है।

मूलाचार की आचारवृत्ति में कहा है कि जिन पारिवेशक अर्थात् परोसने वालों से भोजन परोसा जाता है, उनकी अशुद्धियाँ **अशन दोष** कहलाती हैं। उसके दश भेद निम्न हैं –

1. आहार सदोष है या निर्दोष, योग्य है या अयोग्य, खाद्य है या अखाद्य – ऐसी शंका-सहित आहार लेना, **शंकित दोष** कहलाता है।
2. चिकनाई-युक्त हाथ, बर्तन या कछली-चम्मच से दिया गया भोजन, **म्रक्षित दोष** कहलाता है।
3. सचित्त वस्तुओं पर रखा हुआ आहार लेना, **निक्षिप्त दोष** कहलाता है।

4. सचित्त वस्तु से ढका हुआ आहार लेना, **पिहित दोष** कहलाता है।
5. सचित्त वस्तु से मिला हुआ आहार लेना, **मिश्र दोष** या **उन्मिश्र दोष** कहलाता है।
6. भोजनादि का शीघ्रता से देन-लेन करते हुए, अपने वस्त्रादि को नहीं सम्हालते हुए, बिना देखे भोजन-पान देने पर उसे लेने में **संव्यवहार दोष** होता है।
7. बालक का शृंगार करने वाली स्त्री हो, जो मदिरा पीने वाला हो, रोगी हो, मुरदे को जला कर आया हो, नपुंसक हो, पिशाच-ग्रस्त हो, वस्त्रादि ओढ़े हुए न हो, मल-मूत्रादि करके आया हो, मूर्च्छा से गिर पड़ा हो, वमन करके आया हो, रक्त-रंजित हो, दास-दासी या वेश्या हो, आर्यिका हो, रक्तपट धारण करने वाली हो, अंग को मर्दन करने वाली हो, छोटी बालिका हो, अधिक बूढ़ी हो, जूठे मुँह हो, पाँच महिने आदि गर्भयुक्त हो, अन्धी हो, भीत आदि के सहारे से बैठी हो, ऊँची जगह पर बैठी हो; इन सबके हाथ से आहार लेना, **दायक दोष** कहलाता है।

   अथवा मुँह से फूँक कर अग्नि जलाना, लकड़ी आदि डाल कर आग जलाना, लकड़ी को जलाने के लिए सरकाना, राख से अग्नि को ढँकना, जलादि से अग्नि को बुझाना, अग्नि से लकड़ी को हटा देना, किसी चीज से अग्नि को दबा देना; इत्यादि कार्य करते हुए भोजन देना। तथा गोबर आदि से लीपना, स्नानादि क्रिया करना, दूध पीते बालक को अलग करना, इत्यादि क्रियाओं से युक्त होते हुए आहार देना भी **दायक दोष** कहलाता है।

   अथवा सूतक आदि दोषों से युक्त गृहस्थ के हाथ से आहार लेना, **दायक दोष** कहलाता है।
8. जिनके रंगादि बदले नहीं – ऐसे अन्न-जलादिक का ग्रहण करना, **अथवा** अग्नि से अच्छी तरह नहीं पका हुआ भोजन ग्रहण करना **अथवा** तिल तन्दुल हरड आदि के प्रयोग बिना स्पर्श रस गन्ध वर्ण आदि नहीं बदले हुए जल आदि का ग्रहण करना **अपरिणत दोष** कहलाता है।
9. खटाई आदि से लिप्त दातार का हाथ या बर्तन हो, उससे आहार लेना, **अथवा** गेरू हरताल खड़ी आदि से अप्रासुक द्रव्य से लिप्त बर्तन आदि से दिया हुआ आहार लेना, **लिप्त दोष** कहलाता है।
10. बेस्वाद चावलादि का आहार ग्रहण करना, **त्यजन दोष** कहलाता है। **अथवा** दातार द्वारा या अपने द्वारा बहुत सा भोजन गिराकर या दूध छाछ आदि गिराते हुए आहार ग्रहण करना, **त्यक्त या परित्यजन दोष** कहलाता है।

संयोजना दोष

ठण्डे भोजन आदि में उष्ण जल आदि को अथवा ठण्डे जल आदि में उष्ण भोजन आदि को मिला देना **संयोजना दोष** है। अन्य भी परस्पर विरुद्ध वस्तुओं को मिला देना, **संयोजना दोष** है।

प्रमाण दोष

प्रमाण का उल्लंघन करना **प्रमाण दोष** है अर्थात् शास्त्रोक्त मात्रा से अधिक आहार लेना, **प्रमाण दोष** कहलाता है। प्रमाण से अधिक आहार लेने पर स्वाध्याय नहीं होता है, षट् आवश्यक क्रियाएँ करना भी शक्य नहीं होता है। ज्वर आदि रोग भी उत्पन्न होकर सन्तापित करते हैं तथा निद्रा और आलस्य आदि दोष भी उत्पन्न होते हैं; अतः प्रमाणभूत आहार ही लेना चाहिए।

अंगार दोष

जो अंगार के समान हैं अर्थात् भोजन में गृद्धता रखते हुए आहार लेना, **अंगार दोष** कहलाता है। आहार में गृद्धता तीव्र-राग का सूचक होने से निषिद्ध है।

धूम दोष

जो धूम के समान है अर्थात् यह भोजन मेरे लिए अनिष्ट है, मेरी प्रकृति के विरुद्ध है; इस प्रकार निन्दा करते हुए अथवा ग्लानियुक्त भोजन का ग्रहण करना, **धूम दोष** कहलाता है, इसमें अंतरंग में संक्लेश देखा जाता है।

कारण दोष

विरुद्ध कारणों से आहार लेना, **कारण दोष** है। मुनिराज, छह अविरुद्ध कारणों से भोजन करते हुए और छह विरुद्ध कारणों से भोजन का त्याग करते हुए, धर्म का आचरण करते हैं।

चौदह मल दोष

मूलाचार के अनुसार – 1. नख, 2. रोम, 3. जन्तु, 4. कण, 5. हड्डी, 6. चावल का टुकड़ा, 7. पीव, 8. चर्म, 9. रुधिर, 10. माँस, 11. बीज, 12. फल, 13. कन्द और 14. मूल – ये चौदह मल हैं।

आहार-ग्रहण के समय इनके होने पर तत्काल आहार के त्यागपूर्वक प्रायश्चित्त लिया जाता है।

बत्तीस अन्तराय[287]

मुनिराज को आहार-त्याग की कारणभूत परिस्थितियों को **अन्तराय** कहते हैं। मूलाचारादि ग्रन्थों में बत्तीस अन्तरायों का कथन प्राप्त होता है –

1. **काक** – आहारार्थ गमन करते हुए या आहार लेते समय कौआ आदि पक्षी का बीट करना, वह **काक अन्तराय** है।
2. **अमेध्य** – आहार को जाते समय विष्ठा आदि अपवित्र मल, पैर आदि में लग जाना, **अमेध्य अन्तराय** है।
3. **छर्दि** – वमन हो जाना, **छर्दि अन्तराय** है।
4. **रोधन** – आहार को जाते समय किसी के द्वारा रोकना, **रोधन अन्तराय** है।
5. **रुधिर** – अपने या अन्य के शरीर से रक्त स्राव होता दिखना, **रुधिर अन्तराय** है।
6. **अश्रुपात** – दुख, शोक से अपने या पर के आँसू गिरना, **अश्रुपात अन्तराय** है।
7. **जान्वधः परामर्श** – घुटने के नीचे शरीर के अधो भाग का स्पर्श हो जाना, **जान्वधः परामर्श अन्तराय** है।
8. **जानूपरि व्यतिक्रम** – घुटनों से ऊपर के अवयवों का स्पर्श हो जाना, **जानूपरि व्यतिक्रम अन्तराय** है।
9. **नाभ्यधो निर्गमन** – दाता के घर का दरवाजा छोटा होने पर नाभि से नीचे मस्तक करके आहारार्थ जाना, **नाभ्यधो निर्गमन अन्तराय** है।
10. **प्रत्याख्यात-सेवना** – जिस वस्तु का त्याग हो, उसका भक्षण हो जाना, **प्रत्याख्यात-सेवना अन्तराय** है।
11. **जन्तु-वध** – अपने द्वारा या अन्य के द्वारा, सामने ही किसी जीव का वध हो जाना, **जन्तु-वध अन्तराय** है।
12. **काकादि-पिण्ड-हरण** – आहार करते समय हाथ से कौआ आदि के द्वारा आहार का छिन जाना, **काकादि-पिण्ड-हरण अन्तराय** है।
13. **पिण्ड-पतन** – पाणिपात्र से ग्रास मात्र भी आहार गिर जाना, **पिण्ड-पतन अन्तराय** है।
14. **पाणौ जन्तुवध** – आहार करते समय किसी जन्तु का पाणिपुट में स्वयं आकर मर जाना, **पाणौ जन्तुवध अन्तराय** है।
15. **माँसादि-दर्शन** – भोजन करते समय माँस, मद्य आदि दिख जाना, **माँसादि-दर्शन अन्तराय** है।
16. **उपसर्ग** – किसी प्रकार का उपसर्ग हो जाना, **उपसर्ग अन्तराय** है।
17. **पादान्तरे जीव** – दोनों पैरों के बीच से किसी पंचेन्द्रिय जीव का निकल जाना, **पादान्तरे जीव अन्तराय** है।
18. **भाजन-सम्पात** – दाता के हाथ से कोई बर्तन गिर जाना, **भाजन-सम्पात अन्तराय** है।
19. **उच्चार** – आहार करते समय मल विसर्जित हो जाना, **उच्चार अन्तराय** है।
20. **प्रस्रवण** – आहार करते समय मूत्र विसर्जित होना, **प्रस्रवण अन्तराय** है।
21. **अभोज्य-गृह-प्रवेश** – आहार के लिए भ्रमण करते समय चाण्डालादि के घर में प्रवेश हो जाना, **अभोज्य-गृह-प्रवेश अन्तराय** है।
22. **पतन** – आहार के समय मूर्च्छा आदि से साधु का गिर जाना, **पतन अन्तराय** है।
23. **उपवेशन** – किसी कारण से भोजन करते-करते बैठ जाना, **उपवेशन अन्तराय** है।
24. **सदंश** – कुत्ते, बिल्ली आदि के काटने पर **संदष अन्तराय** है।
25. **भूमि-संस्पर्श** – सिद्ध-भक्ति कर लेने के बाद हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाना, **भूमि- संस्पर्श अन्तराय** है।
26. **निष्ठीवन** – आहार करते समय कफ, थूक आदि का निकलना, **निष्ठीवन अन्तराय** है।

27. **उदर-कृमि-निर्गमन** – आहार करते समय उदर से कृमि निकल पड़ना, **उदर-कृमि-निर्गमन अन्तराय** है।
28. **अदत्त-ग्रहण** – दाता के दिये बिना ही कोई वस्तु को ग्रहण कर लेना, **अदत्त-ग्रहण अन्तराय** है।
29. **प्रहार** – अपने ऊपर या अन्य किसी पर तलवार आदि का प्रहार हो जाना, **प्रहार अन्तराय** है।
30. **ग्राम-दाह** – ग्राम आदि में अग्नि लग जाना, **ग्राम-दाह अन्तराय** है।
31. **पादेन किंचित्-ग्रहण** – मुनि द्वारा भूमि पर पड़ी कोई वस्तु पैर से उठाकर ग्रहण कर लेना, **पादेन किंचित्-ग्रहण अन्तराय** है।
32. **करेण किंचित्-ग्रहण** – साधु के द्वारा अपने ही हाथ से गृहस्थ की किसी वस्तु का ग्रहण कर लेना, **करेण किंचित्-ग्रहण अन्तराय** है।

इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से सर्वत्र भोजन में अन्तराय होता है। ये आहार-त्याग के लिए कारणभूत हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से आहार-त्याग के कारण हैं। जैसे, राजा का भय या अन्य भय। लोक-निन्दा, संयम और निर्वेद-भाव। कुछ ग्रन्थकारों ने चाण्डालादि का स्पर्श, कलह, इष्ट-मरण, साधर्मिक का संन्यासपूर्वक मरण, किसी प्रधान पुरुष का मरण, आदि को भी आहार-त्याग का कारण माना है।

भावदीपिकाकार के अनुसार चौंसठ अन्तराय[288]

यही कारण है कि अन्तराय के प्रकरण में भावदीपिकाकार ने चौंसठ अन्तरायों की चर्चा की है; उनमें उक्त अन्तराय तो माने ही गये हैं, परन्तु कुछ नये अन्तराय भी गिनाये हैं, जो निम्न प्रकार हैं –

1. दातराश्रित रोग, मृत्यु आदि का दुःख हो जाना।
2. पडगाहन करने वाले के वस्त्रों का अयोग्य व अशुद्ध होना।
3. चतुर्विध संघ पर उपसर्ग आ जाना।
4. साधर्मी का संन्यास मरण हो जाना।
5. चैत्य, चैत्यालय, शास्त्र आदि पर विघ्न आ जाना।
6. राजा आदि महन्त पुरुषों का मरण हो जाना।
7. कलह या संग्राम हो जाना।
8. प्रजा का भय से कम्पायमान हो जाना।
9. डाका आदि पड़ जाना।
10. पाणिपात्र मे नख, रोम, बाल आदि निकलना।
11. अशुचि वस्तु का स्मरण हो आना।
12. कुल्ला कर लेना।
13. चाण्डाल आदि मनुष्य, बिल्ली, कूकर, शूकर, खरगोश, चूहा आदि का स्पर्श हो जाना।
14. किसी कारण से अंजुलि का छूट जाना।
15. किसी कारण से मौन का भंग हो जाना।
16. अशुद्ध, हिंसक या कर्मश वचन सुन लेना।
17. चक्की चलती हुई देखना।
18. चूल्हा आदि को जलता हुआ देखना।
19. किसी को कुछ घोंटते हुए देखना।
20. किसी को शिला पर कुछ बाँटता हुआ देखना।
21. किसी को कपास पेलता हुआ देखना।
22. किसी को माटी खोदते हुए देखना।
23. किसी को रोष कर्म करता हुआ देखना।
24. किसी को गोबर थापते हुए देखना।
25. किसी को माटी मिलाते हुए देखना।

26. किसी को सिर से नहाते हुए देखना।

27. किसी को सिर बाँधते हुए देखना।

28. किसी को सिर से जू आदि निकालते हुए देखना।

29. आहार में अप्रासुक पानी का होना।

30. आहार के समय अनाज को सूखता हुआ देखना।

31. पानी छानने का वस्त्र फटा हुआ देखना।

32. फूटा हुआ घड़ा देखना।

सामान्य साधुओं को एकल विहार का निषेध

इस काल में एकल विहार का सर्वथा निषेध किया गया है क्योंकि जिन्हें एकल विहार की स्वीकृति दी गई है, उनका विवरण श्रमणाचार के अधिकार में किया गया है और ऐसे उत्कृष्ट संहनन के धारक साधुओं की सम्भावना चतुर्थ काल में ही सम्भव है।

मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन में एकल-विहारी साधु का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त डॉ. फूलचन्द प्रेमी लिखते हैं –

''अपने गुरु और संघ के अनुशासन में रह कर साधना न करके शयन, आसन, वस्तु ग्रहण, भिक्षा ग्रहण, मलमूत्र विसर्जन, बोलना तथा गमनागमन अर्थात् देशान्तर विचरण आदि कार्यों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना, निषेध योग्य एकल विहार कहलाता है।.....अपनी कमजोरियों को छिपाने के लिए जो मुनि, स्वच्छन्द होकर एकल विहार में प्रवृत्त होता है, वह दोष प्रकट होने के भय से संघ में अन्य श्रमणों के साथ रहने से डरता है।.....अन्य साधारण मुनियों के लिए और विशेष कर इस पंचम काल में एकाकी विहार का विधान नहीं है।''[289]

स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति में गुरु की निन्दा, श्रुत का विनाश, तीर्थ की मलिनता, मूढ़ता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता – ये दोष आते हैं।

एकाकी रहने वाले के आज्ञा का उल्लंघन, अनवस्था, मिथ्यात्व का सेवन, आत्मनाश और संयम की विराधना – ये पाँच पाप-स्थान माने गये हैं।

इस प्रकार अनेक आगम-प्रमाणों से उद्धृत अनेक दोषों के कारण एकल-विहार का निषेध किया है।

आलोचना प्रायश्चित्त के आकम्पित आदि दश दोष[290]

''एकान्त में विराजमान, प्रसन्नचित्त गुरु के समक्ष देश-काल को जानने वाले शिष्य के द्वारा सविनय दश दोष रहित अपने दोषों के निवेदन करने को **आलोचना** कहते हैं क्योंकि अपने मन में दोषों को अधिक समय तक न रख कर, निष्कपट भावों से बालक के समान सरल हृदय से स्वकीय दोषों का निवेदन करने वाले साधु के न तो ये दश दोष होते हैं और न अन्य दोषों की उत्पत्ति की सम्भावना होती है।''

भगवती आराधना में इन दोषों का विवेचन अत्यन्त विस्तार से किया गया है। कुछ विवेचन अनगार धर्मामृत, राजवार्तिक, मूलाचारप्रदीप, आचारसार, आदि में भी किया गया है। यहाँ मुख्यतः उन्हीं के आधार पर कुछ विवेचन किया जाता है –

1. आकम्पित दोष – यदि आचार्य महाराज को कोई सुन्दर ज्ञानोपकरण दे दिया जाए तो आचार्य सन्तुष्ट हो जाएँगे और मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे – यही समझ कर, जो आचार्य को पहले ज्ञानोपकरण आदि देता है और फिर उनके समीप जाकर आलोचना करता है; उसे **आकम्पित नाम का दोष** कहते हैं।[291]

महा प्रायश्चित्त के भय से उपकरण-दान आदि दे कर, गुरु को अल्प प्रायश्चित्त देने के लिए अपने अनुकूल करना, अपने प्रति गुरु के मन में अनुकम्पा उत्पन्न कराना अर्थात् अपने पर गुरु की कृपा प्राप्त करके आलोचना करना, **पहला आकम्पित नामक आलोचना दोष** है।

इस दोष को भिक्षा-लब्धि से युक्त किसी साधु का उदाहरण देकर समझाते हैं –

जैसे, कोई साधु,, स्वयं भिक्षा-लब्धि से युक्त होने के कारण प्रवर्तक हो कर, आचार्य की उद्गम आदि दोषों से रहित प्रासुक भोजन-पान से अथवा पीछी-कमण्डलु आदि उपकरण से अथवा कृतिकर्म-वन्दना से

वैयावृत्य करके, अपने पर आचार्य की कृपा उत्पन्न करके कोई साधु अपना अपराध कहता है तो वह आकम्पित दोष से युक्त साधु, इस प्रकार मनो-व्यापार करता है –

भोजन आदि के दान द्वारा उपकार करने से मुझ पर प्रसन्न हो कर, गुरु महान प्रायश्चित्त नहीं देंगे, बल्कि थोड़ा ही देंगे; अतः महान प्रायश्चित्त का भय न होने से मैं स्थूल और सूक्ष्म सब अतिचार कहूँगा। इस प्रकार मन में विचार कर, आलोचना करने वाले के **प्रथम आलोचना दोष** होता है – ऐसा करने में गुरु की महा अविनय भी होती है। जो थोड़ा-बहुत प्राप्त करके गुरु मुझसे प्रसन्न होंगे और वे मुझे लघु प्रायश्चित्त देंगे – ऐसा अपनी बुद्धि से गुरु पर असत् दोष का अध्यारोपण करना, **मानसिक अविनय** है – यह अशुभ अभिप्रायपूर्वक होने वाला **आलोचना दोष** है।

अब, इस आलोचना के दोष की दुष्टता समझाते हैं –

जैसे, कोई जीने का अभिलाषी पुरुष, विष खरीद कर पीता है, वह अहित करके हित चाहता है क्योंकि वह विषपान करके जीने का अभिलाषी है; वैसे ही यह माया शल्य से शुद्धि का अभिलाषी साधु है। यद्यपि शल्यरूपी अपराध को दूर करना ही शुद्धि है क्योंकि वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की निर्मलता में कारण है; फिर भी यह स्वयं माया-शल्य से शुद्धि का अभिलाषी है। भोजन-पान आदि देकर या वन्दना के द्वारा गुरु को खरीद कर, अपनी बुद्धि से की गई आलोचना, शुद्धि नहीं करती; जैसे विषपान, जीवन नहीं देता।

यहाँ उपमान-उपमेय अलंकार के माध्यम से समझाया गया है। उपमान और उपमेय, दोनों में साधारण धर्म के कारण उपमान-उपमेय का व्यवहार होता है। यहाँ खरीद कर प्राप्त करना और दुष्टता करना, उपमान और उपमेय, दोनों का साधारण धर्म है। जैसे, 'चन्द्रमुखी कन्या' आदि में चन्द्र उपमान है, मुख उपमेय है और गोलपना व सब लोगों के मन को प्रिय होना, दोनों का साधारण धर्म है।

जैसे, किंपाक नामक वृक्ष का फल, विशिष्ट वर्ण-रस-गन्ध से युक्त होने पर भी, परिणाम में दुःख देता है अर्थात् किंपाक-फल नेत्रों को अत्यन्त प्रिय रूप वाला होता है, मधुर रस से युक्त होता है, घ्राणेन्द्रिय को सुखदायक होता है; परन्तु सेवन करने पर दुःखदायक होता है, उसे खाने से मृत्यु हो जाती है; अतः सेवन करने पर निश्चय से कटुक होता है। इस प्रकार इस आलोचना-शुद्धि को भी जानना चाहिए।

जैसे, कृमि-राग-कम्बल अर्थात् कीड़ों के द्वारा खाये गये आहार के रंग में रंगे धागों से बने कम्बल की विशुद्धि अर्थात् पुनः सफेदी नहीं होती। अथवा लाख के रंग में रंगे वस्त्र की शुद्धि बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं होती। अथवा म्लेच्छ देश में जोकों के द्वारा मनुष्य का खून निकाल कर, बर्तनों में रखते हैं, उस रक्त में कुछ दिनों में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं; तब उससे धागों को रंग कर, कम्बल बुनते हैं, वह अत्यन्त लाल रंग का होता है; यहाँ तक कि आग में जलाने पर भी वह रंग नहीं जाता। उसी प्रकार माया युक्त आलोचना से भी शुद्धि नहीं होती। अथवा कृमि-राग-कम्बल की शुद्धि और लाख के रंग में रंगे वस्त्र की शुद्धि, भले ही हो जाए, परन्तु यह माया शल्य से जनित अशुद्धि की शुद्धि नहीं होती।

इस प्रकार यह पहले **आकम्पित दोष** का विचार हुआ।

2. अनुमापित या अनुमानित दोष – 'वे धन्य हैं, जो वीर पुरुषों के करने योग्य उत्कृष्ट तप को करते हैं' इस प्रकार तपस्वी वीरों का गुणगान करके तप के विषय में गुरु के सामने अपनी अशक्ति प्रगट करना; इस तरह प्रार्थना करने पर गुरु थोड़ा प्रायश्चित्त दे कर, मुझ पर कृपा करेंगे; इस प्रकार अनुमान से जान कर, अपना अपराध प्रगट करना अर्थात् अनुमानित-उपाय से गुरु का अभिप्राय जान कर, आलोचना करना, **दूसरा अनुमापित नामक आलोचना दोष** है।

इस प्रकार आलोचना करने वाला मुनि, अपनी शक्ति छिपाने से, पार्श्वस्थ होने से और सुखशील होने से कहता है – ''मैं तो एक जघन्य प्राणी हूँ, उपवास करने में असमर्थ हूँ, आप मेरे बल को तो जानते ही हैं, यह भी जानते हैं कि मेरी उदराग्नि दुर्बल है, मैं रोगी हूँ; अतः मैं उत्कृष्ट तप को करने में असमर्थ हूँ। मैं अपने उन समस्त अतिचारों की आलोचना करूँ, यदि आप उन्हें सुन कर, मुझ पर कृपा करें अर्थात् लघु प्रायश्चित्त दें। मैं आपकी कृपा से शुद्ध होना चाहता हूँ और शुद्ध हो कर, अपना निस्तार करूँगा।'' – इस प्रकार प्रार्थना करने पर लघु प्रायश्चित्त दे कर, गुरु मुझ पर अनुग्रह करेंगे – ऐसा अनुमान से जान कर, फिर वह शल्य सहित आलोचना करता है।

जैसे, सुख का इच्छुक पुरुष, अपथ्य भोजन को अपनी बुद्धि से गुणकारी मान कर खाता है; तथापि भोजन करने के पश्चात् उसक परिपाक दुःखदायी होता है; उसी प्रकार इस **अनुमानित दोष** के साथ शल्य दूर करने का अभिप्राय रखने से शल्य दूर नहीं होती। अनुमान से गुरु के अभिप्राय को जान कर, हित-बुद्धि से की गई आलोचना अनर्थकारी होती है क्योंकि संकल्प से वस्तु का अन्यथा भाव नहीं होता या संकल्प मात्र से अपथ्य आहार, पथ्य नहीं हो जाता।

इस प्रकार यह **दूसरे अनुमानित या अनुमापित दोष** का विचार हुआ।

3. यद्दृष्ट दोष – आचार्य से दूसरों के द्वारा देख लिये गये दोष को ही प्रगट करना और जो अपना दोष दूसरों ने नहीं देखा, उसे छिपाना, अर्थात् दूसरों ने जो दोष देखा, उसकी मात्र आलोचना करना, तीसरा **यद्दृष्ट** नामक आलोचना दोष है।

इस दोष को करने वाला साधु, जो अपराध, दूसरे ने देख लिया है, उसकी आलोचना तो गुरु के पास करता है परन्तु जो अपराध, दूसरे ने नहीं देखा है, उसे छिपाता है, वह मायावी है – ऐसा जानना चाहिए। वास्तव में दूसरे के द्वारा देखे गये या नहीं देखे गये, सभी अपराध की आचार्य के पादमूल में विनयपूर्वक आलोचना करना चाहिए।

जैसे, रेत के मध्य में गड्ढ़ा खोदते- खोदते ही वह पुनः रेत से भर जाता है; उसी प्रकार ऐसी आलोचना-शुद्धि भी कर्मों को लाने वाली है, इससे नवीन कर्मों का बन्ध होता है। आशय यह है कि माया शल्य के दूर करने के लिए साधु आलोचना करता हुआ भी अन्य माया से अपने को आच्छादित करता है। जैसे, गड्ढ़ा बनाने के लिए उसमें से रेत निकाली जाती है किन्तु उसमें और रेत भर जाती है।

इस प्रकार यह **तीसरे यद्दृष्ट दोष** का विचार हुआ।

4. बादर दोष – गुरु के सामने स्थूल दोष को ही प्रगट करना और सूक्ष्म दोष को छिपाना, अर्थात् मात्र स्थूल अतिचारों की आलोचना करना, **चौथा बादर नामक आलोचना दोष** है।

यदि साधु, जिन-जिन व्रतों में दोष लगे हों, उनमें सिर्फ स्थूल दोषों की तो आलोचना करता है और सूक्ष्म दोषों को छिपाता है तो वह साधु जिनागम से विमुख होता है। वास्तव में साधु को विनयपूर्वक सुगुरु से सूक्ष्म अथवा स्थूल, सभी दोषों की आलोचना करना चाहिए। जैसे, काँसे का बना बर्तन, अन्दर से नीला और मलिन होता है और बाहर से स्वच्छ होता है; वैसे ही यह आलोचना-शुद्धि, माया शल्य से युक्त होती है।

इस प्रकार यह **चौथे बादर दोष** का विचार हुआ।

5. सूक्ष्म दोष – गुरु के सामने केवल सूक्ष्म दोष को ही प्रगट करना और स्थूल दोष को छिपाना अर्थात् सूक्ष्म अतिचारों की आलोचना करना, **पाँचवाँ सूक्ष्म नामक आलोचना दोष** है।

उदाहरणार्थ, इस दोष को करने वाला साधु, गुरु से निवेदन करता है कि मैं ओस से भीगे हुए मार्ग से ईर्यासमिति का ध्यान नहीं रखते हुए चला था, उस समय मेरा चित्त व्याकुल था। अथवा प्रतिलेखना किये बिना मैं बैठा या सोया या खड़ा हुआ या जलादि से मैंने शरीर को छुआ या सचित्त धूलि से सहित स्थान में खड़ा हुआ या बैठा या सोया अथवा आठ मास का गर्भ धारण करने वाली या जिसे प्रसव किए एक माह भी नहीं बीता था – ऐसी स्त्री से मैंने आहार ग्रहण किया; इस प्रकार जो अपने **सूक्ष्म दोष** को तो कहता है और भय, मद, या माया सहित चित्त होने से स्थूल दोष को छिपाता है।

वह विचार करता है कि यदि मैं महान दोष को कहता हूँ तो गुरु मुझे महान प्रायश्चित्त देंगे या मुझे त्याग देंगे – यह भय है। मेरा चारित्र निरतिचार है – ऐसा गर्व करके स्थूल दोषों को नहीं कहता। अथवा कोई स्वभाव से ही मायावी होने से अपने दोषों को नहीं कहता – ऐसा साधु, जिनागम से विमुख होता है। बादर दोष के अनुसार यहाँ भी यही समझना चाहिए कि साधु को विनयपूर्वक सुगुरु से सूक्ष्म हों या स्थूल, सभी दोषों की आलोचना करना चाहिए।

इस दोष समझने के लिए निम्न दृष्टान्त उपयोगी है – 1. जैसे, स्वर्ण-रस के लेप से लोहे का कड़ा बाहर से पीला दिखाई देता है अथवा 2. जैसे, सोने के पतले पत्र से ढका लोहे का कड़ा अन्दर से निःसार होता है अथवा 3. जैसे, अन्दर लाख से भरा हुआ कड़ा होता है; उन्हीं के समान यह आलोचना-शुद्धि होती है। उक्त तीनों दृष्टान्तों में प्रथम दृष्टान्त, अल्पशुद्धि का सूचक है। द्वितीय दृष्टान्त, गुरुतर पाप को ढाँकने का प्रतीक है – ऐसा वह, यह विश्वास उत्पन्न करने के लिए करता है कि गुरु यह समझें कि यह मुनि, पाप

से इतना भयभीत है कि यह सूक्ष्म पाप को भी नहीं छिपाता तो बड़े पाप कैसे कर सकता है? तथा तृतीय दृष्टान्त, अन्तःसार रहित वस्तु का प्रतीक है।

इस प्रकार यह **पाँचवें सूक्ष्म दोष** का विचार हुआ।

6. छन्न या प्रछन्न दोष – 'ऐसा दोष होने पर क्या प्रायश्चित्त होता है' इस प्रकार अपने दोष के उद्देश्य से गुरु को पूछ कर, उनके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त करने से **छठा छन्न नामक आलोचना दोष** होता है, क्योंकि वास्तव में उसने गुरु से दोष छिपाया है अर्थात् कोई न देखे, इस प्रकार आलोचना करना।

इस दोष को करने वाला साधु, आचार्य के पास जाकर पूछता है कि यदि किसी के मूलगुणों में, चारित्र में, अनशन आदि उत्तरगुणों में या अहिंसा आदि व्रतों में, कोई अतिचार लग जाए तो उसे कौनसा तप या प्रायश्चित्त दिया जाता है? वह किस उपाय से शुद्ध होता है? – ऐसा प्रच्छन्नरूप से पूछता है अर्थात् अपने को लक्षित करके नहीं पूछता कि मुझसे यह अपराध हुआ है, उसका क्या प्रायश्चित्त है – ऐसा नहीं पूछता, किन्तु यह जान कर, अपना प्रायश्चित्त करूँगा – इस भाव से पूछता है।

इस प्रकार प्रच्छन्नरूप से पूछ कर, जो साधु अपनी शुद्धि करता है, उसको **छठा आलोचना दोष** होता है – ऐसा जिनदेव ने कहा है। आचार्य व्यंग्यात्मक भाषा में समझाते हैं कि यदि अन्य के भोजन करने से अन्य को तृप्ति हो तो दूसरे के नाम से की गई विशुद्धि से अन्य को विशुद्धि हो सकती है। अन्य के द्वारा तप-संयम करने पर यदि अन्य व्यक्ति, सुगति को प्राप्त कर सकता हो तो दूसरे के नाम से किया गया प्रायश्चित्त भी दूसरे को शुद्ध कर सकता है।

जो अपने दोषों को न कह कर, गुरु से शुद्धि चाहता है, वह मरीचिका से जल और चन्द्र के परिवेश से भोजन प्राप्त करना चाहता है अर्थात् जैसे, मरीचिका से जल और चन्द्र के परिवेश से भोजन नहीं प्राप्त होता; उसी तरह अपने दोषों को कहे बिना शुद्धि नहीं होती। इस तरह निष्फलता की समानता होने से दोनों में दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकभाव है।

इस प्रकार यह **छठे छन्न या प्रच्छन्न दोष** का विचार हुआ।

7. शब्दाकुलित दोष – जब अन्य साधु, पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रायश्चित्त के समय दोषों की विशुद्धि करते हों और बहुत मनुष्यों का हल्ला हो रहा हो, उस समय गुरु के सामने अपने दोषों का इच्छानुसार निवेदन करना, अर्थात् शब्दों की भरमार होते समय आलोचना करना, **सातवाँ शब्दाकुलित नामक आलोचना दोष** है।

यदि कोई साधु, अपने गुरुओं को स्पष्टरूप से नहीं सुनाई दे, इस प्रकार दोषों को कहता है तो वह इस दोष का भागी होता है।

जैसे, रहट में लगी हुई पानी भरने की घटिकाएँ भर कर भी खाली होती जाती हैं; उसी प्रकार वह आलोचना करने वाला मुनि होता है क्योंकि वह अपने मुख से अपराध प्रगट करने के लिए प्रवृत्त हुआ भी अप्रवृत्त ही है क्योंकि गुरु ने उसे सुना ही नहीं है।

अथवा जैसे, मथानी डोरी से छूटते हुए भी डोरी से पुनः बँधती जाती है; उसी प्रकार उस मुनि की आलोचना-वाणी भी मुखरूपी गर्त से छूट कर भी माया शल्य से सहित होने से कर्म से बद्ध करती है।

अथवा जैसे, फूटा घड़ा, घट के कार्य जल-धारण करने में या जल आदि के लाने में असमर्थ होता है; उसी प्रकार यह आलोचना, निर्जरारूप कार्य को नहीं करती।

इस प्रकार यह **सातवें शब्दाकुल दोष** का विचार हुआ।

8. बहुजन दोष – अपने आचार्य गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त को अन्य प्रायश्चित्त कुशल साधुओं से चर्चा करके स्वीकार करना अथवा बहुत से गुरुओं से आलोचना करना, **आठवाँ बहुजन नामक आलोचना दोष** है।

यदि कोई साधु, आचार्य के पादमूल में जाकर, मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक वन्दना करके मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना के भेदरूप सब स्थूल और सूक्ष्म दोषों को कहता है। आलोचना सुनने के पश्चात् सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के धारण करने में तत्पर, सूत्रों के अर्थ को वहन करने वाले और प्रवचन-कुशल अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्र में कुशल, आचार्यों ने उसे अपराध के अनुरूप तप (प्रायश्चित्त) दिया क्योंकि अन्य शास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी यदि प्रायश्चित्त का ज्ञाता नहीं है तो वह दोष का शोधन नहीं कर

सकता। इसलिए प्रायश्चित्त की प्रधानता बताने के लिए आचार्यों को प्रवचन-कुशल पद का अलग से ग्रहण किया है। ध्यान रहे – प्रायश्चित्त का कथन, प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्व, कल्प एवं व्यवहार नामक अंगबाह्य, अन्य अंगों एवं प्रकीर्णकों में भी किया गया है, तदनुसार ही आचार्य, प्रायश्चित्त देते हैं। फिर भी यदि वह साधु, उन आचार्यों के वचनों पर श्रद्धान न करके, अन्य आचार्यों से पूछता है तो यह **आलोचना का आठवाँ दोष** होता है।

जिस प्रकार कोई घाव, ऊपर से तो अच्छा हो जाए परन्तु भीतर से कील सहित हो तो वह अच्छा नहीं माना जाता और समय पा कर, बढ़ कर, बहुत कष्टदायक हो जाता है; उसी प्रकार यह आलोचना, माया और असत्य को त्याग कर, की जाने से अति सुन्दर है, दोष रहित है; तथापि गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त के प्रति अश्रद्धानरूपी शल्य से युक्त होने के कारण दुःखदायी होती है। इसी प्रकार यह **बहुजन नामक आलोचना दोष** भी दूषित है।

इस प्रकार यह **आठवें बहुजन दोष** का विचार हुआ।

9. अव्यक्त दोष – जो अपने से ज्ञान और संयम में हीन है, उससे प्रायश्चित्त लेना, अथवा जिसको स्वयं दोष का ज्ञान न हो, उसके सामने आलोचना करना, **नौवाँ अव्यक्त नामक आलोचना दोष** है।

जो मुनि, आगम अर्थात् ज्ञान से बालक है अथवा जो चारित्र से बालक है अर्थात् जिसे शास्त्रज्ञान भी नहीं है और चारित्र भी जिसका हीन है, उसके सन्मुख जो अज्ञानी अपने दोषों की आलोचना करता है और मैंने अपने मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से किए सब दोष कह दिए – ऐसा जानता है। इस प्रकार ज्ञान-बालक और चारित्र-बालक मुनि से दोषों का निवेदन करना, **नौवाँ अव्यक्त दोष** है।

जैसे, कोई नकली सोने को धन समझ कर, ग्रहण करे तो बाद में वह निश्चित ही अहितकर होता है क्योंकि उससे यदि कुछ इच्छित वस्तु खरीदना चाहे तो नहीं खरीद सकते; उसी प्रकार बाल मुनि के सन्मुख की गई आलोचना भी अनुरूप प्रायश्चित्त की प्राप्ति का उपाय न होने से नकली सोने के समान अहितकारी है क्योंकि ज्ञान से बाल मुनि, परमार्थ के योग्य प्रायश्चित्त देने में समर्थ नहीं होता।

अथवा जैसे, दुर्जन से की गई मित्रता हितकर नहीं होती, दुःखदायक होती है; उसी प्रकार प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम से रहित चारित्र से बाल मुनि के सन्मुख की गई भी आलोचना, प्रायश्चित्त का लाभ न दे कर, अनेक अनर्थों को लाने वाली है।

इस प्रकार यह **नौवें अव्यक्त दोष** का विचार हुआ।

10. तत्सेवित दोष – अपने ही समान दोषी पार्श्वस्थ मुनि से प्रायश्चित्त लेना अर्थात् जो अपने समान दोषों का भागी है, उसके सामने आलोचना करना, **दसवाँ तत्सेवित नामक आलोचना दोष** है।

पार्श्वस्थ मुनि, पार्श्वस्थ मुनि के पास जा कर, अपने दोषों को कहता है क्योंकि वह जानता है कि यह भी मेरे समान है, सब व्रतों में दोषों से भरा है, यह मेरी सुखशीलता जानता है कि मैं दुःख सहन नहीं कर सकता तथा मेरे सब व्रतों के दोषों को भी यह जानता है; अतः यह मुझे बड़ा प्रायश्चित्त नहीं देगा – ऐसा मान कर, वह उससे अपने दोष कहता है।

इस प्रकार यह पार्श्वस्थ मुनि, मेरे द्वारा कहे सब दोषों को जानता है – ऐसा मान कर, उससे प्रायश्चित्त लेना, आगम में निषिद्ध है, यह **आलोचना का दसवाँ दोष** है।

जैसे, कोई रुधिर से सने हुए वस्त्र को रुधिर से धोता है तो वह विशुद्ध नहीं होता; उसी प्रकार ऐसी आलोचना-शुद्धि, दोष को दूर नहीं करती। उसके विपरीत निर्मल जल, वस्त्र में लगे कीचड़ को दूर करता है। इसी प्रकार अशुद्ध रत्नत्रय वाले मुनि से की गई अशुद्ध आलोचना से अतिचार-सम्बन्धी अशुद्धि दूर नहीं होती।

जैसे, जिन भगवान के वचनों का लोप करने वाले और दुष्कर पाप करने वालों का मुक्ति-गमन अति दुष्कर है; उसी प्रकार पार्श्वस्थ मुनि से दोषों को कहने वालों की शुद्धि अति दुष्कर है।

इस प्रकार यह **दसवें तत्सेवित दोष** का विचार हुआ।

उक्त सदोष आलोचनाओं से शुद्धि नहीं होती; अतः साधारण मुनि अथवा क्षपक साधु, आचार्य अथवा निर्यापकाचार्य के पादमूल में उपस्थित हो कर, दश दोषों को तथा भय, माया, असत्यवचन, मान और लज्जा को त्याग कर, सम्यक् प्रकार से शुद्ध हो कर, विधिपूर्वक आलोचना करता है।''

आलोचना प्रायश्चित्त के त्यागने योग्य दर्प आदि बीस दोष[292]

भगवती आराधना की टीका में क्षपक साधु के प्रसंग में दर्पादि बीस दोषों की सूचक निम्न गाथाद्वय आईं हैं –

दप्प-पमाद-अणाभोग, आपगा आदुरे य तित्तिणदा।
संकिद-सहसाकारे, य भय-पदोसे य मीमंसं।।
अण्णाण-णेह-गारव, अणप्पवस-अलस उपधि सुपिणंते।
पलिकुंचणं ससोधी, करेंति वीसंतवे भेदे।।

अर्थात् 1. दर्प, 2. प्रमाद, 3. अनाभोग, 4. आपात, 5. आर्तता, 6. तित्तिणदा, 7. शंकित, 8. सहसा, 9. भय, 10. प्रदोष, 11. मीमांसा, 12. अज्ञान, 13. स्नेह, 14. गारव, 15. अनात्मवशता, 16. आलस्य, 17. उपधि, 18. स्वप्नान्त, 19. पालिकुंचन, और 20. स्वयंशुद्धि – ये बीस दोष कहे हैं।

इनका विवरण निम्न प्रकार है –

1. **दर्प (घमण्ड) दोष** – दर्प के अनेक प्रकार हैं – जैसे, खेलकूद-प्रतियोगिता, व्यायाम, इन्द्रजाल, रसायन-सेवन, हास्य, गीत, शृंगार, दौड़ना, तैरना, आदि के निमित्त्ज्ञा से घमण्ड करना, **दर्प दोष** है।
2. **प्रमाद दोष** – प्रमाद के पाँच भेद हैं – विकथा, कषाय, इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति, निद्रा और प्रणय या स्नेह।

   अथवा दूसरे प्रकार से प्रमाद के पाँच भेद इस प्रकार हैं – 1. संक्लिष्ट हस्तकर्म, 2. कुशीलानुवृत्ति, 3. बाह्य शास्त्रों की रचना करना, 4. काव्य रचना, और 5. समितियों में उपयोग न लगाना।

   उक्त दोनों प्रकार के प्रमाद-भेदों को करना, **प्रमाद दोष** है।

   इनमें संक्लिष्ट हस्तकर्म और बाह्य शास्त्र क्या हैं? – यह बताते हैं।

   संक्लिष्ट हस्तकर्म – छेदना, भेदना, पीसना, अभिघात, बींधना, खोदना, बाँधना, फाड़ना, धोना, रंगना, वेष्ठित करना, गूँथना, पूरना, समुदाय करना, लीपना, फेंकना, चित्रकारी करना – ये सब संक्लिष्ट हस्तकर्म हैं।

   बाह्य शास्त्र – स्त्री-पुरुष के लक्षण जिसमें बतलाए हों – ऐसे शास्त्र, निमित्त शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, छन्द शास्त्र, अर्थ शास्त्र, वैद्यक शास्त्र, तथा लौकिक और वैदिक शास्त्र, बाह्य शास्त्र हैं।
3. **अनाभोग दोष** – उपयोग लगाने पर भी सम्यक्रूप से अतिचार को नहीं जानना अथवा चित्त चंचल होने से अतिचार को न जानना, **अनाभोग दोष** है।
4. **आपात् दोष** – नदी में बाढ़ आना, आग लग जाना, महती आँधी आना, वर्षा की अत्यधिकता, शत्रुसेना का आक्रमण इत्यादि **आपात् दोष** हैं।
5. **आर्तता दोष** – आर्तता तीन प्रकार से होती है – 1. रोग से पीड़ित होने पर, 2. शोक से पीड़ित होने पर और 3. कष्ट से पीड़ित होने पर दुःखी होना, **आर्तता दोष** है।
6. **तित्तिणदा दोष** – रस और बकवाद में आसक्ति – इन दोनों को **तित्तिणदा दोष** कहते हैं।
7. **शंकित दोष** – यह सचित्त है या अचित्त – ऐसी आशंका होने पर भी उसको तोड़ना, फोड़ना, खाना अथवा आहार करना, उपकरण और वसति में उद्गम आदि दोष हैं या नहीं – ऐसी शंका होते हुए भी उन्हें ग्रहण करना, **शंकित दोष** है।
8. **सहसा दोष** – अशुभ मन और वचन की झटपट प्रवृत्ति को **सहसा दोष** कहते हैं।
9. **भय दोष** – एकान्त वसति में सिंह, मृग, सर्प और चोर आदि प्रवेश करते हैं; इस डर से द्वार बन्द कर देना, **भय दोष** है।
10. **प्रदोष दोष** – तीव्र कषाय युक्त परिणाम को **प्रदोष दोष** कहते हैं। क्रोध, मान, माया, और लोभ – ये चार कषायें हैं; इनमें प्रत्येक के चार-चार भेद हैं। जैसे, जल की रेखा, धूल की रेखा, पृथ्वी की रेखा और पत्थर की रेखा के समान चार प्रकार का क्रोध होता है। इसी प्रकार चार-चार प्रकार की मान-माया-लोभ कषायें होती हैं।

11. **मीमांसा दोष** – अपने या दूसरे के बल, लघुता, आदि की परीक्षा करने को **मीमांसा दोष** कहते हैं। फैले हुए हाथ को मोड़ने, मोड़े हुए हाथ को फैलाने, धनुष आदि के चढ़ाने, पत्थर आदि के फेंकने, दौड़ने, बाड़-कण्टक आदि को लाँघने, मन्त्र-परीक्षा के लिए पशु, सर्प, आदि को धारण करने, औषधि की शक्ति की परीक्षा करने के लिए अंजन अथवा चूर्ण का प्रयोग करने, द्रव्यों के संयोग से त्रस जीवों और एकेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति करने आदि की परीक्षा करना, **मीमांसा दोष** है।

12. **अज्ञान दोष** – अज्ञानियों के आचरण को देख कर, स्वयं भी वैसा आचरण करना तथा उसमें दोष नहीं जानना, **अज्ञान दोष** है।

13. **स्नेह दोष** – शरीर में, उपकरण में, वसति में, कुल में, ग्राम में, नगर में, देश में, बन्धु में, और पार्श्वस्थ मुनियों में ममत्वभाव, **स्नेह** है; उससे हुआ अतिचार **स्नेह दोष** कहलाता है।

    जैसे, मेरे इस शरीर को शीत वायु कष्ट देती है; अतः चटाई आदि से शीत को रोकना, आग तापना, शीत दूर करने के लिए कुछ प्रावरण ग्रहण करना, उबटन लगाना, तेल की मालिश करना।

    इसी प्रकार उपकरण नष्ट हो जाएगा; इसलिए उससे अपना कार्य न करना; जैसे, पिच्छी के नाश के भय से उससे प्रमार्जन नहीं करना, कमण्डलु आदि को नहीं धोना, पशुओं द्वारा वसति के तृण आदि को खाने से रोकना अथवा उसके टूटने आदि को ममत्वभाव से रोकना, मेरे कुल में बहुत यतियों का प्रवेश सह्य नहीं है – ऐसा कहना, उनके प्रवेश करने पर कोप करना, बहुत यतियों का प्रवेश देने का निषेध करना, अपने कुल की वैयावृत्य करना, निमित्त आदि का उपदेश देना, ममत्व होने से ग्राम, नगर अथवा देश में ठहरने का निषेध न करना, सम्बन्धी यतियों के सुख से अपने को सुखी और दुःख से दुःखी मानना इत्यादि अतिचार हैं तथा पार्श्वस्थ की मुनियों की वन्दना करना, उन्हें उपकरण आदि देना, उनका उल्लंघन करने में असमर्थ होना, इत्यादि अतिचारों की आलोचना करता है।

14. **गारव दोष** – ऋद्धि के त्याग में असमर्थ होना, यह **ऋद्धिगारव दोष** है। इससे मुनि, परिवार में प्रिय वचन और उपकरण दान के द्वारा दूसरों को अपनाता है। इष्ट रस का त्याग न करना और अनिष्ट रस में अनादर होना, **रसगारव दोष** है। अति भोजन अथवा अति शयन में आसक्ति **सातगारव दोष** हैं। ये गारव सम्बन्धी अतिचार हैं।

15. **अनात्मवशता दोष** – अपने वश में स्वयं न होने से **अनात्मवश अतिचार** होते हैं। उन्माद से, पित्त के प्रकोप से अथवा पिशाच आदि के कारण परवशता होती है। अथवा जाति के लोगों के द्वारा बलपूर्वक पकड़ कर, गन्ध माल्य आदि का सेवन, त्यागी हुई वस्तु का भोजन, रात्रि-भोजन, मुखवास, ताम्बूल, आदि का भक्षण कराया जाए तथा स्त्रियों अथवा नपुंसकों के द्वारा बलपूर्वक अब्रह्मसेवन कराया जाए तो **अनात्मवश दोष** होता है।

16. **आलस्य दोष** – चार प्रकार के स्वाध्याय अथवा आवश्यकों में आलस्य करने पर **आलस्य दोष** होता है।

17. **उपधि दोष** – उपधि शब्द से माया कही जाती है अर्थात् छिप कर, अनाचार करना। दाता का घर जान कर, दूसरे साधुओं से पहले ही किसी बहाने से भिक्षा के लिए पहुँचना, जिससे दूसरे न जान सकें अथवा अच्छा भोजन करके यह कहना कि मैंने नीरस भोजन किया है। मैं रोगी की या आचार्य की वैयावृत्य करूँगा, इस बहाने से कुछ वस्तु का ग्रहण करके उसका स्वयं सेवन करना, **उपधि दोष** है।

18. **स्वप्नान्त दोष** – स्वप्न में अयोग्य वस्तु का सेवन करने को **स्वप्नान्त दोष** कहते हैं।

19. **पालिकुंचन दोष** – यथार्थ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से हुए अतिचार को अन्यरूप कहना, **पालिकुंचन दोष** है। जैसे, सचित्त का सेवन करके यह कहना कि मैंने अचित्त का सेवन किया है या अचित्त का सेवन करके यह कहना कि मैंने सचित्त का सेवन किया है; अपने स्थान में किये गये दोष को मार्ग में किया है – ऐसा कहना; सुभिक्ष में किये गये दोष को दुर्भिक्ष में किया है – ऐसा कहना; अकषाय या मन्दकषायपूर्वक सम्पादित दोष को कषाय या तीव्रकषायपूर्वक किया – ऐसा कहना।

20. **स्वयंशुद्धि दोष** – विधिपूर्वक आलोचना करके आचार्य के द्वारा प्रायश्चित्त देने से पहले स्वयं ही 'यह मेरा प्रायश्चित्त है' इस प्रकार जो स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण करता है, उसे **स्वयंशोधक दोष** कहते हैं।

    इस प्रकार क्षपक साधु, अपने द्वारा किये गये दोषों के क्रम का उल्लंघन न करके दर्पादि से हुए अतिचारों को यथार्थतया गुरु से कहता है।

इस तरह विशेष आलोचना अथवा सामान्य आलोचना के द्वारा माया शल्य को दूर करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप – इन सब गुणों की शुद्धि का इच्छुक क्षपक, गुरु के द्वारा कहे प्रायश्चित्त को रोष, दीनता और अश्रद्धा को त्याग कर, स्वीकार करता है।''

पाँच समिति के अतिचार[293]

1. ईर्या समिति के अतिचार

- सूर्य के मन्द प्रकाश में चलना।
- पैर रखने के स्थान को अच्छी तरह न देखना।
- गमन करते समय चित्त का उपयोग अन्यत्र होना।

2. भाषा समिति के अतिचार

- ऐसा वचन बोलना योग्य है अथवा नहीं – यह विचार किये बिना बोलना।
- वस्तु का स्वरूप जाने बिना बोलना।
- जिसने शास्त्र की बात को पुष्टरूप से नहीं सुना है, उसे अपुष्ट कहते हैं – ऐसे अपुष्ट वचनों को समझे बिना वक्ता के बोलते समय बीच में बोलना।
- भाषासमिति के क्रम को जाने बिना बोलना अर्थात् उसे मौन धारण करना चाहिए।

3. एषणा समिति के अतिचार

- उद्गमादि दोष होने पर भी आहार ले लेना।
- ऐसे आहार की मन-वचन-काय से प्रशंसा करना, अनुमति देना।
- ऐसे आहार की प्रशंसा करने वाले मुनियों के साथ रहना अथवा उनके साथ अन्य क्रियाएँ करना।
- अथवा उनकी प्रशंसादि के कार्य में दूसरों को प्रवृत्त करना।

4. आदान-निक्षेपण समिति के अतिचार

- जिस वस्तु ग्रहण करना है अथवा रखना है, उसे ग्रहण करते समय या रखते समय 'इसमें जीव-जन्तु हैं या नहीं' – इसका ध्यान नहीं रखना।
- वस्तु या उसे रखने के स्थान को पिच्छिका से सावधानीपूर्वक प्रमार्जन नहीं करना।

5. प्रतिष्ठापना समिति के अतिचार

- शरीर और भूमि का शोधन न करना।
- मल-त्याग करने के स्थान को नहीं देखना।
- आँधी आदि के समय पर तीव्र हवा के चलने पर मल-त्याग करना।
- सूर्योदय-सूर्यास्त आदि के समय का अतिक्रमण करके मल-त्याग करना।

तीन गुप्तियों के अतिचार[294]

1. मनोगुप्ति के अतिचार

- रागादिसहित स्वाध्याय में प्रवृत्ति करना।
- अन्तरंग में अशुभ परिणामों का होना।

2. वचनगुप्ति के अतिचार

- राग तथा गर्व से मौन धारण करना।

3. कायगुप्ति के अतिचार

- चित्त की असावधानीपूर्वक काय की क्रिया को रोकना।
- जहाँ से मनुष्य आते जाते हैं – ऐसे स्थानों पर एक पाँव से खड़े हो जाना।
- अशुभ ध्यान में लीन होकर निश्चल होना।

- मिथ्या देवताओं की मूर्ति के सामने ऐसे खड़े होना, मानो उनकी आराधना में लगे हों।
- सचित्त भूमि पर जहाँ चारों हरितकाय वनस्पति फैली हो – ऐसे स्थानों पर क्रोध या घमण्ड से मौनपूर्वक निश्चल खड़े होना अथवा बैठना।
- जो कायोत्सर्ग को कायगुप्ति मानते हैं, उनके समर्थन में शरीर से ममत्व का त्याग नहीं करना।
- जो कायोत्सर्ग के दोष भी कायगुप्ति के अतिचार हैं।

श्वेताम्बर ग्रन्थ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की प्रथम दशा में वर्णित[295]

बीस असमाधिस्थान

समाधि से तात्पर्य आत्मस्थिरता या स्वाभाविक अवस्था में रहना है। जहाँ ऐसी स्थिति नहीं होती, उसे असमाधि कहते हैं। व्यवहारनय की अपेक्षा महाव्रतों के धारक श्रमण का जीवन यदि अपनी विहित चर्या में सदैव अनुरक्त होता है तो समाधिमय और प्रशान्त होता है। ध्यान सिद्धि के द्वारा समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। पातंजल योग में निरूपित योग के आठ अंगों समाधि को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। जहाँ केवल आत्मस्वरूप भासित हो, उससे भिन्न पदार्थ शून्यवत् हो जाएँ, वह स्थिति समाधि है, परमशान्तावस्था है।

यद्यपि साधक विकार वर्जन में संकल्पबद्ध होता है, किन्तु आखिर वह है तो मानव ही। जब अन्तःकरण में दुर्बलता उभर आती है तो चाहे अनचाहे अनुचित कार्य होना आशंकित है। ऐसी स्थिति साधक के जीवन में कदापि न आए, एतदर्थ इस सूत्र में उन कारणों का जिक्र किया है, जो जीवन की दैनंदिन क्रिया से सम्बद्ध हैं। चलना, बोलना, खाना–पीना, गुरुपदस्थानीय, ज्येष्ठ, वरिष्ठ पुरुषों के साथ व्यवहार आदि में अजागरूकता न आए; समिति और गुप्तिपूर्वक उसकी गतिविधि संचालित हो, इसलिए एतद्विषयक उन सभी निषिद्ध या दोषयुक्त कार्यों का इस सूत्र में प्रतिपादन हुआ है, जो आत्मसमाधि को मिटा देते हैं।

उक्त बीस असमाधि-स्थानों का स्वरूप निम्न प्रकार है –

1. चलने में शीघ्रता करना।
2. प्रमार्जित किए बिना चलना।
3. भलीभांति प्रमार्जित किए बिना चलना।
4. प्रमाणाधिक बिछौने, आसन आदि रखना।
5. जो अपने से दीक्षा में बड़े हों, उन साधुओं के सामने अनावश्यक बोलना।
6. स्थविरों – वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध श्रमणों को पीड़ा पहुँचाना।
7. पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों को उपहत करना।
8. क्रोध से जलना।
9. कोपाविष्ट होना।
10. किसी की अनुपस्थिति में उसकी आलोचना – चुगली करना।
11. प्रतिक्षण निश्चयात्मक भाषा प्रयुक्त करना।
12. नवीन, अनुत्पन्न क्लेश आदि को उत्पन्न करना।
13. क्षमित – क्षमापना द्वारा उपशमित पुराने क्लेश को पुनः जगाना।
14. वर्जित या निषिद्ध समय में स्वाध्याय करना।
15. सचित्त (आर्द्र) रज आदि से लिप्त हाथ–पैर युक्त रहना।
16. जहाँ बोलना अपेक्षित न हो, वहाँ अवांछित रूप में बोलते जाना (या परस्पर भेद उत्पन्न करना)।
17. झंझट पैदा करना (जिससे संघ की मर्यादा आहत हो)।
18. कलह करना।
19. सूरज उगने से लेकर छिपने तक कुछ न कुछ खाते रहना।
20. एषणा समिति का पालन न करते हुए – बिना गवेषणा किए भोजन, जल आदि ग्रहण करना।

इक्कीस शबल दोष

जो आत्मा को दूषित, विकृत और विभावगत करता है, उसे दोष कहते हैं। जो दोष, श्रमण के निर्मल और पवित्र जीवन को कलंकित कर डालते हैं, उन्हें शबल दोष के नाम से कहा गया है। शबल शब्द दोष की अत्यधिक विकृतावस्था को द्योतित करता है। शबल शब्द चितकबरेपने का भी द्योतक है, जैसे – किसी गौरवर्ण पर तरह–तरह के लगे धब्बे उसके सौन्दर्य का नाश करते हैं, बड़े भद्दे प्रतीत होते हैं; उसी प्रकार ये शबल दोष श्रमण जीवन की उजली चादर पर लगे हुए ऐसे कलंक के धब्बे हैं, जो उसे विकृत, अतिदूषित और लज्जास्पद बना देते हैं। इनका सेवन श्रमण जीवन के लिए अभिशाप के समान है।

इन इक्कीस दोषों का सम्बन्ध मुख्यतः वासना, भोजन, आहार, आवास और उपकरणोपयोग इत्यादि दैनंदिन प्रयोजनीय कार्यों से है। यद्यपि एक श्रमण प्राणातिपात, परिग्रह, अब्रह्मचर्य इत्यादि का सर्वथा मन–वचन–काय और कृत–कारित–अनुमोदना से त्यागी होता है; अतः ऐसे दोष उसके जीवन में घटित हों – यह बहुत कम सम्भावित है। फिर भी वह एक मानव है, संसारावस्था से विरक्तावस्था में गया है, मन में कभी दुर्बलता आ जाए तो ऐसा आशंकित है कि उसके द्वारा न चाहते हुए भी कोई अकृत्य बन जाए। मन बड़ा चंचल है; इसे वश में करना, वैसा ही कठिन है, जैसे – हवा को पकड़ पाना। फिर भी वैराग्य और अभ्यास से यह परिग्रहीत किया जा सकता हैं।

काम को जो दुर्जेय कहा जाता है, वह भी सच है। जब मन में वासना का उभार आता है, तब व्यक्ति अपने स्वरूप को भूल जाता है। काम, भोग, वासना के कारण साधु के मन में चंचलता न व्यापे, इसलिए तत्सम्बन्धी दोषों की चर्चा पहले की गई है।

इसी प्रकार आहार या भोजन, भौतिक जीवन के लिए परमावश्यक है। गृही या श्रमण – सभी को भोजन तो करना ही होता है। लेकिन एक श्रमण के लिए भोजन, देह–निर्वाह का साधन मात्र है क्योंकि देह उसके संयमी जीवन का एक आवश्यक उपकरण या आधार है। अतएव भोजन विषयक आकर्षण से, जिसे जिह्वा–लालुपता कहा जाता है, उससे वह सदैव दूर रहता है। इसके अतिरिक्त जैन श्रमण के आहार की एक असाधारण विशेषता है कि वह अपने लिए पकाये हुए, खरीदे हुए, किसी भी प्रकार उस हेतु संग्रह किये हुए भोजन को आहार के रूप में स्वीकार नहीं करता। इसके पीछे एक गहरा मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि श्रमण के माध्यम से गृहस्थों पर किसी भी प्रकार से भार न आए। दूसरी बात यह भी है कि यदि औद्देशिक – नैमित्तिक आहार विहित या स्वीकृत हो तो श्रद्धातिरेकवश उपासक अपने पूजनीय श्रमणों को उत्तम से उत्तम आहार देने का प्रयास करता है, जो साधनामय जीवन में प्रतिबन्धक है। इसीलिए यहाँ तक कहा गया है कि जिस प्रकार साँप बाँबी में प्रविष्ट होता है; उसी प्रकार एक श्रमण जरा भी आस्वाद लिए बिना भोजन के कौर – ग्रास को कण्ठ से नीचे उतारे।

चर्या में कितना सूक्ष्मतापूर्ण चिन्तन है कि जिस भवन में साधु प्रवास हेतु रुकें, उसके स्वामी का आहार लेना, उसके लिए वर्जित है। इसमें भी दो बाते ध्यान देने की हैं – एक तो गृहस्वामी पर अतिरिक्त भार न आए तथा दूसरे अपने स्थान में प्रवसनशील साधु के प्रति विशेष आतिथ्यभाव या सत्कारभाव के कारण वह कुछ विशेष तैयारी न कर ले।

'राजपिण्ड' का जो उल्लेख हुआ है, वह भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जैन चिन्तन धारा की सूक्ष्मता अभिव्यक्त करता है। राजा के यहाँ स्वादिष्ट एवं उत्तम भोजन हमेशा ही बनते हैं। राजसिक भोजनगृह में विषय–प्रधान स्वादिष्ट, गरिष्ठ भोजन तैयार होता है; वैसा औद्देशिक न हो तो भी उसे अग्राह्य माना है क्योंकि वह राजसिक–तामसिक वृत्तियों को बढ़ाता है। राजा के यहाँ आमिषादि अनेषनीय (अखाद्य) पदार्थों का परिपाक भी होता है। भोग–विलासमय जीवन का वातावरण रहने से और भी अनेक विघ्न आशंकित हैं।

अब्रह्मचर्य, जिह्वा–लौल्य, जान–बूझ कर हिंसापूर्ण कार्य – ये निःसन्देह श्रमण जीवन की पवित्रता, उज्ज्वलता को कलुषित करते हैं। एक प्रकार से ये ऐसे दोषपूर्ण धब्बे हैं, जिनसे श्रमण जीवन अवहेलनीय हो जाता है।

इन दोषों की सबलता होने के कारण ही इन्हें 'शबल' कहा गया है। इन शबल दोषों के स्वरूप निम्न प्रकार हैं –

1. हस्तकर्म करना, कराना तथा अन्य करने वाले की प्रशंसा करना।
2. अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचारपूर्वक मैथुन सेवन करना। अनाचार होने पर व्रतभंग कहलाता है।
3. रात्रिभोजन करना।
4. आधाकर्मदोष अर्थात् साधु के लिए षट्काय का उपमर्दन करके बनाये हुए दूषित आहार का सेवन करना।
5. राजपिण्ड – राजा के आवास में आहार ग्रहण करना।
6. औद्देशिक – साधु के उद्देश्य से लाये हुए, खरीदे हुए, उधार लिये हुए, कमजोर से छीने हुए आहार का स्वीकरण करना।
7. बार–बार प्रत्याख्यान या त्याग करके पुनः आहार सेवन करना।
8. छह मास के अन्दर ही एक गण से दूसरे गण में गमन या प्रवेश करना।
9. एक मास के अन्दर तीन बार नदी आदि पार करते हुए जल–संस्पर्श करना।
10. एक मास में तीन बार माया युक्त – प्रवंचनापूर्ण व्यवहार करना।
11. शय्यातर के यहाँ से आहार आदि ग्रहण करना।
12. जान–बूझ कर या आवर्तित रूप में प्राणातिपात करना।
13. जानते–बूझते हुए असत्य प्रयोग करना।
14. जान–बूझ कर अदत्त – नहीं दी गई वस्तु का आदान या ग्रहण करना।
15. आवर्तित रूप में सचित्त भूमि से संस्पृष्ट या निकटवर्ती स्थान पर कायोत्सर्ग करना।
16. जानते–बूझते हुए सचित्त जल से स्निग्ध, संलिप्त भूमि पर और सचित्त रज से युक्त भूमि पर खड़े होना या बैठना आदि।
17. जान–बूझ कर सचित्त शिला पर – पाषाण पर, पत्थर के ढ़ेले पर, दीमक लगे हुए, जीवयुक्त काष्ठ पर, अण्डों से युक्त द्वीन्द्रिय आदि जीवों से युक्त आर्द्र मृत्तिका पर एवं मकड़ी के जाले से युक्त स्थान पर खड़ा होना, सोना, बैठना, खड़ा होना आदि।
18. आवर्तित रूप में पत्ते, कन्द, स्कन्ध, छाल, कोंपल, फूल, फल, बीज और हरित वनस्पति का भोजन करना।
19. एक वर्ष के अन्दर दस बार नदी–नाले आदि पार करने के सन्दर्भ में जल–स्पर्श करना।
20. एक वर्ष के अन्दर दस बार प्रवंचनापूर्ण या छलपूर्ण व्यवहार करना।
21. आवर्तित रूप में शीतल – सचित्त जल से परिव्याप्त हाथ, लघु पात्र, चम्मच, बड़ा पात्र (भाजन) आदि के प्रयोगपूर्वक अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि का सेवन करना।

श्वेताम्बर ग्रन्थ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की तृतीय दशा में वर्णित[297]

तेतीस आशातनाएँ

''साधु के जीवन में गुरुजन, श्रमण पर्याय मे ज्येष्ठ पूज्यजनों के प्रति मानसिक, वाचिक और कायिक रूप में विनय होना अत्यन्त आवश्यक है। बौद्धधर्म में तो 'विनय' शब्द का अर्थ ही भिक्षु का आचार होता है। भिक्षु का गमनागमन, रहन–सहन, भोजन, भिक्षाचर्या इत्यादि सभी आचार विषयक क्रियाकलापों को 'विनय' कहा गया है। उदाहरणार्थ, विनयपिटक में भिक्षुओं के आचार का ही विस्तृत वर्णन है।

जीवन में जब विनय नहीं होता, तब व्यक्ति हर क्रिया–प्रक्रिया में प्रमादपूर्ण, अशिष्टतापूर्ण व्यवहार करता है। एक साधु के जीवन ऐसा कभी नहीं हो, अतएव प्रारम्भ से ही एक श्रमण को वैसे संस्कार प्राप्त हों – इस पर बहुत जोर दिया गया है। यहाँ 'आशातना' शब्द का मतलब है – अपने व्यवहार द्वारा अनेक प्रकार से पीड़ित करना, दुःख पहुँचाना या परेशान करना, जिनसे सम्मुखीन वरिष्ठजनों को मानसिक पीड़ा या खिन्नता उत्पन्न हो सकती है। भले ही किसी वरिष्ठ साधु को इस कारण पीड़ा न हो, फिर भी इन कार्यों को हेय एवं दूषणीय ही माना गया है। ऐसी प्रमादपूर्ण प्रवृत्तियाँ, विद्या और चारित्र, दोनों ही दृष्टि से नवदीक्षित या लघु मुनि को अग्रसर होने में बाधक होती हैं।

यहाँ दैनंदिन कार्यों से सम्बद्ध चलना, फिरना, बैठना, रहना, इत्यादि से सम्बन्धित छोटी से छोटी बातों को इस प्रकार कहा गया है; जैसे – एक बालक को समझाया जाता है क्योंकि छोटी–छोटी बातों में प्रमाद करने वाले में प्रमाद की वृत्ति पनपती है, जो उसे साधना के मार्ग में आगे नहीं बढ़ने देती।

इस सन्दर्भ में दशवैकालिक सूत्र की निम्नांकित गाथा विशेषरूप से मननीय है –

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयं आसे, जयं सए।
जय भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं ण बंधइ।।[298]

अर्थात् जागृत होकर या यत्नपूर्वक गमन करो, यत्नपूर्वक चेष्टा करो, यत्नपूर्वक बैठो, यत्नपूर्वक शयन करो, यत्नपूर्वक भोजन करो और यत्नपूर्वक ही देखो; जिससे पापकर्म का बन्ध न हो।

मुख्यतः इनका सम्बन्ध विनय से है। विनय बड़ों के प्रति होता है। बड़ों को किसी भी प्रकार खेद, शातना आदि उत्पन्न न हो – ऐसा कोई काम नवदीक्षित या लघु मुनि को नहीं करना चाहिए; अतः इन्हें आशातना नाम दिया गया है।

उक्त तेतीस आशातना दोष निम्न प्रकार हैं –

1. शैक्ष (अल्प दीक्षापर्याययुक्त साधु) का रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) साधु के आगे चलना।
2. उनके बराबर चलना।
3. उनके बहुत नजदीक होकर चलना।
4. उनके आगे खड़ा हो जाना।
5. उनके बराबर खड़ा हो जाना।
6. उनके अत्यन्त नजदीक खड़ा हो जाना।
7. उनके आगे बैठना।
8. उनके बराबर बैठना।
9. उनके अति समीप बैठना।
10. बाहर शारीरिक चिन्ता–निवृत्त्यर्थ (स्थण्डिल भूमि में) जाने पर रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) मुनि से पूर्व शौच–शुद्धि करना।
11. स्थण्डिल भूमि या स्वाध्याय स्थान से वापिस लौटते समय रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) मुनि से पहले (शैक्ष का) ईर्यापथिक करना।
12. रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) के पास किसी व्यक्ति के वार्तालाप हेतु आने पर पहले स्वयं ही आलाप करने लगना।
13. रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) द्वारा रात्रि में अथवा सन्ध्या समय में यह पूछे जाने पर कि 'कौन सो रहे है? या कौन जाग रहे हैं? शिष्य (शैक्ष) द्वारा जागते हुए भी अनसुना कर देना या उत्तर न दिया जाना।
14. अशन–पान–खाद्य–स्वाद्य आहार, गृहस्थ के यहाँ से लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष (लघु मुनि) के पास आलोचना कर फिर रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) के समक्ष आलोचना करना।
15. चतुर्विध आहार लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष (लघु मुनि) को दिखाना, पश्चात् रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) को दिखाना।
16. अशन–पानादि आहार को लाकर पहले शैक्ष (लघु मुनि) को उपनिमन्त्रित करना या बुलाना, तत्पश्चात् रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) को भोजनार्थ आमन्त्रित करना।
17. चतुर्विध आहार ला कर रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) से बिना पूछे जिन–जिन को शैक्ष (लघु मुनि) चाहे, उन–उन को शीघ्रतापूर्वक दिया जाना।
18. रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) अथवा गुरु के साथ आहार करते हुए शैक्ष अथवा शिष्य के द्वारा प्रचुर मात्रा में विविध प्रकार के शाक, उत्तम रसयुक्त सरस मनोज्ञ, स्निग्ध या रूक्ष आहार को शीघ्रतापूर्वक ग्रहण करना।
19. रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) या गुरु के बुलाने पर शैक्ष द्वारा उत्तर न देना।

20. रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) द्वारा आह्वान करने पर शैक्ष का अपने स्थान पर बैठे–बैठे ही उत्तर देना।
21. रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) के बुलाने पर (दूर खड़े हुए ही) शैक्ष द्वारा 'क्या कहते हो' – ऐसा कहना।
22. रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) को 'तुम' आदि अपमानजनक शब्दों द्वारा सम्बोधित करना।
23. शैक्ष द्वारा क्षण–क्षण बोलना, अनर्गल प्रलाप करना।
24. रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) द्वारा कहे गये वचनों का प्रतिकार करना (उनके द्वारा आदिष्ट कार्य उन्हें ही करने के लिए कहना या प्रतिवचन बोलना)।
25. रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) द्वारा कथा (प्रवचन) करने पर 'ऐसा बोलना चाहिए', इस प्रकार सुधार करना चाहिए, आदि कहना।
26. रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) द्वारा कथा करते समय बीच में बोलना कि 'आपको स्मरण नहीं आ रहा है या आप भूल रहे हो; इस प्रकार के वाक्य बोलना।
27. गुरु के व्याख्यान से प्रसन्न नहीं होना।
28. व्याख्यान के समय किसी बहाने से सभा को विसर्जित कर देना।
29. प्रवचन के समय भिक्षा आदि का कारण बता कर बाधा उपस्थित करना।
30. रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) के कथा करते समय सभा के उठने, भिन्न होने या बिखरने के पूर्व ही गुरु द्वारा कही गई उसी कथा के किसी वाक्य को दो या तीन बार कहना।
31. रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) साधु के शय्या–संस्तारक का प्रमादवश पैर से स्पर्श हो जाने पर अनुनय विनय या क्षमायाचना किये बिना वहाँ से चले जाना।
32. रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) के शय्या–संस्तारक पर शैक्ष का खड़ा होना, बैठना या सोना।
33. शैक्ष द्वारा रत्नत्रयाधिक (दीक्षा में ज्येष्ठ) से ऊँचे या समान आसन पर खड़े होना या बैठना।

उक्त तीन दशाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को व्याख्यायित करते हुए दशाश्रुतस्कन्ध की प्रस्तावना में श्वेताम्बर मुनि कन्हैयालाल लिखते हैं –

जिनके द्वारा चित्त में स्वस्थता प्राप्त होती है अर्थात् चित्त, मोक्षमार्ग की तरफ प्रगति करता है, उसे 'समाधिस्थान' कहते हैं; उनसे विपरीत अर्थात् जिनके द्वारा चित्त, असंयम में ही लगा रहता है, उन्हें असमाधिस्थान कहते हैं। इनके बीस भेद हैं। जबतक चित्त, स्वस्थता को प्राप्त नहीं होता, तब तक मोक्षप्राप्ति के लिए किये जा रहे सभी प्रयत्न निरर्थक ही रहते हैं; इसलिए इनका वर्णन प्रथम अध्ययन में किया गया है और उन्हें परित्याज्य कहा गया है। तत्पश्चात् असमाधिस्थानों को सेवन करने से क्या होता है, उसे द्वितीय अध्ययन में बताया गया है। जो साधु असमाधिस्थानों का सेवन करते हैं, उन्हें 'शबलत्व दोष' लगते हैं। जिनका आचरण करने से साधु के संयमी जीवन में शबलत्व या दाग पड़ जाते हैं, उन्हें शबलत्व दोष कहते हैं। उक्त शबलत्व दोष चारित्र-सम्बन्धी होते हैं, इनके 21 भेद होते हैं। इन शबलत्व दोषों को जान कर, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि कोई साधु असमाधिस्थानों का सेवन करता है तो वह नियम से शबलत्व दोषों का भागी भी होता है तथा उसके द्वारा अशातना भी होती है। इसी कारण तृतीय अध्ययन में अशातना दोषों का वर्णन किया गया है। जिनके द्वारा ज्ञान आदि गुणों का सर्वथा ध्वंस या नाश होता है, उन्हें अशातना कहते हैं। ये भी चारित्र सम्बन्धी दोष हैं, इनके 33 भेद हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट समझ में आता है कि जो असमाधिस्थानों का सेवन करता है; वह शबलत्वदोष और अशातना का भागी होता है तथा जो उनका सेवन नहीं करता, वह गणिसंपदाओं से विभूषित होता है।''

इस प्रकार **'अतिचार एवं प्रायश्चित्त – स्वरूप एवं विश्लेषण : जैन संविधान के सन्दर्भ में'** – इस शोध-प्रबन्ध के 'चतुर्थ अध्याय : **अतिचार : स्वरूप एवं विश्लेषण'** का विवरण पूर्ण होता है।

इति शुभं भवतु।

सन्दर्भ-सूची

चतुर्थ अध्याय : अतिचार : स्वरूप एवं विश्लेषण

1. **तत्त्वार्थसूत्र**, आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी, 7/18, प्रकाशक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत
2. **तत्त्वार्थवार्तिक** (भाग 1-2), आचार्य अकलंकदेव, 7/18, पृष्ठ 383-384, हिन्दी अनुवादिका, आर्यिका सुपार्श्वमती, प्रकाशक, दुलीचन्द बाकलीवाल, यूनिवर्सल एजेन्सीज्, देरगांव, आसाम
3. **उपासकाध्ययन** एवं टीका, आचार्य सोमदेवसूरि, 938–939 सम्पादन-अनुवाद, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन (1964), नई दिल्ली
4. **अनगार धर्मामृत,** पण्डित आशाधर, पृष्ठ 511, सम्पादक एवं प्रस्तावना, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1977)
5. **तत्त्वार्थवार्तिक,** 7/24 एवं **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषा टीका,** पण्डित टोडरमल, श्लोक 181, अनुवादक, वैद्य गम्भीरचन्द्र जैन, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, (वी.नि.2499)
6. **चारित्रसार**, मुनि चामुण्डराय, पृष्ठ 137, प्रकाशक, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई (वि.सं.1974)
7. जैन, नाथूराम डोंगरीय, **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय सन्दर्शिका,** श्लोक 181, प्रकाशक, श्री दि. जैन समाज, इन्दौर (1991)
8. **लाटी संहिता** (श्रावकाचार), पण्डित राजमल, पाँचवाँ सर्ग, श्लोक 261, पृष्ठ 244, हिन्दी टीकाकार, पण्डित लालाराम शास्त्री, प्रस्तावना, ब्र. हेमचन्द जैन, प्रकाशक, विनयदक्ष प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई (2002) एवं **सागार धर्मामृत**, पण्डित आशाधर, 4-18, 'ज्ञानदीपिका' संस्कृत पंजिका टीका, सम्पादक, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, (1978) के आधार पर
9. मुनि प्रमाणसागर, **जैन तत्त्वविद्या** (शास्त्रसारसमुच्चय का हिन्दी विवेचन), पृष्ठ 135, आमुख, प्रो. रतनचन्द्र जैन भोपाल, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2001)
10. **धवला,** आचार्य वीरसेन, पुस्तक 8, पृष्ठ 82; मूल ग्रन्थ षट्खण्डागम, आचार्य भूतबलि–पुष्पदन्त, सम्पादक, हीरालाल जैन, सहसम्पादकद्वय, पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री एवं पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र, अमरावती एवं श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
11. **लाटी संहिता,** दूसरा सर्ग, श्लोक 8-9, पृष्ठ 23
12. **तत्त्वार्थसूत्र,** 7/18;पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, पृष्ठ 18
13. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार** , सप्तम अध्याय, सूत्र 31, पृष्ठ 638 भाषा-टीकाकार, न्यायाचार्य माणिकचन्द्र कौन्देय, प्रकाशक, आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, प्रथम संस्करण (1949–56)
14. जैन, फूलचन्द, **तत्त्वार्थसूत्र,** अध्याय 7. सूत्र 23; प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी,
15. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,** श्लोक 182, पृष्ठ 369; टीकाकार, पण्डित मुन्नालाल रांधेलीय (वर्णी), प्रकाशक, स्वाधीन ग्रन्थमाला, सन्तोष भवन, कटरा बाजार, सागर, (1969)
16. **सागार धर्मामृत,** प्रस्तावना, पृष्ठ 22
17. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय टीका,** पण्डित मक्खनलाल शास्त्री 'तिलक', श्लोक 181, पृष्ठ 336;भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्
18. महर्षि, दीपककुमार, **सभी के लिए कानून,** पृष्ठ 53 से 59, प्रकाशक, प्रतिभा प्रतिष्ठान, 1661, दखनीराय स्ट्रीट, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली (2007) के आधार पर
19. **द्वात्रिंशतिका अथवा सामायिक पाठ,** श्लोक 9
20. **सागार धर्मामृत,** प्रस्तावना, पृष्ठ 22
21. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 1, पृष्ठ 42 पर 'अतिक्रम' शब्द की व्याख्या में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 30 की टीका में उद्धृत श्लोक; अन्यत्र प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, 96–98; एवं श्रावकाचार संग्रह, भाग 2, पृष्ठ 348
22. **मूलाचार;** आचारवृत्ति टीका, भाग 2, गाथा 1028, पृष्ठ 184; और देखें, मूलाचार प्रदीप, 1366-1366
23. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार,** हिन्दी टीका, षष्ठ खण्ड, 7/23, पृष्ठ 621
24. **प्रायश्चित्त चूलिका टीका,** 146
25. **श्रावकाचार संग्रह;** चतुर्थ भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ 108
26. **वही,** चतुर्थ भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ 108
27. **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका, गाथा 33
28. **धवला,** 1/176
29. **वही,** 1/178
30. **प्रवचनसार,** तत्त्वप्रदीपिका टीका, गाथा 157
31. **वही,** तत्त्वप्रदीपिका टीका, गाथा 245
32. **प्रवचनसार सप्तदशांगी टीका,** गाथा 157 एवं 158 के तथ्यप्रकाश
33. **धवला,** 1/175-176

34. **छहढाला,** कविवर दौलतराम, तीसरी ढाल, छन्द 11; टीकाकार, पण्डित रामजीभाई दोशी, सम्पादन, पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशक, तीर्थधाम मंगलायतन, श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (2006)

35. **विशेषावश्यक भाष्य, भाग 1** (गुजराती प्रकाशन) गाथा 1249-1253 के आधार पर; प्रकाशक – भद्रंकर प्रकाशन, महालक्ष्मी सोसायटी, शाहीबाग, अहमदाबाद–4,

36. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 489, पृष्ठ 372

37. **वही**, 61 एवं जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, 1/42-44

38. **तत्त्वार्थसूत्र,** टीकाकार श्री रामजीभाई दोशी, सूत्र 7/23

39. **अष्टपाहुड़, दर्शनपाहुड़,** गाथा 3

40. **तत्त्वार्थराजवार्तिक,** 7/23

41. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार भाषा टीका,** षष्ठ खण्ड, 7/23, पृष्ठ 621

42. **तत्त्वार्थसूत्र,** 7/23

43. **भगवती आराधना,** गाथा 43

44. **वही,** टीका, 44; और देखें, वरांगचरित्र, 31/70 के आधार पर

45. **नाटक समयसार,** पण्डित बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थान अधिकार, छन्द 38, पृष्ठ 378, प्रकाशक, श्री वीतराग सत्साहित्य प्रकाशक ट्रस्ट, भावनगर (1980)

46. **वही**, चतुर्दश गुणस्थान अधिकार, छन्द 37, पृष्ठ 377

47. **हरिवंशपुराण,** आचार्य जिनसेन, 58/162, सम्पादन-अनुवाद, डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2003)

48. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक भाषा टीका,** 7/23

49. **तत्त्वार्थवार्तिक,** 7/23 एवं **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार भाषा-टीका,** षष्ठ खण्ड, 7/23, पृष्ठ 623

50. विशेष देखें, **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,** 7/23 एवं **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार** भाषा टीका, षष्ठ खण्ड, 7/23, पृष्ठ 622

51. **तत्त्वार्थसूत्र,** 7/18; प्रकाशक – पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, पृष्ठ 18

52. मुनि प्रमाणसागर, **जैन तत्त्वविद्या** (शास्त्रसारसमुच्चय का हिन्दी विवेचन), पृष्ठ 123, आमुख, प्रो. रतनचन्द्र जैन भोपाल, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2001)

53. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 58-60, पृष्ठ 157

54. **वही**, 61, पृष्ठ 157

55. **मोक्षमार्गप्रकाशक,** 334

56. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,** पुस्तक 6, अध्याय 7, सूत्र 23

57. **वही**, सूत्र 23

58. **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** 25

59. **भगवती आराधना भाषा-टीका,** पण्डित सदासुखदास, श्लोक 2087

60. **समयसार,** आत्मख्याति, कलश 136

61. **भावदीपिका,** पण्डित दीपचन्द शाह कासलीवाल, पाँचवाँ अधिकार, पृष्ठ 122-128, प्रकाशक, अश्विन शाह, दर्शन प्रकाशन, मलाड, मुम्बई (2004)

62. क्षुल्लक मनोहर वर्णी, सहजानन्द, **समस्थानसूत्र सप्तम स्कन्ध,** पचासवां अध्याय, पृष्ठ 98, सम्पादक, महावीरप्रसाद जैन, सदर मेरठ, प्रकाशक, श्री सहजानन्द ग्रन्थमाला, 201, पुलिस स्ट्रीट, सदर, मेरठ (1958)

63. **नाटक समयसार,** चतुर्दश गुणस्थान अधिकार, छन्द 31, पृष्ठ 376

64. आर्यिका विज्ञानमती; **तत्त्वार्थ मंजूषा,** द्वितीय खण्ड, सप्तम अध्याय, सूत्र 23

65. **यशस्तिलक चम्पू,** 6/150-152

66. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार,** भाषा-टीका, षष्ठ खण्ड, 7/23

67. **रतिवाक्या,** दशवैकालिक सूत्र, पृष्ठ 295-296

68. **वही,** दशवैकालिक सूत्र, पृष्ठ 295-311 के आधार पर

69. जैन नेमिचन्द्र, **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा,** प्रथम खण्ड, पृष्ठ 502, प्रकाशक, आचार्य शान्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला, मुजफ्फरनगर (1992)

70. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,** 7/23

71. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 71, पृष्ठ 166

72. **आचार्य सूर्यसागर;** संयमप्रकाश, उत्तरार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 73

73. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 71, पृष्ठ 166

74. **वही,** द्वितीय अध्याय, 71, विशेषार्थ, पृष्ठ 167

75. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 44, पृष्ठ 79

76. **मोक्षशात्र,** टीकाकार श्री रामजीभाई दोशी, सूत्र 7/23

77. **तत्त्वार्थसूत्र,** 7/18; पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

78. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 72, विशेषार्थ, पृष्ठ 167

79. **वही,**

80. **वही,** द्वितीय अध्याय, 73, पृष्ठ 168

81. **मोक्षशात्र,** टीकाकार श्री रामजीभाई दोशी, सूत्र 7/23

82. **समयसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा 228

83. **वही,** आत्मख्याति टीका, आचार्य अमृतचन्द्र, श्लोक 154

84. **समयसार वचनिका,** पण्डित जयचन्द छाबड़ा, भावार्थ, श्लोक 154., अनुवादक, जैन, धनकुमार, सम्पादक, जैन, राकेश शास्त्री एवं जैन संजय शास्त्री, प्रकाशक, तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़ (उ.प्र.) (2008)

85. **नाटक समयसार,** निर्जरा द्वार, छन्द 48, पृष्ठ 160

86. **वही,** निर्जरा द्वार, छन्द 49, पृष्ठ 161

87. **संयमप्रकाश,** उत्तरार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 79-80 के आधार पर

88. और देखें, **भगवती आराधना भाषा-टीका,** श्लोक 2087

89. **समयसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, **ज्ञायकभावप्रबोधिनी हिन्दी टीका**, डा. हुकमचन्द भारिल्ल, निर्जरा अधिकार, कलश 154, पृष्ठ 334, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (2007)

91. देखें, **संयमप्रकाश,** उत्तरार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 81-82

92. **समयसार वचनिका,** निर्जरा अधिकार, कलश 28/160, पृष्ठ 591

93. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 74, विशेषार्थ, पृष्ठ 168-169 94. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**, 11
95. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा टीका,** पृष्ठ 21-24
96. **तत्त्वार्थमंजूषा,** द्वितीय खण्ड, सप्तम अध्याय, सूत्र 23, पृष्ठ 369 97. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,** 7/23
98. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार,** भाषा टीका, षष्ठ खण्ड, 7/23, पृष्ठ 621 99. **संयमप्रकाश,** उत्तरार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 73
100. देखें, **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 44, पृष्ठ 80 101. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 75, पृष्ठ 169-170
102. **मोक्षशात्र,** श्री रामजीभाई दोशी कृत टीका, सूत्र 7/23, पृष्ठ 490
103. **तत्त्वार्थसूत्र,** 7-18; प्रकाशक – पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, पृष्ठ 184 104. **प्रवचनसार,** 76
105. **वही,** तत्त्वप्रदीपिका, 76 106. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 76, पृष्ठ 171
107. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा-टीका,** पृष्ठ 24-28 108. **तत्त्वार्थमंजूषा,** द्वितीय खण्ड, सप्तम अध्याय, सूत्र 23, पृष्ठ 369
109. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,** 7/23 110. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 79, पृष्ठ 172 111. **वही**, 76, पृष्ठ 171
112. **मोक्षशात्र,** श्री रामजीभाई दोशी कृत टीका, सूत्र 7/23, पृष्ठ 491 113. **संयमप्रकाश,** उत्तरार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 73
114. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार,** भाषा टीका, षष्ठ खण्ड, 7/23, पृष्ठ 621
115. **तत्त्वार्थसूत्र,** 7-18; पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, पृष्ठ 184 116. **यशस्तिलक चम्पू,** 6/169
117. देखें, **भगवती आराधना,** संस्कृत विजयोदया टीका, 44, पृष्ठ 80 118. **छहढ़ाला,** तीसरी ढ़ाल, छन्द 12
119. **संयमप्रकाश,** उत्तरार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 73 120. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 81, पृष्ठ 173
121. **वही,** द्वितीय अध्याय, 80, पृश्ठ 172-173 122. **वही,** द्वितीय अध्याय, 82, पृष्ठ 173
123. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** श्लोक 13, 124. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा-टीका,** पृष्ठ 28
125. **तत्त्वार्थमंजूषा,** द्वितीय खण्ड, सप्तम अध्याय, सूत्र 23, पृष्ठ 369 126. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,** 7/23
127. **संयमप्रकाश,** उत्तरार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 73 128. **तत्त्वार्थसूत्र,** 7-18; पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, पृष्ठ 184
129. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 83, पृष्ठ 174 130. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार भाषाटीका,** षष्ठ खण्ड, 7/23,
131. **मोक्षशात्र,** श्री रामजीभाई दोशी कृत टीका, सूत्र 7/23, पृष्ठ 491
132. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार भाषा टीका,** शश्ठ खण्ड, 7/23, पृश्ठ 621
133. **मोक्षशात्र,** श्री रामजीभाई दोशी कृत टीका, सूत्र 7/23, पृष्ठ 491 134. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार, भाषा-टीका,** पृष्ठ 233
135. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** श्लोक 14 136. **संयमप्रकाश,** उत्तरार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 73
137. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार, भाषा-टीका,** पृष्ठ 30 138. **संयमप्रकाश,** उत्तरार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 73
139. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार, भाषा-टीका,** पृष्ठ 31-32 140. **संयमप्रकाश,** उत्तरार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 74
141. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार, भाषा-टीका,** पृष्ठ 33 142. **संयमप्रकाश,** उत्तरार्द्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ 74
143. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार, भाषा-टीका,** पृष्ठ 35 144. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार टीका,** षष्ठ खण्ड, 7/23, पृष्ठ 624
145. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा-टीका,** 27, पृष्ठ 57 146. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 84, पृष्ठ 174
147. देखें, **भगवती आराधना,** विजयोदया संस्कृत टीका, 44, पृष्ठ 81
148. **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा,** प्रथम खण्ड, पृष्ठ 507
149. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 85, पृष्ठ 175 150. **छहढाला,** 3/14 151. **वही,** हिन्दी टीका , 3/14
152. **मोक्षमार्गप्रकाशक**, पृष्ठ 175–180 153. **उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला,** 5 154. **अष्टपाहुड़,** दर्शनपाहुड़, गाथा 18
155. **वही,** बोधपाहुड़, गाथा 51 156. **मोक्षमार्गप्रकाशक,** पृष्ठ 180–184 के आधार पर
157. **उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला,** गाथा 31 158. **वही,** गाथा 36 159. **वही,** गाथा 37
160. **संघपट्ट,** द्वारा – मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 180 161. **अष्टपाहुड,** दर्शनपाहुड, गाथा 2 162. **वही,** गाथा 8
163. **अष्टपाहुड,** दर्शनपाहुड, गाथा 12 164. **अष्टपाहुड,** दर्शनपाहुड, गाथा 13 165. **अष्टपाहुड,** सूत्रपाहुड, गाथा 19
166. **अष्टपाहुड,** भावपाहुड, गाथा 71 167. **अष्टपाहुड,** मोक्षपाहुड, गाथा 78 168. **वही,** गाथा 79
169. **आत्मानुशासन,** आचार्य गुणभद्र, श्लोक 197, भाषा टीकाकार, आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल, अनुवाद, पण्डित अभयकुमार जैन शास्त्री, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (1999) 170. **वही,** श्लोक 198
171. **परमात्मप्रकाश,** मुनिराज योगीन्द्रदेव, अध्याय 2, श्लोक 88; प्रकाशक, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास (2000)
172. **वही,** अध्याय 2, श्लोक 90; 173. **वही,** श्लोक 91; 174. **मोक्षमार्गप्रकाशक,** पृष्ठ 184–187 के आधार पर
175. **मोक्षमार्गप्रकाशक,** पृष्ठ 168–175 के आधार पर 176. **मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 188**–190 के आधार पर

177. **रयणसार**, गाथा 26 178. **वृहत् स्वयंभूस्तोत्र,** श्लोक 58 179. **अष्टपाहुड़, मोक्षपाहुड़,** 92
180. **वही., भावपाहुड़,** 140 181. **मोक्षमार्गप्रकाशक,** 192 182. **नीतिशतक,** श्लोक 84
183. **मोक्षमार्गप्रकाशक** 192 184. **मोक्षमार्गप्रकाशक,** पृष्ठ 188-192 के आधार पर
185. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 86, पृष्ठ 175 186. **वही,** पृष्ठ 175 187. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** 25
188. **छहढाला, हिन्दी टीका,** 3/13-14 189. **वही,** 3/13-14
190. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा-टीका,** 25, पृष्ठ 48-57 के आधार पर
191. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 88, पृष्ठ 176 192. **वही**, 88, पृष्ठ 176; संस्कृत टीका में उद्धृत
193. **वही**, 88, पृष्ठ 176; टिप्पणी एवं हिन्दी टीका में उद्धृत 194. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा-टीका,** 25, पृष्ठ 52-53
195. **वही,** 25, पृष्ठ 53 196. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 90, पृष्ठ 177 हिन्दी टीका
197. **वही,** द्वितीय अध्याय, 90, पृष्ठ 178 हिन्दी टीका 198. कविवर भूधरदास; **वैराग्य भावना,** जिनेन्द्र अर्चना, 260
199. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा-टीका,** 25, पृष्ठ 53 200. **वही,** 25, पृष्ठ 54
201. **अनगार धर्मामृत,** द्वितीय अध्याय, 89, पृष्ठ 177 202. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा-टीका,** 26, पृष्ठ 54-55
203. **वही,** 26, पृष्ठ 55-56 204. **वही,** 27, पृष्ठ 56-57 205. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार, प्रश्नोत्तरी टीका,** 25, पृष्ठ 56
206. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** 22 207. **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा,** प्रथम खण्ड, पृष्ठ 506
208. और देखें, **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा-टीका,** 22, पृष्ठ 37-40 209. **वही,** 22, पृष्ठ 43
210. **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा,** प्रथम खण्ड, पृष्ठ 506 211. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**, 23
212. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, गाथा 319—320 213. और देखें, **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा-टीका,** 22, पृष्ठ 37-48
214. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** 24 215. और देखें, **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा-टीका,** 22, पृष्ठ 48
216. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार, प्रश्नोत्तरी टीका,** 24, पृष्ठ 52
217. मुनि, भूतबलीसागर द्वारा संकलित ग्रन्थ **सम्यक् श्रामण्य भावना,** (सम्यक्त्वपूर्वक श्रमण संस्कृति की भावना), प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन सभा, सेक्टर 16, फरीदाबाद एवं जैन महिला जागृति मंच, फरीदाबाद (2005) मुनिश्री धर्मभूषणजी महाराज द्वारा संकलित ग्रन्थ **'जैनदर्शन गणित'** एवं पण्डित टोडरमलजी के सहपाठी ब्र. पण्डित राजमलजी द्वारा विरचित **'ज्ञानानन्द श्रावकाचार'** के आधार पर संकलित एवं सम्पादित 218. **तत्त्वार्थसूत्र,** सप्तम अध्याय, सूत्र 24
219. **वही**, सूत्र 24/2 220. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,** सप्तम अध्याय, सूत्र 24/2
221. **श्रावकाचार संग्रह,** चतुर्थ भाग, प्रस्तावना 222. **प्रायश्चित्त-चूलिका,** श्लोक 146 टीका
223. **श्रावकाचार संग्रह,** चतुर्थ भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ 109—112 के आधार पर
224. इनका विस्तृत विवेचन **तत्त्वार्थसूत्र** और उसकी टीकाओं, जिनमें प्रमुखतः **सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थ-वार्तिक, तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकालंकार, तत्त्वार्थ-मंजूषा,** सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्दजी शास्त्री द्वारा लिखित **तत्त्वार्थसूत्र की टीका** आदि के सप्तम अध्याय, सूत्र 24-37; **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** के श्लोक 51-90 की पण्डित सदासुखदासजी और आर्यिका स्याद्वादमती माताजी की टीकाओं; एवं डॉ. अनेकान्त जैन, व्याख्याता, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली के लेख **'अहिंसादर्शन'** के आधार पर
225. **तत्त्वार्थसूत्र.** सप्तम अध्याय, सूत्र 25 226. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** श्लोक 54
227. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,** पुस्तक 6, पृष्ठ 629 एवं तत्त्वार्थमंजूषा, सप्तम अध्याय, सूत्र 25/2, पृष्ठ 373
228. **तत्त्वार्थसूत्र.** सप्तम अध्याय, सूत्र 26 229. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** श्लोक 56
230. **जिनवाणि मासिक,** जैन, धर्मचन्द, अचौर्यव्रत और नैतिकता, पृष्ठ 5-8 231. **तत्त्वार्थसूत्र.** सप्तम अध्याय, सूत्र 27
232. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार ,** श्लोक 58 233. **तत्त्वार्थसूत्र.** सप्तम अध्याय, सूत्र 28
234. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** श्लोक 60 235. **सागार धर्मामृत,** प्रस्तावना, पृष्ठ 21
236. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश**, भाग 3, पृष्ठ 191
237. **मूलाचार**, 996-998, **दर्शनपाहुड़** टीका 9/9/4 एवं **ज्ञानार्णव** 11/7-9 के आधार पर
238. **सागार धर्मामृत**, 3/20 239. **वही**, 3/23 240. **लाटी संहिता**, 2/186 241. **भगवती आराधना**, 994
242. **शीलपाहुड़**, 19 243. **अनगार धर्मामृत** 4/60 244. **भगवती आराधना**, 877-996 के आधार पर
245. **तत्त्वार्थसूत्र.** सप्तम अध्याय, सूत्र 29 246. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** श्लोक 62
247.न्यायाचार्य पण्डित माणिकचन्द कौन्देय, **तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार**, 6/636 248. **तत्त्वार्थसूत्र,** 7/30
249. न्यायाचार्य पण्डित माणिकचन्द कौन्देय, **तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार,** 6/638 250. **तत्त्वार्थसूत्र,** 7/31

251. **वही**, सूत्र 32 252. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा टीका,** पृष्ठ 127–136 के आधार पर 253. **तत्त्वार्थसूत्र,** 7/33

254. **वही**, सूत्र 34 255. **वही,** सप्तम अध्याय, सूत्र 35 256. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** श्लोक 90

257. जैन, फूलचन्द, **तत्त्वार्थसूत्र,** 7/1, पृष्ठ 209–212, प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी,

258. **संस्कार मंजूषा,** उत्तरार्द्ध, पृष्ठ 125 259. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा टीका,** पृष्ठ 137–151 के आधार पर

260. **तत्त्वार्थसूत्र,** सप्तम अध्याय, सूत्र 36 261. दरयावसिंह सोधिया, **श्रावकधर्मसंग्रह,** पृष्ठ 163 के आधार पर

262. **तत्त्वार्थसूत्र**, सप्तम अध्याय, सूत्र 37 263. **श्रावकाचार संग्रह,** चतुर्थ भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ 113-114

264. **वही,** चतुर्थ भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ 112-113, **सागार धर्मामृत,** 3/11-13, **लाटी संहिता,** 2/68, 77 आदि के आधार पर

265. **भगवती आराधना**, विजयोदया टीका, 489

266. जैन, वीरसागर, प्रोफेसर, लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली के लेख **'सूत्र के बत्तीस दोषों का संक्षिप्त विवेचन'** के आधार पर

267. **वृहत् कल्पसूत्र,** अनुयोगाधिकार, गाथा 278–281, **वृहत्कल्पभाष्य,** 277, **प्रमाणमीमांसावृत्ति,** 2/1/30, **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** 1/238, **आवश्यकनिर्युक्तिसूत्र,** 880, के आधार पर

268. **श्रावकधर्मसंग्रह,** पृष्ठ 182, सम्पादक – श्री परमानन्द जैन शास्त्री, प्रकाशक – वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर

269. **भगवती आराधना**, विजयोदया टीका, 489

270. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 118, पृष्ठ 163; 116/279/8; **अनगार धर्मामृत,** 8/115–121; **चारित्रसार,** 156/2 एवं **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 3, पृष्ठ 621-622 के आधार पर

271. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश**, भाग 3, पृष्ठ 622, मूलाचार 605–609, एवं अनगार धर्मामृत, 8/98–111/822

272. **प्रवचनसार, गाथा 211-229** एवं उसकी टीकाओं के आधार पर 273. **अनगार धर्मामृत,** प्रस्तावना, पृष्ठ 17

274. **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, गाथा 33, बालबोधिनी टीका, पण्डित खूबचन्द जैन, प्रकाशक, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (1985)

275. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, गाथा 1206, **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश**, भाग 3, पृष्ठ 622, **मूलाचार** 603–607 एवं **अनगार धर्मामृत,** 8/98–111/822 एवं **श्रावकधर्मसंग्रह** आदि श्रावकाचारों के आधार पर 276. **वही**

277. **वही** 278. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश**, भाग 1, पृष्ठ 48 279. **धवला** 13/47, **भगवती आराधना** 230/447

280. **मूलाचार,** 424 की टीका

281. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, गाथा 1206, **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 3, पृष्ठ 622, **मूलाचार** 603–607 एवं **अनगार धर्मामृत,** 8/98–111/822 282. **वही** 283. **जैनेन्द्र सिद्धान्त** कोश 1/413

284. **मूलाचार,** पिण्डशुद्धि अधिकार, गाथा 444

285. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, गाथा 1206, **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 3, पृष्ठ 622, **मूलाचार** 603–607 एवं **अनगार धर्मामृत,** 8/98–111/822 286. **वही** 287. **वही**

288. **भावदीपिका,** अध्याय 5/7, पृष्ठ 151-152 के आधार पर, प्रकाशक – अश्विन शाह, दर्शन प्रकाशन, मलाड – मुम्बई,

289. **मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन,** पृष्ठ 294-297 के आधार पर

290. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 564-609, पृष्ठ 403-417; **अनगार धर्मामृत,** संस्कृत-हिन्दी टीका, 40-44, पृष्ठ 514-515; **राजवार्तिक,** 9/22; **चारित्रसार,** 138/3 एवं **दर्शनपाहुड** टीका, 9 के आधार पर

291. **मूलाचार प्रदीप**, 1842-1843

292. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 610-614, पृष्ठ 418-424 के आधार पर

293. **वही,** गाथा 16, पृष्ठ 38 एवं **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग 4, पृष्ठ 340–342 के आधार पर

294. **श्रावकधर्मसंग्रह,** पृष्ठ 284, सम्पादक – श्री परमानन्द जैन शास्त्री, प्रकाशक – वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर

295. **दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र,** प्रथम–द्वितीय–तृतीय अध्ययन, पृष्ठ 7–55; प्रकाशक – अखिल भारतीय स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सौराष्ट्र (ई. संवत् 1960) के आधार पर

296. **वही**

297. **वही**

298. **दशवैकालिक सूत्र,** अध्याय 4, गाथा 8

पंचम अध्याय

प्रायश्चित्त : स्वरूप एवं मीमांसा

प्रायश्चित्त, आत्मविशुद्धि अर्थात् दोषों से मुक्ति का अनुपम साधन है। जब तक जीव मुक्त नहीं हो जाता, तब तक उसके कुछ न कुछ बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक दोषों का निराकरण नहीं हो पाता, अतः उन्हें दूर करने के लिए जो मार्ग अपनाया जाता है, उसे ही प्रायश्चित्त कहा जाता है। वही प्रायश्चित्त विधान में कहा है –

जब तक यह जीव, परमात्मस्वरूप से परिणत नहीं हो जाता, तब तक उसकी त्रुटियाँ दूर नहीं होती हैं; उनको दूर करने के लिए जो मार्ग अपनाया जाता है, उसे मोक्षमार्ग कहते हैं। साधक की यह साधना है; उसी के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ग्रहण किया जाता है। अनादिकालीन वासना या आदत के अनुसार प्रतिक्षण गलतियाँ हो रही हैं अथवा नहीं जानते हुए हो जाती हैं अथवा नहीं चाहते हुए भी हो जाती हैं; उनकी पुनरावृत्ति रोकने के लिए दण्ड या प्रायश्चित्त की आवश्यक्ता होती है।[1]

प्रायश्चित्त का विधान, मात्र ज्ञानी धर्मात्मा व्रती श्रावक एवं त्यागियों के लिए ही होता है क्योंकि दोष, अज्ञान एवं प्रमाद से ही होते हैं। ज्ञानी भूल होने पर क्षुभित होता है, आगे भूल की पुनरावृत्ति न हो – इसके लिए प्रयत्नशील रहता है, अपने आचार्य के पास जाकर सर्व दोष को निष्कपटभाव से उजागर करता है, भविष्य में भूल न करने का दृढ़ संकल्प व्यक्त करता है; तब गुरु उसके दोष का निराकरण करने के लिए उसे प्रायश्चित्त-विधि से शुद्ध करते हैं, जिससे भविष्य में भूल होने की सम्भावना न्यूनतम हो जाती है, अन्य व्रती भी उससे प्रेरणा प्राप्त करते हैं और वे भी उन दोषों को नहीं करने का मन ही मन संकल्प लेते हैं। इस प्रकार सरल परिणामों के धारक को ही प्रायश्चित्त का उपदेश बताया गया है।

दुष्ट परिणामों के धारक व्रतियों पर यह प्रायश्चित्त विधान लागू नहीं होता है क्योंकि वे दोषों को छिपाने का प्रयास करते हैं। यदि उनसे गुप्त दोष हो जाता है तो वे उसे उजागर ही नहीं करते, यदि किसी प्रकार से दोष उजागर हो जाता है तो बदनामी का डर आदि कारणों से उसे स्वीकार नहीं करते, यदि स्वीकार भी करना पड़ता है तो इस प्रकार प्रगट करते हैं कि इसमें उनका कोई दोष नहीं है। प्रायश्चित्त लेने में उनका उत्साह नहीं रहता। यदि लोकलाज के भय से प्रायश्चित्त लेना भी पड़ता है तो मन से उसका निर्वाह नहीं करता, उसके लिए प्रायश्चित्त भारभूत हो जाता है। इसका कारण यह है कि उसके अभिप्राय में विपरीतता, कपट आदि होते हैं; अतः वह दोषों, अपराधों, भूलों की पुनरावृत्ति करता रहता है।

सामान्यतया **प्रायश्चित्त** शब्द सुन कर, सामान्यजन के मन में यही भाव उत्पन्न होते हैं कि ''शास्त्रानुसार किया हुआ वह कृत्य, जिससे शुद्ध होकर, मनुष्य पापों से निर्युक्त हो जाता है।[2]

इसी प्रकार परिशोध, पापनिष्कृति, क्षतिपूर्ति, या पाप से निस्तार पाने के लिए धार्मिक साधना को भी **प्रायश्चित्त** शब्द से अभिहित किया जाता है। चर्चासागर के अनुसार **प्रायश्चित्त, विशुद्धि, मलहरण, पापनाशन** और **छेदन** – ये पाँच भेद हैं।[3]

संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश के अनुसार – **''प्रायस्य पापस्य चित्तं विशोधनं यस्मात्**[4] अर्थात् जिससे प्राय यानि पाप का, चित्त यानि विशोधन होता है, वह **प्रायश्चित्त** कहलाता है।

अथवा हेमचन्द्राचार्य विरचित हेमाद्रि के अनुसार –

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं, चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयोगात्, प्रायश्चित्तमितीर्यते।।[5]

अर्थात् प्राय का अर्थ तप कहा गया है और चित्त का अर्थ निश्चय करना है; अतः तप और निश्चय के संयोग से **प्रायश्चित्त** शब्द निर्मित होता है। अन्य प्रकार से कहें तो **प्रायश्चित्त** या **प्रायश्चित्तिन्** शब्द का अर्थ सन्तोष या सुधार भी होता है।

प्रायश्चित्त से ही व्रतों की सफलता होती है, उसके बिना व्रतों की व्यर्थता बताते हुए प्रायश्चित्त समच्चय में कहा है –

प्रायश्चित्तेऽसति स्यान्न, चारित्रं तद्विना पुनः।
न तीर्थं न विना तीर्थान्निवृत्तिस्तद् वृथा व्रतं।।[6]

अर्थात् प्रायश्चित्त के अभाव में चारित्र नहीं है। चारित्र के अभाव में धर्म नहीं और धर्म के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति की नहीं है; इसलिए व्रत अर्थात् दीक्षा धारण करना व्यर्थ है। भावार्थ यह है कि प्रायश्चित्त ग्रहण करने से ही व्रतों की सफलता है, अन्यथा नहीं।

प्रायश्चित्त का उद्देश्य

प्रायश्चित्त का उद्देश्य दोषों की निवृत्ति करके, आत्मा में एकाग्रतापूर्वक मोक्षमार्ग में गमन करना है। क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी लिखते हैं –

प्रतिसमय लगने वाले अन्तरंग व बाह्य दोषों की निवृत्ति करके, अन्तर्शोधन करने के लिए किया गया पश्चात्ताप या दण्ड के रूप में उपवास आदि का ग्रहण, **प्रायश्चित्त** कहलाता है, जो अनेक प्रकार का होता है। जैसे, बाह्य दोषों का प्रायश्चित्त, पश्चात्ताप मात्र से हो जाता है, परन्तु अन्तरंग दोषों का प्रायश्चित्त, गुरु के समक्ष सरल मन से आलोचनापूर्वक दण्ड को स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता है, परन्तु इस प्रकार के प्रायश्चित्त अर्थात् दण्ड, शास्त्र में अत्यन्त निपुण व कुशल आचार्य ही, शिष्य की शक्ति व योग्यता को देख कर देते हैं, अन्य नहीं।[7]

आवश्यकचूर्णि में लिखा है –

- अपराध (नियमों का अतिक्रमण) होने पर, आत्मा मलिन होती है, उसकी विशोधि के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है, वह प्रायश्चित्त है।
- अपराध, शल्य है और शल्य के उद्धरण के लिए जो किया जाता है, वह प्रायश्चित्त है।
- आठों कर्म पाप हैं, उनके रहते निर्वाण नहीं होता, उनके उन्मूलन के लिए जो किया जाता है, वह प्रायश्चित्त है।[8]

इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात, मूल प्रवचनसार ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं निरूपित की है कि यदि श्रमण को प्रयत्नपूर्वक चेष्टा करते हुए भी यदि मात्र बाह्य क्रिया-सम्बन्धी कोई दोष लगता है तो वह तो मात्र स्वयंकृत आलोचना से शुद्ध हो सकता है, परन्तु यदि श्रमण से उपयोगपूर्वक कोई दोष हुआ है तो उसका प्रायश्चित्त तो हमेशा गुरु के माध्यम से ही होना चाहिए।

उक्त विषय की प्ररूपक प्रवचनसार की मूल गाथाएँ निम्न प्रकार हैं –

पयदम्हि समारद्धे, छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो, आलोयणपुव्विया किरिया।।
छेदुवजुत्तो समणो, समणं ववहारिणं जिणमदम्हि।
आसेज्जालोचित्ता, उवदिट्ठं तेण कायव्वं।।[9]

अर्थात् यदि श्रमण के प्रयत्नपूर्वक की जाने वाली कायचेष्टा में छेद होता है तो उसे तो आलोचनापूर्वक क्रिया करना चाहिए; किन्तु यदि श्रमण, छेद में उपयुक्त हुआ (उपयोगपूर्वक दोष लगा) हो तो उसे जैनमत में व्यवहारकुशल श्रमण के पास जा कर, आलोचना करके (अपने दोष का निवेदन करके) वे जैसा उपदेश दें, वैसा करना चाहिए।

प्रायश्चित्त का व्युत्पत्तिपरक या निरुक्तिपरक अर्थ

1. व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रायः+चित्त – इन दो शब्दों से प्रायश्चित्त शब्द बना है। प्रायः का अर्थ, अपराध और चित्त का तात्पर्य, शोधन-संशोधन-प्रमार्जन है। इस दृष्टि से वह क्रिया **प्रायश्चित्त** है, जिसके करने से अपराध की शुद्धि हो। व्यवहार भाष्य में कहा है –

पावं छिंदति जम्हा, पायच्छित्तं तु भण्यते तेण।
पाएण वा वि चित्तं, विसोहए तेण पायच्छित्तं।।[10]

तत्त्वार्थवार्तिक में कहा है कि प्रमादजनित दोषों के निराकरण, भावों की प्रसन्नता, शल्य रहित होना, अव्यवस्था का निवारण, मर्यादा का पालन, संयम की दृढ़ता तथा आराधना की सिद्धि के उद्देश्य से श्रमण को **प्रायश्चित्त** द्वारा विशुद्ध होना आवश्यक है।

आचार दिनकर में प्रायश्चित्त को प्रमादवश किये गये पापों की विशुद्धि का हेतु माना है।[11]

मूलाचार में कहा है कि पूर्वकाल में किए हुए पापों का विनाश होकर, जिसके द्वारा आत्मा को निर्मल बनाया जाए, वह **प्रायश्चित्त तप** है।

याज्ञवल्क्यस्मृति की बालम्भट्टी टीका में एक श्लोकार्द्ध उद्धृत है, जिसके अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति, प्रायः अर्थात् पाप और चित्त अर्थात् शुद्धि; इस प्रकार प्रायश्चित्त अर्थात् पाप की शुद्धि होता है।[12]

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार – **पापं छिनत्तीति पापच्छिम्** अर्थात् जो पापों का छेदन करे, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं।[13]

2. प्रायः शब्द का अर्थ लोक या साधुलोक भी होता है; उसका, जिस कार्य में चित्त प्रसन्न होता है, वह **प्रायश्चित्त** है। इस तरह साधुलोक के मन को प्रसन्न तथा शुद्ध करने वाला कार्य, **प्रायश्चित्त** कहा जाता है।[14]

प्रायश्चित्त की व्युत्पत्ति करते हुए अनगार धर्मामृत में कहा है –

प्रायो लोकस्तस्य चित्तं, मनस्तच्छुद्धि कृत्क्रिया।
प्राये तपसि वा चित्तं, निश्चयस्तन्निरुच्यते।।[15]

अर्थात् 'प्राय' का अर्थ है लोक और चित्त का अर्थ है मन। यहाँ लोक से अपने वर्ग के लोग लेना चाहिए अर्थात् अपने साधर्मी वर्ग के मन को प्रसन्न करने वाला जो काम है, वह **प्रायश्चित्त** है। अथवा जिसके द्वारा साधर्मी और संघ में रहने वाले लोगों का मन अपनी तरफ से शुद्ध हो जाए, उस क्रिया या अनुष्ठान को **प्रायश्चित्त** कहते हैं।

यही भाव कार्तिकेयानुप्रेक्षा एवं भगवती आराधना में भी प्रगट किया है तथा इसी प्रकार का अर्थ धवला में भी किंचित् परिवर्तन के साथ किया है –

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म, प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।।[16]

अर्थात् प्रायः, यह पद लोकवाची है और चित्त से अभिप्राय उसके मन का है; इसलिए उस चित्त को ग्रहण करने वाला कर्म **प्रायश्चित्त** है – ऐसा समझना चाहिए।

यहाँ ग्राहक में ग्राह्य का उपचार करके चित्त-ग्राहक कर्म को 'चित्त' संज्ञा दी है।

यद्यपि आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि ने सर्वार्थसिद्धि में कोई निरुक्ति नहीं दी है; परन्तु आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में निम्न व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है –

प्रायः साधुलोकः, प्रायस्य यस्मिन्कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम्।.....अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तं, अपराधविशुद्धिः इत्यर्थः।[17]

अर्थात् प्रायः का अर्थ साधुलोक है; जिस क्रिया में साधुओं का चित्त हो, वह **प्रायश्चित्त** कहलाता है।.....अथवा प्रायः का अर्थ अपराध है और चित्त का अर्थ शुद्धि है; अतः अपराध की शुद्धि, जिसके द्वारा होती है, उसे **प्रायश्चित्त** कहते हैं।

लौकिक दृष्टि में भी प्रायश्चित्त का यही अर्थ लिया जाता है। श्वेताम्बर आम्नाय को मान्य तत्त्वार्थभाष्य में भी इसी व्युत्पत्ति का समर्थन किया गया है।[18]

3. प्रायः' शब्द का अर्थ तप भी है और चित्त का अर्थ है निश्चय अर्थात् निश्चय से युक्त तप को **प्रायश्चित्त** कहते हैं। यथायोग्य उपवास आदि तप में श्रद्धान कि यह करणीय है, उसे **प्रायश्चित्त** कहते हैं।[19]

वैदिक विधानों में प्रायश्चित्त का अर्थ इस प्रकार से किया है – प्रायः अर्थात् तप और चित्त अर्थात् दृढ़ संकल्प; अतः प्रायश्चित्त का तात्पर्य हुआ, तप करने का दृढ़ संकल्प।[20]

4. नियमसार के टीकाकार मुनिश्री पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं –

प्रायः प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं, प्रायश्चित्तम्।[21]

अर्थात् प्रायः प्रचुरता से निर्विकार चित्त को **प्रायश्चित्त** कहते हैं।

5. प्रायस् का अर्थ मनुष्य है और चित्त का अर्थ कर्म है। चूंकि प्रायश्चित्त, मनुष्य के कर्म हर लेता है, नष्ट कर देता है; इसलिए उसे **प्रायश्चित्त** कहते हैं।[22]

6. प्रायः और प्रायस् शब्द एकार्थवाची हैं – इन दोनों का अर्थ, संस्कृत-हिन्दी कोश में बहुधा, अधिकतर, साधारणतः, अधिकांशतः, लगभग, तकरीबन समान, विशेषकर, आदि किये हैं; इसी प्रकार दूसरा अर्थ करते हुए सर्वथा, सम्भवतः, कदाचित् आदि अर्थ भी किया है – इन्हीं अर्थों का समर्थन करते हुए आचार्य नरेन्द्रसेन ने सिद्धान्तसारसंग्रह में सुन्दर निरुक्ति प्रस्तुत की है। वे कहते हैं –

प्रायः प्राणी करोत्येव, यत्र चित्तं सुनिर्मलम्।
तदाहुः शब्दसूत्रज्ञाः,प्रायश्चित्तं यतीश्वराः।।[23]

अर्थात् प्रायः प्राणी अपने चित्त को या मन को जहाँ निर्मल बनाता है – ऐसे तप को शब्दसूत्र के ज्ञाता मुनीश्वर **प्रायश्चित्त** कहते हैं।

7. व्युत्पत्तिपरक अर्थ की खोज से ही यह भी ज्ञात होता है कि **प्रायश्चित्त के अन्तर्गत अनशन या उपवास का अन्तर्भाव कैसे हुआ?** क्योंकि प्रायोपवेशन, प्रायोपगमन, आदि शब्दों के अर्थ में अनशन या आमरण अनशन का अन्तर्भाव किया गया है।[24]

खास बात यह है कि जैनधर्म में भी प्रायश्चित्त के विधानस्वरूप दोषों के शुद्धिकरण हेतु अनशन आदि तपों को प्रदान किया जाता है। इसी प्रकार समाधिमरण आदि के प्रसंग में भी प्रायश्चित्त के माध्यम से आत्मा के शुद्धिकरण की प्रक्रिया को अपनाया जाता है। चारित्र के भेदों में प्रायोपगमन चारित्र और मरण के भेदों में प्रायोपगमन मरण का उल्लेख भी आता है। आगम में सल्लेखना के अन्तर्गत इन सबका विशेष वर्णन प्राप्त होता है।

8. **आवश्यक चूर्णि** में **प्रायश्चि**त्त की सांगोपांग व्याख्या[25] करते हुए लिखा है –

- जो पापकर्मों को क्षीण करता है, वह प्रायश्चित्त है।
- जो प्रचुरता से चित्त अर्थात् आत्मा का विशोधन करता है, वह प्रायश्चित्त है।
- जो चित्त विशुद्धि का प्रशस्त हेतु है, वह प्रायश्चित्त है।
- (चित्त की विशुद्धि के लिए) असत्य आचरण का अनुस्मरण करना, प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त के आठ पर्यायवाची नाम

मूलाचार में प्रायश्चित्त के आठ पर्यायवाची नामों को बताते हुए एक गाथा प्रस्तुत की है, जो निम्न प्रकार है –

पोराणकम्मखवणं, खिवणं णिज्जरण सोधणं धुवणं।
पुंछणमुच्छिवणंछिदणं त्ति, पायच्छित्तस्स णामाइं।।

पुराणस्य कर्मणः क्षपणं – विनाशः, क्षेपणं, निर्जरणं, शोधनं, धावनं, पुच्छणं – निराकरणं, उत्क्षेपणं, छेदनं – द्वैधीकरणमिति प्रायश्चित्तस्यैतान्यष्टौ नामानि ज्ञातव्यानि भवन्तीति।[26]

अर्थात् **पुराने कर्मों का 1. क्षपण** – क्षय करना अर्थात् विनाश करना, **2. क्षेपण** – दूर करना, **3. निर्जरण** – निर्जरा करना, **4. शोधन** – शोधन करना, **5. धावन** – धोना, **6. पुंछन** – पोछना अर्थात् निराकरण करना, **7. उत्क्षेपण** – फेंकना और **8. छेदन** – दो टुकड़े करना; इस प्रकार ये **प्रायश्चित्त के आठ पर्यायवाची नाम** जानना चाहिए।

ववहारो आलोयण सोही पच्छित्तमेव एगट्ठा.....।[27]

अर्थात् व्यवहार, आलोचना, शोधि, और प्रायश्चित्त – ये एकार्थक हैं।

प्रायश्चित्त विशुद्धि, मलहरण, पापनाशन और छेदन – ये पर्यायवाची शब्द हैं।[28]

प्रायश्चित्त समुच्चय में कहा है –

रहस्यं छेदनं दण्डो, मलापनयनं नयः।
प्रायश्चित्ताभिधानानि, व्यवहारो विशोधनं।।[29]

अर्थात् रहस्य, छेदन, दण्ड, मलापनयन, नय–नीति–मर्यादा–व्यवस्था–क्रम, व्यवहार, और विशोधन – ये सब प्रायश्चित्त के नाम हैं।

प्रायश्चित्त, विशुद्धि, पवित्रता, पाप का नाश, श्रेष्ठ व्रतों का स्थापन, छेद मल या दोषों का अपहरण, दोषों का त्याग, गुणों की प्राप्ति, निर्मलता, और श्रेष्ठ स्थिति – ये सब प्रायश्चित्त के ही नाम हैं – ऐसा आगम में बतलाया है।[30]

प्रायश्चित्त के अनेक अर्थ हैं – यथा – परिशोध, पापनिष्कृति, क्षतिपूर्ति, सन्तोष, सुधारत्र पाप से निस्तार पाने के लिए धार्मिक साधना इत्यादि।[31]

प्रायश्चित्त का स्वरूप

समस्त दोषों को दूर करने वाला **प्रायश्चित्त** है। जिससे मुनियों के व्रतों में लगे दोष शुद्ध हो जाएँ, उसे **प्रायश्चित्त** कहते हैं।[32]

अथवा जिसके द्वारा प्राचीन पाप नष्ट हो जाएँ, वह **प्रायश्चित्त** कहलाता है।[33]

अथवा अपराध को प्राप्त हुआ जीव, जिस तप के द्वारा अपने पूर्वसंचित पापों से विशुद्ध हो जाता है, वह **प्रायश्चित्त** है। जिससे स्पष्टतया पूर्व के व्रतों से परिपूर्ण हो जाता है, वह तप भी **प्रायश्चित्त** कहलाता है।[34]

चारित्रभक्ति में प्रायश्चित्त तप का वर्णन करते हुए कहा है – शुभकार्य से च्युत होने वाले अपने आपको, पुनः स्थिर करना **प्रायश्चित्त** कहलाता है।[35]

जिस प्रकार **प्रायश्चित्त** के द्वारा दोषों का परिहार किया जाता है; उसी प्रकार **प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान** और **आलोचना** के द्वारा भी भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमानकाल के दोषों का क्रमशः परिहार किया जाता है; इन्हें हम मुनियों के अट्ठाईस मूलगुणों में भी षट् आवश्यकों के माध्यम से समझ सकते हैं।[36]

प्रतिसेवना अर्थात् प्रतिषिद्ध का आचरण करने पर प्रायश्चित्त दिया जाता है, अन्यथा प्रायश्चित्त का प्रतिषेध है। प्रतिसेवना, प्रायश्चित्त का निमित्त है, इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके प्रतिसेवना को ही प्रायश्चित्त कहा जाता है।[37]

बुद्धिमान मनुष्य जिस तप के द्वारा मन-वचन-काय की प्रवृत्ति के वश हुए मल को आगमानुसार शुद्ध करते हैं, उसे **मलशोधन या प्रायश्चित्त** तप कहते हैं।[38]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में सर्व प्रथम दोष नहीं करने को **प्रायश्चित्त** कहा गया है, तत्पश्चात् प्रमादजनित दोषों की आलोचना करने का विधान किया है, लेकिन एक बार दोष करने के बाद पुनः दोष नहीं करने की कठोर शब्दों में प्रेरणा दी है –

दोसं ण करेदि सयं, अण्णं पि ण कारएदि जो तिविहं।
कुव्वाणं पि ण इच्छदि, तस्स विसोही परा होदि।।
अह कह वि पमादेण य, दोसो जदि तं पि पयडेदि।
णिद्दोससाहुमूले, दसदोसविवज्जिदो होदुं।।
जं किं पि तेण दिण्णं, तं सव्वं सो करेदि सद्धाए।
णो पुण हियए संकदि, किंथोवं किं पि बहुयं वा।।
पुणरवि काउं णेच्छदि, तं दोसं जइ वि जाइ सयखंडं।
एवं णिच्चयसहिदो, पायच्छित्तं तवो होदि।।[39]

अर्थात् जो तपस्वी मुनि, मन-वचन-काय से स्वयं दोष नहीं करता है, दूसरे से भी नहीं कराता है और करते हुए को भी अच्छा नहीं मानता है; उस मुनि के उत्कृष्ट विशुद्धि अर्थात् **प्रायश्चित्त** होता है।

अथवा किसी प्रमाद से अपने चारित्र में दोष आया हो तो उसको निर्दोष आचार्य के पास दश दोषों से रहित हो कर, आलोचना करना चाहिए।

दोषों की आलोचना करने के बाद जो कुछ आचार्य ने **प्रायश्चित्त** दिया हो, उस सब ही को श्रद्धापूर्वक करे और हृदय में ऐसी शंका न करे कि यह **प्रायश्चित्त** दिया सो थोड़ा है या बहुत है।

तथा पूर्व में लगे हुए दोष का प्रायश्चित्त ले कर, उस दोष को पुनः न करना चाहे; यदि अपने सौ टुकड़े भी हो जाएँ तो भी न करे – ऐसे निश्चय सहित **प्रायश्चित्त** नामक तप होता है।

जिससे सम्यग्दर्शन को बढ़ाने वाली भावों की विशुद्धि उत्पन्न होती है, उसको प्रायश्चित्त कहते हैं। अथवा जिससे पूर्णरूप से चित्त की शुद्धि हो जाए और अशुभ परिणामों का नाश हो जाए, उसको प्रायश्चित्त कहते हैं।[40]

दोषों की विशुद्धि निन्दा, गर्हा, और आलोचना से की जाती है अर्थात् अपराधी व्यक्ति, अपने किये गये दोषों के लिए अपनी निन्दा और गर्हा करता है, गुरु से अपने दोष को कहता है, आलोचना करता है। कहा भी है –

निन्दा-गर्हाऽलोचनाऽभियुक्तो युक्तेन चेतसा।
पठेद्वा शृणुयाच्छुद्ध्यै, कर्मघ्नान्नियमान् समान्।।[41]

अर्थात् निन्दा, गर्हा और आलोचना में तत्पर साधु को सावधान चित्त से सब कर्मों का घात करने वाले, सब प्रतिक्रमण पाठों को दोषों की शुद्धि के लिए पढ़ना चाहिए या आचार्य आदि से सुनना चाहिए।

यहाँ अपने से जो दोष हुआ हो, उसके लिए स्वयं ही अपने मन में ऐसी भावना होना कि 'खेद है कि मुझसे ऐसा दोष हो गया', इसे **निन्दा** कहते हैं। यदि ऐसी भावना गुरु के सामने की जाए तो इसे **गर्हा** कहते हैं। तथा गुरु से दोष निवेदन करने को **आलोचना** कहते हैं। इनसे युक्त साधु ही भाव-प्रतिक्रमण से युक्त होता है।

निश्चय प्रायश्चित्त का स्वरूप

1. प्रायश्चित्त के निश्चयनय प्रधान लक्षण को बताते हुए नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं –

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायच्छित्तं, अणवरयं चेव कायव्वो।।
कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं, णियगुणचिंता य णिच्छयदो।।
उक्किट्ठो जो बोहो, णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं।
जो धरइ मुणी णिच्चं, पायच्छित्तं हवे तस्स।।
किं बहुणा भणिएण दु, वरतवचरणं महेसिणं सव्वं।
पायच्छित्तं जाणह, अणेयकम्माणखयहेऊ।।
णंताणंतभवेण समज्जियसुहअसुहकम्मसंदोहो।
तवचरणेण विणस्सदि, पायच्छित्तं तवं तम्हा।।[42]

अर्थात् व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणाम तथा इन्द्रिय -निग्रहरूप भाव, वह **प्रायश्चित्त** है और अनवरतरूप से निरन्तर करने योग्य कर्तव्य है।

क्रोधादि स्वकीय भावों के क्षयादि की भावना में रहना और निज गुणों का चिन्तन करना, वह **निश्चय से प्रायश्चित्त** है।

उसी आत्मा का जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान अथवा चित्त; उसे जो मुनि धारण करता है, उसे **प्रायश्चित्त** होता है।

बहुत कहने से क्या? अनेक कर्मों के क्षय का हेतु – ऐसा जो महर्षियों का उत्तम तपश्चरण होता है, वह सब **प्रायश्चित्त** जानो।

अनन्तानन्त भवों द्वारा उपार्जित कर्मराशि तपश्चरण से नष्ट होती है; इसलिए तप **प्रायश्चित्त** है।

2. इसी प्रकार के भाव को व्यक्त करते हुए एवं प्रायश्चित्त को आत्मा के चिन्तवन से जोड़ते हुए कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है –

जो चिंतइ अप्पाणं, णाणसरूवं पुणो पुणो णाणी।
विकहादिविरत्तमणो, पायच्छित्त वरं तस्स।।[43]

अर्थात् जो ज्ञानी मुनि, आत्मा को बारम्बार ज्ञानस्वरूप चिन्तवन करता है और विकथादिक प्रमादों से विरक्त होता हुआ ज्ञान ही का निरन्तर सेवन करता है, उसके श्रेष्ठ **प्रायश्चित्त** होता है।

3. समयसारादि ग्रन्थों के भाषा-वचनिकाकार, पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की उक्त गाथा के भावार्थ में **निश्चय प्रायश्चित्त की तात्त्विक व्याख्या** करते हुए लिखते हैं –

निश्चय प्रायश्चित्त वह है, जिसमें सब प्रायश्चित्त के भेद गर्भित हैं। प्रमाद से रहित हो कर, अपने शुद्धस्वरूप आत्मा का ध्यान करना, जिससे सब पापों का प्रलय या नाश होता है। इस प्रकार यह **निश्चय प्रायश्चित्त के स्वरूप का व्याख्यान** है।[44]

व्यवहार प्रायश्चित्त का स्वरूप

इसी प्रकार प्रायश्चित्त के व्यवहारनय प्रधान लक्षणों का आचार्यों ने विशेष कथन किया है –

1. मूलाचार में आचार्य वट्टकेर कहते हैं –

पायच्छित्तं त्ति तवो,जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं।
पायच्छित्तं पत्तोत्ति, तेण वुत्तं दसविहं तु।।[45]

अर्थात् अपराध को प्राप्त हुआ जीव, जिसके द्वारा पूर्वकृत पाप से विशुद्ध हो जाता है, वह **प्रायश्चित्त तप** कहलाता है।

2. मूलाचार की आचारवृत्ति नामक संस्कृत टीका में आचार्य वसुनन्दि ने उक्त परिभाषा का अपर पक्ष भी प्रस्तुत करते हुए लिखा है –

स्फुटं पूर्वं व्रतैः सम्पूर्णो भवति तत्तपः (प्रायश्चित्तः)।[46]

अर्थात् जिसके द्वारा स्पष्टतया पूर्व के व्रतों से परिपूर्ण हो जाता है, वह तप **प्रायश्चित्त** कहलाता है।

3. सर्वार्थसिद्धि, चारित्रसार और अनगार धर्मामृत में प्रमाद-दोषों के परिहार को प्रायश्चित्त कहा है –

प्रमाददोषपरिहारः प्रायश्चित्तम्।[47]

अर्थात् प्रमादजन्य दोष का परिहार करना, **प्रायश्चित्त तप** है।

4. धवला में साधु के मनोभावों का चित्रण करते हुए प्रायश्चित्त का स्वरूप बताया है –

कयावराहेण ससंवेयणिव्वेएण सगावराहणिरायरणट्ठं जमणुट्ठाणं कीरदि, तप्पायच्छित्तं णाम तवोकम्मं।[48]

अर्थात् संवेग और निर्वेद से युक्त अपराध करने वाला साधु, अपने अपराध का निराकरण करने के लिए जो अनुष्ठान करता है, वह **प्रायश्चित्त नाम का तपःकर्म** है।

श्वेताम्बर साहित्य में प्रायश्चित्त निरूपण

श्वेताम्बर साहित्य में भी इसी प्रकार छेद सूत्र, निशीथ सूत्र, आदि ग्रन्थों की रचना की गई है। निशीथ सूत्र में साधक के दोषों एवं उसके प्रायश्चित्तों का बहुत विस्तार के साथ कथन किया गया है। यद्यपि दिगम्बर आम्नाय और श्वेताम्बर आम्नाय में जो मौलिक अन्तर है, उसमें तो हम कुछ भी नहीं कर सकते, परन्तु अतिचार और प्रायश्चित्त के सामान्य सन्दर्भों को समझने में इससे हमें सहायता अवश्य मिलती है।

निशीथ सूत्र के कुल बीस उद्देशक हैं, इसके पहले के उन्नीस उद्देशकों में प्रायश्चित्त का विधान इस प्रकार हैं[49] –

- ''पहले उद्देशक में **गुरुमासिक प्रायश्चित्त** के योग्य दोषों का प्ररूपण है।
- उद्देशक 2 से 5 तक में **लघुमासिक प्रायश्चित्त** के योग्य दोषों का प्ररूपण है।
- उद्देशक 6 से 11 तक में **गुरुचौमासी प्रायश्चित्त** के योग्य दोषों का प्ररूपण है।
- उद्देशक 12 से 19 तक में **लघुचौमासी प्रायश्चित्त** के योग्य दोषों का प्ररूपण है।
- बीसवें उद्देशक में **प्रायश्चित्त देने की प्रक्रिया** का वर्णन किया गया है।

पहले उद्देशक में संयमी साधक के लिए हस्तकर्म आदि ऐसी सभी क्रियाएँ करने का निषेध किया है, जिससे काम-वासना जागृत हो, जो संयमी जीवन के लिए महाघातक है। इसके अलावा कीचड़ आदि से बचने के लिए रास्ते में पत्थर रखवाना, स्थान को ऊँचा करवाना, नाली आदि बनवाना। सुई, कैंची, नख-छेदनक, कर्ण-शोधनक को तेज कराना, अविधि अथवा निष्प्रयोजन इनकी याचना करना, तथा अपने नेश्राय के

पात्र-वस्त्र आदि गृहस्थ से ठीक करवाने का निषेध किया गया है। इन स्थानों का सेवन करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।

दूसरे उद्देशक सर्व प्रथम पाद-पोंछन का वर्णन किया गया है।.....तत्पश्चात् इस उद्देशक में इत्रादि सुगन्धित पदार्थों को सूँघने, कठोर भाषा बोलने, अदत्त वस्तु ग्रहण करने, शरीर को सजाने-संवारने, बहुमूल्य वस्तुओं को धारण करने, मनोज्ञ आहार को ग्रहण करने, अमनोज्ञ को परठने (छोड़ने), शय्या-संस्तारक अविधि से लेने आदि का निषेध किया गया है। इन स्थानों का उल्लंघन करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त बतलाया है।

तीसरे उद्देशक में श्वेताम्बर आम्नायानुसार धर्मशाला, मुसाफिर खाना, आरामगृह आदि स्थानों में उच्च स्वर से आहार आदि माँगने, गृहस्वामी के मना करने पर पुनः पुनः उसके घर आहार आदि के लिए जाने, सामूहिक भोज में आहार आदि करने, पैरों को धोने, विहार करते हुए साधु को मस्तक ढ़ँकने, बाग-बगीचे, श्मशान भूमि धूप रहित स्थान पर मल विसर्जन आदि का निषेध किया हैं। इनका उल्लंघन करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त बतलाया गया है।

चौथे उद्देशक में राजा, नगर-रक्षक, ग्राम-रक्षक, को वश में करने एवं उसके गुणानुवाद करने, नित्य प्रति विषयों के सेवन करने, अविधि से साध्वियों के उपाश्रय में प्रवेश करने, नवीन कलह उत्पन्न करने अथवा उपशान्त कलह को पुनः जागृत करने, ठहाका मार कर हँसने, सन्ध्या के चतुर्थ प्रहर में उच्चार प्रश्रवण भूमि की प्रतिलेखना नहीं करने, संकीर्ण स्थान में मल-मूत्र परठने (क्षेपण करने), प्रायश्चित्त वहन करने वाले के साथ भिक्षा के लिए जाने आदि का निषेध किया है। इनका उल्लंघन करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त बतलाया है।

पाँचवें उद्देशक में वृक्ष के मूल में बैठ कर कायोत्सर्ग करने, खड़ा रहने, आहार करने, लघुशंका या शौच आदि करने, स्वाध्याय करने आदि का निषेध किया है। इसके अलावा अपनी चादर आदि गृहस्थ से सिलवाने, नीम आदि के पत्तों को सचित्त पानी से धोकर रखने, औपग्रहिक उपकरणों को यथासमय गृहस्थ को न लौटाने, औद्देशिक उद्दिष्ट शय्या का उपयोग करने इत्यादि प्रवृत्तियों का निषेध किया गया है। इनका आचरण करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त बतलाया है।

छठे उद्देशक में कुशील सेवन की भावना से किसी स्त्री का अनुनय-विनय करने, हस्तकर्म करने, पौष्टिक सरस आहार करने आदि सभी प्रवृत्तियाँ, जो कुशील सेवन में सहायक होती हैं, उनका निषेध किया गया है। इन सब प्रवृत्तियों के सेवन पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त का विधान है।

सातवें उद्देशक में भी कामेच्छा की भावना से प्रेरित होकर, विविध प्रकार की मालाएँ, कड़े आदि बनाना/पहनना, स्त्री के अंगोपांग का संचालन करना, इसके अलावा काम-वासना के वशीभूत होकर पशु-पक्षियों, अंगोपांग का स्पर्श करना आदि सभी प्रवृत्तियाँ संयमी जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करने वाली हैं। अतएव इनका निषेध किया है। इन प्रवृत्तियों का सेवन करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त का विधान है।

आठवें उद्देशक में संयमी साधक के लिए नववाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य महाव्रत पालने का विधान है। अतएव उस धर्मशाला, उद्यान, शून्यगृह आदि किसी भी स्थान पर एकाकी साधु को एकाकी महिला के साथ रहना, आहार-स्वाध्याय आदि करना, शौच आदि में साथ जाना, रात्रि में स्त्री परिषद् में अपरिमित कथा करना, साध्वियों के साथ-साथ विहार करना यानि सभी तरह से साधक को स्त्री-संसर्ग का निषेध किया है। इसका कारण स्त्रियों का अधिक सम्पर्क संयम के लिए घातक है। इसके अलावा राजपिण्ड ग्रहण करने का निषेध भी किया गया है। इन स्थानों का सेवन करने पर साधु को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त बतलाया गया है।

नौवें उद्देशक में राजपिण्ड-ग्रहण न करने के साथ-साथ राजा के अन्तःपुर में भी प्रवेश का निषेध किया है क्योंकि अन्तःपुर में एक से एक बढ़ कर सुन्दर स्त्रियाँ रहती हैं। साथ ही अन्तःपुर की साज-सज्जा भी मोहक होती है। अन्तःपुर में तो मात्र उनके सगे-सम्बन्धी, नौकर-चाकर के अलावा अन्य का प्रवेश प्रायः निषेध होता है साधु के अन्तःपुर में जाने पर राजा के मन में कुशंकाएँ भी हो सकती हैं। इस प्रकार अनेक कारणों से संयमी साधक के लिए अन्तःपुर में जाने का निषेध किया है। इसकी अवहेलना करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त का विधान है।

दशवें उद्देशक में सर्व आचार्य की किसी प्रकार की आशातना करने का निषेध किया है क्योंकि तीर्थंकर भगवान् की गैर मौजूदगी में आचार्य ही संघ के अनुशास्ता होते हैं। अतएव साधक का कर्तव्य होता

है कि वह आचार्य का बहुमान करे। साथ ही अनन्तकाय युक्त, आधाकर्मी आहार, उपधि ग्रहण करने, संघभेद डालने के लिए साधु-साध्वी, दीक्षार्थी भाई-बहिन को बहकाने, गच्छ में कलह करके निकले हुए साधु के साथ आहार करने, निश्चित दिन पर्युषण न करने, अथवा अनिश्चित दिन पर्युषण करने, पर्युषण के दिन चौविहार उपवास एवं लोच न करने, वर्षावास में वस्त्र ग्रहण करने आदि स्थानों का उल्लंघन करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान है।

ग्यारहवें उद्देशक में संयमी साधक के लिए श्वेताम्बर मतानुसार मात्र तीन प्रकार में से किसी एक प्रकार के पात्र रखने की आज्ञा है। यथा – मिट्टी, तूम्बे, अथवा काष्ट के अलावा अन्य धातु के पात्र रखने, उसमें आहार-पानी ग्रहण करने का निषेध है। इसके अलावा इस उद्देशक में धर्म की निन्दा, अधर्म की प्रशंसा करने, गृहस्थ से सेवा लेने, दो विरोधी राज्यों के मध्य बार–बार गमनागमन करने, दिवस भोजन की निन्दा एवं रात्रि भोजन की प्रशंसा करने, स्वच्छन्दाचारी की प्रशंसा करने, अचेल एवं सचेल साधु को साध्वियों के साथ रहने आदि का निषेध किया है। इन दोषों का सेवन करने वालों को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

बारहवें उद्देशक में संयमी साधक निस्पृह भाव से साधना करने का लक्ष्य रख कर, किसी त्रस जीव को रस्सी से बाँधने एवं बन्धन मुक्त करने का निषेध किया है। इसके अलावा त्याग (व्रत) लेकर बार-बार भंग करने, पाँच स्थावर काय की किंचित् भी विराधना करने, गृहस्थ के यहाँ बैठने, उनके पात्र का उपयोग करने, पर्यटन हेतु सुन्दर स्थल पर जाने, प्रथम पहर का आहार-पानी चौथे पहर में काम में लेने, दो कोस उपरान्त आहार-पानी ले जाने आदि का निषेध किया गया है। इन निषेध प्रवृत्तियों को करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त का विधान है।

तेरहवें उद्देशक में संयमी साधक को सचित्त, स्निग्ध आदि पृथ्वी पर सोने, बैठने, स्वाध्याय करने, गृहस्थ को किसी प्रकार की विद्या सिखाने, पानी से भरे हुए पात्र, दर्पण आदि में मुंह देखने, शरीर की पुष्टि, बुद्धि बल के लिए औषध सेवन करने, शिथिलाचारियों के साथ वन्दन-व्यवहार करने, उत्पादन के दोषों का सेवन कर आहार ग्रहण करने आदि का निषेध किया गया है। जो साधक इन प्रवृत्तियों का सेवन कर दोष लगाता है, उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

चौदहवें उद्देशक में श्वेताम्बर आम्नायानुसार पात्र के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा की गई है। संयमी साधक को पात्र खरीदने, उधार लेने का, परिवर्तन करने अथवा छीन कर लेने का, बिना आचार्य की आज्ञा के अन्य को अतिरिक्त पात्र देने, उपयोग में आने योग्य पात्र को न रखने और उपयोग न आने योग्य को रखने, पात्रों को आकर्षक बनाने का प्रयत्न करना इत्यादि प्रवृत्तियाँ करने का निषेध किया गया है। जो साधक इन प्रवृत्तियों को करता है तो उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

पन्द्रहवें उद्देशक में सचित्त आम आदि फलों को खाने, गृहस्थ से किसी प्रकार की सेवा लेने, सामान्यरूप से किसी भी साधु की आसातना करने, अकल्पनीय स्थानों पर लघुनीत-बड़नीत परठने (छोटे-बड़े के आदर का तिरस्कार करने), शिथिलाचारी साधुओं से आहार, वस्त्र, पात्र आदि लेने देने का निषेध किया है। इन प्रवृत्तियों का सेवन करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त बतलाया गया है।

सोलहवें उद्देशक में सागारिक आदि की शय्या में प्रवेश करने, सचित्त ईख, गण्डेरी, आदि खाने या चूसने, कलह करने वाले तीर्थियों से आहार- पानी ग्रहण करने, अनार्य क्षेत्र में विचरण करने, जुगुप्सित कुलों से आहार-पानी ग्रहण करने, अन्य तीर्थियों या गृहस्थों के साथ भोजन ग्रहण करने, आचार्य उपाध्याय आदि के आसन के ठोकर लगाने, प्रमाण से अधिक उपधि रखने का निषेध किया गया है। इन प्रवृत्तियों का सेवन करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त बतलाया गया है।

सतरहवें उद्देशक में बताया गया है कि संयमी साधकों का जीवन, कुतूहल-वृत्तिरहित होता है; अतएव उन्हें कुतूहलवश त्रस जीव को बाँधने-खोलने, विविध प्रकार की मालाएँ, आभूषण आदि बनाने एवं रखने का निषेध किया है। इसके अलावा गृहस्थ से बन्द बर्तन खुलवा कर आहार ग्रहण करने, सचित्त पृथ्वी पर रखे आहार को ग्रहण करने, तत्काल बने हुए अचित्त जल को लेने, विविध प्रकार के वाद्य यन्त्रों को बजाने, नृत्य करने आदि का निषेध किया गया है। जो इन दोषयुक्त स्थानों का सेवन करते हैं, उन्हें लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

अठारहवें उद्देशक में कहा है कि संयमी साधकों के लिए तो वैसे अप्काय (जलकाय) जीवों की विराधना करना पूर्णरूप से निषिद्ध है, किन्तु विकट स्थिति में जब कोई अन्य विकल्प न हो तो उस दशा में

उन्हें नौका विहार की आज्ञा दी है। साथ ही नौका विहार की कौन-सी परिस्थितियाँ होनी आवश्यक हैं और उसके लिए जो विधि बतलाई, तदनुसार इस अपवाद मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं। आगम में बतलाए गए निर्दिष्ट कारणों एवं विधि का उल्लंघन करने पर इस उद्देशक में लघुचौमासी प्रायश्चित्त बतलाया गया है।

उन्नीसवें उद्देशक में मुख्यरूप से दो विषयों की चर्चा है। पहली औषध सम्बन्धी – खरीद की हुई औषध को ग्रहण न करने एवं विहार में औषध साथ नहीं रखने, विशिष्ट औषध को एक दिन में तीन बार से अधिक उपयोग न करने का। तथा दूसरी स्वाध्याय सम्बन्धी – आगम में जो 32 अस्वाध्याय के कारण बतलाए, उस समय स्वाध्याय न करना, शारीरिक अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय करना, कालिक सूत्रों का अकाल में स्वाध्याय करना, आचारांग आदि की वाचना पूर्ण हुए बिना निशीथ आदि छेद सूत्रों की वाचना देना, अपात्र को वाचना देना, पात्र को वाचना न देना, इत्यादि का निषेध किया गया है। इसका उल्लंघन करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।

बीसवें उद्देशक के अनुसार जैन साधना पद्धति में निर्दोष साधना का ही महत्त्व है, दोषयुक्त साधना का नहीं। फिर मानसिक, शारीरिक दुर्बलता अथवा विशेष परिस्थिति उत्पन्न होने पर साधक के द्वारा स्खलनाएँ हो सकती हैं, उन स्खलनाओं से मुक्त होने के लिए निशीथ आदि छेद सूत्रों में प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। उसके अनुसार निष्कपट भाव से बड़ों के सामने आलोचना-प्रायश्चित्त कर शुद्धिकरण कर लेना चाहिए, किन्तु जो दोष का सेवन कर उसे कपट द्वारा छिपाता है तो इस उद्देशक में उसे लगने वाले दोषों की सूची देकर कपटयुक्त और निष्कपट आलोचना के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान किया है। जो साधक निष्कपट भाव से आलोचना करता है, उस साधक को जितना प्रायश्चित्त आता है, उससे कपटयुक्त आलोचना करने वाले को एक माह का अधिक प्रायश्चित्त आता है। भगवान महावीरस्वामी के शासन में उत्कृष्ट छह माह के प्रायश्चित्त का विधान है, इससे अधिक दोष के सेवन करने वालों के लिए नई दीक्षा का विधान है।''

इस प्रकार निशीथसूत्र की प्रस्तावना में उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि ने बौद्धदृष्टि एवं वैदिकदृष्टि में प्रायश्चित्त का का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए विस्तृत विवेचन किया है। यहाँ उसके आधार पर उसका सार-संक्षेप[50] दिया गया है –

बौद्ध-दृष्टि में प्रायश्चित्त विधान

श्रमण संस्कृति की दो धाराएँ हैं – जैन संस्कृति और बौद्ध संस्कृति। जहाँ जैन संस्कृति में प्रायश्चित्त का निरूपण दिगम्बर और श्वेताम्बर – दोनों विचारधाराओं में प्राप्त होता है; वहीं बौद्ध संस्कृति में भी इसका निरूपण विस्तार से प्राप्त होता है। बौद्धपरम्परा के विनयपिटक नामक ग्रन्थ में बौद्ध साधुओं की सम्पूर्ण आचारसंहिता, उनके उल्लंघन एवं उन दोषों के निराकरणार्थ दिये जाने वाले प्रायश्चित्तों का वर्णन है। तत्सम्बन्धी संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है –

1. भिक्षु, प्रत्येक माह की पूर्णिमा एवं अमावस्या के दिन, उस अवधि में किये दोषों का स्मरण करता है, इसे वे प्रातिमोक्ष कहते हैं। इसके भिक्षु और भिक्षुणियों की दृष्टि से दो विभाग हैं – भिक्षु प्रातिमोक्ष और भिक्षुनी प्रातिमोक्ष। इनमें भिक्षु प्रातिमोक्ष के नियमों की संख्या अधिक है।
2. मज्झिमनिकाय में तथागत बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि **पातिमोक्खं ति आदिमेतं मुखमेतं पामुखमेतं कुसलानं धम्मानं तेन वुच्चति पातिमोखं ति**[51] अर्थात् प्रातिमोक्ष, कुशल धर्मों का आदि या मुख है। यह प्रातिमोक्ष, साधक को असद्गति आदि दुःखों से मुक्त करता है, अतः इसका प्रातिमोक्ष नाम सार्थक है।
3. जब प्रातिमोक्ष का पाठ प्रारम्भ होता है, तब उनमें जिन-जिन अपराधों का वर्णन आता है, उन अपराधों में से सभा में उपस्थित भिक्षु-भिक्षुणियों ने जो जो अपराध किये हैं, वे अपने स्थान में खड़े होकर उन्हें स्वीकार करते हैं तथा भविष्य उन्हें नहीं करने का संकल्प करते हैं।
4. बौद्धसंघ में दो प्रकार के दण्ड थे – कठोर दण्ड और नरम दण्ड। कठोर दण्ड के अन्तर्गत पाराजिक एवं संघादिदेस दण्ड आते हैं; यह दुट्ठुलापत्ति, गुरुकापत्ति, अदेसनागामिनी आपत्ति, थुल्लवज्जा आपत्ति, अनवसेसापत्ति आदि विविध नामों से जाना और पहचाना जाता है। जबकि नरम दण्ड में पूर्वापेक्षया नरम दण्ड दिया जाता है; इसे अदुट्ठुलापत्ति, लहुकापत्ति, सावसेसापत्ति, देसनागामिनी आपत्ति, अथुल्लवज्जा आपत्ति आदि नामों से जानते/पहचानते हैं।

5. भिक्षु-भिक्षुणियों को जिस अपराध के कारण दण्ड दिया जाता है, वह आपत्ति के नाम से विश्रुत है। आपत्तियों के पाँच प्रकार हैं – 1. पाराजिक 2. संघादिदेस 3. निस्सग्गिय 4. पाचित्तिय 5. पाटिदेसनीय। इनके अतिरिक्त तीन आपत्तियों का वर्णन और मिलता है – 1. थुल्लच्चय 2. दुक्कट 3. दुब्भासित।

6. **पाराजिक** – यह सबसे निकृष्ट अपराध (आपत्ति) है।

- प्रस्तुत अपराध करने वाले को संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है।
- संघ में प्रवेश करने का उसे पुनः अधिकार नहीं होता है।
- पाराजिक का अपराधी, सद्धर्म के मार्ग से च्युत हो जाता है, उस अपराधी की तुलना उस वृक्ष के मुर्झाये हुए पत्ते से की जाती है, जिसका सम्बन्ध वृक्ष से कट जाता है।
- पाराजिक आठ प्रकार के माने जाते हैं –

01. मैथुन सेवन करना।
02. चोरी करना।
03. मानव की हत्या करना, शस्त्र की अन्वेषणा करना, मृत्यु की प्रशेसा करना।
04. दिव्य शक्ति प्राप्त न होने पर भी दिव्य शक्ति मुझे प्राप्त है – ऐसा दावा करना।
05. कामासक्त होकर अन्य भिक्षु-भिक्षुणी के अंगों का स्पर्श करना।
06. पाराजिक दोष वाले भिक्षु को जानते हुए भी न स्वयं उसे रोकना और न गण को सूचित करना।
07. जो समग्र संघ के द्वारा निष्कासित है; धर्म, विनय और गुरु के उपदेश पर जो श्रद्धा रहित है; उसका अनुगमन करना और तीन बार मना करने पर भी नहीं मानना।
08. कामासक्त होकर अन्य काम भिक्षु-भिक्षुणियों का हाथ पकड़ना और उसके संकेत के अनुसार निर्दिष्ट स्थान पर जाना।

पाराजिक अपराध के सदृश **संघादिदेस** अपराध भी है; इसमें भी मुख्यरूप से ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए ही विशेष सावधानी हेतु निर्देश दिया गया है। इसके अन्तर्गत –

01. संघभेद न करना।
02. दुर्वचन न बोलना।
03. संघ-निन्दा न करना।
04. एक दूसरे का उपहास नहीं करना।
05. एक दूसरे के गोपनीय अपराधों को प्रगट न करना।

संघादिदेस के अपराधी को मानत नामक दण्ड दिया जाता है। संघादिदेस अपराध करने पर भिक्षु को शीघ्र ही संघ को सूचित करना होता है। जो शीघ्र सूचित करता है, उसे छह रात का मानत दण्ड दिया जाता है, परन्तु जो अपराध को छिपाता है, उसके लिए परिवास का दण्ड अर्थात् निष्कासन का विधान होता है। वह जितने दिन अपना अपराध छिपाता है, उतने दिन उसे परिवास का दण्ड दिया जाता है। परिवास के बाद उसे पुनः छह रात का मानत प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

इस प्रकार के अपराधी भिक्षु को संघ से बाहर रहने का विधान होता है और प्रायश्चित्त काल तक उसे अन्य अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है। जो भिक्षु, परिवास दण्ड का प्रायश्चित्त कर रहा हो, उसके लिए कुछ विशेष नियम होते हैं। वह उपसम्पदा और निससय प्रदान नहीं कर सकता है, उपोसथ और प्रवारणा को रोक नहीं सकता है, न वह किसी पर दोष लगा सकता है और न किसी को दण्ड भी दे सकता है। ध्यान रहे कि भिक्षुणी के लिए परिवास दण्ड का विधान नहीं है।

यद्यपि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के सम्राट् अशोक के शिलालेखों एवं अभिलेखों में संघभेद करने पर भिक्षु और भिक्षुणी दोनों को अनावासस्थान में प्रेषित करने का वर्णन मिलता है तथा बुद्धघोष के मन्तव्यानुसार श्मशान-स्थल, बोधिगृह, स्नानगृह, लकड़ी बनाने का स्थान, छज्जा, शौचालय और द्वारकोट्टक आदि अनावासस्थान कहलाते हैं; तथापि बाद में जब संघ ने देखा कि अनावासस्थान में रहने से भिक्षुणियों को शीलरक्षा की समस्या उपस्थित होती है तो भिक्षुणियों के लिए इस विधान में परिवर्तन कर दिया गया प्रतीत होता है।

7. थेरवादीनिकाय में भिक्षुणियों के लिए 166 प्रायश्चित्त के नियम बताये गये हैं तो महासांघिक-निकाय में उनकी संख्या 949 है। वहाँ पर उन्हें शुद्ध प्रायश्चित्त धर्म कहा गया है, उन दोनों में ही प्रायश्चित्त नियम प्रायः समान है –

- इन नियमों में कुछ प्रायश्चित्त दुष्कृत्य से सम्बन्धित हैं।
- अन्तर्मानस में बुरी भावना आने पर या बुरे कार्य करने पर प्रायश्चित्त दिया जाता है।
- कुछ प्रायश्चित्त, बुद्धधर्म, संघ या अन्य किसी व्यक्ति को कटुवचन कहने पर प्रायश्चित्त देने के हैं।
- कुछ प्रायश्चित्त, मैथुन सम्बन्धी अपराध करने पर दिये जाते हैं। जैसे, हस्तकर्म, कृत्रिम मैथुन आदि।
- कुछ प्रायश्चित्त, हिंसा सम्बन्धी अपराध करने पर दिये जाते हैं। जैसे, किसी को मारना, पीटना, ताड़ना, तर्जना, आत्मघात, शस्त्र रखना आदि।
- कुछ प्रायश्चित्त, चोरी सम्बन्धी अपराध करने पर दिये जाते हैं।
- कुछ प्रायश्चित्त, संघ सम्बन्धी अपराध करने पर दिये जाते हैं। जैसे, संघ से निष्कासित व्यक्ति के साथ सम्बन्ध रखना, संघीय आचारसंहिता का पालन नहीं करना, आदि।
- कुछ प्रायश्चित्त, आहार सम्बन्धी अपराध करने पर दिये जाते हैं। जैसे, रात्रिभोजन करना, स्वस्थ भिक्षु-भिक्षुणी घृत, तेल, मक्खन, लहसुन आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करना, कच्चे अनाज को भून कर खाना, अन्य के हाथ से खाना या खिलाना, विकाल में भोजन करना, स्वादिष्ट भोजन के लिए गृहस्थों के यहाँ भटकना आदि।
- कुछ प्रायश्चित्त, वस्त्रों से सम्बन्धित अपराध करने पर दिये जाते हैं। जैसे, वस्त्रों को नाप से अधिक या छोटा रखना, सूत कातना आदि।
- कुछ प्रायश्चित्त, स्वाध्याय से सम्बन्धित अपराध करने पर दिये जाते हैं। जैसे, मन्त्र आदि विद्याओं को सीखना क्योंकि स्वाध्याय के द्वारा धर्म के सार को समझना है, अन्य निरर्थक बातें सीखना नहीं।

वैदिक-दृष्टि में प्रायश्चित्त विधान

भारतीय संस्कृति की दो धाराओं – श्रमण और वैदिक परम्पराओं में श्रमण परम्परा के अनुसार तो प्रायश्चित्त का विवेचन किया जा चुका है। वैदिक परम्परा में भी प्रायश्चित्त सम्बन्धी साहित्य की विपुलता रही है क्योंकि प्राचीन युग में प्रायश्चित्त का जनसाधारण पर विशेष महत्त्व था। प्रायश्चित्त का वर्णन निम्न ग्रन्थों में मिलता है –

1. गौतमधर्मसूत्र के 28 अध्यायों में से 10 अध्याय।
2. वसिष्ठधर्मसूत्र के प्रकाशित 30 अध्यायों में से 9 अध्याय।
3. मनुस्मृति में 222 श्लोकों में प्रायश्चित्त का वर्णन।
4. याज्ञवल्क्यस्मृति के तृतीय अध्याय के 1009 श्लोकों में से 122 श्लोक।
5. शातातपस्मृति के 274 श्लोकों में प्रायश्चित्त का वर्णन।
6. पुराणों के उल्लेख – अग्निपुराण 168–174, गरुड़पुराण 52, कूर्मपुराण, उत्तरार्द्ध, 30–34, वराहपुराण 131–136, ब्रह्माण्डपुराण, उपसंहारपाद, अध्याय 9, विष्णुधर्मोत्तरामृत 2,73, 3/234–237।
7. प्रायश्चित्तप्रकरण, प्रायश्चित्तविवेक, प्रायश्चित्ततत्त्व, प्रायश्चित्तसार, प्रायश्चित्तमयूख, प्रायश्चित्तप्रकाश, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, स्मृतिमुक्ताफल का प्रायश्चित्त वाला प्रकरण, आदि।

वैदिक परम्परा में भी उसके मनीषियों ने पाप-पंक से मुक्त होने के लिए विविध उपाय वर्णित किये हैं, जिनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है –

- ऋग्वेद में भी पापरहित होने की प्रबल भावना विद्यमान है। पापों की संख्या, उनके अनेक प्रकारों का विवेचन करते हुए बुद्धिमान या विज्ञों के लिए सात मर्यादाएँ बताई गई हैं; उनका अतिक्रमण करने वाले को पापी बताया गया है।[52]
- ब्राह्मण हत्या को सबसे बड़ा पाप माना है।[53]
- भ्रूण हत्या को ब्रह्महत्या से भी विशेष पाप माना है।[54]

- चोर और भ्रूण हत्यारे को महापापी गिना है।[55]
- वसिष्ठसूत्र में पापियों की तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं – 1. एनस्वी 2. महापातकी 3. उपपातकी। **एनस्वी** साधारण पापी को कहते हैं, उसके लिए विशिष्ट प्रायश्चित्त माना गया है। **महापातकी** पाँच प्रकार के माने गये हैं – 1. गुरु की शय्या को अपवित्र करने वाला 2. सुरा-पान करने वाला 3. भ्रूण-हत्या करने वाला 4. ब्राह्मण के हिरण्य की चोरी करने वाला 5. पतित का संसर्ग करने वाला। इसी प्रकार **उपपातकी** वह है, जो अग्निहोत्र का त्याग कर देता है, अपने अपराध से गुरु को कुपित करता है, नास्तिकों के यहाँ जीविका का अर्जन करता है, आदि।
- इसी प्रकार से अग्निपुराण, प्रायश्चित्त-विवेक, आपस्तम्ब, धर्मसूत्र, मनुस्मृति आदि में पापों का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।
- पापों से छुटकारा पाने के लिए सर्व प्रथम ऋग्वेद में यज्ञ का विधान मिलता है।[56]
- तैत्तिरीय संहिता, शतपथब्राह्मण आदि का मन्तव्य है कि अश्वमेध यज्ञ करने से देवतागण राजा को पाप-मुक्त कर देते हैं।[57]
- इसी प्रकार पाप के फल से अपने को बचाने हेतु अदिति, मित्र, वरुण आदि देवताओं की स्तुतियाँ का भी विधान मिलता है।
- बिना इच्छा के किया हुआ पाप, वेदाभ्यास से छूट जाता है, परन्तु जो मोहवश जानबूझकर किया जाय, उसके लिए अलग–अलग प्रायश्चित्त बताये गये हैं।[58]
- अपने अपराध के परिणामों से भयभीत प्राणियों के लिए विविध प्रकार के व्रतादि करने का उपदेश भी मिलता है।
- पाप से मुक्त होने का एक अन्य साधन, पाप की स्वीकारोक्ति भी माना गया है।
- जप–तप–होम–उपवास एवं दान – ये दुष्कृत्य के प्रायश्चित्त हैं।[59]
- अपराध को स्वीकार कर पश्चात्ताप तप एवं गायत्री मन्त्रों के जाप से पापी, अपराध से मुक्त हो जाता है। यदि वह यह कार्य न कर सके तो दान देने से वह पाप-मुक्त हो जाता है।[60]
- जो व्यक्ति पाप को स्वीकार कर लेता है, उसका पाप कम हो जाता है। पाप मोचन के लिए सर्व प्रथम आत्मापराध को स्वीकार करना आवश्यक है।[61] (इसे ही जैन परम्परा में आलोचना कहा गया है।)
- गौतमधर्मसूत्र और मनुस्मृति में लिखा है कि यदि विद्यार्थी से सम्भोग का अपराध हो गया हो तो उसे सात घरों से भिक्षा माँगते समय अपने दोष की घोषणा करना चाहिए।
- पाप होना, उतना बुरा नहीं, जितना पाप को पाप न समझना। व्यक्ति का मन, जितना ही अपने दुष्कर्म को घृणित समझता है, उतना ही उसका शरीर पाप से मुक्त हो जाता है। यदि व्यक्ति, पापकृत्य करने के पश्चात् भी पश्चात्ताप नहीं करता है तो पाप से मुक्त नहीं हो सकता; उसे मन में संकल्प करना चाहिए कि मैं पुनः यह कार्य नहीं करूँगा।[62]
- यदि व्यक्ति पापों को करने के पश्चात् अनुताप में डूबा हुआ हो और रात-दिन पश्चात्ताप कर रहा हो तो वह प्राणायाम से पवित्र हो जाता है। केवल प्रायश्चित्त पापों को दूर करने के लिए पर्याप्त नहीं, अपितु उससे पापी, पापों को दूर करने योग्य हो जाता है।[63]
- यदि व्यक्ति, प्रतिदिन ओंकार के साथ प्राणायाम करे तो एक मास के उपरान्त भ्रूणहत्या के पाप से मुक्त हो जाता है।[64]
- तीन प्राणायामों के सम्यक् सम्पादन से रात या दिन में किये गये सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।[65]
- तप को यज्ञ से ऊपर माना गया है।[66]
- पाप के स्वरूप के अनुसार तप की निम्न अवधियाँ बताई हैं – एक वर्ष, छह मास, तीन मास, दो मास, एक मास, चौबीस दिन, बारह दिन, छह दिन, तीन दिन, और एक रात।[67]
- जो महापातकों एवं अन्य दुष्कर्मों के अपराधी होते हैं, वे भी सम्यक् तप से पापमुक्त हो जाते हैं।[68]
- जिस प्रकार जैन साधना पद्धति में भी पाप से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्तस्वरूप विविध प्रकार के तपों का उल्लेख किया गया है; उसी प्रकार वैदिक ऋषियों ने भी पाप से मुक्त होने के लिए होम/यज्ञ, जप की साधना, दान, उपवास, तीर्थयात्रा आदि अनेक प्रकार बताये हैं।[69]

- वैदिक साहित्य में प्रायश्चित्ति ओर प्रायश्चित्त – ये दोनों शब्द व्यवहृत हुए हैं।
  01. तैत्तिरीयसंहिता में प्रायश्चित्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द वहाँ पर पाप के प्रायश्चित्त के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।[70]
  02. अथर्ववेद, वाजसनेयीसंहिता, ऐत्तिरीयब्राह्मण, शतपथब्राह्मण, कौषितकिब्राह्मण आदि में प्रायश्चित्त शब्द का प्रयोग हुआ है।[71]
  03. आपस्तम्बश्रौतसूत्र, शांखायनश्रौतसूत्र में प्रायश्चित्ति और प्रायश्चित्त, ये दोनों शब्द आते हैं।[72]
- वैदिक परम्परा में प्रायश्चित्तों की कठोरता और अवधि, व्यक्ति के द्वारा प्रथम बार अपराध होने पर या अनेक बार अपराध करने पर प्रायश्चित्त प्रदान करने वाली एक परिषद् होती है, जो अपराधी के अपराध की गुरुता एवं स्वभाव को देख कर उसके अनुसार प्रायश्चित्त की व्यवस्था की जाती है। प्रायश्चित्त के मुख्यतः चार स्तर माने गये हैं – 1. परिषद् के पास जाना, 2. परिषद् के द्वारा उचित प्रायश्चित्त बताना, 3. प्रायश्चित्त का सम्पादन करना, 4. पापी के पाप की मुक्ति का प्रकाशन करना।
- प्रायश्चित्तविवेक ग्रन्थ में प्रायश्चित्त की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि प्रायः – तप और चित्त – संकल्प अर्थात् प्रायश्चित्त का सम्बन्ध पापमोचन हेतु तप का संकल्प करना है।[73]
- अन्यत्र वाग्भट्टी याज्ञवल्क्यस्मृति में प्रायः का अर्थ पाप और चित्त का अर्थ शुद्धिकरण किया है।[74]
- जबकि हेमाद्रि प्रायश्चित्तविवेक में इस व्याख्या को उद्धृत किया है कि प्रायः का अर्थ विनाश है और चित्त का अर्थ सन्धान है अर्थात् जो नष्ट हो गया है, उसकी पूर्ति करना प्रायश्चित्त है। इस प्रकार पापक्षय के लिए प्रायश्चित्त, नैमित्तिक कार्य है।[75]
- बृहस्पति आदि विद्वानों ने पाप दो प्रकार के बताये हैं – 1. कामकृत, जो जान-बूझ कर किया जाता है। 2. अकामकृत, जो जान-बूझ कर न हों। उनमें से अकामकृत पापों को प्रायश्चित्त के द्वारा नष्ट किया जा सकता है, परन्तु कामकृत पापों को प्रायश्चित्त के द्वारा नष्ट किया जा सकता है या नहीं – इस सम्बन्ध में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है।[76]
- प्रायश्चित्त या विद्याध्ययन से अनजाने में किये गये पापों का विनाश होता है, परन्तु व्यक्ति, जब तक जान-बूझ कर किये गये पापों को प्रायश्चित्त नहीं कर लेता, तब तक उसे विज्ञजनों के सम्पर्क में नहीं आना चाहिए।[77]
- जान-बूझ कर किये गये पापों को प्रायश्चित्त नष्ट नहीं करता, अपितु पापी यदि प्रायश्चित्त कर लेता है वह अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में जाने के योग्य हो जाता है।[78]
- स्मृतियों में यहाँ तक लिखा है कि माता, बहिन, पुत्रवधू आदि के साथ व्यभिचार सेवन करने वाले को अण्डकोष एवं लिंग काट दिये जाने पर दक्षिण दिशा या दक्षिण-पश्चिम दिशा में तब तक चलते रहना चाहिए, जब तक कि उनका शरीर भूमि पर लुढ़क न पड़े।[79]
- मनुस्मृति में लिखा है कि चोर को कोई मूसल या गदा या दुधारी-शक्ति, जो एक प्रकार की बरछी होती है अथवा लोहदण्ड लेकर राजा के पास जाना चाहिए और अपने अपराध की घोषणा करना चाहिए। दण्डस्वरूप राजा के एक बार मारने पर वह मृत हो जाए या अर्द्धमृत होकर जीवित रहे तो वह चोरी के अपराध से मुक्त हो जाता है।[80]
- वैदिक ग्रन्थों में अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त एवं उनकी विधि का उल्लेख मिलता है। यहाँ कुछ का सांकेतिकरूप से वर्णन करते हैं –
  01. **अवमर्षण प्रायश्चित्त** – यह प्रायश्चित्त, जल में खड़े रह कर दिन में तीन बार अवमर्षण मन्त्रों का पाठ करके किया जाता है।[81]
  02. **अतिकृच्छ् प्रायश्चित्त** – तीन दिन तक प्रातःकाल केवल एक कौर और सन्ध्याकाल भी एक कौर भोजन, पश्चात् तीन दिन तक केवल एक कौर भोजन ग्रहण करना तथा अन्त में तीन दिन तक उपवास करना।[82]
  03. **अतिसान्तपन प्रायश्चित्त** – इस प्रायश्चित्त की अवधि अठारह दिनों की है; इसमें छह दिनों तक गोमूत्र और अन्य पाँच वस्तुओं का भोजन करते हैं।

04. **अर्द्धकृच्छ् प्रायश्चित्त** – यह छह दिनों का प्रायश्चित्त होता है; इसमें एक दिन में केवल एक बार भोजन, एक दिन सन्ध्याकाल भोजन, दो दिन तक बिना माँगे भोजन और फिर दो दिन तक उपवास करते हैं।

05. **गौमूत्रकृच्छ् प्रायश्चित्त** – इस प्रायश्चित्त में एक गाय को जौ ओर गेहूँ खिलाया जाता है, फिर उस गाय के गोबर में से जितने दाने निकलें, उसके आटे को गोमूत्र में मिला कर लापसी और मांड बना कर पीना चाहिए।

06. **चान्द्रायण प्रायश्चित्त** – चन्द्र के बढ़ने और घटने के अनुरूप जिसमें भोजन किया जाए, उसे चान्द्रायण व्रत कहते हैं। यह व्रत दो प्रकार का माना गया है – **यवमध्य** अर्थात् यव के समान बीच में मोटा और दोनों छोरों पर पतला और **पिपीलिकामध्य** अर्थात् चींटी के समान बीच में पतला और दोनों छोरों पर मोटा। विस्तार इस प्रकार है – यवमध्य चान्द्रायण व्रत के अन्तर्गत अमावस्या के दिन उपवास करके शुक्लपक्ष के प्रथम दिन एक ग्रास, दूसरे दिन दो, तीसरे दिन तीन.....इस तरह क्रमशः पूर्णिमा के दिन पन्द्रह ग्रास का भोजन लिया जाता है। पश्चात् कृष्णपक्ष के प्रथम दिन चौदह ग्रास, पुनः एक एक ग्रास कम करते हुए चतुर्दशी को एक ग्रास भोजन किया जाता है और अमावस्या के दिन पुनः उपवास किया जाता है।

जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं का तुलनात्मक विवेचन

उक्त विवेचन के आधार पर सारांशतः यह कहा जा सकता है कि

- सभी परम्पराओं ने मैथुन, चोरी और हिंसा को गम्भीरतम अपराध माना है।
- जैन और बौद्ध परम्परा में संघ को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।
- संघ और संघनायक की अवहेलना करना, महान अपराध है।
- जब तीर्थंकर परमात्मा समवसरण में विराजते हैं, तब भी 'नमो संघस्स' कह कर संघ की अभिवन्दना की जाती है।
- जैन और बौद्ध, दोनों ही परम्पराओं में अयोग्य पात्र को दीक्षा न मिल जाए, इसका बहुत विवेक और ध्यान रखा गया है क्योंकि अयोग्य पात्र को दीक्षा देने के कारण संघ में दुराचार बढ़ सकता है।
- यद्यपि जैन और बौद्ध, श्रमण और श्रमणियों की आचारसंहिता में अनेक स्थानों पर समानता है तथा प्रायश्चित्त-व्यवस्था एवं प्रायश्चित्त की सूचियों में भी समानता दृष्टिगोचर होती है; तथापि यह भी सत्य है कि बौद्ध परम्परा मध्यममार्गीय रही है, इसलिए उसकी आचारसंहिता भी मध्यममार्ग पर आधारित है, जबकि जैन परम्परा, उग्र और कठोर साधना पर बल देती है, इसलिए उसकी आचारसंहिता भी कठोरता लिये हुए है।
- जैन और बौद्ध परम्परा में जो प्रायश्चित्तविधान हैं, उनमें सहजता है, सुगमता है; परन्तु वैदिक परम्परा में दण्ड-व्यवस्था भी स्वीकार की गई है, जिससे उनके यहाँ अंग-छेदन आदि का भी विधान हुआ; जबकि जैन और बौद्ध परम्परा में इस प्रकार का विधान नहीं है। जैसे, नारदस्मृति में कहा है कि यदि व्यक्ति, माता, मौसी, सास, मामी, फूफी, चाची, मित्र-पत्नि, शिष्य-पत्नि, बहिन, बहिन की सखी, पुत्रवधू, आचार्य-पत्नि, सगोत्र नारी, दाई, व्रतवती नारी, ब्राह्मण नारी आदि के साथ सम्भोग करता है तो वह गुरुतल्प नामक व्यभिचार के पाप का अपराधी हो जाता है – ऐसे दुष्कृत्य के लिए शिश्न-कर्तन के अतिरिक्त कोई और दण्ड नहीं है।[83]
- ध्यान रहे कि सर्वत्र सभी व्यक्तियों के लिए एक समान प्रायश्चित्त नहीं माना गया है। समान अपराध होने पर भी प्रायश्चित्त देने में अन्तर होता है।

मुनिराजों के अतिचार एवं प्रायश्चित्त का वर्णन करने में आचार्यों का संकोच

जिनमें मुनिराजों की मुख्यता से वर्णन किया गया है – ऐसे मूलाचार, भगवती आराधना, अनगार धर्मामृत, मरण-कण्डिका, आदि ग्रन्थों में मुनियों के अतिचारों का वर्णन किया गया है। इतना ही नहीं, बल्कि उनका वर्णन करने में वहाँ भी संकोच किया गया है क्योंकि उससे भी सामान्यतः मुनियों के भी दिग्भ्रमित होने की सम्भावना रहती है; अतः अतिचार एवं प्रायश्चित्त शास्त्र को विशेष जानने का अधिकार मात्र मुनिसंघों के

आचार्यों को ही होता है तथा जो मुनिसंघ के नायक होने के अधिकारी योग्य मुनि हैं, उनको भी आचार्य स्वयं इन शास्त्रों का अध्ययन कराते हैं, जिससे वे मुनिसंघ का योग्य रीति से परिपालन कर सकें।

अनिष्णात देशव्रती श्रावकों को आगम में अनेक स्थानों पर प्रायश्चित्त शास्त्रों का पढ़ने का निषेध किया है, लेकिन साथ ही यह भी लिखा है कि निष्णात श्रद्धावान् को जिनवचन पढ़ने/सुनने योग्य हैं। कतिपय आगम-वचन निम्न प्रकार हैं –

1. भगवती आराधना की विजयोदया टीका में निम्न गाथा को उद्धृत किया है –

सव्वेण वि जिणवयणं, सोदव्वं सहिदेण पुरिसेण।
छेदसुदस्स हु अत्थो, ण होदि सव्वेण णादव्वो।।[84]

अर्थात् श्रद्धावान् पुरुष, सर्व जिनवचन सुन सकते हैं, परन्तु प्रायश्चित्त शास्त्र का अर्थ सर्व लोगों को जानने का अधिकार नहीं है।

2. वसुनन्दि श्रावकाचार एवं सागार धर्मामृत में भी देशव्रती श्रावकों के लिए कतिपय निषिद्ध क्रियाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है –

णत्थि अहियारो सिद्धन्त-रहस्साणं वि अज्झयणं देसविरदाणं।[85]

अर्थात् देशव्रती श्रावकों को केवली-श्रुतकेवली कथित गणधर प्रत्येकबुद्ध और अभिन्न दशपूर्वी साधुओं के द्वारा निर्मित सिद्धान्त ग्रन्थों एवं रहस्य अर्थात् प्रायश्चित्त ग्रन्थों के अध्ययन करने का अधिकार नहीं है।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में छेद सूत्र के माध्यम से साधुओं के अतिचार एवं प्रायश्चित्त का वर्णन

श्वेताम्बर ग्रन्थों में निशीथ सूत्र और छेद सूत्र के माध्यम से साधुओं के अतिचारों एवं प्रायश्चित्त का निरूपण किया गया है। इस बात को लेकर कि इन ग्रन्थों का प्रकाशन होना चाहिए या नहीं तथा इन ग्रन्थों को गृहस्थों आदि को पढ़ना चाहिए या नहीं; वहाँ भी इसे लेकर बहुत ऊहापोह होती रहती है। इस सम्बन्ध में जब छेद सूत्र का प्रकाशन हुआ तो गोंडल गच्छ के श्री जयन्त मुनिजी ने उसके प्रारम्भ में छेद सूत्र की चिन्तनपूर्ण पृष्ठभूमि लिखते हुए अपने विचार व्यक्त किये हैं –

छेद सूत्र की चिन्तनपूर्ण पृष्ठभूमि : जयन्त मुनि के अनुसार

छेद शास्त्र का सामान्य वक्तव्य तो आगम में प्रणीत हुआ है; जिसमें मानवीय सहज वृत्तियों के निरोध के लिए कितना ही विस्तृत विवेचन किया गया है, जिसका सामान्य जनता के बीच में व्याख्यान करना सम्भव नहीं है। मात्र व्यक्तिगत साधुओं या साध्वियों को अपने मन को अथवा रागादि क्रियाओं को नियन्त्रित करने हेतु उदाहरण देकर विवेचन किया गया है। इस शास्त्र का प्रकाशन आम जनता के लिए आवश्यक नहीं है; इस कारण समाज में कम-ज्यादा मतभेद भी प्रवर्तमान है.....छेद शास्त्र के प्रकाशन के लिए विचार भेद उत्पन्न होने पर हमने युक्त रीति से मध्यम मार्ग को अपनाते हुए इसके प्रकाशन हेतु सम्मति प्रदान की और आज यह शास्त्र प्रकाशित हो रहा है। इस सम्बन्ध में हमने अपने चिन्तन के आधार पर उसकी पृष्ठभूमि लिखना योग्य प्रतीत हो रहा है।

आज से दो-चार हजार वर्ष पूर्व समाज में स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में जनसामान्य विशेष उत्सुक नहीं था, सामान्य जनता भोगात्मक क्रियाओं से सन्तोष मानती हुई अपने अनादिकालीन संस्कारों को ही पुष्ट करती थी। मनुष्य को जब साक्षात् भोग के निमित्त नहीं मिलते, तब कितनी ही कुचेष्टाओं के द्वारा वह अपने मन की वासनाओं को तृप्त करता है – ऐसे ही मानव समाज में सहज प्रेरणा प्राप्त होने पर कितने ही भव्य जीव त्याग मार्ग से जुड़ कर साधु जीवन स्वीकार करते हैं। साधु जीवन को स्वीकार करने के बाद भी सामान्य अनादिकालीन कुटेवों से मनुष्य आक्रान्त होता रहता है। यदि इन कुचेष्टाओं को अच्छी तरह समझा कर रोका न जाए और उसके प्रतिकार स्वरूप दण्डात्मक सजास्वरूप प्रायश्चित्त न दिया जाए तो उस साधक का मन कभी भी स्थिर नहीं हो सकता है, यह स्वाभाविक है। अतः सम्पूर्ण छेद शास्त्र जगह-जगह जहाँ आवश्यक्ता होती है, वहाँ अन्य विषयों के साथ ऐसी कुचेष्टाओं का भी स्पष्ट विवेचन करते हुए दण्डात्मक विधान करता है।

इस विषय के सम्बन्ध में चार शास्त्रों की रचना की गई है – निशीथ सूत्र और तीन छेद सूत्र। इन शास्त्रों को गोपनीय एवं एकान्त में शिष्यों को उपदेश देने योग्य माना गया है – ऐसी ही परम्परा है।

आज के प्रकाशन युग में पाठकों की संख्या बेतहाशा बढ़ गई है तथा विद्यालयों और महाविद्यालयों में सभी विषयों पर गहन संशोधन (शोधकार्य) चल रहा है। साथ ही जनसामान्य में भी साहित्य की उपलब्धि के कारण वाँचन (अध्ययन) की रुचि व्यापक बनी है। खास तौर पर धार्मिक वर्ग अपने शास्त्रों एवं मूल आगमों को जानने के लिए उत्कण्ठित है। ऐसे समय में यह शास्त्र गोपनीय है – ऐसा कहने से परिणाम और विपरीत आता है तथा उनको जानने की आकांक्षा और तीव्र बनती है; अतः आज के युग में आगमों का प्रकाशन रोका नहीं जा सकता। इसी अनुक्रम में यह छेद शास्त्र का प्रकाशन किया जा रहा है तथा उसके लिए कितना ही स्वतन्त्र चिन्तन हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, फिर भी इन शास्त्रों के सम्बन्ध विभिन्न आज्ञाओं को गौण करके आज का सभ्य समाज पचा सके – ऐसी दो-चार बातों को यहाँ लिखा है।

प्राचीन जैन परम्परा में नियमावली के साथ-साथ नियमों के खण्डन होने पर, उसका प्रायश्चित्त देने की एक जबरदस्त प्रक्रिया चल रही है। यहाँ शास्त्रकारों ने 'छेद' शब्द का विशेष रूप से अर्थ बताया नहीं है, परन्तु 'छेद' एक प्रकार का प्रक्षालन है, चित्त में लगे हुए दाग को धोने की एक मानसिक प्रक्रिया है क्योंकि मन से उत्पन्न हुए दोषों को मन के द्वारा समझाने पर वे मिटते नहीं हैं, उसी प्रकार उसका प्रभाव भी नहीं पड़ता; बल्कि दण्डात्मक सजा प्राप्त करने के लिए मनुष्य स्वयं आगे बढ़े अथवा गुरु-आज्ञा को मान कर दण्डों को स्वीकार करे तो मन पर उसका स्थायी असर होता है। 'छेद शास्त्र' में इसी प्रकार की दण्डात्मक विधि से क्रियात्मक खोटे आचरणों को शुद्ध करने के लिए प्रभु की आज्ञा मान कर साधु-सन्तों को आदेश प्रदान करती है। 'पापों का छेदन' इसी प्रकार की प्रभावी उनसे विपरीत क्रियाओं से ही हो सकता है। योगशास्त्र में भी लिखा है – **वितर्क-बाधने प्रतिपक्षभावनम्** अर्थात् वितर्क, कुविचार, कुचेष्टा या ब्रह्मचर्य का खण्डन हो – ऐसी प्रवृत्तियों का छेद करने के लिए, उन प्रवृत्तियों को रोकने के लिए उनके प्रतिपक्षरूप प्रायश्चित्त करना ही चाहिए।

सम्पूर्ण 'छेदशास्त्र' – इन बातों का कदम-कदम पर विधान करता है और भिक्षु-भिक्षुणियों को बारम्बार सम्बोधित करता है, जागृत करता है। उस समय ऐसे विधिवत् उपाश्रय नहीं होते थे तथा साधु-साध्वियाँ समाज के बन्धन में नहीं रहने से चाहे जहाँ, चाहे जिस क्षेत्र में, चाहे जैसी जंगली/आदिवासी जातियों के बीच में भी विचरण करते थे, जिससे साधुओं का उन असंस्कारित निर्दोष जन जातियों के कुरिवाजों और कुचेष्टाओं के सम्पर्क में आना सहज होता था; अतः शास्त्रकारों ने विशेष रूप से इन सभी बातों का उल्लेख करते हुए भिक्षु-भिक्षुणियों को चेताया है कि ये सब भूलें करने योग्य नहीं हैं, वे साधारण भूलें नहीं हैं, प्रायश्चित्त लेने योग्य दोष हैं; अतः सावधान रहने की अत्यन्त आवश्यक्ता है। इन सभी आज्ञाओं को महा ज्ञानी पुरुषों ने उस समय की अनुकूलता देखते हुए उस तरीके से, उस समय के शब्द प्रवाहों के आधार पर साधु-साध्वियों को एकान्त ऐसी आज्ञाएँ प्रदान की हों – ऐसा प्रतीत होता है।

उक्त विवेचन में अधिकांशतया कामवृत्ति-सम्बन्धी आज्ञाओं का विवेचन किया गया है, परन्तु सम्पूर्ण छेदशास्त्र सिर्फ कामवासना-सम्बन्धी नियमों का ही उल्लेख करता है – ऐसा नहीं है। इस छेद शास्त्र में छोटी-बड़ी साधनाओं के अनुकूल अनेक आज्ञाओं का उल्लेख है, जिसमें थोड़ी-सी भी असभ्यता नहीं है।.....

शास्त्रों के विवेचन से ज्ञात होता है कि साधु को जीवन भर रूक्ष आहार का ही उपयोग करना चाहिए।.....लेकिन जिस साधु ने अपनी आहार संज्ञा को संक्षिप्त नहीं किया है और गृहस्थ के यहाँ गोचरी के लिए जाने पर या आहार करते समय सावधान नहीं रहता; उसके लिए लिखा है कि जो साधु रसोईघर में प्रवेश करके, वहाँ बनी हुई सभी आहार सामग्री को तीव्र लालसा के भाव से निहारता है और बाद में अंगुली से इशारा करके कहता है कि 'यह आहार मुझे दो और यह आहार मुझे मत दो' – ऐसी गृद्धता करता है। वे भिक्षु या भिक्षुणी दोष के भागीदार बनते हैं। इस प्रकार नाम-निर्देश सहित वस्तु माँगने से साधु की लालसा प्रगट होती है तथा उस गृहस्थ पर भी उसका खराब प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार आहार-सम्बन्धी और भोजन-सम्बन्धी अनेक नियमों के साथ-साथ सैकड़ों बाह्य नियमों का विधान करके आचार्य भगवन्तों ने एक सख्त अनुशासन प्रणाली की स्थापना की है और जो उस अनुशासन का अनुसरण नहीं करता, उसके लिए कदम-कदम पर प्रायश्चित्त ग्रहण करने का विधान किया गया है। आगे जाकर उसमें प्रायश्चित्त के प्रति ईमानदार रहने वाले और प्रायश्चित्त का योग्य रीति से पालन नहीं करने वाले – ऐसे दो भेद बता कर पारिहारिक और अपारिहारिक साधकों का विवेचन किया है। इस प्रकार दोनों पक्ष के साधक एक-दूसरे के साथ हिल-मिल न जाएँ, इसके लिए योग्य शिक्षा दी गई है।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रणीत समग्र शासन, अनेक नियमों और दण्डात्मक विधानों से भरा हुआ होने पर भी उसकी यह विशेषता है कि उसमें सर्वत्र अहिंसक दृष्टि का ध्यान रखा गया है तथा साधक और साधनाहीन, किसी भी व्यक्ति को कष्ट हो – ऐसा कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। मन-वचन-कर्म (काय) से कोई भी दुःख पाये अथवा पीड़ित हो – ऐसा जरा भी उद्देश्य नहीं है। छेद शास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण शास्त्र, छोटी से छोटी पर्वतीय ऊँची-नीची पगडण्डियों से होकर गुजरता है, परन्तु कहीं पर भी उसका बॅलेन्स बिगड़ा नहीं है।

अन्त में यही कहना है कि साधक ने जीवन में जो लक्ष्य निर्धारित किया है, उस लक्ष्य से वह हट जाए – ऐसे अनेक छोटे-बड़े भौतिक साधनों के प्रसंग जीवन को आन्दोलित करते हैं तथा स्वयं शरीर भी एक भौतिक साधन ही है, वह भी बाधक बनता है। जिस प्रकार जल में फँसा हुआ हिरन तड़फता है, उसी प्रकार साधक भी इस सूक्ष्म वासनामय जल में से निकलने का प्रयास करता है, उसमें ऐसे छोटे-बड़े निमित्त बाधक बनते हैं परन्तु योग शास्त्र में कथित 'निमित्ताधीन जीव, नहीं कर सकता कल्याण' – इस उक्ति के अनुसार 'जिसके उपादान की शुद्धि नहीं हुई हो और जिसका उपादान अपरिपक्व हो, उस जीव को ऐसे अशुभ निमित्त पराधीन कर देते हैं; अतः साधक को उपादान की साधना के साथ-साथ अशुभ निमित्तों से भी बचना चाहिए। यद्यपि निमित्त स्वयं अकिंचित्कर है, तथापि उपादान की अशुद्धि होने पर वह महा कर्तृत्व की भूमिका निभाता है। इस प्रकार सब शास्त्रों में ऐसे निमित्तों से बचने के लिए पूरा-पूरा ध्यान दिया गया है तथा निमित्तों की प्रबलता अथवा उनकी अनुकूलता को स्पर्श करके उपादान मैला न हो, उसके लिए संख्याओं में निबद्ध आज्ञाओं को निर्दिष्ट किया गया है।.....अस्तु..... ।[86]

छेद सूत्रों की विशेषता और उसके रहस्यमय भाव

छेद सूत्र अर्थात् जिन्दगी के छिद्रों या भूलों के प्रायश्चित्त सूचक सूत्र। सामान्य छिद्र तो प्रतिक्रमण से दूर हो जाते हैं। परन्तु कोई विशेष कठिन छिद्र हो तो उसका विशेष प्रायश्चित्त दिया जाता है। निमित्त की अपेक्षा कथन करें तो छिद्रों को उत्पन्न करने का काम कर्मोदय का है परन्तु उनका प्रायश्चित्त, क्षयोपशम भाव की जागृति के सिवाय शक्य नहीं होता है। क्षयोपशम भाव की जागृति को धारण करने वाले साधक ही इन छेद सूत्रों के सच्चे अधिकारी होते हैं। जो कर्मोदय से घिरे हुए हैं – ऐसे अज्ञानी गुरुओं के पास यदि साधक जाएँ तो उनसे अपने अहित के साथ सबका अहित भी हो सकता है। छेद सूत्रों में मात्र कर्मोदय के योग से उत्पन्न छिद्रों के प्रायश्चित्त ही नहीं हैं, बल्कि कर्मोदय के योग में उत्पन्न हुई मुश्किलों और उनको दूर करने हेतु मार्गदर्शन भी है।.....

अज्ञानियों का स्वभाव भूलों को छिपाना या भूलों की तरफ आँख मींच लेना होता है; उससे भूल का परिणाम कुछ समय के लिए उपशान्त हो जाता है, परन्तु बाद में वह खतरनाक स्वरूप धारण करके जीवन का नाश कर देता है। जिन्दगी को भय से बचाने के लिए ही छेद सूत्र की रचना की गई है। जो दोष निकल सकता हो, उसे निकाल देना चाहिए; अतः आचार्यों, स्थिविरों आदि ही छेद सूत्र के अधिकारी माने गये हैं, वे अन्य के लिए नहीं हैं।

मन-वचन-काय की जो अनादि की आदतें हैं, उनका नाम अव्रत है और अव्रत से जो उबारे, उसका नाम चारित्र है। संयम के अन्तर्गत एकदेश श्रावक धर्म अथवा सर्वदेश मुनि धर्म, कोई भी प्रकार का संयम अंगीकार किया गया हो, परन्तु जो कषाय की अप्रत्याख्यानावरणीय या प्रत्याख्यानावरणीय नामक मोहनीय कर्म की दूसरी या तीसरी चौकड़ी के क्षयोपशम से जो मार्ग स्वीकार किया गया है, वह स्वयं आवरण से युक्त होता है। उस आवरण के कारण जो कोई भी छिद्र उभरता है या होता है, उसको व्यवस्थित करने या सुधारने का कार्य छेद सूत्र के माध्यम से किया जाता है।

प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का क्षयोपशम कहो या चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम कहो, उसका कार्य तो मात्र इतना ही है कि चारित्र स्वीकार करने में मदद करे, उसकी जवाबदारी चारित्र अंगीकार कराने तक ही है, अब चारित्रमोह के क्षयोपशम ने जिस चारित्र को अंगीकार करा दिया है, उसे जीवनपर्यन्त तक स्थिर रखने और उसकी वृद्धि करने की जिम्मेदारी वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की है। साधक के द्वारा देशविरति या सर्वविरति, किसी भी पद को प्राप्त किया गया हो, परन्तु जो कषाय के क्षयोपशम ने मार्ग बना दिया है, वह आवरण से युक्त होता है।

[अनन्तानुबन्धी], अप्रत्याख्यानावरणीय एवं प्रत्याख्यानावरणीय कषायों का क्षयोपशम हुआ अर्थात् अपनी मर्यादा में रह कर आत्मा को सम्यक्त्व और संयम का योग तो हो गया; परन्तु वे स्वयं आवरण से युक्त होने के कारण किसी जीव को उच्च प्रकार का और किसी जीव को हीन प्रकार का संयम हो सकता है।.....वह आवरण अव्रत परिणामों की तरफ आकर्षण उत्पन्न करा देते हैं, उस समय वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम पुरुषार्थ की भूमिका निभाता है, परन्तु जिस प्रकार छोटा सा कंकर, बड़े घड़े में छेद कर देता है, उसी प्रकार कर्मोदय की बलवत्ता होने पर वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशमजन्य पुरुषार्थ भी कमजोर पड़ जाता है और चारित्र में छेद हो जाता है, उस छेद को भरने का काम छेद सूत्र के माध्यम से होता है।

इसी प्रकार [अनन्तानुबन्धी एवं] अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय का क्षयोपशम होने पर सम्यक्त्व का योग तो हो जाता है परन्तु उस जीव की उत्कृष्ट भावना होने पर भी उसे सम्पूर्ण अव्रत परिणामों से छुटकारा नहीं मिल पाता है। सम्यग्दृष्टि को अव्रत परिणामों में छुटकारा नहीं प्राप्त करने का जो खेद अनुभव में आता है, वह काम आवरण (उदय) का है।.....

उक्त सम्पूर्ण प्रक्रिया जागृत साधक को ही लागू पड़ती है क्योंकि वही परीक्षा में बैठा कहलाता है, उसे ही उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण का परिणाम लागू पड़ता है। अनेक आत्माएँ तो ऐसी होती हैं कि जो परीक्षा में बैठती ही नहीं हैं, उनका आचरण उन्हें प्रमादी और दम्भी बनाता है।[87]

प्रभु ने संयमी साधक के लिए निर्दोष सुदृढ़ संयम पालन कर विशेष बल दिया है क्योंकि साधना को जीवन का प्राण कहा है। सम्यक् साधना से ही साधक अपने साध्य को प्राप्त करता है। साधक के कण-कण में त्याग-तप-स्वाध्याय-ध्यान की सरल सरिता बहती रहनी चाहिए। किन्तु संयम पालन के दौरान ज्ञात अथवा अज्ञात अवस्था में साधक के द्वारा अपने स्वीकृत व्रतों में स्खलना (दोष) हो सकती है। उस स्थिति में उन दोषों के परिमार्जन के लिए प्रायश्चित्त साहित्य (छेद सूत्र) का निर्माण भी किया गया है, ताकि संयमी साधक अपने स्वीकृत व्रतों में लगे दोषों का प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण कर सके। छेद सूत्रों में दोषों के परिमार्जन की विधि का निरूपण किया गया है।[88]

डॉ. साध्वी आरती और साध्वी सुबोधिका के शब्दों में कहें तो –

वीतराग दशा को प्राप्त करके स्वरूप में अखण्ड स्थिरता प्राप्त करना, साधक का अन्तिम लक्ष्य है; उस लक्ष्य की सिद्धि के लिए पुरुषार्थ करता हुआ साधक, पूर्वकृत कर्म के उदय भाव के आधीन होकर कितनी ही बार भूल करता है और पाप दोष का सेवन करता है, कितनी ही बार चढ़ता-उतरता है, कितनी ही बार हताश और निराश हो जाता है; तब आचार्य उसे छेद सूत्र के माध्यम से सांत्वना देते हैं कि 'हे साधक! तूने चाहे जो दोष का सेवन किया हो,.....यदि तेरी आत्मविशुद्धि की तीव्रतम भावना हो तो उसका मार्ग स्पष्ट रूप से विद्यमान है। जिनशासन में पापी व्यक्ति को पवित्र बनाने का अनुपम मार्ग, 'प्रायश्चित्त' को बताया गया है और उस प्रायश्चित्त का मार्ग, छेद सूत्र के द्वारा प्राप्त होता है।

शिष्य की समग्र साधना, गुरु के सान्निध्य में गुरु की आज्ञापूर्वक ही होती है, इसलिए शिष्य के दोष सेवन करने पर उसे प्रायश्चित्त देने का अधिकार सम्पूर्ण रूप से गुरु का ही होता है। किस दोष का कौनसा और कितना प्रायश्चित्त लेना, उस विषय में शिष्य का तर्क-वितर्क करना व्यर्थ है। केवल सरल भाव से याथातथ्य आलोचना करना ही शिष्य का कर्तव्य है। प्रायश्चित्त का सम्पूर्ण अधिकार एक मात्र आचार्य या गुरु का ही होता है। अतः एक दृष्टिकोण से प्रायश्चित्त प्रधान शास्त्रों के सम्पादन करने का कार्य हमारी मर्यादा के अन्तर्गत नहीं आता है; तथापि गुर्वाज्ञा से ही वह जिम्मेदारी का निर्वहन किया गया है। इस कार्य के लिए पूर्व प्रकाशित निर्युक्ति, टीका, विवेचन आदि का वांचन किया गया है।[89]

साधक दृढ़तम संकल्पपूर्वक आचारशुद्धि के लिए व्रत-नियमों को ग्रहण करता है, परन्तु जब तक पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो जाती, मोहनीय कर्म का क्षय नहीं हो जाता, तब तक पूर्वकृत कर्म के उदय और मन्द पुरुषार्थ के कारण साधक स्वीकृत व्रतों का पूर्णरूप से पालन नहीं कर पाता, अनेक बार स्खलित भी हो जाता है, जाने-अनजाने पापरूप दोषों का सेवन करता है और उसके व्रत खण्डित हो जाते हैं – इस परिस्थिति में पतित हुए साधक को पुनः ऊपर उठाना, खण्डित हुए व्रतों को पुनः अखण्ड बनाना, उसकी साधना को पूर्णता तक पहुँचाना, अत्यन्त जरूरी कार्य है। उनके प्रति अत्यन्त करुणा भाव से पूर्वाचार्यों ने छेद सूत्रों की रचना की है।.....

कितने ही आचार्यों के मतानुसार पाँच प्रकार के चारित्र में पहला सामायिक चारित्र है, परन्तु वह अल्पकालीन है। दूसरा छेदोपस्थापनीय चारित्र जीवनपर्यन्त रहता है, उसमें दोष लगने की सम्भावना अधिकतम है, इसलिए उस छेदोपस्थापनीय चारित्र की शुद्धि के लिए उपायों को प्रदर्शित करने वाला आगम छेद सूत्र है।.....किसी भी निमित्त से चारित्र में स्खलना हुई हो तो उसकी शुद्धि छेद सूत्रों के आधार पर ही होती है, अतः पूर्वगत सूत्रों के अलावा अन्य सूत्रों में अर्थ की दृष्टि से छेद सूत्र बलवान् एवं महत्त्वपूर्ण हैं।

जिस प्रकार शरीर के हाथ-पैर आदि किसी अंग में कोई स्थान सड़ गया हो, उस अंग की शुद्धि के लिए मलम आदि लगाने पर भी शुद्धि न होती हो और सड़न की धीरे-धीरे सारे शरीर में फैलने की शक्यता हो तो तब डॉक्टर उस दर्दी या बीमार को बचाने के लिए ऑपरेशन से शरीर के सड़े हुए भाग का छेदन कर देता है, वह दर्दी या बीमार भी शरीर के एक भाग का छेदन करना स्वीकार करके जीवन बचा लेता है। उसी प्रकार साधक की साधना में अतिचारों या पापरूप दोषों के सेवन से सड़न हो रही हो, आलोचना आदि के द्वारा उसकी शुद्धि नहीं हो पा रही हो; तब बढ़ते हुए उन दोषों के सेवन से समग्र साधना का नाश होने की सम्भावना हो तो आचार्य आदि, साधक के साधना मार्ग को सुरक्षित रखने के लिए दोष सेवन के दण्डस्वरूप उसे प्रायश्चित्त देकर उसकी शुद्धि करते हैं।[90]

छेद सूत्रों का वर्ण्य विषय

सामान्यतया छेद सूत्रों के विषय को चार विभागों में विभाजित कर सकते हैं – 1. उत्सर्ग मार्ग, 2. अपवाद मार्ग, 3. दोष-सेवन, 4. प्रायश्चित्त।

1. **उत्सर्ग मार्ग** – जिन नियमों का पालन करना प्रत्येक साधु-साध्वी को आवश्यक है, उसे उत्सर्ग मार्ग कहते हैं। जैसे – पाँच महाव्रतों का पालन करना, सर्व साधु-साध्वियों के लिए सामान्य नियम है।
2. **अपवाद मार्ग** – विशिष्ट परिस्थिति में सामान्य आचार विधि के पालन में जो छूट दी जाती है, उसे अपवाद मार्ग है।.....अपवाद मार्ग दो प्रकार का है – निर्दोष एवं सदोष।.....

   जैसे, साधुओं को गृहस्थ के यहाँ नहीं बैठना चाहिए – यह उत्सर्ग मार्ग है; परन्तु वृद्ध, ग्लान या तपस्वी साधु को भी अत्यन्त जरूरी हो तो वह थोड़ी देर तक बैठ सकता है – यह निर्दोष अपवाद है। निर्दोष अपवाद के सेवन का कोई प्रायश्चित्त नहीं होता है, परन्तु साधु विवेकपूर्वक अत्यन्त जरूरी हो, तभी उसका उपयोग करता है। तथा जो क्रिया अनिवार्य परिस्थिति में इच्छा न होने पर भी करनी पड़े और जिस क्रिया में हिंसादि दोषों का सेवन करना पड़ता है; वह सदोष अपवाद है। जैसे, साधु को जलमार्ग से गमन नहीं करना – यह उत्सर्ग मार्ग है, परन्तु अनिवार्य परिस्थिति में नदी करना पड़े तो वह महिने में दो बार कर सकता है – यह सदोष अपवाद है। सदोष अपवाद का सेवन करने के बाद तुरन्त प्रायश्चित्त को स्वीकार करके साधक अपनी शुद्धि करता है।
3. **दोष-सेवन** – उत्सर्ग या अपवाद मार्ग या संयम या समाचारी का उल्लंघन करना, व्रत भंग करना आदि दोष सेवन हैं
4. **प्रायश्चित्त** – दोष विशुद्धि के लिए की प्रक्रिया को प्रायश्चित्त कहते हैं। किस दोष की शुद्धि के लिए क्या और कितना प्रायश्चित्त देना; इसका वर्णन छेद सूत्र में है। प्रायश्चित्त के दश भेदों का विस्तृत वर्णन स्थानांग सूत्र के दश स्थानों में किया गया है।

तीन प्रकार के कल्प या नियम

संयमी जीवन के कल्प या नियम तीन प्रकार के होते हैं –

1. **विधि कल्प** – विधेयात्मक नियमों को विधि कल्प कहते हैं। इन्हें सूत्र में 'कप्पइ' शब्द से कहा जाता है। जैसे, साधु को चातुर्मास के अलावा शेष काल में ग्रामानुग्राम विहार करना चाहिए – यह नियम, विधि कल्प है।
2. **निषेध कल्प** – निषेधात्मक नियमों को निषेध कल्प कहते हैं। इन्हें सूत्र में 'णो कप्पइ' शब्द से कहा जाता है। जैसे, साधु को चातुर्मास में विहार करना, निषिद्ध है – यह नियम, निषेध कल्प है।
3. **विधि-निषेध कल्प** – विधि-निषेध दोनों के साथ बनाए गये नियम, इस श्रेणी में आते हैं।

शास्त्र में प्रदर्शित कितने ही विधि-निषेध साधु के लिए, कितने ही साध्वियों के लिए और कितने ही दोनों के लिए समान हैं। इस प्रकार छेद सूत्रों में उत्सर्ग, अपवाद, विधि-निषेध आदि विधानों के द्वारा साधु जीवन के लिए सैकड़ों सूचनाएँ होती हैं। इसलिए छेद सूत्रों को श्रमण, जीवन की आचार संहिता या दण्ड संहिता भी कह सकते हैं।.....

तीन छेद सूत्रों के नाम निम्न प्रकार हैं – 1. दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, 2. वृहत्कल्प सूत्र, और 3. व्यवहार सूत्र।.....

छेद सूत्रों का प्रमुख वर्ण्य विषय दो हैं – 1. साधक को दोष सेवन से बचाना और 2. प्रमादवश सेवन किये गये दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान करना।.....

दशाश्रुतस्कन्ध का दूसरा नाम 'आचारदशा' है। इस सूत्र में दश अध्ययन हैं – 1. असमाधिस्थान, 2. शबलदोष, 3. आशातनादोष, 4. आचार्य-गणिनी के आठ आचार-सम्बन्धी सम्पदाओं का वर्णन है, जो आचार्य पद प्राप्त करने की योग्यता धरने वाले श्रमणों को अत्यन्त उपयोगी है 5. चित्त-समाधि, 6. श्रावक प्रतिमा, 7. भिक्षु प्रतिमा, 8. पर्युषणा कल्प या साधु समाचारी, 9. मोहनीय कर्मबन्ध स्थान, 10. निदान।.....

बृहत्कल्प का प्राचीन नाम 'कप्पसुत्त' है। प्रस्तुत सूत्र में कल्प शब्द साधु जीवन की आचार मर्यादा अथवा धर्म मर्यादा आदि का सूचक है।[91]

आचार्यों, विद्वानों आदि से विचार-विमर्श करने हेतु प्रश्नावली

मुनिराजों के अतिचार आदि लगने या न लगने को तथा अन्य प्रायश्चित्त आदि से सम्बन्धित अनेक विषयों को आधार बना कर, हमने एक प्रश्नावली तैयार की थी, जिसके आधार पर मैं अपने पति डॉ. राकेश जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य के साथ अनेक मुनिराजों, आर्यिकाओं; जैसे, आचार्य विद्यासागरजी, आचार्य विद्यानन्दजी, मुनि समाधिसागरजी, आर्यिका दृढ़मती, आर्यिका ऋजुमति आदि तथा मनीषी विद्वानों से चर्चा करने भी गई, इन विद्वानों में बाल ब्र. पण्डित रवीन्द्रकुमारजी अमायन, बाल ब्र. केशरीचन्द 'धवल' छिन्दवाड़ा, बाल ब्र. यशपालजी जयपुर, बाल ब्र. हेमचन्दजी देवलाली, बाल ब्र. सुमतप्रकाशजी खनियाधाना, बाल ब्र. राकेशजी, सिद्धायतन, सागर, बाल ब्र. हेमन्तभाई गांधी सोनगढ़, बाल ब्र. अभिनन्दनकुमार जैन देवलाली, बाल ब्रह्मचारिणी ममता जैन टीकमगढ़, बाल ब्रह्मचारिणी आरती जैन छिन्दवाड़ा, बाल ब्रह्मचारिणी बासन्तीबेन देवलाली, समणी चन्दनाश्रीजी राजगृही, प्रो. सुदीपकुमार जैन दिल्ली, प्रो. वीरसागर जैन दिल्ली, पण्डित रतनलाल बैनाड़ा आगरा, प्रोफेसर फूलचन्द जैन 'प्रेमी' वाराणसी, पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री, पण्डित वीरेन्द्रकुमारजी आगरा, पण्डित देवेन्द्रकुमारजी मंगलायतन, संजयकुमार जैन शास्त्री जेवर, डॉ. अनेकान्त जैन दिल्ली, डॉ. योगेशकुमार जैन अलीगंज, श्री पवन जैन अलीगढ़ आदि प्रमुख हैं। इनमें से अधिकांश के साथ अतिशय सौहार्द्र के वातावरण में चर्चा हुई। अनेकों ने अपने अभिमत, अनुशंसा आदि भी दिये, कतिपय के साथ हुई चर्चा की प्रश्नावली का प्रारूप निम्न प्रकार है –

प्रश्न 1 – 'अतिचार एवं प्रायश्चित्त' – इस विषय पर मैंने शोधकार्य करने हेतु लाडनूं विश्वविद्यालय में डॉ. जिनेन्द्र जैन के मार्गदर्शन में पंजीयन (Registration) कराया है। कृपया इस विषय में कुछ मार्गदर्शन करें?

प्रश्न 2 – गृहस्थ के व्रतों में अतिचारों का वर्णन तो शास्त्रों में विशेषता से मिलता है, परन्तु मुनिराजों के महाव्रतों/मूलगुणों/उत्तरगुणों आदि में भी तो अतिचार लगते हैं, लेकिन उनका विस्तार से वर्णन नहीं मिलता है, इसका कारण क्या है?

प्रश्न 3 – तत्त्वार्थसूत्र में जो अतिचार बताये गये हैं, उनमें व्रत-सामान्य के अतिचारों का वर्णन है या केवल गृहस्थों के अतिचारों का ही वर्णन है या मुनिराजों के अतिचारों का भी वर्णन है?

प्रश्न 4 – तत्त्वार्थसूत्र में व्रतों के अतिचारों के साथ–साथ व्रतों की भावनाओं का भी वर्णन किया गया है; उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न है कि वे भावनाएँ सामान्य व्रतों की हैं या सिर्फ गृहस्थों को ही भाने योग्य हैं या मुनियों को भी भाने योग्य हैं। लेकिन उनमें अनेक भावनाएँ तो मुनि की भूमिका में भाने योग्य हैं और अनेक उनके द्वारा भाने योग्य नहीं भी हैं। उसका कारण क्या है?

प्रश्न 5 – अतिचार और अनाचार में क्या अन्तर है ? इसका निर्णय कैसे होता है कि यह अतिचार है या अनाचार ?

प्रश्न 6 – क्या अनाचार होने के बाद नये सिरे से व्रत लेना ही अनिवार्य होता है या उसका भी कोई प्रायश्चित्त हो सकता है? अथवा दोनों लेना होता है?

प्रश्न 7 – कहीं–कहीं शास्त्रों में प्रायश्चित्त-शास्त्रों को पढ़ने के लिए गृहस्थों को एवं सामान्य साधुओं को भी निषेध किया गया है; उसका क्या कारण है ? रत्नकरण्ड श्रावकाचार की पण्डित सदासुखदासजी की भाषा-टीका में पृष्ठ 265 में लिखा है कि 'प्रायश्चित्त-शास्त्र तो जो आचार्य होने योग्य होता है, उसी को पढाया जाता है, औरों के पढने योग्य नहीं है' तो उसका क्या कारण है?

प्रश्न 8 – यदि प्रायश्चित्त-शास्त्र को पढने का निषेध किया गया है तो अतिचारों एवं दोषों का भी वर्णन क्यों किया गया है, उसका भी निषेध करना चाहिए था?

प्रश्न 9 – गृहस्थों को प्रायश्चित्त देने का अधिकार गृहस्थाचार्यों को है अथवा उनको प्रायश्चित्त भी मुनिसंघों के आचार्य ही देते है। फिर यह भी निश्चित करना होगा कि गृहस्थाचार्यों को कौन मनोनीत करेगा अथवा किन गृहस्थों को किस मुनिसंघ के आचार्य प्रायश्चित्त देंगे?

प्रश्न 10 – प्रायश्चित्त-शास्त्र, लिपिबद्ध हैं अथवा मौखिक श्रुत-परम्परा से ही आाचार्यों के द्वारा नव आचार्य को दिये जाते हैं ? लेकिन क्या इस दुःखद पंचम काल में इतना याद रखना सम्भव है?

प्रश्न 11 – प्रायश्चित्त-शास्त्र में किस दोष का क्या प्रायश्चित्त होता है – इसका विस्तृत वर्णन है या सामान्य प्रायश्चित्तों का वर्णन है? जिसके आधार पर आचार्य अपने-अपने स्वविवेक से प्रायश्चित्तों का निर्णय लेते हैं?

प्रश्न 12 – भारतीय संविधान में या अन्यत्र व्यवस्था की दृष्टि से दोषों के हिसाब से प्रायश्चित्तों का निरूपण किया गया है। तदनुसार हमारे यहाँ की परम्परा क्या है ?

प्रश्न 13 – यदि आचार्य सर्वथा स्वविवेक से निर्णय लेते हैं तो इसमें तो अलग-अलग आचार्यों के द्वारा प्रदत्त निर्णय में अन्तर आएगा – क्या यह उचित है?

प्रश्न 14 – श्वेताम्बर ग्रन्थों में छेदसूत्र, विपाकसूत्र, निशीथचूर्णि, महानिशीथ, व्यवहारसूत्र आदि ग्रन्थों में प्रायश्चित्तों का वर्णन मिलता है – ऐसा सुना है। क्या आपने उन्हें देखा अथवा सुना है?

प्रश्न 15 – प्रायश्चित्त देनेवाले आचार्य की क्या विशेषताएँ होना चाहिए?

प्रश्न 16 – प्रायश्चित्त देने में भावों की प्रधानता होती है या क्रियात्मक अतिचार की प्रधानता होती है एवं तदनुसार प्रायश्चित्त दिये जाते हैं?

प्रश्न 17 – 'प्रायश्चित्त' शब्द प्रायः और चित्त, दोनों के मेल से बना है। यहाँ प्रायः शब्द के अनेक अर्थ ज्ञात होते हैं – लोक, साधर्मी, साधु आदि। अथवा अपराध को भी प्रायः कहा जाता है। अथवा प्रायः का अर्थ तप भी होता है। इन सबकी सन्धि कैसे मिलाई जाए ?

'प्रायश्चित्त' के सम्बन्ध में आचार्य श्री विद्यासागरजी के साथ वार्तालाप

इस विषय पर चर्चा करने हेतु मैं अपने पति डॉ. राकेश जैन के साथ वर्तमान के सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी मुनिमहाराज के पास रामटेक प्रवास के दौरान दिनांक 30 दिसम्बर 2008 के दिन गई थी। जब उन्हें बताया कि मैंने 'अतिचार एवं प्रायश्चित्त' – इस विषय पर पीएच.डी. करने हेतु लाडनूं विश्वविद्यालय के जैनदर्शन विभाग से नामांकन कराया है तो वे कुछ देर विचारमग्न रहने के उपरान्त बोले –

अतिचार तो ठीक है, परन्तु प्रायश्चित्त पर कार्य कैसे किया जा सकता है? क्योंकि शास्त्रों में प्रायश्चित्त-शास्त्र पढ़ने का अधिकार सबको दिया ही नहीं गया है? जब आप उसे पढ़ ही नहीं सकते तो उस पर शोधकार्य कैसे कर सकते हैं?

उन्हें यह भी अवगत कराया गया कि महाराज! शोधकार्य तो किसी भी विषय पर किया जा सकता है तथा प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में जो भी सामग्री आगम में उपलब्ध है, उसके आधार पर ही शोधकार्य किया जाएगा, लेकिन तत्पश्चात् आचार्यश्री को अपने आवश्यकादि कार्य करने थे; अतः अधिक चर्चा के लिए समय ही नहीं मिला।

इस सम्बन्ध में मेरा भी यह मानना है कि इस विषय पर शास्त्रों में बहुत कम लिखा मिलता है। कहीं-कहीं इसे सामान्यजनों को पढ़ने के लिए मना भी किया गया है। या केवल उन्हीं शिष्यों को बोधगम्य माना गया है, जो आचार्यपद के योग्य हों।

यद्यपि अभी तक यह भी ज्ञात नहीं हो सका है कि आचार्यगण यह बोध, अपने स्व-विवेक के आधार पर देते हैं अथवा उन्हें उनके गुरु से मौखिकरूप से यह प्राप्त होता है अथवा इसकी उनके पास कोई लिखित सामग्री भी होती है; तथापि मुझे तो यही प्रतिभासित होता है कि यह बोध गुरु-परम्परा से दिया जाता रहा है, फिर भी अपने स्मरणार्थ आचार्यादि अपने पास कुछ याद्दाश्त के लिए पत्रों पर लिख भी लेते हों, परन्तु उसमें भी परेशानी वाली बात यही प्रतीत होती है कि तिल-तुष मात्र भी परिग्रह अपने पास नहीं रखने वाले एवं मात्र पीछी-कमण्डलु अपने पास रखने वाले वे नग्न दिगम्बर आचार्य, उस लिखित सामग्री को सम्भाल कर, कैसे रखते होंगे ? यदि वे अन्य गृहस्थों आदि को सम्भाल कर, रखने दे देते होंगे तो भी उनकी गुप्तता कैसे सुरक्षित रहती होगी ? – यह विचारणीय प्रश्न है।

इस विषय पर शोधकार्य की आवश्यकता फिर भी बनी रहती है कि वे कौनसे कारण हैं? जिन कारणों से प्रायश्चित्त-शास्त्रों को जनसामान्य को तथा संघस्थ अन्य साधुओ को इनका ज्ञान नहीं कराया जाता। यह भी सम्भव है कि कुछ विशेष बिन्दुओं से जनसामान्य को अवगत कराना उचित न हो, परन्तु सर्वथा ही प्रायश्चित्त-शास्त्रों का ज्ञान कराना उचित न हो – ऐसा प्रतीत नहीं होता क्योंकि न सही अधिक वर्णन, परन्तु थोड़ा-बहुत वर्णन तो सर्वत्र ही इनका प्राप्त होता है।

तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओं में विस्तार के साथ नौ प्रकार के प्रायश्चित्त का निरूपण किया ही गया है।

आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः।[92]

अर्थात् प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं – आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, और उपस्थापना।

'प्रायश्चित्त' के सम्बन्ध में विद्वान् श्री शैलेषजी के साथ सिद्धक्षेत्र सोनागिर में वार्तालाप

उक्त प्रश्नों के आधार पर आदरणीय विद्वान् श्री शैलेषजी, जो इस विषय के अधिकारी विद्वान् हैं, जिनका आगमाभ्यास बहुत अच्छा है, जो सम्पूर्ण निवृत्ति लेकर सिद्धक्षेत्र सोनागिर में ही रहते हैं; उनसे उनके स्थायी निवास में अनेक दौर की चर्चाओं में सुदीर्घ विचारणा हुई, उन्होंने अत्यन्त मधुरता के साथ प्रत्येक विषय पर बातचीत की। मेरे पति डॉ. राकेश जैन शास्त्री ने भी इसमें सक्रियता से भाग लिया। उनके साथ हुई चर्चा के आधार पर यह प्रश्नोत्तरी प्रस्तुत है –

प्रश्न 1 – प्रायश्चित्त की आवश्यक्ता क्या है? मुनिराज के माँगने पर उनके अनुकूल प्रायश्चित्त देने का क्रम क्या है?

उत्तर – सुखिया स्वभाव को मेटने के लिए तप का निर्धारण आचार्य स्वयं करते हैं। आचार्य की मर्जी से ही प्रायश्चित्त दिया जाता है। जैसे, कोई शिष्य, तप हेतु दो उपवास माँगता है तो उसे आचार्य, उसके परिणामों की योग्यता के अनुसार दो, एक या अधिक प्रायश्चित्त देते हैं क्योंकि सुविधा की दृष्टि से प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता, बल्कि परिणामों की योग्यता एवं आवश्यक्ता के अनुसार प्रायश्चित्त दिया जाता है।

प्रश्न 2 – गृहस्थ के व्रतों के अन्तर्गत अतिचारों का वर्णन तो शास्त्रों में विशेषता से मिलता है परन्तु क्या मुनिराजों के महाव्रतों/मूलगुणों/उत्तरगुणों आदि में भी अतिचार लगते हैं। यदि हाँ, तो उनका विस्तार से वर्णन नहीं मिलता है, इसका कारण क्या है?

उत्तर – यदि मुनिराजों के अतिचार न लगते हों तो प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण, आलोचना आदि कर्तव्यों की क्या आवश्यक्ता है। मुनिराजों के अतिचारों का वर्णन भी मूलाचार, अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थों में विशेषता के साथ किया गया है। हाँ, प्रायश्चित्तों का वर्णन जरूर कुछ कम मिलता है, परन्तु उनका वर्णन करने वाले शास्त्र भी हैं। जैसे, सिद्धान्तसारसंग्रह, भगवती आराधना, अनगार धर्मामृत, मरण कण्डिका आदि। विशेष वर्णन प्रायश्चित्त संग्रह, प्रायश्चित्त विधान आदि में किया गया है, परन्तु जनसामान्य के लिए इनका प्रकाशन नहीं किया जाता है। सूरत से मूलचन्द कापड़िया प्रकाशन से इसका प्रकाशन किया गया था, परन्तु वह भी सिर्फ मुनिसंघों के आचार्यों को ही भिजवाया गया था। अतिचारों का वर्णन भी उनसे छूटने की भावना से ही किया गया है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओं में अतिचारों के वर्णन के साथ व्रतों की भावनाओं का भी विस्तार से वर्णन मिलता है।

प्रश्न 3 – तत्त्वार्थसूत्र में जो अतिचार बताये गये हैं, उनमें व्रत-सामान्य के अतिचारों का वर्णन है या केवल गृहस्थों के अतिचारों का ही वर्णन है या केवल मुनिराजों के अतिचारों का वर्णन है या गृहस्थ और मुनिराज, दोनों के अतिचारों का वर्णन है?

उत्तर – तत्त्वार्थसूत्र में अतिचारों के प्रकरण में श्रावकों की मुख्यता से ही वर्णन किया गया है क्योंकि आचार्यदेव ने इस सिद्धान्त ग्रन्थ को सर्वजनोपयोगी बनाया है, अतः श्रावकों के अतिचार तो बताये हैं, परन्तु मुनियों के अतिचार बताना जनसामान्य के लिए उपयोगी नहीं था; अतः उनके अतिचारों का वर्णन यहाँ तत्त्वार्थसूत्र में नहीं किया गया है, लेकिन उनका भी वर्णन अन्यत्र मुनियों के आचार के निरूपक ग्रन्थों में किया गया है।

प्रश्न 4 – तत्त्वार्थसूत्र में व्रतों के अतिचारों के साथ-साथ व्रतों की भावनाओं का भी वर्णन किया गया है; उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न है कि वे भावनाएँ सामान्य व्रतों की हैं या सिर्फ गृहस्थों को ही भाने योग्य हैं या मुनियों को भी भाने योग्य हैं।

उत्तर – श्रावकों के योग्य व्रतों की भावनाएँ, श्रावकों को भाने योग्य हैं और मुनियों के महाव्रतों के योग्य भावनाएँ, मुनियों को भाने योग्य हैं। कौनसी भावना, मुनि और श्रावक, दोनों को भाने योग्य हैं – इसका निर्णय एक-एक भावना का विचार करके किया जा सकता है। वह सब विस्तार का विषय है।

प्रश्न 5 – अतिचार और अनाचार में क्या अन्तर है ? इसका निर्णय कैसे होता है कि यह अतिचार है या अनाचार?

उत्तर – व्रतों का ग्रहण नौ कोटि से किया जाता है। मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना – इनके परस्पर मेल से नौ कोटियाँ बन जाती हैं। वहाँ यदि अकेले मन से भंग हुआ या अकेले वचन से भंग हुआ या अकेले काय से भंग हुआ या अकेले कृत से भंग हुआ या अकेले कारित से भंग हुआ या अकेले अनुमोदना से भंग हुआ तो वह अतिचार कहलाता है।

इतना ही नहीं, यदि नौ कोटियों में से आठ कोटियों तक भी भंग हो जाए तो भी वह अतिचार ही कहलाता है तथा सम्पूर्ण नौ कोटियों से भंग होने पर अनाचार कहलाता है। अन्य प्रकार से समझें तो जैसे, किसी व्यक्ति ने जीवनपर्यन्त का नियम लिया और यदि कदाचित् किसी कारण से थोड़े समय के लिए या एक बार व्रत का भंग हो जाता है तो उसे अनाचार नहीं कहते, अतिचार ही कहते हैं और वह प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्ध भी हो सकता है।

यही कारण है कि अनेक व्रतों में पाए जाने वाले दोष या अतिचार, कदाचित् हमें व्रतभंग या अनाचार जैसे प्रतीत होते हैं परन्तु आचार्यों ने अतिचार की ही श्रेणी में रखा है। लेकिन यह अतिचार है या अनाचार, इसका निर्णय करने का अधिकार आचार्य महाराज को ही होता है और उसे कैसे प्रायश्चित्त से शुद्ध किया जाए – यह निर्णय भी आचार्य महाराज, आगम के आलोक में शुद्ध रीति से करते हैं।

प्रायश्चित्त देते समय इस बात का भी निर्णय किया जाता है कि इस अपराध के होने में कहीं अभिप्राय-सम्बन्धी भूल तो नहीं है क्योंकि अभिप्राय-सम्बन्धी भूल का अपराध बड़ा माना जाता है। इसी प्रकार यह भी विचारणीय होता है कि यह अपराध बुद्धिपूर्वक हुआ है या अबुद्धिपूर्वक, अविरतिजनित है या प्रमादजनित, जान-बूझ कर किया गया है या अनजाने, पहले भी यह अपराध हो चुका है या पहली बार ही यह अपराध हुआ है, इत्यादि बातों का विचार करके ही आचार्य, अपराध की तीव्रता-मन्दता का निर्णय करते हैं।

सकारात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो जीव के उत्थान हेतु यह उत्तम मार्ग है। सम्यक्त्व के आठ अंगों में स्थितिकरण अंग का यही मन्तव्य है। इसके माध्यम से हम शिथिलाचार का समर्थन नहीं कर रहे हैं, बल्कि मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने हेतु प्रेरित अवश्य करना चाहते हैं। कोई भी जीव जिस किसी भी स्थिति में हो, वह अपना हित कर सके – ऐसा ही मार्ग सुनिश्चित करना आवश्यक है।

वास्तव में प्रायश्चित्त-विधि, गिरते हुए जीवों को ऊपर उठाने में उत्कृष्ट निमित्तभूत साधन है। जब किसी जीव से कोई अपराध हो जाता है तो वह अपराध-बोध से ग्रसित हो जाता है – ऐसी अवस्था में उसकी कषाय मन्द पड़ती है और उसकी भावभूमि पवित्रता की ओर उन्मुख होती है, तब यदि उसे सम्यक् मार्ग पर लाना चाहें तो वह सरलता से उस मार्ग पर आ जाता है। इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि यह बुराई में से भी अच्छाई निकालने वाला मार्ग है।

प्रश्न 6 – क्या अनाचार होने के बाद नये सिरे से व्रत लेना ही अनिवार्य होता है या उसका भी कोई प्रायश्चित्त हो सकता है? अथवा दोनों लेना होता है?

उत्तर – दोषों को देख कर ही उसके प्रायश्चित्त का निर्णय हो सकता है। सर्वत्र दीक्षा-छेद ही उपाय नहीं है। जहाँ जैसा योग्य होता है, वहाँ वैसा प्रायश्चित्त देना योग्य है। एक बार कोई दोष होने पर सामान्य प्रायश्चित्त दिया जाता है और बार-बार दोष होने पर ही बड़ा प्रायश्चित्त दिया जाता है। यदि पहली बार ही बड़ा प्रायश्चित्त दे दिया जाए तो उससे प्रायश्चित्त की गरिमा कम होती है और उसकी आवश्यक्ता भी नहीं होती।

प्रश्न 7 – कहीं-कहीं शास्त्रों में प्रायश्चित्त-शास्त्रों को पढ़ने के लिए गृहस्थों को मना किया गया है; इतना ही नहीं, बल्कि सामान्य साधुओं को भी निषेध किया गया है; उसका क्या कारण है? रत्नकरण्ड श्रावकाचार की पण्डित सदासुखदासजी की भाषा-टीका में भी पृष्ठ 265 में लिखा है कि 'प्रायश्चित्त-शास्त्र तो जो आचार्य होने योग्य होता है, उसी को पढाया जाता है, औरों के पढने योग्य नहीं है' तो उसका क्या कारण है?

उत्तर – इस सम्बन्ध में हमें एकान्त नहीं करना चाहिए। आगम में अनेक बातों के लिए श्रावकों को निषेध किया गया है। क्या हम उन सभी का ख्याल रख रहे हैं? आगम में उन सभी बातों का जिस सन्दर्भ में निषेध किया है, उसका भी हमें विवेक रखना चाहिए। सर्वथा एकान्त करने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। जैसे – आगम में तो देशसंयमी श्रावकों को प्रतिमायोग धारण करना, वीरचर्या अर्थात् कठोरचर्या तथा सिद्धान्त-ग्रन्थों को पढने का भी निषेध किया गया है क्योंकि उनका स्वाध्याय करते समय उतनी विशुद्धि नहीं हो पाती; इसी कारण उनको उक्त चर्या या क्रिया का निषेध किया गया है। हमें सामान्य गृहस्थों और विवेकी गृहस्थों में विवेक करना होगा।

प्रश्न 8 – मोक्षमार्ग प्रकाशक में आता है कि मुनिराजों को अशुभोपयोग का तो अस्तित्व ही नहीं है? तो उनको जो अतिचार लगते हैं, वे क्या शुभोपयोग की श्रेणी में आते हैं?

उत्तर – मोक्षमार्ग प्रकाशक में मुनिराजों को महाव्रत होने से उनके एकदेश पाप का भी त्याग होता है, इस कारण ऐसा कथन किया गया है, परन्तु इससे अतिचार, शुभोपयोग की श्रेणी में नहीं आते। इसके लिए हमें ऐसा विचार करना चाहिए कि यद्यपि भावलिंगी मुनिराजों को किसी भी अवस्था में मिथ्यात्व और अविरत-सम्बन्धी पाप का अस्तित्व नहीं होता है, लेकिन उन्हें भी प्रमाद-सम्बन्धी पाप तो अवश्य लगता है, उसी प्रमाद की भूमिका में उनसे अतिचार हो जाते हैं, उनसे पापप्रकृतियों का ही आस्रव होता है। यदि हम उसे भी पुण्य ही मानेंगे तो हमें अतिचारों से भी पुण्यप्रकृतियों का आस्रव मानना होगा, परन्तु ऐसा नहीं है।

मिथ्यात्व और अविरति को सर्वथा पाप ही माना गया है। लेकिन प्रमाद, कषाय और योग को अपेक्षाओं से अभिप्रायानुसार पुण्य-पापरूप मानना चाहिए।

थोड़ा-सा आगमानुसार विवेचन समझ लें। कषायों में शुरु की तीन कषायें, अविरति की उत्पादक मानी गयी हैं। पहली अनन्तानुबन्धी कषाय, प्रथम एवं द्वितीय गुणस्थान में सम्यक्त्व को नहीं होने देनेरूप अविरति परिणाम की उत्पादक है; दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक देशसंयम को उत्पन्न नहीं होने देनेरूप अविरति की उत्पादक है; जबकि तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रथम से पंचम गुणस्थान तक पूर्णसंयम को उत्पन्न नहीं होने देनेरूप अविरति की उत्पादक है। छठवें गुणस्थान में संज्वलन का तीव्र उदय होता है, वही प्रमाद को उत्पन्न करता है।

ध्यान रहे – कषाय के तीव्र और मन्द, दो भेद किये जाते हैं; उनमें तीव्र कषाय को पाप भाव और मन्द कषाय को पुण्य भाव की संज्ञा दी जाती है। छठवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय का तीव्र उदय माना गया है, वही प्रमाद का उत्पादक माना गया है तथा मन्द कषायरूप संज्वलन का उदय तो सातवें से दशवें गुणस्थान तक माना गया है, वहाँ अविरति और प्रमाद का सर्वथा अभाव ही माना गया है और वहाँ क्रमशः एकमात्र कषाय के मन्द-मन्दतर-मन्दतम उदय का सद्भाव ही माना है।

प्रश्न 9 – अध्यात्म ग्रन्थों में तो शुभ-अशुभ भाव, दोनों को प्रमाद कहा गया है? फिर आप ऐसा क्यों नहीं मानते?

उत्तर – यद्यपि अध्यात्म ग्रन्थों में शुभ भाव के समय भी स्वरूप से च्युति हो जाने की अपेक्षा उसे भी प्रमाद कहा गया है, लेकिन गोम्मटसार आदि ग्रन्थों की शैली के अनुसार प्रमाद के पन्द्रह भेदों में चार कषाय,

चार विकथा, पाँच इन्द्रिय-विषय, निद्रा और स्नेह को लिया गया है, उसके अनुसार शुभ भावों का इसमें समावेश नहीं है। इसके अनुसार जो यथायोग्य अणुव्रत-महाव्रत, मूलगुण-उत्तरगुण आदि को यथार्थ विधि से न होने दे, उनमें दोष लगावे, उसे प्रमाद कहा गया है।

हम ऐसा कह सकते हैं कि मुनिराजों को शुद्धभाव और शुभभाव, दो भावों में ही रहना उचित है, परन्तु जो क्रिया या अवस्था, उन्हें इन दो भावों से च्युत कर देवे, उसे प्रमाद कहते हैं। इसमें अध्यात्म की अपेक्षा भी आ जाती है कि मुनिराजों को तो शुद्धोपयोग ही इष्ट है, लेकिन यह शुभ भाव आने पर भी उनके शुद्ध भावों का घात हो जाता है, अतः अध्यात्म में शुभ भाव को भी प्रमाद कहा है।

इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि मुनिराजों को अपनी अवस्था के योग्य 28 मूलगुण आदि के परिणाम होने चाहिए, लेकिन जिन क्रियाओं और परिणामों के बल पर उनके इन 28 मूलगुण आदि परिणामों में भी दोष लग जाते हैं, उन परिणामों और क्रियाओं को प्रमाद की श्रेणी में लिया गया है और वह प्रमाद, अशुभ भावस्वरूप होता है, यही कारण है कि उन्हें इन कार्यों का प्रायश्चित्त भी दिया जाता है।

प्रश्न 10 – गृहस्थों को प्रायश्चित्त देने का अधिकार गृहस्थाचार्यों को है अथवा उनको प्रायश्चित्त भी मुनिसंघों के आचार्य ही देते है। फिर यह भी निश्चित करना होगा कि गृहस्थाचार्यों को कौन मनोनीत करेगा अथवा किन गृहस्थों को किस मुनिसंघ के आचार्य प्रायश्चित्त देंगे?

उत्तर – गृहस्थों को प्रायश्चित्त देने का अधिकार गृहस्थाचार्यों को होता है, परन्तु उनका चयन भी मान्य आचार्य के द्वारा ही किया जाता है। आचार्य भी ऐसे व्यक्ति का ही चयन करते हैं, जो सभी को मान्य हो। तथा उत्कृष्ट देशसंयमी को ही यह पद दिया जाता है क्योंकि असंयम के सद्भाव में कषायों का उद्वेग आने में देर नहीं लगती। वहाँ स्थूल दोषों का निराकरण करने का अधिकार तो उन्हें होता है, लेकिन विशेष दोष होने पर उसके निराकरण हेतु योग्य आचार्य परमेष्ठी से मार्गदर्शन लेकर ही निर्णय किया जाता है।

प्रश्न 11 – प्रायश्चित्त-शास्त्र लिपिबद्ध हैं अथवा मौखिक श्रुत-परम्परा से ही आाचार्यों के द्वारा नव आचार्य को दिये जाते हैं ? लेकिन क्या इस दुःखद पंचम काल में इतना याद रखना सम्भव है?

उत्तर – प्रायश्चित्त-शास्त्र, पूर्वाचार्यों के द्वारा लिखे हुए भी हैं, उनका सम्भाल भी गृहस्थ ही करते हैं परन्तु वे उन्हें पढते नहीं हैं। जैसे, धवलादि ग्रन्थों की सम्भाल गृहस्थों द्वारा ही की गई। वास्तव में सामान्यतया गृहस्थों में इन ग्रन्थों को पढ़ने की क्षमता और पात्रता होती ही नहीं है, इस कारण ऐसा कहा जाता है कि गृहस्थों को नहीं पढ़ना चाहिए।

प्रश्न 12 – प्रायश्चित्त-शास्त्र में किस दोष का क्या प्रायश्चित्त होता है – इसका विस्तृत वर्णन है या सामान्य प्रायश्चित्तों का वर्णन है ? जिसके आधार पर आचार्य अपने-अपने स्वविवेक से प्रायश्चित्तों का निर्णय लेते हैं?

उत्तर – विशेष परिस्थिति होने पर स्वविवेक से निर्णय लिया जाता है परन्तु प्रायश्चित्त-ग्रन्थों में दोष एवं प्रायश्चित्त का एक साथ वर्णन किया गया है, तदनुसार ही निर्णय लिया जाता है। प्रायश्चित्त संग्रह नामक ग्रन्थ, सूरत से प्रकाशित है, परन्तु वह वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। सबको उसे पढने का अधिकार भी नहीं है। प्रायश्चित्त ग्रन्थ मात्र आचार्यों को ही उपलब्ध कराये जाते हैं। वर्तमान में अनेक आचार्यों को भी इस शास्त्र का ज्ञान नहीं है।

प्रश्न 13 – भारतीय संविधान में या अन्यत्र व्यवस्था की दृष्टि से दोषों के हिसाब से प्रायश्चित्तों का निरूपण किया गया है। तदनुसार हमारे यहाँ की परम्परा क्या है?

उत्तर – भारतीय संविधान और अन्य संविधानों में भी कुछ उदाहरणों के द्वारा ही प्रायश्चित्तों का वर्णन किया जाता है। उसके बाद न्यायाधीश को ही अधिकृत किया जाता है कि वे परिस्थिति के अनुसार योग्य निर्णय करें। इसी प्रकार जिनागम में भी कुछ उदाहरण देकर प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है, बाद में उनका निर्णय करने का सम्पूर्ण अधिकार आचार्यों को ही दे दिया गया है कि वे अपने स्वविवेक से निर्णय करके प्रायश्चित्त देवें।

प्रश्न 14 – यदि आचार्य सर्वथा स्वविवेक से निर्णय लेते हैं तो इसमें तो अलग-अलग आचार्यों के द्वारा प्रदत्त निर्णय में अन्तर आएगा – क्या यह उचित है?

उत्तर – इसमें कोई दोष नहीं है। अन्तर आने पर भी अभिप्राय तो सभी आचार्य भगवन्तों का, शिष्य का दोष दूर करना ही है। प्रायश्चित्त का यत्किंचित् अन्तर कोई मायने नहीं रखता।

प्रश्न 15 – श्वेताम्बर ग्रन्थों में छेदसूत्र, विपाकसूत्र, निशीथचूर्णि, महानिशीथ, व्यवहारसूत्र आदि ग्रन्थों में प्रायश्चित्तों का वर्णन मिलता है – ऐसा सुना है। क्या आपने उन्हें देखा अथवा सुना है?

उत्तर – नहीं, हमने उन ग्रन्थों को नहीं देखा है। हमें भी इतना ही पता है कि उनके यहाँ भी प्रायश्चित्तों का वर्णन मिलता है, लेकिन कभी देखने में नहीं आया।

प्रश्न 16 – प्रायश्चित्त देने में भावों की प्रधानता होती है या क्रियात्मक अतिचार की प्रधानता होती है एवं तदनुसार प्रायश्चित्त दिये जाते हैं?

उत्तर – जिनागम में सर्वत्र क्रिया की तुलना में भावों और अभिप्राय को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। दोषों में और प्रायश्चित्तों में भी – दोनों जगह अभिप्राय और भावों की ही प्रधानता है।

प्रश्न 17 – 'प्रायश्चित्त' शब्द 'प्रायः और चित्त', दोनों के मेल से बना है। यहाँ प्रायः शब्द के अनेक अर्थ ज्ञात होते हैं – लोक, साधर्मी, साधु आदि। अथवा अपराध को भी प्रायः कहा जाता है। अथवा प्रायः का अर्थ तप भी होता है। इसी प्रकार प्रायश्चित्त को भी तप कहा गया है? – इन सबकी सन्धि कैसे मिलाई जाए?

उत्तर – मुनिराज, प्रायश्चित्त के द्वारा विशेष विशुद्धि को प्राप्त होते हैं; इसलिए उसे तप संज्ञा दी गई है। प्रायश्चित्त करने वाला साधु, कषायों को गलाने की रुचि रखता है, उसका चित्त उसमें रमता है, वह प्रायश्चित्त लेने को लालायित रहता है; इस कारण उसे विशुद्धि भी अधिक होती है। इस प्रकार प्रायश्चित्त की तप संज्ञा सार्थक है।

प्रश्न 18 – वर्तमान में प्रायश्चित्त देने-लेने में किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है? और क्यों?

उत्तर – पहले ऋजुबुद्धि वाले शिष्य होते थे, अतः वे प्रायश्चित्त-विधि से शुद्ध हो जाते थे परन्तु वर्तमान में शिष्य वक्रबुद्धिवाले होते हैं, अतः उनके दोष बताने पर उनके संघ को छोड़ने का खतरा होता है। इस प्रकार आजकल बड़ी विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ता है और संघ का संचालन करना कठिन हो रहा है।

उक्त सभी विद्वानों ने मुझे अच्छी तरह मार्गदर्शन दिया एवं मेरी अनेक गुत्थियों को सुलझाने में अहम् भूमिका निभाई। मैंने इनमें से अधिकांश विद्वानों के सामने अपनी प्रश्नावली के आधार पर प्रश्न भी पूछे। सभी ने अपने अपने अनुभव एवं शास्त्राभ्यास के आधार पर प्रश्नों के उत्तर भी दिये। ऐसे ही एक विद्वान् बाल ब्र. राकेशजी, सिद्धायतन, सागर भी हैं, उन्होंने मुझे बहुत समय दिया और अनेक महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर खुल कर चर्चा की। उस समय मैं, मेरे पति और ब्र. राकेशजी – हम तीनों ही उपस्थित थे। उनसे हमने अनेक प्रश्न पूछे; जैसे, प्रायश्चित्त शास्त्र को पढ़ने का निषेध क्यों किया जाता है? उनके साथ हुइ चर्चा के प्रमुख बिन्दु निम्न प्रकार है –

ब्र. राकेशजी, सिद्धायतन, सागर के साथ हुई चर्चा के आधारभूत बिन्दु

- नये नये अपराधों की नई नई श्रेणियाँ बन जाती हैं जबकि अधिकांश प्रायश्चित्त की श्रेणियाँ सीमित हैं; अतः इस अपराध का यह प्रायश्चित्त है, यह पहले से सर्वथा निश्चित नहीं किया जा सकता।
- अपराध छोटा है बड़ा – इसका निर्णय गुरु करते हैं।
- इस अपराध का यह प्रायश्चित्त होगा – इसका निर्णय गुरु ही कर सकते हैं; अतः अतिचार और प्रायश्चित्त, दोनों का साथ नहीं रखा जा सकता। उदाहरणार्थ – पित्त-प्रकृति वाले रोगी को अधिकांश दवाएँ घी-मिश्रित चाहिए, जबकि कब्ज-प्रकृति वालों के लिए घी निषिद्ध माना जाता है; इसी कारण अतिचार और प्रायश्चित्त के निरूपक अधिकांश ग्रन्थ अलग-अलग हैं।
- अतिचार-निरूपण का अतिचार यह है कि हम अतिचारों को गुरु के सम्मुख निवेदन करते समय ही दोष लगाते हैं। जैसे, सामूहिक पाठ आदि के समय ही शोरगुल में हम अपने दोषों का निवेदन, गुरु से करके अपने को दोषमुक्त कर लेते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि प्रमादयुक्त आचरण भी दूषित ही माना जाएगा।
- प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ने के लिए सामान्य जगत् को इसलिए मना किया जाता है कि कहीं वे प्रायश्चित्त को सरल मान कर, अपराध करने में उद्यत न हो जाएँ क्योंकि प्रायश्चित्त का ज्ञान हो जाने पर दोष

करने का खतरा बढ़ जाता है। प्रायश्चित्त का ज्ञान नहीं होने पर मनोवैज्ञानिकरूप से प्रायश्चित्त का भय भी काम करता है और वह व्रती या महाव्रती अतिचार नहीं लगाता है।

- कभी कभी कोई तीव्रकषायी दोष करते हुए यह निर्णय कर लेता है कि कोई बात नहीं, मैं इसका प्रायश्चित्त ले लूँगा।
- वास्तव में अपराधी तो सारा जगत् है, उसे प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ने की जरूरत ही कहाँ है, प्रायश्चित्त या सजा का निर्धारण तो वकीलों की परस्पर चर्चा के आधार पर न्यायाधीश ही करेंगे, अतः उन्हें ही इसका अध्ययन करना चाहिए। यहाँ धर्म के क्षेत्र में वकील तो कोई होता नहीं है, अतः अपराधी साधु की आलोचना सुन कर आचार्य ही उसके अपराध का योग्य निर्धारण करके प्रायश्चित्त का निश्चय करते हैं।
- यदि व्यक्ति, स्वयं ही प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ ले तो वह अपराध होने पर न्यायाधीश के पास जाएगा ही क्यों? वह स्वयं ही शास्त्र के आधार पर अपनी सरल-सी अथवा यद्वा-तद्वा सजा निश्चित कर लेगा, परन्तु यह उचित नहीं माना जा सकता, इससे कानून की सारी प्रक्रिया ही समाप्त हो जाएगी, उसके अपराध की गहराई जानने का अवसर ही समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार यहाँ आचार्यदेवरूपी न्यायाधीश की आवश्यक्ता सार्थक है। यही कारण है कि सामान्यजनों और संघस्थ शिष्यों को भी प्रायश्चित्त शास्त्रों को पढ़ने का निषेध किया गया है।
- आचार्य के सम्मुख प्रायश्चित्त लेने से प्रायश्चित्त के अलावा आचार्य का भय भी काम करता है, जिससे वह भविष्य में अतिचार या दोष लगाने के प्रति सचेत रहता है।
- प्रायश्चित्त की विधि का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग आलोचना है, वह आचार्य के सम्मुख ही की जा सकती है, शास्त्र या देव के सम्मुख नहीं।
- आचार्य के पास प्रायश्चित्त देने का अधिकार इसलिए होता है क्योंकि आचार्य उस व्रत में अत्यन्त निपुण होते हैं, सामान्यतया उनसे दोष नहीं होते।
- अपराधों के प्रायश्चित्त को दो प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है – गृहस्थों के प्रायश्चित्त और साधुओं के प्रायश्चित्त। वहाँ गृहस्थों को प्रायश्चित्त देने के लिए गृहस्थाचार्य होते हैं तथा साधुओं को प्रायश्चित्त देने के लिए साधुसंघों में आचार्य होते हैं। उक्त दोनों को प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ने का अधिकार होता है। उसके बिना वे प्रायश्चित्त कैसे देंगे ?
- कभी-कभी संघ के साधुओं की संख्या अधिक होने पर आचार्य, योग्यतानुसार कार्यों का बंटवारा भी कर लेते हैं; उसके लिए अनेक प्रकार से नियुक्तियाँ करते हैं; जैसे, प्रवर्तकाचार्य, संघ के प्रवर्तन की व्यवस्था देखते हैं। समय समय पर आचार्य भी उनसे विचार-विमर्श करते रहते हैं। इसी प्रकार संघों में शिक्षण कार्य हेतु अनेक उपाध्यायों की नियुक्तियाँ भी की जाती है। आजकल संघों में ऐसी व्यवस्था दिखाई नहीं देती, लेकिन योग्यतानुसार ऐसे कार्य अनेक मुनियों से लिया अवश्य जाता है।
- आगम में सभी बातों का खुलासा नहीं होता है, वहाँ तो आदर्शस्वरूप का वर्णन किया जाता है; लेकिन जीवन के क्षेत्र में अनेक विचित्र परिस्थितियाँ देखी जाती हैं – ऐसे समय योग्य आचार्य ही उसके सम्बन्ध में दिशा-निर्देश कर सकते हैं।
- विषय का चुनाव करते समय सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। लेकिन यदि विषय का चुनाव कर ही लिया है तो उसका निर्वाह बराबर करना चाहिए।
- यद्यपि प्रायश्चित्त शास्त्र को पढ़ने का निषेध तो किया गया है, लेकिन समय पड़ने पर या उस पर कोई शोधकार्य करते समय तो उसे पढ़ना अयोग्य नहीं माना जा सकता। हाँ, उसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। जैसे, बाग-बगीचों में यह भी लिखा जाता है कि 'फूल तोड़ना मना है', लेकिन समय पड़ने पर आवश्यक्तानुसार उन्हें तोड़ा भी जाता है। उसका तात्पर्य यही है कि जनसामान्य फूल नहीं तोड़े। यदि उसे भी आवश्यकता है तो वह सही तरीके से उसकी आज्ञा प्राप्त करे।
- लक्ष्य, यदि अच्छा है तो वह अपराध की श्रेणी में नहीं आता। यदि आप का उद्देश्य अलग-अलग आचार्यों ने जो अलग-अलग अपेक्षाओं से, अलग-अलग द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा कथन किया है; उसे प्रस्तुत करना है तो आपका उद्देश्य सही है, उसे अपराध की श्रेणी में नहीं लिया जा सकता।
- पहले भी आचार्यों के अलावा अन्य लोगों के पास भी प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में जानकारी होती थी। यदि हम परम्परा को देखें तो आचार्यों के अलावा अन्य श्रावक लोग ही इन ग्रन्थों का प्रकाशन करके आचार्यों

के पास भेजते हैं। क्या उन्होंने भी इन ग्रन्थों को नहीं देखा ? यदि नहीं देखा तो प्रकाशन कैसे किया ? यद्यपि उन्होंने पढ़ा तो है, परन्तु उनका भी पढ़ने का अभिप्राय नहीं रहा।

उक्त सम्पूर्ण चर्चा के आधार पर मैं मुझे भी यह निर्णीत हुआ है कि सामान्य श्रावकों या मुनियों को प्रायश्चित्त शास्त्र नहीं पढ़ने चाहिए, परन्तु चूंकि मैं शोध का विषय स्वीकार कर चुकी थी, अतः उनका अध्ययन किये बिना शोधकार्य करना और भी अधिक गलत होता; अतः मैंने जो भी ग्रन्थ मुझे मिले, उनका स्वाध्याय किया है, इसके लिए मैं सम्पूर्ण श्रुतपरम्परा की अपराधी हूँ – ऐसा मैं स्वीकार करती हूँ और सभी से क्षमा चाहती हूँ।

एक बात यह भी देखने में आई है कि जितने भी प्रायश्चित्त के ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनका सम्पादन आदि कार्य उस समय के गृहस्थ विद्वानों ने ही किया है, अतः गृहस्थ विद्वानों ने भी भले ही सिर्फ पढ़ने कि लिए न सही, लेकिन उन्हें सम्पादनादि की दृष्टि से उन ग्रन्थों को पढ़ना पढ़ा ही है।

एक तर्क यह भी है कि जो गृहस्थाचार्य या गृहस्थ निर्यापकाचार्य, गृहस्थ श्रावकों को प्रायश्चित्त देने में नियुक्त होते हैं, उन्हें भी तत्सम्बन्धी ग्रन्थ पढ़ना अनिवार्य है। यदि वे इन ग्रन्थों को नहीं पढ़ेंगे तो प्रायश्चित्त कैसे देंगे ? अतः यह निर्विवाद प्रतीत होता है कि जिन गृहस्थों या मुनियों को इन ग्रन्थों को पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं है, या जो स्वयं साधना कर रहे हैं; उन्हें स्वयं ही इन्हें नहीं पढ़ना चाहिए क्योंकि उनके पढ़ने से यह तसद्ध नहीं होगा कि आचार्य उन्हें वही प्रायश्चित्त देंगे। यदि आचार्य को यह प्रतीत होगा कि शिष्य के दोष में उतनी तीव्रता नहीं थी तो वे प्रायश्चित्त कम देंगे और यदि उसी अपराध में उन्हें यह प्रतीत होगा कि दोषी का दोष उतना ही नहीं है और भी उसके दोष हैं या शिष्य को कषाय आदि की उद्रेकता अधिक है तो वे प्रायश्चित्त कठोर भी दे सकते हैं।

इस प्रकार यह एकान्तिक नियम प्रतीत नहीं होता है कि जनसामान्य के साथ साथ गृहस्थ मनीषी विद्वानों, या अन्य त्यागी व्रतियों या सामान्य मुनियों आदि को भी इन ग्रन्थों को पढ़ना नहीं चाहिए।

प्रायश्चित्त के दश या नौ भेद

मूलाचार में प्रायश्चित्त के भेदों को बताने वाली गाथा निम्न प्रकार है –

आलोयणपडिकमणं, उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो।
तव छेदो मूलं वि य, परिहारो चेव सद्दहणा।।[93]

अर्थात् 1. आलोचना, 2. प्रतिक्रमण, 3. तदुभय, 4. विवेक, 5. व्युत्सर्ग, 6. तप, 7. छेद, 8. मूल, 9. परिहार और 10. श्रद्धान – ये **प्रायश्चित्त के दश भेद** हैं।[94]

आचारसार[95] में भी दश भेदों का कथन किया गया है। मात्र वहाँ श्रद्धान के स्थान पर दर्शन शब्द का प्रयोग किया गया है।

मूलाचार की आचारवृत्ति टीका में कहा है कि उक्त दश प्रकार के प्रायश्चित्तों को दोषों के अनुसार देना चाहिए। कुछ दोष **आलोचना** मात्र से निराकृत हो जाते हैं, कुछ दोष **प्रतिक्रमण** से दूर किये जाते हैं तो कुछ दोष **आलोचना और प्रतिक्रमण** – इन दोनों अर्थात् **तदुभय प्रायश्चित्त** के द्वारा नष्ट किये जाते हैं; कोई दोष **विवेक प्रायश्चित्त** से, कोई दोष **व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त** से, कोई दोष **तप प्रायश्चित्त** से, कोई दोष **छेद प्रायश्चित्त** से, कोई दोष **मूल प्रायश्चित्त** से, कोई **परिहार प्रायश्चित्त** से एवं कोई दोष **श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त** से दूर किये जाते हैं।

मूलाचार के भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन में उक्त गाथा की टीका के विशेषार्थ में लिखा है कि आजकल 'परिहार' नामक प्रायश्चित्त को देने की आज्ञा नहीं रही है।

अनगार धर्मामृत में प्रायश्चित्त के भेदों के सन्दर्भ में निश्चय -व्यवहार नय का प्रयोग करते हुए कहा है –

व्यवहारनयादित्थं, प्रायश्चित्तं दशात्मकम्।
निश्चयात्तदसंख्येयलोकमात्रं भिदिष्यते।।[96]

अर्थात् व्यवहारनय से प्रायश्चित्त के दश भेद हैं, किन्तु निश्चयनय से उसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद होते हैं।

जबकि व्यवहार भाष्य में प्रायश्चित्त के भेद बताने वाली गाथा निम्न प्रकार है –

आलोयण पडिकमणे, मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे।

तव-छेय-मूल-अणवट्ठया य पारंचिए चेव।। 53।।[97]

अर्थात् आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य एवं पारांचित – ये **प्रायश्चित्त के दश भेद** हैं।

आचार दिनकर में भी दस प्रकार की प्रायश्चित्त विधि बताई गई है – 1. आलोचना, 2. प्रतिक्रमण, 3. उभय, 4. विवेक, 5. कायोत्सर्ग, 6. तप-योग्य, 7. छेद-योग्य, 8. मूल-योग्य, 9. अनवस्थाप्य-योग्य और 10. पारांचिक-योग्य।[98]

आवश्यकचूर्णि में इन्हीं दस भेदों को प्रायश्चित्त के दस स्थान भी निरूपित किया है।[99]

जबकि तत्त्वार्थसूत्र में अन्तरंग तपों के अन्तर्गत **प्रायश्चित्त के नौ भेदों** को बताने वाले सूत्र[100] निम्न प्रकार हैं –

- **प्रायश्चित्त-विनय -वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम्।। 22।।**
- **नव-चतु-र्दश-पंच-द्वि-भेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात्। ।23।।**
- **आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय -विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारोपस्थापना।24।।**

अर्थात् अन्तरंग-तपों के छह भेद हैं – 1. प्रायश्चित्त, 2. विनय, 3. वैयावृत्य, 4. स्वाध्याय, 5. व्युत्सर्ग और .6. ध्यान।

इनमें ध्यान के पूर्व अन्तरंग तपों के पाँच भेदों के क्रमशः नौ, चार, दश, पाँच और दो भेद हैं।

सर्व प्रथम **प्रायश्चित्त के नौ भेद** इस प्रकार हैं – 1. आलोचना, 2. प्रतिक्रमण, 3. तदुभय, 4. विवेक, 5. व्युत्सर्ग, 6. तप, 7. छेद, 8. परिहार और 9. उपस्थापना।

प्रायश्चित्त के भेदों के सम्बन्ध में मतभेद

मूलाचार में वर्णित दश भेदों में प्रारम्भिक आठ भेदों में तो कोई मतभेद नहीं है, परन्तु नौवें और दशवें भेदों के स्थान पर धवला, भगवती, और स्थानांग में क्रमशः **अनवस्थाप्य अर्थात् तपस्यापूर्वक पुनर्दीक्षा** और **पारांचिक अर्थात् भर्त्सना व अवहेलनापूर्वक पुनर्दीक्षा** – ये दो भेद बताए हैं। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओं में मात्र नौ भेदों की ही चर्चा है, इसमें भी आठ भेदों में तो समानता है और अन्तिम नौवें उपस्थापना भेद का स्वरूप मूल प्रायश्चित्त से मिलता हुआ है तथा वहाँ श्रद्धान को पृथक् से प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है।

मूलाचार की गाथा से भी ऐसा प्रतीत होता है कि नौ ही प्रायश्चित्त हैं क्योंकि अन्तिम 'सद्दहणा' शब्द का अर्थ यह भी हो सकता है कि 'ऐसा श्रद्धान करना चाहिए'। लेकिन मूलाचार की टीकाओं, अनगार धर्मामृत, चारित्रसार[101], आचारसार[102], आदि ग्रन्थों में **श्रद्धान प्रायश्चित्त** को भी माना गया है।

श्रद्धान को प्रायश्चित्त मानने का यह भी काारण है कि दोषकर्ता को कम से कम श्रद्धानी तो होना ही चाहिए। यदि वह श्रद्धानी होगा तो आज नहीं तो कल, उसकी शुद्धि अवश्य हो जाएगी लेकिन यदि श्रद्धान से भी च्युत हो गया तो दोषमुक्त होने की सम्भावना भी समाप्त हो जाएगी।

अतः नौ या दश के विवाद में नहीं पड़ते हुए प्रायश्चित्त के स्वरूप को जानने का ही उद्यम करना चाहिए।[103]

1. आलोचना प्रायश्चित्त

आचार्य महाराज के समीप एकान्त में बैठ कर अपने व्रत, तप, आदि की शुद्धि के लिए बिना किसी छल-कपट के मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से किये हुए समस्त अतिचारों का निवेदन करना, **आलोचना प्रायश्चित्त** कहलाता है।[104]

यदि श्रमण के प्रयत्नपूर्वक की जाने वाली कायचेष्टा में छेद होता है तो उसे तो स्वयं अच्छी तरह आलोचनापूर्वक क्रिया करना चाहिए। तथा यदि श्रमण, छेद में उपयुक्त हुआ हो तो उसे जैनमत में व्यवहार-कुशल अर्थात् प्रायश्चित्त देने में कुशल श्रमण के पास जाकर अपने दोष का निवेदन करके वे जैसा उपदेश दें, वह करना चाहिए।

पयदम्हि समारद्धे, छेदो समणस्स कायचेट्ठिम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो, आलोयणपुव्विया किरिया।।
छेदुवजुत्तो समणो, समणं ववहारिणं जिणमदम्हि।
आसेज्जालोचित्ता, उवदिट्ठं तेण कायव्वं।।[105]

आहार, औषधि आदि ग्रहण कर वसति में आने पर, उच्चारभूमि, विहारभूमि आदि से आकर तथा इसी प्रकार के अन्यान्य कार्यों से निवृत्त होकर, गुरु के पास आलोचना न करने वाला अविनय और अशुद्ध परिभोग – इन दो दोषों से दूषित होता है क्योंकि छद्मस्थ साधु का उपयोग अयथार्थ भी हो सकता है तथा आचार्य आदि बहुश्रुतों के पास आलोचना करता हुआ मुनि, ऊहापोह के द्वारा स्वयं ही शुद्धि-अशुद्धि जान लेता है।.....प्रतिक्रमण के योग्य प्रायश्चित्त में आलोचना नहीं की जाती है, जबकि विवेक और व्युत्सर्ग के योग्य प्रायश्चित्त में आलोचना कभी की जाती है और कभी नहीं की जाती है।[106]

प्रतिक्षण उदित होने वाली कषायों जनित जो अन्तरंग व बाह्य दोष साधक की प्रतीति में आते हैं, जीवन-शोधन के लिए उनका दूर करना, अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए **आलोचना सबसे उत्तम मार्ग** है। गुरु के समक्ष निष्कपट भाव से अपने सर्व छोटे या बड़े दोषों को कह देना, **आलोचना** कहलाता है। यह वीतरागी गुरु के समक्ष ही की जाती है, रागी व्यक्ति के समक्ष नहीं।[107]

आलोचना के पर्यायवाची

आलोयणमालुंछण, वियडीकरणं च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं, आलोयणलक्खणं समए।।[108]

अर्थात् आलोचना, आलुंछन, अविकृतिकरण, और भावशुद्धि – ये चार आलोचना के पर्यायवाची जानना चाहिए। **आलोचना** – जो जीव, परिणाम को समभाव में स्थापित करके, आत्मा को देखता है, वह **आलोचना** है। **आलुंछन** – कर्मरूपी वृक्ष का मूल छेदने में समर्थ, समभावरूप स्वाधीन, निज परिणाम को **आलुंछन** कहते हैं। **अविकृतिकरण** – जो मध्यस्थ भावना में कर्म से भिन्न विमल गुणों के निवास आत्मा को भाता है, उस जीव को **अविकृतिकरण** कहते हैं। **भावशुद्धि** – मद, मान, माया, और लोभ रहित भाव को **भावशुद्धि** कहते हैं।

व्यवहार आलोचना का स्वरूप

1. आचार्य अथवा जिनदेव के समक्ष अपने में उत्पन्न हुए दोषों का चारित्राचारपूर्वक निवेदन करना अर्थात् अपने चित्त में अपराधों को नहीं छिपाना, **आलोचना** है।[109]

2. आचार्य के समक्ष सरल भाव से आत्मनिन्दापूर्वक अपने दोषों को प्रगट करना, **आलोचना** है।[110]

3. धर्माचार्य के सम्मुख विनय से आकम्पित आदि दश दोषों से रहित, अपने प्रमाद का जो निवेदन किया जाता है, वह प्रायश्चित्त का **आलोचना** नामक प्रथम भेद है।[111]

4. अपरिस्रव अर्थात् आस्रव से रहित, श्रुत के रहस्य को जानने वाले, वीतराग, और रत्नत्रय में मेरु के समान स्थिर – ऐसे गुरुओं के सामने अपने दोषों का निवेदन करना, **आलोचना** नामक प्रायश्चित्त कहलाता है।[112]

5. स्वकृताऽपराध-गूहन-त्यजनं आलोचना।.....कृताऽतिचार-जुगुप्सा-पुरःसरं वचनमालोचनेति।[113]

अर्थात् अपने द्वारा किये गये अपराधों या दोषों को दबाने का प्रयत्न न करके, उसे छिपाने का प्रयत्न न करके, उसका त्याग करना, **आलोचना** है।.....तथा चारित्राचरण करते समय जो अतिचार होते हैं, उसकी पश्चात्तापपूर्वक निन्दा करना, वचनालाप करना, **आलोचना** है।

6. गुरु को सूचित किये बिना परस्पर वाचना, परिवर्तना या वस्तुओं का आदान प्रदान करने पर गुरु को निवेदन करना, आलोचना है।[114]

निश्चय आलोचना का स्वरूप

निश्चय आलोचना का स्वरूप बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव, समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में कहते हैं –

जं सुहमसुहमुदिण्णं, संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेददि, सो खलु आलोयणं चेदा।। 385।।[115]

अर्थात् वर्तमान काल में उदयागत जो अनेक प्रकार के विस्तार वाला शुभ और अशुभ कर्म है, उस दोष को जो आत्मा चेतता है, अनुभव करता है, ज्ञाता भाव से जान लेता है (अर्थात् उसके स्वामित्व और कर्तृत्व को छोड़ देता है); वह आत्मा निश्चय से **आलोचना** है।

जो आत्मा, वर्तमान कर्मों के उदय से अपने को अत्यन्त भिन्नरूप अनुभव करता हुआ प्रवर्तता है, वह स्वयं ही **आलोचना**स्वरूप होता है।.....वर्तमान दोषों से आत्मा को अलग करना, **आलोचना** है।

निश्चय से विचार करने पर तीनों काल सम्बन्धी कर्मों से आत्मा को भिन्न जानना, श्रद्धान करना, अनुभव करना – ऐसा करता हुआ, आत्मा ही **प्रतिक्रमण** है, आत्मा ही **प्रत्याख्यान** है, आत्मा ही **आलोचना** है। इस प्रकार तीनों स्वरूप आत्मा का निरन्तर अनुभवन ही चारित्र है, निश्चय चारित्र है, वही ज्ञानचेतना का अनुभवन है। इसी अनुभवन से साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होता है।[116]

परमार्थ से जिन भावों के कारण वर्तमान में दोष लगते हैं; उन भावों से आत्मा की निवृत्ति करना ही **आलोचना** है।[117]

आलोचनाकल्प के अन्तर्गत कर्मचेतना के त्याग के उनचास भंग[118]

आलोचनाकल्प में वर्तमान कर्तापने का निषेध है। आत्मख्याति के अनुसार उनचास भंगों में सर्व प्रथम भंग का संस्कृत पाठ निम्न प्रकार है –

1. न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।

अर्थात् **आलोचना** करने वाला कहता है कि 'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन-वचन-काय से न करता हूँ, न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ और न अन्य को करते हुए को भला जानता हूँ – 'यह पहला भंग है। (1)

इसी प्रकार आत्मख्याति टीका में कुल उनचास भंगों के संस्कृत पाठ हैं; आचार्यदेव ने बिना प्रमाद के उन उनचास भंगों में एक एक वर्णन किया है; जिनमें उक्त **एक** भंग के अलावा मन-वचन-काय में से दो-दो लेकर कृत-कारित-अनुमोदना के तीनों को एक साथ मिला कर **तीन** भंग बनते हैं। मन-वचन-काय में से एक-एक को लेकर कृत-कारित-अनुमोदना के तीनों को एक साथ मिला कर **तीन** भंग बनते हैं; मन-वचन-काय तीनों को एक साथ लेकर कृत-कारित-अनुमोदना में से दो-दो मिला कर **तीन** भंग बनते हैं। (9)

मन-वचन-काय में से मन और वचन को लेकर कृत-कारित-अनुमोदना में से दो-दो मिला कर **तीन** भंग बनते हैं; मन-वचन-काय में से मन और काय को लेकर कृत-कारित-अनुमोदना में से दो-दो मिला कर **तीन** भंग बनते हैं; मन-वचन-काय में से वचन और काय को लेकर कृत-कारित-अनुमोदना में से दो-दो मिला कर **तीन** भंग बनते हैं। (9)

मन-वचन-काय में से मन को लेकर कृत-कारित-अनुमोदना में से दो-दो मिला कर **तीन** भंग बनते हैं; मन-वचन-काय में से वचन को लेकर कृत-कारित-अनुमोदना में से दो-दो मिला कर **तीन** भंग बनते हैं; मन-वचन-काय में से काय को लेकर कृत-कारित-अनुमोदना में से दो-दो मिला कर **तीन** भंग बनते हैं। (9)

मन-वचन-काय तीनों को एक साथ लेकर कृत-कारित-अनुमोदना में से एक-एक मिला कर **तीन** भंग बनते हैं। (3)

मन-वचन-काय में से मन और वचन को लेकर कृत-कारित-अनुमोदना में से एक-एक मिला कर **तीन** भंग बनते हैं; मन-वचन-काय में से मन और काय को लेकर कृत-कारित-अनुमोदना में से एक-एक मिला कर **तीन** भंग बनते हैं; मन-वचन-काय में से वचन और काय को लेकर कृत-कारित-अनुमोदना में से एक-एक मिला कर **तीन** भंग बनते हैं। (9)

मन-वचन-काय में से मन को लेकर कृत-कारित-अनुमोदना में से एक-एक मिला कर **तीन** भंग बनते हैं; मन-वचन-काय में से वचन को लेकर कृत-कारित-अनुमोदना में से एक-एक मिला कर **तीन** भंग बनते हैं; मन-वचन-काय में से काय को लेकर कृत-कारित-अनुमोदना में से एक-एक मिला कर **तीन** भंग बनते हैं। (9)

इस प्रकार ज्ञानियों के द्वारा की जाने वाली **आलोचना** के उनचास भंग (1+9+9+9+3+9+9=49) होते हैं। वर्तमान काल में किये जाने वाले कर्मों की उनचास भंगों के रूप में मिथ्याकार या निषेध करने वाली **आलोचना** करके, ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होकर, निरन्तर उसका अनुभव करता है, उसका यह विधान है। मिथ्या कहने का यह प्रयोजन है कि वर्तमान काल में कर्म का उदय आता है, उसके सम्बन्ध में ज्ञानी ऐसे विचारता है कि मैंने पूर्व में जो कर्म बाँधे थे, उसका यह कार्य है; यह मेरा कार्य नहीं है, मैं इसका कर्ता नहीं हूँ; मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा हूँ, उसकी दर्शन-ज्ञानरूप प्रवृत्ति होती है, उसके द्वारा इस उदय में आने वाले कर्म का मैं देखने-जानने वाला हूँ, मैं मेरे स्वरूप में ही वर्तता हूँ – ऐसा अनुभव करना ही निश्चयचारित्र है।

आत्मख्याति में **आलोचनाकल्प** के अन्त में आचार्य अमृतचन्द्रदेव उपसंहार करते हैं –

मोह-विलास-विजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि, निष्कर्मणि नित्यमात्मनावर्ते।। 227।।[119]

अर्थात् निश्चयचारित्र को अंगीकार करने वाला कहता है कि मोह के विलास से फैले हुए, उदय को प्राप्त समस्त वर्तमान काल के कर्म की **आलोचना** करके मैं समस्त कर्मों से रहित चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्वयं ही से निरन्तर वर्तता हूँ। इस प्रकार **आलोचनाकल्प** पूर्ण होता है।

आलोचना प्रायश्चित्त दो के भेद

आलोचना प्रायश्चित्त के सामान्यतः दो भेद हैं – 1. ओघ या **सामान्य आलोचना** प्रायश्चित्त एवं 2. पदविभागी या **विशेष आलोचना** प्रायश्चित्त।

इनमें **कौन किसके योग्य है ?** – इसका विवेचन करते हुए आगम ग्रन्थों में इनका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है –

1. **ओघ या सामान्य आलोचना प्रायश्चित्त –** जिसने व्रत का पूरा छेद किया है, वह **ओघ अर्थात् सामान्य आलोचना** करता है। भगवती आराधना में इस प्रायश्चित्त को इस प्रकार व्यक्त किया है – **ओघेण मूलपत्तस्स** अर्थात् जिसको मूल नामक प्रायश्चित्त दिया जाता है, अर्थात् जिसकी मूल से ही दीक्षा छेद दी जाती है, वह **ओघ या सामान्य आलोचना** करता है।

सामान्य आलोचना करने वाला आचार्य के सम्मुख इस प्रकार अपना अभिप्राय व्यक्त करता है –

ओघेणालोचेदि हु, अपरिमिदवराधि सव्वघादी वा।
अज्जोपाए इच्छं, सामण्णमहं खु तुच्छोत्ति।। 536।।

अर्थात् 'मैंने अपरिमित अपराध किये हैं, मैंने सम्यक्त्वादि एवं व्रतादि सबका घात किया है, मैं आज से पुनः मुनि-दीक्षा लेना चाहता हूँ, मैं रत्नत्रय से तुच्छ हूँ; इस प्रकार वह **सामान्य आलोचना** करता है।

आचार्यादि की साक्षीपूर्वक इस प्रकार **आलोचना** करने से मायाशल्य दूर होती है। मानकषाय जड़मूल से उखड़ जाती है। गुरुजन के प्रति आदरभाव प्रगट होता है तथा उनके आधीन रह कर, व्रताचरण करने से मोक्षमार्ग की ख्याति होती है।

2. पदविभागी या विशेष आलोचना प्रायश्चित्त – जिसने व्रत का एकदेश छेद किया है, वह पदविभागी अर्थात् **विशेष आलोचना** करता है। भगवती आराधना में कहा है – **पयविभागी य इदरस्स** अर्थात् जिसको मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता अर्थात् जो किसी गुण-विशेष में दोष लगाता है, वह **पदविभागी या विशेष आलोचना** करता है।

पदविभागी शब्द से यह तात्पर्य है कि दीक्षा से लेकर सम्पूर्ण काल में और सब क्षेत्र में, जिस भाव से और जिस क्रम से जो दोष किया हो, उसकी उसी प्रकार **आलोचना** करना, **पदविभागी आलोचना** है।[120]

इसी प्रकार अनगार धर्मामृत में कहा है –

जिस साधु ने रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की एकदेश विराधना की है, अथवा जिनसे मूलव्रत का सर्वोच्छेद नहीं हुआ है, एकदेश छेद हुआ है, उन्हें आकम्पित आदि दश दोषों से रहित समस्त प्रव्रज्या आदि में क्रम से जहाँ जिस भाव से दोष लगा है, उसकी **पदविभागी नामक आलोचना** करना चाहिए तथा जिसे अपने बहुत से दोषों का स्मरण नहीं है, अथवा जिसने अपने व्रत को भंग कर लिया है, और जिनसे मूल का

छेद हुआ है, उन्हें **ओघ आलोचना** करना चाहिए। अथवा मुझ पापी को प्रायः अपराधों का स्मरण नहीं रहा, अतः मेरा समस्त व्रत छिन्न हो गया – ऐसा मान कर, **ओघ आलोचना** करना चाहिए।[121]

आलोचना के तीन भेद

निशीथसूत्र के अनुसार आलोचना के तीन प्रकार हैं – 1. विहार आलोचना, 2. उपसम्पदा आलोचना, एवं 3. अपराध आलोचना। **1. विहार आलोचना –** बल-वीर्य होने पर भी तप-उपधान आदि में उद्यम न करने पर की जाने वाली आलोचना, विहार आलोचना है। **2. उपसम्पदा आलोचना –** उपसम्पदा हेतु उपस्थित मुनि द्वारा की जाने वाली आलोचना, उपसम्पदा आालोचना है। **3. अपराध आलोचना –** अतिक्रमण की विशुद्धि के लिए की जाने वाली आलोचना, अपराध आलोचना है।

आलोचना के सात भेद

मूलाचार में **आलोचना के सात भेद** निरूपित किये गये हैं –

आलोचणं दिवसियं, रादिअ इरियापधं च बोद्धव्वं।
पक्खिय चादुम्मासिय, संवच्छरमुत्तमट्ठं च।।[122]

अर्थात् 1. दैवसिक, 2. रात्रिक, 3. ऐर्यापथिक, 4. पाक्षिक, 5. चातुर्मासिक, 6. सांवत्सरिक, और 7. उत्तमार्थ – यह **सात तरह की आलोचना** जाननी चाहिए।

प्रतिक्रमण के भेदों में भी इन्हीं सात भेदों का वर्णन किया गया है; वहाँ इनका विवरण विस्तार से किया गया है; अतः इनका विस्तार वहाँ से जानना चाहिए और उसे **आलोचना** में यथायोग्य घटाना चाहिए।

आलोचना करके भी प्रायश्चित्त नहीं लेने वाले एवं बिना आलोचना के ही प्रायश्चित्तस्वरूप महा तप करने वाले साधकों को सम्बोधन

लज्जा और पर-तिरस्कार के कारण अतिचारों का निवेदन करके भी यदि उनका संशोधन या प्रायश्चित्त नहीं किया जाता है तो अपनी आय और व्यय का हिसाब न रखने वाले कर्जदार के समान साधक को दुःख का पात्र होना पड़ता है। **आलोचना** करके भी यदि गुरु के द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त का अनुष्ठान नहीं करता है तो वह बिना संवारे धान्य के समान महा फलदायक नहीं हो सकता। अतः **आलोचना** युक्त चित्त से किया गया प्रायश्चित्त, माँजे हुए दर्पण में स्थित रूप के समान निखर या चमक उठता है। इसी प्रकार महान से महान तपस्या भी **आलोचना** के बिना इष्ट फल को देने वाली नहीं होती। जैसे, विरेचन से शरीर की मलशुद्धि किये बिना खाई गई औषधि लाभकारी नहीं होती।[123]

2. प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त

मुनिचर्या के अन्तर्गत षट् आवश्यकों का उल्लेख, साधु परमेष्ठी के अट्ठाईस मूलगुणों में तथा आचार्य परमेष्ठी के विशेष छत्तीस गुणों में भी अलग से किया गया है, इससे उनकी आवश्यकता तथा महत्त्व का मूल्यांकन आसानी से किया जा सकता है; उनमें चतुर्थ आवश्यक **'प्रतिक्रमण'** माना गया है।

मनुष्य की अपनी जीवनयात्रा में कषायवश पद-पद पर अन्तरंग व बाह्य दोष लगा करते हैं, जिनका शोधन, एक श्रेयोमार्गी के लिए आवश्यक है। भूतकाल में जो दोष लगे हैं, उनके शोधनार्थ प्रायश्चित्त, पश्चात्ताप व गुरु के समक्ष अपनी निन्दा-गर्हा करना, **प्रतिक्रमण** कहलाता है।[124]

पूर्वकृत दोषों का मन-वचन-काय से कृत-कारित-अनुमोदना से विमोचन करना, पश्चात्ताप करना, **प्रतिक्रमण** कहलाता है; इससे अनात्म-भाव नष्ट होकर, आत्म-भाव की जागृति होती है। प्रमादजन्य दोषों से निवृत्ति होकर, आत्मस्वरूप मे स्थिरता की क्रिया को भी **प्रतिक्रमण** कहते हैं।

प्रतिक्रमण का महत्त्व

प्रतिक्रमण का महत्त्व बताते हुए अनगार धर्मामृत में कहा है –

दुर्निवार-प्रमादारि-प्रयुक्ता दोषवाहिनी।
प्रतिक्रमण-दिव्यास्त्र-प्रयोगादाशु नश्यति।।[125]

अर्थात् दुर्निवार प्रमादरूपी शत्रु से प्रेरित अतिचारों की सेना **प्रतिक्रमणरूपी** दिव्य अस्त्र के प्रयोग से शीघ्र नष्ट हो जाती है।

धर्मकथा आदि में लग जाने से यदि साधु, प्रतिज्ञात ध्यान आदि करना भूल जाए और यदि वह पुनः उस क्रिया को करे तो संवेग में तत्पर अल्प अपराधी उस साधु का गुरु के अभाव में 'मैं ऐसी गलती पुनः नहीं करूँगा, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' इत्यादि उपायों से जो दोष का निवर्तन करना है, वह **प्रतिक्रमण** है।

अच्छे कार्यों में उत्साह न होने को प्रमाद कहते हैं। यह प्रमाद, शत्रु के समान है क्योंकि जीव के स्वार्थ, उसके कल्याण के घातक हैं। जब प्रमाद दुर्निवार हो जाता है, उसे दूर करना शक्य नहीं रहता, तब इसी की प्रेरणा से व्रतादि में दोषों की बाढ़ आ जाती है, अतिचारों की सेना एकत्र हो जाती है। उसका संहार जिनदेव के द्वारा अर्पित **प्रतिक्रमणरूपी** अस्त्र से ही हो सकता है। **प्रतिक्रमण** कहते ही हैं – लगे हुए दोषों के दूर करने को।

कहा भी है –

जीवे प्रमादजनिताः प्रचुराः प्रदोषाः, यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति।
तस्मात्तदर्थममलं मुनिबोधनार्थं, वक्ष्ये विचित्रभवकर्मविशोधनार्थम्।।[126]

अर्थात् जीव में प्रमाद से उत्पन्न हुए बहुत से उत्कृष्ट दोष **प्रतिक्रमण** से नष्ट हो जाते हैं; इसलिए मुनियों के बोध के लिए और नाना प्रकार के सांसारिक कार्यों की विशुद्धि के लिए **प्रतिक्रमण** कहा है।

लोक में यह कहावत है कि प्रमाद करने से व्याकरणशास्त्र में अच्छा अभ्यास करने वाला वैयाकरण भी तीन दिन में अवैयाकरण हो जाता है अर्थात् केवल तीन दिन व्याकरण का अभ्यास न करे तो सब भूल जाता है। एक दिन के अभ्यास न करने से धनुष चलाने में निपुण धनुर्धारी भी पारंगत नहीं रहता और योग का अच्छा अभ्यासी योगी यदि प्रमाद करे तो एक ही क्षण में योगी से अयोगी हो जाता है।

किन्हीं का ऐसा कहना है कि दोषों का उच्चारण कर-करके ''मेरा यह दोष मिथ्या हो इस प्रकार से जो दोष का स्पष्ट प्रतीकार किया जाता है, वह **प्रतिक्रमण** है। यह **प्रतिक्रमण,** आचार्य की अनुज्ञा प्राप्त करके शिष्य को ही करना चाहिए।[127]

प्रतिक्रमण की निरुक्ति

मिथ्यादुष्कृताभिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम्।[128]

अर्थात् 'मेरा दोष मिथ्या हो' – ऐसा गुरु से निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना, **प्रतिक्रमण** है।

प्रतिक्रम्यते, प्रमादकृतदैवसिकादिदोषो निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणम्।[129]

अर्थात् प्रमाद के द्वारा किये दोषों का जिसके द्वारा निराकरण करते हैं, उसे **प्रतिक्रमण** कहते हैं।

व्यवहार प्रतिक्रमण का स्वरूप

प्रमाद से लगे हुए दोषों से अपने को दूर करके गुणों की ओर प्रवृत्ति करना, **प्रतिक्रमण** है। अथवा किये हुए दोषों की विशुद्धि को **प्रतिक्रमण** कहते हैं।

आगम में **प्रतिक्रमण का स्वरूप** बताते हुए कहा गया है –

1. **मिथ्या मे दुष्कृतमिति प्रायोऽपायैर्निराकृतिः।**
कृतस्य संवेगवता, प्रतिक्रमणमागसः।।[130]

अर्थात् संसार से भयभीत और भोगों से विरक्त साधु के द्वारा किये गये अपराध को 'मेरे दुष्कृत मिथ्या हो जाएँ, मेरे पाप शान्त हों;' इस प्रकार के उपायों के द्वारा दूर करने को **प्रतिक्रमण** कहते हैं।

2. **अतीतदोषपरिहारार्थं यत्प्रायश्चित्तं तत्प्रतिक्रमणम्।**[131]

अर्थात् भूतकाल में हुए कृत-दोषों के परिहार हेतु जो प्रायश्चित्त किया जाता है, वह **प्रतिक्रमण** है।

3. नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के आलम्बन से उत्पन्न हुए दोषों के अथवा संचित हुए पाप को निन्दा-गर्हा-आलोचना, मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना के द्वारा दूर करने को **प्रतिक्रमण** कहते हैं।[132]

4. रात्रि-भोजन-त्याग नामक व्रत सहित पाँच महाव्रतों का उच्चारण करना, सम्यक् प्रकार से उनको भाना, **प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त** है। अथवा कृत-कारित-अनुमोदना के माध्यम से हुए अतिचारों से दूर होना, **प्रतिक्रमण** है।[133]

5. चौरासी लाख गुणों के समूह से संयुक्त पाँच महाव्रतों में उत्पन्न हुए मल को धोने का नाम, **प्रतिक्रमण** है।[134]

6. जिस परिणाम के द्वारा व्रत-विषयक अतिचार का शोधन करके, पूर्व व्रतों की शुद्धि की जाती है, उसे **प्रतिक्रमण** कहते हैं।[135]

7. अचेलता आदि कल्प में रहते हुए जो मुनि को अतिचार लगते हैं, उनके निवारणार्थ आठवाँ **स्थितिकल्प प्रतिक्रमण** है।[136]

8. गुरुओं के सामने आलोचना किये बिना संवेग और निर्वेद से युक्त साधु का 'फिर कभी ऐसा न करूँगा' – यह कह कर, अपने अपराध से निवृत्त होना, **प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित्त** है।[137]

9. जब अपराध छोटा-सा हो और गुरु समीप न हों, तब यह **प्रतिक्रमण** नामक प्रायश्चित्त किया जाता है।[138]

10. धर्मकथा आदि में कोई विघ्न के कारण उपस्थित हो जाने पर यदि कोई मुनि अपने स्थिर योगों को भूल जाए तो पहिले आलोचना करते हैं और फिर संवेग और वैराग्य में तत्पर रहते हुए अल्प अपराध होने पर यदि गुरु अनुपस्थित हों तो 'मैं फिर कभी ऐसा नहीं करूँगा, यह मेरा पाप मिथ्या हो'; इस प्रकार दोषों से अलग रहना, **प्रतिक्रमण** कहलाता है।

11. स्वतः के द्वारा किये गये अशुभ मन-वचन-काय योग के व्यापार से परावर्त होना अर्थात् 'मेरे अपराध मिथ्या होवें' – ऐसा कह कर, पश्चात्ताप करना, **प्रतिक्रमण** है।[139]

12. दोषों से निवृत्ति को **प्रतिक्रमण** कहते हैं।[140]

13. प्रवचन आदि में अथवा आवश्यक कार्यों में सहसा नियमों का अतिक्रमण होने पर दूसरों से प्रेरित हो या स्वयं स्मृति कर 'मिच्छामि दुक्कडं' करना, **प्रतिक्रमण** हैं।[141]

निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने नियमसार ग्रन्थ में **निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप** बताने के पहले पंच रत्न की गाथाओं के द्वारा समस्त विभाव पर्यायों से संन्यास का विधान किया है। तात्पर्य यह है कि भूतकाल में इस जीव ने विभाव पर्यायों के द्वारा अपनी आत्मा को अनन्त कष्ट दिये हैं, उनसे अपने को छुड़ाना सबसे बड़ा **प्रतिक्रमण** है, चारित्र है। इसी भेदविज्ञान के क्रम में जीव मध्यस्थ होता है, उससे चारित्र होता है, उसकी दृढ़ता **प्रतिक्रमण** से होती है।

निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप, नियमसार में निम्न प्रकार अभिव्यक्त किया है –

मोत्तूण वयणरयणं, रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं।। 83।।

अर्थात् वचन-रचना को छोड़ कर, रागादि भावों का निवारण करके, जो आत्मा को ध्याता है, उसे **प्रतिक्रमण** होता है।

- इसी प्रकार जो जीव, विराधना को विशेषतः छोड़ कर, आराधना में वर्तता है, वह **प्रतिक्रमण** कहलाता है क्योंकि वह **प्रतिक्रमणमय** है।
- जो जीव, अनाचार छोड़ कर, आचार में स्थिरभाव करता है, वह **प्रतिक्रमण** कहलाता है क्योंकि वह **प्रतिक्रमणमय** है।
- जो जीव, उन्मार्ग का परित्याग करके, जिनमार्ग में स्थिरभाव करता है, वह **प्रतिक्रमण** कहलाता है क्योंकि वह **प्रतिक्रमणमय** है।
- जो साधु, शल्यभाव छोड़ कर, निःशल्यभाव से परिणमित होता है, वह **प्रतिक्रमण** कहलाता है क्योंकि वह **प्रतिक्रमणमय** है।
- जो साधु, अगुप्तिभाव छोड़ कर,, त्रिगुप्तिगुप्त रहता है, वह प्रतिक्रमण कहलाता है क्योंकि वह **प्रतिक्रमणमय** है।
- जो साधु, आर्त और रौद्र ध्यान छोड़ कर, धर्म और शुक्ल ध्यान को ध्याता है, वह जिनवर-कथित सूत्रों में **प्रतिक्रमण** कहलाता है।

- जो जीव, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र को निरवशेषरूप से छोड़ कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र को भाता है, वह **प्रतिक्रमण** कहलाता है।
- उत्तमार्थ आत्मा है; उसमें स्थित मुनिवर कर्म का घात करते हैं; इसलिए ध्यान ही वास्तव में उत्तमार्थ का **प्रतिक्रमण** है।
- ध्यान में लीन साधु, सर्व दोषों का परित्याग करते हैं; इसलिए ध्यान ही वास्तव में सर्व अतिचारों का **प्रतिक्रमण** है।[142]

समयसार में भी आचार्य कुन्दकुन्ददेव, **निश्चय प्रतिक्रमण** का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं –

कम्मं जं पुव्वकयं, सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।। 383।।[143]

अर्थात् पूर्वकृत जो अनेक प्रकार के विस्तार वाला शुभाशुभ कर्म है; उससे जो आत्मा, अपने को दूर रखता है, वह आत्मा **प्रतिक्रमण** है।

इन्हीं गाथाओं की आचार्य अमृतचन्द्रदेव रचित आत्मख्याति टीका में कहा है कि जो आत्मा, पुद्गलकर्म के विपाक से हुए भावों से अपने को छुड़ाता है, दूर रखता है; वह आत्मा, उन भावों के कारणभूत भूतकाल के पूर्वकर्मों को प्रतिक्रमता हुआ स्वयं ही **प्रतिक्रमण** है।

तिलोयपण्णत्ति में निजात्मा की भावना को ही **प्रतिक्रमण** आदि कहा है –

पडिकमणं पडिसरणं, पडिहरणं धारणा णियत्ती य।
णिंदणगरुहणसोही, लब्भंति णियादभावणाए।। 49।।[144]

अर्थात् निजात्म-भावना से **प्रतिक्रमण**, प्रतिसरण, प्रतिहरण, धारणा, निवृत्ति, निन्दन, गर्हण, और शुद्धि को प्राप्त होते हैं।

आचार्य जयसेन ने निजशुद्धात्म-परिणतिरूप क्रिया को निश्चयनय से वृहद् **प्रतिक्रमण** कहा है।[145] जबकि आचार्य अमितगति ने पहले किये हुए कर्मों के फलों को अपना न मानने को **प्रतिक्रमण** कहा है।[146] परमार्थ से जिन भावों के कारण पहले दोष लगे, उन भावों से आत्मा की निवृत्ति ही **प्रतिक्रमण** है; अतः ऐसा आत्मा, स्वयं ही **प्रतिक्रमण** है।

निश्चय-व्यवहार प्रतिक्रमण का समन्वय

नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका के अनुसार – व्यवहार नय से तो छह आवश्यकों से रहित श्रमण, चारित्र परिभ्रष्ट है और शुद्ध निश्चय नय से निर्विकल्प-समाधिस्वरूप परमावश्यक क्रिया से रहित श्रमण, निश्चय चारित्र से भ्रष्ट है – ऐसा अर्थ है; अतः स्ववश परम जिन योगीश्वर के आत्मस्थितिरूप समता, वन्दना, **प्रतिक्रमण**, आदि निश्चय आवश्यक का जो क्रम पहले कहा गया है, उस क्रम से परम मुनि, स्वात्माश्रित – ऐसे निश्चय धर्मध्यान तथा निश्चय शुक्लध्यान स्वरूप आवश्यकों को सदा करें।[147]

इसी प्रकार आचार्यों ने समयसार आदि ग्रन्थों में सचेत करते हुए कहा है कि जो (एकान्त से) निश्चय नय का आश्रय लेकर, प्रमादी होते हुए प्रवर्तन कर रहे हैं, उन्हें ताड़ना देकर उद्यम में लगाया है; चपलता का नाश किया है अर्थात् जो स्वच्छन्द होकर प्रवर्तन कर रहे हैं, उनकी स्वच्छन्दता मिटाई है तथा आलम्बन को उखाड़ा है अर्थात् जो व्यवहार का पक्ष लेकर, परद्रव्यों और **द्रव्य प्रतिक्रमण** आदि का अवलम्बन लेकर सन्तुष्ट हो रहे हैं, उनका अवलम्बन छुड़ाया है; चित्त को आत्मा ही में स्तम्भित किया है, रोका है अर्थात् व्यवहार के अवलम्बन के समय, चित्त अनेक प्रवृत्तियों में भ्रमण करता था, उसे शुद्ध आत्मा ही में लगाया है तथा जब तक सम्पूर्ण विज्ञानघन आत्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती है, तब तक चैतन्यमात्र आत्मा में चित्त लगा रहे, इस तरह चित्त को स्थिर किया है – ऐसा जानना।

यहाँ निश्चय नय से **प्रतिक्रमण** आदि को तो विषकुम्भ कहा है और **अप्रतिक्रमण** आदि को अमृतकुम्भ कहा है परन्तु कोई विपरीत समझ कर, **प्रतिक्रमण** आदि को छोड़ कर, प्रमादी हो जाए तो उसे समझाने के लिए आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने आत्मख्याति टीका में निम्न कलशरूप काव्य लिखा है –

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं, तत्राऽप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किंप्रमाद्यतिजनः प्रपतन्नधोऽधः, किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः।। 188।।[148]

अर्थात् जहाँ **प्रतिक्रमण** ही को विषकुम्भ कहा है, वहाँ **अप्रतिक्रमण** कैसे अमृत हो सकता है? फिर भी यह जीव नीचे की ओर गिरता हुआ प्रमादी क्यों हो रहा है? निष्प्रमादी होता हुआ ऊपर की ओर क्यों नहीं चढ़ता है?

यहाँ **प्रतिक्रमण** आदि को विषकुम्भ कहा है – ऐसा सुन कर, जो प्रमादी होते हैं, उन्हें कहते हैं कि यह जीव, नीचे-नीचे क्यों गिरता है? तीसरी भूमिका में ऊँचा-ऊँचा क्यों नहीं चढ़ता? जहाँ **प्रतिक्रमण** को विषकुम्भ कहा, वहाँ तो उसके निषेधरूप **अप्रतिक्रमण** ही अमृतकुम्भ होगा; अतः यहाँ जो अज्ञानी के **अप्रतिक्रमण** आदि होते हैं, उन्हें न समझ कर, शुद्ध आत्मामयी तीसरी भूमिका जानना।

यहाँ प्रमाद की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रमाद तो कषाय के भारीपन से होता है। आलस्य को प्रमाद कहा गया है। प्रमादी को शुद्धभाव नहीं होता है। जो मुनि, उद्यमपूर्वक आत्मिकरस से परिपूर्ण स्वभाव में निश्चल प्रवर्तता है, वह परम शुद्ध होकर, शीघ्र अल्प काल में कर्म बन्ध से छूट कर, मोक्ष को प्राप्त करता है।[149]

आचार्य जयसेन ने **अप्रतिक्रमण** की व्याख्या विशेषरूप से की है –

अप्रतिक्रमणं द्विविधं भवति – ज्ञानि-जनाऽऽश्रितं अज्ञानि-जनाऽऽश्रितं चेति। अज्ञानि-जनाऽऽश्रितं यदप्रतिक्रमणं तद्विषय-कषाय-परिणतिरूपं भवति। ज्ञानि-जीवाऽऽश्रितमप्रतिक्रमणं तु शुद्धात्म-सम्यक्-श्रद्धान-ज्ञानाऽनुष्ठान-लक्षणं त्रिगुप्तिरूपम्।[150]

अर्थात् **अप्रतिक्रमण** दो प्रकार का है – ज्ञानीजनों के आश्रित और अज्ञानीजनों के आश्रित। अज्ञानीजनों के आश्रित जो **अप्रतिक्रमण** है, वह विषय-कषाय की परिणतिरूप है अर्थात् हेयोपादेय के विवेक शून्य, सर्वथा अत्यागरूप निरर्गल प्रवृत्ति है; परन्तु ज्ञानी जीवों के आश्रित जो **अप्रतिक्रमण** है, वह शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, व आचरण लक्षण वाले अभेद रत्नत्रयरूप या त्रिगुप्तिरूप है।

प्रतिक्रमण क्रिया के कर्ता, कर्म, करण, और अधिकरण कारक

जो **प्रतिक्रमण** करता है, वह कर्ता होता है। वह जिन दोषों का **प्रतिक्रमण** करता है, वे दोष, उसके कर्म होते हैं। जिन परिणामों से अथवा पाठादि से दोषों की शुद्धि की जाती है, वे परिणाम आदि उसके करण होते हैं और **प्रतिक्रमण** के आधारभूत व्रतादि या व्रतधारी जीव, अधिकरण होता है।

दैवसिक आदि प्रतिक्रमण के सात भेद[151]

प्रतिक्रमण के अनेक अपेक्षाओं से अनेक प्रकार के भेद किये गये हैं। किसी अपेक्षा सात भेद हैं तो किसी अपेक्षा छह भेद हैं तो किसी अपेक्षा चार भेद हैं।

प्रतिक्रमण के सात भेद बताते हुए मूलाचार में कहा है –

पडिकमणं देवसियं, रादिय इरियापधं च बोधव्वं।
पक्खिय चादुम्मासिय, संवच्छरमुत्तमट्ठं च।।[152]

अर्थात् 1. दैवसिक प्रतिक्रमण, 2. रात्रिक प्रतिक्रमण, 3. ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण, 4. पाक्षिक प्रतिक्रमण, 5. चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, 6. सांवत्सरिक प्रतिक्रमण, और 7. उत्तमार्थ प्रतिक्रमण।

1. **दैवसिक प्रतिक्रमण –** दिवस में हुए दोषों का प्रतिक्रमण, **दैवसिक प्रतिक्रमण** कहलाता है। दिन के समय नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के आश्रय से कृत, कारित, और अनुमोदनारूप दोषों का मन-वचन-काय से शोधन करना, **दैवसिक प्रतिक्रमण** है। यह **प्रतिक्रमण,** दिवस के अन्त में सांयकाल के समय होता है।
2. **रात्रिक प्रतिक्रमण –** पूर्व रात्रि में हुए दोषों का प्रतिक्रमण, **रात्रिक प्रतिक्रमण** कहलाता है। रात्रि के समय में होने वाले छह नामादिकों के आश्रय से होने वाले कृत, कारित और अनुमत दोषों का मन-वचन-काय से शोधन करना, **रात्रिक प्रतिक्रमण** है। यह **प्रतिक्रमण**, रात्रि के अन्त में प्रातःकाल होता है।
3. **ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण –** ईर्यापथ-सम्बन्धी प्रतिक्रमण, **ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण** कहलाता है। मुनिराज, चार हाथ जमीन देख कर चलते हैं – यह ईर्यापथशुद्धि कहलाती है; उसमें छह काय के जीवों के विषय में लगे हुए दोषों का विशोधन करना, **ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण** है। यह **प्रतिक्रमण**, ईर्यापथ से चल कर आने के बाद होता है।

4. **पाक्षिक प्रतिक्रमण –** एक पक्ष में हुए दोषों का प्रतिक्रमण, **पाक्षिक प्रतिक्रमण** कहलाता है। पन्द्रह दिन और रात्रि में छह नामादिकों के आश्रय से कृत, कारित, और अनुमोदना दोषों का मन-वचन-काय से शोधन करना, **पाक्षिक प्रतिक्रमण** है। यह **प्रतिक्रमण,** प्रत्येक चतुर्दशी, अमावस्या या पूर्णमासी को होता है।
5. **चातुर्मासिक प्रतिक्रमण –** चार माह में हुए दोषों का प्रतिक्रमण, **चातुर्मासिक प्रतिक्रमण** कहलाता है। चार माह में छह नामादिकों के आश्रय से होने वाले कृत, कारित, और अनुमोदना दोषों का मन-वचन-काय से शोधन करना, **चातुर्मासिक प्रतिक्रमण** है। यह **प्रतिक्रमण**, प्रतिवर्ष कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णमासी तथा फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णमासी को होता है।
6. **सांवत्सरिक प्रतिक्रमण –** संवत्सर अर्थात् एक वर्ष में हुए दोषों का प्रतिक्रमण, **सांवत्सरिक प्रतिक्रमण** कहलाता है। एक वर्ष में छह नामादिकों के आश्रय से होने वाले कृत, कारित, और अनुमोदना दोषों का मन-वचन-काय से शोधन करना, वार्षिक अथवा **सांवत्सरिक प्रतिक्रमण** है। यह **प्रतिक्रमण**, प्रतिवर्ष आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णमासी को होता है।
7. **उत्तमार्थ प्रतिक्रमण –** उत्तम अर्थ अर्थात् सल्लेखना से सम्बन्धित प्रतिक्रमण, **उत्तमार्थ प्रतिक्रमण** कहलाता है। जीवन के समस्त दोषों की आलोचना करके जीवन पर्यन्त के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, **उत्तमार्थ प्रतिक्रमण** है; इसमें सब दोषों के प्रतिक्रमणस्वरूप **सर्वातिचार प्रतिक्रमण का अन्तर्भाव** हो जाता है। यह **प्रतिक्रमण,** प्रत्येक साधक सल्लेखना अर्थात् समाधिमरण के समय करता है।

उक्त सभी **प्रतिक्रमण,** प्रत्येक साधु को यथासमय अवश्य करणीय होते हैं।

नाम आदि प्रतिक्रमण के छह भेद[153]

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप आलम्बनों की अपेक्षा, **प्रतिक्रमण के छह भेद** हैं – 1. नाम प्रतिक्रमण, 2. स्थापना प्रतिक्रमण, 3. द्रव्य प्रतिक्रमण, 4. क्षेत्र प्रतिक्रमण, 5. काल प्रतिक्रमण, और 6. भाव प्रतिक्रमण।

1. **नाम प्रतिक्रमण –** जो नाम, पाप के कारण हैं, उनके उच्चारण आदि से परिणामों की निवृत्ति होना अथवा अयोग्य नामों का उच्चारण न करना, **नाम प्रतिक्रमण** है। जैसे, भट्टिनी, दारिका, स्वामिनी, आदि अयोग्य नाम हैं। अथवा **प्रतिक्रमण** के दण्डकरूप शब्दों का उच्चारण करना, **नाम प्रतिक्रमण** है।
2. **स्थापना प्रतिक्रमण –** सरागी देवों की स्थापनामूलक परिणामों से निवृत्ति होना अथवा आप्ताभास की प्रतिमा के आगे खड़े होकर हाथ जोड़ना, मस्तक नवाना, अष्ट द्रव्य से पूजा करना, इस प्रकार की स्थापना का त्याग करना, **स्थापना प्रतिक्रमण** है। अथवा त्रस-स्थावर जीवों की स्थापनाओं को नष्ट करना, उनको तोड़ना-फोड़ना, आदि का त्याग करना, **स्थापना प्रतिक्रमण** है।
3. **द्रव्य प्रतिक्रमण –** जो आहार, पुस्तक, औषध, उपकरण, आदि वस्तु, हिंसा आदि पाप से युक्त है, उसके सेवन से परिणामों की निवृत्ति होना, **द्रव्य प्रतिक्रमण** है। अथवा क्षेत्र, वास्तु, आदि दश प्रकार के परिग्रह तथा उद्गम, उत्पादन, एषणा, आदि दोष युक्त वसतिका, उपकरण व आहार का त्याग करना; अयोग्य अभिलाषा, उन्मत्तता तथा संक्लेश परिणाम को बढ़ाने वाले आहार आदि पदार्थों का त्याग करना, यह सब **द्रव्य प्रतिक्रमण** है। सचित्त, अचित्त, और सचित्ताचित्त द्रव्य अथवा अप्रासुक द्रव्य, **प्रतिक्रमण के योग्य** हैं; उनके द्वारा लगे हुए दोषों का शोधन करना चाहिए।

   इस प्रकार सावद्य अर्थात् पापकारक द्रव्यों के सेवन से परिणाम को निवृत्त करना, **द्रव्य प्रतिक्रमण** है।
4. **क्षेत्र प्रतिक्रमण –** शयन, आसन, स्थान, गमन, आदि के विषयभूत घर, नगर, आदि क्षेत्र-सम्बन्धी दोषों से परिणामों की निवृत्ति होना अथवा पानी, कीचड़, त्रस-स्थावर जीवों से व्याप्त प्रदेश का त्याग करना तथा रत्नत्रय की हानि हो – ऐसे प्रदेश का त्याग करना, **क्षेत्र प्रतिक्रमण** है। ऐसे क्षेत्रों में ज्ञान और तप में वृद्ध मुनिगण नहीं रहते, इसलिए उनमें रहना वर्जित है।

   इस प्रकार क्षेत्र के आश्रित हुए अतिचारों से दूर होना, **क्षेत्र प्रतिक्रमण** है।
5. **काल प्रतिक्रमण –** घड़ी, मुहूर्त, प्रहर, सन्ध्या, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, पर्व, वर्षा, आदि के विषय में काल-सम्बन्धी दोषों से परिणामों की निवृत्ति होना अथवा रात्रि, तीनों सन्ध्याओं, स्वाध्याय के काल, आवश्यक क्रियाओं के काल, आदि में; आने-जाने, चलने-फिरने, गमन-आगमन का त्याग करना, **काल**

प्रतिक्रमण है। यद्यपि काल का त्याग तो अशक्य जैसा है, अतः काल में होने वाले कार्य विशेषों को काल से सम्बन्धित होने के कारण 'काल' शब्द से ग्रहण किया गया है।

इस प्रकार काल के आश्रय से हुए अतिचारों से दूर होना, **काल प्रतिक्रमण** है।

6. **भाव प्रतिक्रमण** – मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, राग-द्वेष, आहारादि संज्ञा, निदान, आर्त-रौद्र, आदि अशुभ परिणाम और अप्रशस्त योग-सम्बन्धी दोषों का शोधन करके राग-द्वेष-मोह आदिरूप भावों के विषय में परिणामों की निवृत्ति होना अथवा आर्त-रौद्र इत्यादिक अशुभ परिणाम व पुण्यास्रव के कारणभूत शुभ परिणाम का त्याग करना, **भाव प्रतिक्रमण** है।

इस प्रकार राग-द्वेष आदि भावों के आश्रित अतिचारों से निवृत्त होना, **भाव प्रतिक्रमण** है। कहा भी है – **पुण्यास्रवभूताश्च शुभपरिणामाः इह भावशब्देन गृहीता गृह्यन्ते, तेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमणं इति।**

प्रतिक्रमण के चार भेद[154]

इन्हीं भेदों को यदि सिर्फ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अथवा नाम-स्थापना-द्रव्य-भावरूप चार निक्षेपों की अपेक्षा देखा जाए तो **प्रतिक्रमण के चार भेद** भी कह सकते हैं। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र की अपेक्षा चार भेदों और उनके प्रभेदों का विस्तृत व्याख्यान किया गया है –

1. **नाम प्रतिक्रमण** – निमित्त की अपेक्षा न करके किसी का **प्रतिक्रमण** नाम रखना, **नाम प्रतिक्रमण** है। अथवा **नाम प्रतिक्रमण** नाममात्र है।
2. **स्थापना प्रतिक्रमण** – अशुभ परिणाम वाले जीवों के शरीर का जैसा आकार होता है, उस आकार के सादृश्य की अपेक्षा से चित्र में अशुभ परिणामों की स्थापना, **स्थापना प्रतिक्रमण** है। अथवा **प्रतिक्रमण** में परिणत हुए के प्रतिबिम्ब की स्थापना करना, **स्थापना प्रतिक्रमण** है।
3. **द्रव्य प्रतिक्रमण – द्रव्य प्रतिक्रमण के दो भेद** हैं – आगम द्रव्य प्रतिक्रमण और नोआगम द्रव्य प्रतिक्रमण।

   आगम द्रव्य प्रतिक्रमण – प्रमाण-नय-निक्षेप आदि के द्वारा **प्रतिक्रमण** नामक आवश्यक के स्वरूप का जो ज्ञाता, उसमें उपयुक्त नहीं है, वह **प्रतिक्रमण** विषयक ज्ञान का कारण होने से **आगम द्रव्य प्रतिक्रमण** शब्द से कहा जाता है। अथवा जो **प्रतिक्रमण** शास्त्र को जानने वाला तो है किन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है तो वह **आगम द्रव्य प्रतिक्रमण** है।

   नोआगम द्रव्य प्रतिक्रमण – इसके **तीन भेद** हैं – ज्ञायकशरीर, भावि, और तद्व्यतिरिक्त। जैसे, **प्रतिक्रमण** पर्याय का कारण आत्मा है, वैसे उसका त्रिकालवर्ती शरीर भी कारण है; इसलिए वह **ज्ञायक शरीर प्रतिक्रमण** शब्द से कहा जाता है। चारित्रमोह के क्षयोपशम के होने पर जो आत्मा, भविष्य में **प्रतिक्रमण** पर्यायरूप होगा, वह **भावि प्रतिक्रमण** है। तथा क्षयोपशम अवस्था को प्राप्त चारित्रमोह कर्म, **नोआगम द्रव्य तद्व्यतिरिक्त प्रतिक्रमण** है। अथवा **आगम द्रव्य प्रतिक्रमण** को करने वाले का शरीर आदि, **नोआगम द्रव्य प्रतिक्रमण** हैं।
4. **भाव प्रतिक्रमण** – इसके भी **दो भेद** हैं – आगम भाव प्रतिक्रमण और नोआगम भाव प्रतिक्रमण।

   आगम भाव प्रतिक्रमण – प्रतिक्रमणरूप ज्ञान, **आगम भाव प्रतिक्रमण** है अर्थात् मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, और मिथ्याचारित्र से मैं विरत हूँ, इस प्रकार का स्वरूपज्ञान, **आगम भाव प्रतिक्रमण** है।

   नोआगम भाव प्रतिक्रमण – अशुभ परिणाम के दोष को जान कर, उस पर श्रद्धा करके, उसके प्रतिपक्षी शुभ परिणामों में प्रवृत्ति करना, **नोआगम भाव प्रतिक्रमण** है।

प्रतिक्रमण के तीन भेद

मन-वचन-काय की अपेक्षा **प्रतिक्रमण के तीन भेद** बताते हुए भगवती आराधना की विजयोदया टीका में ही कहा है –

कृतातिचारस्य यतेस्तदतिचारपरांगपुखता योगत्रयेण हा दुष्टं कृतं चिन्तितमनुमतं चेति परिणामः प्रतिक्रमणम्।[155]

अर्थात् जिस साधु ने अपने व्रतों में अतिचार लगाये है, उसका उन दोषों से विमुख होकर, हाय! मैंने तीनों योगों से बुरा किया, या बुरा विचारा या उसमें बुरी अनुमोदना की; इस प्रकार परिणामों को प्रतिक्रमण कहते हैं।

मनसा कृतातिचारान्निवृत्तिः। हा दुष्कृतमिति वा मनःप्रतिक्रमणं, सूत्रोच्चारणं वाक्प्रतिक्रमणं, कायेन तदनाचरणं कायप्रतिक्रमणम्।[156]

अर्थात् मन से किये हुए दोषों की निवृत्ति करना अथवा हाय! मैंने बुरा कार्य किया है – ऐसा मन से विचार करना, यह **मनः प्रतिक्रमण** है; प्रतिक्रमण सम्बन्धी सूत्रों का उच्चारण करना, **वाक्य प्रतिक्रमण** है; तथा शरीर के द्वारा दुष्कृत्यों का आचरण नहीं करना, **काय प्रतिक्रमण** है।

प्रतिक्रामक-प्रतिक्रमण-प्रतिक्रमितव्य की अपेक्षा तीन भेद[157]

मूलाचार में अन्य तरह से **प्रतिक्रमण से सम्बन्धित तीन भेद** का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि **पडिकमओ पडिकमणं, पडिकमिदव्वं च होदि णादव्वं** अर्थात् प्रतिक्रामक, प्रतिक्रमण, और प्रतिक्रमण करने योग्य वस्तु; इनको भी जानना चाहिए।

1. **प्रतिक्रामक** – जो **प्रतिक्रमण** करता है अर्थात् किये हए दोषों से विरक्त होता है, उनसे अपने को हटाता है, वह **प्रतिक्रामक** है।

   अथवा जो दोषों को दूर करने में प्रवृत्त होता है, निर्विघ्नरूप से **प्रतिक्रमण** करता है, वह **प्रतिक्रामक** है; वह साधु, पाँच महाव्रत आदि को श्रवण करने, उनको धारण करने, और उनके दोषों को दूर करने में तत्पर रहता है।

   अथवा जो चेतना लक्षण वाला जीव, दोषों के द्वारा आए हुए कर्मों को दूर करने के स्वभाव वाला है, वह **प्रतिक्रामक** है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के विषय में अतिचारों से निवृत्त होकर **प्रतिक्रमण** करने वाला होता है।

   अथवा बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, आदिरूप ज्ञेयाकार से पृथक् रहने वाला अर्थात् तत्सम्बन्धी अतिचारों से हटने वाला आत्मा **प्रतिक्रामक** है।

   अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावनिमित्तक अतिचारों से जो वापस आता है, वह आत्मा **प्रतिक्रामक** है।

2. **प्रतिक्रमण** – पाँच महाव्रत आदि में हुए अतिचारों से विरति अथवा व्रतशुद्धि -निमित्त अक्षरों का समूह **प्रतिक्रमण** है।

   अथवा जिन परिणामों से या जिन अक्षरसमूहों से यह जीव, जिस व्रतशुद्धिपूर्वक अपने स्वरूप में वापस आ जाता है अथवा पूर्व के व्रतों की शुद्धि से परिणत हुए जीव में वापस आ जाता है, अतिचार को तिरस्कृत करनेरूप वह परिणाम, अथवा वह अक्षरसमूह, उस व्रत के अथवा व्रतों की शुद्धि से परिणत हुए जीव का **प्रतिक्रमण** है अर्थात् शुद्धि के परिणाम या प्रतिक्रमण पाठ के दण्डक **प्रतिक्रमण** कहलाते हैं।

   अथवा यह जीव, जिन परिणामों से व्रतों में हुए अतिचारों का प्रक्षालन करके पुनः पूर्व के व्रत की शुद्धि में वापस आ जाता है अर्थात् उसके व्रत पूर्ववत् निर्दोष हो जाते हैं; वह परिणाम उस जीव का **प्रतिक्रमण** है।

   अथवा 'मिथ्या मे दुष्कृतं' – इन शब्दों से अभिव्यक्त है प्रतिक्रिया जिसकी – ऐसा वह **प्रतिक्रमण** होता है; जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के आश्रय से होता है।

3. **प्रतिक्रमितव्य** – मिथ्यात्व, असंयम, आदि अतिचाररूप द्रव्य त्याग करने योग्य हैं, इन्हें ही **प्रतिक्रमितव्य** कहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के भेद से **प्रतिक्रमितव्य के चार प्रकार** हैं –

   1. जिन द्रव्यों के आश्रय से पाप का आगमन होता है, वे द्रव्य त्याग करने योग्य अर्थात् **प्रतिक्रमितव्य द्रव्य** हैं। वे प्रतिक्रमितव्य द्रव्य, सचित्त अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार के हैं। उनमें द्विपद – दास, दासी, आदि और चतुष्पद – गाय, भैंस, आदि सचेतन पदार्थ **सचित्त द्रव्य** हैं; सोना, चाँदी, लोहा, आदि अचेतन पदार्थ **अचित्त द्रव्य** हैं और वस्त्रादि युक्त मनुष्य, नौकर-चाकर, आदि चेतन-अचेतन मिश्र पदार्थ **मिश्र द्रव्य** हैं। उक्त तीनों प्रकार के द्रव्य, **प्रतिक्रमितव्य द्रव्य** अर्थात् त्याग करने योग्य द्रव्य हैं।

   2. जिन क्षेत्रों के आश्रय से पाप का आगमन होता है; वे क्षेत्र, त्याग करने योग्य क्षेत्र हैं। साधु की दृष्टि से गृह, पत्तन, कूप, बावड़ी, आदि क्षेत्र, **प्रतिक्रमितव्य क्षेत्र** अर्थात् त्याग करने योग्य क्षेत्र हैं।

   3. जिन कालों के आश्रय से पाप का आगमन होता है, वे काल, **प्रतिक्रमितव्य काल** अर्थात् त्याग करने योग्य काल हैं। उसके मुहुर्त, दिन, रात, वर्षाकाल, आदि भेद हैं। तात्पर्य यह है कि जिन कालों में

प्रतिक्रमण करना, आगम में कहा गया है, उन कालों में प्रतिक्रमण करना योग्य है, अन्य काल त्याग करने योग्य काल हैं। अथवा अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निका आदि काल में द्रव्य, क्षेत्र, अथवा भावरूप प्रतिक्रमण करना चाहिए।

4. जिन भावों के आश्रय से पाप का आगमन होता है, वे भाव, **प्रतिक्रमितव्य भाव** अर्थात् त्याग करने योग्य भाव हैं।

इस प्रकार अप्रासुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव; त्याग करने योग्य हैं और उनके द्वारा होने वाले अतिचार भी त्याग करने योग्य हैं।

द्रव्य-भाव की अपेक्षा प्रमिक्रमण के दो भेद[158]

जिन-अक्षरों का उच्चारण अर्थात् 'मिच्छा मे दुक्कडं' इत्यादि दण्डकों का उच्चारण करना, **द्रव्य प्रतिक्रमण** है; ये शब्द भी दोषों को दूर करने में हेतु होते हैं तथा जिन परिणामों से दोषों का शोधन होता है, वे परिणाम **भाव प्रतिक्रमण** हैं।

1. **भाव प्रतिक्रमण का स्वरूप,** मूलाचार की निम्न गाथा में प्रगट किया गया है –

मिच्छत्तपडिक्कमणं, तह चेव असंजमे पडिक्कमणं।
कसाएसु पडिक्कमणं, जोगेसु य अप्पसत्थेसु।। 619।।[159]

अर्थात् मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, असंयम का प्रतिक्रमण, कषायों का प्रतिक्रमण और प्रशस्त योगों का प्रतिक्रमण – ये सभी **भाव प्रतिक्रमण** हैं। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व आदि सम्बन्धी दोषों या अतिचारों का परिहार करना, उनसे निवृत्त होना, **भाव प्रतिक्रमण** हैं।

भाव-प्रतिक्रमण की महानता का प्रतिपादन करते हुए मूलाचार में कहा है –

आलोयणणिंदणगरहणाहिं अब्भुट्ठिओ अकरणाए।
तं भावपडिक्कमणं, सेसं पुण दव्वदो भणिदं।।625।।[160]

अर्थात् आलोचना, निन्दा और गर्हा में तत्पर होकर, पुनः दोष न लगाने को **भाव प्रतिक्रमण** कहते हैं; उसके बिना तो मात्र **द्रव्य प्रतिक्रमण** है।

आलोचना, निन्दा और गर्हा के द्वारा प्रतिक्रमण करने में अथवा पुनः अतिचारों के नहीं करने में जो उद्यत होता है, उसके वह **भाव प्रतिक्रमण** होता है; जो कि परमार्थभूत दोषों के परिहारस्वरूप है। पुनः इन आलोचना आदि के बिना जो प्रतिक्रमण है, वह **द्रव्य प्रतिक्रमण** है, वह अपरमार्थरूप कहा गया है।

भाव प्रतिक्रमण से युक्त होकर, पुनः दोषों की विशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण-सम्बन्धी पाठों को मन लगा कर पढ़ना या सुनना चाहिए, इससे कर्मों की निर्जरा होती है। कहा भी है – 'जो साधु, **भाव प्रतिक्रमण** से युक्त होकर और उसके अर्थ में मन लगा कर, सदा **प्रतिक्रमण सूत्र** को पढ़ता है, वह कर्मों की महान निर्जरा करता है।'

2. **द्रव्य प्रतिक्रमण का दोष** बताते हुए मूलाचार में कहा है –

भावेण अणुवजुत्तो, दव्वीभूदो पडिक्कमदि जो दु।
जस्सट्ठं पडिकमदे, तं पुण अट्ठं ण साधेदि।। 626।।[161]

अर्थात् जो भाव से उपयुक्त न होता हुआ द्रव्यरूप प्रतिक्रमण करता है; वह जिस लिए प्रतिक्रमण करता है, उस प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर पाता है।

जो शुद्ध परिणामों से रहित है, दोषों से अपने मन को दूर नहीं करने वाला है – ऐसा साधु, दोष को दूर करने के लिए **प्रतिक्रमण** को सुनता है या करता है तो वह जिस दोष के लिए **प्रतिक्रमण** करता है, उस दोष को छोड़ नहीं पाता है अर्थात् यदि साधु का मन, **प्रतिक्रमण** करते समय दोषों की आलोचना, निन्दा, आदि करने रूप नहीं है तो वह **प्रतिक्रमण दण्डक** को सुन लेने या पढ़ लेने मात्र से उन दोषों से छूट नहीं सकता है; अतः जिस लिए **प्रतिक्रमण** किया जाता है, वह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाता है – ऐसा समझ कर, **भाव प्रतिक्रमण** करना चाहिए।

इस प्रकार जो साधु, भाव से संयुक्त होकर, जिस अर्थ की प्राप्ति के लिए उद्यत होकर, **प्रतिक्रमण पदों** का उच्चारण करता है अथवा सुनता है, वह बहुत से कर्मों की निर्जरा कर लेता है अर्थात् सभी अपराधों का परिहार कर लेता है।

प्रतिक्रमण के भेदों का परस्पर में अन्तर्भाव

सर्वातिचार और त्रिविधाहार त्यागिक नाम के प्रतिक्रमण, **उत्तमस्थान प्रतिक्रमण में अन्तर्भूत** होते हैं। अट्ठाईस मूलगुणों के अतिचार विषयक समस्त प्रतिक्रमण, **ईर्यापथ प्रतिक्रमण में अन्तर्भूत** होते हैं क्योंकि प्रतिक्रमण, अवगत अतिचारों को विषय करता है।[162]

द्रव्य अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान और भाव अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान

द्रव्य-भाव प्रतिक्रमण और द्रव्य-भाव प्रत्याख्यान के अलावा **द्रव्य-भाव अप्रतिक्रमण और द्रव्य-भाव अप्रत्याख्यान** का स्वरूप वर्णित करते हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने समयसार की मूल गाथाओं में आत्मा के अकारकपने की बात कही है; मूल गाथाएँ निम्न प्रकार हैं –

अपडिक्कमणं दुविहं, दव्वे भावे तहा अपच्चक्खाणं।
एएणुवएसेणं, अकारओ वण्णिओ चेया।। 284।।
जावं अपडिक्कमणं, अपच्चक्खाणं च दव्वभावाणं।
कुव्वइ आया तावं, कत्ता सो होइ णायव्वो।। 285।।[163]

अर्थात् अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है – एक तो द्रव्यरूप और दूसरा भावरूप। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है – एक द्रव्यरूप और दूसरा भावरूप। इस उपदेश के द्वारा चेतयिता आत्मा, अकारक कहा गया है।

जब तक आत्मा, **द्रव्यरूप और भावरूप, अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान** करता है; तब तक वह कर्ता होता है – यह जानना चाहिए।

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का अर्थ यह है कि जो अतीत काल में परद्रव्यों का ग्रहण किया था, उन्हें वर्तमान में भला जाने, उनका संस्कार रहे, ममत्व रहे; वह तो **द्रव्य अप्रतिक्रमण** है तथा उन परद्रव्यों के ग्रहण के निमित्त से जो रागादि भाव हुए थे, उन्हें वर्तमान में भला जाने, उनसे ममत्व या संस्कार रहे, वह **भाव अप्रतिक्रमण** है। इसी प्रकार आगामी काल की अपेक्षा **द्रव्य-भाव अप्रत्याख्यान** का स्वरूप जानना चाहिए।[164]

प्रतिक्रमण आदि विषकुम्भ या अमृतकुम्भ

व्यवहार आचार शास्त्रों में अप्रतिक्रमण, अप्रत्याख्यान, आदि को विषकुम्भ और प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आदि को अमृतकुम्भ कहा गया है क्योंकि नीचे की भूमिका में प्रतिक्रमण आदि करने पर मुमुक्षु का उपकार होता है और न करने पर अपकार होता है, किन्तु ऊपर की भूमिका में तो **प्रतिक्रमण आदि करने पर भी अपकार** ही होता है; अतः समयसार में मोक्ष अधिकार की मूल गाथाओं में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि को विषकुम्भ और अप्रतिक्रमण, अप्रत्याख्यान, आदि को अमृतकुम्भ कहा है। इसी प्रकार का कथन अनगार धर्मामृत में भी किया गया है। यद्यपि समयसार और अन्यत्र भी ऐसा निश्चय नय की अपेक्षा कथन किया गया है, तथापि वहाँ सामान्य प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमण आदि से भिन्न शुद्धोपयोगस्वरूप तीसरी भूमिका को अप्रतिक्रमण आदिरूप कहा गया है।[165]

व्यवहार आचार शास्त्रों में वर्णित गाथाएँ निम्न हैं –

अपडिक्कमणमपडिसरणं, अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुंभो।।
पडिकमणं पडिसरणं, परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही, अट्ठविहो अमयकुंभो।।[166]

अर्थात् अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि – इन आठ कारणों से लगे हुए दोषों को प्रायश्चित्त नहीं करना, वह तो विषकुम्भ है अर्थात् जहर से भरा घड़ा है।

तथा प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि – इन आठ प्रकारों से लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त करना, वह अमृतकुम्भ है।

यहाँ दण्डकों का पाठ, **द्रव्यरूप प्रतिक्रमण** कहलाता है। पूर्व में किये गये पापों के निराकरण करने को **प्रतिक्रमण** कहते हैं। सम्यक्त्व आदि गुणों में प्रवृत्ति को **प्रतिसरण या सारण** कहते हैं। मिथ्यात्व

आदि दोषों से निवृत्ति को **परिहरण या हारण** कहते हैं। णमोकार आदि मन्त्रों के माध्यम से चित्त के स्थिर करने को **धारणा** कहते हैं। चित्त के अन्यत्र जाने पर उसे वहाँ लौटाने को **निवृत्ति** कहते हैं। आत्मसाक्षीपूर्वक दोषों को प्रगट करने को **निन्दा** कहते हैं और गुरु की साक्षीपूर्वक दोषों के प्रगट करने को **गर्हा** कहते हैं। प्रायश्चित्त आदि के द्वारा आत्मा के शोधन को **शुद्धि** कहते हैं।

नीचे के गुणस्थानों में ये आठ अमृतकुम्भ के तुल्य माने हैं क्योंकि इनके करने से दोषों का परिमार्जन होकर चित्त विशुद्ध होता है। यदि उस स्थिति में इन्हें नहीं किया जाए तो इनका न करना अर्थात् अप्रतिक्रमण आदि विषकुम्भ हैं क्योंकि दोषों का परिमार्जन न होने से पाप का बन्ध होता है; किन्तु **अष्टम आदि गुणस्थानों में प्रतिक्रमण आदि भी विषकुम्भ** माने जाते हैं क्योंकि शुभोपयोगरूप होने से ये पुण्यास्रव के कारण होते हैं और पुण्यबन्ध, वैभव का कारण होने से मनुष्य की मति को विकृत करता है।[167]

परमात्म प्रकाश में कहा है –

पुण्णेण होइ विहवो, विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण वि पापं, तं पुण्णं अम्ह मा होउ।।[168]

अर्थात् पुण्य से वैभव मिलता है। वैभव पाकर मद होता है। मद से बुद्धि मूढ़ हो जाती है। बुद्धि के मूढ़ होने से प्राणी पाप करने लगता है। ऐसा पुण्य हमें नहीं चाहिए।

व्यवहार आचारशास्त्रों की उक्त गाथाओं का निश्चय नय से निषेध करने वाली समयसार की बिलकुल समान-सी दिखने वाली गाथाएँ निम्न प्रकार हैं –

पडिकमणं पडिसरणं, परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही, अट्ठविहो होदि विसकुंभो।।
अप्पडिक्कमणं अप्पडिसरणं, अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागऽरहाऽसोही अविसकुंभो।।[169]

अर्थात् प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि – यह आठ प्रकार का तो विषकुम्भ है क्योंकि इनमें कर्तापने की बुद्धि होती है और कर्तापना, वह बन्ध का कारण है।

तथा अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि – यह आठ प्रकार का अमृतकुम्भ है क्योंकि यहाँ कर्तापने का निषेध है अर्थात् कुछ भी नहीं करना; अतः ये बन्ध से रहित हैं।

उक्त गाथाओं की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने इस विषय का अत्यन्त सरस स्पष्टीकरण किया है, जिसका अर्थ हिन्दी वचनिका में पण्डित जयचन्द छाबड़ा लिखते हैं –

प्रथम तो अज्ञानीजनों को जो साधारण अप्रतिक्रमण आदि होते हैं, वे शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभावरूप स्वभाव वाले हैं, अतः स्वयं ही अपराधरूप होने से विषकुम्भ ही हैं; इसलिए उनका विचार करने से क्या लाभ है? वे तो पहले ही त्यागने योग्य हैं तथा जो **द्रव्य प्रतिक्रमण** आदि हैं, वे सब अपराधरूप विष के दोष को अनुक्रम से काटने में समर्थ होने से व्यवहार आचारसूत्र में अमृतकुम्भ भी कहे गए हैं; फिर भी प्रतिक्रमण व अप्रतिक्रमण, दोनों से विलक्षण ऐसी अप्रतिक्रमण आदिस्वरूप तीसरी भूमिका को न देखने वाले पुरुष को, दोनों के काटनेरूप अपने कार्य को करने में असमर्थ होने से, विपक्ष अर्थात् बन्ध का कार्य करने वाले होने से **प्रतिक्रमण आदि भी विषकुम्भ** ही हैं।

यहाँ जो अप्रतिक्रमण आदिरूप तीसरी भूमिका है, वह स्वयं ही शुद्ध आत्मा की सिद्धिरूप है अर्थात् सर्व अपराधरूप विष के दोषों को सम्पूर्णतः नष्ट करने वाली है, अतः वह स्वयं साक्षात् अमृतकुम्भ है; इस प्रकार उत्पन्न हुई यह भूमिका व्यवहार से द्रव्य **प्रतिक्रमण आदि** को भी अमृतकुम्भत्व साधती है। उस तीसरी भूमि से ही आत्मा निरपराध होता है। उस तीसरी भूमिका के अभाव में द्रव्यप्रतिक्रमण आदि **अपराध ही** हैं; अतः यह सिद्ध हुआ कि अप्रतिक्रमण आदिरूप तीसरी भूमिका ही से निरपराधपना होता है, उसकी प्राप्ति के लिए ही यह **द्रव्य प्रतिक्रमण** आदि हैं।

इसलिए ऐसा मत मानो कि निश्चय नय के शास्त्र, द्रव्य प्रतिक्रमण आदि को छुड़ाते हैं। तो वे क्या करते हैं? **द्रव्य प्रतिक्रमण** आदि ही से आत्मा, बन्ध से नहीं छूटता है, इसके अतिरिक्त अन्य भी **प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमण आदि से अगोचर, अप्रतिक्रमण आदिरूप** शुद्ध आत्मा की सिद्धि लक्षण वाले और

कठिनाई से प्राप्त होने वाले, ऐसे कुछ कार्य कराते हैं क्योंकि इसी ग्रन्थ में कहा है – **कम्मं जं पुव्वकयं, सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं। तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो अपडिक्कमणं।** अर्थात् अनेक प्रकार के विस्तार वाले पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों से जो अपने को दूर रखता है, वह आत्मा **प्रतिक्रमण** है।

भावार्थ इस प्रकार है कि **द्रव्य प्रतिक्रमण** आदि तो दोषों को मिटाने वाले हैं परन्तु **शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्रतिक्रमण रहित** है; उसके अवलम्बन बिना तो **द्रव्य प्रतिक्रमण** आदि भी दोषस्वरूप ही हैं, वे दोषों को मिटाने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि निश्चयनय की अपेक्षा सहित व्यवहारनय तो मोक्षमार्ग में होता है; केवल व्यवहार ही का पक्ष तो मोक्षमार्ग में नहीं है, वह तो बन्ध ही का मार्ग है। इसीलिए ऐसा कहा है कि अज्ञानी के अप्रतिक्रमण आदि तो विषकुम्भ हैं ही, उनकी तो क्या कथा कहें, बल्कि जो व्यवहारचारित्र में **प्रतिक्रमण** आदि कहे हैं, वे भी निश्चय नय से विषकुम्भ ही हैं क्योंकि **आत्मा तो प्रतिक्रमण आदि से रहित शुद्ध अप्रतिक्रमण आदिस्वरूप** ही है – ऐसा जानना।[170]

समयसार की इन गाथाओं पर विस्तृत व्याख्यान करते हुए **गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** अनेक रहस्यों से अवगत कराते हैं, यहाँ उनके विचार द्रष्टव्य हैं –

1. अन्दर में ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि हुए बिना बाह्य व्रत-तप आदि तो केवल देह का शोषण है, इनसे भवभ्रमण नहीं मिटता। इनसे तो संसार ही फलता है, मुक्ति नहीं होती।
2. अज्ञानी के तो ये भाव विषकुम्भ हैं ही, किन्तु समकिती भी इन्हें विषकुम्भ ही जानते/मानते हैं क्योंकि ये अतीन्द्रिय आनन्द से विपरीत हैं।
3. जो प्रतिक्रमण आदि पुण्यभावों को धर्म मानते हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, अपराधी हैं। अनादि से वे मिथ्यादर्शन आदि भावों का सेवन करते हुए चारों गतियों में रुल रहे हैं।
4. जिसने अन्तर में अपना आत्मा – अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्दस्वरूप अनुभव किया है – ऐसे धर्मी पुरुष को सुबह शाम द्रव्यप्रतिक्रमणादिरूप शुभभाव आता है, वह अपराधरूपी विष के दोष को घटाने में समर्थ है। इस कारण ऐसा कहा है कि 'धर्मी के प्रतिक्रमणादि शुभभाव व्यवहार से अमृतकुम्भ हैं। देखो, धर्मी के ये द्रव्यप्रतिक्रमणादि के शुभभाव, रागादि दोषों को घटाने में तो समर्थ हैं, परन्तु उनका अभाव करने में नहीं। रागादि का अभाव तो एक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का आश्रय लेने से होता है।
5. चारित्रवन्तों को निन्दा-गर्हा आदि परद्रव्य के आलम्बनरूप शुभभाव तो आते हैं, तथा पंच परमेष्ठी के स्मरण, स्तुति आदि का शुभराग भी आता है; लेकिन उस शुभराग में मात्र पाप को घटाने की ताकत है। पाप को कम करने का हेतु देख कर, उस शुभराग को व्यवहार से अमृतकुम्भ कह दिया है।
6. अप्रतिक्रमण आदिरूप तीसरी शुद्धोपयोग भूमिका मे निर्मल रत्नत्रय पकता है, अतः स्वयं साक्षात् अमृतकुम्भ है। इसी तीसरी भूमिका से ही आत्मा निरपराध होता है, अन्य प्रकार से नहीं, व्यवहार रत्नत्रय से भी नहीं। धर्मी को भी व्यवहार रत्नत्रय के विकल्प तो आते है, परन्तु उसका लक्ष्य तो अन्दर भगवान आत्मा के अनुभव में ही रहता है। दया-दान आदि शुभभाव के काल में भी उसकी दृष्टि शुद्धात्मा पर ही होती है।
7. शास्त्र के कथन का अभिप्राय द्रव्यप्रतिक्रमण आदि छुड़ाना नहीं है, परन्तु उसी में जो अनादि से अटके हैं, मात्र वह अटक (सन्तुष्टि) छुड़ाने का उद्देश्य है। प्रतिक्रमण, सामायिक, भक्ति, व्रत, तप, पूजा, आदि के शुभराग में जो अटेके हैं और इसी में धर्म मान बैठे हैं, उनका सही मार्गदर्शन करके निश्चयपूर्वक व्यवहार कराने का उद्देश्य है। पुण्यभाव को छोड़ कर पाप में प्रवर्तन कराने की बात कोई भी शास्त्र कैसे कह सकता है ? शास्त्र में तो सदैव पाप की भांति पुण्य को भी छोड़ कर, परम पवित्र शुद्धात्मा के अनुभव की बात ही कही जाती है क्योंकि आत्मा का अनुभव ही निरपराधपना है।
8. मोक्षमार्ग में निश्चय सहित व्यवहार होता है। जिन्हें रागरहित शुद्ध चैतन्यमा. आत्मा की दृष्टि, ज्ञान व अनुभव हुआ है – ऐसे निश्चय वालों के शुभराग को व्यवहार कहा जाता है। पर जिन्हें ऐसे निश्चय स्वरूप की दृष्टि व अनुभव नहीं है, उनके व्यवहार क्रियाकाण्ड कोई अर्थ नहीं रखते।
9. अज्ञानी को जो मिथ्यात्व आदिरूप अप्रतिक्रमण आदि हैं, वे सब तो विषकुम्भ हैं ही। उनकी तो बात ही क्या करना? परन्तु जिस ज्ञानी को शुभभावरूप प्रतिक्रमण कहा है, वह भी निश्चय से विषकुम्भ ही है।
10. स्वद्रव्य के आलम्बन के सिवाय जो भी परद्रव्य का आलम्बन है, ज्ञानी ने उस सबको उखाड़ फेंका है। सम्यग्दृष्टि के जो द्रव्यप्रतिक्रमण आदि हैं, उन सबको निश्चय से बन्ध का कारण जान कर हेय माना है।.

...एक वीतरागभाव के सिवाय पाप की निन्दा करना, चित्त को पाप से हटाना आदि सभी राग की क्रियाएँ प्रमाद हैं।

11. पंचास्तिकाय गाथा 168 में कहा है कि थोड़ा सा राग भी दोष परम्परा का कारण है। अरहन्त आदि की भक्ति, राग परिणाम के बिना नहीं होती और राग परिणाम होने पर आत्मा, बुद्धि का प्रसार किये बिना रह नहीं सकता। बुद्धि का प्रसार अर्थात् चित्त की चंचलता या मन का शुभाशुभभावों में जाना। परद्रव्य का आलम्बन होते ही विचार तरंगें उठने लगती हैं। इस प्रकार परद्रव्य का आलम्बन जिसका मूल है – ऐसा अल्पराग भी दोष की सन्तति का मूल है। भाई! वीतरागता का मार्ग तो वीतरागता से ही प्रगट होता है।
12. धर्मी को भी शुभराग से पुण्यबन्ध होता है, उसके फल में संयोग मिलते हैं और संयोग के लक्ष्य से फिर राग व दुःख ही होता है।
13. धर्मी को एक समय में दो धाराएँ चलती हैं। जब तक पूर्ण वीतरागता नहीं होती, तब तक साधक को कुछ शुद्धता है और कुछ अशुद्धता। रागधारा भी है, चाहे व्यवहार रत्नत्रय हो तो भी वह राग ही है, बन्ध का ही कारण है, इस कारण हेय है।
14. जहाँ व्यवहार प्रतिक्रमण, व्यवहार प्रत्याख्यान आदि व्यवहार की शुभ क्रियाओं का जहर कहा है, वहाँ तीव्र राग में जाना व अशुभ में जाना, अमृत कैसे हो सकता है। शुभ को छोड़ कर अशुभ में जाने की यहाँ बात ही नहीं है। यहाँ तो शुभ को छोड़ कर ऊँचे ऊँचे चढ़ने, शुद्ध में जाने की बात है।
15. यदि कोई शुभ को जहर जान कर अशुभ में जाए तो वह उसकी विपरीत दृष्टि है, औंधी समझ है। हमने भ्रष्ट होने के लिए शुभ को हेय नहीं कहा, बल्कि शुद्धात्मा में जाने के लिए शुभ को हेय कहा है।.....जब आचार्यदेव ने शुभ को अर्थात् मन्द कषाय को जहर कहा है तो अशुभ अर्थात् तीव्र कषाय तो स्वतः ही महा जहर सिद्ध हो जाता है।.....शुभ को छोड़ कर प्रमादी होकर यदि तू अशुभ में जाता है तो यह तेरी स्वच्छन्दता है।
16. कषाय के भार से भारी होने से आलस्य का होना सो प्रमाद है; इसलिए प्रमाद युक्त आलस्य-भाव शुद्धभाव कैसे हो सकता है ? प्रमाद तो कषाय के गौरव से होता है, इसलिए प्रमादी के शुद्धभाव नहीं होता। जो मुनि, उद्यमपूर्वक स्वभाव में प्रवृत्त होता है, वह शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।
17. जो अशुभ की प्रवृत्ति में हर्षित होकर काल व्यतीत करता है, वह पापी है, प्रमाद से भरपूर है, उसे शुद्धभाव कैसे हो ? नहीं हो सकता। पर यहाँ तो विशेष बात यह है कि जो शुभभावों में उत्साहित हैं, वह भी प्रमादी है। छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के पाँच महाव्रत के राग को व अट्ठाईस मूलगुणों के राग को भी यहाँ प्रमाद कहा है।
18. पुण्यपाप के परिणाम अशुद्धता हैं, विषकुम्भ हैं, अपराध हैं। जिसे वीतरागधर्म प्रगट करना हो, उसे ये सब विकल्प छोड़ने होंगे और शुद्धता प्राप्त करनी होगी।
19. जितना स्वद्रव्य को छोड़ कर परद्रव्य का आलम्बन लेंगे, उतना ही राग होगा और वह राग अपराध है। वीतरागदेव यह नहीं कहते कि तू हमारी भक्ति कर! इससे तेरा कल्याण होगा; बल्कि भगवान तो यह घोषणा करते हैं कि हमारी भक्ति, स्तुति, वन्दना आदि करने का जो तुझे राग आता है, वह सब अपराध है, अशुद्धता है।
20. पुण्यपाप से मेरा चैतन्यस्वरूप आत्मा भिन्न है – ऐसा जान कर अपनी वस्तु में ज्ञान को एकाग्र करना, प्रज्ञाछैनी है और यही मोक्ष का उपाय है।[171]

प्रतिक्रमण के अन्तर्गत कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना

ऊपर की भूमिका में आत्मध्यान से ही दोषों का परिमार्जन हो जाता है। इसलिए समयसार में मुमुक्षु को समस्त कर्मों के त्याग की भावनापूर्वक समस्त कर्मफल के त्याग की भावना की ओर प्रेरित किया गया है अर्थात् समस्त कर्म और कर्मफल का त्याग मुमुक्षु को करना चाहिए।

ज्ञान से भिन्न अन्य भावों में ऐसा अनुभव करना कि 'यह मैं हूँ' – यह अज्ञानचेतना है। उसके दो भेद हैं – कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। ज्ञान के सिवाय अन्य भावों का कर्ता अपने को मानना, कर्मचेतना है और ज्ञान के सिवाय अन्य भावों का भोक्ता अपने को मानना कर्मफलचेतना है। ये दोनों चेतना ही संसार के बीज हैं।

सकल कर्म के संन्यास की भावना में अतीत-अनागत-वर्तमान, तीन काल-सम्बन्धी सभी कर्मों को कृत-कारित-अनुमोदना और मन-वचन-काय से परिहार कर, उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था का मैं अवलम्बन करता हूँ; इस प्रकार सर्व कर्मों का त्याग करने वाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है। वहाँ **प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना सम्बन्धी 49-49 भंग** होते हैं।

इनका विस्तृत विवेचन समयसार की आत्मख्याति टीका एवं समयसार वचनिका में किया गया है। उसके आधार पर संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जाता है –

प्रतिक्रमणकल्प के अन्तर्गत कर्मचेतना के त्याग के उनचास भंग[172]

प्रतिक्रमणकल्प में भूतकाल के कृत्यों का निषेध किया जाता है। आत्मख्याति के अनुसार सर्व प्रथम भंग का संस्कृत पाठ निम्न प्रकार है –

1. यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन चेति, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।

अर्थात् **प्रतिक्रमण** करने वाला कहता है कि 'मैंने जो दुष्कृत अर्थात् पापकर्म, अतीत काल में मन-वचन-काय से किया था, अन्य को प्रेरित करके कराया था और अन्य को करते हुए की अनुमोदना की थी, भला जाना था; वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो।'

यहाँ पापकर्म को संसार का बीज जान कर, उसमें हेयबुद्धि हुई, तब ममत्व छोड़ा – यही मिथ्या करना है। इस प्रकार यह पहला भंग है।

इसी प्रकार टीका में अन्य भंगों के पाठ हैं; उनकी वचनिका आलोचनाकल्प के समान है। विस्तार से जानने के लिए समयसार वचनिका, कलश 225–226 के बाद की टीका से जानना चाहिए।

इस प्रकार ज्ञानियों के द्वारा किये जाने वाले **प्रतिक्रमण के उनचास भंग** हैं। अतीत काल में किये कर्मों का उनचास भंगों के रूप में मिथ्याकार या निषेध करने वाला **प्रतिक्रमण** करके, ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होकर, निरन्तर उसका अनुभव करता है, उसका यह विधान है। मिथ्या कहने का यह प्रयोजन है कि जैसे, किसी ने पहले धन कमा कर, घर में रखा था, बाद में उससे ममत्व छोड़ा तो उसे भोगने का अभिप्राय नहीं रहा तो जो कमाया था, वह भी नहीं कमाने के समान ही है; उसी प्रकार पहले कर्म को बाँधा था, उसे अहितकारी जान कर, उससे ममत्व छोड़ा, उसके फल में लीन नहीं होता है तो जो बाँधा था, वह भी नहीं बाँधने के समान है, मिथ्या ही है – ऐसा जानना।

इस कथन के उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्रदेव उपसंहार करते हुए कहते हैं –

मोहाद्यदहमकार्षं, समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि, निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।। 226।।[173]

अर्थात् ज्ञानी ऐसा अनुभव करता है कि मैंने मोह या अज्ञान के कारण अतीत काल में जो कर्म किये थे, उन सभी का **प्रतिक्रमण** करके एवं सर्व कर्मों से रहित चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्वयं ही से निरन्तर वर्तता हूँ। इस प्रकार **प्रतिक्रमणकल्प** पूर्ण होता है।

गुरु एवं लघु प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण में दोषों के अनुसार सिद्धभक्ति आदि भक्तिपाठ एवं कायोत्सर्ग आदि किया जाता है। जिन दोषों की विशुद्धि के लिए ये अधिक किये जाते हैं, उन **प्रतिक्रमणों** को **गुरु अथवा वृहत् प्रतिक्रमण** कहा जाता है और जिनकी विशुद्धि के लिए ये कम किये जाते हैं, उन्हें **लघु प्रतिक्रमण** कहते हैं।

गुरु प्रतिक्रमण के सात भेद[174]

अनगार धर्मामृत की श्री अपराजित सूरि द्वारा विरचित संस्कृत टीका में **गुरु प्रतिक्रमण के सात भेद** बताये गये हैं – 1. व्रतारोपण, 2. पाक्षिक, 3. कार्तिकान्त चातुर्मासिक, 4. फाल्गुनान्त चातुर्मासिक, 5. आषाढ़ान्त वार्षिक, 6. सर्वातिचार-सम्बन्धी, और 7. उत्तमार्थ।

1. **व्रतारोपण प्रतिक्रमण** – व्रत ग्रहण करने में लगे हुए दोषों की विशुद्धि के लिए किये जाने वाले प्रतिक्रमण को **व्रतारोपण प्रतिक्रमण** कहते हैं।

2. **सर्वातिचार प्रतिक्रमण** – दीक्षा लेने के समय से लेकर संन्यास ग्रहण करने के समय तक जो दोष होते हैं, उन सबकी विशुद्धि के लिए किये जाने वाले प्रतिक्रमण को **सर्वातिचार प्रतिक्रमण** कहते हैं।

3-7. शेष **पाँच कार्तिकान्त चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमणों में भी गुरु प्रतिक्रमण** किया जाता है।

इस सम्बन्ध में निम्न श्लोक मननीय है –

व्रतादाने च पक्षान्ते, कार्तिके फाल्गुने शुचौ।
यात् प्रतिक्रमणा गुर्वी, दोषे संन्यासने मृते।।[175]

अर्थात् व्रत ग्रहण करने पर, पक्ष के अन्त में, कार्तिक मास, फाल्गुन मास और आषाढ़ मास के अन्त में, दोष लगने पर तथा समाधिपूर्वक मरण में **गुरु प्रतिक्रमण** होता है।

लघु प्रतिक्रमण के सात भेद

उक्त प्रकरण में ही **लघु प्रतिक्रमण के भी सात भेद** बताये गये हैं; तत्सम्बन्धी श्लोक निम्न प्रकार है –

लुंचे रात्रौ, दिने भुक्ते, निषेधिकागमने पथि।
स्यात् प्रतिक्रमणा लघ्वी, तथा दोषे तु सप्तमी।।[176]

अर्थात् 1. केशलोंच, 2. रात्रि, 3. दिन, 4. भोजन, 5. निषिद्धिकागमन, 6. मार्ग और 7. दोष – ये **सात लघु प्रतिक्रमण** होते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में प्रतिक्रमण के भेद

श्वेताम्बर-ग्रन्थ **स्थानांग सूत्र में छह प्रतिक्रमण** कहे हैं – 1. उच्चार, 2. प्रश्रवण, 3. इत्वर, 4. यावत्कथिक, 5.. यत्किंचन मिथ्या, और 6. स्वाप्नान्तिक।

1. **उच्चार** – मल-त्याग करने के बाद जो प्रतिक्रमण किया जाता है, वह **उच्चार प्रतिक्रमण** है।
2. **प्रश्रवण** – मूत्र-त्याग करने के बाद जो प्रतिक्रमण किया जाता है, वह **प्रश्रवण प्रतिक्रमण** है।
3. **इत्वर** – अल्पकालीन प्रतिक्रमण को **इत्वर प्रतिक्रमण** कहते हैं, इसमें **दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण** आ जाते हैं।
4. **यावत्कथिक** – यावज्जीवन के लिए भोजन का त्याग **यावत्कथिक प्रतिक्रमण** है।
5. **यत्किंचन मिथ्या** – नाक, कफ, आदि त्यागने में जो दोष लगता है, वह मिथ्या हो; इस प्रकार के प्रतिक्रमण को **यत्किंचित् मिथ्या प्रतिक्रमण** कहते हैं।
6. **स्वाप्नान्तिक** – सोते समय हुए दोषों के लिए या स्वप्न में किये हिंसा आदि दोषों को दूर करने के लिए किये जाने वाले प्रतिक्रमण को **स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण** कहते हैं।[177]

तथा **आवश्यक सूत्र में प्रतिक्रमण के सात भेद** कहे हैं – दैवसिक, रात्रिक, इत्वर, यावत्कथिक, पाक्षिक, चातर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ।

आवश्यक सूत्र की टीका में ही **एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न** किया गया है कि जब प्रतिदिन किये जाने वाले प्रतिक्रमण से ही दोषों की विशुद्धि हो जाती है तो पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणों की क्या आवश्यक्ता है?

उसके **उत्तर** में घर का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जैसे, घर की सफाई प्रतिदिन की जाती है, फिर भी पक्ष आदि बीतने पर विशेषरूप से सफाई की जाती है, वैसे ही **प्रतिक्रमण** के सम्बन्ध में जानना चाहिए।[178]

सामायिक और प्रतिक्रमण में अन्तर

भगवती आराधना में षट् आवश्यकों का निरूपण करते हुए सामायिक और प्रतिक्रमण के अन्तर को शंका-समाधान के माध्यम से प्रगट किया गया है। उनके अनुसार इस सम्बन्ध में आचार्यों के दो मत हैं –

1. 'सर्व सावद्य योग को त्यागता हूँ', इस प्रकार हिंसा आदि का भेद न करके सामान्य से सर्व सावद्य योग से निवृत्ति, **सामायिक** है और हिंसा आदि के भेद से सावद्ययोग के भेद करके निवृत्ति, **प्रतिक्रमण** है। जैसे, मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, असंयम का प्रतिक्रमण, कषाय का प्रतिक्रमण और अप्रशस्त योग का प्रतिक्रमण।

2. योग शब्द से वीर्य परिणाम कहा जाता है, वह वीर्य परिणाम, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण क्षायोपशमिक भाव है; उससे निवृत्ति अर्थात् अशुभ कर्म को लाने में निमित्तभूत योगरूप परिणमन न करना, **सामायिक** है। जबकि मिथ्यात्व असंयम और कषायभाव, दर्शनमोह और चारित्रमोह के उदय से उत्पन्न होने के कारण औदयिक भाव हैं – मिथ्यात्व, तत्त्वों के अश्रद्धानरूप है; असंयम, हिंसादिरूप है और क्रोधादि तो मिथ्यात्व और असंयम से विलक्षण हैं – यह अनुभवसिद्ध है क्योंकि जिनका हेतु और स्वरूप भिन्न होता है, वे एक नहीं हो सकते। जैसे – शालि, जौ, गेहूँ , आदि धान्य; अतः मिथ्यात्व, असंयम और कषाय के हेतु और स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं, उनसे निवृत्ति, **प्रतिक्रमण** है तथा समस्त सावद्ययोग से निवृत्ति, **सामायिक** है। इस प्रकार दोनों में महान भेद है।[179]

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में अन्तर

जहाँ प्रतिक्रमण के द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय किया जाता है, वहीं प्रत्याख्यान के द्वारा नवीन कर्मों का निरोध किया जाता है। जैसे – कोई घाव हो जाने के बाद उसकी चिकित्सा प्रतिक्रमण के द्वारा की जाती है और चिकित्सा के बाद स्वस्थ हो जाने पर प्रत्याख्यान के द्वारा 'गुणधारण' किया जा जाता है अथवा इसके माध्यम से मूलोत्तर गुणों की धारणा की जाती है अथवा नास्ति से कहें तो अविरति आदि के त्याग को भी प्रत्याख्यान कहते हैं।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान के भेद को स्पष्ट करते हुए कषायपाहुड़ में कहा है –

प्रश्न – पच्चक्खाणपडिक्कमणाणं को भेओ ?

उत्तर – उच्चदे, सगं गट्ठियदोसाणं दव्व-खेत्त-काल-भावविसयाणं परिच्चाओ पच्चक्खाणं णाम। पच्चक्खाणादो अपच्चक्खाणं गंतूण पुणो पच्चक्खाणस्सागमणं पडिक्कमणं।[180]

अर्थात् **प्रश्न** – प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण में क्या भेद है ?

उत्तर – द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव के निमित्त से अपने शरीर में लगे हुए दोषों का त्याग करना, प्रत्याख्यान है व प्रत्याख्यान से अप्रत्याख्यान को प्राप्त होकर पुनः प्रत्याख्यान को प्राप्त होना, प्रतिक्रमण है।

प्रत्याख्यान की विशेषता

प्रत्याख्यान में तीन शब्द हैं – प्रति + आ + आख्यान अर्थात् अविरति या असंयम के 'प्रति' जो 'आ' माने मर्यादापूर्वक 'आख्यान' माने प्रतिज्ञा करता है, उसे **प्रत्याख्यान** कहते हैं। यह मर्यादा, सीमित काल के लिए या आजीवन भी हो सकती है।

आगामी काल में दोष न करने की प्रतिज्ञा करना, प्रत्याख्यान है अथवा सीमित काल के लिए आहारादि का त्याग करना, **प्रत्याख्यान** है। त्याग प्रारम्भ करते समय प्रत्याख्यान की प्रतिष्ठापना और अवधि पूर्ण होने पर उसकी निष्ठापना की जाती है। वीतरागभाव सापेक्ष किया गया प्रत्याख्यान ही वास्तविक है।[181]

यही कारण है कि एकदेश या ईषत्, प्रत्याख्यान या त्याग को अप्रत्याख्यान कहते हैं, उसे नहीं होने देने के कारण द्वितीय कषाय को **अप्रत्याख्यानावरण कषाय** तथा सर्वदेश या पूर्ण, प्रत्याख्यान या त्याग को नहीं होने देने के कारण तृतीय कषाय को **प्रत्याख्यानावरण कषाय** कहते हैं।

प्रत्याख्यान के पर्यायवाची

पच्चक्खाणं संजमो महव्वयाइं ति एयट्ठो।[182]

अर्थात् **प्रत्याख्यान**, संयम और महाव्रत – एक अर्थ वाले हैं।

निश्चय प्रत्याख्यान का स्वरूप

कम्मं जं सुहमसुहं, जम्हि य भावम्हि बज्झइ भविस्सं।
तत्तो णियत्तए जो, सो पच्चक्खाणं हवइ चेया।।[183]

अर्थात् भविष्यत् काल का शुभ व अशुभ कर्म, जिस भाव से बँधता है, उस भाव से जो आत्मा, निवृत्त होता है, वह आत्मा **प्रत्याख्यान** है।

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, पच्चक्खाणं हवइ चेया।।[184]

अर्थात् समस्त जल्प को छोड़ कर और अनागत शुभ व अशुभ का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है, उसे **प्रत्याख्यान** कहते हैं।

इस प्रकार जो महापुरुष, समस्त कर्मजनित वासनाओं से रहित आत्मा को देखने वाले हैं; उनके जो पापों के आने में कारणभूत भावों का त्याग है, उस आत्मा को भी **प्रत्याख्यान** कहते हैं।

व्यवहार प्रत्याख्यान का स्वरूप

अनागतदोषापोहनं प्रत्याख्यानम्।[185]

अर्थात् भविष्यत् में दोष न होने देने के लिए सन्नद्ध होना, प्रत्याख्यान जानना।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव – इन छहों में शुभ मन-वचन-काय से आगामी काल के लिए अयोग्य का त्याग करना, प्रत्याख्यान है।[186]

अनुयोगद्वार सूत्र में कहा है कि प्रत्याख्यान के द्वारा आत्मा, मन-वचन-काय की दुष्ट प्रवृत्तियों को रोक कर, शुभ प्रवृत्तियों पर अपना उपयोग केन्द्रित करता है – ऐसा करने से इच्छा-निरोध, तृष्णा का अभाव, सुख-शान्ति आदि अनेक सद्गुणों की प्राप्ति होती है।[187]

उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें सम्यक्त्व-पराक्रम नामक अध्ययन में प्रत्याख्यान का फल इस प्रकार बताया है –

प्रश्न – पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर – पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीईभूए विहरइ।[188]

अर्थात् **प्रश्न** – भन्ते! प्रत्याख्यान अर्थात् अविरति आदि के त्याग से जीव को क्या प्राप्त होता है?

उत्तर – प्रत्याख्यान से जीव, हिंसा आदि आस्रव-द्वारों – कर्मबन्ध के हेतुओं का निरोध एवं इच्छा का निरोध करता है। इच्छा का निरोध होने से समस्त विषयों के प्रति वितृष्ण रहता हुआ साधक शान्तचित्त होकर विचरण करता है।

प्रत्याख्यान के भेद

सार्थक प्रत्याख्यान के 10 भेद[189]

1. अनागत प्रत्याख्यान	2. अतिक्रान्त प्रत्याख्यान
3. कोटीसहित प्रत्याख्यान	4. निखण्डित प्रत्याख्यान
5. साकार प्रत्याख्यान	6. अनाकार प्रत्याख्यान
7. परिमाणगत प्रत्याख्यान	8. अपरिशेष प्रत्याख्यान
9. अध्वगत प्रत्याख्यान	10. सहेतुक प्रत्याख्यान

1. अनागत प्रत्याख्यान – भविष्यत्काल में किये जाने वाले उपवास आदि पहले कर लेना। जैसे, चतुर्दशी आदि में जो उपवास करना था, उसे त्रयोदशी आदि में कर लेना।

2. अतिक्रान्त प्रत्याख्यान – अतीतकाल में किये जाने वाले उपवास आदि को आगे बढ़ा देना। जैसे, चतुर्दशी आदि में जो उपवास करना है, उसे प्रतिपदा आदि में करना।

3. कोटीसहित प्रत्याख्यान – शक्ति आदि की अपेक्षा से संकल्प सहित उपवास करना। जैसे, कल प्रातः स्वाध्याय बेला के बाद यदि शक्ति रहेगी तो उपवास आदि करूँगा; यदि शक्ति नहीं रहेगी तो नहीं करूँगा – ऐसा संकल्प करना।

4. निखण्डित प्रत्याख्यान – प्रत्येक पक्ष में अवश्य किये जाने वाले उपवास आदि करना।

5. साकार प्रत्याख्यान – भेद सहित उपवास आदि करना। जैसे, सर्वतोभद्र, कनकावली आदि व्रतों की विधि से उपवास करना; रोहिणी आदि नक्षत्रों के भेद से उपवास करना।

6. अनाकार प्रत्याख्यान – स्वेच्छा से उपवास करना। जैसे, नक्षत्र या तिथि आदि की अपेक्षा के बिना ही स्वरुचि से कभी भी उपवास आदि कर लेना।

7. परिमाणगत प्रत्याख्यान – प्रमाण सहित उपवास आदि करना। जैसे, बेला, तेला, चार-पाँच-सात-पन्द्रह-मास आदि काल के उपवास करना।

8. अपरिशेष प्रत्याख्यान – जीवन पर्यन्त के लिए चार प्रकार के आहार आदि का त्याग करना।

9. अध्वानगत प्रत्याख्यान – मार्ग विषयक उपवास आदि करना। जैसे, जंगल, नदी आदि से निकलने के प्रसंग में उपवास आदि करना।

10. सहेतुक प्रत्याख्यान – विशेष कारण मिलने पर उपवास आदि करना। जैसे, उपसर्ग आदि के निमित्त से उपवास आदि करना।

प्रत्याख्यान के चार प्रकार[190]

1. पाँच प्रकार की विनयसहित शुद्धि करना, **विनय से शुद्ध प्रत्याख्यान** है।
2. गुरु के कहे अनुसार अक्षर, पद व व्यंजनों का शुद्ध उच्चारण करना, **अनुभाषा से शुद्ध प्रत्याख्यान** है।
3. रोग, उपसर्ग, भिक्षा–प्राप्ति का अभाव, वन–निवास आदि के प्रसंग में प्रत्याख्यान के पालन की क्रिया भग्न न हो, वह **अनुपालन से शुद्ध प्रत्याख्यान** है।
4. राग या द्वेषरूप परिणामों के कारण मन में विकार उत्पन्न नहीं होना, **परिणाम से शुद्ध प्रत्याख्यान** है।

प्रत्याख्यान के छह प्रकार[191]

1. नाम प्रत्याख्यान	2. स्थापना प्रत्याख्यान
3. द्रव्य प्रत्याख्यान	4. क्षेत्र प्रत्याख्यान
5. काल प्रत्याख्यान	6. भाव प्रत्याख्यान

1. अयोग्य नाम का 'मैं उच्चारण नहीं करूँगा' – ऐसे संकल्प को **नाम प्रत्याख्यान** कहते हैं।
2. आप्ताभास के हरिहरादिकों की प्रतिमाओं की 'मैं पूजा नहीं करूँगा' अथवा अर्हदादि परमेष्ठियों की स्थापना या उनकी प्रतिमाओं का 'मैं नाश नहीं करूँगा' तथा मन-वचन-काय के तीनों योगों से त्रस–स्थावर जीवों की स्थापनाओं को 'मैं पीड़ित नहीं करूँगा' – ऐसा जो मानसिक संकल्प **स्थापना प्रत्याख्यान** है।
3. अयोग्य आहार, उपकरण आदि पदार्थों का 'मैं ग्रहण नहीं करूँगा' – ऐसा संकल्प करना, वह **द्रव्य प्रत्याख्यान** है।
4. अयोग्य और जिनसे अनिष्ट प्रयोजन की उत्पत्ति होगी, जो संयम की हानि करेंगे अथवा संक्लेश परिणामों को उत्पन्न करेंगे – ऐसे क्षेत्रों को 'मैं त्यागूँगा'; इस प्रकार संकल्प करना, **क्षेत्र प्रत्याख्यान** है।
5. काल का त्याग करना, शक्य ही नहीं है; इसलिए उस काल में होने वाली क्रियाओं को त्यागने से काल का त्याग होता है – ऐसा यहाँ समझना चाहिए। अर्थात् सन्ध्या काल, रात्रि काल आदि समय में अध्ययन करना, आना-जाना आदि कार्य 'मैं नहीं करूँगा' – ऐसा संकल्प करना, **काल प्रत्याख्यान** है।
6. भाव अर्थात् अशुभ परिणामों का 'मैं त्याग करूँगा' – ऐसा संकल्प करना, भाव प्रत्याख्यान है। इनके दो भेद हैं – मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान।

प्रत्याख्यान के तीन भेद[192]

1. मैं मन से अतिचारों को भविष्यत् काल में नहीं लगाऊँगा – ऐसा विचार करना, **मन प्रत्याख्यान** है।
2. मैं भविष्य में अतिचारों को नहीं करूँगा – ऐसा बोलना, **वचन प्रत्याख्यान** है।
3. शरीर के द्वारा भविष्यत् काल में अतिचार नहीं करना – यह **काय प्रत्याख्यान** है।

आध्यात्मिक दृष्टि से ज्ञान अथवा निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान

सव्वे भावे जम्हा, पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं, णाणं णियमा मुणेदव्वं।।[193]

अर्थात् अपने अतिरिक्त सभी पदार्थों को 'पर हैं' – ऐसा जान कर, प्रत्याख्यान होता है; अतः प्रत्याख्यान ज्ञान ही है – ऐसा नियम से जानना।

निर्विकार-स्व-संवित्ति-लक्षणं प्रत्याख्यानम्।[194]

अर्थात् निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान को प्रत्याख्यान कहते हैं।

सम्यक्त्व रहित प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान नहीं

भगवती आराधना की टीका में कहा है –

सति सम्यक्त्वे चैतदुभयं प्रत्याख्यानम्।[195]

अर्थात् सम्यक्त्व होने पर ही मुनि और गृहस्थ के प्रत्याख्यान को वास्तविक प्रत्याख्यान माना गया है, अन्यथा नहीं।

मुनियों और गृहस्थ, दोनों को मूलगुण और उत्तरगुण रूप प्रत्याख्यान होता है। इसका विस्तार से कथन भगवती आराधना में किया गया है; वहाँ से इनका स्वरूप समझना चाहिए।[196]

3. तदुभय प्रायश्चित्त

आलोचना और प्रतिक्रमण, दोनों को करना, **तदुभय प्रायश्चित्त** कहलाता है।[197]

इस सम्बन्ध में धवलाकार लिखते हैं –

सगावराहं गुरुणमालोचिय गुरुसक्खिया अवराहादो पडिणियत्ती उभयं णाम पायच्छित्तं।[198]

अर्थात् अपने अपराध की गुरु के सामने आलोचना करके गुरु की साक्षिपूर्वक अपराध से निवृत्त होना, उभय नाम का प्रायश्चित्त है।

तदुभय दोष होने पर प्रतिक्रमण और आलोचना, दोनों के द्वारा जो नष्ट किये जाते हैं, उन्हें **तदुभय प्रायश्चित्त** कहते हैं।[199]

खोटे स्वप्न, संक्लेश, आदि से होने वाले दोष का निराकरण करने के लिए जो आलोचना और प्रतिक्रमण, दोनों किये जाते हैं, उसे **तदुभय प्रायश्चित्त** कहते हैं।

आशय यह है कि किन्हीं दोषों का शोधन तो आलोचना मात्र से हो जाता है और कुछ का प्रतिक्रमण से; किन्तु कुछ महान दोष ऐसे होते हैं, जो आलोचना और प्रतिक्रमण, इन दोनों से शुद्ध होते हैं; जैसे, दुःस्वप्न होना या खोटा चिन्तन करना आदि; अतः ऐसे दोष **तदुभय प्रायश्चित्त** के अन्तर्गत आते हैं।[200]

मूलगुण अथवा उत्तरगुणों के अतिक्रमण में सन्देह होने पर अथवा जानबूझकर अतिक्रमण करने पर तदुभय प्रायश्चित्त होता है।[201]

आलोचना सहित प्रतिक्रमण और आलोचना रहित प्रतिक्रमण का समन्वय

राजवार्तिक में इस सम्बन्ध में विशेष समाधान किया गया है –

प्रश्न – उभय प्रायश्चित्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि आलोचना नहीं करने वाले के कोई प्रायश्चित्त नहीं है – ऐसा कहा है; जबकि यहाँ कहते हैं कि प्रतिक्रमण मात्र से भी शुद्धि होती है, अतः ये दोनों कथन परस्पर विरोधी हैं?

उत्तर – यद्यपि सभी प्रतिक्रमण, आलोचनापूर्वक ही होते हैं; तथापि जो शिष्य, गुरु को कह कर, गुरु की आज्ञा से, प्रतिक्रमण करता है, वह प्रतिक्रमण तो आलोचनापूर्वक होता है क्योंकि वहाँ शिष्य, गुरु के समक्ष अपनी गर्हा-निन्दारूप आलोचना करता हुआ प्रतिक्रमण करता है, परन्तु जहाँ केवल प्रतिक्रमण से दोष-शुद्धि होती है, वहाँ वह स्वयं गुरु के द्वारा ही किया जाता है क्योंकि गुरु स्वयं किसी अन्य साधु के समक्ष आलोचना नहीं करता। कभी-कभी गुरु की आज्ञा से **केवल प्रतिक्रमण का विधान,** शिष्य के द्वारा भी किया जा सकता है।[202]

4. विवेक प्रायश्चित्त

जिनके ऊपर ममत्व उत्पन्न हुआ है – ऐसे अन्न-पानादिक त्यागना, **विवेक प्रायश्चित्त** है।[203]

संसक्त अन्नादिक में दोषों को दूर करने में असमर्थ साधु, जो संसक्त अन्न-पान के उपकरण आदि को अलग कर देता है, उसे साधुओं ने **विवेक प्रायश्चित्त** माना गया है।

अथवा यदि साधु, भूल से अप्रासुक अर्थात् सचित्त वस्तु को स्वयं ग्रहण कर लेता है या दूसरे के द्वारा ग्रहण कर लेता है तो स्मरण आते ही उसको त्याग देना, **विवेक प्रायश्चित्त** है। इसी प्रकार यदि साधु, त्यागी हुई प्रासुक वस्तु को भी भूल से ग्रहण कर लेता है तो स्मरण आते ही उसे त्याग देना, **विवेक प्रायश्चित्त** है।[204]

विवेक से तात्पर्य किसी वस्तु को दूर करने से है, भिन्न करने से है, अलग करने से है। धवला में कहा है कि गण, गच्छ, द्रव्य, और क्षेत्र आदि से अलग करना, **विवेक प्रायश्चित्त** है।

शंका – यह विवेक प्रायश्चित्त कहाँ पर होता है ?

समाधान – जिस दोष के होने पर उसका निराकरण नहीं किया जा सकता, उस दोष के होने पर यह **विवेक प्रायश्चित्त** होता है। **उभय प्रायश्चित्त की अनुवृत्ति यहाँ भी होने से** उपवास आदि के साथ जो गच्छादि के त्याग का विधान किया जाता है, उसका अन्तर्भाव इसी **विवेक प्रायश्चित्त** में होता है। यही कारण है कि मूलाचार में इस ''विवेक प्रायश्चित्त के दो भेद बताये गये हैं – **गण-विवेक और स्थान- विवेक**।[205]

उद्गम आदि दोषों से अशुद्ध आहार आदि ग्रहण करने के पश्चात् जानकारी होने पर उस आहार का विसर्जन करना, विवेक प्रायश्चित्त है।[206]

5. व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त

मल-मूत्रादि क्षेपण करते हुए जो दोष हुए हैं, उनके निराकरणार्थ जो शरीर के ऊपर ममत्व छोड़ कर, अन्तर्मुहूर्तादि काल पर्यन्त कायोत्सर्ग करना, उसे **व्युत्सर्ग तप या प्रायश्चित्त** कहते हैं।[207]

दुःस्वप्न, दुश्चिन्ता, मलोत्सर्ग, मूत्र, आदि के अतिचार, महा नदी और महा अटवी के पार करने आदि क्रियाओं में उत्पन्न दोषों का निराकरण करने के लिए **व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त** होता है।

मल के त्यागने आदि में अतिचार लगने पर प्रशस्त ध्यान का अवलम्बन लेकर अन्तर्मूहूर्त आदि काल पर्यन्त कायोत्सर्गपूर्वक अर्थात् शरीर से ममत्व त्याग कर खड़े रहना, **व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त** है।[208]

गमनागमन, स्वप्न, नदीसन्तरण आदि प्रसंगों पर कायोत्सर्ग करना, **व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त** है।[209]

इस प्रकार काय का उत्सर्ग करके ध्यानपूर्वक एक मुहूर्त, एक दिन, एक पक्ष, एक महिना आदि काल तक स्थित रहना **व्युत्सर्ग नाम का प्रायश्चित्त** है। कायोत्सर्ग करने को **व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त** कहते हैं। काय अर्थात् शरीर के उत्सर्ग अर्थात् त्याग को **कायोत्सर्ग** कहते हैं।

यहां यह प्रश्न सम्भव है कि जब आयुकर्म पूर्णरूप से समाप्त हो जाता है; तब आत्मा, शरीर को छोड़ता है, अन्य काल में नहीं छोड़ता तो फिर **कायोत्सर्ग** कैसे सम्भव है?

समाधान – 1. आत्मा और शरीर के प्रदेश परस्पर में मिलने से आयुकर्म के कारण यद्यपि शरीर ठहरा रहता है; तथापि शरीर सात धातुरूप होने से अपवित्र है, रज और वीर्य से उत्पन्न होने से विशेष अपवित्र है तथा अनित्य है, नष्ट होने वाला है, दुःख से धारण करने योग्य है, असार है, दुःख का कारण है, इस शरीर से ममत्व करने से अनन्त संसार में भ्रमण करना होता है, इत्यादि दोषों को जान कर, 'न यह मेरा है, न मैं इसका हूँ' – ऐसा संकल्प करने वाले के शरीर में आदर का अभाव होने से काय का त्याग घटित होता ही है। जैसे, प्राणों से भी प्यारी पत्नी के द्वारा अपराध होने पर, उसमें अनुराग न रहने से 'यह मेरी है', इस प्रकार का भाव न होने से, एक ही घर में रहते हुए भी 'त्यागी हुई' कही जाती है; उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए।

2. दूसरे, शरीर के विनाश के कारण उपस्थित होने पर भी कायोत्सर्ग करने वाले को विनाश के कारण को दूर करने की इच्छा नहीं होती; अतः जो, जिसके विनाश के कारणों को दूर करने में उत्सुक नहीं है, उसने उसे त्याग ही दिया है; जैसे, त्यागा हुआ वस्त्रादि।

तथा यति, शरीर के विनाश के कारण को दूर करने में उत्सुक नहीं होता; अतः उसके काय-त्याग उचित है। वह शरीर से निस्पृह होकर, स्थाणु की तरह शरीर को सीधा करके, दोनों हाथों को लटका कर, प्रशस्त ध्यान में लीन हो, शरीर को ऊँचा-नीचा न करके, परीषहों और उपसर्गों को सहन करता हुआ, कर्मों को नष्ट करने की अभिलाषा से जन्तु रहित एकान्त देश में ठहरता है।

कायोत्सर्ग का काल

कायोत्सर्ग का जघन्य काल, अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल, एक वर्ष है। अतिचारों को दूर करने के लिए रात, दिन, पक्ष, मास, चातुर्मास, वर्ष, आदि काल में होने वाले अतिचारों की अपेक्षा कायोत्सर्ग के अनेक भेद हैं। कायोत्सर्ग का सायंकाल में सौ उच्छ्वास प्रमाण काल, प्रातःकाल में पचास उच्छ्वास प्रमाण काल, पक्ष में तीन सौ उच्छ्वास प्रमाण काल, चातुर्मास में उच्छ्वास प्रमाण काल, और वर्ष में पॉच सौ उच्छ्वास प्रमाण काल है। हिंसा आदि पाँच अतिचारों में एक सौ आठ उच्छ्वास मात्र काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग करने पर यदि उच्छ्वास का अथवा परिणाम का स्खलन हो जाए तो आठ उच्छ्वास प्रमाण अधिक काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए।

द्रव्य-भाव की अपेक्षा कायोत्सर्ग के चार भेद

कायोत्सर्ग के चार भेद है :– 1. उत्थितोत्थित, 2. उत्थित-निविष्ट, 3. उपविष्टोत्थित और 4. उपविष्ट-निविष्ट।

1. **उत्थितोत्थित** – जो शरीर से खड़े होकर धर्मध्यान या शुक्लध्यान सहित कायोत्सर्ग करता है, उसके **उत्थितोत्थित नामक कायोत्सर्ग** है। यहाँ द्रव्य और भाव, दोनों के ही उत्थान से युक्त होने से **उत्थितोत्थित** शब्द से उत्थान का प्रकर्ष कहा है।

   स्थाणु की तरह शरीर का उन्नत और निश्चल रहना, **द्रव्योत्थान** है। ज्ञानरूप भाव का ध्यान करने योग्य एक ही वस्तु में स्थिर रहना, **भावोत्थान** है।

2. **उत्थितनिविष्ट** – जो शरीर से खड़े होकर आर्त-रौद्रध्यान के साथ कायोत्सर्ग करता है, उसके **उत्थितनिविष्ट नामक कायोत्सर्ग** होता है। शरीर के खडे होने से उत्थित परन्तु शुभपरिणाम की उद्‌गतिरूप उत्थान का अभाव होने से निविष्ट कहते हैं।

   इसी कारण एक काल में एक अपेक्षा से उत्थान अर्थात् खड़े होना और दूसरी अपेक्षा से निविष्ट अर्थात् बैठना – इन दोनों आसनों में कोई विरोध नहीं है क्योंकि दोनों के निमित्त भिन्न हैं।

3. **उपविष्टोत्थित** – जो शरीर से बैठ कर ही धर्म और शुक्लध्यान करता है, उसके **उपविष्टोत्थित नामक कायोत्सर्ग** होता है क्योंकि उसका शरीर तो बैठा है परन्तु उसका परिणाम उत्थित है।

4. **उपविष्टनिविष्ट** – जो शरीर से बैठ कर अशुभध्यान में लीन होता है, उसके **उपविष्टनिविष्ट नामक कायोत्सर्ग** होता है क्योंकि न तो उसका शरीर उत्थित है और न उसका परिणाम ही शुभ है। इसलिए साधु को रत्नत्रय में दैवसिक आदि अतिचारों को मन से विचार कर, 'मुझ प्रमादी ने यह ठीक नहीं किया' – ऐसा निश्चय करके, पश्चात् धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान में प्रवृत्ति करना चाहिए।[210]

आगम साहित्य में कायोत्सर्ग के दो भेद

आगम साहित्य में कायोत्सर्ग के दो भेद किये गये हैं – द्रव्य और भाव। द्रव्य कायोत्सर्ग का अर्थ है – शरीर की चेष्टाओं का निरोध करके एक स्थान पर जिनमुद्रा से निश्चल एवं निःस्पन्द स्थिति में खड़े रहना। यह साधना के क्षेत्र में आवश्यक है, परन्तु भाव के साथ। केवल द्रव्य का जैनधर्म में कोई महत्त्व नहीं है। साधना का प्राण है – भाव। भाव कायोत्सर्ग का अर्थ है – आर्त–रौद्र ध्यानों को त्याग कर धर्म तथा शुक्लध्यान में रमण करना, मन में शुभ विचारों का प्रवाह बहाना, आत्मा के मूल स्वरूप की ओर गमन करना। कायोत्सर्ग में ध्यान की ही महिमा है।[211]

कायोत्सर्ग का फल

उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में कायोत्सर्ग का फल कहा है –

काउस्सग्गेणं तीय पडुप्पण्णं, पायच्छित्तं विसोहइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे णिव्वुयहियए ओहरिय भरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ।[212]

अर्थात् कायोत्सर्ग करने से भूतकाल और वर्तमान काल के दोषों का प्रायश्चित्त करके जीव शुद्ध बनता है और जिस प्रकार बोझ उतर जाने से भारवाहक (मजदूर) सुखी होता है; उसी प्रकार प्रायश्चित्त से विशुद्ध बना हुआ जीव शान्त हृदय बन कर, शुभध्यान ध्याता हुआ सुखपूर्वक विचरता है।

कायोत्सर्ग, एक प्रकार का प्रायश्चित्त है; वह पुराने पापों को धोकर साफ कर देता है।.....पाप-युक्त आत्मा को श्रेष्ठ या उत्कृष्ट बनाने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशेष शुद्धि करने के लिए, शल्यों का त्याग करने के लिए, पापकर्मों का नाश करने के लिए कायोत्सर्ग अर्थात् शरीर के व्यापारों का त्याग किया जाता है।

अनुयोगद्वार सूत्र में कायोत्सर्ग आवश्यक का नाम 'व्रण चिकित्सा' कहा है। व्रतरूप शरीर में अतिचाररूप व्रण (घाव या फोड़े) के लिए पाँचवाँ कायोत्सर्ग आवश्यक, चिकित्सारूप पुल्टिस (मरहम) का काम करता है। जैसे – पुल्टिस, फोड़े के बिगड़े हुए रक्त को मवाद बना कर निकाल देता है और फोड़े की पीड़ा को शान्त कर देता है; उसी प्रकार यह काउस्सग्ग रूप पाँचवाँ आवश्यक व्रत में लगे हुए अतिचारों के दोषों को दूर कर आत्मा को निर्मल एवं शान्त बना देता है।[213]

6. तप प्रायश्चित्त

कुछ अपराधों के क्षालनार्थ उपवास, आचाम्ल, निर्विकृति, आदि विधि करना, **तप प्रायश्चित्त** है।[214] **अथवा** अनशन आदि **तप प्रायश्चित्त** कहलाता है।[215] **अथवा** शास्त्रविहित आचरण में दोष लगाने वाला किन्तु सत्त्व, धैर्य, आदि गुणों से भूषित श्रमण, जो प्रायश्चित्त शास्त्र में कथित उपवास आदि करता है, वह **तप प्रायश्चित्त** कहलाता है।[216]

मूलगुण अथवा उत्तरगुण में अतिचार होने पर अतिचार के अनुरूप तप करना, **तप प्रायश्चित्त** है। इसका कालमान जघन्य पाँच दिनरात तथा उत्कृष्ट छह मास है।

निशीथ सूत्र में अपवाद मार्ग के सेवन करने पर संयमी साधक को कौन से दोष का किस प्रकार का प्रायश्चित्त ग्रहण करना होता है, इसकी विस्तार से चर्चा की गई है। सामान्य स्थविरकल्पी संयमी साधकों के लिए अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार की शुद्धि, आलोचना और मिच्छामि दुक्कडं आदि अल्प प्रायश्चित्त से हो जाती है। अनाचार दोष सेवन की स्थिति निशीथादि सूत्रों में प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। जबकि जिनकल्पी या प्रतिमाधारी आदि विशिष्ट साधकों के लिए अतिक्रम आदि के लिए तप प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। तप प्रायश्चित्त की सूची निम्न प्रकार है –

1. लघुमासिक प्रायश्चित्त – जघन्य एक एकासना, उंत्कृष्ट 27 उपवास है।
2. गुरुमासिक प्रायश्चित्त – जघन्य एक निवी (दो एकासना), उत्कृष्ट 30 उपवास है।
3. लघुचौमासी प्रायश्चित्त – जघन्य एक आयम्बिल (या एक एकासना), उत्कृष्ट 108 उपवास है।
4. गुरुचौमासी प्रायश्चित्त – जघन्य एक उपवास (चार एकासना), उत्कृष्ट 120 उपवास है।
5. उक्त दोषों के प्रायश्चित्त स्थानों का बार-बार सेवन करने पर अथवा उनका सेवन लम्बे समय तक चलता रहने पर तप-प्रायश्चित्त की सीमा बढ़ जाती है, जो कभी दीक्षाच्छेद तक भी बढ़ा दी जा सकती है।
6. यदि कोई साधक बड़े दोष को गुप्तरूप से सेवन करके छिपाना चाहे और दूसरा व्यक्ति उस दोष को प्रकट कर सिद्ध करके प्रायश्चित्त दिलवावे तो उसे दीक्षाच्छेद का ही प्रायश्चित्त आता है।
7. यदि वह दूसरे के द्वारा सिद्ध करने पर भी अत्यधिक झूठ-कपट करके विपरीत आचरण करे अथवा उल्टा चोर कोतवाल को डाँटने का काम करे, किन्तु मजबूर करने पर फिर सरलता स्वीकार करके प्रायश्चित्त लेने के लिए तैयार होवे तो उसे नई दीक्षा का प्रायश्चित्त दिया जाता है।
8. यदि वह उस दुराग्रह में ही रहे एवं सरलता स्वीकार करे ही नही ंतो उसे गच्छ से निकाल दिया जाता है।[218]

7. छेद प्रायश्चित्त

अपराध होने पर दीक्षा में से दिन, पक्ष, मास आदि कम किये जाते हैं, वह **छेद प्रायश्चित्त** है।[219] जो साधु, चिरकाल से दीक्षित है, निर्मद है, समर्थ है और शूर है, उससे यदि अपराध हो जाए तो दिन, पक्ष या मास, आदि का विभाग करके दीक्षा छेद देने को **छेद प्रायश्चित्त** कहते हैं अर्थात् उसकी दीक्षा के समय में कमी कर दी जाती है। जैसे, पाँच वर्ष के दीक्षित को चार वर्ष का दीक्षित मानना।[220] अथवा एक दिन, एक

पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन और एक वर्ष, आदि की दीक्षा पर्याय का छेद कर, इच्छित पर्याय से नीचे की भूमिका में स्थापित करना, **छेद नामक प्रायश्चित्त** है।[221]

दश प्रकार के प्रायश्चित्तों में सातवाँ छेद प्रायश्चित्त है, उसमें कुछ दिनों की दीक्षा पर्याय का छेद करके साधक की शुद्धि की जाती है। छेद सूत्रों में संयमी जीवन की विविध परिस्थितियों में लगने वाले दोषों एवं उनकी शुद्धि के लिए उपायभूत प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है। संक्षेप में दशवैकालिक सूत्र, आचारांग सूत्र आदि आगमों में साधु जीवन के आचार का वर्णन किया गया है तो छेद सूत्रों में चारित्रशुद्धि के उपायों का दर्शन कराया गया है।[222]

अपराधों का उपचय और शासनविरुद्ध समाचरण होने पर तथा तप के योग्य प्रायश्चित्त का अतिक्रमण होने पर तथा प्रव्रज्या के पाँच दिन आदि का छेद करना, संयम पर्याय को कम करना, **छेद प्रायश्चित्त** है।[223]

8. मूल या उपस्थापना प्रायश्चित्त

पुनः व्रतों का आरोपण करना अर्थात् फिर से दीक्षा देना, **मूल प्रायश्चित्त** कहलाता है।[224] अथवा पार्श्वस्थ, संसक्त, स्वच्छन्द, अवसन्न एवं कुशील मुनियों को अपरिमित अपराध करने पर, पूरी दीक्षा छेद कर, पुनः दीक्षा देना, **मूल प्रायश्चित्त** है।[225]

प्रगाढ़तर अपराध होने पर संयम पर्याय का मूल से विच्छेद करना, नई दीक्षा देना, **मूल प्रायश्चित्त** है।[226]

उक्त पार्श्वस्थ, संसक्त आदि **साधुओं के लक्षण** इस प्रकार हैं –

1. **पार्श्वस्थ –** जो वसतिका में आसक्त रहता है, उपकरणों से उपजीविका करता है और श्रमणों – मुनियों के पास रहता है; वह **पार्श्वस्थ** है।[227] **अथवा** जो मुनियों की वसतिकाओं के समीप में रहता है, उपकरणों से आजीविका करता है, उसे श्रमणों के पास में रहने से **पासत्थ या पार्श्वस्थ** कहते हैं।[228]

   श्वेताम्बर ग्रन्थ, व्यवहारसूत्र में इसे तीन नामों से अभिहित किया है – पार्श्वस्थ, प्रास्वस्थ और पाशस्थ। दर्शन-ज्ञान-चारित्र के पास में रहता है, किन्तु उसमें संलग्न नहीं होता; इसलिए उसे **पार्श्वस्थ** कहते हैं। प्र अर्थात् प्रकर्ष से ज्ञानादि में निरुद्यमी होकर रहता है; इसलिए उसे **प्रास्वस्थ** कहते हैं। तथा 'पाश' बन्धन को कहते हैं, मिथ्यात्व आदि बन्ध के कारण होने से पाश हैं, उनमें रहने से उसे **पाशस्थ** कहते हैं।[229]

   भगवती आराधना में कहा है कि पार्श्वस्थ मुनि, इन्द्रिय, कषाय और पंचेन्द्रियों के विषयों से पराभूत होकर चारित्र को तृण के समान समझता है – ऐसे चारित्रभ्रष्ट मुनि को पार्श्वस्थ कहते हैं तथा जो मुनि, उनके पास रहते हैं, वे भी उनकी ही तरह हो जाते हैं।[230]

2. **संसक्त –** जो साधु, वैद्यक मन्त्र और ज्योतिष से आजीविका करता है तथा राजादि की सेवा करता है, वह **संसक्त** है। व्यवहारसूत्र (उ. 3) में कहा है कि संसक्त साधु, नट की तरह बहुरूपिया होता है। पार्श्वस्थों से मिल कर, पार्श्वस्थ-जैसा हो जाता है, दूसरों से मिल कर, उन-जैसा हो जाता है; इसी से उसे **संसक्त** नाम दिया है।

3. **स्वच्छन्द –** जो गुरुकुल को छोड़ कर, एकाकी स्वच्छन्द विहार करता है, उसे **स्वच्छन्द या यथाच्छन्द** कहते हैं। कहा है –

   आयरियकुलं मुच्चा, विहरदि एगागिणो य जो समणो।
   जिणवयणं णिंदंतो, सच्छंदो होई मिगचारी।।[231]

   अर्थात् जो साधु, आचार्यकुल को छोड़ कर, एकाकी विहार करता है, वह जिनवचन का दूषक, मृग के समान आचरण करने वाला **मृगचारी या स्वच्छन्द** कहा जाता है। श्वेताम्बर परम्परा में भी ऐसे साधुओं को **यथाच्छन्द** कहा गया है। छन्द, इच्छा को कहते हैं। जो आगम के विरुद्ध इच्छानुकूल प्रवृत्ति करता है, वह साधु **यथाच्छन्द** है।

   भगवती आराधना में कहा है कि जो साधु, साधुसंघ से निकल कर पूर्वाचार्यों के द्वारा नहीं कहे गये आगमविरुद्ध मार्ग इच्छानुसार कल्पना करता है, वह **यथाच्छन्द** या **स्वच्छन्द** साधु है। यदि वह साधु, संयम में अत्यन्त प्रवृत्ति भी करता है तो भी उसे यथाच्छन्द ही कहा है, उसे सम्यक्त्व से भ्रष्ट कहा है।[232]

4. **अवसन्न** – जो चारित्र पालन में आलस्य युक्त होता है, जिनवचनों को नहीं जानता है, जिसने चारित्र भार छोड़ दिया है, ज्ञान व चारित्र से जो भ्रष्ट है; वह **अवसन्न** है।[233]

जो जिनागम से अनजान है, ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट है, आलसी है; उस साधु को **अवसन्न** कहते हैं। श्वेताम्बर ग्रन्थ, व्यवहार भाष्य में कहा है कि जो साधु, आचरण में प्रमादी होता है, गुरु की आज्ञा नहीं मानता है; वह **अवसन्न** है।[234]

5. **कुशील** – जो साधु, कषाय से कलुषित और व्रत, गुण और शील से रहित होता है तथा संघ का आदेश नहीं मानता; वह **कुशील** है।

उक्त सभी साधुओं की पुरानी दीक्षा छेद कर, उन्हें नई दीक्षा प्रदान की जाती है। इस कारण इसे **मूल प्रायश्चित्त** कहा जाता है।[235]

9. परिहार या पारांचित प्रायश्चित्त

पक्ष, मास, आदि काल-मर्यादा की अपेक्षा से संघ से दूर करना, **परिहार प्रायश्चित्त** है।[236]

जिस प्रायश्चित्त में क्षेत्र और देश से व्यक्ति को पृथक् कर दिया जाता है, उसे पारांचित प्रायश्चित्त कहते हैं।[237]

परिहार प्रायश्चित्त के भेद

परिहार प्रायश्चित्त के दो भेद हैं – 1. गण-प्रतिबद्ध 2. गण-अप्रतिबद्ध।

1. जहाँ मुनिगण मूत्रादि विसर्जन करते हैं, वहाँ पर जाकर इस प्रायश्चित्त को करने वाला, पिच्छिका को आगे करके रहता है। वह यतियों की वन्दना करता है, किन्तु अन्य मुनि, उसको वन्दना नहीं करते हैं। इस प्रकार गण में जो क्रिया होती है, वह **गण-प्रतिबद्ध परिहार प्रायश्चित्त** कहलाता है।

2. जिस देश में धर्म नहीं जाना जाता है, वहाँ जाकर जो मौन से तपश्चरण का अनुष्ठान करते हैं, उनके **अगण-प्रतिबद्ध-परिहार-प्रायश्चित्त** होता है।[238]

शास्त्रोक्त विधान के अनुसार दिवस आदि के विभाग से अपराधी मुनि को संघ से दूर कर देना, **परिहार प्रायश्चित्त** है। इसके दो भेद हैं – अनुपस्थापना और पारंचिक। **अनुपस्थापना परिहार प्रायश्चित्त** के भी दो भेद हैं – निजगुणानुपस्थान और परगुणोपस्थान। इनका स्वरूप इस प्रकार है –

निजगुणानुपस्थान परिहार प्रायश्चित्त – अपने संघ से निर्वासित करने को **निजगुणानुपस्थान** कहते हैं। जो मुनि, नौ या दश पूर्व का धारी है, जिसके आदि के तीन संहननों में से एक संहनन है, जो परीषहों का जेता है, जो दृढ़धर्मी धीर और संसार से भयभीत है फिर भी प्रमादवश अन्य मुनियों से सम्बद्ध ऋषि अथवा छात्र अथवा गृहस्थ अथवा अन्य धर्मावलम्बी साधुओं की चेतन या अचेतन वस्तुओं को अथवा परस्त्रियों को चुराता है, मुनियों पर प्रहार करता है, अन्य भी इस प्रकार के विरुद्ध आचरण करने वाले उस साधु को **निजगुणानुपस्थान नामक प्रायश्चित्त** होता है।

इस प्रायश्चित्त के अनुसार वह दोषी मुनि, मुनियों के आश्रम से बत्तीस हाथ दूर रह कर विहार करता है, बाल मुनियों की भी वन्दना करता है, उसे बदले में कोई वन्दना नहीं करता; केवल गुरु से आलोचना करता है, शेष जनों से वार्तालाप नहीं करता, मौन रहता है, पीछी उलटी रखता है, जघन्य से पाँच-पाँच उपवास और उत्कृष्ट से छह मास का उपवास उसे करना चाहिए। ये दोनों बारह वर्ष पर्यन्त करना चाहिए।

परगणोपस्थापन परिहार प्रायश्चित्त – जो मुनि, दर्प से उक्त दोष करता है, उसे **परगणोपस्थापन प्रायश्चित्त** होता है। उस अपराधी को उसके संघ के आचार्य, दूसरे संघ के आचार्य के पास भेज देते हैं। दूसरे संघ के आचार्य भी उसकी आलोचना सुन कर, प्रायश्चित्त नहीं देते और तीसरे आचार्य के पास भेज देते हैं। इस तरह वह सात आचार्यों के पास जाता है। पुनः उसे इसी प्रकार लौटाया जाता है अर्थात् सातवाँ आचार्य छठे के पास, छठा पाँचवें के पास, इस तरह वह प्रथम आचार्य के पास लौटता है। तब वह पहला आचार्य पूर्वोक्त (निजगुणानुपस्थान परिहार) प्रायश्चित्त उसे देता है।

इस तरह **परिहार प्रायश्चित्त** के प्रथम भेद **अनुपस्थापना** के दो भेद हैं।

पारंचिक परिहार प्रायश्चित्त – जो तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, प्रवचन, संघ, आदि की आसादना करता है या राजविरुद्ध आचरण करता है, राजा की स्वीकृति के बिना उसके मन्त्री आदि को दीक्षा देता है या राजकुल की नारी का सेवन करता है और इसी प्रकार के अन्य कार्यों से धर्म को दूषण लगाता है, उसको **पारंचिक प्रायश्चित्त** दिया जाता है।

पारंचिक प्रायश्चित्त की विधि इस प्रकार है – चतुर्विध संघ एकत्रित होकर उसे बुलाता है और कहता है कि यह पातकी महा पापी है, जिनधर्म बाह्य है, इसकी वन्दना नहीं करना चाहिए। ऐसी घोषणा करके **अनुपस्थान प्रायश्चित्त** देकर, उसे देश से निकाल देते हैं। वह भी अपने धर्म से रहित क्षेत्र में रह कर, आचार्य के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का पालन करता है।

वही सिद्धान्तसार संग्रह में कहा है –

आसादनं प्रकुर्वाणास्तीर्थेश - गणयोरपि।
श्रुतं जैनमतिक्रामन्भूयः पारंचिको भवेत्।। 106।।[239]

अर्थात् जो मुनि, तीर्थंकरों, गणधरों और गण का आसादन-अपमान करता है, जैनागम को उल्लंघता है, उससे विरुद्ध प्रवृत्ति करता है, राज-स्त्री आदि का सेवन करता है, वह मुनि, **पारंचिक प्रायश्चित्त** के योग्य है।

इस प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में धवला में कहा है –

परिहार प्रायश्चित्त दो प्रकार का है – अनवस्थाप्य और पारंचिक। उनमें से **अनवस्थाप्य परिहार प्रायश्चित्त** का जघन्य काल छह महिना और उत्कृष्ट काल बारह वर्ष है। वह कायभूमि से दूर रह कर ही विहार करता है, प्रतिवन्दना से रहित होता है, गुरु के सिवाय अन्य सब साधुओं के साथ मौन का नियम रखता है तथा उपवास, आचाम्ल, दिन के पूर्वार्द्ध में एकाशन और निर्विकृति आदि तपों द्वारा शरीर के रस, रुधिर और माँस का शोषित करने वाला होता है। पारंचिक तप भी इसी प्रकार का होता है किन्तु इसे साधर्मी पुरुषों से रहित क्षेत्र में आचरण करना चाहिए। इसमें उत्कृष्टरूप से छह मास के उपवास का भी उपदेश दिया गया है।

ये दोनों ही प्रकार के प्रायश्चित्त राजा के विरुद्ध आचरण करने पर नौ और दस पूर्वों को धारण करने वाले आचार्य करते हैं।

तीर्थंकर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य, गणधर, और महर्द्धिक मुनिराज – इनकी आसादना करने वाला **पारंचिक प्रायश्चित्त** को प्राप्त होता है। वीरनन्दि कृत आचारसार में भी इसका विशेष वर्णन है।[240]

श्वेताम्बर आम्नाय के अभिधान राजेन्द्र कोश में **पारंचिक प्रायश्चित्त** का विस्तार से वर्णन है। वहाँ उसके दो भेद बताये हैं – आशातना पारंचिक और प्रतिसेवना पारंचिक।

तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य, गणधर, तपस्वी आदि की आशातना करने पर जो पारंचिक दिया जाता है; वह **आशातना पारंचिक** है। यह पारंचिक प्रायश्चित्त जघन्य से छह मास और उत्कृष्ट बारह मास होता है। इतने काल तक अपराधी साधु गच्छ से बाहर रहता है। **प्रतिसेवना पारंचिक** वाला साधु, जघन्य से एक वर्ष और उत्कृष्ट से बारह वर्ष गच्छ से बाहर रहता है। **पारंचिक प्रायश्चित्त,** जिसे दिया जाता है, वह नियम से आचार्य ही होता है; इसलिए वह अन्य गण मे जाकर प्रायश्चित्त करता है। अपने गण में रह कर, प्रायश्चित्त करने से नये शिष्य या साधु तुरन्त जान सकते हैं कि आचार्य ने अपराध किया है। इसका उन पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है, परगण में जाने से यह बात नहीं रहती। वहाँ जाकर उसे **जिनकल्पिकी चर्या** करनी होती है और एकाकी ध्यान और श्रुतचिन्तन में बारह वर्ष बिताना होते हैं। परगण के आचार्य उसकी देख-रेख रखते हैं।[241]

10. श्रद्धान प्रायश्चित्त

जो साधु, सम्यग्दर्शन को छोड़ कर, मिथ्यात्व में या मिथ्यामार्ग में प्रवेश कर गया है, उसको पुनः दीक्षारूप करना, **श्रद्धान प्रायश्चित्त** कहलाता है। इसका दूसरा नाम **उपस्थापन** है, कोई-कोई महाव्रत का मूलोच्छेद होने पर पुनः दीक्षा देने को **उपस्थापन** कहते हैं।[242]

एक निश्चित अवधि के बाद पुनः दीक्षा देना, **अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त** है। अथवा तपस्यापूर्वक पुनः व्रतारोपण करना, **अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त** है।[243]

धवलाकार के अनुसार – मिथ्यात्व को प्राप्त होकर स्थित हुए जीव के महाव्रतों को स्वीकार कर आप्त, आगम और पदार्थों का श्रद्धान करने पर **श्रद्धान नाम का प्रायश्चित्त** होता है।[244]

तत्त्वरुचिरूप अथवा क्रोधादि के त्यागरूप जो परिणाम होता है, वह **श्रद्धान प्रायश्चित्त** कहलाता है।[245]

तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओं में श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त का कथन नहीं मिलता है; जबकि चारित्रसार और आचारसार में इसका कथन मिलता है।[246]

निष्कर्ष – छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचित प्रायश्चित्त का प्रयोग, देश, काल और पुरुष की शक्ति आदि को ध्यान में रख कर किया जाता है।[247]

प्रायश्चित्त के अन्य भेद[248]

आचार्य नरेन्द्रसेन ने सिद्धान्तसारसंग्रह के दशवें अध्याय एवं प्रायश्चित्त समुच्चय के अनुसार प्रायश्चित्त के अन्य अनेक प्रकार से भेद बताते हुए कहा गया है –

गुरुमासस्तथा भिन्नमासो लघ्वादिमासकः।
पंचकल्याणभेदश्च, भवन्त्येते सुनिर्मलाः।।23।।

अर्थात् पंच कल्याण, गुरुमास, भिन्नमास, लघुमास, आदि **प्रायश्चित्त के भेदों** के नाम हैं और ये प्रायश्चित्त अतिशय निर्मल हैं।

पंच कल्याण प्रायश्चित्त के विशेष पर्यायवाची नाम

प्रायश्चित्त समुच्चय में कहा है –

स्वस्थानं मासिकं मूलगुणो मूलममी इति।
पंचकल्याणपर्याया, गुरुमासोऽथ पंचमः।।8।।

अर्थात् स्वस्थान, मासिक, मूलगुण, मूल और गुरुमास – ये पंचकल्याण के विशेष नाम हैं।

पंच कल्याण में समाविष्ट भेद

जबकि पंच कल्याण के पाँच कल्याणों का विवरण बताते हुए कहा है –

पंच चाऽम्लानि पूतानि, नीरसाहारपंचकम्।
एकस्थानि पंचेति, पुरुमण्डलपंचकम्।।24।।
क्षपणानि तथा पंच, सर्वैः संमीलितैर्भवेत्।
पंचकल्याणकं नाम,विशुद्धेः कारणं परम्।।25।।

अर्थात् पाँच आचाम्ल भोजन या काँजी मिश्रित भात, पाँच नीरस आहार, पाँच एक स्थान, पाँच पुरुमण्डल या काँजी भोजन तथा पाँच क्षमण-उपवास – ये सब मिल कर, **पंच कल्याणक** होता है और यह **पंच कल्याणक नामक प्रायश्चित्त,** विशुद्धि का उत्तम कारण है।

प्रायश्चित्त समुच्चय, श्लोक 8 के भावार्थ में पंच कल्याण में समाविष्ट भेदों का विशेष कथन निम्न शब्दों में प्रगट किया है –

पंच आचाम्ल, पंच निर्विकृति, पंच गुरुमण्डल, पंच एकस्थान, और पंच उपवास – इनको निरन्तर अर्थात् व्यवधानरहित करने को पंच कल्याण कहते हैं। पाँच कल्याण जहाँ पर हों, वह पंच कल्याण है।

गुरुमास प्रायश्चित्त[249]

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आदि सत्त्वों की अपेक्षा से जब उक्त पंच कल्याणक प्रायश्चित्त, कुछ काल के अन्तर से किया जाता है तो वह **गुरुमास प्रायश्चित्त** कहलाता है। कहा है –

काल-क्षेत्रे तथा भाव-द्रव्य-सत्त्वाद्यपेक्षया।
स एव साऽन्तरः प्राज्ञैर्गुरुमासो निगद्यते।।26।।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को परिभाषित करते हुए सिद्धान्तसारसंग्रह की हिन्दी टीका में श्री जिनदास फडकुले शास्त्री लिखते हैं कि जहाँ पानी बहुत है, ऐसा प्रदेश अथवा जहाँ कम वर्षा होती है, ऐसा प्रदेश तो

क्षेत्र है; ग्रीष्म-वर्षा-शीत आदि, **काल** हैं; जीव के परिणाम, **भाव** हैं तथा शरीर का सामर्थ्य, **द्रव्यसत्त्व** है – इनकी अपेक्षा से जब उपर्युक्त पंचकल्याणक पुनः कुछ काल के अन्तर से किया जाता है; तब विद्वान्जन उसे **गुरुमास प्रायश्चित्त** कहते हैं।

भिन्नमास प्रायश्चित्त[250]

पाँच आचाम्ल, पाँच उपवास, पाँच नीरस भोजन, इनमें से कुछ कम किया जाता है अथवा पाँचों में से एक एक कम किया जाय तो उसको **भिन्नमास** कहते हैं; यह **भिन्नमास प्रायश्चित्त**, बहुत पापों का नाश करता है। कहा है –

आचाम्ले क्षपणे वाऽपि, नीरसे वाऽपि शोधिते।
अन्तराये तथैवाऽसौ, यो विरम्य विधीयते।।27।।
एकैकेषु च पंचैषु, सर्वेष्वपगतेषु च।
भिन्नमासः स एव स्याद्विभिन्नबहुकल्मशः।।28।।

आचार्य गुरुदास के अनुसार भिन्नमास का स्वरूप इस प्रकार है –

पंचस्वथापनीतेषु, भिन्नमासः स एव वा।
उपवासैस्त्रिभिः षष्ठमपि कल्याणकं भवेत्।।10।।

अर्थात् एक आचाम्ल, एक निर्विकृति, एक पुरुमण्डल, एक एकस्थान और एक उपवास – ये पाँच कम कर देने पर वही ऊपर कहा हुआ भिन्नमास हो जाता है। तथा तीन उपवासों का षष्ठ होता है और कल्याणक भी होता है। कहा भी है –

णिव्वियडी पुरिमंडलमायामं एयठाण खमणमिदि।
कल्लाणमेगभेदेहिं, पंचहि पंचकल्लाणं।।

अर्थात् निर्विकृति, पुरुमण्डल, आचाम्ल, एकस्थान और क्षमण – इनको एक कल्याण कहते हैं – ऐसे पाँच कल्याणों का एक पंच कल्याण होता है।

छठी भोजन की बेला में पारणा करना, षष्ठ है। अर्थात् एक दिन में दो भोजन की बेला होती हैं; उनमें से एक का धारणे के दिन त्याग करना, दो दिनों में चार बेलाओं का त्याग करना और एक का पारणे के दिन त्याग करना; इस तरह के तीन उपवास करना या छह भोजन की बेला का त्याग करना, षष्ठ है। तथा निरन्तर एक आचाम्ल, एक निर्विकृति, एक पुरुमण्डल, एक एकस्थान और एक उपवास करना कल्याणक है।[251]

लघुमास प्रायश्चित्त

उपवासैस्त्रिभिः प्रोक्तमपि कल्याणकं बुधैः।
ऐकैकेनाऽथवा तेषु, निरन्तरकृतेषु तत्।। 29।।

अर्थात् **लघुमास प्रायश्चित्त** की अपेक्षा तीन उपवास करने पर भी कल्याण प्रायश्चित्त होता है – ऐसा विद्वानों ने कहा है। अथवा एक आचाम्ल भोजन, एक नीरस भोजन, एक एकस्थान, एक पुरुमण्डल और एक उपवास निरन्तर करने पर भी वह **लघुमास कल्याण नामक प्रायश्चित्त** होता है।

लघुमास प्रायश्चित्त का स्वरूप बताते हुए आचार्य गुरुदास लिखते हैं –

नीरसेऽप्यथवाऽऽचाम्ले, क्षमणे वा विशोधिते।
ज्ञात्वा पुरुषसत्वादि, लघुर्वा सान्तरो गुरुः।। 9।।

अर्थात् पुरुष का सत्त्व अर्थात् धैर्य आदि शब्द से बल, परिणाम आदि जान कर, पूर्वोक्त पंच कल्याण में से नीरस अर्थात् निर्विकृति, अथवा आचाम्ल या उपवास को कम कर देना लघुमास है। अथवा पूर्वोक्त पाँचों को निरन्तर करना, **गुरुमास** है; और उसी गुरुमास को व्यवधानसहित करना, **लघुमास** है।

भावार्थ यह है कि रसरहित आहार को निर्विकृति कहते हैं और कांजिक-सौवीर से रहित भोजन को आचाम्ल कहते हैं। पाँच आचाम्ल, पाँच निर्विकृति, पाँच गुरुमण्डल, पाँच एकस्थान और पाँच उपवास – इनमें से पाँच निर्विकृति अथवा पाँच आचाम्ल या पाँच उपवास कम कर देना अर्थात् इन तीन में से किसी एक से रहित अवशिष्ट की **लघुमास** संज्ञा है।

उववासपंचए वा, आयंविलपंचए व गुरुमासादो।
निव्वियडिपंचए वा, अवणीदे होदि लहुमासं।।

अर्थात् गुरुमास अर्थात् पंच कल्याण में से पाँच उपवास अथवा पाँच आचाम्ल अथवा पाँच निर्विकृति कम कर देने पर **लघुमास** होता है।

छेदशास्त्र की अपेक्षा आचाम्ल, निर्विकृति, गुरुमण्डल और एकस्थान – इनमें से किसी एक को कम कर देने पर **लघुमास** होता है।

आदीदो चउमज्झे, एकद्दरवणियम्मि लहुमासं।

अर्थात् छेदशास्त्र के पाठानुसार क्षमण-उपवास का पाठ सबके अन्त में है; उनमें से उपवास को छोड़ कर अवशिष्ट चार में से किसी को घटा देना, लघुमास है।

सबका सारांश यह है कि इन पाँचों में से किसी एक से रहित चार की लघुमास संज्ञा हैं अथवा पंच कल्याण को व्यवधानसहित करना भी लघुमास है।[252]

चातुर्मासिक प्रायश्चित्त

यदि कोई साधक आचारांग को बिना पढ़े अन्य आगमसाहित्य का अध्ययन करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[253]

कितने कायोत्सर्ग करने पर कितने उपवास आदि करने का फल

नवधा सुनमस्कारैस्तनूत्सर्गैर्विनिर्मितः।
एतैर्द्वादशभिस्तावदुपवासः प्रजायते।। 30।।[254]

अर्थात् एक कायोत्सर्ग में नौ पंच नमस्कार मन्त्र का पाठ होता है और एक सौ आठ बार पंचनमस्कार मन्त्र का जाप करने से एक उपवास करने का फल प्राप्त होता है अर्थात् बारह कायोत्सर्गों से मिल कर, **एक उपवास** होता है।

मनो-वाक्-कायगुप्तः सन्नष्टोत्तरशतं जपेत्।
योऽपराजितमाप्नोति, सभव्यःप्रोषधंफलम्।। 31।।[255]

अर्थात् मन-वचन-काय की एकाग्रतापूर्वक जो भव्य, एक सौ आठ बार पंच नमस्कार मन्त्र का जाप करता है, उसे एक प्रोषध अर्थात् एक उपवास का फल प्राप्त होता है; अतः एक प्रोषध करने से जितनी कर्मनिर्जरा होती है, उतनी कर्मनिर्जरा एक सौ आठ बार पंचनमस्कार मन्त्र को जपने से प्राप्त होती है।

पादोनं कांजिकाऽहारात्पादैकः पुरुमण्डलात्।
अर्धं निर्विकृतेस्तस्य, स्यादेकस्थानतस्तथा।। 32।।[256]

अर्थात् एक कांजी भोजन करने का फल, इक्यासी बार पंच नमस्कार मन्त्र का जाप करने से प्राप्त होता है तथा एक एकस्थान का फल, चौवन बार पंच नमस्कार मन्त्र का जाप करने से प्राप्त होता है।

प्रायश्चित्त समुच्चय के श्लोक 11 के भावार्थ में पण्डित पन्नालालजी सोनी, मुरैना वालों ने तीन प्राचीन प्राकृत गाथाओं का उल्लेख यथा कह कर किया है। यद्यपि इन गाथाओं का आधार उन्होंने स्पष्टतः नहीं लिखा है, परन्तु इससे उनकी प्राचीनता में कोई बाधा नहीं आती है। सम्भवतया उन्होंने ये गाथाएँ श्वेताम्बर साहित्य में से ली हैं क्योंकि उसमें एक जगह छेदपिण्ड का उल्लेख किया गया है, इस नाम से कोई ग्रन्थ अभी तक दिगम्बर साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं हुआ। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं –

णव पंच णमोक्कारा, काउसग्गम्मि होंति एगम्मि।
एदेहिं वारसेहिं, उववासो जायदे एक्को।।
एकम्मि विउस्सग्गे, णव णवकारा हवंति बारसहिं।
सयमट्ठोत्तरमेदे, हवंति उववासा जस्स फलं।।
यद्देवसियं अट्ठं, सयं पक्खियं च तिण्णि सया।
चाउम्मासे चउरो, सयाणि संवत्सरे य पंचसया।।[257]

अर्थात् एक कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग में नौ पंच नमस्कार होते हैं। बारह कायोत्सर्गों या व्युत्सर्गों में एक सौ आठ पंच नमस्कार होते हैं। इन एक सौ आठ पंच नमस्कारों के जपने का फल एक उपवास है।

एक सौ आठ पंच नमस्कारों का दैवसिक कायोत्सर्ग होता है या दैवसिक कायोत्सर्ग में एक सौ आठ पंच नमस्कार होते हैं। तथा पाक्षिक में तीन सौ, चातुर्मासिक में चार सौ और सांवत्सरिक में पाँच सौ पंच नमस्कार होते हैं।

एक उपवास का फल प्राप्त करने की विधि[258]

1. जो पुरुष मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति को धारण कर, अपराजित पंच नमस्कार मन्त्र को परिपूर्ण एक सौ आठ बार जपता है; वह एक उपवास के फल को पाता है।
2. सोलह अक्षर वाले मन्त्र की दो सौ जाप देने पर भी एक उपवास का फल होता है।
3. छह अक्षर वाले मन्त्र की तीन सौ और चार अक्षर वाले मन्त्र की चार सौ जाप देने पर भी एक-एक उपवास का फल होता है। 'अरहन्त-सिद्ध -आयरिय-उवज्झाया-साहू' – यह सोलह अक्षरों का 'अरहन्त-सि-सा' – यह छह अक्षरों का और 'अरहन्त' – यह चार अक्षरों का मन्त्र है।
4. जो निर्मल बुद्धिधारी पुरुष, आलसरहित होता हुआ परमोत्कृष्ट अकार बीजाक्षर को पाँच सौ बार अच्छी तरह जपता है; वह एक उपवास का फल पाता है।

वही कहा है –

पणतीसं सोलसयं, छच्चउपयं च वण्णवीयाइं।
एउत्तरमट्ठसयं, साहिए पंच खमणट्ठं।।

अर्थात् एक सौ आठ बार जपा हुआ पैंतीस अक्षरों का जाप, दो सौ बार जपा हुआ सोलह अक्षरों का जाप, तीन सौ बार जपा हुआ छह अक्षरों का जाप, चार सौ बार जपा हुआ चार अक्षरों का जाप और पाँच सौ बार जपा हुआ एक अकार पद या ओंकार बीजाक्षर का जाप एक उपवास के लिए होता है।

उपवास के हीन होने के कारण

आचाम्लेन सपादोनस्तत्पादः पुरुमंडलात्।
एकस्थानात्तदर्धं स्यादेवं निर्विकृतेरपि।।

अर्थात् आचाम्ल या कंजित भोजन करने से वह उपवास चतुर्थांश हीन हो जाता है अर्थात् चार हिस्सों में से एक हिस्सा प्रमाण कम हो जाता है, तीन हिस्सा मात्र ही अवशिष्ट रह जाता है। अनगार की भोजन-बेला को पुरुमण्डल कहते हैं; इस पुरुमण्डल से वह उपवास चतुर्थांश या चौथे हिस्से के बराबर रह जाता है। तथा तीन मुहुर्त तक के भोजन के काल में एक ही स्थान में पैरों का संचार न कर भोजन करना एकस्थान है। इस एकस्थान के करने से तथा निर्विकृति आहार के करने से वह उपवास आधा रह जाता है।

इसी अर्थ को प्रगट करने वाली गाथा निम्न प्रकार है –

आयंविलम्हि पादूण, खमण पुरिमंडले तहा पादो।
एयट्ठाणे अद्धं, निव्वियडीओ य एमेव।।[259]

प्रायश्चित्त के प्रकरण में विशेषतः जानने योग्य छह विचार-बिन्दु

कालस्तथा क्षेत्रं, छेदो भुक्तिः पुमानिति।
षोढा विधिर्भवत्यत्र,ज्ञातव्यःसमनीषिभिः।। 33।।[260]

अर्थात् **दोष** – अपराध, **काल** – ग्रीष्म आदि काल, **क्षेत्र** – साधारण, जलप्राय, शुष्क आदि, **छेद** – प्रायश्चित्त, **भुक्ति** – आहार आदि अथवा **भक्ति** – प्रायश्चित्त लेने वाले का निर्मल परिणाम, तथा **दोषी पुरुष;** इन छह बातों को जो विचार में लेते हैं, वे योग्य और आगम-मान्य होते हैं, अन्यथा अज्ञान से प्रायश्चित्त देना योग्य नहीं है।

व्यवहारभाष्य के अनुसार प्रायश्चित्तार्ह और प्रायश्चित्तवाहक कौन ?

श्वेताम्बर साहित्य में प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष को प्रायश्चित्तार्ह कहा है, उसके दो भेद कहे हैं – कृतकरण और अकृतकरण। जो तप आदि करने में समर्थ हैं, वे कृतकरण और जो उन्हें नहीं कर सकते, वे अकृतकरण कहलाते हैं। उनके भी अनेक भेद व्यवहारभाष्य एवं उसकी व्याख्याओं आदि में मिलते हैं।[261] इसी प्रकार प्रायश्चित्तवाहक के भी दो भेद किये हैं – निर्गत और वर्तमान। जो तप के बाद वाले छेद आदि

प्रायश्चित्तों का वहन कर रहे हैं, वे निर्गत और जो तपपर्यन्त शुरु के छह प्रायश्चित्तों में स्थित हैं, वे वर्तमान कहलाते हैं।[262]

प्रायश्चित्त के छह अधिकार

इसी आधार पर प्रायश्चित्त समुच्चय नामक ग्रन्थ में आचार्य गुरुदास ने छह अधिकारों का वर्णन किया है तथा उसके टीकाकार श्री पन्नालालजी सोनी ने विशेष वर्णन करते हुए लिखा है –

प्रतिसेवा ततः काल, क्षेत्राहारोपलब्धयः।
पुमांश्छेदो विपश्चिद्भिर्विधिः षोढात्र कीर्त्यते।।[263]

अर्थात् विद्वान् पुरुष, इस प्रायश्चित्त समुच्चय नामक अनादिनिधन शास्त्र में छह अधिकारों का वर्णन करते हैं। **पहला प्रतिसेवा** नाम का अधिकार है; जिसमें सचित्त, अचित्त और मिश्रद्रव्य के आश्रय से दोषों के सेवन करने का कथन है। उसके बाद **दूसरा कालाधिकार** है; जिसमें शीतकाल, उष्णकाल और वर्षाकाल के आश्रय से प्रायश्चित्त देने का कथन है। उसके बाद **तीसरा क्षेत्राधिकार** है; जिसमें स्निग्ध, रूक्ष, मिश्र आदि क्षेत्रों के अनुसार प्रायश्चित्त देने का वर्णन है। **चौथा आहारोपलब्धि** नाम का अधिकार है; जिसमें उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य आहार-प्राप्ति के अनुसार प्रायश्चित्त देने का विधान है। उसके बाद **पाँचवाँ पुरुषाधिकार** है; जिसमें वह पुरुष, धर्म में स्थिर है या अस्थिर है, आगमज्ञ है या अनागमज्ञ है, श्रद्धालु है या अश्रद्धालु है इत्यादि पुरुषाश्रित प्रायश्चित्त का कथन है। उसके बाद **छठा प्रायश्चित्ताधिकार** है; जिसमें दश प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन है।

प्रतिसेवा के अन्तर्गत दोषों का निरूपण होता है, उसके अनेक भंग होते हैं –

निमित्तादनिमित्ताच्च, दोषस्याऽचरणं द्विधा।
अष्टौभंगाःपुनःसन्ति,द्वयोरपिविभाविताः।। 34।।
सहेतुकोऽपरस्तस्य, सकृतकारी तथेतरः।
सानुवीचिर्विपक्षोऽस्य, सप्रयत्नोऽप्रयत्नकः।। 35।।
एवमष्टौ विकल्पाः स्यु, सनिमित्ताऽनिमित्तयोः।
सर्वे सम्मिलिताःसन्ति,षोडशैते जिनागमे।। 36।।
अन्येऽपि बहवो भंगाः,सन्त्यत्राऽऽगमवर्णिताः।
ज्ञात्वा तांस्तारतम्येन,छेदं दद्याद्यतीश्वरः।। 37।।[264]

अर्थात् मुनियों के द्वारा दो प्रकार से दोष किये जाते हैं – **निमित्तजात दोष** और **अनिमित्तजात दोष**।

इन दोनों के पुनः **आठ-आठ प्रकार के भेद** होते हैं –

1. **सहेतुक** अर्थात् हेतुपूर्वक दोष करना।
2. **अहेतुक** अर्थात् हेतु के बिना दोष करना।
3. **सकृत्कारी** अर्थात् एक बार दोष करना।
4. **असकृत्कारी** अर्थात् अनेक बार दोष करना।
5. **सानुवीचि** अर्थात् विचार करके दोष करना।
6. **अननुवीचि** अर्थात् बिना विचारे दोष करना।
7. **प्रयत्नवान्** अर्थात् प्रयत्नपूर्वक दोष करना।
8. **अप्रयत्नवान्** अर्थात् अप्रयत्नपूर्वक दोष करना।

उक्त आठों दोष, **निमित्तजात** और **अनिमित्तजात**; दोनों प्रकार के होते हैं। सब मिला कर, **सोलह प्रकार के दोष** जिनागम में कहे हैं। अन्य भी बहुत प्रकार के भंग अर्थात् दोषों के प्रकार हो सकते हैं, जिनको आगम में वर्जित माना है। उन सब दोषों को जान कर, यतीश्वर अर्थात् आचार्य, तारतम्य से प्रायश्चित्त देवें।

प्रायश्चित्त समुच्चय के अनुसार निमित्त सेवा के सोलह और अनिमित्त सेवा के आठ भेद[265]

इन्हीं दोषों का वर्णन प्रायश्चित्त समुच्चय नामक ग्रन्थ में किंचित् अन्तर के साथ किया गया है –

निमित्तादनिमित्ताच्च, प्रतिसेवा द्विधा मता।
कारणात् षोडशोद्दिष्टाऽष्टभंगास्तथेतरे।। 17।।

अर्थात् निमित्त से और अनिमित्त से प्रतिसेवा दो तरह की मानी गई है। उनमें से कारण से सोलह तरह की कही गई है और अकारण से आठ भंग होते हैं।

भावार्थ यह है कि उपसर्ग, व्याधि आदि निमित्तों को पाकर दोषों का सेवन करना और इन निमित्तों के बिना दोषों को सेवन करना; इस तरह प्रतिसेवा के दो भेद हैं। उनमें भी प्रत्येक के अर्थात् निमित्त-प्रतिसेवा के सोलह और अनिमित्त-प्रतिसेवा के आठ भेद होते हैं।

सारांश के रूप में कह सकते हैं कि कारणकृत प्रतिसेवा के सोलह और अकारणकृत प्रतिसेवा के आठ भंग होते हैं।

सर्व प्रथम **निमित्त-सेवा के सोलह भेद** बताते हैं –

सहेतकः सकृत्कारी, सानुवीची प्रयत्नवान्।
तद्विपक्षाद्विकाः सन्ति, षोडशाऽन्योन्यताडिताः।। 18।।

सहेतुक – उपसर्गादि निमित्तों को पाकर दोषों को सेवन करने वाला। **सकृत्कारी** – जिसका एक बार दोष सेवन करने का स्वभाव है। **सानुवीची** – अनुवीची नाम अनुकूलता का है, जो अनुकूलता से सहित है, वह सानुवीची है अर्थात् विचारपूर्वक आगमानुसार बोलने वाला। **प्रयत्नवान्** – प्रयत्नपूर्वक दोष सेवन करने वाला। इन चारों को एक-एक विरलन कर ऊपर स्थापन करना।

इन्हीं सहेतुकादिकों के विपक्षी **अहेतुक, असकृत्कारी, असानुवीची और अप्रयत्नवान्** – इनकी संख्या दो-दो है; इनका परस्पर संयोग करने पर सोलह संख्या आती है।।

उक्त भेदों में लघु-गुरु प्रायश्चित्त के योग्य, प्रायश्चित्तों का निर्णय करते हैं –

भंगायामप्रमाणेन, लघुर्गुरुरिति क्रमात्।
प्रस्तारेऽत्राक्षनिक्षेपो, द्विगुणो द्विगुणस्ततः।। 19।।
विशुद्धः प्रथमोऽन्त्योऽपि सर्वथा शुद्धिवर्जितः।
भंगाश्चतुर्दशान्ये तु, सर्वेभाज्या भवन्त्यमी।। 20।।
आगाढ़कारणे कश्चिच्छेषाशुद्धोऽपि शुद्ध्यति।
विशुद्धोऽपि पदैः शेषैरनागाढ़े न शुद्ध्यति।। 21।।

अर्थात् प्रस्तार-रचना में भंगों के आयाम-प्रमाण के अनुसार लघु और गुरु – ये क्रम से स्थापित किये जाते हैं तथा द्वितीयादि पंक्तियों में वे दूने-दूने स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार कुल भंगों का प्रमाण सोलह होता है; जो निम्न प्रकार हैं –

इन भंगों को संदृष्टियों के अनुसार निकालने की विधि, मूलाचार में संख्या, प्रस्तार, अक्षसंक्रम, नष्ट और उद्दिष्ट – पाँच प्रकार से बताई गई है; उसी के अनुसार प्रायश्चित्त समुच्चय में भी वर्णन किया गया है, उन्हें वहाँ से जानना चाहिए। यहाँ उनके भंगों को निकालने की विधि, विस्तार से न बता कर, उन भेदों को सीधे वर्णित किया गया है –

01.	आगाढ़कारणकृत-सकृत्-सानुवीची-यत्नसेवी	1111
02.	अनागाढ़कारणकृत-सकृत्-सानुवीची-यत्नसेवी	2111
03.	आगाढ़कारणकृत-असकृत्-सानुवीची-यत्नसेवी	1211
04.	अनागाढ़कारणकृत-असकृत्-सानुवीची-यत्नसेवी	2211
05.	आगाढ़कारणकृत-सकृत्-असानुवीची-यत्नसेवी	1121
06.	अनागाढ़कारणकृत-सकृत्-असानुवीची-यत्नसेवी	2121
07.	आगाढ़कारणकृत-असकृत्-असानुवीची-यत्नसेवी	1221
08.	अनागाढ़कारणकृत-असकृत्-असानुवीची-यत्नसेवी	2221
09.	आगाढ़कारणकृत-सकृत्-सानुवीची-अयत्नसेवी	1112
10.	अनागाढ़कारणकृत-सकृत्-सानुवीची-अयत्नसेवी	2112
11.	आगाढ़कारणकृत-असकृत्-सानुवीची-अयत्नसेवी	1212
12.	अनागाढ़कारणकृत-असकृत्-सानुवीची-अयत्नसेवी	2212
13.	आगाढ़कारणकृत-सकृत्-असानुवीची-अयत्नसेवी	1122
14.	अनागाढ़कारणकृत-सकृत्-असानुवीची-अयत्नसेवी	2122

15. आगाढ़कारणकृत-असकृत्-असानुवीची-अयत्नसेवी 1222
16. अनागाढ़कारणकृत-असकृत्-असानुवीची-अयत्नसेवी 2222

इन सोलह भंगों मे से पहला भंग विशुद्ध है, वह लघु प्रायश्चित्त के योग्य है। अन्त का सोलहवाँ भंग पूर्ण अशुद्ध है, वह गुरु प्रायश्चित्त के योग्य है। बाकी के चौदह भंग भाज्य हैं, लघु-गुरु दोनों तरह के हैं; अतः यथायोग्य छोटे-बड़े प्रायश्चित्त के योग्य हैं।।

देव, मनुष्य, तिर्यंच या अचेतनकृत उपसर्गवश या व्याधिवश दोष-सेवन करने पर, शेष असकृत्कारी, असानुवीची और अयत्नसेवी पदों से अशुद्ध होते हुए भी कोई पुरुष शुद्ध हो जाता है अर्थात् वह उस दोषयोग्य लघु प्रायश्चित्त का पात्र है। तथा कोई पुरुष, बिना कारण दोष सेवन कर लेने पर शेष सकृत्कारी, सानुवीची और प्रयत्नसेवी पदों से शुद्ध होते हुए भी शुद्ध नहीं होता; लघु प्रायश्चित्त का पात्र नहीं होता, (गुरु प्रायश्चित्त का पात्र होता है)।

अब **अनिमित्त-सेवा के आठ भंगों** को बताते हैं –

अकारणे सकृत्कारी, सानुवीचिः प्रयत्नवान्।
तद्विपक्षा द्विका एतेऽप्यष्टावन्योन्यसंगुणाः।। 22।।
अष्टाप्येते न संशुद्धा, आद्यः शुद्धतरस्ततः।
अविशुद्धतरास्त्वन्ये, भंगाः सप्तापि सर्वदा।। 23।।

अर्थात् अकारण या अनिमित्त भंगों में सकृत्कारी (1), सानुवीची (1) और प्रयत्नवान् (1) – इन तीनों की एक या लघु संज्ञा है और इनके विपक्षी असकृत्कारी (2), असानुवीची (2) और अप्रयत्नप्रतिसेवी (2) – इन तीन की द्विक या गुरु संज्ञा है। इनका भी परस्पर संयोग करने पर आठ भंग होते हैं –

1. सकृत्कारी-सानुवीची-यत्नसेवी 111
2. असकृत्कारी-सानुवीची-यत्नसेवी 211
3. सकृत्कारी-असानुवीची-यत्नसेवी 121
4. असकृत्कारी-असानुवीची-यत्नसेवी 221
5. सकृत्कारी-सानुवीची-अयत्नसेवी 112
6. असकृत्कारी-सानुवीची-अयत्नसेवी 212
7. सकृत्कारी-असानुवीची-अयत्नसेवी 122
8. असकृत्कारी-असानुवीची-अयत्नसेवी 222

उक्त आठों भंग संशुद्ध नहीं हैं, अशुद्ध हैं; उत्तरोत्तर बहुत प्रायश्चित्त के योग्य हैं। इनमें से पहला भंग द्वितीय भंग की अपेक्षा शुद्ध है, उत्तरोत्तर की अपेक्षा लघु प्रायश्चित्त के योग्य है। इसके अलावा बाकी के सात भंग उत्तरोत्तर अविशुद्धतर हैं, बहुत-बहुत प्रायश्चित्त के योग्य हैं।

लघु-गुरु प्रायश्चित्त का विवेक एवं द्रव्य-क्षेत्रादि की सावधानियाँ[266]

प्रतिसेवाविकल्पानां, त्रयोविंशतिमामृषन्।
गुरुं लाघवमालोच्यच्छेदं दद्याद्यथायथं।। 24।।
द्रव्ये क्षेत्रेऽथ काले वा, भावे विज्ञाय सेवनां।
क्रमशःसम्यगालोच्य,यथाप्राप्तंप्रयोजयेत्।। 25।।

अर्थात् प्रतिसेवा के कुल विकल्प चौबीस हुए; उनमें से पहले विकल्प (आगाढ़- कारणकृत-सकृत्कारी-सानुवीचि-प्रयत्नप्रतिसेवी) को छोड़ कर अवशिष्ट तेईस विकल्पों में छोटे और बड़े का विचार कर यथायोग्य प्रायश्चित्त देना चाहिए।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जान कर और प्रतिसेवना अर्थात् सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य के उपभोग का क्रम से अच्छी तरह विचार कर यथायोग्य प्रायश्चित्त देना चाहिए। भावार्थ यह है कि जिसको प्रायश्चित्त दिया जाए, उसके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य संहननयुक्त शरीर और तीव्र-मन्द ज्ञानादि को; मगध, कुरुजांगल आदि निवास स्थान को; शीतकाल, उष्णकाल, वर्षाकाल आदि काल को; और तीव्र, मन्द आदि भावों को जान लेना चाहिए तथा उसकी सचित्त, अचित्त और मिश्र पदार्थ की सेवना पर भी अच्छी तरह

विचार कर लेना चाहिए। उसके बाद ही यथायोग्य प्रायश्चित्त देना चाहिए, अन्यथा लाभ के बदले हानि होने की संभावना है।[266]

प्रायश्चित्त के लिए पंच कल्याणों के प्रत्येक या संयोगी भंगों का विवरण[267]

नीरसः पुरुमण्डश्चाप्याचाम्लं चैकसंस्थितिः।
क्षमणं च तपो देयमेकैकं द्व्यादिमिश्रकं।। 26।।

निर्विकृति, पुरुमण्डल, आचाम्ल, एकसंस्थान और उपवास – इन पाँचों के प्रत्येक भंग, द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी, चतुःसंयोगी और पंचसंयोगी भंग निकाल कर प्रायश्चित्त देना चाहिए। उनका विवरण इस प्रकार है –

पाँच प्रत्येक भंग – 1. निर्विकृति 2. पुरुमण्डल 3. आचाम्ल 4. एकस्थान 5. उपवास।

दश द्विसंयोगी भंग – 6. निर्विकृति-पुरुमण्डल 7. निर्विकृति-आचाम्ल 8. निर्विकृति-एकस्थान 9. निर्विकृति-उपवास 10. पुरुमण्डल-आचाम्ल 11. पुरुमण्डल-एकस्थान 12. पुरुमण्डल-उपवास 13. आचाम्ल-एकस्थान 14. आचाम्ल-उपवास 15. एकस्थान-उपवास।

दश त्रिसंयोगी भंग – 16. निर्विकृति-पुरुमण्डल-आचाम्ल 17. निर्विकृति-पुरुमण्डल-एकस्थान 18. निर्विकृति-पुरुमण्डल-उपवास 19. निर्विकृति-आचाम्ल-एकस्थान 20. निर्विकृति-आचाम्ल-उपवास 21. निर्विकृति-एकस्थान-उपवास 22. पुरुमण्डल-आचाम्ल-एकस्थान 23. पुरुमण्डल-आचाम्ल-उपवास 24. पुरुमण्डल-एकस्थान-उपवास 25. आचाम्ल-एकस्थान-उपवास।

पाँच चतुःसंयोगी भंग – 26. निर्विकृति-पुरुमण्डल-आचाम्ल-एकस्थान 27. निर्विकृति-पुरुमण्डल-आचाम्ल-उपवास 28. निर्विकृति-पुरुमण्डल-एकस्थान-उपवास 29. निर्विकृति-आचाम्ल-एकस्थान-उपवास 30. पुरुमण्डल-आचाम्ल-एकस्थान-उपवास।

एक पंचसंयोगी भंग – 31. निर्विकृति, पुरुमण्डल, आचाम्ल, एकस्थान-उपवास।

इस प्रकार पंच कल्याण से सम्बन्धित कुल इकतीस भंग हुए, इनको शलाका भी कहते हैं।

अब, दोषों के अनुसार पंच कल्याणों की शलाकाओं या भंगों के प्रायश्चित्तों का विभाग बताने वाला श्लोक लिखते हैं –

आद्यमाद्ये तपोऽन्येषु, प्रत्येकं तद्द्वयं ततः।
आद्ये तत्त्रयमष्टानां, तच्चतुष्टयमन्यतः।। 27।।

अर्थात् सोलह दोषों में से प्रथम दोष का प्रायश्चित्त आद्य तप अर्थात् प्रथम शलाका है। शेष पन्द्रह दोषों का प्रायश्चित्त, दो दो तप अर्थात् दो दो शलाकाएँ हैं तथा आठ दोषों में से प्रथम दोष का प्रायश्चित्त तीन तप अर्थात् तीन शलाकाएँ और सात दोषों का प्रायश्चित्त चार चार तप अर्थात् चार चार शलाकाएँ हैं।

इस प्रकार सोलह दोषों का प्रायश्चित्त, सामान्य से कहा।

अब, **लघु और गुरु दोष** का विचार कर, आचार्यों के उपदेश के अनुसार उत्तर सूत्र के अभिप्राय से उक्त शलाकाओं में से किसको कौनसा प्रायश्चित्त दिया जाता है – यह निश्चय करते हैं।

01. **प्रथम आगाढ़कारणकृत-सकृत्-सानुवीची-यत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, आलोचना मात्र है।
02. **द्वितीय अनागाढ़कारणकृत-सकृत्-सानुवीची-यत्नसेवी दोष** का बड़ा प्रायश्चित्त, छह विशुद्धि वाली दो शलाकाएँ हैं; जिनमें एक शलाका तो निर्विकृति-क्षमण नाम की नौवीं द्विसंयोगी भंग की है तथा दूसरी शलाका निर्विकृति-पुरुमण्डल-आचाम्ल-एकस्थान नाम की छब्बीसवीं चतुःसंयोगी भंग की है।
03. **तृतीय आगाढ़कारणकृत-असकृत्-सानुवीची-यत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, पहली निर्विकृति शलाका और दूसरी पुरुमण्डल शलाकारूप छोटा प्रायश्चित्त है।
04. **चतुर्थ अनागाढ़कारणकृत-असकृत्-सानुवीची-यत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, पन्द्रहवीं शलाका एकस्थान-क्षमण – ऐसे द्विसंयोगी भंग की है तथा तीसवीं शलाका अर्थात् पुरुमण्डल-आचाम्ल-एकस्थान-क्षमण – इस तरह चतुःसंयोगी भंग की है।

05. **पंचम आगाढ़कारणकृत-सकृत्-असानुवीची-यत्नसेवी दोष का प्रायश्चित्त**, छठी और तेरहवीं शलाका है। दोनों ही शलाकाएँ द्विसंयोगी भंग की हैं; जिनमें छठी में निर्विकृति-पुरुमण्डल तथा तेरहवीं में आचाम्ल-एकस्थान है।

06. **षष्ठ अनागाढ़कारणकृत-सकृत्-असानुवीची-यत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, चौदहवीं और सत्ताईसवीं शलाका है; जिनमें चौदहवीं शलाका आचाम्ल-क्षमण – ऐसे द्विसंयोगी भंग की तथा सत्ताईसवीं शलाका निर्विकृति-पुरुमण्डल-आचाम्ल-क्षमण – ऐसे चतुःसंयोगी भंग की है।

07. **सप्तम आगाढ़कारणकृत-असकृत्-असानुवीची-यत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, त्रिसंयोगी सोलहवीं और बाईसवीं शलाकाएँ हैं; जिनमें सोलहवीं शलाका निर्विकृति-पुरुमण्डल-आचाम्ल की तथा बाईसवीं शलाका पुरुमण्डल-आचाम्ल-एकस्थान की है।

08. **अष्टम अनागाढ़कारणकृत-असकृत्-असानुवीची-यत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, बारहवीं और अट्ठाईसवीं शलाका है; जिनमें बारहवीं शलाका पुरुमण्डल-क्षमण – ऐसे द्विसंयोगी भंग की तथा अट्ठाईसवीं शलाका निर्विकृति-पुरुमण्डल-एकस्थान-क्षमण – ऐसे चतुःसंयोगी भंग ही है।

09. **नवम आगाढ़कारणकृत-सकृत्-सानुवीची-अयत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, तीसरी और चौथी शलाका है; ये दोनों शलाकाएँ आचाम्ल और एकस्थान – ऐसे प्रत्येक भंग की हैं।

10. **दशम अनागाढ़कारणकृत-सकृत्-सानुवीची-अयत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, तेवीसवीं और इक्कीसवीं त्रिसंयोगी भंग की शलाकाएँ हैं; जिनमें तेवीसवीं शलाका पुरुमण्डल-आचाम्ल-क्षमण की तथा इक्कीसवीं शलाका निर्विकृति-एकस्थान-क्षमण की हैं।

11. **एकादशम आगाढ़कारणकृत-असकृत्-सानुवीची-अयत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, आठवीं और ग्यारहवीं द्विसंयोगी भंग की शलाकाएँ हैं; जिनमें आठवीं शलाका निर्विकृति-एकस्थान तथा ग्यारहवीं शलाका पुरुमण्डल-एकस्थान की है।

12. **द्वादशम अनागाढ़कारणकृत-असकृत्-सानुवीची-अयत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, अठारहवीं और बीसवीं त्रिसंयोगी शलाकाएँ हैं; जिनमें अठारहवीं शलाका निर्विकृति-पुरुमण्डल-क्षमण की तथा बीसवीं शलाका निर्विकृति-आचाम्ल-क्षमण की है।

13. **त्रयोदशम आगाढ़कारणकृत-सकृत्-असानुवीची-अयत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, सातवीं और दशवीं द्विसंयोगी भंग की शलाकाएँ हैं; जिनमें सातवीं शलाका निर्विकृति-आचाम्ल की तथा दशवीं शलाका पुरुमण्डल-आचाम्ल की है।

14. **चतुर्दशम अनागाढ़कारणकृत-सकृत्-असानुवीची-अयत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, चौबीसवीं और पच्चीसवीं त्रिसंयोगी भंग की दो शलाकाएँ हैं; जिनमें चौबीसवीं शलाका पुरुमण्डल-एकस्थान-क्षमण की तथा पच्चीसवीं शलाका आचाम्ल-एकस्थान-क्षमण की है।

15. **पंचदशम आगाढ़कारणकृत-असकृत्-असानुवीची-अयत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, सतरहवीं और उन्नीसवीं त्रिसंयोगी भंग की दो शलाकाएँ हैं; जिनमें सतरहवीं शलाका निर्विकृति-पुरुमण्डल-एकस्थान की तथा उन्नीसवीं शलाका निर्विकृति-आचाम्ल-एकस्थान की है।

16. **षोडशम अनागाढ़कारणकृत-असकृत्-असानुवीची-अयत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, पाँचवीं, उनतीसवीं और इकतीसवीं – ये तीन शलाकाएँ हैं; जिनमें पाँचवीं शलाका, क्षमण नामक प्रत्येक भंग की है, उनतीसवीं शलाका निर्विकृति-आचाम्ल-एकस्थान-क्षमण – ऐसे चतुःसंयोगी भंग की है तथा इकतीसवीं शलाका निर्विकृति-पुरुमण्डल-आचाम्ल-एकस्थान-क्षमण – ऐसे पंचसंयोगी भंग की है।

इस प्रकार **सोलह दोषों में छोटे-बड़े दोषों** का विचार कर प्रायश्चित्त बताया; जिनमें प्रथम, तृतीय, पंचम, सप्तम, नवम, एकादशम, त्रयोदशम और पंचदशम – ये **आठ दोष तो लघु प्रायश्चित्त के योग्य** हैं; शेष द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादशम, चतुर्दशम और षोडशम – ये **आठ दोष, गुरु प्रायश्चित्त के योग्य** हैं।

इनके अलावा जो **अकारण या अनिमित्त या निष्कारण सम्बन्धी आठ भंग** हैं; वे सर्वथा ही अशुद्ध हैं तो भी उनमें से पहला भंग, अन्य भंगों की अपेक्षा विशुद्धतम है तथा अन्तिम भंग, अविशुद्धतम अर्थात् सबसे अधिक अविशुद्ध है; अतः अब यहाँ उनके प्रायश्चित्तों के सम्बन्ध में निर्णय करते हैं –

01. **प्रथम सकृत्कारी-सानुवीची-यत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, प्रत्येक भंगवाली निर्विकृति, पुरुमण्डल और आचाम्ल – ऐसी पहली, दूसरी और तीसरी तीन शलाकाएँ हैं।

02. **द्वितीय असकृत्कारी-सानुवीची-यत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, चार शलाकाएँ हैं; जिनमें दो शलाकाएँ एकस्थान और क्षपण – ऐसे प्रत्येक भंगवाली और दो शलाकाएँ निर्विकृति-पुरुमण्डल तथा आचाम्ल-एकस्थान – ऐसे द्विसंयोगी की हैं। ये शलाकाएँ के क्रमशः चौथी, पाँचवीं, छठी और तेरहवीं हैं।

03. **तृतीय सकृत्कारी-असानुवीची-यत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, द्विसंयोगी की चार शलाकाएँ अर्थात् आठ शुद्धियाँ हैं; जिनमें निर्विकृति-आचाम्ल, निर्विकृति-एकस्थान, आचाम्ल-क्षमण, तथा एकस्थान-क्षमण – ये द्विसंयोगी की शलाकाएँ क्रमशः सातवीं, आठवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं हैं।

04. **चतुर्थ असकृत्कारी-असानुवीची-यत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, द्विसंयोगी की चार शलाकाएँ अर्थात् आठ शुद्धियाँ हैं; जिनमें निर्विकृति-क्षमण, पुरुमण्डल-आचाम्ल, पुरुमण्डल-एकस्थान, तथा पुरुमण्डल-क्षमण – ये द्विसंयोगी की शलाकाएँ क्रमशः नौवीं, दशवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं हैं।

05. **पंचम सकृत्कारी-सानुवीची-अयत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, त्रिसंयोगी की चार शलाकाएँ अर्थात् बारह शुद्धियाँ हैं; जिनमें सोलहवीं शलाका में निर्विकृति-पुरुमण्डल-आचाम्ल; अठारहवीं शलाका में निर्विकृति-पुरुमण्डल-क्षमण; तेईसवीं शलाका में पुरुमण्डल-आचाम्ल-क्षमण; तथा पच्चीसवीं शलाका में आचाम्ल-एकस्थान-क्षमण – ये शुद्धियाँ हैं।

06. **षष्ठ असकृत्कारी-सानुवीची-अयत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, त्रिसंयोगी की चार शलाकाएँ अर्थात् बारह शुद्धियाँ हैं; जिनमें सतरहवीं शलाका में निर्विकृति-पुरुमण्डल-एकस्थान; उन्नीसवीं शलाका में निर्विकृति-आचाम्ल-एकस्थान; बीसवीं शलाका में निर्विकृति-आचाम्ल-क्षमण; तथा चौबीसवीं शलाका में पुरुमण्डल-एकस्थान-क्षमण – ये शुद्धियाँ हैं।

07. **सप्तम सकृत्कारी-असानुवीची-अयत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, त्रिसंयोगी की और चतुःसंयोगी की दो-दो शलाकाएँ अर्थात् चौदह शुद्धियाँ हैं; जिनमें इक्कीसवीं त्रिसंयोगी शलाका में निर्विकृति-एकस्थान-क्षमण; बाईसवीं त्रिसंयोगी शलाका में पुरुमण्डल-आचाम्ल-एकस्थान; छब्बीसवीं चतुःसंयोगी शलाका में निर्विकृति, पुरुमण्डल-आचाम्ल-एकस्थान; तथा तीसवीं चतुःसंयोगी शलाका में पुरुमण्डल-आचाम्लएकस्थान-क्षमण – ये शुद्धियाँ हैं।

08. **अष्टम असकृत्कारी-असानुवीची-अयत्नसेवी दोष** का प्रायश्चित्त, चतुःसंयोगी की तीन शलाकाएँ और पंचसंयोगी की एक शलाका अर्थात् कुल सतरह शुद्धियाँ हैं; जिनमें सत्ताइसवीं चतुःसंयोगी शलाका में निर्विकृति-पुरुमण्डल-आचाम्ल-क्षमण; अठाईसवीं चतुःसंयोगी शलाका में निर्विकृति-पुरुमण्डल-एकस्थान-क्षमण; उनतीसवीं चतुःसंयोगी शलाका में निर्विकृति -आचाम्ल-एकस्थान-क्षमण; तथा इकतीसवीं शलाका में निर्विकृति-पुरुमण्डल-आचाम्ल-एकस्थान-क्षमण – ये शुद्धियाँ हैं।

श्वेताम्बर प्ररूपणा में व्यवहार के आधार प्रायश्चित्त के भेद प्रभेद

व्यवहार के आधार पर प्रायश्चित्त के चार प्रकार हैं – द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

द्रव्य प्रायश्चित्त – इसके दो भेद हैं – सचित्त एवं अचित्त। **सचित्त प्रायश्चित्त** भी दो प्रकार का है – **प्रथम सचित्त प्रायश्चित्त** तो एकेन्द्रिय आदि जीवों की विराधना होने पर दिया जाता है जबकि **दूसरा सचित्त प्रायश्चित्त,** आगम में निषिद्ध व्यक्तियों को दीक्षा देने पर दिया जाता है। इसका विस्तृत वर्णन बृहत्कल्पभाष्य और पंचकल्पभाष्य में मिलता है। पिण्ड एवं उपधि ग्रहण करते समय होने वाली स्खलना से प्राप्त प्रायश्चित्त अचित्त प्रायश्चित्त कहलाता है। साथ ही एषणा एवं उत्पादन के दोषों से युक्त भोजन ग्रहण करने पर तथा अविधि से उपधि आदि ग्रहण करने पर यह प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

क्षेत्र प्रायश्चित्त – जनपद, मार्ग, सेना आदि का अवरोध होने पर तथा क्षेत्रातिक्रान्त स्थानों पर जाकर आहार करना, इनमें अविधि से होने वाले दोष का प्रायश्चित्त होता है।

काल प्रायश्चित्त – दुर्भिक्ष, सुभिक्ष, दिन में या रात में होने वाली अविधि के कारण प्राप्त प्रायश्चित्त काल विषयक प्रायश्चित्त कहलाता है।

भाव प्रायश्चित्त – तीनों योग एवं तीनों करण की अशुभ प्रवृत्ति, तथा पांच प्रकार के प्रमाद से सम्बन्धित प्रायश्चित्त इसके अन्तर्गत आते हैं।

इनका विस्तार से विवेचन व्यवहार भाष्य में किया गया है।[268]

मूलगुणों और उत्तरगुणों के दोषों में प्रायश्चित्त-विधान[269]

सिद्धान्तसारसंग्रह के दशवें अध्याय में भी इनका वर्णन यत्किंचित् विस्तार के साथ किया गया है; उसी के आधार यह वर्णन किया जाता है।

इसी आधार पर प्रायश्चित्तों का वर्णन, 'प्रायश्चित्त विधान' पुस्तक में आचार्य सन्मतिसागर ने टिप्पणी के अन्तर्गत पृष्ठ 125 से 143 तक किया है। परन्तु कहीं पर विषय सम्बन्धी एकरूपता बैठती है और कहीं पर नहीं भी बैठती। इस लेख में अशुद्धियों की अधिकता होने से प्रमाणता संदिग्ध है। यहाँ विस्तार भय से उसे सम्पूर्णरूप से नहीं दे रहे हैं। उदाहरण के रूप में उनके द्वारा वर्णित कुछ विषय को यहाँ प्रस्तुत करते हैं –

मूलगुणधारक के चार भेद हैं – 1. स्थिर मूलगुण चारित्रधारी, 2. अस्थिर मूलगुण चारित्रधारी, 3. प्रयत्न चारित्र मूलगुणधारी, 4. अप्रयत्न चारित्र मूलगुणधारी। ये ही चार भेद उत्तरगुणधारियों के भी होते हैं। इस प्रकार ये मुनियों के आठ भेद हो जाते हैं। इन सबके प्रायश्चित्त अलग-अलग होते हैं। जैसे –

1. एक पंचेन्द्रिय असैनी जीव के वध का प्रायश्चित्त हेतु प्रथम मुनि को तीन उपवास, दूसरे मुनि को प्रतिक्रमणपूर्वक एक पंच कल्याणक, तीसरे मुनि को प्रतिक्रमणपूर्वक तीन उपवास और चौथे मुनि को प्रतिक्रमणपूर्वक एक लघु कल्याणक है। इसी प्रकार अनुक्रम से ऊपर कहा हुआ प्रायश्चित्त, उत्तरगुण वालों को भी होता है।
2. यदि उक्त मुनियों से नौ प्राणों वाले असैनी प्राणी का अनेक बार वध हो जाए तो क्रमशः तीन उपवास, एक कल्याणक, दो लघु कल्याणक और तीन पंच कल्याणक कहा गया है।
3. यदि मूल-उत्तर गुणधारी साधु, अपने प्रमाद से एकेन्द्रियादि चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीवों के गमानागमन को रोकें तो एक कायोत्सर्ग करें। यदि वे असैनी पंचेन्द्रिय का गमनागमन रोकें तो एक उपवास करें।
4. यदि किसी मुनि से क्रोधादि कषायों से तथा अशुभकर्म के उदय से अनेक अनर्थों का मूल ऐसा मुनि को मारने का महापातक हो जाए तो वे अनुक्रम से एक वर्ष तक निरन्तर तेला/पारणा करे तथा यदि श्रावक को मारने का महापातक हो जाए तो छह महीने तक निरन्तर तेला/पारणा करे।
5. बालहत्या, स्त्रीहत्या, गौहत्या हो जाने पर अनुक्रम से तीन महीना, डेढ़ महीना और साढ़े बाईस दिन तक तेला/पारणा करे।
6. अन्यमती पाखण्डी के मारने का छह महीने और उनके भक्त को मारने का तीन महीने तक तेला/पारणा करे।
7. नीच को मारने का डेढ़ महीने तक तेला/पारणा करें। ब्राह्मण को मारने आदि-अन्त में तेला करें और छह महीने तक एक उपवास और एक एकाशन करें। क्षत्रिय के मारने का आदि-अन्त में तेला और तीन महीने तक एकान्तर उपवास करें। वैश्य को मारने का डेढ़ महीने का एकान्तर उपवास और आदि-अन्त में तेला करें। किसी-किसी आचार्य के मत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को मारने का प्रायश्चित्त क्रमशः आठ महीने, चार महीने, दो महीने और एक महीने तक एकान्तर उपवास और आदि-अन्त में तेला बतलाया है।
8. इसी प्रकार घास-फूस खाने वाले पशु के मर जाने पर चौदह उपवास, मांसभक्षी पशु के मरने पर ग्यारह और पक्षी, सर्प, जलचर, छिपकली आदि जीवों के मरने पर नौ उपवास प्रायश्चित्त बताया है।

प्रायश्चित्त-ग्रहण की उपयोगिता

प्रायश्चित्त क्यों किया या लिया जाता है – इस विषय में पण्डितप्रवर आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत में दो श्लोकों में वर्णन किया है –

प्रमाद - दोष - विच्छेदममर्यादा - विवर्जनम्।
भावप्रसादं निःशल्यमनवस्थाव्यपोहनम्।।35।।
चतुर्द्धाराधनं दार्ढ्यं, संयमस्यैवमादिकम्।
सिसाधयिताऽचर्यं, प्रायश्चित्तं विपश्चितः।।36।।[270]

अर्थात् चारित्र में असावधानता से लगे दोषों को दूर करना, अमर्यादा का अर्थात् प्रतिज्ञात व्रत के उल्लंघन का त्याग यानि व्रत की मर्यादा का पालन, परिणामों की निर्मलता, निःशल्यपना, उत्तरोत्तर अपराध करने की प्रवृत्ति को रोकना, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप – इन चारों का उद्योतन आदि तथा संयम की दृढ़ता; इसी प्रकार के अन्य भी कार्यों को साधने की इच्छा करने वाले दोषज्ञ साधु को **प्रायश्चित्त तप** करना चाहिए।

इन्हीं श्लोकों पर विशेषार्थ लिखते हुए पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री कहते हैं –

प्रमाद से चारित्र में लगे दोषों का यदि प्रायश्चित्त द्वारा शोधन न किया जाए तो फिर दोषों की बाढ़ रुक नहीं सकती। एक बार मर्यादा को टूटने यदि रोका नहीं गया तो वह मर्यादा फिर रह नहीं सकती। इसलिए प्रायश्चित्त अत्यन्त आवश्यक है। कहा भी है –

महातपस्तडागस्य, संभृतस्य गुणाम्भसा।
मर्यादापालिबन्धेऽल्पामप्युपेक्षिष्ठ मा क्षतिम्।।[271]

अर्थात् यह महा तपरूपी तालाब, गुणरूपी जल से भरा है। इसकी मर्यादारूपी तटबन्दी में थोड़ी-सी भी क्षति की उपेक्षा नहीं करना चाहिए। थोड़ी-सी भी उपेक्षा करने से जैसे, तालाब का पानी बाहर निकल कर बाढ़ ला देता है; वैसे ही उपेक्षा करने से महा तप में भी दोषों की बाढ़ आने का भय रहता है।

प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में अन्तिम निवेदन[272]

सिद्धान्सारसंग्रह के रचयिता आचार्य श्री नरेन्दसेन, प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में विवेचन करने के उपरान्त कहते हैं कि पूर्वाचार्यों ने जो प्रायश्चित्त का वर्णन अनेक प्रकार से प्रस्तुत किया है, उसके अंश का भी अंश, मैंने इस प्रकरण में पूर्वाचार्यों के प्रसाद से वर्णित किया है। केवल जिन-सिद्धान्त के ऊपर श्रद्धा करने से मुझे जो आनन्द हुआ है, उसके कारण मैंने जिन-सिद्धान्त की स्तुति करने के लिए कुछ वचन कहे हैं। इस प्रायश्चित्त का वर्णन करते समय यदि मुझसे जिनागम के विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो उसमें मेरा कुछ भी दोष नहीं है क्योंकि मैं कुछ भी विशेष नहीं जानता हूँ।

इस प्रकार **'अतिचार एवं प्रायश्चित्त – स्वरूप एवं विश्लेषण : जैन संविधान के सन्दर्भ में'** – इस शोध-प्रबन्ध के 'पंचम अध्याय : **प्रायश्चित्त : स्वरूप एवं मीमांसा'** का विवरण पूर्ण होता है।

इति शुभं भवतु।

सन्दर्भ-सूची

1. **प्रायश्चित्त विधान,** पृष्ठ 126 2. **आदर्श हिन्दी शब्दकोश** (भार्गव), 533 3. **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 342
4. देखें, प्रायश्चित्त, संस्कृत–हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, 691 5. देखें, **वही**
6. **प्रायश्चित्त-समुच्चय,** श्लोक 5 7. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** 3/157
8. **आवश्यकचूर्णि,** 2/251, श्री भिक्षु आगम विषय कोश, 463, साध्वी विमलप्रज्ञा, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, 1996
9. **प्रवचनसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, 211-212
10. **व्यवहार भाष्य,** 35, श्री भिक्षु आगम विषय कोश, 2/395, साध्वी विमलप्रज्ञा, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, 2005
11. वर्धमान सूरि; **आचार दिनकर,** उदय सैंतीसवाँ, 240, निर्णयसागर मुद्रणालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण, 1922
12. **हिन्दूधर्मकोश,** डॉ. राजबली पाण्डेय, पृष्ठ 430, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण, 1978
13. साध्वी मोक्षरत्नाश्री, **जैन संस्कार एवं विधि विधान,** एक तुलनात्मक अध्ययन, 348
14. देखें, डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी'; **'मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन**, 186-187 15. **अनगार धर्मामृत,** 7/37
16. **धवला,** 13/श्लोक 9/59 एवं **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 529/747 17. **तत्त्वार्थवार्तिक** 9/22
18. और देखें, **अनगार धर्मामृत** पृष्ठ 512-513 19. **पद्मचन्द्र कोश** 258; **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** 3/157
20. साध्वी मोक्षरत्नाश्री, **जैन संस्कार एवं विधि विधान**, एक तुलनात्मक अध्ययन 347
21. **नियमसार,** आचार्य कुन्दकुन्द; तात्पर्यवृत्ति, मुनिश्री पद्मप्रभमलधारिदेव, 113 22. **आचारसार,** 6/22
23. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/19 24. देखें, वामन शिवराम आप्टे; **संस्कृत-हिन्दी कोश,** 691
25. **आवश्यकचूर्णि,** 2/251, एवं श्री भिक्षु आगम विषय कोश, पृष्ठ 463, 26. **मूलाचार**, आचारवृत्ति, 363
27. **व्यवहार भाष्य,** 1064 एवं **श्री भिक्षु आगम विषय कोश,** 2/396, साध्वी विमलप्रज्ञा एवं साध्वी सिद्धप्रज्ञा, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, 2005 28. आचार्य सन्मतिसागर; **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 126
29. **प्रायश्चित्त-समुच्चय,** श्लोक 6 30. **सामान्य जैनाचार विचार,** पृष्ठ 173
31. वामन शिवराम आप्टे; **संस्कृत-हिन्दी कोश,** पृष्ठ 691 32. **मूलाचार प्रदीप,** 1833-1835
33. **आचारसार,** 6/22 34. **मूलाचार,** आचारवृत्ति, 361 35. **चारित्रभक्ति,** 5 36. **अनगार धर्मामृत,** पृष्ठ 511
37. **व्यवहार भाष्य वृत्ति**, 52, श्री भिक्षु आगम विषय कोश, 2/396, साध्वी विमलप्रज्ञा एवं साध्वी सिद्धप्रज्ञा, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, राज. 2005 38. **तत्त्वार्थमंजूषा,** 9/20 प्रश्न 3, पृष्ठ 755 39. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा,** 449-452
40. **सामान्य जैनाचार विचार,** पृष्ठ 172-173 41. **अनगार धर्मामृत,** 8/62 42. **नियमसार,** 113-118
43. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा,** गाथा 453 44. पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा; **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** 453 का भावार्थ
45. **मूलाचार,** 361 46. **मूलाचार,** आचारवृत्ति टीका, आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती; गाथा 363
47. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/20; **चारित्रसार,** 137/2; **अनगार धर्मामृत,** 7/34 48. **धवला,** 13/59/8
49. **निशीथ सूत्र,** प्रस्तावना, पृष्ठ 8-13 के आधार पर
50. **निशीथसूत्र,** प्रस्तावना, पृष्ठ 55–65, सम्पादक, श्री मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज.,
51. **गोपक मोग्गलानसुत्त, मज्झिमनिकाय** 3/1/8 52. **ऋग्वेद** 10/5/6
53. **तैत्तिरीयसंहिता** 2/5/9/2, 5/3/12/1–2; **शतपथब्राह्मण** 13/3/1/1 54. **काठक** 13/7
55. **वृहदारण्यकोपनिषद्** 4/3/22 56. **ऋग्वेद** 7/86/4–5, 8/88/6–7, 7/89/1–4
57. **तैत्तिरीयसंहिता** 5/3/12/1–2, **शतपथब्राह्मण** 13/3/1/1 58. **मनुस्मृति शुद्ध** 11/46
59. **गौतमधर्मसूत्र** 19/11, **वसिष्ठस्मृति** 22/8
60. **मनुस्मृति** 3/227, **पाराशर माघवीय** 10/40, **शातातपस्मृति** 1/4, **प्रायश्चित्तविवेक** पृष्ठ 31
61. **शतपथब्राह्मण** 2/5/2/20
62. **मनुस्मृति** 11/229–230, **विष्णुधर्मोत्तर** 2/73/231–233, **ब्रह्पुराण** 218/5 63. **प्रायश्चित्त विवेक** पृष्ठ 30
64. **मनुस्मृति** 11/248, **बोधायनधर्मसूत्र** 4/1/31, **वसिष्ठस्मृति** 26/4, **अभिशंखस्मृति** 2/5, 12/18–19
65. **विष्णुधर्मसूत्र** 55/2 66. **छान्दोग्योपनिषद्** 5/10/1–2, **मुण्डकोपनिषद्** 10/154/2
67. **गौतमधर्मसूत्र** 17/17 68. **मनुस्मृति** 11/239–241 69. **उत्तराध्ययन** 37/27, **तत्त्वार्थसूत्र** 9/22

70. **तैत्तिरीयसंहिता** 2/1/2/4, 3/1/3/2–3, 5/1/9/3, एवं 5/3/12/1

71. **अथर्ववेद** 14/1/30, **वाजसनेयीसंहिता** 39/12, **ऐत्तिरीयब्राह्मण** 5/27, **शतपथब्राह्मण** 4/5/7/1, 7/1/4/9, 9/5/3/8 एवं 12/5/1/6, **कौषितकिब्राह्मण** 5/9/6/12

72. **आपस्तम्बश्रौतसूत्र** 3/10/38, **शांखायनश्रौतसूत्र** 3/19/1

73. **प्रायश्चित्तविवेक,** पृष्ठ 2

74. **वाग्भट्टी याज्ञवल्क्यस्मृति** 3/206

75. **हेमाद्रि प्रायश्चित्तविवेक,** पृष्ठ 999

76. **धर्मशास्त्र का इतिहास,** भाग 3/1045

77. **मनुस्मृति** 11/45, 47

78. **याज्ञवल्क्यस्मृति** 3/226

79. **गौतमधर्मसूत्र** 23/10–11, **वसिष्ठस्मृति** 20/13, **मनुस्मृति** 11/104, **याज्ञवल्क्यस्मृति** 3/259

80. **मनुस्मृति** 8/314–315

81. **ऋग्वेद** 10/190/1–3, **बोधायनधर्मसूत्र** 4/2/19–20, **वसिष्ठस्मृति** 26/8, **मनुस्मृति** 11/250–260, **याज्ञवल्क्यस्मृति** 3/301, **विष्णुपुराण** 55/7, **शंखस्मृति** 18/1–2

82. **मनुस्मृति** 11/213

83. **नारदस्मृति** श्लोक 73–75

84. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका में उद्धृत 461

85. **वसुनन्दि श्रावकाचार** 312 एवं **सागार धर्मामृत** 7/50 एवं **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** 4/75

86. **छेद सूत्र,** छेदसूत्र की चिन्तनपूर्ण पृष्ठभूमि, पृष्ठ 18-20 (गुजराती का हिन्दी अनुवाद)

87. **वही,** पृष्ठ 23-24

88. **वही,** प्रस्तावना, पृष्ठ 5-6

89. **वही,** सम्पादन का अनुभव, पृष्ठ 47-48

90. **वही,** अनुवादिका की कलम से, साध्वी डोलरबाई; पृष्ठ 49-50

91. **वही** अनुवादिका की कलम से, साध्वी डोलरबाई; पृष्ठ 51

92. **तत्त्वार्थसूत्र** 9/22

93. **मूलाचार,** 5/165 एवं 11/16

94. और देखें, **अनगार धर्मामृत,** संस्कृत पंजिका, पृष्ठ 513 एवं **मूलाचार प्रदीप,** 1835-37

95. **आचारसार,** 6/23-24

96. **अनगार धर्मामृत,** 7/59, पृष्ठ 524

97. **व्यवहार भाष्य** 53

98. वर्धमान सूरि; **आचार दिनकर,** खण्ड 4, प्रायश्चित्त, आवश्यक एवं तपविधि, पृष्ठ 1–2

99. आवश्यकचूर्णि, 2/246, एवं श्री भिक्षु आगम विषय कोश, पृष्ठ 464

100. **तत्त्वार्थसूत्र,** 9/22-23-24

101. **चारित्रसार,** आचार्य चामुण्डराय, पृष्ठ 194, सम्पादक, पण्डित सतीशचन्द्र पाटनी, शास्त्री एवं डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन समाज, सीकर, राजस्थान, वीर नि. 2501

102. **आचारसार,** 6/65

103. और देखें, डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी'; **मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन,** पृष्ठ 187

104. **मूलाचार प्रदीप,** 1838-39

105. **प्रवचनसार,** 211-212

106. **व्यवहार भाष्य,** 55-58, श्री भिक्षु आगम विषय कोश, भाग 2, पृष्ठ 96, साध्वी विमलप्रज्ञा एवं साध्वी सिद्धप्रज्ञा, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, राज. 2005

107. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** 1/276

108. **मूलाचार,** 624 एवं और देखें, **नियमसार,** गाथा 108-112 एवं उनकी टीका

109. **मूलाचार,** आचारवृत्ति टीका, 362/621

110. **मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन,** पृष्ठ 188

111. **अनगार धर्मामृत** 7/38, **सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक,** 9/22; **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/97, विशेषार्थ; **तत्त्वार्थसार,** 7/22

112. **धवला,** 13/60

113. **भगवती आराधना,** गाथा 6 एवं 10 की टीका

114. **आवश्यकचूर्णि,** 2/246, एवं श्री भिक्षु आगम विषय कोश, 464

115. **समयसार** 385

116. **समयसार,** गाथा 385 की आत्मख्याति टीका का हिन्दी अनुवाद एवं भावार्थ

117. **भगवती आराधना,** हिन्दी टीका, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, 8/64, विशेषार्थ, पृष्ठ 602

118. **समयसार वचनिका,** पण्डित जयचन्द छाबड़ा; कलश 227 से पूर्व, पृष्ठ 884-895 के आधार पर

119. **समयसार कलश,** आत्मख्याति 385

120. और देखें, **भगवती आराधना,** 535-537

121. देखें, **अनगार धर्मामृत,** पृष्ठ 514-515

122. **मूलाचार,** 7/621

123. देखें, **राजवार्तिक,** 9/22/2

124. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश** 3/115

125. **अनगार धर्मामृत,** 9/9, पृष्ठ 648

126. **वही,** 9/9, विशेषार्थ

127. **अनगार धर्मामृत,** 7/47, विशेषार्थ, पृष्ठ 517

128. **सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक** 9/22; **तत्त्वार्थसार,** 7/239

129. **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** जीवतत्त्वप्रदीपिका, 367

130. **अनगार धर्मामृत,** 7/47, पृष्ठ 517 एवं **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/97, विशेषार्थ

131. **नियमसार,** तात्पर्यवृत्ति, 82; **राजवार्तिक,** 6/24; **समयसार,** तात्पर्यवृत्ति, 306; **भावपाहुड़,** संस्कृत टीका, 77

132. **अनगार धर्मामृत,** 8/57, पृष्ठ 594 एवं **मूलाचार,** 26
133. **मूलाचार,** आचारवृत्ति टीका, आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती; 362/615
134. **धवला,** 8/3,41/84/6
135. **अनगार धर्मामृत,** 8/61, विशेषार्थ
136. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 423, पृष्ठ 331
137. **धवला,** 13/5,4,26/60/8; **अनगार धर्मामृत,** 7/47; **भावपाहुड़,** 78
138. **धवला,** 13/5,4,26/60/90
139. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, गाथा 6, पृष्ठ 20
140. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 118, पृष्ठ 155
141. **आवश्यकचूर्णि,** 2/246, एवं श्री भिक्षु आगम विषय कोश, पृष्ठ 464
142. **नियमसार,** 83-94 के आधार पर
143. देखें, **समयसार,** आत्मख्याति, 383-386
144. **तिलोयपण्णत्ति,** 9/49
145. **प्रवचनसार,** तात्पर्यवृत्ति, 207
146. **योगसार प्राभृत,** आचार्य अमितगति, 5/50
147. **नियमसार,** तात्पर्यवृत्ति टीका, 148
148. **आत्मख्याति,** कलश 188
149. **समयसार वचनिका,** कलश 188-190, पृष्ठ 734-736 के आधार पर
150. **समयसार,** तात्पर्यवृत्ति टीका, 307
151. **मूलाचार,** आचारवृत्ति, षडावश्यक अधिकार, 615 एवं भावार्थ, पृष्ठ 453-454 के आधार पर
152. **वही**, 615
153. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 118, पृष्ठ 155-156 एवं **अनगार धर्मामृत,** 8/59-61, पृष्ठ 597; **मूलाचार, आचारवृत्ति,** 614, पृष्ठ 452-453 के आधार पर
154. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 118, पृष्ठ 155-156 एवं मूलाचार, आचारवृत्ति, 614 के आधार पर
155. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, गाथा 10, पृष्ठ 30
156. **वही**, पृष्ठ 381
157. **मूलाचार,** आचारवृत्ति, षडावश्यक अधिकार, 615-618, पृष्ठ 453
158. **मूलाचार,** षडावश्यक अधिकार, 619/625-627 एवं **अनगार धर्मामृत,** 8/62, पृष्ठ 599 के आधार पर
159. **मूलाचार,** षडावश्यक अधिकार, 619
160. **वही**, 625
161. **वही**, 626
162. **कषायपाहुड़,** 1/1,1/115/1
163. **समयसार,** बन्ध अधिकार, 284-285
164. **समयसार वचनिका,** बन्ध अधिकार, 284-285, भावार्थ
165. **अनगार धर्मामृत,** अष्टम अध्याय, 63, उत्थानिका, पृष्ठ 600
166. **समयसार,** आत्मख्याति टीका, 306-307 की पूर्व पीठिका
167. **अनगार धर्मामृत,** 8/63, विशेषार्थ, पृष्ठ 600
168. **परमात्मप्रकाश,** 2/60
169. **समयसार,** मोक्ष अधिकार, 306-307
170. **समयसार वचनिका,** आत्मख्याति, गाथा 306-307, पृष्ठ 731-733 के आधार पर
171. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी; **प्रवचन रत्नाकर,** भाग 8, पृष्ठ 419—446 के आधार पर
172. **समयसार वचनिका,** कलश 225-226, पृष्ठ 868-884 के आधार पर
173. **समयसार,** आत्मख्याति, कलश 188
174. **अनगार धर्मामृत,** अष्टम अध्याय, 58, विशेषार्थ, पृष्ठ 596
175. **वही,** विशेषार्थ, पृष्ठ 596 में उद्धृत
176. **अनगार धर्मामृत,** अष्टम अध्याय, 58, विशेषार्थ, पृष्ठ 596-597
177. **वही**, 57, विशेषार्थ
178. **आवश्यक सूत्र,** 4/21 के आधार पर
179. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 118 के आधार पर
180. **कषायपाहुड़,** 1/1, 1/115/1
181. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 118
182. **धवला,** 6/1, 9-1, 23/44/4
183. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 118
184. **नियमसार** 95
185. **तत्त्वार्थ राजवार्तिक,** 6/24/11/530/14
186. **मूलाचार,** 27
187. **आवश्यक सूत्र,** षष्ठ अध्ययन, पृष्ठ 126
188. **उत्तराध्ययन सूत्र,** सम्यक्त्व-पराक्रम नामक उनतीसवाँ अध्ययन, सूत्र 14 एवं आवश्यक सूत्र, परिशिष्ट तृतीय, पृष्ठ 268
189. **मूलाचार,** आचारवृत्ति, गाथा 639—640
190. **मूलाचार,** 637—639
191. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 116/276-277
192. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 509/728/15
193. **समयसार,** 34
194. **समयसार,** तात्पर्यवृत्ति, 283-285
195. **भगवती आराधना,** 116/277/10
196. **भगवती आराधना,** 116/277/3 व 18
197. **मूलाचार,** आचारवृत्ति टीका, 362
198. **धवला,** 13/60
199. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/97, विशेषार्थ
200. **अनगार धर्मामृत,** 7/48, विशेषार्थ एवं धवला, 13/5,4,26/60
201. **आवश्यकचूर्णि,** 2/246 एवं श्री भिक्षु आगम विषय कोश, पृष्ठ 464
202. **राजवार्तिक,** 9/22/4 एवं देखें, **अनगार धर्मामृत,** 7/48, विशेषार्थ
203. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/97, विशेषार्थ
204. **अनगार धर्मामृत,** 7/49 एवं विशेषार्थ; **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/97, विशेषार्थ
205. **धवला,** 13/5,4,26/60-61 एवं **मूलाचार,** आचारवृत्ति, 362

206. **आवश्यकचूर्णि,** 2/246, एवं श्री भिक्षु आगम विषय कोश, पृष्ठ 464 207. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/97, विशेषार्थ
208. **अनगार धर्मामृत,** 7/51 एवं विशेषार्थ 209. **आवश्यकचूर्णि,** 2/246, श्री भिक्षु आगम विषय कोश, पृष्ठ 464
210. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 118, पृष्ठ 161-163
211. **आवश्यक सूत्र,** कायोत्सर्ग नामक पंचम अध्ययन, पृष्ठ 124
212. **उत्तराध्ययन सूत्र,** सम्यक्त्व-पराक्रम नामक उनतीसवाँ अध्ययन, सूत्र 13
213. **आवश्यक सूत्र,** कायोत्सर्ग नामक पंचम अध्ययन, पृष्ठ 123-124 व 268 214. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/97, विशेषार्थ
215. **मूलाचार,** आचारवृत्ति टीका, आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती, 362 216. **अनगार धर्मामृत,** 7/52
217. **आवश्यकचूर्णि,** 2/246, एवं श्री भिक्षु आगम विषय कोश, पृष्ठ 464 218. **निशीथ सूत्र,** प्रस्तावना, पृष्ठ 7-8
219. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/97, विशेषार्थ 220. **अनगार धर्मामृत,** 7/54 एवं विशेषार्थ 221. **धवला,** 13/63
222. **निशीथ सूत्र,** साध्वी डीलरबाई, अनुवादक की कलम से, पृष्ठ 50
223. **आवश्यकचूर्णि,** 2/246, एवं श्री भिक्षु आगम विषय कोश, पृष्ठ 464
224. **सर्वार्थसिद्धि,** 9/22; **राजवार्तिक,** 9/22; **धवला,** 13/5,4,26/62/2; **चारित्रसार,** 144/3; **मूलाचार**, आचारवृत्ति 362
225. **अनगार धर्मामृत,** 7/55 एवं विशेषार्थ; **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/97, विशेषार्थ
226. **आवश्यकचूर्णि**, 2/246, एवं श्री भिक्षु आगम विषय कोश, पृष्ठ 464 227. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/105, विशेषार्थ
228. **अनगार धर्मामृत,** 7/55 एवं विशेषार्थ
229. **व्यवहारसूत्र भाष्य,** प्रथम उद्देश, सूत्र 28, मुनि श्री कन्हैयालाल, अ. भा. श्वेताम्बर स्थानक जैन शास्त्रोद्धार समिति 1969
230. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 1294, भाग 2, पृष्ठ, 643
231. **अनगार धर्मामृत,** 7/55, विशेषार्थ एवं **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/105, विशेषार्थ
232. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 1304-1305, पृष्ठ 645 233. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/105, विशेषार्थ
234. **अनगार धर्मामृत,** 7/55, विशेषार्थ
235. **अनगार धर्मामृत,** 7/55, विशेषार्थ एवं **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/105, विशेषार्थ
236. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/97, विशेषार्थ 237. **आवश्यकचूर्णि,** 2/246, एवं श्री भिक्षु आगम विषय कोश, पृष्ठ 464
238. **मूलाचार,** आचारवृत्ति संस्कृत टीका, 362 239. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/106, पृष्ठ 255
240. **धवला,** 13/62-63; **अनगार धर्मामृत,** 7/56 व विशेषार्थ, पृष्ठ 521-523; एवं **आचारसार,** 6/54-64
241. **अभिधान राजेन्द्र कोश,** भाग 5, पृष्ठ 858-867 के आधार पर 242. **अनगार धर्मामृत,** 7/49 एवं विशेषार्थ
243. **आवश्यकचूर्णि,** 2/246, एवं श्री भिक्षु आगम विषय कोश, पृष्ठ 464 244. **धवला,** 13/5,4,26/63
245. **मूलाचार,** आचारवृत्ति टीका, आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती, 362 246. **चारित्रसार,** पृष्ठ 64 एवं आचारसार, 6/65
247. **आवश्यकचूर्णि,** 2/246, एवं श्री भिक्षु आगम विषय कोश, पृष्ठ 464
248. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/23-96, पृष्ठ 243-263 एवं देखें, **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 8–28 के आधार पर
249. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/26 एवं **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 10 250. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 10 का भावार्थ
251. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/29 252. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 9 एवं उसका भावार्थ
253. **निशीथ,** 16–1, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, आचारांगसूत्र, प्रस्तावना, पृष्ठ 24, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज. 1980
254. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/30 255. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/31 256. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/32
257. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 11 का भावार्थ 258. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 13-15
259. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 12 एवं उसका भावार्थ 260. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/33
261. **व्यवहारभाष्य,** 159–173 एवं 479–502 टीका 262. **वही,** 472–478, टीका
263. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 16 एवं उसका भावार्थ 264. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/34-37
265. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 17-21 एवं 22-23 के आधार पर 266. **वही,** श्लोक 24-25 के आधार पर
267. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 26 के आधार पर 268. **व्यवहारभाष्य** 4010–4026 के आधार पर
269. **प्रायश्चित्त विधान,** पृष्ठ 126-128; टिप्पणी, आचार्य सन्मतिसागर के आधार पर 270. **अनगार धर्मामृत** श्लोक 35–36
271. **अनगार धर्मामृत** श्लोक 35–36 विशेषार्थ 272. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/167-169

षष्ठ अध्याय

प्रायश्चित्त की व्यवहारिकता : जैन संविधान के सन्दर्भ में

प्राणीमात्र के जीवन में सन्तुलन होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि असन्तुलित जीवन, स्वस्थ परिवार, समाज, प्रदेश एवं राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकता। जीवन में अनेक रंग हैं; जहाँ न्याय है तो वहाँ अन्याय भी है, जहाँ लाभ है तो वहाँ हानि भी है, जहाँ खुशी है तो वहाँ गम भी हैं; परन्तु सफल जीवन वही कहलाएगा, जो न्याय-नीति पर चल कर, अपना जीवन-यापन करके धर्मसाधन करे तथा इसलोक और परलोक को सुखमय बनावे।

लोक में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह – इन पाँचों को पाप माना गया है। इन पापों को जब तक आवश्यकता के स्तर पर किया जाता है, तब तक ये माफी के लायक माने जाते हैं; परन्तु जब इन्हें निहित स्वार्थ के स्तर पर किया जाता है तो ये सजा के लायक हो जाते हैं। जैसे, वृक्ष से फलों को तोड़ कर खाना तो आवश्यकता माना जाता है, परन्तु वृक्ष को नुकसान पहुँचाना अथवा उसे मूल से काटना, किसी भी प्रकार से युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता है, उसे घृणित स्वार्थ या अपराध की संज्ञा देना कदापि अनुचित नहीं है।

एक बात यह भी है कि यदि अपराध करने के बाद उस व्यक्ति को स्वयं अपराध-बोध होता है और वह स्वयं अपने कृत्य की सजा चाहता है तो यही प्रायश्चित्त कहलाता है, लेकिन उससे भविष्य में पुनः उस दोष की पुनरावृत्ति नहीं होती है। जैसे, किसी व्यक्ति से अनायास अचानक परिणाम बिगड़ने के कारण चोरी का कार्य हो जाता है और उसे कालान्तर में स्वयं अपराध-बोध हो जाता है तो वह स्वयं अपना अपराध कबूल करता है तो उसे लौकिक दृष्टि से भी सजा कम मिलती है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति बुद्धिपूर्वक चोरी आदि कुकर्म करता है तो वह उसे छिपाता है और येन केन प्रकारेण झूठ बोल कर अपना अपराध प्रगट नहीं होने देना चाहता, परन्तु यदि किसी प्रकार से उसका अपराध प्रगट हो जाता है तो उसे सामाजिकरूप से तो दण्ड मिलता ही है, राष्ट्रीय संविधान के अनुसार भी उसे कड़ी से कड़ी सजा भुगतना होता है।

जैन संविधान अथवा जैन दर्शन की व्यावहारिकता

डॉ. वीरसागर जैन, नई दिल्ली ने जैन संविधान अथवा जैन दर्शन की व्यावहारिकता को व्याख्यायित करते हुए चार बिन्दुओं[1] को लिखा है –

1. **लोकहितकरता** (Human Welfare) – जैनदर्शन की बातें, मात्र अपनी आत्मा का कल्याण करके मोक्ष में जाने के लिए ही उपयोगी नहीं हैं, उनसे परिवार, समाज, राष्ट्र, और सम्पूर्ण विश्व का भी कल्याण होता है।
2. **प्रयोगधर्मिता** (Practicability)– जैनदर्शन की बातें, कोरे उच्च आदर्श की भाँति पढ़न सुनने के लिए ही नहीं हैं, उनका हम सभी अपने जीवन में व्यवहार/अनुपालन भी कर सकते हैं।
3. **विश्वसनीयता** (Faithful) – जैनदर्शन की बातें, किसी दिव्यलोक की या कोरी अतिरंजकतापूर्ण ही नहीं हैं, हमारे जीवन में सहज देखी-समझी जा सकती हैं और उन पर विश्वास भी किया जा सकता है।
4. **वैज्ञानिकता** (Scientific) – जैनदर्शन की बातें, मात्र शास्त्राज्ञा के रूप में शिरोधार्य नहीं हैं, उन्हें विज्ञान द्वारा सिद्ध और सम्पुष्ट भी किया जा सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि जैनधर्म का व्रत-तप-त्याग बहुत ही कठिन है, परन्तु वे यह ध्यान नहीं देते कि जैनाचार्यों ने व्रत-तप-त्याग की बातें करते हुए पुनः पुनः 'यथाशक्ति' या 'शक्ति अनुसार' शब्द का प्रयोग किया है। जैसा कि सोलह कारण भावनाओं में **शक्तितस्त्याग** और **शक्तितस्तप**[2] को स्पष्ट कहा गया है।

वे लिखते हैं कि जैनाचार्यों ने कभी भी किसी से अपनी शक्ति से अधिक या जबरदस्ती कोई व्रत-तप-त्याग ग्रहण करने को नहीं कहा, अपितु उन्होंने तो बार बार ऐसा कहा है कि सोच-समझ कर, व्रत धारण करो, अपनी शक्ति और परिस्थिति का भलीभाँति विचार करो और उसी के अनुसार छोटे से छोटा व्रत-संयम अवश्य धारण करो। हाँ, इतना अवश्य है कि जितना भी व्रत धारण करो, अच्छी तरह (समीचीन श्रद्धापूर्वक) धारण करो, उसमें प्रमाद/लापरवाही/शिथिलता उचित नहीं। जैनाचार्यों के अनुसार व्रतों में अल्पता तो चल सकती है, पर शिथिलता नहीं। यहाँ यह विचारणीय है कि क्या शिथिलता को इजाजत देना ही व्यावहारिकता होगी? नहीं, शिथिलता तो मनुष्य के घोर पतन का कारण बनती है।

जैनाचार्यों ने पूरी बात समझाई अवश्य है और जो कोई उसे पूर्ण पालन कर सके तो उसे प्रेरणा भी दी है किन्तु तुम भी उसे पूरा ही पालो, चाहे शक्ति ही न हो – ऐसा कदापि नहीं कहा। इसके विपरीत उन्होंने तो 'अणुव्रत' जैसी संज्ञा देकर हमें अपनी शक्ति अनुसार छोटे से छोटा व्रतसंयम पालने का उपदेश दिया है। सोचिए, भला 'अणुव्रत' से छोटा व्रत और दूसरा कौनसा होगा? जैनाचार्यों के व्यावहारिक दृष्टिकोण का इससे सबल प्रमाण और दूसरा कौनसा होगा कि उन्होंने अणुव्रतों की भी स्थापना की है, जबकि जिन-प्रवचन में महाव्रतों के उपदेश का ही सर्वप्रथम विधान किया गया है और अणुव्रत का प्रथम उपदेश दण्डनीय माना है।

अणु समान व्रत पालन करने की बात भी जाने दीजिए, जैनाचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि शक्ति न हो तो बिल्कुल भी व्रतसंयम धारण करो, मात्र समीचीन श्रद्धा रखो, उससे ही तुम्हारा कल्याण होगा। इस सम्बन्ध में एक गाथा यत्र-तत्र बार-बार दोहराई गई है –

जं सक्कइ तं किज्जइ, जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो, पावदि अजरामरं ठाणं।।[3]

हिन्दी जैन कवियों ने भी पूजाओं आदि में इस अभिप्राय का समर्थन किया है, जैसे –

कीजे शक्ति प्रमाण, शक्ति बिना सरधा धरे।
'द्यानत' सरधावान, अजर अमर पद भोगवे।।[4]

लोकविरुद्ध कार्य करने का निषेध

जैनाचार्यों ने लोकविरुद्ध कार्य करने का अत्यन्त निषेध किया है क्योंकि लोकप्रसिद्ध उक्ति भी है – **यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं, मा करणीयं नाचरणीयम्** अर्थात् भले ही आपका आचरण शुद्ध हो, लेकिन यदि वह लोकविरुद्ध है तो ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए। जिस कार्य को करने के लिए लोक में निषेध किया जाता हो, उस काम को करने के लिए जैनाचार्य कैसे समर्थन कर सकते हैं। और भी कहा है –

यद्यपि विमलो योगी, छिद्रान् पश्यति मेदिनी।
ततो लौकिकाचारं, मनसापि न लंघयेत्।।[5]

अर्थात् यद्यपि योगी निर्मल आचार वाला होता है, तथापि लौकिकजनों की प्रवृत्ति दोषों को देखने की ही होती है; अतः योगी, लौकिक आचार का कभी मन से भी उल्लंघन नहीं करते।

इतना ही नहीं, जैनाचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि हमें सम्पूर्ण लोकाचरण/लोकव्यवहार/लोकरीति, प्रमाण है; शर्त केवल इतनी सी है कि उससे हमारे सम्यक्त्व और व्रत की हानि न हो रही हो। वे लिखते हैं –

सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, न चापि व्रतदूषणम्।।[6]

जैनाचार्यों की व्यावहारिकता का एक सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने अपनी सम्पूर्ण कथन-शैली को दो नयों में विभाजित किया है – निश्चय और व्यवहार। वे अकेले निश्चय को ही प्रमाण नहीं मानते, व्यवहार को भी प्रमाण ही मानते हैं। उनका स्पष्ट कहना है कि इन दोनों को माने बिना जिनमत में प्रवर्तन नहीं हो सकता –

जइ जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं, अण्णेण उण तच्चं।।[7]

अर्थात् यदि जिनमत में प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय – इन दोनों नयों को मत छोड़ो क्योंकि यदि व्यवहार को छोड़ दोगे तो तीर्थ का लोप हो जाएगा और यदि निश्चय को छोड़ दोगे तो तत्त्व का लोप हो जाएगा।

इसी प्रकार न्याय-नीति से कमाये हुए धन पर सरकार के द्वारा मान्य टैक्स आदि भरने पर तो आप सुख-चैन से रह सकते हैं, लेकिन यदि आपने न्याय-नीति से कमाये धन पर भी उचित टैक्स आदि नहीं भरा तो आपकी रातों की नींद हराम हो सकती है, सरकार आपके घर में घुस कर छापा आदि मार कर आप पर मुकदमा चला सकती है। ऐसी स्थिति मे धन तो जाता ही है, परन्तु इज्जत भी साथ में चली जाती है; अतः जैन संविधान में पाँच पाप, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय के विषय – इनसे बचने का उपदेश दिया गया है।

व्यावहारिक जीवन में भी इनका सन्तुलन अत्यावश्यक माना गया है। जिस पृथ्वी पर हम निवास करते हैं, उस पृथ्वी का नाम चित्रा पृथ्वी है क्योंकि यहाँ रंग-बिरंगे परिणाम वाले जीव निवास करते हैं। यहाँ अशुभ परिणाम वाले व्यक्ति, पापात्मा कहलाते हैं; शुभ परिणाम वाले व्यक्ति, पुण्यात्मा कहलाते हैं तथा शुद्ध परिणाम वाले व्यक्ति, धर्मात्मा कहलाते हैं परन्तु शुभ एवं शुद्ध परिणाम वालों के जीवन में भी अज्ञान या प्रमादवश मन-वचन-काय से कुछ न कुछ अपराध हो जाना स्वाभाविक है परन्तु उसके होने पर अपराध-बोध होना एवं उसका प्रायश्चित्त लेना महत् पुरुषार्थ का कार्य है। कहा भी है –

जो गलती ही न करते हैं, उन्हें भगवान कहते हैं;
जो गलती कर सुधरते हैं, उन्हें इन्सान कहते हैं;
जो गलती पर करें गलती, उन्हें हैवान कहते हैं।

इस प्रकार मनुष्य जीवन की आचार-संहिता को सर्वांगीण बनाने के लिए संविधान, अपराध और प्रायश्चित्त – इन तीनों का विस्तृत विवेचन होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि आचारवान् पुरुष, अपनी मर्यादाओं में रह कर जीवन-यापन करता हुआ आनन्दमय जीवन जीता है तथा उच्च-गति का पात्र बनता है और वही पुरुष, जब अपनी मर्यादाओं में नहीं रह पाते हैं, तब भूमिकानुसार अपराध होते हैं; तब उन अपराधों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान जिनागम में अलग-अलग ग्रन्थों में अलग-अलग प्रकरणों में वर्णित है, परन्तु वह यत्र-तत्र बिखरा हुआ है, उसको संगठित एवं सुव्यवस्थितरूप में प्रस्तुत करने की अत्यन्त आवश्यकता है; जिससे श्रावक एवं साधु की आचार-संहिता सम्बन्धी संविधान, अपराधों का स्वरूप एवं अपराधों से निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त-विधान का यथोक्त संकलन हो सके।

लौकिक क्षेत्र में अपराध हो जाने पर उसकी सूचना पुलिस थाने में एफ.आई.आर या प्रथम सूचना रिपार्ट के रूप में दर्ज कराई जाती है; उसके बाद उस अपराध की छानबीन की जाती है। लेकिन यहाँ धर्मक्षेत्र में ऐसे अपराधों की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जिनकी प्राथमिकी रिपोर्ट दर्ज कराने की आवश्यकता प्रतीत हो, यहाँ तो खास कर ऐसे ही अपराधों पर विचार किया गया है, जो आध्यात्मिक विकास के बाधक हों तथा जिन्हें अपराध करने वाला स्वयं सूचित करे। यदि कदाचित् साधक से ऐसे अपराध भी हो जायें, जिनसे सामाजिक व्यवस्था भी प्रभावित होती है तो उसकी सूचना पुलिस को भी की जाती है और फिर उन अपराधों का निर्धारण भी क्षेत्रीय या राष्ट्रीय संविधान के तहत ही होता है, हम उसे अलग नहीं कर सकते। उस परिस्थिति में उस अपराधी की गिरफ्तारी आदि भी होती है। यह भी सम्भव है कि उस परिस्थिति में आचार्य, उस साधक की दीक्षाच्छेद आदि करा देवें, ताकि न्याय-प्रक्रिया को सजा आदि देने में सहूलियत हो। ऐसी परिस्थिति में यदि वह साधक, अपने अपराध का प्रायश्चित्त माँगने उन आचार्यादि के समक्ष जाता है तो वे आचार्य अपने धार्मिक संविधान के तहत उसे प्रायश्चित्त आदि विधि से भी शुद्ध करते हैं।

इस सन्दर्भ में प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में कुछ विवरण, जिनागम के अनुसार यहाँ प्रस्तुत करते हैं –

प्रायश्चित्त तप : दोषों से विशुद्धि की उत्तम प्रक्रिया

यह प्रायश्चित्त तप, **दोषों से की विशुद्धि की उत्तम प्रक्रिया** है। इस तप में अपने अशुभ आचरण के प्रति ग्लानि प्रगट करने के उद्देश्य से पश्चात्ताप, आलोचना तथा अपने गुरु के समक्ष दोष निवेदन करके योग्य दण्ड की याचना करना और उसकी स्वीकृति के भाव निहित हैं। इस तप का आचरण करने के लिए श्रमण को विनम्र, सरल और निष्कपट हृदय युक्त तथा सद्भावनापूर्ण मन वाला होना आवश्यक है क्योंकि **प्रायश्चित्त तप** चिकित्सा (उपचार) जैसा होता है। जैसे, किसी रोगी के उपचार (चिकित्सा) का उद्देश्य उसे कष्ट देना या दुःखी करना नहीं अपितु उसका रोग दूर करना है; वैसे ही **प्रायश्चित्त तप का उद्देश्य,** श्रमण के दोष दूर करना है।[8]

'श्रावक प्रतिक्रमण सार' के महत्त्वपूर्ण बिन्दु[9]

इस सम्बन्ध में पूर्ववर्ती आचार्यप्रमुख श्री शान्तिसागरजी महाराज के गणनीय प्रमुख शिष्य, आचार्य श्री कुन्थुसागरजी मुनिमहाराज ने श्रावकों के प्रतिक्रमण/प्रायश्चित्त के प्रयोजन से एक संस्कृत श्लोकबद्ध रचना 'श्रावक प्रतिक्रमण सार' के नाम से लिखी थी, उसका अनुवाद एवं भाषाटीका धर्मरत्न पण्डित लालाराम शास्त्री ने लिखी है; उसके कतिपय महत्त्वपूर्ण बिन्दु उल्लेखनीय हैं –

- किये हुए अपराध का पश्चात्ताप करना और जिसका अपराध किया है, उससे क्षमा माँगना, प्रायश्चित्त कहलाता है।
- यदि कदाचित् किसी प्रमाद से वा मोह से किसी व्रत में दोष लग जाए या कोई व्रत भंग हो जाए तो सावधान होकर विधिपूर्वक उसका प्रायश्चित्त लेना चाहिए तथा प्रायश्चित्त लेकर फिर व्रतों को दोषरहित पालन करते रहना चाहिए।
- हे आत्मन्! इस संसार में परिभ्रमण करते हुए तूने अनेक जीवों की निन्दा की है, अनेक जीवों को स्त्रीरहित किया है, अनेक जीवों को प्राणरहित किया है तथा अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर अनेक जीवों की विराधना की है। हे जीव! अब तू उन सबसे क्षमा माँग! अपने किये हुए पापों का पश्चात्ताप करने से तथा उनसे क्षमा प्रार्थना करने से यह तेरा आत्मा शुद्ध हो जाएगा तथा अपने शुद्ध आत्मा के रस में सदा के लिए स्थिर और तृप्त हो जाएगा।
- यद्यपि यह ठीक है कि पश्चात्ताप करने से अथवा उससे क्षमा माँग लेने से जिसका अपराध किया है, उसका बिगड़ा हुआ काम नहीं सुधर सकता; जिसका धन हरण किया है, उसको धन नहीं मिल सकता; जिसके प्राण हरण किये हैं, उसके प्राण वापिस नहीं आ सकते तथा जिसकी विराधना की है, वह फिर उसी रूप में नहीं हो सकता; तथापि जब यह प्राणी उन पापों से डरता है, पापों से भयभीत होता है और फिर उन पापों को करने की इच्छा नहीं करता, वही पुरुष उन किये हुए पापों का पश्चात्ताप कर सकता है तथा वही क्षमा माँग सकता है। इसलिए आचार्यों ने किये हुए पापों का पश्चात्ताप करने और क्षमा माँगने को प्रायश्चित्त कहा है।
- प्रायः शब्द का अर्थ पाप है और चित्त शब्द का अर्थ शुद्धि है, जिसके करने से पापों की शुद्धि हो जाए, पाप नष्ट हो जाएँ, उसको प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रायश्चित्त लेने से पापों की शान्ति अवश्य होती है क्योंकि पापों से भयभीत होने के कारण प्रायश्चित्त लेने वाले के परिणाम ही बदल जाते हैं तथा शुभरूप परिणत हो जाते हैं। यह सब श्रेष्ठ गुरुओं के समागम का फल है। श्रेष्ठ गुरुओं के दर्शन से तथा उनके उपदेश से अवश्य ही आत्मा पवित्र होता है। अतएव श्रावकों का कर्तव्य है कि वे प्रतिदिन सामायिक और प्रतिक्रमण करें तथा प्रतिक्रमण में अपने सब अपराधों की आलोचना करते हुए पश्चात्ताप करें और जिनका अपराध किया है, उनसे क्षमा माँगें तथा ऐसा अपराध पुनः न करने का नियम लें। ये सब आत्मा को पवित्र करने के साधन हैं।
- इसी प्रकार हे आत्मन्! तूने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए निर्दय होकर पाँचों प्रकार के स्थावरकायिक जीवों की विराधना की है तथा उन्हें दुःखी किया है और उनका नाश किया है; इसलिए हे आत्मन् उन समस्त दोषों के लिए तू अपनी निन्दा कर, पश्चात्ताप कर और उन सब पापों को शान्त करने के लिए

आत्मज्ञान को बढ़ाने वाले तथा पापों का त्याग करने वाले शास्त्रों का पठन-पाठन कर। आत्मज्ञान की शिक्षा देने वाले विद्यालयों का स्थापन कर तथा धनादिक द्वारा सब प्रकार से उनकी वृद्धि कर। जो हिंसादिक पाप नहीं करते, उनकी प्रशंसा कर। ऐसा करने से तेरे समस्त पाप शान्त होंगे और आगे के लिए पुण्यकर्म तथा रत्नत्रय की प्राप्ति होगी।

- हे जीव! बिना छने पानी की एक बूँद में असंख्यात सूक्ष्म त्रसजीव होते हैं, फिर भी तूने अपनी बुद्धि खोकर और निर्दय होकर उसी बिना छने पानी की नदी या सरोवरों में डुबकी लगा कर स्नान किया है, जिससे अनेक जीवों का घात हुआ है। इसी प्रकार जो बहुत पानी का उपयोग कर स्नान करते हैं या तैरते हैं, या जलक्रीड़ा करते हैं, वे न जाने कितने त्रसजीवों का घात करते हैं और न जाने कितने जीवों का छेदन-भेदन करते हैं। हे आत्मन्! इन सब कामों से उत्पन्न महापाप को शान्त करने के लिए उन सब जीवों से क्षमा माँग, उन पापों का पश्चात्ताप कर और आगे ऐसे पाप न करने के लिए नियम ले। तथा इसके अलावा उन पापों को शान्त करने के लिए पात्रदान कर और धर्म धारण कर।
- इसी प्रकार हे आत्मन्! इस संसार में जितने पदार्थ हैं, वे सब इस संसार की शोभा बढ़ाने के लिए है। देखो! जंगलों में या वनों मे बड़े बड़े वृक्ष होते हैं, वे बड़े सुन्दर लगते हैं, परन्तु हम लोग अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर अपने काम के लिए उनको कटवा डालते हैं, अथवा किसी की शाखाएँ कटवा डालते हैं, किसी की छाल कटवा लेते हैं और किसी के पत्ते तुड़वा लेते हैं, फूल तुड़वा लेते हैं। इन सबको तुड़वा लेना, उनका घात करना है। इस प्रकार अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए अपने आत्मा का भी घात करते हैं। हे आत्मन्! तूने ये सब पाप किये हैं, इसलिए उन पापों के लिए पश्चात्ताप कर, सबकी आलोचना कर, सबसे क्षमा माँग, अब आगे के लिए सबको क्षमा कर – ऐसा करने से तेरा पहले का पाप शान्त होगा और आगे के लिए अशुभकर्मों का बन्ध रुक जाएगा।
- हे दुरात्मन्! तूने अपनी कुसंगति से अथवा अपने अज्ञान से तीनों लोकों के स्वामी भगवान् अरहन्तदेव, सिद्धभगवान्, आचार्य, उपाध्याय, साधु – ये पाँच परमेष्ठी, जिनागम, जिनालय, जिनप्रतिमा, जिनधर्म – इन नौ महादेवताओं की निन्दा की है या उनका अनादर किया है, इसके लिए तुझे धिक्कार है। हे आत्मन्! तूने इन सबकी निन्दा व अनादर करके महाकुटिल दोष और वज्रपाप किया है। अब वह महापाप उन्हीं के चरण-कमलों की सेवा करने से शान्त होगा; इसलिए हे आत्मन्! उन सब पापों को शान्त करने के लिए व नाश करने के लिए उन्हीं के चरण-कमलों की सेवा कर। यदि तूने किसी अशुभकर्म के उदय से इनकी निन्दा करने का महा अपराध किया हो तो तू उस पाप को शान्त करने के लिए बार बार अपनी निन्दा कर, क्योंकि अपनी निन्दा और पश्चात्ताप करने से कर्मों का विपाक कम हो जाता है, तथा उनकी पूजा करने से अशुभकर्मों का नाश होता है और शुभकर्मों का बन्ध होता है तथा परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः ऐसा करने से ही तेरा आत्मा तीनों लोकों में पूज्य बन जाता है।[9]

प्रायश्चित्त की महिमा

प्रायश्चित्त का महिमा-गान करते हुए धवला में कहा गया है –

कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि, तनूभवन्त्याऽऽत्मविगर्हणेन।
प्रकाशनात्संवरणाच्च तेषामत्यन्तमूलोद्धरणं वदामि।।[10]

अर्थात् अपनी गर्हा करने से, दोषों का प्रकाशन करने से और उनका संवर करने से, किये गये अतिदारुण पापकर्म भी कृश हो जाते हैं तथा उनका समूल नाश प्रायश्चित्त से होता है।

इस **प्रायश्चित्त तप का महत्त्व** इससे भी सिद्ध है कि प्रायश्चित्तस्वरूप सभी प्रकार के तपों को प्रदान करने की पद्धति आगम में प्रसिद्ध है; अतः बारह तपों में एक **प्रायश्चित्त तप** है और इस प्रायश्चित्त तप में सभी तपों का अन्तर्भाव हो जाता है। इतना ही नहीं, दश धर्म में **उत्तम तपधर्म** का समावेश किया गया है। बारह भावनाओं में **संवर-निर्जरा भावना के माध्यम से प्रायश्चित्त तप** के महत्त्व को समझा जा सकता है। जिनागम में सोलह कारण भावनाओं में **शक्तितः तप भावना** के अन्तर्गत बारह तपों में अन्तरंग तप के छह भेदों में प्रथम प्रायश्चित्त तप में किया है।

पृथक् से भी बारह तपों का वर्णन प्राप्त होता है। जैसे, तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्वों के वर्णन में संवर-निर्जरातत्त्व के अन्तर्गत संवर-निर्जरा के कारणों को गिनाते हुए जहाँ गुप्ति-समिति-धर्म-अनुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्र को बताया गया है; वहां उसके तुरन्त बाद **'तपसा निर्जरा च'** – इस सूत्र के द्वारा तप की चर्चा पृथक् से करके उसे महत्त्व प्रदान किया गया है, बारह तपों का समावेश, मुनियों के उत्तर गुणों में भी किया गया है।[11]

आचार्य गुरुदास ने प्रायश्चित्त को बड़ा भारी तप बताया है; वे कहते हैं –

प्रायश्चित्तं तपः प्राज्यं, येन पापं पुरातनं।
क्षिप्रं संक्षीयते तस्मात्तत्र यत्नो विधीयतां।। 4।।[12]

अर्थात् यह प्रायश्चित्त बड़ा भारी तपश्चरण है, जिससे पहले किये हुए पाप शीघ्र नष्ट हो जाते हैं; इसलिए प्रायश्चित्त के करने में अवश्य यत्न करना चाहिए।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भाषा-टीका में पण्डित सदासुखदासजी ने लिखा है –

जो धर्मात्मा है, वह अपने व्रत-धर्म में कभी दोषरूप आचरण नहीं करता है, अन्य को सदोष आचरण कराता नहीं है, जो दोष सहित आचरण करता है, उसे मन-वचन-काय से भला नहीं कहता है। यदि कभी प्रमाद से, भूल से दोष लग जाय तो निर्दोष साधु के निकट जाकर, सरल परिणामों से, दश प्रकार के दोष रहित आलोचना करके, गुरुओं द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त को परम श्रद्धा से आदरपूर्वक ग्रहण करता है। हृदय में ऐसी शंका नहीं करता है कि मुझे बहुत प्रायश्चित्त दे दिया या थोड़ा प्रायश्चित्त दिया। प्रमाद से एक बार दोष लग गया हो तो उसे प्रायश्चित्त ले कर, दूर कर लिया, परन्तु फिर ऐसी सावधानी रखना कि अपने सौ टुकड़े भी हो जाएँ तो भी पुनः दोष नहीं लगने दे, उसी का प्रायश्चित्त लेना सफल है।

अनेक गुणों के धारी, सिद्धान्त रहस्य के पारगामी, प्रशान्त मन वाले, अपरिस्रावी गुण के धारी जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला पानी को पी कर, उसे बाहर नहीं आने देता; उसी प्रकार जो शिष्य के द्वारा आलोचित किये गये दोष को कभी प्रगट कर, बाहर नहीं कहते – ऐसे देश-काल के ज्ञाता, एकान्त में रहने वाले, आचार्यों के अनेक विशेष गुणों के धारक आचार्यों के पास प्रायश्चित्त लेने वाला, हाथ जोड़ कर, बहुत विनयपूर्वक, बालक के समान सरल-चित्त होकर, आत्म-निन्दा करता हुआ आलोचना करता है।

जैसे, रुधिर से लिप्त वस्त्र रुधिर से नहीं धुलता है, कीचड़ से कीचड़ नहीं धुलता है; उसी प्रकार दोषों से युक्त साधु भी, शिष्य को निर्दोष नहीं कर सकता है। जैसे, मूढ़ वैद्य, रोगी का विपरीत इलाज करके, उसे प्राण रहित कर देता है; उसी प्रकार अज्ञानी गुरु भी, शिष्य को संसार-समुद्र में डुबो देता है। वास्तव में निर्दोष गुरु ही शिष्य को योग्य प्रायश्चित्त दे कर, शुद्ध कर सकता है।[13]

प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर

प्रायश्चित्त में साधक अपने दोष को अपनी इच्छा से प्रगट कर उसे स्वीकार करता है। प्रमादवश यदि दोष लग जाता है तो वह साधक उस दोष को गुरुजनों के समक्ष प्रगट कर देता है और उनसे प्रायश्चित्त प्रदान करने के लिए प्रार्थना करता है। गुरुजन उस दोष से मुक्त होने के लिए विधि बताते हैं। इसके विपरीत व्यक्ति दण्ड को अपनी इच्छा से नहीं किन्तु विवशता से स्वीकार करता है। उसके मन में दुष्कृत्य के प्रति भी किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होती। अपराधी अपराध को स्वेच्छा से नहीं किन्तु दूसरों के भय से स्वीकार करता है। इस तरह दण्ड ऊपर से थोपा जाता है, किन्तु प्रायश्चित्त अन्तर्हृदय से स्वीकार किया जाता है। इसी कारण राजनीति में दण्ड का विधान है तो धर्मनीति में प्रायश्चित्त का विधान है।[14]

प्रायश्चित्त के योग्य काल

जैन परम्परा में साधु एवं श्रावक को आलोचना एवं प्रतिक्रमण के माध्यम से प्रतिदिन सुबह शाम, प्रायश्चित्त करने का निर्देश दिया गया है। विशेष प्रायश्चित्त के काल – पक्ष में, चातुर्मास में, वर्ष में, प्रमादवश किये गये अतिचारों या पापों के अन्त में, प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता का संयोग होने पर, तीर्थ में, तपविशेष के प्रारम्भ एवं अन्त में, किसी महोत्सव के आरम्भ या अन्त में, बीमारी आदि से उठने पर, लम्बा विहार करने के उपरान्त आदि कारणों के मिलने पर प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए।

प्रायश्चित्त का फल

उत्तराध्ययन सूत्र में **प्रायश्चित्त का फल** बताते हुए निम्न शंका–समाधान प्रस्तुत किया है –

प्रश्न – पायच्छित्तकरणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

अर्थात् हे भगवन्! प्रायश्चित्त करने से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है?

उत्तर – पायच्छित्तकरणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ, निरइयारे यावि भवइ। सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइं। आयारं च आयारफलं च आराहेइ।

अर्थात् प्रायश्चित्त से जीव, पापकर्मों को दूर करता है और धर्म-साधना को निरतिचार बनाता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाला साधक मार्ग (सम्यक्त्व) और मार्गफल (ज्ञान) को निर्मल करता है। आचार और आचार-फल (मुक्ति) की आराधना करता है।[15]

प्रायश्चित्त का प्रयोजन

राजवार्तिक में **प्रायश्चित्त का प्रयोजन** बताते हुए लिखा है –

प्रमाद-दोष का निराकरण, भाव-प्रसाद, निःशल्यत्व, अव्यवस्था-निवारण, मर्यादा का पालन, संयम की दृढ़ता, आराधना-सिद्धि आदि के लिए प्रायश्चित्त से विशुद्ध होना आवश्यक है।[16]

इस विधि का मुख्य प्रयोजन प्रमादवश किये गये पापों की शुद्धि करना है क्योंकि विशुद्धि उन पापों की ही हो सकती है, जो प्रमादवश किये गये हों, अहंकारपूर्वक किये गये पापों की शुद्धि प्रायश्चित्त से नहीं हो सकती है। प्रायश्चित्त विधि के माध्यम से व्यक्ति में पापभीरूता, सजगता, सरलता आदि गुणों का प्रादुर्भाव होता है क्योंकि प्रायश्चित्त वही व्यक्ति कर सकता है, जो पापभीरू हो, सजग हो, सरल हो। इस प्रकार प्रकारान्तर से प्रायश्चित्त विधि का प्रयोजन व्यक्ति में सहजता, सजगता आदि गुणों को विकसित करना है।[17]

प्रायश्चित्त करने से लाभ

प्रायश्चित्त करने से सर्व पापों का शमन और सर्व दोषों का निवारण होता है। पुण्य एवं धर्म की वृद्धि होती है, आत्म-सन्तोष मिलता है, जीव का दोषरूपी काँटा निकल जाता है, निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होती हैं, पुण्य का संचय होता है और विघ्नों का नाश होता है, कीर्ति का विस्तार होता है तथा स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है।[18]

प्रायश्चित्त का उद्देश्य

अपराध-बोध एवं आत्मविशुद्धि के उद्देश्य से प्रायश्चित्त विधान किया जाता है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन ने संहति ऊर्जा का सूत्र $E=mc^2$ अन्वेषित किया। लेकिन उसके आधार पर आण्विक बम बना और हिरोशिमा-नागासाकी पर उसका प्रयोग होने पर जो विनाशलीला हुई, उसने आइन्सटीन को पछतावा और ग्लानि से भर दिया और उन्होंने प्रायश्चित्त भरी टिप्पणी की थी कि हमको ऐसा काम नहीं करना चाहिए, जिससे दुनिया का संहार हो, अशान्ति व क्षोभ का पर्यावरण पर दुष्प्रभाव फैले व मानवता अपंग बन जाए। इसी बात को आचार्य विनोबा भावे के विचार दृष्टव्य हैं कि अहिंसा के बिना विज्ञान की ताकत को सृजनात्मक नहीं कहा जा सकता। अहिंसा और विज्ञान के सम्बन्ध को व्याख्यायित करते हुए वे लिखते हैं कि विज्ञान + हिंसा = सर्वनाश तथा विज्ञान + अहिंसा = सर्वोदय।[19]

प्रायश्चित्त का उद्देश्य बताते हुए 'सामान्य जैनाचार विचार' में लिखा है –

प्रमाद के दोषों से आत्मा के परिणामों में जो ग्लानि उत्पन्न होती है, वह ग्लानि **प्रायश्चित्त** से ही शीघ्र और अवश्य नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार मल से लिप्त जलादिक से शुद्ध हो जाते हैं; उसी प्रकार मल व दोषों से लिप्त हुआ भव्य जीव भी **प्रायश्चित्त** से ही शुद्ध होता है। जिस प्रकार शुद्ध किया हुआ विष भी अमृत के समान हो जाता है; उसी प्रकार **प्रायश्चित्त** के द्वारा यह भव्य पुरुष भी उसी क्षण में सुखी हो जाता है। जिस प्रकार शुद्धि हो जाने पर दोषों के समूह से रहित हुआ पारा विशुद्धता को प्राप्त हो जाता है; उसी प्रकार **प्रायश्चित्त** से शुद्ध हुआ मनुष्य भी दोषों का त्याग कर शुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार मोतियों में

से सब दोष निकल जाने पर उनके गुण प्रकाशमान हो जाते हैं; उसी प्रकार **प्रायश्चित्त** के द्वारा भव्य जीवों के सब दोष निकल जाने पर उनके आत्मा के समस्त गुण प्रकाशमान हो जाते हैं। जिस प्रकार शुद्ध कर लेने पर सुवर्ण आदि धातुओं का मल दूर हो जाता है; उसी प्रकार **प्रायश्चित्त** के द्वारा शुद्धि कर लेने पर भव्य जीवों के मल या पाप भी दूर हो जाते हैं।[20]

एक सार्थक प्रश्न : प्रायश्चित्त, तप है या तप, प्रायश्चित्त

यद्यपि प्रायश्चित्त देते-लेते समय भी तप का प्रायश्चित्त दिया-लिया जाता है तथापि प्रायश्चित्त को स्वयं तप के रूप में भी स्वीकार किया गया है। प्रायश्चित्त को कोई सामान्य तप नहीं, बल्कि अभ्यन्तर तप स्वीकार किया गया है। तप के दो भेद किये गये हैं – बाह्य और अभ्यन्तर। अभ्यन्तर तप में भी प्रायश्चित्त को प्रथम तप माना गया है। इस प्रकार प्रायश्चित्त स्वयं तप भी है और प्रायश्चित्त देते-लेते समय भी तप का प्रायश्चित्त दिया-लिया जाता है।

प्रायश्चित्त, अभ्यन्तर तप क्यों?

प्रायश्चित्त को अभ्यन्तर तप क्यों माना गया है ? इसका उत्तर अत्यन्त स्पष्ट है क्योंकि अन्तरंग परिणामों की चंचलता को रोकने का एकमात्र साधन इच्छाओं को रोकना है तथा इच्छाओं को रोकने की प्रक्रिया आत्मसन्मुखता के बिना सम्भव नहीं है; अतः प्रायश्चित्त को अभ्यन्तर तप माना गया है। यही कारण है कि सर्वार्थसिद्धि में ''मन का नियमन करने वाला होने से इसे **अभ्यन्तर तप** कहा गया है।''[21]

अथवा ये प्रायश्चित्त आदि अन्य मतावलम्बियों के द्वारा अनभ्यस्त हैं, उनसे नहीं किये जाते हैं, उन मिथ्यादृष्टियों के द्वारा अप्राप्य हैं; अतः इनको उत्तर या अभ्यन्तर तप कहते हैं। ये प्रायश्चित्त आदि तप, अन्तःकरण के व्यापार का अवलम्बन लेकर होते हैं; इसलिए इनके अभ्यन्तरत्व है अथवा ये प्रायश्चित्त आदि तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रखते हैं; इसलिए इन्हें **अभ्यन्तर तप** कहते हैं।[22]

अथवा जो सन्मार्ग को जानते हैं, वे अभ्यन्तर हैं; उनके द्वारा ज्ञात होने से अथवा उनके द्वारा पालन किये जाने से (उक्त तप) **अभ्यन्तर तप** कहलाते हैं।[23]

अथवा जो तप, दूसरों को प्रगट दिखाई न दे तथा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी, जिस तप को धारण न कर सके, उसको श्रेष्ठ **अभ्यन्तर तप** कहते हैं।[24]

प्रायश्चित्त को अन्तरंग तप में प्रथम स्थान क्यों?

बारह तपों में छह अन्तरंग और छह बहिरंग तपों का उल्लेख पाया जाता है; उनमें अन्तरंग तपों को प्रधान माना गया है। अन्तरंग तपों में भी प्रायश्चित्त तप को प्रथम माना है। अन्तरंग तपों में प्रायश्चित्त तप के प्रथम स्थान को समझाते हुए सिद्धान्तसारसंग्रह में दो श्लोकों में इसकी व्याख्या दी गई है –

सति दोषे न चारित्रं, कर्माभावो न तद्विना।
निर्वृत्तिस्तदभावे न, तस्माद्व्रतमनर्थकम्।।
अत एव प्रकुर्वन्ति, तदेवादौ महत्तपः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो, न नरः शुद्धिमृच्छति।।[25]

अर्थात् यदि दोष उत्पन्न होते हैं तो चारित्र नहीं रहता और चारित्र के बिना कर्म का नाश नहीं होता तथा कर्मों का नाश हुए बिना मोक्ष-सुख की प्राप्ति नहीं होती और व्रतों का पालन करना व्यर्थ सिद्ध होता है; अतः मुनीश्वरों ने प्रथमतः प्रायश्चित्त को ही तप कहा है। प्रायश्चित्त तप नहीं करने वाला मनुष्य, दोषों का अभाव नहीं होने से शुद्ध नहीं होता है और उसके परिणाम भी निर्मल नहीं होते।

अनगार धर्मामृत में कहा गया है –

बाह्यद्रव्याऽनपेक्षत्वात्, स्वसंवेद्यत्वतः परैः।
अनध्यासात्तपः प्रायश्चित्ताद्यभ्यन्तरं भवेत्।।[26]

अर्थात् बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं होने के कारण, स्वयं के द्वारा ही अनुभवगोचर होने से, उत्कृष्ट होने से तथा इनका सहजता से अभ्यास नहीं होने के कारण प्रायश्चित्त आदि तप **अभ्यन्तर तप** हो जाते हैं।

प्रायश्चित्त से छेदोपस्थापना चारित्र का सम्बन्ध[27]

प्रायश्चित्त को छेदोपस्थापना चारित्र से भी जोड़ा गया है, जैसे –

- त्रस और स्थावर जीवों की उत्पत्ति, तथा हिंसा के स्थान छद्मस्थ जीवों को अप्रत्यक्ष हैं; अतः निरवद्य क्रियाओं में प्रमादवश दोष लगने पर उसका सम्यक् रीति से प्रतिकार करना, **छेदोपस्थापना चारित्र** है।
- अथवा सावद्य कर्मरूप हिंसादि के छेदरूप अहिंसादि के भेद से पाँच प्रकार का चारित्र होना, **छेदोपस्थापना चारित्र** है। जैसे, सर्व सावद्य-त्याग लक्षण वाले सामायिक की अपेक्षा से व्रत एक है और वही छेदोपस्थापना की अपेक्षा से पाँच प्रकार का होता है। भेद प्रधान होने से यह पर्यायार्थिकनयरूप है।
- अथवा व्रत, समिति और गुप्तिरूप तेरह प्रकार के चारित्र में भेद व दोषों को छेदना, नाश करना और फिर चारित्र को अपनी आत्मा में स्थापन करना, अपने आत्मस्वरूप चारित्र को अपने आत्मा में ही स्थिर रखना, वह **छेदोपस्थापना चारित्र** है।
- यद्यपि यह चारित्र, छठवें से नौवें गुणस्थान तक पाया जाता है; लेकिन आठवें से आगे श्रेणी में ध्यानमग्न अवस्था होने से वहाँ पर छेद अर्थात् दोषों के प्रायश्चित्तरूप छेदोपस्थापना चारित्र नहीं है।

द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि से प्रायश्चित्त का सम्बन्ध

प्रमाद, पाप और दोषों से द्रव्यशुद्धि का नाश हो जाता है तथा द्रव्यशुद्धि का अभाव होने से सज्जातिपना और द्विजपना दोनों ही नष्ट हो जाते है; परन्तु प्रायश्चित्त के द्वारा भव्य जीवों की द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि दोनों ही पूर्णरूप से प्राप्त हो जाती है। ये द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि दोनों ही कल्याणमार्ग या मोक्षमार्ग को सिद्ध करने वाली हैं।

इस संसार में द्रव्यशुद्धि के बिना किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती; इसलिए भव्य जीवों को अपने पूर्ण प्रयत्न करके सबसे पहले द्रव्यशुद्धि कर लेनी चाहिए। भोजनशुद्धि, शरीरशुद्धि, वचनशुद्धि और बाह्य साधनों की शुद्धि को द्रव्यशुद्धि कहते हैं। इस द्रव्यशुद्धि के बिना जीवों के परिणामों की शुद्धि कभी नहीं हो सकती। अतएव प्रायश्चित्त लेकर इस भव्य जीव को सबसे पहले द्रव्यशुद्धि अवश्य कर लेनी चाहिए।

जिस भव्य जीव ने अपने व्रत छोड़ दिये हैं, वह पुरुष भी प्रायश्चित्त लेकर फिर से व्रती हो जाता है तथा दोषी वा अपराधी मनुष्य भी प्रायश्चित्त को लेकर शीघ्र ही निर्दोष हो जाता है। इस प्रायश्चित्त के द्वारा पापी मनुष्य भी पापरहित हो जाता है और इसी प्रायश्चित्त के द्वारा श्रेष्ठ मार्ग से च्युत हुआ मनुष्य भी उसी श्रेष्ठ मार्ग में शीघ्र ही पुनः दृढ़ हो जाता है। इस प्रायश्चित्त के द्वारा मिथ्यादृष्टि मनुष्य भी शीघ्र ही सम्यग्दृष्टि हो जाता है और इसी प्रायश्चित्त से वक्र मनुष्य भी शीघ्र ही सरल हो जाता है।

इस प्रायश्चित्त के द्वारा बाह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की द्रव्यशुद्धि होती है तथा द्रव्यशुद्धि हो जाने पर ही भावशुद्धि हो सकती है और भावशुद्धि होने से व्रतों की शुद्धि हो जाती है। इस प्रायश्चित्त के द्वारा कुल की शुद्धता होती है, शरीर की शुद्धता होती है, बाह्य शुद्धता होती है और अन्तरंग की शुद्धता होती है। कहाँ तक कहा जाए, इसी प्रायश्चित्त से समस्त शुद्धियाँ पूर्णरूप से हो जाती हैं। यह निश्चित सिद्धान्त है कि आचार धर्म की शुद्धि वा चारित्र की शुद्धि प्रायश्चित्त से ही होती है। इस प्रायश्चित्त के बिना यह आचार धर्म शीघ्र ही लुप्त हो जाता है।..... .....जिस मनुष्य के प्रायश्चित्त के द्वारा बाह्य शुद्धि और अभ्यन्तर शुद्धि हो जाती है, उसी मनुष्य के रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति मानी जाती है।[28]

प्रायश्चित्त के योग्य कौन?

जिसके मन-वचन-काय – तीनों में चंचलता या शल्य हो, वह प्रायश्चित्त के योग्य माना गया है। एक प्रकार से अतिचारों के होने को ही **प्रायश्चित्त की योग्यता** बताते हुए अनगार धर्मामृत में कहा है –

अकुर्वन् विहितं कर्म, निन्दितं च समाचरन्।
प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु, प्रायश्चित्तीयते नरः।।[29]

जो मनुष्य, शास्त्रविहित कर्म को नहीं करता है या निन्दित कर्म को करता है और इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहता है, वह **प्रायश्चित्त के योग्य** है अर्थात् उसे **प्रायश्चित्त** लेना चाहिए।

प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाले शिष्य की पात्रता

जो व्यक्ति, अपने अपराध/चूक/अतिचार में अपनी अज्ञानता को कारण मानता हो; वही व्यक्ति अपने दोषों को दूर कर सकता है। बाल ब्र. सुमतप्रकाशजी से व्यक्तिगत चर्चा में उन्होंने बताया कि शिष्य को अपने दोषों को दूर करने के लिए अध्ययनशील होना चाहिए; उसे स्वास्थ्य, प्रकृति, मनोविज्ञान, ऋतु, लौकिक परम्पराओं, समाज एवं कानूनी व्यवहार – इन सबका यथायोग्य ज्ञान होना चाहिए।

मूलाचार प्रदीप में कहा है – जो संवेगवान् हो, गुणाकांक्षी हो, तत्त्वज्ञ हो, गुरुभक्त हो, आलस्य से रहित हो, शरीर में तप करने की क्षमता हो, बुद्धिमान् हो, स्मृतिवान् हो, अपने शुभ-अशुभ कर्मों को बताने वाला हो, जितेन्द्रिय हो, क्षमाशील हो, सभी कुछ प्रगट करने की क्षमता वाला हो, पाप कथन में निर्लज्ज हो, स्वप्रशंसा का त्यागी हो, दूसरों पर किये गये उपकारों का गोपन करने वाला हो, अपने दुष्कृत का प्रकाशक हो, पापभीरू हो, पुण्यरूपी धन के प्रति आदरभाव रखने वाला हो, दयावान् हो, दृढ़ सम्यक्त्वी हो, पर की उपेक्षा का वर्जन करने वाला हो; इस प्रकार के गुणों के धारक साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविकाएँ निश्चित रूप से आलोचना करने के योग्य होते हैं।[30]

प्रायश्चित्त नहीं लेने से हानि

जो मूर्ख अभिमानी मुनि, अपने तपश्चरण को महा तपश्चरण समझ कर व्रतादिक के दोषों को शुद्ध करने के लिए प्रायश्चित्त नहीं करता है, उसके समस्त व्रतादि और तपश्चरण को वे दोष, शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं तथा उन व्रत और तप के नाश के साथ-साथ उसके समस्त गुण भी नष्ट हो जाते हैं। जैसे कि सड़ा हुआ एक पान, अन्य सब पानों को सड़ा देता है; उसी प्रकार एक ही दोष से सब व्रत, तप, गुण आदि नष्ट हो जाते हैं।[31]

श्वेताम्बर ग्रन्थ आचार दिनकर में लिखा है –

यदि लज्जावश, प्रतिष्ठा के कारण, प्रमाद के कारण, गर्व के कारण, अनादर के कारण, या मूढ़ता के कारण, मनुष्य कभी भी पापों की आलोचना नहीं करता है तो उसका परिणाम यह होता है कि वह दोषों की खान बन जाता है। पाप की आलोचना किये बिना ही कदाचित् उसकी मृत्यु हो जाती है तो उस पाप के योग के कारण भवान्तर मे उसको दुर्बुद्धि की प्राप्ति होती है। दुर्बुद्धि के कारण वह मूढ़ पुनः प्रचुर मात्रा में पाप करता है। उन पापों से वह सदैव दारिद्र्य एवं दुःख को प्राप्त करता है। मर कर घोर नरक गति एवं पशुत्वरूप तिर्यंच गति को प्राप्त होता है तथा पतित एवं दुष्ट कुल में तथा अनार्यभूमि में उत्पन्न होता है, रोगयुक्त खण्डित अंगवाला है, प्रचुर मात्रा में पाप करने वाला होता है। उन पापों के द्वारा वह कुदेव, कुगुरु तथा कुधर्म के संश्रित हो जाता है। फिर पश्चात्ताप करने पर भी वह बोधिबीज को प्राप्त नहीं कर पाता है तथा निगोद, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि योनियों को प्राप्त करता है और अनन्त संसार में भ्रमण करता हुआ कष्टमय जीवन व्यतीत करता है – इन दोषों को देख कर व्यक्ति को प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिए।[32]

प्रायश्चित्त देने वाले गुरु का लक्षण

जो विविध आचार्यों में प्रशंसनीय हो, माननीय हो तथा आचार्यों के युग सम्मेलन से परिज्ञानी हों, परिशुद्ध हों – ऐसे गुरु ही प्रायश्चित्त देने वाले हो सकते हैं।

प्रायश्चित्त विधान के अनुसार प्रायश्चित्त देने वाले गुरु कैसे होने चाहिए ? – उसका वर्णन करते हुए वहाँ लिखा है –

दण्ड या प्रायश्चित्त का जिसे ज्ञान होगा अथवा अनुभव होगा अथवा जिसने भोगा होगा अथवा जिसने परम्परा से गुरुओं को, दूसरों को दण्ड देते हुए देखा होगा; वही सही रूप से दण्ड देगा और वही, भावी अपराध को रोकने में समर्थ होता है।

मात्र अनुभवी प्राचीन आचार्यों को ही स्वयं जिनेन्द्रदेव की साक्षी में प्रायश्चित्त लेने का अधिकार है। अन्य सभी को ऐसे ही गुरुओं से प्रायश्चित्त लेना चाहिए। जिनको आगम रहस्य का ज्ञान नहीं है; उनसे लिया गया प्रायश्चित्त, अपराध का नाश नहीं करता है।

पूर्व से भी छेदपिण्ड, छेदशास्त्र, प्रायश्चित्त चूलिका, प्रायश्चित्त ग्रन्थ आदि प्रायश्चित्त के स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं; जो सम्भवतया उपलब्ध हो जाते हैं। इन ग्रन्थों में से कुछ प्राकृत में और कुछ संस्कृत में हैं; उनमें क्रमशः गाथाओं की संख्या 362, 94, 166, 30 हैं। महापुरुषों का ज्ञानदान भी सूत्ररूप होता है। इसी प्रकार का प्रस्तुत ग्रन्थराज भी है। गुरुओं की यह महती करुणा, संसारी प्राणियों पर अनादिकाल से चली आ रही है।[33]

आचार दिनकर के चौथे खण्ड में प्रायश्चित्त नामक प्रकरण में प्रायश्चित्त देने वाले गुरुओं का निम्न विवरण प्राप्त होता है –

जो श्रुतपाठी हो, गीतार्थ (अध्यात्म का अध्येता) हो, सम्पूर्ण योग किये हुए हो, सर्व शास्त्रों का व्याख्याता हो, छत्तीस गुणों से युक्त हो, शान्त हो, जितेन्द्रिय हो, बुद्धिमान हो, धीर हो, रोगादि से रहित हो, अनिन्दक हो, क्षमाशील हो, ध्याता हो, जितपरिश्रमी हो, तत्त्व के अर्थ को सम्यक् प्रकार से समझ कर धारण करने वाला हो, राजा और रंक में समान दृष्टि रखने वाला हो, सदैव श्रुत के आधार पर शुभ वचन बोलने वाला हो अर्थात् उत्सूत्र की प्ररूपणा करने वाला न हो, प्रमादरहित हो, सदाचारी हो, क्रियावान् हो, निष्कपट हो, हास्य-भय-जुगुप्सा एवं शोक से रहित हो, किये गये पापों के परिमाण को मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के द्वारा जानने वाला हो.....इत्यादि गुणों से युक्त गुरु ही प्रायश्चित्त प्रदान करने के योग्य होता है।[34]

प्रायश्चित्त देने वाले गुरुओं की दुर्लभता

रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भाषा-टीका में प्रायश्चित्त देने वाले गुरुओं की दुर्लभता का प्रतिपादन करते हुए पण्डित सदासुखदासजी लिखते हैं –

इस कलिकाल के प्रभाव से प्रायश्चित्त देने वाले निर्दोष गुरु भी दिखाई नहीं देते हैं क्योंकि जो स्वयं ही अनेक दोषों से लिप्त हो, अन्य को कैसे शुद्ध कर सकता है? रुधिर से रुधिर कैसे धोया जाए?

किसी शिष्य ने गुणभद्रस्वामी से पूछा – हे स्वामी ! इस काल में तपस्वी मुनियों में भी सच्चे आचरण के धारण करने वाले अत्यन्त विरले रह गये हैं, इसका कारण क्या है?

इसका **उत्तर** देते हुए आचार्य गुणभद्र ने आत्मानुशासन में यह काव्य लिखा है –

कलौ दण्डो नीतिः, स च नृपतिभिस्ते नृपतयो,
नयन्त्यऽर्थार्थं तं, न च धनमदोऽस्त्याऽऽश्रमवताम्।
नतानामाचार्या, न हि नतिरता साधुचरिताः,
तपस्थेषु श्रीमन्मणय इव जाताः प्रविरलाः।। 149।।

अर्थात् इस कलिकाल में नीति पर चलाने का उपाय दण्ड देना है। दण्ड के भय बिना कोई भी न्याय के मार्ग पर स्वयं स्वेच्छा से नहीं चलता है। दण्ड, राजाओं द्वारा ही दिया जाता है क्योंकि कलिकाल में बलवान के बिना अन्य साधर्मियों द्वारा, वृद्ध पुरुषों द्वारा, समाज द्वारा दिया गया दण्ड कोई ग्रहण नहीं करता है, कोई इनका कहना नहीं मानता है। बलवान राजा द्वारा दिया गया दण्ड ही ग्रहण करता है। इस कलिकाल में राजा भी ऐसे होने लगे हैं कि जिससे धन की प्राप्ति होती दिखाई देती है, उसे दण्ड देते हैं। यदि वह राजा को धन दे देवे तो उसे दण्ड नहीं देते हैं, निर्धन को भी दण्ड नहीं देते हैं।

इसी प्रकार कुछ श्रम नहीं करने वाले आश्रमवासी संयमियों के पास कुछ भी धन नहीं होता है; अतः संयम लेकर भी वे कुमार्ग पर चलते हैं क्योंकि उन्हें राजा के दण्ड का भय तो है नहीं, जिससे वे कुमार्ग से रुक जावें। आचार्यों को भी दण्ड होना चाहिए क्योंकि कलिकाल में आचार्यों का शिष्यों में अनुराग होने लगा है। जो आपको नमस्कार कर लेता है, उसे दण्ड नहीं देते हैं; अपना संघ-सम्प्रदाय बढ़ाने के लिए जो आपको नमोऽस्तु-नमस्कार कर ले, उसे अपना जान कर, दण्ड नहीं देते हैं, तब वह दण्ड के भय से रहित हो कर, शास्त्र से विरुद्ध आचरण करने लग जाता है; इसीलिए कलिकाल में तपस्वीजनों में भी सत्य आचार के धारी अति विरले ही दिखाई देते हैं, केवल भेषधारी ही बहुत दिखाई पड़ते हैं।[35]

गृहस्थों को प्रायश्चित्त के योग्य सामान्य दण्डों के निर्देश

सामान्य जैनाचार विचार में लिखा है –

किसी तीर्थ की यात्रा करना, भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजन करना, या अभिषेक करना, कायोत्सर्ग करना, उपवास करना, दान देना, अपनी जाति वालों को भोजन देना, एकाशन करना, जप करना, स्नान करना, व्युत्सर्ग या त्याग करना, व्रतों का त्याग करा देना, जाति से बाहर कर देना, सम्बन्धों का त्याग करा देना, जिनप्रतिमा का दर्शन बन्द करा देना, जिनालय में जाने से रोकना, जाति या संघ से बहिष्कार कर देना, सज्जाति से हीन घोषित कर देना, आदि अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त हैं। किसी अपराध के हो जाने पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देख कर तथा अपराधी की आयुष्य आदि को देख कर सम्यग्दर्शन की दृढ़ता पूर्वक उसकी योग्यतानुसार दण्डरूप में प्रायश्चित्त देना चाहिए।[36]

इस सम्बन्ध में बाल ब्र. सुमतप्रकाशजी ने मौखिकरूप से बताया कि पहले समाज में दण्ड व्यवस्था थी, जिससे समाज यथायोग्य रीति से संचालित होता था परन्तु आज उसके समाप्त हो जाने के कारण सामाजिक संरचना में आर्थिक, वैवाहिक दृष्टि से सर्वत्र स्वच्छन्दता व्याप्त हो गई है, संस्कारों की जगह कुतर्क ने अपना स्थान ले लिया है। लौकिक शैक्षणिक स्तर में उच्चता एवं आजीविका हेतु देश-विदेश में भटकने के कारण पारिवारिक, सामाजिक आश्रितता में कमी के कारण भी दण्ड व्यवस्था निष्प्राण हो गई है।

प्रायश्चित्त की विधि

चर्चासागर ग्रन्थ में पण्डित चम्पालालजी ने '**मुनियों की प्रायश्चित्त विधि**' का निरूपण करते हुए कहा है –

यदि किसी मुनि के अज्ञान अथवा प्रमाद से पाँच महाव्रतादि, अट्ठाईस मूलगुणों में वा अन्य क्रिया आचरण में किसी प्रकार का अतिचार या अनाचार लग जाए तो वे मुनिराज अपने गुरु आचार्य के निकट जाकर अपने किये हुए दोष को प्रगट करते हैं। तदनन्तर आचार्य महाराज जो प्रायश्चित्त दें, उसे वे अपने दोष दूर करने के लिए बड़े हर्ष के साथ स्वीकार करते हैं। गुरु के दिये हुए प्रायश्चित्तों में किसी प्रकार का विवाद नहीं करते, किन्तु उसकी यथोचित रीति से पालन कर शुद्ध होते हैं।.....मुनियों के प्रायश्चित्त की विधि गृहस्थ के समान नहीं है, किन्तु उसकी विधि अलग ही है।[37]

प्रायश्चित्त समुच्चय में आचार्य गुरुदास लिखते हैं –

आलोचनादिकं योग्ये, कायोत्सर्गेऽथ सर्वकं।
तपः आदि क्वचिद्देयं, यथा वक्ष्ये विधिं तथा।।[38]

अर्थात् व्यक्तियों के दोषों को जान कर आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक – इनमें से एक या दो या तीन या चारों प्रायश्चित्त देवें तथा कायोत्सर्ग भी देवें। अथवा सभी आलोचनादि दश तरह के प्रायश्चित्त देवें। अथवा किसी व्यक्ति विशेष को तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धा – ये पाँच प्रायश्चित्त देवें।

प्रायश्चित्त ही कल्याण का कारण है, किन्तु गृहस्थों में प्रायश्चित्त की प्रवृत्ति कैसे होवे? – परमेष्ठी के प्रतिबिम्ब के समक्ष जाकर ही अपने अपराध की आलोचना करके, इस प्रकार यत्न करना, जिससे पुनः अपराध स्वप्न में भी नहीं बने।[39]

''यद्यपि पापों का क्षय करने वाली प्रायश्चित्त की सम्यक् विधि तो केवली भगवान के अतिरिक्त कोई नहीं जानता है क्योंकि मन में उद्भूत होने वाले शुभ-अशुभ परिणामों को जानना कठिन है, मन के परिणामों की गति तो बहुत ही सूक्ष्म है। मन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म असंख्य परिणामों के अन्तर को जानना अतिकठिन है। वस्तुतः क्रोध-मान-माया-लोभ, राग-द्वेष एवं पाँचों इन्द्रियों के विषयजन्य तथा मनोगत भावजन्य पातक का विश्लेषण कर उनके परिणामों को जानना तो और भी कठिन है क्योंकि संख्यातीत भावों की गति विचित्र है, अतः केवलज्ञान के बिना चार ज्ञान के ज्ञाता के लिए भी इन संख्यातीत पापवृत्तियों की प्रायश्चित्त विधि को जानना कठिन है। फिर भी इस दुःषमकाल में श्रुत के अध्येता (गीतार्थ) द्वारा अथवा श्रुत के अध्ययन द्वारा प्रायश्चित्त विधि को किंचित्रूप से जाना जा सकता है, अतः प्रायश्चित्त ग्रहण करने से पूर्व गीतार्थ (अध्येता) गुरु की गवेषणा करें।

शल्य के निराकरण के निमित्त से गीतार्थ की गवेषणा में उत्कृष्टरूप से क्षेत्र की अपेक्षा से सात सौ योजन तक जाएँ और काल की अपेक्षा से बारह वर्ष तक गीतार्थ की खोज करें। इस प्रकार यदि

आलोचनाग्राही को गीतार्थ यथोचित गुरु की प्राप्ति हो जाए तो वह अपने शल्य की आलोचना करे तथा उनकी आज्ञा के अनुसार विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करके उन पातकों से छुटकारा पाए।''[40]

अपवाद-मार्ग के अन्तर्गत प्रायश्चित्त शास्त्र का निरूपण

जिनागम में दो प्रकार के मार्ग की निरूपणा की गई है – उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग। उत्सर्ग मार्ग तो दोष रहित ही होता है, परन्तु अपवाद मार्ग में दोष लगने की सम्भावना रहती है, उन्हीं दोषों के निराकरणार्थ प्रायश्चित्त विधान का निरूपण, प्रायश्चित्त ग्रन्थों में वर्णित है।

प्रवचनसार में उत्सर्ग-अपवाद मार्ग का कथन करते हुए लिखा है –

उत्सर्ग मार्ग वह है, जिसमें सर्व परिग्रह का त्याग किया जाए क्योंकि आत्मा के एक अपने भाव के सिवाय परद्रव्यरूप दूसरा पुदगलभाव नहीं है। इस कारण उत्सर्ग मार्ग परिग्रहरहित है।.....लेकिन किसी के कहीं कभी किसी प्रकार कोई उपधि अनिषिद्ध भी है – ऐसा अपवाद कहते हैं।.....विशिष्ट काल, क्षेत्र के वश कोई उपधि अनिषिद्ध भी है – ऐसा अपवाद है। जब श्रमण सर्व उपधि के निषेध का आश्रय लेकर परमोपेक्षा संयम को प्राप्त करने का इच्छुक होने पर भी विशिष्ट काल, क्षेत्र के वश हीन शक्ति वाला होने से उसे प्राप्त करने में असमर्थ होता है, तब उसमें अपकर्षण करके अनुत्कष्ट संयम प्राप्त करता हुआ उसकी बाहय साधन मात्र उपधि का आश्रय लेता है।[41]

प्रवचनसार में उपधि ग्रहण के सम्बन्ध में ऐसा निर्देश दिया गया है – जो अल्प हो, अनिन्दित हो, असंयतजनो के द्वारा अप्रार्थनीय हो और मूर्च्छादि उत्पन्न करने वाली न हो – ऐसी ही उपधि को श्रमण ग्रहण करो।[42]

इसी प्रकार चारित्र के भेदों के अन्तर्गत सामायिक चारित्र में अपवाद और दोष लगने की सम्भावना नहीं रहती, लेकिन छेदोपस्थापना चारित्र में अपवाद और दोष लगते हैं। महापुराण में लिखा है –

जो स्वाभाविक बल के धारक हैं, उनके प्रथम सामायिक चारित्र ही होता है, परन्तु जो प्रमादी हैं, उनके द्वितीय छेदोपस्थापना चारित्र होता है।[43]

श्वेताम्बर ग्रन्थ निशीथ सूत्र की प्रस्तावना में भी लिखा है –

''जैनदर्शन में साधना के लिए दो पद्धतियों का निरूपण किया गया है – एक उत्सर्ग मार्ग और दूसरा अपवाद मार्ग। उत्सर्ग मार्ग यानि राज मार्ग अर्थात् स्वीकृत व्रतों का निरतिचार पालन करना, चारित्र और सद्गुणों की अभिवृद्धि करते हुए संयम मार्ग में निरन्तर आगे बढ़ते रहना। दूसरा अपवाद मार्ग अर्थात् शारीरिक अथवा मानसिक दुर्बलता के कारण असमर्थ संयमी साधक के लिए परिस्थिति उत्पन्न होने पर अपवाद मार्ग का सेवन भी किया जा सकता है। पर ज्यों ही शारीरिक और मानसिक दुर्बलता दूर हो, त्यों ही उसे अपवाद मार्ग में लगे दोषों का प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण कर लेना चाहिए।

उत्सर्ग मार्ग, सामान्य-विधि-मार्ग है, जिस पर संयमी साधक निरन्तर चलता है। बिना विशेष परिस्थिति के साधक को उत्सर्ग मार्ग नहीं छोड़ना चाहिए, जो साधक, बिना विशेष परिस्थिति के ही अपवाद मार्ग को अपना कर संयम में दोष लगाता है, वह प्रभु की आज्ञा का आराधक नहीं किन्तु विराधक होता है। संयमी साधक की सजगता इसी में है कि वह अपवाद के सेवन में लगे दोष का प्रायश्चित्त लेकर पुनः उत्सर्ग मार्ग में उपस्थित हो जाए। संयमी साधक को एक बात और ध्यान रखनी चाहिए कि अपवाद, वास्तविक अत्यावश्यक एवं संयम को बचाने के लिए होना चाहिए, न कि इन्द्रिय-पोषण एवं सुखशीलीपन के लिए। अपवाद सेवन के पीछे साधक की भावना, उत्सर्ग की रक्षा करने की होनी चाहिए, न कि उसे ध्वंस करने की।

वस्तुतः अपवाद का सेवन, विवशता के कारण है, जिसे संयमी साधक, संयम रक्षा का और कोई रास्ता न दिखने पर अपनाता है। वह अपवाद का सेवन करते समय सतत ध्यान रखता है कि उसके स्वीकृत व्रतों में कम से कम दोष लगे; इसलिए आगमकार महर्षियों ने इस मार्ग का सेवन करने अथवा इसके सेवन की आज्ञा प्रदान करने का अधिकार विशिष्ट ज्ञानी बहुश्रुत साधकों को ही दिया है, जो आचारांग आदि साहित्य के गहन अभ्यासी एवं छेद सूत्रों के गम्भीर एवं गहन रहस्यों में पारंगत हो, जिन्हें उत्सर्ग और अपवाद मार्ग सेवन का पूर्ण ज्ञान हो।''[44]

अपवाद और अतिचार में अन्तर

यद्यपि अतिचार और अपवाद में बाह्य दृष्टि में दोष-सेवन एक सदृश प्रतीत होता है, पर अतिचार व अपवाद में बहुत अन्तर है। अतिचार में मोह का उदय होता है और मोह के उदय से या वासना से उत्प्रेरित होकर तथा कषायभाव के कारण उत्सर्ग मार्ग को छोड़कर जो संयमविरुद्ध प्रवृत्ति की जाती है, वह अतिचार है और अतिचार से संयम दूषित होता है। अतः साधक को यह ज्ञात हो जाए कि मैंने दोष का सेवन किया है, जो अयोग्य था तो उसे यथाशीघ्र प्रायश्चित्त लेकर उस दोष की विशुद्धि करनी चाहिए। जो उस दोष की विशुद्धि नहीं करता, वह श्रमण विराधक होता है।

अपवाद में जो दोष का सेवन होता है, वह विवशता के कारण होता है। सेवन करते समय साधक यह अच्छी तरह जानता है कि यदि मैं अपवाद का सेवन नहीं करूँगा तो मेरे ज्ञान आदि गुण विकसित नहीं हो सकेंगे। इसी दृष्टि से वह अपवाद का सेवन करता है। अपवाद-सेवन का उद्देश्य सद्गुणों का अर्जन और संरक्षण प्रमुख होता है। अपवाद में कषायभाव नहीं होता, किन्तु संयमभाव प्रमुख होता है। यही कारण है कि अपवाद-सेवन को रहस्य कहा गया है। इस प्रकार अपवाद अतिचार की तरह दूषण नहीं है। अतिचार में कषाय का प्राधान्य होने से अधिक कर्मबन्धन होता है।[45]

प्रायश्चित्त देने योग्य आचार्य की योग्यताएँ [46]

योग्य आचार्य से ही संघ की प्रतिष्ठा होती है और योग्य आचार्य के संघ में रह कर साधना और संयम द्वारा मुनि निर्विघ्नतापूर्वक स्व-पर-कल्याण के अपने लक्ष्य को पूर्ण करता है। योग्य आचार्य ही अपने कौशल से उन्मार्ग-गामी शिष्यों को शीघ्र ही सन्मार्ग पर लगा देते हैं।

अविधिपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले शिष्य को मार्ग पर लाने के लिए भी उपालम्भ देना चाहिए क्योंकि आचार्य, संघ के नायक हैं। जो निरन्तर सावधान हैं, उनके द्वारा बार-बार सन्मार्ग में लगाया गया वह आराधक साधु, समुदायरूपी महावन को पार करता है। वह संघपति आचार्य, अपने द्वारा भावना आदि में नियुक्त साधु समुदाय की इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी अनेक हिंसक जंगली जानवरों से रक्षा करता है।

प्रवचनरूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से अर्थात् परमागम के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है; जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं; जो मेरू के समान निष्कम्प हैं, शूरवीर हैं, सिंह के समान निर्भीक हैं, श्रेष्ठ हैं; देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं; अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं और आकाश के समान निर्लेप हैं – ऐसे **आचार्य परमेष्ठी** होते हैं। भगवती आराधना, मूलाचार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि ग्रन्थों में आचार्य परमेष्ठी के विशेष आठ गुणों की चर्चा विशेष विस्तार के साथ की गई है।

भगवती आराधना में कहा है –

आचारवं च आधारवं, च ववहारवं पकुव्वीय।
आयावायविदंसी, तहेव उप्पीलगो चेव।। 419।।
अपरिस्साई णिव्वावओ, य णिज्जावओ पहिदकित्ती।
णिज्जवणगुणोवेदा, एरिसओ हो दि आयरिओ।। 420।।[47]

अर्थात् आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, प्रकुर्वी, अपायोपायविदर्शी, अवपीड़क, अपरिस्रावी और निर्यापक – इन गुणों के धारक आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

1. **आचारवान्** – दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य – इन पाँच प्रकार के आचारों का स्वयं निरतिचार पालन करना, दूसरों से निरतिचार पालन करवाना तथा उन्हें उसका उपदेश देना आदि। इसी प्रकार जो दश प्रकार के स्थिति-कल्प में स्थिर हैं, उन्हें **आचारवान्** गुण का धारक समझना चाहिए। तीन गुप्ति और पाँच समिति को अष्ट प्रवचन माता कहते हैं, उनका जो धारक होता है, वह **आचारवान्** कहलाता है – ऐसे **आचारवान्** गुण के धारक आचार्य होते हैं, दूसरे नहीं।
2. **आधारवान् –** श्रुत का असाधारण ज्ञान। जो चौदह पूर्व, दश पूर्व अथवा नव पूर्व का ज्ञाता है, जिसमें समुद्र-तुल्य गाम्भीर्य गुण है, जो कल्प-व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञाता है, उसमें बताए हुए

प्रयोगों का जिसने अनुसरण किया है अर्थात् अपराधी मुनियों को जिसने अनेक बार प्रायश्चित्त देकर, इस विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया है – ऐसे आधारवत्व गुण के धारक आचार्य क्षपक साधु समझाते हैं – मन-वचन-काय के विकल्परूप पापास्रव के कारणभूत दुःपरिणाम अशुभ हैं, पुण्यास्रव के कारणभूत पुण्यपरिणाम शुभ हैं तथा शुभाशुभ कर्म के संवर में कारणभूत परिणाम शुद्ध हैं; इस प्रकार निर्यापकाचार्य क्षपक को सम्बोधन करके शुभ या शुद्ध परिणामों में लगाता है; अतः वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के आधार वाला होने से **आधारवान्** होता है। ज्ञान आधार है और जो ज्ञानवाला है, वह **आधारवान्** है। तात्पर्य यह है कि आलोचक द्वारा आलोचित या आलोच्यमान समस्त अतिचारों को अवधारण करने में समर्थ ही आचार्य होते हैं।

3. **व्यवहारवान्** – जो आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीवकल्प – इन पाँच प्रकार के व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त को तात्त्विकरूप से विस्तार के साथ जानते हैं कि जिनने अनेक आचार्यों को प्रायश्चित्त देते हुए देखा है और स्वयं भी दूसरों को प्रायश्चित्त दिया है, वे आचार्य **व्यवहारवान्** कहलाते हैं। ऐसे धीर, कुशल एवं व्यवहारवान् आचार्य को शिष्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, करण, परिणाम, उत्साह, शरीरबल, प्रव्रज्याकाल, आगम और पुरुष को जान कर, राग-द्वेष का त्याग करके प्रायश्चित्त देना चाहिए।

   जो प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञाता नहीं होता, वह अपनी इच्छानुसार कुछ भी प्रायश्चित्त देता है, किन्तु उससे दूसरे के दोष की विशुद्धि नहीं होती। प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञाता होते हुए भी यदि उसने अन्य आचार्यों को प्रायश्चित्त देते हुए न देखा हो और उसका स्वयं अभ्यास न हो तो प्रायश्चित्त देते समय वह स्वयं खेद-खिन्न होता है, और संसारभीरू साधुओं को व्यर्थ ही कष्ट देता है; इसलिए प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञान, प्रायश्चित्त कर्म का देखना तथा प्रायश्चित्त देने का अभ्यास – ये तीन गुण, जिसमें होते हैं, उस आचार्य को **व्यवहारवान्** कहते हैं।

   जो वाचाल आचार्य, अनेक मूढ़ शिष्यों से घिरे रहने मात्र से गर्वित हैं और मूर्ख लोग, जिनका आदर करते हैं, उनके पास प्रायश्चित्त के लिए नहीं जाना चाहिए क्योंकि जैसे अनिपुण वैद्य व्याधि की चिकित्सा नहीं करता, वैसे ही प्रायश्चित्त को न जानने वाला आचार्य रत्नत्रय की विशुद्धि के इच्छुक को शुद्ध नहीं करता। इसलिए क्षपक साधु को भी प्रायश्चित्त के ज्ञाता आचार्य के पादमूल में ही ठहरना चाहिए क्योंकि उनके पादमूल में रहने से ज्ञान, चारित्र, समाधि और शुद्धि नियम से होती है।

4. **प्रकुर्वित्व** – क्षपक, जब वसतिका में प्रवेश करता है अथवा बाहर आता है; उस समय वसतिका, संस्तर और उपकरण के शोधन करने में; इसी प्रकार साधक के खड़े होने, बैठने, सोने, शरीर से मल दूर करने, आहार-पानी लाने आदि कार्यों में जो आचार्य, क्षपक के ऊपर अनुग्रह करते हैं अर्थात् सर्व प्रकार से क्षपक की सेवा-सुश्रुषा करते हैं, उसमें बहुत परिश्रम पड़ने पर भी वे खेद-खिन्न नहीं होते हैं – ऐसे आचार्य को **प्रकुर्वी** कहते हैं क्योंकि रोग से ग्रस्त क्षपक, आचार्य के सेवागुण से सुख प्राप्त करता है। अथवा जो सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त देकर आलोचक की विशुद्धि करता है, वह **प्रकुर्वी** कहलाता है।

5. **आयापायकथी** अथवा **अपायोपायविदर्शी** – आलोचना करने के लिए उद्यत हुए क्षपक अर्थात् समाधिमरण करने वाले साधु के गुण और दोषों को प्रकाशित करने वाले आचार्य को **आयापायकथी** कहते हैं अर्थात् जो क्षपक, किसी प्रकार की शल्य न रख कर, सरल भावों से अपने दोषों की आलोचना करता है, उसके गुण की प्रशंसा करते हैं और आलोचना न करने के दोष बतलाते हैं, इस प्रकार वे आय अर्थात् लाभ या गुण और अपाय अर्थात् हानि या दोष का कथन करने वाले हैं।

6. **अवपीड़क** अथवा **उत्पीलक** अथवा **अपव्रीडक** – आलोचना करने से गुण और न करने से दोष की प्राप्ति होती है – यह बात अच्छी तरह से समझाने पर भी, यदि कोई क्षपक तीव्र अभिमान, लज्जा या भय आदि के कारण अपने दोष कहने में उद्यत नहीं होता है; स्निग्ध, कर्ण-मधुर व हृदय में प्रवेश करने वाले सम्बोधन सुन कर भी यदि कोई क्षपक, अपने दोषों की आलोचना नहीं करता तो **अवपीड़क** गुण-धारक आचार्य, क्षपक के दोषों को जबरन बाहर निकालते हैं; जैसे, सिंह, सियाल के पेट में भी चला गया माँस वमन करवाता है। जैसे, बालक के हित की चिन्ता में तत्पर माता, चिल्लाते हुए भी बालक को पकड़ कर, उसका मुँह फाड़ कर घी पिलाती है; उसी प्रकार आचार्य भी कुटिल क्षपक के माया-

शल्यरूप दोष को निकालते हैं, लेकिन यह कड़वी औषधि की तरह उस क्षपक के लिए हितकारी होता है। अथवा आलोचक लज्जामुक्त हो निःसंकोच होकर अपने दोषों को बता सके – ऐसे मधुर वचनों से वैसा साहस उत्पन्न करने वाले आचार्य **अपव्रीडक** कहलाते हैं।

7. **अपरिस्रावी** – जो श्रमणों द्वारा आलोचित गुप्त दोषों को दूसरों पर प्रकाशित न करके, तपाये हुए लोहे के द्वारा पिये गये जल की तरह आचार्य **अपरिस्रावी** गुण के धारक होते हैं। जैसे, तपा हुआ लोहे का गोला, चारों तरफ से पानी का शोषण कर लेता है; वैसे ही जो आचार्य, क्षपक के दोषों को सुन कर, अपने अन्दर ही शोषण कर पूछने पर अथवा न पूछने पर भी उन्हें अन्य पर प्रगट नहीं करते, वे अपरिस्रावी गुण के धारक हैं। जो आलोचक के द्वारा आलोचित दोषों को दूसरों के सामने प्रगट नहीं करते हैं, वे अपरिस्रावी गुण का धारक कहलाते हैं।
8. **निर्यापक** – आलोचक बड़े से बड़े प्रायश्चित्त का भी सम्यक् प्रकार से निवर्हन कर सके – ऐसे सहयोग करने वाले आचार्य निर्यापक कहलाते हैं। जो समाधिमरण के समय श्रमणों को क्षुधादि दुःखों से घबड़ा कर, विमुख न होने देने के लिए उत्तम कथाओं के द्वारा उन दुःखों का उपशमन करने वाले साधु, **निर्यापक** कहलाते हैं। जिस प्रकार नौका चलाने में अभ्यस्त बुद्धिमान नाविक, तरंगों द्वारा अत्यन्त क्षुभित समुद्र में रत्नों से भरी नौका की डूबने से रक्षा करता है; उसी प्रकार संयम गुण से पूर्ण यह क्षपकरूपी नौका, भूख-प्यास आदि परिषहरूप तरंगों क्षुब्ध होकर तिरछी हो रही है – ऐसे समय में **निर्यापकाचार्य** मधुर हितोपदेश के द्वारा उसको धारण करते हैं अर्थात् उसका संरक्षण करते हैं।

इस प्रकार आचार्य, उक्त आठ गुणों से सहित अनेक विशिष्ट गुणों से युक्त होते हैं क्योंकि साधुओं की दीक्षा-शिक्षा देने वाले, उनके दोषों का निवारण करके सद्गुणों में प्रवृत्त कराने वाले, अनेक गुण-विशिष्ट, संघनायक साधु को ही **आचार्य** कहते हैं। वीतराग होने के कारण पंच परमेष्ठी में उनका विशिष्ट स्थान है और उनमें किंचित् देवत्व[48] भी माना गया है। ऐसे आचार्य परमेष्ठी ही साधुओं की आलोचना सुनने के योग्य माने गये हैं। व्यवहार भाष्य में ऐसे आलोचनार्ह आचार्य की अर्हता बताने वाले गुणों में गीतार्थ, कृतकरण, प्रौढ़, परिणामी, गम्भीर, चिरदीक्षित और वृद्ध का अन्तर्भाव किया है। उक्त आठ गुणों को श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी स्वीकार किया गया है।[49]

इस तरह आचारवत्त्व आदि आठ गुणों से पूर्ण आचार्य का आश्रय करने से आचार्य एवं क्षपक दोनों को भगवती आराधना की प्राप्ति होती है। यद्यपि अल्प गुणधारी भी निर्यापक सम्भव हैं क्योंकि सर्व गुणसम्पन्न निर्यापक का मिलना सामान्यतया सम्भव नहीं होता; अतः प्रवर्तक मुनि अथवा स्थविर आदि अनुभवी वृद्ध मुनि अथवा आचार्य के समीप रहने वाले अन्य भी यत्न से व्रतों में प्रवृत्ति करते हुए क्षपक का समाधिमरण साधने के लिए **निर्यापकाचार्य** हो सकते हैं क्योंकि भरत ऐरावत क्षेत्र में विचित्र प्रकार से काल का परिवर्तन हुआ करता है; इसलिए कालानुसार प्राणियों के गुणों में भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टता आती है। जिस काल में जैसे शोभन गुणों का सम्भव होता है; उस काल में वैसे गुणधारक मुनि निर्यापक व परिचारक समझ कर ग्रहण कर लेना चाहिए।

प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता आचार्य के गुण[50]

पण्डित सदासुखदासजी ने आचार्य परमेष्ठी के **व्यवहारवान गुण** के अन्तर्गत लिखा है –

- आचार्य को व्यवहार प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए क्योंकि प्रायश्चित्त शास्त्र तो जो आचार्य होने के योग्य होता है, उसी को पढ़ाया जाता है, औरों के पढ़ने योग्य नहीं है क्योंकि जो जिन आगम का ज्ञाता हो, महा धैर्यवान हो, प्रबल बुद्धि का धारक हो; वही प्रायश्चित्त दे सकता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, क्रिया-परिणाम-उत्साह, संहनन, पर्याय, दीक्षा का काल, शास्त्रज्ञान, पुरुषार्थ, आदि को अच्छी तरह जान कर, जो राग-द्वेष रहित होता है, वही प्रायश्चित्त देता है।
- जिसमें इतनी प्रवीणता हो कि यह जान सके कि प्रायश्चित्त लेने वाले को कितना प्रायश्चित्त देने से उसके परिणाम उज्ज्वल हो जाएँगे, दोष का अभाव हो जाएगा, व्रतों में दृढ़ता होगी – ऐसा ज्ञाता हो। जिसे आहार की योग्यता-अयोग्यता का ज्ञान हो, इस क्षेत्र में ऐसे प्रायश्चित्त का निर्वाह होगा या नहीं

होगा, इस क्षेत्र में वात-पित्त-कफ-शीत-उष्णता की अधिकता है या समपना है अथवा इस क्षेत्र में मिथ्यादृष्टियों की अधिकता है या मन्दता है, यह जान कर, प्रायश्चित्त का निर्वाह होता दिखाई दे तो प्रायश्चित्त देना चाहिए।

- शीत-उष्ण-वर्षा काल को, अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी का तीसरा-चौथा-पाँचवाँ काल को देख कर, काल के आधीन प्रायश्चित्त का निर्वाह होता दिखाई दे तो प्रायश्चित्त दे।
- परिणाम देखना चाहिए, यह भी देखना कि तपश्चरण में इसका तीव्र उत्साह है या मन्द है। संहनन की हीनता-अधिकता, बल की मन्दता-तीव्रता भी देखना चाहिए। यह भी देखना चाहिए कि यह बहुत काल का दीक्षित है या नवीन दीक्षित है, सहनशील है या कायर है, बाल-युवा-वृद्ध अवस्था भी देखना चाहिए; आगम का ज्ञाता है या मन्द ज्ञानी, पुरुषार्थी है या मन्द उद्यमी है, इत्यादि का ज्ञाता हो कर, प्रायश्चित्त देना चाहिए।
- दोषरूप आचरण फिर नहीं करे तथा पूर्व में किये दोष दूर हो जाएँ, उस प्रकार शास्त्र के अनुकूल प्रायश्चित्त देना चाहिए। जिसने गुरुओं के निकट प्रायश्चित्त शास्त्र से व अर्थ से पढ़ा नहीं, वही यदि दूसरों को प्रायश्चित्त देता है तो वह संसाररूप कीचड़ में डूबता है, अपयश उपार्जन करता है तथा उन्मार्ग का उपदेश दे कर, सम्यक् मार्ग का नाश करके मिथ्यादृष्टि होता है। जो इतने गुणों का धारक हो, उसे प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ा कर गुरु अपना आचार्य पद दे देते हैं।
- जो महान काल में उत्पन्न हुआ हो, व्यवहार-परमार्थ का ज्ञाता हो, किसी भी काल में अपने मूलगुणों में अतिचार नहीं लगाता हो, चारों अनुयोगरूप शास्त्र का पारगामी हो, धैर्यवान हो, कुलवान हो, परीषह जीतने में समर्थ हो, देवों द्वारा किये गये उपसर्ग से भी चलायमान नहीं हो, वक्तापने की शक्ति का धारक हो, वादी-प्रतिवादी को जीतने में समर्थ हो, विषयों से अत्यन्त विरक्त हो, बहुत समय तक गुरुसंघ में रहा हो, सर्व संघ को मान्य हो, समस्त संघ ने पहले ही जिसमें आचार्यपने की योग्यता जान ली हो, जिसने गुरुओं के दिये प्रायश्चित्त का ज्ञाता होकर, आचार्यपने की योग्यता जान ली हो, वह प्रायश्चित्त देता है। इतने गुणों बिना, जैसे – मूढ़ वैद्य, यदि देश काल प्रकृति, आदि को नहीं जानता है तो वह रोगी को मार डालता है; उसी प्रकार व्यवहार ज्ञानरहित मूढ़ गुरु भी शिष्य को संसार में डुबोने वाला ही है; इसलिए आचार्य को व्यवहारवान् होना ही चाहिए।''

इसी प्रकार आचार्य परमेष्ठी के विशेष आठ गुण, मुख्यरूप से प्रायश्चित्त के ज्ञातापने एवं उसकी विशेष योग्यता को ही अभिव्यक्त करते हैं।

प्रायश्चित्त के अज्ञाता आचार्य के दोष

सिद्धान्तसारसंग्रह में प्रायश्चित्त के अज्ञाता आचार्य के सम्बन्ध में लिखा है –

प्रायश्चित्तविधिं शुद्धमजानानो गणी पुनः।
स्वाऽत्मानं दूषयत्येव, शिष्यं च प्रतिवर्तिनम्।। 22।।[51]

अर्थात् प्रायश्चित्त की विधि और शुद्धि को न जानने वाला आचार्य, अपने को भी तथा अपना अनुसरण करने वाले शिष्य को भी दोष युक्त करता है।

इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हुए आचार्य गुरुदास कहते हैं –

प्रायश्चित्तविधिं सूरिरजानानः कलंकयेत्।
आत्मानमथ शिष्यं च, दोषजातान्न शोधयेत्।। 7।।[52]

अर्थात् प्रायश्चित्त-विधि को न जानने वाला आचार्य, प्रथम अपने को, अनन्तर शिष्य को भी कलंकित या मलिन कर देता है; इस प्रकार वह अपने को और शिष्यों को दोषों से नहीं बचा सकता। भावार्थ यह है कि प्रायश्चित्त देने की विधि भी अवश्य जानना चाहिए।

प्रायश्चित्तदान में अनेकान्त

व्यवहारभाष्य में कहा है कि समानरूप से विषयसेवन करने पर भी एक व्यक्ति प्रायश्चित्त का भागी होता है और दूसरा नहीं होता।[53] व्यवहारभाष्य के अनुशीलन में मुनि दुलहराज एवं समणी कुसुमप्रज्ञा, इसमें

अनेकान्त का दर्शन करते हुए लिखते हैं कि सापेक्षता, अनेकान्त का प्राण है और निरपेक्षता, सत्य को एकांगी बना देती है। सापेक्षता, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार व्यवहार करने का विवेक जागृत करती है। दो व्यक्ति, समान रोग से अभिभूत हैं, उनमें जो शरीर से बलवान है, उसे वमन, विरेचन आदि कर्कश क्रिया करवाई जा सकती है किन्तु जो दुर्बल हैं, उसे मृदु क्रिया द्वारा स्वास्थ्य लाभ करवाया जाता है। वैसे ही जो धृति एवं संहनन से युक्त हैं, उसे परिहार तप भी दिया जा सकता है, किन्तु जो धृति, संहनन आदि से हीन हैं, उसे सामान्य तप का प्रायश्चित्त दिया जाता है।[54] इस सन्दर्भ में भाष्यकार ने दो आचार्यों का उल्लेख किया है – सापेक्ष एवं निरपेक्ष। निरपेक्ष आचार्य परिस्थिति को समझे बिना अपराध के आधार पर प्रायश्चित्त देते हैं, उसको सहने में असमर्थ मुनि, कभी संयम से तथा कभी जीवन से हाथ धो बैठते हैं, इससे संघ छिन्न भिन्न हो जाता है। निरपेक्ष आचार्य के पास कोई रहना नहीं चाहता, अतः तीर्थ का विच्छेद हो जाता है।[55] किन्तु सापेक्ष आचार्य जानते हैं कि केवल अपराध, प्रायश्चित्त की तुला नहीं हो सकता, प्रायश्चित्त उतना ही दिया जाना चाहिए, जितना प्रतिसेवक वहन कर सके। अतः वे दोषों के अनवस्था प्रसंग के निवारण में कुशल होते हैं, वे चारित्र की रक्षा एवं तीर्थ अव्युच्छित्ति में निमित्तभूत बनते हैं, वे करुणा और अनुग्रह की भावना से भावित होते हैं, वे देखते हैं कि प्रतिसेवी, दीर्घ तपस्यामय प्रायश्चित्त को वहन करने में समर्थ नहीं है तो उसके समक्ष नानाविध विकल्प प्रस्तुत करते हैं, और सामर्थ्य के अनुसार तपोवहन की यथार्थता बताते हैं।[56]

आलोचना प्रायश्चित्त का व्यवहार पक्ष

आलोचना के बिना महान भी तप, संवर के साथ होने वाली निर्जरा को नहीं करता और आलोचना करने पर भी गुरु जो प्रायश्चित्त बतावें, उसे न करने वाला दोषों से मुक्त नहीं होता; इसलिए सर्वदा आलोचना करना चाहिए और गुरु जो प्रायश्चित्त कहें, वह भी अवश्य करना चाहिए। कहा भी है –

सामौषधवन्महदपि न तपोऽनालोचनं गुणाय भवेत्।
मन्त्रवदालोचनमपि कृत्वा नो विजयते विधिमकुर्वन्।।[57]

आलोचना प्रायश्चित्त का महत्त्व एवं सावधानी

अनगार धर्मामृत की स्वरचित 'ज्ञानदीपिका' नामक संस्कृत पंजिका में स्वयं पण्डित आशाधरजी उक्त श्लोक के बाद लिखते हैं –

यः पिबत्यौषधं मोहात्, सामे तीव्ररुजि ज्वरे।
प्रसुप्तं कृष्णसर्पंसः, कराग्रेण परामृशेत्।। 46।।[58]

अर्थात् जैसे, बिना विचारे साम-दोष से युक्त तीव्र ज्वर में दी गई महान औषधि, आरोग्यकारक नहीं होती; उसी प्रकार **आलोचना** के बिना एक पक्ष का उपवास आदि महान तप भी उपकार के लिए अर्थात् संवर के साथ होने वाली निर्जरा के लिए नहीं होता।

इसी प्रकार जैसे राजा, मन्त्रियों से परामर्श करके भी उनके द्वारा दिये गये परामर्श को कार्यान्वित न करने पर विजयी नहीं होता; उसी प्रकार **आलोचना** करके भी विहित आचरण को न करने वाला साधु दोषों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता।

जिसका चित्त सद्गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त में रमता है, उसको अतिशय चमक प्राप्त होती है। सद्गुरु के द्वारा दोष के अनुरूप और आगम के अनुसार दिये गये प्रायश्चित्त को अपने में धारण करने वाला तपस्वी, वैसे ही अत्यन्त चमकता है; जैसे, निर्मल दर्पण में मुख चमकता है।[59]

आलोचक की भावना

सामायिक पाठ (संस्कृत-हिन्दी) में आलोचक की भावना को प्रगट करते हुए कहा है –

विनिन्दनाऽऽलोचन-गर्हणैरहं, मनो-वचः-काय-कषाय-निर्मितम्।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं,भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम्।।7।। [60]

चतुर वैद्य विष-विक्षत करता, त्यों प्रभु मैं भी आदि-उपान्त।
अपनी निन्दा-आलोचन से, करता हूँ पापों को शान्त।। 7।। [61]

अर्थात् जैसे वैद्य, मन्त्र के गुणों से समस्त विष को नष्ट कर देता है; वैसे ही मैं अपनी निन्दा, आलोचना, और गर्हा के द्वारा मन-वचन-काय और कषाय से किये गये अपने पापों को, जो सांसारिक दुःखों के कारण हैं, उनको नष्ट करता हूँ।

आलोचना करने योग्य आलोच्य कर्म या आलोचनीय विषय

मुनि को विक्षेप रहित चित्त से जो कुछ भी मन के द्वारा कृत अनाभोग कर्म हैं, उन सबकी **आलोचना** करना चाहिए। सभी जनों के द्वारा जाने गए व्रतों के अतिचार आभोग हैं और जो अतिचार पर के द्वारा अज्ञात हैं, वे अनाभोग हैं। इन सभी अनाभोगकृत कर्म, आभोगकृत कर्म, और मन-वचन-काय से किये गये दोषों की साधु अनाकुल चित्त हो कर, **आलोचना** करे।[62]

आलोचना की शुद्धि[63]

भगवती आराधना में क्षपक साधक को ध्यान में रख कर, **आलोचना-शुद्धि** हेतु कहा है –

कषाय और इन्द्रियों को नष्ट करके, ऋद्धि आदि गारव को नष्ट करके, पश्चात् राग और द्वेष का मर्दन करके **आलोचना** की शुद्धि करो। राग और द्वेष, झूठ बोलने में कारण होते हैं; इसलिए उन्हें छोड़ने योग्य कहा है। रागवश मनुष्य दोषों को नहीं देखता और द्वेषवश गुणों को ग्रहण नहीं करता; इसलिए राग-द्वेष को दूर करके कार्य करना चाहिए।

'मेरे रत्नत्रय निरतिचार है, अतः गुरु से क्या निवेदन करूँ' – ऐसा मानना भी योग्य नहीं है। सभी अपरिग्रही अनन्त जिनों, केवलियों एवं तीर्थंकरों की यह आज्ञा है कि छद्मस्थ को गुरु से अपने अपराध निवेदन करके, वे जो प्रायश्चित्त कहें, उसे करके शुद्धि करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में निम्न शंका-समाधान ध्यान देने योग्य है –

शंका – जो मुनि, अतिचार से उत्पन्न मल को दूर करने का क्रम नहीं जानता, उसका दूसरे आचार्यादि से कहना उचित है किन्तु जो स्वयं जानता है, वह दूसरे से क्यों कहता है? और क्यों उसके कहे अनुसार आचरण करता है?

समाधान – इसका समाधान, आचार्य मूल गाथा में इस प्रकार देते हैं –

जह सुकुसलो वि वेज्जो, अण्णस्स कहेदि आदुरो रोगं।
वेज्जस्स तस्स सोच्चा, सो वि य पडिकम्ममारभइ।। 530।।

अर्थात् जैसे, अत्यन्त निपुण भी वैद्य, स्वयं रोगी होने पर अपना रोग, दूसरे वैद्य से कहता है और उस वैद्य की चिकित्सा सुन कर, वह रोगी वैद्य, उस दूसरे वैद्य का कहा इलाज प्रारम्भ करता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रायश्चित्त विधि को जानते हुए भी मुनि को अपनी उत्कृष्ट विशुद्धि के लिए पर की साक्षीपूर्वक शुद्धि करना चाहिए क्योंकि अपनी और दूसरे की साक्षीपूर्वक विशुद्धि उत्कृष्ट मानी जाती है।

विवेकी साधु, यह भी विचार करते हैं कि प्रायश्चित्त करने से ही दूसरे यह मानते हैं कि इसने अतिचारों की शुद्धि कर ली है, इसका रत्नत्रय निरतिचार है। यही कारण है कि दूसरे भी भव्यजीव उसके पास इस विचार से आते हैं कि हमें भी इनके उपदेशानुसार प्रवृत्ति करना चाहिए।

सत्य ही है कि यदि साधु, दोषों की विशुद्धि न करे तो उसके गुणों के अतिशय को न जानने से भव्यजीव, उसके अनुयायी नहीं बनते और तब साधु, दूसरों का उपकार कैसे कर सकता है? क्योंकि साधुओं से अपने हित के साथ दूसरों के भी हित का ध्यान रखने की अपेक्षा की जाती है।

वह विवेकी साधु, यह भी विचार करता है कि मेरी शुद्धि को देख कर, दूसरे भी ऐसा ही करेंगे, इसलिए साधु, पर की साक्षीपूर्वक शुद्धि करता है। ऐसा न करने से सब केवल अपनी ही साक्षीपूर्वक शुद्धि करने लगेंगे और ऐसा करने पर वे शुद्ध नहीं हो सकेंगे तथा **'गतानुगतिको हि प्रायेण लोकः'** – इस उक्ति के अनुसार लोग तो प्रायः देखा-देखी करने वाले होते हैं।

यहाँ मोक्षमार्ग में पर की साक्षीपूर्वक की गई प्रायश्चित्त-शुद्धि ही प्रधान मानी गई है। भगवती आराधना में कहा है –

तम्हा पव्वज्जादी, दंसणणाणचरणादिचारो जो।
तं सव्वं आलोचेहि, णिरवसेसं पणिहिदप्प।। 532।।

अर्थात् दीक्षा आदि और दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि में जो अतिचार लगते हैं, उन सभी को निरवशेषरूप से सावधान होकर कहना चाहिए।

इसी प्रकार मन-वचन-काय की प्रवृत्ति करते हुए यदि उनके दुष्प्रयोग से जो कुछ अतिचार लगे हों, उनकी पूरी तरह **आलोचना** करना चाहिए।

आलोचना करने में इतनी दक्षता आवश्यक मानी गई है कि किस दिन, किस काल में, किस देश में, किस भाव से, किसके साथ, किस प्रकार, कौनसा दोष लगा है; उन सभी को कहना चाहिए। वास्तव में देशभेद, कालभेद, परिणामभेद, और निमित्तभेद से दोषों में गुरुपना और लघुपना होता है तथा दोषों की गुरुता और लघुता के अनुसार ही आचार्य **गुरु या लघु प्रायश्चित्त** देते हैं।

आलोचना का हेतु

मूलाचार में कहा है कि **आलोचेदह्मि आराधना, अणालोचणे भज्जा**[64] अर्थात् गुरु के सामने चारित्राचारपूर्वक दोषों की **आलोचना** कर देने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धिरूप आराधना सिद्ध होती है तथा दोषों को प्रगट न करने पर पुनः वह आराधना वैकल्पिक हो जाती है अर्थात् हो भी और नहीं भी; इसलिए **आलोचना** अवश्य करना चाहिए।

आलोचना प्रायश्चित्त से लाभ[65]

आलोचना की उक्त सुदीर्घ विधि से ही क्षपक साधक अथवा सामान्य साधक, अपनी यथार्थ साधना कर सकता है, अन्यथा उसकी आत्मा में तीन प्रकार की शल्य बनी रहती हैं, उन शल्यों की विद्यमानता में आत्मा को यथार्थ शुद्धता प्राप्त नहीं होती। **आलोचना** के द्वारा हृदय में निर्मलता का संचार होता है और अन्तर-जीवन निर्दोष बनता है।

जैसे, काँटे से विधा हुआ व्यक्ति, सर्व शरीर में पीड़ा से पीड़ित होता है और उस पीड़ा के निकल जाने पर वह दुःखी मनुष्य, शल्य से रहित हो कर, सुखी होता है; उसी प्रकार जो पुरुष, काँटे की तरह अपने दोष को नहीं निकालता; वह मायावी, अपने अपराध को नहीं कहने रूप दोष से दुःखी रहता है लेकिन जैसे ही वह दोष प्रगट करने के मार्ग पर निकल जाता है, वह व्यक्ति विशुद्ध होने से निर्भार हो कर, मोक्षमार्ग में तीव्र गति से प्रयाण करने लगता है।

अतिचार लगने पर आलोचना करने में शीघ्रता आवश्यक

अपराध होने पर उसे तत्काल कहना चाहिए, देर नहीं करना चाहिए। भगवती आराधना में व्यंग्य करते हुए मूल गाथा में लिखा है –

कल्ले परे व परदो, काहं दंसणणाणचरित्तसोधित्ति।
इय संकप्पमदीया, गयं पि कालं ण याणंति।। 543।।[66]

अर्थात् कल या परसों मैं दर्शन, ज्ञान, और चारित्र की शुद्धि करूँगा – ऐसा संकल्प करने वाले बीतते हुए काल को नहीं जानते। इसी कारण उनका मरण, शल्य सहित होता है।

यही कारण है कि मूलाचार में कहा है कि **आलोचना** करने में कालक्षेप नहीं करना चाहिए। वहाँ आचार्य लिखते हैं –

उप्पण्णा उप्पण्णा, माया अणुपुव्वसो णिहंतव्वा।
आलोचणणिंदणगरहणाहिं ण पुणो तिअं विदिअं।। 624।।[67]

अर्थात् जैसे ही मायाशल्य उत्पन्न हो, उसे उत्पन्न होते ही अनुक्रम से नष्ट कर देना चाहिए। **आलोचना**, निन्दा, और गर्हा करने में पुनः तीसरा या दूसरा दिन नहीं करना चाहिए क्योंकि व्याधि, शत्रु और कर्म की यदि उपेक्षा की जाए तो उनकी जड़ें जम जाती हैं और फिर सुखपूर्वक उनका विनाश नहीं होता।

अथवा जिस-जिस प्रकार से माया अर्थात् व्रतों में अतिचार हुए हैं, अनुक्रम से उनको दूर करना चाहिए। जिस काल में, जिस क्षेत्र में, जिस द्रव्य का, आश्रय लेकर और जिस भाव से व्रतों में अतिचार उत्पन्न हुए हैं, मायाचारी को छोड़ कर, उसी अनुक्रम से उनका परिशोधन करना चाहिए। गुरु के सामने दोषों का निवेदन करना, **आलोचना** है; वचनों से अपनी जुगुप्सा करना, और दूसरों के सामने दोषों को प्रगट करना, निन्दा है तथा मन से अपनी जुगुप्सा-तिरस्कार करना और शासन की विराधना का भय रखना, गर्हा है। इन **आलोचना**, निन्दा, और गर्हा को करने में 'मैं दूसरे दिन **आलोचना** करूँगा अथवा तीसरे दिन कर लूँगा' इस तरह नहीं सोचना चाहिए क्योंकि बीतता हुआ काल जानने में नहीं आता – ऐसा अभिप्राय है; इसलिए शीघ्र ही **आलोचना** कर लेनी चाहिए।[68]

अथवा अपराध की उपेक्षा करने वाले साधु दोष लगने के काल को बहुत दिन बीत जाने पर भूल जाते हैं। अरे! जो अतिचार प्रतिदिन लगते हैं, उनके काल के सम्बन्ध में भी, वह सन्ध्या में अतिचार लगा था या रात में या दिन में; इत्यादि भी भूल जाते हैं। तथा बाद में **आलोचना** करते समय गुरु के पूछने पर भी नहीं कह पाते क्योंकि बहुत काल बीतने से भूल जाते हैं। इसी प्रकार अतिचार के हेतु, क्षेत्र, और भाव को भी भूल जाते हैं, अतः अतिचार लगने पर उन्हें तत्काल ही कहना चाहिए।[69]

आलोचनासहित-शल्यरहित और आलोचनारहित-शल्यसहित मरण में गुण-दोष

राग और द्वेष से पीड़ित जो मूढ़ मुनि, शल्य सहित मरते हैं; वे दुःखरूपी शल्यों से भरे संसाररूपी वन में भटकते हैं। शल्य की तरह दुर्द्धर होने से दुःखों को भी शल्य कहते हैं। जो मुनि, दीक्षा लेने के दिन से ले कर, तीन प्रकार की सब भावशल्यों को निकाल कर, मरण करते हैं; वे मरते समय दर्शन आदि के आराधक होते हैं।

आचार्यदेव, क्षपक मुनिराज को सम्बोधन करते हुए कहते हैं – हे धीर! निरतिचार रत्नत्रय का पालन करने वाले संयमियों के महान लाभ को जानते हुए, तुम दर्शन और चारित्र की शुद्धि करके, शल्य रहित होकर, मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करो। दर्शन और चारित्र की शुद्धि, ज्ञान और दर्शन की शुद्धि के बिना नहीं होती। इसलिए दर्शन और चारित्र की शुद्धि से दर्शन-ज्ञान-चारित्र, तीनों की शुद्धि कही है।

चूंकि शल्य सहित मरण में दोष है और निःशल्य मरण में, दुःख के कारण कर्मों का अभाव होने से समस्त दुःखों से छुटकारा होता है। इसलिए दुःख से निवृत्ति के लिए दीक्षा के दिन से ले कर, आज तक जो अतिचार लगे हैं, वे सब बिना भूल किये धीरे-धीरे, बिना किसी भय और मोह के सम्यक्रूप से प्रगट करो।

जैसे, बालक बोलते समय कुछ छिपाता नहीं है, जो किया हो या न किया हो, सब कुछ सरल भाव से कहता है; वैसे ही बालक के समान साधु को भी मनोगत कुटिलता और वचनगत झूठ को त्याग कर, अपना अपराध कहना चाहिए।

जब इस प्रकार गुरु से शिक्षित हुआ क्षपक श्रमण, समाधिमरण का निश्चय करता है; तब उसके सब अंगों में हर्ष की लहर दौड़ पड़ती है और प्रीति से उसका सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो जाता है।''[70]

क्षपक श्रमण के द्वारा करने योग्य आलोचना प्रायश्चित्त में कायोत्सर्ग की विधि

क्षपक श्रमण, पूर्व उत्तर या जिनबिम्ब की ओर मुख करके, जन रहित एकान्त प्रदेश में जहाँ किसी बाधा की सम्भावना नहीं हो – ऐसे जन रहित एकान्त स्थान में **आलोचना** के निमित्त कायोत्सर्ग करता है क्योंकि कायोत्सर्ग से खड़े होने पर गुरु से कहने के लिए दोषों का स्मरण होता है; अतः कायोत्सर्ग, **आलोचना** का निमित्त है। बहुत से लोगों के मध्य में चित्त एकाग्र नहीं होता तथा रास्ते में खड़े होकर कायोत्सर्ग करने से दूसरों के कार्य में बाधा आती है – ऐसा मान कर, कायोत्सर्ग का स्थान एकान्त और मार्ग रहित कहा है।

कायोत्सर्ग करने वाला 'मैं शरीर का त्याग करता हूँ' इस प्रकार वचन से त्याग करके 'यह शरीर मेरा नहीं है' इस प्रकार मन से त्याग करता है; अतः वचन और मन के भेद से त्याग के दो भेद हैं। इस प्रकार शरीर से ममत्व को त्याग कर, निर्ममत्व को प्राप्त होता है और निर्ममत्व को प्राप्त होने से बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से रहित होता है। परिग्रह रहित होने से ही निःशल्य हो कर, एकत्व भावना को प्राप्त होता है।

एकत्व भावना को प्राप्त करके वह साधक विचार करता है कि मैं एक असहाय एवं नित्य हूँ, यह शरीर मुझसे भिन्न है, दुःख का कारण होने से मेरा उपकारी नहीं है, मैं तो निरतिचार रत्नत्रयस्वरूप ही हूँ; अतः देह के नाश से मेरा कुछ भी नष्ट नहीं होता, मैं तो शुद्ध चिद्रूप हूँ; इस प्रकार वह एकत्व भावनामय होता है।

साधक, एकत्व भावनामय हो कर, प्रायश्चित्त का आचरण करने से खिन्न नहीं होता। कर्म के उदय के निमित्त से होने वाली माया को छोड़ने में तत्पर होता है। 'मैं शुद्धस्वरूप हूँ, मेरी यह माया अशुद्धि है' – ऐसा वह मानता है। 'मैं आचार्य के पादमूल में अपने दोषों को जड़मूल से दूर करूँगा' – ऐसी भावना से वह अपने द्वारा किये गये सब दोषों को स्मरण करता है।''[71]

आलोचना में भावशुद्धि के साथ, क्षेत्र-शुद्धि और काल-शुद्धि का महत्त्व

भगवती आराधना में भाव के साथ-साथ **आलोचना** के देश-काल का विधान करते हुए कहा है –

इय उजुभावमुवगदो, सव्वे दोसे सरित्तु तिक्खुत्तो।
लेस्साहिं विसुज्झंतो, उवेदि सल्लं समुद्धरिदुं।। 555।।
आलोयणादिआ पुण, होदि पसत्थे वि शुद्धभावस्स।
पुव्वण्हे अवरण्हे व, सोमतिहिरिक्खवेलाए।। 556।।[72]

अर्थात् इस प्रकार सरल भाव को प्राप्त हुआ क्षपक, सम्पूर्ण दोषों को तीन बार स्मरण करके लेश्याओं से विशुद्ध होता हुआ, शल्यों को दूर करने के लिए आचार्य के पास जाता है।

विशुद्ध परिणाम वाले क्षपक की **आलोचना** आदि, प्रशस्त क्षेत्र में दिन के पूर्व भाग या उत्तर भाग में शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, और शुभ समय में होती है।

तात्पर्य यह है कि **आलोचना** के लिए परिणामों की विशुद्धि के साथ क्षेत्रशुद्धि और कालशुद्धि भी आवश्यक है। इस प्रकार तीनों प्रकार की शुद्धि का योग बन जाता है।

इसी प्रकार अनगार धर्मामृत में भी लिखा है कि पूर्वाह्न या अपराह्न के समय प्रशस्त स्थान में धर्माचार्य के आगे बालक की तरह सरलता से तीन बार स्मरण करके अपना समस्त अपराध या पाप, साधु को कहना चाहिए। इसी प्रकार भावशुद्धि के सन्दर्भ में मूलाचार में कहा है –

जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणदि।
तह आलोचेदव्वं, माया मोसं च मुत्तूण।। 56।।[73]

अर्थात् जैसे बालक, अच्छी और बुरी सब बातें सरल भाव से कहता है; उसी तरह साधु को माया और झूठ को छोड़ कर, आलोचना करना चाहिए। इससे उसकी विशुद्धि होती है।

भगवती आराधना की टीका में देश-काल सम्बन्धी संक्षिप्त टिप्पणी के द्वारा **आलोचना** के सम्बन्ध में निम्न निर्देश किया गया है –

देश से अथवा स्थानक से बाहर जाने के जितने मार्ग हैं, शत्रु के द्वारा उन सबके बन्द कर देने पर साधु निकल नहीं पाता; उस समय परवश हो कर, साधु को भिक्षाचर्या करने में जो संक्लेश हुआ हो, अथवा अपने द्वारा अयोग्य पदार्थ का सेवन हुआ हो, उसे भी वह गुरु से कहता है। रात में यह अतिचार हुआ, दिन में यह अतिचार हुआ – यह भी कहता है। अथवा संघ में भारी रोग का उपद्रव होने पर, विद्या या मन्त्र के द्वारा उसे रोकने में यह अतिचार लगा, यह भी कहता है। महान दुर्भिक्ष पड़ने पर अवमौदर्य तप को भंग करके स्वयं ने जो सेवन किया हो, अथवा दूसरे साधुओं को अमुक प्रकार से अयोग्य भिक्षा के ग्रहण करने में प्रवृत्त किया हो, उसे भी कहता है।[74]

आलोचना के अयोग्य क्षेत्र

भगवती आराधना में क्षपक साधु की निर्विघ्न समाधि के लिए **आलोचना करने के अयोग्य स्थानों** के सन्दर्भ में कहा है –

जहाँ वृक्ष, पत्र रहित हों, कण्टक भरे हों, वज्रपात हुआ हो, सूखे वृक्ष हों, कटुक रस वाले हों, दावानल से जल गये हों तथा शून्य घर, रुद्रदेव का मन्दिर, पत्थरों और ईंटों का ढेर हो; तृण, पत्र, और

काष्ठ से भरा स्थान, स्मशान, जहाँ टूटे पात्र और खण्डहर हो, चामुण्डा आदि रौद्र देवताओं का स्थान हो, नीचजनों का स्थान हो; इसी प्रकार अन्य भी जो अप्रशस्त स्थान हों; वहाँ आचार्य उस क्षपक की निर्विघ्नता के लिए **आलोचना** नहीं कराते क्योंकि इन स्थानों में **आलोचना** करने पर प्रारब्ध कार्य की सिद्धि नहीं होती – ऐसा वे मानते हैं।[75]

आलोचना के योग्य क्षेत्र

इसी प्रकार भगवती आराधना में ही **आलोचना के योग्य स्थानों** के बारे में कहा गया है –

जहाँ अरहन्त आदि सिद्ध पुरुषों का आवास हो अथवा अरहन्त, सिद्ध आदि की प्रतिमाएँ विराजित हों; जो स्थान, सागर आदि के समीप हो; जहाँ क्षीर-पुष्प-फलों से युक्त वृक्ष हों; उद्यान अथवा उद्यान में स्थित भवन हो; तोरण, प्रासाद, नागों, और यक्षों के स्थान हों; अन्य भी जो सुन्दर स्थान हों; वहाँ आचार्य, क्षपक साधु की निर्विघ्न समाधि के लिए **आलोचना** स्वीकार करते हैं।[76]

आलोचना सुनने वाले आचार्य के गुण

जो ज्ञान, दर्शन, तप, और चारित्र – इन चारों में अविचल है, धीर है, आगम में निपुण है, और रहस्य अर्थात् गुप्त दोषों को प्रगट नहीं करने वाले हैं; वे **आचार्य, आलोचना सुनने के योग्य** हैं अर्थात् इन गुणों से युक्त आचार्य के सामने **आलोचना** करना चाहिए।[77]

जो आचार्य, प्रायश्चित्त तथा सिद्धान्तशास्त्रों के जानकार हैं और पंचाचार पालने में लीन हैं, उनके समीप **आलोचना** करनी चाहिए।[78]

जिन्होंने शास्त्र के रहस्य को जान लिया है, जिनकी मनोवृत्ति अत्यन्त शान्त है, जो अपरिस्रावी है अर्थात् जो शिष्य के दोष को प्रगट नहीं करते हैं। जिस प्रकार सन्तप्त तवे पर पड़ी पानी की बूँद वहीं सूख जाती है; उसी प्रकार शिष्य का दोष सुन कर, जो अपने ही हृदय में रखते हैं तथा प्रशस्त एकान्त में स्थित हैं, उनके सामने आलोचना करनी चाहिए।[79]

आलोचना सुनने वाले आचार्य के बैठने की दिशा व एकान्त का विधान

इसी प्रसंग में आचार्य शिवार्य, भगवती आराधना में लिखते हैं –

पाचीणोदीचिमुहो, आयदणमुहो व सुहणिसण्णो हु।
आलोयणं पडिच्छदि, एक्को एक्कस्स विहरम्मि।। 562।।

अर्थात् आचार्य, पूर्व की ओर अथवा उत्तर की ओर अथवा जिनमन्दिर या जिनायतन की ओर मुख करके सुखपूर्वक बैठ कर, एकान्त स्थान में अकेले ही एक ही क्षपक की आलोचना सुनते हैं।

इसी गाथा की विजयोदया टीका में, आचार्य अपराजित सूरि, शुभ दिशाओं आदि का विस्तृत कथन, शंका-समाधान के माध्यम से करते हैं –

शंका – पूर्व दिशा, अन्धकार को दूर करने में तत्पर सूर्य के उदय की दिशा है, इसलिए अपने उदय का इच्छुक व्यक्ति, उसी की तरह हमारे कार्य का अभ्युदय हो, इसलिए पूर्व की ओर मुख करता है परन्तु यहाँ आचार्य, किस अभिप्राय से पूर्व की ओर मुख करके बैठते हैं?

समाधान – यहाँ शुभ तिथि, वार आदि की तरह पूर्व की ओर मुख करना, प्रारम्भ किये गये क्षपक पर अनुग्रह करने के उद्देश्य से कार्य-सिद्धि का अंग है, इसलिए आचार्य पूर्वाभिमुख होकर बैठते हैं।

तथा विदेह क्षेत्र, उत्तर दिशा में है; अतः विदेह क्षेत्र में स्थित स्वयंप्रभ आदि तीर्थंकरों को चित्त में स्थापित करके, उनके अभिमुख हो कर, कार्य-सिद्धि की भावना से उत्तर दिशा की ओर मुख करते हैं।

इसी प्रकार जिनायतन के अभिमुख होना भी शुभ परिणामरूप होने से कार्य-सिद्धि का अंग है।

तथा व्याकुलता रहित हो बैठ कर सुनना, **आलोचना** करने वाले का सन्मान है क्योंकि जिस किसी प्रकार से सुनने पर क्षपक समझेगा कि गुरु का मेरे प्रति आदर भाव नहीं है, इससे उसे उत्साह नहीं होगा।

आचार्य को क्षपक की **आलोचना**, अकेले ही सुनना चाहिए क्योंकि लज्जालु क्षपक, बहुत जनों के बीच अपना दोष प्रगट करना पसन्द नहीं करता। सबके सामने कहते हुए उसके चित्त को खेद भी होता है।

आचार्य को एक समय में एक की ही **आलोचना** सुनना चाहिए क्योंकि एक साथ अनेक क्षपकों के वचनों को अवधारण करना कठिन होता है। लोग कहेंगे कि गुरु इसके दोषों का निग्रह करना नहीं चाहते; अतः अन्य सुनने वाले हों तो आचार्य को **आलोचना** नहीं सुनना चाहिए।[80]

आलोचना प्रायश्चित्त की विधि

राजवार्तिक, मूलाचार, भगवती आराधना में कहा है कि अपने मन में दोषों को अधिक समय तक न रख कर, निष्कपट भावों से बालक के समान सरल हृदय से दोषों को निवेदन करना चाहिए।[81] जैसे, बालक सरल भाव से बोलता हुआ कार्य और अकार्य सभी को कह देता है; उसी प्रकार से मायाभाव और असत्य को छोड़ कर, **आलोचना** करना चाहिए।[82] भय, माया, कपट, असत्य भाषण, गर्व, और लज्जा; इनका भी त्याग कर, शास्त्रोक्त विधि से **आलोचना** करनी चाहिए।[83]

भगवती आराधना, 608

भगवती आराधना की एक गाथा में **आलोचना** लेने वाले क्षपक-श्रमण की **आलोचना** विधि का क्रम इस प्रकार बताया गया है –

काऊण य किदिकम्मं, पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो।
आलाचेदि सुविहिदो, सव्वे दोसे पमोत्तूण।। 563।।[84]

अर्थात् सुविहित सुचारित्र-सम्पन्न क्षपक, दक्षिण पार्श्व में पीछी के साथ हाथों की अंजलि को मस्तक से लगा कर, मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक प्रथम गुरु की वन्दना करके सब दोषों को त्याग कर, आलोचना करता है।

इस समय गुरु की वन्दना, सिद्धभक्ति, और योगभक्तिपूर्वक की जाती है अथवा सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, और शान्तिभक्तिपूर्वक **आलोचना** की जाती है।

इसी प्रकार मूलाचार में **आलोचना** की विधि बताते हुए लिखा है –

काऊण य किदिकम्मं, पडिलेहिय अंजलीकरणसुद्धो।
आलोचिज्ज सुविहिदो, गारव माणं च मोत्तूण।। 620।।

अर्थात् **आलोचना** करने वाले साधु को कृतिकर्म करके, पिच्छी से परिमार्जन कर, अंजली जोड़ कर, शुद्ध होकर, गौरव और मान को छोड़ कर, समाधान चित्त से **आलोचना** करना चाहिए।

और देखें, भगवती आराधना, 563

यहाँ कृतिकर्म अर्थात् विनयपूर्वक सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, आदि करके, अपने शरीर के पूर्व-अपर भाग को और अपने बैठने के स्थान को चक्षु से देख कर, तथा पिच्छी से परिमार्जित करके अथवा चारित्र के अतिचारों को सम्यक् प्रकार से निरूपण करके अंजलि जोड़े अर्थात् ललाट पट्ट पर अंजलि जोड़ कर रखे, पुनः ऋद्धि गौरव, रस गौरव, और जाति आदि मद को छोड़ कर, स्वच्छवृत्ति होता हुआ गुरु के पास अपने व्रतों के अतिचारों को निवेदित करे; इसी का नाम **आलोचना** है।

भगवती आराधना में कहा है –

णट्ठचलवलियगिहिभासमूगदद्दुरसरं च मोत्तूण।
आलोचेदि विणीदो, सम्मं गुरुणोअहिमुहत्थो।। 609।।

अर्थात् **आलोचना** करने वाला – हाथ का नचाना, भौं मटकाना, शरीर को मोड़ना, गृहस्थ की तरह बोलना, गूँगे की तरह संकेत करना और घर्घर स्वर को त्याग कर; दोनों हाथों की अंजली बना कर, सिर नवा कर, गुरु के सामने, उनकी बायीं ओर, एक हाथ दूर, गवासन से बैठ कर, न अति जल्दी में और न अति रुक-रुक कर, **आलोचना** करता है।

''संयमी पुरुष तो एक गुरु और एक शिष्य – दो ही एकान्त में **आलोचना** करते हैं। आर्यिकादि प्रगट खुली जगह में एक गुरु, एक गणिनी आर्यिका और एक वह, जिसे दोष लगा हो – ऐसे तीन होते हैं। जो लज्जा से, तिरस्कार के भय से, प्रायश्चित्त के भय से या अभिमान से दोष को शुद्ध नहीं करता है, वह आय-व्यय के ज्ञान रहित व्यापारी के समान कर्मरूप कर्जदार हो कर, भ्रष्ट हो जाता है।

आलोचना के बिना महान तप धारण करने से भी वांछित फल नहीं मिलता है। **आलोचना** करके भी यदि गुरु के द्वारा दिया प्रायश्चित्त नहीं लेता है तो वैद्य की बताई दवाई को नहीं खाने वाले रोगी के समान शुद्ध नहीं होता है व जैसे, हल आदि से नहीं सुधारे गये खेत में अनाज बोने से अधिक उपज नहीं होती है अथवा जैसे, बिना साफ किये दर्पण में स्वच्छ रूप दिखाई नहीं देता है; उसी तरह चित्त की शुद्धता के बिना आत्मा में चारित्र की उज्ज्वलता नहीं दिखाई देती है।''[85]

इस सम्बन्ध में सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी विशेष स्पष्टीकरण करते हैं –

दोनों हाथ मस्तक से लगा कर, कृतिकर्म को करके, शुद्ध चित्त होकर, सुविहित साधु, समस्त दोषों को त्याग कर, एकान्त में **आलोचना** करता है। एकान्त के सम्बन्ध में इतना विशेष है कि पुरुष तो अपनी **आलोचना** एकान्त में करता है, उसमें गुरु और आलोचक दो ही रहते हैं; किन्तु स्त्री को प्रकाश में **आलोचना** करना चाहिए तथा गुरु और आलोचक स्त्री के सिवाय तीसरा व्यक्ति भी होना ही चाहिए।[86]

साधु -साध्वी की आलोचना विधि के विषय में वृहद्कल्पभाष्य में कहा है –

साधु, एकान्त निर्जन स्थान में पूर्व या उत्तर दिशाभिमुख आचार्य की निषद्या की स्थापना कर, स्वयं भी पूर्व या उत्तर दिशाभिमुख होकर, गुरु को वन्दन कर, उत्कुटुक आसन में बैठ बद्धांजली होकर आलोचना करता है। आलोचक साधु, यदि रुग्ण हो अथवा आलोच्य विषय प्रलम्ब हो तो आचार्य की अनुज्ञा लेकर आलोचना करता है – यह साधु की आलोचना विधि है। जबकि साध्वी, आचार्य के समक्ष निर्जन स्थान में नहीं, बल्कि जहाँ लोग दिखाई देते हों – ऐसे स्थान में खड़ी खड़ी आलोचना करती है। अन्य प्रकार से चतुष्कर्णा, षट्कर्णा, अष्टकर्णा आदि परिषद् होती हैं –

चतुष्कर्णा परिषद् – इस परिषद् में एकान्त और अचानक आवागमन रहित अनापात स्थान में गौरव से रहित होकर अकेला साधु, गुरु के समक्ष अथवा अकेली साध्वी, प्रवर्तिनी के समक्ष आलोचना करते हैं। इसमें आचार्य अथवा प्रवर्तिनी के दो कान और साधु अथवा साध्वी के दो कान होते हैं; इस कारण इसे चतुष्कर्णा परिषद् कहते हैं।

षट्कर्णा परिषद् – इस परिषद् में एकान्त परन्तु जहाँ बहुत लोग दिखाई दें – ऐसे स्थान में एक साध्वी, दूसरी साध्वी के साथ स्थविर साधु के समक्ष आलोचना करती है। इसमें स्थविर के दो कान और दो साध्वियों के दो दो कान होते हैं; इस प्रकार कुल मिला कर षट्कर्णा परिषद् होती है। इस परिषद् में जो अन्य साध्वी होती है, उसे ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न, उचित और अनुचित का विवेकी, उपशम गुणवान्, ज्ञानवान् और वृद्ध होना चाहिए।

अष्टकर्णा परिषद् – इस परिषद् में एकान्त परन्तु जहाँ बहुत लोग दिखाई दें – ऐसे स्थान में एक साध्वी, दूसरी साध्वी के साथ दूसरे साधु से युक्त तरुण गुरु के समक्ष चपलता रहित होकर आलोचना करती है। इसमें दो साधुओं के दो दो कान और दो साध्वियों के दो दो कान होते हैं; इस प्रकार कुल मिला कर अष्टकर्णा परिषद् होती है। इस परिषद् में जो अन्य साध्वी या अन्य साधु होते हैं, उन्हें ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप और विनय से सम्पन्न, उचित और अनुचित का विवेकी, उपशम गुणवान्, ज्ञानवान् और वृद्ध होना चाहिए।

इस प्रकार स्त्री-पुरुष की परस्पर आलोचना काल में तीन, चार या पाँच व्यक्ति भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ पाँच विकल्प सम्भव हैं –

1. स्थविरा साध्वी के द्वारा स्थविर साधु के पास आलोचना करने पर – तीन व्यक्ति
2. स्थविरा साध्वी के द्वारा तरुण साधु के पास आलोचना करने पर – तीन व्यक्ति
3. तरुणी साध्वी के द्वारा स्थविर साधु के पास आलोचना करने पर – तीन व्यक्ति
4. तरुणी साध्वी के द्वारा तरुण साधु के पास आलोचना करने पर – तीन व्यक्ति
5. तरुणी साध्वी के द्वारा सदृश वयवाले साधु के पास आलोचना करने पर यदि सहायक भी तरुण हों तो उनकी संख्या पाँच या अधिक अथवा उनके साथ योग्य क्षुल्लक या क्षुल्लिकाएँ होना चाहिए।[87]

प्रायश्चित्त के ज्ञाता आचार्य के द्वारा विचारणीय सावधानियाँ

दोषों के अनुसार प्रायश्चित्त का विचार करने वाले आचार्य को अतिचार के समय तथा उसके बाद होने वाले क्षपक के परिणामों का भी विचार करना चाहिए क्योंकि अनगार धर्मामृत में कहा है –

पडिसेवादो हाणी, वड्ढी वा होदि पावकम्मस्स।

परिणामेण दु जीवस्स, तत्थ तिव्वा व मंदा वा।।[88]

अर्थात् प्रतिसेवना अर्थात् असंयम आदि का सेवन करने से उत्पन्न हुए पापकर्म की पीछे हुए शुभ या अशुभ परिणामों से तीव्र हानि अथवा तीव्र वृद्धि, मन्द हानि या मन्द वृद्धि होती है अर्थात् असंयम-सेवन करते समय जैसे तीव्र अशुभ परिणाम से तीव्र पाप बन्ध और मन्द अशुभ परिणाम से मन्द पाप बन्ध हुआ था; वैसे ही **आलोचना** के पश्चात् तीव्र शुभ परिणाम होने से पाप की तीव्र हानि और मन्द शुभ परिणाम होने से पाप की मन्द हानि होती है – इसका विचार भी आचार्य करते हैं।

संक्लिष्ट परिणामों के दो प्रकार माने गये हैं – 1. सामान्य संक्लेशयुक्त परिणाम 2. सावद्य संक्लेशयुक्त परिणाम।

1. सामान्य संक्लेशयुक्त परिणाम – जिस परिणाम में यति को केवल चित्त की बाधा होती है परन्तु उसका परिणाम सावद्य अर्थात् पाप से युक्त नहीं होता, वह **सामान्य संक्लेशयुक्त परिणाम** है। जैसे, मेरा ज्ञान निर्मल क्यों नहीं होता? या मेरे सम्पूर्ण चारित्र क्यों नहीं है? मेरा शरीर इतना दुर्बल क्यों है कि तपोयोग अर्थात् तप एवं ध्यान को सहन नहीं करता? इत्यादि संक्लेश युक्त परिणाम, चित्त-बाधारूप हैं।

2. सावद्य संक्लेशयुक्त परिणाम – जो परिणाम, अवद्य अर्थात् पाप से युक्त होता है, वह **सावद्य संक्लेशयुक्त परिणाम** है। यह सावद्य संक्लेश युक्त परिणाम, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र गुणों का नाश करता है, नवीन कर्म का बन्ध करता है, और पूर्वसंचित कर्मों को दृढ़ करता है क्योंकि कषाय युक्त परिणामों के निमित्त से ही कर्मों का स्थितिबन्ध होता है, नाना प्रकार की हजारों वेदनाओं से व्याप्त नरक आदि दुर्गतियों के भय को बढ़ाता है, और अशुभ कर्म को स्थिर करता है।

इस प्रकार कोई असंयम आदि का सेवन करके भी पश्चात्ताप के द्वारा अपने चित्त को जलाता है अर्थात् उसे अपने कर्म पर पश्चात्ताप होता है और वह संसार से भयभीत हो कर, संयम का पालन करता है; तब वह अपने द्वारा नवीन संचित कर्म-पुद्गल स्कन्धों के एकदेश की निर्जरा करता है अथवा समस्त कर्म-पुद्गल स्कन्ध का घात करता है। यदि परिणाम मध्यम या मन्द होते हैं, तब एकदेश कर्मों की निर्जरा करता है और तीव्र होते हैं तो समस्त का घात करता है।

अतः प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञाता और प्रायश्चित्त देने की क्रिया से परिचित आचार्य, उस अपराधी भिक्षु के परिणामों को जान कर, जितने प्रायश्चित्त से उसकी विशुद्धि हो, उतना ही थोड़ा या बहुत प्रायश्चित्त देते हैं। जैसे, सुवर्णकार आग का बलाबल जान कर, तदनुसार उसे धौंकनी से धौंकता है; उसी प्रकार आचार्य भी उसका अपराध थोड़ा या बहुत है – यह जान कर, प्रायश्चित्त देते हैं।

यहाँ कोई यह **आशंका** कर सकता है कि **आचार्य, दूसरे के दोषयुक्त परिणाम कैसे जानते हैं?**

इसका **समाधान** करते हुए अपराजित सूरि **तीन विकल्प** प्रस्तुत करते हैं –

1. सहवास अर्थात् साथ रहने से दूसरे के परिणाम जाने जा सकते हैं।
2. उसके कार्य देखने पर उसके तीव्र या मन्द क्रोधादिक का स्वरूप मालूम होता है।
3. 'जब तुमने अतिचार किये थे, तब तुम्हारे परिणाम कैसे थे?' – ऐसा पूछ कर भी उसके परिणामों का निर्णय किया जा सकता है।

जिस प्रकार समस्त आयुर्वेद का ज्ञाता और चिकित्सा में निपुण बुद्धि वाला वैद्य, महती अथवा अल्प व्याधि से पीड़ित रोगी को नीरोग करता है; उसी प्रकार प्रवचन के सारभूत श्रुत का पारगामी और प्रायश्चित्त के क्रम का ज्ञाता आचार्य, चारित्र की शुद्धि के द्वारा उस क्षपक को विशुद्ध करता है।[89]

क्षपक साधु के सामने आलोचना-वार्ता का भी निषेध

भगवती आराधना में क्षपक साधु के सामने किन-किन विषयों सम्बन्धी वार्ता नहीं करना चाहिए – इस सम्बन्ध में मूल गाथा में सावधान किया गया है, इन विषयों में **आलोचना** को भी शामिल किया गया है, मूल गाथा इस प्रकार है –

भत्तादीणं तत्ती, गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कादव्वा।

आलोयणा वि हु, पसत्थमेव कादव्विया तत्थ।। 385।।

अर्थात् आगमार्थ के ज्ञाता, यतियों को भी क्षपक के पास भोजन आदि की कथा नहीं करनी चाहिए और **आलोचना** सम्बन्धी अतिचारों की भी चर्चा नहीं करनी चाहिए। यदि करना ही हो तो बहुत से युक्त आचार वाले आचार्यों के रहते हुए प्रच्छन्नरूप से ही करना चाहिए, जिससे क्षपक उसे सुन न सके।

इसके पूर्व की गाथाओं की टीका में टीकाकार श्री अपराजित सूरि ने उक्त विषय का प्रयोजन बताते हुए लिखा है कि यदि इन सब बातों का विवेक नहीं रखा जाएगा तो उन बातों को सुन कर, क्षपक की समाधि में बाधा आ सकती है। यदि क्षपक कमजोर हुआ तो वह क्रोधित भी हो सकता है अथवा वह अपने परिणाम संक्लेशरूप भी कर सकता है।

दोषों के अनुसार प्रायश्चित्तों का निर्धारण करने हेतु अनेक उदाहरण

यद्यपि इस प्रकरण में दोषों के अनुसार प्रायश्चित्त का विवेचन सिद्धान्तसार संग्रह, प्रायश्चित्त विधान, प्रायश्चित्त समुच्चय, प्रायश्चित्त चूलिका, निशीथसूत्र, छेदसूत्र आदि के आधार पर किया गया है, तथापि यहाँ अनेक विषयों को जनसामान्य की दृष्टि से अनुपयोगी एवं निषिद्ध जान कर उनका उल्लेख नहीं किया है। विशेष जानने के अभिलाषी, उन उन ग्रन्थों का विशेष आज्ञा प्राप्त करके स्वाध्याय कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध में व्यवहार भाष्य के अनुशीलन में कहा गया है –

''जैनधर्म ने आचारशुद्धि पर बहुत बल दिया है। आचार पालन में उन्होंने इतना सूक्ष्म निरूपण किया है कि स्वप्न में भी यदि हिंसा या असत्य भाषण हो जाए तो उसका भी प्रायश्चित्त करना चाहिए।.....।

छेदसूत्रों में साधु की विविध आचारसहिंताएँ तथा प्रसंगवश अपवादमार्ग आदि का विधान है। ये सूत्र साधुजीवन का संविधान ही प्रस्तुत नहीं करते, किन्तु प्रमादवश स्खलना होने पर दण्ड का विधान भी करते हैं। इन्हें लौकिक भाषा में दण्ड संहिता तथा अध्यात्म भाषा में प्रायश्चित्तसूत्र कहा जा सकता है।

छेदसूत्रों में प्रयुक्त **कप्पइ** शब्द से मुनि के लिए करणीय आचार तथा **णो कप्पइ** से अकरणीय या निषिद्ध आचार का ज्ञान होता है।''[90]

सम्यक्त्व में दोष सम्बन्धी प्रायश्चित्त

आठ प्रकार के मदों से उन्मत्त होने के प्रायश्चित्त

जो ज्ञानमद, जातिमद, कुलमद आदि मदों से उन्मत्त होकर रत्नत्रयधारी साधुओं का अपमान करता है; वह अपने उस दर्पजन्य दोष का नाश करने के लिए **पंचकल्याणक** प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है।[91]

सम्यग्दर्शन आदि से भ्रष्ट लोगों की संगति करने का प्रायश्चित्त

- यदि कोई मुनि, सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हुए लोगों के साथ या व्रतों से भ्रष्ट लोगों के साथ विहार करे, उनकी संगति करे तो उसका प्रायश्चित्त, पंच कल्याणक है।
- यदि कोई मुनि, अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं पर अवर्णवाद लगावें, उनकी निन्दा करें, झूठे दोष लगावें तो उसका प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण-कायोत्सर्ग सहित उपवास है।
- यदि कोई मुनि, विद्या, मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, वैद्यकादि अष्टांग निमित्त, ज्योतिष, वशीकरण, गुटिका, चूर्ण आदि का उपदेश करे तो उसका प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमणपूर्वक उपवास है।[92]

सम्यग्ज्ञान के सम्बन्ध में प्रायश्चित्त[93]

सिद्धान्त का उपदेश न करने वालों का प्रायश्चित्त

- यदि कोई अप्रमत्त मुनि, सिद्धान्त के अर्थ को जानते हुए भी उपदेश न करें तो उसका प्रायश्चित्त, आलोचनापूर्वक कायोत्सर्ग है।

- यदि वे सिद्धान्त के श्रोताओं को सन्तोष उत्पन्न न कर क्षोभ पैदा करें तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।[94]

पाँच महाव्रतों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

अहिंसाव्रत के दोषों के प्रायश्चित्त

इन्द्रियों एवं प्राणों की संख्या के अनुसार जीवों का घात करने के प्रायश्चित्त[95]

1. जो साधु, मूलगुणों और उत्तरगुणों से युक्त प्रयत्नवान् और स्थिर हैं; उनके द्वारा यदि हिंसा हो तो उन्हें **इन्द्रिय-संख्या के अनुसार उतने कायोत्सर्ग** करने चाहिए।
2. जो साधु, प्रयत्नवान् है परन्तु व्रतों में अस्थिर हैं, उन्हें एकेन्द्रियादि जीवों का वध होने पर उन जीवों के **प्राणों की संख्या के अनुसार कायोत्सर्ग** करना चाहिए।
3. जो साधु, अप्रयत्नवान् है, परन्तु स्थिर है – ऐसे साधु को विशुद्धि के लिए **इन्द्रिय-संख्या के अनुसार उपवास** करना चाहिए।
4. जो साधु, अप्रयत्नवान् और अस्थिर दोनों है – ऐसे साधु को एकेन्द्रियादि जीवों का वध होने पर विशोधन करने के लिए **प्राणादि-संख्या के अनुसार उपवास** करने चाहिए।
5. जो साधु, शुद्धि में रहने वाला है – ऐसे साधु से यदि बारह एकेन्द्रिय अथवा छह द्वीन्द्रिय अथवा चार त्रीन्द्रिय (अथवा तीन चतुरिन्द्रिय) जीवों का वध हो जावे तो **एक उपवास का प्रायश्चित्त** होता है।
6. जो साधु, प्रमाद रहित है – ऐसे साधु से यदि छत्तीस एकेन्द्रिय अथवा अठारह द्वीन्द्रिय अथवा बारह त्रीन्द्रिय अथवा नौ चतुरिन्द्रिय जीवों अथवा एक पंचेन्द्रिय जीव का घात हो जावे तो **प्रतिक्रमण और दो उपवास का प्रायश्चित्त** होता है।

संज्ञी पंचेन्द्रियों के घात का प्रायश्चित्त

इस सम्बन्धी विस्तृत विवेचन सिद्धान्तसारसंग्रह के दशवें अधिकार, प्रायश्चित्त विधान, प्रायश्चित्त समुच्चय, प्रायश्चित्त चूलिका, निशीथसूत्र, छेदसूत्र, आदि के आधार पर जानना चाहिए। यहा पर अनेक विषय जनसामान्य की दृष्टि से अनुपयोगी एवं निषिद्ध जान कर उनका उल्लेख नहीं किया है।[96]

कायोत्सर्ग से दूर होने वाले दोष

इसके सम्बन्ध में सिद्धान्तसारसंग्रह में कहा है –

1. कोई-कोई दोष ऐसे होते हैं कि उनका परिहार करना या छोड़ना अशक्य होता है; इसलिए पुनः पुनः उनका **प्रायश्चित्त** लेकर उन दोषों से शुद्ध होना पड़ता है। जैसे, गमनागमन करना पड़ता है और उसमें दोष भी होते ही हैं क्योंकि ऐसे दोषों के निराकरण के लिए गमनागमन बन्द करना ही उपाय है परन्तु मुनिचर्या में चलना रोका नहीं जा सकता; यदि गमन आदि रोक दिये जाएँगे तो और भी बड़े दोष उत्पन्न हो जाएँगे; अतः ऐसे दोषों का परिहार, **कायोत्सर्ग** से ही हो जाता है।
2. अन्न-पानादि के कारणों से जो अल्प-सा दोष उत्पन्न होता है, उससे भी मुनीश्वर, **कायोत्सर्ग** करके शुद्ध होते हैं। यहाँ अन्न-पान आदि के दोष में पच्चीस उच्छ्वास तक **कायोत्सर्ग** करना चाहिए।
3. जो वस्तु, पिच्छिका से नहीं स्वच्छ की है, उससे स्पर्श हो जाने पर **कायोत्सर्ग** से शुद्धि होती है तथा शरीर के खुजाने से जो दोष होता है, वह **कायोत्सर्ग** से शुद्ध होता है। मलोत्सर्ग आदि करने हेतु शौच को जाना, मूत्र करके आना, आदि के दोष निवारण के लिए **कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त** है।
4. तृण, मिट्टी का ढेला, आदि पदार्थ हाथ से तोडने-फोडने पर तथा हाथ से कुछ अन्य कार्य करने पर **कायोत्सर्ग** मात्र दण्ड है अर्थात् **कायोत्सर्ग** करने से उनकी शुद्धि होती है तथा मन में विकार उत्पन्न होने पर भी **कायोत्सर्ग** से शुद्धि होती है।
5. मिट्टी, जौ, गेहूँ, मूँग, उड़द, आदि धान्यों का मर्दन करने पर हरित – सचित्त वनस्पति और त्रस काय को मुनि के हाथ आदि के द्वारा परस्पर संघट्ट होने पर **कायोत्सर्ग** से शुद्धि होती है।[97]

जबकि प्रायश्चित्त समुच्चय में कहा है –

1. जो निरन्तर सेवन करने में आते हैं, जो त्यागने में नहीं आते हैं और जो स्तोक (लघु) हैं – ऐसे दोषों का प्रायश्चित्त **कायोत्सर्ग** है। भावार्थ यह है कि चलना-फिरना आदि भी दोष हैं, जो निरन्तर करने पड़ते हैं। भोजन-पान करना भी दोष ही है, परन्तु ये दोष दुस्त्याज्य हैं अर्थात् इन कार्यों के करने पर कायोत्सर्ग नाम का प्रायश्चित्त लेना चाहिए।
2. अप्रतिलेखित शरीरादि वस्तुओं से स्पर्श हो जाने पर; खाज खुजाने, हाथ- पैर आदि के फैलाने, सिकोड़ने आदि क्रियाओं के करने पर तथा मल, थूक आदि शारीरिक मल आदि के त्यागने पर **कायोत्सर्ग** प्रायश्चित्त कहा गया है।
3. तन्तु (धागा), तृण आदि तोड़ने का, अल्प संक्लेश उत्पन्न करने का, पुस्तक आदि के संचय करनेरूप हस्तकर्म का तथा इस उपकरण को इतने दिनों में बना कर तैयार करूँगा – ऐसे मन से चिन्तवन करने का प्रायश्चित्त **कायोत्सर्ग** है।[98]

धूलि से पानी और पानी से धूलि में जाने का प्रायश्चित्त

जिसके पाँव धूलि से भरे हुए हैं – ऐसा मुनि, बिना प्रक्षालन किये यदि पानी में चला जाए अथवा पानी से जिसके पाँव भीगे हैं – ऐसा मुनि, पाँवों को प्रासुक किये बिना यदि धूलि में प्रवेश कर जाए तो वह **पुरुमण्डल नामक प्रायश्चित्त** से शुद्ध होता है अर्थात् वह **कांजी भोजन** करने से शुद्ध होता है।[99]

कीचड़ से जल में जाने का प्रायश्चित्त

कीचड़ से जिसके पाँव भर गये हैं, लिप्त हुए हैं – ऐसा मुनि, यदि जल में प्रवेश करेगा तो उसकी शुद्धि के लिए **कल्याणपंचक नाम का प्रायश्चित्त** होता है अर्थात् वह मुनि, जिससे जिह्वा और मन विकार युक्त न हो – ऐसा आहार करे, जिसको **निर्विकृति आहार** कहते हैं; अतः वह **पुरिमण्डल आहार, आचाम्ल आहार-भात, नीरस-इमली का पानक** खावे – ऐसे तीन प्रकार के आहार तथा एक **एकस्थान** करे और एक **उपवास** करे – ऐसे पाँच प्रकार को **कल्याणपंचक या पंचकल्याण प्रायश्चित्त** कहते हैं।[100]

प्रायश्चित्त समुच्चय के अनुसार उक्त दोनों दोषों के प्रायश्चित्त निम्नानुसार हैं –

जिसके पैरों पर धूल लिपट रही है, वह यदि पानी में घुस जाए अथवा जिसके पैर गीले हैं, वह यदि अपने पैर धूल में रख दे तो उसका प्रायश्चित्त **पुरुमण्डल** है तथा कीचड़ लिपटे पैरों से पानी में चला जाए तो उसका प्रायश्चित्त, **एक कल्याणक (पंचक)** है।[101]

गीली घास एवं अनन्तकाय के घात का प्रायश्चित्त

यदि मुनि, गीली घास तोड़ेगा अथवा अनन्तकायिक वनस्पति तोड़ेगा तो आचार्य, उसे **आचाम्लाहार** का प्रायश्चित्त देते हैं।

सूरण, स्नुही – तीन धार वाली नागफणी नामक वनस्पति, मूलक, गडूची-गिलोय, आदि शब्द से कुमारी आदि अनेक **अनन्तकायिक वनस्पति** हैं। इनके मूल में, शाखा में, और पत्रों में सर्वदा अनन्तकायिक जीव रहते हैं तथा उनके ऊपर आघात या प्रहार करने से अर्थात् उनके मूल, शाखा, पत्र आदि पर आघात करने से वे जीव मरते हैं।[102]

हरी घास, अनन्तकाय, एवं त्रस जीवों के छिन्न-भिन्न करने का प्रायश्चित्त

1. हरे तृणों के एक बार छेदन-भेदन का प्रायश्चित्त, **पुरुमण्डल** है।
2. सूरण, गडूची, स्नूही, मूल, आदा आदि अनन्तकायिक चीजों के छिन्न-भिन्न करने का प्रायश्चित्त, **आचाम्ल** है। (जिस वनस्पति के मूल में शाखाओं में, पत्तों में असंख्याते शरीर हों, एक-एक शरीर में अनन्त-अनन्त जीव निवास करते हों, एक जीव के मरने पर अनन्तों का मरण होता हो और एक के उत्पन्न होने पर अनन्त उत्पन्न होते हों, वे जीव अनन्तकायिक हैं।)
3. दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदि त्रस जीवों के छेदन-भेदन करने का प्रायश्चित्त, **एक स्थान** है। यहाँ छेदन का अर्थ जान से मार देने का नहीं है, किन्तु उन चीजों के एकदेश के खण्डन करने का है। जान से मार देने का प्रायश्चित्त जुदा है। यह प्रायश्चित्त, उनके एकदेश खण्डन में है।

4. जो छिन्न-भिन्न करने पर न उगे और जिसके एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो – ऐसे सुपारी, नारियल आदि प्रत्येककायिक हैं। इन प्रत्येककायिक वस्तुओं का प्रमादपूर्वक छिन्न-भिन्न करने का प्रायश्चित्त, **आचाम्ल–कांजिकाहार** है।
5. प्रत्येककायिक से विपरीत अनन्तकायिक होते हैं, उन अनन्तकायिक वस्तुओं को प्रमादपूर्वक छिन्न-भिन्न करने का प्रायश्चित्त, **एकसंस्थान** है।
6. प्रमाद से दो इन्द्रिय आदि त्रस जीवों के छेदन-भेदन का प्रायश्चित्त, **उपवास** है।[103]

त्रसजीव के घात का प्रायश्चित्त

1. यदि प्रमादसहित मुनि के निमित्त से **एक त्रसजीव का घात** होता है तो उसे **एक कल्याण नामक प्रायश्चित्त** होता है।
2. यदि **अप्रमाद अवस्था में त्रसजीव का घात** मुनि से होता है तो **पाँच नीरस आहार ग्रहण करने का प्रायश्चित्त** स्वीकार करे।
3. यदि मुनि, प्रमाद रहित है, परन्तु पीठादि के चलने से यदि अकस्मात् कोई जीव मर जाता है तो **एक कल्याणपंचक नाम का प्रायश्चित्त** है।
4. वसतिका से बाहर निकलते समय अथवा वसतिका में प्रवेश करते समय यदि वसतिका के द्वार-देश में पंचेन्द्रिय जीव मरा हुआ देखा जाए तो **एक कल्याणक का प्रायश्चित्त** होता है अर्थात् **निर्विकृति आदि पाँच में से कोई भी एक प्रायश्चित्त**, जो आचार्य बतावें, मुनि उसका आचरण करें।[104]

कमण्डलु, भेषज आदि भाजनों में जीवों के घात का प्रायश्चित्त

कमण्डलु, आदि भाजनों को सन्निधि कहते हैं, जिसमें रखा जाए – ऐसा आधार सन्निधि कहलाता है; उसमें –

1. यदि प्रमाद या अप्रमाद से कोई जीव मर जाए तो अप्रमत्त को पाँच निर्विकृति प्रायश्चित्त और प्रमादी को एक कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए।
2. यदि बार-बार त्रस जीव मरे तो पंच कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए।
3. यदि दर्प से अथवा सावधानी रखते हुए एक पंचेन्द्रिय जीव मरण को प्राप्त हो जाए तो एक कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए।[105]

संस्तर पर पंचेन्द्रिय जीव के घात का प्रायश्चित्त

सावधानी रखते हुए भी संस्तर – सोने के आथरे पर यदि पंचेन्द्रिय जीव मर जाए तो उसका प्रायश्चित्त, पाँच निर्विकृतियाँ हैं और यदि असावधानी से मरे तो एक कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए।[106]

आवासद्वार पर पंचेन्द्रिय जीव के घात का प्रायश्चित्त

वसतिका के दरवाजे के यदि पंचेन्द्रिय जीव मर जाए तो जितने जीव बाहर निकले हों और जितने भीतर गये हों; उन सबके लिए एक-एक कल्याणक प्रायश्चित्त होता है।[107]

अपने सामने बिच्छू, सर्प, आदि का घात होने पर प्रायश्चित्त

1. गृहस्थ अथवा मुनियों ने 'बिच्छू आदि जन्तुओं को यत्नपूर्वक पकड़ो' – ऐसा नहीं कहा और किसी ने उसका घात किया तो गृहस्थ और मुनि को क्रम से **पाँच उपवास का प्रायश्चित्त** होता है।
2. इसी प्रकार सर्प आदि का कोई घात करता हो तो प्रयत्नपूर्वक 'उसको छोड़ दो' – ऐसा कहने पर भी यदि कोई उन्हें मारेगा तो **कल्याण नामक प्रायश्चित्त** होता है तथा यदि उन गृहस्थ अथवा मुनियों के प्रयत्न न करने पर, उन सर्पादि का घात होता है तो उसका **मासिक प्रायश्चित्त** है।
3. विशेष बात यह है कि यतियों ने अतिशय प्रयत्नपूर्वक विषय का प्रतिपादन किया अर्थात् बहुत सावधानी से बिच्छू, सर्प आदि प्राणी का रक्षण कर 'उन्हें छोड़ दो' – ऐसा कहने पर भी यदि किसी ने उनको मार डाला तो **मुनि को प्रायश्चित्त नहीं** है क्योंकि मुनि विशुद्ध है, समिति युक्त हैं।[108]

रोगादि के निमित्त से अग्नि को बुझाने आदि का प्रायश्चित्त

1. ऋषियों को यदि उपसर्ग हो या रोग आदि हो – इस हेतु लाई हुई अग्नि बुझा दे तो उसका प्रायश्चित्त पाँच नीरस आहार (निर्विकृतियाँ) अथवा प्रमादवान् पुरुष के लिए एक कल्याणक प्रायश्चित्त है।
2. बीमार पुरुष के निमित्त उसका शरीर या और कोई उपकरण तपाते हुए यदि एक बार अग्नि की ज्वाला (लौ) का स्पर्शन करे तो उसकी शुद्धि पंच निर्विकृति आहार है और यदि बार-बार स्पर्शन करे तो उसका प्रायश्चित्त एक कल्याणक है।
3. यदि बीमार को न पूछ कर, केवल वैद्य के कहने से स्वयं अपने आप अग्नि जलाने का आरम्भ करे तो वह पंच कल्याणक को प्राप्त होता है।[109]

वही सिद्धान्तसारसंग्रह में कहा है –

1. यदि कोई मुनि, वैद्य की आज्ञा से अग्नि को जलाना, बुझाना आदि कार्य करे और कोई रोगी मुनि से इस विषय में कुछ भी नहीं पूछे तो वह मुनि, **पंच कल्याण प्रायश्चित्त** को ग्रहण करे।[110]
2. वह वैयावृत्य करने वाला, यदि रोगी को पूछ कर अग्नि जलावे तो उसे एक कल्याणक और उस रोगी को पंच कल्याणक प्रायश्चित्त है।[111]

हर्र, वचा, बिजौरा, बेलफल, आदि ग्रहण करने का प्रायश्चित्त

यदि किसी कारण से बीजपूरक – बिजौरा, बेलफल, आदि का ग्रहण मुनि करते हैं तो वे **एक कल्याण** से ही शुद्ध होते हैं।

यदि किसी कारण से हर्र, वचा, आदि का ग्रहण मुनि करते हैं तो **वह निर्दोष है** – ऐसा विद्वान् कहते हैं।[112]

प्रायश्चित्त समुच्चय में भी कहा है –

व्याधि के निमित्त से आँवला, हरडा, बहेरडा आदि चीजों का सेवन करने वाला दोषी नहीं है, निर्दोष है और विल्वखण्ड, आम, करौंदे, बिजौरा आदि प्रासुक चीजों को जो खाता है, वह भी निर्दोष है, परन्तु जो व्याधिरहित होते हुए इनका सेवन करता है तो वह कल्याणक प्रायश्चित्त का भागी है।

जो पुरुष, व्याधिसहित होता हुआ यथालाभ (लाभानुसार) सेवन करते हुए भी तिक्त, कटुक, कषाय, आम्ल, मधुर, लवण – इन छह रसों का तथा शाली, ब्रीही अर्थात् भात आदि का परिमाण से अधिक सेवन करता है.....वह कल्याणक प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है। तथा व्याधिरहित नीरोग होकर इलायची, लौंग, जातिफल, जातिपत्र, सुपारी आदि का सेवन करता है, वह पंच कल्याणक को प्राप्त होता है। भावार्थ यह है कि रुग्ण अवस्था में अत्यन्त लोलुपता के साथ छहों तरह के रस और आहार.....के सेवन करने का प्रायश्चित्त एक कल्याणक है एवं नीरोग अवस्था में इलायची, सुपारी आदि चीजों के खा लेने का प्रायश्चित्त पंच कल्याणक है।[113]

सत्यव्रत के दोषों के प्रायश्चित्त

इस व्रत के दोष को बहुत अधिक माना गया है। यही कारण है कि सिद्धान्तसारसंग्रह में इस दोष का अत्यन्त कठोर प्रायश्चित्त बताया गया है। वहाँ कहा है –

नीचः पैशून्ययुक्तो यो, ह्यनृतं परिभाषते।
प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा, गणात्तस्य बहिः कृतिः।। 128।।
जल्पतस्तस्य शृण्वाना, ये तिष्ठन्ति समीपगाः।
तस्य दोषस्य तद्भागं, चतुर्थं प्राप्नुवन्ति च।। 129।।

अर्थात् जो साधु, प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से नीच दुष्टता युक्त – निन्दायुक्त असत्य-वचन बोलता है, उसको **गण से बाहर** करना चाहिए।

तथा नीच, दुष्टता युक्त असत्यभाषण बोलने वाले साधु के पास भी उसका भाषण सुनते हुए जो मुनि बैठे रहते हैं, वे भी उसके **असत्यभाषण दोष का चतुर्थांश दण्ड** प्राप्त करते हैं।[114]

इस सम्बन्ध में प्रायश्चित्त विधान में लिखा है –

एक बार प्रत्यक्ष असत्य कहने का प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग है। एक बार परोक्ष असत्य कहने का प्रायश्चित्त, दो उपवास है। एक बार त्रिकोटि – मन-वचन-काय से असत्य कहने का प्रायश्चित्त, तीन उपवास है। अनेक बार प्रत्यक्ष असत्य कहने का प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है। अनेक बार परोक्ष असत्य कहने का प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है। अनेक बार प्रत्यक्ष-परोक्ष असत्य कहने का प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है। अनेक बार त्रिकोटि से असत्य कहने का प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है। यहाँ बारह कायोत्सर्ग का एक उपवास समझना चाहिए। चार प्रकार के आहार के त्यागरूप उपवास नहीं है।[115]

अशिष्टवचन बोलने आदि का प्रायश्चित्त

कन्दर्प-वचन अर्थात् राग के उद्रेक से प्रहास-मिश्रित अशिष्ट वचन-प्रयोग, **कौत्कुच्य** अर्थात् हँसीपूर्वक भण्डवचन बोलना, भौंहें, आँखों आदि के अभिनय के साथ हँसीपूर्वक भण्डवचन बोलना, थोड़ा-सा झूठवचन बोलना – ऐसे कार्य यदि मुनि के द्वारा होंगे तो **मिथ्याकार से शुद्धि** होती है अर्थात् **मेरा यह कार्य अयोग्य हुआ** – ऐसा वे बोलें। तथा यदि निषिद्धस्थान पर मल-मूत्र का क्षेपण हुआ हो तो **'मैंने यह कार्य मिथ्या किया है'** – ऐसा वचन बोलें, जिससे अपनी निन्दा व्यक्त होती है।[116]

इस सम्बन्ध में प्रायश्चित्त समुच्चय का कथन द्रष्टव्य है –

काम की उन्मत्तता के कारण थोड़ा असत्य बोलने पर 'मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो' – इस तरह के वचन मात्र से शुद्ध अर्थात् निर्दोष हो जाता है तथा आगम से निषिद्ध और निर्जन – ऐसे खलियान, खेत, तालाब, वृक्षों की जड़ आदि स्थान; जहाँ मलोत्सर्ग करने से लोक नाराज होते हों, वहाँ मलोत्सर्ग करने पर मिथ्याकार के वचन से शुद्ध हो जाता है।[117]

साधर्मियों का अपमान करने का प्रायश्चित्त

ज्ञानादि मद के कारण साधर्मियों का अपमान करने वाले मुनि की **पंचकल्याण प्रायश्चित्त** से अवश्य शुद्धि होती है।[118]

इस सम्बन्ध में प्रायश्चित्त विधान में लिखा है –

यदि कोई मुनि, भाषासमिति में दोष लगाते हुए वचन कहे तो उसका प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग है। यदि कोई मुनि, सम्यग्दृष्टि श्रावक के दोष प्रकाशित करे तो उसका प्रायश्चित्त, चार उपवास है। यदि कोई मुनि, जल, अग्नि, बुहारी, चक्की, ऊखली और पानी आदि कर्मों के वचन कहे तो उसका प्रायश्चित्त, तीन उपवास है। यदि कोई मुनि, शृंगारादि के गीत स्वयं गावे या और किसी से गवावे तो चार उपवास का प्रायश्चित्त है।[119]

कषाय उत्पन्न होने का प्रायश्चित्त

यदि मुनि को कषाय उत्पन्न होकर जल्दी नष्ट हो जाए तो वह मुनि **मिथ्याकार से शुद्ध** होता है; लेकिन यदि उनको अहोरात्र तक कषाय रहे तो **पंचकल्याण प्रायश्चित्त** होता है और यदि उससे भी अधिक काल तक कषाय रहे तो **मासिक प्रायश्चित्त** होता है।[120]

1. यदि कषाय उत्पन्न होकर अनन्तर क्षण में नष्ट हो जाए तो उसे **'मिच्छा मे दुक्कडं'** अर्थात् मेरा दुष्कृत मिथ्या हो – ऐसा बोलने का प्रायश्चित्त होता है।
2. यदि अनन्तर क्षण में मिथ्याकार न करे और एक दिन-रात बीत जाए तो उसका प्रायश्चित्त **एककल्याणक** है।
3. उससे अधिक समय बीतने का प्रायश्चित्त **पंचकल्याणक** है।[121]

अहंकारवश चौपड़ आदि खेलने का प्रायश्चित्त

अहंकारवश सारी (चौपड़ आदि खेलने का उपकरण) नाड़ी (चार हाथ की पोली नाली) आदि क्रीड़ा करने का प्रायश्चित्त पंच कल्याण है।

अथवा जैसे, राजा ने कहा कि श्रमण, चौपड़ आदि खेल नहीं जानते, उनके ऐसा कहने पर अहंकारपूर्वक उन खेलों में जुड़ गये तो उसका प्रायश्चित्त एक कल्याण है। तथा हेतुवाद अर्थात् न्याय आदि के वाद-विवाद में लग जाए और पराजय हो जाए तो उसका प्रायश्चित्त कल्याणक है और यदि विजय हो जाए तो कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं है।[122]

पहेलियाँ आदि कार्यों में लग जाने का प्रायश्चित्त

पांशुक्रीड़ा (धूल के खेल), परस्पर पहेलियाँ बोलना, गाथाचतुष्टय बोलना, अन्तिम अक्षर को बोल कर उसका मतलब पूछना, पद चक्र, वचन-प्रतिवचन कहना, तृणबन्ध छुड़ाना इत्यादि अनेक बातें हैं, उनमें लग जाने का प्रायश्चित्त पुरुमण्डल कहा गया है।[123]

धातुवाद आदि क्रियाओं को करने का प्रायश्चित्त

धातुवाद, योगादिदर्शन और द्रव्यनाशन – इन विषयों को यदि अपने पक्ष के लोग देख लें तो उसका प्रायश्चित्त कल्याणक देना चाहिए और यदि परपक्षवाले मिथ्यादृष्टि लोग देख लें तो पंचकल्याण प्रायश्चित्त देना चाहिए।

1. सोना, चांदी आदि धातुओं में क्रियाओं द्वारा वर्ण की उत्कर्षता आदि दिखाना धातुवाद है।
2. कपूर, कस्तूरी, केशर, कुंकुम, आदि सुगन्धियुक्त कृत्रिम द्रव्य बना देना, योगादिदर्शन क्रिया है।
3. दही, दूध, आदि नाना प्रकार की चीजों को नष्ट कर देना, द्रव्यनाश है।

इस तरह की क्रियाएं विशेष प्रयोगों तथा मन्त्र आदि के जरिये की जाती हैं।[124]

धातुवाद आदि के कथन करने का प्रायश्चित्त

धातुवादेऽथवा गन्धयुक्ते रसविपर्यये।
सधर्मैरेककल्याणं, दर्शनान्मासिकं परैः।। 61।।[125]

अर्थात् धातुवाद का कथन या उपदेश करने पर, गन्धादिक तैयार करने पर, तथा पारे का शोधन आदि करने पर **एक कल्याण या मासिक प्रायश्चित्त** देना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ऐसा उपदेश देते हुए उसे यदि साधर्मी ने देखा हो तो उपदेश देने वाले को **एक कल्याण का प्रायश्चित्त** देना चाहिए तथा उसे यदि अन्य मतियों ने देखा हो तो उसे **मासिक प्रायश्चित्त** देना चाहिए।

अन्य क्रीड़ाओं को करने का प्रायश्चित्त

1. एक पद्य आदि शब्द से काव्य, पद्य का आधा भाग, चौथाई भाग आदि समासादि हैं, इनकी रचना न जानते हुए भी स्पर्धा करना कि मैंने यह श्रव्य अर्थात् सुनने योग्य काव्य बनाया है – ऐसा आप भी बनाइए; मैंने यह श्लोक का पूर्वार्द्ध बनाया है, आप इसका उत्तरार्द्ध बनाइए; मैंने यह श्लोक का एक पाद बनाया है, आप भी इससे मिलता-जुलता दूसरा पाद बनाइए; इत्यादि **समासादि क्रीड़ा** है।
2. परस्पर में एक दूसरे के शरीर का प्रपीड़न करना, **अंगसंघर्ष क्रीड़ा** है।
3. रस्सा खींचना आदि **सूत्रक्रीड़ा** है।
4. गेंद आदि के खेल खेलना **कन्दुकक्रीड़ा** है – इत्यादि क्रीड़ाओं में होड़ करना अर्थात् शर्त लगाना।
5. नख, पिच्छी, पर, जंघा, आदि के द्वारा वीणा आदि बाजे बजाना।
6. किसी चीज को भूतों द्वारा ग्रहण करा कर प्रकाशन कराना, भूतक्रीड़ा है।

यदि उक्त क्रीड़ाओं को करते हुए यदि स्वपक्ष के अपने धर्मावलम्बी देख लें तो पुरुमण्डल प्रायश्चित्त देना चाहिए तथा यदि विधर्मी लोग देख लें तो कल्याणक प्रायश्चित्त देना चाहिए।[126]

प्राणियों को मारते हुए देखने का प्रायश्चित्त

कोई प्राणी को मारता है और कोई मुनि उनको देखता है तो उसको कल्याणपंचक प्रायश्चित्त है तथा मरते हुए रोगी को कोई मुनि निन्दा करे तो उसे भिन्नमास प्रायश्चित्त होता है।[127]

जू, खटमल, आदि को पकड़ने का प्रायश्चित्त

यदि जू, खटमल आदि छोटे जन्तुओं को मुनि पकड़े तो वह प्रतिक्रमण से शुद्ध होता है और यदि वह मुनि उनसे क्रीडा करता है तो कल्याणपंचक से उसकी शुद्धि होती है।[128]

अन्य साधर्मियों को शय्या, वसतिका, आदि देने का प्रायश्चित्त

तृण या फलक की शय्या और वसतिका आदि कोई साधर्मियों को देवें अथवा कोई उनके लिए बनावें तो वात्सल्यभाव होने से शय्या देने वाले का कोई दोष नहीं है; अतः कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है।[129]

पार्श्वस्थ आदि मुनियों से अध्ययन करने का प्रायश्चित्त

1. यदि मुनि, तर्क, व्याकरण, ज्योतिष, गणित, छन्दशास्त्र, महाकाव्य, आदि शास्त्रों का अध्ययन दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप रत्नत्रय के पार्श्ववर्ती रहने वाले पार्श्वस्थ आदि मुनियों से करता है तो उसका प्रायश्चित्त **मिथ्याकार** है।
2. अन्यथा यदि पार्श्वस्थ आदि मुनि से भिन्न अन्य कोई अन्य धर्मी साधु के पास अध्ययन करता है तो उसको **पंचकल्याण** प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए।[130]

इसी प्रकार शिक्षा के लिए पार्श्वस्थ की सेवा आदि करने का प्रायश्चित्त बताते हुए प्रायश्चित्त समुच्चय में लिखा है –

1. न्याय, व्याकरण, छन्द, अलंकार, कोष आदि बाह्य शास्त्रों का तथा ज्योतिष, गणित आदि करण शास्त्र और योग आदि सम्बन्धी काव्यों की शिक्षा के निमित्त यदि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप से बहिर्भूत (रहित) पार्श्वस्थ की कोई मुनिसेवा या उपकार करे तो उस मुनि के लिए **मिथ्याकार** प्रायश्चित्त है।
2. यदि उक्त कारणों के बिना पार्श्वस्थ का उपकार करे तो **पंचकल्याणक** प्रायश्चित्त है।[131]

पार्श्वस्थ आचार्य को वन्दन करने का प्रायश्चित्त

पार्श्वस्थ मुनियों के गणी आचार्य, यदि शुद्ध हों तो वे तो वन्दनीय हैं; परन्तु संघों के सम्मेलन के समय अन्य पार्श्वस्थ आचार्य को वन्दना करने पर मासिक प्रायश्चित्त ग्रहण करने योग्य है।[132]

अचौर्यव्रत के दोषों के प्रायश्चित्त

यो गृह्णाति परस्याऽर्थं, यतीनां मध्यवर्त्यपि।
स गृहस्थोपधिः सोऽयं, षण्मासक्षपणैः शुचिः।।[133]

अर्थात् जो साधु, मुनियों के बीच रहने पर भी दूसरों का धन-ग्रहण करता है, वह गृहस्थ-उपधि को ग्रहण करता है – ऐसा वह मुनि, **छह मास तक एकान्तर उपवास और पारणा** करके पवित्र होता है।

इस सम्बन्ध में प्रायश्चित्त विधान में लिखा है –

मोह से एक बार परोक्ष चोरी करने का प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग है। एक बार प्रत्यक्ष चोरी करने का प्रायश्चित्त, एक उपवास है। एक बार प्रत्यक्ष-परोक्ष चोरी करने का प्रायश्चित्त, दो उपवास है। एक बार त्रिकोटि से चोरी करने पर प्रायश्चित्त, तीन उपवास है। अनेक बार परोक्ष में चोरी करने का प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है। अनेक बार प्रत्यक्ष में चोरी करने का प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है। अनेक बार त्रिकोटि से चोरी करने का प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है।[134]

आहार छोड़ने पर प्रायश्चित्त

जितने आहार से एक पुरुष का पेट भर सकता है, उतना आहार छोड़ देने वाला **एक उपवास** प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है। उससे आधा या तिहाई आहार छोड़ देने वाला **आचाम्ल** प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है तथा स्वल्प या थोड़ासा आहार छोड़ देने वाला **पुरुमण्डल** प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है।[135]

अस्थान और असमय में सोने सम्बन्धी प्रायश्चित्त

जो स्थान गीला है, जिसके निकट पानी है और अग्नि जल रही है – ऐसे आने जाने वाले राहगीरों के लिए बनवाये हुए धर्मशाला आदि स्थानों में गृहस्थों के सोने के असमय में यदि एक बार कोई साधु सो जाए तो वह शुद्ध ही है, उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है।[136]

स्वकार्यवश मर्यादा के बाहर जाने का प्रायश्चित्त

वर्षाकाल में देव या आर्ष-संघ सम्बन्धी कोई बड़ा कार्य तथा शीतकाल और ग्रीष्मकाल में छोटा कार्य उपस्थित हो जाने पर उस कार्य के निमित्त बारह योजन तक कोई साधु चला जाए तो वह दोषी नहीं है, बारह योजन से ऊपर गमन करने वाला प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है।

किसी कार्य के अर्थ कहीं जाना पड़े, वहाँ कार्य एक महिने का ही है; यदि वह वहाँ उससे अधिक समय बिना ही कारण व्यतीत कर दे तो उसका प्रायश्चित्त लघुमास है। यदि सारा वर्षाकाल ही वहाँ बिता दे तो उसका प्रायश्चित्त गुरुमास है।[137]

वही सिद्धान्तसारसंग्रह में लिखा है –

1. यदि साधु, संघ का कार्य करने के लिए वर्षाकाल में बारह योजन तक भी कहीं जाता है तो वह प्रायश्चित्त के योग्य नहीं है।
2. यदि किसी वाद-विवाद के कारण महासंघ के विनाश का प्रसंग उपस्थित हो गया हो तो भी वर्षाकाल में देशान्तर में गमन करना दोष युक्त नहीं है।[138]

संघपालन के उद्देश्य से राजादि से स्नेह रखना, प्रायश्चित्त योग्य कार्य नहीं

1. संघ-पालन के उद्देश्य से राजा आदि राजनीति के लोगों से स्नेह रखने वाले आचार्य दोषी नहीं हैं क्योंकि उनका उद्देश्य, संघ के पालन का है; अतः वे कोई प्रायश्चित्त देने योग्य नहीं हैं।
2. यदि राजा आसन पर बैठे हों और धर्म-चर्चा आदि कारणों से आचार्य उनकी सभा में जाएँ और राजा उनका आदर करने के लिए आसन से ऊपर खड़े हों या न हों तो भी आचार्य को कोई दोष नहीं है।
3. यदि उस समय राजा, मन्त्री, आदि आकर आचार्य की पूजा-सत्कार आदि करें, और वे उसका गर्व करें तो उनको **मासिक** प्रायश्चित्त होता है।[139]

दीक्षा के उद्देश्य से आचार्य द्वारा अभ्युत्थान आदि कार्य अयोग्य नहीं

1. यदि कोई गृहस्थ, दीक्षा आदि कार्य के लिए आया है, उस समय यदि आचार्य, उसका अभ्युत्थानादिक (सम्मानार्थ खड़े होना आदि) करते हैं तो वे दोषी नहीं हैं, शुद्ध हैं।
2. इसी प्रकार कोई अन्यमती साधु भी यदि दीक्षा-ग्रहण आदि करने के लिए आया हो तो उसका आदर करने में भी आचार्य दोष के भागी नहीं हैं। लेकिन यदि उक्त कारणों के बिना आचार्य उनका आदर करें; उठ कर खड़े होना आदि विनय करते हैं तो वे **मासिक प्रायश्चित्त के योग्य** हैं।
3. आर्यिका, संयमी अथवा असंयमी, तथा गृहस्थ के आने पर बिना हेतु जो अभ्युत्थान करता है, उस आचार्य को **प्रायश्चित्त** कहा है।[140]

निषद्या-सेवन, मिथ्याकार, इच्छाकार, निमन्त्रण, आदि नहीं करने का प्रायश्चित्त

जो साधु, निषद्या-सेवन नहीं करता अर्थात् जहाँ जैन मुनि समाधिमरण करते हैं, उस स्थान की वन्दना नहीं करता है तथा जो मिथ्याकार, इच्छाकार और निमन्त्रण नहीं करता है; उसको **पुरुमण्डल प्रायश्चित्त** होता है।[141]

किस काल में कैसा प्रायश्चित्त ?

1. उष्णकाल में **जघन्य प्रायश्चित्त** दिया जाता है, वर्षाकाल में **मध्यम प्रायश्चित्त** दिया जाता है और शीतकाल में **उत्कृष्ट प्रायश्चित्त** दिया जाता है।
2. ग्रीष्मकाल में **एक उपवास का प्रायश्चित्त**, वर्षाकाल में **दो उपवास तक का प्रायश्चित्त** और शीतकाल में **तीन उपवास तक का प्रायश्चित्त** देना चाहिए।

3. लघु कार्यों की दृष्टि से शरद्, वसन्त और ग्रीष्म – ये तीन गुरु ऋतुकाल हैं तथा वर्षा, शिशिर और हेमन्त – ये तीन लघु ऋतुकाल हैं।
4. इस प्रकार कालविभाग के अनुसार विद्वान् आचार्य, मुनियों को प्रायश्चित्त देवें परन्तु यदि आचार्य, कालविभाग का विचार न करते हुए प्रायश्चित्त देते हैं तो वे स्वयं प्रायश्चित्त के योग्य हैं।
5. जिस क्षेत्र में शीत अधिक है और जहाँ का भोजन, घी, गुड़, खांड इत्यादि, रसप्रचुर है अथवा जहाँ का भोजन उत्तम होता है; वहाँ मुनियों को **उत्कृष्ट प्रायश्चित्त** का प्रयोग करना चाहिए – ऐसा माना गया है।
6. उष्ण क्षेत्र में और रूक्ष क्षेत्र में विद्वानों को **जघन्य प्रायश्चित्त** देना चाहिए तथा मध्यम क्षेत्र में **मध्यम प्रायश्चित्त** देना योग्य है।[142]

आहार-ग्रहण की अपेक्षा प्रायश्चित्त-विधान

1. जो उत्कृष्ट आहार करते हैं, उनको **उत्कृष्ट तपरूप प्रायश्चित्त** देना चाहिए। मध्यम आहार करने वालों को वही उत्कृष्ट तपरूप प्रायश्चित्त कुछ कम करके **(मध्यम प्रायश्चित्त)** देना चाहिए।। 89।।
2. रूक्ष और अल्प भोजन करने वालों को अर्थात् अशक्त मुनियों को **अतिरूक्ष (अत्यल्प) प्रायश्चित्त** देना चाहिए अर्थात् असमर्थों को उपवास रहित प्रायश्चित्त देना चाहिए।[143]

गर्व करने का प्रायश्चित्त

जिसको दीक्षा लेकर बहुत दिन हो गये हैं और जो अपने को पुराना साधु समझ कर गर्व करता है, वह **प्रायश्चित्त योग्य** है, उसको प्रायश्चित्त देना चाहिए। तथा जो अपने तपःसामर्थ्य का गर्व करता है, वह **तपोगर्वी मुनि भी प्रायश्चित्त योग्य** है।[144]

कोमलाचार पालने वाले मुनि को प्रायश्चित्त-विधि

1. छेद प्रायश्चित्त देने पर भी मृदु-कोमलाचार पालने वाले जो मुनि, हर्ष युक्त होते हैं और यह सोचते हैं कि 'मैं इस प्रायश्चित्त से वन्दनीय हुआ हूँ' – ऐसा वे अभिमान धारण करते हैं, परन्तु वे उस प्रायश्चित्त से शुद्ध नहीं होते।
2. अतः विद्वान् मनीषी आचार्य उनके दोषों को जान कर, प्रायश्चित्त देवें। उत्कृष्ट तप नहीं करने वाला वह साधु, अकेले गुरु के प्रदत्त **साधारण प्रायश्चित्त से शुद्ध नहीं** होता।
3. इस प्रकार जो उत्तम तप नहीं करता और जो गुरु के वचनों पर श्रद्धा नहीं करता; वह श्रद्धा रहित मुनि, **घोर प्रायश्चित्त** से ही शुद्ध होता है।
4. ऐसे श्रद्धा रहित मुनि को **आगमोक्त प्रायश्चित्त** देने हेतु आचार्य, जिनको धर्म प्रिय है – ऐसे पचासों पुरुषों से बात करके या उन्हें ज्ञान कराके प्रायश्चित्त का निर्धारण करें।
5. इस प्रकार नाना प्रकार से आगम के पारगामी आचार्य, जिनागम में कहे हुए अन्य अज्ञानियों को जान कर प्रायश्चित्त देवें।[145]

ब्रह्मचर्यव्रत से सम्बन्धी प्रायश्चित्त

1. यदि कोई मुनि, आसक्ति से स्त्री से भाषण करने पर **सोपवास प्रतिक्रमण** प्रायश्चित्त है।
2. यदि स्त्री का स्पर्श हो जाए तो **सोपवास प्रतिक्रमण** प्रायश्चित्त है।
3. यदि किसी मुनि के मन में स्त्री का चिन्तवन हो जाए तो **सोपवास प्रतिक्रमण** प्रायश्चित्त है।[146]

मैथुनसेवा का प्रायश्चित्त

1. मन में मैथुनसेवा का विचार आने पर मिथ्याकार से शुद्धि होती है तथा उसमें तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हो गई हो तो **मासिक नामक प्रायश्चित्त** होता है।
2. यदि मुनि, काय से मैथुन-सेवन करे तो उनको यह दण्डस्वरूप प्रायश्चित्त है कि वे **चार महिने तक एकान्तरित भोजन** करें अर्थात् एक दिन भोजन करें, दूसरे दिन उपवास करें – ऐसी प्रायश्चित्त-विधि सतत चार महिने तक करनी चाहिए; तब इस दोष का परिहार होता है।[147]

कामसेवन की मन्द-तीव्र अभिलाषा होने के प्रायश्चित्त

1. काम सेवन करूँ – ऐसे प्रथम मन में कामरूप परिणत होने के पश्चात् हाय! मुझ पाप-बुद्धि मन्द भाग्य ने बुरा चिन्तवन किया; इस प्रकार आत्मा में निन्दा कर अनन्तर उससे तीव्र अभिलाषी होने पर अर्थात् मन से चिन्तवन करने के अनन्तर कामोद्रेक होने से तीव्र अभिलाषा युक्त होने पर **पंच कल्याण** प्रायश्चित्त देना चाहिए।[148]
2. इस सम्बन्ध में और भी अनेक प्रकार के दोष लग जाते हैं, उनके प्रायश्चित्तस्वरूप आचार्य, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार अनेक प्रकार से प्रायश्चित्त भी देते हैं, परन्तु उनका यहाँ विशेष वर्णन अनुचित जान कर नहीं किया गया है।

बलवर्धक औषधिसेवन करने के प्रायश्चित्त

शरीर में सुन्दरता लाने और बल बढ़ाने के लिए औषधिसेवन करने का पंचकल्याण प्रायश्चित्त है।[149]

हंसी हंसने के प्रायश्चित्त

1. श्रमण को दो तरह की हंसी का **कोई प्रायश्चित्त नहीं** है। वे दो तरह की हंसी हैं – एक हाथों से मुख ढ़ंक कर हंसना और दूसरी ओठों को थोड़ा खोल कर हंसना।
2. जिस हंसी के हंसने में सारा शरीर हिलने लग जाए तो उसका प्रायश्चित्त एक **कल्याणक** है।[150]

रास्ते को लांघने के प्रायश्चित्त

1. मिट्टी का ढ़ेर, हरी घास, दो-इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय त्रसजीव, खड्डा और जल – इन चीजों को रास्ता होते हुए भी उनसे बचने के लिए लांघ कर जाए तो कल्याणक प्रायश्चित्त है।
2. मार्ग न होने पर उन्हें लांघना पड़े तो कोई प्रायश्चित्त नहीं है।[151]

कामोत्तेजक अंगुली चटकाने आदि क्रियाओं के प्रायश्चित्त

1. अंगुली को मुख से स्पर्श करने और अंगुली को चटकाने का **पुरुमण्डल** प्रायश्चित्त है।
2. टेढ़ी नजर से देखने का प्रायश्चित्त **एककल्याणक** है।
3. जिसे अन्य अश्रद्धालु भी देख लेवें – ऐसी कटाक्षभरी दृष्टि से देखने का प्रायश्चित्त **पंचकल्याणक** है।[152]

विकथाओं को करने के प्रायश्चित्त

1. एक बार स्त्रीकथा आदि विकथाओं के करने का प्रायश्चित्त **पुरुमण्डल** है।
2. बार-बार उन्हें करने का प्रायश्चित्त **पंचक** अर्थात् **पंचकल्याणक** है।
3. ललित, लास्य, ताण्डव आदि नृत्य विशेषों को उपयोग लगा कर देखने का और षडज, ऋषभ, गान्धार, पंचम, धैवत और निषाद – इन छह स्वरों को मन लगा कर सुनने का प्रायश्चित्त गर्हा अर्थात् आत्मनिन्दा है।
4. वसतिका से बाहर निकल कर इनके देखने सुनने का प्रायश्चित्त **कल्याणक** है।[153]

सचित्त-अचित्त वस्तुओं को सूँघने के प्रायश्चित्त

1. निर्जीव वस्तु को सूँघने का प्रायश्चित्त निर्विकृति है।
2. सचित्त वस्तु को सूँघने का प्रायश्चित्त पुरुमण्डल है।
3. सचित्त वस्तु को बार बार सूँघने का प्रायश्चित्त कल्याणक है।
4. त्याग की हुई वस्तु को सूँघने का प्रायश्चित्त कल्याणक है।[154]

छह रसों की लोलुपता करने के प्रायश्चित्त

1. दूध, दही, गुड़ आदि छह तरह के रसों को लोलुपतापूर्वक सेवन करने का प्रायश्चित्त **पंचक** अर्थात् **पंचकल्याणक** है।
2. यदि उक्त रस यथालाभ प्राप्त हों तो उनके सेवन करने में कोई दोष नहीं है।
3. अनासक्तिपूर्वक हवा, गर्मी और शीत को सेवन करने वाला भी शुद्ध है, प्रायश्चित्त का भागी नहीं है।[155]

संयमीजनों के द्वारा अयोग्य क्रियाओं को करने के प्रायश्चित्त

1. व्याधि आदि कारणों के बिना संयमीजनों की दृष्टि से अयोग्य.....थपथपी लगवाने, हाथ-पैर आदि दबवाने और तेल-मालिस कराने पर **कल्याणक** प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है।
2. पिच्छी से तकिया लगाने, हृदय ढ़कने और सिर ढ़कने का प्रायश्चित्त **कल्याणक** है। यदि व्याधिवश ऐसा कर ले तो उसका कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं है।
3. रास्ता चलते समय नंगे पैर चलने में असमर्थ होने के कारण.....और धूप के कारण पत्तों का छत्ता बना कर शिर पर तान लेने अथवा पत्तों से शरीर को ढ़क लेने वाला **कल्याणक** प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है। यदि व्याधिवश ऐसा कर लेवे तो शुद्ध ही है, उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है।[156]

सोने से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

1. कालशुद्धि होने पर भी यदि शास्त्र पढ़े बिना रात्रि के प्रथम प्रहर में सो जाए तो **कल्याणक** प्रायश्चित्त से शुद्ध होता है।
2. यदि काल-शुद्धि रहित समय में सो जाए तो **पुरुमण्डल** प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है।
3. जिसका सोने का स्वभाव पड़ा हुआ है, वह यदि दिन में सो जाए तो **कल्याणक** प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है।
4. जिसका सोने का स्वभाव नहीं है, वह यदि दिन में सो जाए तो उसको उसकी शुद्धि के लिए **भिन्नमास** प्रायश्चित्त देना चाहिए।[157]

अपरिग्रहव्रत सम्बन्धी प्रायश्चित्त

परिग्रहग्रहग्रस्तो यः, करोति कलहं पुनः।
मूलं तस्य समायाति, न याति परमां गतिम्।।[158]

अर्थात् जो साधु, हमेशा परिग्रहों से ग्रस्त रहता है, उसको **मूल प्रायश्चित्त** प्राप्त होता है अर्थात् उसे पुनर्दीक्षा धारण का प्रायश्चित्त है – ऐसा परिग्रहयुक्त साधु उत्तम गति/मुक्ति को प्राप्त नहीं होता है।

इस सम्बन्ध में प्रायश्चित्त विधान में लिखा है –

1. एक बार उपकरणादि पदार्थों के संग्रह करने की इच्छा होने पर प्रायश्चित्त, **एक उपवास** है।
2. एक बार ममत्व से उपकरण रखने पर प्रायश्चित्त, **एक उपवास** है।
3. यदि अन्य लोगों से दान दिलावें तो **पंचकल्याणक** प्रायश्चित्त है।
4. यदि सब परिग्रहों को रखे तो **पुनर्दीक्षा** प्रायश्चित्त है।[159]

आवश्यक पीछी-कमण्डलु आदि से सम्बन्धी प्रायश्चित्त

1. एक महिने में बना कर तैयार करने योग्य पुस्तक, कमण्डलु आदि चीजों को निरन्तर बनाता रहे अथवा अप्रासुक द्रव्य से बनावे तो **पंचकल्याणक** प्रायश्चित्त है।
2. यदि एक महिने में बना कर तैयार करने योग्य पुस्तक, कमण्डलु आदि चीजों को उतने ही समय में स्वाध्याय-व्याख्यान को छोड़े बिना प्रासुक द्रव्य से तैयार करे तो कोई प्रायश्चित्त नहीं है।
3. यदि उक्त चीजों को चार महिने में यथावसर चार महिने में प्रासुक द्रव्य से तैयार करे तो **कल्याणक** प्रायश्चित्त है।[160]

जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट चीजों की खरीदी करवाने का प्रायश्चित्त

मार्गोपयोगी जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट चीजों को जो समान मूल्य में खरीदी करवाता है; वह बिना प्रायश्चित्त के शुद्धि को प्राप्त होता है, लेकिन यदि गलत तरीके से उसकी खरीदी करवाता है या चोर, डाकू आदि से लेता है तो उसका प्रायश्चित्त **पंच कल्याणक** है।[161]

तृणपंचक, वस्त्रपंचक आदि के सेवन करने का प्रायश्चित्त

शाली, ब्रीही, कोद्रव, कमु और रक्क – इनको तृणपंचक कहते हैं; इनके सेवन करने का प्रायश्चित्त पाँच **निर्विकृति आहार** है। तथा वस्त्रपंचक, चर्मपंचक और आसनपंचक के एकबार उपभोग करने का प्रायश्चित्त **एक कल्याणक** है।

विशेष यह है कि दूष्य, प्रवार, चूरपट, क्षोभ और वस्त्र – ये पाँच अथवा अण्डज, वोडज, वालज, वल्कलज और शृंगज – ये पाँच वस्त्रपंचक होते हैं। व्याघचर्म, भल्लूकचर्म, हरिणचर्म, मेषचर्म और अजाचर्म – ये पाँच अजिन या चर्मपंचक हैं। तथा लोहासन, दण्डासन, मासंदक, आयाण्हक ओर पातिक – ये पाँच आसनपंचक हैं।[162]

अप्रतिलेख्य या अशोधित वस्तुओं के सेवन का प्रायश्चित्त

पाँच प्रकार के अप्रतिलेख्यों के एक बार सेवन करने का प्रायश्चित्त **पंचकल्याणक** है। जो शोधने में न आवे, उसे अप्रतिलेख्य कहते हैं; उनकी संख्या पाँच है। तथा संदंश (संडसी), नखलु, सुई आदि शब्द से पत्र-वेधनी, सलाई आदि चीजें पास रखने पर शुद्ध ही है अर्थात् इनके ग्रहण करने का कोई प्रायश्चित्त नहीं है।[163]

संस्तर सम्बन्धी प्रायश्चित्त

संथारा, बैठने की चटाई, कमण्डलु संपुट (कटोरे या दोने के आकार की वस्तु) आसन और फलक (लकड़ी की फड़ या तखत) – इन चीजों को काम में लेने में कोई दोष नहीं है।[164]

1. यदि कोई अप्रमत्त मुनि, जीव-जन्तुओं से रहित प्रदेश में संस्तर को शोधे बिना सो जाएँ तो उसका प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग है।
2. यदि वे मुनि, प्रमाद से जीव-जन्तुओं से रहित प्रदेश में संस्तर को शोधे बिना सो जाएँ तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।
3. इसी प्रकार यदि कोई अप्रमत्त मुनि, जीव-जन्तुओं से सहित स्थान में संस्तर को शोधे बिना सो जाएँ तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।
4. यदि कोई प्रमत्त मुनि, जीव-जन्तुओं से सहित स्थान में संस्तर को शोधे बिना सो जाएँ तो उसका प्रायश्चित्त, कल्याणक है।[165]

उपधि या संयमोपकरण को भूल जाने का प्रायश्चित्त

उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य संयमोपकरण के विस्मृत कर देने का प्रायश्चित्त, क्रम से **उपवास, आचाम्ल** और **पुरुमण्डल** है।

जो अच्छी तरह नहीं रखा गये, अतएव नष्ट हो गये – ऐसे सब तरह के संयमोपकरण के नाश का प्रायश्चित्त, **पंच कल्याणक** (अथवा मासिकोपवास) है। तथा अच्छी तरह नहीं रखे गये उत्कृष्ट संयमोपकरण के नाश का प्रायश्चित्त, **एक षष्ठ (बेला)**, मध्यम का एक उपवास और जघन्य का **आचाम्ल** प्रायश्चित्त है।

सिद्धान्त पुस्तकादि **उत्कृष्ट संयमोपकरण**, पीछी आदि **मध्यम संयमोपकरण** और कमण्डलु आदि **जघन्य संयमोपकरण** होते हैं।[166]

रात्रि-भोजन-त्यागव्रत के प्रायश्चित्त

जो मुनि, रोग के कारण.....एक बार जल ग्रहण करता है तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है। यदि किसी के द्वारा उपसर्ग होने पर कोई मुनि, रात्रि में भोजन-पान करे तो उसका प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है। यदि कोई मुनि, अपने दर्प से अनेक बार ऐसा करे तो उसका प्रायश्चित्त, पुनर्दीक्षा है।[167]

औषधि ग्रहण के प्रायश्चित्त

1. असह्य व्याधि के होने पर यत्नपूर्वक प्रासुक औषधोपचार करने में **मिथ्याकार** प्रायश्चित्त है।
2. सह्य व्याधि के होने पर यत्नपूर्वक प्रासुक औषधोपचार करने में **कल्याणक** प्रायश्चित्त है।
3. सह्य व्याधि के होने पर अयत्नपूर्वक प्रासुक औषधोपचार करने में **पंचकल्याणक** प्रायश्चित्त है।
4. असह्य व्याधि के होने पर अयत्नपूर्वक प्रासुक औषधोपचार करने में **कल्याणक** प्रायश्चित्त है।[168]

पाँच समितियों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

ईर्या समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त[169]

हरित अंकुर, पानी, कीचड़, आदि पर चलने का प्रायश्चित्त

1. जिस मार्ग में हरे अंकुर उगे हुए खड़े हैं; पानी, कीचड़, और जन्तु हैं – ऐसे मार्ग से मुनि, यदि दूसरा निर्जन्तुक मार्ग न हो तो प्रयत्नपूर्वक अर्थात् जीवों का रक्षण करते हुए गमन करने पर वह विशुद्ध है, अतः **प्रायश्चित्त के योग्य नहीं** है।
2. यदि विशुद्ध मार्ग होने पर भी वह मुनि, अंकुर, पानी, जन्तु, आदि को उल्लंघते हुए गमन करते हैं तो प्रमादपूर्वक गमन करने से **कल्याणपंचक नाम का दण्ड या प्रायश्चित्त** ग्रहण किया जाता है।[170]

इस सम्बन्ध में प्रायश्चित्त विधान में लिखा है –

- यदि कोई मुनि, टेढ़े मार्ग की एक कोश से कम प्रासुक भूमि पर गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, **एक कायोत्सर्ग** है।
- यदि वे सीधे मार्ग की एक कोश से कम अप्रासुक भूमि पर गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, **एक उपवास** है।
- यदि कोई मुनि, वर्षाकाल में तीन कोस तक प्रासुक भूमि पर गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, **एक उपवास** है।
- यदि कोई मुनि, वर्षाकाल में दिन में दो कोस अप्रासुक भूमि पर गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, **एक उपवास** है।
- यदि कोई मुनि, वर्षाकाल में रात्रि में एक कोस गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, **चार उपवास** है।
- यदि कोई मुनि, शीतकाल में दिन में प्रासुक भूमि पर छह कोस गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, **एक उपवास** है।
- यदि कोई मुनि, शीतकाल में दिन में अप्रासुक भूमि पर छह कोस गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।
- यदि कोई मुनि, शीतकाल में दिन में प्रासुक भूमि पर छह कोस गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, **एक उपवास** है।
- यदि कोई मुनि, शीतकाल में रात्रि में प्रासुक भूमि पर चार कोस गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।
- यदि कोई मुनि, ग्रीष्मकाल में दिन में प्रासुक भूमि पर नौ कोस गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।
- यदि कोई मुनि, ग्रीष्मकाल में दिन में अप्रासुक भूमि पर छह कोस गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।
- यदि कोई मुनि, ग्रीष्मकाल में रात्रि में अप्रासुक भूमि पर छह कोस गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, दो उपवास है।
- यदि मुनि, बिना पीछी के सात पैर तक चले तो उसका प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग है।
- यदि मुनि, बिना पीछी के एक कोस तक गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग है।
- यदि मुनि, घुटने तक पानी में गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग है।
- यदि मुनि, घुटने से चार अंगुल ऊपर तक पानी में गमन करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।
- इसके ऊपर प्रति चार अंगुल पर दूने-दूने उपवास के प्रायश्चित्त होते हैं।[171]

प्रश्न – मुनिराज बिना पीछी के चलें या नहीं ?

समाधान – यदि मुनिराज किसी जगह परवश होकर बिना मयूरपीछी के गमन करें तो फिर वे उसका प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि करते हैं।

बिना पीछी के गमन करने पर बिना प्रायश्चित्त लिये मुनिराज कभी नहीं रहते। बिना पीछी के गमन करने का प्रायश्चित्त इस प्रकार है –

- यदि मुनिराज बिना पीछी के सात पेंड (कदम) गमन करें तो एक कायोत्सर्ग धारण करके शुद्ध होते हैं।
- यदि मुनिराज बिना पीछी के एक कोस चलें तो एक उपवास कर शुद्ध होते हैं।
- यही बात चारित्रसार में लिखी है –

सप्तपादेषु निःपिच्छः कायोत्सर्गाद्विशुद्ध्यति।
गव्यूतिगमने शुद्धिमुपवासं समश्नुते।।[172]

भाषा समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

- यदि कोई मुनि, लोगों में जाकर भाषा समिति में दोष लगाते हुए वचन कहे तो उसका प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग है।
- यदि कोई मुनि, सम्यग्दृष्टि श्रावक के दोष प्रकाशित करे तो उसका प्रायश्चित्त चार उपवास है।
- यदि कोई मुनि, जल अग्नि बुहारी चक्की ऊखली और पानी आदि छह कर्मों के करने का वचन कहे तो उसका प्रायश्चित्त तीन उपवास है।
- यदि कोई मुनि, शृंगारादि के गीत स्वयं गावे या किसी से किसी से गवावे तो उसका प्रायश्चित्त चार उपवास है।

वही कहा है –

भासंताण पउज्जो, वेज्जो वोल्लइ पुवत्थिणं दोस।
काउस्सग्गो अट्ठम, अविरदया सुभबोधं हि।।[173]

एषणा समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

- यदि कोई मुनि, बिना जाने कन्दमूलादिक साधारण-प्रत्येक, सचित्त-अचित्त वनस्पति का एक बार भक्षण करे तथा अन्य सचित्त वनस्पति का एक बार भक्षण करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग है।
- यदि कोई मुनि, बिना जाने अनेक बार कन्दमूलादिक वनस्पतियों का भक्षण करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।
- यदि कोई मुनि, रोग के कारण कन्दादिक वनस्पतियों का भक्षण करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक कल्याणक है।
- यदि कोई मुनि, अपने सुख के लिए एक बार कन्दादिक का भक्षण करें तो उसका प्रायश्चित्त, पंच कल्याणक है।
- यदि कोई मुनि, अपने सुख के लिए अनेक बार कन्दादिक का भक्षण करें तो पुनर्दीक्षा प्रायश्चित्त है।
- यदि मुनि के आहार ले लेने पर दाता कहता है कि भोजन में जन्तु था, उसको दूर करके हमने आपको आहार दिया है, नही ंतो अन्तराय हो जाता – ऐसा सुन लेने पर प्रतिक्रमणसहित उपवास का प्रायश्चित्त होता है।
- आहार लेते समय थाली के बाहर गीली हड्डी आदि भारी अन्तराय दिखाई पड़े तो प्रतिक्रमणपूर्वक तीन उपवास का प्रायश्चित्त होता है।
- यदि भोजन में ही गीली हड्डी, चमड़ा आदि भारी अन्तराय आ जाए तो प्रतिक्रमणपूर्वक चार उपवास का प्रायश्चित्त होता है।
- यदि कोई मुनि, तीन-चार घड़ी सूर्योदय से पहले अथवा गोसर्ग समय में एक बार आहार करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग है।
- यदि कोई मुनि, तीन-चार घड़ी सूर्योदय से पहले अथवा गोसर्ग समय में अनेक बार आहार करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।
- यदि कोई मुनि, रोग के वशीभूत होकर एक बार अपने हाथ से अन्न बना कर भोजन करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।

- यदि कोई मुनि, रोग के वशीभूत होकर अनेक बार अपने हाथ से भोजन बना कर भोजन करे तो उसका प्रायश्चित्त, तीन उपवास है।
- यदि कोई मुनि, नीरोग अवस्था में एक बार अपने हाथ से भोजन बना कर भोजन करे तो उसका प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है।
- यदि कोई मुनि, नीरोग अवस्था में अनेक बार अपने हाथ से भोजन बना कर भोजन करे तो उसका प्रायश्चित्त, पुनर्दीक्षा है।[174]

आदाननिक्षेपण समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

- यदि कोई मुनि, दिन में काठ-पत्थर हटावें या दूसरी जगह रखें तो उसका प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग है।
- यदि कोई मुनि, रात्रि में काठ-पत्थर को उठावें या हिलावें या दूसरी जगह रखें या रात्रि में इधर-उधर भ्रमण करें तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।[175]

प्रतिष्ठापना समिति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

- यदि कोई मुनि, हरितकाय पृथ्वी पर रात्रि में एक बार मलमूत्र का निक्षेपण करें तो उसका प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग है।
- यदि कोई मुनि, हरितकाय पृथ्वी पर रात्रि में बार-बार मलमूत्र का निक्षेपण करें तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।[176]

पाँच समितियों से सम्बन्धित अन्य प्रायश्चित्त

1. जो यति, बिना दिये हुए पुस्तक आदि उत्कृष्ट उपकरण, पिच्छी आदि मध्यम उपकरण और कमण्डलु आदि जघन्य उपकरण ग्रहण करता है; उसके लिए क्रम से लघुमास, कल्याणक और **पुरुमण्डल** प्रायश्चित्त है।
2. आचार्य को पूछे बिना मल-त्याग करने, विहार करने, आहार करने तथा दो-चार कोश दूरवर्ती ग्राम में जाने का प्रायश्चित्त **पुरुमण्डल** है।
3. अपरिमित आहार ग्रहण करने, चार या पाँच आदमी जिसमें निवास करते हों – ऐसे मकान में प्रवेश करने और श्रावकों के घर आदि में प्रवेश करने का प्रायश्चित्त **कल्याणक** है।
4. अन्य के लिए दिये हुए उपकरण के स्थान पर यदि कोई दूसरा मुनि उसे ग्रहण करता है तो वह **पंचकल्याणक** प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है तथा लिंग को विपरीत करने वाले यति को **मूल** अर्थात् **पुनर्दीक्षा** प्रायश्चित्त देना चाहिए।
5. अतिबाल और अतिवृद्ध को दी दीक्षा देने वाला तथा दी गई वसति में विघ्न डालने वाला आचार्य पंचकल्याणक प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है। अन्य साधु को जब कोई आचार्य मूल या छेद प्रायश्चित्त देता है तो वह स्वयं उपवासादि तप प्रायश्चित्त को ग्रहण करता है।
6. इस प्रकार तप आदि प्रायश्चित्त देने के अलावा आचार्य दोषाचरणों के होने पर विचार करके अन्य यथोचित प्रायश्चित्त भी दे सकता है।[177]

पंचेन्द्रिय-विजय से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

- यदि कोई मुनि, अप्रमत्त होकर स्पर्शन-इन्द्रिय का विषय-पोषण करें तो उसका प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग है।
- यदि कोई मुनि, अप्रमत्त होकर रसना-इन्द्रिय का विषय-पोषण करें तो उसका प्रायश्चित्त, दो कायोत्सर्ग है।
- यदि कोई मुनि, अप्रमत्त होकर घ्राण-इन्द्रिय का विषय-पोषण करें तो उसका प्रायश्चित्त, तीन कायोत्सर्ग है।
- यदि कोई मुनि, अप्रमत्त होकर चक्षु-इन्द्रिय का विषय-पोषण करें तो उसका प्रायश्चित्त, चार कायोत्सर्ग है।
- यदि कोई मुनि, अप्रमत्त होकर कर्ण-इन्द्रिय का विषय-पोषण करें तो उसका प्रायश्चित्त, पाँच कायोत्सर्ग है।
- तथा यदि कोई मुनि, प्रमादी होकर इन इन्द्रियों को वश में न करे तो उसका प्रायश्चित्त, क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पाँच उपवास है।[178]

मुनियों के षट्-आवश्यकों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

- यदि कोई मुनि, वन्दना आदि छह आवश्यकों के करने में तीनों कालों के नियमों को भूल जाए अथवा समय का अतिक्रम हो जाए तो उसका प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमणपूर्वक एक उपवास है।
- यदि कोई मुनि, तीन पक्ष तक प्रतिक्रमण न करे तो उसका प्रायश्चित्त, दो उपवास है।
- यदि कोई मुनि, चार माह तक प्रतिक्रमण न करे तो उसका प्रायश्चित्त, आठ उपवास है।
- यदि कोई मुनि, वर्ष पर्यन्त तक प्रतिक्रमण न करे तो उसका प्रायश्चित्त, चौबीस उपवास है।[179]

मुनियों के सात शेष गुणों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

केशलोंच से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

- यदि कोई रोगी मुनि, चार महीने के बाद केशलोंच करें तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।
- यदि कोई रोगी मुनि, एक वर्ष के बाद केशलोंच करें तो उसका प्रायश्चित्त, तीन उपवास है।
- यदि कोई रोगी मुनि, पाँच वर्ष के बाद केशलोंच करें तो उसका प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है।
- यदि कोई नीरोगी मुनि, चार महीने के बाद, एक वर्ष के बाद या पाँच वर्ष के बाद केशलोंच करे तो उसका प्रायश्चित्त, निरन्तर पंचकल्याणक है।[180]

नग्नता से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

- यदि कोई मुनि, किसी उपसर्ग के कारण वस्त्र ओढ़ ले तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।
- यदि कोई मुनि, किसी व्याधि के कारण वस्त्र ओढ़ ले तो उसका प्रायश्चित्त, तीन उपवास है।
- यदि कोई मुनि, अपने दर्प के कारण वस्त्र ओढ़ ले तो उसका प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है।
- यदि कोई मुनि, किसी अन्य कारण से वस्त्र ओढ़ ले तो उसका प्रायश्चित्त, पुनर्दीक्षा है।[181]

अस्नानता, क्षितिशयन, अन्तधोवन, स्थितिभोजन, एकभक्तभोजन आदि शेष मूलगुणों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

- यदि कोई मुनि, एक बार स्नान करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक पंचकल्याणक है।
- यदि कोई मुनि, एक बार दन्तधावन करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक पंचकल्याणक है।
- यदि कोई मुनि, एक बार कोमल शैय्या करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक पंचकल्याणक है।
- यदि कोई मुनि, बार-बार इनको करे तो उसका प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है।
- यदि कोई मुनि, प्रमाद से एक बार बैठ कर भोजन करे तो उसका प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है।
- यदि कोई मुनि, प्रमाद से दिन में दो बार भोजन करे तो उसका प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है।
- यदि कोई मुनि, अहंकार से एक बार बैठ कर भोजन करे या दिन में दो बार स्नान करे तो उसका प्रायश्चित्त, दीक्षाछेद है।
- यदि कोई मुनि, अहंकार से बार-बार बैठ कर भोजन करे या बार-बार दिन में दो बार स्नान करे तो उसका प्रायश्चित्त, पुनर्दीक्षा है।[182]

मूलगुणों के पालन में संक्लेश परिणाम करने का प्रायश्चित्त

- यदि कोई मुनि, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों के निरोध, भूशयन, केशलोंच और अदन्तधावन – इन तेरह मूलगुणों में एक बार संक्लेश परिणाम करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है।
- यदि इन तेरह मूलगुणों में बार-बार संक्लेश परिणाम करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है।
- यदि कोई मुनि, बाकी के पन्द्रह मूलगुणों में एक बार संक्लेश परिणाम करें तो उसका प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है।
- यदि कोई मुनि, बाकी के पन्द्रह मूलगुणों में बार-बार संक्लेश परिणाम करें तो उसका प्रायश्चित्त, पुनर्दीक्षा है।[183]

उत्तरगुणों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

- यदि कोई मुनि, मर्यादापूर्वक स्थिरयोग धारण करे और उसको मर्यादा से पूर्व समाप्त कर दे तो जितना शेष काल रहा, उसका प्रायश्चित्त, उतने उपवास है।
- इसी प्रकार एक महीने के तीन भाग करें – यदि उसके प्रथम भाग में प्रतिक्रमण न करें तो उसका प्रायश्चित्त, एक पंचकल्याणक है।
- यदि उसके द्वितीय भाग में प्रतिक्रमण न करें तो उसका प्रायश्चित्त, उतने उपवास हैं।
- यदि उसके तृतीय भाग में प्रतिक्रमण न करें तो उसका प्रायश्चित्त, एक लघुकल्याणक है।[184]

अप्रासुक भूमि पर या भूमि को मनोहर देख कर योग धारण करने का प्रायश्चित्त

- यदि किसी मुनि ने किसी अप्रासुक भूमि पर एक बार योग धारण किया तो उसका प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमणपूर्वक एक उपवास है।
- यदि किसी मुनि ने किसी अप्रासुक भूमि पर अनेक बार योग धारण किया तो उसका प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है।
- यदि कोई मुनि, किसी योग की भूमि को मनोहर देख कर उससे मोह करे तो उसका प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है।
- यदि कोई मुनि, किसी योग की भूमि को मनोहर देख कर उस पर अहंकार करे तो उसका प्रायश्चित्त, पुनर्दीक्षा है।[185]

वसतिका आदि बनवाने का उपदेश देने से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

- जो मुनि, गाँव, नगर, घर, वसतिका आदि के बनवाने में दोषों को न जानता हुआ उसके बनवाने का उपदेश करे तो उसका प्रायश्चित्त, एक कल्याणक है।
- यदि वह उसके दोषों को जानता हुआ आरम्भ का उपदेश करे तो उसका प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है।
- यदि वह गर्व या अहंकार से उनके बनवाने का उपदेश करे तो उसका प्रायश्चित्त, पुनर्दीक्षा है।[186]

पूजा आदि करने के उपदेश देने से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

- यदि कोई मुनि, पूजा के आरम्भ से उत्पन्न होने वाले दोषों को नहीं जानता हुआ, एक बार गृहस्थों को पूजा करने का उपदेश करे तो उसका प्रायश्चित्त, उसके आरम्भ के अनुसार आलोचना या कायोत्सर्ग से लेकर उपवास है।
- यदि वे मुनि, बार-बार उपदेश करें तो उसका प्रायश्चित्त, पंचकल्याणक है।
- यदि मुनि, पूजा के आरम्भ के दोषों को जानते हुए एक बार उपदेश करें तो उसका प्रायश्चित्त, मासिक पंचकल्याणक है।
- तथा जिस पूजा के उपदेश देने से छह कायिक जीवों का वध होता हो तो उसका प्रायश्चित्त, छेदोपस्थापना अथवा पुनर्दीक्षा है।[187]

अपने द्वारा कमण्डलु आदि या अन्य पात्र आदि उपकरण टूटने आदि का प्रायश्चित्त

यदि किसी मुनि से कमण्डलु आदि उपकरण नष्ट हो गये हों, टूट गये हों तो उस मुनि को वे उपकरण, जितने अंगुल टूटे-फूटे हों, उतने उपवास करना चाहिए।[188] इसी प्रकार का वर्णन श्वेताम्बर परम्परा में निशीथसूत्र में पात्र आदि को बुद्धिपूर्वक तोड़ने को प्रायश्चित्त योग्य कहा है।[189]

मिथ्यादृष्टि लोगों से कलह करने का प्रायश्चित्त

मिथ्यादृष्टिजनानां यः, करोति कलहं पुनः।
बहूपवाससंयुक्तं, मौनं तस्य प्रदीयते।।149।।[190]

अर्थात् जो मुनि, मिथ्यादृष्टि लोगों से कलह करता है, उस मुनि को **अनेक उपवास सहित मौन का प्रायश्चित्त** आचार्य देते हैं।

मुनियों के बीच हाथों से कलह करने का प्रायश्चित्त

मुनिमध्यगतो यस्तु, हस्ताभ्यां कुरुते कलिम्।
तस्य षष्ठेन षण्मासान्प्रायश्चित्तमुपाश्रितः।।134।।[191]

अर्थात् जो मुनि, मुनियों के बीच में हाथों से कलह करता है, उस मुनि को **छह महिनों तक षष्ठोपवास** – दो-दो उपवासपूर्वक पारणा करने का प्रायश्चित्त है।

नाचने, गाने और निद्रा से जगाने का प्रायश्चित्त

असंयतजनानां हि, बोधने विहिते सति।
नृत्ये गाने च साधूनामष्टमं दण्ड इष्यते।।135।।[192]

अर्थात् जो साधु, असंयमी लोगों को तथा साधुओं को भी निद्रा में से जगाता है और 'तुम नाचो, गाओ' – ऐसा बोलता है, उसको **अष्टम उपवास अर्थात् तीन उपवासपूर्वक पारणा का प्रायश्चित्त** है।

संघापराध प्रगट करने का प्रायश्चित्त

चतुर्विधस्य संघस्य, योऽपराधान्विभाषते
अभाष्योऽवन्दनीयश्च,स गणो गणकोऽथवा।।136।।[193]

अर्थात् ऋषि, मुनि, यति और अनगार अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका – यह चार प्रकार का संघ कहलाता है; इनके दोषों को जो मुनि अथवा आचार्य बोलता है, प्रगट करता है; उसका प्रायश्चित्त यही है कि **उसके साथ कोई नहीं बोले और उसकी वन्दना भी नहीं करे**।

सिद्धान्तसारसंग्रह के इस श्लोक का हिन्दी भाषान्तर करते हुए श्री जिनदास फडकुले शास्त्री लिखते हैं कि ऐसे साधु को संघ से निकाल देना चाहिए तथा यदि वह दूसरे गण में जाएगा तो उससे भी उसको हटाना चाहिए; लेकिन यदि पश्चात्ताप से सन्तप्त होकर वह 'हे भगवन्! मुझे प्रायश्चित्त दीजिए' – ऐसा कहता है तो **चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ में उसकी विशुद्धि** करनी चाहिए।

स्वाध्याय के लिए औद्देशिक दोष सेवन करने का प्रायश्चित्त

स्वाध्यायाऽपेक्षया साधुः, सेवते यदि यत्नतः।
औद्देशिकं ततस्तस्मात्प्रतिक्रान्तिः स शुद्ध्यति।।137।।[194]

अर्थात् यदि कोई मुनि, स्वाध्याय के लिए प्रयत्नपूर्वक औद्देशिक आदि दोषों का सेवन करता है तो वह **प्रतिक्रमण से शुद्ध** होता है।

दुःशील, क्रोधी, मिथ्यात्वी, आदि के साथ विहार करने पर प्रायश्चित्त

दुःशीलक्रोधमिथ्यात्वमानमायाविलैः सह।
विहारे पंचकल्याणं,जायते शुद्धिहेतवे।।138।।[195]

अर्थात् दुःशील, क्रोधी, मिथ्यात्वी, मानी, मायावी – ऐसे मनुष्यों के साथ यदि साधु विहार करे तो उसकी शुद्धि के लिए **पंचकल्याण नामक प्रायश्चित्त** होता है।

अर्हन्तादि के अवर्णवाद का प्रायश्चित्त

अर्हदाचार्यसाधूनामुपाध्यायस्य वा पुनः।
अवर्णे वा प्रमादेन, क्षमणेन विशुद्ध्यति।।
क्रोधेन गर्वतो वाऽपि, कृते तेषां विनिन्दने।
कर्तुर्मिथ्यादृशो नास्ति,दण्डः संसारभागिनः।।139।।[196]

अर्थात् जो मुनि, अर्हन्त, आचार्य, साधु अथवा उपाध्याय – इनके ऊपर प्रमाद से अवर्णवाद करता है, दोष न होते हुए भी दोषारोपण करता है; वह **एक उपवास से शुद्धि** को प्राप्त करता है; लेकिन यदि साधु ने क्रोध से अथवा गर्व से उनकी निन्दा की हो तो **संसार में घूमने वाले उस मिथ्यादृष्टि को कोई प्रायश्चित्त** नहीं है।

शिला, भूमि, पेट, जंघा आदि पर सूत्र लिखने का प्रायश्चित्त

शिलायां भूमिदेशे वा, जंघाया जठरेऽपि वा।
विलिख्य पठतः सूत्रं, प्रायश्चित्तं प्रजायते।।142।।[197]

अर्थात् यदि कोई साधु, शिला पर, 7भूमि पर, जांघों पर या पेट पर कोई सूत्र या सिद्धान्त लिख कर उसे पढ़ता है तो उसको प्रायश्चित्त का विधान कहा है अर्थात् शिला या भूमि पर सूत्र लिखने से **उपवास प्रायश्चित्त** है तथा उदरादि पर सूत्र लिखने पर **आलोचना प्रायश्चित्त** होता है।

धर्मच्युत मिथ्यादृष्टि लोगों के घरों में आहार करने का प्रायश्चित्त

अश्रावकगृहे भुक्तिं, कुर्वन्वा च्युतधर्मिणः।
सोपस्थानचतुर्थेन, शुद्धत्यज्ञानतो यतिः।।140।।
अनाभोगान्मुहुस्तस्य, मासिको दण्ड इष्यते।
आभोगेन तु यात्येष, मूलभूमिं नराधमः।।141।।[198]

अर्थात् जो श्रावक नहीं हैं – ऐसे मिथ्यादृष्टि लोगों के घर में तथा जो धर्मच्युत हैं – ऐसे लोगों के घर में अज्ञान से यदि आहार लेंगे तो **प्रतिक्रमण के साथ उपवास** का प्रायश्चित्त लेना चाहिए। अनाभोग से – अप्रगटरूप से बारम्बार यदि मुनि आहार लेंगे तो उनको **मासिक प्रायश्चित्त** है और आभोग से – प्रगटरूप से यदि बार-बार आहार लेंगे तो **मूलभूमि नामक प्रायश्चित्त** का पात्र होता है, इस मूलभूमि प्रायश्चित्त में **दिवसादिरूप से दीक्षाच्छेद** होता है।

ज्ञानोपकरण और औषधि के निषेध का प्रायश्चित्त

ज्ञानोपकरणं किंचिद्, दीयमानं महौषधम्।
निषेधयेत्प्रमादेन, पंचकल्याणमश्नुते।।143।।
तदेव च मुहु साधोरावासमथवा पुनः।
प्रत्याख्यातुर्भवेन्नित्यं, मासिकं शोधनं मुनेः।।144।।[199]

अर्थात् जो साधु, ज्ञान का उपकरण – शास्त्रादि और औषध देने वालों का प्रमाद से निषेध करता है तो वह **पंचकल्याण प्रायश्चित्त** को प्राप्त होता है। तथा यदि वह साधु, उन ज्ञानोपकरण और औषध का बारम्बार निषेध करता है तथा यदि किसी साधु या यति को आवास या वसतिका देने का निषेध करता है तो उसे **मासिक प्रायश्चित्त** देना चाहिए।

चाण्डाल-स्पर्श का प्रायश्चित्त

चाण्डालेन समं स्याच्चेच्छुप्तिर्यस्य प्रमादतः।
पंचकल्याणकेनाऽसौ, शुद्धः स्यादिति निश्चितम्।।147।।[200]

अर्थात् जिस साधु का प्रमाद से चाण्डाल से स्पर्श होगा, उस साधु की शुद्धि **पंचकल्याण प्रायश्चित्त** से होती है – ऐसा आचार्यों ने निश्चित किया है।

शूद्र-दीक्षा देने वाले का प्रायश्चित्त

ब्राह्मणक्षत्रियाणां च, वैश्यानां च प्रकल्पते।
जैनी मुद्रा निहीनाय, दत्ता पापाय जायते।।148।।[201]

अर्थात् जैनी मुद्रा – दिगम्बर मुद्रा धारण करने का विधान ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को ही योग्य है; इनसे जो हीन शूद्रादिक हैं, उनको यदि दीक्षा दी जाती है तो **दीक्षा-दाता, प्रायश्चित्त के योग्य** होता है।[323]

दीक्षाच्छेद के योग्य प्रायश्चित्त कब ?[202]

शंका – दीक्षाच्छेद कब किया जाता है?

समाधान – इसका समाधान सिद्धान्तसारसंग्रह में आठ श्लोकों में किया गया है –

शोधयितुं न यो दोषः, शक्यते तपसापि वा।
दीक्षा विच्छिद्यते तेन, क्लिन्नताम्बूलपत्रवत्।।98।।

अर्थात् जो दोष, तपश्चरण से भी निवारित नहीं किया जाता, दूर नहीं होता – ऐसे दोष से **दीक्षा छेद** किया जाता है अर्थात् वह दोष, दीक्षा को भी नष्ट करता है। जैसे, पानी से भीगा हुआ ताम्बूलपत्र सड़ जाता है, वैसे ही कोई-कोई दोष, मुनियों की दीक्षा को भी नष्ट करता है।

आचार्यगणमुत्सृज्य, भ्राम्यत्येको महीतले।
यावत्क्रियामजानानस्तावद्दीक्षाऽस्य छिद्यते।।99।।

अर्थात् ऐसा दोषी साधु, आचार्यों का गण छोड़ कर, अकेला पृथ्वी पर विचरण करता है तथा जब तक वह सम्यक् क्रिया को नहीं जानता और अपनी क्रिया नहीं सुधारता; तब तक उसकी **दीक्षा छेदी** जाती है।

पार्श्वस्थगणसंयुक्तः, षण्मासाऽन्यो व्यवस्थितः।
तपस्तस्य भवेदूर्ध्वं, छेद एव निगद्यते।।100।।

अर्थात् जो साधु, पार्श्वस्थ अर्थात् भ्रष्ट मुनिसमूह के साथ छह महिने तक रहते हैं; उनकी दीक्षा छेदी जाती है। इस प्रकार यह **छेद नामक प्रायश्चित्त** है।

न सन्त्यत्र पुनस्तस्य, व्रतारोपणमीर्यते।
श्रामण्योक्ता गुणा यस्य, नश्यन्ति कार्त्स्न्यतोऽथवा।।101।।

अर्थात् जिनके मुनिपद योग्य सब गुण नष्ट हुए हैं अथवा जिनके पास कुछ भी गुण नहीं हैं, उनको पुनः व्रतारोपण नहीं किया जाता।

जिनसूत्राऽपरिज्ञानादुत्सूत्रं वर्णयेत्पुनः।
स्वच्छन्दस्य भवेत्तस्य, मूलदण्डो विधानतः।।102।।

अर्थात् जो जिनसूत्र का ज्ञान न होने से उत्सूत्र प्रतिपादन करता है, उस स्वच्छन्द मुनि को शास्त्रोक्त विधि से मूल दण्ड देना चाहिए अर्थात् उसको **पुनः दीक्षा** देना चाहिए।

अत एव महात्मानो, जिन-सिद्धान्त-वेदिनः।
उपवासे परायत्तास्तपः कुर्वन्त्यहर्निशम्।।103।।

अर्थात् अतएव जो सत्पुरुष हैं और जिन-सिद्धान्त के वेत्ता हैं; वे मुनि, निरन्तर उपवास करते हुए तप में लीन रहते हैं।

तत्पार्श्वस्थाऽवसन्नैक- कुशील - मृगचारिषु।
ये गृहीतव्रतास्तेषां, दातव्यं मूलमेव च।।104।।

अर्थात् जो पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और मृगचारी के पास दीक्षा ग्रहण करते हैं; उनको मूल प्रायश्चित्त ही देना चाहिए अर्थात् उनको **पुनः दीक्षा** देनी चाहिए।।

आर्यिकाओं के प्रायश्चित्त[203]

वस्त्रप्रक्षालनात्तावदार्यिकाणां विशोषणम्।
वस्त्रयुग्ममतिक्रम्य, तृतीये मूलमिष्यते।।150।।

अपज्ञापयुता नित्य-कल्पिता शून्यकारिणी।
आज्ञाविवर्जिता देशान्निःसार्या या विधर्मिणी।।151।।

यतिना सह या वाच्यं, गतार्यानामधारिका।
हा हा कष्टं वचोऽप्यस्या, महापापमिति श्रुतम्।।152।।

तस्मान्नामाऽपि न ग्राह्यमुभयोरनयोरिह।
अन्येनाऽपि प्रयुक्तेऽस्मिन्पिधातव्ये श्रुती क्षणात्।।153।।
रजसा दर्शनाच्छुद्धिरार्याणां क्षमणैरथ।
चतुर्भिर्नीरसाहारैर्यथाशक्त्या प्रजायते।।154।।
चतुर्थे दिवसे तस्या, मौनेनाऽऽवश्यका क्रिया।
मता पश्राग्दुरोः पार्श्वे, व्रतं ग्राह्यं पुनस्तया।।155।।
मासे मासे च भंगः स्याद्रामाणां रजसा व्रते।
अत एव न शुद्ध्यन्ति, स्त्रियो हीनमयच्युताः।।156।।

अर्थात् यदि आर्यिका, वस्त्र-प्रक्षालन में अप्रासुक जल का प्रयोग करती है तो उसे **एक उपवास का प्रायश्चित्त** है।

यदि आर्यिका, अपने पास दो वस्त्र से अधिक तीसरा वस्त्र रखती है तो उसे **मूल प्रायश्चित्त** होता है।

जो आर्यिका, आज्ञापालन नहीं करती अर्थात् अपनी गणिनी की आज्ञा नहीं मानती और जिसने धर्मत्याग किया है अर्थात् जो स्वच्छन्दचारिणी हुई है, जिसने जिनशासन का त्याग किया है, जो यति के साथ निन्दा या अपकीर्ति को प्राप्त हुई है; वह केवल आर्यिका नाम धारण करने वाली है, **वह भावार्यिका नहीं** है, भावार्यिका के गुण उसमें कुछ भी नहीं हैं। अरे रे! उसका नाम भी महा कष्टकारक है, उसका **नाम-श्रवण भी महा पाप का कारण** है; इसलिए उन दोनों का नाम भी नहीं ग्रहण करना चाहिए। यदि अन्य किसी ने उनके नाम का उच्चारण भी किया तो अपने दोनों कान हाथों से ढँक लेना चाहिए।

आर्यिका के रज दीखने पर उसकी शुद्धि, **चार उपवास से अथवा चार नीरस आहार** से होती है अर्थात् आर्यिका को अपनी शक्ति के अनुसार चार उपवास या चार नीरसाहार करना चाहिए। तत्पश्चात् चौथे दिन वह मौन से सामायिक, प्रतिक्रमण, आदि करे; तदनन्तर उसे **गुरु के पास व्रतारोपण या व्रतग्रहण** करना चाहिए क्योंकि **रजोधर्म के कारण प्रतिमाह स्त्रियों के व्रतों का नाश** होता है, रजोदर्शन के समय वे शुद्ध नहीं होतीं।

प्रायश्चित्त विधान में आचार्य सन्मतिसागर द्वारा लिखित टिप्पणी में एक प्राकृत गाथा से इस विषय का प्रारम्भ किया गया है –

सह समणाणं भणियं, समणीणं तह य होय मलहरणं।
वज्जिय तियाल जोगं, दिणपडिमं छेदमालं च।।[204]

अर्थात् जो पहले मुनीश्वरों के प्रायश्चित्तों का वर्णन किया है; उसी प्रकार आर्यिकाओं के प्रायश्चित्त समझना चाहिए; उनमें विशेष केवल इतना ही है कि आर्यिकाओं को त्रिकाल योग धारण और सूर्य प्रतिमा योग धारण – ये दो प्रकार के योग धारण नहीं करना चाहिए। शेष सब उनके प्रायश्चित्त, मुनियों के समान जानना चाहिए।

आर्यिकाओं के रजस्वला होने पर रखने योग्य सावधानियाँ[205]

- यदि आर्यिका, रजस्वला हो जाए तो उसे उस दिन से चौथे दिन तक अपने संघ से अलग होकर किसी एकान्त स्थान में रहना चाहिए।
- आर्यिका को उन दिनों आचाम्ल व्रत (भात-माड़ खाकर) तथा निर्विकृत भोजन अथवा उपवास धारण कर रहना चाहिए।
- सामायिक आदि पाठ का मुख से उच्चारण नहीं करना चाहिए। इन पाठों का उसे मन से चिन्तवन करना चाहिए।
- इन दिनों उस आर्यिका को प्रासुक जल से अपने अंग और वस्त्र को यथायोग्य रीति से शुद्ध कर लेना चाहिए।
- पाँचवें दिन प्रासुक जल से स्नान कर तथा यथायोग्य रीति से वस्त्र धोकर अपने गुरु के समीप जाना चाहिए और अपनी शक्ति के अनुसार किसी एक वस्तु के त्याग करने का नियम कर लेना चाहिए।

- इसमें जो आर्यिका के लिए स्नान और वस्त्र प्रक्षालन कहा गया है, सो ये दोनों ही क्रियाएँ गृहस्थों के समान नहीं हैं, किन्तु अपने वा दूसरे के कमण्डलु के प्रासुक जल से यथायोग्य शरीर को धोना और रक्त मिले हुए वस्त्र को शुद्ध करना है।
- यदि वह इतना भी न करे तो उसका निरन्तराय आहार कैसे हो ? तथा सामायिक आदि छह आवश्यक कर्म किस प्रकार बन सकेंगे। गणिनी के साथ बैठना, गणिनी वा अन्य आर्यिकाओं को स्पर्श करना, धर्मोपदेश देना, पढ़ना, पढ़ाना, जिनदर्शन करना, आचार्यादि के दर्शन करना और शास्त्र श्रवण करना आदि कार्य किस प्रकार बन सकें।
- यदि वह स्नानादि नहीं करे तो चार दिन तक वह तो एकान्त स्थान में मौन धारण कर, गणिनी से अलग, सामायिक आदि क्रियाओं के आचरण से रहित रहती हैं सो उसका वह रहना भी नहीं बन सकेगा।
- आर्यिका के साक्षात् महाव्रत तो हैं नहीं; न साक्षात् अट्ठाईस मूलगुण हैं; इसलिए उसको स्नानादि का दोष नहीं लगता।
- इसके सिवाय एक बात यह भी है कि वह जो स्नान और वस्त्र-प्रक्षालन करती है, उसका वह प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होती है। आर्यिका जो वह स्नानादि करती है, सो सुख के लिए नहीं करती।
- यदि आर्यिका अप्रासुक जल से वस्त्र धोवे तो उसका प्रायश्चित्त, एक उपवास है। यदि वह अपने पात्र तथा वस्त्रों को प्रासुक जल से धोवे तो उसका प्रायश्चित्त, एक कायोत्सर्ग है। इस प्रकार वह आर्यिका, यथायोग्य रीति से अपने शरीर, वस्त्र आदि धोने का प्रायश्चित्त लेती है। गृहस्थ के समान स्नान करने का उसको अधिकार नहीं है।

स्नान के सम्बन्ध में निम्न गाथा द्रष्टव्य है –

तिविहो वि होइ ण्हाणं, तोएण वदेण मंत संजुत्तं।
तोएण गिहत्थाणं, मंतेण वदेण साहूणं।।

अर्थात् जैन शास्त्रों में तीन प्रकार के स्नान कहे गये हैं – जलस्नान, व्रतस्नान और मन्त्रस्नान। इनमें से जलस्नान गृहस्थों के लिए बतलाया है तथा साधुओं को व्रतस्नान और मन्त्रस्नान कहा गया है।

प्रायश्चित्त चूलिका में उल्लिखित अन्य प्रायश्चित्त[206]

प्रायश्चित्त चूलिका में अन्य भी अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों का कथन किया गया है। यहाँ उनका विस्तार न करते हुए मात्र उल्लेख किया जा रहा है। जैसे, चित्रों आदि फाड़ने आदि, स्वाध्याय क्रिया की हानि, षट् आवश्यक की हानि, दरवाजे खोलने, बन्द करने, कमण्डलु शोधन, मुख धोने से सम्बन्धी, आगन्तुक श्रमण सम्बन्धी, प्रायश्चित्त विधान के उल्लंघन, योग्य आहार के निषेध, योग्य पुस्तक या औषध या आहार के निषेध, वैयावृत्य, शयन, देश-काल, संघापराध, दीक्षा अयोग्य, गुप्त अपराध, समाधि, गृहस्थों से सम्पर्क, क्षुल्लक योग्य क्रियाएँ इत्यादि विषयों के प्रायश्चित्तों का वर्णन प्रायश्चित्त चूलिका में श्लोक 95 से 136 तक किया गया है।

मुनियों के प्रायश्चित्त से श्रावक के प्रायश्चित्त की तुलना[207]

पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकों के ग्यारह स्थान होते हैं, जिन्हें **ग्यारह प्रतिमाएँ** कहते हैं; इन ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावकों उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकारों में विभाजित किया गया है; उनकी इसी भूमिका को ध्यान में रख कर, सिद्धान्तसारसंग्रह में उनके प्रायश्चित्तों को भी तीन प्रकारों में वर्णित किया है –

यतीनामर्द्धदण्डः स्यात्तेषामन्तद्वयोरपि।
तस्याप्यर्द्ध त्रये तस्याप्यर्द्धं षण्णामुदीरितम्।।162।।

अर्थात् जो यतियों को प्रायश्चित्त दिया जाता है, उसका आधा प्रायश्चित्त दसवीं व ग्यारहवीं प्रतिमा वालों को होता है। इनके प्रायश्चित्त से आधा प्रायश्चित्त सातवीं, आठवीं और नवमीं प्रतिमा वालों को होता है। इसी प्रकार इनके प्रायश्चित्त से आधा प्रायश्चित्त पहली से छठी प्रतिमा वालों को होता है।

श्रावकाणां विशेषेण, प्रायश्चित्तं जिनागमात्।
परिज्ञाय प्रदातव्यं, नान्यथा मुनिपुंगवैः।।163।।

अर्थात् श्रावकों को जो **विशेष प्रायश्चित्त** दिये जाते हैं, उनका निर्धारण श्रेष्ठ मुनियों को जिनागम के आधार पर करना चाहिए, अन्यथा नहीं।

दोषों के अनुसार प्रायश्चित्त का विधान

ये तु जीवाश्रिताः सन्ति, भावास्तीव्रादयः पुनः।
तद्वशाद्बहुधा देयं, शोधनं शुद्धिहेतवे।। 164।।[208]

अर्थात् जीव के आश्रय से तीव्र-मन्द-मध्यमादि भाव होते हैं, जिनके कारण दोषों में तीव-मन्दादि भेद होते हैं; अतः उस कारण **प्रायश्चित्त भी कोमल-मृदु आदि अनेक भेद वाले** होते हैं – इन प्रायश्चित्तों को शुद्धि के लिए देना चाहिए।

गृहस्थों को लेने योग्य प्रायश्चित्त का वर्णन, प्रायश्चित्त विधान में सर्व प्रथम गृहस्थों के नित्य करने योग्य अनुष्ठान की विधि बताई गई है –

अरह यति सूरीय, चारित्त सज्झ संजमो।
वय पालण दाणं च, अणुट्ठेय गिहासमे।।[209]

अर्थात् गृहस्थाश्रमवासी श्रावकों को प्रतिदिन अर्हन्त भगवान की पूजा; आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठियों की अर्चना, भक्ति; स्वाध्याय – आर्ष परम्परागत ग्रन्थों का अध्ययन, शक्ति के अनुसार इन्द्रियसंयम और प्राणीसंयम का धारण; अणुव्रतों का पालन; एवं चतुर्विध संघ को चार प्रकार का दान करना चाहिए। इस प्रकार उपर्युक्त षट्कर्मों का पालन करना, अनुष्ठान करना; प्रत्येक श्रावक का नित्य नैमित्तिक कर्तव्य है।

यह गाथा आचार्य पद्मनन्दि विरचित पद्मनन्दि पंचविंशतिका के निम्न श्लोक का ही रूपान्तरण प्रतीत होता है –

देवपूजा गुरूपास्ति, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने दिने।। 403।।[210]

प्रायश्चित्त-विधि अपनाने का फल

विधिपूर्वक आलोचना करने से सर्व पापों का नाश होतां है और पुण्य का उपचय एवं वृद्धि होती है। इन सबका हेतु अर्हद्-अर्चना, सत्पात्र-दान, शील और व्रत हैं अर्थात् जिनपूजा करना, उत्तम-मध्यम-जघन्य सत्पात्रों को चार प्रकार का दान देना, शीलों का पालन करना तथा व्रतों का आचरण करने से पापों का नाश और सातिशय पुण्य की वृद्धि होती है।[211]

समर्थ सम्पत्ति-सम्पन्न श्रावकों को निर्देश

समर्थ सम्पत्ति-सम्पन्न श्रावक को यथाशक्ति विशेषरूप से जिनपूजा एवं दान करके ज्ञान, ध्यान, जप, व्रत, शील और संयम का आचरण करना चाहिए क्योंकि पापकर्मों की शान्ति के लिए यही आठ श्रावक-धर्म कारण हैं। अस्तु, अशुभ कर्मों के फल की शान्ति के लिए पुण्यार्जन विधि करना चाहिए।[212]

असमर्थ सम्पत्ति-विपन्न श्रावकों को निर्देश

जिनके पास उचित धन नहीं है, उनको महाजनों को धर्मकार्यों में प्रेरणा देकर, कारित–अनुमोदना एवं उनकी प्रशंसादि कर तथा स्वयं व्रत-शील का धारण-पालन करना चाहिए। सुखेच्छुओं को इसी विधि से पुण्यार्जन करना चाहिए। ऐसा करने से निश्चय से कृत के समान ही पुण्योपलब्धि होती है, सातिशय पुण्य का अर्जन होता है क्योंकि वह ध्यानादि के द्वारा शुद्ध हो जाता है।[213]

श्रावकों को विविध प्रकार के तप करने की प्रेरणा[214]

प्रायश्चित्त विधान में श्रावकों को भी विविध प्रकार के तप करने की प्रेरणा देते हुए कहा है –

तवच्चंदायणं तवं, रयणावलि मुत्तं च।
जिणाणं गुण संपत्तिं, तवं आचर वड्ढणं।। 62।।

एगंतरं तिरतिं च, महाकल्लाणा णामगं।
अट्ठ पक्खुववासं च, सतीए तव तप्पए।। 63।।
तेसिं आयरणं सव्वं, उत्ते य परमागमे।
तेणि विहि उवाएणं, कायव्वं च स सतिणो।। 64।।

अर्थात् श्रावकों को आचार-शुद्धि की वृद्धि के लिए विविध तप करना चाहिए। वे तप हैं – चान्द्रायण, रत्नावली, मुक्तावली, जिनगुणसम्पत्ति आदि व्रताचरणरूप तप करना चाहिए।

एक दिन छोड़ कर उपवास अर्थात् एक उपवास, एक पारणा; पुनः उपवास, पुनः पारणा – यह एकान्तर तप है। इसी प्रकार दो उपवास, एक पारणा; तीन उपवास, एक पारणा; आठ उपवास, एक पारणा; पन्द्रह उपवास, एक पारणा; आदि महाकल्याण नामकादि तपों को यथाशक्ति तपना चाहिए।

उक्त व्रतों की विधि एवं स्वरूप, परमागम में प्ररूपित है, आगमज्ञ – आगम के ज्ञाता आचार्यादि से सम्यक् प्रकार ज्ञात करना चाहिए तथा तदनुसार अपनी शक्ति-प्रमाण उनका आचरण करना चाहिए।

गणधर मन्त्र एवं णमोकार मन्त्र से दोष निवृत्ति[215]

ति संझं गणभूभंतं, किच्चा पंच सया भजे।
पाव अपाव सेयाओ, लहे अत्थण संसओ।। 84।।

अर्थात् जो श्रावक, तीनों सन्ध्याओं में गणधर मन्त्रों को और पंच परमेष्ठी वाचक मन्त्रों का हमेशा जाप करता है, वह पाप से छूटता है और मोक्षमार्ग को प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

त्रिकाल सामायिक एवं पात्रदान से दोष निवृत्ति[216]

णिच्चं सामाइगायारं, पत्तदाणं कियादरं।
गिहवता खए पावं, सुमण्वो खलु उच्चए।। 85।।

अर्थात् जो श्रावक, आदर से तीनों सन्ध्याओं – प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल सामायिक करता है तथा श्रद्धा–भक्ति से चारों प्रकार का पात्रदान करता है; वह निश्चय से गृहकार्यों में पंचसूना (चक्की-चूल्हा-ओखली आदि झाड़ना, बुहारना, पानी छानना आदि) दोष होते हैं, उनसे छूट जाता है अर्थात् उससे उन दोषों की निवृत्ति हो जाती है।

श्रेष्ठ श्रावक कौन?[217]

एग सित्थ अमोदरिं, एग असण भावणं।
भजे अट्ठ सयं णिट्ठो, उववासं च साहू हि।। 86।।

अर्थात् एक कण चावल/भात से लेकर अवमौदर्य तप को बढ़ाता हुआ सम्यक् तप करने वाला बुद्धिमान उपवास और एक सौ आठ जप करता है; वही महानुभाव है अर्थात् श्रेष्ठ श्रावक है।

श्रावकों के लिए वर्णित प्रायश्चित्त[218]

इस प्रकरण में अधिकांशतया प्रायश्चित्त विधान के आधार पर लिखा गया है, अतः छन्द के साथ प्रायश्चित्त विधान की गाथाओं के क्रमांक लिखे गये हैं।

पूजा आदि कार्यों के काल का उल्लंघन हो जाने का प्रायश्चित्त

कालस्स इक्कम जाई, पंच मंतं सयं भजे।
जइ वि विसुद्धएंति, तओ वि अणुट्ठाणए।।9।।

अर्थात् नित्य-नैमित्तिक जपादि अनुष्ठानों का **यदि समय का उल्लंघन हो जाए अर्थात् यथासमय न हो सके** तो एक सौ आठ अपराजित मन्त्र (णमोकार मन्त्र) का जाप करना चाहिए। इससे उस प्रमादजन्य दोष की निवृत्ति होती है अर्थात् अतिचारादि दोष दूर होकर अनुष्ठान विधि, शुद्धि को प्राप्त होती है। इस प्रकार शुद्धि करके पुनः क्रिया प्रारम्भ करना चाहिए।। 9।।

कालस्सेगविहीणाणं, पूजाए परमेट्ठिणं।
पंचक्खर पदं मंतं, अट्ठत्तरं भजेत्।।10।।
संज्झत्तयच्चणत्थोवं, णियमं जईणं सयं।
एमत दुवो छिण्णा वि, अण्णत्थ दुगुणं चरे।।11।।
आयावंते जवं कुज्जे, मंतस दुत्तरं सयं।
दु सज्झायारं विंसओ, कुज्जा सयं जवं जवे।।12।।

अर्थात् **यदि एक काल का उल्लंघन हो जाए** अर्थात् प्रमाद या कषाय के कारणवश यदि एक बार का उल्लंघन हो जाए तो उसकी शुद्धि के लिए पंच परमेष्ठी वाचक महामन्त्र णमोकार का एक सौ आठ बार जप करना – ऐसा आचार्यों ने प्रायश्चित्त कहा है।।10।।

यतीश्वरों की पूजा, अर्चना व स्तुति करने का विधान तीनों सन्ध्याओं में करने का नियम है अर्थात् प्रातः, मध्याह्न एवं सन्ध्या काल में अर्चना व स्तोत्र–स्तुति करना आवश्यक माना गया है। यदि इन कालों में से **एक या दो समय का उल्लंघन हो जाए** तो दूना–दूना मन्त्र जाप करें।।11।।

विधिरूप क्रियाओं के आदि और अन्त में एक सौ आठ बार जप करें। ध्यान रहे कि एक माला में एक सौ आठ मणियों के जाप होते हैं, तीन मेरु के जाप होते हैं व कायोत्सर्ग के नौ बार के जाप होते हैं।।12।।

एक या दो दिनों तक अनुष्ठान की हानि होने का प्रायश्चित्त

एगस्सिं दिवसे कालं, तियट्ठाणय णिट्ठियं।
ण्हव णव कुंभगं, महण्हाणं च कज्जए।।13।।
हामहं जिणिंदाणं, पंच मंडल मज्झओ।
णिक्खेवे तिंसय पुप्फं, मूलमंतं भजे सुही।।14।।
जव पूय च विज्जं च, काउस्सग्ग तियण्णियं।
दिण दुव सु किज्जेज्ज, दुव संज्झतवच्चरे।।15।।

अर्थात् यदि **एक दिवस के अनुष्ठान की हानि हो जाए** तो उस शुद्धि के लिए प्रायश्चित्तरूप में श्री जिनेन्द्र भगवान के पावन प्रतिबिम्ब (प्रतिमा) का नब्बे कलशों से भक्तिपूर्वक महाभिषेक करना चाहिए।। 13।।

पंच मण्डल रच कर मध्य में श्री जिनबिम्ब विराजमान करें, पुनः तीन सौ बार पुष्पों का क्षेपण करते हुए णमोकार महामन्त्र का जाप करना चाहिए।। 14।।

उपर्युक्त विधि से पुष्प-पूजा करके तीन कायोत्सर्ग करें। साथ ही यह क्रिया दो दिन पर्यन्त करते हुए एक भुक्तिरूप तप करना चाहिए।

दो दिवस की हानि होने पर उक्त सम्पूर्ण विधि को दूना–दूना करें।।13-15।।

तीन दिन तक अनुष्ठान की हानि होने का प्रायश्चित्त

तिदिवायार दाणुत्तं, रायप्पमिइ हीणं।
अहिसिंच्चेज्ज णिच्चं च, कुज्जे जवसहस्सगं।।17।।
तिवग्ग कलसं णिक्खे, सुत्तं अट्ठणिवाडए।
अज्झ पुव्व मुहं कुज्जा, अद्धमुत्तर दिग्मुहं।।16।।
संति होमं च पुण्णाहं, किच्चेगं सयं तवो।
अरह गुण थोवं च, काउस्सग दिसिक्कम्मा।।18।।

अर्थात् **यदि तीन दिन पर्यन्त दैनिक धर्माचरण की हानि हो जाए** तो निम्न प्रमाण से कलशों से अभिषेक कर, श्री प्रभु की पूजा अर्चना करके एक हजार महामन्त्र का जाप करें अर्थात् दश माला जप से प्रायश्चित्त समझना चाहिए।।17।।

अभिषेक की विधि – तीन गुणित कलशों को स्थापित करके, आठ बार सूत्र से वेष्टित करके, आधे कलशों से पूर्व की ओर मुँह करके और आधे कलशों से उत्तर की ओर मुँह करके श्री जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करना चाहिए।।16।।

अर्थात् उपर्युक्त क्रिया करने के बाद शान्तिविधि और होम करे तथा एक कम सौ अर्थात् 99 निन्यानबे बार महामन्त्र का जाप करना तप है। पुनः श्री अरहन्तदेव के गुणों का स्मरण करते हुए क्रमशः दशों दिशाओं में कायोत्सर्ग भी करें।।18।।

चार दिन तक अनुष्ठान की हानि होने का प्रायश्चित्त

चउठवग्ग घडक्खेवे, सुत्ताणिं चउद्दसं।
चउरो कलसम्मज्झे, दुवालसं विदंसेइ।।19।।

अर्थात् **यदि चार दिन आचार–क्रम–विधान न हो सका हो** तो उसकी शुद्धि प्रायश्चित्त इस प्रकार करें। प्रथम दिन की अपेक्षा चार गुणे कुम्भ (कलश) स्थापित करें, सम्यक् प्रकार से चारों सूत्र से वेष्टित करें। कलश चारों दिशाओं में स्थापित कर मध्य में चार कुम्भ स्थापित करें। पुनः चारों विदिशाओं में बारह कलश स्थापित करें। विधिवत् अभिषेकादि क्रिया कर, अपने दोषों की शुद्धि करना चाहिए।।19।।

पांच दिन या एक सप्ताह आदि दिनों तक अनुष्ठान की हानि होने का प्रायश्चित्त

इस प्रकार पाँच दिन, एक सप्ताह (सात दिन), दश दिन, एक पक्ष (पन्द्रह दिन), एक माह आदि पर्यन्त दैनिक धर्माचरण की हानि होने पर होने वाली प्रायश्चित्त-विधि का वर्णन **'प्रायश्चित्त विधान'** नामक पुस्तक में श्लोक 20 से श्लोक 39 तक विस्तार से किया गया है। अतः उनका विस्तृत वर्णन वहीं से प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रायश्चित्त-विधि में निम्न बिन्दुओं का ध्यान रखा गया है –

1) श्रावक के गृहवासी और आश्रमवासी होने पर प्रायश्चित्त विधि में किंचित् अन्तर स्वीकार किया गया है।
2) श्री जिनेन्द्र अभिषेक में प्रयुक्त होने वाले कलशों की संख्या प्रतिदिन नब्बे के हिसाब से बढ़ाई गई है।
3) कलशों को किस प्रकार, किस किस दिशा में, कितने कितने रखें जाएँ, इसका भी निर्देश किया है।
4) अभिषेक-पूजन के अलावा णमोकार महामन्त्र के जाप, कायोत्सर्ग और अनशन आदि तप का विधान भी दोष के अनुसार किया गया है। जापों की संख्या हजारों में बढ़ती गई है, जबकि तपों में एकाशन, ऊनोदर, उपवास, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग आदि की संख्या को क्रम से बढ़ाया गया है।
5) इस प्रकार गुरुदेव के निर्देशानुसार उनके सान्निध्य में विधिवत् निश्छल भाव से आलोचना करके आज्ञा-प्रमाण प्रायश्चित्त-विधि को करने का निर्देश किया है। तत्सम्बन्धी गाथा निम्न प्रकार है –

उत्तरोत्तर संबुडु सत्ती, गुरुणिणएसियो।
आलुच्च क्कियायामेव, प्रायच्छित्तविहिक्कमो।।40।।

6) यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि यदि गुरु न हो तो अपराधी, स्वयं की आत्मा को गुरु मान कर, स्वयं की साक्षी में दोषों की शुद्धि के लिए आलोचना करे तथा मन–वचन–काय की शुद्धि द्वारा प्रतिक्रमण क्रिया करे। इस सम्बन्धी गाथा निम्न प्रकार है –

अप्पा एव गुरु किच्चा, सक्खिणो दोस सुद्धिणो।
मणोवाक्काय संसुद्धए, किएयव्वं पडिक्कमं।।41।।

7) इसी प्रसंग में कहा है कि सर्वज्ञ जिनेन्ददेव आप्त हैं; उनकी आज्ञा-प्रमाण जप, ध्यान, दान, अनशन, संयम, व्रत, शील आदि की वृद्धि होगी तो इनके द्वारा संवर एवं निर्जरा होगी। चित्त-मन की शुद्धि से पूर्व में किये गये कृत–कारित–अनुमोदित पापक्रियाओं, वर्तमान की व भविष्य सम्बन्धी इसी प्रकार की क्रियाओं की अनुकम्पापूर्वक आलोचना कर आत्मशुद्धि का विधान करना चाहिए।।42-43।।

अर्हन्त प्रतिमा का अंग-भंग होने का प्रायश्चित्त

सुकिज्ज काय संचारं, दंगभंगप्पभाअओ।
णायारहं पडिंबिंबं, दोसशुद्धिं च विज्जए।।48।।

रयण लोह सिलं च, धाउवज्जं च पज्जए।
पडिमं सव्व हु ठावे, तारिच्छं वाय मुच्चरे।।49।।
पुव्वयं पूयणं जाव, पडिमा हि हवेस्सए।
दुज्झरं व्वय संजुत्ता, तावक्कारइ संलहू।।50।।
सिला रयण बिंबं च, जया हवइ सुक्कयं।
तमेव पादं सुसोम्मं, दिढ़ सुंदेर संजुयं।।51।।
पडिट्ठावं सया पण्णा, जहा पोम्माणुवं चरे।
सव्व सुद्धि महण्हाणं, कल्लाणस्तवेण हि।।52।।
भजे पंच णमुक्कारं, सहस्स दस संखगं।
चाउवण्णस्स पत्तस्स, दाण-सयमुदं हदे।। 53।।

अर्थात् यदि प्रमादवश अज्ञातदशा में अपनी कायचेष्टा के विपरीत होने से अर्हत् बिम्ब (प्रतिमाजी) का कोई अंग या उपांग भंग हो गया हो तो ज्ञात होते ही उसकी शुद्धि का शीघ्र ही उपाय करना चाहिए।।48।।

खण्डित होने वाली प्रतिमा, रत्न, लौह, शिला (पाषाण), चित्र-लेपादिरूप जैसी भी हो; अन्य जिनबिम्ब शिल्पी के द्वारा जो प्रतिमा-निर्माण का ज्ञाता है, उससे उसी प्रमाण की प्रतिमा का निर्माण करें अर्थात् करावें – ऐसा आगम-वचन है।।49।।

जब तक तदनुसार नवीन प्रतिमा नहीं होगी, तब तक कठिन व्रत – लघुमास तप करें। नियम लेकर भक्ति से पूर्व के समान ही पूजा-भक्ति करें। तथा शीघ्र बिम्ब तैयार कराने का प्रयत्न करें। वर्षाकाल में तीन, शीतकाल में दो और ग्रीष्मकाल में एक उपवास करना, लघुमास तप है।।50।।

जिस समय शिला या रत्नमयी जिनबिम्ब बन जाएँ तो उसी समय उनकी दृढ़ता, सुन्दरता अर्थात् सौम्यता का वीक्षण-परीक्षण करें, अच्छी तरह मिलान कर लें।।51।।

पश्चात् बुद्धिमान प्रतिष्ठाचार्य से विधिवत् प्रतिष्ठा अर्थात् गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष कल्याणक करके जिनबिम्ब स्थापित करें या करावें और सर्व शुद्धि से महा मस्तकाभिषेक करें तथा कल्याण नामक तप भी करें। **कल्याण तप** – एक निर्विकृति, एक पुरुमण्डल, एक एकस्थान, एक आचाम्ल, और एक क्षमण; इन सबको मिला कर कल्याण तप कहते हैं। **निर्विकृति** – नीरस भोजन को निर्विकृति कहते हैं। **पुरुमण्डल** – अनगार मुनि की भोजनबेला को पुरुमण्डल कहते हैं। **एकस्थान** – एक ही स्थान में स्थिर रह कर भोजन करने को एकस्थान कहते हैं। **आचाम्ल** – कांजी आहार को आचाम्ल कहते हैं। **क्षमण** – एक उपवास को क्षमण कहते हैं।।52।।

जिससे प्रतिमा भंग हुई थी, वह पुनः दश हजार संख्या प्रमाण महामन्त्र णमोकार का सानन्द भक्ति से जाप करे। चारों वर्णों को मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका को सौ बार प्रसन्नता से दान देवें अर्थात् यथाशक्ति भोजनादि करावें।।53।।

स्वप्न में अथवा प्रमाद से व्रत का समूल नाश होने का प्रायश्चित्त

सिविणे हि पमायाओ, मूलव्वय परिच्चया।
सव्व सुद्धि महण्हाणं, तवो वल्ली तवं चरे।।54।।
णाणज्झाणाहि जुत्तं, पडिहं संजपे पदं।
सहस्स पत्त दाणं च, जहा सत्तिं वितण्ण्ए।।55।।
पव्व अणसणं किच्चा, वागवतं दिवंतरे।
केवल मेग सिद्धेव, कालाइक्कमाणसणं।।56।।
अण्णं अणसणं उत्तं, कल्लाणं दोस उत्तमं।
पंचवारं जहा वुत्ती, पंच कल्लाण संभजे।।57।।
पढमणसणं भावं, अवमोदरियं जुयं।
वित्तिसंखार सच्चागं, विवित्त सयणासणं।।58।।

तवोवल्ली तवप्पाहू, एगेव अणुवित्तिणो।
चउपंचाणु वित्ती, उत्तं आदि विभाग ए।।59।।
मासे मासे चउ पव्वे, उववासं च सुजुयं।
जिण आणा जवज्झाणं,तव अगणि समं चए।।60।।
णिच्चं तिट्ठाणं संतत, कए पहिग सुद्धिगो।
तिक्काल विहिए थोए, पूयादाणं सया सुई।।61।।

अर्थात् स्वप्न मे अथवा प्रमाद से यदि व्रत का समूल नाश हो गया हो, सर्वथा व्रत की च्युति हो जाए तो उसके प्रायश्चित्त हेतु पूर्ण महामस्तकाभिषेक करे। यथाशक्ति अनशनादि तपश्चरण कर शुद्धि करे ।। 54।।

प्रतिदिन ज्ञान-ध्यानादि से संयुक्त रह कर शुद्धि करें तथा यथाशक्ति एक हजार पात्रों को यथायोग्य, यथोचित दान प्रदान करें।।55।।

प्रत्येक पर्व – अष्टमी-चतुर्दशी को उपवास करें अथवा एक दिन-रात्रि के अनन्तर उपवास करें अथवा समय की गति के अनुसार उपवास करना चाहिए।।56।।

सम्पूर्ण दोष की निवृत्ति के लिए विधि के अनुसार उपवासादि हो जाने पर अन्त में एक कल्याण तपश्चरण करें। इस प्रकार पाँच बार करने पर पाँच कल्याण नामक प्रायश्चित्त पूर्ण होता है। अर्थात् पाँच आचाम्ल, पाँच निर्विकृति, पाँच पुरुमण्डल, पाँच एकस्थान, और पाँच उपवास व्यवधान रहित करना, पंच कल्याण कहलाता है।।57।।

प्रारम्भ में उपवास, फिर क्रमशः अवमौदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन आदि तप करें।।58।।

इस प्रकार दो-तीन बार तप करना तथा अनुक्रम से चार-पाँच बार आदि तपों का करना, तपवल्ली तप कहलाता है अर्थात् आनुपूर्वी क्रम से तपश्चरण करना, तपवल्ली तप है।।59।।

पाप-वृत्ति से रहित जिनेन्द्र भगवन्त आप्त की आज्ञानुसार प्रत्येक माह में हर एक पर्व के दिनों में अर्थात् अष्टमी-चतुर्दशी को अनशन-उपवास के साथ जप और ध्यान करना चाहिए क्योंकि समस्त पापों को नष्ट करने के लिए ये अग्नि के समान हैं।।60।।

तीनों सन्ध्याओं में शुद्ध जल से स्नान करके शुद्ध हुआ ईर्यापथशुद्धि से गमन कर, आगमानुसार विधि से जिन-स्तवन, पूजा और दान करें। इस प्रकार श्रावक को प्रतिदिन निरन्तर सदैव अनुष्ठान करना चाहिए।। 61।।

दो इन्द्रिय जीव का घात हो जाने का प्रायश्चित्त

वे इंदिय वए जाए, पमाओ अवि कम्मुणा।
एग पोसह संजुत्ता, सय मतं च आचरे।।65।।

अर्थात् षड्कर्मों के सम्पादन में यदि प्रमादवश द्वीन्द्रिय जीव का घात हो जाए तो उसकी शुद्धि का प्रायश्चित्त करने हेतु एक प्रोषधोपवास और सौ महामन्त्र का जप भी करे।।65।।

तीन इन्द्रिय एवं चार इन्द्रिय जीव का घात हो जाने का प्रायश्चित्त

तंति इंदिय मेव हि, तमेव चउरिंदियं।
एग वे ति चउत्थं च, कुण्वे पावं पसंतए।।66।।

अर्थात् जो प्रायश्चित्त-विधि, दो इन्द्रिय जीव के घात की बताई गई है; उसी के अनुसार तीन व चार इन्द्रिय जीव के घात हेतु प्रायश्चित्त समझना चाहिए अर्थात् यदि प्रमादवश तीन इन्द्रिय या चार इन्द्रिय जीव का घात या वध हो जाए तो उससे उत्पन्न पाप की शान्ति के लिए क्रमशः दो व तीन प्रोषधोपवास एवं दो सौ व तीन सौ महामन्त्र का जप करना चाहिए।।66।।

संज्ञी–असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव का घात हो जाने का प्रायश्चित्त

पंचिंदियमेव सण्णं, पमाआओ ण हिंसए।
कल्लाण विहिणा मंतं, सहस्स दसगं भजे।।67।।
सव्वं सुद्धिं महट्ठाणं, काउस्सग्गं दसं वि हि।
सत्तीए पदायव्वं, दाणं णाणं च झाणं च।।68।।
सण्णी पंचिंदियं जाणे, दुगुणं च विहिं चरे।
उववासत्तयं पुव्वं, अहिसेगं तहा वयं।।69।।
अपवित्तो पवित्तो वा, सव्वावट्ठं गओ वि वा।
जो सरेज्ज सु अप्पाणं, बहि अब्भिंतरं सुई।।70।।

अर्थात् प्रमादवश पंचेन्द्रिय असंज्ञी व संज्ञी जीव का घात होने पर अर्थात् मन सहित संज्ञी और मन रहित असंज्ञी पंचेन्द्रिय का असावधानी या प्रमाद से घात हो जाए तो उसका प्रायश्चित्त एक कल्याण और विधिवत् दश हजार महामन्त्र का जप करना चाहिए।।67।।

तथा पूर्ण शुद्ध्यर्थ या पूर्ण शुद्धि के लिए महामस्तकाभिषेक, दश कायोत्सर्ग तथा शक्ति अनुसार दान देना चाहिए एवं सावधानी से निष्प्रमादी होकर आदर से ज्ञानाराधन व ध्यान भी करना चाहिए।।68।।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव का घात होने पर उपर्युक्त विधि से द्विगुणित अर्थात् दूना प्रायश्चित्त है तथा तीन उपवास और दो महामस्तकाभिषेक भी करें।।69।।

अपवित्र अवस्था में या पवित्र अवस्था में, जो व्यक्ति प्रत्येक अवस्था में श्रद्धापूर्वक अपनी आत्मा का, या परमात्मा का, या अर्हत् वाचक महामन्त्र का स्मरण करता है; वह बाह्य और अभ्यन्तर – उभय शुद्धि का पात्र हो जाता है।।70।।

लोकनिन्द्य मृतक कलेवर, हड्डी, मल, मूत्र आदि को देखने एवं लोकनिन्द्य वचनों को सुनने का प्रायश्चित्त

भोत्तुं अणसणाओ हि, विवज्जेज्ज हि अंग च।
तं अण्णं परिहायव्वं, अण्णण्णं च समाहरे।।71।।
वित्तासणं च भुत्तिं च, तम्हिं अट्ठ परिण्णजे।
सव्व दोसं च सुतुहु, दिण दिणेसु वितणे।।72।।
भोयणा वास गेहे वि, विड मुत्त विण चम्मं।
तुड्डेज्ज अइ गंधं च, तत्थ भुत्ति णिसेज्जेज्जं।।73।।
अप्फासं च विलोमं च, तं वचं सुइ गोयरे।
भोयणं परिहाएव्वं, दुव्वचं सवणं अवि।।74।।
जंतूपद्दव संदिट्ठिं, मज्जार आइ दीवणं।
पतंग पउणं जायं, भोयणं परिवज्जए।।75।।
भोयणिज्जासणं सुत्तं, णह केसावलोयणं।
कणी तंतु तुसारं च, दिट्ठिं भुत्तिं यं वज्जेज्ज।।76।।
भुत्तिं कालप्पदीवस्स, णासे चत्तट्ठ मिस्सणे।
अण्णस्सिं लोगणिंदं च, दिट्ठिं भुत्तिं य वज्जेज्ज।।77।।
भुत्तंतरं विहिं वुच्चे, परमागम सुत्तओ।
तेण विहि उवाएणं, सत्तीए अणुठावए।।78।।
अच्छाइयम मिस्सिगं, जइ भुंजे पमाअओ।
तक्खणे समधीरं, कुव्वे ठाणं तयं पुरा।।79।।

अर्थात् भोजन प्रारम्भ करने के पूर्व ही यदि कोई मृत जीव का कलेवर दृष्टिगत हो जाए तो उस अन्न को त्याग कर, अन्य भोजन करना चाहिए।।71।।

भोजन करना प्रारम्भ करने पर उसमें प्राणी कलेवर दृष्टिगत होने पर उस दिन भोजन का परित्याग करना चाहिए अर्थात् अन्तराय करना चाहिए।।72।।

भोजनशाला – रसोईघर में यदि अस्थि/हड्डी, पीव, राध, मल, मूत्र, चमड़ा आदि दृष्टिगत हो, अथवा वह स्थान अत्यन्त दुर्गन्धित हो तो वहाँ भोजन करना निषिद्ध है अर्थात् ऐसे अपवित्र स्थान में भोजन नहीं करना चाहिए।।73।।

अस्पृश्य – चाण्डाल आदि के देखने पर उनका वचन सुनने पर तथा मार, काट आदि कटु, कठोर वचन सुनने पर भोजन का त्याग कर देना चाहिए।।74।।

उपद्रवकारी चूहादि प्राणियों को विडाल, बिल्ली आदि के द्वारा पकड़ने या घात करने पर अथवा प्रदीपादि से आकृष्ट पतंगादि के मर जाने पर विद्वानों को भोजन का त्याग कर देना चाहिए।।75।।

यदि भोज्य पदार्थ में शुक्ति/सीप, नाखून, केश/बाल, अपक्व कण, सूत का धागा, तुषादि का मिश्रितपना देखने पर भोजन त्यागना चाहिए अर्थात् अन्तराय करें।।76।।

यदि भोजन करते समय दीपक बुझ जाए अथवा अन्य भी लोकनिंद्य पदार्थ, पके भोजन में दृष्टिगत हो तो उसी समय भोजन का त्याग कर देना चाहिए।।77।।

भोजन करते समय और उसके अनन्तर की जो विधि, विधि के ज्ञाता आचार्यों द्वारा परमागमसूत्र में कही है; उसके उपदेशानुसार अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिए।।78।।

यदि भोज्य वस्तु, सचित्त ;जीवादिमिश्रित हो और प्रमादवश प्रथम देखने में न आवे अर्थात् इन्द्रियगोचर न हो सके और खाने में आ जावे तो फिर जब ज्ञात होवे तब उसका त्याग करे और स्नान करे। अथवा अस्पृश्य से स्पर्श हुआ हो तो भी स्नान करे।।79।।

रजस्वला स्त्री के द्वारा परोसे अन्न का प्रायश्चित्त

थालिं अण्णं च सुवुत्ता, अट्ठिं सव्वं परिव्वए।
कंस कारेण कंसाइं, भस्स अग्नि पसोहेज्ज।। 80।।
आलोयणं गुरुं संघे, तव वल्लिं तवच्चरे।
वितणेज्ज तवं पंच, सहस्स दोसं संत ए।।81।।
अज्झवसाय पुव्वं च, उववासं सया कुणे।
विहिणा तव सग्गं च, दसविहं जवं जवे।।82।।
पायच्छित्तं अहिसेगं, पत्तदाणं च सत्तीए।
पालेज्ज धम्म संवेग,सुद्धिं वजेज्ज धुव्वं च।।83।।

यदि अति रजस्वला स्त्री से थाली में परोसा अन्न हो तो उसे पूर्णतः त्याग करें, उसे छोड़ देवे और बर्तन की भी राख/भस्म से माँज कर अग्नि संस्कार द्वारा शुद्धि करना चाहिए।। 80।।

पश्चात् सर्व प्रथम श्री गुरुदेव के सान्निध्य/समीप जाकर सविनय दोष निरूपण कर आलोचना करें। पुनः उनकी आज्ञानुसार तपोवल्ली तप का आचरण करता हुआ दोष की शान्ति के लिए पाँच हजार महामन्त्र णमोकार का जाप करें।।81।।

उक्त अध्यवसाय पूर्वक स्वयं उपवास तथा दश कायोत्सर्ग व जप करना चाहिए।।82।।

जब अपनी शक्ति के अनुसार अभिषेक एवं पात्रदान पूर्वक प्रायश्चित्त अर्थात् दोषों की शुद्धि की जाती है; तब धर्म, संवेग और ज्ञान में वृद्धि होती है।।83।।

पूजा करते समय जिन प्रतिमा एवं अष्ट द्रव्यों की कोई सामग्री के गिरने का प्रायश्चित्त[219]

प्रश्न – पूजा करते समय किसी के हाथ से श्री जिन प्रतिमा पृथ्वी पर गिर पड़े तो उसका प्रायश्चित्त क्या है?

उत्तर – यदि पूजा करते समय जिनमूर्ति गिर पड़े तो उस पूजा करने वाले को उस मूर्ति का शुद्ध जल तथा गन्धोदक से भरे हुए 108 कलशों से मन्त्रपूर्वक भगवान का अभिषेक करना चाहिए। फिर पूजा कर

एक सौ आठ मूल मन्त्रों से आहुति देकर मूर्ति को फिर वहीं विराजमान कर देना चाहिए। वही जिनसंहिता के आठवें अधिकार में लिखा है –

पतिते जिनबिम्बेऽष्टशतेन स्नापयेद् घटैः।
अष्टोत्तरशतं कुर्यान्मूलमन्त्रेण चाऽऽहुतीः।।24।।[220]

प्रश्न – यदि पूजा करते समय मन्त्रपूर्वक नैवेद्य आदि चढ़ाने में किसी के हाथ से वह नैवेद्यादिक पृथ्वी आदि अन्य क्षेत्र में गिर जाए तो उसका क्या प्रायश्चित्त है?

उत्तर – पूजा करते समय मन्त्र पढ़ कर द्रव्य चढ़ाना चाहिए। यदि वह द्रव्य बीच में गिर जाए तो उसे छोड़ देना चाहिए। फिर जो द्रव्य गिरा है, उसी जाति के अन्य द्रव्य को लेकर और उसी मन्त्र को पढ़ कर एक सौ आठ आहुति देना चाहिए। वही जिनसंहिता में अठारहवें अधिकार में लिखा है –

प्रपातं बलिपिण्डस्य, जिनमन्त्रेण मन्त्रवित्।
अष्टोत्तरशतं कुर्यादाहुतीस्तद्विधिक्रमात्।।[221]

जप करते समय किसी प्रकार का विघ्न आने पर प्रायश्चित्त

प्रश्न – यदि जप करते समय किसी कारण से विघ्न आ जाए तो उसका प्रायश्चित्त किस प्रकार करना चाहिए ?

समाधान – स्नान कर धोती दुपट्टा – ये दो वस्त्र पहन कर सदाचारपूर्वक जप करने के लिए बैठना चाहिए। जो श्रावक जप करते समय प्रमादी होकर ऊँघते हैं, नींद का झोका लेते हैं अथवा बार बार उवासी लेते हैं अथवा और किसी प्रकार का प्रमाद करते हैं, उनका जप करना न करने के समान है।[222]

सल्लेखना से सम्बन्धित प्रायश्चित्त

- यदि कोई सल्लेखना करने वाला साधु, क्षुधा, तृषा आदि से पीड़ित होकर लोगों के न देखते हुए भोजन कर ले या सल्लेखना न करने वाला साधु, अनेक उपवासों के कारण भूख-प्यास से पीड़ित होकर लोगों के न देखते हुए भोजन कर ले तो उसका प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमणसहित उपवास है।
- यदि उक्त दोनों मुनि, किसी रोगी मुनि के देखते हुए भोजन कर लें तो उसका प्रायश्चित्त, पंच कल्याणक है।[223]

इसी प्रकार अन्य प्रायश्चित्त के विधान चर्चासागर में दिये गये हैं, उन्हें वहीं से जानना चाहिए।

श्रावकाचार के अन्तर्गत आलोचना-विधि

श्रावकों को जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह मुनियों की तुलना में कम होता है क्योंकि मुनि तो महाव्रती हैं, उन्हें तो व्रतों का निर्दोष पालन ही करना चाहिए लेकिन यदि किसी कारण से उनके कोई अतिचार आदि लग जाता है तो उस दृष्टि से यह प्रायश्चित्त का विधान लिखा गया है। लेकिन श्रावक तो एकदेश व्रती ही है, उसके द्वारा व्रतों का निर्दोष पालन करने की सम्भावना कम है; अतः उन्हें जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह बहुत कम होता है। जैसे, मुनि से आधा प्रायश्चित्त उत्तम श्रावक को दिया जाता है, उससे आधा मध्यम श्रावक को, उससे आधा जघन्य श्रावक को प्रायश्चित्त होता है। अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि मुनियों से आधा प्रायश्चित्त क्षुल्लक ऐलक आदि उत्तम श्रावकों को, उनसे आधा ब्रह्मचारियों को और उनसे आधा गृहस्थ श्रावक को प्रायश्चित्त देना चाहिए। यहां उनके द्वारा सम्भावित दोषों की आलोचना विधि का निरूपण किया जाता है।[224]

अनेक प्रकार के जीवों सम्बन्धी आरम्भ की आलोचना-विधि

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येककायिक वनस्पति, साधारणकायिक वनस्पति, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, और पाँच इन्द्रिय जीव सम्बन्धी अनेक प्रकार के आरम्भ की **आलोचना** करता है; जैसे –

मिट्टी, पत्थर, शर्करा, रेत, नमक, आदि का खोदना, विलेखन करना (हल से जोतना), जलाना, कूटना, तोड़ना, आदि, **पृथिवी-सम्बन्धी आरम्भ** हैं।

जल, बर्फ, ओस, तुषार, आदि पानी के भेदों का पीना, स्नान, अवगाहन, तैरना, हाथ-पैर या शरीर से मर्दन करना आदि, **जल-सम्बन्धी आरम्भ** हैं।

आग, ज्वाला, दीपक, उल्का, आदि प्रकारों की आग के ऊपर पानी, पत्थर, मिट्टी, अथवा रेत फेंकना या पत्थर, लकड़ी, आदि से आग को पीटना, आदि **आग-सम्बन्धी आरम्भ** है।

झंझा और माण्डलिक आदि वायु को ताड़ के पत्र से, सूप से, लकड़ी आदि से रोकना या पंखे आदि से हवा करना, वायु के सम्मुख गमन करना, आदि **वायुकाय-सम्बन्धी आरम्भ** हैं।

बीज, प्रत्येककाय, और अनन्तकाय वृक्ष, लता, बेल, झाड़ी, तृण, पुष्प, फल, आदि को जलाना, छेदना, मसलना, तोड़ना, छूना, खाना, आदि **वनस्पतिकाय-सम्बन्धी आरम्भ** हैं।

दो इन्द्रिय आदि त्रस जीवों को मारना, छेदना, पीटना, बाँधना, रोकना, आदि दो इन्द्रिय आदि **त्रस जीवों से सम्बन्धित आरम्भ** हैं।

भोजन, उपकरण, और वसति-सम्बन्धी दोषों की आलोचना-विधि

भोजन, उपकरण, और वसति में उद्गम, उत्पादन, और एषणा-सम्बन्धी अतिचार होते हैं। गृहस्थों के पात्र – घट, झारी, सकोरा, आदि में किसी वस्तु का निक्षेपण करना अथवा उनके द्वारा किसी वस्तु का ग्रहण करना, **चारित्र-सम्बन्धी अतिचार** हैं क्योंकि उन पात्रों की प्रतिलेखना कठिन है व उनकी शुद्धि अशक्य होती है।

पीढ़े पर, आसन पर, खाट पर या मंच पर बैठना, **निषद्या** है; उनमें अनेक छिद्र वाली पीठिका आदि में रहने वाले जन्तुओं को देखना अशक्य होता है और देख भी लिया जाए तो उन्हें दूर करना शक्य नहीं होता; इससे **अहिंसा व्रत में अतिचार** लगता है। कहा भी है –

पीठिकासंदपल्लंके, मंचए मालए तथा।
अणाचरिदमज्जाणं, आसिदुं सइदुं पि वा।।
गंभीरवासिणो पाणा, दुप्पेक्खा दुव्विकिंचणा।
तम्हा दुप्पडिलेहं च, वज्जए पढमव्वए।।

अर्थात् पीढ़ा, आसन्द, पलंग, मंच, आदि आसनों पर; स्नान नहीं करने वाले (अस्नान-व्रती) साधुओं का बैठना या शयन करना उचित नहीं है क्योंकि उनमें गहराई में रहने वाले जीव-जन्तु देखे नहीं जाते। उनका बचाव कष्ट-साध्य होता है। इसलिए अहिंसा नामक प्रथम व्रत में **'ठीक से नहीं देखने'** का त्याग करना चाहिए।

अथवा **निषद्या-सम्बन्धी दोष** को अन्य प्रकार से कहते हैं – गोचरी के लिए जाकर घर में प्रवेश करना और वहाँ बैठना **निषद्या** है; इसमें दोष यह है कि स्त्रियों के साथ रहने से ब्रह्मचर्य का विनाश होता है क्योंकि बार-बार उनके कुचों और ओष्ठों पर दृष्टि जाती है तथा वहाँ भोजन करने के इच्छुक गृहस्थों को बाधा होती है। वे सोचते हैं – हम यतियों के सामने कैसे भोजन करें? अथवा उन्हें भी क्रोध हो सकता है कि इस अपवित्र पलंग पर ये क्यों बैठे हैं? यह यति, यहाँ स्त्रियों के मध्य में बैठ कर, क्यों भोजन करता है? जाता क्यों नहीं है? आदि।

अस्नान आदि व्रतों के विरुद्ध स्नान आदि क्रियाओं के दोषों की आलोचना-विधि

स्नान आदि क्रियाओं का त्याग – स्नान करने, उबटन लगाने, और शरीर धोने को **वाकुस** कहते हैं। गर्म जल, ठण्डे जल या सौवीरक या काँजी आदि से स्नान करने से पृथ्वी के बिलों में अथवा आसपास में स्थित सूक्ष्म प्राणी अथवा अन्य कुन्थु, चींटी, आदि क्षुद्र जीव मर जाते हैं। यदि साधु, उक्त वस्तुओं से स्नान करे तो उन जीवों का घात होता है, अतः वे जीवन पर्यन्त घोर अस्नान व्रत को धारण करते हैं।

सुगन्धित द्रव्यों का उबटन-त्याग – उसी प्रकार वे भिक्षु, लोध्र, वगैरह सुगन्धित द्रव्यों का उबटन भी शरीर पर नहीं लगाते हैं। अन्य भी निषिद्ध क्रियाओं को वे नहीं करते; जैसे, लिंग को विकसित करने की क्रिया वे नहीं करते। चोरी आदि क्रियाओं का भी वे त्याग करते हैं क्योंकि चोरी करने अर्थात् बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करने पर उसके स्वामी का प्राण ही हर लिया जाता है, वह उसका बाहरी प्राण माना गया है, इस लोक में राजा आदि भी उसे दण्ड देते हैं।

रात्रि-भोजन एवं रात्रि-भ्रमण का त्याग – रात्रि में भोजन करना, अनेक असंयमों का मूल है। रात्रि में भोजन करने पर दृष्टिगोचर नहीं होने से त्यागी हुई और अयोग्य वस्तुएँ भी खाने में आ जाती हैं। दाता की परीक्षा भी असम्भव हो जाती है। हाथ में स्थित भोजन, जूठन गिरने का स्थान, आहार देने वाले के आने-जाने का मार्ग, उसके तथा अपने खड़े होने के प्रदेश की परीक्षा भी रात्रि में नहीं होती। इसी प्रकार यदि साधु रात्रि में भ्रमण करे तो छह काय के प्राणियों का घात होता है।

इसी प्रकार मैथुन, परिग्रह, और असत्य के वे त्यागी होते हैं।

सरल या वक्र आलोचना जानने की विधि

जिस प्रकार – 1. लोक में रोगी से तीन बार पूछा जाता है कि तुमने क्या खाया था? क्या किया था? और रोग की अब क्या दशा है। 2. शरीर में लगे घाव की भी तीन बार परीक्षा की जाती है कि घाव भरा है या नहीं? आदि। 3. चोरी होने पर भी तीन बार पूछा जाता है कि क्या-क्या चोरी में गया है? कैसे चोरी हुई है? आदि। 4. माला बनाने वाले से भी तीन बार पूछा जाता है कि तेरी माला का क्या मूल्य है? आदि। 5. राजा ने जिसे कार्य करने की आज्ञा दी है, वह भी तीन बार पूछता है कि क्या इस प्रकार करूँ? आदि।

उसी प्रकार **आलोचना की परीक्षा** भी तीन बार की जाती है कि अपना अपराध पुनः कहो? आदि। ये सरल और वक्र आलोचना के सम्बन्ध में पाँच दृष्टान्त हैं। यदि शिष्य, तीनों बार पूछने पर भी एकरूप ही कहता है तो **सरल आलोचना** है। यदि अन्य-अन्यरूप से कहता है तो यह **वक्र आलोचना** है – ऐसा समझना चाहिए।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा असंयम अर्थात् प्रतिसेवना के चार प्रकार

असंयम अर्थात् प्रतिसेवना के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा चार प्रकार हैं। **द्रव्य-प्रतिसेवना** के तीन प्रकार हैं क्योंकि सचित्त, अचित्त, और मिश्र के भेद से द्रव्य के तीन प्रकार हैं। यहाँ चित्त, ज्ञान को कहते हैं। ज्ञान, आत्मा से कथंचित् अभिन्न होता है अथवा वह आत्मा में रहता है, इसलिए उसे **चित्त** कहते हैं। जो चित्त अर्थात् आत्मा के साथ रहता है, वह सचित्त है। जीव के साथ शरीररूप से स्थित पुद्गलद्रव्य, **सचित्त** है और जिस पुद्गलद्रव्य के साथ आत्मा नहीं है, वह **अचित्त** है तथा सचित्त और अचित्त पुद्गलद्रव्यों का समूह **मिश्र** कहलाता है। जीव के द्वारा गृहीत अर्थात् जिनमें जीव विद्यमान है – ऐसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पति को **सचित्त** कहते हैं। जीव के द्वारा त्यागे हुए शरीर को **अचित्त** कहते हैं। इसी प्रकार इन सचित्त, अचित्त, और मिश्र के साथ **क्षेत्र-प्रतिसेवना, काल-प्रतिसेवना,** और **भाव-प्रतिसेवना** को लगा लेना चाहिए।

प्रायश्चित्त की पात्रता

जो शिष्य, उक्त प्रतिसेवनाओं के निमित्त से हुए सब सूक्ष्म और स्थूल दोषों को यथाक्रम यदि नहीं कहता तो आगम के अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य, उसकी शुद्धि नहीं करते। आगम में ऐसा कहा है –

एत्थ दु उज्जुगभावा, ववहरिदव्वा भवंति ते पुरिसा।
संका परिहरिदव्वा, सेसे पट्ठहि जहिं विसुद्धा।।[225]

अर्थात् जो पुरुष, सरल भाव से अपने दोष कहते हैं, वे प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्धि करने योग्य होते हैं तथा जिनके विषय में शंका हो, वे प्रायश्चित्त देने के योग्य नहीं हैं।

गुरु के समीप आलोचना करने के गुण

कृतपाप अर्थात् अशुभकर्म का संचय करने वाला असंयमी मनुष्य भी, गुरु के समीप **आलोचना** और निन्दा करके शीघ्र ही हलका हो जाता है; जैसे, बोझ को उतारने पर बोझा ढ़ोने वाला हलका हो जाता है। वास्तव में भावों की शुद्धि के लिए ही **आलोचना** की जाती है। भावशुद्धि के अभाव में अर्थात् जो मुनि, बहुश्रुत विद्वान् होकर भी क्षमा आदि धर्म में, संयम में, व्रतों में, और ज्ञान-दर्शन-तप गुणों में भावशुद्धि नहीं रखते हैं, वे दुःखों से पीड़ित होते हैं।

शिष्य द्वारा आलोचना करने पर गुरु का कर्तव्य

आलोचना सुन कर गुरु, भिक्षु से तीन बार उपायपूर्वक पूछते हैं –

'तुम्हारा अपराध क्या है?' 'मैं भूल गया' या 'मैंने नहीं सुना' – इत्यादि उपाय से गुरु तीन बार पूछते हैं। यदि वे वचन कहने के ढ़ंग से और आचरण से जानते हैं कि यह सरल हृदय है तो जिस प्रकार उसका किया पाप शुद्ध हो, उस प्रकार प्रायश्चित्त देकर, उसे शुद्ध करते हैं, परन्तु जो सरल हृदय नहीं होता, उसके भावशुद्धि नहीं होती; इसलिए व्यवहार-कुशल आचार्य उसे प्रायश्चित्त नहीं देते क्योंकि भावशुद्धि के बिना पाप दूर नहीं होता और उसका रत्नत्रय भी शुद्ध नहीं होता।

सब अतिचारों को कहने वाले शिष्य की ही सरल आलोचना होती है, उसी को प्रायश्चित्त देना चाहिए। वही भगवती आराधना की गाथा में कहा है –

पडिसेवणादिचारे, जदि आजंपदि जहाकमं सव्वे।
कुव्वंति तहो सोधिं, आगमववहारिणो तस्स।। 620।।
सम्मं खवएणालोचिदम्मि, छेदसुदजाणगो गणी सो।
तो आगममीमंसं, करेदि सुत्ते य अत्थे य।। 621।।

क्षपकेन सम्यगालोचिते, छेदसूत्रज्ञः सूरिः सः। पश्चात् आगमविचारं करोति। कथं ? सूत्रे च अर्थे च। इदं सूत्रं अस्य चाऽयमर्थ इति अपराधस्यैवंभूतस्य इदं प्रायश्चित्तमनेन सूत्रेण चेदं निर्दिष्टं इति प्राग्निरूपयति।

अर्थात् प्रतिसेवना सम्बन्धी सब अतिचारों को क्रमानुसार यदि कहता है तो आगम के अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि करते हैं।

क्षपक के द्वारा सम्यक् **आलोचना** करने पर छेद सूत्र अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता आचार्य, सूत्र और उसके अर्थ को लेकर आगम का विचार करते हैं कि 'यह सूत्र है और इसका यह अर्थ है, इस प्रकार के अपराध का यह प्रायश्चित्त इस सूत्र में कहा है' – ऐसा पहले विचार करता है।

वर्तमान युग के लिए आलोचना-सार

वर्तमान सन्दर्भों में **आलोचना का सार** प्रस्तुत करते हुए संवेगी श्रावक श्री केशरीचन्दजी 'धवल' लिखते हैं –

''वर्तमान युग में सर्वत्र भौतिकवाद का साम्राज्य है। चारों ओर भौतिकवाद ही अपने अंग-उपांगों को फैला रहा है अर्थात् विश्व का प्रत्येक मानव भौतिकवाद की ओर ही तीव्र गति से दौड़ रहा है तथा बनावटी चेहरों को ही सबकुछ समझ रहा है; अतः संसार, शरीर एवं भोगों को चिरस्थायी भोगने की भावना से हिंसा, भोग, आरम्भ, परिग्रह आदि की दिशा में कदम बढ़ा रहा है।

वस्तुतः मानव प्राणी की यह यात्रा उत्थान की ओर नहीं, पतन की ओर जाती है; उसका विकास नहीं, प्रतिपल विनाश हो रहा है क्योंकि भौतिक पहलू को जीवन का आधार बना कर, जो कुछ उन्नति मानव कर रहा है, उससे उसके अन्तस् मानस-सरोवर में सुख-शान्ति की लहरें तरंगित नहीं हो रही हैं, अपितु अन्तस् में तो भय का भयावह कम्पन हो रहा है।

आध्यात्मिक पहलू को दृष्टिगत रख कर, यदि हम अपने अन्तस् का गम्भीरता के साथ अवलोकन करें तो हमें ज्ञात होगा कि हमारी आत्मा की माँग/प्यास/भूख भौतिकता की चकाचौंध से तृप्त नहीं होने वाली है; उसे तृप्त करने का एकमात्र उपाय आत्म-साधना/आत्म-आराधना/आत्म-आलोचना/**अपनी आलोचना** है।

जैनधर्म, विश्व के प्रत्येक प्राणी को अपने अन्तर्दर्शन की प्रेरणा देता है। जैनधर्म की प्रत्येक साधना, अन्तर्दर्शन की साधना है। जो साधना, प्राणी को अन्तर्दर्शन नहीं कराती; वह धर्म-साधना नहीं अपितु विराधना है।

आज मानव प्राणी, दूसरों की **आलोचना** करने में बहुत चतुर है; उसके जीवन- सितार पर पराई **निन्दा-आलोचना** व अपनी प्रशंसा-स्तुति का संगीत चल रहा है, वह उसी में अपने को सार्थक समझ रहा है।

मानव जगत् को **निन्दा-आलोचना** करनी तो चाहिए, किन्तु उसे उसका विषय दूसरों को नहीं, अपनी त्रुटियों को बनाना चाहिए। वह प्रथम अपने पापमल/दोषों को देखे तथा उन्हें गुरुजनों के समक्ष निष्कपट भाव से प्रगट करे – यह आत्मशुद्धि प्राप्त करने का विशुद्ध आध्यात्मिक पहलू है।

गलतियों का जब तक निश्छलरूप में स्वीकार न हो, तब तक उनका विसर्जन भी नहीं हो सकता।

अर्न्तदृष्टि के साधक का लक्ष्य बाह्य वस्तु नहीं होता, बल्कि उसकी साधना का लक्ष्य अपने अन्तस्-अस्तित्व का शोधन करना होता है। इसी आत्मशोधक साधना से वह पापमल का विसर्जन करता है, सहज सुख का अनुभव करता है तथा जीवन की पवित्रता का पालन करता है; तब जाकर उसकी साधना सफल कहलाती है।

जैनधर्म में इस आत्मशुद्धि की साधना-अर्चना का नाम ही '**अपनी आलोचना**' है।

आध्यात्मिक साधना को लक्ष्य बना कर, विचार करने पर वस्तु के मूलस्वरूप की सम्यक् जानकारी होती है। स्वभाव-दृष्टि से आत्मा मूलतः शुद्ध-बुद्धस्वरूप है, परन्तु पर्याय-दृष्टि से वही आत्मा अनादिकाल से राग-द्वेष-मोह के मलिन परिणाम वाला है। यह आत्मा स्व-पर भेदज्ञान के अभाव में अपने निजत्व को भूल गया है, उसे पर में स्व की भ्रान्ति हो रही है। जब वह अपने स्वरूप को समझने का अभ्यास करता है, तब **आलोचना** का प्रारम्भ होता है – यह भेदज्ञानपूर्वक का प्रारम्भ ही आत्मशुद्धि का प्रारम्भ है।

'**अपनी आलोचना**' एक जीवन-जागरण है, जिनशासन का दिव्य-सन्देश है – इस आत्मशुद्धि के दिव्य-सन्देश को हम सबने आत्मसात् करना चाहिए।''[226]

मनुष्यों को व्यक्तिगत अपनी आलोचना कैसे करना चाहिए – इसके उदाहरण[227]

पण्डित कमलकुमारजी जैन शास्त्री 'कुमुद' ने **अपनी आलोचना** नामक पुस्तक में प्रत्येक पृष्ठ पर नीचे **अपनी आलोचना** के आधुनिक प्रयोग प्रस्तुत किये हैं, जो आत्मालोचन में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे; इसमें समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि व्यक्तियों के मुख से स्वयं अपनी **आलोचना** कराई गई है, जो मूलतः पठनीय/मननीय है। यदि इसे समाज अपनी जीवन-धारा में भी उतारता है या उतारने को उद्यत होता है तो हमारा लौकिक जीवन भी परलौकिक मूल्यों को प्राप्त कर सकता है। समाज का जो भी व्यक्ति इसे जीवन में उतारेगा, वह अवश्य ही आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होगा।

यहाँ उन **अपनी आलोचनाओं** में से कुछ दृष्टान्त द्रष्टव्य हैं –

- **मुनि की आलोचना का एक उदाहरण**

हे प्रभो! मैं महाव्रती तो हूँ परन्तु फिर भी मेरा पर के साथ एकत्व/ममत्व बना हुआ है; अतः मैं आत्मावलोकन करता हूँ।

- **भट्टारक की आलोचना का एक उदाहरण**

हे वीतरागदेव! मैंने अपनी महन्ताई की प्रतिष्ठा के लिए जैनधर्म में क्रियाकाण्ड को मुख्यता दे कर, उसके स्वरूप को विकृत किया, उसका मुझे पश्चात्ताप है।

- **प्रतिष्ठाचार्य की आलोचना का एक उदाहरण**

हे जिनेश्वर! विविध विधि-विधानों द्वारा जो प्राण-प्रतिष्ठाएँ मैंने कराईं; वे इसलिए निष्प्राण थीं कि मैंने अपने चैतन्य की प्राण-प्रतिष्ठा कभी नहीं की – इसका मैं प्रायश्चित्त करता हूँ।

- **पण्डित या पुजारी की आलोचना का एक उदाहरण**

हे भगवान्! धर्म के नाम पर जो मैंने यहाँ मिथ्यात्व और ढ़ोंग की हाटें खोल कर, भोली-भाली जनता के साथ विश्वासघात किया है – उसकी मैं **आलोचना** करता हूँ।

- **प्रवचनकार की आलोचना का एक उदाहरण**

हे जिनवरेन्द्र! वाग्विलास द्वारा मैंने सदैव सामान्य जनता को मूर्ख बनाने की ही कोशिश की है। उपदेशों की स्वयं अपने जीवन में कभी नहीं उतारा। मेरे ये अपराध मिथ्या हों।

- **श्रोता की आलोचना का एक उदाहरण**

हे नाथ! श्रोता बन कर भी मैं सदैव सोता ही रहा, कभी भी आत्मजागृति नहीं की – इस दोष की मैं अन्तःकरण से आलोचना करता हूँ।

- **ब्रह्मचारी की आलोचना का एक उदाहरण**

हे देव! व्रत-नियम-संयम के नाम पर मैंने पाखण्डवाद को ही फैलाया है, वासनाएँ अभी भी मेरा पीछा नहीं छोड़तीं; अतः मैं अपने दुष्कृत्य की निन्दा करता हूँ।

- **ज्योतिषी की आलोचना का एक उदाहरण**

हे सर्वज्ञदेव! मनगढ़न्त गणित, फलित, सामुद्रिक, हस्तरेखा, और मन्त्र-तन्त्र-विद्यादि द्वारा मैंने जनता को ही नहीं, अपने को भी ठगा है – इसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ।

- **भक्त की आलोचना का एक उदाहरण**

हे वीतरागदेव! मैंने धर्म के नाम पर केवल आत्मप्रदर्शन ही किया है। बगुला-भक्ति से मैंने भगवान को नहीं, बल्कि स्वयं को ही धोखा दिया है – मैं इस कृत्य की निन्दा करता हूँ।

- **साहूकार/महाजन की आलोचना का एक उदाहरण**

हे पतितपावन! मैंने ब्याज पर ब्याज लेकर, धरोहरें हड़प कर, नौ के निन्यानबे बना कर, गरीबों के जो गले काटे हैं – इस हिंसा के अपराध की मैं आलोचना करता हूँ।

- **कर्जदार की आलोचना का एक उदाहरण**

हे भक्तवत्सल! ऋण लेकर, मैंने देने की नीयत ही नहीं की और साहूकारों को झूठे वायदे देकर, उनको भुलावे में रखता रहा; अतः मैं इस पाप से मुक्त होना चाहता हूँ।

- **व्यापारी की आलोचना का एक उदाहरण**

हे परमात्मन्! मैंने हमेशा असली वस्तुओं में नकली हानिकारक एवं प्राणघातक वस्तुएँ मिला कर, देश और समाज का बहुत अहित किया है – इस पाप का मैं प्रायश्चित्त करता हूँ।

- **पूंजीपति की आलोचना का एक उदाहरण**

हे दयामय! मैंने परिस्थितियों का लाभ उठा कर, वस्तुओं का कृत्रिम अभाव पैदा किया और जमाखोरी द्वारा मँहगाई को प्रोत्साहन दिया – इस राष्ट्रघाती पाप का मैं हृदय से प्रायश्चित्त करता हूँ।

- **तस्कर-व्यवसायी की आलोचना का एक उदाहरण**

हे जगत्पूज्य! नम्बर दो के काले धन को अथवा तस्करीय व्यापार द्वारा प्राप्त किये धन को बचाने में जो भी काली करतूतें मैंने की हैं, उसको मैं धिक्कारता हुआ प्रायश्चित्त करता हूँ।

- **सट्टेबाज धनवान की आलोचना का एक उदाहरण**

हे त्रिलोकीनाथ! मैंने महाजनमटका, सट्टा, फाटका, लाटरी, दाँव आदि अकर्मण्य और भाग्याधीन व्यवस्थाओं द्वारा उद्यमों का ही घात नहीं किया, वरन् देश को भी मैंने दरिद्र बना दिया। अपने इन कृत्यों की मैं निन्दा करता हूँ।

- **शोषक की आलोचना का एक उदाहरण**

हे संकटमोचन! मैंने अपने प्रत्येक कार्य-कलाप से गरीब तथा मध्यमवर्गीय जनता का खटमल की तरह शोषण किया, तज्जन्य पाप की मैं निन्दा करता हूँ।

- **मुनीम/कर्मचारी की आलोचना का एक उदाहरण**

हे जगदीश! मैंने अपने स्वामी की आँखों में धूल झोंक कर, झूठे बही-खातों द्वारा सम्पत्ति पर हाथ साफ किये हैं – इन पापों के लिए मैं पश्चात्ताप करता हुआ क्षमा माँगता हूँ।

- **दहेजलोभी वर-विक्रेता पिता की आलोचना का एक उदाहरण**

हे जगदीश्वर! मैंने अपने लाड़ले कपूतों को भी ठहराव के बाजार में खड़ा करके जो ऊँची से ऊँची बोलियाँ लगाईं हैं और कन्या पक्ष को लूट-खसोट कर, दर-दर का भिखारी बनाया है – इस कुकृत्य से मुझ अधम का उद्धार कीजिए।

- **दलाल की आलोचना का एक उदाहरण**

हे दयासागर! मध्यस्थता के नाम पर दोनों पक्षों को मूर्ख बना कर, मैंने अपना स्वार्थ-साधन कर, जो धन-संचय किया, वह सारी कमाई मिथ्या हो।

- **वैज्ञानिक की आलोचना का एक उदाहरण**

हे दिव्यलोचन! मैंने भौतिक आविष्कारों से दुनिया में चमत्कार तो पैदा किये, परन्तु उनसे विलास और संहार को ही प्रश्रय मिला है; अतः मैं अपने अपराधों की क्षमा चाहता हूँ।

- **साहित्यकार की आलोचना का एक उदाहरण**

हे अन्तर्यामिन्! मैंने काम, भोग, बन्ध की कुकथाएँ तथा हिंसक जासूसी अनैतिक और कल्पित अश्लील साहित्य का निर्माण कर, राष्ट्र व समाज का घोर पतन किया है – इस पाप से मैं आत्मग्लानि करता हूँ।

- **कवि/लेखक की आलोचना का एक उदाहरण**

हे करुणामूर्ते! मैंने अपनी ख्याति के लिए अन्यों की मौलिक कृतियों पर अपने नाम का जो झूठा लेबिल लगाया है, उस अपराध की मैं क्षमा चाहता हूँ।

- **चित्रकार/शिल्पी की आलोचना का एक उदाहरण**

हे विमलमूर्ते! अश्लील एवं कामोत्तेजक चित्र-मूर्तियों का निर्माण कर, मैंने जगत् में वासना का ही प्रचार-प्रसार किया है, तत्सम्बन्धी मेरे दोष मिथ्या हों, मैं उसका पश्चात्ताप करता हूँ।

- **पत्रकार की आलोचना का एक उदाहरण**

हे ज्ञानमूर्ते! मैंने पत्रों की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए सनसनीखेज झूठे संवादों को पत्र में स्थान दिया और अश्लील विज्ञापनों द्वारा धनार्जन किया, जिससे व्यक्ति और राष्ट्र का जो ह्रास हुआ, उसका मैं प्रायश्चित्त करता हूँ।

- **समालोचक की आलोचना का एक उदाहरण**

हे दयासिन्धु! मैंने सदैव छिद्रान्वेषण द्वारा दूसरों के दोषों को ही देखा है, इसलिए मेरी दृष्टि विकृत रही – इस दृष्टि-दोष को सुधारने के लिए मैं आपकी शरण में आया हूँ।

- **बुद्धिजीवी की आलोचना का एक उदाहरण**

हे कृपालु! बुद्धिजीवी होकर भी मैंने कभी सद्बुद्धि से कार्य नहीं किया। आलसी रह कर, दूसरों पर भार बना रहा, रचनात्मक कुछ भी नहीं किया; इसलिए मैं दुःख प्रगट करता हूँ।

- **श्रमजीवी की आलोचना का एक उदाहरण**

हे करुणाकर! श्रमजीवी होकर भी मैं कामचोर बना रहा। सदैव मुफ्त की मजदूरी लेने की बदनीयत से हृदय को कलुषित करता रहा। मेरे इस पाप का प्रक्षालन हो।

- **कोषाध्यक्ष की आलोचना का एक उदाहरण**

हे दीनानाथ! विभिन्न समितियों का कोषाध्यक्ष बन कर, अनैतिक तरीके से मैंने जनता का धन दान तथा चन्दा, बिना डकारे ही हजम किया है – इस पाप को मैं प्रायश्चित्त के आँसुओं से धोता हूँ।

- **अध्यक्ष की आलोचना का एक उदाहरण**

हे देवाधिदेव! विभिन्न लोकोपकारी संस्थाओं को सर्वेसर्वा होकर भी मैं अपनी जिम्मेदारियों से पलायन करता रहा और अन्य के द्वारा किये कार्यों पर अपने नाम की मुद्रा अंकित करता रहा – इस अपराध के प्रति मुझे बहुत अधिक आत्मग्लानि है।

- **निर्वाचित सदस्य की आलोचना का एक उदाहरण**

हे प्रजापते! निर्वाचित होने के पूर्व-पश्चात् मेरे मन-वचन-कर्म में जो जमीन-आसमान का अन्तर रहा तथा धर्म-कर्म और सेवा के बदले केवल मेवा ही उड़ाता रहा – इस कार्य के प्रति मैं अधिक लज्जित हूँ।

- **मतदाता की आलोचना का एक उदाहरण**

हे सर्वेश्वर! मैंने अपने नागरिक अधिकारों का हनन करके मतपत्रों का जो दुरुपयोग किया तथा अयोग्य स्वार्थी व्यक्तियों को अधिकार के पदों पर आसीन कराया – इस कुकृत्य की मैं आलोचना करता हूँ।

- **राजनेता की आलोचना का एक उदाहरण**

हे शिवशंकर! मैं देश की नौका को सदैव गलत दिशा में ले जाता रहा। जो कहा, वह कभी करके नहीं दिखलाया – इन पापों से मैं छुटकारा चाहता हूँ।

- **पंच की आलोचना का एक उदाहरण**

हे पंच परमेष्ठिन्! मैंने स्वार्थ एवं पक्षपात के वशीभूत होकर, सदैव न्याय का ही गला घोंटा है और अपने गौरव का झूठा प्रदर्शन किया है – इन दोषों को मैं आपके समक्ष स्वीकार करता हूँ।

- **समाज की आलोचना का एक उदाहरण**

हे कृपा-निधान! अपने ऊपर अन्याय सहते हुए भी हममें कोई क्रान्ति नहीं आई और अपने प्रमुखों की मनमानी का शिकार होते रहे; अतः अन्याय सहने के पाप का प्रतिकार करने को हम उत्सुक हैं।

- **चाटुकार की आलोचना का एक उदाहरण**

हे त्रिलोकीनाथ! मैंने स्वान-वृत्ति अपना कर, गुणहीनों के तलवे चाँटे हैं और गुणवानों को देख कर, सदैव काटने को दौड़ा हूँ। यद्यपि अपनी चमचागिरि से अपने स्वार्थ साधे हैं, परन्तु इससे देश और समाज का अहित ही हुआ है।

- **ठेकेदार की आलोचना का एक उदाहरण**

हे जगदाधार! विभिन्न निर्माण योजनाओं के ठेके लेकर, मैंने शासन और जनता की आँखों में सदैव धूल झोंकी है। बालू की दीवारें खड़ी कर, देश के बदले मैंने अपने स्वार्थों के महल का निर्माण किया है – इसकी मैं क्षमा चाहता हूँ।

- **इंजीनियर/ओवरसीयर की आलोचना का एक उदाहरण**

हे वीतरागदेव! लोक-निर्माण-योजना की ओट में मैंने भ्रष्टाचार के सभी तरीके अपना कर, जो पाप की कमाई की है, उसका प्रायश्चित्त करने के लिए मैं आपकी शरण में आया हूँ। कृपया आप मेरा अपराध क्षमा करें।

- **शासनाधिकारी की आलोचना का एक उदाहरण**

हे अधिपते! अधिकार के बल पर मैंने इस युग में रिश्वत और घूसखोरी का जो बाजार गर्म किया है, उससे देश रसातल में चला गया है। मैं इस भ्रष्टाचार को फैलाने का दोषी हूँ; अतः इस दोष का हृदय से प्रायश्चित्त करता हूँ।

- **न्यायाधीश की आलोचना का एक उदाहरण**

हे न्यायाधिपते! न्याय के पवित्र आसन पर बैठ कर भी पक्षपात और स्वार्थवाद को मैंने सदैव प्रश्रय दिया है – इस अपराध का दण्ड, मुझे आपके अतिरिक्त और कौन दे सकता है।

- **वकील की आलोचना का एक उदाहरण**

हे अधीश्वर! सरासर झूठे मामलों की पैरवी कर, अन्याय की विजय के लिए सदैव ही मैं असत्य का समर्थन करता रहा – इस पाप-पंक से मेरा उद्धार कीजिए।

- **वैद्य/डॉक्टर की आलोचना का एक उदाहरण**

हे प्रभो! धन के लोभ में मैंने रोगियों को यमपुरी पहुँचाया, रोगियों की संख्या घटाने के बदले विविध रोगों की संख्या बढ़ाई। औषधि विक्रेताओं से अवैध सम्बन्ध रख कर, रोगियों को धोखा दिया; अतः मैं अपने इन पापों का परिमार्जन करता हूँ।

- **शिक्षक की आलोचना का एक उदाहरण**

हे गुरुवर्य! मैंने निर्धारित काल-खण्डों में अपने विद्यार्थियों को पढ़ाने के बदले ट्यूशन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। देश के भावी कर्णधारों को इन्सान न बना कर, उन्हें हैवान बनाने में मदद की – इस कर्तव्यहीनता की मैं हृदय से आलोचना करता हूँ।

- **स्नातक की आलोचना का एक उदाहरण**

हे विद्यासागर! मैंने अनुशासनहीनता, उद्दण्डता, तोड़-फोड़, छेड़छाड़, दादागिरी, और फैशन-परस्ती का प्रतीक बन कर, देश और समाज का विध्वंस किया है – इस घोर पाप की मैं निन्दा करता हूँ।

- **नई युवापीढ़ी की आलोचना का एक उदाहरण**

हे चिद्विलास! मैंने अश्लील सिनेमा-चित्रों, गन्दे फिल्मी गानों और रोमांटिक उत्तेजक उपन्यासों के माध्यम से जो ब्रह्मचर्य तथा नैतिकता पर हथौड़े चलाये हैं; उनका मैं प्रायश्चित्त करता हूँ।

- **मुंशी, क्लर्क, बाबू की आलोचना का एक उदाहरण**

हे करुणा-निधान! सदैव ही लाल-फीता-शाही द्वारा दफ्तर को घर और घर को दफ्तर बना कर, रुपया ऐंठता रहा और चाय की एक प्याली के बदले में भी अपने धर्म-कर्म को डुबोता रहा; मेरे इस जीवन को धिक्कार है।

- **पुलिस की आलोचना का एक उदाहरण**

हे दयानिधे! मैं अपनी कर्तव्य-परायणता से मुँह मोड़ कर, जनता का रक्षक नहीं, वरन् भक्षक ही बना रहा – इसका मुझे हार्दिक दुःख है।

- **सैनिक की आलोचना का एक उदाहरण**

हे वीर-महावीर! मैंने कायर बन कर, शत्रुओं को पीठ दिखाई और अपनी कर्तव्य-परायणता का निर्वाह न कर, देश की रक्षा से सदैव पलायन किया; अतः मैं देशद्रोही हूँ और इसकी मैं क्षमा चाहता हूँ।

- **मन्त्री की आलोचना का एक उदाहरण**

हे महामहिम! झूठे आश्वासनों से मैंने जनता को ठगा है। भाई-भतीजावाद और जातिवाद के द्वारा अपनी आगामी पीढ़ियों के लिए विलास की सीढ़ियाँ बनाईं हैं; मैं इस घोर अपराध की क्षमा चाहता हूँ।

- **यात्री की आलोचना का एक उदाहरण**

हे मंगलमय महावीर! मैंने सदैव बिना टिकिट यात्राएँ कीं और अपने यातायात की सामग्रियों को लाने-ले-जाने में विविध प्रकार के चोरी के तरीके अपनाए; इस घृणित पाप की मैं निन्दा करता हूँ।

- **विषय-लम्पटी की आलोचना का एक उदाहरण**

हे प्रभु! जिह्वा-लम्पटी हो कर, मैंने होटलों में भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार किये बगैर, यद्वा-तद्वा खाया; रात-दिन शुद्धि-अशुद्धि का ध्यान नहीं रखा; इस प्रकार स्वास्थ्य और सदाचार का मैंने बहुत हनन किया, अपनी इस प्रवृत्ति की मैं निन्दा करता हूँ।

- **व्यसनी की आलोचना का एक उदाहरण**

हे दयासिन्धु! मैंने शराब, गाँजा, अफीम, भाँग, चरस, बीड़ी, सिगरेट, और चाय आदि की आदत डाल कर, केवल अपना ही विनाश नहीं किया; बल्कि परिवार समाज और देश को भी बर्बाद कर दिया। मैं इन बुरे व्यसनों को छोड़ने की भावना भाता हूँ।

- **कृषक की आलोचना का एक उदाहरण**

हे अन्तरात्मन्! मैंने अन्नोत्पादन करने में अनेक हिंसक साधनों का उपयोग किया, गरीब मजदूरों के साथ निष्ठुरता का व्यवहार किया। मेरे ये अपराध मिथ्या हों।

- **भिक्षुक (भिखारी) की आलोचना का एक उदाहरण**

हे दीनानाथ! मैं कातर बन कर, घिघिया कर, भिक्षा के लिए दूसरों के सामने हाथ फैलाए, आजीविका के लिए कोई श्रम नहीं किया। मेरे परावलम्बी जीवन को धिक्कार है।

- **दम्पति की आलोचना का एक उदाहरण**

हे परमेश्वर! दाम्पत्य-जीवन का धर्मानुकूल व्यवहार न करते हुए सन्तान-वृद्धि और कलहपूर्ण जीवन द्वारा गृहस्थी के स्वर्ग को नरक में परिणत कर दिया; इसलिए हम संयमित जीवन की प्रतिज्ञा करते हैं।

प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त की व्यवहारिकता

प्रतिक्रमण का फल[228]

उत्तराध्ययन सूत्र में प्रतिक्रमण का फल बताते हुए निम्न शंका–समाधान प्रस्तुत किया है –

प्रश्न – पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

अर्थात् हे भगवन्! प्रतिक्रमण करने से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है?

उत्तर – पडिक्कमणेणं वयं छिद्दाइं पिहेइ, पिहिय वयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयण मायासु उवउत्ते अपुहुत्ते सुप्पणिहिए विहरइ।

अर्थात् प्रतिक्रमण करने से अहिंसा आदि व्रतों के दोष रूप छिद्रों का निरोध होता है और छिद्रों का निरोध होने से जीव, आस्रव का निरोध करता है तथा (शबल आदि दोषों से रहित) शुद्ध चारित्र का पालन करता है और समिति-गुप्तिरूप आठ प्रवचन माता में सावधान होता है और संयम में तल्लीन रहता हुआ समाधिपूर्वक एवं अपनी इन्द्रियों को असन्मार्ग से हटा कर संयम मार्ग में विचरण करता है।

द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

इस युग के साधु पंचम काल के प्रभाव से वक्रजड़ होते हैं अर्थात् अज्ञानी होने के साथ कुटिल भी होते हैं; इससे वे अपने ही द्वारा व्रतादि में लगाए दोषों को भूल जाते हैं, उन्हें उनका स्मरण नहीं रहता तथा चंचल चित्त होने से प्रायः बार-बार दोष लगाते हैं; इसलिए गमनादि में दोष लगे या न लगे, उन्हें समस्त दोषों की विशुद्धि के लिए सभी **प्रतिक्रमण** दण्डकों को पढ़ना चाहिए; उनमें से यदि **प्रतिक्रमण** उसका, जिस किसी **प्रतिक्रमण दण्डक** में भी चित्त स्थिर होता है, उससे उसके सभी दोषों की विशुद्धि हो जाती है क्योंकि वे सभी **प्रतिक्रमण दण्डक**, कर्मों का घात करने में समर्थ हैं, लेकिन उनमें चित्त स्थिर अवश्य होना चाहिए।

इसी प्रकार चतुर्थ काल के सम्बन्ध में भी मूलाचार में कहा है –

सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
अवराहे पडिकमणं, मज्झिमयाणं जिणवराणं।।628।।

अर्थात् प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर का धर्म, प्रतिक्रमण सहित था। प्रतिक्रमण सहित धर्म अर्थात् दोष-परिहारपूर्वक चारित्र अर्थात् उनके समय यह व्यवस्था थी कि अपराध हुआ हो या न हुआ हो, प्रतिक्रमण करना ही चाहिए – ऐसा आवश्यक माना जाता था।

वहाँ आगे लिखा है कि अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त तीर्थंकरों के धर्म में अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण किया जाता था। जिस व्रत में अपने को या दूसरों को दोष लगता था, उसी का प्रतिक्रमण, मध्यम तीर्थंकरों के साधु करते थे। जबकि आदि और अन्तिम तीर्थंकर के साधु, एक दोष लगने पर भी सब प्रतिक्रमण दण्डकों को पढ़ते हैं। ईर्या, गोचरी, स्वप्न, आदि सब क्रियाओं में अतिचार लगें या न लगें, भगवान ऋषभनाथ और भगवान महावीर के शिष्य नियम से सभी प्रतिक्रमण दण्डकों को पढ़ते हैं।

इसका कारण यह है कि मध्यम तीर्थंकरों के शिष्य दृढ़बुद्धि वाले होने से भूलते नहीं थे, उनकी स्मरणशक्ति विशेष थी। वे एकाग्र मन वाले, मूढ़ मन रहित और स्थिरचित्त थे, प्रत्येक क्रिया विवेकपूर्वक समझ-बूझ कर करते थे; अतः उनमें अपराध की बहुलता का अभाव था। वे जो दोष करते थे, उस दोष की गर्हा करने से शुद्ध चारित्र वाले हो जाते थे, किन्तु प्रथम तीर्थंकर के शिष्य चंचलचित्त थे, उनका मन स्थिर नहीं रहता था। वे मूढ़ चित्त वाले होने से बार-बार समझाने पर भी नहीं समझते थे; इसलिए उन्हें सभी प्रतिक्रमण दण्डक करने होते थे क्योंकि यदि एक में मन स्थिर न हो तो दूसरे या तीसरे में हो जाएगा। इसी प्रकार की व्यवस्था अन्तिम तीर्थंकर के शासनकाल में भी अनिवार्यरूप से स्वीकार की गई है।

मूलाचार में इस सम्बन्ध में एक अन्धे घोड़े का उदाहरण दिया गया है –

किसी राजा का घोड़ा अन्धा हो गया, उसने उस घोड़े के लिए वैद्य के पुत्र से औषधि पूछी। वह वैद्यक शास्त्र जानता नहीं था और उसका वैद्य पिता, अन्य ग्राम को चला गया था। तब उस वैद्य पुत्र ने घोड़े की आँख के निमित्त, सभी औषधियों का प्रयोग कर लिया अर्थात् सभी औषधियाँ उस घोड़े की आँख में लगाता गया। उन औषधियों के प्रयोग से वह घोड़ा स्वस्थ हो गया अर्थात् जो आँख खुलने की औषधि थी, वह भी उन्हीं में आ गई; उसके लगते ही घोड़े की आँख खुल गई। उसी प्रकार साधु भी यदि एक प्रतिक्रमण दण्डक में स्थिर-चित्त नहीं होता तो अन्य दण्डक में हो जाएगा, अथवा यदि उस अन्य दण्डक में भी स्थिर मन वाला नहीं होता तो और अन्य किसी दण्डक में स्थिर-चित्त हो जाएगा; इसलिए सर्व दण्डकों का उच्चारण करना न्यायसंगत ही है और इसमें विरोध भी नहीं है क्योंकि प्रतिक्रमण के सभी दण्डक सूत्र, कर्म-क्षय करने में समर्थ हैं।

ऐसा माना जाता है कि प्रथम तीर्थंकर के शिष्य अति सरल और जड़ थे, जबकि अन्तिम तीर्थंकर के शिष्यों में अति कुटिलता और जड़ता थी; इस प्रकार वे दोनों क्रमशः ऋजुजड़ और वक्रजड़ कहलाए। तात्पर्य यह है कि ऋषभदेव और वीरप्रभु के शासन के मुनि दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि समयों में आगम-विहित सभी प्रतिक्रमणों को पढ़ते हैं। उस प्रतिक्रमण में सभी प्रकार के दोषों के निराकरण करने वाले सूत्र आते हैं। इन साधुओं को चाहे एक व्रत में अतिचार लगें, चाहे दो-चार आदि में लगें, चाहे कदाचित् किसी व्रत में अतिचार न भी लगे अर्थात् किंचित् दोष भी न हो तो भी जिनेन्द्रदेव की आज्ञा के अनुसार यथोक्त काल में वे प्रतिक्रमण विधि करें ही करें – ऐसा आदेश है; अतः प्रमाद छोड़ कर, विधिवत् सर्व प्रतिक्रमणों को करते रहना चाहिए व उनके अर्थ को समझते हुए अपनी निन्दा, गर्हा, आदि के द्वारा उन दोषों से उपरत होना चाहिए।[229]

प्रतिक्रमण के प्रयोग की विधि

प्रतिक्रमण की व्यवहारिक विधि का प्रतिपादन करते हुए कहा है –

शरीर, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को शुद्ध कर, मन को स्थिर करके पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके आसन लगा कर, बाहरी परिग्रह की ममता के त्याग की प्रतिज्ञा लेवें कि हे भगवन्! मैं दो घड़ी (जघन्य) या चार घड़ी (मध्यम) या छह घड़ी (उत्कृष्ट) तक आत्मचिन्तन के साथ निज-दोषावलोकन या जिनेन्द्र गुणानुवाद में ही व्यतीत करूँगा – ऐसी प्रतिज्ञा करके तीन आवर्त और एक शिरोनति कर, तीन बार नमोस्तु कहना चाहिए और फिर सत्ताईस श्वासोच्छ्वास यानि नौ बार णमोकार मन्त्र पढ़ना चाहिए।

प्रतिक्रमण करते समय तीन आसनों का प्रयोग किया जाता है – पद्मासन, खड्गासन एवं अर्द्धपद्मासन। जिस आसन से **प्रतिक्रमण** शुरु किया जाता है, उस आसन को **प्रतिक्रमण** की समाप्ति तक नहीं बदलना चाहिए।

प्रतिक्रमण, शान्त चित्त से शुद्ध उच्चारणपूर्वक करना चाहिए। **प्रतिक्रमण** का काल पूर्ण हो जाने पर मन-वचन-काय से प्रमादजन्य बत्तीस दोषों में से कोई दोष लगने की संभावना होने से अरहन्त या सिद्ध भगवान से क्षमा माँगते हुए प्रायश्चित्त लेना चाहिए।

क्षमा-विधि का स्वरूप इस प्रकार है कि ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा के विरुद्ध, जाने-अनजाने, मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से यदि प्रमादजन्य कोई दोष मेरे से लग गया हो तो हे भगवन! मैं उसकी क्षमा चाहता हूँ, तत्पश्चात् नौ बार णमोकार मन्त्र पढ कर, कायोत्सर्ग कर, **प्रतिक्रमण** पूर्ण करना चाहिए।[230]

अनगार धर्मामृत में इसकी विधि का वर्णन करते हुए लिखा है –

पाक्षिक्यादिप्रतिक्रान्तौ, वन्देरन् विधिवद् गुरुम्।
सिद्धवृत्तस्तुती कुर्याद्,गुर्वीं चालोचनां गणी।। 52।।
देवस्याग्रे परे सूरेः, सिद्धयोगिस्तुती लघू।
सवृत्तालोचने कृत्वा,प्रायश्चित्तमुपेत्य च।। 53।।
वन्दित्वाचार्यमाचार्यभक्त्या लघ्व्या ससूरयः।
प्रतिक्रान्तिस्तुतिं कुर्युः, प्रतिक्रामेत्ततो गणी।। 54।।
अथ वीरस्तुतिं शान्तिचतुर्विंशतिकीर्तनाम्।
सवृत्तालोचनां गुर्वीं, सगुर्वालोचनां यताः।। 55।।
मध्यांसूरिनुतिं तां च,लघ्वीं कुर्युः परे पुनः।
प्रतिक्रमा वृहन्मध्यसूरिभक्तिद्वयोज्झिताः।। 56।।[231]

अर्थात् पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक **प्रतिक्रमण** करते समय शिष्यों और सहधर्मात्माओं को पहले बतलाई विधि के अनुसार आचार्य की वन्दना करनी चाहिए। इसके अनन्तर अपने शिष्यों और सहधर्मात्माओं के साथ आचार्य को वृहद् सिद्धभक्ति और वृहद् चारित्रभक्ति करनी चाहिए।

तथा सभी को अर्हन्तदेव के सम्मुख वृहद् आलोचना करनी चाहिए। उसके बाद आचार्य के सम्मुख शिष्यों और सहधर्मात्माओं को लघुसिद्धभक्ति, लघुयोगिभक्ति, चारित्रभक्ति और आलोचना करके प्रायश्चित्त लेना चाहिए।

तत्पश्चात् पुनः लघु आचार्यभक्तिपूर्वक आचार्य की वन्दना करनी चाहिए। फिर आचार्य सहित सभी शिष्यों और सधर्मा मुनियों को **प्रतिक्रमणभक्ति** करना चाहिए। पश्चात् आचार्य को **प्रतिक्रमण दण्डक** का पाठ करना चाहिए।

इसके बाद साधुओं को आचार्य के साथ वीरभक्ति, शान्तिभक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति करनी चाहिए। फिर साधुओं को चारित्रालोचना करना चाहिए।

इसके बाद साधुओं को वृहद् आचार्यभक्तिपूर्वक वृहद् आलोचना करनी चाहिए। पश्चात् मध्यम आचार्यभक्ति और फिर लघु आचार्यभक्ति करना चाहिए। (अन्त में हीनता और अधिकता दोष की विशुद्धि के लिए समाधिभक्ति करनी चाहिए।) यहाँ विशेष यह है कि **अन्य प्रतिक्रमणों** के समय वृहद् और मध्यम आचार्यभक्ति नहीं की जाती है।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि आचार्य की वन्दना, लघु सिद्धभक्ति और लघु आचार्यभक्ति पढ़ कर, गवासन से बैठ कर करनी चाहिए। यदि आचार्य सिद्धान्तविद् हों तो सिद्ध, श्रुत, और आचार्यभक्ति के द्वारा उनकी वन्दना करनी चाहिए। इन तीन भक्तियों को पढ़ते समय प्रत्येक भक्ति के प्रारम्भ में अलग-अलग प्रतिज्ञा-वाक्य बोले जाते हैं। सिद्धभक्ति के प्रारम्भ में **'नमोऽस्तु प्रतिष्ठापनसिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्'** अर्थात् 'मैं प्रतिष्ठापन हेतु सिद्धभक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ' – यह प्रतिज्ञा-वाक्य बोला जाता है, इसी प्रकार श्रुतभक्ति के प्रारम्भ में **'नमोऽस्तु प्रतिष्ठापनश्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्'** – यह प्रतिज्ञा-वाक्य और आचार्यभक्ति के प्रारम्भ में **'नमोऽस्तु निष्ठापनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्'** – यह प्रतिज्ञा-वाक्य बोला जाता है तथा कायोत्सर्ग किया जाता है। तत्पश्चात् उन-उन भक्तियों का पाठ बोला जाता है।

इसी प्रकार वृहद् सिद्धभक्ति के पहले आचार्य सहित सभी साधु, **'सर्वातिचार-विशुद्ध्यर्थं पाक्षिक-प्रतिक्रमण-क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकल-कर्म-क्षयार्थं भाव-पूजा-वन्दना-स्तव-समेतं सिद्ध-भक्ति-कायोत्सर्गं करोम्यहम्'** अर्थात् मैं सब दोषों की विशुद्धि के लिए इस **पाक्षिक-प्रतिक्रमण-क्रिया** में पूर्वाचार्यों के अनुसार समस्त कर्मों के क्षय के लिए भावपूजा, वन्दना-स्तुति के साथ सिद्ध-भक्ति-कायोत्सर्ग करता हूँ – यह प्रतिज्ञा-वाक्य पढ़ते हैं और कायोत्सर्ग करते हैं। इसी प्रकार वृहद् चारित्रभक्ति के पहले **'सर्वातिचार-विशुद्ध्यर्थं..... ..आलोचना-चारित्र-भक्ति-कायोत्सर्गं करोम्यहम्'** – यह प्रतिज्ञा-पाठ तथा अन्य वीर-भक्ति, शान्ति-भक्ति, चतुर्विंशति-तीर्थंकर-भक्ति, योगि-भक्ति, आचार्य-भक्ति, समाधि-भक्ति, **प्रतिक्रमण**, निष्ठितकरण, आलोचना आदि के पहले भी इसी प्रकार पाठों को पढ़ते हैं।

इनका विस्तृत विवेचन तथा भक्ति आदि के पाठों की विस्तृत जानकारी, मूलाचार, अनगार धर्मामृत, चारित्रसार, आदि ग्रन्थों के अनुसार जानना चाहिए।

यहाँ ध्यान रखने योग्य बात यह है कि आचार्यों के द्वारा की जाने वाली विधि में किंचित् अन्तर होता है, उसका विवरण भी ग्रन्थों में उपलब्ध है।[232]

अनगार धर्मामृत में कहा है –

प्रतिक्रमण के द्वारा योग के ग्रहण और त्याग में पहले कहा हुआ कालविशेष व्यवहार के अनुसार ही जानना किन्तु धर्मकथा आदि में लग जाने से यदि उस काल में योगधारण और **प्रतिक्रमण** न करके अन्यकाल में करता है तो उसमें कोई दोष नहीं है। रात्रियोग और **प्रतिक्रमण** का जो पहले विधान किया गया है, वह व्यावहारिक है क्योंकि स्वाध्याय की तरह योग और **प्रतिक्रमण** विधि में कालक्रम का नियम नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार स्वाध्याय, देववन्दनादि के विषय में कालक्रम का नियम है कि अमुक समय में ही होना चाहिए; वैसा नियम रात्रियोग और **प्रतिक्रमण** के विषय में नहीं है।[233]

पण्डित आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत की स्वरचित संस्कृत टीका के अन्त में लिखा है –

यहाँ तो हमने दिशा मात्र बतलायी है, किन्तु साधुओं को प्रौढ़ आचार्य के पास सब जान-देख कर करना चाहिए। साधुओं के अभाव या उनकी विरलता के कारण **प्रतिक्रमण की विधि** का ज्ञान हीन होता गया – ऐसा लगता है। आज के साधु तो साधु, आचार्यों में भी **प्रतिक्रमण की विधि का ज्ञान अत्यल्प** है। अस्तु, व्रतारोपण आदि विषयक प्रतिक्रमणों में गुरु आचार्यभक्ति और मध्यम आचार्यभक्ति नहीं की जाती। कहा है – शेष प्रतिक्रमणों में चारित्रालोचना, वृहद् आलोचना और दोनों आचार्यभक्तियों को छोड़ कर, शेष विधि क्रम से होती है।[234]

अतिचार-विशुद्धि हेतु प्रतिक्रमण की विधि

अनगार धर्मामृत में कहा है कि अतिचारों की विशुद्धि हेतु सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमण-भक्ति, वीरभक्ति और चौबीस तीर्थंकरभक्ति करनी चाहिए।[235]

गृहस्थों में प्रतिक्रमण की विधि : लघु प्रतिक्रमण

स्व. ब्र. श्री बालचन्दजी, खुरई ने गृहस्थों में **पापों के प्रतिक्रमण** हेतु एक संक्षिप्त विधि का वर्णन श्रावकों के कल्याण हेतु मैं **लघुप्रतिक्रमण** का पाठ लिखा है, जो निम्न प्रकार है –

1. तीन लोक में जितने अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु तथा जिन-प्रतिमाएँ, जिन-चैत्यालय, सिद्धक्षेत्र और तीर्थक्षेत्र हैं; उनको मैं नमस्कार करता हूँ।

2. श्री कैलाशगिरिजी, श्री सम्मेदशिखरजी, श्री चम्पापुरजी, श्री गिरनारजी, श्री पावापुरजी, तथा हस्तिनापुरजी प्रभृति समस्त सिद्धक्षेत्रों से और विदेहक्षेत्र से तथा समस्त कर्मभूमियों से जितने जीव कर्ममल रहित सिद्ध, बुद्ध और निर्मल हो गये हैं – वे, तथा चारों प्रकार के संघ हमें मंगल करके पवित्र करें, शान्ति करें; उन्हें विशुद्ध भावना से मैं अष्टांग नवा कर, नमस्कार करता हूँ, वे मेरे कर्मों का नाश करें।
3. हे भगवान् ! शंकादिक 8 दोष, 8 मद, 6 अनायतन, 3 मूढ़ता और 7 व्यसनों से सम्बन्धित जो भी दोष लगे हों; उनकी मैं आलोचना करता हूँ।
4. हे जिनेश्वर ! जो मैंने आठ मूलगुणों में दोष लगाये हों; उनका मैं **प्रतिक्रमण** करता हूँ।
5. हे प्रभो ! मैंने मूलगुणों का पालन करते समय मद्यादि शराब के त्याग में अचार ;अथानाद्ध, चलित दही, छाछ, काँजी और आसव ;अर्कद्ध का सेवन किया, कराया और सेवन करने की अनुमोदना करने के फलस्वरूप अतिचार, अनाचार सहित दैवसिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, षड्मासिक तथा वार्षिक सम्बन्धी जो पाप लगे हों, उनका मैं अन्तःकरण से **प्रतिक्रमण** करता हूँ।
6. हे वीतरागदेव ! कृत-पापों के पश्चात्तापपूर्वक मैं उनका **प्रतिक्रमण** करता हूँ। दर्शनप्रतिमा के पालन करने में जिन-मार्ग में शंका की हो, शुभाचरण पालन कर, सांसारिक सुख की आकांक्षा तथा निदान किया हो, धर्मात्माओं के मलिन शरीर को देख कर, ग्लानि की हो, मिथ्यामार्ग और उन पर चलने वालों की प्रशंसा की हो, इत्यादि जो पाप अतिचार सहित मन-वचन-कायपूर्वक किये हों, कराये हों या अनुमति प्रदान की हो तो मैं उन समस्त कार्यों की आलोचना करता हूँ, पश्चात्ताप करता हूँ, वे कर्म निरर्थक हों – ऐसी कामना करता हूँ।
7. इतर निगोद 7 लाख, नित्यनिगोद 7 लाख, पृथ्वीकाय 7 लाख, अपकाय 7 लाख, तेजकाय 7 लाख, वायुकाय 7 लाख, प्रत्येक वनस्पति 10 लाख, द्वि-इन्द्रिय 2 लाख, त्रि-इन्द्रिय 2 लाख, चतुरिन्द्रिय 2 लाख, पशु पंचेन्द्रिय 4 लाख, देवगति 4 लाख, नरकगति 4 लाख, मनुष्य- गति 14 लाख – इस प्रकार 84 लाख योनियाँ मातृपक्ष से तथा 1 करोड़ 99 लाख 50 हजार कुल कोटि पितृपक्ष से और लक्ष करोड़ सूक्ष्म बादर पर्याप्त, अपर्याप्त, लब्धि-अपर्याप्त आदि जीवों की विराधना की हो और राग-द्वेष का पाप लगा हो तो हे भगवान् ! वह मिथ्या हो।
8. पंच मिथ्यात्व, बारह अविरति, पन्द्रह योग, पच्चीस कषाय तथा सत्तावन आस्रव का पाप लगा हो तो हे नाथ! वह मिथ्या हो।
9. तीन दण्ड, तीन शल्य, तीन गर्व का पाप लगा हो तो हे प्रभो ! वह मिथ्या हो।
10. राज्यकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा का पाप लगा हो तो हे जिनेश ! वह मिथ्या हो।
11. चार आर्तध्यान, चार रौद्रध्यान का जो पाप लगा हो तो हे परमात्मन् ! वह मिथ्या हो।
12. त्रसजीवों की विराधना का जो पाप लगा हो तो हे मुनीश्वर ! वह मिथ्या हो।
13. सप्त व्यसन के सेवन का तथा सप्त भयों का पाप लगा हो तो हे भगवान् ! वह मिथ्या हो।
14. अष्ट मूलगुण व्रत में अतिचार का जो पाप लगा हो तो हे परमेश्वर ! वह मिथ्या हो।
15. दस बहिरंग और चौदह अन्तरंग परिग्रह का जो पाप लगा हो तो हे जिनदेव! वह मिथ्या हो।
16. पन्द्रह प्रमाद का तथा प्रत्येक अणुव्रत के पाँच-पाँच अतिचारों का जो पाप लगा हो तो हे कैवल्यमूर्ते ! वह मिथ्या हो।
17. पानी छानने में तथा बिलछानी करने में जो पाप लगा हो तो हे देव ! वह मिथ्या हो।
18. बोलने में, चलने में, टहलने में, हिलने में, धोने में, बैठने में, मार्ग में, जाने में, अनजाने में, देख कर या बिना देखे कोई रौद्र परिणाम का, दुश्चिन्तन का पाप लगा हो तो हे अरिहन्तदेव ! वह पाप मिथ्या हो।
19. सर्व मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाओं की निन्दा की हो, कराई हो, अनुमोदना की हो; तथा अन्य किसी पर की निन्दा की हो, कराई हो, अनुमोदना की हो तो हे विभो ! वह पाप मिथ्या हो।
20. अपनी झूठी प्रशंसा और ख्याति की हो, कराई हो तथा अनुमोदना द्वारा जो पाप लगा हो तो हे जिननाथ! वह सब पाप मिथ्या हो।

21. देव-शास्त्र-गुरु का अविनय हुआ हो, निर्माल्य द्रव्य का पाप लगा हो, बत्तीस प्रकार की सामायिक में जो दोष लगा हो तो हे दयानिधे ! वह दुष्कृत्य मिथ्या हो।
22. पाँच इन्द्रियों के विषय व छठवें अनिन्द्रिय-मन का, जाने-अनजाने में जो पाप लगा हो सो हे देवाधिदेव ! वह मिथ्या हो।
23. मुझे कोई राग नहीं, कोई द्वेष नहीं, कोई बैर नहीं, कोई मान नहीं, कोई माया नहीं, कोई लोभ नहीं।
24. मेरी समस्त जीवों के साथ उत्तम क्षमा, उत्तम क्षमा, उत्तम क्षमा है, वे भी मुझे क्षमा करें। कर्म क्षय हो। समाधिपूर्वक मरण हो, चारों गतियों के दुःखों का निवारण हो।

ओं शान्तिः ! ओं शान्तिः !! ओं शान्तिः !!!

उपर्युक्त **प्रतिक्रमण के पाठ** के अनन्तर नौ, अठारह, सत्ताईस या छत्तीस बार णमोकार महामन्त्र का उच्चारण करना चाहिए और फिर चारों दिशाओं में तीन-तीन आवर्त तथा एक-एक शिरोनति करना चाहिए।[236]

प्रतिक्रमण के अन्तर्गत कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग का विवरण आगे व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त के व्याख्यान में किया गया है।

वर्तमान सन्दर्भों में प्रायश्चित्त की समसामयिकता

इस सन्दर्भ में अपनी बेबाक राय प्रगट करते हुए श्री पार्श्वनाथ जैन गुरुकुल के वरिष्ठ अध्यापक 'अपनी आलोचना' पुस्तक के 'उपचार-कथन' में श्री फूलचन्द 'पुष्पेन्दु' लिखते हैं –

इस भयंकर भ्रष्टाचार-युग में पाप करना तो सब जानते हैं, परन्तु उन पर प्रायश्चित्त/पश्चात्ताप करना कोई नहीं जानते। पाप को पाप जानना, उन पर दो आँसू बहाना, आगे फिर उन्हें नहीं होने देना – ये सब ऐसे उपाय हैं, जिनसे पाप-मल धुल जाते हैं, यानि मिथ्या हो जाते हैं। व्यवहार में भी क्षमा-याचना से अपराध अथवा दोष झूठे मान लिये जाते हैं।

शास्त्रीय विधान में प्रतिक्रमण, आलोचना, आत्मनिन्दा, गर्हा, प्रतिशरण, स्तुति-वन्दन, आदि जो कृतिकर्म प्रतिपादित हैं, वे अपनी पर्याय में होने वाले दोषावलोकन ही हैं। आत्मनिरीक्षण अथवा आत्मावलोकन ही हैं,। आत्मनिरीक्षण या आत्मावलोकन करने वाला प्रत्येक समझदार प्राणी अपनी चारित्रिक कमजोरी के कारण गलतियाँ अपराध या दोष निरन्तर करता है, परन्तु चूँकि वह उन्हें अपनी नहीं मानता, इसलिए उन पर पश्चात्ताप भी करता रहता है। फलतः वह उनका भागीदार या बन्धक नहीं होता।

प्रतिक्रमण, आलोचन एवं प्रत्याख्यानपूर्वक अपने भूत, भावी और वर्तमान दोषों का निराकरण करके पंच परमेष्ठी एवं तीर्थंकरों की शरण में जाना और फिर उनकी शरण से भी लौट कर, आत्मा की शरण में आना अर्थात् अपने सहज साम्यभाव में आ जाना ही **सामायिक** है।

अभी तक तो यहाँ दूसरों को ही ठगा जाता था, परन्तु अब तो इस मिलावट-युग की नई पीढ़ी स्वयं को ठग कर भी अपने को सफल मानती है। पर-प्रवंचना के प्याले में आत्मवंचना का जहर पी-पी कर, आज हम बहुत खुश हो रहे हैं – यह सब हमारा नैतिक पतन है, मानवीयता और धर्म के प्रति कुठाराघात है, सदाचार को सरे आम नंगा करना है।

उत्थान का मार्ग तो भेदविज्ञान है। दोषों को दोष समझ कर, उनसे बचते रहें, आत्मगुणों को गुण समझ कर, तद्रूप परिणत होते रहें – यही भेदविज्ञान की कला है।[237]

इस प्रकार **'अतिचार एवं प्रायश्चित्त – स्वरूप एवं विश्लेषण : जैन संविधान के सन्दर्भ में'** – इस शोध-प्रबन्ध के 'षष्ठ अध्याय : **प्रायश्चित्त की व्यवहारिकता : जैन संविधान के सन्दर्भ में'** का विवरण पूर्ण होता है।

इति शुभं भवतु।

सन्दर्भ-सूची

षष्ठ अध्याय : प्रायश्चित्त की व्यवहारिकता

1. जैन, वीरसागर, **सूत्र के बत्तीस दोषों का संक्षिप्त विवेचन,** प्रोफेसर, लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
2. **तत्त्वार्थसूत्र** 8/11 3. **अष्टपाहुड,** दर्शनपाहुड़, 22 4. कविवर द्यानतराय, **देव-शास्त्र-गुरु पूजन, जिनेन्द्र अर्चना,** 83
5. **गोम्मटसार** जीवतत्त्वप्रदीपिका गाथा 1 की उत्थानिका 6. आचार्य सोमदेव सूरि, **यशस्तिलक चम्पू,** 8/34
7. **समयसार,** आत्मख्याति, 12 में उद्धृत 8. डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी'; **मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन**, पृष्ठ 187
9. **श्रावकप्रतिक्रमणसार,** आचार्य कुन्थुसागर, शिष्य, आचार्य शान्तिसागर, भाषाटीका, पण्डित लालाराम शास्त्री, पृष्ठ 29–55 के आधार पर, प्रकाशिका, श्रीमती फूलवतीदेवी, धर्मपत्नि, साहू मेहरचन्द जैन रईस, किरतपुर, बिजनौर (1950)
10. **धवला,** 13/गाथा 10/60 11. **तत्त्वार्थसूत्र** 9/3 12. **प्रायश्चित्त-समुच्चय,** श्लोक 4
13. और देखें, **रत्नकरण्ड श्रावकाचार, भाषा-टीका,** पण्डित सदासुखदास;, पृष्ठ 333-335
14. उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि, **निशीथसूत्र,** एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृष्ठ 43, सम्पादक, युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज. 1991 15. **उत्तराध्ययन सूत्र,** सम्यक्त्व-पराक्रम नामक उनतीसवाँ अध्ययन, सूत्र 17
16. **राजवार्तिक,** 9/22 17. साध्वी मोक्षरत्नाश्री, **जैन संस्कार एवं विधि विधान,** एक तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ 348
18. **आचार दिनकर,** खण्ड 4, प्रायश्चित्त, आवश्यक एवं तपविधि, पृष्ठ 4 19. **जिनभाषित,** नवम्बर, 2010
20. **सामान्य जैनाचार विचार,** पृष्ठ 173 21. **सवार्थसिद्धि,** 9/20 22. **राजवार्तिक,** 9/20/1-3
23. **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 106 24. **मूलाचार प्रदीप,** 1832 25. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/20-21
26. और देखें, **अनगार धर्मामृत,** सप्तम अध्याय, श्लोक 33, पृष्ठ 511; एवं **राजवार्तिक,** 9/20/1-3
27. **मंगलायतन मासिक पत्रिका,** अक्टूबर 2006
28. **सामान्य जैनाचार विचार,** पृष्ठ 174-175;श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महिला मण्डल, कहाननगर, देवलाली
29. **अनगार धर्मामृत,** संस्कृत-हिन्दी टीका, पृष्ठ 511 30. **आचार दिनकर,** खण्ड 4, प्रायश्चित्त, आवश्यक तपविधि, पृष्ठ 3
31. **मूलाचार प्रदीप,** 1906-07 32. **आचार दिनकर,** खण्ड 4, प्रायश्चित्त, आवश्यक एवं तपविधि, पृष्ठ 4
33. **प्रायश्चित्त विधान,** पृष्ठ 125-126 34. **आचार दिनकर,** खण्ड 4, प्रायश्चित्त, आवश्यक एवं तपविधि, पृष्ठ 3
35. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा-टीका,** पृष्ठ 334-335 36. **सामान्य जैनाचार विचार,** पृष्ठ 175
37. **चर्चासंग्रह,** चर्चा 185, पृष्ठ 341 38. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** 27 39. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा-टीका,** पृष्ठ 335
40. **आचार दिनकर,** खण्ड 4, प्रायश्चित्त, आवश्यक एवं तपविधि, पृष्ठ 1-2 41. **प्रवचनसार,** तत्त्वप्रदीपिका, 222
42. **प्रवचनसार,** 223 43. **महापुराण,** 74/314 44. **निशीथ सूत्र,** प्रस्तावना, पृष्ठ 6 श्रीगुरु प्राण फाउन्डेशन, राजकोट
45. उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि, **निशीथसूत्र,** एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृष्ठ 41-42, सम्पादक, युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज. 1991
46. **भगवती आराधना,** 402-404, 421-422, 427, 430, 450-454, 457-460, 461-473, 474-480, 488, 497, 505-507, 628; और देखें, **व्यवहार भाष्य,** 519-520 के आधार पर 47. और देखें, व्यवहारभाष्य 520, ठाणं 8/18, एवं भगवती 25/554
48. बोधपाहुड, 24-25 49. देखें, व्यवहारभाष्य 520, ठाणं 8/18, एवं भगवती 25/554
50. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा-टीका,** पृष्ठ 265-266 के आधार पर 51. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/22
52. **प्रायश्चित्त-समुच्चय,** श्लोक 7 53. व्यवहारभाष्य 1028–29 टीका 54. व्यवहारभाष्य 544–545

55. व्यवहारभाष्य 4202 56. व्यवहार भाष्य, एक अनुशीलन', पृष्ठ 71, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं, 1996

57. **अनगार धर्मामृत,** 7/45, पृष्ठ 516 58. **अनगार धर्मामृत,** 7/45, विशेषार्थ, पृष्ठ 516 59. **वही,** 7/46,

60. आचार्य अतिमगति, **भावना द्वात्रिंशतिका**, 7, **वृहज्जिनवाणी संग्रह,** पृष्ठ 594

61. बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल', भावना बत्तीसी, 7, **वृहज्जिनवाणी संग्रह,** पृष्ठ 595 62. **मूलाचार,** षडावश्यक अधिकार, 623

63. और देखें, **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 526-534 64. **मूलाचार,** षडावश्यक अधिकार, 622, पृष्ठ 459

65. और देखें, **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 538-542, पृष्ठ 393-394 66. **वही,** 543, पृष्ठ 394

67. **मूलाचार,** 624, पृष्ठ 460 68. **मूलाचार,** आचारवृत्ति टीका, 624-625, पृष्ठ 460-461

69. और देखें, **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 543, पृष्ठ 394 70. और देखें, **वही**, 544-551

71. और देखें, **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 552-554 72. **वही,** 555-556

73. **मूलाचार,** 56 74. देखें, **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 613 75. **वही,** 557-559

76. **भगवती आराधना,** 560-561 77. **मूलाचार,** 56 78. **मूलाचार प्रदीप,** 1838 79. **आचारसार,** 6/25-26

80. और देखें, **भगवती आराधना,** विजयोदया टीका, 562, पृष्ठ 401-402 81. **तत्त्वार्थ राजवार्तिक,** 9/22/10

82. **मूलाचार,** 56 83. **भगवती आराधना,** 608 84. **वही,** 563 85. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषा-टीका,** पृष्ठ 334

86. **अनगार धर्मामृत,** संस्कृत-हिन्दी टीका, विशेषार्थ, 38, पृष्ठ 513

87. **वृहद्कल्पभाष्य,** 392-397, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, 1933-1942 88. **अनगार धर्मामृत,** पृष्ठ 513-514

89. और देखें, **अनगार धर्मामृत,** 622-627

90. मुनि दुलहराज एवं समणी कुसुमप्रज्ञा, **व्यवहार भाष्य,** एक अनुशीलन, पृष्ठ 31, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं 1996

91. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 69

92. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 133 एवं **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 356; देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 80, पृष्ठ 185

93. देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 81-82, पृष्ठ 186 94. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 134 एवं **चर्चासागर,** चर्चा 185

95. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/108-117; **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 2-14, पृष्ठ 146-156 के आधार पर

96. देखें, **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/118-127 97. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** भाषा-टीका, 10/38-42 के आधार पर

98. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 28-30 99. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/43 100. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/44

101. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 32 के आधार पर 102. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/46-47

103. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 33-34 104. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/48-51

105. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 35-36 ; और देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 84 व 88, पृष्ठ 187 व 188

106. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 37 ;देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 83, पृष्ठ 187 107. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 38

108. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/52-54 और देखें, **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 39-41 109. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 42-44

110. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/55 111. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 45 112. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/57-56

113. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 46-47 114. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/128-129; देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 15-17

115. **प्रायश्चित्त विधान,** आचार्य सन्मतिसागर, पृष्ठ 128; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 346

116. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/58 117. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 49 118. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/66

119. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 130 के आधार पर 120. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/67

121. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 70 122. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 60 123. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 61

124. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 62 125. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/61 126. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 63-64

127. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/70 128. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/71 129. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/72

130. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/68-69 131. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 80 132. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/73

133. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/130; और देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 18-22, पृष्ठ 157-159 के आधार पर

134. **प्रायश्चित्त विधान,** पृष्ठ 128 एवं **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 346 135. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 56

136. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 57 137. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 58-59 138. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/59-60

139. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/74-76-77 140. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/75 एवं 102 141. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/78

142. **वही,,** 10/79-82 एवं 87-88 143. **वही,** 10/89—90 144. **वही,** 10/91 145. **वही,** 10/92-96

146. **प्रायश्चित्त विधान,** पृष्ठ 129; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 347; और देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 23-31, पृष्ठ 160-162

147. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/62-63 148. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 65 149. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 66

150. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 66 151. **वही,** श्लोक 67 152. **वही,** श्लोक 68 153. **वही,** श्लोक 71

154. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 72 155. **वही,** श्लोक 73 156. **वही,** श्लोक 74-76 157. **वही,** श्लोक 77-78

158. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/133; और देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 32, पृष्ठ 163

159. **प्रायश्चित्त विधान,** पृष्ठ 129 एवं **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 348 के आधार पर 160. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 79

161. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 50 162. **वही,** श्लोक 51 163. **वही,** श्लोक 52 164. **वही,** श्लोक 53

165. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 134; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 357;देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 84 व 88,पृष्ठ 187

166. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 54-55

167. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 129; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 348; और देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 33, पृष्ठ 161

168. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 81 169. और देखें, **वही,** श्लोक 34-44 170. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/64-65

171. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 129; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 349; देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 34-44, पृष्ठ 164

172. **चर्चासागर,** चर्चा 7, पृष्ठ 9 173. **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 350; देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 45-52, पृष्ठ 169

174. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 130; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 350; देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 53-60, पृष्ठ 171

175. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 131; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 351; देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 61, पृष्ठ 175

176. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 131; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 352; देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 62, पृष्ठ 174

177. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 131; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 352 के आधार पर

178. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 131; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 353; देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 63, पृष्ठ 176

179. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 131; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 353; देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 64-66, पृष्ठ 177

180. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 131; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 353; देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 67, पृष्ठ 179

181. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 131; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 354; देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 68, पृष्ठ 179

182. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 131; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 354; देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 69-70, पृष्ठ 180

183. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 131; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 355 के आधार पर

184. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 131; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 355; देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 72-74, पृष्ठ 182

185. **वही** 186. **वही**, पृष्ठ 133; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 356; देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 75-76, पृष्ठ 183

187. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 133; **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 356 देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 77-78, पृष्ठ 184

188. **प्रायश्चित्त समुच्चय,** श्लोक 124–129 189. निशीथसूत्र, उद्देशक, 5/64 190. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/149

191. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/134 192. **वही,,** 10/135 193. **वही,,** 10/136 194. **वही,** 10/137

195. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/138 196. **वही,,** 10/139 197. **वही,,** 10/142 198. **वही,** 10/140-141

199. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/143-144 200. **वही,** 10/147 201. **वही,** 10/148 202. **वही,** 10/98-105

203. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/150-156; और देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 113-135, पृष्ठ 197-205

204. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी 205. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 134; **चर्चासागर,** चर्चा 186, पृष्ठ 358 आधार पर

206. और देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 95-136, पृष्ठ 191-205 207. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/162-163

208. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/164 209. **प्रायश्चित्त विधान,** गाथा 3

210. **पद्मनन्दि पंचविंशतिका,** उपासक संस्कार (श्रावकाचार) अधिकार, श्लोक 403 211. **प्रायश्चित्त विधान,** श्लोक 44

212. **प्रायश्चित्त विधान,** श्लोक 45 का अर्थ 213. **वही,** श्लोक 46–47 214. **वही,** श्लोक 62–64

215. **प्रायश्चित्त विधान,** श्लोक 84 216. **वही,** श्लोक 85 217. **वही,** श्लोक 86

218. **प्रायश्चित्त विधान,** गाथा 9–83 के आधार पर; और देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 137-152, पृष्ठ 205-212

219. **देखें, चर्चासागर,** चर्चा 174–184, पृष्ठ 312–330 220. **चर्चासागर,** चर्चा 175, पृष्ठ 318 के आधार पर

221. **चर्चासागर,** चर्चा 176, पृष्ठ 318–319 के आधार पर 222. **चर्चासागर,** चर्चा 27, पृष्ठ 30

223. **प्रायश्चित्त विधान,** टिप्पणी, पृष्ठ 133 एवं **चर्चासागर,** चर्चा 185, पृष्ठ 356 के आधार पर; और देखें, **प्रायश्चित्त चूलिका,** श्लोक 79, पृष्ठ 185 224. **प्रायश्चित्त विधान,** गाथा 78-79, पृष्ठ 61-62

225. **भगवती आराधना,** 619 की विजयोदया टीका में उद्धृत

226. **अपनी आलोचना,** आलोचना-सार, पण्डित केशरीचन्द धवल, पृष्ठ 7-9; प्रकाशक, प्रिन्टिंग हाउस, इतवारी, नागपुर

227. पण्डित कमलकुमार जैन शास्त्री 'कुमुद; **अपनी आलोचना** के आधार पर

228. **उत्तराध्ययन सूत्र,** सम्यक्त्व-पराक्रम नामक उनतीसवाँ अध्ययन, सूत्र 12 एवं आवश्यक सूत्र, परिशिष्ट तृतीय, पृष्ठ 268

229. **मूलाचार,** षडावश्यक अधिकार, 629-632; **अनगार धर्मामृत,** 8/62, पृष्ठ 599 व **भगवती आराधना,** टीका, 421 आधार पर

230. **पाक्षिक श्रावक प्रतिक्रमण पाठ,** ब्र. विनोद शास्त्री, पृष्ठ 2-3, ज्ञानकुटी, सिद्धनगर, नागपुर रोड, जबलपुर

231. **अनगार धर्मामृत,** 9/52-56; पृष्ठ 668-669

232. **अनगार धर्मामृत,** हिन्दी टीका, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री; 9/52-56, विशेषार्थ, पृष्ठ 669 के आधार पर

233. **अनगार धर्मामृत,** 9/44; पृष्ठ 664-665 234. **अनगार धर्मामृत,** 9/52-56, विशेषार्थ, पृष्ठ 672 235. **वही**

236. ब्र. श्री बालचन्दजी, खुरई; **लघु प्रतिक्रमण पाठ** के आधार पर 237. **अपनी आलोचना,** उपचार-कथन, पृष्ठ 5-6

सप्तम अध्याय

सामाजिक एवं राष्ट्रीय महत्त्व के परिप्रेक्ष्य में : प्रायश्चित्त की महत्ता एवं उपयोगिता

जैनधर्म में विश्वधर्म बनने की क्षमता

जैनदर्शन एक अत्यन्त व्यावहारिक दर्शन है; उसके सिद्धान्त न केवल पारमार्थिक दृष्टि से, अपितु लौकिक या व्यावहारिक दृष्टि से भी अत्यन्त उपादेय हैं। उसके सिद्धान्त केवल आत्मकल्याण के लिए ही नहीं, विश्वकल्याण के लिए भी अत्यन्त उपयोगी हैं। जैनधर्म में उसके व्यावहारिक, वैज्ञानिक एवं विराट् रूप के कारण उसमें विश्वधर्म बनने की क्षमता सदा से विद्यमान रही है; आवश्यकता मात्र उसे ऐसे साँचे में ढ़ालने की है। आज की कम्प्यूटर-भाषा में कहें तो जैनदर्शन में हार्डवेयर के रूप में क्षमता तो है; मात्र उसका साफ्टवेयर बनाने की जरूरत है। जैनदर्शन के सत्य, अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्वाद, अपरिग्रह, समता, व्रत, नियम, संयम आदि सिद्धान्तों की आज समसामयिक व्याख्या करना नितान्त आवश्यक हो गया है। इस सम्बन्ध में श्री सत्यदेव विद्यालंकार के विचार दृष्टव्य हैं –

''यदि विचार किया जाए तो जैनधर्म के मूलभूत तत्त्वों की व्याख्या इस रूप में अवश्य की जानी चाहिए कि वे वर्तमानकालीन राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का सर्वसम्मत हल उपस्थित कर सकें।.....

बौद्धधर्म तथा ब्राह्मण धर्म की तरह जैनधर्म पतनमुखी न होकर सदैव उत्क्रान्तिमूलक रहा है और उसका अस्तित्व युग-युगान्तरों की विनाशकारी परिस्थितियों में भी बना रहा है। इसी कारण उसको इतिहास की इस चेतावनी अथवा चुनौती पर समय रहते ध्यान देना ही चाहिए। स्पष्ट शब्दों में यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जब समाज में धर्म से निराश होकर धर्म-निरपेक्ष भावना प्रबल हो रही है, तब जैनधर्म के अनुयायियों को यह सिद्ध कर देना चाहिए कि उनका धर्म विकासोन्मुखी होने के कारण सदा ही परिवर्तनशील रहा है; हर युग की माँग तथा आवश्यकता की उसने पूर्ति की है और आज भी उसमें राष्ट्रधर्म की आवश्यकता की पूर्ति करने की क्षमता विद्यमान है।.....

जैनधर्म का साम्यभाव या समाजवाद केवल समाज तक ही नहीं है। प्राणिमात्र उसकी परिधि में समा जाते हैं.....वह विपक्षी के लिए भी अपने समान गुंजाइश रखता है। यदि दूसरे के लिए गुंजाइश रख कर, जीवन व्यवहार किया जाए तो संघर्ष की सम्भावना नहीं रहती। एक नियत दिवस पर ज्ञात-अज्ञात भूलों अथवा अवज्ञाओं के लिए हार्दिक क्षमायाचना, विश्व-बन्धुत्व तथा विश्वशान्ति की नींव बन सकती है। इस प्रकार व्यावहारिकरूप में जैनधर्म की क्षमता असीम है।''[1]

जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों की सामाजिक एवं व्यावहारिक व्याख्या[2] को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है –

- **आत्मानुशासन** – स्वयं पर स्वयं का शासन।
- **अनेकान्तवाद** – सबके साथ समन्वय की कला।
- **अहिंसावाद** – किसी का मन व्यर्थ में मत दुखाओ।
- **अपरिग्रहवाद** – अति लोभ खतरे की घण्टी है।
- **स्याद्वाद** – पहले तौलो, फिर बोलो।''

डॉ. हीरालाल जैन एम.ए. डी.लिट् एल.एल.बी., जो संस्कृत-पालि-प्राकृत विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय के अध्यक्ष एवं शासकीय प्राकृत जैन अहिंसा शोध संस्थान, मुजफ्फरनगर के भूतपूर्व डायरेक्टर

थे; उन्होंने 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान' इस विषय पर वृहद्काय ग्रन्थ की रचना की थी, जिसे मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् व्याख्यानमाला के अन्तर्गत सन् 1962 में प्रकाशित किया गया था। इस विषय पर अपनी गौरवपूर्ण टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं –

''जैनशासन प्रणीत हिंसा के स्वरूप तथा अहिंसाव्रत के विवेचन से स्पष्ट है कि व्रत के विधान, व्यक्ति को सुशील, सुसभ्य एवं समाज-हितैषी बनाने और उसे अनिष्टकारी प्रवृत्तियों से रोकने के लिए किया है और इस संयम की आज भी संसार में अत्यधिक आवश्यकता है। जिस प्रकार यह व्रत, व्यक्ति के आचरण का शोधन करता है, उसी प्रकार वह देश और समाज की नीति का अंग बन कर, संसार मे सुख और शान्ति की स्थापना कराने में भी सहायक हो सकता है। अहिंसा के इसी सद्गुण के कारण ही यह सिद्धान्त, जैन व बौद्ध धर्मों तक ही सीमित नहीं रहा, किन्तु वह वैदिक परम्परा में भी आज से शताब्दियों पूर्व प्रविष्ट हो चुका है तथा एक प्रकार से समस्त देश पर छा गया है और इसीलिए हमारे देश ने अपनी राजनीति के लिए अहिंसा को आधारभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है।''[3]

न केवल गाँधीजी ने इस अहिंसा सिद्धान्त को अपना अस्त्र बनाया, बल्कि हमारे देश में जब भी किसी विषय पर किसी भी व्यक्ति को अपनी बात रखना होता है तो उसे इसे ही अपना रास्ता बनाना होता है। आज के ज्वलन्त प्रश्न 'जनलोकपाल बिल' को सरकार से स्वीकार कराने के उद्देश्य से श्रीमान् अण्णा हजारे ने इसी मार्ग का अनुसरण किया है। हम देख रहे हैं कि इस उद्देश्य से किये जा रहे अनशन एवं आन्दोलन को आठ दिन बीत गये हैं, इसे सारे देश को समर्थन भी मिल रहा है, सारे देश में आन्दोलन की घटनाएँ हो रही हैं, लेकिन अभी तक कहीं से भी किसी मारपीट या हिंसा का समाचार नहीं मिला है।

राष्ट्रिय परिप्रेक्ष्य में जैन संविधान की उपयोगिता

सरकार तथा न्यायालयों का भी यही कर्तव्य है कि वह जैनियों के मुकदमे जैन-लॉ या जैन रीति-रिवाजों के अनुसार ही जैनियों के मुकदमों का निर्णय करें। इस प्रकार जैन लॉ फिर हिन्दू लॉ से निरपेक्ष होकर स्वतन्त्रतापूर्वक एक बार प्रकाश में आकर कार्यरूप में परिणत हो सके तथा जैनी, अपने ही कानून के पाबन्द रह कर अपने धर्म का समुचित पालन कर सकें।

यहाँ यह **प्रश्न** सम्भव है कि हिन्दू-लॉ की पाबन्दी में जैनियों का क्या बिगड़ता है ?

उत्तर – इस प्रकार तो हम यह भी पूछ सकते हैं कि यदि मुसलमानों और ईसाइयों के मुकदमे भी हिन्दू-नीति के अनुसार फैसले कर दिये जावें तो क्या हानि है; परन्तु स्वतन्त्रता के इच्छुकों को स्वयं ही विदित है कि प्रत्येक समाज की रीति एक दृष्टिकोण पर निर्भर होती है, उसमें किसी दूसरे समाज की रीति के प्रवेश कर देने से सामाजिक विचार और आचार की स्वतन्त्रा का नाश हो जाता है और व्यर्थ हानि अथवा गड़बड़ी के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता।

यदि जैनी अपने कानून की पाबन्दी नहीं करने पायेंगे तो किस प्रकार की हानियाँ होंगी ? इसे बताने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा –

जैसे – जैनियों में पुत्र का अधिकार माता के आधीन रखा गया है, जिसकी उपस्थिति में वह विरसा (दाय) नहीं पाता है। स्त्री अपने पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी होती है। वह स्वतन्त्र होती है कि वह चाहे जिसको दे डाले, उसको कोई रोक नहीं सकता, सिवाय इसके कि उसे छोटे बच्चों के पालन-पोषण का ध्यान अवश्य रखना होता है। इस उत्तम नियम का यह प्रभाव है कि पुत्र को सदाचार, शील और आज्ञापालन में आदर्श बनना पड़ता है, ताकि माता का उस पर प्रेम बना रहे। पुत्र को स्वतन्त्र स्वामित्व माता की उपस्थिति में देने का यह परिणाम होता है कि माता की आज्ञा निष्फल हो जाती है। जैनियों में दोषियों की संख्या का कम होना, जैसी कि अन्य जातियों की अपेक्षा वर्तमान में है – यह जैन कानून बनाने वालों की बुद्धिमत्ता का ज्वलन्त उदाहरण है। इसी प्रकार के जैन समाज के अन्य रीति-रिवाज, अन्य जैनेतर समाजों के लिए भी आदर्श हो सकते हैं।

इतना कह देना भी यथेष्ट न होगा कि रिवाजों के रूप में ही जैन नीति के उद्देश्यों का पूर्णतया पालन हो सकता है और इसलिए अब तक जैसा होता रहा है, वैसा होते रहने दो क्योंकि प्रत्येक कानून का

जानने वाला जानता है कि किसी विशेष रिवाज को प्रमाणित करना कितना कठिन कार्य है। सैकड़ों साक्षी और उदाहरणों द्वारा इसके प्रमाणित करने की आवश्यकता होती है, जो साधारण मुकदमे वालों की शक्ति एवं छोटे मुकदमों की हैसियत से बाहर हैं और फिर भी अन्याय का पूरा भय रहता है, जैसा कि अनेक अवसरों पर हो चुका है।

समाज भी भयभीत दशा में रहता है कि नहीं मालूम, मौखिक साक्षियों द्वारा प्रमाणित होने वाले रिवाज-विशेष पर न्यायालय में क्या निर्णय हो जाए क्योंकि यदि कहीं फैसला, उलटा-पुलटा हो गया तो अशान्ति और भी बढ़ जाती है क्योंकि यह निर्णय, वास्तविक जाति-रिवाज के प्रतिकूल हुआ। किसी साधारण मुकदमे में अन्याय हो जाना, यद्यपि दोषयुक्त है, किन्तु उससे अधिक हानि की सम्भावना नहीं है क्योंकि उसका प्रभाव केवल विपक्षियों पर ही पड़ता है, परन्तु सामाजिक रिवाजों के सम्बन्ध में ऐसा होने से उसका प्रभाव सर्व समाज पर पड़ता है। इसी प्रकार की और भी हानियाँ हैं, जो उसी समय दूर हो सकेंगी, जब जैन लॉ स्वतन्त्रता को प्राप्त हो जाएगा।

कुछ व्यक्तियों का विचार है कि जैनधर्म, हिन्दूधर्म की शाखा है और जैन नीति भी वही है, जो हिन्दुओं की नीति है। यह लोग, जैनियों को धर्म-विमुख हिन्दू (Hindu dissenters) मानते हैं, परन्तु वास्तविकता सर्वथा इससे विपरीत है।

यह सत्य है कि हिन्दू-लॉ और जैन-लॉ में अधिक समानता है तो भी यदि आर्यों का कोई स्वतन्त्र कानून हो सकता है तो जैन-लॉ ही हो सकता है। कारण कि हिन्दूधर्म, जैनधर्म का स्रोत किसी प्रकार से नहीं हो सकता, वरन् इसके विरुद्ध जैनधर्म, हिन्दूधर्म का सम्भवतः मूल स्रोत हो सकता है क्योंकि जैनधर्म वैज्ञानिक है और हिन्दूधर्म पारम्परिक। इस प्रकार वैज्ञानिक धर्म को ही पारम्परिक धर्म का आधार माना जा सकता है।

जैनी लोग, धर्मविमुख हिन्दू (Hindu dissenters) भी नहीं हो सकते हैं क्योंकि जब एक धर्म, दूसरे धर्म से पृथक् होकर निकलता है तो उनके अधिकांश सिद्धान्त एक ही होते हैं। अन्तर केवल दो-चार बातों का होता है। हम यदि हिन्दू मत की जैन मत से उसकी तुलना करें तो बहुत अन्तर मिलते हैं। समानता थोड़ी-सी बातों में है, वह भी केवल उन बातों में, जो लौकिक-व्यवहार से सम्बन्ध रखती हैं। जैसे, 1. जैनी, जगत् को अनादि मानते हैं, जबकि हिन्दू ईश्वरकृत। 2. जैन मत में पूजा किसी अनादिनिधन स्वयंसिद्ध परमात्मा की नहीं होती है, वरन् उन महान् पुरुषों की होती है, जिन्होंने अपनी उद्देश्य-सिद्धि प्राप्त कर ली है और स्वयं परमात्मा बन गये हैं। जबकि हिन्दू मत में जगत्-स्वामी जगत्-जनक एक ईश्वर की पूजा होती है। 3. पूजा का भाव भी हिन्दू मत में वही नहीं है, जो जैन मत में है। जैन मत की पूजा, आदर्श पूजा (Idealatory) है। 4. जैन मत में देवताओं को भोग लगाना आदि क्रियाएँ नहीं होती हैं, न देवता से कोई प्रार्थना की जाती है कि हमें यह वस्तु प्रदान करो। हिन्दू मत में देवता के प्रसन्न करने से अर्थ-सिद्धि मानी गई है। 5. शास्त्रों के सम्बन्ध में तो जैनधर्म और हिन्दूधर्म में जमीन-आसमान का अन्तर है। हिन्दुओं का एक भी शास्त्र, जैनियों को मान्य नहीं है और न हिन्दू ही जैनियों के शास्त्रों को प्रमाण मानते हैं।

जिन क्रियाओं में हिन्दू और जैनियों की समानता पाई जाती है, वह केवल सामाजिक क्रिया है। धार्मिक दृष्टि से उनका भाव भी एक-दूसरे से भिन्न है।

नीति के सम्बन्ध में भी जैनियों और हिन्दुओं में बड़े बड़े अन्तर हैं। जैनियों में दत्तक पारलौकिक सुख प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं लिया जाता। पुत्र के होने या न होने से कोई मनुष्य पुण्य-पाप का भागी नहीं होता है। बहुत से तीर्थंकर पुत्रवान् न होकर भी परमपूज्य पद को प्राप्त हुए हैं। इसके विपरीत बहुत से मनुष्य पुत्रवान् होते हुए भी नरकगामी होते हैं। न तो यह जैनधर्म का उपदेश है, न हो सकता है कि कोई अपनी क्रियाओं या दानादि से किसी मृतक जीव को लाभ पहुँचा सकता है।स्त्रियों के अधिकारों के विषय में भी जैन लॉ में बहुत बड़ा अन्तर है। जैन लॉ के अनुसार स्त्रियाँ, दायभाग की पूर्णतया अधिकारिणी होती हैं। हिन्दू लॉ में उनको केवल जीवन पर्यन्त का अधिकार मिलता है। सम्पत्ति का पूर्णतया अर्द्धांगिनी के रूप में जैन लॉ में ही पाई जाती है। पुत्र भी उसके समक्ष कोई अधिकार नहीं रखता है। जैन लॉ में लड़की केवल बाबा (पितामह) की सम्पत्ति में अधिकारी है। पिता की निजी स्थावर सम्पत्ति में उसको केवल गुजारे का अधिकार प्राप्त है और पिता, अपने जंगम द्रव्य का पूर्ण अधिकारी है, उसे वह चाहे जिस प्रकार व्यय करे।

हिन्दू लॉ में जहाँ अविभाजित परिवार की प्रशंसा की गई है। जैन लॉ में उसका निषेध न करते हुए पृथक्ता का आग्रह है, ताकि धर्म की वृद्धि हो।

जैन लॉ में अविभाजित सम्पत्ति भी सामुदायिक द्रव्य (Joint tinancy) के रूप में है, न कि अविभक्त सम्पत्ति (Joint estate) के रूप में। इसमें भेद यह है कि हिन्दू लॉ के अनुसार ज्वाइन्ट इस्टेट में यदि कोई सहभागी मर जाए तो उसके उत्तराधिकारी दायाद नहीं होते, अवशिष्ट भागियों की ही जायदाद रहती है और हिस्सों का तखमीना, बटवारे के समय तक नहीं हो सकता है। लेकिन जैन लॉ के अनुसार ज्वाइन्ट टेनेन्सी में एक सहभागी के मर जाने पर उसके दायाद उसके भाग के अधिकारी हो जाते हैं। इसलिए हिन्दू लॉ में खानदान मुश्तरिका मिताक्षरी की दशा में मृत भ्राता की विधवा की कोई हैसियत नहीं होती है और वह केवल भोजन-वस्त्र पा सकती है।

अस्तु, हिन्दू लॉ में स्त्री का कोई अधिकार नहीं है। पति मरा और वह भिखारणी हो गई। पुत्र चाहे अच्छा निकले चाहे बुरा, माता को हर समय उसके समक्ष कौड़ी कौड़ी के लिए हाथ पसारना और गिड़गिड़ाना पड़ता है। बहुतेरे नये नवाब भोग-विलास और विषयसुख में घर का धन नष्ट कर देते हैं। वेश्याएँ, उनकी धन सम्पत्ति द्वारा आनन्द करती हैं और उसे पानी की तरह बहाती हैं। माता और पत्नी घर में दो पैसे की भाजी को अकिंचन बैठी रहती हैं। यदि भाई भतीजों के हाथ धन लगा तो वे काहे को मृतक की विधवा की चिन्ता करेंगे और यदि करेंगे भी तो टुकड़ों पर बसर करायेंगे।

यदि कोई पुत्र धर्मभ्रष्ट एवं दुष्ट वा ढ़ीठ है और किसी तरह से न माने तो जैन नीति के अनुसार उसको घर से निकाल देने की आज्ञा है, परन्तु हिन्दू लॉ के अनुसार ऐसा नहीं हो सकता।

जैन लॉ के अनुसार पुत्र की उपस्थिति में भी विधवा का मृत पति की सम्पत्ति को स्वामिनी की हैसियत से पाना, वास्तव में अत्यन्त लाभदायक है। इससे पुत्र को व्यापार करने का साहस होता है और वह आलस्य और जड़ता से बचता है। इसके अलावा उसे सदाचारी और आज्ञाकारी बनना पड़ता है। यही कारण है कि जैनियों में सदाचारी व्यक्तियों की संख्या अन्य जातियों की अपेक्षा अधिकतर पाई जाती है।

हिन्दू लॉ में यदि पुत्र नहीं है और सम्पत्ति विभाज्य है तो विधवा के पश्चात् उसकी पुत्री और उसके बाद नाती पाता ही पाता है, पति के कुटुम्ब के लोग नहीं पाते क्योंकि वह उस सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी नहीं होती, वरन् यावज्जीवन अधिकारिनी होती है। यदि वह इच्छा भी करे तो भी नाती को अनधिकृत करके पति के भाई भतीजों को नहीं दे सकती। इसके विरुद्ध जैन लॉ में विधवा सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी होती है। पुत्री या नाती का कोई अधिकार नहीं होता। अतः यदि उसके पति के भाई भतीजे उसको प्रसन्न रखें और उसका आदर और विनय करें तो वह उनको सारा धन दे सकती है।

इस कारण जैन लॉ की विशिष्टता सूर्यवत् कान्तियुक्त है। यह भी ज्ञात रहे कि यदि कहीं ऐसा प्रकरण उपस्थित हो कि पुरुष को अपनी स्त्री पर विश्वास नहीं है तो उसका भी प्रबन्ध जैन लॉ में मिलता है। ऐसे अवसर पर वसीयत के द्वारा कार्य करना चाहिए और स्वेच्छानुकूल अपने धन का प्रबन्ध कर देना चाहिए। यदि कोई स्त्री दुराचारिणी है तो वह अधिकारिणी नहीं हो सकती है। यह स्पष्टतया जैन लॉ में दिया हुआ है।

इसी प्रकार के अन्य भेदात्मक विषय हैं, जो हिन्दू लॉ और जैन लॉ के अवलोकन से स्वयं ज्ञात हो जाते हैं; इसलिए यह कहना कि जैनधर्म, हिन्दूधर्म की शाखा है और जैन लॉ, हिन्दू लॉ समान हैं, नितान्त मिथ्या है।

जैनधर्म, बौद्धधर्म और हिन्दू या वैदिकधर्म एक नहीं हैं – यह एक स्थापित मान्यता है। इस सन्दर्भ में अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में लिखा है कि यद्यपि जैनधर्म और बौद्धधर्म निश्चित ही हिन्दू या वैदिकधर्म नहीं हैं; तथापि उनका आविर्भाव भारत में हुआ और वे भारतीय जीवन, संस्कृति व दर्शन के अभिन्न अंग हैं। भारत में कोई जैन या बौद्धधर्मावलम्बी शत-प्रतिशत भारतीय चिन्तन और संस्कृति की उपज है, फिर भी वह हिन्दूधर्मावलम्बी नहीं है; इसलिए भारतीय संस्कृति को हिन्दू संस्कृति कहना पूर्णतः भ्रामक है।

जैन संविधान से तात्पर्य जैनधर्म के द्वारा मान्य तीर्थंकरों, गणधरों, आचार्यों, एवं ज्ञानी मनीषियों की परम्परा से प्राप्त अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, प्रादेशिक, सामाजिक, एवं वैयक्तिक स्तर पर आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक, धार्मिक एवं नैतिकता सम्बन्धी नियमों, विधियों, आज्ञाओं, रीतियों एवं व्यवस्था का सूचक विधान है।

जैनदर्शन के राष्ट्रवादी होने का एक सबल प्रमाण यह है कि उसके मन्त्रों आदि में राष्ट्रकल्याण की भावना संजोइ गई है। जैसे – प्रतिदिन जिन-मन्दिर में पूजा के अन्त में सभी की शान्ति हेतु निम्न पाठ ध्यान देने योग्य है –

सम्पूजकानां प्रतिपालकानां, यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम्।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शान्तिं भगवान् जिनेन्द्रः!।।[4]

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान से यह प्रार्थना है कि वे सभी पुजारियों, रक्षकों (सैनिकों), महामुनियों, साधुओं तथा सम्पूर्ण देश, राष्ट्र, व नगर को भी शान्ति प्रदान करें।

इतना ही नहीं, जैनाचार्यों ने अपने अनुयायियों को राष्ट्रहित के लिए मुनिपद का भी त्याग कर, देने का विधान बताया है। कहा है कि यदि राष्ट्र का संकट, आपके प्रयत्न से दूर हो सकता हो तो मुनिपद को छोड़ कर उसे दूर करना चाहिए, बाद में प्रायश्चित्त लेकर पुनः मुनि हो जाना चाहिए। हम समझते हैं कि यह बहुत बड़ी बात है। इस सन्दर्भ में 'चारित्रसार' नामक ग्रन्थ का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है –

गूढ़ब्रह्मचारिणः कुमारश्रमणाः सन्तः स्वीकृतागमाभ्यास बन्धर्भिदुःसहपरिषहैरात्मना नृपतिभिर्वा निरस्तपरमेश्वररूपा गृहवासरता भवन्ति।

अर्थात् जो श्रमण, कुमार अवस्था में ही साधु होकर, आगम का अध्ययन करते हैं तथा पिता, भाई आदि कुटुम्बियों के आग्रह से अथवा घोर परिषहों को सहन न करने से किंवा राजा की किसी विशेष आज्ञा से अथवा अपने आप ही जो भगवती दीक्षा की श्रमण मुद्रा को छोड़ कर, गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं, उन्हें गूढ़ ब्रह्मचारी कहते हैं।

इस प्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि जैनदर्शन एक राष्ट्रवादी दर्शन है।

जैनाचार्यों ने अपने सिद्धान्तों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति – इन पाँच स्थावर जीवों का अत्यन्त विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन करके भी राष्ट्र की महती सेवा की है। यदि हम उसके अनुसार चलें तो आज पर्यावरण-प्रदूषण की विकराल समस्या से नहीं जूझना पड़े। आज हम विश्व-ऊष्मीकरण (Global Warming) और जल-समस्या से अत्यधिक सन्त्रस्त और चिन्तित हैं – यह जैनाचार्यों के सन्देशों की अनसुनी करने का ही परिणाम है।

जैनाचार्यों ने पानी का उपयोग बहुत सोचसमझ कर, अत्यल्प और वह भी विधिपूर्वक छान कर करने का निर्देश दिया है। वैसा न करने से विश्व में पानी की कमी का संकट तो पैदा हो ही गया है, मनुष्यों के स्वास्थ्य का भी घोर संकट उत्पन्न हो गया है। आज वैज्ञानिक, अशुद्ध जल को ही अनेकानेक बीमारियों का कारण सिद्ध कर चुके हैं। जहाँ 25 साल पहले यदि कोई जैन श्रावक पानी छान कर या प्रासुक करके पीता था तो लोग उसकी हँसी उड़ाते थे परन्तु आज उस प्रासुक पानी के आधुनिक प्रयोग बिस्लेरी के पानी का उपयोग करने में किसी की हँसी नहीं उड़ाई जाती है।

जहाँ जैनाचार्यों ने रात्रिभोजन हेतु आदिकाल से ही मना किया है, इसे भी आज विज्ञान द्वारा भलीभाँति पुष्ट किया जा चुका है। रात्रिभोजन करना, स्वास्थ्य के लिए कितना हानिकारक है – यह हम आज प्रत्यक्ष देख रहे हैं। रात में भोजन करना और फिर तुरन्त सो जाना – इस दैनन्दिन की दिनचर्या ने अनेक स्वास्थ्यसम्बन्धी समस्याओं को जन्म दिया है क्योंकि इससे भोजन को ठीक से पचने का समय नहीं मिलता। किडनी, हार्ट, गैस आदि की बहुत सी समस्याएँ आज रात्रिभोजन के कारण ही विकरालरूप धारण कर रही हैं। रात्रिभोजनत्याग की वैज्ञानिकता को समझने के लिए ऐलक निर्भयसागर महाराज की पुस्तक 'राजिभोजन : वैज्ञानिक दृष्टि' अवश्य पठनीय है।

जैनाचार्यों ने माँसाहार का सशक्त निषेध किया है क्योंकि मनुष्य स्वभावतः शाकाहारी है, माँसाहारी नहीं; अतः माँसाहार से सर्वथा बचना चाहिए किन्तु आज माँसाहार का जो प्रचलन बढ़ा है, उससे वैयक्तिक,

शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय – सभी स्तरों पर भारी संकट उत्पन्न हो गया है। अनेक निष्पक्ष शोधों ने यह सिद्ध कर दिया है कि माँसाहार के समर्थन में दिये जाने वाले सभी तर्क कुतर्क हैं और मनुष्य को मात्र भ्रमित करने वाले हैं। मनुष्य के माँसाहार करने से आज प्रकृति का सारा सन्तुलन गड़बड़ा गया है, जंगल के जंगल नष्ट हो गये हैं, पशुओं की सैकड़ों प्रजातियाँ लुप्त हो गई हैं और चारों ओर रोंगटे खड़े कर देने वाला भय व्याप्त हो गया है। कत्लखानों के कार्य राष्ट्र की समृद्धि के नहीं, बर्बादी के कारण सिद्ध हो रहे हैं। ग्लोबल वार्मिंग, पानी की कमी, मानव-स्वास्थ्य की हानि, आर्थिक हानि, वन-सम्पदा का विनाश इत्यादि भयंकर से भयंकर समस्याएँ, माँसाहार ने हमारे बीच उत्पन्न कर दी हैं कि जो आये दिन और भी नई नई छोटी बड़ी समस्याओं की कारण बनती जा रही हैं। इस विषय पर पाठकों से निवेदन है कि शोध-खोजपूर्ण साहित्य पढ़ें, लोलुपी लोगों के बहकावे में आकर अपना और राष्ट्र का भारी नुकसान न करें।

जैनाचार्यों ने ब्रह्मचर्य व्रत के प्रसंग में श्रावकों को परस्त्रीत्याग या स्वदारसन्तोष की शिक्षा दी है – यह भी उनका व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व के हित में दिया गया एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और परम व्यावहारिक सन्देश है। आज इसी की उपेक्षा के कारण अनेक यौन रोगों की उत्पत्ति हो रही है, जिनमें से 'एड्स' भी एक है, जिसका नाम ही रोंगटे खड़े कर देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण – ये पाँचों अणुव्रत न केवल आत्मकल्याण के लिए उपयोगी हैं; बल्कि परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व्र के कल्याण हेतु भी अत्यन्त उपयोगी हैं। इन पाँच व्रतों के पालन से जगत् की अनेक समस्याओं से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। यथा –

1. **अहिंसाणुव्रत के पालन से –** आतंकवाद, माँसाहार, पर्यावरण-प्रदूषण, ग्लोबल वार्मिंग, जलाभाव आदि।
2. **सत्याणुव्रत के पालन से –** भ्रष्टाचार, साक्ष्य-परिवर्तन, मिथ्या भाषण, मिथ्या अभिलेख आदि।
3. **अचौर्याणुव्रत के पालन से –** रिश्वतखोरी, टैक्सचोरी, असुरक्षा की भावना आदि।
4. **ब्रह्मचर्याणुव्रत के पालन से –** जनसंख्या वृद्धि, भ्रूण हत्या, एड्स आदि भयंकर यौन रोग।
5. **परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के पालन से –** अनाज भण्डारण, सम्पत्ति का बँटवारा, दहेजप्रथा आदि।

इनके अलावा अनर्थदण्डव्रत, अतिथिसंविभागव्रत, भोगोपभोगपरिमाणव्रत आदि व्रतों से भी जनसामान्य का हित, सम्यक् प्रकार से हो सकता है।....

राष्ट्रीय संविधान के निर्माण में जैन समाज का योगदान

मनुष्य, एक सामाजिक प्राणी है, उसकी उन्नति का एकमात्र कारण समाज की संवैधानिक व्यवस्था है क्योंकि जिस समाज का संविधान जितना सशक्त होगा, उस समाज का व्यक्ति उतना ही अनुशासित होगा और अनुशासित जीवन, व्यक्ति परिवार समाज देश और राष्ट्र की उन्नति करेगा। आज लोग 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' की उक्ति को चरितार्थ करने वाले जैन कानून से परिचित नहीं हैं।

जैन सिद्धान्तों, जैन जीवन पद्धतियों, जैन परम्पराओं और जैन समाज ने सदैव भारतीय इतिहास, संस्कृति, संविधान, विधि और विधान को आधारभूत योगदान एवं नए आयाम प्रदान किये हैं। भारत के राजनैतिक, प्रशासनिक, आर्थिक एवं चारित्रिक विकास में जैन समाज की महत्त्वपूर्ण भूमिका की प्रत्येक स्तर पर बौद्धिक मूल्यांकन कर अत्यधिक सराहना की गई है। जैन समाज, अपने लौकिक, सामाजिक और व्यवहार में अहिंसा और अनेकान्त के सिद्धान्तों का सफलतापूर्वक उपयोग करते हुए राष्ट्र के चतुर्मुखी विकास में अग्रणी रहा है।

भारतीय संविधान के विभिन्न पहलुओं पर जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रभाव रहा है, राष्ट्रीय प्रतीकों में जैनत्व के प्रतिबिम्बों का सहजता के साथ प्रयोग किया गया है तथा नागरिक के मूल अधिकारों एवं कर्तव्यों में सन्निहित जैन जीवन पद्धतियों के मूलभूत तत्त्वों का समावेश किया गया है।

भारत की प्रगति एवं भारतीय संस्कृति में जैनधर्म व जैनधर्मावलम्बियों का योगदान सकारात्मकरूप से रहा है। स्वतन्त्रता संग्राम से लेकर संविधान की रचना तक जैन समुदाय ने अग्रणी भूमिका निभाई है।

भारत की प्रशासन व्यवस्था में भी जैन पीछे नहीं रहे हैं। भारत के संविधान में न केवल जैन विषयक अवधारणाओं का समावेश है, अपितु इसमें जैन समुदाय ने महत्त्वपूर्ण योगदान भी दिया है। यह इस बात का द्योतक है कि जैन समाज हर जगह क्रियाशील रहा है तथा अपने अहिंसात्मक, सात्त्विक एवं बन्धुत्वभाव से प्रेरित कार्यप्रणाली के माध्यम से देश की सेवा दीर्घकाल से करता आ रहा है।

हमारे संविधान की उद्देशिका में भारत को लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बताते हुए कहा है –

हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न समाजवादी पन्थ-निरपेक्ष लोक-तन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक (दृष्टि से) न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़-संकल्पित होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को एतत् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

यहाँ भारत को पन्थनिरपेक्ष कहा गया है। साथ ही विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता भी इसी उद्देशिका में दी गई है। जैनधर्म में भी पन्थवाद और साम्प्रदायिकता की भावना का निराकरण, मानसिक अहिंसा के सिद्धान्त **'अनेकान्त और स्याद्वाद'** के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है क्योंकि वहाँ जैनधर्म को **'वत्थुसहावो धम्मो** अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है।

भारत के 'स्वतन्त्र प्रजातन्त्र' की व्याख्या करते हुए हमारे प्रथम राष्ट्रपति माननीय श्री डॉ. राजेन्द्रप्रसाद लिखते हैं – ''आज इस इतिहास को जानने की अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। बहुत दिनों के बाद आज स्वतन्त्र प्रजातन्त्र हम स्थापित कर रहे हैं। वह भारत के किसी एक छोटे से कोने में नहीं, पर इसके सारे विशाल क्षेत्र में; अतः हमारे सामने कठिनाइयों के पहाड़ दीख पड़ते हैं, उनको हमें लाँघना है। अपने विधान (संविधान) के निर्माण में हम बहुत करके पश्चिमीय देशों से – विशेष करके इंगलैण्ड और यूरोप के दूसरे देशों तथा अमेरिका के इतिहास और विधानों – से ही बहुत कुछ लेना चाहते हैं। उसका एकमात्र कारण उन देशों के इतिहास और विधानों से अधिक परिचय है। वैशाली के इतिहास और वैधानिक कार्य-प्रणाली से हम बहुत सीख सकते हैं; पर हमारी जानकारी इतनी कम है कि उस ओर ध्यान तक नहीं जाता। वैशाली का इतिहास केवल राजनीतिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर का जन्मस्थान भी है।''[5]

इसी सन्दर्भ में राष्ट्रकवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने वैशाली के गणतन्त्र को गणतन्त्र आदिविधाता एवं प्रजातन्त्र की माता तक कह दिया है; वे कहते हैं –

वैशाली जन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता।
जिसे ढूँढ़ता देश आज, उस प्रजातन्त्र की माता।।
रुको एक क्षण पथिक यहाँ, मिट्टी को शीश नवाओ।
राज सिद्धियों की समाधि पर, फूल चढ़ाते जाओ।।[6]

हमारी जैन संस्कृति, जितनी प्राचीन है, उतनी ही समृद्ध भी है। हमने लोकहित की अनेक संस्थाएँ बनाईं हैं। हमारा संविधान, हमें ऐसी संस्थाओं की स्थापना और संचालन का अधिकार प्रदान करता है। अनुच्छेद 26 में स्पष्ट उल्लेख है कि लोकव्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य को ध्यान में रख कर, कोई भी धार्मिक सम्प्रदाय या उसका अनुभाग, ऐसी संस्थाओं का संचालन कर सकता है।

एक और महत्त्वपूर्ण अनुच्छेद का हम यहाँ उल्लेख करना प्रासंगिक है कि हमारे जैन समाज ने अनेक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की है। अरबों रुपये का व्यय इन शिक्षण संस्थाओं पर होता है किन्तु इनमें धार्मिक पढ़ाई या तो होती नहीं या अल्प होती है। जब पदाधिकारियों से इस सन्दर्भ में चर्चा की जाती है तो उनका एक ही जवाब होता है कि संविधान हमें ऐसा करने की अनुमति नहीं देता। जबकि संविधान कुछ शर्तों के साथ ऐसी अनुमति देता है। प्रथमतः यदि संस्था, सरकार से अनुदान नहीं ले रही है तो वह ऐसी शिक्षा देने के लिए स्वतन्त्र है।

जैन समाज दान देने में अग्रणी समाज रहा है। समाज अनेक धर्मायतनों का संचालन करता है। मन्दिरों और धर्मायतनों और धार्मिक कार्यों/सिद्धान्तों की अभिवृद्धि के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना भी इस समाज ने की है।

जैन संस्कृति ने अपने देवालयों के माध्यम से अहिंसा और विश्व-शान्ति का उपदेश दिया है। आरम्भ से ही राष्ट्रीय और धार्मिक महत्त्व के कलात्मक मन्दिरों, स्मारकों, जिनबिम्बों का निर्माण जैन समाज करता रहा है। राष्ट्रीय महत्त्व के अनेक स्मारकों को शासन ने अपने हाथ में ले लिया है, किन्तु उनकी व्यवस्था और दशा कैसी है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

पर्यावरण की सुरक्षा हेतु जैनधर्म की उपयोगिता

जैनदर्शन एवं जैनधर्म के पास अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अनेकान्त, स्याद्वाद, आदि ऐसे मनोहर सिद्धान्त हैं, जिससे वह समस्त लोकोपयोगी कार्यों को याथातथ्य रूप में प्रस्तुत कर सकता है। हमें मानव जगत् के साथ साथ पर्यावरण की दृष्टि को भी साथ में रखना होगा, हमें यह मान कर चलना चाहिए कि यह सम्पूर्ण जगत् केवल मानवों के लिए निर्मित नहीं है। इस पर जितना मानवों का अधिकार है, उतना ही पशु-पक्षियों एवं वनस्पति जगत् का भी अधिकार है। हमें पर्यावरण के समस्त आयामों को बराबर का उचित स्थान देना होगा, वरना यह पृथ्वी न हमारे रहने लायक रहेगी और न किसी के रहने लायक रहेगी। सभी के हित में ही हमारा हित है – इस सिद्धान्त को हमें कभी नहीं भूलना चाहिए। यही कारण है कि जैनधर्म प्राणीमात्र और जीवमात्र के कल्याण की बात करता है; इसी में पर्यावरण की भी सुरक्षा निहित है।

जैनधर्म में जाति, वर्ण एवं वर्ग जैसी संकीर्णताओं को कोई स्थान नहीं

जैनधर्म में जाति, वर्ण एवं वर्ग जैसी संकीर्णताओं का प्रारम्भ से ही कोई स्थान नहीं रहा। उसकी उदारता जगजाहिर है। कर्नाटक महाराष्ट्र एवं तमिलनाडु में अभी भी जैन-ब्राह्मण जैन-क्षत्रिय जैन-कुम्भकार जैन-कृषक आदि जातियाँ बहुलता से पाई जाती हैं। जैनधर्म में जातिप्रथा को स्थान क्यों नहीं है ? – इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में कहा है कि ''मनुष्यों में गाय और अश्व के समान कुछ भी जातिकृत भेद नहीं है। आकृतिभेद होता तो जातिकृत भेद मानना ठीक होता; परन्तु आकृतिभेद तो नहीं है, इसलिए पृथक् पृथक् जाति की कल्पना करना व्यर्थ है।''

आचार्य रविषेण ने अपने पद्मपुराण में जातिवाद का निषेध करते हुए यहाँ तक लिखा है कि ''कोई जाति गर्हित नहीं है। वास्तव में गुण कल्याण के कारण हैं क्योंकि भगवान् जिनेन्द्र ने व्रतों में स्थित चाण्डाल को भी ब्राह्मण माना है।''

अमितगति श्रावकाचार के कर्ता इससे भी जोरदार शब्दों में जातिवाद का निषेध करते हुए कहते हैं कि ''वास्तव में यह उच्च और नीचपने का विकल्प ही सुख और दुःख का करने वाला है। कोई उच्च और नीच जाति है और वह सुख और दुःख देती है – यह कदाचित् भी नहीं है।

'जैनधर्म : विश्वधर्म' के लेखक श्री नाथूराम डोंगरीय लिखते हैं –

''कुछ व्यक्ति, कहीं-कहीं और कभी-कभी धर्म पर अपना या अमुक जाति अथवा वर्ग का एकाधिकार जता कर, अन्य जनों को धर्मशास्त्रों की पवित्र वाणी को सुनने या धर्मानुकूल आचरण करने अथवा देव-दर्शनादि के अधिकारों से वंचित करने का भी प्रयत्न करते देखे जाते हैं। सम्भवतः उन्हें यह समझ नहीं है कि धर्मरूपी गंगा में स्नान करके, अपने जीवन को पवित्र बनाने का प्राणि मात्र को अधिकार है; अतः धर्मान्धता और संकुचित मनोवृत्ति का परित्याग कर, धर्मात्माओ का यह पवित्र कर्तव्य है कि वे किसी की धर्म साधना में बाधक न बनें एवं जहाँ तक सम्भव हो, उनकी साधना में सहायक बन कर, सहयोग ही प्रदान करें।

आगमानुसार एक मेंढ़क ने भी भक्ति-भाव से भगवत्-पूजन के संकल्प मात्र से स्वर्ग प्राप्त किया है और आचार्यों ने हाथी, बन्दर, सिंह आदि जानवरों को भी धर्म एवं सदाचार का पाठ पढ़ा कर, उन्हें पशु से देवता बनाया है; फिर मनुष्य की तो बात ही क्या? धर्मात्मा चाण्डाल भी अहिंसा व्रत का पालन कर, मनुष्यों

से ही नहीं, देवताओं से भी पूज्य हुआ है, वेश्यावृत्ति का परित्याग कर, धर्माचरण द्वारा वेश्याएँ स्वर्ग गई हैं और शिकारी, व्यभिचारी व माँसभक्षीजन भी अपने पापकार्यों को त्याग कर, स्वर्ग व मोक्ष के सुखों को प्राप्त हुए हैं; अतः सिद्ध है कि किसी भी जाति, वर्ण, वर्ग या व्यक्ति को धर्म जैसी पवित्र वस्तु के सेवन से वंचित नहीं किया जा सकता। जाति कोई भी बुरी नहीं, उसकी उच्चता और नीचता का आधार गुण हैं। यदि एक चाण्डाल भी धर्मानुकूल आचरण और व्रतों का पालन करने के साथ-साथ सम्यग्दर्शन और ज्ञान से युक्त है तो निश्चय से वह देवता के समान स्तुत्य है; किन्तु एक कुलीन पुरुष भी यदि हिंसक, बेईमान, माँसभक्षी, व्यभिचारी, शराबी व दुष्ट है तो निःसन्देह वह पतित और निन्दनीय है।

मनुष्य जाति में जो वृत्ति और रंग के भेद से अथवा देश या योनि-भेद से भेद दिखाई देता है, वह कुछ आपस में घृणा करने या किसी को दबाने और सताने के लिए नहीं है। फिर भी जो परस्पर में प्रेम और मित्रतापूर्ण व्यवहार नहीं करते हैं। सचमुच वे मानव जाति के कलंक हैं और मानवता उनसे कोसों दूर है।''[7]

जैनधर्म के सर्वोदयी एवं समन्वयी सिद्धान्त

जैनधर्म एक सर्वोदयवादी धर्म है। उसकी मान्यता है कि स्वस्थ समाज एवं राष्ट्र-निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का चरित्र उन्नत हो, भावनाएँ पवित्र हों। आचार्य अमितगति ने कहा 'भावना द्वाविंशतिका' में कहा है –

सत्त्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।[8]

अर्थात् हे प्रभु! मेरा समस्त प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव, समस्त गुणियों के प्रति प्रमोदभाव, समस्त दुःखी प्राणियों के प्रति करुणाभाव और समस्त दुष्टों के प्रति माध्यस्थ्यभाव सदा होवे।

पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने 'वर्ण, जाति और धर्म' नामक पुस्तक में लिखा है कि ''भारतीय परम्परा में जैनधर्म अपनी उदारता और व्यापकता के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और स्वावलम्बन के कारण यह अन्य सब धर्मों मे श्रेष्ठधर्म गिना जाता है। इसी कारण इसके अनुयायी संख्या में अल्प होने पर भी विश्व के प्रधान धर्मों में इसकी परिगणना की जाती है।.....प्राणीमात्र की बुद्धि अन्धविश्वासों और अपने अज्ञान के कारण कुण्ठित हो रही है। जैनधर्म ने उनसे ऊपर उठ कर उसे आगे बढ़ाने में सदा सहायता की है।''

जैनधर्म की प्रारम्भ से ही ऐसी महिमा रही है कि उसने अपने सर्वोदयी एवं समन्वयी सिद्धान्तों से सभी को आकर्षित किया है। पाश्चात्य चिन्तक मनीषियों में डॉ. हर्मन याकोबी, डॉ. हर्टेल, अल्फ्रेड हड्सन, होर्नले, आर्नेस्ट लॉयमान, डॉ. शुब्रिंग, डॉ. आल्सडोर्फ, डॉ. बर्नार्ड शॉ, एवं प्राच्य भारतीय विद्याविदों तथा इतिहासज्ञों में डॉ. आर. जी. भाण्डारकर, डॉ. एस. राधाकृष्णन्, डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण, महामना मदन मोहन मालवीय, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. के. पी. जायसवाल, डॉ. ए. बी. ध्रुव, डॉ. ए. एस. आल्टेकर, डॉ. सैयद हुसैन, देशरत्न डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, पण्डित जवाहरलाल नेहरु, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, बिशम्भरनाथ पाण्डे, डॉ. राधा विनोद पाल, आदि ने उसकी प्रशंसा कर उसे प्राचीन मौलिक सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन धर्म बतलाते हुए उसकी प्रशंसा की है।

सर्वोदय सिद्धान्त के प्रचारक **आचार्य विनोबा भावे** के अनुसार जैनधर्म का साधक वही है, जो चिन्तन में अनाक्रामक, आचरण में सहिष्णु एवं प्रचार-प्रसार में संयमित हो।

महात्मा गाँधी ने महावीर की अहिंसा को अपना कर उसे भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का सबसे बड़ा अस्त्र बनाया और समस्त संसार को अहिंसा की शक्ति से परिचित कराया।

प्रख्यात साहित्यकार तथा नोबल पुरस्कार द्वारा सम्मानित **डॉ. जार्ज बर्नार्ड शॉ**, महात्मा गाँधी से अत्यन्त प्रभावित थे। एक बार गाँधीजी के ज्येष्ठ सुपुत्र एवं वरिष्ठ पत्रकार **देवदास गाँधी** (हिन्दुस्तान टाइम्स के संस्थापक सम्पादक) बर्नार्ड शॉ का इन्टरव्यू लेने लन्दन पहुँचे; तब उसी प्रसंग में बर्नार्ड शॉ के साथ उनके वार्तालाप के समाचार समाचार-पत्रों में इस प्रकार प्रकाशित हुए थे –

He expressed the views that Jain Teachings were appealing to him very much and he wished to be reborn in Jain family. Due to the influence of Jainism, he was always taking pure food free from meat diet and liquar……If there is a rebirth, then I wish to be born in a jain family.

'अनेकान्तवाद' को सामाजिक सौहार्द के लिए एवं विरोधियों के प्रति भी प्रीति उत्पन्न करने में कारगर उपाय के रूप में गाँधीजी ने स्थापित करते हुए 21.07.1946 की हरिजन पत्रिका में लिखा है – ''पहिले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। आज मैं विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूँ। मेरा 'अनेकान्त-वाद', सत्य और अहिंसा – इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है।''[9]

गाँधीवादी दर्शन के प्रख्यात व्याख्याकार **काका कालेलकर** ने **'जैनधर्म को विश्वधर्म बनने की क्षमता वाला धर्म'** कहा है।

'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' – ऐसे स्वतन्त्रता का उद्घोष करने वाले लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने तो यहाँ तक कहा है –

ब्राह्मण धर्म में एक सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उसमें ब्राह्मणादि चारों वर्णों को समानाधिकार नहीं दिये गये। यज्ञ-यागादि-कर्म केवल ब्राह्मण ही कर करा सकते थे, क्षत्रिय और वैश्य नहीं, शूद्र तो उसे देख भी नहीं सकते थे। जैनधर्म ने इस त्रुटि को दूर कर मानव-समाज का बड़ा भारी उपकार किया है।

इस प्रकार जैनधर्म ने युगों युगों तक सकल भारतीय समाज के सभी वर्णों के निर्माण में और सकल भारतीय समाज ने जैन-संस्कृति के विकास, संरक्षण और उसके इतिहास निर्माण में परस्पर आशातीत योगदान दिया है। इसी सन्दर्भ में एक विशेष चर्चा की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहती हूँ –

जैन संस्कारों का प्रभाव

भिण्ड (म.प्र.) के श्री सुरेशजी जैन ने बताया कि सिद्धवरकूट (रेशंदीगिरि, म.प्र.) में मध्यप्रदेश के अल्पसंख्यक आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री इब्राहिम कुरैशी नामक एक सरकारी अधिकारी ने विगत अगस्त 2009 को इन्दौर की एक सभा में लगभग 1000 व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए बताया –

''जैनधर्म से प्रभावित होकर उन्होंने मद्य-माँस-मधु का सेवन करना छोड़ दिया है। स्वाध्याय करना भी उन्होंने शुरु किया है। यद्यपि मुझे शुरु में कुछ भी समझ नहीं आता था, तथापि जब मैंने रात्रिभोजन करना छोड़ा तो मेरी समझ में आना भी शुरु हो गया।

मैं जैन समुदाय के बीच में जाता-आता हूँ तो इसकी आलोचना, हमारे मुस्लिम समाज में यदा-कदा होती रहती है। साथ ही उन्हें मेरे जैन समाज के साथ अधिक उठने-बैठने से भी ऐतराज होता रहता है। एक बार हमारे एक मुस्लिमभाई ने जब मुझसे कहा कि आप उनके यहाँ तो जाते-आते हो, परन्तु आप उन जैनी भाईयों को कभी अपने यहाँ नहीं लाते हो तो इसका कारण बताते हुए मैंने उनसे कहा –

हम हमेशा अपने मुस्लिम भाईयों के बारे में ही सोचते रहते हैं और कहते रहते हैं, इसी प्रकार हिन्दू भाई भी अपने हिन्दु भाईयों के बारे में ही बात करते हैं लेकिन जैनी भाई, कभी अपने जैनी भाईयों के बारे में बात नहीं करते, वे हमेशा प्राणी मात्र के कल्याण की ही बात करते हैं, जीव मात्र के प्रति दया भाव की बात करते हैं। हमारी बातें केवल हमारे हित के लिए ही होती हैं जबकि उनकी बातें सर्वजनोपयोगी और सर्वजनकल्याणकारी होती हैं; अतः हमारी बात उनके काम की नहीं है, परन्तु उनकी बात हम सब के काम की होती है। यही कारण है कि मुझे उनकी बातें अच्छी लगती हैं और इसीलिए मैं हमेशा उनके पास जाता-आता हूँ, परन्तु उन्हें अपने यहाँ नहीं लाता।''

अतिचार के अनुसार प्रायश्चित्त-विधान

आचार्य भगवन्तों की दृष्टि, दूरदर्शी होने से वे शिष्य के दोषों की तीव्रता या मन्दता अथवा उसकी निर्दोषता का अनुमान लगा लेते हैं कि अपराध करने वाले का अभिप्राय किस स्तर का है? इसे देखते हुए ही वे प्रायश्चित्त देते हैं, न कम न ज्यादा। जैसे –

1. रक्षाबन्धन की कथा के अनुसार जब मुनिराज श्रुतसागर ने बलि, आदि चारों मन्त्रियों के साथ वाद-विवाद किया था, उसके कारण पूरा संघ संकट में आ सकता है – ऐसा जान कर, स्वयं आचार्य अकम्पन ने ऐसा प्रायश्चित्त दिया था कि उन्हें उसी स्थान पर रात भर खड़े रहने का निर्देश दिया था, जिस स्थान पर रास्ते में उन्होंने वाद-विवाद किया था, ताकि यदि कोई अनहोनी घटना घटे तो समस्त संघ के प्राण संकट में पड़ने से बचें।
2. इसी कथा में जब मुनि विष्णुकुमार को अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों की रक्षा करने के भाव आये तो उन्होंने इस आरम्भ कार्य को अपने पद के योग्य नहीं समझा और उन्होंने पद को छोड़ कर ही सात सौ मुनियों की रक्षा की। यदि वे इस कार्य को पद में रह कर करते तो यह बहुत बड़ा पाप माना जाता और उन्हें पुनर्दीक्षा का ही प्रायश्चित्त दिया जाता।
3. बहुश्रुत एवं महा प्रभावशाली मुनि समन्तभद्र को जब युवा वय में भस्मक व्याधि हुई तो उन्होंने अपने आचार्य से समाधि की आज्ञा माँगी, परन्तु उनके आचार्य ने उन्हें समाधि न देते हुए पद त्याग करके रोग-शमन करने का उपाय करने को कहा, पश्चात् जब उनका रोग शान्त हो गया तो उन्हें पुनर्दीक्षा दी। यदि वे मुनिपद में रह कर रोग शान्त करने का उपक्रम करते तो यह अनुचित माना जाता और महान प्रायश्चित्त के योग्य दोष माना जाता।
4. पुष्पडाल मुनि को अपनी पूर्व पत्नि का विकल्प था, अतः वारिषेण मुनिराज ने उनको सम्बोधन करके उनका स्थितिकरण किया; अतः स्थितिकरण करना भी यहाँ प्रायश्चित्त का ही एक रूप है, ताकि वह व्यक्ति, पुनः मुक्तिमार्ग का सम्यक् अनुसरण कर सके।
5. माघनन्दि मुनिराज ने कुम्हार की लड़की से विवाह कर लिया तो भी उनके आचार्य ने उन्हें बौद्धिक प्रतिभाशाली जान कर, उनकी पूर्व दीक्षा का छेद कर, उन्हें पुनः दीक्षा प्रदान की।

इस प्रकार पुनर्दीक्षा, यद्यपि सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है, तथापि उसके द्वारा भी जीव को मार्ग पर लगाया जाता है, उसकी भी अपनी उपयोगिता है। इसी प्रकार यहाँ यह भी समझना आवश्यक है कि वही साधु प्रायश्चित्त ले सकता है, जो गुरु के सान्निध्य में रहता है, जो गुरु के सान्निध्य में ही नहीं रहता, उसकी साधना निर्दोष होने का कोई विधान ही नहीं हो सकता।

प्रायश्चित्त का अतिचारों की शुद्धि से सीधा सम्बन्ध

प्रायश्चित्त, अतिचारों की शुद्धि से सीधे तौर पर जुड़ा हुआ है – ऐसा कथन करते हुए अनगार धर्मामृत में कहा है –

''यत्कृत्याऽकरणे वर्ज्याऽवर्जने च रजोऽर्जितम्।
सोऽतिचारोऽत्र तच्छुद्धिः, प्रायश्चित्तं दशात्म तत्।।[10]

अर्थात् जो करने योग्य कार्य हैं, उन्हें नहीं करने में; जो वर्जनीय कार्य हैं, उन्हें नहीं छोड़ने में; जो पाप का अर्जन होता है, उसे **अतिचार** कहते हैं। उस अतिचार की शुद्धि को यहाँ **प्रायश्चित्त** कहते हैं, उसके दश भेद हैं।''

इसी भाव को मूलाचार में भी अभिव्यक्त किया गया है –

''पायच्छित्तं ति तओ, जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं।
पायच्छित्तं पत्तोत्ति, तेण बुत्तं दसविहं तु।।[11]

अर्थात् जिसके द्वारा पूर्वकृत पापों का शोधन होता है, उसे **प्रायश्चित्त नामक तप** कहते हैं, उसके दश भेद हैं।''

दोषों के अनुसार प्रायश्चित्त के भेदों का संक्षिप्त वर्णन

''जैसे, आरोग्य के इच्छुक व्यक्ति के लिए दोष के अनुसार बल, काल, आदि की अपेक्षा से चिकित्सा का प्रयोग करते हैं; वैसे ही कल्याण के इच्छुक व्यक्तियों को बल, काल, संहनन, आदि की अपेक्षा से अपराध के अनुसार उक्त **दश प्रकार के प्रायश्चित्तों** का प्रयोग करना चाहिए।''[12]

उक्त **नौ या दश प्रकार के प्रायश्चित्त** के विधान को दोषों के अनुसार समझाने हेतु आचार्यों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है, जिन्हें हम निम्न प्रकार से समझ सकते हैं[13] –

1. विद्या और ध्यान के साधनों के ग्रहण करने आदि में प्रश्न-विनय के बिना प्रवृत्ति करना दोष है, उसका प्रायश्चित्त, मात्र **आलोचना** है।

अथवा आचार्य के बिना पूछे आतापनादि करना, दूसरे साधु की अनुपस्थिति में उसकी पीछी आदि उपकरणों का ग्रहण करना, प्रमाद से आचार्यादि की आज्ञा का उल्लंघन करना, आचार्य से बिना पूछे संघ में गमन-आगमन करना, धर्म-कथा, आदि के कारण देश-काल के लिए नियत आवश्यक कर्तव्य व व्रत-विशेषों का विस्मरण होने पर, उन्हें पुनः करना तथा अन्य भी इसी प्रकार के दोषों का प्रायश्चित्त, मात्र **आलोचना** है।

2. देश और काल के नियम से आवश्यक कर्तव्य -विधानों को धर्मकथा आदि के कारण भूल जाने पर, पुनः करने के समय **प्रतिक्रमण** प्रायश्चित्त होता है।

अथवा जब अपराध छोटा-सा हो, गुरु पास न हों; तब यह **प्रतिक्रमण** प्रायश्चित्त होता है।

अथवा छह इन्द्रियाँ तथा वचनादिक का दुष्प्रयोग; आचार्यादि बड़ों से अपना हाथ- पाँव आदि का टकरा जाना; व्रत-समिति-गुप्ति आदि में छोटे-छोटे दोष लग जाना, पैशून्य तथा कलह आदि करना; वैयावृत्त्य तथा स्वाध्याय आदि में संक्लेश करने वाली क्रियाओं के होने पर **प्रतिक्रमण** करना चाहिए। यह प्रायश्चित्त सायंकाल, प्रातःकाल, तथा भोजनादि के गमनकाल में होता है।

3. दुःस्वप्न देखने आदि के प्रसंगों में **तदुभय** प्रायश्चित्त होता है।

अथवा केशलोंच, नख का छेद, स्वप्न-दोष, इन्द्रियों का अतिचार, रात्रिभोजन तथा पक्ष, मास व संवत्सर आदि के दोषों में **तदुभय** प्रायश्चित्त होता है।

4. भय, शीघ्रता, विस्मरण, अज्ञान, अशक्ति और आपत्ति आदि कारणों से महाव्रतों में अतिचार लगने पर, **छेद से पहले के छह** प्रायश्चित्त होते हैं।

5. स्वकीय शक्ति को न छिपा कर, प्रयत्न से दोषों का परिहार करते हुए भी किसी कारणवश अप्रासुक वस्तु के स्वयं ग्रहण करने या ग्रहण कराने में छोड़ी हुई प्रासुक वस्तु का विस्मरण हो जाए और ग्रहण करने के बाद उसका स्मरण आ जाए तो उसका पुनः उत्सर्ग या त्याग करना **विवेक** प्रायश्चित्त है।[14]

6. दुःस्वप्न आने पर, खोटे विचार होने पर, मल-त्याग में दोष लगने पर, नदी या भयानक जंगल को पार करने पर या इसी प्रकार के अन्य कार्यों से दोष लगने पर ध्यान का अवलम्बन लेकर तथा काय से ममत्व त्याग कर, अन्तर्मूहूर्त, एक दिन, एक पक्ष या एक मास आदि तक खड़े रहना, **व्युत्सर्ग** प्रायश्चित्त है।[15]

अथवा मौनादि धारण किये बिना ही लोंच करने पर; उदर में से कृमि निकलने पर; हिम, दंशमशक या महा वातादि के संघर्ष से अतिचार लगने पर; स्निग्ध भूमि, हरित तृण या कर्दम आदि के ऊपर घुटनों तक जल में प्रवेश कर जाने पर; अन्य नैमित्तिक वस्तुओं को उपयोग में ले आने पर; नाव के द्वारा नदी पार होने पर; पुस्तक या प्रतिमा आदि के गिरा देने पर; पंच स्थावरों का विघात करने पर; बिना देखे स्थान में शारीरिक मल छोड़ने पर; तथा पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्रियाओं में, अन्तर्व्याख्यान प्रवृत्ति आदि क्रियाओं में; केवल **कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग** प्रायश्चित्त होता है तथा थूकने या पेशाब आदि के करने पर **कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग** करना प्रसिद्ध ही है।

अथवा धवला में कहा है कि जिसने दोष किया है, परन्तु जो अपने विमल ज्ञान से नौ पदार्थों के स्वरूप को समझता है, वज्र संहनन वाला है, शीत-वात और आतप को सहन करने में समर्थ है तथा सामान्यरूप से शूर है – ऐसे साधु के **व्युत्सर्ग** प्रायश्चित्त होता है।[16]

7. जिसकी इन्द्रियाँ तीव्र हैं, जो जवान है, बलवान है, और सशक्त है; परन्तु जो अपराधी है – ऐसे अपराधी साधु को **तप** प्रायश्चित्त दिया जाता है।[17]

8. जिसने बार-बार अपराध किया है परन्तु जो उपवास आदि करने में समर्थ है, सब प्रकार बलवान है, सब प्रकार शूर और अभिमानी है – ऐसे साधु को अल्पकालिक **छेद** प्रायश्चित्त दिया जाता है।[18]

9. उद्गम आदि दोषों से युक्त आहार, उपकरण, और वसतिका – इनका जो साधु ग्रहण करता है, वह **मूल** स्थान को प्राप्त होता है; वह अज्ञानी है, केवल नग्न है, न यति है, और न गणधर है अर्थात् उसे **मूल** प्रायश्चित्त दिया जाता है।

अथवा अपरिमित अपराध करने वाला जो साधु पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, और स्वच्छन्द हो कर, कुमार्ग में स्थित है; उसे **मूल** प्रायश्चित्त दिया जाता है।[19]

10. बार-बार प्रमाद, बहुदृष्ट अपराध, आचार्यादि के विरुद्ध कार्य करने पर और सम्यग्दर्शन की विराधना करने पर क्रमशः **छेद** अर्थात् आंशिक दीक्षा-छेद, **मूल-भूमि-अनुपस्थापन** अर्थात् पुनः दीक्षा और **पारंचिक** प्रायश्चित्त का विधान होता है।

वहाँ दीक्षा का छेद कर, आचार्य के चरणमूल में प्रायश्चित्त ग्रहण करना, **अनुपस्थापना** प्रायश्चित्त है तथा तीन आचार्यों तक एक आचार्य से अन्य आचार्य के पास भेजना, **पारंचिक** प्रायश्चित्त है।[20]

अनेक महापराध करने पर जो चातुर्वण्य श्रमण संघ से 'यह महापापी है, यह जिनमत-बाह्य है, इसको वन्दन मत करो' – ऐसी घोषणा करके **अनुपस्थापना नामक प्रायश्चित्त** दे कर, देश से निकाला जाता है, वह मुनि भी स्वधर्म रहित क्षेत्र में जा कर, आचार्य से दिया हुआ प्रायश्चित्त का पालन करता है।[21]

11. डर कर भागना, असामर्थ्य, अज्ञान, विस्मरण, आतंक, और रोग आदि के कारण महाव्रतों में अतिचार लगने पर **आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, और तप** – ये छह शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करना चाहिए।[22]

सामाजिक दृष्टि से प्रायश्चित्त का प्रयोजन व माहात्म्य

प्रायश्चित्त लेने से नई ऊर्जा आती है, व्रतों के पालन में उत्साह बढ़ता है, स्फूर्त चेतना का संचार होता है; इस प्रकार प्रफुल्लित मन राष्ट्र एवं समाज की उन्नति में अपना योगदान देता है। महँगाई और भ्रष्टाचार से देश और समाज का पतन हो रहा है, जिससे परिवार नष्ट हो रहे हैं; इस कारण देश की जनता का देश के नेताओं पर से विश्वास उठता जा रहा है। चूंकि नेतागण, अपने कर्तव्यों से च्युत होते जा रहे हैं, अतः यदि नेतागण प्रायश्चित्त लेकर अपने कर्तव्य-पालन में पुनः एकजुट हो जाएँ तो देश की समस्या सुलझ सकती है। क्योंकि प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्ति में जो परिवर्तन होता है, उसे हम निम्न प्रवृत्तियों के माध्यम से समझ सकते हैं –

- देश एवं समाज की उन्नति का विचार करता है।
- परोपकार की भावना प्रबल होती है।
- स्वस्थ तन और मन में अहिंसा और सत्य का प्रवेश होता है।
- व्यापार में ईमानदारी, परिवार में एकता का बीज बोता है।
- शिथिलाचार का निर्मूलन होता है। इत्यादि

सामाजिक दृष्टि से प्रायश्चित्त के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए **सामान्य जैनाचार विचार** में लिखा है –

1. ''जो पुरुष, अपनी कुबुद्धि के कारण पापकार्यों से धर्म की इच्छा करता है, व्यभिचार से ब्रह्मचर्य व्रत की इच्छा करता है, नीच आचरणों से सदाचार की इच्छा करता है, घोर अपराध होने पर भी न तो प्रायश्चित्त को मानता है और न प्रायश्चित्त को धारण करता है तथा मिथ्यात्व कर्म के तीव्र उदय से स्वतन्त्र होकर सदा पापों की इच्छा करता रहता है – ऐसा पुरुष, अपनी जाति से बहिष्कार करने योग्य माना जाता है और ऐसे पुरुष को छेद नाम का प्रायश्चित्त देना चाहिए अर्थात् वह श्रावक ही नहीं है – ऐसा घोषित कर देना चाहिए। यदि ऐसा न किया जाएगा तो वह सदा ही धर्म का घात करता रहेगा।
2. जो पुरुष, अपनी कुबुद्धि के कारण वर्णाश्रम को उड़ा देने की इच्छा करता है, व्रतों की क्रियाओं को नाश कर देने की इच्छा करता है और मोक्षमार्ग को अन्यथा कर देने की इच्छा करता है; वह पुरुष भी बहिष्कार करने योग्य है। ऐसे पुरुष को मूल से छेदन करना चाहिए अर्थात् वह श्रावक नहीं है – ऐसा

घोषित करना चाहिए और अपनी जाति के मुखिया लोगों को ऐसे पापी पुरुष के लिए प्रायश्चित्त के रूप में अच्छा दण्ड देना चाहिए।

3. जो पुरुष, प्रायश्चित्त लेने में सन्ताप करता है अथवा हृदय में खेद करता है, उसको दीर्घ संसारी समझना चाहिए अथवा उसे धर्मसेवन में कुटिल समझना चाहिए।
4. जो मनुष्य, भारी दोष कर लेने पर भी प्रायश्चित्त ग्रहण नहीं करता है, अपनी कुबुद्धि के कारण जिनागम के विरुद्ध काम करता है और फिर भी जिनधर्म की अवज्ञा करता है, वह पुरुष, बहिष्कार करने के योग्य है। भगवान् जिनेन्द्रदेव ऐसे पुरुषों को धर्मभ्रष्ट कहते हैं।''

सामाजिक दृष्टि से प्रायश्चित्त देने का अधिकार

सामाजिक दृष्टि से भी प्रायश्चित्त देने के लिए गुरु अर्थात् आचार्य या गृहस्थाचार्य को ही अधिकार है। यदि किसी कारण से गुरु न हों तो फिर अपनी जाति के मुखिया लोगों को वह अधिकार प्राप्त हो जाता है। अपनी जाति के मुखिया लोगों को भी बिना किसी छलकपट के दोषों को प्रमाणपूर्वक यथार्थ रीति से जान कर यथायोग्य प्रायश्चित्त देना चाहिए। मोक्षमार्ग की वृद्धि के लिए विशुद्धता को स्थापन करने वाले अपनी जाति के मुखिया लोगों को भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञानुसार ही निरन्तर प्रायश्चित्त देना चाहिए। किसी अपराध के हो जाने पर उसकी शुद्धि के द्वारा वर्णाश्रम को दृढ़ करने के लिए प्रायश्चित्त देना चाहिए।

जैन दण्डनीति का राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रयोग

जिस व्यक्ति ने जैसा अपराध किया है, उसे उसके अनुकूल दण्ड देना, **जैन दण्डनीति** है। जैसे, जुर्माना योग्य अपराधी को उसके अपराध के अनुकूल जुर्माना करना, **न्यायोचित दण्डनीति** है और इसके विपरीत कारावास या जेलखाने की कड़ी सजा, **अन्याययुक्त तीक्ष्ण दण्डनीति** है, इत्यादि।

इसी प्रकार गुरु या विद्वान अपराधियों को उनके अपराध के अनुकूल दण्ड देना चाहिए। जो राजा, उससे न्यूनाधिक कमती-बढ़ती दण्ड देता है; वह अपराधियों के समान पापों से लिप्त हो जाता है, अतः वह विशुद्ध नहीं होता।

चाणक्य-नीति के अनुसार भी राजा का कर्तव्य है कि वह शत्रु और पुत्र को उनके अपराध के अनुकूल पक्षपातरहित होकर दण्ड देवे क्योंकि अपराधानुकूल न्यायोचित दण्ड ही इसलोक और परलोक की रक्षा करता है। दण्डनीति के आश्रय से उसे प्रजा के धर्म, व्यवहार और चारित्र की रक्षा करनी चाहिए।

यद्यपि न्यायालय में न्यायाधीश जज के सामने मुकदमे में वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपने-अपने पक्ष को सच्चा कहते हैं एवं वकीलों के द्वारा अपने-अपने पक्ष को सत्य सिद्ध करने में प्रयत्नशील रहते हैं परन्तु उनमें से सच्चा एक ही होता है – ऐसी अवस्था में दोनों पक्षों को ठीक-ठीक निर्णय करने वाले निम्नलिखित हेतु हो सकते हैं – **1.** जिसके अपराध को देख लिये गये हों। **2.** जो स्वयं अपने अपराध को स्वीकार कर लेवे। **3.** सरलतापूर्वक न्यायोचित जिरह करना। **4.** कारणों को उपस्थित करना। **5.** शपथ या कसम दिलाना। उक्त पाँच हेतु यथावश्यक अर्थ के साधक हैं अर्थात् अपराधी के अपराध को सिद्ध करने वाले हैं। वादी-प्रतिवादी के परस्पर विरुद्ध कथन का यदि उक्त हेतुओं से निर्णय न हो सके तो साक्षियों और खुफिया पुलिस के द्वारा इसका अनुसन्धान कर अपराधी का निश्चय करना चाहिए।

इस प्रकार प्रबल युक्तियों द्वारा अपराधियों के अपराध का निर्णय करके यथायोग्य दण्ड-विधान करने से राष्ट्र की सुरक्षा होती है; अतः समाज के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त कुरीतियों एवं शिथिलाचार पर अंकुश लग सके – इस उद्देश्य से अपराधानुकूल दण्ड-विधान को **दण्डनीति** कहते हैं।

दण्ड अर्थात् पाप, अपराध या दोष। दण्ड कितने प्रकार का हो सकता है तो चारित्रसार ग्रन्थ में लिखा है कि मन, वचन और काय के भेद से दण्ड तीन प्रकार का है। **मानसिक दण्ड** राग, द्वेष और मोह के भेद से तीन प्रकार का माना गया है। **वाचनिक दण्ड** सात प्रकार का बताया गया है – 1. झूठ बोलना, 2. वचन से कह कर किसी के ज्ञान का घात करना, 3. चुगली करना, 4. कठोर वचन कहना, 5. अपनी प्रशंसा करना, 6. सन्ताप उत्पन्न करने वाले वचन कहना, और 7. हिंसा के वचन कहना। इसी प्रकार **कायिक दण्ड**

भी सात प्रकार का होता है – 1. प्राणियों का वध करना, 2. चोरी करना, 3. मैथुन करना, 4. परिग्रह रखना, 5. आरम्भ करना, 6. ताड़न करना, और 7. उग्र वेश धारण करना।

जैन आगमों में सात प्रकार की दण्ड-नीति बताई गई है –

1. **हक्कार-नीति** – पहले और दूसरे कुलकर के काल में इस नीति का प्रचलन था, अर्थात् किसी अपराधी को 'हा' (हाय हाय.....कह कर खेद प्रगट करना) – इतना कह देने मात्र से वह दण्ड पा लेता था अर्थात् वह समझ जाता था; अतः इसे 'हक्कार-नीति' कहा जाता है।
2. **मक्कार-नीति** – तीसरे और चौथे कुलकर के काल में किसी 'मा' (ऐसा मत करो) – इतना कह देने मात्र से वह दण्ड पा लेता था अर्थात् वह समझ जाता था; अतः इसे 'मक्कार-नीति' कहते हैं।
3. **धिक्कार-नीति** – पाँचवें और छठे कुलकर के काल में 'धिक्' (तुम्हें धिक्कार है) – इतना कह देने मात्र से वह दण्ड पा लेता था अर्थात् वह समझ जाता था; अंतः इसे 'धिक्कार-नीति' के नाम से जाना जाता है।
4. **परिभाषण-नीति** – ऋषभदेव के काल में इस नीति के द्वारा क्रोध प्रदर्शन करके ताड़ित किया जाता है, अतः इसे परिभाषण-नीति कहा जाता है।
5. **परिमण्डल-नीति** – ऋषभदेव के काल में ही इस नीति के द्वारा अपराधी व्यक्ति को किसी स्थान में बाँध दिया जाता है, स्थानाबद्ध किया जाता है; अतः इसे 'परिमण्डल-नीति' कहते हैं।
6. **चारक-नीति** – ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के काल में अपराधी को चारक अर्थात् जेल में डालने की नीति प्रारम्भ हुई; अतः इसे 'चारक-नीति' कहते हैं।
7. **छविच्छेद-नीति** – भरत चक्रवर्ती के ही काल में छविच्छेद अर्थात् हाथ, पैर, नाक, कान आदि का छेदन करना – इस नीति का प्रचलन हुआ; अतः इसे 'छविच्छेद-नीति' कहते हैं।

इस प्रकार कालक्रमानुसार सात नीतियों का प्रचलन हुआ।

जिस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र के अनुकूल औषधि सेवन से रोगी के समस्त विकृत दोष – वात, पित्त, कफ आदि का विकार एवं उससे होने वाले बुखारगलगण्डादि समस्त रोग – विशुद्ध, शान्त अर्थात् नष्ट हो जाते हैं; उसी प्रकार अपराधियों को दण्ड देने से उनके समस्त अपराध, विशुद्ध या नष्ट हो जाते हैं।

अपराधियों को दण्ड देने से राष्ट्र विशुद्ध एवं अन्याय के प्रचार से रहित हो जाता है; लेकिन दण्ड-विधान के बिना देश में मात्स्यन्याय अर्थात् बड़ी मछली के द्वारा छोटी मछली का खा जाना (अर्थात् बलवान व्यक्ति के द्वारा निर्बलों को सताया जाना आदि अन्याय का प्रचार) की प्रवृत्ति निस्सन्देह होने लगती है। चाणक्य के अनुसार – राष्ट्र को प्रजा-कण्टकों से सुरक्षित रखना; प्रजा को धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थों का परस्पर की बाधारहित पालन कराना; उसे कर्तव्य में प्रवृत्त और अकर्तव्य से निवृत्त करना, विशाल सैनिक संगठन द्वारा अप्राप्त राज्यादि की प्राप्ति, प्राप्त की रक्षा, रक्षित की वृद्धि आदि दण्डनीति के प्रधान प्रयोजन है।''

एक निवेदन – प्रजातन्त्र के इस युग में अदालतों के माध्यम से न्याय-व्यवस्था का विधान है, जिसमें प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को उनके धर्म एवं समाज के अनुरूप न्याय मिलना चाहिए – ऐसा ही हमारे भारतीय संविधान की रीति-नीति है, परन्तु जैनधर्मावलम्बियों को हिन्दूधर्म के अनुसार न्याय मिलता है, जिससे जैन समाज के अन्तर्मन को ठेस पहुँचती है। यह एक विचारणीय बिन्दु है।

विवाह के सम्बन्ध में जैनधर्म का दृष्टिकोण

जैनधर्मानुसार विवाह केवल शारीरिक सुख या दैहिक रति के लिए नहीं किया जाता, बल्कि उसके माध्यम से चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रत का परिपालन किया जाता है।

आर्यिकाश्री विज्ञानमती माताजी ने संस्कार मंजूषा में विवाह के निम्न सात उद्देश्य बताए हैं –

1. मन में उत्पन्न वासना को धीरे-धीरे शान्त करना।
2. व्यभिचार जैसे महापाप से बच कर स्वदारसन्तोषव्रत का पालन करना।
3. सामाजिकता को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए दुराचार से दूर रह कर वैषयिक सुख प्राप्त करना।

4. मनुष्य, एक सामाजिक प्राणी होने के नाते जीवन का अकेलापन मिटाना।
5. सुचारु ढ़ंग से भोजन-पानी आदि की व्यवस्था बनाना।
6. जीवन भर के लिए सुख-दुःख में सहयोग करने वाला स्थायी साथी प्राप्त करना।
7. अपनी कुल-परम्परा अथवा मनुष्य-जाति को आगे बढ़ाना।

भारतीय परम्परा में त्रिवर्ग माने हैं – धर्म, अर्थ और काम। मोक्ष, त्रिवर्ग में सम्मिलित नहीं है, इसलिए उसे अपवर्ग माना है। गृहस्थ जीवन में त्रिवर्ग का विशेष महत्व है। गृहस्थी, अर्थ या धन के बिना नहीं चल सकती, अतः अर्थोपार्जन करना आवश्यक है, किन्तु अर्थोपार्जन धर्मपूर्वक करना चाहिए। वह अर्थोपार्जन करे, किन्तु वह हिंसाजन्य न हो, वह नैतिक मूल्यों, समाज की मान्य परम्पराओं और देश के सरकारी कानूनों के विरुद्ध न हो।

इसी प्रकार गृहस्थ, काम-सेवन करे, किन्तु वह धर्मपूर्वक करे। वह कामसेवन का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, इसलिए उसे स्वदारसन्तोष करना चाहिए। इसका आशय यह है कि उसे अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों के प्रति माता, बहिन और बेटी के भाव रखने चाहिए।.....विवाह का उद्देश्य वंश-परम्परा को आगे बढ़ाना है। विवाह, अनियन्त्रित काम-सेवन का लाइसेन्स नहीं है।

किसी योग्य लड़के-लड़की (वर-वधु) का एक दूसरे के प्रति जीवन समर्पित करना, **विवाह** है। कन्या के पिता या उसके अभिभावक को चाहिए कि वह कुलीन, शीलवान, स्वस्थ, वयस्क, विद्वान्, धर्म.सम्पन्न, और भरे-पूरे कुटुम्ब से युक्त वर के साथ अपनी कन्या का विवाह करे। विवाह का अर्थ यह नहीं है कि लड़के को जीवन भर के लिए रोटी बनाना, कपड़े धोना, सफाई करना आदि काम करने वाली बिना पैसे की एक नौकरानी मिल गई है और लड़की को जीवन भर के लिए रोटी, कपड़ा, मकान, भोगउपभोग आदि की सामग्री देने वाला एक व्यक्ति मिल गया। एक पाश्चात्य दार्शनिक ने कहा है कि एक सद्गुणी नारी से विवाह , जिन्दगी में तूफान में बन्दरगाह के समान है, जबकि बुरी अयोग्य नारी से विवाह, बन्दरगाह में तूफान के समान होता है।

जैन समाज में विवाह से पूर्व निम्न सात-सात वचन वर और वधू दोनों एक दूसरे से लेते हैं, जो समस्त भारतीय एवं विश्व समाज को ग्राह्य हो सकते हैं, उदाहरणार्थ –

वधू के लिए वर के सप्त वचन

1. मेरे गुरुजन और कुटुम्बियों की यथायोग्य विनय और सेवा करनी होगी।
2. मेरी आज्ञा को भंग नहीं करना होगा।
3. कठोर और अप्रिय वचन नहीं कहना होगा।
4. घर पर मेरे हितैषी तथा सत्पात्रों के आने पर उनके आदर सत्कार और आहार आदि को देते समय कलुषित मन नहीं करना होगा।
5. मेरी आज्ञा के बिना दूसरे के घर नहीं जाना होगा।
6. जहाँ बहुत भीड़ हो – ऐसे मेला आदि में तथा जिनका आचरण और धर्म खराब है – ऐसे मद्य आदि पीने वाले तथा विधर्मियों के घर कभी नहीं जाना होगा।
7. अपनी कोई भी गुप्त बात मुझसे छिपानी नहीं होगी और मेरी गुप्त बात किसी दूसरे से नहीं कहनी होगी।

इसके बाद वर, वधू से निम्न प्रकार प्रतिज्ञा करवाता है कि यदि तुम्हें मेरी ये सात शर्तें भली प्रकार प्रतिज्ञारूप से स्वीकार हों तो तुम मेरी वामांगिनी हो सकती हो। तब वधू कहती है कि यदि आप भी मेरे सात वचनों को स्वीकार करें तो मैं भी आपके सात वचनों को स्वीकार कर सकती हूँ –

वर के लिए वधू के सप्त वचन

1. पर-स्त्रियों के साथ क्रीड़ा नहीं करनी होगी।
2. जुआ नहीं खेलना होगा।
3. अपनी सम्पत्ति पर मुझे समान अधिकार देना होगा।

4. न्याय और उद्योग से उपार्जित धन से मेरे भोजन, वस्त्र और आभूषण की व्यवस्था करते हुए मेरी रक्षा करनी होगी।
5. तीर्थस्थान, जिन-मन्दिर आदि धर्म-स्थानों को जाने में बाधक नहीं होते हुए धार्मिक कार्यों से मुझे वंचित नहीं करना होगा।
6. अनुचित और कठोर दण्ड मुझे नहीं देना होगा।
7. मुझे जीवनपर्यन्त नहीं त्यागना होगा।

इस प्रकार वधू के सप्त वचनों को सुन कर वर, उसे आश्वासनस्वरूप अपनी स्वीकृति प्रदान करता है कि मुझे ये सात वचन स्वीकार हैं; अतः तुम मेरे बाँये भाग में आ जाओ।

दैनिक जीवन में श्रावकाचार पालन सम्बन्धी सुझाव[23]

जैन संविधान के आचारपरक दृष्टिकोण को इस शोध प्रबन्ध के माध्यम से विस्तारपूर्वक समझने के उपरान्त, हमारे दैनिक जीवन में श्रावकाचार के प्रयोग एवं तत्सम्बन्धी सावधानियाँ आवश्यक हैं क्योंकि हमारी रोज की दिनचर्या में जो भी क्रियाएँ होती हैं, उनमें हमारा स्वाभाविक विवेक आवश्यक होता है; जीवदया को पालन करने से परिणामों में विशुद्धता रहेगी, पुण्य बँधेगा और बिना विवेक प्रमादपूर्वक उन्हीं क्रियाओं में जीव-हिंसा होकर पाप बँधेगा; अतः सुखी जीवन का आधार न्यायोचित दिनचर्या है, जिससे शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक विकास सम्भव है। कहा है – **जैसा खावें अन्न, वैसा होवे मन। जैसा पीवें पानी, वैसी होवे वानी।**

प्रातःकालीन दिनचर्या

- यथासम्भव सूर्योदय के पूर्व कोई भी क्रिया प्रारम्भ नहीं करें, इसमें रात्रि-आरम्भ का दोष लगता है। हाँ ! ब्रह्म मुहूर्त में ही उठ कर सामायिक, आत्म-चिन्तवन, तत्त्व-विचार, स्वाध्याय आदि कार्य अवश्य करें।
- जो लोग, सामने का लगा हुआ दूध लेने जाते हैं, वे भी यथासम्भव रात्रि-आरम्भ के दोष से बचें। सूर्योदय के पश्चात् दूध दुहा कर, अन्तर्मुहूर्त में ही उसे गर्म अवश्य कर लें क्योंकि कच्चे दूध की मर्यादा, अन्तर्मुहूर्त ही है।
- मल-मूत्र विसर्जन एवं स्नान आदि नित्यकर्म करने की आदत भी हमारी सूर्योदय के पश्चात् करने की ही होनी चाहिए।
- आधुनिक शैली की लैटरिन में मल-प्रवृत्ति करने से पूर्व कुछ छना पानी उसमें अवश्य बहा देवें, जिससे मल की गर्मी से वहाँ के भरे हुए पानी में जो जीव उत्पन्न हो गये हों, वे बाधित न हो पाएँ।
- लैटरिन के बाद भी छना पानी बाल्टी से डालें, फ्लैश का प्रयोग नहीं करें।
- नहाने में साबुन का प्रयोग यथासम्भव नहीं करें। यदि साबुन लगाना न छोड़ पायें तो कम से कम हर्बल साबुन का प्रयोग करें और वह भी हफ्ते या पन्द्रह दिन में एक बार लगा कर कम से कम प्रयोग करें। नियमित लगाने हेतु मुलतानी मिट्टी का प्रयोग कर सकते हैं।
- बासे कपड़ों को तुरन्त धो लेना चाहिए क्योंकि उनमें पसीने आदि के कारण सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होने लगती है।
- बाथरूम का काम हो जाने के बाद नल में बाँधे हुए कपड़े की तुरन्त जीवानी कर लेना चाहिए और कपड़े का सुखाने डाल देना चाहिए। नल में प्रयोग हेतु थैलियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि उसकी जीवानी अच्छी तरह नहीं हो पाती है।
- नल को हमेशा धीमा ही खोलना चाहिए क्योंकि तेल खोलने से अनछना पानी निकलने की सम्भावना बनी रहती है।
- बाथरूम में पानी भरा हुआ न रहने दें, उसमें अनेक जीव उत्पन्न हो सकते हैं; इसलिए काम पूर्ण होने के बाद झाड़ू से पानी को मोरी में से निकाल देना चाहिए।
- बाल्टियों और मग्गा आदि को खाली होते ही उनको हवा लगती रहे, इस तरह उल्टी करके सुखा देवें, अन्यथा गीली रहने पर जीवों की उत्पत्ति की सम्भावना रहती है।

यदि आप गर्म पानी का प्रयोग कर रहे हों तो

- पानी को छान कर गैस चूल्हे पर या इलेक्ट्रिक इमरशन रॉड आदि से गर्म करें। गीजर का प्रयोग न करें क्योंकि उसमें अनछने पानी का प्रयोग होने से महापाप का कारण होता है।
- जितना आवश्यक हो, उतना पूरा पानी उपयोग करने योग्य गर्म करें। थोड़ा पानी अधिक गर्म करके उसमें ठण्डा पानी नहीं मिलावें क्योंकि सर्द-गर्म होने से अनावश्यक रूप से जीवों का घात होता है तथा गर्म पानी में ठण्डा पानी मिलाने पर उसकी मर्यादा का भी कोई नियम नहीं बनता कि उसकी कितनी मर्यादा मानी जाए।

जिनदर्शन हेतु गमन आदि क्रियाओं में विवेक

- रात्रिकाल में रास्ते पर बहुत अधिक चींटे या कीड़े मकोड़े आदि घूमते रहते हैं; इसलिए व्यवस्थित सूर्योदय तथा आवागमन होने के पश्चात् ही जिनदर्शन हेतु मन्दिर में जाना चाहिए।
- मार्ग पर चलते समय बहुत ही सावधानीपूर्वक भूमि को निहारते हुए चलना चाहिए।
- यथासम्भव वाहन से न जावें, इसमें जीवहिंसा के साथ साथ भगवान की अविनय भी होती है।
- मन्दिर के अन्दर चावल या अन्य द्रव्य नीचे न गिरें, इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए क्योंकि नीचे गिरे हुए चावल या चिटक आदि से जीवोत्पत्ति हो जाती है और फिर वे पैरों के नीचे आकर मरते हैं।
- मन्दिर की चटाई या आसन पर बैठने से पूर्व उसे झटक कर, उस स्थान को भी जीवरहित देख कर बैठें।
- मन्दिर जैसे पवित्र स्थान पर विकथा, विसंवाद या लौकिक वार्ता कदापि न करें। अत्यावश्यक हो तो मन्दिर से बाहर निकलने पर ही करें।
- प्रक्षाल या अभिषेक करते समय अत्यन्त विनय के साथ प्रथम सूखे कपड़े से प्रतिमाजी को परिमार्जन कर लेवें, फिर गीले कपड़े से अथवा थोड़े पानी से प्रतिमा का प्रक्षाल या अभिषेक कर लेवें, पुनः सूखे कपड़े से प्रतिमा को अच्छी तरह साफ कर लेवें। ध्यान रहे – कहीं भी थोड़ा सा भी जल न रह जाए, अन्यथा उसमें विपुल जीवराशि उत्पन्न हो जाएगी।

भोजन सम्बन्धी विवेक

रसोईघर में कार्य करने/भोजन बनाने सम्बन्धी विवेक

- रसोईघर में सूर्य-प्रकाश का उजाला होना चाहिए। रसोईघर में जाले आदि न लगे हों, इस तरह उसकी नियमित सफाई होना चाहिए।
- रसोई बनाने के पहले सभी बर्तन साफ नरम कपड़े से पोंछ लेवें, जिससे उनमें कोई सूक्ष्म जीव भी न रहे।
- दाल चावल या कोई भी पदार्थ उबालते समय, बर्तन पर जाली या ढ़क्कन नियम से सावधानीपूर्वक ढ़ाँकें, जिससे कोई भी जीव, हवा में उड़ते हुए उस पर न गिरने पाए।
- गैस चालू करने से पूर्व उसके बर्नर अच्छी तरह खोल कर साफ कर लें और देख लें कि कोई जीव तो नहीं है। बहुत बार गैस की गन्ध के कारण उसमें झिंगुर कॉकरोच आदि हो जाते हैं, उन्हें निकाल कर ही गैस का प्रयोग करें।
- रसोई बनाते समय यथासम्भव पंखा चालू न रखें, सूक्ष्म जीव हवा में उड़ कर उसमें गिर सकते हैं।
- रसोई घर में सब्जियों के छिलके और अन्य गिरी हुई सामग्री को अलग से जमा करके भोजन के बाद गाय-भैंस आदि के सामने अच्छी तरह विवेकपूर्वक डाल देना चाहिए। यदि तुरन्त गाय-भैंस आदि न खा रहे हों तो उन्हें सूर्यप्रकाश में ही डालना चाहिए, ताकि वह सूखता रहे। इसके लिए या अन्य इसी प्रकार के कार्यों के लिए प्लास्टिक की थैली का प्रयोग न करें क्योंकि गाय आदि कदाचित् थैली सहित उस अन्न को खा जाती हैं, उससे वे भयंकर व्याधि से ग्रसित हो जाती हैं।

रसोईघर में बर्तन माँजने सम्बन्धी विवेक

- बर्तन माँजने के लिए यथासम्भव राख का ही प्रयोग करें।
- बर्तन धोते समय थाली में बचे हुए अन्न-कणों आदि का धोन बना कर एक बाल्टी या मग में जमा करके उसे गाय या अन्य जानवर को खिला देना चाहिए या सूखी जमीन पर जहाँ जीव मरें नहीं, वहाँ डाल देवें तथा उन अन्नकणों में धूल आदि ने लगने पावे, इसका विवेक रखना चाहिए। धोवन को नाली में बहाने पर उसमें बहुत जीव उत्पन्न हो होकर मरेंगें। हमारे निमित्त से उनकी उत्पत्ति एवं हिंसा होने से उस पाप के भागीदार हम बनेंगें।
- बर्तन धोने के बाद बर्तनों को तुरन्त ही सुखा लेना चाहिए, अन्यथा उसमें ही पानी लगा रहने पर उसमें जीवोत्पत्ति चालू हो जाती है।
- कुकर की सीटी में अन्न-कण लग जाते हैं, उसे प्रतिदिन अच्छी तरह साफ करना चाहिए, अन्यथा जीवोत्पत्ति और उनकी हिंसा होती रहती है।
- हिंसक बोन चायना आदि के बर्तनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

नमक सम्बन्धी विवेक

- सैंधा नमक तुरन्त का कूटा हुआ या पीसा हुआ ही भक्ष्य है, अन्य टाटा आदि बाजारू नमक अभक्ष्य हैं। नमक का पीसने से पहले खलबट्टा या मिक्सी के बर्तन आदि की स्वच्छता और सूखापन देख लेवें।
- नमक की मर्यादा मात्र अन्तर्मुहूर्त ही होती है, लेकिन यदि उसमें जीरा या कुछ लाल या काली मिर्च पीसते समय ही मिला लेवें तो उसकी मर्यादा छह घण्टे तक बढ़ाई जा सकती है।

सब्जियों एवं फलों को खरीदने सम्बन्धी विवेक

- जब भी हम सब्जियाँ या फलादि खरीदते हैं तो उनमें सड़ी हुई या दबी हुई सब्जियाँ या फल न लेवें; क्योंकि इन्हें खरीदने के बाद उसमें जीवोत्पत्ति के जिम्मेदार हम होते हैं।
- सब्जियाँ आदि सस्ते होने पर लालचवश अधिक मात्रा में खरीदना नहीं चाहिए क्योंकि उपयोग नहीं हो पाने पर वे खराब हो जाती हैं; अतः उसके जिम्मेदार हम होते हैं। इसी प्रकार गिरी हुई या पड़ी हुई सब्जी भी नहीं खरीदना चाहिए; इसमें चोरी के साथ साथ लोभ की तीव्रता का भी दोष लगता है।
- सब्जियों को तरोताजा रखने के लिए सब्जी वाले उन पर अनछने पानी का प्रयोग करते रहते हैं, अतः उन्हें खरीदने के बाद तुरन्त लाकर छने पानी से उन्हें धोना चाहिए। धोने के उपरान्त उस धोवन को भी सावधानीपूर्वक जल में प्रवाहित कर देना चाहिए।

धान्य/मसाले सम्बन्धी विवेक

- कोई भी अनाज जब नया आता है, तभी लेना उचित है। उसे खरीद कर उसकी सुरक्षा का उपाय करके उसका संग्रह करना चाहिए। खरीदते समय ध्यान रखें कि अच्छी क्वालिटी का ही खरीदें, भले ही उसमें कुछ ज्यादा रुपये लग जाएँ, यदि सस्ते के चक्कर में घुना हुआ या कीड़े लगा हुआ अनाज खरीद लिया तो उसके कारण जो भी जीवोत्पत्ति होगी, उसका सारा पाप आपको ही लगेगा।
- यदि पापोदय से उसमें जीव उत्पन्न हो जाएँ तो उसी समय उसकी छान-बीन करके उन जीवों को उसी अनाज के कुछ भाग में रख कर, उस थैली में हवा जाती आती रहे, इस तरह ऐसी अलमारी या स्थान में रखना चाहिए, जहाँ वे उसे खाकर आयु प्रमाण जीते रहें; इस प्रकार यत्नाचार पूर्वक रखना चाहिए।
- मसाले भी जब नये आते हैं, तभी उन्हें लेकर उन्हें सुरक्षापूर्वक रखना चाहिए। उन्हें मर्यादा के अनुसार आवश्यकता को जान कर पीसना चाहिए, उस मर्यादा के अन्दर ही उनका उपयोग करना चाहिए।

भोजन करने के सम्बन्ध में विवेक

- भोजन शान्ति से और यथासम्भव मौनपूर्वक ही करना चाहिए।
- भोजन करने के पश्चात् यथासम्भव थाली धोकर, उसका पानी पीना चाहिए क्योंकि उसमें अन्न-कण रह जाने से उसमें जीव उत्पन्न हो सकते हैं, नाली में जाने से भी उसमें जीव उत्पन्न हो जाएँगे, उनकी हिंसा भी होगी, उसका दोष या पाप हमें ही लगेगा।

आजीविका सम्बन्धी विवेक

- जिस आजीविका से परिणामों का बिगाड़ होता है अर्थात् जिस आजीविका से तीव्र राग-द्वेष होते हैं – ऐसी आजीविका नहीं करनी चाहिए।
- शेयर, सट्टा या वायदा आदि का व्यापार नहीं करना चाहिए क्योंकि इनमें अत्यधिक लाभ-हानि के प्रसंग बनते हैं, तीव्र आर्त-रौद्र परिणाम होते हैं। आत्मचिन्तन, धर्मध्यान आदि कार्य, चित्त की चंचलता या आकुलता के बने रहने पर नहीं हो सकते। ब्लॅडप्रेशर (रक्तदबाव), हृदयरोग आदि व्याधियाँ होने का भी खतरा बना रहता है।
- अपने काम में प्रामाणिक रहें। जमाना कितना ही बिगड़ जाए, परन्तु उस छल से अपने परिणाम, छल-कपट युक्त न होने दें, 'मेरे परिणामों का फल, मुझे ही भोगना होगा' – ऐसा विचार कर परिणामों के बिगड़ने का भय रखना।
- व्यापार में कोई अनिष्ट प्रसंग बने तो अपना विवेक जागृत रखते हुए, कर्मोदय की विचित्रता का विचार करके क्लेशित न होवें। चिन्ता या दुःख मनाने से तीव्र असाता-वेदनीय कर्म का आस्रव/बन्ध होता है।
- 'भाग्य से ज्यादा और समय से पहले किसी को कुछ नहीं मिलता' – इसका विचार करते हुए साम्यभावपूर्वक आजीविका करना चाहिए। व्यर्थ में तीव्र आसक्ति या लोभ रखते हुए अनेक कार्यों को करने की कोशिश नहीं करना चाहिए।
- अपने कार्य में कुशल रहते हुए दूसरों के प्रति सद्भावना रखते हुए उनकी मदद करना चाहिए। जैनी के आचरण की लोग दुहाई देते हैं। आपका आचरण, जैनधर्म का मूक प्रचारक एवं प्रभावक होना चाहिए।
- सरकारी या गैर सरकारी नौकरी करते हुए आपको अपना काम पूर्ण ईमानदारी से करना चाहिए। समय पर कार्यालय या फॅक्टरी आदि में जाना-आना चाहिए। भले ही अन्य कर्मचारी समय पर न आवें, लेकिन आपको अपने समय पर जाना चाहिए और पूरे समय मन लगा कर काम करना चाहिए। अपना लोटा छानने का भाव रखना चाहिए।
- कार्यालय आदि में अपना छना हुआ पानी, लौंग इलायची सौंफ जीरा आदि डाल कर प्रासुक करके या गर्म करके ले जाना चाहिए और मर्यादा के अन्दर उसका प्रयोग करना चाहिए।

आजीविका करते हुए गमनागमन सम्बन्धी विवेक

- व्यापार या नौकरी आदि के लिए जाते समय सूने रास्ते का प्रयोग करने से बचें – यह सुरक्षा की दृष्टि से नहीं बल्कि जीवरक्षा की दृष्टि से करना उचित है क्योंकि जिस रास्ते से आवागमन हो जाता है, वह रास्ता अधिक प्रासुक हो जाता है, उस रास्ते पर या तो जीव होंगे नहीं या अल्प होंगे।
- गाड़ी या स्कूटर आदि की पार्किंग करते समय घास, पानी आदि स्थावरकाय के जीवों तथा चीटी कीड़े आदि त्रसजीवों से बचने का प्रयत्न करें।
- किसी भी कार्य के लिए जाते समय कुछ देर पहले ही निकल जाना चाहिए, जिससे परिणामों में शान्ति बनी रहती है, आकुलता नहीं होती; गाड़ी आदि भी यत्नाचारपूर्वक धीमी गति से आप चला सकेंगे।

दिनचर्या में विवेक

सायंकालीन दिनचर्या में विवेक

- भोजनादि सभी कार्यों को सूर्यास्त के 48 मिनिट पूर्व ही पूर्ण करने का प्रयास करें।
- बाहर से आकर हाथ-पैर आदि अच्छी तरह धो लेवें, जिससे धूल मिट्टी धुएँ आदि से के साथ जीव-जन्तु आदि का प्रवेश घर में न होने पावे, घर में उन जीव-जन्तुओं के स्थान न बनने पावें, जिससे उनकी परम्परा न चले।
- अग्नि आदि का आरम्भ सूर्यास्त के पश्चात् किंचित् भी न होवे, इसका प्रयास करें।
- बच्चों के लिए दूध आदि सूर्यास्त के पहले ही गरम करके रख लेवें।

- सायंकाल में भोजन के बाद दाँतों को ब्रश से साफ अवश्य कर लेवें क्योंकि यदि दाँतों के बीच में कोई अन्नकण फँसा रह जाएगा तो रात भर में उसमें असंख्य कीटाणु उत्पन्न हो जाएँगे, उनकी हिंसा होगी। दाँतो के स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए भी ऐसा करना उपयोगी और आवश्यक है।
- रात्रि में प्रयोग के लिए भी बाथरूम आदि में पानी को तेज गरम करके 12 घण्टे की मर्यादा वाला रख लेना चाहिए। रात्रि में आरम्भ कार्यों से बचने का प्रयास करना चाहिए।

रात्रिकालीन चर्या में विवेक

- सूर्यास्त के सभी आरम्भ बन्द करके धर्मध्यान स्वाध्याय आदि में कम से कम 2–3 घण्टे का समय देना चाहिए, इतना समय तो प्रत्येक जैनी को रात्रिकालीन धर्मकार्यों में लगाना ही चाहिए।
- रात्रि में कम से कम आवागमन करना चाहिए क्योंकि रात की शीतल चाँदनी में जीवों की उत्पत्ति का अनुपात एक की तुलना में असंख्य का होता है, जिनका घात हमारे चलने-फिरने से होता है।
- रात्रि में अनावश्यक बिजली के प्रयोग से भी बचना चाहिए क्योंकि बिजली के निर्माण से लेकर उसे जलाने तक में जीवों की हिंसा ही हिंसा होती है। विद्युत-निर्माण में हाइड्रो-पावर का उपयोग होने से जलकायिक एवं त्रस जीवों की हिंसा होती है, विशिष्ट तापमान होने पर अग्निकायिक जीवों की उत्पत्ति व हिंसा होती है, पंखा चलाने पर वायुकायिक एवं छोटे-मोटे त्रस जीवों की हिंसा होती है; इसलिए धनाढ्य होने पर भी जीवहिंसा से बचने हेतु पंखों का भी प्रयोग कम से कम करना चाहिए। जब पंखे चलाने में इतनी हिंसा है तो वातानुकूलन में कितनी हिंसा होती होगी ? इसकी कल्पना की जा सकती है क्योंकि उसमें बिजली की खपत उससे दस गुनी अधिक होती है।
- रात्रि में होने वाले भोगोपभोग की भी मर्यादा करना आवश्यक है क्योंकि न्यायानुकूल भोग भी यदि स्वच्छन्द होकर भोगे जाएँ तो उसका भी निषेध आगम में वर्णित है क्योंकि उसमें राग की तीव्रता होने से विशेष कर्मास्रव का कारण है; इसलिए यथासम्भव उसकी भी मर्यादा बढ़ाते हुए ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करना चाहिए।
- रात या दिन, कभी भी टी.वी. के कार्यक्रम न देखना ही श्रेष्ठ है, परन्तु यदि रहा न जा सके तो केवल सात्विक या पारिवारिक सीरियल ही देखना चाहिए। बाकी सब की अनुमोदना करने से कुशील की अनुमोदना का दोष लगता है।
- रात्रि में सोने से पूर्व दिन भर के कार्यों की एवं स्वयं के परिणामों की समीक्षा करते हुए सभी दोषों की आलोचना अवश्य करना चाहिए तथा उन्हें पुनः न दोहराने का संकल्प करना चाहिए।

अन्य गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों में विवेक

वस्त्र आदि खरीदने/पहनने का विवेक

- सूती वस्त्र ही खरीदना/पहनना चाहिए। रेशमी ऊनी सिल्क चमड़े आदि के वस्त्रों आदि का उपयोग करने में महाहिंसा का दोष आता है। इनके दोष जानने के लिए "Cruelty....." नामक टेलीफिल्म अवश्य देखना चाहिए।
- प्राणियों के चित्र वाले वस्त्र नहीं खरीदना/पहनना चाहिए, उन्हें धोने आदि के समय परिणामों का बिगाड़ होता है।
- बहुत से वस्त्रों में सिल्क की किनार आदि लगी होती है, उन्हें भी नहीं खरीदना या पहनना चाहिए।
- बटनों के निर्माण में यदि शंख या कौड़ी का प्रयोग हो तो उन्हें नहीं खरीदना चाहिए।
- जूते पर्स बेल्ट आदि में यदि चमड़े का प्रयोग किया गया हो तो उन्हें नहीं खरीदना चाहिए। बहुत लोग मजबूती का नाम लेकर तथा 'हमने तो किसी जीव को मारा नहीं है' – ऐसा कह कर, उनका प्रयोग करते हैं; उनसे कहना है कि यदि आप ऐसी चीजों को प्रयोग बन्द कर दें तो ऐसी चीजों का निर्माण क्यों होगा? तथा 'अच्छे काम की शुरुआत अपने घर से की जानी चाहिए' – इस उक्ति को ध्यान रख कर चमड़े का प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिए।

- सौन्दर्य प्रसाधनों का तो प्रयोग ही नहीं करना चाहिए, लेकिन यदि उनका प्रयोग किये बिना न रहा जा रहा हो तो ध्यान रहे कि हिंसक वस्तुओं का प्रयोग उनमें बिल्कुल न हो। जैसे, नेल पालिश या लिपिस्टिक के निर्माण में क्रूरतापूर्ण तरीके से संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तक का घात किया जाता है।
- जिस दुकान में मोल-भाव किया जाता है – ऐसी दुकान से खरीदी नहीं करना चाहिए क्योंकि वहाँ अनावश्यक रूप से राग-द्वेषादि होने की सम्भावना रहती है – ऐसे दुर्विकल्पों से अपने को हमेशा बचाना चाहिए।
- माल खरीदने पर यथायोग्य बिल लेकर टैक्स आदि का भुगतान भी करना चाहिए, अन्यथा सरकार के साथ दगाबाजी करने का दोष आता है।

यात्रा पर निकलने के पूर्व रखा जाने योग्य विवेक

- मनुष्य भव की दुर्लभता का विचार करके भोगविलास हेतु यथासम्भव घूमना-फिरना आदि नहीं करें, केवल अपनी भावनाओं की उज्ज्वलता हेतु तीर्थक्षेत्रों की वन्दना आदि का कार्यक्रम ही बनावें। यात्रा में धर्मभावना को ही दृष्टि में रखें। भोग-विलास, मस्करी, मौज-मस्ती आदि की भावना न रखें। नियम से ब्रह्मचर्य से रहें।
- यात्रा पर निकलने के पहले घर के समस्त खाद्य पदार्थ सुरक्षित पैक करके रख देवें। यदि आधा गिलास पानी भी उन दिनों ऐसे ही रखा रह गया तो उसमें जीव उत्पन्न हो होकर मरेंगे, उनकी हिंसा होगी; इसलिए पानी के पात्र भी खाली करके अच्छी तरह सुखा कर जावें।
- यदि यात्रा पर जाने से पहले भोजन बनाया हो तो पूरा रसोईघर साफ करके, झाड़ू-पोछा लगा कर जावें, अन्यथा वहाँ जीवों की उत्पत्ति होती रहेगी, उसका सारा दोष आप ही आएगा।
- यात्रा में ट्रेन आदि में शौच क्रिया हेतु स्वयं का मग्गा एवं स्वयं का प्रासुक किया हुआ पानी प्रयोग में लेना चाहिए।
- ट्रेन में स्वच्छता नहीं होने से यथासम्भव जिनवाणी नहीं पढ़ें, अपना स्वयं का अध्ययन किया हुआ चिन्तन-मनन करें, याद किया हुआ पठन करें, मन में णमोकार मन्त्र का स्मरण करें, अत्यधिक आवश्यकता होने पर कोई छोटी धार्मिक पत्रिका पढ सकते हैं।
- प्रवास के दौरान धर्मशाला आदि में रुकने पर वहाँ जितने दिन हम रुकते हैं, उतने दिनों तक की स्वच्छता आदि की जिम्मेदारी हमारी होती है क्योंकि स्वच्छता का सीधा सम्बन्ध जीवहिंसा से बचना है।
- जहाँ तक सम्भव हो सके, स्वयं के ही बिस्तर बर्तन आदि का प्रयोग करें। वहाँ के बिस्तर आदि गन्दे, पुराने होने से एवं कई-कई दिनों तक कमरा बन्द होने से उनमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं; अतः उनके संसर्ग से बचने हेतु भी यह आवश्यक हो जाता है।
- कूलरों में साधारणतया अनछने का पानी का ही प्रयोग होता है, अतः कूलर का प्रयोग नहीं करना चाहिए। घर में भी कूलर का प्रयोग करने पर विधिवत् उसमें छने पानी का ही प्रयोग करें। सीधे नल का कनेक्शन नहीं लगावें क्योंकि उससे तो अनछना पानी ही आएगा।
- यात्रा में स्वयं भोजन बनावें। समय कम हो तो खिचड़ी बना कर काम चलावें, भोजनालय में अमर्यादित और अयत्नाचार से बनाया हुआ भोजन न करें।
- साधर्मी वात्सल्य का परिचय देते हुए त्यागी, व्रती, या अन्य साधर्मी की अव्यवस्था या तकलीफ का ध्यान रख कर व्यवस्था में यथासम्भव मदद करें।
- धर्मशाला के कमरों आदि का विधिवत् पूर्ण भुगतान करके वहाँ सामान आदि को अच्छीतरह सौंप कर वहाँ से प्रस्थान करें।
- क्षेत्र के जीर्णोद्धार आदि योजनाओं में अपनी सामर्थ्य और आवश्यकता का ध्यान रख कर दान अवश्य देवें।
- धर्मक्षेत्र में जाकर अपने परिणामों की विशुद्धता बढ़ावें, प्रमादरूप न प्रवर्तें क्योंकि कहा भी है –

अन्यक्षेत्र में किये पाप तो धर्मक्षेत्र में होते नष्ट।
धर्मक्षेत्र में किये पाप पर वज्रलेप सम देते कष्ट।।

यात्रा से घर लौटने पर रखा जाने योग्य विवेक

- सर्व प्रथम घर को निर्जन्तुक करने हेतु हलके हाथ से झाड़ू लगा कर जीवों को बाहर सुव्यवस्थित सुरक्षित स्थान पर विसर्जित करें, उसके बाद ही घर में चलना-फिरना प्रारम्भ करें।
- फ्लैश की लैटरीन में पानी भरा रहने से उसमें जीव हो जाते हैं; अतः यात्रा पर जाते समय उसमें छना पानी डाल कर, फिर थोड़ा सा मिट्टी का तेल डाल कर छोड़ देवें, जिससे वहाँ जीवोत्पत्ति न हो। पुनः यात्रा से आने के बाद वहाँ फिर से छना हुआ पानी बहावें, तभी उसका प्रयोग करें।
- इनके अलावा अन्यत्र नालियों में भी छने पानी का प्रयोग करके ही उन्हें प्रयोग में लेवें।
- सभी वाटर बैग आदि पानी के बर्तनों को भी खाली करके छने पानी से धोकर तुरन्त ही सुखा लेवें।
- सभी दरवाजे, खिड़कियाँ खोल कर हवा के जीवों को बाहर जाने का मौका देवें। फिर थोड़ी देर बाद ही पंखे आदि का प्रयोग करें।
- यात्रा के वस्त्र बैग आदि सामान भी यहाँ वहाँ रखने से अशुचि हो जाते हैं, उन्हें अलग निकाल कर रखें और यथासम्भव शीघ्र धोकर सुखा कर रखें।

वस्त्र धोने, बाल कटवाने आदि के सम्बन्ध में विवेक

- पसीने के कारण वस्त्रों में सम्मूर्छन जीव हो जाते हैं, यदि उनको वैसा ही छोड़ दिया जाए तो उन जीवों की संख्या तेजी से बढ़ती है; अतः वस्त्रों को शीघ्र समय पर नियमित धोवें।
- धोने में गीले या लिक्विड, सोप या डिटर्जेन्ट का प्रयोग नहीं करना चाहिए, इनमें गीलेपन के कारण जीवराशि उत्पन्न होती रहती है; अतः हमेशा सूखे साबुन या डिटर्जेन्ट का ही प्रयोग करना चाहिए।
- वस्त्रों को ऐसे स्थान पर सुखाने डालना चाहिए, जहाँ से वे जल्दी सूख जावें, अन्यथा ज्यादा देर तक गीले होने के कारण उनमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं।
- कपड़ों पर यथासम्भव प्रेस अपने घर पर ही करना चाहिए क्योंकि प्रेस करते समय पानी का छिड़काव करना होता है और हम घर पर छने पानी का प्रयोग कर सकते हैं और प्रेस करने के बाद डाले हुए पानी को सुखाना आवश्यक है – इसका ध्यान रखना चाहिए। बाजार में प्रेस करने वाले का भरोसा नहीं किया जा सकता है।
- बालों की कटिंग करवाते समय अपना मर्यादा का छना हुआ पानी या प्रासुक पानी अवश्य ले जावें।

स्त्री के मासिक धर्म के दौरान रखा जाने योग्य विवेक

- मासिक धर्म के समय स्त्री को कोई भी काम न करना चाहिए, और न ही उनसे हमें कराना चाहिए। स्त्रियों को उस समय मन में धर्म-चिन्तन-मनन मात्र करके तीन दिन का समय बिताना चाहिए। बाह्य धार्मिक द्रव्य -क्रियाओं के साथ-साथ, रसोई आदि में भी उनका सहयोग नहीं लेना चाहिए। जिनायतन एवं धर्मायतन में सर्वथा नहीं जाना चाहिए।
- पुरुषों को भी इस समय बहुत विवेक रखना चाहिए। यदि उन स्त्रियों से छूकर बच्चे उनके पास आते हैं तो उन्हें भी जिनवाणी आदि के छूने का विवेक रखना चाहिए।
- स्त्री स्वयं कैसेट आदि को भी न छुए। जानबूझकर खुद के लक्ष्य से किसी से भी न लगवाए। हाँ, यदि कोई सुन रहा हो और सहज रूप से कानों में ध्वनि आ रही हो तो सुन सकते हैं – ऐसा हमारा मन्तव्य है और अधिक विद्वानों से सलाह लेवें। आगम में कोई विशेष मन्तव्य मिलता हो तो उसे स्वीकार करें।
- इस दौरान स्त्री के सोने उठने बैठने आदि के बिस्तर आदि अलग होने चाहिए। यथासम्भव चटाई आदि पर ही शयन करें।
- तीन दिन बाद घर की सभी चटाई आदि धोकर, यथोचित सिर आदि धोकर स्त्री शुद्ध होती है।

- यद्यपि गृहकार्य हेतु तीन दिन के बाद स्त्री शुद्ध मानी गई है, तथापि धर्मकार्य हेतु तो सर्वथा शुद्ध होने के बाद ही वह शुद्ध होती है।
- आगम में रजस्वला स्त्री के सम्बन्ध में अन्य भी विवेचन आया है, उसका अध्ययन करके उसके अनुसार आचरण करना योग्य है।

जैनियों में सामान्य रहन-सहन का विवेक

- जैनी, हिंसा के कारण पशुओं को घर में नहीं पालते हैं।
- जिनमें नियमितरूप से कर्तन (कटिंग) करना पड़े – ऐसी घास की लॉन, शोभा के पेड़-पौधे खुद के घरों में नहीं लगावें, इसमें तीव्र हिंसा होती है।
- गाड़ी स्कूटर आदि वाहन धोने में भी छना हुआ पानी बाल्टी मग्गे से लेकर उसे कम से कम पानी से धोवें।
- घर में ऐसी कोई भी पेन्टिंग या चित्र नहीं लगावें, जिसमें असंयम पुष्ट हो। प्राणियों की भी पेन्टिंग नहीं लगावें क्योंकि चित्र आदि तो हम हमारे आदर्शों की लगाते हैं परन्तु जीव-जन्तु, कीड़े-मकोड़े या बड़े-बड़े सिंह, हाथी आदि जानवर हमारे आदर्श नहीं होते। इसी प्रकार क्रिकेट के खिलाड़ी, हीरो हीरोइनों के भी फोटो लगाने से उनके सभी क्रिया कलापों की अनुमोदना होती है, क्योंकि वे एक मात्र रागभाव के पोषक होते हैं।
- अविनय आदि होने की सम्भावना देखते हुए जिनेन्द्र भगवान, वीतरागी गुरुओं की आदि की फोटो आदि भी नहीं लगाना चाहिए अथवा भावों की विशुद्धि हेतु उन्हें दीवारों पर ऊँचाई वाले ऐसे स्थान पर लगावें, जहाँ उनकी अविनय न हो। यही कारण है कि सोने के स्थानों पर तो देव-शास्त्र-गुरु की फोटो या जिनवाणी को रखना ही नहीं चाहिए।
- गृहीत मिथ्यात्व के आयतनों में जाना ही नहीं चाहिए, उन कार्यों में चन्दा आदि देने से भी बचना चाहिए, उससे स्वयं की श्रद्धा दूषित होती है।
- यदि पड़ौसी जैन हो एवं कन्दमूलादि नहीं खाने वाला हो, पानी छान कर पीने वाला हो तो ठीक, अन्यथा बच्चों को किसी के यहाँ कुछ भी न खाने पीने की प्रेरणा देवें। जितना भी सम्भव हो, उतना अवश्य पालन करना चाहिए।
- बच्चों को स्कूलों में अन्य छात्रों के टिफिन न खाने की प्रेरणा देवें क्योंकि उनके खान-पान आदि का कोई ठिकाना नहीं है।
- जिन स्कूलों में छात्रों को खाना पीना आदि दिया जाता है – ऐसे स्कूलों में बच्चों का प्रवेश नहीं कराएँ। तात्पर्य यह है कि सर्वत्र विवेक अनिवार्य है।
- आठ वर्ष से छोटे पराधीन बच्चों के कार्यों से सम्बन्धित कर्मबन्ध, माता पिता को ही विशेषरूप से लगता है क्योंकि उनमें विवके स्पष्टरूप से विकसित नहीं हो पाता है।
- अश्लील/कामोत्तेजक साहित्य से बुद्धिपूर्वक बचना चाहिए। अखबारों में ऐसी फोटो आदि आए तो उससे भी बचना चाहिए, अन्यथा कुशील सेवन का दोष लगता है।
- यदि कभी बाग बगीचे में जाएँ तो घास की लान पर न चलें तथा कीड़े मकोड़े जैसे क्षुद्र जीवों को देख-झाड़ कर ही चलें, फिरें और बैठें।

इस प्रकार जीवन में समस्त प्रकार के क्रियाकलापों में विवेक का परिचय देना चाहिए। यत्नाचार प्रवृत्ति से प्रवर्तन करने में निरन्तर पुण्यबन्ध होगा। यद्यपि आज भाग-दौड़मय इस व्यस्त जिन्दगी में उपर्युक्त बहुत सी बातें असम्भव जैसी लगती हैं; परन्तु उनमें से जितनी सम्भव हैं, उन्हें तो अवश्य पालें लेकिन यदि कोई नहीं पाली जा रही हो तो अपनी मजबूरी के प्रति खेदभाव/ग्लानिभाव रखें, उससे कर्मबन्ध कम होगा और तीव्र भावना होगी तो सम्पूर्ण पालन हो सके – ऐसी परिस्थिति की प्राप्ति अवश्य होगी क्योंकि 'जहाँ राह है, वहीं राह है'।

ध्यान रहे कि कोई ये बातें न पालें तो द्वेष नहीं करना, स्वयं के पालने में सतर्क रहना क्योंकि अपना भला-बुरा अपने परिणामों से होता है।''

उपसंहार

जिस प्रकार एक व्यक्ति, दूरी तय करने के लिए सायकल पर सवार होकर, सड़क के नियमों का पालन करते हुए अत्यन्त जागरूक होकर अपने गन्तव्य की ओर जा रहा है कि अचानक एक कुत्ते का बच्चा बीच सड़क पर आ जाता है, जिससे वह तुरन्त जोर से ब्रेक लगाता है, उसकी सायकल डगमगाती है, वह उसे सम्हाल कर, कुत्ते और स्वयं की दशा की ठीक तरह से देखभाल करके, दुर्घटना पर क्षोभ व्यक्त करता हुआ, पुनः अपने गन्तव्य की ओर प्रयाण करता है और अतिशीघ्र अपने गन्तव्य पर पहुँच जाता है। उसी प्रकार जब जीव, दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए एवं मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए व्रत और महाव्रत के संविधान को अंगीकार करके निर्बाध रीति से मोक्षमार्ग पर गमन करता है, तब कदाचित् भूमिकानुसार यथायोग्य विषय, कषाय, अज्ञान, या प्रमाद के कारण मन डगमगा जावे या अतिचार आदि लग जावे तो वह शीघ्र ही प्रायश्चित्त विधि की ब्रेक लगा कर, अपने मन को शान्त एवं पवित्र कर, पुनः शुद्ध भावों का संचार कर, परिणामों की आत्यन्तिक शुद्धि के लिए श्रेणी आरोहण आदि विधि पूर्ण कर, पूर्ण वीतराग होकर, चार घातिकर्मों का क्षय करके सर्वज्ञता आदि अनन्त चतुष्टय प्राप्त करके, दूसरों को भी वीतरागता एवं सर्वज्ञता का सन्देश देकर, अन्त में चार अघातिकर्मों का भी क्षय करके शाश्वत मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है। इस तरह वह जीव, स्वयं मार्ग तय करता है और अन्य भव्य जीवों को भी मार्ग तय करने में सहायक बनता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति, समाज, या राष्ट्र, अथवा कहें कि प्राणी मात्र के लिए प्रायश्चित्त अचूक औषधी का काम करता है। संविधान की आवश्यकता, उन्हें नहीं है, जो स्वाधीनता से अपने स्वभाव का आश्रय लेकर स्वाभाविक आचरण करते हैं अर्थात् जो व्यक्ति, स्वयं अनैतिक आचरण से सर्वथा दूर रहता है, उसे नैतिक आचरणों के बन्धनों में बाँधने की आवश्यकता नहीं है परन्तु जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र, में अनैतिक आचरण में आकण्ठ डूबे हुए हैं, उन्हें नैतिक आचरणों में बाँध कर ही सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। सन्मार्ग प्राप्ति का यही व्यावहारिक मार्ग है।

हम ऐसा भी कह सकते हैं कि जो मुक्त पुरुष हैं, व्यावहारिकता से अतिक्रान्त हो गये हैं; उनके लिए नैतिकतारूप व्यावहारिक आचरण अनावश्यक हैं, उन्हें नैतिकता के बन्धन में बाँधना, अनुचित है परन्तु जो संसार चक्र में भ्रमण कर रहे हैं, पापकर्मों का परिहार नहीं कर पा रहे हैं; उनके पापों को रोकने अथवा मर्यादित करने हेतु यदि नैतिकता के बन्धन लगाये जाते हैं तो उसे कदापि गलत नहीं कहा जा सकता। संसार में जो कुछ शुभ बचा है, वह इसी नैतिकता की ही देन है।

इस प्रकार **'अतिचार एवं प्रायश्चित्त – स्वरूप एवं विश्लेषण : जैन संविधान के सन्दर्भ में'** – इस शोध-प्रबन्ध के 'द्वितीय अध्याय : **श्रावकाचार : जैन संविधान के परिप्रेक्ष्य में'** का विवरण पूर्ण होता है।

इति शुभं भवतु।

सन्दर्भ सूची

सप्तम अध्याय : सामाजिक एवं राष्ट्रीय महत्त्व के परिप्रेक्ष्य में : प्रायश्चित्त की महत्ता एवं उपयोगिता

01. सत्यदेव विद्यालंकार, इतिहास की चेतावनी और चुनौती; **बाबू छोटेलाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ,** कोलकाता में प्रकाशित लेख
02. कुन्दकुन्द भारती शोध संस्थान, नई दिल्ली के प्रवेशद्वार पर प्रचारित/प्रसारित
03. डॉ. हीरालाल जैन, 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान', पृष्ठ 258, प्रकाशक, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल (1962)
04. शान्तिपाठ, **जिनेन्द्र अर्चना,** पृष्ठ 244
05. आचार्य विद्यानन्द मुनि, **प्रजातन्त्र के मूलमन्त्र,** पृष्ठ 11
06. **वही,** पृष्ठ 10
07. नाथूराम डोंगरीय, **जैनधर्म : विश्वधर्म,** पृष्ठ 56, प्रकाशक, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर (1998)
08. **भावना द्वात्रिंशतिका,** आचार्य अमितगति, श्लोक 1
09. अचार्य विद्यानन्द मुनि, प्रजातन्त्र के मूलमन्त्र, पृष्ठ 21
10. **अनगार धर्मामृत,** सप्तम अध्याय, श्लोक 34, पृष्ठ 511
11. **मूलाचार,** अध्याय 5, गाथा 361, पृष्ठ 292
12. **अनगार धर्मामृत,** भाषा-टीका, 7/58
13. **राजवार्तिक,** 9/22/10; **भावपाहुड़ टीका,** 78; **धवला,** 13/5,4,26/60-63; **चारित्रसार,** 141-146; **अनगार धर्मामृत** भाषा-टीका, 7/53-58; **आचारसार,** पृष्ठ 64, आदि के आधार पर
14. **राजवार्तिक,** 9/22/10 एवं **चारित्रसार,** 142/2 **राजवार्तिक,** 9/22
15. **राजवार्तिक,** 9/22
16. **धवला,** 13/5-4-26/61
17. **धवला,** 13/5-4-26/61
18. **धवला,** 13/5-4-26/62
19. **धवला,** 13/5-4-26/62
20. **अनगार धर्मामृत,** 7/53
21. **सिद्धान्तसारसंग्रह,** 10/97, विशेषार्थ
22. **अनगार धर्मामृत,** 7/53
23. श्री मोहनलालजी सेठी; **वर्तमान में जैन श्रावकाचार पालन : संक्षिप्त विवरण**, पृष्ठ 7–22 के आधार पर

परिशिष्ट

क. साधु–सन्तों एवं विद्वानों से चर्चा-वार्ताओं की सूची

1. 'प्रायश्चित्त' के सम्बन्ध में आचार्य श्री विद्यासागरजी के साथ वार्तालाप

इस विषय पर चर्चा करने हेतु मैं अपने पति डॉ. राकेश जैन के साथ वर्तमान के सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी मुनिमहाराज के पास रामटेक प्रवास के दौरान दिनांक 30 दिसम्बर 2008 के दिन गई थी। जब उन्हें बताया कि मैंने 'अतिचार एवं प्रायश्चित्त' – इस विषय पर पीएच.डी. करने हेतु लाडनूं विश्वविद्यालय के जैनदर्शन विभाग से नामांकन कराया है तो वे कुछ देर विचारमग्न रहने के उपरान्त बोले –

अतिचार तो ठीक है, परन्तु प्रायश्चित्त पर कार्य कैसे किया जा सकता है? क्योंकि शास्त्रों में प्रायश्चित्त-शास्त्र पढ़ने का अधिकार सबको दिया ही नहीं गया है? जब आप उसे पढ़ ही नहीं सकते तो उस पर शोधकार्य कैसे कर सकते हैं?

उन्हें यह भी अवगत कराया गया कि महाराज! शोधकार्य तो किसी भी विषय पर किया जा सकता है तथा प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में जो भी सामग्री आगम में उपलब्ध है, उसके आधार पर ही शोधकार्य किया जाएगा, लेकिन तत्पश्चात् आचार्यश्री को अपने आवश्यकादि कार्य करने थे; अतः अधिक चर्चा के लिए समय ही नहीं मिला।

इस सम्बन्ध में मेरा भी यह मानना है कि इस विषय पर शास्त्रों में बहुत कम लिखा मिलता है। कहीं-कहीं इसे सामान्यजनों को पढ़ने के लिए मना भी किया गया है। या केवल उन्हीं शिष्यों को बोधगम्य माना गया है, जो आचार्यपद के योग्य हों।

यद्यपि अभी तक यह भी ज्ञात नहीं हो सका है कि आचार्यगण यह बोध, अपने स्व-विवेक के आधार पर देते हैं अथवा उन्हें उनके गुरु से मौखिकरूप से यह प्राप्त होता है अथवा इसकी उनके पास कोई लिखित सामग्री भी होती है; तथापि मुझे तो यही प्रतिभासित होता है कि यह बोध गुरु-परम्परा से दिया जाता रहा है, फिर भी अपने स्मरणार्थ आचार्यादि अपने पास कुछ याद्दाश्त के लिए पत्रों पर लिख भी लेते हों, परन्तु उसमें भी परेशानी वाली बात यही प्रतीत होती है कि तिल-तुष मात्र भी परिग्रह अपने पास नहीं रखने वाले एवं मात्र पीछी-कमण्डलु अपने पास रखने वाले वे नग्न दिगम्बर आचार्य, उस लिखित सामग्री को सम्भाल कर, कैसे रखते होंगे ? यदि वे अन्य गृहस्थों आदि को सम्भाल कर, रखने दे देते होंगे तो भी उनकी गुप्तता कैसे सुरक्षित रहती होगी ? – यह विचारणीय प्रश्न है।

– इसी शोध प्रबन्ध के पृष्ठ 243 से साभार

2. आचार्यों, विद्वानों आदि से विचार-विमर्श हेतु प्रश्नावली

मुनिराजों के अतिचार आदि लगने या न लगने को तथा अन्य प्रायश्चित्त आदि से सम्बन्धित अनेक विषयों को आधार बना कर, हमने एक प्रश्नावली तैयार की थी, जिसके आधार पर मैं अपने पति डॉ. राकेश जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य के साथ अनेक मुनिराजों, आर्यिकाओं; जैसे, आचार्य विद्यासागरजी, आचार्य विद्यानन्दजी, मुनि समाधिसागरजी, आर्यिका दृढ़मती, आर्यिका ऋजुमति आदि तथा मनीषी विद्वानों से चर्चा करने भी गई, इन विद्वानों में बाल ब्र. पण्डित रवीन्द्रकुमारजी अमायन, बाल ब्र. केशरीचन्द 'धवल' छिन्दवाड़ा, बाल ब्र. यशपालजी जयपुर, बाल ब्र. हेमचन्दजी देवलाली, बाल ब्र. सुमतप्रकाशजी खनियाधाना, बाल ब्र. राकेशजी, सिद्धायतन, सागर, बाल ब्र. हेमन्तभाई गांधी सोनगढ़, बाल ब्र. अभिनन्दनकुमार जैन देवलाली, बाल ब्रह्मचारिणी ममता जैन टीकमगढ़, बाल ब्रह्मचारिणी आरती जैन छिन्दवाड़ा, बाल ब्रह्मचारिणी बासन्तीबेन देवलाली, समणी चन्दनाश्रीजी राजगृही, प्रो. सुदीपकुमार जैन दिल्ली, प्रो. वीरसागर जैन दिल्ली, पण्डित रतनलाल बैनाड़ा आगरा, प्रोफेसर फूलचन्द जैन 'प्रेमी' वाराणसी, पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री, पण्डित वीर. `न्द्रकुमारजी आगरा, पण्डित देवेन्द्रकुमारजी मंगलायतन, संजयकुमार जैन शास्त्री जेवर, डॉ. अनेकान्त जैन दिल्ली, डॉ. योगेशकुमार जैन अलीगंज, श्री पवन जैन अलीगढ़ आदि प्रमुख हैं। इनमें से अधिकांश के साथ अतिशय सौहार्द्र के वातावरण में चर्चा हुई। अनेकों ने अपने अभिमत, अनुशंसा आदि भी दिये, कतिपय के साथ हुई चर्चा की प्रश्नावली का प्रारूप निम्न प्रकार है –

प्रश्न 1 – 'अतिचार एवं प्रायश्चित्त' – इस विषय पर मैंने शोधकार्य करने हेतु लाडनूं विश्वविद्यालय में डॉ. जिनेन्द्र जैन के मार्गदर्शन में पंजीयन (Registration) कराया है। कृपया इस विषय में कुछ मार्गदर्शन करें ?

प्रश्न 2 – गृहस्थ के व्रतों में अतिचारों का वर्णन तो शास्त्रों में विशेषता से मिलता है, परन्तु मुनिराजों के महाव्रतों/मूलगुणों/उत्तरगुणों आदि में भी तो अतिचार लगते हैं, लेकिन उनका विस्तार से वर्णन नहीं मिलता है, इसका कारण क्या है?

प्रश्न 3 – तत्त्वार्थसूत्र में जो अतिचार बताये गये हैं, उनमें व्रत-सामान्य के अतिचारों का वर्णन है या केवल गृहस्थों के अतिचारों का ही वर्णन है या मुनिराजों के अतिचारों का भी वर्णन है?

प्रश्न 4 – तत्त्वार्थसूत्र में व्रतों के अतिचारों के साथ–साथ व्रतों की भावनाओं का भी वर्णन किया गया है; उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न है कि वे भावनाएँ सामान्य व्रतों की हैं या सिर्फ गृहस्थों को ही भाने योग्य हैं या मुनियों को भी भाने योग्य हैं। लेकिन उनमें अनेक भावनाएँ तो मुनि की भूमिका में भाने योग्य हैं और अनेक उनके द्वारा भाने योग्य नहीं भी हैं। उसका कारण क्या है?

प्रश्न 5 – अतिचार और अनाचार में क्या अन्तर है ? इसका निर्णय कैसे होता है कि यह अतिचार है या अनाचार ?

प्रश्न 6 – क्या अनाचार होने के बाद नये सिरे से व्रत लेना ही अनिवार्य होता है या उसका भी कोई प्रायश्चित्त हो सकता है? अथवा दोनों लेना होता है?

प्रश्न 7 – कहीं–कहीं शास्त्रों में प्रायश्चित्त-शास्त्रों को पढ़ने के लिए गृहस्थों को एवं सामान्य साधुओं को भी निषेध किया गया है; उसका क्या कारण है ? रत्नकरण्ड श्रावकाचार की पण्डित सदासुखदासजी की भाषा-टीका में पृष्ठ 265 में लिखा है कि 'प्रायश्चित्त-शास्त्र तो जो आचार्य होने योग्य होता है, उसी को पढाया जाता है, औरों के पढने योग्य नहीं है' तो उसका क्या कारण है?

प्रश्न 8 – यदि प्रायश्चित्त-शास्त्र को पढने का निषेध किया गया है तो अतिचारों एवं दोषों का भी वर्णन क्यों किया गया है, उसका भी निषेध करना चाहिए था?

प्रश्न 9 – गृहस्थों को प्रायश्चित्त देने का अधिकार गृहस्थाचार्यों को है अथवा उनको प्रायश्चित्त भी मुनिसंघों के आचार्य ही देते है। फिर यह भी निश्चित करना होगा कि गृहस्थाचार्यों को कौन मनोनीत करेगा अथवा किन गृहस्थों को किस मुनिसंघ के आचार्य प्रायश्चित्त देंगे?

प्रश्न 10 – प्रायश्चित्त-शास्त्र, लिपिबद्ध हैं अथवा मौखिक श्रुत-परम्परा से ही आाचार्यों के द्वारा नव आचार्य को दिये जाते हैं ? लेकिन क्या इस दुःखद पंचम काल में इतना याद रखना सम्भव है?

प्रश्न 11 – प्रायश्चित्त-शास्त्र में किस दोष का क्या प्रायश्चित्त होता है – इसका विस्तृत वर्णन है या सामान्य प्रायश्चित्तों का वर्णन है? जिसके आधार पर आचार्य अपने-अपने स्वविवेक से प्रायश्चित्तों का निर्णय लेते हैं?

प्रश्न 12 – भारतीय संविधान में या अन्यत्र व्यवस्था की दृष्टि से दोषों के हिसाब से प्रायश्चित्तों का निरूपण किया गया है। तदनुसार हमारे यहाँ की परम्परा क्या है ?

प्रश्न 13 – यदि आचार्य सर्वथा स्वविवेक से निर्णय लेते हैं तो इसमें तो अलग-अलग आचार्यों के द्वारा प्रदत्त निर्णय में अन्तर आएगा – क्या यह उचित है?

प्रश्न 14 – श्वेताम्बर ग्रन्थों में छेदसूत्र, विपाकसूत्र, निशीथचूर्णि, महानिशीथ, व्यवहारसूत्र आदि ग्रन्थों में प्रायश्चित्तों का वर्णन मिलता है – ऐसा सुना है। क्या आपने उन्हें देखा अथवा सुना है?

प्रश्न 15 – प्रायश्चित्त देनेवाले आचार्य की क्या विशेषताएँ होना चाहिए?

प्रश्न 16 – प्रायश्चित्त देने में भावों की प्रधानता होती है या क्रियात्मक अतिचार की प्रधानता होती है एवं तदनुसार प्रायश्चित्त दिये जाते हैं?

प्रश्न 17 – 'प्रायश्चित्त' शब्द प्रायः और चित्त, दोनों के मेल से बना है। यहाँ प्रायः शब्द के अनेक अर्थ ज्ञात होते हैं – लोक, साधर्मी, साधु आदि। अथवा अपराध को भी प्रायः कहा जाता है। अथवा प्रायः का अर्थ तप भी होता है। इन सबकी सन्धि कैसे मिलाई जाए ?

– इसी शोध प्रबन्ध के पृष्ठ 442-443 से साभार

3. 'प्रायश्चित्त' के सम्बन्ध में
विद्वान् श्री शैलेषजी के साथ सिद्धक्षेत्र सोनागिर में वार्तालाप

उक्त प्रश्नों के आधार पर आदरणीय विद्वान् श्री शैलेषजी, जो इस विषय के अधिकारी विद्वान् हैं, जिनका आगमाभ्यास बहुत अच्छा है, जो सम्पूर्ण निवृत्ति लेकर सिद्धक्षेत्र सोनागिर में ही रहते हैं; उनसे उनके स्थायी निवास में अनेक दौर की चर्चाओं में सुदीर्घ विचारणा हुई, उन्होंने अत्यन्त मधुरता के साथ प्रत्येक विषय पर बातचीत की। मेरे पति डॉ. राकेश जैन शास्त्री ने भी इसमें सक्रियता से भाग लिया। उनके साथ हुई चर्चा के आधार पर यह प्रश्नोत्तरी प्रस्तुत है –

प्रश्न 1 – प्रायश्चित्त की आवश्यक्ता क्या है? मुनिराज के माँगने पर उनके अनुकूल प्रायश्चित्त देने का क्रम क्या है?

उत्तर – सुखिया स्वभाव को मेटने के लिए तप का निर्धारण आचार्य स्वयं करते हैं। आचार्य की मर्जी से ही प्रायश्चित्त दिया जाता है। जैसे, कोई शिष्य, तप हेतु दो उपवास माँगता है तो उसे आचार्य, उसके परिणामों की योग्यता के अनुसार दो, एक या अधिक प्रायश्चित्त देते हैं क्योंकि सुविधा की दृष्टि से प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता, बल्कि परिणामों की योग्यता एवं आवश्यक्ता के अनुसार प्रायश्चित्त दिया जाता है।

प्रश्न 2 – गृहस्थ के व्रतों के अन्तर्गत अतिचारों का वर्णन तो शास्त्रों में विशेषता से मिलता है परन्तु क्या मुनिराजों के महाव्रतों/मूलगुणों/उत्तरगुणों आदि में भी अतिचार लगते हैं। यदि हाँ, तो उनका विस्तार से वर्णन नहीं मिलता है, इसका कारण क्या है?

उत्तर – यदि मुनिराजों के अतिचार न लगते हों तो प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण, आलोचना आदि कर्तव्यों की क्या आवश्यक्ता है। मुनिराजों के अतिचारों का वर्णन भी मूलाचार, अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थों में विशेषता के साथ किया गया है। हाँ, प्रायश्चित्तों का वर्णन जरूर कुछ कम मिलता है, परन्तु उनका वर्णन करने वाले शास्त्र भी हैं। जैसे, सिद्धान्तसारसंग्रह, भगवती आराधना, अनगार धर्मामृत, मरण कण्डिका आदि। विशेष वर्णन प्रायश्चित्त संग्रह, प्रायश्चित्त विधान आदि में किया गया है, परन्तु जनसामान्य के लिए इनका प्रकाशन नहीं किया जाता है। सूरत से मूलचन्द कापड़िया प्रकाशन से इसका प्रकाशन किया गया था, परन्तु वह भी सिर्फ मुनिसंघों के आचार्यों को ही भिजवाया गया था। अतिचारों का वर्णन भी उनसे छूटने की भावना से ही किया गया है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओं में अतिचारों के वर्णन के साथ व्रतों की भावनाओं का भी विस्तार से वर्णन मिलता है।

प्रश्न 3 – तत्त्वार्थसूत्र में जो अतिचार बताये गये हैं, उनमें व्रत-सामान्य के अतिचारों का वर्णन है या केवल गृहस्थों के अतिचारों का ही वर्णन है या केवल मुनिराजों के अतिचारों का वर्णन है या गृहस्थ और मु. निराज, दोनों के अतिचारों का वर्णन है?

उत्तर – तत्त्वार्थसूत्र में अतिचारों के प्रकरण में श्रावकों की मुख्यता से ही वर्णन किया गया है क्योंकि आचार्यदेव ने इस सिद्धान्त ग्रन्थ को सर्वजनोपयोगी बनाया है, अतः श्रावकों के अतिचार तो बताये हैं, परन्तु मुनियों के अतिचार बताना जनसामान्य के लिए उपयोगी नहीं था; अतः उनके अतिचारों का वर्णन यहाँ तत्त्वार्थसूत्र में नहीं किया गया है, लेकिन उनका भी वर्णन अन्यत्र मुनियों के आचार के निरूपक ग्रन्थों में किया गया है।

प्रश्न 4 – तत्त्वार्थसूत्र में व्रतों के अतिचारों के साथ-साथ व्रतों की भावनाओं का भी वर्णन किया गया है; उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न है कि वे भावनाएँ सामान्य व्रतों की हैं या सिर्फ गृहस्थों को ही भाने योग्य हैं या मुनियों को भी भाने योग्य हैं।

उत्तर – श्रावकों के योग्य व्रतों की भावनाएँ, श्रावकों को भाने योग्य हैं और मुनियों के महाव्रतों के योग्य भावनाएँ, मुनियों को भाने योग्य हैं। कौनसी भावना, मुनि और श्रावक, दोनों को भाने योग्य हैं – इसका निर्णय एक-एक भावना का विचार करके किया जा सकता है। वह सब विस्तार का विषय है।

प्रश्न 5 – अतिचार और अनाचार में क्या अन्तर है ? इसका निर्णय कैसे होता है कि यह अतिचार है या अनाचार ?

उत्तर – व्रतों का ग्रहण नौ कोटि से किया जाता है। मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना – इनके परस्पर मेल से नौ कोटियाँ बन जाती हैं। वहाँ यदि अकेले मन से भंग हुआ या अकेले वचन से भंग हुआ या अकेले काय से भंग हुआ या अकेले कृत से भंग हुआ या अकेले कारित से भंग हुआ या अकेले अनुमोदना से भंग हुआ तो वह अतिचार कहलाता है।

इतना ही नहीं, यदि नौ कोटियों में से आठ कोटियों तक भी भंग हो जाए तो भी वह अतिचार ही कहलाता है तथा सम्पूर्ण नौ कोटियों से भंग होने पर अनाचार कहलाता है। अन्य प्रकार से समझें तो जैसे, किसी व्यक्ति ने जीवनपर्यन्त का नियम लिया और यदि कदाचित् किसी कारण से थोड़े समय के लिए या एक बार व्रत का भंग हो जाता है तो उसे अनाचार नहीं कहते, अतिचार ही कहते हैं और वह प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्ध भी हो सकता है।

यही कारण है कि अनेक व्रतों में पाए जाने वाले दोष या अतिचार, कदाचित् हमें व्रतभंग या अनाचार जैसे प्रतीत होते हैं परन्तु आचार्यों ने अतिचार की ही श्रेणी में रखा है। लेकिन यह अतिचार है या अनाचार, इसका निर्णय करने का अधिकार आचार्य महाराज को ही होता है और उसे कैसे प्रायश्चित्त से शुद्ध किया जाए – यह निर्णय भी आचार्य महाराज, आगम के आलोक में शुद्ध रीति से करते हैं।

प्रायश्चित्त देते समय इस बात का भी निर्णय किया जाता है कि इस अपराध के होने में कहीं अभिप्राय-सम्बन्धी भूल तो नहीं है क्योंकि अभिप्राय-सम्बन्धी भूल का अपराध बड़ा माना जाता है। इसी प्रकार यह भी विचारणीय होता है कि यह अपराध बुद्धिपूर्वक हुआ है या अबुद्धिपूर्वक, अविरतिजनित है या प्रमादजनित, जान-बूझ कर किया गया है या अनजाने, पहले भी यह अपराध हो चुका है या पहली बार ही यह अपराध हुआ है, इत्यादि बातों का विचार करके ही आचार्य, अपराध की तीव्रता-मन्दता का निर्णय करते हैं।

सकारात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो जीव के उत्थान हेतु यह उत्तम मार्ग है। सम्यक्त्व के आठ अंगों में स्थितिकरण अंग का यही मन्तव्य है। इसके माध्यम से हम शिथिलाचार का समर्थन नहीं कर रहे हैं, बल्कि मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने हेतु प्रेरित अवश्य करना चाहते हैं। कोई भी जीव जिस किसी भी स्थिति में हो, वह अपना हित कर सके – ऐसा ही मार्ग सुनिश्चित करना आवश्यक है।

वास्तव में प्रायश्चित्त-विधि, गिरते हुए जीवों को ऊपर उठाने में उत्कृष्ट निमित्तभूत साधन है। जब किसी जीव से कोई अपराध हो जाता है तो वह अपराध-बोध से ग्रसित हो जाता है – ऐसी अवस्था में उसकी कषाय मन्द पड़ती है और उसकी भावभूमि पवित्रता की ओर उन्मुख होती है, तब यदि उसे सम्यक् मार्ग पर लाना चाहें तो वह सरलता से उस मार्ग पर आ जाता है। इसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि यह बुराई में से भी अच्छाई निकालने वाला मार्ग है।

प्रश्न 6 – क्या अनाचार होने के बाद नये सिरे से व्रत लेना ही अनिवार्य होता है या उसका भी कोई प्रायश्चित्त हो सकता है ? अथवा दोनों लेना होता है ?

उत्तर – दोषों को देख कर ही उसके प्रायश्चित्त का निर्णय हो सकता है। सर्वत्र दीक्षा-छेद ही उपाय नहीं है। जहाँ जैसा योग्य होता है, वहाँ वैसा प्रायश्चित्त देना योग्य है। एक बार कोई दोष होने पर सामान्य प्रायश्चित्त दिया जाता है और बार-बार दोष होने पर ही बड़ा प्रायश्चित्त दिया जाता है। यदि पहली बार ही बड़ा प्रायश्चित्त दे दिया जाए तो उससे प्रायश्चित्त की गरिमा कम होती है और उसकी आवश्यक्ता भी नहीं होती।

प्रश्न 7 – कहीं-कहीं शास्त्रों में प्रायश्चित्त-शास्त्रों को पढ़ने के लिए गृहस्थों को मना किया गया है; इतना ही नहीं, बल्कि सामान्य साधुओं को भी निषेध किया गया है; उसका क्या कारण है ? रत्नकरण्ड श्रावकाचार की पण्डित सदासुखदासजी की भाषा-टीका में भी पृष्ठ 265 में लिखा है कि 'प्रायश्चित्त-शास्त्र तो जो आचार्य होने योग्य होता है, उसी को पढाया जाता है, औरों के पढने योग्य नहीं है' तो उसका क्या कारण है ?

उत्तर – इस सम्बन्ध में हमें एकान्त नहीं करना चाहिए। आगम में अनेक बातों के लिए श्रावकों को निषेध किया गया है। क्या हम उन सभी का ख्याल रख रहे हैं? आगम में उन सभी बातों का जिस सन्दर्भ में निषेध किया है, उसका भी हमें विवेक रखना चाहिए। सर्वथा एकान्त करने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। जैसे – आगम में तो देशसंयमी श्रावकों को प्रतिमायोग धारण करना, वीरचर्या अर्थात् कठोरचर्या तथा सिद्धान्त-ग्रन्थों को पढने का भी निषेध किया गया है क्योंकि उनका स्वाध्याय करते समय उतनी विशुद्धि नहीं हो पाती; इसी कारण उनको उक्त चर्या या क्रिया का निषेध किया गया है। हमें सामान्य गृहस्थों और विवेकी गृहस्थों में विवेक करना होगा।

प्रश्न 8 – मोक्षमार्ग प्रकाशक में आता है कि मुनिराजों को अशुभोपयोग का तो अस्तित्व ही नहीं है? तो उनको जो अतिचार लगते हैं, वे क्या शुभोपयोग की श्रेणी में आते हैं?

उत्तर – मोक्षमार्ग प्रकाशक में मुनिराजों को महाव्रत होने से उनके एकदेश पाप का भी त्याग होता है, इस कारण ऐसा कथन किया गया है, परन्तु इससे अतिचार, शुभोपयोग की श्रेणी में नहीं आते। इसके लिए हमें ऐसा विचार करना चाहिए कि यद्यपि भावलिंगी मुनिराजों को किसी भी अवस्था में मिथ्यात्व और अविरत-सम्बन्धी पाप का अस्तित्व नहीं होता है, लेकिन उन्हें भी प्रमाद-सम्बन्धी पाप तो अवश्य लगता है, उसी प्रमाद की भूमिका में उनसे अतिचार हो जाते हैं, उनसे पापप्रकृतियों का ही आस्रव होता है। यदि हम उसे भी पुण्य ही मानेंगे तो हमें अतिचारों से भी पुण्यप्रकृतियों का आस्रव मानना होगा, परन्तु ऐसा नहीं है।

मिथ्यात्व और अविरति को सर्वथा पाप ही माना गया है। लेकिन प्रमाद, कषाय और योग को अपेक्षाओं से अभिप्रायानुसार पुण्य-पापरूप मानना चाहिए।

थोड़ा-सा आगमानुसार विवेचन समझ लें। कषायों में शुरु की तीन कषायें, अविरति की उत्पादक मानी गयी हैं। पहली अनन्तानुबन्धी कषाय, प्रथम एवं द्वितीय गुणस्थान में सम्यक्त्व को नहीं होने देनेरूप अविरति परिणाम की उत्पादक है; दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक देशसंयम को उत्पन्न नहीं होने देनेरूप अविरति की उत्पादक है; जबकि तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रथम से पंचम गुणस्थान तक पूर्णसंयम को उत्पन्न नहीं होने देनेरूप अविरति की उत्पादक है। छठवें गुणस्थान में संज्वलन का तीव्र उदय होता है, वही प्रमाद को उत्पन्न करता है।

ध्यान रहे – कषाय के तीव्र और मन्द, दो भेद किये जाते हैं; उनमें तीव्र कषाय को पाप भाव और मन्द कषाय को पुण्य भाव की संज्ञा दी जाती है। छठवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय का तीव्र उदय माना गया है, वही प्रमाद का उत्पादक माना गया है तथा मन्द कषायरूप संज्वलन का उदय तो सातवें से दशवें गुणस्थान तक माना गया है, वहाँ अविरति और प्रमाद का सर्वथा अभाव ही माना गया है और वहाँ क्रमशः एकमात्र कषाय के मन्द-मन्दतर-मन्दतम उदय का सद्भाव ही माना है।

प्रश्न 9 – अध्यात्म ग्रन्थों में तो शुभ-अशुभ भाव, दोनों को प्रमाद कहा गया है? फिर आप ऐसा क्यों नहीं मानते?

उत्तर – यद्यपि अध्यात्म ग्रन्थों में शुभ भाव के समय भी स्वरूप से च्युति हो जाने की अपेक्षा उसे भी प्रमाद कहा गया है, लेकिन गोम्मटसार आदि ग्रन्थों की शैली के अनुसार प्रमाद के पन्द्रह भेदों में चार कषाय, चार विकथा, पाँच इन्द्रिय-विषय, निद्रा और स्नेह को लिया गया है, उसके अनुसार शुभ भावों का इसमें सम. ावेश नहीं है। इसके अनुसार जो यथायोग्य अणुव्रत-महाव्रत, मूलगुण-उत्तरगुण आदि को यथार्थ विधि से न होने दे, उनमें दोष लगावे, उसे प्रमाद कहा गया है।

हम ऐसा कह सकते हैं कि मुनिराजों को शुद्धभाव और शुभभाव, दो भावों में ही रहना उचित है, परन्तु जो क्रिया या अवस्था, उन्हें इन दो भावों से च्युत कर देवे, उसे प्रमाद कहते हैं। इसमें अध्यात्म की अपेक्षा भी आ जाती है कि मुनिराजों को तो शुद्धोपयोग ही इष्ट है, लेकिन यह शुभ भाव आने पर भी उनके शुद्ध भावों का घात हो जाता है, अतः अध्यात्म में शुभ भाव को भी प्रमाद कहा है।

इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि मुनिराजों को अपनी अवस्था के योग्य 28 मूलगुण आदि के परिणाम होने चाहिए, लेकिन जिन क्रियाओं और परिणामों के बल पर उनके इन 28 मूलगुण आदि परिणामों में

भी दोष लग जाते हैं, उन परिणामों और क्रियाओं को प्रमाद की श्रेणी में लिया गया है और वह प्रमाद, अशुभ भावस्वरूप होता है, यही कारण है कि उन्हें इन कार्यों का प्रायश्चित्त भी दिया जाता है।

प्रश्न 10 – गृहस्थों को प्रायश्चित्त देने का अधिकार गृहस्थाचार्यों को है अथवा उनको प्रायश्चित्त भी मुनिसंघों के आचार्य ही देते है। फिर यह भी निश्चित करना होगा कि गृहस्थाचार्यों को कौन मनोनीत करेगा अथवा किन गृहस्थों को किस मुनिसंघ के आचार्य प्रायश्चित्त देंगे?

उत्तर – गृहस्थों को प्रायश्चित्त देने का अधिकार गृहस्थाचार्यों को होता है, परन्तु उनका चयन भी मान्य आचार्य के द्वारा ही किया जाता है। आचार्य भी ऐसे व्यक्ति का ही चयन करते हैं, जो सभी को मान्य हो। तथा उत्कृष्ट देशसंयमी को ही यह पद दिया जाता है क्योंकि असंयम के सद्भाव में कषायों का उद्वेग आने में देर नहीं लगती। वहाँ स्थूल दोषों का निराकरण करने का अधिकार तो उन्हें होता है, लेकिन विशेष दोष होने पर उसके निराकरण हेतु योग्य आचार्य परमेष्ठी से मार्गदर्शन लेकर ही निर्णय किया जाता है।

प्रश्न 11 – प्रायश्चित्त-शास्त्र लिपिबद्ध हैं अथवा मौखिक श्रुत-परम्परा से ही आाचार्यों के द्वारा नव आचार्य को दिये जाते हैं ? लेकिन क्या इस दुःखद पंचम काल में इतना याद रखना सम्भव है?

उत्तर – प्रायश्चित्त-शास्त्र, पूर्वाचार्यों के द्वारा लिखे हुए भी हैं, उनका सम्भाल भी गृहस्थ ही करते हैं परन्तु वे उन्हें पढते नहीं हैं। जैसे, धवलादि ग्रन्थों की सम्भाल गृहस्थों द्वारा ही की गई। वास्तव में सामान्यतया गृहस्थों में इन ग्रन्थों को पढ़ने की क्षमता और पात्रता होती ही नहीं है, इस कारण ऐसा कहा जाता है कि गृहस्थों को नहीं पढ़ना चाहिए।

प्रश्न 12 – प्रायश्चित्त-शास्त्र में किस दोष का क्या प्रायश्चित्त होता है – इसका विस्तृत वर्णन है या सामान्य प्रायश्चित्तों का वर्णन है ? जिसके आधार पर आचार्य अपने-अपने स्वविवेक से प्रायश्चित्तों का निर्णय लेते हैं?

उत्तर – विशेष परिस्थिति होने पर स्वविवेक से निर्णय लिया जाता है परन्तु प्रायश्चित्त-ग्रन्थों में दोष एवं प्रायश्चित्त का एक साथ वर्णन किया गया है, तदनुसार ही निर्णय लिया जाता है। प्रायश्चित्त संग्रह नामक ग्रन्थ, सूरत से प्रकाशित है, परन्तु वह वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। सबको उसे पढने का अधिकार भी नहीं है। प्रायश्चित्त ग्रन्थ मात्र आचार्यों को ही उपलब्ध कराये जाते हैं। वर्तमान में अनेक आचार्यों को भी इस शास्त्र का ज्ञान नहीं है।

प्रश्न 13 – भारतीय संविधान में या अन्यत्र व्यवस्था की दृष्टि से दोषों के हिसाब से प्रायश्चित्तों का निरूपण किया गया है। तदनुसार हमारे यहाँ की परम्परा क्या है?

उत्तर – भारतीय संविधान और अन्य संविधानों में भी कुछ उदाहरणों के द्वारा ही प्रायश्चित्तों का वर्णन किया जाता है। उसके बाद न्यायाधीश को ही अधिकृत किया जाता है कि वे परिस्थिति के अनुसार योग्य निर्णय करें। इसी प्रकार जिनागम में भी कुछ उदाहरण देकर प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है, बाद में उनका निर्णय करने का सम्पूर्ण अधिकार आचार्यों को ही दे दिया गया है कि वे अपने स्वविवेक से निर्णय करके प्रायश्चित्त देवें।

प्रश्न 14 – यदि आचार्य सर्वथा स्वविवेक से निर्णय लेते हैं तो इसमें तो अलग-अलग आचार्यों के द्वारा प्रदत्त निर्णय में अन्तर आएगा – क्या यह उचित है?

उत्तर – इसमें कोई दोष नहीं है। अन्तर आने पर भी अभिप्राय तो सभी आचार्य भगवन्तों का, शिष्य का दोष दूर करना ही है। प्रायश्चित्त का यत्किंचित् अन्तर कोई मायने नहीं रखता।

प्रश्न 15 – श्वेताम्बर ग्रन्थों में छेदसूत्र, विपाकसूत्र, निशीथचूर्णि, महानिशीथ, व्यवहारसूत्र आदि ग्रन्थों में प्रायश्चित्तों का वर्णन मिलता है – ऐसा सुना है। क्या आपने उन्हें देखा अथवा सुना है?

उत्तर – नहीं, हमने उन ग्रन्थों को नहीं देखा है। हमें भी इतना ही पता है कि उनके यहाँ भी प्रायश्चित्तों का वर्णन मिलता है, लेकिन कभी देखने में नहीं आया।

प्रश्न 16 – प्रायश्चित्त देने में भावों की प्रधानता होती है या क्रियात्मक अतिचार की प्रधानता होती है एवं तदनुसार प्रायश्चित्त दिये जाते हैं?

उत्तर – जिनागम में सर्वत्र क्रिया की तुलना में भावों और अभिप्राय को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। दोषों में और प्रायश्चित्तों में भी – दोनों जगह अभिप्राय और भावों की ही प्रधानता है।

प्रश्न 17 – 'प्रायश्चित्त' शब्द 'प्रायः और चित्त', दोनों के मेल से बना है। यहाँ प्रायः शब्द के अनेक अर्थ ज्ञात होते हैं – लोक, साधर्मी, साधु आदि। अथवा अपराध को भी प्रायः कहा जाता है। अथवा प्रायः का अर्थ तप भी होता है। इसी प्रकार प्रायश्चित्त को भी तप कहा गया है ? – इन सबकी सन्धि कैसे मिलाई जाए ?

उत्तर – मुनिराज, प्रायश्चित्त के द्वारा विशेष विशुद्धि को प्राप्त होते हैं; इसलिए उसे तप संज्ञा दी गई है। प्रायश्चित्त करने वाला साधु, कषायों को गलाने की रुचि रखता है, उसका चित्त उसमें रमता है, वह प्रायश्चित्त लेने को लालायित रहता है; इस कारण उसे विशुद्धि भी अधिक होती है। इस प्रकार प्रायश्चित्त की तप संज्ञा सार्थक है।

प्रश्न 18 – वर्तमान में प्रायश्चित्त देने-लेने में किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है ? और क्यों ?

उत्तर – पहले ऋजुबुद्धि वाले शिष्य होते थे, अतः वे प्रायश्चित्त-विधि से शुद्ध हो जाते थे परन्तु वर्तम. ान में शिष्य वक्रबुद्धिवाले होते हैं, अतः उनके दोष बताने पर उनके संघ को छोड़ने का खतरा होता है। इस प्रकार आजकल बड़ी विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ता है और संघ का संचालन करना कठिन हो रहा है।

– इसी शोध प्रबन्ध के पृष्ठ 244-248 से साभार

4. बाल ब्र. श्री राकेशजी जैन के साथ हुई चर्चा के आधारभूत बिन्दु

- नये नये अपराधों की नई नई श्रेणियाँ बन जाती हैं जबकि अधिकांश प्रायश्चित्त की श्रेणियाँ सीमित हैं; अतः इस अपराध का यह प्रायश्चित्त है, यह पहले से सर्वथा निश्चित नहीं किया जा सकता।
- अपराध छोटा है बड़ा – इसका निर्णय गुरु करते हैं।
- इस अपराध का यह प्रायश्चित्त होगा – इसका निर्णय गुरु ही कर सकते हैं; अतः अतिचार और प्रायश्चित्त, दोनों का साथ नहीं रखा जा सकता। उदाहरणार्थ – पित्त-प्रकृति वाले रोगी को अधिकांश दवाएँ घी-मिश्रित चाहिए, जबकि कब्ज-प्रकृति वालों के लिए घी निषिद्ध माना जाता है; इसी कारण अतिचार और प्रायश्चित्त के निरूपक अधिकांश ग्रन्थ अलग-अलग हैं।
- अतिचार-निरूपण का अतिचार यह है कि हम अतिचारों को गुरु के सम्मुख निवेदन करते समय ही दोष लगाते हैं। जैसे, सामूहिक पाठ आदि के समय ही शोरगुल में हम अपने दोषों का निवेदन, गुरु से करके अपने को दोषमुक्त कर लेते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि प्रमादयुक्त आचरण भी दूषित ही माना जाएगा।
- प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ने के लिए सामान्य जगत् को इसलिए मना किया जाता है कि कहीं वे प्रायश्चित्त को सरल मान कर, अपराध करने में उद्यत न हो जाएँ क्योंकि प्रायश्चित्त का ज्ञान हो जाने पर दोष करने का खतरा बढ़ जाता है। प्रायश्चित्त का ज्ञान नहीं होने पर मनोवैज्ञानिकरूप से प्रायश्चित्त का भय भी काम करता है और वह व्रती या महाव्रती अतिचार नहीं लगाता है।
- कभी कभी कोई तीव्रकषायी दोष करते हुए यह निर्णय कर लेता है कि कोई बात नहीं, मैं इसका प्रायश्चित्त ले लूँगा।
- वास्तव में अपराधी तो सारा जगत् है, उसे प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ने की जरूरत ही कहाँ है, प्रायश्चित्त या सजा का निर्धारण तो वकीलों की परस्पर चर्चा के आधार पर न्यायाधीश ही करेंगे, अतः उन्हें ही इसका अध्ययन करना चाहिए। यहाँ धर्म के क्षेत्र में वकील तो कोई होता नहीं है, अतः अपराधी साधु की आलो. चना सुन कर आचार्य ही उसके अपराध का योग्य निर्धारण करके प्रायश्चित्त का निश्चय करते हैं।
- यदि व्यक्ति, स्वयं ही प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ ले तो वह अपराध होने पर न्यायाधीश के पास जाएगा ही क्यों ? वह स्वयं ही शास्त्र के आधार पर अपनी सरल-सी अथवा यद्वा-तद्वा सजा निश्चित कर लेगा, परन्तु यह उचित नहीं माना जा सकता, इससे कानून की सारी प्रक्रिया ही समाप्त हो जाएगी, उसके अपराध की गहराई जानने का अवसर ही समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार यहाँ आचार्यदेवरूपी न्यायाधीश की आवश्यक्ता सार्थक है। यही कारण है कि सामान्यजनों और संघस्थ शिष्यों को भी प्रायश्चित्त शास्त्रों को पढ़ने का निषेध किया गया है।
- आचार्य के सम्मुख प्रायश्चित्त लेने से प्रायश्चित्त के अलावा आचार्य का भय भी काम करता है, जिससे वह भविष्य में अतिचार या दोष लगाने के प्रति सचेत रहता है।
- प्रायश्चित्त की विधि का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग आलोचना है, वह आचार्य के सम्मुख ही की जा सकती है, शास्त्र या देव के सम्मुख नहीं।
- आचार्य के पास प्रायश्चित्त देने का अधिकार इसलिए होता है क्योंकि आचार्य उस व्रत में अत्यन्त निपुण होते हैं, सामान्यतया उनसे दोष नहीं होते।
- अपराधों के प्रायश्चित्त को दो प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है – गृहस्थों के प्रायश्चित्त और साधुओं के प्रायश्चित्त। वहाँ गृहस्थों को प्रायश्चित्त देने के लिए गृहस्थाचार्य होते हैं तथा साधुओं को प्रायश्चित्त देने के लिए साधुसंघों में आचार्य होते हैं। उक्त दोनों को प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ने का अधिकार होता है। उसके बिना वे प्रायश्चित्त कैसे देंगे ?
- कभी-कभी संघ के साधुओं की संख्या अधिक होने पर आचार्य, योग्यतानुसार कार्यों का बंटवारा भी कर लेते हैं; उसके लिए अनेक प्रकार से नियुक्तियाँ करते हैं; जैसे, प्रवर्तकाचार्य, संघ के प्रवर्तन की व्यवस्था

देखते हैं। समय समय पर आचार्य भी उनसे विचार-विमर्श करते रहते हैं। इसी प्रकार संघों में शिक्षण कार्य हेतु अनेक उपाध्यायों की नियुक्तियाँ भी की जाती है। आजकल संघों में ऐसी व्यवस्था दिखाई नहीं देती, लेकिन योग्यतानुसार ऐसे कार्य अनेक मुनियों से लिया अवश्य जाता है।

- आगम में सभी बातों का खुलासा नहीं होता है, वहाँ तो आदर्शस्वरूप का वर्णन किया जाता है; लेकिन जीवन के क्षेत्र में अनेक विचित्र परिस्थितियाँ देखी जाती हैं – ऐसे समय योग्य आचार्य ही उसके सम्बन्ध में दिशा-निर्देश कर सकते हैं।
- विषय का चुनाव करते समय सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। लेकिन यदि विषय का चुनाव कर ही लिया है तो उसका निर्वाह बराबर करना चाहिए।
- यद्यपि प्रायश्चित्त शास्त्र को पढ़ने का निषेध तो किया गया है, लेकिन समय पड़ने पर या उस पर कोई शोधकार्य करते समय तो उसे पढ़ना अयोग्य नहीं माना जा सकता। हाँ, उसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। जैसे, बाग-बगीचों में यह भी लिखा जाता है कि 'फूल तोड़ना मना है', लेकिन समय पड़ने पर आवश्यक्तानुसार उन्हें तोड़ा भी जाता है। उसका तात्पर्य यही है कि जनसामान्य फूल नहीं तोड़े। यदि उसे भी आवश्यकता है तो वह सही तरीके से उसकी आज्ञा प्राप्त करे।
- लक्ष्य, यदि अच्छा है तो वह अपराध की श्रेणी में नहीं आता। यदि आप का उद्देश्य अलग-अलग आचार्यों ने जो अलग-अलग अपेक्षाओं से, अलग-अलग द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा कथन किया है; उसे प्रस्तुत करना है तो आपका उद्देश्य सही है, उसे अपराध की श्रेणी में नहीं लिया जा सकता।
- पहले भी आचार्यों के अलावा अन्य लोगों के पास भी प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में जानकारी होती थी। यदि हम परम्परा को देखें तो आचार्यों के अलावा अन्य श्रावक लोग ही इन ग्रन्थों का प्रकाशन करके आचार्यों के पास भेजते हैं। क्या उन्होंने भी इन ग्रन्थों को नहीं देखा ? यदि नहीं देखा तो प्रकाशन कैसे किया ? यद्यपि उन्होंने पढ़ा तो है, परन्तु उनका भी पढ़ने का अभिप्राय नहीं रहा।

– इसी शोध प्रबन्ध के पृष्ठ 248-249 से साभार

5. उक्त मनीषी आचार्यों, विद्वानों एवं अन्य मनीषियों के साथ हुई चर्चा के निष्कर्ष

इस विषय पर शोधकार्य की आवश्यकता फिर भी बनी रहती है कि वे कौनसे कारण हैं? जिन कारणों से प्रायश्चित्त-शास्त्रों को जनसामान्य को तथा संघस्थ अन्य साधुओ को इनका ज्ञान नहीं कराया जाता। यह भी सम्भव है कि कुछ विशेष बिन्दुओं से जनसामान्य को अवगत कराना उचित न हो, परन्तु सर्वथा ही प्रायश्चित्त-शास्त्रों का ज्ञान कराना उचित न हो – ऐसा प्रतीत नहीं होता क्योंकि न सही अधिक वर्णन, परन्तु थोड़ा-बहुत वर्णन तो सर्वत्र ही इनका प्राप्त होता है।

तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओं में विस्तार के साथ नौ प्रकार के प्रायश्चित्त का निरूपण किया ही गया है –

आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः।

अर्थात् प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं – आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, और उपस्थापना।

उक्त सम्पूर्ण चर्चा के आधार पर मुझे भी यह निर्णीत हुआ है कि सामान्य श्रावकों या मुनियों को प्रायश्चित्त शास्त्र नहीं पढ़ने चाहिए, परन्तु चूंकि मैं शोध का विषय स्वीकार कर चुकी थी, अतः उनका अध्ययन किये बिना शोधकार्य करना और भी अधिक गलत होता; अतः मैंने जो भी ग्रन्थ मुझे मिले, उनका स्वाध्याय किया है, इसके लिए मैं सम्पूर्ण श्रुतपरम्परा की अपराधी हूँ – ऐसा मैं स्वीकार करती हूँ और सभी से क्षमा चाहती हूँ।

एक बात यह भी देखने में आई है कि जितने भी प्रायश्चित्त के ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनका सम्पादन आदि कार्य उस समय के गृहस्थ विद्वानों ने ही किया है, अतः गृहस्थ विद्वानों ने भी भले ही सिर्फ पढ़ने कि लिए न सही, लेकिन उन्हें सम्पादनादि की दृष्टि से उन ग्रन्थों को पढ़ना पढ़ा ही है।

एक तर्क यह भी है कि जो गृहस्थाचार्य या गृहस्थ निर्यापकाचार्य, गृहस्थ श्रावकों को प्रायश्चित्त देने में नियुक्त होते हैं, उन्हें भी तत्सम्बन्धी ग्रन्थ पढ़ना अनिवार्य है। यदि वे इन ग्रन्थों को नहीं पढ़ेंगे तो प्रायश्चित्त कैसे देंगे ? अतः यह निर्विवाद प्रतीत होता है कि जिन गृहस्थों या मुनियों को इन ग्रन्थों को पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं है, या जो स्वयं साधना कर रहे हैं; उन्हें स्वयं ही इन्हें नहीं पढ़ना चाहिए क्योंकि उनके पढ़ने से यह तसद्ध नहीं होगा कि आचार्य उन्हें वही प्रायश्चित्त देंगे। यदि आचार्य को यह प्रतीत होगा कि शिष्य के दोष में उतनी तीव्रता नहीं थी तो वे प्रायश्चित्त कम देंगे और यदि उसी अपराध में उन्हें यह प्रतीत होगा कि दोषी का दोष उतना ही नहीं है और भी उसके दोष हैं या शिष्य को कषाय आदि की उद्रेकता अधिक है तो वे प्रायश्चित्त कठोर भी दे सकते हैं।

इस प्रकार यह एकान्तिक नियम प्रतीत नहीं होता है कि जनसामान्य के साथ साथ गृहस्थ मनीषी विद्वानों, या अन्य त्यागी व्रतियों या सामान्य मुनियों आदि को भी इन ग्रन्थों को पढ़ना नहीं चाहिए।

– इसी शोध प्रबन्ध के पृष्ठ 250 से साभार

जैन संस्कारों का प्रभाव

भिण्ड (म.प्र.) के श्री सुरेशजी जैन ने बताया कि सिद्धवरकूट (रेशंदीगिरि, म.प्र.) में मध्यप्रदेश के अल्प. संख्यक आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री इब्राहिम कुरैशी नामक एक सरकारी अधिकारी ने विगत अगस्त 2009 को इन्दौर की एक सभा में लगभग 1000 व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए बताया –

''जैनधर्म से प्रभावित होकर उन्होंने मद्य-माँस-मधु का सेवन करना छोड़ दिया है। स्वाध्याय करना भी उन्होंने शुरु किया है। यद्यपि मुझे शुरु में कुछ भी समझ नहीं आता था, तथापि जब मैंने रात्रिभोजन करना छोड़ा तो मेरी समझ में आना भी शुरु हो गया।

मैं जैन समुदाय के बीच में जाता-आता हूँ तो इसकी आलोचना, हमारे मुस्लिम समाज में यदा-कदा होती रहती है। साथ ही उन्हें मेरे जैन समाज के साथ अधिक उठने-बैठने से भी ऐतराज होता रहता है। एक बार हमारे एक मुस्लिमभाई ने जब मुझसे कहा कि आप उनके यहाँ तो जाते-आते हो, परन्तु आप उन जैनी भाईयों को कभी अपने यहाँ नहीं लाते हो तो इसका कारण बताते हुए मैंने उनसे कहा –

हम हमेशा अपने मुस्लिम भाईयों के बारे में ही सोचते रहते हैं और कहते रहते हैं, इसी प्रकार हिन्दू भाई भी अपने हिन्दु भाईयों के बारे में ही बात करते हैं लेकिन जैनी भाई, कभी अपने जैनी भाईयों के बारे में बात नहीं करते, वे हमेशा प्राणी मात्र के कल्याण की ही बात करते हैं, जीव मात्र के प्रति दया भाव की बात करते हैं। हमारी बातें केवल हमारे हित के लिए ही होती हैं जबकि उनकी बातें सर्वजनोपयोगी और सर्वजन. कल्याणकारी होती हैं; अतः हमारी बात उनके काम की नहीं है, परन्तु उनकी बात हम सब के काम की होती है। यही कारण है कि मुझे उनकी बातें अच्छी लगती हैं और इसीलिए मैं हमेशा उनके पास जाता-आता हूँ, परन्तु उन्हें अपने यहाँ नहीं लाता।''

– इसी शोध प्रबन्ध के पृष्ठ 580-581 से साभार

ख. पुस्तकालयों एवं मन्दिरों में ग्रन्थ–भण्डारों का अवलोकन

- सितम्बर, 2008 में जैन विश्वभारती, लाडनूं के पुस्तकालय में पुस्तकों का अवलोकन एवं दों ग्रन्थों को इश्यू कराया।
- अक्टूबर, 2008 में दीपावली के अवसर पर देवलाली में स्थानकवासी भवन में श्वेताम्बर ग्रन्थों का अवलोकन एवं उनकी फोटोप्रति प्राप्त की।
- नागपुर में अहिंसा भवन, इतवारी में ग्रन्थों का अवलोकन एवं तीन ग्रन्थों को इश्यू कराया।
- दिल्ली स्थित श्री कुन्दकुन्द भारती के समृद्ध पुस्तकालय का जनवरी, 2009 में अवलोकन।
- तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़ स्थित पुस्तकालय
- पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़ का निजी पुस्तकालय

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

क. मूलग्रन्थ

- **अंगपण्णत्ति,** आचार्य शुभचन्द्र, हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन, आर्यिका सुपार्श्वमती, प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् (1991)
- **अनगार धर्मामृत,** पण्डित आशाधर, सम्पादक एवं प्रस्तावना, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1977)
- **अमितगति-श्रावकाचार,** आचार्य अमितगति, श्रावकाचार-संग्रह, भाग 1, सम्पादक-अनुवादक, सिद्धान्ताचार्य पं. हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2001)
- **अमितगति-श्रावकाचार,** आचार्य अमितगति, वचनिकाकार, पण्डित भागचन्द, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, गुज. (1958)
- **अर्थप्रकाशिका** (मोक्षशास्त्र की भाषावचनिका), पण्डित सदासुखदास कासलीवाल, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, गुज. (1940)
- **अष्टपाहुड**, आचार्य कुन्दकुन्द, भाषा वचनिका, पण्डित जयचन्द छाबड़ा, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) (1995)
- **आचार दिनकर,** वर्धमान सूरि, निर्णयसागर मुद्रणालय, बॉम्बे, प्रथम संस्करण, (1922)
- **आचारसार,** आचार्य वीरनन्दि, प्रकाशक, दिगम्बर जैन समाज, अजमेर (वी.नि.सं.2506)
- **आचारांगचूर्णि**, जिनदासगणि, ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रत्नपुर, मालवा (वि.सं.1998)
- **आचारांगसूत्र**, प्रस्तावना, देवेन्द्र मुनि शास्त्री, प्रकाशक, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज. (1980)
- **आत्मानुशासन,** आचार्य गुणभद्र, संस्कृत टीकाकार, आचार्य प्रभाचन्द्र, सम्पादक, डॉ. आ. ने. उपाध्ये, डॉ. हीरालाल जैन, पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्
- **आत्मानुशासन,** आचार्य गुणभद्र, भाषा टीकाकार, आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल, अनुवाद, पण्डित अभयकुमार जैन शास्त्री, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (1999)
- **आदिपुराण**, अनुवाद एवं सम्पादन, डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2004)
- **आवश्यक सूत्र**, सम्पादक, नेमीचन्द बांठिया, पारसमल चण्डालिया, प्रकाशक, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, शाखा, नेहरु गेट बाहर, व्यावर, 305901 (राज.)
- **उत्तराध्ययन सूत्र,** प्रधान सम्पादक, युवाचार्य मधुकर मुनि, प्रकाशक, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज. (1984)
- **उत्तराध्ययन सूत्र,** सम्पादक, साध्वी चन्दना, प्रकाशक, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, उ.प्र.
- **उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला,** श्री नेमिचन्द भण्डारी, भाषावचनिकाकार, कविवर पण्डित भागचन्द छाजेड़, सम्पादक, मन्नूलाल जैन, प्रकाशक, श्री मध्यक्षेत्रीय दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल संघ, सागर (1984)
- **उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला,** श्री नेमिचन्द भण्डारी, भाषावचनिका, पण्डित भागचन्दजी छाजेड़, सम्पादिकाद्वय, बाल ब्र. कुन्दलता एवं आभा जैन, प्रकाशिका, स्वाध्याय प्रेमी सभा, दरियागंज, दिल्ली, (2010)
- **उपासकाध्ययन एवं टीका,** आचार्य सोमदेवसूरि, सम्पादन-अनुवाद, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली (1964)
- **उपासकदशांग सूत्र,** सम्पादक, नेमीचन्द बांठिया, पारसमल चण्डालिया, प्रकाशक, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति संरक्षक संघ, जोधपुर, शाखा, नेहरु गेट बाहर, व्यावर (राज.)
- **कषायपाहुड़** (जयधवला) (भाग 1–16), आचार्य गुणधर, चूर्णिसूत्र, आचार्य यतिवृषभ, जयधवला, आचार्य वीरसेन, सम्पादकगण, पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा, उ.प्र. (1944)

- **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, स्वामी कार्तिकेय, भाषाटीकाकार, पण्डित जयचन्द छाबड़ा, हिन्दी रूपान्तरकार – पण्डित महेन्द्रकुमार पाटनी, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (वीर नि. 2505)
- **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**, स्वामी कार्तिकेय, संस्कृत टीका – आचार्य शुभचन्द्र, अनुवाद – पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, सम्पादक – ए. एन. उपाध्याय, प्रकाशक – श्री परमश्रुत प्रभावक ट्रस्ट, अगास (1980)
- **कुरलकाव्य** (थिरुक्कुरल), एलाचार्य, पद्यानुवाद एवं टीकाकार, पण्डित गोविन्दराय जैन शास्त्री महरौनी, प्राक्कथन, प्रतिष्ठाचार्य विमलकुमार जैन सौंरया, प्रकाशक, वीतराग वाणी ट्रस्ट, टीकमगढ़, उ.प्र. (2001)
- **क्रियाकलापः** (संग्रहीत ग्रन्थ), सम्पादक एवं प्रकाशक, पण्डित पन्नालाल सोनी शास्त्री, झालरापाटन सिटी (वि. सं. 1992)
- **क्रियाकोष,** कवि किशनसिंह, गद्यानुवादक, पण्डित पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रकाशक, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (1985)
- **क्रियाकोष, श्रावकाचार-संग्रह, भाग 5,** पण्डित दौलतराम, सम्पादक-अनुवादक, सिद्धान्ताचार्य पं. हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (1998)
- **गच्छाचार प्रकीर्णक,** प्रकाशक, आगम संस्थान ग्रन्थमाला, आगम-अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
- **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका, केशव वर्णी, सम्पादक, आ. ने उपाध्ये एवं सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2000)
- **गोम्मटसार जीवकाण्ड,** आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, बालबोधिनी टीका, पण्डित खूबचन्द जैन, प्रकाशक, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (1985)
- **चर्चासंग्रह,** चुने हुए प्रश्नोत्तर, ब्र. रायमल्ल, संकलन, वैद्य गम्भीरचन्द्र जैन, सम्पादक, डॉ. योगेशचन्द्र जैन, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, उदयपुर एवं श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मण्डल, कानपुर (1990)
- **चारित्रसार,** आचार्य चामुण्डराय, पृष्ठ 194, सम्पादक, पण्डित सतीशचन्द्र पाटनी, शास्त्री एवं डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन समाज, सीकर, राजस्थान, वीर नि. 2501
- **चारित्रसार**, मुनि चामुण्डराय, प्रकाशक, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई (वि.सं.1974)
- **छहढाला,** कविवर दौलतराम, टीकाकार, पण्डित रामजीभाई दोशी, सम्पादन, पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशक, तीर्थधाम मंगलायतन, श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (2006)
- **छेद शास्त्र** (गुजराती), अनुवादिका, साध्वी डोलरबाई, सम्पादन का अनुभव, डॉ. साध्वी आरती एवं साध्वी सुबोधिका, प्रस्तावना, श्री जयन्त मुनि छेद सूत्र की चिन्तनपूर्ण पृष्ठभूमि, श्री जनक मुनि, छेद सूत्र की विशेषता और उनके रहस्यमय भाव, इत्यादि, प्रकाशक, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, शाखा, नेहरु गेट बाहर, व्यावर, 305901 (राज.)
- **छेद सूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, वृहत्कल्प सूत्र एवं व्यवहार सूत्र)** गोंडल गच्छ, सम्पादिका, भावयोगिनी बा. ब्र. लीलमबाई, प्रकाशक, श्रीगुरु प्राण फाउन्डेशन, राजकोट (2005)
- **जिनेन्द्र अर्चना,** सम्पादक, अखिल बंसल, प्रकाशक, विमल जैन ग्रन्थमाला, प्रकाशन, दिल्ली एवं पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए–4, बापूनगर, जयपुर (2008)
- **जैन शतक,** भूधरदास, अनुवादक, प्रो. वीरसागर जैन, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, राज.
- **जैन सिद्धान्त प्रवेशिका,** गुरुवर्य पण्डित गोपालदास वरैया, सम्पादक, राकेश जैन शास्त्री, अलीगढ़, प्रकाशक, तीर्थधाम मंग. लायतन, अलीगढ़ (2004)
- **ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र**, सम्पादक, नेमीचन्द बांठिया एवं पारसमल चण्डालिया, अनुवादक, प्रो. डॉ. छगनलाल शास्त्री एवं महेन्द्रकुमार रांकावत, प्रकाशक, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, शाखा, नेहरु गेट बाहर, व्यावर, 305901 (राज.)
- **ज्ञानानन्द श्रावकाचार**, ब्र. पण्डित राजमल, जयपुर, सम्पादक, डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, भाषारूपान्तरण, पण्डित कस्तूरचन्द जैन, विदिशा, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, जैन मन्दिर, चौक बाजार, भोपाल, (2005)
- **ज्ञानार्णव,** आचार्य शुभचन्द्र, अनुवादक, पं. बालचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (1997),
- **तत्त्वार्थसूत्र**, आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी, प्रकाशक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत

- **तत्त्वार्थसूत्र,** वाचक उमास्वाति, विवेचनसहित, विवेचक, पण्डित सुखलाल संघवी, प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी – 5, (1976)
- **तत्त्वार्थवार्तिक** (भाग 1-2), आचार्य अकलंकदेव, सम्पादक, डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1990)
- **तत्त्वार्थवार्तिक** (भाग 1-2), आचार्य अकलंकदेव, हिन्दी अनुवादिका, आर्यिका सुपार्श्वमती, प्रकाशक, दुलीचन्द बाकलीवाल, यूनिवर्सल एजेन्सीज़, देरगांव, आसाम
- **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार** (भाग 1–7), भाषा-टीकाकार, न्यायाचार्य माणिकचन्द्र कौन्देय, प्रकाशक, आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थ. ामाला, सोलापुर, प्रथम संस्करण (1949–56)
- **तत्त्वार्थवृत्ति,** आचार्य श्रुतसागर, अनुवादक, आर्यिका सुपार्श्वमती, सम्पादक, जैन, महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, प्रकाशक, गुलाबचन्द पाटनी, 15 बी, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता–70, (वि.सं.2049)
- **तत्त्वार्थसार**, आचार्य अमृतचन्द्र, अमृतचन्द्राचार्य ग्रन्थमाला, वाराणसी (1970)
- **तिलोयपण्णत्ति,** जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर, प्रथम संस्करण (वि.सं.1999)
- **त्रिलोकसार,** आचार्य नेमिचन्द्र, व्याख्याकार, माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव, हिन्दी टीकाकर्त्री, आर्यिका विशुद्धमति, सम्पादक, पण्डित रतनचन्द्र मुख्तार, प्रकाशक, श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, श्री महावीरजी (1975)
- **दर्शनपाहुड-अष्टपाहुड़**, आचार्य कुन्दकुन्द, भाषा वचनिका, पण्डित जयचन्द छाबड़ा, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) (1995)
- **दशवैकालिक सूत्र,** स्थविर शय्यंभव, सम्पादक, युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, अनुवादक, महासती पुष्पवती, प्रकाशक, श्री आगमप्रकाशन समिति, व्यावर, राज. (1985)
- **दशवैकालिक सूत्र,** सम्पादक, नेमीचन्द बांठिया एवं पारसमल चण्डालिया, प्रकाशक, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, शाखा, नेहरु गेट बाहर, व्यावर, 305901 (राज.)
- **दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र,** सम्पादक, नेमीचन्द बांठिया एवं पारसमल चण्डालिया, प्रकाशक, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, शाखा, नेहरु गेट बाहर, व्यावर, 305901 (राज.)
- **दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र,** प्रकाशक, अखिल भारतीय स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सौराष्ट्र (ई. संवत् 1960)
- **द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र,** 336, माइल्ल धवल, सम्पादक, पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली 1998
- **धवला (पुस्तक 6 व 13),** आचार्य वीरसेन, मूलग्रन्थ षट्खण्डागम, आचार्य भूतबलि–पुष्पदन्त, सम्पादक, हीरालाल जैन, सहसम्पादकद्वय, पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री एवं पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र, अमरावती एवं श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
- **नाटक समयसार,** पण्डित बनारसीदास, प्रकाशक, श्री वीतराग सत्साहित्य प्रकाशक ट्रस्ट, भावनगर (1980)
- **नियमसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, टीकाकार, मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़
- **निशीथसूत्र,** सम्पादिका, साध्वी आरती एवं साध्वी सुबोधिका, प्रकाशक, श्रीगुरु प्राण फाउन्डेशन, राजकोट (2006)
- **निशीथसूत्र,** सम्पादक, नेमीचन्द बांठिया एवं पारसमल चण्डालिया, प्रकाशक, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर, शाखा, नेहरु गेट बाहर, व्यावर, 305901 (राज.)
- **निशीथसूत्र,** प्रधान सम्पादक – श्री मधुकर मुनि, अनुवादक-विवेचक-सम्पादक – मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल', एवं गीतार्थ श्री त्रिलाक मुनि, प्रकाशक – श्री आगमप्रकाशन समिति, व्यावर, राज. (1991)
- **निशीथसूत्र,** सम्पादक, युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, प्रकाशक, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज. 1991
- **नीतिवाक्यामृत,** आचार्य सोमदेवसूरि, अनुवादक, पण्डित सुन्दरलाल शास्त्री, प्रकाशक, आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (1996)
- **पद्मनन्दि पंचविंशतिका**, आचार्य पद्मनन्दि, हिन्दी टीकाकार, पण्डित गजाधरलाल न्यायतीर्थ, प्रकाशक, श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मण्डल ट्रस्ट, नागपुर (1996)

- **पद्मनन्दि पंचविंशतिः** (अज्ञातकर्तृक संस्कृत टीका सहित), आचार्य पद्मनन्दि, हिन्दी अनुवादक – पण्डित बालचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (1962)
- **परमात्मप्रकाश,** मुनिराज योगीन्द्रदेव, प्रकाशक, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास (2000)
- **पाक्षिक श्रावक प्रतिक्रमण पाठ,** संकलन एवं सम्पादन, ब्र. विनोद शास्त्री, पृष्ठ 2-3, प्रकाशक, ज्ञानकुटी, सिद्धनगर, नागपुर रोड, जबलपुर
- **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,** आचार्य अमृतचन्द्र, टीकाकार, पण्डित मुन्नालाल रांधेलीय (वर्णी), प्रकाशक, स्वाधीन ग्रन्थमाला, सन्तोष भवन, कटरा बाजार, सागर, म.प्र. (1969)
- **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय टीका,** पण्डित मक्खनलाल शास्त्री 'तिलक', प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्
- **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषा टीका,** पण्डित टोडरमल, अनुवादक, वैद्य गम्भीरचन्द्र जैन, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, (वी.नि.2499)
- **प्रवचनसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, तत्त्वप्रदीपिका टीका, आचार्य अमृतचन्द्र, तात्पर्यवृत्ति टीका, आचार्य जयसेन, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़ (2008)
- **प्रवचनसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसरोजभास्कर टीका, आचार्य प्रभाचन्द्र, हिन्दी अनुवाद, मुनि प्रणम्यसागर, प्रकाशक, धर्मोदय साहित्य प्रकाशन, सागर (2008)
- **प्रवचनसार–सप्तदंशांगी टीका,** क्षुल्लक मनोहर वर्णी, सहजानन्द महाराज, प्रकाशक, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला, रणजीतपुरी, सदर, मेरठ, (1979)
- **प्रवचनसार–ज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी हिन्दी टीका,** डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट, ए–4, बापूनगर, जयपुर–15 (2008)
- **प्रश्नोत्तरोपासकाचार (प्रश्नोत्तर-श्रावकाचार),** आचार्य श्री सकलकीर्ति, **श्रावकाचार-संग्रह, भाग 1,** सम्पादक-अनुवादक, सिद्धान्ताचार्य पं. हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2001)
- **प्रायश्चित्त विधान,** आचार्य आदिसागर अंकलीकर, संस्कृतानुवाद, आचार्य महावीरकीर्ति, हिन्दी टीकाकर्ती, आर्यिका विजयमती, सम्पादक, विष्णुकुमार चौधरी, टिप्पणी, आचार्य सन्मतिसागर, प्रकाशक, आचार्य आदिसागर अंकलीकर विद्यालय, इटावा, उ.प्र.
- **प्रायश्चित्त समुच्चय** चूलिका सहित, गुरुदास, अनुवादक, पण्डित पन्नालाल सोनी, प्रकाशक, श्री भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता (वीर नि. 2453)
- **प्रायश्चित्त चूलिका**, गुरुदास, अनुवादक, पण्डित पन्नालाल सोनी, प्रकाशक, श्री भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता (वीर नि. 2453)
- **बारसाणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा),** आचार्य कुन्दकुन्द, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली
- **बोधपाहुड-अष्टपाहुड़**, आचार्य कुन्दकुन्द, भाषा वचनिका, पण्डित जयचन्द छाबड़ा, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़, सौराष्ट्र (1995)
- **भगवती आराधना**, भाग 1-2, आचार्य शिवार्य, टीका, विजयोदया, टीकाकार, अपराजित सूरि, सम्पादक एवं अनुवादक, पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (1978)
- **भगवती आराधना** (अपरनाम **मूलाराधना**), आचार्य शिवार्य, टीका, विजयोदया, टीकाकार, अपराजित सूरि, सम्पादक एवं अन. ुवादक, पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2004)
- **भगवती आराधना** (अपरनाम **मूलाराधना**), आचार्य शिवकोटि, भाषाटीकाकार, पण्डित सदासुखदास कासलीवाल, प्रकाशक, प्रकाशचन्द शीलचन्द जैन, 1266, चाँदनी चौक, देहली (1992)
- **भावदीपिका,** पण्डित दीपचन्द शाह कासलीवाल, प्रकाशक, अश्विन शाह, दर्शन प्रकाशन, मलाड, मुम्बई (2004)
- **भावना द्वात्रिंशतिका** (अपरनाम **सामायिक पाठ**), आचार्य अमितगति, वृहद् जिनवाणी संग्रह, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (1982)
- **भावसंग्रह,** आचार्य देवसेन, हिन्दी टीकाकार, पण्डित लालाराम शास्त्री, प्रकाशक, आर्यिका सुमतिमती दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, अकलूज, सोलापुर (1987)

- **मनुस्मृति शुद्ध,** ऋषि दयानन्द भाष्ययुक्त, प्रकाशक, सत्य प्रकाशन, मथुरा (सं, 2037)
- **महापुराण**, आचार्य जिनसेन, प्रकाशक, श्री शान्तिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था, फलटण (1982)
- **महापुराण** (भाग 1-5)**,** महाकवि पुष्पदन्त, अनुवादक, डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2001)
- **मुनिधर्मप्रदीप,** आचार्य कुन्थुसागर, टीकाकार, पण्डित लालाराम शास्त्री, आद्य वक्तव्य, वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, प्रकाशक, आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर महा. (1941)
- **मूलाचार**, श्री वट्टकेराचार्य, आचारवृत्ति, भाग 1–2, आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती, टीकानुवाद, आर्यिका ज्ञानमती, सम्पादक, सिद्धान्ताचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1992)
- **मूलाचार,** आचार्य कुन्दकुन्द, (मान्य), अनुवादक, पण्डित जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले, आचार्य शान्तिसागर जैन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण, 2484
- **मूलाचार प्रदीप,** भट्टारक सकलकीर्ति, इन्टरनेट कनेक्शन, JAINA E-Library Project.
- **मूलाराधना (**अपरनाम **भगवती आराधना),** आचार्य शिवकोटि, **प्रकाशक,** स्वामी देवेन्द्रकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बलात्कारगण ग्रन्थ प्रकाशन मण्डल, कारंजा (1935), JAINA E-Library Project.
- **मोक्षमार्गप्रकाशक,** पण्डित टोडरमल, सम्पादक, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (2002)
- **मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र टीका),** आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी, टीकाकार, रामजी माणेकचन्द दोशी, प्रकाशक, सी. वी. भण्डारी चैरिटेबल ट्रस्ट, बैंगलोर (1998)
- **यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य,** आचार्य सोमदेव, प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, (1971) JAINA E-Library Project - Pravin K. Shah
- **योगसार प्राभृत**, आचार्य अमितगति, सम्पादक, जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2003)
- **योगसार प्राभृत**, आचार्य अमितगति, सम्पादक, ब्र. यशपाल जैन, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (2003)
- **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**, आचार्य समन्तभद्र, भाषाटीका, पण्डित सदासुखदास, प्रकाशक, श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, अजमेर (2003)
- **रत्नकरण्ड श्रावकाचार,** आचार्य समन्तभद्र, (प्रश्नोत्तरी टीका), सम्पादक, आचार्य भरतसागर, अनुवादिका, आर्यिका स्याद्वादमती, प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, (2003)
- **रयणसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1976)
- **रयणसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, सम्पादक – पण्डित बलभद्र जैन, प्रकाशक – दिगम्बर जैन सभा, ग्रीनपार्क, नई दिल्ली (1999)
- **लाटी संहिता** (श्रावकाचार)**,** पण्डित राजमल, हिन्दी टीकाकार, पण्डित लालाराम शास्त्री, प्रस्तावना, ब्र. हेमचन्द जैन, प्रकाशक, विनयदक्ष प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई (2002)
- **वरांगचरित्र,** आचार्य जटासिंहनन्दि, सम्पादक, डॉ. आ. ने. उपाध्ये, अनुवादक, प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला, प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् (1996)
- **वसुनन्दि-श्रावकाचार, श्रावकाचार-संग्रह, भाग 1,** सम्पादक-अनुवादक, सिद्धान्ताचार्य पं. हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (2001)
- **विशेषावश्यक भाष्य,** भाग 1-2 (गुजराती प्रकाशन)**,** आचार्य श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, **वृत्तिकार**, आचार्य हेमचन्द्र, **भाषान्तर,** चुनीलाल शाह, **सम्पादक**, श्री वज्रसेनविजय गणी, **प्रकाशक**, भद्रंकर प्रकाशन, महालक्ष्मी सोसायटी, शाहीबाग, अहमदाबाद–4.
- **वृहद्द्रव्यसंग्रह,** आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, टीकाकार, ब्रह्मदेव सूरि, श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर
- **वृहज्जिनवाणी संग्रह,** संकलन, पण्डित अभिनन्दनकुमार शास्त्री एवं पण्डित राकेशकुमार जैन शास्त्री, सम्पादक, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक, अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, बापूनगर, जयपुर (1987)
- **व्यवहारसूत्र एवं वृहत्कल्पसूत्र,** भाष्य, घासीलाल व्रती, नियोजक, पं. मुनि कन्हैयालाल, प्रकाशक, अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, (1969) द्वारा, सरस्वतीबहन मणीलाल शाह, नवरंगपुरा, अहमदाबाद
- **शास्त्रसारसमुच्चय,** आचार्य माघनन्दि, कानड़ी टीका के हिन्दी अनुवादक – आचार्य देशभूषण, प्रकाशक – सौ. श्रीमती जैन, धर्मपत्नि श्री राजेन्द्रकुमार जैन, 11. कीलिंग रोड, नई दिल्ली (1957)

- **श्रावकधर्मप्रदीप,** आचार्य कुन्थुसागर, टीकाकार, पण्डित जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री, कटनी, प्रास्ताविक, सिद्धान्ताचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी, (1980)
- **श्रावकधर्मसंग्रह,** दरयावसिंह सोधिया, सम्पादक, परमानन्द जैन शास्त्री, प्रकाशक, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर (वि. 2006, वीर निर्वाण 2476)
- **श्रावक-धर्म-संहिता,** दरयावसिंह सोधिया, पृष्ठ 115-123, प्रकाशक, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली (1975)
- **श्रावक प्रज्ञप्ति,** हरिभद्र सूरि/वाचक उमास्वाति, सम्पादन–अनुवाद – पण्डित बालचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1981)
- **श्रावकप्रतिक्रमणसार,** आचार्य कुन्थुसागर, शिष्य, आचार्य शान्तिसागर, भाषाटीका, पण्डित लालाराम शास्त्री, प्रकाशिका, श्रीमती फूलवतीदेवी, धर्मपत्नि, साहू मेहरचन्द जैन रईस, किरतपुर, बिजनौर, द्वितीय संस्करण (1950)
- **श्रावकाचार संग्रह**, तृतीय भाग, लाटीसंहिता आदि 19 श्रावकाचारों का संग्रह, सम्पादक – सिद्धान्ताचार्य पण्डित हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ (जीवराज जैन ग्रन्थमाला) सोलापुर (1978)
- **श्रावकाचार संग्रह**, चतुर्थ भाग, सम्पादक – सिद्धान्ताचार्य पण्डित हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ (जीवराज जैन ग्रन्थमाला) सोलापुर (1998)
- **श्रावकाचार संग्रह**, पंचम भाग, दो हिन्दी श्रावकाचार एवं दो क्रियाकोशों का संग्रह, सम्पादक – सिद्धान्ताचार्य पण्डित हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ (जीवराज जैन ग्रन्थमाला) सोलापुर (1978)
- **षट्खण्डागम,** आचार्य भूतबलि–पुष्पदन्त, **धवला टीका**, आचार्य वीरसेन, सम्पादक, हीरालाल जैन, सहसम्पादकद्वय, पं. फूल. चन्द्र सिद्धान्तशास्त्री एवं पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र, अमरावती एवं श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
- **सज्जन-चित्त-वल्लभ,** महाकवि मल्लिषेण, प्रकाशक, अनेकान्त श्रुत प्रकाशिनी संस्था, प्राप्तिस्थान, भरतकुमार इन्दरचन्द पापड़ीवाल, शिवनेरी कॉलोनी, औरंगाबाद
- **सज्जन-चित्त-वल्लभ,** महाकवि मल्लिषेण, टीका एवं सम्पादन, डॉ. योगेशचन्द्र जैन, प्रकाशक, श्री जैन स्वाध्याय समिति, मुरार, ग्वालियर, (1986)
- **समयसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, **आत्मख्याति टीका**, आचार्य अमृतचन्द्र, गुजराती अनुवादक, पं. हिम्मतलाल जेठालाल शाह, हिन्दी अनुवादक, पं. परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (2005)
- **समयसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, **ज्ञायकभावप्रबोधिनी हिन्दी टीका**, डा. हुकमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (2007)
- **समयसार,** आचार्य कुन्दकुन्द, टीकाद्वय एवं भाषाटीका सहित, प्रकाशक, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली (1997)
- **समयसार वचनिका,** पण्डित जयचन्द छाबड़ा, अनुवादक, जैन, धनकुमार, सम्पादक, जैन, राकेश शास्त्री, एवं जैन संजय श प्रकाशक, तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ़ (उ.प्र.) (2008)
- **सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका,** पण्डित टोडरमल, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 1990
- **सर्वार्थसिद्धि**, आचार्य पूज्यपाद, सम्पादक, सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली (1991)
- **सागार धर्मामृत**, पण्डित आशाधर, 'ज्ञानदीपिका' संस्कृत पंजिका टीका, सम्पादक, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, (1978)
- **सिद्धान्तसारसंग्रह**, आचार्य नरेन्द्रसेन, सम्पादक, जिनदास शास्त्री, प्रकाशक, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर (2003)
- **सूत्रपाहुड-अष्टपाहुड़**, आचार्य कुन्दकुन्द, भाषा वचनिका, पण्डित जयचन्द छाबड़ा, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर टस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) (1995)
- **हरिवंशपुराण,** आचार्य जिनसेन, सम्पादन-अनुवाद, डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2003)

ख. आधुनिक समालोचनात्मक ग्रन्थ सूची

- आचार्य धर्मभूषण, **जैनदर्शन गणित**, प्रकाशक, अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, मेरठ (2003)
- आचार्य विद्यानन्द मुनि, **जैन शासन ध्वज,** प्रकाशक, श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली (2007)
- आचार्य विद्यानन्द मुनि, **जैनधर्म, अहिंसा एवं महात्मा गांधी,** प्रकाशक, श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली (2007)
- आचार्य सूर्यसागर, **संयमप्रकाश** (पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध), प्राप्ति स्थान, श्री दिगम्बर जैन पंचायत, त्रीनगर, दिल्ली (1995)
- आर्यिका ज्ञानमति, **दिगम्बर मुनि,** दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर (वी.नि.सं.2507)
- आर्यिका विज्ञानमती, **तत्त्वार्थमंजूषा (भाग 1–2),** प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन समाज, पाण्डिचेरी (2008)
- आर्यिका विज्ञानमती, **संस्कार मंजूषा (भाग 1–4),** सम्पादक, डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, प्रकाशक, धर्मोदय साहिन्य प्रकाशन, सागर (2007)
- आर्यिका विशालमती एवं विज्ञानमती, **शील मंजूषा,** सम्पादक, ब्र. प्रदीप शास्त्री, प्रकाशक, श्री दिगम्बर साहित्या प्रकाशन समिति, बरेला, जबलपुर, (1996)
- क्षुल्लक मनोहर वर्णी, सहजानन्द, **समस्थानसूत्र सप्तम स्कन्ध,** सम्पादक, महावीरप्रसाद जैन, सदर मेरठ, प्रकाशक, श्री सहजानन्द ग्रन्थमाला, 201, पुलिस स्ट्रीट, सदर, मेरठ (1958)
- गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, **प्रवचन रत्नाकर,** भाग 8, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (2002)
- गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, **श्रावक धर्म प्रकाश,** संकलन, ब्र. हरिभाई, अनुवाद, सोनचरण जैन एवं प्रेमचन्द जैन, प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (1999)
- जैन, अजितकुमार, **दैनिक जैनधर्म चर्या**, दो शब्द, हीरालाल जैन, कौशल, व्यवस्थापक, स्वाध्याय शाला, श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, सब्जीमण्डी, देहली, (1960)
- जैन, अनेकान्त, **अहिंसादर्शन**, अप्रकाशित पुस्तक, व्याख्याता, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
- जैन, अरविन्दकुमार 'ज्ञायक', **सदाचरण नियमावली,** प्रकाशक, ब्र. श्री आत्मानन्द ग्रन्थमाला, बानपुर, ललितपुर (2011)
- जैन, कपूरचन्द, **भारत संविधान विषयक जैन अवधारणाएँ,** प्रेरणा, उपाध्याय मुनि, ज्ञानसागर प्रकाशक, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफफरनगर, (2003)
- जैन, कपूरचन्द एवं जैन, डॉ. ज्योति जैन, **जैन विरासत/जैन हैरीटेज़,** प्रकाशक भारतीय जैन मिलन, क्षेत्र संख्या 07, द्वारा, वीर अजितप्रसाद जैन, छोटेलाल मेहरचन्द जैन, गुड़ बाजार, रेवाड़ी, हरियाणा (2010)
- जैन, कमलकुमार शास्त्री 'कुमुद', **अपनी आलोचना**, प्रकाशक, प्रिन्टिंग हाउस, इतवारी, नागपुर
- जैन, चम्पतराय, **'जैन लॉ' या 'जैन कानून',** प्रकाशक, श्री राजकुमार सेठी, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, डीमापुर, नाग. ालैण्ड (1984)
- जैन, जगदीशचन्द्र, **जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज**, प्रकाशक, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1 (1965)
- जैन, देवेन्द्रकुमार, **वीतरागता : एक समीचीन दृष्टि,** भूमिका, सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, आमुख, पण्डित नाथूलाल शास्त्री, प्राक्कथन, पण्डित जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, ज्ञानोदय ग्रन्थ प्रकाशन, नीमच. म.प्र. (1979)
- जैन, नरेन्द्रकुमार, **श्रावकाचार संहिता,** प्रकाशक, श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्, बुरहानपुर, म.प्र. (2008)
- जैन, नाथूलाल, **प्रतिष्ठा प्रदीप** (भक्तिपाठ आदि प्रतिष्ठा सम्बन्धी विधि–विधान), आशीर्वाद, आचार्य विद्यानन्द, प्रकाशक, वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, गोम्मटगिरि, इन्दौर एवं श्रमण संस्कृति विद्यावर्द्धन ट्रस्ट, इन्दौर (1990)
- जैन नेमिचन्द्र, **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 1–4),** प्रकाशक, आचार्य शान्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) (1992)
- जैन, फूलचन्द, **ज्ञानपीठ पूजांजलि,** प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1980)
- जैन, फूलचन्द, **तत्त्वार्थसूत्र,** प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी,
- जैन, फूलचन्द, **वर्ण, जाति, और धर्म,** प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1980)
- जैन फूलचन्द 'प्रेमी', **मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन,** प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, (1987)

- जैन बलभद्र एवं डॉ. जयकुमार उपाध्ये, **विवाह,** प्राक्कथन, डॉ. प्रेमसुमन जैन, प्रकाशक, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली 1995
- जैन, मुन्नी, **हिन्दी गद्य के विकास में जैन मनीषी पण्डित सदासुखदास का योगदान,** प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी एवं श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र चैत्यालय टेम्पल ट्रस्ट, अजमेर, (2002)
- जैन, मोहनलाल शास्त्री, **सरल जैन विवाह विधि,** मुद्रक, शुभचिन्तक प्रेस, जबलपुर (1952)
- जैन, योगेशचन्द्र, **जैन श्रमण : स्वरूप और समीक्षा,** भूमिका, पण्डित फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, मुक्ति प्रकाशन, अलीगंज, एटा, (1990)
- जैन, राजाराम, **अहिंसा एवं पर्यावरण संरक्षण सिद्धान्तों का अक्षय स्रोत : जैनधर्म तथा लोकनायक वर्धमान महावीर,** प्रकाशक, श्री मोहनलाल चन्द्रवती जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, नई दिल्ली 110062 (2007)
- जैन, रेखा, **मूलाचार में प्रतिपादित दिगम्बर जैन साध्वाचार,** निर्देशक, जैन, भागचन्द 'भागेन्दु', स्याद्वाद ज्ञानपीठ, अन्तर्राष्ट्रीय स्याद्वाद जैन क्लब, श्री नेमिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, मास्टर ब्लॉक, शकरपुर, दिल्ली–92 (शोधकार्य, 1994)
- जैन, संजय, **जैनधर्म की प्राचीनता,** आशीर्वचन, उपाध्याय ज्ञानसागर, प्रकाशक, श्रुत संवर्द्धन संस्थान, मेरठ, उ.प्र. (2008)
- जैन, सनतकुमार विनोदकुमार, **जैन विवाह विधि,** प्रकाशक, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद्, सागर, म.प्र.
- जैन, हीरालाल, **भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान,** प्रकाशक, अनन्त मराल शास्त्री, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल (1962)
- दिनकर, रामधारीसिंह, **संस्कृति के चार अध्याय,** प्रस्तावना, जवाहरलाल नेहरू, प्रकाशक, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद (2010)
- दिवाकर, सुमेरचन्द, **जैन शासन** (संशोधित परिवर्द्धित संस्करण), प्रकाशक, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, उ.प्र. (2007)
- पण्डित चम्पालाल, **चर्चासागर,** प्रकाशक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् JAINA E-Library Project - Pravin K. Shah
- पाण्डे, बिशम्भरनाथ, **भारत और मानव संस्कृति (खण्ड 1–2)** प्रकाशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली (1996)
- पाण्डे राजमल, **ज्ञानानन्द श्रावकाचार,** सम्पादक, डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन शास्त्री, भाषारूपान्तरण, पण्डित कपूरचन्द जैन, प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, भोपाल (2005)
- पापड़ीवाल, लाडलीप्रसाद, **श्रमणाचार,** प्रकाशक, ताराचन्द जैन अजमेरा, दिल्ली (1989)
- प्रेमी, विशम्भर सहाय, **हिमालय में भारतीय संस्कृति**
- ब्र. श्री बालचन्दजी, **लघु प्रतिक्रमण पाठ**, खुरई
- ब्र. सुरेन्द्र शास्त्री एवं ब्र. प्रदीप शास्त्री, **श्रावक प्रतिक्रमण,** प्रकाशक, श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल, पिसनहारी, मढ़िया, जबलपुर (2000)
- ब्र. विनोदसागर शास्त्री, **पाक्षिक श्रावक प्रतिक्रमण पाठ,** प्रकाशक, ज्ञानकुटी, सिद्धनगर, नागपुर रोड, जबलपुर
- ब्र. सीतलप्रसाद, **गृहस्थधर्म : गर्भ से मरण पर्यन्त की कियाएँ** (जिनेन्द्र मत दर्पण, भाग 3) प्रकाशक, अज्ञात, द्वितीय आवृत्ति (1922)
- ब्र. सुमतप्रकाशजी; **आचार निर्देशिका संग्रह**; मूल प्रेरक, बाल ब्र. रवीन्द्रकुमारजी; प्रकाशक, श्री मुलतान दिगम्बर जैन समाज, आदर्शनगर, जयपुर एवं अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, जयपुर
- ब्र. हेमचन्द्र, **सामान्य जैनाचार विचार,** प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु महिला मण्डल, कहाननगर, देवलाली
- भारिल्ल, डॉ. हुकमचन्द, **धर्म के दशलक्षण,** प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (राज.) (2003)
- भारिल्ल, डॉ. हुकमचन्द, **प्रवचनसार का सार,** प्रकाशक, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (राज.) (2005)
- भारिल्ल, रतनचन्द, **सामान्य श्रावकाचार,** प्रकाशक, अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, जयपुर, राज. (2000)
- भूधरदास, **वैराग्य भावना,** जिनेन्द्र अर्चना,
- मल्ल, जयदयाल, **श्रावक वनिता बोधिनी** (गृहस्थ जैन स्त्रियों के कर्तव्य-कर्म), श्री जीवकोरबाई महिला ग्रन्थ भण्डार, बम्बई (1941)

- महर्षि, दीपककुमार, **सभी के लिए कानून,** प्रकाशक, प्रतिभा प्रतिष्ठान, 1661, दखनीराय स्ट्रीट, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–2 (2007)
- मुनि, प्रमाणसागर, **जैन तत्त्वविद्या** (शास्त्रसारसमुच्चय का हिन्दी विवेचन), आमुख, प्रो. रतनचन्द्र जैन भोपाल, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2001)
- मुनि, भूतबलीसागर, **सम्यक् श्रामण्य भावना,** (सम्यक्त्वपूर्वक श्रमण संस्कृति की भावना), प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन सभा, सेक्टर 16, फरीदाबाद एवं जैन महिला जागृति मंच, फरीदाबाद (2005)
- शर्मा एम. एल., **नीतिवाक्यामृत में राजनीति,** प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली
- साध्वी मोक्षरत्नाश्री, वर्धमान सूरि कृत 'आचारदिनकर' में प्रतिपादित **जैन संस्कार एवं विधि विधान** : एक तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन, शोध प्रबन्ध, सम्पादक, डॉ. सागरमल जैन, प्रकाशक, प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर, (2007)
- सेठी, मोहनलाल, **वर्तमान में जैन श्रावकाचार पालन,** प्राप्तिस्थान, डी–154, मोतीमार्ग, बापूनगर, जयपुर–302015, पंचम सवंर्द्धित संस्करण

ग. अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, पुस्तक एवं लेख

- जैन, अनेकान्त, **अहिंसादर्शन,** व्याख्याता, लालबहादुर शास्त्रि संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
- जैन, वीरसागर, **सूत्र के बत्तीस दोषों का संक्षिप्त विवेचन,** प्रोफेसर, लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
- जैन, राकेशकुमार, **ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप,** व्याख्याता, मंगलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़

घ. कोश ग्रन्थ

- **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** (भाग 1–5), जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (1998)
- **संस्कृत-हिन्दी कोश,** वामन शिवराम आप्टे, प्रकाशक, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (2001)
- **आगमशब्दकोश,** युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशक, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, (1980)

च. पत्र-पत्रिकाएं

- मंगलायतन मासिक, धन्य मुनिदशा विशेषांक
- मंगलायतन मासिक, अक्टूबर 2006
- जिनवाणि मासिक पत्रिका, **डॉ. धर्मचन्द जैन,** अचौर्यव्रत और नैतिकता, दिसम्बर 2007
- लूडर्स जनरल आव दी रायल ऐशियाटिक सोसायटी, जनवरी, 1912
- जिनभाषित मासिक, नवम्बर 2010

छ. वेवसाइट एवं इन्टरनेट कनेक्शन की सूची

idjo.org@international digambar jain organisation

5 DVD Set of Jain granth - edited by acharya suvidhisagar

http://www. Jaingranth.com

http://www. Jainology.com

Jainism Swetambar

http://www. Jsgc.org/

JAINA E-Library Project - Pravin K. Shah,